ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक ४०

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग २

[क – न]

क्षु० जिनेन्द्र वर्णी
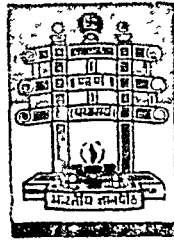
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २४९८ : विक्रम संवत् २०२८ : सन् १९७१

प्रथम संस्करण : मूल्य पचपन रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी
सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-
ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी
इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.
डॉ. आ. ने. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

•

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६
प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५
मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५

•

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० • विक्रम सं० २००० • १८ फरवरी १९४४

स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ : Sanskrit Grantha No. 40

JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚA

[Part II]

by

Kshu. JINENDRA VARṆĪ

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

VĪRA SAṂVAT 2498 : V. SAṂVAT 2028 : 1971 A. D.
First Edition : Price Rs. 55/-

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ

JAIN GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL,
PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRĀKṚTA, SAṂSKṚTA, APABHRAṀŚA, HINDĪ,
KANNAḌA, TAMIL, ETC , ARE BEING PUBLISHED
IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES
AND
CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS,
STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR
JAIN LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

•

General Editors

Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

•

Published by
Bharatiya Jnanapitha
Head office 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6
Publication office · Durgakund Road, Varanasi-5.

•

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

प्रास्ताविक

जैनेन्द्रसिद्धान्त कोशके स्वर भाग (अ से औ तक) का प्रकाशन भाग १ के रूपमें ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके अन्तर्गत संस्कृत ग्रन्थांक ३८ के रूपमे पिछले वर्ष १९७० में हुआ था। उसके बाद एक वर्षके भीतर ही दूसरा भाग क से न तकका छपकर तैयार हो गया और उसी ग्रन्थमालाके चालीसवें ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित हो रहा है। सामग्रीके संचयन, सम्पादनसे लेकर मुद्रण प्रकाशन तकका सम्पूर्ण कार्य अत्यन्त श्रमसाध्य रहा है। इसमें जिस-जिसका भी योगायोग रहा है उन सबके प्रति मंगल कामना करता हूँ।

इस सन्दर्भमें पानीपत निवासिनी कुमारी कौशलका नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिसने इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपि तैयार करनेमें सहायता ही नही दी, बल्कि गुरु-भक्ति वश अपनी सुध-वुध भूलकर इस कार्यकी तत्परताके रूपमें कठिन तपस्या की। प्रभु प्रदत्त इस अनुग्रहको प्राप्त करके मैं अपने को धन्य समझता हूँ। और उस एकनिष्ठ गुरुभक्ता तपस्विनी व सत्यसाधिकाके लिए प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ कि जगत्सम्राज्ञी माया रानीके विविध प्रपंचोंसे उसकी रक्षा करते हुए वे उसे निरन्तर सत्य पथ पर ही अग्रसर करते रहें, जिससे कि वह किसी दिन उसीमें इस प्रकार लीन हो जाये कि इस मायाका दर्शन करने के लिए उसे लौटकर आना न पड़े।

—जिनेन्द्र वर्णी

संकेत-सूची

अ. ग श्रा./ ../ ..	अमितगति श्रावकाचार/अधिकार स./श्लोक स , पं. वंशीधर शोलापुर, प्र. स., वि. सं. १९७९
अ. ध./ ../. ./...	अनगारधर्मामृत/अधिकार सं /श्लोक स./पृष्ठ स , प. खूबचन्द शोलापुर, प्र. स. ई १.६.१९२७
आ. अनु./ ..	आत्मानुशासन/श्लोक सं.,
आ. प./.. /.../...	आलापपद्धति/अधिकार स /सूत्र सं./पृष्ठ सं., चौरासी मथुरा, प्र. स., वी. नि. २४५६
आप्त प./. .	आप्तपरीक्षा/श्लोक स./प्रकरण सं /पृष्ठ सं , वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., वि. स. २००६
आप्त. मी./ ..	आप्तमीमासा/श्लोक सं ,
इ.उ.मू./ / .	इष्टोपदेश/मूल या टीका/श्लोक स./पृष्ठ सं. (समाधिशतकके पीछे) प. आशाधर जी कृत टी. वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
क. पा. ../§ /...	कषायपाहुड पुस्तक स./§ प्रकरण सं./पृष्ठ स./पंक्ति स , दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, प्र सं., वि सं. २०००
का अ./मू./. .	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका/गाथा स , राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र सं. ई १९६०
कुरल./.../	कुरल काव्य/परिच्छेद स./श्लोक स., प. गोविन्दराज जैन शास्त्री, प्र सं , वी. सं. २४८०
क्रि. क./ /	क्रियाकलाप/मुख्याधिकार स.—प्रकरण स /श्लोक स./पृष्ठ सं , पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा, वि. स /१९९३
क्रि. को./. .	क्रियाकोश/श्लोक स., पं. दौलतराम
क्ष. सा./मू./.. / .	क्षपणसार/मूल या टीका/गाथा स./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्र कलकत्ता
गुण श्रा./..	गुणभद्र श्रावकाचार/श्लोक स. वसुनन्दि श्रावकाचार/श्लोक सं , वसुनन्दि श्रावकाचारकी टिप्पणीमें
गो. क./मू./.. /...	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ स., जैनसिद्धान्त प्रकाशनी सस्था, कलकत्ता
ज्ञा./ /...	ज्ञानार्णव/अधिकार सं./दोहक स./पृष्ठ स , राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र सं., ई. १९०७
ज्ञा. सा./ ..	ज्ञानसार/श्लोक स.,
चा. पा./मू./ / .	चारित पाहुड/मूल या टीका/गाथा स./पृष्ठ स., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. स., वि. स./१९७७
चा. सा./ ./...	चारित्रसार/पृष्ठ स /पंक्ति स , महावीर जी, प्र स , वि. नि. २४८८
ज प /.. / ..	जम्बूदीवपण्णत्तिसगहो/अधिकार स./गाथा सं., जैन सस्कृति सरक्षण संघ, शोलापुर, वि. स. २०१४
त. अनु./ .	तत्त्वानुशासन/श्लोक स , (नागसेन सूरिकृत), वीर सेवा मन्दिर देहली. प्र. स., ई १९६३
त. वृ./ /.. /. .	तत्त्वार्थवृत्ति/अध्याय स /सूत्र स /पृष्ठ स /पंक्ति सं , भारतीय ज्ञानपीठ, प्र सं , ई १९४९
त सा /.../ /	तत्त्वार्थसार/अधिकार स /श्लोक स./पृष्ठ स., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता, प्र. सं., ई. स. १९२६
त सू /.. /	तत्त्वार्थसूत्र/अध्याय स./श्लोक सं /सूत्र सं ,
ति. प./ . /.	तिलोयपण्णत्ति/अधिकार स /गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र स , वि स. १९९९
त्रि. सा./. .	त्रिलोकसार/गाथा स., जैन साहित्य बम्बई, प्र स., ई १९१८
द. पा /मू./.../. .	दर्शन पाहुड/मूल या टीका/गाथा स./पृष्ठ स., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र स., वि. सं १९७७
द. सा /..	दर्शनसार/गाथा सं., नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र. स , वि १९७४
दे०—	देखो
द्र. स /मू./ /..	द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका/गाथा सं०/पृष्ठ स०, देहली, प्र. सं. ई. १९५३
ध. प./.	धर्मपरीक्षा/श्लोक स.
ध..../III/ ./ .	धवला पुस्तक स./खण्ड स., भाग, सूत्र/पृष्ठ स /पंक्ति या गाथा सं अमरावती, प्र. स.
न च. वृ /...	बृहद् नयचक्र/गाथा स. (श्रीदेवसेनाचार्यकृत), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. स., वि. स. १९७७
न च./श्रुत./...	नयचक्र/श्रुत भवन दीपक/अधिकार स /पृष्ठ स. सिद्ध सागर, शोलापुर
नि. सा / मू /	नियमसार/मूल या टीका/गाथा स.
नि.सा./ता वृ./क.	नियमसार/तात्पर्य वृत्ति—गाथा सं./कलश स.
न्या. दी./ . /§ ../ .	न्यायदीपिका/अधिकार स./प्रकरण स /पृष्ठ स , वीरसेवा मन्दिर देहली, प्र. स., नि सं. २००२ ,
न्या वि /मू /...	न्यायबिन्दु/मूल या टीका/श्लोक सं., चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस
न्या. वि./मू. / / / ..	न्यायविनिश्चय/मूल या टीका/अधिकार सं /श्लोक स /पृष्ठ स /पक्ति स., ज्ञानपीठ बनारस
न्या सू /मू. . / ./	न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका/अध्याय/आह्हिक/सूत्र/पृष्ठ, मुजफ्फरनगर, द्वि सं., ई. १९३४
प. का /मू./ /	पचास्तिकाय/मूल या टीका/गाथा स /पृष्ठ स., परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र सं , वि. १९७२
पं.ध /पू./	पचाध्यायी/पूर्वार्ध/श्लोक स., पं देवकीनन्दन, प्र. स , ई १९३२
प ध /उ./ ..	पचाध्यायी/उत्तरार्ध/श्लोक स प देवकीनन्दन, प्र स , ई १९३२
पं. वि /.. / .	पद्मनन्दि पचविंशतिका/अधिकार स /श्लोक स., जीवराज ग्रन्थमाला, प्र. सं , ई. १९३२

पं. सं./प्रा./ /··	पंचसंग्रह/प्राकृत/अधिकार सं./गाथा सं., ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., ई. १९६०
प. सं./स/··/···	पंचसंग्रह/संस्कृत अधिकार सं./श्लोक सं., पं स./प्रा. की टिप्पणी, प्र स., ई. १९६०
प. पु./ ·/··	पद्मपुराण/सर्ग/श्लोक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., वि. सं., २०१६
प. मु/···/··/ ·	परीक्षामुख/परिच्छेद सं. सूत्र सं./पृष्ठ सं., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी प्र. सं.
प प./मू/··/···	परमात्मप्रकाश/मूल या टीका/अधिकार सं./गाथा सं./पृष्ठ सं०, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि. सं., वि. सं. २०१७
पा पु/···/··	पाण्डवपुराण/सर्ग सं/श्लोक सं., जीवराज, शोलापुर, प्र. सं. ई. १९६२
पु. सि उ/··	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय/श्लोक सं.
प्र सा/मू./ /	प्रवचनसार/मूल या टीका/गाथा सं.
प्रति. सा/· ·/·	प्रतिष्ठासारोद्धार/अध्याय/श्लोक सं.
बा अ/	बारस अणुवेक्खा/गाथा सं.
बो पा/मू/· /	बोधपाहुड/मूल या टीका/गाथा सं/पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं. वि. सं. १९७७
भ आ./मू./··/	भगवती आराधना/मूल या टीका/गाथा सं/पृ. सं./पंक्ति सं., सखाराम दोशी, शोलापुर, प्र. स. ई. १९३५
भा पा./मू/ /·	भाव पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं/पृष्ठ स. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. स, वि, स १९७७
म. पु/ /·	महापुराण/सर्ग सं./श्लोक सं. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं, ई सं. १९५१
म. ब ··/§ / ·	महाबन्ध पुस्तक सं/§ प्रकरण स/पृष्ठ स., भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. स. ई. सं. १९५१
मू. आ./ ·	मूलाचार/गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं. वि. सं. १९७६
मो. पं/	मोक्ष पंचाशिका/श्लोक स
मो. पा./मू./ ·/··	मोक्ष पाहुड/मूल या टीका/गाथा स./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र सं., वि. सं १९७७
मो.मा प्र/ / /·	मोक्षमार्ग प्रकाशक/अधिकार सं./पृष्ठ सं./पं. स., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली. द्वि. सं., वि. सं. २०१०
यु. अनु./	युक्त्यनुशासन/श्लोक स., वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
यो सा अ/ ·/	योगसार अमितगति/अधिकार सं./श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई. सं. १९१८
यो सा/यो/	योगसार योगेन्दुदेव/गाथा सं. परमात्मके पीछे छपा
र. क श्रा/··	रत्नकरण्ड श्रावकाचार/श्लोक स.
र सा./	रयणसार/गाथा स०
रा वा/ /·/ /·	राजवार्तिक/अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं, भारतीय ज्ञानपीठ प्र. सं., वि. स. २००८
रा वा. हिं./· / /	राजवार्तिक/अध्याय सं/पृष्ठ सं./पंक्ति सं.
ल. सा मू/ /·	लब्धिसार/मूल/गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्र० कलकत्ता. प्र. स.
ला सं./ /	लाटी संहिता/अधिकार सं./ श्लोक सं./पृष्ठ सं.
लिं पा मू./ ·/	लिंग पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ स, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७७
वसु श्रा./	वसुनन्दि श्रावकाचार/गाथा स., भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., वि सं. २००७
वैशे द/ /··/·	वैशेषिक दर्शन/अध्याय/आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं, देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र. सं., वि. सं. २०१७
शी. पा. मू./··	शील पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं/पंक्ति सं, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं, वी. सं. १९७७
श्लो. वा./ /· /·/	श्लोकवार्तिक/पुस्तक सं./अध्याय स/सूत्र सं./वार्तिक स./पृष्ठ स., कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र. सं १९४९-१९५६
ष. ख.·/ ॥/ /	षट्खण्डागम/पुस्तक सं./खण्ड स/पृष्ठ सं.
स भं. त/ /	सप्तभङ्गीतरङ्गिनी/पृष्ठ सं./पंक्ति सं, परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि. सं., वि. सं. १९७२
स म/ / /	स्याद्वादमञ्जरी/श्लोक सं/पृष्ठ सं./पंक्ति स., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. सं. १९९१
स. श/मू./ /	समाधिशतक/मूल या टीका/श्लोक सं./पृष्ठ सं./इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र सं., २०२१
स. सा. मू./ / / /·	समयसार/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ स./पंक्ति स., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन देहली, प्र. स., ३१/१२/१९५८
स सा./आ./ /क	समयसार/आत्मख्याति/गाथा सं/कलश स.
स सि/ / /	सर्वार्थसिद्धि/अध्याय सं/सूत्र स/पृष्ठ स. भारतीय ज्ञानपीठ प्र. स., ई. १९५५
स स्तो.	स्वयम्भू स्तोत्र/श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र सं., ई. १९५१
सा. ध./·/	सागार धर्मामृत/अधिकार सं./श्लोक सं.
सा. पा/	सामायिक पाठ अमितगति/श्लोक सं.
सि. सा सं./ ·/	सिद्धान्तसार संग्रह/अध्याय सं/श्लोक सं./जीवराज जैन ग्रन्थमाला, प्र. सं., ई. १९५७
सि वि. मू/·/ / /	सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका/प्रस्ताव स/श्लोक स./पृष्ठ स./स., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र. सं, ई. १९५९
सु. र. स/··	सुभाषित रत्न सदोह/श्लोक स. (अमितगति), जैन प्र. कलकत्ता, प्र. स., ई० १९१७
सू पा./मू/·/	सूत्र पाहुड/मूल या टीका/गाथा स./पृष्ठ स., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं, वि. सं. १९७७
ह पु./·/·	हरिवंश पुराण/सर्ग/श्लोक स., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र. स.

नोट—भिन्न-भिन्न कोष्ठको व रेखाचित्रोंमें प्रयुक्त सकेतोंके अर्थ क्रमसे उस-उस स्थल पर ही दिये गये है।

●

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[क्षु० जिनेन्द्र वर्णी]

[क]

कंचन—१ सौधर्मस्वर्गका ६वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५ । २. कंचन कूट व देव आदि—दे० कांचन ।

कंजा—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी नदी—दे० मनुष्य/४ ।

कंजिक व्रत—समय—६४ दिन । विधि—किसी भी मासकी पडवासे प्रारम्भ करके ६४ दिन तक केवल कांजी आहार (जल व भात) लेना । शक्ति हो तो समयको दुगुना तिगुना आदि कर लेना । नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करना । (वर्द्धमान पुराण), (व्रत-विधान संग्रह/पृ० १००) ।

कंटक द्वीप—लवण समुद्रमें स्थित एक अन्तर्द्वीप—दे० मनुष्य/४ ।

कंडरा—औदारिक शरीरमें कडराओंका प्रमाण—दे० औदारिक/१ ।

कंदक—ध १३/५,३,२६/३४/१० हत्थिधरणट्ठमोट्टिदवारिबंधो कंदओ णाम । हरिण-वाराहादिमारणट्ठमोट्टिदकंदा वा कदओ णाम । =हाथी के पकडनेके लिए जो वारिबन्ध बनाया जाता है उसे कदक कहते है । अथवा हिरण और सूअर आदिके मारनेके लिए जो फदा तैयार किया जाता है उसे कन्दक कहते है ।

कंदमूल—१ भेद-प्रभेद—दे० वनस्पति/१ । २ भक्ष्याभक्ष्य विचार —दे० भक्ष्याभक्ष्य/४ ।

कंदर्प—स सि /७/३२/३६६/१४ रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग कन्दर्पः । =रागभावकी तीव्रतावश हास्य मिश्रित असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है । (रा. वा./७/३२/१/५५६), (भ. आ /वि./१८०/-३९८/१) ।

कंदर्पदेव—मू आ /११३३ कदप्पभाभिजोगा देवीओ चावि आरण-चुदोत्ति /११३३ । =कन्दर्प जातिके देवोका गमनागमन अच्युत स्वर्ग पर्यन्त है ।

कंस—१. एक ग्रह—दे० ग्रह । २ तोलका एक प्रमाण—दे० गणित/-I/१ । ३ (ह पु /पर्व/श्लो०) पूर्वभव स० २ में वशिष्ठ नामक तापस था (३३/३६) । इस भवमें राजा उग्रसेनका पुत्र हुआ (३३/३३) । मज्जोदरीके घर पला (१६/११) । जरासधके शत्रुको जीतकर जरा-संधकी कन्या जीवद्यशाको विवाहा (३३/२-१२,१४) । पिताके पूर्व व्यवहारसे क्रुद्ध हो उसे जेलमे डाल दिया (३३/२७) । अपनी बहन देवकी वसुदेवके साथ गुरु दक्षिणाके रूपमें परिणायी (३३/२९) । भावि मरणकी आशकासे देवकीके छ पुत्रोको मार दिया (३५/७) । अन्तमें देवकीके ७वें पुत्र कृष्ण द्वारा मारा गया (३६/४५) । ४ श्रुता-वतारके अनुसार आप पाँचवे ११ अगधारी आचार्य थे । समय—वी नि ४३६-४६८ (ई० पू० ९१-५९)—दे० इतिहास/४/१ ।

कंसक वर्ण—एक ग्रह —दे० ग्रह ।

कच्छ—१ भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ । २ पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/३/१२ ।

कच्छक—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/३/१२ ।

कच्छ परिगित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

कच्छवद—पूर्व विदेहस्थ मन्दर वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७ ।

कच्छविजय—माल्यवान् गजदन्तस्थ एक कूट व उसका रक्षक देव —दे० लोक/७ ।

कज्जला—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित वापियाँ —दे० लोक/७ ।

कज्जलाभा—कज्जलावत् ।

कज्जली—एक ग्रह—दे० ग्रह ।

कटक—ध १४/५,६,४२/४०/१ वसकंबीहि अण्णोण्णजणणाए जे किज्जति घरावणादिवारणं ढकणट्ठ ते कड्या णाम ।=बाँसकी कम-चियोंके द्वारा परस्पर बुनकर घर और अवन आदिके ढाँकनेके लिए जो बनायी जाती है, वे कटक अर्थात् चटाई कहलाती है ।

कटु—कटु सभाषणकी कथंचित इष्टता-अनिष्टता—दे० सत्य/२ ।

कट्ठ—पजाब देश (यु अनु./प्रा ३६/प० जुगलकिशोर) ।

कणाद—१ वैशेपिकसूत्रके कर्ता —दे० वैशेपिक । २ एक अज्ञान-वादी—दे० अज्ञानवाद ।

कण्व—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद ।

कथंचित्—द्र स /टी /अधिकार २की चूलिका/८१/६ । परस्परसापे-क्षत्वं कथंचित्परिणामित्वशब्दस्यार्थ' ।=परस्पर अपेक्षा सहित होना, यही 'कथंचित् परिणामित्व' शब्दका अर्थ है ।

२. कथंचित् शब्दकी प्रयोग-विधि व माहात्म्य —दे० स्याद्वाद/४,५ ।

कथा (न्याय)—न्या दी /पृ ४१ की टिप्पणी—नानाप्रवक्तृत्वे सति तद्विचारवस्तुविषया वाक्यसन्दर्भकथा । =अनेक प्रवक्ताओंके विचारका जो विषय या पदार्थ है, उनके वाक्य सन्दर्भका नाम कथा है।

न्यायसार पृ० १५ वादिप्रतिवादिनो पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह कथा। =वादी प्रतिवादियोंके पक्षप्रतिपक्षका ग्रहण सो कथा है।

२. कथाके भेद

न्या सू /भाष्य/१-१/४१/४१/१८ तिस्र: कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति। =कथा तीन प्रकारकी होती है—वाद, जल्प व वितण्डा।

न्यायसार पृ० १५ सा द्विविधा—वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति। =वह दो प्रकार है—वीतरागकथा और विजिगीषुकथा।

३. वीतराग व विजिगीषु कथाके लक्षण

न्या वि/मू /२/२१३/२४३ प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैकसिद्धये वचनं साधनादीना वाद सोऽयं जिगीषितो ।२१३। =विरोधी धर्मोंमेंसे किसी एकको सिद्ध करनेके लिए, एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले वादी और प्रतिवादी परस्परमें जो हेतु व दूषण आदि देते हैं, वह वाद कहलाता है।

न्या दी /३/§३४/७६ वादिप्रतिवादिनो: स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यंतं परस्पर प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा। गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्त परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा। तत्र विजिगीषुकथा वाद इति चोच्यते। · विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धे। यथा स्वामिसमन्तभद्राचार्यै सर्वे सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति। =वादी और प्रतिवादीमें अपने पक्षको स्थापित करनेके लिए जीत-हार होने तक जो परस्परमें वचन प्रवृत्ति या चर्चा होती है वह विजिगीषु-कथा कहलाती है और गुरु तथा शिष्यमें अथवा रागद्वेष रहित विशेष विद्वानोंमें तत्त्वके निर्णय होने तक जो चर्चा चलती है वह वीतराग कथा है। इनमे विजिगीषु कथाको वाद कहते हे। हार जीतकी चर्चाको अवश्य वाद कहा जाता है। जैसे—स्वामी समन्तभद्राचार्यने सभी एकान्तवादियोंको वादमें जीत लिया।

★विजिगीषु कथा सम्बन्धी विशेष—दे० वाद।

कथा (सत्कथा व विकथा आदि)—म पु /१/११८ पुरुपार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा। =मोक्ष पुरुषार्थके उपयोगी होनेसे धर्म, अर्थ और कामका कथन करना कथा कहलाती है।

२. कथाके भेद

म पु /१/११८-१२०—(सत्कथा, विकथा व धर्म कथा)।

भ आ /मू /६५५/८५२ आक्खेवणी य विक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स। =आक्षेपिणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी—ऐसे (धर्म) कथाके चार भेद हैं। (ध १/१,१,२/१०४/६), (गो जी / जी प्र /३५७/७६५/१८) (अन ध /७/८८/७१६)।

धर्मकथा व सत्कथाके लक्षण

ध ६/४,१ ५५/२६३/४ एक्कगस्स एगाहियारोवसहारो धम्मकहा। तत्थ जो उवजोगो सो वि धम्मकहा त्ति घेत्तव्वो। =एक अगके एक अधिकारके उपसहारका नाम धर्मकथा है। उसमें जो उपयोग है वह भी धर्मकथा है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। (ध १४/५ ६ १४/९/६)।

म पु /१/१२०,११८ यतोऽभ्युदयनि श्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा। सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता।१२०। ·। तत्रापि सत्कथा धर्म्यामामनन्ति मनीषिण ।११८। =जिसमे जीवोंको स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, वास्तवमें वही धर्म कहलाता है। उससे सम्बन्ध रखने वाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं।१२०। जिसमें धर्मका विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान् पुरुष सत्कथा कहते हैं।११८।

गो. क /जी. प्र /८८/७४/८ अनुयोगादि धर्मकथा च भवति। =प्रथमानुयोगादि रूप शास्त्र सो धर्मकथा कहिए।

३. आक्षेपणी कथाका लक्षण

भ. आ /मू. व वि./६५६/८५३ आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ।···६५६। आक्षेपणी कथा भण्यते। यस्यां कथायां ज्ञानं चारित्रं चोपदिश्यते। =जिसमें मति आदि सम्यग्ज्ञानोंका तथा सामायिकादि सम्यक्चारित्रोंका निरूपण किया जाता है वह आक्षेपणी कथा है।

ध. १/१,१,२/१०५/१ तथा श्लो. ७५/१०६ तत्थ अक्खेवणीणाम छद्दव्व-णव-पयत्थाण सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धिं करेंती परूवेदि। उक्त च—आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूता। ।७५। =जो नाना प्रकारकी एकान्त दृष्टियोंका और दूसरे समयोंका निराकरण पूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकारके पदार्थोंका प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते है। कहा भी है—तत्त्वोंका निरूपण करनेवाली आक्षेपणी कथा है।

गो जी /जी प्र./३५७/७६५/१६ तत्र प्रथमानुयोगकरणानुयोगचरणानुयोगद्रव्यानुयोगरूपपरमागमपदार्थानां तीर्थकरादिवृत्तान्तलोकसंस्थानदेशसकलयतिधर्मपंचास्तिकायादीनां परमताशङ्कारहितं कथनमाक्षेपणी कथा=तहाँ तीर्थकरादिके वृत्तान्तरूप प्रथमानुयोग, लोकका वर्णनरूप करणानुयोग, श्रावक मुनिधर्मका कथनरूप चरणानुयोग, पचास्तिकायादिकका कथनरूप द्रव्यानुयोग, इनका कथन अर परमतकी शका दूर करिए सो आक्षेपणी कथा है।

अन ध /७/८८/७१६ आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी,···। =जिसके द्वारा अपने मतका सग्रह अर्थात् अनेकान्त सिद्धान्तका यथायोग्य समर्थन हो उसको आक्षेपणी कथा कहते हैं।

४. विक्षेपणी कथाका लक्षण

भ आ./ मू व वि /६५६/८५३ ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम।६५६।—या कथा स्वसमय परसमय वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विक्षेपणी भण्यते। सर्वथानित्य इत्यादिक परसमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षानुमानेन आगमेन च विरोध प्रदर्श्य कथंचिन्नित्य· इत्यादि स्वसमयनिरूपणा च-विक्षेपणी। =जिस कथामें जैन मतके सिद्धान्तोंका और परमतका निरूपण हे उसको विक्षेपणी कथा कहते है। जैसे 'वस्तु सर्वथा नित्य ही है' इत्यादि अन्य मतोंके एकान्त सिद्धान्तोंको पूर्व पक्षमें स्थापित कर उत्तर पक्षमें वे सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे विरुद्ध है, ऐसा सिद्ध करके, वस्तुका स्वरूप कथंचित् नित्य इत्यादि रूपसे जैनमतके अनेकान्तको सिद्ध करना यह विक्षेपणी कथा है।

ध १/१,१,२/१०५/२ तथा श्लो नं. ७५/१०६ विक्खेवणी णाम पर-समएण स-समय दूसती पच्छा दिगतरसुद्धिं करेंती स-समयं थावंती छद्दव्व-णव-पयत्थे परूवेदि। उक्तं च—विक्षेपणी तत्त्वदिगन्तरशुद्धिम्। ।७५। =जिसमें पहले परसमयके द्वारा स्वसमयमें दोष बतलाये जाते है। अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना की जाती है और छह-द्रव्य नौ पदार्थोंका प्ररूपण किया जाता हे उसे विक्षेपणी कथा कहते है। कहा भी है—तत्त्वसे दिशान्तरको प्राप्त हुई दृष्टियोंका शोधन करनेवाली अर्थात् परमतकी एकान्त दृष्टियोका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना करनेवाली विक्षेपणी कथा है। (गो. जी /जी प्र / ३५७/७६५/२०) (अन ध /७/८८/७१६)।

५. संवेजनी कथाका लक्षण

भ. आ./मू व. वि /६५७/८५४ सवेयणी पुण कहा णाणचरित्तं तववीरिय इट्ठिगदा /६५७/ · सवेजनी पुन' कथा ज्ञानचारित्रतपोभावनाजनितशक्तिसंपन्निरूपणपरा ।=ज्ञान, चारित्र, तप व वीर्य इनका अभ्यास करने से आत्मामें कैसी कैसी अलौकिक शक्तियाँ प्रगट होती है इनका खुलासेवार वर्णन करनेवाली कथाको सवेजनी कथा कहते है ।

ध. १/१,१,२/१०५/४ तथा श्लो. ७५/१०६ संवेयणी णाम पुण्य-फल-संकहा। काणि पुण्य-फलाणि। तित्थयर-गणहर-रिसिचक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहररिद्धीओ · उक्तं च—'संवेगनी धर्मफलप्रपञ्चा ·७५।=पुण्यके फलका कथन करनेवाली कथाको सवेदनी कथा कहते है। पुण्यके फल कौनसे है? तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ति, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरोकी ऋद्धियाँ पुण्यके फल है। कहा भी है—विस्तारसे धर्मके फलका वर्णन करनेवाली संवेगिनी कथा है। (गो जी /जी. प्र /३५७/७६६/१) (अन ध./७/८८/७१६)।

६. निर्वेजनी कथाका लक्षण

भ आ मू.व.वि /६५७/८५४ णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ।६५७। निर्वेजनी पुन कथा सा। शरीरेभोगे, भवसंततो च पराङ्मुखताकारिणी शरीराण्यशुचीनि ··अनित्यकायस्वभावा' प्राणप्रभृत' इति शरीरतत्त्वाश्रयणात्। तथा भोगा दुर्लभा' लब्धा अपि कथंचिन्न तृप्ति जनयन्ति। अलाभे तेषा, लब्धाया वा विनाशे शोको महानुदेति। देवमनुजभवावपि दुर्लभौ, दु'खबहुलौ अल्पसुखौ इति निरूपणात्।=शरीर भोग और जन्म परम्परामे विरक्ति उत्पन्न करनेवाली कथाका निर्वेजनी कथा ऐसा नाम है। इसका खुलासा—शरीर अपवित्र है, शरीरके आश्रयसे आत्माकी अनित्यता प्राप्त होती है। भोग पदार्थ दुर्लभ हे। इनकी प्राप्ति होनेपर आत्मा तृप्त होता नहीं। इनका लाभ नही होनेसे अथवा लाभ होकर विनष्ट हो जानेसे महान् दु ख उत्पन्न होता है। देव व मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होना दुर्लभ है। ये बहुत दु खोसे भरे है तथा अल्प मात्र सुख देनेवाले है। इस प्रकारका वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वेजनी कथा कहलाती है (अन. ध /७/८८/७१६)।

ध. १/१,१,२/१०५/५ तथा श्लोक ७५/१०६ णिव्वेयणी णाम पावफल-संकहा। काणि पावफलाणि। णिरय-तिरय-कुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि। संसार-सरीर-भोगेसु वेरग्गुप्पाइणी णिव्वेयणी णाम। उक्त च—निर्वेगिनी चाह कथां विरागाम् ।७५।=पापके फलका वर्णन करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते है। पापके फल कौनसे है? नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियोमें जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र आदिकी प्राप्ति पापके फल है।—अथवा ससार, शरीर और भोगोमें वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली कथाको निर्वेदनी कथा कहते है। कहा भी है—वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेगिनी कथा है। (गो जी /जी प्र /३५७/७६६/१)।

७. विकथाके भेद

नि सा /मू./६७ थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।·।=पाप के हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनोका त्याग करना वचनगुप्ति है।

मू आ /मू /८५५-८५६ इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाण च। रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ ।८५५। णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च। अज्जउलल घियाण कहासु ण विरज्जए धीरा ।८५६।=स्त्रीकथा, धनकथा, भोजनकथा, नदी पर्वतसे घिरे हुए स्थानकी कथा, केवल पर्वतसे घिरे हुए स्थानकी कथा, राजकथा, चोरकथा, देश-नगरकथा, खानि सम्बन्धी कथा ।८५५। नटकथा, भाटकथा, मल्लकथा, कपटजीवी व्याध व ज्वारीकी कथा, हिंसकोंकी कथा, ये सब लौकिकी कथा (विकथा) है। इनमें वैरागी मुनिराज रागभाव नही करते ।८५६।

गो जी /जी प्र /४४/८४/१७ तद्यथा—स्त्रीकथा अर्थकथा भोजनकथा राजकथा चोरकथा वैरकथा परपाखण्डकथा देशकथा भाषाकथा गुणबन्धकथा देवीकथा निष्ठुरकथा परपैशुन्यकथा कन्दर्पकथा देशकालानुचितकथा भंडकथा मूर्खकथा आत्मप्रशंसाकथा परपरिवादकथा परजुगुप्साकथा परपीडाकथा कलहकथा परिग्रहकथा कृष्याद्यारम्भकथा सगीतवाद्यकथा चेति विकथा पञ्चविंशति'।=स्त्रीकथा अर्थ (धन) कथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा, वैरकथा, परपाखंडकथा, देशकथा. भाषा कथा (कहानी इत्यादि), गुणप्रतिबन्धकथा, देवीकथा, निष्ठुरकथा, परपैशुन्य (चुगली) कथा, कन्दर्प (काम) कथा, देशकालके अनुचित कथा, भंड (निर्लज्ज) कथा, मूर्खकथा, आत्मप्रशसा कथा, परपरिवाद (परनिन्दा) कथा, पर जुगुप्सा (घृणा) कथा, परपीडाकथा, कलहकथा, परिग्रहकथा, कृषि आदि आरम्भ कथा, सगीत वादित्रादि कथा—ऐसे विकथा २५ भेद संयुक्त है।

८. स्त्री कथा आदि चार विकथाओंके लक्षण

नि सा /ता वृ /६७ अतिप्रवृद्धकामै कामुकजनै स्त्रीणां सयोगविप्रलम्भजनितविविधवचनरचना कर्त्तव्या श्रोतव्या च सैव स्त्रीकथा। राज्ञा युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपञ्च.। चौराणा चौरप्रयोगकथनं चौरकथाविधानम्। अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमण्डकावलीखण्डदधिखण्डसिताशनपानप्रशसा भक्तकथा।—जिन्होके काम अति वृद्धिको प्राप्त हुआ हो ऐसे कामी जनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली ऐसी जो स्त्रियोकी सयोग वियोगजनित विविधवचन रचना, वही स्त्रीकथा है। राजाओका युद्धहेतुक कथन राजकथा प्रपच है। चोरोंका चोर प्रयोग कथन चोरकथाविधान है। अति वृद्धिको प्राप्त भोजनकी प्रीति द्वारा मैदाकी पूरी और शक्कर, दही-शक्कर, मिसरी इत्यादि अनेक प्रकारके अशन-पानकी प्रशंसा भक्त कथा या भोजन कथा है।

९. अर्थ व काम कथाओंमें कथंचित् धर्मकथा व विकथापना

म पु /१/११६ तत्फलाभ्युदगाङ्गत्वादर्थकामकथा। अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्रवकारणम् ।११६।=धर्मके फलस्वरूप जिन अभ्युदयोकी प्राप्ति होती है, उनमें अर्थ और काम भी मुख्य है, अत धर्मका फल दिखानेके लिए अर्थ और कामका वर्णन करना भी कथा (धर्म कथा) कहलाती है। यदि यही अर्थ और कामकी कथा धर्मकथासे रहित हो तो विकथा ही कहलावेगी और मात्र पापास्रवका ही कारण होगी ।११६।

*** किसको कब कौन कथाका उपदेश देना चाहिए—** दे० उपदेश ३।

कथाकोश—१. आ हरिषेण (ई ८३१) कृत 'बृहद् कथा कोश' नामका मूल सस्कृत ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न ७३ कथाएँ निबद्ध है। २ आ प्रभा-चन्द्र (ई ६२५-१०२३) की भी 'गद्य कथाकोश' नामकी ऐसी ही एक रचना है। ३ आ क्षेमन्धर (ई. १०००) द्वारा सस्कृत छन्दोंमें रची 'बृहद् कथामञ्जरी' भी एक है। ४. आ सोमदेव (ई. १०६१-१०८१) कृत 'बृहत्कथासरित्सागर' है। ५ आ ब्रह्मदेव (ई १२९२-१३२३) ने एक 'कथा कोश' रचा था। ६ आ श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) कृत दो कथा कोश प्राप्त है—व्रत कथा कोश और बृहद् कथा कोश। ७ न १ वाले कथा कोशके आधार पर ब्र नेमिदत्त (ई १५१८) ने 'आराधना कथा कोश' की रचना की थी। इसमें १८४ कथाएँ निबद्ध है। ८ आ. देवेन्द्रकीर्ति (ई १५९३-१६०४) कृत भी एक कथाकोश उपलब्ध है।

कदंब—गन्धर्व नामा व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० गधर्व.।

कदंब वंश—कर्णाटकके उत्तरीय भागमें, जिसका नाम पहिले बनवास था, कदम्ब वंश राज्य करता था, जिसको चालुक्यवंशी राजा कीर्तिवर्मने श-५०० (ई ५७८) में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। समय लगभग—(ई ४५०-५७८) (ध. १/प्र.३२/ H. L. Jain)

कदलीघात—दे० मरण/४।

कनक—दक्षिण क्षौद्रवर द्वीप तथा घृतवर समुद्रके रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

कनककूट— रुचक पर्वत, कुण्डल पर्वत, सौमनस पर्वत, तथा मानुषोत्तर पर्वतपर स्थित कूट—दे० लोक/७।

कनकचित्रा— रुचक पर्वतके नित्यालोक कूटकी निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक / ७।

कनकध्वज—(पा. पु/१७/श्लोक) दुर्योधन द्वारा पालित आधे राज्यके लालचसे इसने कृत्या नामक विद्याको सिद्ध करके (१५०-१५२) उसके द्वारा पाण्डवोंको मारनेका प्रयत्न किया, परन्तु उसी विद्यासे स्वयं मारा गया (२०९-१६)।

कनकनन्दि— १. आप इन्द्रनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके सहधर्मा थे। कृति—१८०० श्लोक प्रमाण त्रिभंगी नामक ग्रन्थ। समय—ई. श/११। (जैन साहित्य इतिहास/पृ० २७१/प्रेमी जी), द्र सं./प्र ७/ प. जवाहरलाल. गोमट्टसारकी कुछ मूल गाथाओंके आधार पर। २ नन्दि संघके देशीय गणके अनुसार आप माघनन्दि कोल्हापुरीयके शिष्य थे। इन्होंने बौद्ध चार्वाक व मीमांसकोंको अनेकों वादोंमें परास्त किया। समय—ई. ११३३-११६३।—दे० इतिहास /५/१४। (प ख २/प्र २/ H. L Jain).

कनकप्रभ—कुण्डल पर्वतका एक कूट- दे० लोक/७।

कनकसेन—आप आ बलदेवके गुरु थे। उनके अनुसार आपका समय लगभग वि० ६८२ (ई ६२५) आता है। (श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं० १५ के आधारपर, भ आ /प्र १९/प्रेमी जी)

कनका—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक/७/

कनकाभ—उत्तर क्षौद्रवर द्वीप तथा घृतवर समुद्रके रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

कनकावली—१ (ह पु./३४/७४-७५) समय ५२२ दिन, उपवास—४३४; पारणा—८८। यन्त्र—१,२, ९ बार ३,/१, वृद्धिक्रमसे १ से लेकर १६ तक, ३४ बार ३, एक हानिक्रमसे १६से लेकर १तक, ९बार३,२,१। विधि—उपरोक्त यत्रके अनुसार एक-एक बारमें इतने-इतने उपवास करे। प्रत्येक अन्तरालमें एक पारणा करे। नमस्कार मत्रका त्रिकाल जाप्य करे। यह बृहद विधि है। (व्रत विधान सग्रह/पृ ७८)। २. समय एक वर्ष। उपवास ७२। विधि—एक वर्ष तक बराबर प्रतिमासकी शु० १,५,१० तथा कृ० २,६,१२ इन ६ तिथियोंमें उपवास करे। नमस्कार मत्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान सग्रह/ ७८) (किशन सिंह/क्रियाकोश)।

कनकोज्ज्वल—(म पु /७४/२२०-२२६) महावीर भगवानका पूर्वका नवमा भव। एक विद्याधर था।

कनिष्क—इतिहासकारोंके अनुसार कुशान वश (भृत्य वंश) का तृतीय राजा था। बडा पराक्रमी था। इसने शकोंको जीतकर भारतमे एकच्छत्र गणतन्त्र राज्य स्थापित किया था। समय वी. नि/६४६-६६८ (ई. १२०-१६२)—(दे० इतिहास/३/१।

कन्नौज—[illegible] देशका एक नगर। [illegible] नाम [illegible] था। (म.पु /प्र ४९/ [illegible])।

कपाटसमुद्घात—दे० केवली/७।

कपित्थमुष्टि—[illegible] एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

कपिल—१. (प पु /३५/श्लोक) एक ब्राह्मण था, जिसने वनवासी रामको [illegible] (५-१३)। [illegible] (१४-१४२)। [illegible] मुनि—दे० सांख्य।

कपिशा—वर्तमान 'काफिरिस्तान' [illegible] नदी (म. पु /प्र ४९/ प. पन्नालाल)।

कपोवती—[illegible] नदी—दे० मनुष्य/४।

कफ—[illegible] निर्देश—दे० औदारिक/१।

कमठ—(प पु/७३/श्लोक) [illegible] (३१)। [illegible] (३२) [illegible] (७३) [illegible] (३३) [illegible] (३४) [illegible] (६५) [illegible] (६७,११४) [illegible] किया। (इस की भावि [illegible]—प पु /७३/१०७)।

कमल—१ [illegible] है, जिनमें [illegible] निवास करते हैं। [illegible]—दे० लोक/७। [illegible]—दे० पु०। २. कालका एक प्रमाण—दे० गणित /I/ १।

कमलभव—ई० १२३५ के एक कवि थे, जिन्होंने [illegible] पुराणकी रचना की थी। (वरांग चरित्र/प्र २२/प. [illegible])।

कमलांग—कालका एक प्रमाण—दे० गणित /I/ १।

कमेकुर—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

करकंड चरित्र— आ शुभचन्द्र (ई. १५५०) की एक रचना।

करण—१ अंतरकरण व उपशमकरण आदि—दे० वह वह नाम। २ अवधिज्ञानके करण चिह्न—दे० अवधिज्ञान/५। ३ कारणके अर्थमें करण—दे० निमित्त/१। ४. प्रमाके करणको प्रमाण कहते सम्बन्धी—दे० प्रमाण। ५ मिथ्यात्वका त्रिधा करण—दे० उपशम/ २। ६. अध करण आदि त्रिकरण व दशकरण—दे० आगे करण

करण—जीवके शुभ-अशुभ आदि परिणामोंकी करण संज्ञा है। सम्यक्त्व व चारित्रकी प्राप्तिमें सर्वत्र उत्तरोत्तर तारतमता लिये तीन प्रकारके परिणाम दर्शाये गये हैं—अध.करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनोंमें उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धिके कारण कर्मोंके बन्धमें हानि तथा पूर्व सत्तामें स्थित कर्मोंकी निर्जरा आदिमें भी विशेषता होनी स्वाभाविक है। इनके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्तमें बन्ध उदयसत्त्व आदि जो दस मूल अधिकार हैं उनको भी दशकरण कहते हैं।

१. करणसामान्य निर्देश

१. करणका लक्षण परिणाम व इन्द्रिय—

रा वा/६/१३/१/५२३/२६ करण चक्षुरादि। =चक्षु आदि इन्द्रियोंको करण कहते हैं।

ध. १/१ १,१६/१८०/१ करणा परिणामा। =करण शब्दका अर्थ परिणाम है।

२. इन्द्रियों व परिणामोंको करण संज्ञा देनेमें हेतु—

ध ६/१,९-८/४/२१७/५ कध परिणामाण करण सण्णा। ण एस दोसो, असि-वासीणं व सहायतमभावविवक्खाए परिणामाण करणत्तुवलंभादो। =प्रश्न—परिणामोंकी 'करण' यह संज्ञा कैसे हुई? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, असि (तलवार) और वासि (वसूला) के समान साधकतम भावकी विवक्षामें परिणामोके करणपना पाया जाता है।

भ आ/वि/२०/७१/४ क्रियन्ते रूपादिगोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यन्ते क्वचित्करणशब्देन। =क्योंकि इनके द्वारा रूपादि पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले ज्ञान किये जाते हैं इसलिए इन्द्रियोंको करण कहते हैं।

२. दशकरण निर्देश

१. दशकरणोंके नाम निर्देश

गो. क/मू/४३७/५९१ बंधुक्कट्टणकरणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं। उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी।४३७। =बन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना ये दश करण प्रकृति प्रकृति प्रति सभवे हैं।

२. कर्मप्रकृतियोंमें यथासम्भव दश करण अधिकार निर्देश

गो क/मू/४४१,४४४/५९३,५९५ संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्व आऊण। सेसाण दसकरणा अपुव्वकरणोत्ति दसकरणा।४४१। बंधु-

छट्टणकरणं सगसगबंधोत्ति होदि णियमेण। संकमणं करणं पुण सगसगजादीण बंधोत्ति ।४४४। =च्यार आयु तिनिकै संक्रमण करण विना नव करण पाइए है जातैं चारयो आयु परस्पर परिणमैं नाही। अवशेष सर्व प्रकृतिनिकै दश करण पाइये है ।४४१। बन्ध करण अर उत्कर्षण करण ये तौ दोऊ जिम जिम प्रकृतिनिकी जहाँ बन्ध व्युच्छित्ति भई तिम तिम प्रकृतिका तहाँ ही पर्यन्त जानने नियमकरि। बहुरि जिम जिम प्रकृतिकै जे जे स्वजाति है जैसे ज्ञानावरणकी पाँचों प्रकृति स्वजाति है ऐसे स्वजाति प्रकृतिनिकी बन्धकी व्युच्छित्ति जहाँ भई तहाँ पर्यन्त तिनि प्रकृतिनिकै संक्रमणकरण जानना ।४४४। (विशेष देखो उस उस करणका नाम)

२. गुणस्थानोंमें १० करण सामान्य व विशेषका अधिकार निर्देश

(गो. क /४४१-४५०/५९३-५९९)

१. सामान्य प्ररूपणा—

गुणस्थान	करण व्युच्छित्ति	सम्भव करण
१–७	×	दशों करण
८	उपशम, निधत्त, निःकाचित	,,
९	×	शेष ७
१०	संक्रमण	,,
११	×	संक्रमणरहित ६+ मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृतिका संक्रमण भी=७
१२	×	संक्रमण रहित—६
१३	बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण उदीरणा	,,
१४	×	उदय व सत्त्व=२

२. विशेष प्ररूपणा—

गुणस्थान	कर्म प्रकृति	सम्भवकरण
सातिशय मि०	मिथ्यात्व	एक समयाधिक आवलीतक उदीरणा
१–८	नरकायु	सत्त्व, उदय, उदीरणा=३
१–५	तिर्यंचायु	,, =३
४–६	अनन्तानुबन्धी चतुष्क	स्व स्व विसयोजना तक उत्कर्षण
१०	सूक्ष्मलोभ	उदीरणा
१–११ (सामान्य)	देवायु	अपकर्षण
१–११ उपशामक	नरक द्वि तिर्य द्वि, ४ जाति, स्त्यान त्रिक, आतप, उद्योत, सूक्ष्म, साधारण, स्थावर, दर्शनमोहत्रिक=१६	अपकर्षण
	अप्रत्या० व प्रत्या चतु०, सज्व० क्रोध, मान, माया, नोकषाय=२०	स्व स्व उपशम पर्यन्त अपकर्षण
१–११ क्षपक	उपरोक्त १६	क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षण
	उपरोक्त २०	स्व स्व क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षण
११ उपश० स०	सम्यक्त्व व मिश्रमोह	उपशम, निधत्ति व निःकाचित बिना ७
११क्षा, स. १२	उपरोक्त २ के बिना शेष १४६ ५ ज्ञाना०, ५ अन्तराय, ४ दर्शना० निद्रा व प्रचला=१६	संक्रमण रहित उपरोक्त=६ स्व स्व क्षयदेश पर्यन्त अपकर्षण
१–१३	अयोगीकी सत्त्ववाली ८५	अपकर्षण
,	जिस प्रकृतिकी जहाँ व्युच्छित्ति वहाँ पर्यन्त	बन्ध और उत्कर्षण
,,	स्व जाति प्रकृतिकी बन्ध व्यु० पर्यन्त	संक्रमण

३. त्रिकरण निर्देश

१. त्रिकरण नाम निर्देश

ध. ६/१, ९-८,४/२१४/५ एत्थ पढमसम्मत्त पडिवज्जतस्स अधापवत्तकरण-अपुव्वकरण-अणियट्टीकरणभेदेन तिविहाओ विसोहीओ होंति। =यहाँपर प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होनेवाले जीवके अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीन प्रकारकी विशुद्धियाँ होती है। (ल सा /मू./३३/६६). (गो. जी /मू./४७/६६) (गो क /मू /८९६/१०७६)।

गो क /जी प्र/८ /८९७/१०७६/४ करणानि त्रीण्यध प्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणानि। =करण तीन है—अध प्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्तिकरण।

२. सम्यक्त्व व चारित्र प्राप्ति विधिमें तीनों करण अवश्य होते हैं

गो जी /जी प्र./६५१/११००/६ करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात तथापि सम्यक्त्वग्रहणे चारित्रग्रहणे च। =करणलब्धि भव्यकै ही हो है। सो भी सम्यक्त्व और चारित्रका ग्रहण विषै ही हो है।

३. त्रिकरणका माहात्म्य

ल सा /जी प्र /३३/६६ क्रमेणाध प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण च विशिष्टनिर्जरासाधनं विशुद्धपरिणाम। =क्रमश अध प्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीनो विशिष्ट निर्जराके साधनभूत विशुद्ध परिणाम है (तिन्हें करता है)।

४ तीनों करणोंके कालमें परस्पर तरतमता

ल सा /मू व जी. प्र /३४/७० अंतोमुहुत्तकाला तिण्णिवि करणा हवंति पत्तेय। उवरीदो गुणियकमा कमेण सखेज्जरूवेण ।३४। एते त्रयोऽपि करणपरिणामा प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तकाला भवन्ति। तथापि उपरित अनिवृत्तिकरणकालात्क्रमेणापूर्वकरणाध करणकालौ सख्येयरूपेण गुणितक्रमौ भवति। तत्र सर्वत स्तोकान्तर्मुहूर्त अनिवृत्तिकरणकाल, तत सख्येयगुण अपूर्वकरणकाल, तत सख्येयगुण अध प्रवृत्तकरणकाल। =तीनो ही करण प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त कालमात्रस्थितियुक्त है तथापि ऊपर ऊपरतै सख्यातगुणा क्रम लिये है। अनिवृत्तिकरणका काल स्तोक है। तातै अपूर्वकरणका सख्यात गुणा है। तातै अध प्रवृत्तकरणका सख्यातगुणा है। (तीनोंका मिलकर भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है)।

५. तीनो करणोंकी परिणाम विशुद्धियोंमें तरतमता

ध ६/१,९-८,५/२२३।४ अधापवत्तकरणपढमसमयट्ठिदिबंधादो चरिमसमयट्ठिदिबधो सखेज्जगुणहीनो। एत्थेव पढमसम्मत्तसजमासजमाभिमुहस्स ट्ठिदिबधो संखेज्जगुणहीणो, पढमसम्मत्तसजमाभिमुहस्स अधापवत्तकरणचरिमसमयट्ठिदिबंधो सखेज्जगुणहीणो। एवमधापवत्तकरणस्स कज्जपरूपण कदं।

ध. ६/१,९-८,१४/२६६/५ तत्थतण अणियट्टीकरणट्ठिदिघादादो वि एत्थतणअपुव्वकरणट्ठिदिघादस्स बहुवयरत्तादो वा। ण चेदमपुव्वकरण पढमसम्मत्ताभिमुहमिच्छाइट्ठिअपुव्वकरणेण तुल्लं, सम्मत्त-सजम-सजमासजमफलाणं तुल्लत्तविरोहा। ण चापुव्वकरणाणि सव्वअणियट्टी करणेहिंतो अणतगुणहीणाणि त्ति नवोत्तु जुत्त, तदुप्पायणसुत्ताभावा। =१. अध प्रवृत्तिकरणके प्रथम समय सम्बन्धी स्थिति-बन्धसे उसीका अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध संख्यात गुणाहीन होता है। यहाँपर ही अर्थात् अध प्रवृत्तकरणके चरम समयमें ही प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके जो स्थितिबन्ध होता है, उससे प्रथम सम्यक्त्व सहित सयमासंयमके अभिमुख जीवका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है। इससे प्रथम सम्यक्त्व सहित सकलसयमके अभिमुख जीवका अध प्रवृत्तकरणके अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध सख्यातगुणा हीन होता है। इस प्रकार अध प्रवृत्तकरणके कार्योंका निरूपण किया। २. वहाँके अर्थात् प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके, अनिवृत्तिकरणसे होनेवाले स्थितिघातकी अपेक्षा यहाँके अर्थात् सयमासयमके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके, अपूर्वकरणसे होनेवाला स्थितिघात बहुत अधिक होता है। तथा, यह अपूर्वकरण, प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख मिथ्यादृष्टिके अपूर्वकरण के साथ समान नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व, संयम और सयमासयमरूप फलवाले विभिन्न परिणामोंके समानता होनेका विरोध है। तथा, सर्व अपूर्वकरण परिणाम सभी अनिवृत्तिकरण परिणामोंसे अनन्त गुणहीन होते हैं, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि, इस बातका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रका अभाव है। भावार्थ—(यद्यपि सम्यक्त्व, संयम या सयमासयम आदि रूप किसी एक ही स्थानमें प्राप्त तीनो परिणामों की विशुद्धि उत्तरोत्तर अनन्तगुणा अधिक होती है, परन्तु विभिन्न स्थानोंमें प्राप्त परिणामोमें यह नियम नही है। वहाँ तो निचले स्थानके अनिवृत्तिकरणकी अपेक्षा भी ऊपरले स्थानका अध प्रवृत्तकरण अनन्तगुणा अधिक होता है।)

६. तीनो करणोंका कार्य भिन्न कैसे है

ध ६/१,९-८,१४/२८९/२ कथ ताणि चेव तिण्णि करणाणि पुध-पुध कज्जुप्पायणाणि। ण एस दोसो, लक्खणसमाणत्तेण एयत्तमावण्णाणं भिण्णकम्मविरोहित्तणेण भेदमुवगयाण जीवपरिणामाण पुध पुध कज्जुप्पायणे विरोहाभावा। =प्रश्न—वे ही तीन करण पृथक्-पृथक् कार्योंके (सम्यक्त्व, सयम, सयमासयम आदिके) उत्पादक कैसे हो सकते हैं? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, लक्षणकी समानतासे एकत्वको प्राप्त, परन्तु भिन्न कर्मोंके विरोधी होनेसे भेदको भी प्राप्त हुए जीव परिणामोंके पृथक्-पृथक् कार्यके उत्पादनमें कोई विरोध नहीं है।

४. अधःप्रवृत्तकरण निर्देश

१. अधःप्रवृत्तकरणका लक्षण

ल सा/मू व जी प्र/३५/७० जह्मा हेट्ठिमभावा उवरिमभावेहि सरिसगा होंति। तह्मा पढम करणं अधापवत्तं त्ति णिद्दिट्ठं।३५। सख्यया विशुद्धया च सदृशा भवन्ति तस्मात्कारणात्प्रथम करणपरिणाम अध-प्रवृत्त इत्यन्वर्थतो निर्दिष्ट। =करणनिका नाम नाना जीव अपेक्षा है। सो अध करण माडे कोई जीवको स्तोक काल भया, कोई जीवको बहुत काल भया। तिनिके परिणाम इस करणविषै सख्या व विशुद्धताकरि (अर्थात् दोनों ही प्रकारसे) समान भी हो है ऐसा जानना। क्योंकि इहाँ निचले समयवर्ती कोई जीवके परिणाम ऊपरले समयवर्ती कोई जीवके परिणामके सदृश हो है तातै याका नाम अध प्रवृत्तकरण है। (यद्यपि वहाँ परिणाम असमान भी होते है, परन्तु 'अध प्रवृत्त करण' इस संज्ञा में कारण नीचले व ऊपरले परिणामों की समानता ही है असमानता नहीं)। (गो जी/मू./४८। १००), (गो. क/मू./८९८/१०७६)।

२. अधःप्रवृत्तकरणका काल

गो. जी/मू/४९/१०२ अतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा।

गो जी/जी प्र/४९।१०२/५ स्तोकान्तर्मुहूर्तमात्राद् अनिवृत्तिकरणकालात् सख्यातगुण अपूर्वकरणकाल', अत' संख्यातगुण अध'प्रवृत्तकरण-काल सोऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्र एव। =तीनों करणनिविषै स्तोक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अनिवृत्तिकरणका काल है। यातै सख्यातगुणा अपूर्वकरणका काल है। यातै सख्यातगुणा इस अध प्रवृत्तकरणका काल है। सो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। जातै अन्तर्मुहूर्तके भेद बहुत है। (गो क/मू/८९९/१०७६)।

३. प्रति समय सम्भव परिणामोंकी संख्या संदृष्टि व यन्त्र

गो जी./जी. प्र/४९/१०२-१०६/६ तस्मिन्नध प्रवृत्तकरणकाले त्रिकालगोचरनानाजीवसम्बन्धिनो विशुद्धपरिणामा सर्वेऽपि असंख्यातलोकमात्रा सन्ति। २। तेषु प्रथमसमयसंबन्धिनो यावन्त सन्ति द्वितीयादिसमयेषु उपर्युपरि चरमसमयपर्यन्त सदृशवृद्धया वर्धिता सन्ति ते च तावदङ्कसदृष्ट्या प्रदर्श्यते—तत्र परिणामा द्वासप्तत्युत्तरत्रिसहस्री ३०७२। अध प्रवृत्तकरणकाल षोडशसमया।१६। प्रतिसमयपरिणामवृद्धिप्रमाण चत्वार।४। एकस्मिन् प्रचये ४ वर्धिते सति द्वितीयतृतीयादिसमयवर्तिपरिणामाना संख्या भवति। ता' इमा —१६६,१७०,१७४, १७८,१८२,१८६,१९०,१९४,१९८,२०२,२०६,२१०,२१४,२१८,२२२। एतान्युक्तधनानि अध प्रवृत्तकरणप्रथमसमयाच्चरमसमयपर्यन्तमुपर्युपरि स्थापयितव्यानि। अथानुकृष्टिरचनोच्यते—तत्र अनुकृष्टिर्नाम अधस्तनसमयपरिणामखण्डाना उपरितनसमयपरिणामखण्डै' सादृश्य भवति (१०२।६) अत्र सर्वजघन्यखण्डपरिणामाना ३९ सर्वोत्कृष्टखण्डपरिणामाना ५७ च केरपि सादृश्य नास्ति शेषाणामेवोपर्यधस्तनसमयवर्तिपरिणामपुञ्जाना यथासभव तथासभवात्। अथ अर्थसंदृष्ट्या विन्यासो दृश्यते—तद्यथा—त्रिकालगोचरनानाजीवसबन्धिन अध-प्रवृत्तकरणकालसमस्तसमयसभविन सर्वपरिणामा असंख्यातलोकमात्रा सन्ति। २। अध प्रवृत्तकरणकालो गच्छ' (१०३/४)। अथाध-प्रवृत्तकरणकालस्य प्रथमादिसमयपरिणामाना मध्ये त्रिकालगोचरनानाजीवसंबन्धिप्रथमसमयजघन्यमध्यमोत्कृष्टपरिणामसमूहस्याध प्रवृत्त-करणकालसख्यातैकभागमात्रनिर्वर्गणकाण्डकसमयसमानानि २२२ खण्डानि क्रियन्ते तानि चयाधिकानि भवन्ति। ऊर्ध्वरचनाचये अनुकृष्टिपदेन भक्ते लब्धमनुकृष्टि चयप्रमाण भवति। (१०४/१३)। पुन द्वितीयसमयपरिणामप्रथमखण्डप्रथमसमयप्रथमखण्डाद्विशेषाधिक्यम्। (१०५/१४)। द्वितीयसमयप्रथमखण्डप्रथमसमयद्वितीयखण्ड च द्वे सदृशे तथा द्वितीयसमयद्वितीयादिखण्डानि प्रथमसमयतृतीयादिखण्डै' सह सदृशानि किंतु द्वितीयसमयचरमखण्डप्रथमसमयखण्डेषु केनापि सह सदृश नास्ति। अतोऽग्रे अध प्रवृत्तकरणकालचरमसमयपर्यन्त नेतव्यानि(१०६/११)। ="तीहिं अध'प्रवृत्तकरणके कालविषैं अतीत अनागत वर्तमान त्रिकालवर्ती नाना जीव सम्बन्धी विशुद्धतारूप इस करणके सर्व परिणाम असख्यात लोक प्रमाण है। बहुरि तिनि परिणामनिविषैं

तिस अधःप्रवृत्तकरणकालका प्रथमसमयसम्बन्धी जेते परिणाम हैं तिनिते लगाय द्वितीयादि समयनिविषै ऊपर-ऊपर अन्त समय पर्यन्त समान वृद्धि (चय) कर वर्द्धमान है (पृ० १२०)। अंक सदृष्टिकरि कल्पना रूप परिमाण लीएं दृष्टान्त मात्र कथन करिए है। सर्व अधःकरण परिणामनिकी संख्यारूप सर्वधन ३०७२। बहुरि अधःकरणके कालके समयनिका प्रमाणरूप गच्छ १६। बहुरि समय समय परिणामनिकी वृद्धिका प्रमाणरूप चय ४। (पृ० १२२)। तहां (१६ समयनिविषै) क्रमतैं एक-एक चय बधती परिणामनिकी संख्या हो है—१६२, १६६, १७०, १७४, १७८, १८२, १८६, १९० १९४, १९८, २०२, २०६, २१०, २१४, २१८, २२२ (सबका जोड=३०७२)। ये उक्त राशियें अधःप्रवृत्तकरणके प्रथम समयसे लगाकर उसके चरम समय पर्यन्त ऊपर-ऊपर स्थापन करने चाहिए। (पृ० १२४)॥ आगे अनुकृष्टि कहिये है। तहाँ नीचेके समय सम्बन्धी परिणामनिके जे खण्ड ते परस्पर समान जैसे होइ तैसे एक समयके परिणामनिविषै खण्ड करना तिसका नाम अनुकृष्टि जानना। ए खण्ड एक समयविषै युगपत् (अर्थात् एक समयवर्ती त्रिकालगोचर) अनेक जीवनिके पाइये तातै इनिको बरोबर स्थापन किए है (देखो आगे सदृष्टिका यन्त्र)। (प्रथम समयके कुल परिणामोंकी संख्या १६२ कह आये हैं। उसके चार खण्ड करनेपर अनुकृष्टि रचनामें क्रमसे ३९, ४०, ४१, ४२ हो है इनका जोड १६२ हो है। उतने इतने अक बरोबर स्थापन किये। इसी प्रकार द्वितीय समयके चार खण्ड ४०, ४१, ४२, ४३ हो है। इनका जोड १६६ हो है। और इसी प्रकार आगे भी खण्ड करते-करते सोलवे समयके ५४, ५५, ५६, ५७ खण्ड जानने) इहाँ सर्व जघन्य खण्ड जो प्रथम समयका प्रथम खण्ड ३९ ताके परिणामनिकै अर सर्वोत्कृष्ट अन्त समयका अन्त खण्ड '५७' ताके परिणामनिके किसी ही खण्डके परिणामनिकरि सदृश समानता नाहीं है, जातै अवशेष समस्त ऊपरके व निचले समयसम्बन्धी खण्डनिका परिणाम पुंजनिकै यथा सम्भव समानता सम्भवै है। (पृ० १२५-१२६)।

अब यथार्थ कथन करिये है· त्रिकालवर्ती नाना जीव सम्बन्धी समस्त अधःप्रवृत्तकरणके परिणाम असख्यात लोकमात्र है, सो सर्वधन जानना (सहनानी ३०७२)। बहुरि अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र। ताके जेते समय होइ सो इहाँ गच्छ जानना (सहनानी १६)। (श्रेणी गणित द्वारा चय व प्रथमादि समयोंके परिणामोंकी संख्या तथा अनुकृष्टिगत परिणाम पुंज निकाले जा सकते है।) (दे० 'गणित'/II/५)। (पृ० १२७)

१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१	समय
५४	५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	४१	४०	३९	प्र० खण्ड
५५	५४	५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	४१	४०	द्वि खण्ड
५६	५५	५४	५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	४१	तृ० खण्ड
५७	५६	५५	५४	५३	५२	५१	५०	४९	४८	४७	४६	४५	४४	४३	४२	च० खण्ड
२२२	२१८	२१४	२१०	२०६	२०२	१९८	१९४	१९०	१८६	१८२	१७८	१७४	१७०	१६६	१६२	सर्व धन
चतुर्थ				तृतीय				द्वितीय				प्रथम				निर्वर्गणा काण्डक

विशुद्ध परिणामनिकी सख्या त्रिकालवर्ती नाना जीवनिके असख्यात लोकमात्र है। तिनिविषै अधःप्रवृत्तकरण माडे पहिला समय है ऐसे त्रिकाल सम्बन्धी अनेक जीवनिके जे परिणाम सम्भवै तिनिके समूहको प्रथम समय परिणामपुंज कहिये है। बहुरि जिनि जीवनिकौ अधःकरणमांडे दूसरा समय भया ऐसे त्रिकाल सम्बन्धी अनेक जीवनिके जे परिणाम सम्भवै तिनिके समूहको द्वितीय समय-परिणामपुंज कहिये। ऐसे क्रमतैं अन्तसमय पर्यंत जानना।

तहाँ प्रथमादि समय सम्बन्धी परिणाम पुंजका प्रमाण श्रेढी गणित व्यवहारका विधान करि पहिले जुदा जुदा कह्या है। सो सर्व सम्बन्धी पुंजनिको जोड असख्यात लोकमात्र (३०७२) प्रमाण होई है। बहुरि इस अधःप्रवृत्तकरणकालका प्रथमादि समय सम्बन्धी परिणामनिके विषै त्रिकालवर्ती नाना जीव सम्बन्धी प्रथम समयके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद लिये जो परिणाम पुंज कह्या (३९,४० ··५७ तक), ताके अधःप्रवृत्तकरणकालके जेते समय तिनिको संख्यातका भाग दिये जेता प्रमाण आवे तितना खण्ड करिये। ते खण्ड निर्वर्गणा काण्डकके जेते समय तितने हो है (४)। वर्गणा कहिये समयनिकी समानता तीहि करि रहित जे ऊपरि ऊपरि समयवर्ती परिणाम खण्ड तिनिका जो काण्डक कहिए सर्वप्रमाण सो निर्वर्गणा काण्डक है। (चित्रमें चार समयोंके १६ परिणाम खण्डोंका एक निर्वर्गणा काण्डक है)। तिनि निर्वर्गणा काण्डकके समयनिका जो प्रमाण सो अधःप्रवृत्तकरण-रूप जो ऊर्ध्व गच्छ (अन्तर्मुहूर्त अथवा १६) ताके संख्यातवें भाग मात्र है (१६/४=४)। सो यहु प्रमाण अनुकृष्टि गच्छका (३९ से ४२ तक=४) जानना। इस अनुकृष्टि गच्छ प्रमाण एक एक समय सम्बन्धी परिणामनि विषै खण्ड हो हैं (चित्रमें प्रदर्शित प्रत्येक समय सम्बन्धी परिणाम पुंज जो ४ है सो यथार्थमें संख्यात आवली प्रमाण है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त÷सख्यात=सख्यात आवली) ते क्रमतैं जानना। पृ० १२८

बहुरि इहां द्वितीय समयके प्रथम खण्ड अर प्रथम समयका द्वितीय खण्ड (४०) ये दोऊ समान हो है। तैसे ही द्वितीय समयका द्वितीयादि खण्ड अर प्रथम समयका तृतीयादि खण्ड दोऊ समान हो है। इतना विशेष है कि द्वितीय समयका अन्त खण्ड सो प्रथम समयका खण्डनिविषै किसी ही करि समान नाहीं। ··ऐसे अधःप्रवृत्तकरणकालका अन्तसमय पर्यंत जानने। (पृ० १२९)

ऐसे तिर्यग्रचना जो बरोबर (अनुकृष्टि) रचना तीहि विषै एक एक समय सम्बन्धी खण्डनिके परिणामनिका प्रमाण कह्या। =पूर्वै अधःकरणका एक एक समय विषै सम्भवते नाना जीवनिके परिणामनिका प्रमाण कह्या था। अब तिस विषै जुदे जुदे सम्भवते ऐसे एक एक समय सम्बन्धी खण्डनि विषै परिणामनिका प्रमाण इहां कह्या है। सो ऊपरिके और नीचेके समय सम्बन्धी खण्डनि विषै परस्पर समानता पाइये है, तातै अनुकृष्टि ऐसा नाम इहां सम्भवै है। जितनी सख्या लीए ऊपरिके समय विषै कोई परिणाम खण्ड हो है तितनी सख्या लीए निचले समय विषै भी परिणाम खण्ड हो है। ऐसै निचले समयसम्बन्धी परिणाम खण्डतै ऊपरिके समय सम्बन्धी परिणाम खण्ड विषै समानता जानि इसका नाम अधःप्रवृत्तकरण कहा है। (पृ० १३०)। (ध ६/१,९-८,४/२१४-२१७)

४. परिणाम संख्यामें अंकुश व लांगल रचना

गो. जी /जी प्र /४९/१०८/९ प्रथमसमयानुकृष्टिप्रथमसर्वजघन्यखण्डस्य ३९ चरिमसमयपरिणामाना चरमानुकृष्टिसर्वोत्कृष्टखण्डस्य ५७ च कुत्रापि-सादृश्यं नास्ति शेषोपरितनसमयवर्तिखण्डानामधस्तनसमयवर्तिखण्डै, अथवा अधस्तनसमयवर्तिखण्डाना उपरितनसमयवर्तिखण्डै सह यथासभव सादृश्यमस्ति। द्वितीयसमया ४० द्विचरमसमयपर्यन्त ५३ प्रथमप्रथमखण्डानि चरमसमयप्रथमखण्डाद् द्विचरमसमयपर्यंतखण्डानि च ५४/५५/५६। स्वस्वोपरितनसमयपरिणामै सह सादृश्याभावात् असदृशानि। इयमङ्कुशरचनेत्युच्यते। तथा द्वितीयसमया ४३ द्विचरमसमय ५६ पर्यन्त चरमचरमखण्डानि प्रथमसमयप्रथमखण्ड ३९ वर्जितशेषखण्डानि च स्वस्वाधस्तनसमयपरिणामै सह सादृश्याभावाद् विसदृशानि इय लाङ्गलरचनेत्युच्यते। =बहुरि इहां विशेष है सो कहिये है—प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्ड (३९) सो सर्वसे जघन्य

खण्ड है। बहुरि अन्त समय सम्बन्धी अन्तका अनुकृष्टि खण्ड (५७) सो सर्वोत्कृष्ट है। सो इन दोऊनिकै कही अन्य खण्डकरि समानता नाही है। बहुरि अवशेष ऊपरि समय सम्बन्धी खण्डनिकै नीचले समय सम्बन्धी खण्डनि सहित अथवा नीचले समय सम्बन्धी खण्डनिके ऊपरि समय सम्बन्धी खण्डनि सहित यथा सम्भव समानता है। तहा द्वितीय समयतै लगाय द्विचरम समय पर्यंत जे समय (२ से १५ तक के समय) तिनिका पहिला पहिला खण्ड (४०–५३), अर अत (न० १६) समयके प्रथम खण्डतै लगाय द्विचरम खण्ड पर्यंत (५४–५६) अपने अपने उपरिके समय सम्बन्धी खण्डनिकरि समान नाही है, तातै असदृश है। सो द्वितीयादि चरम समय पर्यंत सम्बन्धी खण्डनिकी ऊर्ध्व रचना कीए उपरि अन्त समयके प्रथमादि द्विचरम पर्यंत खण्डनिकी तिर्यक् रचना कीएं अंकुशके आकारकी रचना हो है। तातै याकूं अकुश रचना कहिये। बहुरि द्वितीय समयतै लगाई द्विचरम समय पर्यंत सम्बन्धी अत अतके खण्ड अर प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्ड (३९) बिना अन्य सर्व खण्ड ते अपने अपने नीचले समय सम्बन्धी किसी ही खण्डनिकरि समान नाहीं तातै असदृश है। सो इहा द्वितीयादि द्विचरम पर्यन्त समय सम्बन्धी अत अत खण्डनिकी ऊर्ध्व रचना कीएं अर नीचे प्रथम समयके द्वितीयादि अंत पर्यंत खण्डनिकी तिर्यक् रचना कीए, हलके आकार रचना हो है। तातै याकू लांगल चित्र कहिये।

समय	अंकुश रचना			लांगल रचना
१६	५४	५५	५६	
१५	५३			५६
१४	५२			५५
१३	५१			५४
१२	५०			५३
११	४९			५२
१०	४८			५१
९	४७			५०
८	४६			४९
७	४५			४८
६	४४			४७
५	४३			४६
४	४२			४५
३	४१			४४
२	४०			४३
१	—	४०	४१	४२

बहुरि जघन्य उत्कृष्ट खण्ड अर उपरि नीचे समय सम्बन्धी खण्डनिकी अपेक्षा कहे असदृश खण्ड तिनि खण्डनि बिना अवशेष सर्वखण्ड अपने ऊपरिकै और नीचले समयसम्बन्धी खण्डनिकरि यथा सम्भव समान है। (पृ० १३०–१३१)। (अकुश रचनाके सर्व परिणाम यद्यपि अपनेसे नीचेवाले समयोके किन्हो परिणाम खण्डोसे अवश्य मिलते है, परन्तु अपनेसे ऊपरवाले समयोके किसी भी परिणाम खण्डके साथ नही मिलते। इसी प्रकार लागल रचनाके सर्व परिणाम यद्यपि अपनेसे ऊपरवाले समयोके किन्ही परिणाम खण्डोंसे अवश्य मिलते है, परन्तु अपनेसे नीचेवाले समयोके किसी भी परिणाम खण्डके साथ नही मिलते। इनके अतिरिक्त बीचके सर्व परिणाम खण्ड अपने ऊपर अथवा नीचे दोनो ही समयोके परिणाम खण्डोके साथ बराबर मिलते ही है। (ध ६/१,९–८,४/२१७/१)।

५. परिणामोंकी विशुद्धताके अविभाग प्रतिच्छेद, अंक संदृष्टि व यंत्र

गो. जी /जी. प्र /४९/१०९/१ तत्राध प्रवृत्तकरणपरिणामेषु प्रथमसमयपरिणामखण्डाना मध्ये प्रथमखण्डपरिणामा असख्यातलोकमात्रा ··अपवर्तितास्तदा संख्यातप्रतरावलिभक्तासंख्यातलोकमात्रा भवन्ति। अमी च जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानां ·। द्वितीयसमयप्रथमखण्डपरिणामाश्चयाधिका जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पा प्राग्वदसख्यातलोकषट्स्थानवृद्धिवर्धिता प्रथमखण्डपरिणामा सन्ति। एवं तृतीयसमयादिचरमसमयपर्यन्त चयाधिका' प्रथमखण्डपरिणामा सन्ति तथा प्रथमादिसमयेषु द्वितीयादिखण्डपरिणामा अपि चयाधिका' सन्ति। = अत्र विशुद्धताके अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा वर्णन करिए है। तिनिकी अपेक्षा गणना करि पूर्वोक्त अध करणनिके खण्डनि विषै अल्पबहुत्व वर्णन करै है—तहां अध. प्रवृत्तकरणके परिणामनिविषै प्रथम समय सम्बन्धी परिणाम, तिनिके खण्डनिविषै जे प्रथम खण्डके परिणाम तै सामान्यपनै असख्यातलोकमात्र (३९) है। तथापि पूर्वोक्त विधानके अनुसार· संख्यात प्रतरावलीको जाका भाग दीजिए ऐसा असंख्यातलोक मात्र है (अर्थात् अस/स प्रतरावली—लोकके प्रदेश)। ते ए परिणाम अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद लिये है। क्रमतै प्रथम परिणामतै लगाइ इतने परिणाम (देखो एक षट् स्थान पतित हानि-वृद्धिका रूप) भए पीछे एक बार षट्स्थान वृद्धि पूर्ण होतै (अर्थात् पूर्ण होती है)। (ऐसी ऐसी) असख्यात लोकमात्र बार षट् स्थान पतित वृद्धि भए तिस प्रथम खण्डके सब परिणामनिकी सख्या (३९) पूर्ण होई है। (जैसे संदृष्टि=सर्व जघन्य विशुद्धि=८, एक षट्स्थान पतित वृद्धि=६, असख्यात लोक=१०। तो प्रथम खण्डके कुल परिणाम ८×६×१०=४८०। इनमें प्रत्येक परिणाम षट्स्थान पतित वृद्धिमें बताये अनुसार उत्तरोत्तर एक-एक वृद्धिगत स्थान रूप है) यातै असख्यात लोकमात्र षट्स्थान पतित वृद्धि करि वर्द्धमान प्रथम खण्डके परिणाम है। पृ० १३२।

तैसे ही द्वितीय समयके प्रथम खण्डका परिणाम (४०) अनुकृष्टि चयकरि अधिक है। तै जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद लिये है। सो ये भी पूर्वोक्त प्रकार असंख्यात लोकमात्र षट्स्थान पतित वृद्धिकरि वर्द्धमान है। ·(एक अनुकृष्टि चयमें जितनी षट् स्थानपतित वृद्धि सम्भवे है) तितनी बार अधिक षट्स्थानपतित वृद्धि प्रथम समयके प्रथम खण्डतै द्वितीय समयके प्रथम खण्डमें सम्भवे है। (अर्थात यदि प्रथम विकल्प में ६ बार वृद्धि ग्रहण की थी तो यहाँ ७ बार ग्रहण करना)। ऐसे ही तृतीय आदि अन्तपर्यन्त समयनिकै प्रथम खण्डके परिणाम एक अनुकृष्टि चयकरि अधिक है। बहुरि तैसे ही प्रथमादि समयनिकै अपने अपने प्रथम खण्डतै द्वितीय आदि खण्डनिके परिणाम भी क्रमतै एक एक चय अधिक है। तहाँ यथा सम्भव षट् स्थान पतित वृद्धि जेती बार होइ तितना प्रमाण (प्रत्येक खण्डके प्रति) जानना। (पृ० १३३)।

स्व कृत संदृष्टि व यन्त्र—उपरोक्त कथनके तात्पर्यपरसे निम्न प्रकार संदृष्टि की जा सक्ती है।—सर्व जघन्य परिणामकी विशुद्धि=८ अविभाग प्रतिच्छेद, तथा प्रत्येक अनन्तगुणवृद्धि=१ की वृद्धि। यन्त्रमें प्रत्येक खण्डके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्तके सर्व परिणाम दर्शानेके लिए जघन्य व उत्कृष्टवाले दो ही अक दर्शाये जायेंगे। तहाँ बीचके परिणामोंकी विशुद्धता क्रमसे एक-एक वृद्धि सहित योग्य प्रमाणमें जान लेना।

निर्वर्गणा काण्डक	समय	कुल परिणाम	प्रथम खण्ड परिणाम	प्रथम खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता	द्वि० खण्ड परिणाम	द्वि० खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता	तृ० खण्ड परिणाम	तृ० खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता	चतु० खण्ड परिणाम	चतु० खण्ड ज० से० उ० विशुद्धता
चतुर्थ	१६	२२२	५४	६६८–७५१	५५	७५२–८०६	५६	८०७–८६२	५७	८६३–९१९
	१५	२१८	५३	६४५–६६७	५४	६९८–७५१	५५	७५२–८०६	५६	८०७–८६२
	१४	२१४	५२	५९३–६४४	५३	६४५–६९७	५४	६९८–७५१	५५	७५२–८०६
	१३	२१०	५१	५४२–५९२	५२	५९३–६४४	५३	६४५–६९७	५४	६९८–७५१
तृतीय	१२	२०६	५०	४९२–५४१	५१	५४२–५९२	५२	५९३–६४४	५३	६४५–६९७
	११	२०२	४९	४४३–४९१	५०	४९२–५४१	५१	५४२–५९२	५२	५९३–६४४
	१०	१९८	४८	३९५–४४२	४९	४४३–४९१	५०	४९२–५४१	५१	५४२–५९२
	९	१९४	४७	३४८–३९४	४८	३९५–४४२	४९	४४३–४९१	५०	४९२–५४१
द्वितीय	८	१९०	४६	३०२–३४७	४७	३४८–३९४	४८	३९५–४४२	४९	४४३–४९१
	७	१८६	४५	२५७–३०१	४६	३०२–३४७	४७	३४८–३९४	४८	३९५–४४२
	६	१८२	४४	२१३–२५६	४५	२५७–३०१	४६	३०२–३४७	४७	३४८–३९४
	५	१७८	४३	१७०–२१२	४४	२१३–२५६	४५	२५७–३०१	४६	३०२–३४७
प्रथम	४	१७४	४२	१२८–१६९	४३	१७०–२१२	४४	२१३–२५६	४५	२५७–३०१
	३	१७०	४१	८७–१२७	४२	१२८–१६९	४३	१७०–२१२	४४	२१३–२५६
	२	१६६	४०	४७–८६	४१	८७–१२७	४२	१२८–१६९	४३	१७०–२१२
	१	१६२	३९	८–४६	४०	४७–८६	४१	८७–१२७	४२	१२८–१६९

यहाँ स्पष्ट रीतिसे ऊपर और नीचेके समयोके परिणामोंकी विशुद्धतामें यथायोग्य समानता देखी जा सकती है। जेसे ६ठे समयके द्वितीय खण्ड के ४५ परिणामोमेंसे नं० १ वाला परिणाम २५७ अविभाग प्रतिच्छेदवाला है। यदि एकको वृद्धिके हिसाबसे देखें तो इस ही का न० २५वाँ [२५७+(२५–१)]=२८१ है। इसी प्रकार चौथे समयके चोथे खण्डका २५वाँ परिणाम भी २८१ अविभाग प्रतिच्छेदवाला है। इसलिए समान है।

६. परिणामोंकी विशुद्धताका अल्प-बहुत्व तथा उसकी सर्पवत् चाल—

गो जी /जी प्र /४९/११०/१ तेषा विशुद्धयल्पबहुत्वमुच्यते तद्यथा—प्रथमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धि' सर्वत स्तोकापि जीवराशितोऽनन्तगुणा अविभागप्रतिच्छेदसमूहात्मिका भवति १६ ख। ततस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। एवं तृतीयादिखण्डेष्वपि जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणानन्तगुणाश्चरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिपर्यंत वर्तन्ते। पुन प्रथमसमयप्रथमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धितो द्वितीयसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा ततस्तदुत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। एवं तृतीयादिखण्डेष्वपि जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणितक्रमेण द्वितीयसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिपर्यन्तं गच्छन्ति। अनेन मार्गेण तृतीयादिसमयेष्वपि निर्वर्गणकाण्डकद्विचरमसमयपर्यन्तं जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणितक्रमेण नेतव्याः। प्रथमनिर्वर्गणकाण्डकचरमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धित' प्रथमसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयनिर्वर्गणकाण्डकप्रथमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्ततप्रथमनिर्वर्गणकाण्डकद्वितीयसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततो द्वितीयनिर्वर्गणकाण्डकद्वितीयसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। तत' प्रथमनिर्वर्गणकाण्डकतृतीयसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा एवमहिगत्या जघन्यादुत्कृष्टं उत्कृष्टाज्जघन्यमित्यनन्तगुणितक्रमेण परिणामविशुद्धिर्नीत्वा चरमनिर्वर्गणकाण्डकचरमसमयप्रथमखण्डजघन्यपरिणामविशुद्धिरनन्तानन्तगुणा। कुत'। पूर्वपूर्वविशुद्धितोऽनन्तानन्तगुणासिद्धत्वात्। ततश्चरमनिर्वर्गणकाण्डकप्रथमसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिरनन्तगुणा। ततस्तदुपरि चरमनिर्वर्गणकाण्डकचरमसमयचरमखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिपर्यन्ता उत्कृष्टखण्डोत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तगुणितक्रमेण गच्छन्ति। तन्मध्ये या जघन्योत्कृष्टपरिणामविशुद्धयोऽनन्तानन्तगुणिता सन्ति ता न विवक्षिता इति ज्ञातव्यम्। =अब तिनि खण्डनिकै विशुद्धताका अविभाग प्रतिच्छेदनिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व कहिए है—प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्डका जघन्य परिणामकी विशुद्धता अन्य सर्व तै स्तोक है। तथापि जीव राशिका जो प्रमाण तातै अनन्तगुणा अविभाग प्रतिच्छेदनिकै समूहको धारै है। बहुरि यातै तिसही प्रथम समयका प्रथम खण्डका उत्कृष्ट परिणामकी विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै द्वितीय खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै तिस ही का उत्कृष्ट परिणामकी विशुद्धता अनन्तगुणी है। ऐसे ही क्रमते तृतीयादि खण्डनिविषै भी जघन्य उत्कृष्ट परिणामनिकी विशुद्धता अनन्तगुणी अनन्तगुणी अन्तका खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धि पर्यंत प्रवर्त्तै है। (पृ० १३३)। बहुरि प्रथम समयसम्बन्धी प्रथम खण्डकी उत्कृष्ट-परिणाम-विशुद्धतातै द्वितीय समयके प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता (प्रथम समयके द्वितीय खण्डवत्) अनन्त गुणी है। तातै तिस ही की उत्कृष्ट विशुद्धता अनन्तगुणी है तातै तिस ही के द्वितीय खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै तिस ही की उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। ऐसे तृतीयादि खण्डनिविषै भी जघन्य उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी अनुक्रमकरि, द्वितीय समयका अन्त खण्डकी उत्कृष्ट विशुद्धता पर्यन्त प्राप्त हो है। (पृ० १३३)। बहुरि इस ही मार्गकरि तृतीयादि समयखण्डनिविषै भी पूर्वोक्त लक्षणयुक्त जो निर्वर्गणा काण्डक ताका द्विचरम समय पर्यन्त जघन्य उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्त गुणानुक्रमकरि ल्यावनी। बहुरि प्रथम निर्वर्गणा काण्डकका अन्त समय सम्बन्धी प्रथमखण्डकी जघन्य विशुद्धतातै प्रथम समयका अन्त खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै दूसरे निर्वर्गणा काण्डकका प्रथम समय सम्बन्धी प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै तिस प्रथम निर्वर्गणा काण्डकका द्वितीय समय सम्बन्धी अन्त खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै द्वितीय निर्वर्गणा काण्डकका द्वितीय समय सम्बन्धी प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। तातै प्रथम निर्वर्गणा काण्डकका तृतीय समय सम्बन्धी अन्त खण्डकी उत्कृष्ट विशुद्धता अनन्त गुणी है। या प्रकार जैसे सर्पकी चाल इधरतै उधर और उधरतै इधर पलटनि रूप हो है तैसे जघन्यतै उत्कृष्ट और उत्कृष्टतै जघन्य ऐसे पलटनि विषै अनन्तगुणी अनुक्रमकरि विशुद्धता प्राप्त करिए।
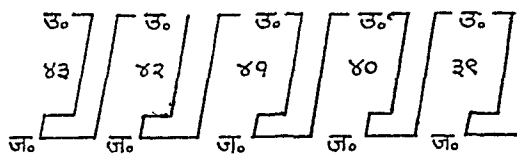
पीछे अन्तका निर्वर्गणा काण्डकका अन्त समय सम्बन्धी प्रथम खण्डकी जघन्य परिणाम विशुद्धता अनन्तानन्तगुणी है। काहे तै ? यातै पूर्व पूर्व विशुद्धतातै अनन्तानन्तगुणापनौ सिद्ध है। बहुरि तातै अन्तका निर्वर्गणा काण्डकका प्रथम समय सम्बन्धी अन्त खण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता अनन्तगुणी है। ताकै ऊपरि अन्तका निर्वर्गणा काण्डकका अन्त समय सम्बन्धी अन्तखण्डकी उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धता पर्यन्त अनन्तगुणा अनुक्रमकरि प्राप्त हो है। तिनि विषे जे (ऊपरिके) जघन्यतै (नीचेके) उत्कृष्ट परिणामनिकी विशुद्धता अनन्तानन्तगुणी है ते इहाँ विवक्षा रूप नाही है, ऐसे जानना। (ध ६/१ ९-८, ४/२१८-२१९)।

(ऊपर ऊपर के समयों के प्रथम खण्डो की जघन्य परिणाम विशुद्धिसे एक निर्वर्गणा काण्डक नीचेके अन्तिम समयसम्बन्धी अन्तिम खण्डको उत्कृष्ट परिणाम विशुद्धि अनन्तगुणी कही गयी है।) उसकी सदृष्टि—(ध ६/१,९-८,४/२१९) (गो जी /जी.प्र व भाषा/ ४९/१२०)।
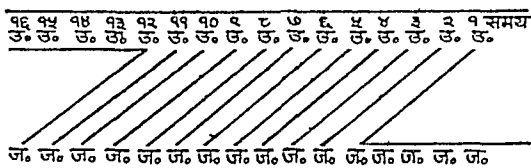
७. अधःप्रवृत्तकरणके चार आवश्यक

ध ६/१-९-८,५/२२२/९ अधापवत्तकरणे ताव ट्ठिदिखडगो वा अणुभागखडगो वा गुणसेडी वा गुणसंकमो वा णत्थि। कुदो। एदेसिं परिणामाण पुव्वुत्तचउव्विहकज्जुप्पायणसत्तीए अभावादो। केवलमणतगुणाए विसोहीए पडिसमय विसुज्झतो अप्पसत्थाणं कम्माणं वेट्ठाणियमणुभाग समय पडि अणतगुणहीणं बधदि, पसत्थाणं कम्माणमणुभागं चदुट्ठाणिय समय पडि अणंतगुण बधदि। एत्थट्ठिदिबधकालो अतोमुहुत्तमेत्तो। पुण्णे पुण्णे ट्ठिदिबधे पलिदोवमस्स सखेज्जदिभागेणूणियमण्ण ट्ठिदिं बंधदि। एव सखेज्जसहस्सवारं ट्ठिदिबंधोसरणेसु कदेसु अधापवत्तकरणद्धा समप्पदि। अधापवत्तकरणपढमसमयट्ठिदिबधादो चरिमसमयट्ठिदिबधो सखेज्जगुणहीणो। एत्थेव पढमसम्मत्तसजमासजमाभिमुहस्स ट्ठिदिबधो सखेज्जगुणहीणो, पढमसम्मत्तसजमाभिमुहस्स अधापवत्तकरणचरिमसमयट्ठिदिबधो सखेज्जगुणहीणो।" अध प्रवृत्तकरणमे स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, गुणश्रेणी, और गुण सक्रमण नहीं होता है, क्योकि इन अध प्रवृत्तपरिणामोके पूर्वोक्त चतुर्विध कार्योके उत्पादन करनेकी शक्तिका अभाव है।—१ केवल अनन्तगुणी विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय विशुद्धिको प्राप्त होता हुआ यह जीव—२ अप्रशस्त कर्मोके द्विस्थानीय अर्थात् निंब और कांजीरूप अनुभागको समय समयके प्रति अनन्तगुणित हीन बान्धता है,—३ और प्रशस्त कर्मोके गुड खाण्ड आदि चतु स्थानीय अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणित बान्धता है। ४. यहाँ अर्थात अध प्रवृत्तकरण कालमे, स्थितिबन्धका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। एक एक स्थिति बन्धकाल के पूर्ण होनेपर पल्योपमके सख्यातवें भागसे हीन अन्य स्थितिको बान्धता है (दे० अपकर्षण/३)। इस प्रकार संख्यात सहस्र बार स्थिति बन्धापसरणोके करनेपर अध प्रवृत्तकरणका काल समाप्त होता है।

अध प्रवृत्तकरणके प्रथमसमय सम्बन्धी स्थितिबन्धसे उसीका अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध सख्यातगुणा हीन होता है। यहाँ पर हो अर्थात् अध प्रवृत्तकरणके चरम समयमें, प्रथमसम्यक्त्वके अभिमुख जीवके जो स्थितिबन्ध होता है. उससे प्रथम सम्यक्त्व सहित सयमासंयमके अभिमुख जीवका स्थितिबन्ध संख्यातगुणा हीन होता है। इससे प्रथमसम्यक्त्व सहित सकलसयमके अभिमुख जीवका अध'प्रवृत्तकरणके अन्तिम समय सम्बन्धी स्थितिबन्ध सख्यातगुणा हीन होता है। (इस प्रकार इस करणमें चार आवश्यक जानने—१. प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि, २ अप्रशस्त प्रकृतियोंका केवल द्विस्थानीय बन्ध और उसमें भी अनन्तगुणी हानि, ३. प्रशस्त प्रकृतियोके चतु'स्थानीय अनुभागबन्धमे प्रतिसमय अनन्तगुणी वृद्धि; ४ स्थितिबन्धापसरण) (ल सा./मू./३७-३९/७२)/ (क्ष सा /मू /३९३/४८५) / (गो जी /जी. प्र /४९/११०/१४) / (गो. क./जी प्र /५५०/७४३/६)।

८. सम्यक्त्व प्राप्तिसे पहले भी सर्व जीवोंके परिणाम अधःकरण रूप ही होते हैं।

ध ६/१,९-८,४/२१७/७ मिच्छादिट्ठीआदीणं ट्ठिदिबधादिपरिणामा वि हेट्ठिमा उवरिमेसु, उवरिमा हेट्ठिमेसु अणुहर ति, तेसिं अधापवत्तसण्णा किण्ण कदा। ण, इट्ठत्तादो। कधं एद णव्वदे। अतदीवय-अधापवत्तणामादो।=प्रश्न—मिथ्यादृष्टि आदि जीवोके अधस्तन-स्थितिबन्धादि परिणाम उपरिम परिणामोमें और उपरिम स्थितिबन्धादि परिणाम अधस्तन परिणामोमे अनुकरण करते हे, अर्थात् परस्पर समानताको प्राप्त होते है, इसलिए इनके परिणामोकी 'अध प्रवृत्त' यह संज्ञा क्यो नही की ? उत्तर—नही, क्योकि यह बात इष्ट है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—क्योकि 'अध प्रवृत्त' यह नाम अन्तदीपक है। इसलिए प्रथमोपशमसम्यक्त्व होनेसे पूर्व तक मिथ्यादृष्टि आदिके पूर्वोत्तर समयवर्ती परिणामोमें जो सदृशता पायी जाती है, उसकी अध' प्रवृत्त सज्ञाका सूचक है।

५. अपूर्वकरण निर्देश

१. अपूर्वकरणका लक्षण—

ध. १/१,१,१७/गा ११६-११७/१८३. भिण्ण-समय-ट्ठिएहि दु जीवेहि ण होइ सव्वदा सिरसो। करणेहि एक्कसमयट्ठिएहि सरिसो विसरिसो य।११६। एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिस-समय-ट्ठिएहि जीवेहि। पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा।११७।

ध. १/१,१,१६/१८०/१ करणा परिणामा न पूर्वा अपूर्वा। नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादित' क्रमप्रवृद्धासंख्येयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विवक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत्। अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणा।"=१ अपूर्वकरण गुणस्थानमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामोकी अपेक्षा कभी भी सदृशता नही पायी जाती है, किन्तु एक समयवर्ती जीवोके परिणामोकी अपेक्षा सदृशता और विसदृशता दोनो ही पायी जाती है।११६। (गो जी /मू /५२/१४०) इस गुणस्थानमें विसदृश अर्थात् भिन्न-भिन्न समयमें रहनेवाले जीव, जो पूर्वमें कभी भी प्राप्त नही हुए थे, ऐसे अपूर्व परिणामोको ही धारण करते हे। इसलिए इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है।११७।

(गो जी /मू ५१/१३६)। २ करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहिले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढते हुए सन्ख्यातलोक प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते है। अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोसे भिन्न समयवर्ती जीवोके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं। इस तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामों-को अपूर्वकरण कहते हे। (यद्यपि यहाँ अपूर्वकरण नामक गुणस्थान की अपेक्षा कथन किया गया है, परन्तु सर्वत्र ही अपूर्वकरणका ऐसा लक्षण जानना) (रा वा /९/१/१३।५८९/४) (ल सा मू /५१/८३)।

२. अपूर्वकरणका काल

ध ६/१,९ ८,४/२२०/१ "अपुव्वकरणद्धा अतोमुहुत्तमेत्ता होदि त्ति।= अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है। (गो.जी /मू /५३/१४१) (गो क /मू /९१०/१०९४)।

३ अपूर्वकरणमें प्रतिसमय सम्भव परिणामोंकी संख्या

ध ६/१,९-८,४/२२०/१ अपुव्वकरणद्धा अतोमुहुत्तमेत्ता होदि त्ति अतोमुहुत्तमेत्तसमयाणं पढम रचणा कायव्वा। तत्थ पढमसमयपाओ-ग्गविस होण पमाणमसखेज्जा लोगा। विदियसमयपाओग्गविसोहीण पमाणमसखेज्जा लोगा। एव णेयव्व जाव चरिमसमओ त्ति।= अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है, इसलिए अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण समयोंकी पहले रचना करना चाहिए। उसमें प्रथम समयके योग्य विशुद्धियोका प्रमाण असंख्यात लोक है, दूसरे समयके योग्य विशुद्धियोका प्रमाण असख्यात लोक है। इस प्रकार यह क्रम अपूर्व-करणके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। (यहाँ अनुकृष्टि रचना नहीं है)।

गो जी./मू /५३/१८१ अतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसखलोगपरिणामा। कमउड्ढा पुव्वगुणे अणुकट्ठीणत्थि णियमेण।५३। =अन्तर्मुहूर्त मात्र जो अपूर्वकरणका काल तीहिंविषै समय-समय प्रति क्रमतै एक-एक चय बधता असख्यात लोकमात्र परिणाम हे। तहाँ नियमकरि पूर्वा-पर समय सम्बन्धी परिणामनिकी समानताका अभावतै अनुकृष्टि विधान नाहीं है।—इहाँ भी अक सदृष्टि करि दृष्टात मात्र प्रमाण कल्पनाकरि रचनाका अनुक्रम दिखाइये हे—(अपूर्वकरणके परिणाम ४०९६, अपूर्वकरणका काल ८ समय, सख्यातका प्रमाण ४, चय १६। इस प्रकार प्रथम समयसे अन्तिम आठवें समय तक क्रमसे एक एक चय (१६) बढते—४५६,४७२,४८८,५०४,५२०,५३६,५५२ और ५६८ परिणाम हो है। सर्वका जोड=४०९६ (गो क./मू./९१०/१०९४)।

४. परिणामोंकी विशुद्धता में वृद्धिक्रम

ध ६/१,९-८,४/२२०/४ "पढमसमयविसोहीहितो विदियसमयविसोहीओ विसेसाहियाओ। एवं णेदव्वं जाव चरिमसमओत्ति। विसेसो पुण अतोमुहुत्तपडिभागिओ। एदेसिं करणाणं तिव्व-मददाए अप्पाबहुग उच्चदे। त जधा—अपुव्वकरणस्स पढमसमयजहण्णविसोही थोवा। तत्थेव उक्कस्सिया विसोही अणतगुणा। विदियसमयजहण्णिया विसोही अणतगुणा। तत्थेव उक्कस्सिया विसोही अणतगुणा। तदियसमय-जहण्णिया विसोही अणतगुणा। तत्थेव उकस्सिया विसोही अणंत-गुणा। एव णेयव्व जाव अपुव्वकरणचरिमसमओ त्ति। = प्रथम समयकी विशुद्धियोंसे दूसरे समयकी विशुद्धियाँ विशेष अधिक होती हैं। इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। यहाँपर विशेष अन्तर्मुहूर्तका प्रतिभागी हे। इन करणोंकी, अर्थात् अपूर्वकरणकालके विभिन्न समयवर्ती परिणामोंकी तीव्र-मन्दताका अल्पबहुत्व कहते हैं। वह इस प्रकार है—अपूर्वकरणकी प्रथम समयसम्बन्धी जघन्य विशुद्धि सबसे कम है। वहाँ पर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है। प्रथम समयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे द्वितीय समयकी जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणित है। वहाँपर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है। तृतीय समयकी जघन्य विशुद्धि द्वितीय समयकी उत्कृष्ट विशुद्धिसे अनन्तगुणी है। वहाँ पर ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणित है। इस प्रकार यह क्रम अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए। (ल सा /मू./५३।८४) (गो. जी /मू व जी प्र /५३/१४२) (गो क./मू व जी.प्र / ९१०/१०९४) (रा वा /९/१/१२/५८९/२)।

५. अपूर्वकरणके परिणामोंकी संदृष्टि व यन्त्र

कोशकार—अपूर्वकरणके परिणामोकी सख्या व विशुद्धियोंको दर्शानेके लिए निम्न प्रकार सदृष्टि की जा सकती है—

समय	प्रतिसमय वर्ती कुल परिणाम	ज से उ विशुद्धियाँ
८	५६८	४४४९–५०१६
७	५५२	३८९७–४४४८
६	५३६	३३६१–३८९६
५	५२०	२८४१–३३६०
४	५०४	२३३७–२८४०
३	४८८	१८४९–२३३६
२	४७२	१३७७–१८४८
१	४५६	९२१–१३७६
	४०९६	सर्व परिणाम

कुल परिणाम=४०९६, अनन्त गुणी वृद्धि=१ चय, सर्व-जघन्य परिणाम=अध करण-के उत्कृष्ट परिणाम ९१९ से आगे अनन्तगुणा=९२१।

यहाँ एक ही समयवर्ती जीवोंके परिणामोमे यद्यपि समानता भी पायी जाती है, क्योंकि एक ही प्रकारकी विशुद्धिवाले अनेक जीव होने सम्भव है। और विसदृशता भी पायी जाती है, क्योकि एक समयवर्ती परिणाम विशुद्धियोकी सख्या अ-सख्यात लोक प्रमाण है। परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवोके परिणामोंमें तो सर्वथा असमानता ही है, समानता नहीं, क्योंकि यहाँ अध करणवत् अनुकृष्टि रचना-का अभाव है।

६. अपूर्वकरणके चार आवश्यक

ल, सा /मू /५३–५४/८४ गुणसेढीगुणसंकमठिदिरसखडा अपुव्वकरणादो। गुणसकमेण सम्मा मिस्साण पूरणोत्ति हवे।५३। ठिदि बधोसरण पुण अधापवत्तादुपूरणोत्ति हवे। ठिदिबंधट्ठिदिखडुक्कीरणकाला समा होंति।५४। =अपूर्वकरणके प्रथम समयतै लगाय यावत् सम्यक्त्व-मोहनी मिश्रमोहनीका पूरणकाल, जो जिस कालविषै गुणसक्रमणकरि मिथ्यात्वकौं सम्यक्त्वमोहनी मिश्रमोहनी रूप परिणमावै है, तिस कालका अन्त समय पर्यन्त १ गुणश्रेणी, २ गुणसक्रमण, ३ स्थिति खण्डन और ४ अनुभाग खण्डन ए च्यार आवश्यक हो है।५३। बहुरि स्थिति बधापसरण है सो अध'प्रवृत्त करणका प्रथम समयतैं लगाय तिस गुणसक्रमण पूरण होनेका काल पर्यंत हो है। यद्यपि प्रायोग्य लब्धितैं ही स्थितिबधापसरण हो है, तथापि प्रायोग्य लब्धिकै सम्यक्त्व होनेका अनवस्थितपना है। नियम नाहीं है। तातैं ग्रहण न कीया। बहुरि स्थिति बधापसरण काल अर स्थितिकाडकोत्करण-काल ए दोऊ समान अन्तर्मुहूर्त मात्र है। (विशेष देखो अपकर्षण / ३,४) (यद्यपि प्रथमसम्यक्त्वका आश्रय करके कथन किया गया है पर सर्वत्र ये चार आवश्यक यथासम्भव जानना।) (ध ६/१, ९–८ ५/२२४/१ तथा २२७/७) (क्ष. सा /मू /३९७/४८७), (गो जी /जी प्र /५४/१४७/८)।

७. अपूर्वकरण व अध:प्रवृत्तकरणमें कथंचित् समानता असमानता

ध. १/१,१,१७/१८०/४ एतेनापूर्वविशेषेण अध:प्रवृत्तपरिणामव्युदास: कृत इति द्रष्टव्य, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात्। =इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे अध:प्रवृत्त परिणामोका निराकरण किया गया है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि, जहाँ पर उपरितन-समयवर्ती जीवोके परिणाम अधस्तनसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सदृश भी होते है और विसदृश भी होते है ऐसे अध:प्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोमें अपूर्वता नही पायी जाती। (ऊपर ऊपरके समयोमें नियमसे अनन्तगुण विशुद्ध विसदृश ही परिणाम अपूर्व कहला सकते है)।

ल. सा./मू /५२।८४ विदियकरणादिसमयादंतिमसमओत्ति अवरवर-सुद्धी। अहिगदिणा खलु सव्वे होंति अणतेण गुणियकमा।५२। =दूसरे करणका प्रथम समयतै लगाय अन्त समयपर्यन्त अपने जघन्यतै अपना उत्कृष्ट अर पूर्व समयके उत्कृष्टतै उत्तर समयका जघन्य परिणाम क्रमतै अनन्तगुणी विशुद्धता लीए सर्पकी चालवत् जानने। (विशेष देखो करण।५/४ तथा करण।४/६)।

६. अनिवृत्तिकरण निर्देश

१. अनिवृत्तिकरणका लक्षण

ध १/१,१,१७/११६-१२०/१८६ एकम्मिकालसमए सठाणादीहि जह णिवट्टति। ण णिवट्टति तह च्चिय परिणामेहि मिहो जे हु।११६। होंति अणियट्टिणोते पडिसमय जेस्सिमेक्कपरिणामा। विमलयर-झाण-हुयवह-सिहाहि णिद्दड्ढ-कम्म-वणा।१२०। =अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमें-से किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव जिस प्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि बाह्यरूपसे और ज्ञानोपयोगादि अन्तरग रूपसे परस्पर भेदको प्राप्त होते हैं, उस प्रकार जिन परिणामोंके द्वारा उनमें भेद नही पाया जाता है उनको अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते है। और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अनन्त गुणी विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए ही) परिणाम पाये जाते हैं। तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओसे कर्मवनको भस्म करनेवाले होते है। ११६-१२०। (गो. जी./मू /५६-५७/१४६), (गो क./मू /९११-९१२/१०९८), (ल. सा / जी प्र /३६/७१)।

ध १/१ १,१७/१८३।११ समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्ति निवृत्ति। अथवा निवृत्तिर्व्यावृत्ति:, न विद्यते निवृत्तिर्येषा तेऽनिवृत्तय:। =समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेद रहित वृत्तिको निवृत्ति कहते है। अथवा निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामोकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नही होती (अर्थात् जो छूटते नही) उन्हे ही अनिवृत्ति कहते हे।

२. अनिवृत्तिकरणका काल

ध ६/१,९-८, ४/२२१/८ अणियट्टीकरणद्धा अतोमुहुत्तमेत्ता होदि त्ति तिस्से अद्धाए समया रचेदव्वा। =अनिवृत्तिकरणका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है। इसलिए उसके कालके समयोकी रचना करना चाहिए।

३. अनिवृत्तिकरणमे प्रति समय एक ही परिणाम सम्भव है

ध. ६/१,९-८.४/२२१/६ एत्थ समय पडि एक्केक्को चेव परिणामो होदि, एक्कम्हिसमए जहण्णुक्कस्सपरिणामभेदाभावा। =यहाँ पर अर्थात अनिवृत्तिकरणमें, एक एक समयके प्रति एक-एक ही परिणाम होता है, क्योकि, यहाँ एक समयमें जघन्य और उत्कृष्ट परिणामोंके भेदका अभाव है। (ल. सा /मू./८३।११८ तथा जी. प्र /३६/७१)।

४. अनिवृत्तिकरणके परिणामोकी विशुद्धतामें वृद्धिक्रम

ध. ६/१,९-८,४/२२१/११ एदासिं (अणियट्टीकरणस्स) विसोहीणं तिव्व-मददाए अप्पाबहुगं उच्चदे—पढमसमयविसोही थोवा। विदियसमयविसोही अणतगुणा। तत्तो तदियसमयविसोही अजहण्णुक्कस्सा अणतगुणा। एवं णेयव्व जाव अणियट्टीकरणद्धाए चरिमसमओ त्ति। =अत्र अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी विशुद्धियोकी तीव्रता मन्दताका अल्पबहुत्व कहते हैं—प्रथम समय सम्बन्धी विशुद्धि सबसे कम है। उससे द्वितीय समयकी विशुद्धि अनन्तगुणित है। उससे तृतीय समयकी विशुद्धि अजघन्योत्कृष्ट अनन्तगुणित है। इस प्रकार यह क्रम अनिवृत्तिकरणकालके अन्तिम समय तक ले जाना चाहिए।

५ नाना जीवोंमें योगोंकी सदृशताका नियम नहीं है

ध. १/१,१,२७/२२०/५ ण च तेसि सव्वेसि जोगस्स सरिसत्तणे णियमो अत्थि लोगपूरणम्हिट्ठियकेवलीण व तहा पडिबद्धसुत्ताभावादो। =अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती सम्पूर्ण जीवोके योगकी सदृशताका कोई नियम नहीं पाया जाता। जिस प्रकार लोकपूरण समुद्धातमें स्थित केवलियोके योगकी समानताका प्रतिपादक परमागम है उस प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमागमका अभाव है।

६. नाना जीवोंमें काण्डक घात आदिकी समानता और प्रदेश बन्धकी असमानता

ध. १/१,१,२७/२२०/५ ण च अणियट्टिम्हि पदेसबंधो एय समयम्हि वट्टमाणसव्वजीवाण सरिसो तस्स जोगकारणत्तादो।—तदो सरिसपरिणामत्तादो सव्वेसिमणियट्टीण समाणसमयसट्ठियाण ट्ठिदिअणुभागघादत्त-बंधोसरण-गुणसेढि-णिज्जरासकमणं सरिसत्तणं सिद्धं। =परन्तु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित सम्पूर्ण जीवोके प्रदेशबन्ध सदृश होता है ऐसा नही समझ लेना चाहिए, क्योंकि, प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होता है और तहाँ योगोंके सदृश होनेका नियम नहीं है (देखो पहले न०५ वाला शीर्षक)। ..इसलिए समान समयमें स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोके सदृश परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, बन्धापसरण, गुणश्रेणी निर्जरा और सक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है।

क्ष. सा /मू /४१२-४१३/४९६ बाहरपढमे पढमं ठिदिखंडविसरिसं तु विदियादि। ठिदिखडय समाणं सव्वस्स समाणकालम्हि।४१२। पल्लस्स संखभाग अवरं तु वरं तु संखभागहियं। घादादिमठिदिखडो सेसो सव्वस्स सरिसा हु।४१३। =अनिवृत्तिकरणका प्रथम समयविषै पहिला स्थिति खण्ड है सो तो विसदृश है, नाना जीवनिकै समान नाहीं है। बहुरि द्वितीयादि स्थितिखण्ड है ते समानकाल विषै सर्व-जीवनिकैं समान है। अनिवृत्तिकरण माडै जिनकौ समान काल भया तिनकैं परस्पर द्वितीयादि स्थितिकाण्डक आयामका समान प्रमाण जानना।४१२। सो प्रथम स्थिति खण्ड जघन्य तो पल्यका असंख्यातवाँ भाग मात्र है। उत्कृष्ट ताका संख्यातवाँ भाग करि अधिक है। बहुरि अवशेष द्वितीयादिखण्ड सर्व जीवनिकै समान हो है। अपूर्वकरणका प्रथम समयतै लगाय अनिवृत्तिकरणविषै यावत् प्रथम खण्डका घात न होइ तावत् ऐसे ही सभवै (अर्थात किसीके स्थिति खण्ड जघन्य होइ और किसीके उत्कृष्ट) बहुरि तिस प्रथम-काण्डकका घात भए पीछे समान समयनिविषै प्राप्त सर्व जीवनिकैं स्थिति सत्त्वकी समानता हो है, तातै द्वितीयादि काण्डक आयामकी भी समानता जाननी।४१३।

७. अनिवृत्तिकरणके चार आवश्यक

ध. ६/१,९-८,५/२२९/८ ताधे चेव अण्णो ट्ठिदिखंडओ अण्णो अणुभाग-खडओ, अण्णो ट्ठिदिबंधो च आढत्तो। पुव्वोकड्डिदपदेसग्गादो असंखेज्जगुण पदेसमोकड्डिदूण अपुव्वकरणो व्व गलिदसेस गुणसेढिं करेदि। एव ट्ठिदिबंध-ट्ठिदिखडय-अणुभागखडयसहस्सेसु गदेसु अणियट्टीअद्धाए चरिमसमय पावदि। =उसी (अनिवृत्तिकरणको प्रारम्भ करनेके) समयमें ही १. अन्य स्थितिखण्ड, २. अन्य अनुभाग खण्ड और ३ अन्य स्थिति बन्ध (अपसरण) को आरम्भ करता है। पूर्वमें अपकर्षित प्रदेशाग्रसे असख्यात गुणित प्रदेशका अपकर्षण कर अपूर्वकरणके समान गलितावशेष गुणश्रेणीको करता है। • इस प्रकार सहस्रो स्थितिबन्ध, स्थितिकाण्डकघात, और अनुभागकाण्डकघातोके व्यतीत होनेपर अनिवृत्ति करणके कालका अन्तिम समय प्राप्त होता है। (ल सा./मू /८३-८४/११८), (क्ष. सा./मू /४११-४३७/४६५)।

८. अनिवृत्तिकरण व अपूर्वकरणमें अन्तर

ध १/१,१,१७/१८४/१ अपूर्वकरणाश्च तादृक्षा केचित्सन्तीति तेषामप्यय व्यपदेश प्राप्नोतीति चेन्न, तेषा नियमाभावात्। =प्रश्न—अपूर्व-करण गुणस्थानमें भी कितने ही परिणाम इस प्रकारके होते है (अर्थात् समान समयवर्ती जीवोके समान होते है और असमान समयवर्तीके भी परस्पर समान नही होते) अतएव उन परिणामोको भी अनिवृत्ति सज्ञा प्राप्त होनी चाहिए। उत्तर—नही, क्योंकि, उनके निवृत्ति रहित (अर्थात् समान) होनेका कोई नियम नही है।

ल सा /जी प्र /३६/७१/१६ अनिवृत्तिकरणेऽपि तथैव पूर्वोत्तरसमयेषु सख्याविशुद्धिसादृश्याभावात् भिन्नपरिणाम एव। अय तु विशेष — प्रतिसमयमेकपरिणाम जघन्यमध्यमोत्कृष्टपरिणामभेदाभावात्। यथाध प्रवृत्तापूर्वकरणपरिणामा' प्रतिसमय जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदाद-संख्यातलोकमात्रविकल्पा' षट्स्थानवृद्धया वर्द्धमाना सन्ति न तथानिवृत्तिकरणपरिणामा' तेषामेकस्मिन् समये कालत्रयेऽपि विशुद्धिसादृश्यादैक्यमुपचर्यते। =यद्यपि अपूर्वकरणकी भाँति अनिवृत्तिकरणमें भी पूर्वोत्तर समयोमे होनेवाले परिणामोकी सख्या व विशुद्धि सदृश न होनेके कारण भिन्न परिणाम होते हैं, परन्तु यहाँ यह विशेष है कि प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है, क्योकि यहाँ जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट परिणामरूप भेदका अभाव है। अर्थात् जिस प्रकार अध प्रवृत्तकरण और अपूर्वकरणके परिणाम प्रतिसमय जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे असख्यात लोकमात्र विकल्प-सहित षट्स्थान वृद्धिसे वर्द्धमान होते है, उस प्रकार अनिवृत्तिकरणके परिणाम नही होते, क्योकि, तीनों कालोमे एक समयवर्ती उन परि-णामोमें विशुद्धिकी सदृशता होनेके कारण एकता कही गयी है।

९. यहाँ जीवोंके परिणामोंकी समानताका नियम समान समयवालोंके लिए ही है, यह कैसे कहते हो?

ध १/१,१,१७/१८४/२ समानसमयस्थितजीवपरिणामानामिति कथम-धिगम्यत इति चेन्न, 'अपूर्वकरण' इत्यनुवर्तनादेव द्वितीयादिसमय-वर्तिजीवै सह परिणामापेक्षया भेदसिद्धे। =प्रश्न—इस गुणस्थान-में जो जीवोके परिणामोकी भेदरहित वृत्ति बतलायी है, वह समान समयवर्ती जीवोके परिणामोकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना? उत्तर—'अपूर्वकरण' पदकी अनुवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है कि इस गुणस्थानमें प्रथमादि समयवर्ती जीवोका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है।

१०. गुणश्रेणी आदि अनेक कार्योंका कारण होते हुए भी इसके परिणामोंमें अनेकता क्यों नहीं कहते

ध. १/१,१,२७/२१६/२ कज्ज-णाणत्तादो कारणणाणत्तमणुमाणिज्जदि इदि एदमवि ण घडदे, एयादो मोग्गरादो बहुकोडिकवालोवलभा। तत्थ वि होदु णाम मोग्गरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं, तदो एयक्खप्प-रुप्पत्ति-प्पसंगादो इदि चे तो वखहि एत्थ वि भवदु णाम ट्ठिदिकंडय-घाद-अणुभागकंडयघाद - ट्ठिदिबंधोसरण - गुणसंकम-गुणसेढी-ट्ठिदि-अणुभागबंध-परिणामाण णाणत्त तो वि एग-समयमठियणाणा-जीवाण सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्टिविसेसणाणुववत्तीदो। जइ एव, तो सव्वेसिमणियट्टी-णमेग-समयम्हि वट्टमाणाणा ट्ठिदि-अणु-भागघादाण सरिसत्त पावेदि त्ति चे ण दोसो, इट्ठत्तादो। पढम-ट्ठिदि-अणुभाग-खंडदाण-सरिसत्त णियमो णत्थि, तदो णेदं घडदि त्ति चे ण दोसो, हद सेस-ट्ठिदि अणुभागाणं एय-पमाण-णियम-दसणादो। =प्रश्न—अनेक प्रकारका कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोका अनुमान किया जाता है? अर्थात् अनि-वृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, स्थितिकाण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, इसलिए उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिए? उत्तर—यह कहना भी नही बनता है, क्योकि, एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है। प्रश्न—वहाँपर मुद्गर एक भले ही रहा आवे, परन्तु उसकी शक्तियोमें एकपना नहीं बन सकता है। यदि मुद्गरकी शक्तियोंमे भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी? उत्तर—यदि ऐसा है तो यहाँपर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धा-पसरण, गुणसक्रमण, गुणश्रेणीनिर्जरा, शुभ प्रकृतियोके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके कारणभूत परिणामोंमें नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमे स्थित नाना जीवोके परिणाम सदृश ही होते है, अन्यथा उन परिणामोके 'अनिवृत्ति' यह विशेषण नही बन सकता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो एक समयमे स्थित सम्पूर्ण अनिवृत्ति-करण गुणस्थानवालोके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात-की समानता प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि यह बात तो हमें इष्ट ही है—दे० करण/६/६। प्रश्न—प्रथम स्थितिकाण्डक और प्रथम अनुभागकाण्डककी समानताका नियम तो नही पाया जाता है, इसलिए उक्त कथन घटित नही होता है? उत्तर—यह भी कोई दोष नही है, क्योकि, प्रथम स्थितिके अवशिष्ट रहे हुए खण्डका और उसके अनुभाग खण्डका अनिवृत्तिकरण गुण-स्थानवाले प्रथम समयमे ही घात कर देते है, अतएव उनके द्विती-यादि समयोमे स्थितिकाण्डकोका और अनुभागकाण्डकोका एक प्रमाण नियम देखा जाता है।

करण लब्धि—दे० लब्धि/४।

करणानुयोग—दे० अनुयोग।

करभवेदिनो—भरत आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

करीरी—भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

करुणा—स, सि /७/११/३४९/८ दीनानुग्रहभाव कारुण्यम्। =दीनो पर दयाभाव रखना कारुण्य है। (रा वा./७/११/३/५३८/१६) (ज्ञा /२७/८-१०)

भ आ /वि /१६९६/१५१६/१३ शारीर, मानस, स्वाभाविक च दु खम-सह्याप्नुवतो दृष्ट्वा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कषायेणाशुभेन योगेन च समुपार्जिताशुभकर्मपर्यायपुद्गलस्कन्धतदुपोद्भवा विपदो विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा। =शारीरिक, मानसिक,

और स्वाभाविक ऐसी असह्य दु खराशि प्राणियोको सता रही है, यह देखकर, "अहह, इन दीन प्राणियोंने मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभयोगसे जो उत्पन्न किया था, वह कर्म उदयमें आकर इन जीवोको दु ख दे रहा है। ये कर्मवश होकर दु ख भोग रहे हैं। इनके दु खसे दु'खित होना करुणा है।

भ आ /वि /१८३६/१६४०/३ दया सर्वप्राणिविषया। =सर्व प्राणियोके ऊपर उनका दु ख देखकर अन्त करण आर्द्र होना दयाका लक्षण है।

★ अनुकम्पाके भेद व लक्षण—दे० अनुकम्पा।

२. करुणा जीवका स्वभाव है

ध, १३/५,५,४८/३६१/१४ करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तं। ण करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारण कम्म वत्तव्व। ण एस दोसो, सजमघादिकम्माण फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।=प्रश्न—करुणाका कारणभूत कर्म करुणा कर्म है, यह क्यो नही कहा? उत्तर—नही, क्योकि, करुणा जीवका स्वभाव है, अतएव उसे कर्मजनित माननेमे विरोध आता है। प्रश्न—तो फिर अकरुणाका कारण कर्म कहना चाहिए? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि, उसे सयमघाती कर्मोके फलरूपसे स्वीकार किया गया है।

३. करुणा धर्मका मूल है

कुरल/२५/२ यथाक्रम समीक्ष्यैव दया चित्तेन पालयेत्। सर्वे धर्मा हि भाषन्ते दया मोक्षस्य साधनम्।२। =ठीक पद्धतिसे सोच-विचारकर हृदयमें दया धारण करो, और यदि तुम सर्व धर्मोंसे इस बारेमें पूछकर देखोगे तो तुम्हे माल्म होगा कि दया ही एकमात्र मुक्तिका साधन है।

प वि /६/३७ येषा जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते। चित्ते जीवदया नास्ति तेषा धर्म कुतो भवेत्।३७। मूल धर्मतरोराद्या व्रताना धाम सपदाम्। गुणाना निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभि।३८। =जिन भगवान्के उपदेशसे दयालुतारूप अमृतसे परिपूर्ण जिन श्रावकोंके हृदयमे प्राणिदया आविर्भूत नही होती है उनके धर्म कहाँसे हो सकता है?।३७। प्राणिदया धर्मरूपी वृक्षकी जड है, व्रतोमें मुख्य है, सम्पत्तियोका स्थान है और गुणोका भण्डार है। इसलिए उसे विवेकी जनोको अवश्य करना चाहिए।३८।

४. करुणा सम्यक्त्वका चिह्न है

का अ /४१२/प. जयचन्द "दश लक्षण धर्म दया प्रधान है और दया सम्यक्त्वका चिह्न है। (और भी देखो सम्यग्दर्शन/I/२। प्रशम सवेग आदि चिह्न)।

५. परन्तु निश्चयसे करुणा मोहका चिह्न है

प्र.सा /मू /८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावस्च तिर्यङ्मनुजेषु। विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि।८५। =पदार्थका अयथार्थ ग्रहण और तिर्यंच मनुष्योके प्रति करुणाभाव तथा विषयो-की सगति (इष्ट विषयोमें प्रीति और अनिष्ट विषयोंमे अप्रीति) ये सब मोहके चिह्न है।

प्र सा /त.प्र /८५ तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्धचा च मोहम् ∙ झगिति सभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्य। =तिर्यग्मनुष्य प्रेक्षायोग्य होनेपर भी उनके प्रति करुणाबुद्धिसे मोहको जानकर, तत्काल उत्पन्न होते भी तीनो प्रकारका मोह (दे० ऊपर मूलगाथा) नष्ट कर देने योग्य है।

प्र सा /ता वृ./८५ शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीत करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभाव। केषु विषयेषु। तिर्यग्मनुजेषु, इति दर्शनमोहचिह्न। =शुद्धात्माकी उपलब्धि है लक्षण जिसका ऐसे परम उपेक्षा सयमसे विपरीत करुणा-भाव या दयापरिणाम अथवा व्यवहारसे करुणाका अभाव, किनमें—तिर्यंच मनुष्योमे, ये दर्शनमोहका चिह्न है।

६. निश्चयसे वैराग्य ही करुणा है

स.म /१०/१०८/१३ कारुणिकत्वं च वैराग्याद न भिद्यते। ततो युक्तमुक्तम् अहो विरक्त इति स्तुतिकारेणोपहासवचनम्। =करुणा और वैराग्य अलग-अलग नही है। इसलिए स्तुतिकारने (दे० मूल श्लोक नं० १०) 'अहो विरक्त' ऐसा कहकर जो उपहास किया है सो ठीक है।

करोति—करोति क्रिया व ज्ञप्ति क्रियामें परस्पर विरोध।
—दे० चेतना/३।

कर्कराज—गुर्जर नरेन्द्र राजा जगतुङ्गके छोटे भाई इन्द्रराजका पुत्र था। इसकी सहायतासे ही श स. ७५७ (ई ८३५) में अमोघवर्ष प्रथमने राष्ट्रकूटोको जीतकर उनके राष्ट्रकूट देशपर अधिकार किया था। अमोघवर्षके अनुसार इनका समय ई० ८१४-८७८ आता है।
—दे० इतिहास/३/४।

कर्कोटक—कंटक द्वीपमें स्थित एक पर्वत—दे मनुष्य/४।

कर्णइन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

कर्णगोमि—ई श ७-८ के एक बौद्ध नैयायिक थे। इनने धर्म-कीर्ति कृत 'प्रमाणवार्तिक' की स्ववृत्ति नामकी टीका लिखी है। (सि वि /३५/प महेन्द्रकुमार)

कर्ण (राजा)—(पा पु /सर्ग/श्लो०)—पाण्डुका पुत्र था। कुँवारी कुन्तीसे उत्पन्न हुआ था। (७/२३७-६७)। चम्पा नगरीके राजा भानुके यहाँ पला (७/२८८)। महाभारत युद्धमे कौरवोंके पक्षसे लडा (१६/७१)। अन्तमे अर्जुन द्वारा मारा गया। (२०/२६३)।

कर्णविधि—Diagonal method (ज प /प्र १०६)।

कर्ण सुवर्ण—बगालका वर्तमान बनसोना नामका ग्राम जो पहले बग (बगाल) देशकी राजधानी थी। (म पु /प्र ४६/पं पन्नालाल)।

कर्तव्य—जीवका कर्तव्य अकर्तव्य—दे० धर्म/५।

कर्ता—यद्यपि लोकमें 'मैं घट, पट आदिका कर्ता हूँ' ऐसा ही व्यव-हार प्रचलित है। परन्तु परमार्थमें प्रत्येक पदार्थ परिणमन स्वभावी होने तथा प्रतिक्षण परिणमन करते रहनेके कारण वह अपनी पर्यायका ही कर्ता है। इस प्रकार उपरोक्त भेद कर्ता कर्म भाव विकल्पात्मक होनेके कारण परमार्थमें सर्वत्र निषिद्ध है। अभेद कर्ता कर्म भावका विचार ही ज्ञाता द्रष्टाभावमें ग्राह्य है।

१. कर्ता व कर्म सामान्य निर्देश

१. निश्चय कर्ता कारक निर्देश

स सा /आ./८६/क.५१ य परिणमति स कर्ता। =जो परिणमन करता है, वही अपने परिणमनका कर्ता होता है।

प्र सा./त प्र./१८४ स तं च—स्वतन्त्र कुर्वाणस्तस्य कर्ताऽवश्यं स्यात्। =वह (आत्मा) उसको (स्व-भावको) स्वतन्त्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है।

प्र सा /ता.वृ /१६ अभिन्नकारकचिदानन्दैकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति। =अभिन्नकारक भावको प्राप्त चिदानन्द रूप चैतन्य स्व-स्वभावके द्वारा स्वतन्त्र होनेसे अपने आनन्दका कर्ता होता है।

२. निश्चय कर्मकारक निर्देश

स सि /६/१/३१८/४ कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम्। =कर्म और क्रिया ये एकार्थवाची नाम हैं।

रा वा /६/१/४/५०४/१६ कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्म। =कर्ताको क्रियाके द्वारा जो प्राप्त करने योग्य इष्ट होता है उसे कर्म कहते हैं। (स सा /परि/शक्ति न ४१)।

भ आ /वि /२०/७१/६ कर्तुः क्रियाया व्याप्यत्वेन विवक्षितमपि कर्म, यथा कर्मणि द्वितीयेति। तथा क्रिया वचनोऽपि अस्ति, किं कर्म करोषि। का क्रियामित्यर्थः। इह क्रियावाची गृहीत। =कर्ताकी होनेवाली क्रियाके द्वारा जो व्याप्त होता है, उसको कर्मकारक कहते हैं। कर्मकी व्याकरण शास्त्रमें द्वितीया (विभक्ति) होती है। जैसे

'कर्मणि द्वितीया' यह सूत्र है। कर्म शब्दका 'क्रिया' ऐसा भी अर्थ है। यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची समझना।

स. सा./आ./८६/क. ५१ य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।=(परिणमित होनेवाले कर्ता रूप द्रव्यका) जो परिणाम है सो उसका कर्म है।

प्र. सा./त प्र./१६ शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन् । =शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्य होनेसे (आत्मा) कर्मत्वका अनुभव करता है।

प्र. सा./त प्र. ११७ क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म ।=क्रिया वास्तवमें आत्माके द्वारा प्राप्त होनेसे कर्म है। (प्र सा./त.प्र./१८४)

प्र. सा./ता वृ./१६ नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वयं प्राप्यत्वात् कर्मकारक भवति।=नित्यानन्दरूप एक स्वभावके द्वारा स्वयं प्राप्य होनेसे (आत्मा ही) कर्म कारक होता है।

३. क्रिया सामान्य निर्देश

स. सि./६/१/३१८/४ कर्म क्रिया इत्यनर्थान्तरम् ।=कर्म और क्रिया एकार्थवाची नाम हैं।

स.सा./आ./८६/क ५१ या परिणति क्रिया ।=(परिणमित होनेवाले कर्ता रूप द्रव्य की) जो परिणति है सो उसकी क्रिया है।

प्र. सा./त. प्र./१२२ यश्च तस्य तथाविधपरिणाम' सा जीवमय्येव क्रिया सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षण क्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् ।=जो उस (आत्मा)का तथाविध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी परिणाम लक्षण क्रिया आत्ममयतासे स्वीकार की गयी है।

प्र सा./त. प्र./१६६२ क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका । =(आत्माकी) क्रिया चेतनकी पूर्वोत्तर दशासे विशिष्ट चैतन्य परिणाम स्वरूप होती है।

४. कर्म कारकके प्राप्य विकार्य आदि तीन भेदोंका निर्देश

रा वा./६/१/४/५०४/१७ तत्त्रिविध निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति। तत् त्रितयमपि कर्तुरन्यत् ।=यह कर्म कारक निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य तीन प्रकारका होता है। ये तीनों कर्म कर्तासे भिन्न होते हैं।

स सा./आ./७६ यतो य प्राप्य विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्मपुद्गलद्रव्येण स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य त गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाण ।=प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला पुद्गलका परिणाम स्वरूप कर्म (कर्ताका कार्य) उसमें पुद्गल द्रव्य स्वय अन्तर्व्यापक होकर, आदि मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर उसे ग्रहण करता हुआ, उस रूप परिणमन करता हुआ, और उस रूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गल परिणामको करता है। भावार्थ प० जयचन्द्र—सामान्यतया कर्ताका कर्म तीन प्रकारका कहा गया है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्ताके द्वारा जो पहिले न हो ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये सो कर्ताका निर्वर्त्य कर्म है (जैसे घट बनाना) कर्ताके द्वारा, पदार्थमें विकार-(परिवर्तन) करके जो कुछ किया जाये वह कर्ताका विकार्य कार्य है (जैसे दूधसे दही बनाना) कर्ता जो नया उत्पन्न नहीं करता, तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है (अर्थात् स्वयं उसकी पर्याय) वह कर्ताका प्राप्य कर्म है।

टिप्पणी—अन्य प्रकारसे भी इन तीनोंका अर्थ भासित होता है—द्रव्यकी पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वाभाविक व विभाविक। विभाविक भी दो प्रकारकी होती है—प्रदेशात्म द्रव्यपर्याय तथा भावात्मक गुणपर्याय। स्वाभाविक एक ही प्रकारकी होती है—षट् गुण हानिवृद्धिरूपा तहाँ प्रदेशात्म विभावद्रव्य पर्याय द्रव्यका निर्वर्त्य कर्म है, क्योंकि निर्वर्तनाका व्यवहार पदार्थके आकार व संस्थान आदि बनानेमें होता है जैसे घट बनाना। विभाव गुण पर्याय द्रव्यका विकार्य कर्म है, क्योंकि अन्य द्रव्यके साथ सयोग होनेपर गुण जो अपने स्वभावसे च्युत हो जाते हैं उसे ही विकार कहा गया है—जैसे दूधसे दही बनाना। और स्वभाव पर्यायको प्राप्य कर्म कहते हैं, क्योंकि प्रतिक्षण वे स्वतः द्रव्यको प्राप्त होती रहती है। न उनमें कुछ प्रदेशात्मक परिस्पन्दनकी आवश्यकता होती है और न अन्य द्रव्योंके सयोगकी अपेक्षा होती है।

२. निश्चय व व्यवहार कर्ता कर्म भाव निर्देश

१. निश्चयसे कर्ता कर्म व अधिकरणमें अभेद

स सा./आ./८५ इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति=जगत्में जो क्रिया है सो सब ही परिणाम-स्वरूप होनेसे वास्तवमें परिणामसे भिन्न नहीं है। परिणाम भी परिणामीसे भिन्न नहीं है, क्योंकि, परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं, इसलिए जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावानसे भिन्न नहीं है।

प्र सा./त प्र./९६ यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानै कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पतित्वादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य यदस्तित्व कार्तस्वरस्य स स्वभाव, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानै कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य यदस्तित्व द्रव्यस्य स स्वभाव'। =जैसे द्रव्य क्षेत्र काल या भावसे स्वर्णसे जो पृथक् दिखाई नहीं देते, कर्ता-करण अधिकरण रूपमें पतित्वादि गुणोंके और कुण्डलादि पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान सुवर्णका जो अस्तित्व है वह उसका स्वभाव है, इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे जो द्रव्यसे पृथक् दिखाई नहीं देते, कर्ता-करण अधिकरण रूपसे गुणोंके और पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान जो द्रव्यका अस्तित्व है। वह स्वभाव है।

प्र सा./त.प्र./११३ तत परिणामान्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पाद.। =इसलिए पर्यायोंकी (व्यतिरेकी रूप) अन्यताके द्वारा द्रव्यका—जो कि पर्यायोंके स्वरूपका कर्ता, करण और अधिकरण होनेसे अपृथक् है, असत् उत्पाद निश्चित होता है।

२. निश्चयसे कर्ता कर्म व करण में अभेद

प्र सा./मू./१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ।१२६। =यदि श्रमण 'कर्ता, कर्म, करण और फल आत्मा है' ऐसा निश्चय वाला होता हुआ, अन्य रूप परिणमित नहीं ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है।

प्र. सा./त प्र./१५ समस्तज्ञेयान्तर्गतिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति। =समस्त ज्ञेयोंके भीतर प्रवेशको प्राप्त ज्ञान जिसका स्वभाव है, ऐसे आत्माको आत्मा शुद्धोपयोगसे ही (आत्माके ही) प्रसादसे प्राप्त करता है।

प्र. सा./त प्र./३० सवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्न करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन करणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमान कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमान न विप्रतिपिध्यते। =सवेदन (शुद्धोपयोग) भी आत्मासे अभिन्न होनेसे कर्ता अंशसे आत्मताको प्राप्त होता हुआ

नहीं, क्योकि, लोकमें सूर्य, चन्द्र, खद्योत, अग्नि, मणि और नक्षत्र आदि ऐसे अनेक पदार्थ है जिनमें उभय भाव देखा जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।"

६. व्यवहारसे भिन्न वस्तुओंमें भी कर्ता कर्म व्यपदेश किया जाता है

स.सा./मू /९८ ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि। करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीहि विविहाणि।९८। =व्यवहारसे अर्थात् लोकमे आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओको, इन्द्रियोको, अनेक प्रकारके क्रोधादि द्रव्य कर्मोको और शरीरादि नोकर्मोको करता है। (द्र सं /मू /८)।

न च वृ /१२४-१२५ देहजुदो सो भुत्ता भुत्ता सो चेव होइ इह कत्ता। कत्ता पुण कम्मजुदो जीओ संसारिओ भणिओ।१२४। कम्मं दुविहवियप्पं भावसहावं च दव्वसब्भाव। भावे सो णिच्छयदो कत्ता ववहारदो दव्वे।१२५। =देहधारी जीव भोक्ता होता है और जो भोक्ता होता है वही कर्ता भी होता है। जो कर्ता होता है वह कर्म संयुक्त होता है। ऐसे जीवको संसारी कहा जाता है।१२४। वह कर्म दो प्रकारका है—भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म। निश्चयसे वह भावकर्मका कर्ता है और व्यवहारसे द्रव्य कर्मका।१२५/ (द्र स/मू./८) (और भी देखो कारण/III/६)।

प्र.सा./त प्र /३० संवेदनमपि कारणभूतानामर्थाना कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमान न विप्रतिपिध्यते। =संवेदन (ज्ञान) भी कारणभूत पदार्थोके कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोमे व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिए कार्यमें कारणका उपचार करके यह कहनेमे विरोध नही आता कि ज्ञान पदार्थोमे व्याप्त होकर वर्तता है।

पं.का /त.प्र./२७/५८ व्यवहारेणात्मपरिणामनिमित्तपौद्गलिककर्मणां कर्तृत्वात्कर्ता। =व्यवहारसे जीव आत्मपरिणामोके निमित्तसे होनेवाले कर्मोको करनेसे कर्ता है।

३. निश्चय व्यवहार कर्ता कर्म भावकी कथंचित् सत्यार्थता असत्यार्थता

१. वास्तवमें व्याप्यव्यापकरूप ही कर्ता कर्म भाव अध्यात्ममें इष्ट है

स सा/आ/७५/क ७९ व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृ कर्मस्थिति'। =व्याप्यव्यापक भावके अभावमें कर्ता कर्मकी स्थिति कैसी?

प्र.सा./त प्र /१८५ यो हि यस्य परिणमयिता दृष्ट स न तदुपादानहानशून्यो दृष्ट, यथाग्निरय पिण्डस्य। =जो जिसका परिणमन करनेवाला देखा जाता है, वह उसके ग्रहण त्यागसे रहित नही देखा जाता है। जैसे—अग्नि लोहेके गोलेमे ग्रहण त्याग रहित होती है। (और भी दे० कर्ता/२/४)

२. निश्चयसे प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणामका कर्ता है दूसरे का नहीं—

प्र सा/मू /१८४ कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स। पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाण।१८४। =अपने भावको करता हुआ आत्मा वास्तवमे अपने भावका कर्ता है, परन्तु पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावोका कर्ता नही है।

प्र.सा /त /प्र /१२२ ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण। ..परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता न तु आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः। =इसलिए (अर्थात् अपने परिणामो रूप कर्मसे अभिन्न होनेके कारण) आत्मा परमार्थत' अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है, किन्तु पुद्गलपरिणामात्मक द्रव्य कर्मका नही। इसी प्रकार परमार्थसे पुद्गल अपने परिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका ही कर्ता है किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका नही।

स.सा /आ /८६ यथा किल कुलाल. कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तम् क्रियमाणं कुर्वाण. प्रतिभाति, न पुन' कलशकरणाहंकारनिर्भरोऽपि क्लश-परिणाम मृत्तिकाया' अव्यतिरिक्त क्रियमाण कुर्वाण' प्रतिभाति, तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तम् क्रियमाण कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुन पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूप पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्त क्रियमाण कुर्वाण' प्रतिभातु। =जैसे कुम्हार घडेकी उत्पत्तिमें अनुकूल अपने व्यापार परिणामको जो कि अपनेसे अभिन्न है, करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घडा बनानेके अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी अपने व्यापारके अनुरूप मिट्टीसे अभिन्न मिट्टीके घट परिणामको करता हुआ प्रतिभासित नही होता, उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानके कारण पुद्गल कर्मरूप परिणामके अनुकूल, अपनेसे अभिन्न, अपने परिणामको करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गलके परिणामको करनेके अहंकारसे भरा हुआ होते हुए भी, अपने परिणामके अनुरूप पुद्गलके परिणामको जो कि पुद्गलसे अभिन्न है, करता हुआ प्रतिभासित न हो। (स सा /आ /८२)

स सा./आ /८६/क ५३-५४ नोभौ परिणामत खलु परिणामो नोभयो. प्रजायेत। उभयोर्न परिणति' स्यायदनेकमनेकमेव सदा।५३। नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य। नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेक यतो न स्यात्।५४। =जो दो वस्तुएँ है वे सर्वथा भिन्न ही है, प्रदेश भेद वाली ही है, दोनो एक होकर परिणमित नही होतीं, एक परिणामको उत्पन्न नही करती और उनकी एक क्रिया नही होती, ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्योका लोप हो जाये।५३। एक द्रव्यके दो कर्ता नही होते और एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते, तथा एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नही होती, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नही होता।५४।

३. एक द्रव्य दूसरेके परिणामोका कर्ता नहीं हो सकता—

स सा /मू /१०३ जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे। सो अण्णमसंकतो कह तं परिणामए दव्व।१०३। =जो वस्तु जिस द्रव्यमें और गुणमे वर्तती है वह अन्य द्रव्यमें तथा गुणमें संक्रमणको प्राप्त नही होती (बदलकर उसमें नही मिल जाती)। और अन्य रूपसे संक्रमणको प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तुको कैसे परिणमन करा सकती है।१०३। (स सा /आ/१०४)

क पा /१/§२८३/३१८/४ तिण्हं सद्दणयाण णकारणस्स होदि, सगसरूवादो उप्पण्णस्स अण्णेहिंतो उप्पत्तिविरोहादो। =तीनो शब्द नयोकी अपेक्षा कषायरूप कार्य कारण का नही होता, अर्थात् कार्यरूप भावकषायके स्वामी उसके कारण जीवद्रव्य और कर्मद्रव्य कहे जा सकते है, सो भी बात नहीं है, क्योकि कोई भी कार्य अपने स्वरूपसे उत्पन्न होता है। इसलिए उसकी अन्यसे उत्पत्ति माननेमे विरोध आता है।

यो सा /अ /२/१८ पदार्थाना निमग्नाना स्वरूपं परमार्थत। करोति कोऽपि, करयापि न किंचन कदाचन।१८।

यो सा /अ /३/१६ नान्यद्रव्यपरिणाममन्यद्रव्यं प्रपद्यते। स्वान्यद्रव्यव्यवस्थेय परस्य घटते कथम्।१६। =संसारमें समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें मग्न है। निश्चयनयसे कोई भी कभी कुछ भी उनके

५. निमित्त भी द्रव्यरूपसे तो कर्ता है ही नहीं पर्याय रूपसे हो तो हो—

स सा /आ./१०० यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषङ्गाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ। =वास्तवमें जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्य स्वरूप कर्म है उन्हे आत्मा (द्रव्य) व्याप्य-व्यापकभावसे नही करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयताका प्रसग आ जावे, तथा वह निमित्त नैमित्तिक भावसे भी (उनको) नही करता, क्योंकि, यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्व (सर्व अवस्थाओंमे कर्तृत्व होनेका) प्रसग आ जायेगा। अनित्य (जो सर्व अवस्थाओंमे व्याप्त नही होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्त रूपसे उसके (परद्रव्य-स्वरूप कर्मके) कर्ता है। (प ध /उ /१०७३)

प्र.सा /त प्र /१६२ न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, मम अनेकपरमाणुपिण्डपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात्। =उस शरीरके कारण द्वारा या कर्ता द्वारा या कर्ताके प्रयोजक द्वारा या कर्ताके अनुमोदक द्वारा शरीरका कर्ता मै नहीं हूँ। क्योंकि मेरे अनेक परमाणु द्रव्योंके एक पिण्ड पर्यायरूप परिणामात्मक शरीरका कर्ता होने में सर्वथा विरोध है।

६. निमित्त किसीके परिणामों के उत्पादक नही है

रा.वा /१/२/११/२०/५ स्यादेतत्-स्वपरनिमित्त उत्पादो दृष्टो, तन्न, किं कारणम्। उपकरणमात्रत्वात्। उपकरणमात्र हि बाह्यसाधनम्। =प्रश्न—उत्पत्ति स्व व पर निमित्तोंसे होती देखी जाती है, जैसे कि मिट्टी व दण्डादिसे घडेकी उत्पत्ति। उत्तर—नही, क्योंकि निमित्त तो उपकरण मात्र होते है अर्थात् केवल बाह्य साधन होते है। (अत सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें आत्मपरिणमन ही मुख्य है निमित्त नही)

स.सा./आ./३७२ एवं च सति सर्वद्रव्याणा न निमित्तभूतद्रव्यान्तराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव। =ऐसा होनेपर, सब द्रव्योके, निमित्तभूत अन्यद्रव्य अपने (अर्थात् उन सर्वद्रव्योंके) परिणामोंके उत्पादक है ही नही।

प्र सा./त प्र./१८५ यो हि यस्य परिणमयिता दृष्ट स न तदुपादानहानशून्यो दृष्ट, यथाग्निरय पिण्डस्य। ततो न स पुद्गलाना कर्मभावेन परिणमयिता स्यात्। =जो जिसका परिणमन करानेवाला देखा जाता है वह उसके ग्रहण त्यागसे रहित नहीं देखा जाता, जैसे अग्नि लोहेके गोलेमे ग्रहण त्यागसे रहित है। इसलिए वह (आत्मा) पुद्गलोका कर्मभावमे परिणमित करनेवाला नही है।

प ध /उ /३५४-३५५ अर्था स्पर्शादय स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत्। घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्कि नोत्पादयन्ति ते।३५४। अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादका क्वचित्। चेतनत्वात्स्वय तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा।३५५। =यदि स्पर्शादिक विषय स्वतन्त्र बिना आत्माके ज्ञान उत्पन्न करते होते तो वे ज्ञानशून्य घटादिकोंमें भी वह ज्ञान क्यो उत्पन्न नही करते है।३५४। और यदि यह कहा जाय कि चेतन द्रव्यमें कहींपर ये ज्ञानको उत्पन्न करते हे, तो उस आत्माके स्वयं चेतन होनेके कारण, वहाँ वे नवीन क्या उत्पन्न करेगे।

७. स्वयं परिणमनेवाले द्रव्यको निमित्त बेचारा क्या परिणमावे

स सा /आ /११६ कि स्वयमपरिणममान परिणममान वा जीव पुद्गलद्रव्य कर्मभावेन परिणामयेत्। न तावत्तत्स्वयमपरिणममान परेण परिणमयितु पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्ति कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममान तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तय परमपेक्षन्ते। तत पुद्गलद्रव्य परिणामस्वभाव स्वयमेवास्तु। =क्या जीव स्वय न परिणमते हुए पुद्गलद्रव्यको कर्मभावरूपसे परिणमाता है या स्वय परिणमते हुए को? स्वय अपरिणमते हुएको दूसरेके द्वारा नही परिणमाया जा सकता, क्योंकि जो शक्ति (वस्तुमें) स्वय न हो उसे अन्य कोई नही उत्पन्न कर सकता। और स्वयं परिणमते हुएको अन्य परिणमानेवालेकी अपेक्षा नही होती, क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नही रखती। अत पुद्गल द्रव्य परिणमनस्वभाववाला स्वय हो। (प.ध./उ /६२) (ध १/१ १,१,१६३/४०४/१) (स्या म /५/३०/११)

प्र सा /त प्र /६७ एवमस्यात्मन ससारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषया किं हि नाम कुर्यु। =यद्यपि अज्ञानी जन 'विषय सुखके साधन हैं' ऐसी बुद्धिके द्वारा व्यर्थ ही विषयोका अध्यास आश्रय करते है, तथापि ससारमें या मुक्तिमें स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्माका विषय क्या कर सकते है। (प ध /उ /३५३)

प.का /त.प्र /६२ स्वयमेव षट्कारकोरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकान्तरमपेक्षन्ते। =स्वयमेव षट्कारकोरूपसे वर्तता हुआ (पुद्गल या जीव) अन्य कारककी अपेक्षा नही रखता।

प ध /पू /५७१ अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथ। न यत स्वतो स्वय वा परिणममानस्य किं निमित्ततया। =यदि कदाचित् यह कहा जाये कि इन दोनो (आत्मा व शरीरमे) परस्पर निमित्तनैमित्तिकपना अवश्य है तो इस प्रकारका कहना भी ठीक नही है, क्योंकि स्वय अथवा स्वत परिणममान वस्तुके निमित्तकारणसे क्या प्रयोजन है।

८. एकको दूसरेका कर्ता कहना व्यवहार व उपचार है परमार्थ नहीं

स सा./मू /१०५-१०७ जीवम्हि हेदुभूदे बधस्स दु पस्सिदूण परिणाम। जीवेण कद कम्म भण्णदि उवयारमत्तेण।१०५। जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदं ति जपदे लोगो। ववहारेण तह कद णाणावरणादि जीवेण।१०६। उप्पादेदि करेदि य बधदि परिणामएदि गिण्हदि य। आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्व।१०७। =जीव निमित्तभूत होनेपर कर्मबन्धका परिणाम होता हुआ देखकर 'जीवने कर्म किया' इस प्रकार उपचारमात्रसे कहा जाता है।१०५। योद्धाओके द्वारा युद्ध किये जानेपर 'राजाने युद्ध किया' इस प्रकार लोक (व्यवहारसे) कहते है। उसी प्रकार 'ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किया' ऐसा व्यवहारसे कहा जाता हे।१०६। 'आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है'—यह व्यवहार नयका कथन है।

स सा./आ./१०५ इह खलु पौद्गलिककर्मण स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सपद्यमानत्वात् पौद्गलिक कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टाना विकल्पपरायणाना परेषामस्ति विकल्प। स तूपचार एव न तु परमार्थ। =इस लोकमें वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मका निमित्तभूत न होनेपर भी, अनादि अज्ञानके कारण पौद्गलिक कर्मको निमित्तरूप होते हुए अज्ञानभावमें परिणमता होनेसे निमित्तभूत होनेपर, पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिए 'पौद्गलिक कर्म आत्माने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनसे भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियोंका विकल्प हे, वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

स सा /आ /३५५ ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यव्यवहार । =इसलिए निमित्तनैमित्तिक भावमात्रसे ही वहाँ कर्तृकर्म और भोक्तृभोग्यका व्यवहार है।

प्र सा /त प्र./१२१ तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात्। =आत्मा भी अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता भी उपचारसे है।

प्र.सा /११८/प जयचन्द "कर्म जीवके स्वभावका पराभव करता है" ऐसा कहना सो तो उपचार कथन है।

९. एकको दूसरेका कर्ता कहना लोकप्रसिद्ध रूढि है

स सि /५/२२/२९१/७ यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति। नैष दोष, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्ट। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता। =प्रश्न—यदि ऐसा है (अर्थात् द्रव्योंकी पर्याय बदलनेवाला है) तो काल क्रियावान द्रव्य प्राप्त होता है? जैसे शिष्य पढता है और उपाध्याय पढाता है, यहाँ उपाध्याय क्रियावान द्रव्य है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्तारूप व्यपदेश देखा जाता है जैसे कण्डेकी अग्नि पढाती है। यहाँ कण्डेकी अग्नि निमित्तमात्र है। उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है।

रा वा./१/१/११/४६/३२ लोके हि करणत्वेन प्रसिद्धस्यासे, तत्प्रशंसापरायामभिधानप्रवृत्तौ समीक्षितायां 'तैक्ष्ण्यगौरवकाठिन्याहितविशेषोऽयमेव छिनत्ति' इति कर्तृधर्माध्यारोप क्रियते। =करणरूपसे प्रसिद्ध तलवार आदिकी तीक्ष्णता आदि गुणोंकी प्रशंसामें 'तलवारने छेद दिया' इस प्रकारका कर्तृत्वधर्मका अध्यारोपण करके कर्तृसाधन प्रयोग होता है।

स.सा /आ /८४ कुलाल कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहार "=कुम्हार घडेका कर्ता है और भोक्ता है ऐसा लोगोंका अनादिसे रूढ व्यवहार है।

१०. वास्तवमें एकको दूसरेका कर्ता कहना असत्य है

स सा./मू /११६ अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गल दव्वं। जीवा परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११६॥ =अथवा यदि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभावसे परिणमन करता है ऐसा माना जाये तो 'जीव कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको कर्मरूप परिणमन कराता है, यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

प्र सा./१६/प. जयचन्द =क्योंकि वास्तवमें कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कर्ता व हर्ता नहीं है, इसलिए व्यवहारकारक असत्य है, अपनेको आप ही कर्ता है इसलिए निश्चयकारक सत्य है।

११. एकको दूसरेका कर्ता माननेमें अनेक दोष आते हैं

यो सा./अ./२/३० एवं सपद्यते दोष सर्वथापि दुरुत्तर। चेतनाचेतनद्रव्यविशेषाभावलक्षण ॥३०॥ =यदि कर्मको चेतनका और चेतनको कर्मका कर्ता माना जाये तो दोनों एक दूसरे के उपादान बन जानेके कारण (२७-२९), कौन चेतन और कौन अचेतन यह बात ही सिद्ध न हो सकेगी ॥३०॥

स सा /आ /३२ यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेन टङ्कोत्कीर्णं आत्मानं सचेतयते स खलु जितमोहो। =मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेसे प्रगट होता है, तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा—भाव्य, उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूरसे ही अलग करनेसे इस प्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक संकरदोष दूर हो जानेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण अपने आत्माको जो अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितमोह हैं।

पं.का./ता वृ /२४/५१/५ अन्यद्रव्यस्य गुणोऽन्यद्रव्यस्य कर्तुं नायाति संकरव्यतिकरदोषप्राप्तेः। =अन्य द्रव्यके गुण अन्य द्रव्यके कर्ता नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा माननेमें संकर व्यतिकर दोषोंकी प्राप्ति होती है।

पं.ध /पू /५७३-५७४ नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्तो नयस्यास्य। सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रान्तिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥ गुणसंक्रान्तिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा। सर्वस्य सर्वसंकरदोष स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥५७४॥ =अपसिद्धान्त होनेसे इस नयको (कर्म व नोकर्मका व्यवहारसे जीव कर्ता व भोक्ता है) नयाभासपना असिद्ध नहीं है क्योंकि सतको अनेकत्व होनेपर और जीव और कर्मोंके भिन्न-भिन्न होनेपर निश्चयसे किस प्रमाणसे गुण संक्रमण होगा ॥५७३॥ और यदि गुणसंक्रमणके बिना ही जीव कर्मोंका कर्ता तथा भोक्ता होगा तो सब पदार्थोंमें सर्वसंकरदोष और सर्वशून्यदोष हो जायेगा ॥५७४॥

१२. एकको दूसरेका कर्ता माने सो अज्ञानी है—

स सा./मू /२४७,२५३ जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥ जो मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥ =जो यह मानता है मैं पर जीवोंको मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत ज्ञानी है ॥२४७॥ जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं जीवोंको दुःखी सुखी करता हूँ, वह मूढ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत है वह ज्ञानी है ॥२५३॥

स सा /आ /७१/क. ५० अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्। विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्य ॥५०॥ —'जीव पुद्गलके कर्ताकर्म भाव है' ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञानके कारण वहाँ तक भासित होती है कि जहाँ तक विज्ञानज्योति करवतकी भाँति निर्दयतासे जीव पुद्गलका तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती।

स सा /आ /९७/क ६२ आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्। परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥ =आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा कर्ता, ऐसा मानना सो व्यवहारी जीवोंका मोह है।

स सा /आ /३२०/क १९९ ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तता। सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम् ॥१९९॥ =जो अज्ञानान्धकारसे आच्छादित होते हुए आत्माको कर्ता मानते हैं वे भले ही मोक्षके इच्छुक हों तथापि सामान्य जनोंकी भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती ॥१९९॥

स सा /आ /१११ अथायं तर्क —पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीव स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति। स किलाविवेक यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोऽपि कथं पुन पुद्गलकर्मण कर्ता नाम। =प्रश्न—पुद्गलमय मिथ्यात्वादि कर्मोंको भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गल कर्मको करता है? =उत्तर—यह तर्क वास्तवमें अविवेक है, क्योंकि भावभावकभावका अभाव होनेसे आत्मा निश्चयसे पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादिका भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गल कर्मका कर्ता कैसे हो सकता है?

१३. एकको दूसरेका कर्ता माने सो मिथ्यादृष्टि है—

यो.सा /अ /४/१३ कोऽपि कस्यापि कर्तास्ति नोपकारापकारयो । उपकुर्वेऽपकुर्वेऽह मिथ्येति क्रियते मति ।१३। =इस संसारमें कोई जीव किसी अन्य जीवका उपकार या अपकार नही कर सक्ता। इसलिए 'मै दूसरेका उपकार या अपकार करता हूँ' यह बुद्धि मिथ्या है।

स /सा /आ /३२१,३२७ ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते, लौकिकाना परमात्मा विष्णु सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषा तु स्वात्मा करोतीत्यपसिद्धान्तस्य समत्वात् ।३२१। योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसाय स तेषा सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ।३२७। =जो आत्माको कर्ता ही देखते है वे लोकोत्तर हो तो भी लौकिक्ताको अतिक्रमण नही करते, क्योकि, लौकिक जनोके मतमें परमात्मा, विष्णु, देव, नारकादि कार्य करता है और उनके मतमें अपना आत्मा वह कार्य करता है। इस प्रकार (दोनोमें) अपसिद्धान्तकी समानता है।३२१। लोक और श्रमण दोनोमें जो यह परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनकी सम्यग्दर्शन रहितताके कारण ही है। (स सा /मूल भो)

प.ध /पू /५८०-५८१ अपरे बहिरात्मनो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतय.। यदबद्धेऽपि परस्मिन् कर्ता भोक्ता परोऽपि भवति यथा।५८०। सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्य कलत्रपुत्राश्च। स्वमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ।५८१। =कोई खोटी बुद्धि वाले मिथ्यादृष्टि जीव इस प्रकार मिथ्याकथनका प्रतिपादन करते है, जो बन्धको प्राप्त नहीं होनेवाले पर पदार्थके विषयमें भी अन्य पदार्थ कर्ता और भोक्ता होता है।५८०। जैसे कि साता वेदनीयके उदयसे प्राप्त होनेवाले घर, धन, धान्य और स्त्री-पुत्र वगैरहको जीव स्वय करता है तथा वही जीव ही उनका भोग करता है।५८१।

१४. एकको दूसरेका कर्ता कहनेवाला अन्यमती है

स सा./मू /८५,११६-११७ जदि पुग्गलकम्ममिण कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा। दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमद ।८५। जीवे ण सयं बद्ध ण सयं परिणमदि कम्मभावेण। जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ।११६। कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमतीसु कम्मभावेण। ससारस्स अभावो पसज्जदे सखसमओ वा ।११७। =यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करे और उसीको भोगे तो वह आत्मा दो क्रियाओसे अभिन्न ठहरे ऐसा प्रसग आता है, जो कि जिनदेवको सम्मत नहीं है।८५। 'यह पुद्गल द्रव्य जीवमे स्वयं नही बन्धा और कर्मभावसे भी स्वयं नही परिणमता', यदि ऐसा माना जाये तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है, और इस प्रकार कार्मणवर्गणाएँ कर्मभावसे नही परिणमती होनेसे ससारका अभाव (सदा शिववाद) सिद्ध होता है अथवा सांख्यमतका प्रसग आता है।११६-११७।

१५. एकको दूसरेका कर्ता कहनेवाले सर्वज्ञके मतसे बाहर हैं

स.सा /आ./८५ वस्तुस्थित्या प्रतपत्या यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणाम करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथाव्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्तताया प्रसजन्त्या मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमत स्यात्। =इस प्रकार वस्तुस्थितिसे ही, (क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता) सदा प्रगट होनेसे, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करता है, उसी प्रकार यदि व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करे और भाव्यभावकभावसे उसीको भोगे, तो वह जीव अपनी व परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओसे अभिन्नताका प्रसग आनेपर मिथ्यादृष्टिताके कारण सर्वज्ञके मतसे बाहर है।

४. निश्चय व्यवहार कर्ता-कर्म भावका समन्वय

१. व्यवहारसे ही निमित्तको कर्ता कहा जाता है निश्चयसे नहीं

स.सा /आ /३५५ क २१४ यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुन, किंचनापि परिणामिन स्वयम्। व्यावहारिकदृशैव तन्मतं, नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ।२१४। =एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तुका कुछ भी कर सकती है ऐसा जो माना जाता है, सो व्यवहारदृष्टिसे ही माना जाता है। निश्चयसे इस लोकमें अन्यवस्तुको अन्यवस्तु कुछ भी नही है।

२. व्यवहारसे ही कर्ता कर्म भिन्न दिखते हैं निश्चयसे दोनों अभिन्न हैं

स सा /आ /३४८ क २१० व्यावहारिकदृशैव केवल, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते। निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते, कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ।२१०। =केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते है, यदि निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाये तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है।

३. निश्चयसे अपने परिणामोंका कर्ता है पर निमित्तकी अपेक्षा परपदार्थोंका भी कहा जाता है

स सा /मू /३५६-३६५ जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ। तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ।३५६। एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदसणचरित्ते। सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्व से समासेण ।३६०। जह परदव्व सेडयदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण। तह परदव्व जाणइ णाया वि सयेण भावेण ।३६१। एव ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदसणचरित्ते। भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ।३६५। =जैसे खडिया पर (दीवाल आदि) की नही है, खडिया तो खडिया है, उसी प्रकार ज्ञायक (आत्मा) परका नही है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।३५६। क्योंकि जो जिस का होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान आत्मा ही है (आ ख्याति टीका)। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्रमें निश्चयका कथन है। अब उस सम्बन्धमे सक्षेपमे व्यवहार नयका कथन सुनो।३६०। जैसे खडिया अपने स्वभावसे (दीवाल आदि) परद्रव्यको सफेद करती है उसी प्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभावसे परद्रव्यको जानता है।३६१। इस प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्रमें व्यवहारनयका निर्णय कहा है। अन्य पर्यायोमें भी इसी प्रकार जानना चाहिए।३६५। (यहाँ तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टिमें वस्तुस्वभावपर ही लक्ष्य होनेके कारण तहाँ गुणगुणी अभेदकी भाँति कर्ता कर्म भावमें भी परिणाम परिणामी रूपसे अभेद देखा जाता है। और व्यवहार दृष्टिमें भेद व निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धपर लक्ष्य होनेके कारण तहाँ गुण-गुणी भेद की भाँति कर्ता-कर्म भावमें भी भेद देखा जाता है।) (स सा /२२ की प्रक्षेपक गाथा)

प का /ता वृ /२६/५४/१८ यथा निश्चयेन पुद्गलपिण्डोपादानकारणेन समुत्पन्नोऽपि घट व्यवहारेण कुम्भकारनिमित्तेनोत्पन्नत्वात्कुम्भकारेण कृत इति भण्यते तथा समयादिव्यवहारकालो ।=जिस प्रकार निश्चयमे पुद्गलपिण्डरूप उपादानकारणसे उत्पन्न हुआ भी घट व्यवहारमे कुम्हारके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण कुम्हारके द्वारा

क्रिया गया कहा जाता है, उसी प्रकार समयादि व्यवहार काल भी …। (प्र.सा./त.प्र./६८)

४. भिन्न कर्ता-कर्म भावके निषेधका कारण

स.सा./मू.व आ./९९ यदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज। जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।९९। परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्। =यदि आत्मा पर द्रव्योंको करे तो वह नियमसे तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय हो जाये किन्तु तन्मय नहीं है इसलिए वह उनका कर्ता नहीं है। (तन्मयता हेतु देनेका भी कारण यह है कि निश्चयसे विचार करते हुए परिणामी कर्ता है और उसका परिणाम उसका कर्म) यह परिणामपरिणामीभाव क्योंकि अन्य प्रकार बन नहीं सकता इसलिए उसे नियमसे तन्मय हो जाना पड़ेगा।

स.सा./आ./७५ व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ। =(भिन्न द्रव्योंमें) व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ता कर्म भावकी असिद्धि है।

सा.सा./आ./८५ इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात् परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात्। =(इस रहस्यको समझनेके लिए पहले ही यह बुद्धिगोचर करना चाहिए कि यहाँ निश्चय दृष्टिसे मीमांसा की जा रही है व्यवहार दृष्टिसे नहीं। और निश्चयमें अभेद तत्त्वका विचार करना इष्ट होता है भेद तत्त्व या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धका नहीं।) जगतमें जो क्रिया है सो सब ही परिणाम स्वरूप होनेसे वास्तवमें परिणामसे भिन्न नहीं है (परिणाम ही है), परिणाम भी परिणामी (द्रव्य) से भिन्न नहीं है क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ) कि जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावान्से भिन्न नहीं है। इस प्रकार वस्तुस्थितिसे ही क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता सदा ही प्रगटित होनेसे, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करता है—उसी प्रकार यदि व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करे और भाव्यभावकभावसे उसीको भोगे तो वह जीव अपनी व परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नताका प्रसंग आनेपर स्व-परका परस्पर विभाग अस्त हो जानेसे, अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्माका अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिताके कारण सर्वज्ञके मतसे बाहर है।

५. भिन्न कर्ताकर्मभावके निषेधका प्रयोजन

स.सा./आ./३२१/क २००-२०२ नास्ति सर्वोऽपि संबन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः। कर्तृकर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।२००। एकस्य वस्तुनो ह्यन्यतरेण सार्धं; संबन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः। तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे, पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्।२०१। ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेममज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः। कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म, कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः।२०२। =परद्रव्य और आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है तब फिर उनमें कर्ताकर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है। इस प्रकार जहाँ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कैसे हो सकता है।२००। क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसलिए जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ कर्ताकर्म घटना नहीं होती। इस प्रकार मुनिजन और लौकिक जन तत्त्वको (वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो। (यह श्रद्धामें लाओ कि कोई किसीका कर्ता नहीं है, पर द्रव्य परका अकर्ता ही है)।२०१। जो इस वस्तु-स्वभावके नियमको नहीं जानते वे बेचारे, जिनका तेज (पुरुषार्थ या पराक्रम) अज्ञानमें डूब गया है ऐसे, कर्मको करते हैं; इसलिए भाव-कर्मका कर्ता चेतन ही स्वयं होता है अन्य कोई नहीं।२०२।

६. भिन्न कर्ताकर्म व्यपदेशका कारण

स.सा./मू./३१२-३१३ चेया दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ। पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।३१२। एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे। अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए।३१३। तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः। (आ. ख्याति टीका) =चेतक अर्थात् आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। तथा प्रकृति भी चेतनके निमित्तसे उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार परस्पर निमित्तसे दोनों ही आत्माका और प्रकृतिका बन्ध होता है। और इसी प्रकार संसार उत्पन्न हो जाता है।३१२-३१३। इसलिए उन दोनोंके कर्ताकर्मका व्यवहार है।

७. भिन्न कर्ताकर्म व्यपदेशका प्रयोजन

द्र.स./टी./८/२२/८ यतो हि नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजात्मभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्वं व्याख्यातम्, ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्या। =क्योंकि नित्य निरंजन निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूपकी भावनासे रहित जीवके कर्मादिका कर्तृत्व कहा गया है, इसलिए उस निज शुद्धात्मामें ही भावना करनी चाहिए।

८. कर्ताकर्म भाव निर्देशका यथार्थ व नयार्थ

स.सा./ता.वृ./२२ की प्रक्षेपक गाथा—अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां कर्तेति। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारसे ही आत्मा पुद्गलद्रव्यका या कर्म आदिकोंका कर्ता है।

प.का./ता.वृ./२७/६१/१०. शुद्धाशुद्धपरिणामकर्तृत्वव्याख्यानं तु नित्याकर्तृत्वैकान्तसांख्यमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं, भोक्तृत्वव्याख्यानं कर्ता कर्मफलं न भुङ्क्ते इति बौद्धमतानुसारिशिष्यप्रतिबोधनार्थम्। =शुद्ध व अशुद्ध परिणामोंके कर्तापनेका व्याख्यान, आत्माको एकान्तसे नित्य अकर्ता माननेवाले सांख्य-मतानुसारी शिष्यके सम्बोधनार्थ किया गया है, और भोक्तापनेका व्याख्यान, 'कर्ता स्वयं कर्मके फलको नहीं भोगता' ऐसा माननेवाले बौद्ध मतानुसारी शिष्यके प्रतिबोधनार्थ है।

कर्तावाद—ईश्वर कर्तावाद—दे० परमात्मा/३।

कर्तृत्व—

रा.वा./५/७/१३/४४८/३ कर्तृत्वमपि साधारणं क्रियानिष्पत्तौ सर्वेषां स्वातन्त्र्यात्। =कर्तृत्व भी साधारण धर्म है क्योंकि अपनी-अपनी क्रियाकी निष्पत्तिमें सब द्रव्योंकी स्वतन्त्रता है।

स.सा./आ./परि./शक्ति नं० ४२ भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्ति।४२। =प्राप्त होने रूपता जो सिद्धरूप भाव है, उसके भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति है।

प.का./त.प्र./२८ समस्तवस्त्वसाधारणस्वरूपनिर्वर्तनमात्रं कर्तृत्वं। =समस्त वस्तुओंसे असाधारण ऐसे स्वरूपकी निष्पत्तिमात्ररूप कर्तृत्व होता है।

कर्तृनय—दे० नय/I/५।

कर्तृसमवायिनी क्रिया—दे० क्रिया/१।

कर्त्रन्वय क्रिया—दे० संस्कार/२।

कर्नाटक—आन्ध्र देशमें अर्थात गोदावरी व कृष्णा नदीके मध्यवर्ती क्षेत्रके दक्षिण-पश्चिमका 'वनवास' नामका वह भाग जिसके अन्तर्गत मैसूर भी आ जाता है। इसकी राजधानियाँ मैसूर व रंगपत्तन थीं। (म. पु/प्र०/५० पं० पन्नालाल), (ध/३/प्र.४/H L. Jain)। जहाँ-जहाँ कनडी भाषा बोली जाती है वह सब कर्नाटक देश है अर्थात् मैसूरसे लेकर द्वारसमुद्र तक (द्र स./प्र.४/पं. जवाहर लाल)।

कर्नुक—भरत क्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे०मनुष्य/४।

कर्म—'कर्म' शब्दके अनेक अर्थ है यथा—कर्म कारक, क्रिया तथा जीवके साथ बन्धनेवाले विशेष जातिके पुद्गल स्कन्ध। कर्म कारक जगत् प्रसिद्ध है, क्रियाएँ समवदान व अध कर्म आदिके भेदसे अनेक प्रकार हैं जिनका कथन इस अधिकारमे किया जायेगा।

परन्तु तीसरे प्रकारका कर्म अप्रसिद्ध है। केवल जैनसिद्धान्त ही उसका विशेष प्रकारसे निरूपण करता है। वास्तवमे कर्मका मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव-मन-वचन कायके द्वारा कुछ न कुछ करता है, वह सब उसकी क्रिया या कर्म है और मन, वचन व काय ये तीन उसके द्वार हैं। इसे जीव कर्म या भाव कर्म कहते हैं। यहाँ तक तो सबको स्वीकार है।

परन्तु इस भाव कर्मसे प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड पुद्गल स्कन्ध जीवके प्रदेशोमें प्रवेश पाते है और उसके साथ बँधते हैं यह बात केवल जैनागम ही बताता है। ये सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते हैं और रूप रसादि धारक मूर्तीक होते हैं। जैसे-जैसे कर्म जीव करता है वैसे ही स्वभावको लेकर ये द्रव्य कर्म उसके साथ बँधते है और कुछ काल पश्चात परिपक्व दशाको प्राप्त होकर उदयमे आते है। उस समय इनके प्रभावसे जीवके ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते है। यही उनका फलदान कहा जाता है। सूक्ष्मता-के कारण वे दृष्ट नही हे।

१. समवदान आदि कर्म-निर्देश

१. कर्म सामान्यका लक्षण

वैशे द./१-१/१७/३१ एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ।१७।

वैशे द /५-१/१/१५० आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ।१। =१ द्रव्यके आश्रय रहनेवाला तथा अपनेमें अन्य गुण न रखनेवाला बिना किसी दूसरेकी अपेक्षाके संयोग और विभागमें कारण होनेवाला कर्म है। गुण व कर्ममें यह भेद है कि गुण तो संयोग विभागका कारण नहीं है और कर्म उनका कारण है ।१७। २. आत्माके संयोग और प्रयत्नसे हाथमें कर्म होता है ।१।

नोट—जैन वाङ्मयमें यही लक्षण पर्याय व क्रियाके है —दे० वह वह नाम। अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक जन परिणमनरूप भावात्मक पर्यायको कर्म न कहकर केवल परिस्पन्दन रूप क्रियात्मक पर्यायको ही कहता है, जबकि जैनदर्शन दोनों प्रकारकी पर्यायोंको। यथा—

रा वा /६/१/३/५०४/११ कर्मशब्दोऽनेकार्थ'—क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते — यथा घट करोतीति। क्वचित्पुण्यापुण्यवचन' — यथा "कुशलाकुशलं कर्म" [आप्त मी. ८] इति। क्वचिच्च क्रियावचन' —यथा उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चन प्रसारणं गमनमिति कर्माणि [वैशे./१/१/७] इति। तत्रेह क्रियावाचिनो ग्रहणम्। =कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं—'घट करोति' में कर्मकारक कर्मशब्दका अर्थ है। 'कुशल अकुशल कर्म' में पुण्य पाप अर्थ है। उत्क्षेपण अवक्षेपण आदिमें कर्मका क्रिया अर्थ विवक्षित है। यहाँ आस्रवके प्रकरणमें क्रिया अर्थ विवक्षित है अन्य नहीं (क्योंकि वही जड कर्मोंके प्रवेशका द्वार है)।

२. कर्मके समवदान आदि अनेक भेद

(ष खं. १३/५,४/सू. ४-२८/३८-८८), प्रमाण=सूत्र/पृष्ठ
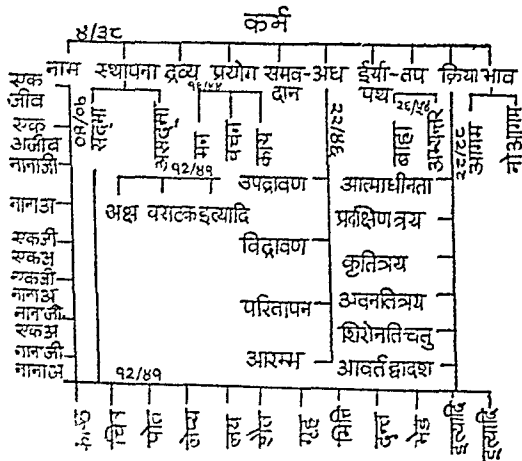
३ समवदान कर्मका लक्षण

ष.ख १३/५,४/सू २०/४५ तं अट्ठविहस्स वा सत्तविहस्स वा छव्विहस्स वा कम्मस्स समुदाणदाए गहणं पवत्तदि तं सव्वं समुदाणकम्मं णाम ।२०। =यत सात प्रकारके, आठ प्रकारके और छह प्रकारके कर्मका भेदरूपसे ग्रहण होता है अत वह सब समवदान कर्म है।

ध. १३/५,४,२०/४५/६ समयाविरोधेन समवदीयते खण्ड्यत इति समवदानम्, समवदानमेव समवदानता। कम्मइयपोग्गलाण मिच्छत्ता-संजम-जोग-कसाएहि अट्ठकम्मसरूवेण सत्तकम्मसरूवेण छकम्मसरूपेण वा भेदो समुदाणद त्ति वुत्तं होदि। =[समवदान शब्दमें 'सम्' और 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'दाप् लवने' धातु है। जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—] जो यथाविधि विभाजित किया जाता है वह समवदान कहलाता है। और समवदान ही समवदानता कहलाती है। कार्मण पुद्गलोंका मिथ्यात्व, असंयम, योग और कषायके निमित्तसे आठ कर्मरूप, सात कर्मरूप और छह कर्मरूप भेद करना समवदानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

४. प्रयोग कर्मका लक्षण

ष.खं. १३/५,४/सू. १६–१७/४४ तं तिविहं—मणपओअकम्मं वचिपओअकम्मं कायपओअकम्मं ।१६। तं ससारावत्थाणं वा जीवाणं सजोगिकेवलीणं वा ।१७। =वह तीन प्रकारका है—मन प्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और कायप्रयोगकर्म ।१६। वह संसार अवस्थामें स्थित जीवोंके और सयोगकेवलियोंके होता है ।१७। (अन्यत्र इस प्रयोग कर्मको ही 'योग' कहा गया है।)

५. चितिकर्म आदि कर्मोंका निर्देश व लक्षण

मू.आ /४२८/५७६ अप्पासुएण मिस्सं पासुगदव्वं तु पूदिकम्मं तं। चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पचविहं ।४२८। किदियकम्मं चिदियकम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च। कादव्वं केण कस्स व कधं व कहिं व कदिखुत्तो ।५७६। =प्रासुक आहारादि वस्तु सचित्तादि वस्तुसे मिश्रित हो वह पूति दोष है—दे० आहार/II/४। प्रासुक द्रव्य भी पूतिकर्मसे मिला पूतिकर्म कहलाता है। उसके पाँच भेद हैं—चूली, ओखली, कड़छी, पकानेके बासन, गन्धयुक्त द्रव्य। इन पाँचोंमें सकल्प करना कि चूलि आदिमें पका हुआ भोजन जब तक साधुको न दे दें तबतक किसीको नहीं देंगे। ये ही पाँच आरम्भ दोष हैं ।४२८। जिसमें आठ प्रकारके कर्मोंका छेद हो वह कृतिकर्म है, जिससे पुण्य कर्मका सचय हो वह चितकर्म है, जिससे पूजा की जाती है वह माला चन्दन आदि पूजा कर्म है, शुश्रूषाका करना विनयकर्म है।

६. जीवको ही प्रयोगकर्म कैसे कहते हो

ध. १३/५,४,१७/४५/२ कधं जीवाणं पओअकम्मववएसो। ण, पओअं करेदि त्ति पओअकम्मसद्दणिप्पत्तीए कत्तारकारए कीरमाणाए जीवाणं पि पओअकम्मत्तसिद्धीदो। =प्रश्न—जीवोंको प्रयोग संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि 'प्रयोगको करता है' इस व्युत्पत्तिके आधारसे प्रयोगकर्म शब्दकी सिद्धि कर्ता कारकमें करनेपर जीवोंके भी प्रयोगकर्म संज्ञा बन जाती है।

७. समवदान आदि कर्मोंमें स्थित जीवोंमें द्रव्यार्थता व प्रदेशार्थताका निर्देश

ध. १३/५,४,३१/९३/१ दव्वपमाणाणुगमे भण्णमाणे ताव दव्वट्ठ-पदेसट्ठदाणं अत्थपरूवणं कस्सामो। तं जहा—पओअकम्म-तवोकम्म-किरियाकम्मेसु जीवाणं दव्वट्ठदा त्ति सण्णा। जीवपदेसाण पदेसट्ठदा त्ति ववएसो। समोदाणकम्म-इरियावथकम्मेसु जीवाणं दव्वट्ठदा त्ति ववएसो। तेसु चेव जीवेसु ट्ठिदकम्मपरमाणूण पदेसट्ठदा त्ति सण्णा। आधाकम्मम्मि ओरालियसरीरणोकम्मक्खंधाणं दव्वट्ठदा त्ति सण्णा। तेसु चेव ओरालियसरीरणोकम्मक्खंधेसु ट्ठिदपरमाणूणं पदेसट्ठदा त्ति सण्णा। =द्रव्य प्रमाणानुगमकका कथन करते समय सर्व प्रथम द्रव्यार्थताके अर्थका कथन करते हैं। यथा—प्रयोगकर्म, तपःकर्म और क्रियाकर्ममें जीवोंकी द्रव्यार्थता संज्ञा है, और जीवप्रदेशोंकी प्रदेशार्थता संज्ञा है। समवधान और ईर्यापथ-

कर्ममें जीवोकी द्रव्यार्थता संज्ञा है, और उन्हीं जीवोमें स्थित··· कर्म परमाणुओंकी प्रदेशार्थता सज्ञा है। अध कर्ममें औदारिक शरीरके नोकर्मस्कन्धोकी द्रव्यार्थता संज्ञा है और उन्ही शरीरोमें स्थित परमाणुओंकी प्रदेशार्थता सज्ञा है।

२. द्रव्य भाव व नोकर्म रूप भेद व लक्षण

१. कर्म सामान्यका लक्षण

रा.वा /६/१/७/५०४/२६ कर्मशब्दस्य कर्त्रादिपु साधनेपु संभवत्सु इच्छातो विशेपोऽध्यवसेयः । वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणाम' पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चय-व्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म। करणप्रशंसा विवक्षाया कर्तृ-धर्माध्यारोपे सति स परिणाम' कुशलमकुशलं वा द्रव्यभावरूपं करोतीति कर्म। आत्मन' प्राधान्यविवक्षाया कर्तृत्वे सति परिणामस्य करणत्वोपपत्ते' बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन कर्मेत्यपि भवति। साध्यसाधन भावानभिधित्साया स्वरूपावस्थिततत्त्वकथनात् कृतिः कर्मेत्यपि भवति। एवं शेपकारकोपपत्तिश्च योज्या। =कर्म शब्द कर्ता कर्म और भाव तीनो साधनोमें निष्पन्न होता है और विवक्षानुसार तीनो यहाँ (कर्मास्रवके प्रकरणमें) परिगृहीत है। १ वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा निश्चय नयसे आत्मपरिणाम और पुद्गलके द्वारा पुद्गलपरिणाम; तथा व्यवहारनयसे आत्माके द्वारा पुद्गलपरिणाम और पुद्गलके द्वारा आत्मपरिणाम, भी जो किये जायें वह कर्म है। २. कारणभूत परिणामोकी प्रशंसाकी विवक्षामें कर्तृधर्म आरोप करनेपर वही परिणाम स्वयं द्रव्य और भावरूप कुशल-अकुशल कर्मोको करता है अत' वही कर्म है। ३ आत्माकी प्रधानतामें वह कर्ता होता है और परिणाम करण तब'जिनके द्वारा किया जाये वह कर्म'यह विग्रह भी होता है। ४. साध्यसाधन भावकी विवक्षा न होनेपर स्वरूपमात्र कथन करनेसे कृतिको भी कर्म कहते है। इसी तरह अन्य कारक भी लगा लेने चाहिए।

आप्तप /टी./११३/§२९६ जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि। =१ जीवको परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हे कर्म कहते है। २. अथवा जीवके द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामोसे जो किये जाते है—उपार्जित होते हैं वे कर्म हैं। (भ.आ./वि./२०/७१/८) केवल लक्षण नं. २।

२. कर्मके भेद-प्रभेद

स.सा /मू./८७ मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं। अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।८७। =मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि कपाय ये भाव जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारके है।

आप्तप /मू./११३ कर्माणि द्विविधान्यत्र द्रव्यभावविकल्पत'। =कर्म दो प्रकारके है—द्रव्यकर्म और भावकर्म।

ध.१४/५,६,७१/५२/५ दव्ववग्गणा दुविहा—कम्म-वग्गणा, णोकम्मवग्गणा चेदि। =द्रव्य वर्गणा दो प्रकारकी हे कर्मवर्गणा और नोकर्म-वर्गणा।

गो.क./मू /६/६ कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु। =कर्म सामान्य भावरूप कर्मत्वकरि एक प्रकारका है। बहुरि सोई कर्म द्रव्य व भावके भेदसे दो प्रकारका हे।

३. द्रव्य भाव या जीव अजीव कर्मोंके लक्षण

स.सा./मू./८८ पुग्गलकम्म मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमजीवं। उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु।८८/५ =जो मिथ्यात्व योग अविरति और अज्ञान अजीव हे सो तो पुद्गल कर्म है और जो मिथ्यात्व अविरति और अज्ञान जीव है वह उपयोग हे। (पुद्गल याके द्रव्य भाये गये कर्म अर्थात् उन कार्मण स्कन्धोकी अवस्था अजीव कर्म है और जीवके द्वारा भाये गये अर्थात उपयोगस्वरूप राग-द्वेपादिक जीव कर्म है—(स.सा /आ /८७), (प्र सा./त प्र /११७, १२४)।

स.सि /२/२५/१८२/८ सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मण शरीरं कर्मेत्युच्यते। =सब शरीरोंकी उत्पत्तिके मूलकारण कार्मण शरीरको कर्म (द्रव्यकर्म) कहते है। (रा वा./२/२५/३/१३७/६), (रा वा./५/२४/६/४८८/२०)।

आप्त.प /मू /११३-११४ द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा।११३। भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मनि भान्ति नु'। क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिदभेदतः।११४। =जीवके जो द्रव्यकर्म हैं वे पौद्गलिक है और उनके अनेक भेद हैं।११३। तथा जो भावकर्म हैं वे आत्माके चैतन्य परिणामात्मक है, क्योंकि आत्मासे कथंचित अभिन्न रूपसे स्ववेद्य प्रतीत होते है और वे क्रोधादि रूप है।११४। (प.ध/उ/१०५८-१०६०)

ध.१४/५,६,७१/५२/५ तत्थ कम्मवग्गणा णाम अट्ठकम्मक्खधवियप्पा। =उनमें-से आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंके भेद कर्म वर्गणा (द्रव्य कर्म-वर्गणा) है। (नि सा /ता.वृ./१०७) और भी (दे० कर्म/३/५)

४. नोकर्मका लक्षण

ध.१४/५,६,७१/५२/६ सेस एक्कोणवीसवग्गणाओ णोकम्मवग्गणाओ। =(कार्मण वर्गणाको छोडकर) शेप उन्नीस प्रकारकी वर्गणाएँ नोकर्म वर्गणाएँ है। (अर्थात् कुल २३ प्रकारकी वर्गणाओंमें-से कार्मण, भाषा, मनो व तैजस इन चारको छोडकर शेप १९ वर्गणाएँ नोकर्म वर्गणाएँ है)।

गो जी /मू /२४४/५०७ ओरालियवेगुव्वियआहारयतेजणामकम्मुदये। चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं। =ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक और तैजस नामकर्मके उदयसे चार प्रकारके शरीर होते है। वे नोकर्म शरीर है। पाँचवाँ जो कार्मण शरीर सो कर्म रूप ही है।

नि.सा./ता.वृ./१०७ औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि हि नोकर्माणि। =औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर (?) वे नोकर्म हैं।

गो.जी./जी प्र /२४४/५०८/२ नोशब्दस्य विपर्यये ईपदर्थे च वृत्ते। तेपां शरीराणा कर्मवदात्मगुणघातित्वगत्यादिपारतन्त्र्यहेतुत्वाभावेन कर्म-विपर्ययत्वात् कर्मसहकारित्वेन ईपत्कर्मत्वाच्च नोकर्मशरीरत्वसभवात् नोइन्द्रियवत्। =नो शब्दका दोय अर्थ है—एक तौ निपेधरूप और एक ईपत् अर्थात् स्तोकरूप। सो इहाँ कार्मणकी ज्यों ये चार शरीर आत्माके गुणोको घातै नाहीं वा गत्यादिक रूप पराधीन न करि सके तातै कर्मतै विपरीत लक्षण धरनेकरि इनिकौं अकर्मशरीर कहिए। अथवा कर्मशरीरके ए सहकारी हैं तातैं ईपत कर्मशरीर कहिए। ऐसे इनिको नोकर्म शरीर कहै जैसे मनको नोइन्द्रिय कहिए है।

५. कर्मफलका अर्थ

प्र.सा./त.प्र /१२४ तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम्। =उस कर्मसे उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख कर्मफल है। (विशेप देखो 'उदय')

कर्म फल—दे० कर्म/२।

कर्म फल चेतना—दे० चेतना।

कर्म भूमि—दे० भूमि/१।

कर्म शक्ति—स सा /आ /शक्ति नं. ४१ प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्ति'। =प्राप्त किया जाता जो सिद्ध रूप भाव है उसमयी कर्म-शक्ति है। विशेष दे० कर्ता/१/२।

कर्मसमवायिनी क्रिया—दे० क्रिया/१।

कर्मस्पर्श—दे० स्पर्श/१।

कर्माहार—दे० आहार/I/१।

कर्मोपाधि—सापेक्ष व निरपेक्ष नय—दे० नय/।v/३,४।

कर्वट—

ध १३/५,५,६३/३३५/८ पर्वतावरुद्ध' कव्वडं णाम। =पर्वतोंसे रुके हुए नगरका नाम कर्वट है।

म पु /१६/१७५ शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया। राजधान्यस्तथा द्रोणमुखकर्वटयो. क्रमात्। १७५। =एक कर्वटमें २०० ग्राम होते है।

कलह—(ध.१२/४.२.८,१०/२८५/४) —क्रोधादिवशादसिदण्डासभ्य-वचनादिभि परसंतापजननं कलह'। =क्रोधादिके वश होकर तलवार, लाठी और असभ्य वचनादिके द्वारा दूसरोंको सन्ताप उत्पन्न करना कलह कहलाता है।

कला—१ Art (ध./पु ६/प्र /२७)। २. कालका एक प्रमाण विशेष। दे० गणित/I/१।

कलिंग—१. भरत क्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/-४। २. मद्रास प्रान्तका उत्तर भाग और उडीसाका दक्षिण भाग। राजधानी राजमहेन्द्री है। (म पु /प्र.४६/प. पन्नालाल)

कलि ओज—दे० ओज।

कलि चतुर्दशी व्रत—विधि—आषाढ, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, इन चार महीनों की शुक्ल चतुर्दशियोंको बराबर ४ वर्ष तक उपवास करना। नमस्कार मत्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत-विधान सग्रह/पृ १०३) (कथाकोश)।

कलुषता—दे० कालुष्य।

कलेवर—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

कल्की—जैनागममें कल्की नामके राजाका उल्लेख जैनयतियोंपर अत्याचार करनेके लिए बहुत प्रसिद्ध है। इसके व इसके पिताके विभिन्न नाम आगममें उपलब्ध होते है और इसी प्रकार इनके समयका भी। फिर भी वह लगभग गुप्त वंशके पश्चात् प्राप्त होता है। इतिहासकारोसे पूछनेपर पता चलता है कि भारतमें गुप्त साम्राज्यके पश्चात् एक बर्बर जगली जातिका राज्य हुआ था, जिसका नाम 'हून' था। इसके १०० वर्षके राज्यमें एकके पीछे एक करके चार राजा हुए। सभी अत्यन्त अत्याचारी थे। इस प्रकार आगम व इतिहासका मिलान करनेसे प्रतीत होता है कि कल्की नामका कोई राजा न था। बल्कि उपरोक्त चारो राजा ही अपने अत्याचारोके कारण कल्की नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार उनके विभिन्न नामो व समयोका सम्मेल बैठ जाता है।

१. आगमकी अपेक्षा कल्की निर्देश

ति.प /४/१५०६-१५१० तत्तो कक्की जादो इंदसुतो तस्स चउमुहो णामो। सत्तरि वरिसा आऊ विगुणियइगिवीस रज्जंतो।१५०६। आचारांग-धरादो पणहत्तरिजुत्तदुसयवासेसुं। वोलीणेसुं बद्धो पट्टो कक्किस्स णरवइणो।१५१०। =इस गुप्त राज्य (वी. नि. ६५८) के पश्चात् इन्द्रका सुत कल्की उत्पन्न हुआ। इसका नाम चतुर्मुख, आयु ७० वर्ष और राज्यकाल ४२ वर्ष प्रमाण था।१५०६। आचारांगधरों (वी. नि. ६८३) के २७५ वर्ष पश्चात् (वी. नि. ९५८ में) कल्कीको नरपतिका पट्ट बाँधा गया।१५१०।

ह पु./६०/४९१-४९२ भद्रबाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम्। एकविंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ।४९१। द्विचत्वारिंशदेवात' कल्किराजस्य राजता। ... ।४९२। = फिर २४२ वर्ष तक बाणभट्ट (शक वंश) का, फिर २२१ तक गुप्तोंका और उनके बाद (वी. नि. ९५८ मे) ४२ वर्ष तक कल्कि राजाका राज्य होगा।

म पु /७६/३९७-४०० दुष्षमायां सहस्राब्दव्यतीतौ धर्महानित'।३९७। पुरे पाटलिपुत्राख्ये शिशुपालमहीपते। पापी तनूज: पृथिवीसुन्दर्यां दुर्जनादिम'।३९८। चतुर्मुखाह्वय' कल्किराजो वेजितभूतल'। उत्पस्यते माघसवत्सरयोगसमागमे।३९९। समानां सप्ततिस्तस्य परमायु' प्रकीर्तितम्। चत्वारिंशत्समा राज्यस्थितिश्चाक्रमकारिण'।४००। =दुषमाकाल (वी नि. ३) के १००० वर्ष बीतनेपर (वी नि. १००३ में) धर्मकी हानि होनेसे पाटलिपुत्र नामक नगरमें राजा शिशुपालकी रानी पृथिवीसुन्दरीके चतुर्मुख नामका एक ऐसा पापी पुत्र होगा, जो कल्कि नामसे प्रसिद्ध होगा। यह कल्की मघा नामके सवत्सर मे होगा। इसकी उत्कृष्ट आयु ७० वर्ष और राज्यकाल ४० वर्ष तक रहेगा।

त्रि.सा /८५०-८५१ पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो। सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहिय सगमासं ।८५०। सो उम्मग्गाहिमुहो सदरिवासपरमाऊ। चालीसरज्जओ जिदभूमी पुच्छइसमतिगणं ।८५१। =वीर भगवान्‌की मुक्तिके ६०५ वर्ष व ५ महीने जानेपर शक राजा हो है। उसके ऊपर ३९४ वर्ष ७ महीने जाने पर (वी. नि. १००० में) कल्की हो है।८५०। वह उन्मार्गके सम्मुख है। उसका नाम चतुर्मुख तथा आयु ७० वर्ष है। ४० वर्ष प्रमाण राज्य करै है।८५१।

२. इतिहासकी अपेक्षा हून वंश

यह एक बर्बर जगली जाति थी, जिसके सरदारोंने ई० ४३२ मे गुप्त राजाओपर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि स्कन्दागुप्तने उन्हे परास्त करके पीछे भगा दिया परन्तु ये बराबर अपनी शक्ति बढाते रहे, यहाँ तक कि ई० ५०० में उनके सरदार तोरमाणने गुप्त राज्यको कमजोर पाकर समस्त पजाब व मालवा प्रान्तपर अपना अधिकार जमा लिया। फिर ई० ५०७मे उसके पुत्र मिहिरकुलने भानुगुप्तको परास्त करके गुप्त वशको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसने प्रजापर बडे अत्याचार किये जिससे तंग आकर एक हिन्दू सरदार विष्णुधर्मने बिखरी हुई हिन्दू शक्तिको संगठित करके ई० ५२८ मे मिहिरकुलको परास्त करके भगा दिया। उसने काश्मीरमें जाकर शरण ली और वहाँ ही ई० ५४० में उसकी मृत्यु हो गयी। (क. पा/पु. १ प्र. ५४/प० महेन्द्र) यह विष्णु यशोधर्म कट्टर वैष्णव था। इसने हिन्दू धर्मका तो बडा उपकार किया परन्तु जैन साधुओ व जैन मन्दिरोपर बडा अत्याचार किया, इसलिए जैनियोमे वह कल्की नामसे प्रसिद्ध हुआ और हिन्दू धर्ममे उसे अन्तिम अवतार माना गया। (न्यायावतार/प्र. २ सतीशचन्द्र विद्याभूषण)।

३. आगम व इतिहासके निर्देशोंका समन्वय

आगमके उपरोक्त उद्धरणोंमें कल्कीका नाम चतुर्मुख बताया गया है पर उसके पिताका नाम एक स्थानपर इन्द्र और दूसरे स्थानपर शिशुपाल कहा गया है। हो सकता है कि शिशुपाल ही इन्द्र नामसे विख्यात हो। इधर इतिहासमे तोरमाणका पुत्र मिहिरकुल कहा गया है। प्रतीत होता है कि तोरमाण ही इन्द्र या शिशुपाल है और मिहिरकुल ही वह चतुर्मुख है। समयकी अपेक्षा भी आगमकारोका कुछ मतभेद है। तिलोय पण्णति व हरिवंशपुराणकी अपेक्षा उसका काल वी० नि० ६५८-१००० (ई० ४३१-४७३) और महापुराण व त्रिलोकसारकी अपेक्षा वह वी० नि० १०३०-१०७० (ई० ५०३-५३३) है। इन दोनो मान्यताओमें विशेष अन्तर नही है। पहिलीमें कल्कीका राज्यकाल मिलाकर भगवान्के निर्वाणके पश्चात् १००० वर्षकी गणना करके दिखाई है अर्थात् निर्वाणसे १००० वर्ष पश्चात् धर्म व संघका लोप दर्शाया है और दूसरी मान्यतामें वी० नि० १००० में कल्कीका जन्म बताकर ३० वर्ष पश्चात् उसे राज्यारूढ कराया गया है। दोनों ही मान्यताओमे उसका राज्यकाल ४० वर्ष बताया गया है। इतिहाससे मिलान करनेपर दूसरी मान्यता ठीक जँचती है, क्योंकि मिहिरकुलका काल ई० ५०७-५२८ बताया गया है।

४. कल्कीके अत्याचार

ति. प./४/१५११ अह सहियाण कक्की णियजोग्गे जणपदे पयत्तेण। सुक्कं जाचदि लुद्धो पिंडग्ग जाव ताव समणाओ।१५११। =तदनन्तर वह कल्की प्रयत्न पूर्वक अपने योग्य जनपदोंको सिद्ध करके लोभको प्राप्त होता हुआ मुनियोके आहारमे-से भी प्रथम ग्रासको शुल्कके रूपमें माँगने लगा ।१५११। (ति प./१५२३-१५२६) (म पु /७६/४१०) (त्रि. सा./८५३, ८५६)।

५. कल्कीकी मृत्यु

ति. प /४/१५१२-१५१३ दादूणं पिंडग्ग समणा कालो य अंतराणं पि। गच्छंति आहिणाणं अप्पजइ तेसु एक्कम्मि ।१५१२। अह को वि असुरदेवो ओहीदो मुणिगणाण उवसग्गं। णादूणं तं कक्किं मारेदि हु धम्मदोहि त्ति।१५१३। =तब श्रमण अग्रपिण्डको शुल्कके रूपमें देकर और 'यह अन्तरायोका काल है' ऐसा समझकर (निराहार) चले जाते है। उस समय उनमें-से किसी एकको अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है।१५१२। इसके पश्चात् कोई असुरदेव अवधिज्ञानसे मुनिगणके उपसर्गको जानकर और धर्मका द्रोही मानकर उस कल्कीको मार डालता है।१५१३। (ति प /४/१५२६-१५३३) (म. पु./७६/४११-४१४) (त्रि. सा./८५४)।

६. कल्कीके पश्चात् पुनः धर्मकी स्थापना

ति प /४/१५१४-१५१५ कक्किसुदो अजिदंजय णामो रक्खत्ति णमदि तच्चरणे। तं रक्खदि असुरदेओ धम्मे रज्ज करेज्ज त्ति ।१५१४। तत्तो दोवे वासा सम्मद्धम्मो पयट्टदि जणाणं। कमसो दिवसे दिवसे कालमहप्पेण हाएदे।१५१५। =तत्र अजितंजय नामका उस कल्कीका पुत्र 'रक्षा करो' इस प्रकार कहकर उस देवके चरणोमें नमस्कार करता है। तब वह देव 'धर्म पूर्वक राज्य करो' इस प्रकार कहकर उसकी रक्षा करता है।१५१४। इसके पश्चात् दो वर्ष तक लोगोंमें समीचीन धर्मप्रवृत्ति रहती है, फिर क्रमश' कालके माहात्म्यसे वह प्रतिदिन हीन होती जाती है।१५१५। (म पु /७६/४२८-४३०) (त्रि सा /८५५-८५६)/-

७. पचम कालमें कल्कियों व उपकल्कियोंका प्रमाण

ति. प /४/१५१६, १५३४,१५३५ एव वस्समहस्से पुह पुह कक्की हवइ एक्केक्को। पचसयवच्छरयसुं एक्केक्को तह य उवकक्की।१५१६। एवमिगवीस कक्की उवक्की तेत्तिया य घम्माए। जम्मंति धम्मदोहा जलणिहिउवमाणआउजुदो ।१५३४। वासतए अडमासे पक्खे गलिदम्मि पविसदे तत्तो। सो अदिदुस्समणामो छट्टो कालो महाविसमो। ।१५३५। =इस प्रकार १००० वर्षोंके पश्चात् पृथक्-पृथक् एक-एक कल्की तथा ५०० वर्षोके पश्चात् एक-एक उपकल्की होता है।१५१६। इस प्रकार २१ कल्की और इतने ही उपकल्की धर्मके द्रोहसे एक सागरोपम आयुसे युक्त होकर घर्मा पृथिवी (प्रथम नरक) में जन्म लेते हैं।१५३४। इसके पश्चात् ३ वर्ष ८ मास और एक पक्षके बीतनेपर महा विषम वह अतिदुषमानामका छठा काल प्रविष्ट होता है।१५३५। (म पु./७६/४३१-४४१) (त्रि. सा /८५७-८५६)।

८. कल्कीके समय चतुःसंघकी स्थिति

ति प./४/१५२१,१५३० वीरांगजाभिधाणो तक्काले मुणिवरो भवे एक्को। सव्वसिरी तह विरदी सावयजुगमग्गिदत्तपगुसिरी ।१५२१। ताहे चत्तारि जणा चउविहआहारसगपहुदीणं। जावज्जीवं छ डिय सण्णासं ते कर ति य ।१५३०। =उस समय वीरागज नामक एक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त (अग्निल और पंगुश्री नाम श्रावक युगल (श्रावक-श्राविका) होते हैं।१५२१। तत्र वे चारो जन चार प्रकारके आहार और परिग्रहको जन्म पर्यन्त छोडकर संन्यास (समाधिमरण) को ग्रहण करते है।१५३०। (म. पु /७६/४३२-४३६) (त्रि. सा /८५८-८५६)।

९. प्रत्येक कल्कीके कालमें एक अवधिज्ञानी मुनि

ति. प /४/१५१७ कक्की पडि एक्केक्क दुस्समसाहुस्स ओहिणाणं पि। संघा य चादुवण्णा थोवा जायति तक्काले।१५१७। =प्रत्येक कल्कीके प्रति एक-एक दुष्पमाकालवर्ती साधुको अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उसके समयमें चातुर्वर्ण्य सघ भी अल्प हो जाता है।१५१७।"

कल्प—१. साधु चर्याके १० कल्पोंका निर्देश

१.—दे० साधु /२। २. इन दसो कल्पोके लक्षण—दे० वह वह नाम। ३ जिनकल्प—दे० जिन कल्प। ४. महाकल्प—श्रुतज्ञानका ११वाँ अगबाह्य है—दे० श्रुतज्ञान / III

कल्प काल—दे० काल /४।

कल्पपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

कल्पभूमि—समवशरणकी छठी भूमि—दे० समवशरण।

कल्पवासी देव—दे० स्वर्ग।

कल्पवृक्ष—१. कल्पवृक्ष निर्देश—दे० वृक्ष/१.। २. कल्पवृक्ष पूजा—दे० पूजा/१।

कल्प व्यवहार—श्रुतज्ञानका ६वाँ अग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान / III

कल्पशास्त्र—दे० शास्त्र।

कल्प स्वर्ग—दे० स्वर्ग।

कल्पाकल्प—श्रुतज्ञानका ६वाँ अंगबाह्य—दे० श्रुतज्ञान / III

कल्याण—श्रुतज्ञान ज्ञानका १० वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान / III

कल्याणक—जैनागममें प्रत्येक तीर्थंकरके जीवनकालके पाँच प्रसिद्ध घटनास्थलोका उल्लेख मिलता है। उन्हें पंच कल्याणकके नामसे कहा जाता है, क्योंकि वे अवसर जगत्के लिए अत्यन्त कल्याण व मगलकारी होते है। जो जन्मसे ही तीर्थंकर प्रकृति लेकर उत्पन्न हुए हैं उनके तो ५ ही कल्याणक होते हैं, परन्तु जिसने अन्तिम भवमें ही तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया है उसको यथा सम्भव चार व तीन व दो भी होते हैं, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृतिके बिना साधारण साधकोंको

वे नहीं होते हैं। नवनिर्मित जिनबिम्बकी शुद्धि करनेके लिए जो पंच कल्याणक प्रतिष्ठा पाठ किये जाते हैं वह उसी प्रधान पंच कल्याणककी कल्पना है जिसके आरोप द्वारा प्रतिमामें असली तीर्थंकरकी स्थापना होती है।

१. पंच कल्याणकोंका नाम निर्देश

ज. प/१३/९३ गब्भावयारकाले जम्मणकाले तहेव णिक्खमणे। केवलणाणुप्पण्णे परिणिव्वाणम्मि समयम्मि ।९३। =जो जिनदेव गर्भावतारकाल, जन्मकाल, निष्क्रमणकाल, केवलज्ञानोत्पत्तिकाल और निर्वाणसमय, इन पाँच स्थानों (कालों) में पाँच महा-कल्याणकोंको प्राप्त होकर महाऋद्धियुक्त सुरेन्द्र इन्द्रोंसे पूजित हैं ।९३-९४।

२. पंच कल्याणक महोत्सवका संक्षिप्त परिचय

१. गर्भकल्याणक—भगवान्‌के गर्भमें आनेसे छह मास पूर्वसे लेकर जन्म पर्यन्त १५ मास तक उनके जन्म स्थानमें कुबेर द्वारा प्रतिदिन तीन बार ३½ करोड़ रत्नोंकी वर्षा होती रहती है। दिक्कुमारी देवियाँ माताकी परिचर्या व गर्भ शोधन करती हैं। गर्भवाले दिनसे पूर्व रात्रिको माताको १६ उत्तम स्वप्न दीखते हैं, जिनपर भगवान्‌का अवतरण निश्चय कर माता पिता प्रसन्न होते हैं। (प. पु/३/११२-१५७) (ह पु ३७/१-४७) (म पु/१२/८४-१६५)

२ जन्म कल्याणक—भगवान्‌का जन्म होनेपर देवभवनों व स्वर्गों आदिमें स्वय घण्टे आदि बजने लगते हैं और इन्द्रोंके आसन कम्पायमान हो जाते हैं जिससे उन्हें भगवान्‌के जन्मका निश्चय हो जाता है। सभी इन्द्र व देव भगवान्‌का जन्मोत्सव मनानेको बड़ी धूमधामसे पृथिवीपर आते हैं। अहमिन्द्रजन अपने-अपने स्थानपर ही सात पग आगे जाकर भगवान्‌को परोक्ष नमस्कार करते हैं। दिक्कुमारी देवियाँ भगवान्‌के जातकर्म करती हैं। कुबेर नगरकी अद्भुत शोभा करता है। इन्द्रकी आज्ञासे इन्द्राणी प्रसूतिगृहमें जाती है, माताको माया निद्रासे सुलाकर उसके पास एक मायामयी पुतला लिटा देती है और बालक भगवान्‌को लाकर इन्द्रकी गोदमें दे देती है, जो उनका सौन्दर्य देखनेके लिए १००० नेत्र बनाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। ऐरावत हाथीपर भगवान्‌को लेकर इन्द्र सुमेरुपर्वतकी ओर चलता है। वहाँ पहुँचकर पाण्डुक शिलापर, भगवान्‌का क्षीरसागरसे देवों द्वारा लाये गये जलके १००८ कलशों द्वारा, अभिषेक करता है। तदनन्तर बालकको वस्त्राभूषणसे अलंकृत कर नगरमें देवों सहित महान् उत्सवके साथ प्रवेश करता है। बालकके अंगूठेमें अमृत भरता है, और ताण्डव नृत्य आदि अनेकों मायामयी आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रगट कर देवलोकको लौट जाता है। दिक्कुमारी देवियाँ भी अपने-अपने स्थानोंपर चली जाती हैं। (प पु/३/१५८-२१४) (ह. पु/३८/५४ तथा ३९/१५ वृत्तान्त) (म पु/१३/४-२१६) (ज प/४/१५२-२६१)।

३ तपकल्याणक—कुछ कालतक राज्य विभूतिका भोग कर लेनेके पश्चात् किसी एक दिन कोई कारण पाकर भगवान्‌को वैराग्य उत्पन्न होता है। उस समय ब्रह्म स्वर्गसे लौकान्तिक देव भी आकर उनको वैराग्य वर्द्धक उपदेश देते हैं। इन्द्र उनका अभिषेक करके उन्हें वस्त्राभूषणसे अलंकृत करता है। कुबेर द्वारा निर्मित पालकीमें भगवान् स्वय बैठ जाते हैं। इस पालकीको पहले तो मनुष्य कन्धोंपर लेकर कुछ दूर पृथिवीपर चलते हैं और देव लोग लेकर आकाश मार्गसे चलते हैं। तपोवनमें पहुँचकर भगवान् वस्त्रालंकारका त्याग कर केशोंका लुंचन कर देते हैं और दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते हैं। अन्य भी अनेकों राजा उनके साथ दीक्षा धारण करते हैं। इन्द्र उन केशोंको एक मणिमय पिटारेमें रखकर क्षीरसागरमें क्षेपण करता है। दीक्षा स्थान तीर्थ स्थान बन जाता है। भगवान् वेला तेला आदिके नियमपूर्वक 'ॐ नम सिद्धेभ्य' कहकर स्वयं दीक्षा ले लेते हैं क्योंकि वे स्वयं जगद्‌गुरु हैं। नियम पूरा होनेपर आहारार्थ नगरमें जाते हैं और यथाविधि आहार ग्रहण करते हैं। दाताके घर पंचाश्चर्य प्रगट होते हैं। (प. पु/३/२६८-२८३ तथा ४/१-२०) (ह पु/५५/१००-१२६) (म पु/१७/४६-२५३)।

४ ज्ञान कल्याणक—यथा क्रम ध्यानकी श्रेणियोंपर आरूढ होते हुए चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेपर भगवान्‌को केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी प्राप्त होती है। तब पुष्प वृष्टि, दुन्दुभी शब्द, अशोक वृक्ष, चमर, भामण्डल, छत्रत्रय, स्वर्ण सिंहासन और दिव्य ध्वनि ये आठ प्रातिहार्य प्रगट होते हैं। इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर समवशरण रचता है जिसकी विचित्र रचना से जगत चकित होता है। १२ सभाओंमें यथा स्थान देव मनुष्य तिर्यंच मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका आदि सभी बैठकर भगवान्‌के उपदेशामृतका पान कर जीवन सफल करते हैं।

भगवान्‌का विहार बड़ी धूमधामसे होता है। याचकोंको किमिच्छक दान दिया जाता है। भगवान्‌के चरणोंके नीचे देव लोग सहस्रदल स्वर्ण कमलोंकी रचना करते हैं और भगवान् इनको भी न स्पर्श करके अधर आकाशमें ही चलते हैं। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है। बाजे नगाड़े बजते हैं। पृथिवी ईति भीति रहित हो जाती है। इन्द्र राजाओंके साथ आगे-आगे जय-जयकार करते चलते हैं। मार्गमें सुन्दर क्रीड़ा स्थान बनाये जाते हैं। मार्ग अष्टमंगल द्रव्योंसे शोभित रहता है। भामण्डल, छत्र, चमर स्वत साथ-साथ चलते हैं। ऋषिगण पीछे-पीछे चलते हैं। इन्द्र प्रतिहार बनता है। अनेकों निधियाँ साथ-साथ चलती हैं। विरोधी जीव वैर विरोध भूल जाते हैं। अन्धे बहरोंको भी दिखने सुनने लग जाता है। (प. पु/४/२१-५२) (ह पु/५६/११२-११८, ५७/१, ५९/१-१२४) (म. पु. सर्ग २२ व २३ पूर्ण)।

५. निर्वाण कल्याणक—अन्तिम समय आनेपर भगवान् योग निरोध द्वारा ध्यानमें निश्चलता कर चार अघातिया कर्मोंका भी नाश कर देते हैं और निर्वाण धामको प्राप्त होते हैं। देव लोग निर्वाण कल्याणककी पूजा करते हैं। भगवान्‌का शरीर कपूरकी भाँति उड़ जाता है। इन्द्र उस स्थानपर भगवान्‌के लक्षणोंसे युक्त सिद्धशिलाका निर्माण करता है। (ह पु/६५/१-१७), (म. पु/४८/३८३-३५४)।

३. पंच कल्याणकोंमें १६ स्वर्गोंके देव व इन्द्र स्वयं आते हैं

ह पु/८/१३१ स्वाम्यादेशे कृते तेन चेलु सौधर्मवासिन'। देवेन्द्राश्चाच्युतपर्यन्ता स्वयंबुद्धा सुरेश्वरा ।१३१। =सेनापतिके द्वारा स्वामीका आदेश सुनाये जाते ही सौधर्म स्वर्गमें रहनेवाले समस्त देव चल पड़े। तथा अच्युत स्वर्गतकके सर्व इन्द्र स्वय ही इस समाचारको जान देवोंके साथ बाहर निकले। (ज. प/४/२००-२५४)।

४. पंच कल्याणकोंमें देवोंके वैक्रियक शरीर आते हैं देव स्वयं नहीं आते

ति प/८/५९५ गब्भावयारपहुदिसु उत्तरदेहा सुराण गच्छंति। जम्मणठाणेसु सुहं मूलसरीराणि चेट्ठंति ।५९५। =गर्भ और जन्मादि कल्याणकोंमें देवोंके उत्तर शरीर जाते हैं। उनके मूल शरीर सुखपूर्वक जन्मस्थानोंमें स्थित रहते हैं।

५. रत्नोंकी वृष्टिमें तीर्थंकरोंका पुण्य ही कारण है

म. पु/४८/१८-२० तीर्थकृन्नामपुण्यत ।१८। तस्य गर्भाज्ञया गेहे पण्मासान् प्रत्यह मुहु । रत्नान्यैलविलस्तिस्र कोटी सार्धं न्यपीपतत् ।२०। =उस महाभागके स्वर्गसे पृथिवीपर अवतार लेनेके छह माह पूर्वसे

ही प्रतिदिन तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिके प्रभावसे, जितशत्रुके घरमें इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने साढे तीन करोड रत्नोंकी वृष्टि की।

६. उन रत्नोंको याचक लोग बे-रोकटोक ले जाते थे।

ह पु/३७/३ तया पतन्त्या वसुधारयार्थभाक्त्रिकोटिसंख्यापरिमाणया जगत्। प्रतर्पितं प्रत्यहमर्थि सर्वतः क पात्रभेदोऽस्ति धनप्रवर्षिणाम्॥३॥ =वह धनकी धारा प्रतिदिन तीन बार साढे तीन करोडकी संख्याका परिमाण लिये हुए पडती थी और उसने सब ओर याचक जगत्को सन्तुष्ट कर दिया था। सो ठीक ही है, क्योंकि, धनकी वर्षा करनेवालोंको पात्र भेद कहाँ होता है।

*** हीनाधिक कल्याणकवाले तीर्थंकर**—दे० तीर्थंकर

कल्याणक व्रत—

१. कल्याणक व्रत—पहले दिन दोपहरको एकलठाना (कल्याणक तिथिमें उपवास तथा उससे अगले दिन आचाम्ल भोजन (इमली व भात) खाये। इस प्रकार पंचकल्याणककी १२० तिथियोंके १२० उपवास ३६० दिनमें पूरे करे। (ह. पु/३४/१११-११२)।

२. चन्द्र कल्याणक व्रत—क्रमश ५ उपवास, ५ कांजिक (भात व जल); ५. एकलठाना (एक बार पुरसा), ५ रूक्षाहार, ५ मुनि वृत्तिसे भोजन (अन्तराय टालकर मौन सहित भोजन), इस प्रकार २५ दिनतक लगातार करे। (वर्द्धमान पुराण) (व्रत विधान संग्रह) पृ० ६६)

३ निर्वाण कल्याणक व्रत—चौबीस तीर्थंकरोके २४ निर्वाण तिथियोमे उनसे अगले दिनो सहित दो-दो उपवास करे। तिथियोंके लिए देखो तीर्थंकर ५। (व्रत विधान संग्रह। पृ० १२४) (किशन सिंह क्रिया कोश)।

४. पंच कल्याणक व्रत—प्रथम वर्षमें २४ तीर्थंकरोंकी गर्भ तिथियोंके २४ उपवास, द्वितीय वर्षमे जन्म तिथियोके २४ उपवास; तृतीय वर्षमें तप कल्याणककी तिथियोंके २४ उपवास, चतुर्थ वर्षमे ज्ञान कल्याणककी तिथियोंके २४ उपवास और पंचम वर्षमें निर्वाण कल्याणककी तिथियोंके २४ उपवास—इस प्रकार पाँच वर्षमें १२० उपवास करे। "ॐ ह्रीं वृषभादिवीरान्तेभ्यो नम" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। —यह बृहद् विधि है। एक ही वर्षमें उपरोक्त सर्व तिथियोके १२० उपवास पूरे करना लघु विधि है। "ॐ ह्रीं वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थंकराय नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (पच कल्याणककी तिथिमें —दे० तीर्थंकर ५)। (व्रत विधान संग्रह। पृ० १२६) (किशन सिंह कथा कोश)

५ परस्पर कल्याणक व्रत—१. <u>बृहद् विधि</u>—पंच कल्याणक, ८ प्रातिहार्य, ३४ अतिशय—सब मिलकर प्रत्येक तीर्थंकर सम्बन्धी ४७ उपवास होते हैं। २४ तीर्थंकरों सम्बन्धी ११२८ उपवास एकातरा रूपसे लगातार २२५६ दिनमें पूरे करे। (ह पु/३४/१२५)

२ <u>मध्यम विधि</u>—क्रमश १ उपवास, ४ दिन एकलठाना (एक बारका परोसा), ३ दिन कांजी (भात व जल), २ दिन रूक्षाहार; २ दिन अन्तराय टालकर मुनि वृत्तिसे भोजन और १ दिन उपवास इस प्रकार लगातार १३ दिन तक करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य दे। (वर्धमान पुराण) (व्रत विधान संग्रह / पृ० ७०)

३ <u>लघु विधि</u>—क्रमश १ उपवास, १ दिन कांजी (भात व जल), १ दिन एकलठाना (एक बार पुरसा), १ दिन रूक्षाहार, १ दिन अन्तराय टालकर मुनिवृत्तिसे आहार, इस प्रकार लगातार पाँच दिन करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (वर्धमान पुराण) (व्रत विधान संग्रह/पृ० ६६)

६ शील कल्याणक व्रत—मनुष्यणी, तिर्यंचिनी, देवांगना व अचेतन सी इन चार प्रकारकी स्त्रियोंमें पाँचों इन्द्रियों व मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करनेपर १८० भग होते हैं। ३६० दिनमे एकान्तरा क्रमसे १८० उपवास पूरा करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु/३४/११३) (व्रत विधान संग्रह/पृ० ६८) (किशन सिंह क्रियाकोश)

७ श्रुति कल्याणक व्रत—क्रमश ५ दिन उपवास, ५ दिन कांजी (भात व जल); ५ दिन एकलठाना (एक बार पुरसा) ५ दिन रूक्षाहार, ५ दिन मुनि वृत्तिसे अन्तराय टालकर मौन सहित भोजन, इस प्रकार लगातार २५ दिन तक करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत-विधान संग्रह/पृ० ६६), (किशन सिंह क्रियाकोश)

कल्याणमन्दिर स्तोत्र— श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई० ५५०) की एक संस्कृत स्तोत्र बद्ध रचना।

कल्याणमाला—(प पु/३४/श्लो न०) बालखिल्यकी पुत्री थी। अपने पिताकी अनुपस्थितिमें पुरुषवेशमें राज्यकार्य करती थी। ४०-४८। राम लक्ष्मण द्वारा अपने पिताको म्लेच्छोंकी बन्दीसे मुक्त हुआ जान (७६-६७) उसने लक्ष्मणको वर लिया (८०-११०)।

कल्ली—भरत क्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश —मनुष्य/४)

कवयव—एक ग्रह—दे० ग्रह।

कवल—दे० ग्रास।

कवलचन्द्रायण व्रत— किसी भी मासकी कृ० १५ को उपवास इससे आगे पडिमाको एक ग्रास, आगे प्रतिदिन एक-एक ग्रासकी वृद्धिसे चतुर्दशीको १४ ग्रास। पूर्णमाको पुन उपवास। इससे आगे उलटा क्रम अर्थात् कृ० १ को १४ ग्रास, फिर एक-एक ग्रासकी प्रति दिन हानिसे कृ० १४ को १ ग्रास और अमावस्याको उपवास। इस प्रकार पूरे १ महीने तक लगातार करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (ह पु/३४/६१) (व्रत-विधान संग्रह/पृ० ६८) (किशनचन्द्र क्रियाकोश)।

कवलाहार—१ कवलाहार निर्देश—दे० आहार/I/१।

२. केवलीको कवलाहारका निषेध—दे० केवली/४।

कवाटक— भरतक्षेत्र आर्यखण्डमें मलयगिरि पर्वतके निकट स्थित एक पर्वत—दे० मनुष्य/४।

कषाय—आत्माके भीतरी कलुष परिणामको कषाय कहते हैं। यद्यपि क्रोध मान माया लोभ ये चार ही कषाय प्रसिद्ध हैं पर इनके अतिरिक्त भी अनेको प्रकारकी कषायोका निर्देश आगममें मिलता है। हास्य रति अरति शोक भय ग्लानि व मैथुन भाव ये नोकषाय कही जाती हैं, क्योंकि कषायवत् व्यक्त नहीं होती। इन सबको ही राग व द्वेष में गर्भित किया जा सकता है। आत्माके स्वरूपका घात करनेके कारण कषाय ही हिंसा है। मिथ्यात्व सबसे बडी कषाय है।

एक दूसरी दृष्टिसे भी कषायोंका निर्देश मिलता है। वह चार प्रकार है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन—ये भेद विषयोंके प्रति आसक्तिकी अपेक्षा किये गये हैं और क्योंकि वह आसक्ति भी क्रोधादि द्वारा ही व्यक्त होती है इसलिए इन चारोंके क्रोधादिके भेदसे चार-चार भेद करके कुल १६ भेद कर दिये हैं। वहाँ क्रोधादिकी तीव्रता मन्दताके इनका सम्बन्ध नहीं है बल्कि आसक्तिकी हीनता अधिकतासे है। हो सकता है कि किसी व्यक्तिमें क्रोधादिकी तो मन्दता हो और आसक्तिकी तीव्रता। या क्रोधादिकी तीव्रता हो और आसक्तिकी मन्दता। अत क्रोधादिकी तीव्रता मन्दताको लेश्या द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और आसक्तिकी तीव्रता मन्दताको अनन्तानुबन्धी आदि द्वारा।

कषायें जीवका अहित करनेवाली हैं। कभी-कभी तीव्र कषायवश आत्माके प्रदेश शरीरसे निकलकर अपने बैरीका घात तक कर आते हैं, इसे कषाय समुद्घात कहते हैं।

१. कषायके भेद व लक्षण

१. कषाय सामान्यका लक्षण

पं. सं /प्रा /१/१०९ सुहदुक्खं बहुसस्सं कम्मक्खित्तं कसेइ जीवस्स। संसारगदी मेरं तेण कसाओ त्ति णं विंति।१०९।=जो क्रोधादिक जीवके सुख-दु:खरूप बहुत प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूप खेतको कर्षण करते है अर्थात् जोतते है, और जिनके लिए ससारकी चारो गतियाँ मर्यादा या मेंढ रूप है, इस लिए उन्हे कषाय कहते है। (ध. १/१,१,४/१४१/५) (ध ६/१,९-१,२३/४१/३) (ध. ७/२,१,३/७/१) (चा. सा /८९/१)।

स सि /६/४/३२०/६ कषाय इव कषाया'। क' उपमार्थ'। यथा कषायो नैयग्रोधादि' श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मन' कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते।=कषाय अर्थात् 'क्रोधादि' कषायके समान होनेसे कषाय कहलाते है। उपमारूप अर्थ क्या है? जिस प्रकार नैयग्रोध आदि कषाय श्लेषका कारण है उसी प्रकार आत्माका क्रोधादिरूप कषाय भी कर्मोंके श्लेषका कारण है। इसलिए कषायके समान यह कषाय है ऐसा कहते है।

रा. वा./ २/६/२/१०८/२८ कषायवेदनीयस्योदयादात्मनः कालुष्यं क्रोधादिरूपमुत्पद्यमान 'कषत्यात्मान हिनस्ति' इति कषाय इत्युच्यते। =कषायवेदनीय (कर्म) के उदयसे होनेवाली क्रोधादिरूप कलुषता कषाय कहलाती है, क्योकि यह आत्माके स्वाभाविक रूपको कष देती है अर्थात् उसकी हिसा करती है। (यो सा अ./९/४०) (पं. ध./उ /११३५)।

रा. वा./६/४/२/५०८/८ क्रोधादिपरिणाम कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः। =क्रोधादि परिणाम आत्माको कुगतिमे ले जानेके कारण कषते है; आत्माके स्वरूपको हिंसा करते है, अत. ये कषाय है (ऊपर भी रा. वा./२/६/२/१०८) (भ. आ / वि./२७/१०७/१६) (गो.क/जी. प्रा /३३/२८/१)।

रा वा./९/७/११/६०४/६ चारित्रपरिणामकषणात् कषाय'। =चारित्र परिणामको कषनेके कारण या घातनेके कारण कषाय है। (चा. सा /८८/६)।
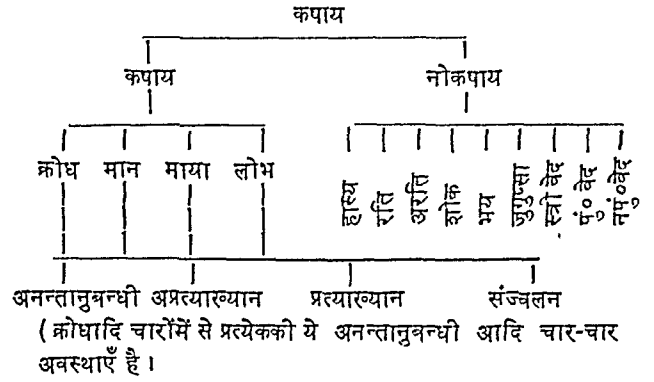
२. कषायके भेद प्रभेद

(क्रोधादि चारोंमें से प्रत्येकको ये अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार अवस्थाएँ है।

प्रमाण'—

१. कषाय व नोकषाय—(क पा १/१,१३-१४/§२८७/३२२/१)

२. कषायके क्रोधादि ४ भेद—(ष खं. १/१,१/सू १११/३४८) (बा. अ /४९) (रा. वा./९/७/११/६०४/७) (ध. ६/१,९-२,२३/४१/३) (द्र सं /टी/३०/८९/७)।

३ नोकषायके नौ भेद—(त सू /८/९) (स. सि./८/९/३८५/१२) (रा. वा /८/९/४/५७४/१६) (पं. ध /उ./१०७७)।

४. क्रोधादि के अनन्तानुबन्धी आदि १६ भेद—(स. सि./८/९/३८६/४) (स सि./८/१/३७४/८) (रा. वा. ८/९/५/५७४/२७) (न च. वृ /३०८)

५ कषायके कुल २५ भेद—(स. सि /८/१/३७५/११) (रा. वा /८/१/२९/५६४/२६) (ध. ८/३,६/२१/४) (क. पा /१/१.१३-१४/§२८७/३२२/१) (द्र स./टी/१३/३८/१) (द्र सं /टी./३०/८९/७)।

३. निक्षेपकी अपेक्षा कषायके भेद

(क पा १/१,१३-१४/§२३५-२७६/२८३-२८३)।
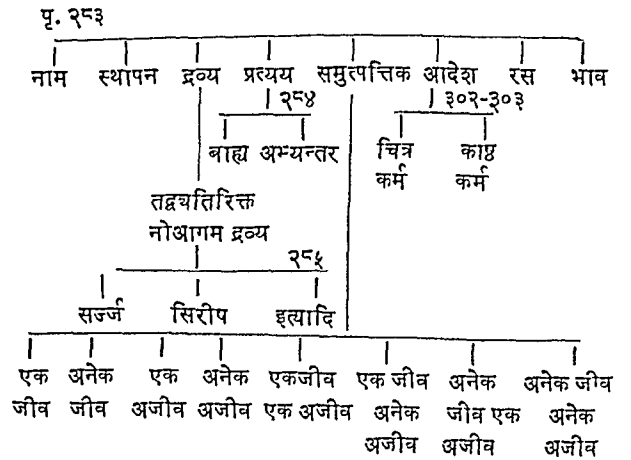
४. कषाय मार्गणाके भेद

ष खं १/१,१/सू १११/३४८ "कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि।"=कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और कषायरहित जीव होते है।

५. नोकषाय या अकषायका लक्षण

स. सि./८/९/३८५/११ ईषदर्थे नञः प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति। =यहाँ ईषत् अर्थात् किंचित अर्थमें 'नञ्' का प्रयोग होनेसे किंचिव कषायको अकषाय (या नोकषाय) कहते है। (रा. वा /८/९/३/५७४/१०) (ध. ६/१,९-१,२४/४६/१) (ध. १३/५,५,९४/३५९/६). (गो. क/जी. प्र./३३/२८/७)।

६. अकषाय मार्गणाका लक्षण

पं. सं / प्रा /१/११६ अप्पपरोभयबाहणबंधासंजमणिमित्तकोहाई। जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइ णो जीवा।११६। =जिनके अपने आपको, परको और उभयको बाधा देने, बन्ध करने और असंयमके आचरणमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नही है, तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मलसे रहित है ऐसे जीवोंको अकषाय जानना चाहिए। (ध. १/१,१,१११/ १७८/३५१) (गो जी./मू./२८९/६१७)।

७. तीव्र व मन्द कषायके लक्षण व उदाहरण

पा अ./मू./९१-९२ सव्वत्थ वि पिय वयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं। सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता।९१। अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं। वेरधरण च सुइर तिव्व कसायाण लिंगाणि।९२। =सभीसे प्रिय वचन बोलना, खोटे वचन बोलनेपर दुर्जनको भी क्षमा करना और सभीके गुणोंको ग्रहण करना, ये मन्दकषायी जीवोंके उदाहरण है।९१। अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषोंमें भी दोष निकालनेका स्वभाव होना और बहुत कालतक वैरका धारण करना, ये तीव्र कषायी जीवोंके चिन्ह है।९२।

८. आदेश व प्रत्यय आदि कषायोंके लक्षण

क पा १/१,१३-१४/प्रकरण /पृष्ठ/पंक्ति "सर्जो नाम वृक्षविशेष', तस्य कषाय' सर्जकषाय.। शिरीषस्य कषाय शिरीषकषायः। § २४२/२८५/६/ · पच्चयकसायो णाम कोहवेयणीयस्स कम्मस्स उदएण जीवो कोहो होदि तम्हा तं कम्मं पच्चयकसाएण कोहो। (चूर्णसूत्र पृ. २८७) / समुप्पत्तियकसायो णाम, कोहो सिया जीवो सिया णोजीवो एवमट्ठभंगा/ (चूर्ण सूत्र पृ. २९३)/ मणुसस्सपडुच्च कोहो समुप्पण्णो सो मणुस्सो कोहो। (चूर्ण सूत्र पृ २९५)/ कट्ठं वा लेड्डुं वा पडुच्च कोहो समुप्पण्णो तं कट्ठं वा लेड्डु वा कोहो। (चूर्णसूत्र पृ. २९८) एव माणमायालोभाणं/ (पृ. ३००)। आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो कोहो रुसिदो तिवलिदणिडालो भिउडि काऊण। (चूर्ण सूत्र/पृ ३०१)। एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसायो णाम। (चूर्णसूत्र/पृ० ३०३) =सर्ज साल नामके वृक्षविशेषको कहते है। उसके कसैले रसको सर्जकषाय कहते है। सिरीष नामके वृक्षके कसैले रसको सिरीषकषाय कहते है (§ २४२)। अब प्रत्ययकषायका स्वरूप कहते है—क्रोध वेदनीय कर्मके उदयसे जीव क्रोध रूप होता है, इसलिए प्रत्ययकर्मकी अपेक्षा वह क्रोधकर्म क्रोध कहलाता है (§२४३ का चूर्णसूत्र पृ २८७)। (इसी प्रकार मान माया व लोभका भी कथन करना चाहिए) (§ २४७ के चूर्णसूत्र पृ २८९)। समुत्पत्तिकी अपेक्षा कहींपर जीव क्रोधरूप है कहींपर अजीव क्रोधरूप है इस प्रकार आठ भग करने चाहिए। जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्तिक कषायकी अपेक्षा क्रोध है। जिस लकडी अथवा ईंट आदिके टुकडेके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है समुत्पत्तिक कषायको अपेक्षा व लकडी या ईंट आदिका टुकडा क्रोध है। (इसी प्रकार मान, माया, लोभ का भी कथन करना चाहिए)। (§ २५२-२६२ के चूर्ण सूत्र पृ. २९३-३००)। भौह चढ़ानेके कारण जिसके ललाटमें तीन बली पड गयी है चित्रमें अंकित ऐसा रुष्ट हुआ जीव आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध है। (इसी प्रकार चित्रलिखित अकड़ा हुआ पुरुष मान, ठगता हुआ मनुष्य माया तथा लम्पटताके भाव युक्त पुरुष लोभ है)। इस प्रकार काष्ठ कर्ममें या पोतकर्ममें लिखे गये (या उकेरे गये) क्रोध, मान, माया और लोभ आदेश कषाय है। (§२६३-२६८ के चूर्ण सूत्र पृ ३०१-३०३)

२. कषाय निर्देश व शंका समाधान

१. कषायोंका परस्पर सम्बन्ध

ध.१२/४,२,७,८६/५२/६ मायाए लोभपुरंगमत्तुवलंभादो।
ध.१२/४,२,७,८८/५२/११ कोधपुरंगमत्तदंसणादो।
ध १२/४,२,७,१००/५७/२ अरदीए विणा सोगाणुप्पत्तीए। =माया, लोभपूर्वक उपलब्ध है। वह (मान) क्रोधपूर्वक देखा जाता है। अरतिके बिना शोक नहीं उत्पन्न होता।

२. कषाय व नोकषायमें विशेषता

ध. ६/१,९-१,२४/४५/५ एत्थ णोसद्दो देसपडिसेहो घेत्तव्वो, अण्णहा एदेसिमकसायत्तप्पसंगादो। होदु चे ण, अकसायाणं चारित्तावरणविरोहा। ईषत्कषायो नोकषाय इति सिद्धम्। कसाएहिंतो णोकसायाणं कधं थोवत्तं। ट्ठिदीहिंतो अणुभागदो उदयदो य। उदयकालो णोकसायाणं कसाएहिंतो बहुओ उवलब्भदि त्ति णोकसाएहिंतो कसायाणं थोवत्तं किण्णेच्छदे। ण, उदयकालमहल्लत्तणेण चारित्तविणासिकसाएहिंतो तम्मलफलकम्माण महल्लत्ताणुववत्तीदो। =नोकषाय शब्दमें प्रयुक्त नो शब्द, एकदेशका प्रतिषेध करनेवाला ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा इन स्त्रीवेदादि नवों कषायोंके अकषायताका प्रसंग प्राप्त होता है। प्रश्न—होने दो, क्या हानि है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अकषायोंके चारित्रको आवरण करनेका विरोध करनेका विरोध है। इस प्रकार ईषत् कषायको नोकषाय कहते है, यह सिद्ध हुआ। प्रश्न—कषायोंसे नोकषायोंके अल्पपना कैसे है? उत्तर—स्थितियोंकी, अनुभागकी और उदयकी अपेक्षा कषायोंसे नोकषायोंके अल्पता पायी जाती है। प्रश्न—नोकषायोंका उदयकाल कषायोंकी अपेक्षा बहुत पाया जाता है, इसलिए नोकषायोंकी अपेक्षा कषायोंके अल्पपना क्यो नही मान लेते है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उदयकालकी अधिकता होनेसे, चारित्र विनाशक कषायोंकी अपेक्षा चारित्रमें मलको उत्पन्न करनेरूप फलवाले कर्मोंकी महत्ता नही बन सक्ती। (ध १३/५,५,९४/३५९/६)

३. कषाय जीवका गुण नही है, विकार है

ध.५/१,७,४४/२२३/५ कसाओ णाम जीवगुणो, ण तस्स विणासो अत्थि णाणदंसणाणमिव। विणासो वा जीवस्स विणासेण होदव्व, णाणदंसणविणासेणेव। तदो ण अकसायत्तं घडदे। इदि। होदु णाणदंसणाणं विणासम्हि जीव विणासो, तेसिं तल्लक्खणत्तादो। ण कसाओ जीवस्स लक्खणं, कम्मजणिदस्स लक्खणत्तविरोहा। ण कसायाण कम्मजणिदत्तमसिद्धं, कसायवड्ढीए जीवलक्खणणाणहाणिअण्णहाणुववत्तीदो तस्स कम्मजणिदत्तसिद्धीदो। ण च गुणो गुणंतरविरोहे अण्णत्थ तहाणुवलंभा। =प्रश्न—कषाय नाम जीवके गुणका है, इसलिए उसका विनाश नही हो सकता, जिस प्रकार कि ज्ञान और दर्शन, इन दोनों जीवके गुणोंका विनाश नही होता। यदि जीवके गुणोका विनाश माना जाये, तो ज्ञान और दर्शनके विनाशके समान जीवका भी विनाश हो जाना चाहिए। इसलिए सूत्रमें कही गयी अकषायता घटित नही होती? उत्तर—ज्ञान और दर्शनके विनाश होनेपर जीवका विनाश भले ही हो जावे, क्योंकि, वे जीवके लक्षण

है। किन्तु कषाय तो जीवका लक्षण नही है, क्योकि कर्म जनित कषायको जीवका लक्षण माननेमे विरोध आता है। और न कषायोका कर्मसे उत्पन्न होना असिद्ध है, क्योकि, कषायोकी वृद्धि होनेपर जीवके लक्षणभूत ज्ञानकी हानि अन्यथा बन नहीं सक्ती है। इसलिए कषायका कर्मसे उत्पन्न होना सिद्ध है। तथा गुण गुणान्तरका विरोधी नहीं होता, क्योकि, अन्यत्र वैसा देखा नही जाता।

४. जीवको या द्रव्यकर्म दोनोंको ही क्रोधादि संज्ञाएँ कैसे प्राप्त हो सकती हैं

क.पा १/१,१,१३-१४/§२४३-२४४/२८७-२८८/७§२४३ 'जीवो कोहो होदि' त्ति ण घडदे; दव्वस्स जीवस्स पज्जयसरुवकोहभावावत्तिविरोहादो. ण; पज्जएहितो पुधभूदजीवदव्वाणुवलंभादो । तेण 'जीवो कोहो होदि' त्ति घडदे। § २४४ दव्वकम्मस्स कोहणिमित्तस्स कथ कोहभावो। ण, कारणे कज्जुवयारेण तस्स कोहभावसिद्धीदो। =प्रश्न—'जीव क्रोधरूप होता है' यह कहना संगत नही है, क्योकि जीव द्रव्य है और क्रोध पर्याय है। अत जीवद्रव्यको क्रोध पर्यायरूप माननेमें विरोध आता है। उत्तर—नही, क्योकि जीव द्रव्य अपनी क्रोधादि पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न नही पाया जाता।—दे० द्रव्य/४। अत. जीव क्रोधरूप होता है यह कथन भी बन. जाता है। प्रश्न—द्रव्यकर्म क्रोधका निमित्त है अत वह क्रोधरूप कैसे हो सक्ता है? उत्तर—नही, क्योकि, कारणरूप द्रव्यमें कार्यरूप क्रोध भावका उपचार कर लेनेसे द्रव्यकर्ममें भी क्रोधभावकी सिद्धि हो जाती है, अर्थात् द्रव्यकर्मको भी क्रोध कह सक्ते हैं।

क.पा १/१,१३-१४/§२५०/२८२/६ ण च एत्थ दव्वकम्मस्स उवयारेण कसायत्त; उजुसुदे उवयाराभावादो। कथं पुण तस्स कसायत्तं। उच्चदे दव्वभावकम्माणि जेण जीवादो अपुधभूदाणि तेण दव्वकसायत्तं जुज्जदे। =यदि कहा जाय कि उदय द्रव्यकर्मका ही होता है अत ऋजुसूत्रनय उपचारसे द्रव्य कर्मको भी प्रत्ययकषाय मान लेगा, सो भी कहना ठीक नही है, क्योकि ऋजुसूत्रनयमें उपचार नहीं होता। प्रश्न—यदि ऐसा है तो द्रव्यकर्मको कषायपना कैसे प्राप्त हो सक्ता है? उत्तर—चूँकि द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनो जीवसे अभिन्न है इसलिए द्रव्यकर्ममें द्रव्यकषायपना बन जाता है।

५. निमित्तभूत भिन्न द्रव्योंको समुत्पत्तिक कषाय कैसे कह सकते हो

क पा १/१,१३-१४/§२५७/२६७/१ ज मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पणो सो तत्तो पुधभूदो संतो कथ कोहो। होत एसो दोसो जदि संगहादिणया अवलंबिदा, किंतु णइगमणओ जयिवसहाइरिएण जेणावलंबिदो तेण एस दोसो। तत्थ कथं ण दोसो। कारणम्मि णिलीणकज्जब्भुवगमादो। =प्रश्न—जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य उस क्रोधसे अलग होता हुआ भी क्रोध कैसे कहला सकता है? उत्तर—यदि यहाँपर संग्रह आदि नयोका अवलंबन लिया होता, तो ऐसा होता, किन्तु यतिवृषभाचार्यने यहाँपर नैगमनयका अवलम्बन लिया है, इसलिए यह कोई दोष नही है। प्रश्न—नैगमनयका अवलम्बन लेनेपर दोष कैसे नही है? उत्तर—क्योकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमे कार्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है (अर्थात् कारणमें कार्य निलीन रहते है ऐसा माना गया है)।

क पा.१/१,१३-१४/§२५६/२८८/६ वावारविरहिओ णोजीवो कोह ण उप्पादेदि त्ति णासंकणिज्ज विद्धपायकटए वि समुप्पज्जमाणकोहुवलभादो, संगयलग्गलेड्डुअखंड रोसेण दसंतमक्कडुवलभादो च। =प्रश्न—ताडन मारण आदि व्यापारसे रहित अजीव (काष्ठ ढेला आदि) क्रोधको उत्पन्न नही करते हैं (फिर वे क्रोध कैसे कहला सकते है)? उत्तर—ऐसी आशंका करना ठीक नही है; क्योंकि, जो काँटा पैरको बींध देता है उसके ऊपर भी क्रोध उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है। तथा बन्दरके शरीरमें जो पत्थर आदि लग जाता है, रोषके कारण वह उसे चबाता हुआ देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि अजीव भी क्रोधको उत्पन्न करता है।

क.पा.१/१,१३-१४/§ २६२/३००/११ "कध णोजीवे माणस्स समुप्पत्ती। ण; अप्पणो रूवजोव्वणगव्वेण वत्थालंकाराविसु समुव्वहमाणमाणत्थीपुरिसाणमुवलंभादो।" =प्रश्न—अजीवके निमित्तसे मानकी उत्पत्ति कैसे होती है? उत्तर—ऐसी आशंका करना ठीक नही है, क्योकि अपने रूप अथवा यौवनके गर्वसे वस्त्र और अलंकार आदिमें मानको धारण करनेवाले स्त्री और पुरुष पाये जाते हैं। इसलिए समुत्पत्तिक कषायकी अपेक्षा वे वस्त्र और अलंकार भी मान कहे जाते हैं।

६. कषायके अजीव द्रव्योंको कषाय कैसे कहा जा सकता है

क पा १/१,१३-१४/§२७०/३०६/२ दव्वस्स कथ कसायववएसो, ण, कसायवदिरित्तदव्वाणुलंभादो। अकसायं पि दव्वमत्थि त्ति चे, होदु णाम; किंतु 'अप्पियदव्वं ण कसायादो पुधभूदमत्थि' त्ति भणामो। तेण 'कसायरसं दव्वं दव्वाणि वा सिया कसाओ' त्ति सिद्धं। =प्रश्न—द्रव्यको (सिरीष आदिको) कषाय कैसे कहा जा सक्ता है? उत्तर—क्योकि कषाय रससे भिन्न द्रव्य नहीं पाया जाता है, इसलिए द्रव्यको कषाय कहनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है। प्रश्न—कषाय रससे रहित भी द्रव्य पाया जाता है ऐसी अवस्थामें द्रव्यको कषाय कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—कषायरससे रहित द्रव्य पाया जाओ, इसमें कोई आपत्ति नही है, किन्तु यहाँ जिस द्रव्यके विचारकी मुख्यता है वह कषायरससे भिन्न नही है, ऐसा हमारा कहना है। इसलिए जिसका या जिनका रस कसैला है उस द्रव्यको या उन द्रव्योको कथंचित् कषाय कहते है यह सिद्ध हुआ।

७. प्रत्यय व समुत्पत्तिक कषायमें अन्तर

क पा.१/१,१३-१४/§२४६/२८६/६ एसो पच्चयकसाओ समुप्पत्तियकसायादो अभिण्णो त्ति पुध ण वत्तव्वो। ण, जीवादो अभिण्णो होदूण जो कसाए समुप्पादेदि सो पच्चओ णाम भिण्णो होदूण जो समुप्पादेदि सो समुप्पत्तिओ त्ति दोण्ह भेदुवलंभादो। =प्रश्न—यह प्रत्ययकषाय समुत्पत्तिककषायसे अभिन्न है अर्थात ये दोनो कषाय एक है (क्योकि दोनो ही कषायके निमित्तभूत अन्य पदार्थोको उपचारसे कषाय कहते है) इसलिए इसका (प्रत्यय कषायका) पृथक् कथन नही करना चाहिए? उत्तर—नही, क्योंकि, जो जीवसे अभिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह प्रत्यय कषाय है और जो जीवसे भिन्न होकर कषायको उत्पन्न करता है वह समुत्पत्तिक कषाय है। अर्थात् क्रोधादि कर्म प्रत्यय कषाय है और उनके (बाह्य) सहकारीकारण (मनुष्य ढेला आदि) समुत्पत्तिककषाय हैं इस प्रकार इन दोनोंमे भेद पाया जाता है, इसलिए समुत्पत्तिक कषायका प्रत्ययकषायसे भिन्न कथन किया है।

८. आदेशकषाय व स्थापनाकषायमें अन्तर

क पा १/१,१३-१४/§२६४/३०१/६ आदेसकसाय-ट्ठवणकसायाण को भेओ। अत्थि भेओ, सब्भावट्ठवणा कषायपरूवणा कसायबुद्धी च आदेसकसाओ, कसायविसयसब्भावासब्भावट्ठवणा ट्ठवणकसाओ, तम्हा ण पुणरुत्तदोसो त्ति। =प्रश्न—(यदि चित्रमें लिखित या काष्ठादिमें

उकेरित क्रोधादि आदेश कषाय है) तो आदेशकषाय और स्थापना-कषायमे क्या भेद है ? उत्तर—आदेशकषाय और स्थापनाकषायमें भेद है, क्योंकि सद्भावस्थापना कषायका प्ररूपण करना और 'यह कषाय है' इस प्रकारकी बुद्धि होना, यह आदेशकषाय है। तथा कषायकी सद्भाव और असद्भावरूप स्थापना करना स्थापनाकषाय है। तथा इसलिए आदेशकषाय और स्थापनाकषायका अलग-अलग कथन करनेसे पुनरुक्त दोष नहीं आता है।

९. चारों गतियोंमें कषाय विशेषोंकी प्रधानताका नियम

गो.जी./मू./२८८/६१६ णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि। कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि।

गो जी /जी प्र /२८८/६१६/५ नारकतिर्यग्नरसुरगत्युत्पन्नजीवस्य तद्भव-प्रथमकाले-प्रथमसमये यथासंख्यं क्रोधमायामानलोभकषायाणामुदय स्यादिति नियमवचनं कषायप्राभृतद्वितीयसिद्धान्तव्याख्यातुर्यति-वृषभाचार्यस्य अभिप्रायमाश्रित्योक्तं। वा-अथवा महाकर्मप्रकृति-प्राभृतप्रथमसिद्धान्तकर्तुः भूतबल्याचार्यस्य अभिप्रायेणानियमो ज्ञातव्य.। प्रागुक्तनियम विना यथासंभव कषायोदयोऽस्तीत्यर्थ.। =नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवविषै उत्पन्न हुए जीवके प्रथम समय-विषै क्रमसे क्रोध, माया, मान व लोभका उदय हो है। सो ऐसा नियम कषायप्राभृत दूसरा सिद्धान्तके कर्ता यतिवृषभाचार्यके अभि-प्रायसे जानना। बहुरि महाकर्म प्रकृति प्राभृत प्रथमसिद्धान्तके कर्ता भूतबलि नामा आचार्य ताके अभिप्रायकरि पूर्वोक्त नहीं है। जिस तिस किसी एक कषायका भी उदय हो सकता है।

ध ४/१,५,२५०/४४५/५ णिरयगदीए •उप्पण्णजीवाणं पढमं कोधोदयस्सु-वलभा। • मणुसगदीए• माणोदय।…तिरिक्खगदीए • मायोदय। देवगदीए लोहोदओ होदि त्ति आइरियपरंपरागदुवदेसा। =नरक-गतिमें उत्पन्न जीवोंके प्रथमसमयमें क्रोधका उदय, मनुष्यगतिमें मानका, तिर्यंचगतिमें मायाका और देवगतिमें लोभके उदयका नियम है। ऐसा आचार्य परम्परागत उपदेश है।

३. कषायोंकी शक्तियाँ, उनका कार्य व स्थिति

१. कषायोंकी शक्तियोंके दृष्टान्त व उनका फल

प.सं /प्रा./१/१११-११४ सिलभेयपुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा। णिर-तिरि-णर-देवत्त उविंति जीवा हु कोहवसा।१११। सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाण वेत्तसमो। णिर-तिरि-णर-देवत्त उविंति जीवा हु माणवसा।११२। वसीमूलं मेसस्स सिंगगोमुत्तियं च खोरुप्पं। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु मायवसा।११३। किमिरायचक्कमलकद्दमो य तह चेय जाण हारिद्दं। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु लोहवसा।११४।

कषायकी अवस्था	शक्तियोंके दृष्टान्त				फल
	क्रोध	मान	माया	लोभ	
अनन्तानु० अप्रत्या० प्रत्याख्यान सज्वलन०	शिला रेखा पृथिवी रेखा धूलि रेखा जल रेखा	शैल अस्थि दारु या काष्ठ वेत्र (वेत)	वेणु मूल मेष शृ ग गोमूत्र खुरपा	किरमजीका रंग या दाग चक्र मल ,, कीचड ,, हल्दी ,,	नरक तिर्यंच मनुष्य देव

(ध १/१,१,१११/१७४-१७७/३५०), (रा वा /८/९/५/५७४/२९), (गो जी. /मू /२८४-२८७/६१०-६१४), (प स./स /१/२०८-२११)

२. उपरोक्त दृष्टान्त स्थितिकी अपेक्षा है अनुभागकी अपेक्षा नहीं

गो जी /जी.प्र./२८४-२८७/६१०-६१५ यथा शिलादिभेदानां चिरतरचिर-शीघ्रशीघ्रतरकालैर्विना संधानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोध-परिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसंधानार्हो न स्याद इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं संभवतीति तात्पर्यार्थ:।२८४। यथा हि चिरतरादिकालैर्विना शैलास्थिकाष्ठवेत्रा' नामयितुं न शक्यन्ते तथो-त्कृष्टादिशक्तिमानपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना मानं परि-हृत्य विनयरूपनमनं कर्तुं न शक्नोतीति सादृश्यसंभवोऽत्र ज्ञातव्यः।२८५। यथा वेणूपमूलादयः चिरतरादिकालैर्विना स्वस्ववक्रतां परि-हृत्य ऋजुत्वं न प्राप्नुवन्ति तथा जीवोऽपि उत्कृष्टादिशक्तियुक्त-मायाकषायपरिणत• तथाविधकालैर्विना स्वस्ववक्रतां परिहृत्य ऋजु-परिणामो न स्याद् इति सादृश्यं युक्तम्।२८६। —जैसे शिलादि पर उकेरी या खेंची गयी रेखाएँ अधिक देरसे, देरसे, जल्दी व बहुत जल्दी काल बीते बिना मिलती नहीं है, उसी प्रकार उत्कृष्टादि शक्तियुक्त क्रोधसे परिणत जीव भी उतने-उतने काल बीते बिना अनुसंधान या क्षमाको प्राप्त नहीं होता है। इसलिए यहाँ उपमान और उपमेयकी सदृशता सम्भव है।२८४। जैसे चिरतर आदि काल बीते बिना शैल, अस्थि, काष्ठ और वेत नमाये जाने शक्य नहीं हैं वैसे ही उत्कृष्टादि शक्तियुक्त मानसे परिणत जीव भी उतना उतना काल बीते बिना मानको छोड़कर विनय रूप नमना या प्रवर्तना शक्य नहीं है, अत' यहाँ भी उपमान व उपमेयमें सदृशता है।२८५। जैसे वेणुमूल आदि चिरतर आदि काल बीते बिना अपनी-अपनी वक्रता-को छोडकर ऋजुत्व नहीं प्राप्त करते हैं, वैसे ही उत्कृष्टादि शक्तियुक्त मायासे परिणत जीव भी उतना-उतना काल बीते बिना अपनी-अपनी वक्रताको छोडकर ऋजु या सरल परिणामको प्राप्त नहीं होते, अत' यहाँ भी उपमान व उपमेयमें सदृशता है। (जैसे क्रमिराग आदिके रंग चिरतर आदि काल बीते बिना छूटते नहीं हैं, वैसे ही उत्कृष्टादि शक्तियुक्त लोभसे परिणत जीव भी उतना-उतना काल बीते बिना लोभ परिणामको छोडकर सन्तोषको प्राप्त नहीं होता है, इसलिए यहाँ भी उपमान व उपमेयमें सदृशता है। बहुरि इहाँ शिलाभेदादि उपमान और उत्कृष्ट शक्तियुक्त आदि क्रोधादिक उप-मेय ताका समानपना अतिघना कालादि गये बिना मिलना न होने-की अपेक्षा जानना (पृ.६११)।

३ उपरोक्त दृष्टान्तोंका प्रयोजन

गो जी /जी प्र /२९१/६१९/९ इति शिलाभेदादिदृष्टान्ता स्फुटं व्यवहाराव-धारणेन भवन्ति। परमागमव्यवहारिभिराचार्यैः अव्युत्पन्नमन्दप्रज्ञ-शिष्यप्रतिबोधनार्थं व्यवहर्तव्यानि भवन्ति। दृष्टान्तप्रदर्शनबलेनैव हि अव्युत्पन्नमन्दप्रज्ञा शिष्या' प्रतिबोधयितुं शक्यन्ते। अतो दृष्टान्त-नामान्येव शिलाभेदादिशक्तीनां नामानीति रूढानि। =ए शिलादि-के भेदरूप दृष्टान्त प्रगट व्यवहारका अवधारणकरि है, और परमा-गमका व्यवहारी आचार्यनिकरि मन्दबुद्धि शिष्यको समझावनेके अर्थि व्यवहार रूप कीएँ हे, जातैं दृष्टान्तके बलकरि ही मन्दबुद्धि समझै है, तातैं दृष्टान्तकी मुख्यताकरि जे दृष्टान्तके नाम प्रसिद्ध कीए है।

४. क्रोधादि कषायोंका उदयकाल

ध.४/१,५,२५४/४४७/३ कसायाणामुदयस्स अन्तोमुहुत्तादो उवरि णिच्च-एण विणासो होदि त्ति गुरूवदेसा। =कषायोंके उदयका, अन्त-र्मुहूर्तकालसे ऊपर, निश्चयसे विनाश होता है, इस प्रकार गुरुका उप-देश है। (और भी देखो काल/५)

५. कषायोंकी तीव्रता मन्दताका सम्बन्ध लेश्याओंसे है अनन्तानुबन्धी आदि अवस्थाओंसे नहीं

ध /१/१, १, १३६/३८८।३ षड्विधः कषायोदयः। तद्यथा तीव्रतम', तीव्रतर', तीव्रः, मन्द', मन्दतर', मन्दतम इति। एतेभ्य' षड्भ्यः कषायोदयेभ्य' परिपाट्या षट्लेश्या भवन्ति। =कषायका उदय छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकारके कषायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटीक्रमसे लेश्या भी छह हो जाती है।

यो. मा. प्र./२/५७/२० अनादि संसार-अवस्थाविषै इनि च्यारयूं ही कषायनिका निरन्तर उदय पाइये है। परमकृष्णलेश्यारूप तीव्र कषाय होय तहाँ भी अर परम शुक्ललेश्यारूप मन्दकषाय होय तहाँ भी निरन्तर च्यारयौ होका उदय रहै है। जातै तीव्र मन्दकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी आदि भेद नही है, सम्यक्त्वादि घातनेकी अपेक्षा ये भेद है। इनिही (क्रोधादिक) प्रकृतिनिका तीव्र अनुभाग उदय होतै तीव्र क्रोधादिक हो है और मन्द अनुभाग उदय होतै मन्द क्रोधादिक हो है।

४. कषायोंका रागद्वेषादिमें अन्तर्भाव

१. नयोंकी अपेक्षा अन्तर्भाव निर्देश

क. पा./१/१, २१/चूर्ण सूत्र व टीका/§३३५-३४१। ३६५-३६६—

कषाय	नय				
	नैगम	संग्रह	व्यवहार	ऋजु सू	शब्द
क्रोध	द्वेष	द्वेष	द्वेष	द्वेष	द्वेष
मान	,,	,,	,,		,,
माया	राग	राग	,,		,,
लोभ	,,	,,	राग	राग	द्वेष व कथंचित् राग
हास्य-रति	,,	,,	द्वेष		
अरति-शोक	द्वेष	द्वेष	,,		
भय-जुगुप्सा	,,	,,	,,		
स्त्री-पुं वेद	राग	राग	राग		
नपुंसक वेद	,,	,,	द्वेष		

(ध १२/४, २, ८, ८/२८३/८) (स सा./ता. वृ. २८१/३६१) (पं का./ता.वृ./१४८/२१४) (द्र.सं./टी /४८/२०५/६)

१. नैगम व संग्रह नयोंकी अपेक्षामें युक्ति

क पा /१/चूर्णसूत्र व टी /१-२१/§३३५-३३६/३६५ णेगमसंगहाणं कोहो दोसो, माणो दोसो, माया पेज्ज, लोहो पेज्जं। (चूर्णसूत्र)। • • कोहो दोसो; अङ्गसन्तापकम्प • • पितृमात्रादिप्राणिमारणहेतुत्वात्, सकलानर्थनिबन्धनत्वात्। माणो दोसो क्रोधपृष्ठभावित्वात्, क्रोधोक्ताशेषदोषनिबन्धनत्वात्। माया पेज्ज प्रेयोवस्त्वालम्बनत्वात्, स्वनिष्पत्त्युत्तरकाले मनस' सन्तोषोत्पादकत्वात्। लोहो पेज्ज आह्लादनहेतुत्वात् (§३३५)। क्रोध-मान-माया-लोभा' दोष' आस्रवत्वादिति चेत्; सत्यमेतत्; किन्त्वत्र आह्लादनानाह्लादनहेतुमात्र विवक्षितं तेन नाय दोष'। प्रेयसि प्रविष्टदोषत्वाद्वा माया-लोभौ प्रेयान्सौ। अरइ-सोय-भय-दुगुंछाओ दोसो, कोहोव्व असुहकारणत्तादो। हस्स-रइ-इत्थि-पुरिस-णवुंसयसेया पेज्ज, लोहो व्व रायकारणत्तादो (§३३६)। =नैगम और सग्रहनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया पेज्ज है और लोभ पेज्ज है। (सूत्र) क्रोध दोष है; क्योंकि क्रोधके करने से शरीरमे सन्ताप होता है, शरीर काँपने लगता है• • • आदि • • माता-पिता तकको मार डालता है और क्रोध सकल अनर्थोंका कारण है। मान दोष है; क्योंकि वह क्रोधके अनन्तर उत्पन्न होता है और क्रोधके विषयमें कहे गये समस्त दोषोंका कारण है। माया पेज्ज है; क्योंकि, उसका आलम्बन प्रिय वस्तु है, तथा अपनी निष्पत्तिके अनन्तर सन्तोष उत्पन्न करती है। लोभ पेज्ज है; क्योंकि वह प्रसन्नताका कारण है। प्रश्न—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो दोष है, क्योंकि वे स्वयं आस्रव रूप है या आस्रवके कारण है? उत्तर—यह कहना ठीक है, किन्तु यहाँ पर, कौन कषाय आनन्दकी कारण है और कौन आनन्दकी कारण नही है इतने मात्रकी विवक्षा है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। अथवा प्रेममें दोषपना पाया ही जाता है अत माया और लोभ प्रेम अर्थात् पेज्ज है। अरति, शोक, भय और जुगुप्सा दोष रूप है, क्योंकि ये सब क्रोधके समान अशुभके कारण है। हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद पेज्जरूप है, क्योंकि ये सब लोभके समान रागके कारण है।

२. व्यवहारनयकी अपेक्षामें युक्ति

क. पा./१/चूर्णसूत्र व टो./१-२१/§ ३३७-३३८/३६७ ववहारणयस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो पेज्जं (सू.) क्रोध-मानौ दोष इति न्याय्यं तत्र लोके दोषव्यवहारदर्शनात्, न माया तत्र तद्व्यवहारानुपलम्भादिति, न, मायायामपि अप्रत्ययहेतुत्व-लोकगर्हितत्वयोरुपलम्भात्। न च लोकनिन्दितं प्रिय भवति; सर्वदा निन्दातो दुःखोत्पत्तेः (३३८)। लोहो पेज्ज लोभेन रक्षितद्रव्यस्य सुखेन जीवनोपलम्भात्। इत्थिपुरिसवेया पेज्ज सेसणोकसाया दोसो; तहा लोए सववहारदंसणादो। =व्यवहारनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ पेज्ज है। (सूत्र)। प्रश्न—क्रोध और मान द्वेष है यह कहना तो युक्त है, क्योंकि लोकमें क्रोध और मानमें दोषका व्यवहार देखा जाता है। परन्तु मायाको दोष कहना ठीक नही है, क्योंकि मायामें दोषका व्यवहार नही देखा जाता? उत्तर—नही, क्योंकि, मायामे भी अविश्वासका कारणपना और लोकनिन्दितपना देखा जाता है और जो वस्तु लोकनिन्दित होती है वह प्रिय नहीं हो सकती है, क्योंकि, निन्दासे हमेशा दुःख उत्पन्न होता है। लोभ पेज्ज है, क्योंकि लोभके द्वारा बचाये हुए द्रव्यसे जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता हुआ पाया जाता है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद पेज्ज है और शेष नोकषाय दोष है क्योंकि लोकमें इनके बारेमें इसी प्रकारका व्यवहार देखा जाता है।

४. ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षामें युक्ति

क पा. १/१-२१/चूर्णसूत्र व टी /§ ३३९-३४०/३६८ उजुसुदस्स कोहो दोसो, माणो णोदोसो णोपेज्जं, माया णोदोसो णोपेज्जं, लोहो पेज्ज (चूर्णसूत्र)। कोहो दोसो त्ति णव्वदे, सयलाणत्थहेउत्तादो। लोहो पेज्ज त्ति एदं पि सुगमं, तत्तो.. • किंतु माण-मायाओ णोदोसो णोपेज्ज त्ति एद ण णव्वदे पेज्ज-दोसवज्जियस्स कसायस्स अणुवलभादो त्ति (३३९)। एत्थ परिहारो उच्चदे, माण-माया णोदोसो; अगसंतावाईणमकारणत्तादो। तत्तो समुप्पज्जमाण-अगसंतावादओ दीसंति त्ति ण पच्चवट्ठादु जुत्तं; माणणिबंधणकोहादो मायाणिबंधणलोहादो च समुप्पज्जमाणाण तेसिमुवलंभादो। • ण च वे वि पेज्ज, तत्तो समुप्पज्जमाणआह्लादाणुवलंभादो। तम्हा माण-माया वे वि णोदोसो णोपेज्जं ति जुज्जदे

(३४०)। =ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान न दोष है और न पेज्ज है, माया न दोष है और न पेज्ज है; तथा लोभ पेज्ज है। (सूत्र)। प्रश्न—क्रोध दोष है यह तो समझमें आता है, क्योंकि वह समस्त अनर्थोंका कारण है। लोभ पेज्ज है यह भी सरल है।... किन्तु मान और माया न दोष है और न पेज्ज है, यह कहना नहीं बनता, क्योंकि पेज्ज और दोषसे भिन्न कषाय नहीं पायी जाती है? उत्तर—ऋजुसूत्रकी अपेक्षा मान और माया दोष नहीं है, क्योंकि ये दोनों अंग संतापादिके कारण नहीं है (अर्थात् इनकी अभेद प्रवृत्ति नहीं है)। यदि कहा जाय कि मान और मायासे अंग संताप आदि उत्पन्न होते हुए देखे जाते है; सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ जो अंग संताप आदि देखे जाते है, वे मान और मायासे न होकर मानसे होनेवाले क्रोधसे और मायासे होनेवाले लोभसे ही सीधे उत्पन्न होते हुए पाये जाते है। .. उसी प्रकार मान और माया ये दोनो पेज्ज भी नहीं है, क्योंकि उनसे आनन्दकी उत्पत्ति होती हुई नहीं पायी जाती है। इसलिए मान और माया ये दोनो न दोष है और न पेज्ज है, यह कथन बन जाता है।

५. शब्दनयकी अपेक्षामें युक्ति

क. पा. १/१-२१/चूर्णसूत्र व टी /§ ३४१-३४२/३६६ सद्दस्स कोहो दोसो, माणो दोसो, माया दोसो, लोहो दोसो। कोहो माणो माया णोपेज्जं, लोहो सिया पेज्जं (चूर्णसूत्र)। कोह-माण-माया-लोहा-चत्तारि वि दोसो, अट्ठकम्मसवत्तादो, इहपरलोयविसेसदोसकारणत्तादो (§ ३४१)। कोहो माणो-माया णोपेज्ज, एदेहिंतो जीवस्स संतोस-परमाणंदाणमभावादो। लोहो सिया पेज्ज, तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो। अवसेसवत्थुविसयलोहो णोपेज्जं; तत्तो पावुप्पत्तिदंसणादो। ण च धम्मो ण पेज्ज, सयलसुह-दुक्खकारणाणं धम्माधम्माणं पेज्जदोसत्ताभावे तेसिं दोण्ह पि अभावप्पसंगादो।= शब्द नयकी अपेक्षा क्रोध दोष है, मान दोष है, माया दोष है और लोभ दोष है। क्रोध, मान और माया पेज्ज नहीं है किन्तु लोभ कथंचित् पेज्ज है। (सूत्र)। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो दोष है क्योंकि, ये आठो कर्मोंके आस्रवके कारण है, तथा इस लोक और पर लोकमें विशेष दोषके कारण है। क्रोध, मान और माया ये तीनों पेज्ज नहीं है, क्योंकि, इनसे जीवको सन्तोष और परमानन्दकी प्राप्ति नहीं होती है। लोभ कथंचित् पेज्ज है; क्योंकि रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है। तथा शेष पदार्थ विषयक लोभ पेज्ज नहीं है, क्योंकि, उससे पापकी उत्पत्ति देखी जाती है। यदि कहा जाये कि धर्म भी पेज्ज नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सुख और दुखके कारणभूत धर्म और अधर्मको पेज्ज और दोषरूप नहीं माननेपर धर्म और अधर्मके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है।

५. कषाय मार्गणा

१. गतियोंकी अपेक्षा कषायोंकी प्रधानता

गो जी./मू./२८८/६१६ णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि। कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ॥ २८८ ॥

गो जी./जी. प्र./२८८/६१६/६ नियमवचनं यतिवृषभाचार्यस्य अभिप्रायमाश्रित्योक्तं। भूतबल्याचार्यस्य अभिप्रायेणाऽनियमो ज्ञातव्यः। =नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव विषै उत्पन्न भया जीवकै पहिला समय विषै क्रमतै क्रोध, माया, मान व लोभका उदय हो है। नारकी उपजै तहाँ उपजते ही पहिले समय क्रोध कषायका उदय हो है। ऐसे तिर्यंचके मायाका, मनुष्यके मानका और देवके लोभका उदय जानना। सो ऐसा नियम कषाय प्राभृत द्वितीय सिद्धान्तका कर्ता यतिवृषभाचार्य ताके अभिप्राय करि जानना। बहुरि महाकर्मप्रकृति प्राभृत प्रथम सिद्धान्तका कर्ता भूतबलि नामा आचार्य ताके अभिप्रायकरि पूर्वोक्त नियम नाहीं। जिस-तिस कोई एक कषायका उदय हो है।

२. गुणस्थानोंमें कषायोंकी सम्भावना

ष. खं /१/१, १/सू ११२-११४/३५१-३५२ कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति।११२। लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय सुद्धि संजदा त्ति।११३। अकसाई चदुसुट्ठाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छदुमत्था खीणकसायवीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति। ११४।= एकेन्द्रियसे लेकर (अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक क्रोधकषायी, मानकषायी, और मायाकषायी जीव होते है।११२। लोभ कषायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्म साम्परायशुद्धिसंयत गुणस्थान तक होते है।११३। कषाय रहित जीव उपशान्तकषाय-वीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते है।११४।

३. अप्रमत्त गुणस्थानोंमें कषायोंका अस्तित्व कैसे सिद्ध हो

ध. १/१,१,११२/३५१/७ यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेत्, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात्।=प्रश्न—अपूर्वकरण आदि गुणस्थान वाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहाँपर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है।

४. उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्तीको अकषाय कैसे-कैसे कह सकते हो?

ध १/१,१,११४/३५२/६ उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत्, कथं च न भवति। द्रव्यकषायस्यानन्तस्य सत्त्वात्। न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः।=प्रश्न—उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा? प्रश्न=वह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है? प्रतिप्रश्न—वहाँ अनन्त द्रव्य कषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह सकते है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे रहितपना बन जाता है।

६. कषाय समुद्घात

१. कषाय समुद्घातका लक्षण

रा वा /१/२०/१२/७७/१४ द्वितयप्रत्ययप्रकर्षोत्पादितक्रोधादिकृत कषायसमुद्घातः। =बाह्य और आभ्यन्तर दोनो निमित्तोंके प्रकर्षसे उत्पादित जो क्रोधादि कषायें, उनके द्वारा किया गया कषाय समुद्घात है।

ध. ४/१,३,२/२६/८ "कसायसमुग्घादो णाम कोधभयादीहि सरीरतिगुणविप्फुज्जणं।" =क्रोध भय आदिके द्वारा जीवोंके प्रदेशोंका उत्कृष्टतः शरीरसे तिगुणे प्रमाण विसर्पणका नाम कषाय समुद्घात है।

ध ७/२,६,१/२६६/८ कसायतिव्वदाए सरीरादो जीवपदेसाणं तिगुणविप्पुज्जणं कसाय समुग्घादो णाम।=कषायकी तीव्रतासे जीवप्रदेशोंका अपने शरीरसे तिगुने प्रमाण फैलनेको कषाय समुद्घात कहते है।

का. अ./टी/१७६/११५/१६ तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमन संग्रामे सुभटानां रक्तलोचनादिभिः प्रत्यक्षदृश्यमानमिति कषायसमुद्घातः। =तीव्र कषायके उदयसे मूल-शरीरको न छोडकर परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिए आत्म-प्रदेशोंके बाहर निकलनेको कषाय-समुद्घात कहते हैं। संग्राममें योद्धा लोग क्रोधमें आकर लाल लाल आँखें करके अपने शत्रुको ताकते हैं' यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। यही कषायसमुद्घातका रूप है।

कषाय पाहुड—*यह ग्रन्थ मूल सिद्धान्त ग्रन्थ है जिसे आ० गणधर* (ई० ५७-१५६) ने ज्ञान विच्छेदके भयसे पहले केवल १८० गाथाओंमें निबद्ध किया था। आचार्य परम्परासे उसके ज्ञानको प्राप्त करके आचार्य आर्यमंक्षु व नागहस्तिने (ई० ४४५-५६०) पीछे इसे २१५ गाथा प्रमाण कर दिया। उनके सान्निध्यमें ही ज्ञान प्राप्त करके यतिवृषभाचार्यने (ई० ५४०-६०९) में इसको १५ अधिकारोंमे विभाजित करके इसपर ७००० चूर्णसूत्रोंकी रचना की। इन्हीं चूर्णसूत्रोंके आधारपर उच्चारणाचार्यने विस्तृत उच्चारणा लिखी। इसी उच्चारणाके आधारपर आ० बप्पदेवने (ई० ७६७-७६८) में एक और भी संक्षिप्त उच्चारणा लिखी। इन्ही आचार्य बप्पदेवसे सिद्धान्तज्ञान प्राप्त करके पीछे (ई० ७६२-८२३) में आ० वीरसेन स्वामीने इसपर २०,००० श्लोक प्रमाण जयधवला नामकी अधूरी टीका लिखी, जिसे उनके पश्चात् उनके शिष्य श्री जिनसेनाचार्यने (ई० ८००-८४३) में ४०,००० श्लोक प्रमाण और भी रचना करके पूरी की। इस ग्रन्थपर उपरोक्त प्रकार अनेको टीकाएँ लिखी गयीं। आचार्य नागहस्ती द्वारा रची गयी ३५ गाथाओके सम्बन्धमें आचार्योंका कुछ मतभेद है। यथा—

२. ३५ गाथाओंके रचयिता सम्बन्धी दृष्टि भेद

क. पा १/१,१३/§१४७-१४८/१८३/२ सकमम्मि वुत्तपणतीसवित्ति-गाहाओ बंधगत्थाहियारपडिबद्धाओ त्ति असीदिसदगाहासु पवेसिय किण्ण पइज्जा कदा। वुच्चदे, एदाओ पणतीसगाहाओ तीहि गाहाहि परूविदपत्थसु अत्थाहियारेसु तत्थ बधगोत्थि अत्थाहियारे पडिबद्धाओ। अहवा अत्थावत्तिलब्भाओ त्ति ण तत्थ एदाओ पवेसिय वुत्ताओ। असीदि-सदगाहाओ मोत्तूण अवसेससंबधद्धापरिमाणणिद्देस-सकमणगाहाओ जेण णागहत्थि आइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थि आइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणंति, तण्ण घडदे; सबंधगाहाहि अद्धापरिमाण-णिद्देसगाहाहि सकमगाहाहि य विणा असीदिसदगाहाओ चेव भणंतस्स गुणहरभडारयस्स अयाणत्तप्पसंगादो। तम्हा पुव्वुत्थो चेव घेत्तव्वो। =प्रश्न—संक्रमणमें कही गयीं पैंतीस वृत्तिगाथाएँ बन्धक नामक अधिकारसे प्रतिबद्ध हैं, इसलिए इन्हें १८० गाथाओंमें सम्मिलित करके प्रतिज्ञा क्यों नहीं की? अर्थात् १८० के स्थानपर २१५ गाथाओंकी प्रतिज्ञा क्यो नही की? उत्तर—ये पैंतीस गाथाएँ तीन गाथाओंके द्वारा प्ररूपित किये गये पाँच अर्थाधिकारोंमें से बन्धक नामके ही अर्थाधिकार में प्रतिबद्ध हैं, इसलिए इन ३५ गाथाओको १८० गाथाओंमें सम्मिलित नहीं किया, क्योंकि तीन गाथाओंके द्वारा प्ररूपित अर्थाधिकारोंमें से एक अर्थाधिकारमें ही वे ३५ गाथाएँ प्रतिबद्ध हैं। अथवा यह बात अर्थापत्तिसे ज्ञात हो जाती है कि ये ३५ गाथाएँ बन्धक अधिकारमें प्रतिबद्ध हैं।

'चूँकि १८० गाथाओंको छोडकर सम्बन्ध अद्धापरिमाण और संक्रमणका निर्देश करनेवाली शेष गाथाएँ नागहस्ति आचार्यने रची हैं, इसलिए 'गाहासदे असीदे' ऐसा कहकर नागहस्ति आचार्यने १८० गाथाओंकी प्रतिज्ञा की है, ऐसा कुछ व्याख्यानाचार्य कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि सम्बन्ध गाथाओं, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली गाथाओं और संक्रम गाथाओंके बिना १८० गाथाएँ ही गुणधर भट्टारकने कही हैं। यदि ऐसा माना जाय तो गुणधर भट्टारकको अज्ञपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिए पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए।

कहाण छप्पय—आ. विनयचन्द्र (ई० श० १३) की एक प्राकृत छन्दबद्ध रचना।

कांक्षा—दे० निकांक्षित।

कांचनकूट—१ रुचक पर्वतका एक कूट—दे० लोक/७। २. मेरु पर्वत के सौमनस वनमें स्थित एक कूट—दे० लोक/७। ३ शिखरी पर्वतका एक कूट—दे० लोक/७।

कांचन गिरि—विदेहके उत्तरकुरु व देवकुरुमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर पचास-पचास अथवा नदीके भीतर स्थित दस-दस द्रहोंके दोनों ओर पाँच-पाँच करके, कंचन वर्णवाले कूटाकार सौ-सौ पर्वत हैं। अर्थात् देवकुरु व उत्तरकुरुमें पृथक्-पृथक् सौ-सौ हैं।—दे० लोक/३/७।

कांचन देव—शिखरी पर्वतके कांचनकूटका रक्षक देव। दे० लोक/७।

कांचन द्वीप—मध्यलोकके अन्तमें नवमद्वीप—दे० लोक/५।

कांचनपुर—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २ कलिंग देशका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

कांचन सागर—मध्य लोकका नवम सागर—दे० लोक/५।

कांचीपुर—वर्तमान कांजीवरम् (यु० अनु०/प्र. ३६/पं. जुगल-किशोर)।

कांजी-आहार—केवल भात व जल मिलाकर पीना, अथवा केवल चावलोंकी माड पीना। (व्रत विधान संग्रह/पृ २६)।

कांजी बारस व्रत—प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. १२ को उपवास करना। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

कांडक—१. काण्डक काण्डकायाम व फालिके लक्षण

क. पा. ५/४,२२/§५७१/३३४/४ "किं कंडयं णाम। सूचिअंगुलस्स असंखे० भागो। तस्स को पडिभागो। तप्पाओग्गअसंखेज्जाणि।" =प्रश्न—काण्डक किसे कहते हैं? उत्तर—सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागको काण्डक कहते हैं। प्रश्न—उसका प्रतिभाग क्या है? उत्तर—उसके योग्य असंख्यात उसका प्रतिभाग है। (तात्पर्य यह कि अनु-भाग वृद्धियोंमें अनन्त भाग वृद्धिके इतने स्थान ऊपर जाकर असं-ख्यात भाग वृद्धि होने लग जाती है।)

ल. सा./भाषा/८१/११६/१५ इहाँ (अनुभाग काण्डकघातके प्रकरणमें) समय समय प्रति जो द्रव्य ग्रह्या ताका तो नाम फालि है। ऐसे अन्त-र्मुहूर्तकरि जो कार्य कीया ताका नाम काण्डक है। तिस काण्डक करि जिन स्पर्धकनिका अभाव कीया सो काण्डकायाम है। (अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत जितनी फालियोंका घात किया उनका समूह एक काण्डक कहलाता है। इसी प्रकार दूसरे अन्तर्मुहूर्तमें जितनी फालि-योंका घात कीया उनका समूह द्वितीय काण्डक कहलाता है। इस प्रकार आगे भी, घात क्रमके अन्त पर्यन्त तीसरा आदि काण्डक जानने।)

ल. सा./भाषा/१३३/१८३/८ स्थितिकाण्डकायाम मात्र निषेकनिका जो द्रव्य ताको काण्डक द्रव्य कहिये, ताकौं इहाँ अध प्रवृत्त (संक्रमण-के भागाहार) का भाग दिये जो प्रमाण आया ताका नाम फालि है (विशेष देखो अपकर्षण/३/१)

२. काण्डकोत्करण काल

ल.सा./जी.प्र./७९/११४ एकस्थितिखण्डोत्करणस्थितिबन्धापसरणकालस्य संख्यातैकभागमात्रोऽनुभागखण्डोत्करणकाल इत्यर्थः। अनेनानुभागकाण्डकोत्करणकालप्रमाणमुक्तम्। =जाकरि एक बार स्थिति घटाइये सो स्थिति काण्डकोत्करणकाल अर जाकरि एक बार स्थिति बन्ध घटाइये सो स्थिति बन्धापसरण काल ए दोऊ समान हैं, अन्तर्मुहूर्त मात्र है। बहुरि तिस एक विषै जाकरि अनुभाग सत्त्व घटाइये ऐसा अनुभाग खण्डोत्करण काल संख्यात हजार हो है, जातैं तिसकानैं अनुभाग खण्डोत्करणका यहु काल संख्यातवें भागमात्र है।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

* **निर्वर्गणा काण्डक**—दे० करण/४।
* **आबाधा काण्डक**—दे० आबाधा।
* **स्थिति व अनुभाग काण्डक**—दे० अपकर्षण/४।
* **क्रोध, मान आदिके काण्डक**

क्ष.सा./भाषा/४७४/५५९/१९ क्रोधद्विक अवशेष कहिए क्रोधके स्पर्धकनिका प्रमाणकौ मानके स्पर्धकनिका प्रमाणविषै घटाएँ जो अवशेष रहै ताका भाग क्रोधकै स्पर्धकनिका प्रमाणकौ दीए जो प्रमाण आवै ताका नाम क्रोध काण्डक है। बहुरि मानत्रिक विषै एक एक अधिक है। सो क्रोध काण्डकतै एक अधिकका नाम मान काण्डक है। यातै एक अधिकका नाम माया काण्डक है। यातै एक अधिकका नाम लोभ काण्डक है। अंकसंदृष्टिकरि जैसे क्रोधके स्पर्धक १८, ते मानके २१ स्पर्धकनि विषै घटाएँ अवशेष ३, ताका भाग क्रोधके १८ स्पर्धकनिकौ दीएँ क्रोध कांडकका प्रमाण छह। यातैं एक एक अधिक मान, माया, लोभके काण्डकनिका प्रमाण क्रमतै ७, ८, ९ रूप जानने।

कांबोज—१. भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। २. वर्तमान बलोचिस्तान (म. पु./प्र.५०/पं. पन्नालाल)

काकतालीय न्याय—

द्र.स./टी/३५/१४४/१ परं परं दुर्लभेपु कथंचित्काकतालीयन्यायेन लब्धेष्वपि परमसमाधिर्दुर्लभः। =एकेन्द्रियादिसे लेकर अधिक अधिक दुर्लभ बातोको काकताली न्यायसे अर्थात् बिना पुरुषार्थके स्वतः ही प्राप्त कर भी ले तौ भी परम समाधि अत्यन्त दुर्लभ है।

मो.मा.प्र./३/८०/१५ बहुरि काकतालीय न्यायकरि भवितव्य ऐसा ही होय और तातै कार्यकी सिद्धि भी हो जाय।

काकावलोकन—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

काकिणी—चक्रवर्तीके चौदह रत्नोमें-से एक—दे० शलाका पुरुष/२।

काकुस्थ चारित्र—आ. वादिराज (ई. १०००-१०४०) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ।

काक्षी—भरतक्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कागंधुनी—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

काणोविद्ध—एक क्रियावादी।

काण्ह—महायान सम्प्रदायका एक गूढवादी बौद्ध समय—डॉ० शाही दुल्लाके अनुसार ई ७००; और डॉ० एस. के. चटर्जीके अनुसार ई. श. १२ का अन्त। (प.प्र./प्र १०३/A.N up.)

कानन—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

कान्यकुब्ज—कुरुक्षेत्र देशमें स्थित वर्तमान कन्नौज—(म.पु./प्र.४९/पं. पन्नालाल)

कापिष्ठ—आठवाँ कल्पस्वर्ग—दे० स्वर्ग/१।

कापोत—अशुभलेश्या—दे० लेश्या।

काम—१. काम व काम तत्त्वके लक्षण

न्या.द./४-१/३ में न्यायवार्तिकसे उद्धृत/पृ २३० कामः स्त्रीगतोऽभिलाषः। =स्त्री-पुरुषके परस्पर संयोगकी अभिलाषा काम है।

ज्ञा./२१/१६/२२७/१५ शोभनादिमुद्राविशेषशाली सकलजगद्वशीकरणसमर्थः—इति चिन्त्यते तदायमात्मैव कामोऽभिधानमनुभवतीति कामतत्त्वम्। =शोभन कहिए चित्तके चलने आदि मुद्राविशेषोंमें शाली कहिए चतुर है, अर्थात् समस्त जगत्के चित्तको चलायमान करनेवाले आकारोंको प्रगट करनेवाला है। इस प्रकार समस्त जगत्को वशीभूत करनेवाले कामकी रचना करके अन्यमती जो ध्यान करते हैं, सो यह आत्मा ही कामकी उक्ति कहिये नाम व संज्ञाको धारण करनेवाला है। (ध्यानके प्रकरणमें यह कामतत्त्वका वर्णन है)।

स.सा./ता.वृ./४ कामशब्देन स्पर्शरसनेन्द्रियद्वयं। =काम शब्दसे स्पर्शन व रसना इन दो इन्द्रियोंके विषय जानना।

२. काम व भोगमें अन्तर

मू.आ./मू./११३८ कामा दुवे तऊ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता। कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया।११३८। =दो इन्द्रियोंके विषय काम हैं, तीन इन्द्रियोंके विषय भोग हैं, ऐसा विद्वानोंने कहा है। रस और स्पर्श तो काम हैं और गन्ध, रूप व शब्द ये तीन भोग हैं, ऐसा कहा है। (म.मा./ता.वृ./११३८)

३. कामके दस विकार

भ.आ./मू./८९३-८९५ पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छदे विदियवेगे। णिस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि।८९३। डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं। मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्ठमए।८९४। णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो। संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा।८९५। =कामके उद्दीप्त होनेपर प्रथम चिन्ता होती है; २. तत्पश्चात् स्त्रीको देखनेकी इच्छा, और इसी प्रकार क्रमसे ३. दीर्घ निश्वास, ४. ज्वर, ५. शरीरका दग्ध होने लगना, ६. भोजन न रुचना, ७ महामूर्च्छा; ८. उन्मत्तवत् चेष्टा, ९ प्राणोंमें सन्देह; १०. अन्तमें मरण। इस प्रकार कामके ये दश वेग होते हैं। इनसे व्याप्त हुआ जीव यथार्थ तत्त्वको नहीं देखता। (ज्ञा./११/२९-३१), (भा.पा./टी./९९/२४६/पर उद्धृत), (अन.ध./४/६६/३६३ पर उद्धृत), (ला.सं./२/११४-१२०)

काम तत्त्व—

ज्ञा./२१/१६ सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकारूपदनिवेशितमण्डलीकृतरसेक्षुकाण्डस्वरसहितकुसुमसायकविधिलक्ष्यीकृत•• स्फुरन्मकरकेतु•। कमनीयसकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताश्चतुरश्चेष्टितभ्रूभङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयस्त्रैणसाधने ••• स्त्रीपुरुषभेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमनःसंघटनसूत्रधारः। •• संगीतकप्रियेण•• स्वर्गापवर्गद्वारसंविघटनवज्रार्गल।•••शोभनादिमुद्राविशेषशाली। सकलजगद्वशीकरणसमर्थः. इति•• कामतत्त्वम्। =सकल जगत चमत्कारी, खींचकर कुण्डलाकार किये हुए इक्षुकाण्डके धनुष व उन्मादन, मोहन, संतापन, शोषण और मारणरूप पाँच बाणोसे निशाना बाँध रखा है जिसने, स्फुरायमान मकरकी ध्वजावाला, कमनीय स्त्रियोंके समूह द्वारा वन्दित है सुन्दरता जिसकी ऐसी रति नामा स्त्रीके साथ केलि करता हुआ, चतुरोंकी चेष्टारूप भ्रूभंगमात्रसे वशीभूत किया स्त्रियों-

का समूह ही साधन सेना जिसके, स्त्री-पुरुषके भेदसे भिन्न समस्त प्राणियोंके मन मिलानेके लिए सूत्रधार, संगीत है प्रिय जिसको, स्वर्ग व मोक्षके द्वारमें वज्रमयी अर्गलेके समान, चित्तको चलानेके लिए मुद्राविशेष बनानेमे चतुर, ऐसा समस्त जगत्को वशीभूत करनेमे समर्थ कामतत्त्व है। —दे. ध्यान/४/५ यह काम-तत्त्व वास्तवमें आत्मा ही है।

कामदेव—दे० शलाका पुरुष/१,८।

कामपुरुषार्थ—दे० पुरुषार्थ/१।

कामपुष्प—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

कामराज—जयकुमार पुराणके कर्ता एक ब्रह्मचारी। समय ई १४६८ वि. १५५५ (म.पु.२०/पं. पन्नालाल)

कामरूपित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

कामरूप्य—भरत क्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

काम्य मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

काय—कायका प्रसिद्ध अर्थ शरीर है। शरीरवत् ही बहुत प्रदेशोंके समूह रूप होनेके कारण कालातिरिक्त जीवादि पाँच द्रव्य भी कायवान् कहलाते है। जो पंचास्तिकाय करके प्रसिद्ध है। यद्यपि जीव अनेक भेद रूप हो सकते है पर उन सबके शरीर या काय छह ही जाति की है—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति व त्रस अर्थात् मासनिर्मित शरीर। यह ही षट् कायजीवके नामसे प्रसिद्ध है। यह शरीर भी औदारिक आदिके भेदसे पाँच प्रकार है। उस उस शरीरके निमित्त से होनेवाली आत्मप्रदेशोकी चचलता उस नामवाला काययोग कहलाता है। पर्याप्त अवस्थामे काययोग होते है और अपर्याप्तावस्थामें मिश्र योग क्योकि तहाँ कार्मण योगके आधीन रहता हुआ ही वह वह योग प्रगट होता है।

१. काय सामान्यका लक्षण व शंकाएँ

१. बहुप्रदेशीके अर्थमें कायका लक्षण

नि. सा /मू / ३४ काया हु बहुपदेसत्तं । =बहुप्रदेशीपना ही कायत्व है। (प्र. सा/त. प्र व ता वृ/१३५) ।

स. सि /५/१/२६५/५ 'काय'शब्द' शरीरे व्युत्पादित इहोपचारादध्यारोप्यते। कुत उपचार । यथा शरीरं पुद्गलद्रव्यप्रचयात्मकं तथा धर्मादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया काया इव काया इति । =व्युत्पत्तिसे काय शब्दका अर्थ शरीर है तो भी यहाँ उपचारसे उसका आरोप किया है। प्रश्न—उपचारका क्या कारण है? उत्तर—जिस प्रकार शरीर पुद्गल द्रव्यके प्रचय रूप होता है, उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य भी प्रदेश प्रचयकी अपेक्षा कायके समान होनेसे काय कहे गये हैं। (रा. वा./५/१/७-८/४३२/२९) (नि. सा /ता वृ /३४) (द्र सं./टी./२४/७०/१) ।

स्या. म /२९/३२९/२० 'तेषां संघे वानूर्ध्वे' इति चिनोतेर्घञि आदेशश्च कत्वे काय' समूह जीवकाय' पृथिव्यादि । =यहाँ 'संघे वानूर्ध्वे' सूत्रसे 'चि' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होनेपर 'च' के स्थानमें 'क' हो जानेसे 'काय' शब्द बनता है। अत' जीवोंके समूहको जीवकाय कहते हैं।

२. शरीरके अर्थमें कायका लक्षण—

पं सं /प्रा /१/७५ अप्पप्पवुत्तिसंचियपुग्गलपिंड वियाण काओ त्ति । सो जिणमयम्हि भणिओ पुढवी कायाइयो छद्धा।७५। =योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गल पिंडको काय जानना चाहिए। (ध १/१,१,४/ ८९/१३९) (पं स./ स./१/१४३) ।

ध ७/२,१,२/६/८ "आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्ड काय', पृथिवीकायादिनामकर्मजनितपरिणामो वा कार्ये कारणोपचारेण काय', चीयन्ते अस्मिन् जीवा इति व्युत्पत्तेर्वा काय ।" =आत्माकी प्रवृत्ति द्वारा उपचित किये गये पुद्गलपिंडको काय कहते हैं। अथवा पृथिवीकाय आदि नामकर्मोंके द्वारा उत्पन्न परिणामको कार्यमें कारणके उपचारसे काय कहा है। अथवा, 'जिसमें जीवोंका सचय किया जाय' ऐसी व्युत्पत्तिसे काय (शब्द) बना है। (रा वा./९/७ ११/६०३/३० लक्षण स १) (ध १/१,१,४/१३८/१ तथा १,१ ३९/२६६/ २ में लक्षण न १ व २) ।

३. उपरोक्त लक्षणकी ईंट पत्थरोंके साथ अतिव्याप्ति नहीं है।

ध १/१ १,४/१३८/१ "चीयत इति काय' । नेष्टकादिचयेन व्यभिचार' पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात्। औदारिकादिकर्मभि पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणा सहकारिणामभावे तत्तश्चयनानुपपत्ते । =प्रश्न—जो सचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, ऐसी व्याप्ति बना लेनेपर, कायको छोडकर ईंट आदिके संचयरूप विपक्षमें भी यह व्याप्ति घटित हो जाती है, अत व्यभिचार दोष आता है? उत्तर—नहीं आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मोंके उदयसे इतना विशेषण जोड कर ही, 'जो सचित किया जाता है' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गयी है। प्रश्न—'पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मोंके उदयसे जो सचित किया जाता है उसे काय कहते हैं, ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गयी? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव रहनेपर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोकर्म वर्गणाओंका संचय नहीं हो सकता।

४. कार्माण काययोगियोंमें यह लक्षण कैसे घटित होगा

ध. १/१,१,४/१३८/३. कार्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चितनोकर्मपुद्गलभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्। अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्ड. काय:। अत्रापि न दोषो न निर्णयत इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डस्य तत्र सत्त्वात्। आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वात् तस्य कायव्यपदेश इति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्वतस्तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः। =प्रश्न—कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा संचित हुए नोकर्मपुद्गलका अभाव होनेसे अकायत्व प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि, नोकर्मरूप पुद्गलोंके संचयका कारण पृथिवी आदि कर्मसहकृत औदारिकादि नामकर्मका सत्त्व कार्मणकाययोग अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिए उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है। २. अथवा योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं। प्रश्न—कायका इस प्रकारका लक्षण करनेपर भी पहले जो दोष दे आये हैं वह दूर नहीं होता है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचित हुए कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कार्मणकाययोग अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है। अर्थात् जिस समय आत्मा कार्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है, उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका सद्भाव रहता ही है, इसलिए इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है। प्रश्न—कार्मणकाय योगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचयको प्राप्त हुए (कर्मरूप पुद्गलपिण्ड भले ही रहो परन्तु) नोकर्मरूप पुद्गलपिण्डका अभाव होनेके कारण कार्मण काययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह व्यपदेश नहीं बन सकता? उत्तर—नोकर्म पुद्गलपिण्डके संचयके कारणभूत कर्मका कार्मणकाययोगरूप अवस्थामें भी सद्भाव होनेसे कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह सज्ञा बन जाती है।

२. षट्काय जीव व मार्गणा निर्देश व शंकाएँ

१. षट्काय जीव व मार्गणाके भेद-प्रभेद

ष खं १/१,१/ सूत्र ३९-४२/२६४-२८२" (ति. प /५/२७८-२८०)

(प =पर्याप्त, अप=अपर्याप्त) काय

- पृथिवी, अप, तेज, वायु
  - बादर — प., अप.
  - सूक्ष्म — प., अप.
- वनस्पति
  - प्रत्येक — प., अप
  - साधारण
    - बादर — प., अप
    - सूक्ष्म — प., अप.
- त्रस — प., अप.
- अकाय
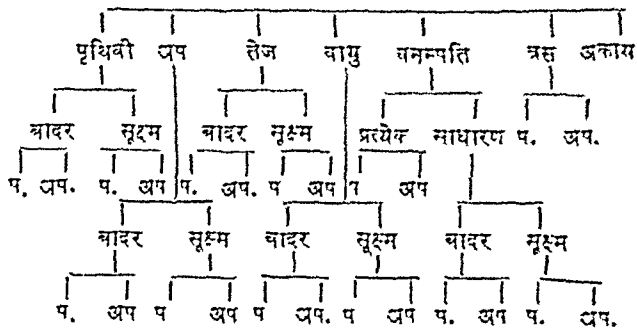
रा. वा /९/७/११/६०३/३१ तत्सबन्धिजीव षड्विध —पृथिवीकायिक अप्कायिक तेजस्कायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिक त्रसकायिकश्चेति । =काय सम्बन्धी जीव छह प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेज कायिक, वायु कायिक, वनस्पति कायिक और त्रसकायिक। (यहाँ 'अकाय' का ग्रहण नहीं किया है, यही ऊपरवालेसे इसमें विशेषता है। इसका भी कारण यह है कि ऊपरकाय मार्गणाके भेद हैं और यहाँ षट्काय जीवोंके।) (मू आ./२०४-

२०५)। (पं.सं./ प्रा /१/७५), (ध १/१,१,४/ ८६/१३६), (गो. जी /मू /१८१/४१४), (द्र. सं /टी /१३/३७/६)।

२. अकाय मार्गणाका लक्षण

पं. सं /प्रा./१/८७ जह कंचणमग्गियं मुच्चइ किट्टेण कलियाराय। तह कायबंधमुक्का अकाइया झाणजोएण ।८७। =जिस प्रकार अग्निमे दिया गया सुवर्ण किट्टिका (बहिरंगमल) और कालिमा (अन्तरग मल) इन दोनो प्रकारके मलोसे रहित हो जाता है उसी प्रकार ध्यानके योगसे शुद्ध हुए और कायके बन्धनसे मुक्त हुए जीव अकायिक जानना चाहिए। (ध. १/१,१,३६/ १४४/२६६), (गो. जी./मू /-२०३/४४६)।

३. बहुप्रदेशी भी सिद्ध जीव अकाय कैसे हैं

ध./१/१,१,४६/२७७/६ जीवप्रदेशप्रचयात्मकत्वात्सिद्धा अपि सकाया इति चेन्न, तेषामनादिबन्धनबद्धजीवप्रदेशात्मकत्वात्। अनादि-प्रचयोऽपि काय' किन्न स्यादिति चेन्न, मूर्तानां पुद्गलाना कर्म-नोकर्मपर्यायपरिणताना सादिसान्तप्रचयस्य कायत्वाभ्युपगमात्। =प्रश्न—जीव प्रदेशोके प्रचयरूप होनेके कारण सिद्ध जीव भी सकाय है, फिर उन्हे अकाय क्यो कहा? उत्तर—नही, क्योकि सिद्ध जीव अनादिकालीन स्वाभाविक बन्धनसे बद्ध जीव प्रदेशस्वरूप है, इसलिए उसकी अपेक्षा यहाँ कायपना नहीं लिया गया है। प्रश्न—अनादि कालीन आत्मप्रदेशोके प्रचयको काय क्यो नही कहा? उत्तर—नही, क्योकि, यहाँपर कर्म और नोकर्म रूप पर्यायसे परिणत मूर्त पुद्गलोके सादि और सान्त प्रदेश प्रचयको ही कायरूपसे स्वीकार किया गया है। (किसी अपेक्षा उनको कायपना है भी। यथा—)

द्र स./टी./२४/७०/१ कायत्वं कथ्यते—बहुप्रदेशप्रचयं दृष्ट्वा यथा शरीर कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूताना लोकाकाश-प्रमितासंख्येयशुद्धप्रदेशाना प्रचयं समूहं संघातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्व भण्यते। =अब इन (मुक्तात्माओ)मे कायपना कहते है—बहुतसे प्रदेशोमे व्याप्त होकर रहनेको देखकर जैसे शरीरको काय कहते है, अर्थात् जैसे शरीरमें अधिक प्रदेश होनेके कारण शरीर को काय कहते है उसी प्रकार अनन्तज्ञानादि गुणोके आधारभूत जो लोकाकाशके बराबर असंख्यात शुद्ध प्रदेश है उनके समूह, सघात अथवा मेलको देखकर मुक्त जीवमें भी कायत्व कहा जाता है।

४. काय मार्गणामें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. ख /१/१,१/४३-४६ पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणप्फइकाइया एक्कम्मि चेय मिच्छाइट्ठिट्ठाणे ।४३। तसकाइया बीइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।४४। बादरकाइया बादरे-इंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।४५। तेण परमकाइया चेदि ।४६। =पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते है ।४३। द्वीन्द्रियसे लेकर अयोगिकेवलीतक त्रस जीव होते है ।४४। बादर एकेन्द्रिय जीवोसे लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त जीव बादरकायिक होते है ।४५। स्थावर और बादरकायसे परे कायरहित अकायिक जीव होते है ।४६। (विशेष —दे० जन्म/४)।

गो क /जी प्र /३०६/४३८/८ गुणस्थानद्वय। कुत'। "णहि सासणो अपुण्णे साहारणसुहमगेयतेउदुगे।' इति पारिशेष्यात् पृथ्व्यप्प्रत्येक-वनस्पतिषु सासादनस्योत्पत्ते'।"

गो. जी./जी. प्र./७०३/१४ ते मिथ्यादृष्टौ पर्याप्तापर्याप्ताश्च। सासादने बादरपृथ्व्यब्वनस्पतिस्थावरकाया द्वित्रिचतुरिन्द्रियास ज्ञित्रसकाया-श्चापर्याप्ता' संज्ञित्रसकाय' उभयश्चेति षड्जीवनिकाय। मिश्रे संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्रसकायपर्याप्त एव। असयते उभय, सदेशयते पर्याप्त एव। प्रमत्ते पर्याप्त'। साहारकर्धिस्तूभय'। अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तेषु पर्याप्त एव। सयोगे पर्याप्त। समुद्घाते तूभयः। अयोगे पर्याप्त एव। ="णहि सासणो' " इस वचनतै पृथिवी अप प्रत्येक वनस्पति विषै ही सासादन मर उपजै है (अत' तहाँ अपर्याप्तावस्था विषै दो गुणस्थान संभवै मिथ्यादृष्टि व सासादन) तहाँ मिथ्यादृष्टिविषै तौ छहो (कायवाले) पर्याप्त वा अपर्याप्त है। सासादनविषै बादर पृथिवी, अप व वनस्पति ए—स्थावर अर त्रस विषै बेंद्री तेंद्री चौंद्री असैनी पचेंद्री ए तौ अपर्याप्त ही है और सैनी त्रसकाय पर्याप्त अपर्याप्त दोऊ है। आगैं संज्ञी पंचेंद्री त्रसकाय ही है। तहाँ मिश्र विषै पर्याप्त ही है। अविरत विषै दोऊ है। देश सयत विषै पर्याप्त ही है। प्रमत्त विषै पर्याप्त है। आहारक (समुद्घात) सहित दोऊ है। अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यन्त पर्याप्त ही है। सयोगी विषै पर्याप्त है। समुद्घात सहित दोऊ है। अयोगी विषै पर्याप्त ही है। (गो. जी /मू व. जी. प्र /६७८) (विशेष दे० जन्म/४)

५. तैजस आदि कायिकोंका लोकमें अवस्थान व तद्गत शंका समाधान

ध ७/२,७,७१/४०१/३ कम्मभूमिपडिभागसयंभूरमणदीवद्धे चेव किर तेउकाइया होंति, ण अण्णत्थेत्ति के वि आइरिया भणंति। ·अण्णे के वि आइरिया सव्वेसु दीवसमुद्देसु तेउकाइयवादरपज्जत्ता संभवंति त्ति भणंति। कुदो। सयंभूरमणदीवसमुद्दप्पण्णाणं बादरते उपज्ज-त्ताणं वाएण हिरिज्जमाणाण कीडणसीलदेवपरतंताणं वा सव्वदीव-समुद्देसु सविउव्वणाण गमणसंभवादो। केइमाइरिया तिरियलोगादो सखेज्जगुणो फासिदो त्ति भणंति। कुदो। सव्वपुढवीसु बादरतेउ-पज्जत्ताणं सभवादो। तिसु वि उवदेसेसु को एत्थ गेज्झो। तइज्जो घेत्तव्वो जुत्तीए अणुग्गहित्तादो। ण च सुत्तं त्तिण्हमेक्कस्स वि मुक्ककठ होऊण परूवयमत्थि। पहिल्लओ उवएसो वक्खाणे इरियेहि य संमदो त्ति एत्थ सो चेव णिद्दिट्ठो। =१ कर्मभूमिके प्रतिभाग-रूप अर्ध स्वयम्भूरमण द्वीपमें ही तैजस कायिक जीव होते हे, अन्यत्र नहीं ऐसा कितने हो आचार्य कहते है। २. अन्य कितने ही आचार्य 'सर्व द्वीपसमुद्रोमे तेजसकायिक बादर पर्याप्त जीव संभव है' ऐसा कहते है, क्योंकि स्वयम्भूरमणद्वीप व समुद्रमें उत्पन्न बादर तेजस्कायिक पर्याप्त जीवोंका वायुसे ले जाये जानेके कारण अथवा क्रीडनशील देवोके परतन्त्र होनेसे सर्व द्वीप समुद्रोंमें विक्रिया युक्त होकर गमन सम्भव है। ३ कितने आचार्यों-का कहना है कि उक्त जीवोके द्वारा वैक्रियकसमुद्घातकी अपेक्षा तिर्यग्लोकसे संख्यातगुणा क्षेत्र स्पृष्ट है, क्योकि (उस प्रकार) सव द्वीप समुद्रोमे बादर तेजसकायिक पर्याप्त जीवोंकी सम्भावना है। उपर्युक्त तीनो उपदेशोमे-से तीसरा उपदेश यहाँ ग्रहण करने योग्य है क्योकि वह युक्तिसे अनुगृहीत है। दूसरी बात यह है कि सूत्र इन तीन उपदेशोमें-से एकका भी मुक्तकण्ठ होकर प्ररूपक नही है। पहिला उपदेश व्याख्यानो और व्याख्यानाचार्योसे समत है। इसलिए यहाँ उसीका निर्देश किया गया है।

ध /७/२,६,३५/३३२/६ तेउ-आउ-रुक्खाणं कध तत्थ सभवो। ण इदिएहि अगेज्झाणं सुहुमसण्हाणं पुढविजोगियाणमत्थित्तस्स विरोहाभावादो।

ध / ७/२,७,७८/४०५/५ "तह जलता णिरयपुढवीसु अग्गिणो बहतीओ णईओ च णत्थि त्ति जदि अभावो वुच्चदे, तपि ण घडदे—'षष्ठ सप्तमयोः शीतं शीतोष्णं पञ्चमे स्मृतम्। चतुर्ष्वत्युष्णमुद्दिष्टस्ता-सामेव महीगुणा ।१। इदि तत्थ वि आउ तेऊण सभवादो। कधं पुढवीणं हेट्ठा पत्तेयसरीराणं संभवो। ण, सीएण वि सम्मुच्छिज्ज-माणपणग-कुहुणादीणमुवलंभादो। कधमुण्हम्हि सभवो। ण, अच्चुण्हे वि समुप्पज्जमाणजवासपाईणमुवलंभादो।" =(पर्याप्त व अपर्याप्त

इत्यादि करना कायक्लेश है। (रा वा/९/१९/१३/६१९/१५), (ध.१३/५/४,२६/५८/४), (चा सा /१३६/२), (त.सा.७/१३)

का अ /मू /४५० दुस्सह-उवसग्गजई आतावण-सीय-वाय-खिण्णो वि। जो णवि खेदं गच्छदि कायकिलेसो तवो तस्स। =दु:सह उपसर्गको जीतनेवाला जो मुनि आतापन, शीत, वात वगैरहसे पीडित होनेपर भी खेदको प्राप्त नही होता, उस मुनिके कायक्लेश नामका तप होता है।

वसु.श्रा./३५१ आयबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहि। जं करिइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो ।३५१। =आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, चतुर्भक्त, (उपवास), षष्ठ भक्त (वेला), अष्टम भक्त (तेला), आदिके द्वारा जो शरीरको कृश किया जाता है उसे कायक्लेश जानना चाहिए।

भ आ /वि./६/३२/१८ कायसुखाभिलापत्यजन कायक्लेशः। =शरीरको सुख मिले ऐसी भावनाको त्यागना कायक्लेश है।

२. कायक्लेशके भेद

अन. ध /७/३२/६८३ ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः, स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रमावग्रहैः। योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः, कायक्लेशमिद तपोऽर्त्युपमतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत् ।३२। =यह शरीरके कदर्थनरूप तप, अनेक उपायो द्वारा सिद्ध होता है। यहाँ छ. उपायोका निर्देश किया है—अयन (सूर्यादिकी गति), शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योग। इनके भी अनेक उत्तर भेद होते है (देखो आगे इन भेदोके लक्षण)।

३. अयनादि कायक्लेशोंके भेद व लक्षण

भ.आ./मू /२२२-२२७ अणुसूरी पडिसूरी पउड्ढसूरी य तिरियसूरी य। उब्भागमेण य गमणं पडिआगमण च गंतूण ।२२२। साधारण सवीचार सणिरुद्धं तहेव वोसट्ठ। समपादमेगपाद गिद्धोलीण च ठाणाणि ।२२३। समपलियंक णिसेज्जा समपदगोदो हिया य उक्कुडिया। मगरमुह हत्थिमुंडी गोणणिसेज्जद्धपलियंका ।२२४। वीरासण च दंडा य उड्ढसाई य लगडसाई य। उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ।२२५। अब्भावगाससयणं अणिट्ठवणा अकंडुगं चेव। तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचे य ।२२६। अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमद तधोवणं चेव। कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ।२२७। =**अयन**—कडी धूपवाले दिन पूर्वसे पश्चिमकी ओर चलना अनुसूर्य है—पश्चिमसे पूर्वकी ओर चलना प्रतिसूर्य है—सूर्य जब मस्तक पर चढता है ऐसे समयमें गमन करना ऊर्ध्वसूर्य है, सूर्यको तिर्यक् (अर्थात दायें-बायें) करके गमन करना तिर्यक्सूर्य है—स्वयं ठहरे हुए ग्रामसे दूसरे गाँवको विश्रान्ति न लेकर गमन करना और स्वस्थानको लौट आना या तीर्थादि स्थानको जाकर लगे हाथ लौट आना गमनागमन है। इस तरह अयनके अनेक भेद होते है। **स्थान**—कायोत्सर्ग करना स्थान कहलाता है। जिसमें स्तम्भादिका आश्रय लेना पडे उसे साधार, जिसमें सक्रमण पाया जाये उसको सविचार, जो निश्चलरूपसे धारण किया जाय उसको ससन्निरोध, जिसमें सम्पूर्ण शरीर ढीला छोड दिया जाय उसको विसृष्टाग, जिसमें दोनो पैर समान रखे जायें उसको समपाद, एक पैरसे खडा होना एकपाद, दोनों बाहू ऊपर करके खडे होना प्रसारितबाहू। इस तरह स्थान के भी अनेक भेद है। **आसन**—जिसमें पिंडलियाँ और स्फिक बराबर मिल जायें वह समपर्यंकासन है; उससे उलटा असमपर्यंकासन है; गौको दुहनेकी भाँति बैठना गोदोहन है, ऊपरको सकुचित होकर-बैठना उत्करिकासन है; मकरमुखवत् दोनो पैरोंको करके बैठना मकरमुखासन है; हाथीकी सूडकी तरह हाथ या पाँवको फैलाकर बैठना हस्तिसूंडासन है, गौके बैठनेकी भाँति बैठना गोशय्यासन है; अर्धपर्यंकासन, दोनों जंघाओंको दूरवर्ती रखकर बैठना वीरासन है, दण्डेके समान सीधा बैठना दण्डासन है। इस प्रकार आसनके अनेक भेद हैं। **शयन**—शरीरको संकुचित करके सोना लगडशय्या है; ऊपरको मुख करके सोना उत्तानशय्या है, नीचेको मुख करके सोना अवाक्शय्या है। शवकी तरह निश्चेष्ट सोना शवशय्या है, किसी एक करवटसे सोना एकपार्श्वशय्या है, बाहर खुले आकाशमें सोना अभ्रावकाशशय्या है। इस प्रकार शयनके भी अनेक भेद है। **अवग्रह**—अनेक प्रकारकी बाधाओंको जीतना अवग्रह है। थूकने, खाँसने की बाधा; छींक व जंभाईको रोकना, खाज होनेपर न खुजाना; काँटा आदि लग जानेपर खिन्न न होना; फोडा, फुंसी आदि होने पर दुःखी न होना, पत्थर आदि लग जानेपर या ऊँची-नीची धरती आ जानेपर खेद न मानना, यथा समय केशलौंच करना; रात्रिको भी न सोना, कभी स्नान न करना, कभी दाँतोंको न माँजना; इत्यादि अवग्रहके अनेक भेद है। **योग**—ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतके शिखर पर सूर्यके सम्मुख खडा होना आतापन है, वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे बैठना वृक्षमूल योग है; शीतकालमें चौराहे पर नदी किनारे ध्यान लगाना शीत योग है। इत्यादि अनेक प्रकार योग होता है। (अन ध /७/३२/६८३ में उद्धृत)

४. कायक्लेश तपके अतिचार

भ आ./वि /४८७/७०७/११ कायक्लेशस्यातापनस्यातिचार. उष्णार्दितस्य शीतलद्रव्यसमागमेच्छा, सतापापायो मम कथं स्यादिति चिन्ता, पूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रदेशाना स्मरणं, कठोरातपस्य द्वेषः, शीतलाद्देशादकृतगात्रप्रमार्जनस्य आतपप्रवेशः। आतपसंतप्तशरीरस्य वा अप्रमृष्टगात्रस्य छायानुप्रवेशः इत्यादिकः। वृक्षस्य मूलमुगतस्यापि हस्तेन, पादेन, शरीरेण वाप्कायाना पीडा। कथं। शरीरावलग्नजलकणप्रमार्जनं, हस्तेन पादेन वा शिलाफलकादिगतोदकापनयनं। मृत्तिकार्द्रायां भूमौ शयनं। निम्नेन जलप्रवाहागमनदेशे वा अवस्थानम्। अवग्राहे वर्षापात कदा स्यादिति चिन्ता। वर्षति देवे कदास्योपरमः स्यादिति वा। छत्रकटकादिधारणं वर्षानिवारणायेत्यादिकः। —तथा अभ्रावकाशस्यातिचार। सचित्ताया भूमौ त्रसहितहरितसमुत्थिताया विवरवत्या शयन। अकृतभूमिशरीरप्रमार्जनस्य हस्तपादसकोचप्रसारणं पार्श्वान्तरसंचरण, कण्डूयनं वा। हिमसमीरणाभ्या हतस्य कदैतदुपशमो भवतीति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितहिमापकर्षणं, अवश्यायघट्टना वा। प्रचुरवातापातदेशोऽयमिति संक्लेश। अग्निप्रावरणादीना स्मरणमित्यादिकः। =**आतापन योगके अतिचार**—ऊष्णसे पीडित होनेपर ठंडे पदार्थोंके सयोगकी इच्छा करना, 'यह मेरा संताप कैसे नष्ट होगा' ऐसी चिन्ता करना, पूर्वमें अनुभव किये गये शीतल पदार्थोंका स्मरण होना, कठोर धूपसे द्वेष करना, शरीरको बिना झाडे ही शीतलता से एकदम गर्मीमें प्रवेश करना तथा शरीरको पिच्छीसे न स्पर्श करके ही धूपसे शरीर सताप होनेपर छायामें प्रवेश करना इत्यादि अतिचार आतापन योगके है। **वृक्षमूल योगके अतिचार**—इस योगको धारण करनेपर भी अपने हाथसे, पाँवसे और

शरीरसे जलकायिक जीवोंको दुख देना अर्थात् शरीरसे लगे हुए जल-कण हाथसे पोंछना, अथवा पाँवसे शिला या फलक पर संचित हुआ जल अलग करना, गीली मिट्टीकी जमीनपर सोना, जहाँ जलप्रवाह बहता है ऐसे स्थानमें अथवा खोल प्रदेशोंमें बैठना, वृष्टि-प्रतिबन्ध होनेपर 'कब वृष्टि होगी' ऐसी चिन्ता करना; और वृष्टि होनेपर उसके उपशमकी चिन्ता करना, अथवा वर्षाका निवारण करनेके लिए छत्र चटाई वगैरह धारण करना। अभ्रावकाश या शीतयोगके अतिचार—सचित्त जमीनपर, त्रससहित हरितवनस्पति जहाँ उत्पन्न हुई है ऐसी जमीनपर, छिद्र सहित जमीनपर, शयन करना। जमीन और शरीरको पिच्छिकासे स्वच्छ किये बिना हाथ और पाँव सकुचित करके अथवा फैला करके सोना; एक करवटसे दूसरे करवटपर सोना अर्थात् करवट बदलना, अपना अंग खुजलाना, हवा और ठंडीसे पीडित होनेपर 'इनका कब उपशम होगा' ऐसा मनमें संकल्प करना, शरीरपर यदि बर्फ गिरा होगा तो बाँसके टुकडेसे उसको हटाना, अथवा जलके तुषारोंको मर्दन करना, 'इस प्रदेशमें धूप और हवा बहुत है' ऐसा विचारकर संक्लेश परिणामसे युक्त होना, अग्नि और आच्छादन वस्त्रोंका स्मरण करना। ये सब अभ्रावकाशके अतिचार है।

५. कायक्लेश तप गृहस्थके लिए नहीं है

सा ध /७/५० श्रावको वीरचर्याह प्रतिमातापनादिषु। स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।५०। = श्रावकको वीरचर्या अर्थात् स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना, दिनप्रतिमा, आतापन योग, आदि धारण करनेका तथा सिद्धान्तशास्त्रोंके अध्ययनका अधिकार नहीं है।

६. कायक्लेश व परिषहजय भी आवश्यक हैं

चा सा /१०७ पर उद्धृत—परीषोढव्या नित्यं दर्शनचारित्ररक्षणे विरतै.। सयमतपोविशेषास्तदेकदेशा परीषहाख्या स्यु'। = दर्शन और चारित्रकी रक्षाके लिए तत्पर रहनेवाले मुनियोंको सदा परिषहोंको सहन करना चाहिए। क्योंकि ये परिषहें संयम और तप दोनोंका विशेष रूप है, तथा उन्हीं दोनोंका एकदेश (अंग) है।

अन ध./७/३२/६८२ कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत् ।३२। = यह तप भी मुमुक्षुओंके लिए आवश्यक है अतएव प्रशान्त तपस्वियोंको ध्यानकी सिद्धिके लिए इसका नित्य ही सेवन करना चाहिए।

७. कायक्लेश व परिषहमें अन्तर

स सि /९/१९/४३९/१ परिषहस्यास्य च को विशेष'। यदृच्छयोपनिपतित परिषह' स्वयकृत' कायक्लेश'। = प्रश्न—परिषह और कायक्लेशमें क्या अन्तर है? उत्तर—अपने आप प्राप्त हुआ परिषह और स्वय किया गया कायक्लेश है। यही इन दोनोंमें अन्तर है। (रा. वा/९/१९/१५/६१९/२०)

८. कायक्लेश तपका प्रयोजन

स सि /९/१९/४३९/१ तत्किमर्थम्। देहदु खतितिक्षासुखानभिष्वङ्ग-प्रवचनप्रभावनाद्यर्थम्। = प्रश्न—यह किस लिए किया जाता है? उत्तर—यह देहदु खको सहन करनेके लिए, सुखविषयक आसक्तिको कम करनेके लिए और प्रवचनकी प्रभावना करनेके लिए किया जाता है। (रा वा/९/१९/१४/६१९/१७) (चा सा /१३६/४)

ध.१३/५,४,२६/५८/५ किमट्ठमेसो करिदे। सदि-वादादवेहि बहुदोववासेहि तिसा-छुहादिबाहाहि विसठुलासणेहि य ज्झाणपरिचयट्ठं, अभावियसदिवाधादिउववासादिबाहस्स मारणंतियअसादेण ओत्थअस्सज्झाणाणुववत्तीदो। = प्रश्न—यह (काय क्लेश तप) किस लिए किया जाता है? उत्तर—शीत, वात और आतपके द्वारा; बहुत उपवासोंके द्वारा; तृषा क्षुधा आदि बाधाओं द्वारा और विसंस्थुल आसनों द्वारा ध्यानका अभ्यास करनेके लिए किया जाता है; क्योंकि जिसने शीतबाधा आदि और उपवास आदिकी बाधाका अभ्यास नहीं किया है और जो मारणान्तिक असातासे खिन्न हुआ है, उसके ध्यान नहीं बन सकता। (चा. सा./१३६/३). (अन.ध./७/३२/६८२)।

कायगुप्ति—दे० गुप्ति।

काय वल ऋद्धि—दे० ऋद्धि/६।

काय विनय—दे० विनय।

काय शुद्धि—दे० शुद्धि।

कायिकी क्रिया—दे० क्रिया/३।

कायोत्सर्ग—दे० व्युत्सर्ग/१।

कारक—व्याकरणमें प्रसिद्ध तथा नित्यकी बोल चालमें प्रयोग किये जानेवाले कर्ता कर्म करण आदि छ कारक हैं। लोकमें इनका प्रयोग भिन्न पदार्थोंमें किया जाता है, परन्तु अध्यात्ममें केवल वस्तु स्वभाव लक्षित होनेके कारण एक ही द्रव्य तथा उसके गुण पर्यायोंमें ये छहों लागू करके विचारे जाते हैं।

१. भेदाभेद षट्कारक निर्देश व समन्वय

१. षट्कारकोंका नाम निर्देश

प्र सा /त. प्र /१६ कर्तृत्वं…कर्मत्वं…करणत्वं…संप्रदानत्वं…अपादानत्वं…अधिकरणत्वं…। पं. जयचन्द्रकृत भाषा—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान और अधिकरण नामक छ कारक हैं। जहाँ परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि कहलाती है, वहाँ व्यवहार कारक हैं और जहाँ अपने ही उपादान कारणसे कार्यकी सिद्धि कही जाती है वहाँ निश्चय कारक है (व्याकरणमें प्रसिद्ध सम्बन्ध नामके सातवें कारकका यहाँ निर्देश नहीं किया गया है, क्योंकि इन छहोंका समुदित रूप ही सम्बन्ध कारक है)।

२. षट्कारकी अभेद निर्देश

प्र सा /त. प्र /१६ अय खल्वात्मा…शुद्धानन्तशक्ति-ज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकार'… विपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन् — विपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राण … विपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् सप्रदानत्व दधान . विपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददान', … विपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाण स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमान . स्वयंभूरिति निर्दिश्यते। = यह आत्मा अनन्तशक्ति युक्त ज्ञायक स्वभावके कारण स्वतन्त्र होनेसे जिसने कर्तृत्वके अधिकारको ग्रहण किया है, तथा (उसी शक्तियुक्त ज्ञानरूपसे) परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वय ही प्राप्य होनेसे कर्मत्वका अनुभव करता है। परिणामन होनेके स्वभावसे स्वय ही साधकतम होनेसे करणताको धारण करता है। स्वय ही अपने (परिणमन स्वभाव रूप) कर्मके द्वारा समाश्रित होनेसे सम्प्रदानताको धारण करता है। विपरिणमन होनेके पूर्व समयमें प्रवर्तमान विकल ज्ञानस्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञानस्व-

भावसे स्वयं ही ध्रुवताका अवलम्बन करनेसे अपादानताको धारण करता हुआ, और स्वयं परिणमित होनेके स्वभावका आधार होनेसे अधिकरणताको आत्मसात् करता हुआ--(इस प्रकार) स्वयमेव छह कारक रूप होनेसे अथवा उत्पत्ति अपेक्षासे स्वयमेव आविर्भूत होनेसे स्वयंभू कहलाता है। (पं. का./त. प्र./६२)।

स.सा /आ /२९७ 'ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृहामि। यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये किंतु सर्वविशुद्ध-चिन्मात्रो भावोऽस्मि।=(अन्यसर्व भाव क्योकि मुझसे भिन्न है) इसलिए मै ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेमेंसे ही, अपने-में ही अपनेको ही ग्रहण करता हूँ। आत्माकी चेतना ही एक क्रिया है इसलिए 'मै ग्रहण करता हूँ' का अर्थ 'मै चेतता हूँ' ही है, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुएके द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुएके लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुएसे ही चेतता हूँ, चेततेमें ही चेतता हूँ, चेततेको ही चेतता हूँ (अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ— इत्यादि छहो बोल) किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ।

पं. का /त. प्र /४६/६२ मृत्तिका घटभाव स्वय स्वेन स्वस्यै स्वस्मात् स्वस्मिन् करोतीत्यात्मात्मानमात्मनात्मने आत्मन आत्मनि जाना-तीत्यनन्यत्वेऽपि। ='मिट्टी स्वय घटभावको (घडारूप परि-णामको) अपने द्वारा अपने लिए अपनेमेसे अपनेमे करती है' 'आत्मा आत्माको आत्मा द्वारा आत्माके लिए आत्मामेंसे आत्मामें जानता है' ऐसे अनन्यपनेमें भी कारक व्यपदेश होता है।

३. निश्चयसे अभेद कारक ही परम सत्य है

प्र. सा /१६ पं जयचन्द—परमार्थत' एकद्रव्य दूसरेकी सहायता नही कर सकता और द्रव्य स्वय ही, अपनेको, अपनेसे, अपने लिए, अपने-मेंसे, अपनेमें करता है, इसलिए निश्चय छ' कारक ही परमसत्य है।

* **कर्ता कर्म करण व क्रियामें भेदाभेद आदि** —दे० कर्ता।

* **कारण कार्य व्यपदेश**—दे० कारण।

* **ज्ञानके द्वारा ज्ञानको जानना**—दे० ज्ञान/I/३/

४. द्रव्य अपने परिणामोंमें कारकान्तरकी अपेक्षा नहीं करता।

पं. का./त. प्र / ६२ स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कार-कान्तरमपेक्षते। =स्वयमेव षट्कारकी रूपसे वर्तता हुआ (द्रव्य) अन्य कारकको अपेक्षा नहीं करता। (प्र. सा /त. प्र १६)

५. परमार्थमें पर कारकोंकी शोध करना वृथा है

प्र. सा./त प्र /१६ अतो न निश्चयत. परेण सहात्मन' कारकत्वसबन्धोऽ-स्ति, यत शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रै-र्भूयते।=अत यहाँ यह कहा गया समझना चाहिए कि निश्चयसे परके साथ आत्माका कारकताका सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्म-स्वभावकी प्राप्तिके लिए सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढनेकी व्यग्रतासे जीव (व्यर्थ ही) परतन्त्र होते है।

६. परन्तु लोकमें भेद षट्कारकोंका ही व्यवहार होता है

पं. का/त प्र./४६/६२ यथा देवदत्त फलमङ्कुशेन धनदत्ताय वृक्षाद्वाटि-कायामवचिनोतीत्यन्यत्वे कारकव्यपदेश। =जिस प्रकार 'देवदत्त, फलको, अङ्कुश द्वारा, धनदत्तके लिए वृक्षपरसे, बगीचेमें, तोडता है' ऐसे अन्यपनेमें कारक व्यपदेश होता है (उसी प्रकार अनन्यपनेमें भी होता है)।

७. अभेद कारक व्यपदेशका कारण

पं.ध /पू./३३१ अतदिदमिहप्रतीतौ क्रियाफलं कारकाणि हेतुरिति। तदिद स्यादिह सविदि हि हेतुस्तत्त्व हि चेन्मिथ' प्रेम ।३३१। =यदि परस्पर दोनो (अन्वय व व्यतिरेकी अंशो) में अपेक्षा रहे तो 'यह वह नही है' इस प्रतीतिमें क्रियाफल, कारक, हेतु ये सब बन जाते है और 'ये वही है' इस प्रतीतिमें भी निश्चयसे हेतुतत्त्व ये सब बन जाते है।

८. अभेद कारक व्यपदेशका प्रयोजन

प्र.सा./मू /१६० णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं। कत्ता ण ण कारयिदा अणुमता णेव कत्तीणं।१६०। =मै न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ, उनका कारण नही हूँ, कर्ता नही हूँ, करानेवाला नही हूँ (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ। (अर्थात् अभेद कारक पर दृष्टि आनेसे पर कारको सम्बन्धी अहंकार टल जाता है) विशेष दे० कारक १/५।

प्र सा /मू /१२६ कत्ता करणं कम्मं फल च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्ण जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।१२६। =यदि श्रमण 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्य रूप परिणमित नही ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उप-लब्ध करता है।१२६।

प. प्र / टी / यावत्कालमात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मन' सकाशात् आत्मनि स्थितं न जानासि तावत्काल परमात्मानं किं लभसे। = जब तक आत्मा नाम कर्ता, कर्मतापन्न आत्माको, करणभूत आत्माके द्वारा, आत्माके लिए, आत्मामे-से, आत्मामें ही स्थित रहकर न जानेगा तबतक परमात्माको कैसे प्राप्त करेगा ?

९. अभेद व भेदकारक व्यपदेशका नयार्थ

त अनु /२९ अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नय। व्यवहार-नयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥२९॥ = अभिन्न कर्ता कर्मादि कारक निश्चयनयका विषय है और व्यवहार नय भिन्न कर्ता कर्मादि-को विषय करता है। (अन ध /१/१०२/१०८)

* **षट् द्रव्योंमें उपकार्य उपकारक भाव।** —दे० कारण/III/२।

२. सम्बन्धकारक निर्देश

१. भेद व अभेद सम्बन्ध निर्देश

स सि /५/१२/२७७ ननु च लोके पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावो दृष्टो यथा कुण्डे बदरादीनाम्। न तथाकाश पूर्वं धर्मादीन्युत्तर-कालभावीनि, अतो व्यवहारनयापेक्षयापि आधाराधेयकल्पनानुप-पत्तिरिति। नैष दोष', युगपद्भाविनामपि आधाराधेयभावो दृश्यते। घटे रूपादय' शरीरे हस्तादय इति। =प्रश्न—लोकमें जो पूर्वोत्तर कालभावी होते है, उन्हीका आधार आधेय भाव देखा गया है। जैसे कि बेरोका आधार कुण्ड होता है। उस प्रकार आकाश पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य पीछेसे उत्पन्न हुए हो ऐसा तो है नहीं, अत व्यवहारनयकी अपेक्षा भी आधार आधेय कल्पना (इन द्रव्योंमें) नहीं बनती ? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि एक साथ होने-

वाले पदार्थोंमें भी आधार आधेय भाव देखा जाता है। यथा—घरमें रूपादिकका और शरीरमें हाथ आदिकका।

प. ध./उ./२११ व्याप्यव्यापकभाव' स्यादात्मनि नातदात्मनि। व्याप्यव्यापकताभाव' स्वत' सर्वत्र वस्तुपु।२११। =अपनेमें ही व्याप्य-व्यापकभाव होता है, अपनेसे भिन्नमें नही होता है क्योकि वास्तविक रीतिसे देखा जाये तो सर्व पदार्थोंका अपनेमें ही व्याप्यव्यापकपनेका होना सम्भव है। अन्यका अन्यमे नही।

* **द्रव्यगुण पर्यायमें युतसिद्ध व समवायसम्बन्धका निषेध** —दे० द्रव्य/४।

२. व्यवहारसे ही भिन्न द्रव्योंमें सम्बन्ध कहा जाता है तत्त्वत. कोई किसीका नहीं

स. सा/मू/२७ ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को। ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो।२७। =व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चयनयके अभिप्रायसे जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नही है।

यो. सा/अ/५/२० शरीरमिन्द्रियं द्रव्य विषयो विभवो विभुः। ममेति व्यवहारेण भण्यते न च तत्त्वत'।२०। ='शरीर, इन्द्रिय द्रव्य, विषय, ऐश्वर्य और स्वामी मेरे है' यह बात व्यवहारसे कही जाती है, निश्चयनयसे नही।२०।

स. सा/आ/१८१ न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्ते', सदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव, तत' स्वरूपप्रतिष्ठित्वलक्षण एवाधाराधेयसंबन्धोऽवतिष्ठते। =वास्तवमे एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नही है (अर्थात् एक वस्तु दूसरीके साथ कोई सम्बन्ध नही रखती) क्योकि दोनोके प्रदेश भिन्न है, इसलिए उनमें एक सत्ताकी अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनो सत्ताएँ भिन्न-भिन्न है) और इस प्रकार जबकि एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नही है तब उनमें परस्पर आधार आधेय सम्बन्ध भी है ही नही। इसलिए स्वरूप प्रतिष्ठित वस्तुमें ही आधार आधेय सम्बन्ध है।

३. भिन्न द्रव्योंमें सम्बन्ध माननेसे अनेक दोष आते हैं

यो. सा/अ/३/१६ नान्यद्रव्यपरिणाममन्यद्रव्य प्रपद्यते। स्वान्यद्रव्यव्यवस्थेय परस्य घटते कथम्।१६। =जो परिणाम एक द्रव्यका है वह दूसरे द्रव्यका परिणाम नही हो सकता। यदि ऐसा मान लिया जाये तो संकर दोष आ जानेसे यह निज द्रव्य है और वह अन्य द्रव्य है, ऐसी व्यवस्था ही नही बन सकती।

प. ध/पू/५६७-५७० अस्तिव्यवहार किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात्। योऽयं मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात्।५६७। सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात्। अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्ध स्यादनेकधर्मित्वात्।५६८। नाशक्य कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्र यत। सर्वद्रव्येपु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्ति'।५६९। अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति। तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात्।५७०। =अलब्धबुद्धि जनोका यह व्यवहार है कि मनुष्यादिका शरीर ही जीव है क्योकि दोनो अनन्य है। उनका यह व्यवहार अपसिद्धान्त अर्थात् सिद्धान्त विरुद्ध होनेसे अव्यवहार है। क्योकि वास्तवमें वे अनेकधर्मी है।५६७-५६८। एकक्षेत्रावगाहीपनेके कारण भी शरीरको जीव कहनेसे अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्योमें ही एकक्षेत्रावगाहित्व पाया जाता है।५६९। शरीर और जीवमें बन्ध्यबन्धक भावकी आशंका भी युक्त नही है क्योंकि दोनोमें अनेकत्व होनेसे उनका बन्ध ही असिद्ध है।

४. अन्य द्रव्यको अन्यका कहना मिथ्यात्व है

स. सा/मू./३२५-३२६ जह को विणरो जंपइ अम्हं गामविसयणयररट्ठं। ण य हुंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा।३२५। एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवइ एसो। जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पणं कुणइ।३२६। =जैसे कोई मनुष्य 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र,' इस प्रकार कहता है, किन्तु वास्तवमें वे उसके नहीं हैं; मोहसे वह आत्मा 'मेरे हैं' इस प्रकार कहता है। इसी प्रकार यदि ज्ञानी भी 'परद्रव्य मेरा है' ऐसा जानता हुआ परद्रव्यको निजरूप करता है वह नि'सन्देह मिथ्यादृष्टि होता है। (स सा./मू./२०/२२)।

यो. सा/अ/३/५ मयीदं कार्मणं द्रव्यं कारणेऽत्र भवाम्यहम्। यावदेषामतिस्तावन्मिथ्यात्वं न निवर्तते।५। ='कर्मजनित द्रव्य मेरे हैं और मै कर्मजनित द्रव्योका हूँ', जब तक जीवकी यह भावना बनी रहती है तबतक उसकी मिथ्यात्वसे निवृत्ति नहीं होती।

स सा/आ/३१४-३१५ यावदय चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बन्धनिमित्तं न मुञ्चति, तावत् ··स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति। =जबतक यह आत्मा, (स्व व परके भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे प्रकृतिके स्वभावको, जो कि अपनेको बन्धका निमित्त है उसको नही छोडता, तबतक स्व-परके एकत्वदर्शनसे (एकत्वरूप श्रद्धानसे) मिथ्यादृष्टि है।

५. परके साथ एकत्वका तात्पर्य

स सा/ता वृ./६५ ननु धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि कोऽपि न ब्रूते तत्कथ घटत इति। अत्र परिहार'। धर्मास्तिकायोऽयमिति योऽसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते। यथा घटाकारविकल्पपरिणतज्ञान घट इति। तथा तद्धर्मास्तिकायोऽयमित्यादिविकल्प यदा ज्ञेयतत्वविचारकाले करोति जीव' तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति, तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थ'। =प्रश्न—"मै धर्मास्तिकाय हूँ" ऐसा तो कोई भी नहीं कहता है, फिर सूत्रमें यह जो कहा गया है वह कैसे घटित होता है? उत्तर—"यह धर्मास्तिकाय है" ऐसा जो ज्ञानका विकल्प मनमें वर्तता है वह भी उपचारसे धर्मास्तिकाय कहा जाता है। जैसे कि घटाकारके विकल्परूपसे परिणत ज्ञानको घट कहते है। तथा 'यह धर्मास्तिकाय है' ऐसा विकल्प, जब जीव ज्ञेयतत्त्वके विचारकालमें करता है उस समय उसे शुद्धात्माका स्वरूप भूल जाता है (क्योकि उपयोगमें एक समय एक ही विकल्प रह सकता है), इसलिए उस विकल्पके किये जानेपर 'मै धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा उपचारसे घटित होता है। ऐसा भावार्थ है। (स सा./ता वृ./२६८)

६. भिन्न द्रव्योंमें सम्बन्ध निषेधका प्रयोजन

स सा./मू/९६-९७ एव पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ। अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण।९६। एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहि परिकहिदो। एव खलु जो जाणदि सो मुचदि सव्वकत्तित्तं।९७। =इस प्रकार अज्ञानी अज्ञानभावसे परद्रव्योंको अपने रूप करता है और अपनेको परद्रव्योंरूप करता है।९६। इसलिए निश्चयके जाननेवाले ज्ञानियोने उस आत्माको कर्ता कहा है। ऐसा निश्चयसे जो जानता है वह सर्व कर्तृत्वको छोडता है।९७।

कारक व्यभिचार—दे० नय/III/६/८।

* **जीव शरीर सम्बन्ध व उसकी मुख्यता गौणताका समन्वय**—दे० बन्ध/४।

कारण—कार्यके प्रति नियामक हेतुको कारण कहते है। वह दो प्रकारका है—अन्तरंग व बहिरंग। अन्तरगको उपादान और बहिरगको निमित्त कहते है। प्रत्येक कार्य इन दोनोसे अवश्य अनुगृहीत होता है। साधारण, असाधारण, उदासीन, प्रेरक आदिके भेदसे निमित्त अनेक प्रकारका है। यद्यपि शुद्ध द्रव्योकी एक समयस्थायी शुद्धपर्यायोमें केवल कालद्रव्य ही साधारण निमित्त होता है, पर इसका यह अर्थ नही कि अन्य निमित्तोका विश्वमे कोई स्थान ही नही है। सभी अशुद्ध व संयोगी द्रव्योकी चिर कालस्थायी जितनी भी चिदात्मक या अचिदात्मक पर्यायें दृष्ट हो रही है, वे सभी सयोगी होनेके कारण साधारण निमित्त (काल व धर्म द्रव्य) के अतिरिक्त अन्य बाह्य असाधारण सहकारी या प्रेरक निमित्तोके द्वारा भी यथा योग्य रूपमें अवश्य अनुगृहीत हो रही है। फिर भी उपादानकी शक्ति ही सर्वत्र प्रधान होती है क्योंकि उसके अभावमें निमित्त किसीके साथ जबरदस्ती नहीं कर सकता। यद्यपि कार्यकी उत्पत्तिमे उपरोक्त प्रकार निमित्त व उपादान दोनों का ही समान स्थान है, पर निर्विकल्पताके साधकको मात्र परमार्थका आश्रय होनेसे निमित्त इतना गौण हो जाता है, मानो वह है ही नही। संयोगी सर्व कार्योंपर-से दृष्टि हट जानेके कारण और मौलिक पदार्थपर ही लक्ष्य स्थिर करनेमें उद्यत होनेके कारण उसे केवल उपादान ही दिखाई देता है निमित्त नही और उसका स्वाभाविक शुद्ध परिणमन ही दिखाई देता है, संयोगी अशुद्ध परिणमन नही। ऐसा नहीं होता कि केवल उपादान पर दृष्टिको स्थिर करके भी वह जगतके व्यावहारिक कार्योंको देखता या तत्सम्बन्धी विकल्प करता रहे। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मोंके निमित्तसे जीवके परिणाम और उन परिणामोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका बन्ध, ऐसी अटूट शृंखला अनादिसे चली आ रही है, तदपि सत्य पुरुषार्थ द्वारा साधक इस शृंखलाको तोडकर मुक्ति लाभ कर सकता है, क्योंकि उसके प्रभावसे सत्ता स्थित कर्मोंमें महान् अन्तर पड जाता है।

१ अन्य अन्यको अपने रूप नहीं कर सकता।
२ अन्य स्वयं अन्य रूप नहीं हो सकता।
३ निमित्त किसीमें अनहोनी शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता।
४ स्वभाव दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता।
५ परिणमन करना द्रव्यका स्वभाव है।
६ उपादान अपने परिणमनमें स्वतन्त्र है।
* प्रत्येक पदार्थ अपने परिणमनका कर्ता स्वयं है। दूसरा द्रव्य उसे निमित्त हो सकता है पर कर्ता नहीं। —दे० कर्ता/३।
* सत् अहेतुक होता है। —दे० सत्।
* सभी कार्य कथंचित् निर्हेतुक है—दे० नय/IV/३/६।
७ उपादानके परिणमनमें निमित्त प्रधान नहीं है।
८ परिणमनमें उपादानकी योग्यता ही प्रधान है।
* यदि योग्यता ही कारण है तो सभी पुद्गल युगपत् कर्मरूपसे क्यों नहीं परिणम जाते —दे० बन्ध/४।
* कार्य ही कथंचित् स्वय कारण है —दे० नय/IV/१/६:३/७।
* काल आदि लब्धिसे स्वय कार्य होना है —दे० नियति।
९ निमित्तके सद्भावमें भी परिणमन तो स्वतः ही होता है।

२. उपादानकी कथंचित् प्रधानता

१ उपादानके अभावमें कार्यका भी अभाव।
२ उपादानसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है।
३ अन्तरंग कारण ही बलवान् है।
४ विघ्नकारी कारण भी अन्तरंग ही है।

३. उपादानकी कथंचित् परतन्त्रता

१ निमित्त सापेक्ष पदार्थ अपने कार्यके प्रति स्वयं समर्थ नहीं कहा जा सकता।
२ व्यावहारिक कार्यमें उपादान निमित्तोंके अधीन है।
३ जैसा-जैसा निमित्त मिलता है वैसा-वैसा ही कार्य होता है।
४ उपादानको ही स्वय सहकारी नहीं माना जा सकता।

III निमित्तकी कथंचित् गौणता मुख्यता

१. निमित्त कारणके उदाहरण

१ षट् द्रव्योंका परस्पर उपकार्य उपकारक भाव।
२ द्रव्य क्षेत्र काल भवरूप निमित्त।
* धर्मास्तिकायकी प्रधानता —दे० धर्माधर्म/२.१।
* कालद्रव्यकी प्रधानता —दे० काल/२।
* सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निमित्तोंकी प्रधानता —दे० सम्यग्दर्शन/III/२।
३ निमित्तकी प्रेरणासे कार्य होना।
४ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध।
५ अन्य सामान्य उदाहरण।

२. निमित्तकी कथंचित् गौणता

१ सभी कार्य निमित्तका अनुसरण नहीं करते।
२ धर्म आदिक द्रव्य उदासीन हैं प्रेरक नहीं।
३ अन्य भी उदासीन कारण धर्म द्रव्यवत् जानने।
४ बिना उपादानके निमित्त कुछ न करे।
५ सहकारीको कारण कहना उपचार है।
६ सहकारीकारण कार्यके प्रति प्रधान नहीं है।
७ सहकारीको कारण मानना सदोष है।
८ सहकारीकारण अहेतुवत् होता है।
९ सहकारीकारण निमित्तमात्र होता है।
१० परमार्थसे निमित्त अकिंचित्कर व हेय है।
११ भिन्नकारण वास्तवमें कोई कारण नहीं।
१२ द्रव्यका परिणमन सर्वथा निमित्ताधीन मानना मिथ्या है।
* उपादान अपने परिणमनमें स्वतन्त्र है —दे० कारण/II/१।

३. कर्म व जीवगत कारणकार्यभावकी गौणता

१ जीव भावको निमित्तमात्र करके पुद्गल स्वय कर्मरूप परिणमता है।
२ अनुभागोदयमें हानि वृद्धि रहनेपर भी ग्यारहवें गुणस्थानमें जीवके भाव अवस्थित रहते है।
* जीवके परिणामोंको सर्वथा कर्माधीन मानना मिथ्या है। —दे० कारण/III/३/१२।
३ जीव व कर्ममें वध्य घातक विरोध नहीं है।
* कर्म कुछ नहीं कराते जीव स्वयं दोषी है।
* ज्ञानी कर्मके मन्द उदयका तिरस्कार करनेको समर्थ है।
* विभाव कथंचित् अहेतुक है। —दे० विभाव/४।
४ जीव व कर्ममें कारण कार्य सम्बन्ध मानना उपचार है।
५ ज्ञानियोंको कर्म अकिंचित्कर है।
६ मोक्षमार्गमें आत्मपरिणामोंकी विवक्षा प्रधान है, कर्मके परिणामोंकी नहीं।
७ कर्मोंके उपशम क्षय व उदय आदि अवस्थाएँ भी कथंचित् अयत्नसाध्य है।

४.	निमित्तकी कथंचित् प्रधानता
*	निमित्तकी प्रधानताका निर्देश —दे० कारण/III/१।
*	धर्म व काल द्रव्यकी प्रधानता —दे० कारण/III/१॥
१	निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध वस्तुभूत है।
२	कारण होनेपर ही कार्य होता है, उसके विना नही।
३	उचित निमित्तके सान्निध्यमें ही द्रव्य परिणमन करता है।
४	उपादानकी योग्यताके सद्भावमें भी निमित्तके विना कार्य नही होता।
५	निमित्तके विना केवल उपादान व्यावहारिक कार्य करनेको समर्थ नही।
*	उपादान भी निमित्ताधीन है। दे० कारण/II/३
*	जैसा-जैसा निमित्त मिलता है वैसा-वैसा कार्य होता है। —दे० कारण/II/३
*	द्रव्य क्षेत्रादिकी प्रधानता। —दे० कारण/IV/१
६	निमित्तके विना कार्यकी उत्पत्ति मानना सदोष है।
७	सभी कारण धर्मद्रव्यवत् उदासीन नही होते।
*	निमित्त अनुकूल मात्र नहीं होता। —दे० कारण/१/३

५.	कर्म व जीवगत कारणकार्य भावकी कथंचित् प्रधानता
१	जीव व कर्ममें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका निर्देश।
२	जीव व कर्मकी विचित्रता परस्पर सापेक्ष है।
३	जीवकी अवस्थाओंमें कर्म मूल हेतु है।
*	विभाव भी सहेतुक है। —दे० विभाव/३
४	कर्मकी वलवत्ताके उदाहरण।
५	जीवकी एक अवस्थामें अनेक कर्म निमित्त होते है।
६	कर्मके उदयमें तदनुसार जीवके परिणाम अवश्य होते है।
*	मोहका जघन्यांश यद्यपि स्व प्रकृतिवन्धका कारण नही पर सामान्य वन्धका कारण अवश्य है। —दे० वन्ध/३
*	वाह्य द्रव्योंपर भी कर्मका प्रभाव पडता है। —दे० तीर्थंकर/२

IV	कारण कार्यभाव समन्वय
१.	उपादान निमित्त सामान्य विषयक
१	कार्य न सर्वथा स्वतः होता है, न सर्वथा परतः।
२	प्रत्येक कार्य अन्तरङ्ग व वहिरंग दोनों कारणोंके सम्मेलसे होता है।
३	अन्तरंग व वहिरंग कारणोंसे होनेके उदाहरण।
४	व्यवहार नयसे निमित्त वस्तुभूत है और निश्चय नयसे कल्पना मात्र।
५	निमित्त स्वीकार करनेपर भी वस्तुस्वतन्त्रता वाधित नहीं होती।
*	कारण व कार्यमें परस्पर व्याप्ति अवश्य होनी चाहिए। —दे० कारण/I/१
६	उपादान उपादेय भावका कारण प्रयोजन।
७	उपादानको परतंत्र कहनेका कारण प्रयोजन।
८	निमित्तको प्रधान कहनेका कारण प्रयोजन।
*	निश्चय व्यवहारनय तथा सम्यग्दर्शन चारित्र, धर्म आदिकमें साध्यसाधन भाव। —दे० वह वह नाम
*	मिथ्या निमित्त या संयोगवाद। —दे० संयोग

२.	२. कर्म व जीवगत कारणकार्यभाव विषयक
१	जीव यदि कर्म न करे तो कर्म भी उसे फल क्यों दे?
२	कर्म जीव को किस प्रकार फल देते है?
*	अचेतन कर्म चेतनके गुणोंका घात कैसे कर सकते है। —दे० विभाव/५
*	वास्तवमें कर्म जीवसे वँधे नही वल्कि संश्लेशके कारण दोनोंका विभाव परिणमन हो गया है। —दे० वन्ध/४
३	कर्म व जीवके निमित्त नैमित्तिकपनेमें हेतु।
४	वास्तवमें विभाव व कर्ममें निमित्त नैमित्तिक भाव है, जीव व कर्ममें नहीं।
५	समकालवर्ती इन दोनोंमें कारण कार्य भाव कैसे हो सकता है?
*	विभावके सहेतुक अहेतुकपनेका समन्वय। —दे० विभाव/५
*	निश्चयसे आत्मा अपने परिणामोंका और व्यवहारसे कर्मोंका कर्ता है। —दे० कर्ता/४/३
६	कर्म व जीवके परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता।
७	कर्मोदयका अनुसरण करते हुए भी जीवको मोक्ष सम्भव है।
*	जीव कर्म वन्धकी सिद्धि। —दे० वन्ध/२
८	कर्म व जीवके निमित्त नैमित्तिकपनेमें कारण प्रयोजन।

I. कारण सामान्य निर्देश

१. कारणके भेद व लक्षण

१. कारण सामान्यका लक्षण

स.सि./१/२१/१२५/७ प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। =प्रत्यय, कारण और निमित्त ये एकार्थवाची नाम हैं। (स.सि./१/२०/१२०/७); (रा.वा./१/२०/२/७०/३०)

स.सि./१/७/२२/३ साधनमुत्पत्तिनिमित्तं। =जिस निमित्तसे वस्तु उत्पन्न होती है वह साधन है।

रा.वा./१/७/.../३८/१ साधनं कारणम्। =साधन अर्थात् कारण।

२. कारणके भेद

रा.वा./२/८/१/११८/१२ द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च।..तत्र बाह्यो हेतुर्द्विविध —आत्मभूतोऽनात्मभूतश्चेति। ..आभ्यन्तरश्च द्विविध — अनात्मभूत आत्मभूतश्चेति। =हेतु दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य हेतु भी दो प्रकारका है—अनात्मभूत और आत्मभूत और अभ्यन्तर हेतु भी दो प्रकारका होता है—आत्मभूत और अनात्मभूत। (और भी दे० निमित्त/१)

३. कारणके भेदोंके लक्षण

रा.वा./२/८/१/११८/१४ तत्रात्मना सबन्धमापन्नविशिष्टनामकर्मोपात्तचक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूतः। प्रदीपादिरनात्मभूत.।.. तत्र मनोवाक्कायवर्गणालक्षणो द्रव्ययोग चिन्तायालम्बनभूत अन्तरभिनिविष्टत्वादाभ्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोऽन्यत्वादनात्मभूत इत्यभिधीयते। तन्निमित्तो भावयोगो वीर्यान्तरायज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमनिमित्त आत्मन प्रसादश्चात्मभूत इत्याख्यामर्हति। =(ज्ञान दर्शनरूप उपयोगके प्रकरणमें) आत्मासे सम्बद्ध शरीरमें निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियाँ आत्मभूत बाह्यहेतु हैं और प्रदीप आदि अनात्मभूत बाह्य हेतु हैं। मनवचनकायकी वर्गणाओंके निमित्तसे होनेवाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन रूप द्रव्य योग अन्त प्रविष्ट होनेसे आभ्यन्तर अनात्मभूतहेतु है तथा द्रव्ययोगनिमित्तक ज्ञानादिरूप भावयोग तथा वीर्यान्तराय तथा ज्ञानदर्शनावरणके क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न आत्माकी विशुद्धि आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु है।

२. उपादान कारणकार्य निर्देश

१. निश्चयसे कारण व कार्यमें अभेद है

रा.वा./१/३३/१/९५/४ न च कार्यकारणयो कश्चिद्रूपभेद तदुभयमेकाकारमेव पर्वाङ्गुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिक। =कार्य व कारणमें कोई भेद नहीं है। वे दोनों एकाकार ही है। जैसे—पर्व व अगुली। यह द्रव्यार्थिक नय है।

ध १२/४,२,८,३/३ सव्वस्स सचकलापस्स कारणादो अभेदो सत्तादीहिंतो त्ति णए अवलंबिज्जमाणे कारणादो कज्जमभिण्ण। .कारणे कार्यमस्तीति विवक्षातो वा कारणात्कार्यमभिन्नम्। =सत्ता आदिकी अपेक्षा सभी कार्यकलापका कारणसे अभेद है। इस नयका अवलम्बन करने पर कारणसे कार्य अभिन्न है, तथा कार्यसे कारण भी अभिन्न है। .. अथवा 'कारणमें कार्य है' इस विवक्षासे भी कारणसे कार्य अभिन्न है। (प्रकृतमें प्राण प्राणिवियोग और वचनकलाप चूँकि ज्ञानावरणीय बन्धके कारणभूत परिणामसे उत्पन्न होते हैं अतएव वे उससे अभिन्न है। इसी कारण वे ज्ञानावरणीयबन्धके प्रत्यय भी सिद्ध होते हैं)।

स.सा./आ./६७ निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत्। =निश्चय नयसे कर्म और करणकी अभिन्नता होनेसे जो जिससे किया जाता है (होता है) वह वही है—जैसे सुवर्णपत्र सुवर्णसे किया जाता होनेसे सुवर्ण ही है अन्य कुछ नहीं है।

२. द्रव्यका स्वभाव कारण है और पर्याय कार्य है

श्लो.वा./२/१/७/१२/५६५/भावाकार आग उत्पाद—यावन्ति कार्याणि तावन्त प्रत्येक वस्तुस्वभावा। =जितने कार्य होते हैं उतने प्रत्येक वस्तुके स्वभाव होते हैं।

न.च.वृ./३६०-३६१ कारणकज्जसहावं समयं णाऊण होइ ज्झायव्वं। कज्जं सुद्धसरूवं कारणभूदं तु साहणं तस्स ।३६०। सुद्धो कम्मखयादो कारणसमओ हु जीवसब्भावो। खय पुण सहावझाणे तम्हा तं कारणं झेयं ।३६१। =समय अर्थात् आत्माको कारण व कार्यरूप जानकर ध्याना चाहिए। कार्य तो उस आत्माका प्रगट होनेवाला शुद्ध स्वरूप है और कारणभूत शुद्ध स्वरूप उसका साधन है।३६०। कार्य शुद्ध समय तो कर्मोंके क्षयसे प्रगट होता है और कारण समय जीवका स्वभाव है। कर्मोंका क्षय स्वभावके ध्यानसे होता है इसलिए वह कारण समय ध्येय है। (और भी दे० कारण कार्य परमात्मा कारण कार्य समयसार)।

स.सा./आ./परि/क. २६४ के आगे—आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव। तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपाय यत्सिद्धं रूपं स उपेय। =आत्म वस्तुको ज्ञानमात्र होनेपर भी उसे उपायउपेय भाव है, क्योंकि वह एक होनेपर भी स्वयं साधक रूपसे और सिद्ध रूपसे दोनों प्रकारसे परिणमित होता है (अर्थात् आत्मा परिणामी है और साधकत्व और सिद्धत्व ये दोनों परिणाम हैं) जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्ध रूप है वह उपेय है।

३. त्रिकाली द्रव्य कारण है और पर्याय कार्य

रा.वा./१/३३/१/९५/४ अर्यते गम्यते निष्पाद्यते इत्यर्थ कार्यम्। द्रवति गच्छतीति द्रव्य कारणम्। =जो निष्पादन या प्राप्त किया जाये ऐसी पर्याय तो कार्य है और जो परिणमन करे ऐसा द्रव्य कारण है।

न.च.वृ./३६८ उप्पज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं तु जणयंतो। तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स वि कारणं कज्जं ।३६८। =उत्पद्यमान कार्य होता है और उसको उत्पन्न करनेवाला निज आत्मा कारण होता है। इसलिए एक ही द्रव्यमें कारण व कार्य भाव विरोधको प्राप्त नहीं होते।

का.अ./मू./२३२ स सरूवत्थो जीवो कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि। खेत्ते एक्कम्मि ठिदो णिय दव्वे संठिदो चेव ।२३२। =स्वरूपमें, स्वक्षेत्रमें, स्वद्रव्यमें और स्वकालमें स्थित जीव ही अपने पर्यायरूप कार्यको करता है।

४. पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण है और उत्तर पर्याय उसका कार्य है

आ.मी./५८ कार्योत्पाद. क्षयो हेतुर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्। न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षा. खपुष्पवत् ।५८। =हेतु कहिये उपादान कारण ताका क्षय कहिए विनाश है सो ही कार्यका उत्पाद है। जातैं हेतुके नियमते कार्यका उपजना है। ते उत्पाद विनाश भिन्न लक्षणतै न्यारे न्यारे हैं। जाति आदिके अवस्थानतैं भिन्न नाहीं है—कथंचित अभेद रूप है। परस्पर अपेक्षा रहित होय तो आकाश पुष्पवत् अवस्तु होय। (अष्टसहस्री/श्लो. ५८)

रा वा/१/६/१४/३७/२५ सर्वेषामेव तेषां पूर्वोत्तरकालभाव्यवस्थाविशेषार्पणाभेदादेकस्य कार्यकारणशक्तिसमन्वयो न विरोधस्यास्पदमित्यविरोधसिद्धिः। =सभी वादी पूर्वावस्थाको कारण और उत्तरावस्थाको कार्य मानते हैं। अतः एक ही पदार्थमे अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायकी दृष्टिसे कारण कार्य व्यवहार निर्विरोध रूपसे होता ही है।

अष्टसहस्री/श्लो. १० टीकाका भावार्थ (द्रव्यार्थिक व्यवहार नयसे मिट्टी घटका उपादान कारण है। ऋजुसूत्र नयसे पूर्व घटका उपादान कारण है। तथा प्रमाणसे पूर्व पर्याय विशिष्ट मिट्टी घटका उपादान कारण है।)

श्लो. वा २/१/७/१२/५३६/५ तथा सति रूपरसयोरेकार्थात्मकयोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव लिङ्गलिङ्गिव्यवहारहेतु कार्यकारणभावस्यापि नियतस्य तदभावेऽनुपपत्तेः सतानान्तरवत्। =आप बौद्धोके यहाँ मान्य अर्थक्रियामे नियत रहना रूप कार्यकारण भाव भी एक द्रव्य प्रत्यासत्ति नामक सम्बन्धके बिना नहीं बन सकता है। किसी एक द्रव्यमें पूर्व समयके रस आदि पर्यायोके उपादान कारण हो जाते है। (श्लो वा/पु २/१/८/१०/५६६)

अष्टसहस्री/पृ.२११ की टिप्पणी—नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम्। नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम्। =नियतपूर्वक्षणवर्ती तो कारण होता है और नियत उत्तरक्षणवर्ती कार्य होता है।

क पा १/§२४५/२८६/३ पागभावो कारणं। पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवावेक्खाए जायदे। =(जिस कारणसे द्रव्य कर्म सर्वदा विशिष्टपनेको प्राप्त नहीं होते है) वह कारण प्रागभाव है। प्रागभाव का विनाश हुए बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और प्रागभावका विनाश द्रव्य क्षेत्र काल और भवकी अपेक्षा लेकर होता है, (इसलिए द्रव्य कर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते है।)

का अ/मू/२२२-२२३ पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं। उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा।२२२। कारणकज्जविसेसा तीसु वि कालेसु हुति वत्थूण। एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तर-भावमासिज्ज।२२३। =पूर्व परिणाम सहित द्रव्य कारण रूप है और उत्तर परिणाम सहित द्रव्य नियमसे कार्य रूप है।२२२। वस्तुके पूर्व और उत्तर परिणामोको लेकर तीनो ही कालोमें प्रत्येक समयमे कारणकार्य भाव होता है।२२३।

सा./ता वृ/१११/१६८/१० मुक्तात्मना य एव मोक्षपर्यायेण भव उत्पाद स एव निश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ। =मुक्तात्माओकी जो मोक्ष पर्यायका उत्पाद है वह निश्चयमोक्षमार्गपर्यायका विलय है। इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी मोक्ष और मोक्षमार्गरूप दोनो पर्यायोमें कार्यकारणरूपसे भेद पाया जाता है (प्र सा. ता वृ/८/१०/११) (और भी देखो) —'समयसार' व 'मोक्षमार्ग/३/३'

५. एक वर्तमानमात्र पर्याय स्वयं ही कारण है और स्वयं ही कार्य है—

रा वा/१/३३/१/९५/६ पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम्। अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्, स एवैक कार्यकारणव्यपदेशमार्गात् पर्यायार्थिक। =पर्याय ही है अर्थ या कार्य जिसका सो पर्यायार्थिक नय है। उसकी अपेक्षा करनेपर अतीत और अनागत पर्याय विनष्ट व अनुत्पन्न होनेके कारण व्यवहार योग्य ही नहीं है। एक वर्तमान पर्यायमें ही कारणकार्यका व्यपदेश होता है।

६. कारणकार्यमें कथंचित् भेदाभेद

आप्त मी/५८ नियमाल्लक्षणात्पृथक्। =पूर्वोत्तर पर्याय विशिष्ट वे उत्पाद व विनाश रूप कार्यकारण क्षेत्रादि से एक होते हुए भी अपने-अपने लक्षणो से पृथक् है।

आप्त मी./९-१४ (कार्य के सर्वथा भाव या अभाव का निरास)
आप्त. मी./२४-३६ (सर्वथा अद्वैत या पृथक्त्वका निराकरण)
आप्त. मी/३७-४५ (सर्वथा नित्य व अनित्यत्वका निराकरण)
आप्त मी/५७-६० (सामान्यरूपसे उत्पाद व्ययरहित है, विशेषरूपसे वही उत्पाद व्ययसहित है)
आप्त. मी/६१-७२ (सर्वथा एक व अनेक पक्षका निराकरण)

श्लो वा/२/१/७/१२/५३१/६ न हि क्वचित् पूर्वे रसादिपर्यायाः पररसादिपर्यायाणामुपादानं नान्यत्र द्रव्ये वर्तमाना इति नियमस्तेषामेकद्रव्यतादात्म्यविरहे कथंचिदुपपन्न। =किसी एक द्रव्यमें पूर्व समयके रस आदि पर्याय उत्तरवर्ती समयमें होनेवाले रसादिपर्यायोंके उपादान कारण हो जाते है, किन्तु दूसरे द्रव्योमें वर्त रहे पूर्वसमयवर्ती रस आदि पर्याय इस प्रकृत द्रव्यमें होनेवाले रसादिक उपादान कारण नही है। इस प्रकार नियम करना उन-उन रूपादिकोके एक द्रव्य तादात्म्यके बिना कैसे भी नही हो सकता।

ध १२/४, २, ८, ३/२८०/३ सव्वस्स कज्जकलावस्स कारणादो अभेदो सत्तादीहितो त्ति णए अवलंबिज्जमाणे कारणादो कज्जमभिण्णं, कज्जादो कारणं पि, असदकरणाद् उपादानग्रहणात्, सर्वसभवाभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च। =सत्ता आदिकी अपेक्षा सभी कार्यकलाप कारणसे अभेद है। इस (द्रव्यार्थिक) नयका अवलम्बन करनेपर कारणसे कार्य अभिन्न है तथा कार्यसे कारण भी अभिन्न है, क्योकि—१ असत् कार्य कभी किया नही जा सकता, २. नियत उपादानकी अपेक्षा की जाती है, ३ किसी एक कारणसे सभी कार्य उत्पन्न नही हो सकते, ४. समर्थकारणके द्वारा शक्य कार्य ही किया जाता है, ५. तथा असत कार्यके साथ कारणका सम्बन्ध भी नही बन सकता।

नोट—(इन सभी पक्षोका ग्रहण उपरोक्त आप्तमीमासाके उद्धरणो मे तथा उसीके आधारपर (ध १५/१७-३१) में विशद रीतिसे किया गया है)

न च वृ/३६५ उप्पज्जतो कज्जं कारणमप्पा णिय तु जणयंतो। तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स वि कारणं कज्जं।३६५। =उत्पद्यमान पर्याय तो कार्य है और उसको उत्पन्न करनेवाला आत्मा कारण है, इसलिए एक ही द्रव्यमें कारणकार्य भावका भेद विरुद्ध नही है।

द्र. स/टी/३७/९७-९८ उपादानकारणमपि मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादानकारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति। यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते। =उपादान कारण भी मिट्टीरूप घट कार्यके प्रति मिट्टीका पिण्ड, स्थास, कोश तथा कुशूलरूप उपादान कारणके समान (अथवा सुवर्णकी अधस्तन व उपरितन पाक अवस्थाओवत्) कार्यसे एकदेश भिन्न होता है। यदि सर्वथा उपादान कारणका कार्यके साथ अभेद वा भेद हो तो उपरोक्त सुवर्ण और मिट्टीके दो दृष्टान्तोकी भाँति कार्य और कारण भाव सिद्ध नही होता।

३. निमित्त कारणकार्य निर्देश

१. भिन्न गुणों व द्रव्योंमें भी कारणकार्य भाव होता है

रा वा/१/२०/३-४/७०/३३ कश्चिदाह—मतिपूर्वं श्रुत तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति, कारणगुणानुविधानं हि कार्यं दृष्ट यथा मृन्निमित्तो घटो मृदात्मक। अथातदात्मकमिष्यते तत्पूर्वकत्वं तर्हि तस्य हीयते इति।३। न वैष दोष। किं कारणम्। निमित्तमात्रत्वाद् दण्डादिवत्॥ मृत्पिण्ड एव बाह्यदण्डादिनिमित्तापेक्ष आभ्यन्तरपरिणामसांनिध्याद् घटो भवति न दण्डादयः, इति दण्डादीना निमित्तमात्रत्वम्। तथा पर्यायिपर्याययो स्यादन्यत्वाद् आत्मन स्वयमन्त श्रुतभवनपरि-

णामाभिमुख्ये मतिज्ञानं निमित्तमात्रं भवति · अतो बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मैव · श्रुतभवनपरिणामाभिमुख्यात् श्रुतीभवति, न मतिज्ञानस्य श्रुतीभवनमस्ति तस्य निमित्तमात्रत्वात्। =प्रश्न—जैसे मिट्टीके पिण्डसे बना हुआ घडा मिट्टी रूप होता है, उसी तरह मतिपूर्वक श्रुत भी मतिरूप ही होना चाहिए अन्यथा उसे मतिपूर्वक नही कह सकते? उत्तर—मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें निमित्तमात्र है, उपादान नही। उपादान तो श्रुत पर्यायसे परिणत होनेवाला आत्मा है। जैसे मिट्टी ही बाह्य दण्डादि निमित्तोंकी अपेक्षा रखकर अभ्यन्तर परिणामके सान्निध्यसे घडा बनती है, परन्तु दण्ड आदिक घडा नही बन जाते और इसलिए दण्ड आदिकोंको निमित्तमात्रपना प्राप्त होता है। उसी प्रकार पर्यायी व पर्यायमें कथंचित अन्यत्व होनेके कारण आत्मा स्वयं ही जब अपने अन्तरग श्रुतज्ञानरूप परिणामके अभिमुख होता है तब मतिज्ञान निमित्तमात्र होता है। इसलिए बाह्य मतिज्ञानादि निमित्तोंकी अपेक्षा रखकर आत्मा ही श्रुतज्ञानरूप परिणामके अभिमुख होनेसे श्रुतरूप होता है, मतिज्ञान नही होता। इसलिए उसको निमित्तपना प्राप्त होता है। (स सि /१/२०/१२०/८)

श्लो वा /२/१/७/१३/५६३/१६ सहकारिकारणेण कार्यस्य कथ तत्स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धि, यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमन्यत्कार्यमिति प्रतीतम्। =प्रश्न—सहकारी कारणोंके साथ पूर्वोक्त कार्यकारण भाव कैसे ठहरेगा, क्योकि तहाँ एक द्रव्यकी पर्यायें न होनेके कारण एक द्रव्य नामके सम्बन्धका तो अभाव है? उत्तर—काल प्रत्यासत्ति नामके विशेष सम्बन्धसे तहाँ कार्यकारणभाव सिद्ध हो सकता है। जिससे अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे जो अवश्य उत्पन्न हो जाता है, वह उसका सहकारी कारण है और शेष दूसरा कार्य है, इस प्रकार कालिक सम्बन्ध सबको प्रतीत हो रहा है।

२. उचित ही द्रव्यको कारण कहा जाता है, जिस किसीको नहीं

श्लो वा ३/१/१३/४८/२२१/२४ तथा २२२/१६ स्मरणस्य हि न अनुभवमात्र कारण सर्वस्य सर्वत्र स्वानुभूतेऽर्थे स्मरण-प्रसंगात्। नापि दृष्टसजातीयदर्शनं सर्वस्य दृष्टस्य हेतोर्व्यभिचारात्। तदविद्यावासनाप्रहाण तत्कारणमिति चेत्, सैव योग्यता स्मरणावरणक्षयोपशमलक्षणा तस्या च सत्या सदुपयोगविशेषा वासना प्रबोध इति नाममात्र भिद्यते। =पदार्थोंका मात्र अनुभव कर लेना ही स्मरणका कारण नही है, क्योंकि इस प्रकार सभी जीवोको सर्वत्र सभी अपने अनुभूत विषयोंके स्मरण होनेका प्रसग होगा। देखे हुए पदार्थोंके सजातीय पदार्थोंको देखनेसे वासना उद्बोध मानो सो भी ठीक नही है, क्योंकि, इस प्रकार अन्वय व व्यतिरेकी व्यभिचार आता है। यदि उस स्मरणीय पदार्थकी लगी हुई अविद्यावासनाका प्रकृष्ट नाश हो जाना उस स्मरणका कारण मानते हो तब तो उसीका नाम योग्यता हमारे यहाँ कहा गया है। वह योग्यता स्मरणावरण कर्मका क्षयोपशम स्वरूप इष्ट की गयी है, और उस योग्यताके होते सते श्रेष्ठ उपयोग विशेषरूप वासना (लब्धि) को प्रबोध कहा जाता है। तब तो हमारे और तुम्हारे यहाँ केवल नामका ही भेद है।

प ध /उ /९९,१०२ वैभाविकस्य भावस्य हेतु स्यात्सनिकर्षत। तत्रस्थोऽप्यपरो हेतुर्न स्यात्किंवा वतेति चेत्।९९। बद्ध स्याद्बद्धयोर्भाव स्यादबद्धोऽप्यबद्धयो'। सानुकूलतया बन्धो न बन्ध' प्रतिकूलयो'।१०२। =प्रश्न—यदि एकक्षेत्रावगाहरूप होनेसे वह मूर्त द्रव्य जीवके वैभाविक भावमें कारण हो जाता है तो खेद है कि वहींपर रहनेवाला विस्रसोपचय रूप अन्य द्रव्य समुदाय भी विभाव परिणमनका कारण क्यो नहीं हो जाता? उत्तर—एक दूसरेसे बँधे हुए दोनोके भावको बद्ध कहते है और एक दूसरेसे नहीं बँधे हुए दोनोंके भावको अबद्ध कहते हैं, क्योंकि, जीवमें बन्धक शक्ति तथा कर्ममें बन्धनेकी शक्तिकी परस्पर अनुकूलतासे बन्ध होता है, और दोनोंके प्रतिकूल होनेपर बन्ध नहीं होता है।१०२। अर्थात् बँधे हुए कर्म ही उदय आनेपर विभावमें निमित्त होते हैं, विस्रसोपचयरूप अबद्ध कर्म नहीं।

३. कार्यानुसरण निरपेक्ष बाह्य वस्तु मात्रको कारण नहीं कह सकते।

ध. २/१, १/४४४/३ "दव्वेंदियाणं णिप्पत्तिं पडुच्च के वि दस पाणे भणंति। तण्ण घडदे। कुदो। भाविंदियाभावादो।" =कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियोंकी पूर्णताको (केवली भगवान्‌के) दश प्राण कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि सयोगि जिनके भावेन्द्रिय नहीं पायी जाती है।

प. मु./३/६१, ६३ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः।६१। तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्।६३। =पूर्वचर व उत्तरचर हेतु साध्यके कालमें नहीं रहते इसलिए उनका तादात्म्य सम्बन्ध न होनेसे तो वे स्वभाव हेतु नहीं कहे जा सकते और तदुत्पत्ति सम्बन्ध न रहनेसे कार्य हेतु भी नहीं कहे जा सकते।६१। कारणके सद्भावमें कार्यका होना कारणके व्यापारके आधीन है।६३। दे मिथ्यादृष्टि/२/६ (कार्यकालमें उपस्थित होने मात्रसे कोई पदार्थ कारण नहीं बन जाता)

४. कार्यानुसरण सापेक्ष ही बाह्य वस्तु कारण कहलाती है

आप्त मी /४२ यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत्। मोपादाननियामो भून्माश्वास कार्यजन्मनि।४२। =कार्यको सर्वथा असत माननेपर 'यही इसका कारण है अन्य नहीं' यह भी घटित नहीं होता, क्योंकि इसका कोई नियामक नहीं है। और यदि कोई नियामक हो तो वह कारणमें कार्यके अस्तित्वको छोडकर दूसरा भला कौन सा हो सकता है। (ध. १२/४, २, ८, ३/२८०/५) (ध १५/५/२१)

रा वा /१/९/११/४६/८ दृष्टो हि लोके छेत्तुर्देवदत्तात् अर्थान्तरभूतस्य परशो ···काठिन्यादिविशेषलक्षणोपेतस्य सत' करणभाव'। न च तथा ज्ञानस्य स्वरूप पृथगुपलभामहे। दृष्टो हि परशो देवदत्ताधिष्ठितोद्यमननिपातनापेक्षस्य करणभाव, न च तथा ज्ञानेन किंचित्कर्तृ साध्यं क्रियान्तरमपेक्ष्यमस्ति। किंच तत्परिणामाभावात्। छेदनक्रियापरिणतेन हि देवदत्तेन तत्क्रियायाः साचिव्ये नियुज्यमान परशु 'करणम्' इत्येतदयुक्तम्, न च तथा आत्मा ज्ञानक्रियापरिणत। =जिस प्रकार छेदनेवाले देवदत्तसे करणभूत फरसा कठोर तीक्ष्ण आदि रूपसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है, उस प्रकार (आप बौद्धोंके यहाँ) ज्ञानका पृथक् सिद्ध कोई स्वरूप उपलब्ध नही होता जिससे कि उसे करण बनाया जाये। फरसा भी तब करण बनता है जब वह देवदत्तकृत ऊपर उठने और नीचे गिरकर लकडीके भीतर घुसने रूप व्यापारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु (आपके यहाँ) ज्ञानमें कर्ताके द्वारा की जानेवाली कोई क्रिया दिखाई नहीं देती, जिसकी अपेक्षा रखनेके कारण उसे करण कहा जा सके।

स्वयं छेदन क्रियामें परिणत देवदत्त अपनी सहायताके लिए फरसेको लेता है और इसीलिए फरसा करण कहलाता है। पर (आपके यहाँ) आत्मा स्वयं ज्ञान क्रिया रूपसे परिणति ही नहीं करता (क्योकि वे दोनों भिन्न स्वीकार किये गये है)।

श्लो. वा. २/१/७/१३/५६३/२ यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। =जिससे अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे जो अवश्य उत्पन्न होता है, वह उसका सहकारी कारण है और दूसरा कार्य है।

स. सा /आ /८४ बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाण· कलशकृततोयोपयोगजा तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवश्च कुलाल· कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहार·। =बाह्यमें व्याप्यव्यापक भावसे घडेकी उत्पत्तिमें अनुकूल ऐसे व्यापारको करता हुआ तथा घडेके द्वारा किये गये पानीके उपयोगसे उत्पन्न तृप्तिको भाव्यभावक भावके द्वारा अनुभव करता हुआ, कुम्हार घडेका कर्ता है और भोक्ता है, ऐसा लोगोंका अनादिसे रूढ व्यवहार है।

पं. का /ता वृ /१६०/२३०/१३ निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यग्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण परिणममानस्यापि सुवर्णपाषाणस्याग्निरिव निश्चयमोक्षमार्गस्य बहिरङ्गसाधको भवतीति सूत्रार्थ । =अपने ही उपादान कारणसे स्वयमेव निश्चयमोक्षमार्गकी अपेक्षा शुद्ध भावोंसे परिणमता है वहाँ यह व्यवहार निमित्त कारणकी अपेक्षा साधन कहा गया है। जैसे—सुवर्ण यद्यपि अपने शुद्ध पीतादि गुणोसे प्रत्येक आँचमें शुद्ध चोखी अवस्थाको धरे है, तथापि बहिरंग निमित्तकारण अग्नि आदिक वस्तुका प्रयत्न है। तैसे ही व्यवहार मोक्षमार्ग है।

५. अनेक कारणोंमे-से प्रधानका ही ग्रहण करना न्याय है

स सि./१/२१/१२५ भव प्रतीत्य क्षयोपशम सजायत इति कृत्वा भव प्रधानकारणमित्युपदिश्यते। =(भवप्रत्यय अवधिज्ञानमे यद्यपि भव व क्षयोपशम दोनो ही कारण उपलब्ध हैं, परन्तु) भवका अवलम्बन लेकर (तहाँ) क्षयोपशम होता है, (सम्यक्त्व व चारित्रादि गुणोको अपेक्षासे नहीं)। ऐसा समझकर भव प्रधान कारण है, ऐसा उपदेश दिया जाता है। (कि यह अवधिज्ञान भव प्रत्यय है)।

४. कारण कार्य सम्बन्धी नियम

१ कारण सदृश ही कार्य होता है

ध. ९/४, १, ४१/२७०/५ कारणानुरूप कार्यमिति न निषेद्धु पार्यते सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्। =कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेध भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात सम्पूर्ण नैयायिक लोगोंमें प्रसिद्ध है।

ध १०/४,२,४,१७५/४३२/२ सव्वत्थकारणाणुसारिकज्जुवलंभादो। =सब जगह कारणके अनुसार ही कार्य पाया जाता है।

न च वृ./३६८ की चूलिका–इति न्यायादुपादानकारणसदृश कार्यं भवति। इस न्यायके अनुसार उपादान सदृश कार्य होता है। (विशेष दे० 'समयसार')

स सा./आ /६८ कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति। =कारण जैसा ही कार्य होता है, ऐसा समझ कर जो पूर्वक होनेवाले जो जौ (यव), वे जौ (यव) ही होते हैं। (स.सा/आ./१३०-१३०) (प ध/पू/४०६)

प्र.सा /ता वृ /८/१०/११ उपादानकारणसदृश हि कार्यमिति। =उपादान कारण सदृश ही कार्य होता है। (प का /ता वृ /२३/४६/१४)

स म /२७/३०४/१८ उपादानानुरूपत्वाद्ध उपादेयस्य। =उपादान कारण उपादेयरूप कार्यके अनुरूप होता है।

२. कारण सदृश ही कार्य हो ऐसा कोई नियम नहीं

स सि /१/२०/१२० यदि मतिपूर्वं श्रुत तदपि मत्यात्मकं प्राप्नोति 'कारणसदृश हि लोके कार्यं दृष्टम्' इति। नैतदेकान्तिकम्। दण्डादिकारणोऽय घटो न दण्डाद्यात्मक·। =प्रश्न—यदि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है, तो वह श्रुतज्ञान भी मत्यात्मक ही प्राप्त होता है, क्योंकि लोकमें कारणके समान ही कार्य देखा जाता है? उत्तर—यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि कारणके समान कार्य होता है। यद्यपि घटकी उत्पत्ति दण्डादिसे होती है तो भी दण्डाद्यात्मक नहीं होता। (और भी दे० कारण/I/३/१)

रा वा/१/२०/५/७१/११ नायमेकान्तोऽस्ति—'कारणसदृशमेव कार्यम्' इति कुत। तत्रापि सप्तभंगीसभवात् कथम्। घटवत्। यथा घट कारणेन मृत्पिण्डेन स्यात्सदृश स्यान्न सदृश· इत्यादि। मृद्द्रव्याजीवानुपयोगाद्यादेशात् स्यात्सदृश, पिण्डघटसस्थानादिपर्यायादेशात् स्यान्न सदृश। यस्यैकान्तेन कारणानुरूपं कार्यम्, तस्य घटपिण्डशिवकादिपर्याया उपालभ्यन्ते। किंच, घटेन जलधारणादिव्यापारो न क्रियते मृत्पिण्डे तददर्शनात्। अपि च मृत्पिण्डस्य घटत्वेन परिणामवद्द घटस्यापि घटत्वेन परिणाम स्यात् एकान्तसदृशत्वात्। न चैव भवति। अतो नैकान्तेन कारणसदृशत्वम्। =यह कोई एकान्त नहीं है कि कारण सदृश ही कार्य हो। पुद्गल द्रव्यकी दृष्टिसे मिट्टी रूप कारणके समान घडा होता है, पर पिण्ड और पर्यायोकी अपेक्षा दोनो विलक्षण हैं। यदि कारणके सदृश ही कार्य हो तो घट अवस्थासे भी पिण्ड शिवक आदि पर्यायें मिलनी चाहिए थी। जैसे मृत्पिण्डमें जल नहीं भर सकते उसी तरह घडेमें भी नहीं भरा जाना चाहिए और मिट्टीकी भाँति घटका भी घट रूपसे ही परिणमन होना चाहिए, कपालरूप नहीं। कारण कि दोनों सदृश जो हैं। परन्तु ऐसा तो कभी होता नहीं है अत कार्य एकान्तसे कारण सदृश नहीं होता।

ध १२/४,२,७ १७७/८१/३ संजमासजमपरिणामादो जेण सजमपरिणामो अणंतगुणो तेण पदेसणिज्जराए वि अणतगुणाए होदव्व, एदम्हादो अण्णत्थ सव्वत्थ कारणाणुरूवकज्जुवलभादो त्ति। ण, जोगगुणगाराणुसारिपदेसगुणगारस्स अणंतगुणत्तविरोहादो।· ण च कज्ज कारणाणुसारी चेव इति णियमो अत्थि, अतरंगकारणावेक्खाए पवत्तस्स कज्जस्स बहिरंगकारणाणुसारित्तणियमाणुववत्तीदो। =प्रश्न—यत सयमासयम रूप परिणामकी अपेक्षा सयमरूप परिणाम अनन्तगुणा है अत वहाँ प्रदेश निर्जरा भी उससे अनन्तगुणी होनी चाहिए। क्योंकि इससे दूसरी जगह सर्वत्र कारणके अनुरूप ही कार्यकी उपलब्धि होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रदेश निर्जराका गुणकार योगगुणकारका अनुसरण करनेवाला है, अतएव उसके अनन्त गुणे होनेमें विरोध आता है। दूसरे—कार्य कारणका अनुसरण करता ही हो· ऐसा भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अन्तरंग कारणकी अपेक्षा प्रवृत्त होने वाले कार्यके बहिरंग कारणके अनुसरण करनेका नियम नहीं बन सकता।

ध १५/१६/१० ण च एयतेण कारणाणुसारिणा कज्जेण होदव्व, मट्टियपिंडादो मट्टियपिंडं मोत्तूण घडघडी-सरावालिजरुट्टियादीणमणुप्पत्तिप्पसगादो। सुवण्णादो सुवण्णस्स घडस्सेव उप्पत्तिदसणादो कारणाणुसारि चेव कज्जं त्ति ण वोत्तु जुत्त, कट्टिणादो, सुवण्णादो जलणादिसंजोगेण सुवण्णजलुप्पत्तिदंसणादो। किं च—कारण व ण कज्जमुप्पज्जदि, सव्वप्पणा कारणसरूवमावण्णस्स उप्पत्तिविरोहादो। जदि एयतेण [ण] कारणाणुसारि चेव कज्जमुप्पज्जदि तो मुत्तादो पोग्गलदव्वादो अमुत्तस्स गयणुप्पत्ती होज्ज, णिच्चेयणादो पोग्गलदव्वादो सचेयणस्स जीवदव्वस्स वा उप्पत्ती पावेज्ज। ण च एवं, तहाणुवलंभादो। तम्हा कारणाणुसारिणा कज्जेण होदव्वमिदि। एत्थ परि-

हारो वुच्चदे—होदु णाम केण वि सरूवेण कज्जस्स कारणाणुसारित्तं, ण सव्वप्पणा, उप्पादवय-ट्ठिदिलक्खणाण जीव-पोग्गल-धम्माधम्म-कालागासदव्वाणं सगवइसेसियगुणाविणाभाविसयलमयलगुणाणमपरिच्चाएण पज्जायंतरगमणदंसणादो। ='कारणानुसारी ही कार्य होना चाहिए, यह एकान्त नियम भी नही है, क्योकि मिट्टीके पिण्डसे मिट्टीके पिण्डको छोडकर घट, घटी, शराव, अलिजर और उष्ट्रिका आदिक पर्याय विशेषोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसग अनिवार्य होगा। यदि कहो कि सुवर्णमे सुवर्णके घटकी हो उत्पत्ति देखी जानेसे कार्य कारणानुसारी ही होता है, सो ऐसा कहना भी योग्य नहीं है, क्योंकि, कठोर सुवर्णसे अग्नि आदिका सयोग होनेपर सुवर्ण जलकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार कारण उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कार्य भी उत्पन्न नही होगा, क्योंकि कार्य सर्वात्मना कारणरूप ही रहेगा, इसलिए उसकी उत्पत्तिका विरोध है। प्रश्न— यदि सर्वथा कारणका अनुसरण करनेवाला ही कार्य नहीं होता है तो फिर मूर्त पुद्गल द्रव्यसे अमूर्त आकाशकी उत्पत्ति हो जानी चाहिए। इसी प्रकार अचेतन पुद्गल द्रव्यसे सचेतन जीव द्रव्यकी भी उत्पत्ति पायी जानी चाहिए। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि, वैसा पाया नहीं जाता, इसलिए कार्य कारणानुसारी ही होना चाहिए? उत्तर—यहाँ उपर्युक्त शकाका परिहार कहते है। किसी विशेष स्वरूपसे कार्य कारणानुसारी भले ही हो परन्तु वह सर्वात्मस्वरूपसे वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य लक्षणवाले जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्य अपने विशेष गुणोके अविनाभावी समस्त गुणोका परित्याग न करके अन्य पर्यायको प्राप्त होते हुए देखे जाते है।

ध १/४,१,४५/१४६/१ कारणानुगुणकार्यनियमानुपलम्भात्। =कारणगुणानुसार कार्यके होनेका नियम नही पाया जाता।

३. एक कारणसे सभी कार्य नहीं हो सकते

सांख्यकारिका/९ सर्व सभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्। =किसी एक कारणसे सभी कार्योंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। समर्थ कारणके द्वारा शक्य कार्य ही किया जाता है। (ध.१२/४,२,८,११३/२८०/५)

४. परन्तु एक कारणसे अनेक कार्य अवश्य हो सकते हैं

स सि /६/१०/३२८/६ एककारणसाध्यस्य कार्यस्यानेकस्य दर्शनात् तुल्येऽपि प्रदोषादौ ज्ञानदर्शनावरणास्रवहेतव। =एक कारणसे भी अनेक कार्य होते हुए देखे जाते है, इसलिए प्रदोषादिक (कारणों) के एक समान रहते हुए भी इनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण दोनोका आस्रव (रूप कार्य) सिद्ध होता है। (रा वा/६/१०/१०-१२/५१८)

ध.१२/४,२,८,२/२७८/१० कधमेगो पाणादिवादो अक्कमेण दोण्ण कज्जाणं समाढवो। ण एयादो एयादो मोग्गरादो घादावयवविभागट्ठाणसचालणक्खेत्तंतरवत्तिखप्परकज्जाणमक्कमेणुप्पत्तिदसणादो। कधमेगो पाणादिवादो अणते कम्मइयक्खधे णाणावरणीयसरूवेण अक्कमेण परिणमावेदि, बहुसु एकस्स अक्कमेण वुत्तिविरोहादो। ण, एयस्स पाणादिवादस्स अणतसत्तिजुत्तस्स तदविरोहादो। =प्रश्न—प्राणातिपाति रूप एक ही कारण युगपत् दो कार्योंका उत्पादक कैसे हो सकता है? (अर्थात् कर्मको ज्ञानावरण रूप परिणमाना और जीवके साथ उसका बन्ध कराना ये दोनों कार्य कैसे कर सकता है) ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक मुद्गरसे घात, अवयवविभाग, स्थानसचालन और क्षेत्रान्तरकी प्राप्तिरूप खप्पर कार्योंकी युगपत् उत्पत्ति देखी जाती है। प्रश्न—प्राणातिपात रूप एक ही कारण अनन्त कार्माण स्कन्धोका एक साथ ज्ञानावरणीय स्वरूपसे कैसे परिणमाता है, क्योंकि, बहुतोंमें एककी युगपत् वृत्तिका विरोध है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्राणातिपातरूप एक ही कारणके अनन्त शक्तियुक्त होनेसे वैसा होनेमें कोई विरोध नहीं आता। (और भी दे० वर्गणा/२/६/३ में ध./१५)

५. एक कार्यको अनेकों कारण चाहिए

स.सि./५/१७/२८३/३ भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेत। न साधारणाश्रय इति विशिष्योक्तत्वात्। अनेककारणसाध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य। =प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्यके जो प्रयोजन है, पृथिवी और जल आदिक ही उनके करनेमें समर्थ हैं, अत धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योकि धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिके साधारण कारण है। यह विशेष रूपसे कहा गया है। तथा एक कार्य अनेक कारणोसे होता है, इसलिए धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक है।

रा वा/५/१७/३१/४६४/२६ इह लोके कार्यमनेकोपकरणसाध्यं दृष्टम्, यथा मृत्पिण्डो घटकार्यपरिणामप्राप्तिं प्रति गृहीताभ्यन्तरसामर्थ्यः बाह्यकुलालदण्डचक्रसूत्रोदककालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्ष घटपर्यायेणाविर्भवति, नैक एव मृत्पिण्ड कुलालादिबाह्यसाधनसंनिधानेन विना घटात्मनाविर्भवितु समर्थ। =इस लोकमें कोई भी कार्य अनेक कारणोसे होता देखा जाता है, जैसे मिट्टीका पिण्ड घट कार्यरूप परिणामकी प्राप्तिके प्रति आभ्यन्तर सामर्थ्यको ग्रहण करके भी, बाह्य कुम्हार, दण्ड चक्र, डोरा, जल, काल व आकाशादि अनेक कारणोंकी अपेक्षा करके ही घट पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। कुम्हार आदिक बाह्य साधनोंकी सन्निधिके बिना केवल अकेला मिट्टीका पिण्ड घटरूपसे उत्पन्न होनेको समर्थ नहीं है।

प.का/ता वृ /२५/५३/४ गतिपरिणतेर्धर्मद्रव्य सहकारिकारणं भवति कालद्रव्यं च, सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति यत कारणात् घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत्, मत्स्यादीना जलादिवत्, मनुष्याणा शकटादिवत्, विद्याधराणा विद्यामन्त्रौषधादिवत्, देवानां विमानवदित्यादि कालद्रव्य गतिकारणम्। =गतिरूप परिणतिमें धर्मद्रव्य भी सहकारी है और कालद्रव्य भी। सहकारीकारण बहुत होते हैं जैसे कि घडेकी उत्पत्तिमे कुम्हार, चक्र, चीवर आदि, मछली आदिकोको जल आदि, मनुष्योंको रथ आदि, विद्याधरोको विद्या, मन्त्र, औषधि आदि तथा देवोंको विमान आदि। अत कालद्रव्य भी गतिका कारण है। (प.प्र /टी /२/२३), (द्र स /टी /२५/७१/१२)

प ध./पू /४०२ कार्यं प्रतिनियतत्वाद्धेतुद्वैत न ततोऽतिरिक्त चेत। तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह। =कार्यके प्रति नियत होनेसे उपादान और निमित्तरूप दो हेतु ही है, उससे अधिक नहीं है, यदि ऐसा कहो तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि, यहाँ पर उन दो हेतुओके ही माननेरूप नियमका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है।४०२। (प ध /पू /४०४)

६. एक ही प्रकारका कार्य विभिन्न कारणोंसे हो सकता है

ध ७/२,१,१७/६६/५ ण च एक्कं कज्जं एक्कादो चेव कारणादो सव्वत्थ उप्पज्जदि, खइर-सिसव-धव-धम्मण-गोमय-सूरयर-सुज्जकतेहिंतो समुप्पज्जमाणेक्कग्गिकज्जुवलभा। =एक कार्य सर्वत्र एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं होता, क्योकि खदिर, शीसम, धौ, धामिन, गोबर, सूर्यकिरण, व सूर्यकान्तमणि, इन भिन्न-भिन्न कारणोसे एक अग्निरूप कार्य उत्पन्न होता पाया जाता है।

ध.१२/४,२,८,११/२८६/११ कधमेय कज्जमणेगेहिंतो उप्पज्जदे। ण, एगादो कुभारादो उप्पण्णघडस्स अण्णादो वि उप्पत्तिदसणादो। पुरिस

पडि पुध पुध उप्पज्जमाणा कुभोदंचणसरावादओ दीसंति त्ति चे। ण, एत्थ वि कमभाविकोधादीहितो उप्पज्जमाणणाणावरणीयस्स दव्वादिभेदेण भेदुवलंभादो। णाणावरणीयसमाणत्तणेण तदेक्कं चे। ण, बहूहितो समुप्पज्जमाणघडाणं पि घडभावेण एयत्तुवलंभादो। =प्रश्न—एक कार्य अनेक कारणोसे कैसे उत्पन्न होता है? (अर्थात् अनेक प्रत्ययोसे एक ज्ञानावरणीय ही वेदना कैसे उत्पन्न होती है)। उत्तर—नही, क्योकि, एक कुम्भकारसे उत्पन्न किये जानेवाले घटकी उत्पत्ति अन्यसे भी देखी जाती है। प्रश्न—पुरुष भेदसे पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाले कुम्भ, उदंच, व शराव आदि भिन्न-भिन्न कार्य देखे जाते है (अथवा पृथक्-पृथक् व्यक्तियोसे बनाये गये घडे भी कुछ न कुछ भिन्न होते ही है।)? उत्तर—तो यहाँ भी क्रमभावी क्रोधादिकोसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानावरणीयकर्मका द्रव्यादिकके भेदसे भेद पाया जाता है। प्रश्न—ज्ञानावरणीयत्वकी समानता होनेसे वह (अनेक भेद रूप होकर भी) एक ही है? उत्तर—इसी प्रकार यहाँ भी बहुतोके द्वारा उत्पन्न किये जाने वाले घटोके भी घटत्व रूपसे अभेद पाया जाता है।

७. कारण व कार्य पूर्वोत्तर कालवर्ती ही होते हैं

श्लो.वा२/१/४/२३/१२१/११ य एव आत्मन' कर्मबन्धविनाशस्य कालः स एव केवलत्वाख्यमोक्षोत्पादस्येति चेत्, न, तस्यायोगकेवलिचरमसमयत्वविरोधात् पूर्वस्य समयस्यैव तथात्वापत्ते। =यदि इस उपान्त्य समयमें होने वाली निर्जराको भी मोक्ष कहा जायेगा तो उससे भी पहले समयमें परमनिर्जरा कहनी पडेगी। क्योंकि कार्य एक समय पूर्वमे रहना चाहिए। प्रतिबन्धकोका अभावरूप कारण भले कार्यकालमें रहता होय किन्तु प्रेरक या कारक कारण तो कार्यके पूर्व समयमें विद्यमान होने चाहिए—(ऐसा कहना भी ठीक नही है) क्योकि इस प्रकार द्विचरम, त्रिचरम, चतुश्चरम आदि समयोमें मोक्ष होनेका प्रसग हो जायेगा; कुछ भी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अत' यही व्यवस्था होना ठीक है कि अयोग केवलीका चरम समय [ही परम निर्जराका काल है और उसके पीछेका समय मोक्षका है।

ध.१/१,१,४७/२७१/७ कार्यकारणयोरेककालं समुत्पत्तिविरोधात्। =कार्य और कारण इन दोनोकी एक कालमें उत्पत्ति नही हो सकती है।

ध ६/४,१,१/३/८ ण च कारणपुव्वकालभावि कज्जमत्थि, अणुवलभादो। =कारणसे पूर्व कालमें कार्य होता नही है, क्योकि वैसा पाया नही जाता।

स्या म./१६/१९६/२२ न हि युगपदुत्पद्यमानयोस्तयो सव्येतरगोविषाणयोरिव कारणकार्यभावो युक्त.। नियतप्राक्कालभावित्वात् कारणस्य। नियतोत्तरकालभावित्वात् कार्यस्य। एतदेवाह न तुल्यकाल फलहेतुभाव इति। फलं कार्यं हेतु कारणम्, तयोर्भाव स्वरूपम्, कार्यकारणभाव। स तुल्यकाल' समानकालो न युज्यत इत्यर्थ'। =प्रमाण और प्रमाणका फल बौद्ध लोगोके मतमे गायके बाये और दाहिने सीगोकी तरह एक साथ उत्पन्न होते है, इसलिए उनमे कार्यकारण सम्बन्ध नही हो सक्ता। क्योकि नियत पूर्वकालवर्ती तो कारण होता है और नियत उत्तरकालवर्ती उसका कार्य होता है। फल कार्य है और हेतु कारण। उनका भाव या स्वरूप ही कार्यकारण भाव है। वह तुल्यकालमे नही हो सक्ता।

८. कारण व कार्यमें व्याप्ति आवश्यक होती है

आप्त प/६/४१/२ तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात् कुलालकारणकस्य घटादे कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धे। =जैसे कुम्हारसे उत्पन्न होनेवाले घडा आदिमें कुम्हारका अन्वय व्यतिरेक स्पष्टतः प्रसिद्ध है। अत. सब जगह बाधकोके अभावसे अन्वय व्यतिरेक कार्यके व्यवस्थित होते हैं, अर्थात् जो जिसका कारण होता है उसके साथ अन्वय व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है।

ध/पु. ७/२, १, ७/१०/५ जस्स अण्ण-विदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णयविदिरेगा उवलंभंति तं तस्स कज्जमियरं च कारणं। =जिसके अन्वय और व्यतिरेकके साथ नियमसे जिसका अन्वय और व्यतिरेक पाये जावे वह उसका कार्य और दूसरा कारण होता है। (ध/८/३, २०/५१/३)।

ध./१२/४, २, ८, १३/२८९/४ यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिदि न्यायात्। =जो जिसके होनेपर ही होता है वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है। (ध/१४/५, ६, ९३/?/२)

९. कारण अवश्य कार्यका उत्पादक हो ऐसा कोई नियम नहीं

ध./१२/४, २, ८, १३/२८९/८ नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति, कुम्भमकुर्वत्यपि कुम्भकारे कुम्भकारव्यवहारोपलम्भात्। =कारण कार्यवाले अवश्य हो ऐसा सम्भव नही, क्योकि, घटको न करनेवाले भी कुम्भकारके लिए 'कुम्भकार' शब्दका व्यवहार पाया जाता है।

भ आ./वि/११४/४१०/६ न चावश्यं कारणानि कार्यवन्ति। धूमजनयतोऽप्यग्नेर्दर्शनात् काष्ठाद्यपेक्षस्य। =कारण अवश्य कार्यवान् होते ही है, ऐसा नियम नही है, काष्ठादिकी अपेक्षा रखनेवाला अग्नि धूमको उत्पन्न करेगा ही, ऐसा नियम नहीं।

न्या. दी./३/§५३/९६ ननु कार्यं कारणानुमापकमस्तु कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्ते'। कारणं तु कार्यभावेऽपि सभवति, यथा धूमाभावेऽपि वह्नि सुप्रतीत.। अतएव वह्निर्न धूम गमयतीति चेत, तन्न, उन्मीलितशक्तिकस्य कारणस्य कार्याव्यभिचारित्वेन कार्यं प्रति हेतुत्वाविरोधात्। =प्रश्न—कारण तो कार्यका ज्ञापक (जनानेवाला) हो सक्ता है, क्योकि कारणके बिना कार्य नही होता किन्तु कारण कार्यके बिना भी सम्भव है, जैसे—धूमके बिना भी अग्नि देखी जाती है। अतएव अग्नि धूमकी गमक नहीं होती, (धूम ही अग्निका गमक होता है), अत' कारणरूप हेतुको मानना ठीक नहीं है। उत्तर—नही, जिस कारणकी शक्ति प्रकट है—अप्रतिहत है, वह कारण कार्यका व्यभिचारी नही होता है। अत (उत्पादक न भी हो, पर) ऐसे कारणको कार्यका ज्ञापक हेतु माननेमे कोई दोष नही है।

दे. मंगल/२/६ (जिस प्रकार औषधियोका औषधित्व व्याधियोके शमन न करनेपर भी नष्ट नही होता इसी प्रकार मगलका मगलपना विघ्नोंका नाश न करनेपर भी नष्ट नही होता)।

१०. कारण कार्यका उत्पादक न ही हो यह भी कोई नियम नही

ध/६/४, १, ४४/११७/१० ण च कारणाणि कज्ज ण जणेंति चेवेति णियमो अत्थि, तहाणुवलभादो। =कारण कार्यको उत्पन्न करते ही नही है, ऐसा नियम नही है, क्योकि, वैसा पाया नहीं जाता। अतएव किसी कालमें किसी भी जीवमें कारणकलाप सामग्री नियमसे होना चाहिए।

११. कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी भी निवृत्ति हो ऐसा कोई नियम नही

रा. वा./१०/२/१/६४२/१० नायमेकान्त' निमित्तापाये नैमित्तिकानां निवृत्ति इति। =निमित्तके अभावमें नैमित्तिकका भी अभाव हो ही ऐसा कोई नियम नही है। जैसे दीपक जला चुकनेके पश्चात्

२. उपादानकी कथंचित् प्रधानता

१. उपादानके अभावमें कार्यका भी अभाव

ध./६/४, १, ४४/११५/७ ण चोवायाणकारणेण विणा कज्जुप्पत्ती, विरोहादो। =उपादान कारणके विना, कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है।

पं. का /ता वृ./६०/११२/१२ परस्परोपादानकर्तृ त्व खलु स्फुटम्। नैव विनाभूते सजाते तु पुनस्ते द्रव्यभावकर्मणी द्वे। क विना। उपादानकर्तारं विना, किंतु जीवगतरागादिभावाना जीव एव उपादानकर्ता द्रव्यकर्मणा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गल एवेति। =जीव व कर्ममें परस्पर उपादान कर्तापना स्पष्ट है, क्योंकि विना उपादानकर्ताके वे दोनो द्रव्य व भाव कर्म होने सम्भव नही है। तहाँ जीवगत रागादि भावकर्मोंका तो जीव उपादानकर्ता है और द्रव्य कर्मोंका कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल उपादानकर्ता है।

२. उपादानसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है

ध /६/१,६-६/१६/१६४ तम्हा कम्हि वि अंतरगकारणादो चेव कज्जुप्पत्ती होदि त्ति णिच्छओ कायव्वो। =कही भी अन्तरग कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए (क्योंकि बाह्यकारणोंसे उत्पत्ति माननेमें शालीके बीजसे जौकी उत्पत्तिका प्रसग होगा।

३. अन्तरंग कारण ही बलवान है

ध./१२/४, २, ७४८/३६/६ ण केवलमकसायपरिणामो चेव अणुभागघादस्स कारण, किं पयडिगयसत्तिसव्वपेक्खो परिणामो अणुभागघादस्स कारण। तत्थ वि पहाणमतरगकारण, तम्हि उक्कस्से सते बहिरगकारणे थोवे वि बहुअणुभागघादद सणादो, अतरगकारणे थोवे सते बहिरगकारणे बहुए सते वि बहुअणुभागघादाणुवलंभादो। =केवल अकषाय परिणाम ही (कर्मोंके) अनुभागघातका कारण नहीं है, किन्तु प्रकृतिगत शक्तिकी अपेक्षा रखनेवाला परिणाम अनुभागघातका कारण है। उसमें भी अन्तरग कारण प्रधान है, उसके उत्कृष्ट होनेपर बहिरगकारणके स्तोक रहनेपर भी अनुभाग घात बहुत देखा जाता है। तथा अन्तरग कारणके स्तोक होनेपर बहिरग कारणके बहुत होते हुए भी अनुभागघात बहुत नही उपलब्ध होता।

ध /१४/५, ६, ६३/६०/१ ण बहिरगहिंसाए आसवत्ताभावो। त कुदो णव्वदे। तदभावे वि अतरगहिंसादो चेव सित्थमच्छस्स बधुवलंभादो। जेण विणा ज ण होदि चेव तं तस्स कारण। तम्हा अतरग हिंसा चेव सुद्धणएण हिंसा ण बहिरगा त्ति सिद्धं। ण च अतरगहिंसा एत्थ अत्थि कसायासंजमाणमभावादो। =(अप्रमत्त जनोंको) बहिरग हिंसा आस्रव रूप नही होती? प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—क्योंकि बहिरग हिंसाका अभाव होनेपर भी केवल अन्तरग हिंसासे सिक्थमत्स्यके बन्धकी उपलब्धि होती है। जिसके बिना जो नही होता है वह उसका कारण है, इसलिए शुद्ध नयसे अन्तरग हिंसा ही हिंसा है, बहिरग नही यह बात सिद्ध होती है। यहाँ (अप्रमत्त साधुओंमें) अन्तरग हिंसा नहीं है, क्योंकि कषाय और असयमका अभाव है।

प्र. सा /त प्र /२२७ यस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात् स्वयमनशन एव स्वभाव। तदेव तस्यानशन नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात्। =समस्त अनशनकी तृष्णासे रहित होनेसे जिसका स्वय अनशन ही स्वभाव है, वही उसके अनशन नामक तप है, क्योंकि अन्तरगकी विशेष बलवत्ता है।

प्र.सा /त.प्र./२३८ आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम्। =आगम ज्ञान तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्वकी युगपतता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम संमत करना।

स्या म /७/६३/२२ पर उद्धृत–अव्यभिचारी मुख्योऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च। =अव्यभिचारी, अविकल, असाधारण और अन्तरंग अर्थको मुख्य कहते है।

स्व. स्तो./५६ की टीका पृ. १५६ अनेन भक्तिलक्षणशुभपरिणामहीनस्य पूजादिकं न पुण्यकारण इत्युक्तं भवति। तत अभ्यन्तरशुभाशुभजीवपरिणामलक्षणं कारण केवल बाह्यवस्तुनिरपेक्षम्। =इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भक्तियुक्त शुभ परिणामोंसे रहित पूजादिक पुण्यके कारण नहीं होते है। अत बाह्य वस्तुओंसे निरपेक्ष जीवके केवल अन्तरंग शुभाशुभ परिणाम ही कारण है।

४. विघ्नकारी कारण भी अन्तरंग ही हैं

प्र.सा /त.प्र /६२ यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री। =यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तवमें मनोरथ है। इसमें विघ्न डालने वाली एक बहिर्मोहदृष्टि ही है।

द्र सं./टी /३५/१४४/२ परमसमाधिर्दुर्लभ। कस्मादिति चेत्तत्प्रतिबन्धकमिथ्यात्वविषयकषायनिदानबन्धादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वादिति। =परमसमाधि दुर्लभ है। क्योंकि परमसमाधिको रोकनेवाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदानबन्ध आदि जो विभाव परिणाम हे, उनकी जीवमें प्रबलता है।

द्र स /टी /५६/२२५/५ नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूतिप्रतिबन्धकं शुभाशुभचेष्टारूप कायव्यापारं · वचनव्यापारं·· चित्तव्यापारं च किमपि मा कुरुत हे विवेकिजना। =नित्य निरञ्जन निष्क्रिय निज शुद्धात्माकी अनुभूतिके प्रतिबन्धक जो शुभाशुभ मन वचन कायका व्यापार उसे हे विवेकीजनो! तुम मत करो।

३. उपादानकी कथंचित् परतन्त्रता

१. निमित्तकी अपेक्षा रखनेवाला पदार्थ उस कार्यके प्रति स्वयं समर्थ नहीं हो सकता

स्या.म /५/३०/११ समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने त समर्थं करोतीति चेद्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यम्, अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्। सापेक्षमसमर्थम् इति न्यायात्। =यदि ऐसा माना जाये कि समर्थ होनेपर भी अमुक सहकारी कारणोके मिलनेपर ही पदार्थ अमुक कार्यको करता है तो इससे उस पदार्थकी असमर्थता ही सिद्ध होती है, क्योंकि वह दूसरोके सहयोगकी अपेक्षा रखता है, न्यायका वचन भी है कि "जो दूसरोकी उपेक्षा रखता है। वह असमर्थ है।

२. व्यावहारिक कार्य करनेमें उपादान निमित्तोंके आधीन है

त सू /१०/८ धर्मास्तिकायाभावात्। =धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे जीव लोकान्तसे ऊपर नही जाता। (विशेष दे० धर्माधर्म)

पभू /सू /१/६६ अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ। भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ।६६। =हे जीव! यह आत्मा पंगुके समान है। आप न कहीं जाता है, न आता है। तीनो लोकोंमे इस जीवको कर्म ही ले जाता है और कर्म ही ले आता है।

आप्त. प /११४-११५/§२६६-२६७/२४६-२४७ जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि। तानि च पुद्गलपरिणामात्मकानि जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडादिवत्। क्रोधादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न, · पारतन्त्र्यं हि क्रोधादिपरिणामो न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम्। § २६६। ननु च ज्ञानावरण···जीवस्वरूपघातित्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं न पुनर्नामगोत्रसद्वेद्यायुषाम् तेषामात्मस्वरूपाघातित्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वासिद्धेरिति पक्षाव्यापको हेतु'। ···न; तेषामपि जीवस्वरूपसिद्धत्वप्रतिबन्धत्वात्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वोपपत्ते.। कथमेवं तेषामघातिकर्मत्वं। इति चेद, जीवन्मुक्तलक्षणपरमार्हन्त्यलक्ष्मीघातित्वाभावादिति ब्रूमहे। § २६७। =जो जीवको परतन्त्र करते है अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हे कर्म कहते हैं। वे सब पुद्गलपरिणामात्मक है, क्योकि वे जीवकी परतन्त्रतामें कारण है जैसे निगड (बेडी) आदि। प्रश्न—उपर्युक्त हेतु क्रोधादिके साथ व्यभिचारी है? उत्तर—नही, क्योकि जीवके क्रोधादि भाव स्वयं परतन्त्रता है, परतन्त्रताका कारण नही। § २६६। प्रश्न—ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्म ही जीवस्वरूप घातक होनेसे परतन्त्रताके कारण है, नाम गोत्र आदि अघाति कर्म नही, क्योकि वे जीवके स्वरूपघातक नहीं है। अत' उनके परतन्त्रताकी कारणता असिद्ध है और इसलिए (उपरोक्त) हेतु पक्षव्यापक है? उत्तर—नही, क्योकि नामादि अघातीकर्म भी जीव सिद्धत्वस्वरूपके प्रतिबन्धक है, और इसलिए उनके भी परतन्त्रताकी कारणता उपपन्न है। प्रश्न—तो फिर उन्हे अघाती कर्म क्यो कहा जाता है? उत्तर—जीवन्मुक्तिरूप आर्हन्त्यलक्ष्मीके घातक नही है, इसलिए उन्हे हम अघातिकर्म कहते है। (रा. वा /५/२४/६/४८८/२०), (गो जी./जी. प्र /२४४/५०८/२)।

स. सा /आ./२७६/क २७५ न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मनो याति यथार्ककान्त'। तस्मिन्निमित्त परसंग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।२७५। =सूर्यकान्त मणिकी भाँति आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नही होता। (जिस प्रकार वह मणि सूर्यके निमित्तसे ही अग्नि रूप परिणमन करती है, उसी प्रकार आत्माको भी रागादिरूप परिणमन करनेमें) पर-संग ही निमित्त है। ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है।

प्र. सा /ता वृ /५ इन्द्रियमन परोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात् ··उपलब्धेरर्थविधारणरूप···यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते। =इन्द्रिय, मन, परोपदेश तथा प्रकाशादि बहिरग निमित्तोसे उपलब्ध होनेवाला जो अर्थविधारण रूप विज्ञान वह पराधीन होनेके कारण परोक्ष कहा जाता है।

द्र. स./टी /१४/४४/१० (जीवप्रदेशाना) विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति। =(जीवके प्रदेशोंका संहार तथा) विस्तार शरीर नामक नामकर्मके आधीन है, जीवका स्वभाव नही है। इस कारण जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोका (सहार या) विस्तार नही होता है।

स्व. स्तो./टी /६२/१६२ "उपादानकारण सहकारिकारणमपेक्षते। तच्चोपादानकारणं न च सर्वेण सर्वमपेक्ष्यते। किन्तु यद्येन अपेक्ष्यमाणं दृश्यते तत्तेनापेक्ष्यते।" =उपादानकारण सहकारीकारणकी अपेक्षा करता है। सर्व ही उपादान कारणोसे सभी सहकारीकारण अपेक्षित होते हो सो भी नहीं। जो जिसके द्वारा अपेक्ष्यमाण होता है वही उसके द्वारा अपेक्षित होता है।

३. जैसा-जैसा कारण मिलता है वैसा-वैसा ही कार्य होता है—

रा. वा /४/४२/७/२५१/१२ नापि स्वत एव, परापेक्षाभावे तद्व्यक्त्यभावात्। तस्मात्तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणं प्रतीत्य तत्तद्रूपं वक्ष्यते। न तव स्वत एव नापि परकृतमेव। =जीवोंके सर्व भेद प्रभेद स्वतः नही है, क्योकि परकी अपेक्षाके अभावमें उन भेदों की व्यक्तिका अभाव है। इसलिए अनन्त परिणामी द्रव्य ही उन-उन सहकारी कारणोकी अपेक्षा उन-उन रूपमे व्यवहारमें आता है। यह बात न स्वत होती है और न परकृत ही है।

ध./१२/४, २, १३, २४३/४५३/७ कधमेगो परिणामो भिण्णकज्जकारओ। ण सहकारिकारणसवधभेएणतस्स तदविरोहादो। =प्रश्न—एक परिणाम भिन्न कार्योको करनेवाला कैसे हो सकता है (ज्ञानावरणीयके बन्ध योग्य परिणाम आयु कर्मको भी कैसे बाँध सकता है)? उत्तर—नही, क्योकि, सहकारी कारणोंके सम्बन्धसे उसके भिन्न कार्योके करनेमें कोई विरोध नही है। (पं. का./त प्र./६६/१३४) —(दे० पीछे कारण/II/१/६।

४. उपादानको ही स्वयं सहकारी माननेमें दोष—

आप्त. मी /२१ एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्। नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभि ।२१। =पूर्वोक्त सप्तभगी विषे विधि निषेधकरि अनवस्थित जीवादि वस्तु है सो अर्थ क्रियाको करै हैं। बहुरि अन्यवादी केवल अन्तरंग कारणसे ही कार्य होना माने तैसा नाही है। वस्तु को सर्वथा सत् या सर्वथा असत् माननेसे, जैसा कार्य सिद्ध होना बाह्य अन्तरग सहकारीकारण अर उपादान कारणनि करि माना है तैसा नाही सिद्ध होय है। तिसकी विशेष चर्चा अष्टसहस्री तें जानना। (दे० धर्माधर्म/३ तथा काल/२) यदि उपादानको ही सहकारी कारण भी माना जायेगा तो लोक में जीव पुद्गल दो ही द्रव्य मानने होगे।

III निमित्तकी कथंचित् गौणता मुख्यता

१. निमित्तके उदाहरण

१. षट्द्रव्योंका परस्पर उपकार्य उपकारक भाव

त. सू /५/१७-२२ गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार ।१७। आकाशस्यावगाह ।१८। शरीरवाङ्मन प्राणापाना पुद्गलाना ।१९। सुखदु खजीवितमरणोपग्रहाश्च ।२०। परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।२१। वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।२२। =(जीव व पुद्गलकी) गति और स्थितिमें निमित्त होना यह क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है ।१७। अवकाश देना आकाशका उपकार है ।१८। शरीर, वचन, मन और प्राणापान पुद्गलोका उपकार है ।१९। सुख दु ख जीवन और मरण ये भी पुद्गलोंके उपकार है ।२०। परस्पर निमित्त होना यह जीवोंका उपकार है ।२१। वर्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं ।२०। (गो जी./मू/६०५-६०६/१०५०, १०६०), (का अ /मू/२०८-२१०)

स सि /५/२०/२८९/२ एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकार, मूर्त्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्ते। ··पुद्गलाना पुद्गलकृत उपकार इति। तद्यथा—कंस्यादीना भस्मादिभिर्जलादीना कतकादिभिरय प्रभृतीनामुदकादिभिरुपकार क्रियते। च शब्दः अन्योऽपि पुद्गलकृत उपकारोऽस्तीति समुच्चीयते। यथा शरीराणि एवं चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपीति ।२०। · परस्परोपग्रह'। जीवानामुपकार। क पुनरसौ। स्वामी भृत्य, आचार्य शिष्य इत्येवमादिभावेन वृत्ति परस्परोपग्रह। स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते। भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च। आचार्य उपदेशदर्शनेन क्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते। शिष्या अपि तदानुकूल्यवृत्त्या आचार्याणाम्। · पुनर्ग्रहणं पूर्वोक्तसुखादिचतुष्टयप्रदर्शनार्थं पुन·

'उपग्रह'वचनं क्रियते। सुखादीन्यपि जोवानां जीवकृत उपकार इति।२१। =ये सुखादिक जीवके पुद्गलकृत उपकार है, क्योंकि मूर्त्त कारणोंके रहनेपर ही इनकी उत्पत्ति होती है। (इसके अतिरिक्त) पुद्गलोका भी पुद्गलकृत उपकार होता है। यथा—कांसे आदिका राख आदिके द्वारा, जल आदिका कतक आदिके द्वारा और लोहे आदिका जल आदिके द्वारा उपकार किया जाता है। पुद्गलकृत और भी उपकार है, इसके समुच्चयके लिए सूत्रमें 'च' शब्द दिया है। जिस प्रकार शरीरादिक पुद्गलकृत उपकार है उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी पुद्गलकृत उपकार है। परस्परका उपग्रह करना जोवों-का उपकार है। जैसे स्वामी तो धन आदि देकर और सेवक उसके हितका कथन करके तथा अहितका निषेध करके एक दूसरेका उपकार करते है। आचार्य उपदेश द्वारा तथा क्रियामें लगाकर शिष्योंका और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्यका उपकार करते हैं। इनके अतिरिक्त सुख आदिक भी जीवके जीवकृत उपकार हैं। (गो. जी /-जी प्र /६०५-६०६/१०६०-१०६२) (का अ /टी /२०८-२१०)

वसु. श्रा /३४ जोवस्सुवयारकरा कारणभूया हु पंचकायाई। जोवो सत्ता-भूओ सो ताणं ण कारणं होइ।३४।

द्र. स /टी /अधि २ की चूलिका/७८/२ पुद्गलधर्माधर्माकाशकाल-द्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्य शरीरवाङ्मन प्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवन्ति। जीवद्रव्य पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रह करोति तथापि पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणां किमपि न करोतीत्यकारणम्। =पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये पाँचो द्रव्य जीवका उपकार करते हे, इसलिए वे कारणभूत हैं, किन्तु जीव सत्तास्वरूप है।३४। उपरोक्त पाँचों द्रव्योमें-से व्यवहार नयकी अपेक्षा जीवके शरीर, वचन, मन, श्वास, नि श्वास आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है। और गति, स्थिति, अवगाहन और वर्तनारूप कार्य क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल करते है। इसलिए पुद्गलादि पाँच द्रव्य कारण है। जीव द्रव्य यद्यपि गुरु शिष्य आदि रूप से आपसमें एक दूसरेका उपकार करता है, फिर भी पुद्गल आदि पाँचों द्रव्योके लिए जोव कुछ भी नहीं करता, इसलिए वह अकारण है। (प. का /ता वृ /-२७/५७/१२)

२. द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप निमित्त

क पा. १/§ २८५/२८६/३ पागभावो कारण। पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवावेक्खाए जायदे। तदो ण सव्वद्धं दव्वकम्माहं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं। =प्रागभावका विनाश हुए बिना कार्यकी उत्पत्ति नही हो सकती है और प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल और भवकी अपेक्षा लेकर होता है। इसलिए द्रव्य कर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नही करते हैं, यह सिद्ध होता है।

(दे० बन्ध/४) कर्मोका बन्ध भी द्रव्य क्षेत्र काल व भवकी अपेक्षा लेकर होता है।

(दे० उदय/२/३) कर्मोंका उदय भी द्रव्य क्षेत्र काल व भवकी अपेक्षा लेकर होता है।

३. निमित्तकी प्रेरणासे कार्य होना

स. सि /५/१६/२८६/६ तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणा पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति। =इस प्रकारकी (भाव वचन-की) सामर्थ्यसे युक्त क्रियावाले आत्माके द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते हैं। (गो जी /जी प्र /६०६/१०६२/३)।

पं. का /ता वृ /१/६/१५ वीतरागसर्वज्ञदिव्यध्वनिशास्त्रे प्रवृत्ते किं कारण। भव्यपुण्यप्रेरणात्। =प्रश्न—वीतराग सर्वज्ञ देवकी दिव्य ध्वनिमें प्रवृत्ति किस कारणसे होती है? उत्तर—भव्य जीवोंके पुण्य-की प्रेरणासे।

४. निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

स. सा./मू/३१२-३१३ चेया उ पयडीयट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ। पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।३१२। एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे। अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे।३१३। =आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उत्पन्न होता है और नष्ट होता है तथा प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पन्न होती है तथा नष्ट होती है। इस प्रकार परस्पर निमित्तसे दोनो ही आत्माका और प्रकृतिका बन्ध होता है, और इससे संसार होता है।

ध /२/१, १/४१२/११ तथोच्छ्वासनिःश्वासप्राणपर्याप्त्योः कार्यकारण-योरात्मपुद्गलोपादानयोर्भेदोऽभिधातव्य इति। =उच्छ्वासनि-श्वास प्राण कार्य है और आत्मा उपादान कारण है तथा उच्छ्वास-नि श्वासपर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादाननिमित्तक है।

स सा /आ /२८६-२८७ यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गल-द्रव्य निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे। इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्या-चक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं प्रत्याचष्टे। .. एवं द्रव्य-भावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभाव। =जैसे अध कर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गल द्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा नैमित्तिकभूत बन्ध साधक भावका प्रत्याख्यान नहीं करता, इसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उनके निमित्तसे होनेवाले भावको (भी) नहीं त्यागता। • इस प्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा, जैसे नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भावका प्रत्याख्यान करता है, उसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्या-ख्यान करता हुआ आत्मा उनके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्या-ख्यान करता है। इस प्रकार द्रव्य और भावको निमित्तनैमित्तिक-पना है।

स सा /आ /३१२-३१३ एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेऽप्य-न्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बन्धो दृष्ट, तत संसार., तत एव च कर्तृकर्मव्यवहार। =यद्यपि उन आत्मा और प्रकृतिके कर्ताकर्मभावका अभाव है तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे दोनोंके बन्ध देखा जाता है। इससे संसार है और यह हो उनके कर्ताकर्मका व्यवहार है। (प. ध /उ./१०७१)

स. सा./आ./३४९-३५० यतो खलु शिल्पी सुवर्णकारादि कुण्डलादि-परद्रव्यपरिणामात्मक कर्म करोति न त्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृ-कर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहार। =जसे शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्य परिणामात्मक कर्म करता है, किन्तु अनेक द्रव्यत्वके कारण उनसे अन्य होनेसे तन्मय नहीं होता, इसलिए निमित्तनैमित्तिक भावमात्रसे ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्वका और भोक्ता-भोक्तृत्वका व्यवहार है।

५ अन्य सामान्य उदाहरण

स. सि./३/२७/२२३/२ किंहेतुकौ पुनरसौ। कालहेतुकौ। =ये वृद्धि हास कालके निमित्तसे होते हे। (रा वा /३/२७/१९१/२६)

ज्ञा /२४/२० शाम्यन्ति जन्तव क्रूरा बद्धवैरा परस्परम्। अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुने साम्यप्रभावत।२०। =इस साम्यभावके प्रभावसे अपने स्वार्थमें प्रवृत्त मुनिके निकट परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जोव भी साम्यभावको प्राप्त हो जाते है।

२. निमित्तकी कथंचित् गौणता

१. सभी कार्य निमित्तका अनुसरण नहीं करते

ध ६/१ ६–६,११/१६४/७ कुदो। पयडिविसेसादो। ण च सव्वाइं कज्जाइं एयंतेण बज्झत्थमवेक्खिय चे उप्पज्जंति, सालिबीजादो जवंकुरस्स वि उप्पत्तिप्पसंगा। ण च तारिसाइ दव्वाइं तिसु वि कालेसु कहि पि अत्थि, जेसिं बलेण सालिबीजस्स जवंकुरुप्पायणसत्ती होज्ज, अणवत्थापसंगादो। =प्रश्न—(इन सर्व कर्मप्रकृतियोका उत्कृष्ट स्थिति बन्ध इतना इतना ही क्यों है। जीव परिणामोके निमित्तसे इससे अधिक क्यो नही हो सकता) ? उत्तर—क्योकि प्रकृति विशेष होनेसे सूत्रोक्त प्रकृतियोका यह स्थिति बन्ध होता है। सभी कार्य एकान्तसे बाह्य अर्थकी अपेक्षा करके ही नही उत्पन्न होते है, अन्यथा शालिधान्यके बीजसे जौके भी अंकुरकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु उस प्रकारके द्रव्य तीनो ही कालोमे किसी भी क्षेत्रमे नही है कि जिनके बलसे शालिधान्यके बीजके जौके अकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति हो सके। यदि ऐसा होने लगेगा तो अनवस्था दोप प्राप्त होगा।

२. धर्मादि द्रव्य उपकारक है प्रेरक नहीं

प.का./मू /८८-८९ ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स। हवदिगदिस्स प्पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च।८८। विज्जदि जसि गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि। ते सगपरिणामेहि दु गमणं ठाणं च कव्वंति।८९। =धर्मास्तिकाय गमन नही करता और अन्य द्रव्यको गमन नही कराता। वह जीवो तथा पुद्गलोको गतिका उदासीन प्रसारक (गति प्रसारमें उदासीन निमित्त) है।८८। जिनको गति होती है उन्हीको स्थिति होती है। वे तो अपने-अपने परिणामो से गति और स्थिति करते है। (इसलिए धर्म व अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी गति व स्थितिमें मुख्य हेतु नही (त. प्र. टी)।

रा.वा./५/७/४-६/४४६ निष्क्रियत्वात गतिस्थिति-अवगाहनक्रियाहेतुत्वाभाव इति चेत्, न, बलाधानमात्रत्वादिन्द्रियवत।४। यथा दिदृक्षोश्चक्षुरिन्द्रियं रूपोपलब्धौ बलाधानमात्रमिष्टं न तु चक्षुष. तत्सामर्थ्यम् इन्द्रियान्तरोपयुक्तस्य तदभावात। तथा स्वयमेव गतिस्थित्यवगाहनपर्यायपरिणामिनां जीवपुद्गलाना धर्माधर्माकाशद्रव्याणि गत्यादिनिवृत्तौ बलाधानमात्रत्वेन विवक्षितानि न तु स्वयं क्रियापरिणामीनि। कुत. पुनरेतदेवमिति चेत। उच्यते—द्रव्यसामर्थ्यात्।५। यथा आकाशमगच्छत् सर्वद्रव्यै' संबद्धम्, न चास्य सामर्थ्यमन्यगरयारित। तथा च निष्क्रियत्वेऽप्येषां गत्यादिक्रियानिवृत्ति प्रति बलाधानमात्रत्वमसाधारणमवसेयम्।

रा.वा./५/१७/१६/४६२/५ तयो कर्तृत्वप्रसंग इति चेत्, न; उपकारवचनात् यष्ट्यादिवत।१६। ..जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छता तिष्ठतां च धर्माधर्मौ उपकारकौ न प्रेरकौ इत्युक्त भवति। ततश्च मन्यामहे न प्रधानकर्तारौ इति।१७। =प्रश्न—क्रियावाले ही जलादि पदार्थ मछली आदिकी गति और स्थितिमें निमित्त देखे गये है, अत' निष्क्रिय धर्माधर्मादि गति स्थितिमें निमित्त कैसे हो सकते है ? उत्तर—जैसे देखने की इच्छा करनेवाले आत्माको चक्षु इन्द्रिय बलाधायक हो जाती है, इन्द्रियान्तरमें उपयुक्त आत्माको वह स्वय प्रेरणा नही करती। उसी प्रकार स्वयं गति स्थिति और अवगाहन रूपसे परिणमन करनेवाले द्रव्योकी गति आदिमें धर्मादि द्रव्य निमित्त हो जाते है, स्वयं क्रिया नही करते। जैसे आकाश अपनी द्रव्य सामर्थ्यसे गमन न करनेपर भी सभी द्रव्योंसे सम्बद्ध है और सर्वगत कहलाता है, उसो तरह धर्मादि द्रव्योकी भी गति आदि में निमित्तता समझनी चाहिए। जैसे यष्टि चलते हुए अन्धेको उपकारक है उसे प्रेरणा नही करती उसी प्रकार धर्मादिकोको भी उपकारक कहनेसे उनमे प्रेरक कर्तृत्व नहीं आ सकता। इससे जाना जाता है कि ये दोनो प्रधान कर्ता नहीं है। (रा.वा./५/१७/२४/४६३/३१)।

गो.जी /मू /५७०/१०१५ य ण परिणमदि सम सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहि। विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सय हेतु।५७०। =काल न तो स्वयं अन्य द्रव्यरूप परिणमन करता है और न अन्यको अपने रूप या किसी अन्य रूप परिणमन कराता है। नाना प्रकारके परिणामो युक्त ये द्रव्य स्वयं परिणमन कर रहे है, उनको स्वयं हेतु या निमित्त मात्र है।

पं क./ता.वृ /२४/५०/११ सर्वद्रव्याणां निश्चयेन स्वयमेव परिणामं गच्छन्ता शीतकाले स्वयमेवाध्ययनक्रियां कुर्वाणस्य पुरुषस्याग्निसहकारिवत् स्वयमेव भ्रमणक्रियां कुर्वाणस्य कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलासहकारिवद्बहिरङ्गनिमित्तत्वाद्वर्तनालक्षणश्च कालाणुरूपो निश्चयकालो भवति। =सर्व द्रव्योको जो कि निश्चयमे स्वयं ही परिणमन करते है, उनके बहिरंग निमित्त रूप होनेसे वर्तना लक्षणवाला यह कालाणु निश्चयकाल होता है। जिस प्रकार शीतकाल में स्वयमेव अध्ययन क्रिया परिणत पुरुषके अग्नि सहकारी होती है, अथवा स्वयमेव भ्रमणक्रिया करनेवाले कुम्भारके चक्रको उसकी अधस्तन शिला सहकारी होती है, उसी प्रकार यह निश्चय कालद्रव्य भी, स्वयमेव परिणमनेवाले द्रव्योको बाह्य सहकारी निमित्त है। (पं का /ता वृ /८५/१४२/१५)।

३. अन्य भी उदासीन कारण धर्मद्रव्यवत् ही जानने

इ उ /मू /३५ नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति। निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत।=जो पुरुष अज्ञानी या तत्त्वज्ञानके अयोग्य है वह गुरु आदि परके निमित्तसे विशेष ज्ञानी नही हो सकता। और जो विशेष ज्ञानी है, तत्त्वज्ञानकी योग्यतासे सम्पन्न है वह अज्ञानी नहीं हो सकता। अत' जिस प्रकार धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलोके गमनमे उदासीन निमित्तकारण है, उसी प्रकार अन्य मनुष्यके ज्ञानी करनेमें गुरु आदि निमित्त कारण है।

पं का /ता.वृ/८५/१४२/१५ धर्मस्य गतिहेतुत्वे लोकप्रसिद्धदृष्टान्तमाह—उदकं यथा मत्स्यानां गमनानुग्रहकरं· भव्यानां सिद्धगते पुण्यवत्··· अथवा चतुर्गतिगमनकाले द्रव्यलिङ्गादिदानपूजादिकं वा बहिरङ्गसहकारिकारणं भवति।८५। =धर्म द्रव्यके गति हेतुत्वपनेमें लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हे—जैसे जल मछलियोंके गमनमें सहकारी है (और भी दे० धर्मधर्म/१), अथवा जैसे भव्योंको सिद्ध गतिमें पुण्य सहकारी हे: अथवा जैसे सर्व साधारण जीवोको चतुर्गति गमनमें द्रव्य लिंग व दान पूजादि बहिरग सहकारी कारण है; (अथवा जैसे शीतकालमें स्वयं अध्ययन करनेवालेको अग्नि सहकारी है, अथवा जैसे भ्रमण करनेवाले कुम्भारके चक्रको उसकी अधस्तन शिला उदासीन कारण हे (पं.का./ता वृ/५०/११-दे० पीछेवाला शीर्षक)—उसी प्रकार जीव पुद्गलकी गतिमें धर्म द्रव्य सहकारी कारण है।

द्र स/टी./१८/५६/६ सिद्धभक्तिरूपेणेह पूर्वं सविकल्पावस्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्यानां बहिरंगसहकारिकारणं भवति तथैव च· अधर्मद्रव्यं स्थिते सहकारिकारणं। =सिद्ध भक्तिके रूपसे पहिले सविकल्प अवस्थामें सिद्ध भगवान् भी जैसे भव्य जीवोंके लिए बहिरंग सहकारी कारण होते हे, तैसे ही अधर्म द्रव्य जीवपुद्गलोंको ठहरनेमें सहकारी कारण होता हे।

४. बिना उपादानके निमित्त कुछ न करे

ध ९/४,१,१६८/२०३/१२ मानुषोत्तरात्परतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात। न हि स्वतोऽसमर्थोऽन्यत समर्थो भवत्यतिप्रसंगात। =मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवोंकी प्रेरणासे भी मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता। ऐसा न्याय भी है जो स्वत' असमर्थ होता है वह दूसरोके सम्बन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता।

समओ वा।१२२। =सांख्यमतानुसारी शिष्यके प्रति आचार्य कहते है कि हे भाई। 'यह जीव कर्ममे स्वयं नही बँधा है और क्रोधादि भावसे स्वय नही परिणमता है' यदि तेरा यह मत है तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है और जीव स्वयं क्रोधादि भावरूप नही परिणमता होनेसे संसारका अभाव सिद्ध होता है। अथवा सांख्य मतका प्रसंग आता है।१२१-१२२। और पुद्गल कर्मरूप जो क्रोध है वह जीवको क्रोधरूप परिणमन कराता है ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता है कि स्वयं न परिणमते हुएको वह कैसे परिणमन करा सकता है।१२३।

स.सा./आ/३३२-३३४ एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमाना केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति, तेषा प्रकृतेरैकान्तेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकान्तेनाकर्तृत्वापत्ते' जीव' कर्तेति श्रुते. कोपो दु शक्य परिहर्तुम् । =इस प्रकार ऐसे सांख्यमतको अपनी प्रज्ञाके अपराधसे सूत्रके अर्थको न जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते है; उनकी एकान्त प्रकृतिके कर्तृत्वकी मान्यतासे समस्त जीवोके एकान्तसे अकर्तृत्व आ जाता है। इसलिए 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है।

स सा/आ/३७२/क २२१ रागजन्मनि निमित्तता पर-द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते। उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनी, शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धय'।२२१। =जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तत्व मानते है, वे—जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञानसे रहित अन्ध है मोहनदीको पार नही कर सकते।२२१।

प.ध/पू/५६६-५७१ अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ता' । ·।५६६। अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति। तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ।५७०। अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथ । न यत. स्वय स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया।५७१। =(जीव व शरीरमे परस्पर बन्ध्यबन्धक या निमित्त नैमित्तिक भाव मानकर शरीरको व्यवहारनयसे जीवका कहना नयाभास अर्थात् मिथ्या नय है, क्योकि अनेक द्रव्य होनेसे उनमें वास्तवमें बन्ध्य बन्धक भाव नही हो सकता। निमित्त नैमित्तिक भाव भी असिद्ध है क्योकि स्वयं परिणमन करनेवालेको निमित्तसे क्या प्रयोजन)

३. कर्म व जीव गत कारण कार्य भावकी गौणता

१. जीवके भावको निमित्तमात्र करके पुद्गल स्वयं कर्मरूप परिणमते हैं

पं.का/मू/६५ अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहि। गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा।६५। =आत्मा अपने रागादि भावको करता है। वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावोसे जीवमे अन्योन्य अवगाहरूपसे प्रविष्ट हुए कर्मभावको प्राप्त होते है। (प्र सा./त. प्र/१८६)

स सा./मू/८०-८१ जीवपरिणामहेदुं पुग्गला परिणमति। पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ।८०। णवि कुव्वइ कम्मगुणो जीवो कम्म तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णं पि।८१। =पुद्गल जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूपमें परिणमित होते है और जीव भी पुद्गलकर्मके निमित्तसे परिणमन करता है।८०। जीव कर्मके गुणोको नही करता। उसी तरह कर्म भी जीवके गुणोको नहीं करता। परन्तु परस्पर निमित्तसे दोनोके परिणमन जानो।८१। (स सा/मू./९१,११६) (स सा/आ/१०५,११६) (पु सि. उ/१२)

प्र सा/त प्र/१८७ यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृत' शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्त कर्मपुद्गला स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावै' परिणमन्ते । अत' स्वभावकृतं कर्मणा वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम् । =(मेघ जलके संयोगसे स्वत उत्पन्न हरियाली व इन्द्रगोप आदिवत्) जब यह आत्मा रागद्वेषके वशीभूत होता हुआ शुभाशुभ भावरूप परिणमित होता हे तब अन्य, योगद्वारोसे प्रविष्ट होते हुए कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते है। इससे कर्मोंकी विचित्रताका होना स्वभावकृत है किन्तु आत्मकृत नहीं।

प्र.सा/त प्र./१६६ जीवपरिणाममात्र बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीव परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिन पुद्गलस्कन्धा स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। =बहिरंगसाधनरूपसे जीवके परिणामोका आश्रय लेकर, जीव उसको परिणमानेवाला न होनेपर भी, कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाले पुद्गलस्कन्ध स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते हैं। (पं.का/त./प्र/६५-६६), (स सा/आ/९१)

पं ध/उ/२६७ सति तत्रोदये सिद्धा' स्वतो नोकर्मवर्गणा । मनो देहेन्द्रियाकार जायते तन्निमित्तत ॥२६७॥ =उस पर्याप्ति नामकर्मका उदय होनेपर स्वयसिद्ध आहारादि नोकर्मवर्गणाएँ उसके निमित्तसे मन देह और इन्द्रियोके आकार रूप हो जाती हैं।

२. ११वें गुणस्थान अनुभागोदयमें हानिवृद्धि रहते हुए भी जीवके परिणाम अवस्थित रहते हैं

ल. सा./जी प्र/३०७/३८९ अत कारणादवस्थितविशुद्धिपरिणामेऽप्युपशान्तकषाये एतच्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीना अनुभागोदयस्त्रिस्थानसभवी भवति, कदाचिद्धीयते, कदाचिद्वर्धते, कदाचिद्धानिवृद्धिभ्यां विना एकादश एवावतिष्ठते। =(यद्यपि तहाँ परिणामोकी अवस्थितिके कारण शरीर वर्ण आदि २५ प्रकृतियें भी अवस्थित रहती हैं परन्तु) अवशेष ज्ञानावरणादि ३४ प्रकृतियें भवप्रत्यय है। उपशान्तकषायगुणस्थानके अवस्थित परिणामोकी अपेक्षा रहित पर्यायका ही आश्रय करके इनका अनुभाग उदय यहाँ तीन अवस्था लिए है। कदाचित् हानिरूप हो है, कदाचित् वृद्धिरूप हो हे, कदाचित् अवस्थित जैसाका तैसा रहे है।

३. जीव व कर्म में वध्यघातक विरोध नही है

यो सा/अ/९/४६ न कर्म हन्ति जीवस्य न जीव' कर्मणो गुणान् । वध्यघातकभावोऽस्ति नान्योन्य जीवकर्मणो। =न तो कर्म जीवके गुणोंका घात करता हे और न जीव कर्मके गुणोंका घात करता है। इसलिए जीव और कर्मका आपसमें वध्यघातक सम्बन्ध नही है।

४. जीव व कर्ममें कारणकार्य मानना उपचार है

ध ६/१/९,१-८/११/५ मुह्यत इति मोहनीयम् । एव संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासकणिज्ज, जीवादो अभिणम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तथा उत्तीदो। =जो मोहित होता है वह मोहनीय कर्म है। प्रश्न—इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करनेपर जीवके मोहनीयत्व प्राप्त होता है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योकि, जीवसे अभिन्न और कर्म ऐसी संज्ञावाले पुद्गलकर्ममें उपचारसे कर्तृत्वका आरोपण करके उक्त प्रकारकी व्युत्पत्ति की गयी है।

प्र. सा/त प्र/१२१-१२२ तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ।१२१। परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण । ··परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण ।१२२। =आत्मा भी अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता भी उपचारसे है।१२१। परमार्थत

आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है किन्तु पुद्गल परिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका नहीं। (इसी प्रकार) परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्मका ही कर्ता है किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका कर्ता नहीं है।१२२। (स सा./मू /१०१)

५. ज्ञानियोंका कर्म अकिंचित्कर है

स सा /मू /१६६ पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स। कम्म-सरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स।१६६। =उस ज्ञानीके पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय मिट्टीके ढेलेके समान है और वे कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए है। (विशेष दे० विभाव/४/२)

आ. अनु/१६२-१६३ निर्धनत्वं धनं येषा मृत्युरेव हि जीवितम्। किं करोति विधिस्तेषा सता ज्ञानैकचक्षुषाम्।१६२। जीविताशा धनाशा च तेषा येषा विधिर्विधि। किं करोति विधिस्तेषा येषामाशा निराशता।१६३। =निर्धनत्व ही जिनका धन है और मृत्यु ही जिनका जीवन है (अर्थात् इनमे साम्यभाव रखते है) ऐसे साधुओंको एक मात्र ज्ञानचक्षु खुल जानेपर यह दैव या कर्म क्या कर सकता है।१६२। जिनको जीनेकी या धनकी आशा है उनके लिए ही 'दैव' दैव है, पर निराशा ही जिनकी आशा है ऐसे वीतरागियोको यह दैव या कर्म क्या कर सकता है।१६३।

६. मोक्षमार्गमें आत्मपरिणामोंकी विवक्षा प्रधान है कर्मोंकी नहीं

रा वा./१/२/१०-१/२०/३ ओपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्षकारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्याय पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात्।१०। स्यादेतत् सम्यग्दर्शनोत्पाद आत्मनिमित्त' सम्यक्त्वपुद्गलनिमित्तश्च, तस्मात्तस्यापि मोक्षकारणत्वमुपपद्यते इति, तन्न, किं कारणम्। उपकरणमात्रत्वात्। =ओपशमिकादिसम्यग्दर्शन सीधे आत्मपरिणामस्वरूप होनेसे मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित होते है, सम्यक्त्व नाम कर्मकी पर्याय नही क्योंकि परद्रव्यकी पर्याय होनेके कारण वह तो पौद्गलिक है। प्रश्न—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति जिस प्रकार आत्मपरिणामसे होती है, उसी प्रकार सम्यक्त्वनामा कर्मके निमित्तसे भी होती है, अत. उसको भी मोक्षकारणपना प्राप्त होता है। उत्तर—नही, क्योकि, वह तो उपकरणमात्र है।

७. कर्मोंकी उपशम क्षय व उदय आदि अवस्थाएँ भी कथंचित् अयत्न साध्य है

स सि /२/३/१५२/१० अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशम'। काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात। तत्र काललब्धिस्तावत्। 'आदि'शब्देन जातिस्मरणादि परिगृह्यते। =प्रश्न—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोके उदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए इनका उपशम कैसे होता है? उत्तर—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अब यहाँ काललब्धिको बताते हैं (दे० नियति २)। आदि शब्दसे जातिस्मरण आदिका ग्रहण करना चाहिए (दे० सम्यग्दर्शन/III/२)।

स. सि /१०/२/४६६/५ कर्माभावो द्विविध —यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवायुषामभावो न यत्नसाध्य असत्त्वात्। यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते। असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु सप्तप्रकृतिक्षय क्रियते। =कर्मका अभाव दो प्रकारका है—यत्नसाध्य और अयत्नसाध्य। इनमें-से चरमदेहवालेके नरकायु तिर्यचायु और देवायुका अभाव यत्नसाध्य नही है, क्योकि इसके उनका सत्त्व उपलब्ध नहीं होता। यत्नसाध्यका अभाव इससे आगे कहते है—असंयतदृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें सात प्रकृतियोंका क्षय करता है। (आगे भी १०वें गुणस्थानमें यथायोग्य कर्मोका क्षय करता है (दे० सत्त्व)।

पं ध /उ /३७८,६३२,६२६ प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्। अन्तर्मुहूर्तमात्र च गुणश्रेण्यनतिक्रमात्।३७८। तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा। उदयोऽनुदयो वाथ स्यादनन्यगति: स्वत:।६३२। अस्त्युदयो यथानादे: स्वतश्चोपशमस्तथा। उदय प्रथमो भूय: स्यादर्वागपुनर्भवात्।६२६। =उक्त कारण सामग्रीके मिलते ही (अर्थात् दैव व काललब्धि मिलते ही) प्रयत्नके बिना भी गुणश्रेणी निर्जराके अनुसार केवल अन्तर्मुहूर्त कालमें ही दर्शन मोहनीयका उपशम हो जाता है।३७८। इसलिए यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इन दोनोंके उदय अथवा अनुदय ये दोनों ही अपने आप होते है, पर दूसरेके निमित्तसे नहीं।६३२। जिस तरह अनादिकालसे स्वयं मोहनीयका उदय होता है उसी तरह उपशम भी काललब्धिके निमित्तसे स्वयं होता है। इस तरह मुक्ति होनेके पहले उदय और उपशम बार-बार होते रहते है।

४. निमित्तकी कथंचित् प्रधानता

१. निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध भी वस्तुभूत है

आप्त मी /२४ अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते। कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते।२४। =अद्वैत एकान्तपक्ष होनेतै (अर्थात् जगत एक ब्रह्मके अतिरिक्त कोई नहीं है, ऐसा माननेसे) कर्ता कर्म आदि कारकनिके बहुरि क्रियानिके भेद जो प्रत्यक्ष प्रमाण करि सिद्ध है सो विरोधरूप होय है। बहुरि सर्वथा यदि एक ही रूप होय तौ आप ही कर्ता आप ही कर्म होय। अर आप ही तै आपकी उत्पत्ति नाही होय। (और भी दे० कारण/II/३/२), (अष्टसहस्री पृ० १४६,१५६) (स्या. म /१६/१६७/१७१)

श्लो वा २/१/७/१३/५६५/१ तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ सम्बन्ध. संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुन' कल्पनारोपित। =व्यवहारनयका आश्रय लेनेपर संयोग समवाय सम्बन्धोंके समान दोमें ठहरनेवाला कारणकार्यभाव सम्बन्ध भी प्रतीतियोसे सिद्ध होनेके कारण वस्तुभूत ही है केवल कल्पना आरोपित ही नहीं है।

२. कारणके बिना कार्य नहीं होता

रा वा./१०/२/१/६४०/२७ मिथ्यादर्शनादीना पूर्वोक्ताना कर्मास्रवहेतूनां निरोधे कारणाभावात् कार्याभाव इत्यभिनवकर्मादानाभाव.। =मिथ्यादर्शन आदि पूर्वोक्त आस्रवके हेतुओका निरोध हो जानेपर नूतन कर्मोका आना रुक जाता है' क्योकि कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता है।

ध. १/१,१,६०/३०६/१ अप्रमत्तादीना संयतानां किमित्याहारककाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने निमित्ताभावात्। =प्रश्न—प्रमादरहित सयतोंके आहारककाययोग क्यो नहीं होता है? उत्तर—क्योकि तहाँ उसे उत्पन्न करानेमें निमित्तकारणका (असंयमकी बहुलताका) अभाव है।

ध. १२/४,२,१३,१७/३८२/२ ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जदि अइप्पसंगादो। =कारणके विना कही भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, क्योकि, वैसा होनेमें अतिप्रसंग दोष आता है। (उत्कृष्ट संक्लेशसे उत्कृष्ट प्रदेश बन्ध होनेका प्रकरण है)।

ध. ६/१ ६-६/६,७/४२१/३ णेरइया मिच्छाइट्ठी कदिहि कारणेहि पढम-सम्मत्तमुप्पदेंति। मूलसूत्र ६/ उप्पज्जमाणं सव्वं हि कज्जं कारणादो चेव उप्पज्जदि, कारणेण विणा कज्जुप्पत्तिविरोहादो। एवं णिच्छिदकारणस्स तस्संखाविसयमिद पुच्छासुत्तं। =नारकी मिथ्यादृष्टि जीव कितने कारणोंसे प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करते है सूत्र ६॥ उत्पन्न होनेवाला सभी कार्य कारणसे ही उत्पन्न होता है क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्तिका विरोध है। इस प्रकार निश्चित कारणकी संख्या विषयक यह पृच्छा सूत्र है।

ध. ६/१,६-६,३०/४३०/६ णइमग्गिमवि पढमसम्मत्तं तच्चट्ठे उत्त, तं हि एत्थेव दट्ठव्वं, जाइस्सरण-जिणबिंबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइ-सग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो। =नैसर्गिक प्रथम सम्यक्त्वका भी पूर्वोक्त कारणोंसे उत्पन्न हुए सम्यक्त्वमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए, क्योंकि जाति-स्मरण और जिनबिम्बदर्शनोंके बिना उत्पन्न होनेवाला प्रथम नैसर्गिक सम्यक्त्व असम्भव है। (सम्यक्त्वके कारणोंके लिए दे० सम्यग्दर्शन/III/२)

ध.७/२,१,१८/७०/६ ण च कारणेण विणा कज्जाणामुप्पत्ती अत्थि। ·· तदो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो। =कारणके बिना तो कार्योंकी उत्पत्ति होती नहीं। इसलिए जितने कार्य है उतने उनके कारण रूप कर्म भी है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए।

ध ६/४,१,४४/११७/६ ण च णिक्कारणाणि, कारणेण विणा कज्जाण-मुप्पत्तिविरोहादो। ण च कारणविरोहीण तक्कज्जेहि विरोहो जुज्जदे कारणविरोहादुवारेणेव सव्वत्थ कज्जेसु विरोहुवलंभादो। =यदि कहा जाय कि जन्म जरादिक अकारण है, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कारणके बिना कार्योंकी उत्पत्तिका विरोध है जो कारणके साथ अविरोधी है उनका उक्त कारणके कार्योंके साथ विरोध उचित नहीं है, क्योंकि, कारणके विरोधके द्वारा ही सर्वत्र कार्योंमें विरोध पाया जाता है।

स्या, म /१६/१६७/१७ द्विष्ठसंबन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबन्धवेदनम्। इति वचनात्। =दो वस्तुओंके सम्बन्धमें रहनेवाला ज्ञान दोनों वस्तुओंके ज्ञान होनेपर ही हो सकता है। यदि दोनोंमेंसे एक वस्तु रहे तो उस सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता।

न्या दी /२/§४/२७ न हि किंचित्स्वस्मादेव जायते। =कोई भी वस्तु अपनेसे ही पैदा नहीं होती, किन्तु अपनेसे भिन्न कारणोंसे पैदा होती है।

दे० नय/V/६/४ उपादान होते हुए भी निमित्तके बिना मुक्ति नहीं।

३. उचित निमित्तके सान्निध्यमें ही द्रव्य परिणमन करता है

प्र सा /त प्र /६२ द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधन-सन्निधिसद्भावे उत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। =जिसने पूर्वावस्थाको प्राप्त किया है, ऐसा द्रव्य भी जो कि उचित बहिरंग साधनोंके सान्निध्यके सद्भावमें उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता है। 'वह उत्पादसे लक्षित होता है। (प्र सा /त प्र,/१०२,१२४)।

४. उपादानकी योग्यताके सद्भावमें भी निमित्तके बिना कार्य नहीं होता

ध,/१/१,१,३३/२३३/२ सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। न सर्वावयवै' रूपाद्युपलब्धिरपि तत्सहकारिकारणबाह्यनिवृत्तेरशेष-जीवावयवव्यापित्वाभावात्। =जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम-की उत्पत्ति स्वीकार की है। (यद्यपि यह क्षयोपशम ही जीवकी ज्ञानके प्रति उपादानभूत योग्यता है, दे० कारण III/१८) परन्तु ऐसा मान लेनेपर भी जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धि-का प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, रूपादिके ग्रहण करनेमें सहकारी कारणरूप बाह्यनिर्वृत्ति (इन्द्रिय) जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें नहीं पायी जाती है।

५. निमित्तके बिना केवल उपादान व्यावहारिक कार्य करनेको समर्थ नहीं है

स्व स्तो /मू./५६ यद्वस्तु बाह्य गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः। अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं न।५६। =जो बाह्य वस्तु गुण दोष या पुण्यपापकी उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्त-रंगमें वर्तनेवाले गुणदोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूल हेतुकी अंगभूत होती है (अर्थात् उपादानकी सहकारीकारणभूत होती है)। उस की अपेक्षा न करके केवल अभ्यन्तर कारण उस गुणदोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।

भ आ,/वि /१०७०/११५६/४ बाह्यद्रव्यं मनसा स्वीकृतं रागद्वेषयोर्बीजं, तस्मिन्नसति सहकारिकारणे न च कर्ममात्राद्रागद्वेषवृत्तिर्यथा सत्यपि मृत्पिण्डे दण्डाद्यनन्तरकरणवैकल्ये न घटोत्पत्तिर्यथेति मन्यते। =मनमें विचारकर जब जीव बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है तब रागद्वेष उत्पन्न होते है। यदि सहकारीकारण न होगा तो केवल कर्ममात्रसे रागद्वेष उत्पन्न होते नहीं। यद्यपि मृत्पिण्डसे घट उत्पन्न होता है तथापि दण्डादिक कारण नहीं होंगे तो घटकी उत्पत्ति नहीं होती है।

ध १/१,१,६०/२६८/१ यतो नाहारर्द्धिरात्मनमपेक्ष्योत्पद्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। अपि तु संयमातिशयापेक्षया तस्याः समुत्पत्ति-रिति। =आहारक ऋद्धि स्वत की अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि स्वत'से स्वत' की उत्पत्तिरूप क्रियाके होनेमें विरोध आता है। किन्तु संयमातिशयकी अपेक्षा आहारक ऋद्धिकी उत्पत्ति होती है।

क पा १/१,१३-१४/§२५६/२६५/४ ण च अण्णादो अण्णम्मि कोहो ण उप्पज्जइ, अक्कोसादो जीवेकम्मकलंकंकिए कोहुप्पत्तिदंसणादो। ण च उवलद्धे अणुववण्णदा; विरोहादो। ण कज्जं तिरोहियं संतं आविब्भावमुवणमइ; पिहवियारणे घडोवलद्धिप्पसंगादो। ण च णिच्चं तिरोहिज्जइ; अणाहियअइसयभावादो। ण तस्स आविब्भावो वि, परिणामवज्जियस्स अवत्थंतराभावादो। ण गद्दहस्स सिंगं अण्णेहिंतो उप्पज्जइ; तस्स विसेसेणेव सामण्णसरूवेण वि पुव्वमभावादो। ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ, सव्वकालं सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्प-त्तिप्पसंगादो। णाणुप्पत्ती सव्वाभावप्पसंगादो। ण चेव (वं), उवलब्भमाणत्तादो। ण सव्वकालमुप्पत्ती वि, णिच्चस्सुप्पत्तिविरो-हादो। ण णिच्चं पि, कमाकमेहि कज्जमकुणंतस्स पमाणविसए अवट्ठाणाणुववत्तीदो। तम्हा ण्णेहिंतो अण्णस्स सारिच्छ-तब्भाव-सामण्णेहि संतस्स विसेससरूवेण असंतस्स कज्जस्सुप्पत्तीए होदव्वमिदि सिद्धं। ='किसी अन्यके निमित्तसे किसी अन्यमें क्रोध उत्पन्न नहीं होता है' यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मोंसे कलंकित हुए जीवमें कटुवचनके निमित्तसे क्रोधकी उत्पत्ति देखी जाती है। और जो बात पायी जाती है उसके सम्बन्धमें यह कहना कि यह बात नहीं बन सकती, ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कहनेमें विरोध आता है। २ यदि कार्यको सर्वथा नित्य मान लिया जावे तो वह तिरोहित नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थमें किसी प्रकारका अतिशय नहीं हो सकता है। तथा नित्य पदार्थका आविर्भाव भी नहीं बन सकता, क्योंकि जो परिणमनसे रहित है, उसमें दूसरी अवस्था नहीं हो सकती है। ३ 'कारणमें कार्य छिपा रहता है और वह प्रगट हो जाता है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर मिट्टीके पिण्डको विदारनेपर घडेकी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। ४. 'अन्य कारणोंमे गधेके

सींगकी उत्पत्ति का प्रसग देना भी ठीक नही है, क्योकि उसका पहिलेसे ही जिस प्रकार विशेपरूपसे अभाव है उसी प्रकार सामान्य-रूपसे भी अभाव है। इस प्रकार जब वह सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारसे असद् है तो उसकी उत्पत्तिका प्रश्न ही नहीं उठता। ५. तथा कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्योंकी उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्तिका प्रसग प्राप्त होता है। ६. 'यदि कहा जाये कि कार्यकी उत्पत्ति मत होओ' सो भी कहना ठीक नहीं है क्योकि (सर्वदा) कार्यकी अनुत्पत्ति माननेपर सभीके अभावका प्रसग प्राप्त होता है। ७ 'यदि कहा जाये कि सभीका अभाव होता है तो हो जाओ' सो भी कहना ठीक नही है, क्योकि सभी पदार्थोकी उपलब्धि पायी जाती है। ८. यदि (दूसरे पक्षमे) यह कहा जाये कि सर्वदा सबकी उत्पत्ति होती ही रहे' सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योकि जो पदार्थ क्रमसे अथवा युगपत् कार्यको नहीं करता है वह पदार्थ प्रमाणका विषय नहीं होता है। इसलिए जो सादृश्यसामान्य और तद्भाव सामान्यरूपसे विद्यमान है तथा विशेष (पर्याय) रूपसे अविद्यमान है ऐसे किसी भी कार्यकी, किसी दूसरे कारणसे उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हुआ।

---

६. निमित्तके बिना कार्योत्पत्ति माननेमें दोष

क.पा १/१,१३/§२५६/२९१/१ ण च कारणेण विणा कज्जमुप्पज्जइ, सव्वकाल सव्वस्स उप्पत्ति-अणुप्पत्तिप्पसगादो। =कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो सर्वदा सभी कार्योंकी उत्पत्ति अथवा अनुत्पत्तिका प्रसग प्राप्त होता है।

प मु /६/६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात =यदि पदार्थ स्वय समर्थ होकर क्रिया करते है तो सदा कार्यकी उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि, केवल सामान्य आदि कार्य करनेमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते।

७. सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् उदासीन नहीं होते

पं का /त प्र /८८ यथा हि गतिपरिणत प्रभञ्जनो वैजयन्तीना गति-परिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथा धर्म.। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन गति-परिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। · अपि च यथा गतिपूर्वस्थितिपरिणति-परिणतस्तुरगोऽश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथाधर्म। सखलु निष्क्रियत्वात् · उदासीन एवासौ प्रसरो भवतीति। =जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओके गतिपरिणामका हेतुकर्ता (प्रेरक) दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म नही है। वह वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी गति परिणामको ही प्राप्त नहीं होता, तो फिर उसे (परके) सहकारीकी भाँति परके गतिपरिणामका हेतुकर्तृत्व कहाँसे होगा? किन्तु केवल उदासीन ही प्रसारक है। और जिस-प्रकार गतिपूर्वक स्थिति परिणत अश्व सवारके स्थिति परिणामका हेतुकर्ता (प्रेरक) दिखाई देता है उसी प्रकार अधर्म नहीं है। वह तो केवल उदासीन ही प्रसारक है। (तात्पर्य यह कि सभी कारण धर्मास्तिकायवत् उदासीन नहीं हैं। निष्क्रियकारण उदासीन होता है और क्रियावान् प्रेरक होता है)।

५. कर्म व जीवगत कारणकार्य भावकी कथंचित् प्रधानता

१. जीव व कर्ममें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका निर्देश

मू आ /९६७ जीवपरिणामहेदू कम्मत्तण पोग्गला परिणमति। ण दु णाण-परिणदो पुण जीवो कम्म समादियदि॥ =जिनको जीवके परिणाम कारण है ऐसे रूपादिमान परमाणु कर्मस्वरूपसे परिणमते हैं, परन्तु ज्ञानभावकरि परिणत हुआ जीव कर्मभावकरि पुद्गलोंको नहीं ग्रहण करता।

स सा./मू /८० जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्म-णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ।८०। =पुद्गल जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूपमें परिणत होते है और जीव भी पुद्गलकर्मके निमित्तसे परिणमन करता है। (स सा./मू./३१२-३१३), (प.का /मू. ६०), (न. च वृ /८३), (यो सा. अ/३/९-१०)।

प का /मू /१२८-१३० जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदु परिणामो। परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसु गदी।१२८। गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते। तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।१२९। जायदि जीवस्सेवं भावो ससारचक्कवालम्मि। इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।१३०। =जो वास्तवमें ससार-स्थित जीव है उससे परिणाम होता है, परिणामसे कर्म और कर्मसे गतियोमें गमन होता है।१२८। गतिप्राप्तको देह होती है, देहसे इन्द्रियाँ होती है, इन्द्रियोंसे विषयग्रहण और विषयग्रहणसे राग अथवा द्वेष होता है।१२९। ऐसे भाव संसारचक्रमें जीवको अनादिअनन्त अथवा अनादि सान्त होते रहते हैं, ऐसा जिनवरोंने कहा है।१३०। (न च.वृ./१३१-१३३), (यो.सा.अ /४/२९.३१ तथा २/३३), (त.अनु./१६-१९); (मा ध./६/३१)

और भी देखो—प्रकृति बन्ध/१/२ में परिणाम प्रत्यय प्रकृतियोंके लक्षण व भेद।

पं ध /उ/४१,१०७१ जीवस्याशुद्धरागादिभावाना कर्मकारणम्। कर्मण-स्तस्य रागादिभावा प्रत्युपकारिवत्।४१। अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्य जीवपुद्गलकर्मणो। निमित्तनैमित्तिको भावो यथा कुम्भ-कुलालयो'।१०७१। =परस्पर उपकारकी तरह जीवके अशुद्ध रागादि भावोंका कारण द्रव्यकर्म है और उस द्रव्यकर्मके कारण रागादि भाव है।४१। इसलिए जिस प्रकार कुम्भ और कुम्भारमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गलात्मक कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव है यह सिद्ध होता है।१०७१। (प ध /उ /१०६, १३१-१३२,१०६९-१०७०)

२. जीव व कर्मोंकी विचित्रता परस्पर सापेक्ष है

ध ७/२,१,१९/७०/१ ण च कारणेण विणा कज्जाणमुप्पत्ती अत्थि। · तत्तो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो। जदि एव तो भमर-महुवर -कयंबादि सण्णिदेहि वि णामकम्मेहि होदव्व-मिदि। ण एस दोसो इच्छिज्जमाणादो।" =कारणके बिना तो कार्योंकी उत्पत्ति होती नहीं है। इसलिए जितने (पृथिवी, अप्, तेज आदि) कार्य है उतने उनके कारणरूप कर्म भी है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है तो भ्रमर, मधुकर—कदम्ब आदिक नामोंवाले भी नाम कर्म होने चाहिए? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो इष्ट ही है।

ध १०/४,२,३,१/१३/७ जा सा णोआगमदव्वकम्मवेयणा सा अट्ठविहा ·। कुदो। अट्ठविहस्स दिस्समाणस्स अण्णाणादसण· वीरियादिअंतराय-कज्जस्स अण्णहाणुववत्तीदो। ण च कारणभेदेण विणा कज्जभेदो अत्थि, अण्णत्थ तहाणुवलभादो। =जो वह नोआगमद्रव्यकर्मवेदना कही है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदिके भेदसे आठ प्रकार की है। क्योकि ऐसा नहीं माननेपर अज्ञान अदर्शन एव वीर्यादिके अन्तरायरूप आठप्रकारका कार्य जो दिखाई देता है वह नहीं बन सकता है। यदि कहा जाय कि यह आठ प्रकारका कार्यभेद कारणभेद के बिना भी बन जायेगा, सो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योकि अन्यत्र ऐसा पाया नहीं जाता।

क.पा. १/१,१/§३७/५६/४ एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणितरतमभावो ण ताव णिक्कारणो, वड्ढिहाणिहि विणा एगसरूवेणावट्ठाणप्पसंगादो।

ण च एवं तहाणुवलंभादो। तम्हा सकारणाहि ताहि होदव्वं। ज तं हाणि तरतमभावकारणं तमावरणमिदि सिद्धं ।=इस ज्ञानप्रमाणका वृद्धि और हानिके द्वारा जो तरतमभाव होता है, वह निष्कारण तो हो नहीं सकता है, क्योंकि ज्ञानप्रमाणमें वृद्धि और हानिसे होनेवाले तरतमभावको निष्कारण मान लेनेपर वृद्धि और हानिरूप कार्यका ही अभाव हो जाता है। और ऐसी स्थितिमें ज्ञानके एकरूपसे रहनेका प्रसंग प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा नही है, क्योकि एकरूप ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए ये तरतमता सकारण होनी चाहिए। उसमें जो हानि वृद्धिके तरतम भावका कारण है वह आवरण कर्म है।

क पा ४/३,२२/§२६/१५/६ एगट्ठिदिबंधकालो सव्वेसिं जीवाणं समाणपरिणामो किण्ण होदि। ण, अंतरंगकारणभेदेण सरिसत्ताणुववत्तीदो। एगजीवस्स सव्वकालमेगपमाणट्ठाएट्ठिदिबंधो किण्ण होदि। ण, अतरंगकारणेसु दव्वादिसंबंधेण परियत्तमाणस्स एगम्मि चेव अंतरंगकारणे सव्वकालमवट्ठाणाभावादो।=प्रश्न—सब जीवोके एक स्थितिबन्धका काल समान परिणामवाला क्यो नही होता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तरंगकारणमें भेद होनेसे उसमें समानता नही बन सकती। प्रश्न—एक ही जीवके सर्वदा स्थितिबन्ध एक समान कालवाला क्यों नही होता है ? उत्तर—नही, क्योकि, यह जीव अन्तरंग कारणोमे द्रव्यादिके सम्बन्धसे परिवर्तन करता रहता है, अत. उसका एक ही अन्तरंग कारणमें सर्वदा अवस्थान नहीं पाया जाता है।

क पा ४/१,२२/§४४/२४/५ सो केण जणिदो। अणंताणुबंधीणमुदएण। अणताणुबंधीणमुदओ कुदो जायदे। परिणामपचएण।=प्रश्न—वह (सासादन परिणाम) किस कारणसे उत्पन्न होता है ? उत्तर—अनन्तानुबन्धी चतुष्कके उदयसे होता है। प्रश्न—अनन्तानुबन्धी चतुष्कका उदय किस कारणसे होता है ? उत्तर—परिणाम विशेषके कारणसे होता है।

३. जीवकी अवस्थाओंमें कर्ममूल हेतु है

रा वा /५/२४/६/४८८/२१ तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम्। =वह (कर्म) आत्माको परतन्त्र करनेमें मूलकारण है।

रा वा /१/३/६/२३/१६ लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गत. क्रौर्यशौर्याहारादिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्ते इत्युच्यन्ते न चासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात्।=लोकमे भी शेर, भेडिया, चीता, साँप आदिमें शूरता-क्रूरता आहार आदि परोपदेशके बिना होनेसे यद्यपि नैसर्गिक कहलाते है; परन्तु वे आकस्मिक नही है, क्योंकि कर्मोदयके निमित्तसे उत्पन्न होते है।

दे० विभाव/३/१ (जीवकी रागादिरूप परिणतिमें कर्म ही मूल कारण है)।

का अ /मु /३१९ ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं। उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुह कुणदि।३१९।=न तो कोई देवी देवता आदि जीवको लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है। शुभाशुभ कर्म ही जीवका उपकार या अपकार करते है।

पं.ध /उ./२०१ स्वावरणस्योच्चैर्मूल हेतुर्यथोदय:।=अपने-अपने ज्ञानके घातमे अपने-अपने आवरणका उदय वास्तवमें मूलकारण है।

४ कर्मकी बलवत्ताके उदाहरण

स.सा /मू /१६१-१६३ (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रके प्रतिबन्धक क्रमसे मिथ्यात्व, अज्ञान व कषाय नामके कर्म है।)

भ आ /मू./१६१० असाताके उदयमे औषधियें भी सामर्थ्यहीन है।

स सि /१/२०/१०१/२ प्रबल श्रुतावरणके उदयसे श्रुतज्ञानका अभाव हो जाता है।

प प्र /मू /१/६६,७८ इस पंगु आत्माको कर्म ही तीनो लोकोमें भ्रमण कराता है।६६। कर्म बलवान है, बहुत है, विनाश करनेको अशक्य है, चिकने है, भारी है और वज्रके समान है।७८।

रा वा /१/१५/१३/६१/१५ चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशममे तथा अगोपाग नामकर्मके अवष्टम्भ(बल)से चक्षुर्दर्शनकी शक्ति उत्पन्न होती है।

रा.वा/५/२४/६/४८८/२१ सुख-दु खकी उत्पत्तिमें कर्म बलाधान हेतु है।

आप्त प /११४-११५/२४६-२४७ कर्म जीवको परतन्त्र करनेवाले है। (रा वा/५/२४/६/४८८/२०) (गो जी/जी प्र/२४४/५०८/२)

ध १/१,१,३३/२३४/३ कर्मोकी विचित्रतासे ही जीव प्रदेशोके सघटनका विच्छेद व बन्धन होता है।

ध.१/१,१,३३/२४२/८ नाम कर्मोदयकी वशवर्तितासे इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।

स सा/आ /१५७-१५६ कर्म मोक्षके हेतुका तिरोधान करनेवाला है।

स सा /आ./२,४,३१,३२, क ३ इत्यादि (इन सर्व स्थलोपर आचार्यने मोहकर्मकी बलवत्ता प्रगट की है)

स सा /आ./८६ जीवके लिए कर्म संयोग ऐसा ही है जैसा स्फटिकके लिए तमालपत्र।

त सा /८/३३ ऊर्ध्व गमनके अतिरिक्त अन्यत्र गमनरूप क्रिया कर्मके प्रतिघातसे तथा निज प्रयोगसे समझनी चाहिए।

का अ /मू /२११ कर्मकी कोई ऐसी शक्ति है कि इससे जीवका केवलज्ञान स्वभाव नष्ट हो जाता है।

द्र स /टी /१४/४४/१० जीव प्रदेशोका विस्तार कर्माधीन है, स्वाभाविक नही।

स्या.म./१७/२३८/६ स्व ज्ञानावरणके क्षयोपशमविशेषके वशसे ज्ञानकी निश्चित पदार्थोमे प्रवृत्ति होती है।

प ध /उ /१०५,३२८,६८७,८७४,६२५ जीव विभावमे कर्मकी सामर्थ्य ही कारण है।१०५। आत्माकी शक्तिकी बाधक कर्मकी शक्ति है।३२८। मिथ्यात्व कर्म ही सम्यक्त्वका प्रत्यनीक (बाधक) है।६८७। दर्शनमोहके उपशमादि होनेपर ही सम्यक्त्व होता है और नही होनेपर नही ही होता है।८७४। कर्मकी शक्ति अचिन्त्य है।६२५।

स.सा /३१७/क १६८/पं जयचन्द—जहाँ तक जीवकी निर्बलता है तहाँ तक कर्मका जोर चलता है।

स.सा /१७२/क११६/प. जयचन्द—रागादि परिणाम अबुद्धि पूर्वक भी कर्मकी बलवत्तासे होते है।

—दे० विभाव/३/१—(कर्म जीवका पराभव करते है)

५. जीवकी एक अवस्थामें अनेक कर्म निमित्त होते हैं

रा वा/१/१५/१३/६१/१५ इह चक्षुषा चक्षुर्दर्शनावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामावष्टम्भाद् अविभावितविशेषसामर्थ्येन किंचिदेतद्वस्तु इत्यालोचनमनाकारं दर्शनमित्युच्यते बालवत्। =चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यान्तराय इन दो कर्मोंके क्षयोपशमसे तथा साथ-साथ अगोपाग नामकर्मके उदयसे होनेवाला सामान्य अवलोकन चक्षुदर्शन कहलाता है।

प ध/उ./२०१-२०२ सत्य स्वावरणस्योच्चैर्मूल हेतुर्यथोदय। कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्ध' कार्यकृद्यथा।२०१। अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्युदयक्षते। तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि।२०२। =जैसे अपने-अपने घातमें अपने-अपने आवरणका उदय मूलकारण है वैसे ही वह ज्ञानावरण आदि दूसरे कर्मोंके उदयकी अपेक्षा सहित कार्य-

भारी होता है, यह भी प्रसिद्ध नहीं है।२०१। जैसे जो मत्यादिक ज्ञान ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे होता है वैसे ही वह वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे भी होता है।२०२।

६. कर्मके उदयमें तदनुसार जीवके परिणाम अवश्य होते हैं

रा.वा/७/२१/२१/५४६/२७ यद्यभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयोऽस्ति तदुदयेनासंयमनिवृत्तपरिणामेन भवितव्यं ततश्च महाव्रतत्वमस्य नोपपद्यत इति मतम्, तन्न; किं कारणम्, उपचारात् राजकुले सर्वगतचैत्रवत्। =प्रश्न—(छठे गुणस्थानवर्ती संयतको) यदि संयमघाती कर्मका उदय है तो उसको ही उसे अविरतिके परिणाम होने चाहिए। और ऐसा होने पर उसके महाव्रतत्वपना घटित नहीं होता (अत संज्वलनके उदयके सद्भावमें छठे गुणस्थानवर्ती साधुको महाव्रती कहना उचित नहीं है)। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि राजकुलमें चैत्र या किसी पुरुषको सर्वगत कहनेकी भाँति यहाँ उपचारसे उसे महाव्रती कहा जाता है।

ध /१२/४,२,१३,२५८/४८७/६ ण च सुहुमसांपराइय मोहणीय भावो णत्थि, भावेण विणा दव्वकम्मस्स अत्थित्तविरोहादो सुहुमसांपराइयसण्णाणुववत्तीदो वा। =सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थानमें मोहनीयका भाव नहीं हो, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि भावके बिना द्रव्यकर्मके रहनेका विरोध है, अथवा वहाँ भावके न मानने पर 'सूक्ष्मसांपरायिक' यह संज्ञा ही नहीं बनती है।

नोट—(यद्यपि मूल सूत्र नं २५८ "तस्स मोहणीयवेयणाभावदो णत्थि" के अनुसार वहाँ मोहनीयका भाव नहीं है। परन्तु यह कथन नय विवक्षासे आचार्य वीरसेन स्वामीने समन्वित किया है। तहाँ द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षासे सबका ही विनाश होनेके कारण उस गुणस्थानके अन्तिम समयमें मोहनीयके भावका भी विनाश हो जाता है और पर्यायार्थिक नय असत् अवस्थामें ही अभाव या विनाश स्वीकार करता होनेके कारण उसकी अपेक्षा वह मोहनीयका भाव उस गुणस्थानके अन्तिम समयमें है और उपशान्तकषाय या क्षीणकषायके प्रथम समयमें विनष्ट होता है। विशेष—देखो उत्पाद/२/७)

ल. सा/जी प्र/३०२/३८४/१६ द्रव्यकर्मोदये सति संक्लेशपरिणामलक्षणभावकर्मण संभवेन तयो कार्यकारणभावप्रसिद्धेः। =(उपशान्त कषाय गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। तदुपरान्त अवश्य ही मोहकर्मका उदय आता है जिसके कारण वह नीचे गिर जाता है।) नियमसे द्रव्यकर्मके उदयके निमित्ततै संक्लेशरूप भाव कर्म प्रगट हो है। इसलिए दोनोंमें कार्यकारणभाव सिद्ध है।

IV. कारण कार्य भाव समन्वय

१. उपादान निमित्त सामान्य विषयक

१. कार्य न सर्वथा स्वतः होता है न सर्वथा परतः

रा. वा /५/८/८/४५१/७ पुद्गलानामानन्त्यात्तत्तत्पुद्गलद्रव्यमपेक्ष्य एकपुद्गलस्थस्य तस्यैकस्यैव पर्यायस्यान्यत्वभावात्। यथा प्रदेशिन्या मध्यमाभेदाद् यदन्यत्वं न तदेव अनामिकाभेदात्। मा भूत मध्यमानामिकयोरेकत्व मध्यमाप्रदेशिन्यन्यत्वहेतुत्वेनाविशेषादिति। न चैतदनायविकमेवार्थसत्त्वम्। यदि मध्यमासामर्थ्यात् प्रदेशिन्या ह्रस्वत्व जायते शशविषाणेऽपि स्याच्छुकयष्टौ वा। नापि स्वत एव, परापेक्षाभावे तदव्यक्तत्वभावात्। तस्मात्तस्यानन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणं प्रतीत्य तत्तद्रूपं वक्ष्यते। न तत् स्वत एव नापि परकृतमेव। एवं जीवोऽपि कर्मनोकर्मविषयवस्तूपकरणसम्बन्धभेदादाविर्भूतजीवस्थानगुणस्थानविकल्पानन्तपर्यायरूप प्रत्येतव्य। =जैसे अनन्त पुद्गल सम्बन्धियोंकी अपेक्षा एक ही प्रदेशिनी अगुली अनेक भेदोंको प्राप्त होती है, उसी प्रकार जीव भी कर्म और नोकर्म विषय उपकरणोंके सम्बन्धसे जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान, दंडी, कुण्डली आदि अनेक पर्यायोंको धारण करता है। प्रदेशिनी अँगुलीमें मध्यमाकी अपेक्षा जो भिन्नता है वही अनामिकाकी अपेक्षा नहीं है, प्रत्येक पर रूपका भेद जुदा-जुदा है। मध्यमाने प्रदेशिनीमें ह्रस्वत्व उत्पन्न नहीं किया, अन्यथा शशविषाणमें भी उत्पन्न हो जाना चाहिए था, और न स्वत ही उसमें ह्रस्वत्व था, अन्यथा मध्यमाके अभावमें भी उसकी प्रतीति हो जानी चाहिए थी। तात्पर्य यह कि अनन्त परिणामी द्रव्य ही तत्तत्सहकारी कारणोंकी अपेक्षा उन-उन रूपसे व्यवहारमें आता है। (यहाँ द्रव्यकी विभिन्नतामें सहकारी कारणताका स्थान दर्शाते हुए कहा गया है कि वह न स्वत है न परत। इसी प्रकार क्षेत्र, काल व भावमें भी लागू कर लेना चाहिए)

२. प्रत्येक कार्य अन्तरंग व बाह्य दोनों कारणोंके सम्मेल से होता है

स्व.स्तो./मू /३३ ५९,६० अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा। ।३३। यद्वस्तु बाह्य गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतो। अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तर केवलमप्यलं न ।५९। बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय, कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभाव। नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसा, तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ।६०। =अन्तरंग व बाह्य इन दोनों हेतुओंके अनिवार्य संयोग द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है।३३। जो बाह्य वस्तु गुण दोष अर्थात् पुण्य पापकी उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरंगमें वर्तनेवाले गुणदोषोंकी उत्पत्तिके आभ्यन्तर मूलहेतुकी अगभूत है। केवल अभ्यन्तर कारण ही गुणदोषकी उत्पत्ति में समर्थ नहीं है।५९। कार्योंमें बाह्य और अभ्यतर दोनों कारणोंकी जो यह पूर्णता है वह आपके मतमें द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा पुरुषोंके मोक्षकी विधि भी नहीं बनती। इसीसे हे परमर्षि। आप बन्धुजनोंके वन्द्य है।६०।

स.सि./५/३०/३००/५ उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्। =अन्तरंग और बहिरंग निमित्तके वशसे प्रतिसमय जो नवीन अवस्थाकी प्राप्ति होती है, उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीके पिण्डकी घटपर्याय। (प्र सा/त प्र /९५,१०२)

ति प /४/२८१-२८२ सव्वाणं पयत्थाणं णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ। बहिरंतरंगहेदुहि सव्वब्भेदेसु वट्टंति।२८१। बाहिरहेदू कहिदो णिच्छयकालो त्ति सव्वदरसीहिं। अब्भतरं णिमित्तं णियणियदव्वेसु चेट्ठेदि।२८२। =सर्व पदार्थोंके समस्त भेदोंमें नियमसे बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तोंके द्वारा परिणामादिक (परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व) वृत्तियाँ प्रवर्तती है।२८१। सर्वज्ञदेवने सर्व पदार्थोंके प्रवर्तनेका बाह्य निमित्त निश्चयकाल कहा है। अभ्यन्तर निमित्त अपने-अपने द्रव्योंमें स्थित है।२८२।

३. अन्तरंग व बहिरंग कारणोंसे होनेके उदाहरण

स.सा./मू /२७८-२७९ जैसे स्फटिकमणि तमालपत्रके सयोगसे परिणमती है वैसे ही जीव भी अन्य द्रव्योंके सयोगसे रागादि रूप परिणमन करता है।

स सा /मू /२८३-२८५ द्रव्य व भाव दोनों प्रतिक्रमण परस्पर सापेक्ष है।

रा.वा /२/१/१४/१०१/२३ बाहरमें मनुष्य तिर्यंचादिक औदयिक भाव और अन्तरंगमें चैतन्यादि पारिणामिक भाव ही जीवके परिचायक है।

पं.का./त प्र /८८ स्वतः गमन करनेवाले जीव पुद्गलोंकी गतिमें धर्मास्तिकाय बाह्य सहकारीकारण है। (द्र.स./टी /१७) (और भी दे० निमित्त)।

४. व्यवहारनयसे निमित्त वस्तुभूत है पर निश्चयसे कल्पना मात्र है

श्लो वा.२/१/७/१३/५६५/१ व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठ संबन्धः सयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुन कल्पनारोपित' सर्वथाप्यनवद्यत्वात्। संग्रहर्जु सूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित्कश्चित्संबन्धोऽन्यत्र कल्पनामात्रत्वाद् इति सर्वमवि्हि।=व्यवहार नयका आश्रय लेनेपर संयोग व समवाय आदि सम्बन्धोंके समान दोमें ठहरनेवाला कार्यकारण भाव प्रतीतियोंसे सिद्ध होनेके कारण वस्तुभूत ही है, काल्पनिक नहीं। (क्योंकि तहाँ व्यवहारनय भेदग्राही होनेके कारण असद्भूत व्यवहार भेदोपचारको ग्रहण करके सयोग सम्बन्धको सत्य घोषित करता है और सद्भूत व्यवहार नय अभेदोपचारको ग्रहण करके समवाय सम्बन्धको स्वीकार करता है) परन्तु संग्रह नय और ऋजुसूत्र नयका आश्रय करनेपर कोई भी किसी का किसीके साथ सम्बन्ध नहीं है। कोरी कल्पनाएँ हैं। सब अपने-अपने स्वभावोंमें लीन हैं। यही निश्चय नय कहता है। (सग्रहनय मात्र अद्वैत एक महा सद् ग्राही होनेके कारण और ऋजुसूत्रनय मात्र अन्तिम अवान्तर सत्तारूप एकत्वग्राही होनेके कारण, दोनों ही द्विष्ठ नहीं देखते। तब वे कारणकार्यके द्वैतको कैसे अगीकार कर सकते है। विशेष देखो 'नय')।

५. निमित्त स्वीकार करनेपर भी वस्तु स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती

रा.वा /५/१/२७/४३४/२६ ननु च बाह्यद्रव्यादिनिमित्तवशात् परिणामिनां परिणाम उपलभ्यते, स च स्वातन्त्र्ये सति विरुध्यत इति. नैष दोष, बाह्यस्य निमित्तमात्रत्वात्। न हि गत्यादिपरिणामिनो जीवपुद्गला गत्याद्युपग्रहे धर्मादीनां प्रेरका।=(धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायकी यहाँ यह स्वतन्त्रता है कि ये स्वय गति और स्थितिरूपसे परिणत जीव और पुद्गलोंकी गतिमें स्वय निमित्त होते हैं।) प्रश्न—बाह्य द्रव्यादिके निमित्तसे परिणामियोंके परिणाम उपलब्ध होते हैं और स्वातन्त्र्य स्वीकार कर लेनेपर यह बात विरोधको प्राप्त हो जाती है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि बाह्य द्रव्य निमित्तमात्र होते है। (यहाँ प्रकृतमें) गति आदि रूप परिणमन करनेवाले जीव व पुद्गल गति आदि उपकार करनेके प्रति धर्म आदि द्रव्योंके प्रेरक नहीं है। गति आदि करानेके लिए उन्हें उकसाते नहीं हैं।

६. उपादान उपादेय भावका कारण प्रयोजन

रा वा /२/३६/१८/१४७/७ यथा घटादिकार्योपलब्धे परमाण्वनुमान तथौदारिकादिकार्योपलब्धे. कार्मणानुमानम् "कार्यलिङ्ग हि कारणम्" (आप्त मी. श्लो ६८)।=जैसे घट आदि कार्योंकी उपलब्धि होनेसे परमाणु रूप उपादान कारणका अनुमान किया जाता है, इसी प्रकार औदारिक शरीर आदि कार्योंकी उपलब्धि होनेसे कर्मों रूप उपादान कारणका अनुमान किया जाता है, क्योंकि कारणका कार्यलिंगवाला कहा गया है।

श्लो. वा २/१/५/६६/२७१/२० सिद्धमेकद्रव्यात्मकचित्तविशेषाणामेक-सतानत्वं द्रव्यप्रत्यासत्तेरेव।=(सर्वथा अनित्य पक्षके पोषक बौद्ध लोग किसी भी अन्वयी कारणसे निरपेक्ष एक सन्ताननामा तत्त्वको स्वीकार करके जिस किस प्रकार सर्वथा पृथक्-पृथक् कार्योंमें कारण-कार्य भाव घटित करनेका असफल प्रयास करते हैं, पर वह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता। हाँ एक द्रव्यके अनेक परिणामोंको एक सन्तानपना अवश्य सिद्ध है।) वहाँ द्रव्य नामक प्रत्यासत्तिसे ही तिस प्रकार होनेवाले एक सन्तानपनेकी कारणता सिद्ध होती है। एक द्रव्यके केवल परिणामोंकी एक सन्तान करनेमें उपादान उपादेय-भाव सिद्ध नहीं होता।

७. उपादानको परतन्त्र कहनेका कारण व प्रयोजन

स.सि /२/१९/१७७/३ लोके इन्द्रियाणा पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते। अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति। तत. पारतन्त्र्यात्स्पर्शनादीना करणत्वम्।=लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्य विवक्षा देखी जाती है। जैसे इस आँखसे मैं अच्छा देखता हूँ, इस कानसे मैं अच्छा सुनता हूँ। अत. पारतन्त्र्य विवक्षामें स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका करणपना (साधकतमपना) बन जाता है (तात्पर्य यह कि लोक व्यवहारमें सर्वत्र व्यवहार नयका आश्रय होनेके कारण उपादानकी परिणतिको निमित्तके आधारपर बताया जाता है। (विशेष दे० नय/५/६) (रा वा./२/१९/१/१३१/८)।

स सा /ता वृ./९६ भेदविज्ञानरहित शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्न करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थ। केन, अज्ञान-भावेनेति।=भेद विज्ञानसे रहित व्यक्ति शुद्ध बुद्ध एक स्वभावी आत्माको अपने स्वरूपसे भिन्न पर पदार्थ रूप करता है (अर्थात् पर पदार्थोंके अटूट विकल्पके प्रवाहमें बहता हुआ) अपनेको रागादिकोंके साथ युक्त कर लेता है। यह सब उसका अज्ञान है। (ऐसा बताकर स्वरूपके प्रति सावधान कराना ही परतन्त्रता बतानेका प्रयोजन है।)

८. निमित्तको प्रधान कहनेका कारण प्रयोजन

रा वा /१/१/५७/१५/१७ तत एवोत्पत्त्यनन्तर निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् परस्परसंश्लेषाभावे निमित्तनैमित्तिकव्यवहारापह्नवाद् 'अविद्याप्रत्यया सस्कारा' इत्येवमादि विरुध्यते।=जिस (बौद्ध) मतमें सभी सस्कार क्षणिक है उसके यहाँ ज्ञानादिकी उत्पत्तिके बाद ही तुरन्त नाश हो जानेपर निमित्त नैमित्तिक आदि सम्बन्ध नहीं बनेंगे और समस्त अनुभव सिद्ध लोकव्यवहारोंका लोप हो जायेगा। अविद्याके प्रत्ययरूप सन्तान मानना भी विरुद्ध हो जायेगा। (इसी प्रकार सर्वथा अद्वैत नित्यपक्षवालोंके प्रति भी समझना। इसीलिए निमित्त नैमित्तिक द्वैतका यथा योग्यरूपसे स्वीकार करना आवश्यक है।)

ध /१२/४,२,८,४/२८१/२ एवंविहववहारो किमट्ठं कीरदे। सुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिबोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहट्ठं च। =प्रश्न—इस प्रकारका व्यवहार किस लिए किया जाता है। उत्तर—सुख पूर्वक ज्ञानावरणीयके प्रत्ययोंका प्रतिबोध करानेके लिए तथा कार्यके प्रतिषेध द्वारा कारणका प्रतिषेध करनेके लिए उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है।

प्र सा /ता वृ /१३३-१३४/१८९/११ अयमत्रार्थः यद्यपि पञ्चद्रव्याणि जीवस्योपकार कुर्वन्ति, तथापि तानि दु'खकारणान्येवेति ज्ञात्वा। यदि वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभाव परमात्मद्रव्य तदेव मनसा ध्येय वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठान च कर्तव्यमिति।=यहाँ यह तात्पर्य है कि यद्यपि पाँच द्रव्य जीवका उपकार करते हैं, तथापि वे सब दु.खके कारण हैं, ऐसा जानकर; जो यह अक्षय अनन्त सुखादिका कारण विशुद्ध ज्ञान-दर्शन उपयोग स्वभावी परमात्म द्रव्य है, वह ही मनके द्वारा ध्येय है, वचनके द्वारा वक्तव्य है और कायके द्वारा उनके साधक अनुष्ठान ही कर्तव्य है।

प्र सा /ता वृ /१९३/२०२/१७ अत्र यद्यपि ··सिद्धगतेः कालल्ब्धिरपि बहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन· या तु निश्चय-चतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं न च कालस्तेन कारणेन स

हेय इति भावार्थ. । =यहाँ यद्यपि सिद्ध गतिमें कालादि लब्धि रूपसे काल द्रव्य बहिरंग सहकारीकारण होता है, तथापि निश्चयनयसे जो चार प्रकारकी आराधना है वही तहाँ उपादान कारण है काल नहीं। इसलिए वह (काल) हेय है, ऐसा भावार्थ है।

२. कर्म व जीवगत कारणकार्य भाव विषयक

१. जीव यदि कर्म न करे तो कर्म भी उसे फल क्यों दे

यो.सा अ./३/११-१२ आत्मानं कुरुते कर्म यदि कर्म तथा कथम् । चेतनाय फल दत्ते भुङ्क्ते वा चेतनः कथम् ।११। परेण विहितं कर्म परेण यदि भुज्यते। न कोऽपि सुखदु.खेभ्यस्तदानी मुच्यते कथम् ।१२। =यदि कर्म स्वय ही अपनेको कर्ता हो तो वह आत्माको क्यो फल देता है ? वा आत्मा ही क्यो उसके फलको भोगता है ? ।११। क्योंकि यदि कर्म तो कोई अन्य करेगा और उसका फल कोई अन्य भोगेगा तो कोई भिन्न ही पुरुष क्यो न सुख-दुखसे मुक्त हो सकेगा ।१२।

यो सा. अ /५/२३-२७ विदधाति परो जीव' किंचित्कर्म शुभाशुभम् । पर्यायापेक्षया भुङ्क्ते फलं तस्य पुन. पर' ।२३। य एव कुरुते कर्म किंचिज्जीव शुभाशुभम् । स एव भुजते तस्य द्रव्यार्थापेक्षया फलम् ।२४। मनुष्य' कुरुते पुण्यं देवो वेदयते फलम् । आत्मा वा कुरुते पुण्यमात्मा वेदयते फलम् ।२५। चेतन' कुरुते भुङ्क्ते भावैरौदयिकैरयम् । न विधत्ते न वा भुङ्क्ते किंचित्कर्म तदत्यये ।२७। =पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दूसरा ही पुरुष कर्मको करता है और दूसरा ही उसको भोगता है, जैसे कि मनुष्य द्वारा किया पुण्य देव भोगता है। और द्रव्यार्थिक नयसे जो पुरुप कर्म करता है वही उसके फलको भोगता है, जैसे—मनुष्य भवमें भी जिस आत्माने कर्म किया था देवभवमे भी वही आत्मा उसे भोगता है ।२३-२५। जिस समय इस आत्मामें औदयिक भावोका उदय होता होता है उस समय उनके द्वारा यह शुभ अशुभ कर्मोको करता है और उनके फलको भोगता है। किन्तु औदयिकभाव नष्ट हो जानेपर यह न कोई कर्म करता है और न किसीके फलको भोगता है ।२७।

२. कर्म जीवको किस प्रकार फल देते है

यो सा'/३/१३ जीवस्याच्छादकं कर्म निर्मलस्य मलीमसम् । जायते भास्वरस्येव शुद्धस्य घनमण्डलम् ।१३। =जिस प्रकार ज्वलंत प्रभाके धारक भी सूर्यको मेघ मण्डल ढँक लेता है, उसी प्रकार अतिशय विमल भी आत्माके स्वरूपको मलिन कर्म ढँक देते है।

३. कर्म व जीवके निमित्त नैमित्तिकपनेमें हेतु

क.पा.१/१-१/§४२/६०/१ तं च कम्म सहेउअं, अण्णहा णिव्वावाराण पि बधप्पसगादो। कम्मस्स कारणं कि मिच्छत्तासंजमकसाया होंति, आहो सम्मत्तसजदविरायदादो। =जीवसे सम्बद्ध कर्मको सहेतुक ही मानना चाहिए, अन्यथा निर्व्यापार अर्थात् अयोगियोके भी कर्मबन्धका प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। उस कर्मके कारण मिथ्यात्व असयम और कषाय है, सम्यक्त्व, संयम व वीतरागता नही। (आप्त. प / २/५/८)

ध.१२/४,२,८,१२/२८८/६ ण, जोगेण विणा णाणावरणीयपयडीए पादुब्भावादसणादो। जेण विणा ज णियमेण णोवलब्भदे तं तस्स कज्ज इयर च कारणमिदि सयलणयाइयाइयअजणप्पसिद्धं'। तम्हा पदेसग्गवेयणा व पयडिवेयणा वि जोग पच्चएण त्ति सिद्धं'।

ध./१२/४,२,८,१३/२८९/४ यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात् । तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोगकसाएहि चेव होदि त्ति सिद्धं' । =१ योगके बिना ज्ञानावरणीयकी प्रकृतिवेदनाका प्रादुर्भाव देखा नही जाता। जिसके विना जो नियममे नही पाया जाता है वह उसका कारण व दूसरा कार्य होता है, ऐसा समस्त नैयायिक जनोमें प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रदेशाग्रवेदनाके समान प्रकृतिवेदना भी योग प्रत्ययसे होती है, यह सिद्ध है। २. जो जिसके होनेपर ही होता है और जिसके नहीं होनेपर नहीं होता है वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है। इस कारण ज्ञानावरणीय वेदना योग और कषायसे ही होती है, यह सिद्ध होता है।

४ वास्तवमें विभाव कर्ममें निमित्त नैमित्तिक भाव है, जीव व कर्ममें नहीं

पं ध /उ /१०७२ अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणा च परस्परम् । निमित्तनैमित्तिको भाव स्यान्न स्याज्जीवकर्मणो ।१०७२। =सूक्ष्म तत्त्वदृष्टिसे कषायो व कर्मोका परस्परमें निमित्त नैमित्तिक भाव है किन्तु जीवद्रव्य तथा कर्मका नहीं।

५. समकालवर्ती इन दोनोंमें कारणकार्य भाव कैसे हो सकता है ?

ध.७/२,१,३६/८१/१० वेदाभावलद्धीणं एककालम्मि चेव उप्पज्जमाणीणं कधमाहाराहेयभावो, कज्जकारणभावो वा। ण समकालेणुप्पज्जमाणच्छायंकुराणं कज्जकारणभावदंसणादो, घडुप्पत्तीए कुसूलाभावदंसणादो च। =प्रश्न—वेद (कर्म) का अभाव और उस अभाव सम्बन्धी लब्धि (जीवका शुद्ध भाव) ये दोनो जब एक ही कालमें उत्पन्न होते हैं, तब उनमे आधार-आधेयभाव या कार्य-कारणभाव कैसे बन सकता है ? उत्तर—बन सकता है, क्योंकि, समान कालमें उत्पन्न होने वाले छाया और अंकुरमें, वा दीपक व प्रकाशमें (दृष्टान्त) कार्यकारणभाव देखा जाता है।

६. कर्म व जीवके परस्पर निमित्तनैमित्तिकपनेसे इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आ सकता

प्र सा /त प्र /१२१ यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविध. परिणाम स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतु । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतु । द्रव्यकर्महेतु तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनैवोपलम्भात् । एवं सतीतरेतराश्रयदोष' । न हि अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबन्धस्यात्मन' प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् । ='संसार' नामक जो यह आत्माका तथाविध परिणाम है वही द्रव्यकर्मके चिपकनेका हेतु है। प्रश्न—उस तथाविध परिणामका हेतु कौन है ? उत्तर—द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योकि द्रव्यकर्मकी संयुक्ततासे ही वह देखा जाता है। प्रश्न—ऐसा होनेसे इतरेतराश्रय दोष आयेगा ? उत्तर—नहीं आयेगा, क्योकि अनादि सिद्ध द्रव्यकर्मके साथ सम्बद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म है उसका वहाँ हेतु रूपसे ग्रहण किया गया है (और नवीनबद्ध कर्मका कार्य रूपसे ग्रहण किया गया है)।

७ कर्मोदयका अनुसरण करते हुए भी जीवको मोक्ष सम्भव है

द्र सं /टी /३७/१५५/१० अत्राह शिष्य'—संसारिणा निरन्तर कर्मबन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति। तत्र प्रत्युत्तर । यथा शत्रो' क्षीणावस्था दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्यय मम हनने प्रस्तावस्तत' पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति। हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्व क्षीणत्व भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति । यत्पुनरन्त.कोटाकोटी-

प्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयरूपेण च कर्म लघुत्वे जातेऽपि सत्ययं जीव आगमभाषया अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञामध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणतिरूपां कर्महननबुद्धिं क्वापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षण ज्ञातव्यमिति। =प्रश्न—संसारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बन्ध व उदय पाया जाता है। अतः उनके शुद्धात्म ध्यानका प्रसंग भी नहीं है। तब मोक्ष कैसे होता है? उत्तर—जैसे कोई बुद्धिमान शत्रुकी निर्बल अवस्था देखकर 'यह समय शत्रुको मारनेका है' ऐसा विचारकर उद्यम करता है वह अपने शत्रुको मारता है। इसी प्रकार—कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती। स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्धकी न्यूनता (काललब्धि) होनेपर जब कर्म लघु व क्षीण होते हैं, उस समय कोई भव्य जीव अवसर विचारकर आगमकथित पंचलब्धि अथवा अध्यात्म कथित निजशुद्धात्म सम्मुख परिणामों नामक निर्मलभावना विशेषरूप खड्गसे पौरुष करके कर्मशत्रुको नष्ट करता है। और जो उपरोक्त काललब्धि हो जानेपर भी अधःकरण आदि त्रिकरण अथवा आत्म सम्मुख परिणाम रूप बुद्धि किसी भी समय न करेगा तो यह अभव्यत्व गुणका लक्षण जानना चाहिए।

८. कर्म व जीवके निमित्त-नैमित्तिकपनेमें कारण व प्रयोजन

प.प्र./टी./१/६६ अत्र वीतरागसदानन्दैकरूपात्सर्वप्रकारोपादेयभूतात्परमात्मनो यद्भिन्नं शुभाशुभकर्मद्वयं तद्धेयमिति भावार्थः। =(यहाँ जो जीवको कर्मोंके सामने पंगु बताया गया है) उसका भावार्थ ऐसा है कि वीतराग सदा एक आनन्दरूप तथा सर्व प्रकारसे उपादेयभूत जो यह परमात्म तत्त्व है, उससे भिन्न जो शुभ और अशुभ ये दोनों कर्म हैं, वे हेय हैं।

कारण ज्ञान—दे० उपयोग/I/१/५।

कारण चतुष्टय—दे० चतुष्टय।

कारण जीव—दे० जीव/१।

कारण परमाणु—दे० परमाणु/१।

कारण परमात्मा—दे० परमात्मा/१।

कारण विपर्यय—

कारण विरुद्ध व अविरुद्ध उपलब्धि—दे० हेतु/१।

कारण समयसार—दे० समयसार।

कारित—म.सि./६/८/३२५/५ कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षम्। =कार्यमें दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षा दिखलानेके लिए 'कारित' शब्द रखा है। (रा.वा.६/८/८/५१४/६); (चा.सा./८८/५)

कारुण्य—दे० 'करुणा'।

कार्तिकेय—१. भगवान् वीरके तीर्थमें अनुत्तरोपपादक हुए—दे० अनुत्तरोपपादक; २. राजा क्रौंचके उपसर्ग द्वारा स्वर्ग सिधारे थे। समय—अनुमानतः ई. श. १का प्रारम्भ। (ना.अ./प्र ६६।A. N up.)। ३. कार्तिकेयानुप्रेक्षाके कर्ता स्वामीकुमारका दूसरा नाम था। दे० स्वामीकुमार।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—आ० कुमार कार्तिकेय (ई १००८) द्वारा रचित वैराग्य भावनाओंका प्रतिपादक प्राकृत गाथा बद्ध ग्रन्थ। इसमें ४९१ गाथाएँ हैं। इसपर आ० शुभचन्द्र (ई १५१६-१५५६) ने संस्कृतमें टीका लिखी है। तथा पं० जयचन्द छाबड़ा (ई १८०६) ने भाषा टीका लिखी है।

कार्मण—जीवके प्रदेशोंके साथ बन्धे अष्ट कर्मोंके सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धके संग्रहका नाम कार्मण शरीर है। बाहरी स्थूल शरीरकी मृत्यु हो जानेपर भी इसकी मृत्यु नहीं होती। विग्रहगतिमें जीवोंके मात्र कार्माण शरीरका सद्भाव होनेके कारण कार्माण काययोग माना जाता है, और उस अवस्थामें नोकर्मवर्गणाओंका ग्रहण न होनेके कारण व अनाहारक रहता है।

१. कार्मण शरीर निर्देश

१. कार्मण शरीरका लक्षण

ष.खं. १४/५,६/सू २४१/३२८ सव्वकम्माणं परूहणुप्पादयं सुहदुक्खाण बीजमिदि कम्मइयं।२४१। =सब कर्मोंका प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दुःखका बीज है इसलिए कार्माण शरीर है।

स.सि./२/३६/१९१/६ कर्मणां कार्यं कार्मणम्। सर्वेषां कर्मनिमित्तत्वेऽपि रूढिवशाद्विशिष्टविषये वृत्तिरवसेया। =कर्मोंका कार्य कार्माण शरीर है। यद्यपि सर्व शरीर कर्मके निमित्तसे होते हैं तो भी रूढिसे विशिष्ट शरीरको कार्माण शरीर कहा है। (रा.वा./२/३६/३/१३७/६), (रा.वा./२/३६/८/१४६/१३); (रा.वा./२/४९/८/१५३/१८)

ध. १/१,१,५७/१६६/२६५ कम्मेव च कम्म-भव कम्मइयं तेण...।...।१६६। =ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके ही कर्म स्कन्धको कार्माण शरीर कहते हैं, अथवा जो कार्माण शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे कार्माण शरीर कहते हैं। (ध १/१,१,५७/२९५/१); (गो. जी./मू./२४१)

ध. १४/५,६,२४१/३२८/११ कर्माणि प्ररोहन्ति अस्मिन्निति प्ररोहणं कार्मणशरीरम्। सकलकर्माधारं इति यावत्। सुख-दुःखानां तद् बीजमपि एतेन नामकर्मावयवस्य कार्मणशरीरस्य प्ररूपणा कृता। साम्प्रतमष्टकर्मकलापस्य कार्मणशरीरस्य लक्षणप्रतिपादकत्वेन सूत्रमिदं व्याख्यायते। तद्यथा—भविष्यत्सर्वकर्मणां प्ररोहणमुत्पादकं त्रिकालगोचराशेषसुख-दुःखानां बीजं चेति अष्टकर्मकलापं कार्मणशरीरम्। कर्मणि भवं वा कार्मणं कर्मैव वा कार्मणमिति कार्मणशब्दव्युत्पत्तेः। =कर्म इसमें उगते हैं इसलिए कार्मण शरीर प्ररोहण कहलाता है...सर्वकर्मोंका आधार है। सुखों और दुःखोंका बीज भी है इसके द्वारा नामकर्मके अवयव रूप कार्मण शरीरकी प्ररूपणा की है। अब आठों कर्मोंके कलाप रूप कार्माण शरीरके लक्षणके प्रतिपादकपनेकी अपेक्षा इस सूत्रका व्याख्यान करते हैं। यथा—आगामी सर्व कर्मोंका प्ररोहण, उत्पादक और त्रिकाल विषयक समस्त सुख-दुःखका बीज है, इसलिए आठों कर्मोंका समुदाय कार्मणशरीर है, क्योंकि कर्ममें हुआ इसलिए कार्मण है, अथवा कर्म ही कार्मण है, इस प्रकार यह कार्मण शब्दकी व्युत्पत्ति है।

२. कार्मण शरीरके अस्तित्व सम्बन्धी शंका समाधान

रा.वा./२/३६/१०-१५/१४६/१६ सर्वेषां ...कार्मणत्वप्रसङ्ग इति चेत्... औदारिकशरीरनामादीनि हि प्रतिनियतानि कर्माणि सन्ति तदुदयभेदाद्भेदो भवति। तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनात् घटादिवत्... अतः कार्यकारणभेदान्न सर्वेषां कार्मणत्वम्। कार्मणेऽप्यौदारिकादीनां नैसर्गिकोपचयेनावस्थानमिति नानात्वं सिद्धम्। कार्मणमनन्तं निमित्ताभावादिति चेत् ...तन्न, किं कारणं। तस्यैव निमित्तनैमित्तिकभावात् प्रदीपवत्। मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च। ...प्रश्न—(कर्मोंका समुदाय कार्माण शरीर है) ऐसा मानने करनेसे औदारिकादि सब ही शरीरोंको कार्मणत्वपनेका प्रसंग आ जायेगा। उत्तर—औदारिकादि शरीर प्रतिनियत नामकर्मके उदयसे होते हैं, यद्यपि औदारिकादि शरीर कर्मकृत हैं, तथा मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले घट, घटी आदिकी भाँति फिर भी इनमें नाम, स्थान, आकार और निमित्त आदिकी दृष्टिसे भिन्नता है।...कारण कर्मकी अपेक्षा भी

कार्मण और औदारिकादि भिन्न है।...कार्मण शरीरपर ही औदारिकादि शरीरोके योग्य परमाणु जिन्हे विस्रसोपचय कहते हैं, आकर जमा होते हैं, इस दृष्टिसे भी कार्मण और औदारिकादि भिन्न है। प्रश्न—निर्निमित्त होनेसे कार्मण शरीर असत् है ? उत्तर—ऐसा नहीं है। जिस प्रकार दीपक स्वपरप्रकाश है, उसी तरह कार्मणशरीर औदारिकादिका भी निमित्त है, और अपने उत्तर कार्मणका भी। फिर मिथ्यादर्शन आदि कार्मण शरीरके निमित्त है।

३. नोकर्मोंके ग्रहणके अभावमें भी इसे कायपना कैसे प्राप्त है

ध.१/१,१,४/१३८/३ कार्मणशरीरस्थाना जीवाना पृथिव्यादिकर्मभिश्चित-नोकर्मपुद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्। =प्रश्न—कार्मणकाययोगमें स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा सचित हुए नोकर्म पुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायेगा ? उत्तर—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि नोकर्म रूप पुद्गलोंके सचयका कारण पृथिवी आदि कर्म सहकृत औदारिकादि नामकर्मका सत्त्व कार्मणकाययोग-रूप अवस्थामें भी पाया जाता है, इसलिए उस अवस्थामें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पाँचों शरीरोंमें सूक्ष्मता तथा उनका स्वामित्व—दे० शरीर/१
२. कार्मण शरीर मूर्त है —दे० मूर्त /२
३. कार्मण शरीरका स्वामित्व, अनादि बन्धन बद्धत्व व निरुपभोगत्व —दे० तेज/१
४. कार्मण शरीरकी संघातन परिशातन कृति —दे० ध.६/३५५-४११
५. कार्मण शरीर नामकर्मका बन्ध उदय सत्त्व —दे० वह वह नाम

२. कार्मण योग निर्देश

१. कार्मण काययोगका लक्षण

पं सं /प्रा /१/६६ कम्मेव य कम्मइय कम्मभवं तेण जो दु संजोगो। कम्मइयकायजोगो एय-विय-तियगेसु-समएसु ।६६। =कर्मोके समूहको अथवा कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले कायको कार्मणकाय कहते हैं, और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते है। यह योग विग्रहगतिमें अथवा केवलिसमुद्घातमें, एक दो अथवा तीन समय तक होता है।६६। (ध'१/१,१,५७/१६६/२६५) (गो जी /मू /२४१) (प स /स /१/१७८)

ध १/१,१,५७/२६५/२ तेन योग' कार्मणकाययोग'। केवलेन कर्मणा जनितवीर्येण सह योग इति यावत्। =उस (कार्मण) शरीरके निमित्तसे जो योग होता है, उसे कार्मण काययोग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर वर्गणाओं के बिना केवल एक कर्म से उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप जो प्रयत्न होता है उसे कार्मण काययोग कहते है।

गो जी.जी /२४१/५०४/१ कर्माकर्षशक्तिसगतप्रदेशपरिस्पन्दरूपो योग स कार्मणकाययोग इत्युच्यते। कार्मणकाययोग एकद्वित्रिसमयविशिष्टविग्रहगतिकालेषु केवलिसमुद्घातसबन्धिप्रतरद्वयलोकपूरणे समयत्रये च प्रवर्तते शेषकाले नास्तीति विभाग तुशब्देन सूच्यते। =तोहि (कार्मण शरीर) कार्मण स्कधसहित वर्तमान जो सप्रयोग: कहिये आत्माके कर्म ग्रहण शक्ति धरै प्रदेशनिका चंचलपना सो कार्मणकाययोग है, सो विग्रहगति विषै एक, दो, अथवा तीन समय काल मात्र हो है, अर केवल समुद्घातविषैं प्रतरद्विक अर लोकपूरण इन तीन समयनि विषै हो है, और समय विषै कार्मणयोग न हो है।

२. कार्मण काययोगका स्वामित्व

प खं १/१,१/सू० ६०,६४/२६८,३०७ कम्मइयकायजोगो विग्गहगई समावण्णाण केवलीण वा समुग्घाद-गदाणं ।६०। कम्मइयकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।६४। =विग्रहगतिको प्राप्त चारो गतियोके जीवोंके तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवली जिनके कार्मणकाययोग होता है ।६०। कार्मण काययोग ऐकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है। (रा.वा./२/२/१४/३६/२४) (त.सा /२/६७)

त सू./२/२५/ विग्रहगतौ कर्मयोग. २५। विग्रहगतिमें कर्मयोग (कार्मणयोग) होता है। २५।

ध.४/विशेषार्थ/१,३,२/३०/१७ आनुपूर्वी नामकर्मका उदय कार्मणकाययोगवाली विग्रहगतिमें होता है। ऋजुगतिमें तो कार्मण काययोग न होकर औदारिकमिश्र व वैक्रियकमिश्र काययोग ही होता है।

३. विग्रहगतिमें कार्मण ही योग क्यों

गो क /जी.प्र./३१८/४५१/१३ ननु अनादिसंसारे विग्रहाविग्रहगत्योर्मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगान्तगुणस्थानेषु कार्मणस्य निरन्तरोदये सति 'विग्रहगतौ कर्मयोग' इति सूत्रारम्भ कथं ? सिद्धे सत्यारम्यमाणो विधिर्नियमायेति विग्रहगतौ कर्मयोग एव नान्यो योग इत्यवधारणार्थ.। =प्रश्न—जो अनादि संसारविषै विग्रहगति अविग्रहगति विषै मिथ्यादृष्टि आदि सयोग पर्यन्त सर्व गुणस्थान विषै कार्माणका निरन्तर उदय है, 'विग्रहगतौ कर्मयोग:' ऐसे सूत्र विषै कार्माणयोग कैसे कह्या ? उत्तर—'सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय' सिद्ध होतें भी बहुरि आरम्भ सो नियमके अर्थि है तातैं इहाँ ऐसा नियम है जो विग्रहगतिविषैं कार्मण योग ही है और योग नाहीं।

४. कार्मण योग अपर्याप्तकोंमें ही क्यों

ध.१/१,१,६४/३३४/३ अथ स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणा न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तिव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेश अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति नैष दोष'; तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि।...ततोऽशेषससारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्। =प्रश्न—विग्रहगतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किन्तु वहाँपर कार्मण शरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पायी जाती है, क्योंकि विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोकी निष्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हे; क्योंकि पर्याप्तियोके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह संज्ञा दी गयी है। परन्तु जिन्होने पर्याप्तियोका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगति सम्बन्धी एक दो और तीन समयवर्ती जीवोको अपर्याप्त सज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर अतिप्रसग दोष आता है। इसलिए यहाँपर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था ही होनी चाहिए ? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि ऐसे जीवोका अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव किया गया है। और ऐसा मान लेनेपर अतिप्रसग दोष भी नहीं आता है अत' सम्पूर्ण प्राणियोकी दो अवस्थाएँ ही होती है। इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. कार्मण काययोगमें कार्यका लक्षण कैसे घटित हो —दे० काय/१
२. कार्मण काययोगमें चक्षु व अवधि दर्शन प्रयोग नहीं होता। —दे० दर्शन/७
३. कार्मण काययोगी अनाहारक क्यों। —दे० आहारक/१
४. कार्मण काययोगमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम
५. मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणा इष्ट है। तहाँ आयके अनुसार व्यय होता है। —दे० मार्गणा
६. कार्मण काययोग सम्बन्धी गुणस्थान, जीव समास, मार्गणा-स्थानादि २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्
७. कार्मण काययोग विषयक सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम

कार्मण काल—दे० काल/१।

कार्मण वर्गणा—दे० वर्गणा।

कार्य—१ कर्मके अर्थमे कार्य दे०—कर्म/२ कारण कार्य भावका विस्तार—दे० कारण।

कार्य अविरुद्ध हेतु—दे० हेतु।

कार्य ज्ञान—दे० उपयोग/I/१/५।

कार्य चतुष्टय—दे० 'चतुष्टय'।

कार्य जीव—दे० जीव।

कार्य परमाणु—दे० परमाणु।

कार्य परमात्मा—दे० 'परमात्मा'।

कार्य विरुद्ध हेतु—दे० हेतु।

कार्य समयसार—दे० 'समयसार'।

कार्यसमा जाति—

न्या सू /मू. व टी /५/१/३७/३०४ प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसम' ।३७। प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्य शब्द इति यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभ-स्तत् खल्वभूत्वा भवति यथा घटादिकार्यमनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्येतद्विज्ञायते। एवमवस्थिते प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यते। =प्रयत्नके आनन्तरीयकत्व (प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाला) शब्द अनित्य है जिसके अनन्तर स्वरूपका लाभ है, वह न होकर होता है, जैसे घटादि कार्य अनित्य है, और जो होकर नहीं होता है, ऐसी अवस्था रहते 'प्रयत्नकार्यानेकत्वात् यह प्रतिषेध कहा जाता है। (श्लो वा ४/न्या ४४६/५४२/५)।

काल—१. असुरकुमार नामा व्यन्तरजातीय देवोंका एक भेद—दे० असुर। २ पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० 'पिशाच'। ३. उत्तर कालोद समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४। ४ एक ग्रह—दे० ग्रह। ५ पंचम नारद विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/६। ६. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२।

काल—यद्यपि लोकमें घण्टा, दिन, वर्ष आदिको ही काल कहनेका व्यवहार प्रचलित है, पर यह तो व्यवहार काल है वस्तुभूत नहीं है। परमाणु अथवा सूर्य आदिकी गतिके कारण या किसी भी द्रव्यकी भूत, वर्तमान, भावी पर्यायोंके कारण अपनी कल्पनाओंमें आरोपित किया जाता है। वस्तुभूत काल तो वह सूक्ष्म द्रव्य है, जिसके निमित्त-से ये सर्व द्रव्य गमन अथवा परिणमन कर रहे हैं। यदि वह न हो तो इनका परिणमन भी न हो, और उपरोक्त प्रकार आरोपित कालका व्यवहार भी न हो। यद्यपि वर्तमान व्यवहारमें सैकेण्डसे वर्ष अथवा शताब्दी तक ही कालका व्यवहार प्रचलित है। परन्तु आगममें उसकी जघन्य सीमा 'समय' है और उत्कृष्ट सीमा युग है। समयसे छोटा काल सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय भी एक समयसे जल्दी नहीं बदलती। एक युगमें उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी ये दो कल्प होते हैं, और एक कल्पमें दुःखसे दुःखकी वृद्धि अथवा सुखसे दुःखकी ओर हानि रूप दुषमा सुषमा आदि छः छः काल कल्पित किये गये हैं। इन कालों या कल्पोंका प्रमाण कोडाकोडी सागरोंमें मापा जाता है।

१३	वेदमार्गणामें स्त्रीवेदियोंका उत्कृष्ट भ्रमण काल प्राप्ति विधि।
१४	वेदमार्गणामें पुरुषवेदियोंका उत्कृष्ट भ्रमण काल प्राप्ति विधि।
१५	कषाय मार्गणामें एक जीवापेक्षा जघन्य काल प्राप्ति विधि।
*	मति, श्रुत, ज्ञानका उत्कृष्ट काल प्राप्ति विधि —दे० वेदक सम्यक्त्ववत्।
१६	लेश्या मार्गणामें एक जीवापेक्षा एक समय जघन्य काल प्राप्ति विधि।
१७	लेश्या मार्गणामें एक जीवापेक्षा अन्तर्मुहूर्त जघन्य काल प्राप्ति विधि।
१८	लेश्या परिवर्तन क्रम सम्बन्धी नियम।
१९	वेदक सम्यक्त्वका ६६ सागर उत्कृष्ट काल प्राप्ति विधि।
*	सासादनके काल सम्बन्धी —दे० सासादन।

६.	कालानुयोग विषयक प्ररूपणाएँ
१	सारणीमें प्रयुक्त सकेतोंका परिचय।
२	जीवोंकी काल विषयक ओघ प्ररूपणा।
३	जीवोंके अवस्थान काल विषयक सामान्य व विशेष आदेश प्ररूपणा।
४	सम्यक्प्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वकी सत्त्व काल प्ररूपणा
५	पाँच शरीरबद्ध निषेकोंका सत्ताकाल।
६	पाँच शरीरोंकी संघातन परिशातन कृति।
७	योग स्थानोंका अवस्थान काल।
८	अष्टकर्मके चतुर्बन्ध सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा।
९	,, ,, उदीरणा सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा
१०	,, ,, उदय ,, ,, ,,
११	,, ,, अप्रशस्तोपशामना ,, ,,
१२	,, ,, संक्रमण ,, ,, ,,
१३	,, ,, स्वामित्व (सत्त्व) ,, ,,
१४	मोहनीयके चतुःविषयक ओघ आदेश प्ररूपणा।

१. काल-सामान्य निर्देश

१. काल सामान्यका लक्षण (पर्याय)

ध ४/१,५,१/३२२/६ अणेयविहो परिणामेहिंतो पुधभूदकालाभावा परिणामाण च आणंतिओवलंभा।=परिणामोंसे पृथक् भूतकालका अभाव है, तथा परिणाम अनन्त पाये जाते है।

ध ६/४,१,२/२७/११ तीदाणागयपज्जायाण·· कालत्तब्भुवगमादो।=अतीत व अनागत पर्यायोको काल स्वीकार किया गया है।

ध./पु /२७७ तदुदाहरण सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्यन्त। अस्ति विवक्षितत्वादिह नास्त्यशस्याविवक्षया तदिह।२७७।=सद् सामान्य रूप परिणमनकी विवक्षासे काल, सामान्य काल कहलाता है। तथा सत्के विवक्षित द्रव्य गुण वा पर्याय रूप अंशोके परिणमनकी अपेक्षासे जब कालकी विवक्षा होती है वह विशेष काल है।

२. निश्चय व्यवहार कालकी अपेक्षा भेद

स.सि./५/२२/२९३/२ कालो हि द्विविध· परमार्थकालो व्यवहारकालश्च। =काल दो प्रकारका है—परमार्थकाल और व्यवहारकाल। (स.सि./१/८/२९/७); (स सि /४/१४/२४६/४), (रा.वा /४/१४/२/२२२/१); (रा वा /५/२२/२४/४८२/१)

ति प /४/२७६ कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हुवंति एदेसुं। मुक्खाधारबलेणं अमुक्खकालो पयट्टेदि। =कालके मुख्य और अमुख्य दो भेद है। इनमें-से मुख्य कालके आश्रयसे अमुख्य कालकी प्रवृत्ति होती है।

३. दीक्षा-शिक्षा आदि कालकी अपेक्षा भेद

गो.क /मू /५८३ विग्गहकम्मसरीरे सरीरमिस्से सरीरपज्जत्ते। आणावचिपज्जत्ते कमेण पचोदये काला।५८३। =ते नामकर्मके उदय स्थान जिस-जिस काल विषैं उदय योग्य है तहाँ ही होइ तातैं नियतकाल है। ते काल विग्रहगति, वा कार्मण शरीरविषै, मिश्रशरीरविषैं, शरीर पर्याप्ति विषै, आनपान पर्याप्ति विषै, भाषा-पर्याप्ति विषैं अनुक्रमतैं पाँच जानने।

गो क /मू./६१५ (इस गाथामें) वेदककाल व उपशमकाल ऐसे दो कालोका निर्देश है।

पं.का /ता.वृ /१७३/२५३/११ दीक्षाशिक्षागणपोषणात्मसंस्कारसल्लेखनोत्तमार्थभेदेन षट् काला भवन्ति। =दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण काल, आत्मसंस्कारकाल, सल्लेखनाकाल और उत्तमार्थकालके भेदसे कालके छह भेद है।

गो जी /जी प्र /२६६/५८२/२ तत्स्थितौ सोपक्रमकाल' अनुपक्रमकालश्चेति द्वौ भङ्गौ भवतः।=उनकी स्थिति (काल) के दोय भाग है—एक सोपक्रमकाल, एक अनुपक्रमकाल।

४. निक्षेपोंकी अपेक्षा कालके भेद

ध. ४/१,५,१/पृ /पं णामकालो ठवणकालो दव्वकालो भावकालो चेदि- कालो चउव्विहो (३१३/११) सा दुविहा, सब्भावासब्भावभेदेण।··· दव्वकालो दुविहो, आगमदो णोआगमदो य। णोआगमदो दव्वकालो जाणुगसरीर-भवियतव्वदिरित्तभेदेण तिविहो। तत्थ जाणुगसरीर- णोआगमदव्वकालो भविय-वट्टमाण-समुज्झादभेदेण तिविहो। (३१४/१)। भावकालो दुविहो, आगम-णोआगमभेदा।=नामकाल, स्थापनाकाल, द्रव्यकाल और भावकाल इस प्रकारसे काल चार प्रकारका है (३१३/११)। स्थापना, सद्भावस्थापना ओर असद्भावस्थापनाके भेदसे दो प्रकारकी है। आगम और नोआगमके भेदसे द्रव्यकाल दो प्रकारका है। ज्ञायकशरीर, भव्य और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगम द्रव्यकाल तीन प्रकारका है, उनमें ज्ञायकशरीर नोआगम द्रव्यकाल भावी, वर्तमान और व्यक्तके भेदसे तीन प्रकारका है (३१४/१)। आगम और नोआगमके भेदसे भावकाल दो प्रकारका है।

ध. ४/१,५,१/३२३/४ सामण्णेण एयविहो। तीदो अणागदो वट्टमाणो त्ति तिविहो। अधवा गुणट्ठिदिकालो भवट्ठिदिकालो कम्मट्ठिदिकालो कायट्ठिदिकालो उववादकालो भवट्ठिदिकालो त्ति छव्विहो। अहवा अणेयविहो परिणामेहिंतो पुधभूतकालाभावा, परिणामाणा च आणंतिओवलभा।=सामान्यसे एक प्रकारका काल होता है। अतीतानागत वर्तमानकी अपेक्षा तीन प्रकारका होता है। अथवा गुणस्थितिकाल, भवस्थितिकाल, कर्मस्थितिकाल, कायस्थितिकाल, उपपादकाल और

भावस्थितिकाल, इस प्रकार कालके छह भेद है। अथवा काल अनेक प्रकारका है, क्योकि परिणामोसे पृथग्भूत कालका अभाव है, तथा परिणाम अनन्त पाये जाये।
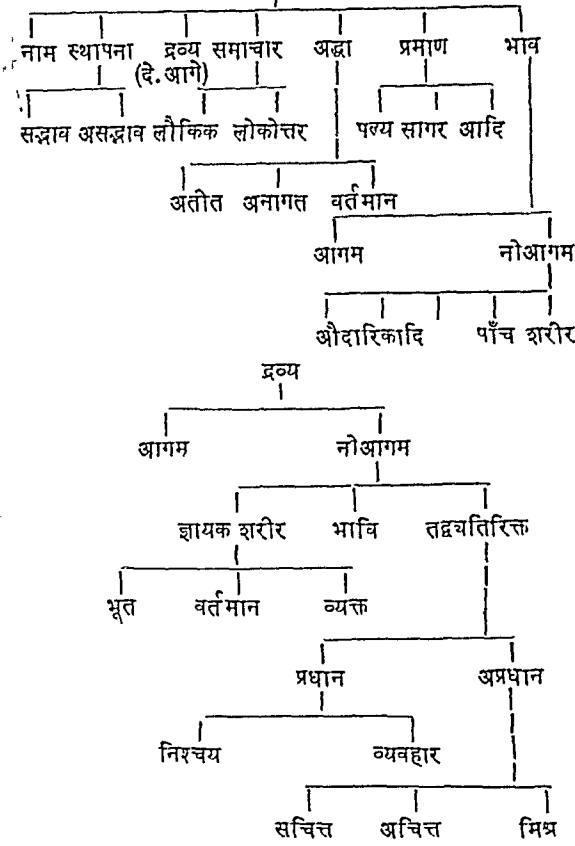
५. स्वपर कालके लक्षण

प्र सा /ता वृ./११५/१६१/१३ वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमान-समय. कालो भण्यते। =वर्तमान शुद्ध पर्यायसे परिणत आत्मद्रव्यकी वर्तमान पर्याय उसका स्वकाल कहलाता है।

पं ध /५/२७४,४७१ कालो वर्तनमिति वा परिणमनवस्तुन. स्वभावेन। •।२७४। काल समयो यदि वा तद्देशे वर्तनाकृतिश्चार्थात्। ।४७१। =वर्तनाको अथवा वस्तुके प्रतिसमय होनेवाले स्वाभाविक परिणमन-को काल कहते है। • ।२७४। काल नाम समयका है अथवा परमार्थसे द्रव्यके देशमें वर्तनाके आकारका नाम भी काल है। ।४७१।

रा वा /हिं /१/६/४६ गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त (पर्याय)याका काल है।

रा वा /हिं /६/७/६७२ निश्चयकालकरि वर्तया जो क्रियारूप तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणाम (पर्याय) सो निश्चयकाल निमित्त ससार (पर्याय) है।

रा.वा /हि./६/७/६७२ अतीत अनागत वर्तमानरूप भ्रमण सो (जीव) का व्यवहार काल (परकाल) निमित्त ससार है।

६. दीक्षा शिक्षादि कालोंके लक्षण

१. दीक्षादि कालोंके अध्यात्म अपेक्षा लक्षण

प.का /ता वृ /१७३/११ यदा कोऽप्यासन्नभव्यो भेदाभेदरत्नत्रयात्मक-माचार्यं प्राप्यात्माराधनार्थं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागं कृत्वा जिन-दीक्षा गृह्णाति स दीक्षाकाल, दीक्षानन्तरं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयस्य परमात्मतत्त्वस्य च परिज्ञानार्थं तत्प्रतिपादकाध्यात्मशास्त्रेषु यदा शिक्षां गृह्णाति स शिक्षाकाल; शिक्षानन्तरं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गे स्थित्वा तदर्थिनां भव्यप्राणिगणानां परमात्मोपदेशेन यदा पोषणं करोति स च गणपोषणकाल:, गणपोषणानन्तरं गणं त्यक्त्वा यदा निजपरमात्मनि शुद्धसंस्कारं करोति स आत्मसंस्कारकाल', आत्म-संस्कारानन्तरं तदर्थमेव· ·परमात्मपदार्थे स्थित्वा रागादिविकल्पानां सम्यग्लेखनं तनुकरणं भावसल्लेखना तदर्थं कायक्लेशानुष्ठानानां द्रव्य-सल्लेखना तदुभयाचरणं स सल्लेखनाकाल, सल्लेखनानन्तरं··· बहिर्द्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूप निश्चयचतुर्विधाराधना या तु सा चरमदेहस्य तद्भवमोक्षयोग्या तद्विपरीतस्य भवान्तरमोक्षयोग्या चेत्युभयमुत्तमार्थकाल। =जब कोई आसन्न भव्य जीव भेदाभेद-रत्नत्रयात्मक आचार्यको प्राप्त करके, आत्माराधनाके अर्थ बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग करके, दीक्षा ग्रहण करता है वह दीक्षाकाल है। दीक्षाके अनन्तर निश्चय व्यवहार रत्नत्रय तथा पर-मात्मतत्त्वके परिज्ञानके लिए उसके प्रतिपादक अध्यात्म शास्त्रकी जब शिक्षा ग्रहण करता है वह शिक्षाकाल है। शिक्षाके पश्चात् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गमें स्थित होकर उसके जिज्ञासु भव्यप्राणी गणोंको परमात्मोपदेशसे पोषण करता है वह गणपोषणकाल है। गणपोषणके अनन्तर गणको छोडकर जब निज परमात्मामें शुद्धसंस्कार करता है वह आत्मसंस्कारकाल है। तदनन्तर उसीके लिए परमात्मपदार्थमें स्थित होकर, रागादि विकल्पोंके कृश करनेरूप भाव सल्लेखना तथा उसीके अर्थ कायक्लेशादिके अनुष्ठान रूप द्रव्यसल्लेखना है इन दोनों का आचरण करता है वह सल्लेखनाकाल है। सल्लेखनाके पश्चात बहिर् द्रव्योमें इच्छाका निरोध है जिसका ऐसे तपश्चरण रूप निश्चय चतुर्विधाराधना, जो कि तद्भव मोक्षभागी ऐसे चरमदेही, अथवा उससे विपरीत जो भवान्तरसे मोक्ष जानेके योग्य है. इन दोनोंके होती है। वह उत्तमार्थकाल कहलाता है।

२. दीक्षादि कालोंके आगमकी अपेक्षा लक्षण

पं.का /ता वृ./१७३/२५४/८ यदा कोऽपि चतुर्विधाराधनाभिमुख' सन् पञ्चाचारोपेतमाचार्यं प्राप्योभयपरिग्रहरहितो भूत्वा जिनदीक्षां गृह्णाति तदा दीक्षाकाल., दीक्षानन्तर चतुर्विधाराधनापरिज्ञानार्थमाचारारा-धनादिचरणकरणग्रन्थशिक्षां गृह्णाति तदा शिक्षाकाल, शिक्षानन्तरं चरणकरणकथितार्थानुष्ठानेन व्याख्यानेन च पञ्चभावनासहित' सन् शिष्यगणपोषणं करोति तदा गणपोषणकाल। ·· गणपोषणानन्तरं स्वकीयगण त्यक्त्वात्मभावनासंस्कारार्थी भूत्वा परगणं गच्छति तदा-त्मसंस्कारकाल., आत्मसंस्कारानन्तरमाचाराराधनाकथितक्रमेण द्रव्य-भावसल्लेखना करोति तदा सल्लेखनाकाल', सल्लेखनान्तरं चतु-र्विधाराधनाभावनया समाधिविधिना कालं करोति तदा स उत्त-मार्थकालश्चेति। =जब कोई मुमुक्षु चतुर्विध आराधनाके अभिमुख हुआ, पंचाचारसे युक्त आचार्यको प्राप्त करके उभय परिग्रहसे रहित होकर जिनदीक्षा ग्रहण करता है तदा दीक्षाकाल है। दीक्षाके अन-न्तर चतुर्विध आराधनाके ज्ञानके परिज्ञानके लिए जब आचार आराधनादि चरणानुयोगके ग्रन्थोकी शिक्षा ग्रहण करता है, तब शिक्षाकाल है। शिक्षाके पश्चात् चरणानुयोगमें कथित अनुष्ठान ओर उसके व्याख्यानके द्वारा पचभावनासहित होता हुआ जब शिष्यगण-का पोषण करता है तब गणपोषण काल है। · गणपोषणके पश्चात् अपने गण अर्थात् सघको छोडकर आत्मभावनाके संस्कारका इच्छुक होकर परसंघको जाता है तब आत्मसस्कार काल है। आत्मसंस्कारके अनन्तर आचाराराधनामें कथित क्रमसे द्रव्य और भाव सल्लेखना करता है वह सल्लेखनाकाल है। सल्लेखनाके उपरान्त चार प्रकारकी आराधनाकी भावनारूप समाधिको धारण करता है, वह उत्तमार्थ-काल है।

३. सोपक्रमादि कालोंके लक्षण

ध.१४/५,६,७,४२/३२/१ पारद्वपढमसमयादो अंतोमुहुत्तेण कालो जो घादो णिप्पज्जदि सो अणुभागखंडयघादो णाम, जो पुण उक्कीरण-कालेण विणा एगसमएणेव पददि सा अणुसमओवट्टणा। =प्रारम्भ किये गये प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा जो घात निष्पन्न होता है वह अनुभागकाण्डकघात है। परन्तु उत्कीरणकालके बिना एक समय द्वारा ही जो घात होता है वह अनुसमयापवर्तना है। विशेषार्थ—काण्डक पोरको कहते हैं। कुल अनुभागके हिस्से करके एक एक हिस्सेका फालिक्रमसे अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा अभाव करना अनुभाग काण्डकघात कहलाता है। (उपरोक्त कथनपरसे उत्कीरण-कालका यह लक्षण फलितार्थ होता है कि कुल अनुभागके पोर या काण्डक करके उन्हे घातार्थ जिस अन्तर्मुहूर्तकालमें स्थापित किया जाता है, उसे उत्कीरण काल कहते है।

ध १४/५,६,६३१/४८५/१२ प्रबध्नन्ति एकत्व गच्छन्ति अस्मिन्निति प्रबन्धनं। प्रबन्धनश्चासौ कालश्च प्रबन्धनकाल। =बँधते अर्थात् एकत्वको प्राप्त होते हैं, जिसमें उसे प्रबन्धन कहते है। तथा प्रबन्धन रूप जो काल वह प्रबन्धनकाल कहलाता है।

गो.क /जी.प्र /६१४/८२०/५ सम्यक्त्वमिश्रप्रकृत्या' स्थितिसत्त्व यावत्त्रसे उदधिपृथक्त्व एकाक्षे च पल्यासख्यातैकभागोनसागरोपममवशिष्यते तावद्वेदकयोग्यकालो भण्यते। तत उपर्युपशमकाल इति। =सम्यक्त्वमोहिनी अर मिश्रमोहनी इनकी जो पूर्वे स्थितिबंधी थी सो वह सत्तारूप स्थिति त्रसकै तौ पृथक्त्व सागर प्रमाण अवशेष रहै अर एकेन्द्रीकै पल्यका असख्यातवाँ भाग करि हीन एक सागर प्रमाण अवशेष रहै तावत्काल तौ वेदक योग्य काल कहिए। बहुरि ताकै उपरि जो तिसतै भी सत्तारूप स्थिति घाटि होइ तहाँ उपशम योग्य काल कहिए।

गो.क./भाषा/५८३/७८६ ते नामकर्मके उदय स्थान जिस जिस काल विषै उदय योग्य है तहाँ ही होइ तातै नियतकाल है। (इसको उदयकाल कहते है) ·· कार्मण शरीर जहाँ पाइए सो कार्मण काल यावत शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होइ तावत् शरीर मिश्रकाल, शरीर पर्याप्ति पूर्ण भएँ यावत सासोश्वास पर्याप्ति पूर्ण न होइ तावत शरीरपर्याप्ति काल, सासोश्वास पर्याप्ति पूर्ण भएँ यावत भाषा पर्याप्ति पूर्ण न होइ तावत आनपान पर्याप्तिकाल, भाषा पर्याप्ति पूर्ण भएँ पीछै सर्व अवशेष आयु प्रमाण भाषापर्याप्ति कहिए।

गो जी./जी प्र /२६६/५८२/२ उपक्रम तत्सहित काल' सोपक्रमकाल निरन्तरोत्पत्तिकाल इत्यर्थ। अनुपक्रमकाल उत्पत्तिरहित काल। =उपक्रम कहिए उत्पत्ति तीहि सहित जो काल सो सोपक्रम काल कहिए सो आवलीके असंख्यातवे भाग मात्र है। बहुरि जो उत्पत्ति रहित काल होइ सो अनुपक्रम काल कहिए।

ल सा /भाषा/५३/८५ अपूर्वकरणके प्रथम समय तै लगाय यावत सम्यक्त्व मोहनी, मिश्रमोहनीका पूरणकाल जो जिस कालविषै गुणसक्रमणकरि मिथ्यात्वको सम्यक्त्व मोहनीय मिश्रमोहनीरूप परिणमावै है।

७. ग्रहण व वासनादि कालोंके लक्षण

गो क /जी.प्र /४६/४७/१० उदयाभावेऽपि तत्सस्कारकालो वासनाकाल। =उदयका अभाव होत सतै भी जो कषायनिका सस्कार जितने काल तक रहे ताका नाम वासना काल है।

भ आ /भाषा/२११/४२६ दीक्षा ग्रहण कर जब तक सन्यास ग्रहण किया नही तब तक ग्रहण काल माना जाता है, तथा व्रतादिकोमे अतिचार लगने पर जो प्रायश्चित्तसे शुद्धि करनेके लिए कुछ दिन अनशनादि तप करना पडता है उसको प्रतिसेवना काल कहते है।

८. व्यवहार कालका लक्षण

ध.३/१,२ ५६/२६१/११ का मार्गार्थ भागाहार रूप कालका प्रमाण।

९. निक्षेपरूप कालोंके लक्षण

ध ४/१,५,१/३१३-३१६/१० तत्थ णामकालो णाम कालसद्दो। ·· सो एसो इदि अण्णम्हि बुद्धीए अण्णारोवणं ठवणा णाम। पल्लविय·वण-सडुज्जोइयचित्तालिहियवसंतो। असब्भावट्ठवणकालो णाम मणि-भेद-गेरुअ-मट्टी-ठिक्करादिसु वसंतो त्ति बुद्धिबलेण ठविदो। · आगमदो कालपाहुडजाणगो अणुवजुत्तो। भवियणोआगमदव्वकालो-भवियणोआगमदव्वकालो भविस्सकाले कालपाहुडजाणओ जीवो। ववगदवोगंध-पचरसट्ठफास-पचवण्णो कुंभारचक्कहेट्ठिमसिलव्व वत्तणालक्खणो अत्थो तव्वदिरित्तणोआगमदव्वकालो णाम। जीवाजीवादिअट्ठभंगदव्व वा णोआगमदव्वकालो।·· कालपाहुडजाणओ उवजुत्तो जीवो आगमभावकालो। दव्वकालजणिदपरिणामो णोआगमभावकालो भण्णदि। तस्स समय-आवलिय-खण-लव-मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मास-उडु-अयण-सवच्छर-जुग-पुव्व-पव्व-पलिदोवम-सागरोवमादि-रुवत्तादो। ='काल' इस प्रकारका शब्द नामकाल कहलाता है। 'वह यही है' इस प्रकारसे अन्य वस्तुमें बुद्धिके द्वारा अन्यका आरोपण करना स्थापना है।· उनमेंसे पल्लवित· आदि वनखण्डसे उद्योतित, चित्रलिखित वसन्तकालको सद्भावस्थापनाकाल निक्षेप कहते है। मणिविशेष, गैरुक, मट्टी, ठीकरा इत्यादिमें यह वसन्त है' इस प्रकार बुद्धिके बलसे स्थापना करनेको असद्भावस्थापना काल कहते है। ·काल विषयक प्राभृतका ज्ञायक किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीव आगमद्रव्य काल है। · भविष्यकालमें जो जीव कालप्राभृतका ज्ञायक होगा, उसे भावीनोआगमद्रव्यकाल कहते है। जो दो प्रकारके गन्ध, पाँच प्रकारके रस, आठ प्रकारके स्पर्श और पाँच प्रकारके वर्णसे रहित है वर्तना ही जिसका लक्षण है ·ऐसे पदार्थको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकाल कहते हैं। · अथवा जीव और अजीवादिके योगसे बने हुए आठ भग रूप द्रव्यको नोआगमद्रव्यकाल कहते हे। काल विषयक प्राभृतका ज्ञायक और वर्तमानमें उपयुक्त जीव आगम भाव काल है। द्रव्यकालसे जनित परिणाम या परिणमन नोआगमभावकाल कहा जाता है। वह काल समय, आवली, क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सवत्सर, युग, पूर्व, पर्व, पल्योपम सागरोपम आदि रूप है।

ध ११/४,२,६,१/७६/७ तत्थ सच्चित्तो-जहा दसकालो मसयकालो इच्चेवमादि, दस-मसयाण चेव उवयारेण कालत्तविहाणादो। अचित्तकालो-जहा धूलिकालो चिक्खल्लकालो उण्हकालो वरिसाकालो सीदकालो इच्चेवमादि। मिस्सकालो-तहा सदस-सीदकालो इच्चेवमादि। तत्थ लोउत्तरीओ समाचारकालो-जहा वंदणकालो णियमकालो सज्झयकालो झाणकालो इच्चेवमादि। लोगिय-समाचारकालो-जहा कसणकालो लुणणकालो ववणकालो इच्चेवमादि। =उनमें दशकाल, मशककाल इत्यादिक सचित्तकाल है, क्योकि इनमें दंश और मशकके ही उपचारसे कालका विधान किया गया है। धूलिकाल, कर्दमकाल, उष्णकाल, वर्षाकाल एव शीतकाल इत्यादि सब अचित्तकाल है। सदंश शीतकाल इत्यादि मिश्रकाल है। वंदनाकाल, नियमकाल, स्वाध्यायकाल व ध्यानकाल आदि लोकोत्तरीय समाचारकाल है। कर्षणकाल, लुननकाल व वपनकाल इत्यादि लौकिक समाचारकाल है।

१०. सम्यग्ज्ञानका कालनामा अंग

मू.आ./२७०-२७५ पादोसियवेरत्तियगोसग्गियकालमेव गेण्हित्ता। उभये कालम्हि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो।२७०। सज्झाये पट्ठवणे जंघच्छायं वियाण सत्तपयं। पुव्वण्हे अवरण्हे तावदियं चेव णिट्ठवणे।२७१। आसाढे दुपदा छाया पुस्समासे चदुप्पदा। वड्ढदे हीयदे चावि मासे मासे दुअगुला।२७२। णवसत्तपंचगाहापरिमाण दिसिविभागसोधीए। पुव्वण्हे अवरण्हे पदोसकाले य सज्झाए।२७३। दिसदाह उक्कापडणं विज्जु चड्डुक्कासणिदधणुगं च। दुग्गंधसज्झदुद्दिणचदग्गहसूरराहुजुज्झं च।२७४। कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च। इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा।२७५। =प्रादोपिककाल, वैरात्रिक, गोसर्गकाल—इन चारों कालोंमें-से दिनरातके पूर्वकाल अपरकाल इन दो कालोंमें स्वाध्याय करनी चाहिए।२७०। स्वाध्यायके आरम्भ करनेमें सूर्यके उदय होनेपर दोनो जाँघोकी छाया सात विलस्त प्रमाण जानना। और सूर्यके अस्त होनेके कालमें भी सात विलस्त छाया रहे तब स्वाध्याय समाप्त करना चाहिए।२७१। आषाढ महीनेके अन्त दिवसमें पूर्वाह्नके समय दो पहर पहले जंघा छाया दो विलस्त अर्थात् बारह अगुल प्रमाण होती है और पौषमासमें अन्तके दिनमें चौबीस अगुल प्रमाण जघाछाया होती है। और फिर महीने महीनेमें दो-दो अगुल बढती घटती है। सब संध्याओंमें आदि अन्तकी दो दो घडी छोड स्वाध्याय काल है।२७२। दिशाओके पूर्व आदि भेदोकी शुद्धिके लिए प्रात कालमें नौ गाथाओंका, तीसरे पहर सात गाथाओका, सायंकालके समय पाँच गाथाओंका स्वाध्याय (पाठ व जाप) करे।२७३। उत्पातसे दिशाका अग्नि वर्ण होना, ताराके आकार पुद्गलका पडना, बिजलीका चमकना, मेघोंके सघट्टसे उत्पन्न वज्रपात, ओले बरसना, धनुषके आकार पंचवर्ण पुद्गलोका दीखना, दुर्गन्ध, लालपीलेवर्णके आकार साँझका समय, बादलोसे आच्छादित दिन, चन्द्रमा, ग्रह, सूर्य, राहुके विमानोका आपसमें टकराना।२७४। लड़ाईके वचन, लकडी आदिसे झगड़ना, आकाशमें धुआँके आकार रेखाका दीखना, धरतीकप, बादलोका गर्जना, महापवनका चलना, अग्निदाह इत्यादि बहुत-से दोष स्वाध्यायमें वर्जित किये गये है अर्थात् ऐसे दोषोंके होनेपर नवीन पठन-पाठन नही करना चाहिए।२७५। (भ आ/वि/-११३/२६०)

११. पुद्गल आदिकोंके परिणामकी काल संज्ञा कैसे सम्भव है

ध/४/१,५,१/३१७/६ पोग्गलादिपरिणामस्स कधं कालववएसो। ण एस दोसो, कज्जे कारणोवयारणिबंधणत्तादो। =प्रश्न—पुद्गल आदि द्रव्योके परिणामके 'काल' यह सज्ञा कैसे सम्भव है? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योंकि कार्यमें कारणके उपचारके निबन्धनसे पुद्गलादि द्रव्योके परिणामके भी 'काल' सज्ञाका व्यवहार हो सकता है।

१२ दीक्षा शिक्षा आदि कालोंमेंसे सर्व ही एक जीवको हो ऐसा नियम नही

पं.का./ता वृ/१७३/२५३/२२ अत्र कालषट्कमध्ये केचन प्रथमकाले केचन द्वितीयकाले केचन तृतीयकालादौ केवलज्ञानमुत्पादयन्तीति कालषट्कनियमो नास्ति। =यहाँ दीक्षादि छ, कालोमें कोई तो प्रथम कालमें कोई, द्वितीय कालमे, कोई, तृतीय आदि कालमें केवलज्ञानको उत्पन्न करते है। इस प्रकार छ कालोका नियम नही है।

२. निश्चयकाल निर्देश व उसकी सिद्धि

१. निश्चय कालका लक्षण

पं. का./मू./२४ ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य। अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति।२४। =काल (निश्चयकाल) पाँच वर्ण और पाँच रस रहित, दो गन्ध और आठ स्पर्श रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला है। (स नि./५/२२/२६३/२) (ति प/४/२७८)

स.सि./५/२२/२९१/५ स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनोपलक्षित: काल:। =(यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी नवीन पर्याय उत्पन्न करनेमें) स्वयं प्रवृत्त होते हैं, तो भी वह बाह्य सहकारी कारणके बिना नही हो सकती इसलिए उसे प्रवर्ताने वाला काल है ऐसा मानकर वर्तना कालका उपकार कहा है।

स सि./५/३९/३१२/११ कालस्य पुनर्द्वेधापि प्रदेशप्रचयकल्पना नास्तीत्यकायत्वम्।... तस्मात्पृथगिह कालोद्देश: क्रियते। अनेकद्रव्यत्वे सति किमस्य प्रमाणम्। लोकाकाशस्य यावन्त: प्रदेशास्तावन्त: कालाणवो निष्क्रिया एकैकाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकं व्याप्य व्यवस्थिता:।... रूपादिगुणविरहादमूर्ता:। =(निश्चय और व्यवहार) दोनों ही प्रकारके कालमें प्रदेशप्रचयकी कल्पनाका अभाव है।... काल द्रव्यका पृथक्से कथन किया गया है। शंका—काल अनेक द्रव्य हैं इसमें क्या प्रमाण है? उत्तर—लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने कालाणु हैं और वे निष्क्रिय हैं। तात्पर्य यह है कि लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु अवस्थित है। और वह काल रूपादि गुणोसे रहित तथा अमूर्तीक है। (रा.वा./५/२२/२४/४८२/२)

रा वा/४/१४/२२३/१२ कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रियावद्द्रव्यं स काल। =जिसके द्वारा क्रियावान द्रव्य 'कल्यते, क्षिप्यते, प्रेर्यते' अर्थात् प्रेरणा किये जाते है, वह काल द्रव्य है।

ध ४/१,५,१/३/३१५ ण य परिणमइ सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं। विविहपरिणामियाण हवइ सुहेऊ सयं कालो।३। =वह काल नामक पदार्थ न तो स्वय परिणमित होता है, और न अन्यको अन्यरूपसे परिणमाता है। किन्तु स्वत, नाना प्रकारके परिणामोको प्राप्त होने वाले पदार्थोका काल स्वय सुहेतु होता है।३। (ध.११/४,२,६,१/२/७६)

ध ४/१,५,१/७/३१७ सब्भावसहावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च। परियट्टणसंभूओ कालो णियमेण पण्णत्तो।७। =सत्ता स्वरूप स्वभाव वाले जीवोंके, तथैव पुद्गलोके और 'च' शब्दसे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्यके परिवर्तनमें जो निमित्तकारण हो, वह नियमसे कालद्रव्य कहा गया है।

म पु/३/४ यथा कुलालचक्रस्य भ्रान्तेर्हेतुरधश्शिला। तथा काल पदार्थाना वर्तनोपग्रहे मत।४। =जिस प्रकार कुम्हारके चाकके घूमनेमें उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थोंके परिणमन होनेमें कालद्रव्य सहकारी कारण है।

न च वृ./१३७ परमत्थो जो कालो सो चिय हेऊ हवेइ परिणामो। =जो निश्चय काल है वही परिणमन करनेमें कारण होता है।

गो जी/मू/५६८ वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु। कालाधारेणेव य वट्टंति हु सव्वदव्वाणि।५६८। =णिच् प्रत्यय संयुक्त धातुका कर्मविषै वा भावविषै वर्तना शब्द निपजै है सो याका यहु जो वर्तै वा वर्तना मात्र होइ ताको वर्तना कहिए सो धर्मादिक द्रव्य अपने अपने पर्यायनिकी निष्पत्ति विषै स्वयमेव वर्तमान है. तिनके बाह्य कोई कारणभूत उपकार बिना सो प्रवृत्ति संभवै नाही, तातै तिनकै तिस प्रवृत्ति करावने कू कारण कालद्रव्य है. ऐसे वर्तना कालका उपकार है।

नि.सा./ता.वृ./६/२४/४ पञ्चाना वर्तनाहेतु' काल'। =पाँच द्रव्योका वर्तनाका निमित्त वह काल है।

द्र.सं.वृ./मू./२१ परिणामादोलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो। =वर्तना लक्षण वाला जो काल है वह निश्चय काल है।

द्र. स. वृ./टी./२१/६१ वर्त्तनालक्षण' कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकाल'। =वह वर्तना लक्षणवाला कालाणु द्रव्यरूप 'निश्चयकाल' है।

२. कालद्रव्यके विशेष गुण व कार्य वर्तना हेतुत्व है

त. सू./५/२२, ४० वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥ सोऽनन्तसमय' ॥४०॥ =वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालके उपकार हैं ॥२२॥ वह अनन्त समयवाला है।

ति. प./४/२७६-२८२ कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हवंति एदेसुं। मुक्खाधारबलेण अमुक्खकालो पयट्टेदि ॥२७६॥ जीवाण पुग्गलाणं हुवंति परियट्टणाइ विविहाइं। एदाण पज्जाया वट्टंते मुक्खकाल आधारे ॥२८०॥ सव्वाण पयत्थाण णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ। बहिरंतरंगहेदुहि सव्वब्भेदेसु वट्टंति ॥२८१॥ वाहिरहेदुं कहिदो णिच्छयकालोत्ति सव्वदरिसीहिं। अब्भतर णिमित्तं णियमियदव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८२॥ =कालके मुख्य और अमुख्य दो भेद है। इनमेंसे मुख्य कालके आश्रयसे अमुख्य कालकी प्रवृत्ति होती है ॥२७६॥ जीव और पुद्गल के विविध प्रकारके परिवर्तन हुआ करते है। इनकी पर्यायें मुख्य कालके आश्रयसे वर्तती है ॥२८०॥ सर्व पदार्थोंकि समस्त भेदोमें नियमसे बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तोंके द्वारा परिणामादिक (परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व) वृत्तियाँ प्रवर्तती है ॥२८१॥ सर्वज्ञ देवने सर्वपदार्थोंके प्रवर्तनेका बाह्य निमित्त निश्चयकाल कहा है। अभ्यन्तर निमित्त अपने-अपने द्रव्योमें स्थित है।

रा वा./५/३९/२/५०१/३१ गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपा सन्ति। तत्रासाधारणा वर्तनाहेतुत्वम्। साधारणाश्च अचेतनत्वामूर्तत्वसूक्ष्मत्वागुरुलघुत्वादय' पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्या'। =कालमें अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण और वर्तनाहेतुत्व असाधारण गुण पाये जाते है। व्यय और उत्पादरूप पर्याये भी कालमे बराबर होती रहती है।

आ. प./२/९६ कालद्रव्ये वर्त्तनाहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति विशेषगुणा'। =कालद्रव्यमें वर्तनाहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व ये विशेष गुण है। (ध ५/३३/७)

प्र. सा./त. प्र./१३३-१३४ अशेषशेषद्रव्याणागं प्रतिपर्याय समयवृत्तिहेतुत्व कालस्य। =(कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंकी प्रतिपर्यायमे समयवृत्तिका हेतुत्व (समय-समयकी परिणतिका निमितत्त्व) कालका विशेष गुण है।

३. काल द्रव्यगतिमे भी सहकारी है

त. सू./५/२२ क्रिया च कालस्य ॥२२॥ =क्रियामे कारण होना, यह काल द्रव्यका उपकार है।

४. काल द्रव्यके १५ सामान्य विशेष स्वभाव

न. च. वृ./७० पंचदसा पुण काले दव्वसहावा य णायव्वा ॥७०॥ =काल द्रव्यके १५ सामान्य तथा विशेष स्वभाव जानने चाहिए। (आ प/४) (वे स्वभाव निम्न है—सद्, असद्, नित्य, अनित्य, अनेक, भेद, अभेद, स्वभाव, अचैतन्य, अमूर्त, एकप्रदेशत्व, शुद्ध, उपचरित, अनुपचरित, एकान्त, अनेकान्त स्वभाव)

५. काल द्रव्य एक प्रदेशी असंख्यात द्रव्य है

नि सा./मू./३६ कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा ॥३६॥ =काल द्रव्यको कायपना नहीं है, क्योंकि वह एकप्रदेशी है। (पं. का/त. प्र/४) (द्र सं. वृ./मू/२५)

प्र सा./त प्र/१३५ कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति। तत' कालद्रव्यमप्रदेशं। =कालाणु तो द्रव्यत प्रदेश मात्र होनेसे और पर्यायत' परस्पर सम्पर्क न होनेसे अप्रदेशी ही है। इसलिए निश्चय हुआ कि काल द्रव्य अप्रदेशी है। (प्र सा/त प्र./१३८)

प्र सा./त प्र./१३६ कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥१३६॥ =काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्यकी अपेक्षासे लोकके एकदेशमें रहते है, और अनेक द्रव्योकी अपेक्षासे अंजनचूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबियाके अनुसार समस्त लोकमें ही है। (अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे कालद्रव्य असंख्यात है।)

गो. जी./मू./५८५ एक्केक्को दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि ॥५८५॥ =बहुरि कालाणू एक एक लोकाकाशका प्रदेशविषै एक-एक पाइए है सो ध्रुव रूप है, भिन्न-भिन्न सत्व धरै है तातै तिनिका क्षेत्र एक-एक प्रदेशी है।

६. कालद्रव्य आकाश प्रदेशोंपर पृथक्-पृथक् अवस्थित है

ध/४/१.५१/८/३१५ लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया दु एक्केक्का। रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥४॥ =लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर रत्नोंकी राशिके समान जो एक एक रूपसे स्थित है, वे कालाणु जानना चाहिए। (गो जी/मू/५८६) (द्र सं. वृ/मू/२२)

ति. प/४/२८३ कालस्स भिण्णाभिण्णा अण्णुण्णपवेसणेण परिहीणा। पुहपुह लोयायासे चेट्ठं ते सचएण विणा ॥२८३॥ =अन्योन्य प्रवेशसे रहित कालके भिन्न-भिन्न अणु सचयके विना पृथक्-पृथक् लोकाकाशमें स्थित है। (प. प्र/मू/२/२१) (रा. वा/५/२२/२४/४८२/३) (न. च. वृ./१३६)

७. काल द्रव्यका अस्तित्व कैसे जाना जाये

स. सि./५/२२/२९२/१ स कथ काल इत्यवसीयते। समयादीना क्रियाविशेषाणा समयादिभिर्निर्वर्त्यमानाना च पाकादीना समय: पाक इत्येवमादिस्वसज्ञारूढिसद्भावेऽपि समय काल' ओदनपाक' काल इति अध्यारोप्यमाण कालव्यपदेश तद्व्यपदेशनिमित्तस्य कालस्यास्तित्व गमयति। कुत'। गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात्। =प्रश्न—काल द्रव्य है यह कैसे जाना जा सकता है? उत्तर—समयादिक क्रियाविशेषोंकी और समयादिकके द्वारा होनेवाले पाक आदिककी समय पाक इत्यादिक रूपसे अपनी-अपनी रौढिक सज्ञाके रहते हुए भी उसमें जो समयकाल, ओदनपाक काल इत्यादि रूपसे काल संज्ञाका अध्यारोप होता है, वह उस सज्ञाके निमित्तभूत मुख्यकालके अस्तित्वका ज्ञान कराता है, क्योकि गौण व्यवहार मुख्यकी अपेक्षा रखता है। (रा वा/५/२२/६/४७७/१६) (गो. जी./जी प्र/५६८/१०१३/१४)

प्र सा/त प्र/१३४ अशेषशेषद्रव्याणा प्रतिपर्यायसमयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्ते स्वतस्तेषामसभवत्कालमधिगमयति।

प्र सा/त प्र/१३६ कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्।

प्र सा/त प्र/१४२ तौ यदि वृत्त्यशस्यैव किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेद् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्।

क्रमेण चेन्न नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव।

प्र. सा./त. प्र./१४३ विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धयति सद्भावः। = १ (कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंके, प्रत्येक पर्यायमें समयवृत्तिका हेतुत्व कालको बतलाता है, क्योंकि उनके, समयविशिष्ट वृत्ति कारणान्तरसे साध्य होनेसे (अर्थात् उनके समयसे विशिष्ट-परिणति अन्य कारणसे होती है, इसलिए) स्वतः उनके वह (समयवृत्ति हेतुत्व) सम्भवित नहीं है। (१३४) (पं. का./त. प्र. ता. वृ./२३)। २. जीव और पुद्गलोंके परिणामोंके द्वारा (कालकी) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं (१३६/ (प्र. सा./त. प्र./१३६)। ३ यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंशके (काल रूप पर्याय) ही माने जायें तो, (प्रश्न होता है कि —) (१) वे युगपद् हैं या (२) क्रमशः? (१) यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एकके दो विरोधी धर्म नहीं होते। (एक ही समय एक वृत्त्यंशके प्रकाश और अन्धकारकी भाँति उत्पाद और विनाश-दो विरुद्ध धर्म नहीं होते।) (२) यदि 'क्रमशः' कहा जाय तो क्रम नहीं बनता, क्योंकि वृत्त्यंशके सूक्ष्म होनेसे उसमें विभागका अभाव है। इसलिए (समयरूपी वृत्त्यंशके उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होनेसे) कोई वृत्तिमान अवश्य ढूँढ़ना चाहिए। और वह (वृत्तिमान) काल पदार्थ ही है। (१४२)। ४. सामान्य अस्तित्वके बिना विशेष अस्तित्वकी उत्पत्ति नहीं होती, वह ही समय पदार्थके सद्भावकी सिद्धि करता है।

त. सा./परि०/१/पृ. १७२ पर शोलापुर वाले प० वंशीधरजीने काफी विस्तारसे युक्तियों द्वारा छहों द्रव्योंकी सिद्धि की है।

८. समयसे अन्य कोई काल द्रव्य उपलब्ध नहीं—

प्र. सा./त. प्र./१४४ न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः। = मात्र वृत्ति ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्तिमानके बिना वृत्ति नहीं हो सकती।

पं. का./ता. वृ./२६/५५/८ समयरूप एव परमार्थकालो न चान्य कालाणुद्रव्यरूप इति। परिहारमाह-समयस्तावत्सूक्ष्मकालरूपः प्रसिद्धः स एव पर्यायः न च द्रव्यम्। कथं पर्यायत्वमिति चेत्। उत्पन्नप्रध्वंसित्वात्पर्यायस्य "समओ उप्पण्णपद्धंसी" ति वचनात्। पर्यायस्तु द्रव्यं विना न भवति द्रव्यं च निश्चयेनाविनश्वरं तच्च कालपर्यायस्योपादानकारणभूतं कालाणुरूपं कालद्रव्यमेव न च पुद्गलादि। तदपि कस्मात्। उपादानसदृशत्वात्कार्य••। = प्रश्न—समय रूप ही निश्चय काल है, उस समयसे भिन्न अन्य कोई कालाणु द्रव्यरूप निश्चयकाल नहीं है? उत्तर—समय तो कालद्रव्यकी सूक्ष्म पर्याय है स्वयंद्रव्य नहीं है। प्रश्न—समय को पर्यायपना किस प्रकार प्राप्त है? उत्तर= पर्याय उत्पत्ति विनाशवाली होती है "समय उत्पन्न प्रध्वंसी है" इस वचनसे समयको पर्यायपना प्राप्त होता है। और वह पर्याय द्रव्यके बिना नहीं होती, तथा द्रव्य निश्चयसे अविनश्वर होता है। इसलिए कालरूप पर्यायका उपादान कारणभूत कालाणुरूप कालद्रव्य ही होना चाहिए न कि पुद्गलादि। क्योंकि, उपादान कारणके सदृश ही कार्य होता है। (पं. का./ता. वृ./२३/४९/८) (प. प्र./टी०/२/२१/१३६/१०) (द्र. सं. वृ. टी./२१/६१/६)।

९. समय आदि का उपादान कारण तो सूर्य परमाणु आदि हैं, कालद्रव्यसे क्या प्रयोजनः—

रा. वा./५/२२/७/४७७/२० आदित्यगतिनिमित्ता द्रव्याणां वर्तनेति, तन्न, किं, कारणम्। तद्गतावपि तत्सद्भावात्। सवितुरपि क्रियाया भूतादिव्यवहारविषयभूताया क्रियेत्येवं रूढाया वर्तनादर्शनात् तद्धेतुना अन्येन कालेन भवितव्यम्। = प्रश्न—आदित्य—सूर्यकी गतिसे द्रव्योंमें वर्तना हो जावे? उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यकी गतिमें भी 'भूत वर्तमान भविष्यत' आदि कालिक व्यवहार देखे जाते हैं। वह भी एक क्रिया है उसकी वर्तनामें भी किसी अन्यको हेतु मानना ही चाहिए। वही काल है। (पं. का./ता. वृ./२५/५२/१६)।

द्र. सं. वृ./टी०/२१/६०/२ अथ मत-समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारणं न भवति, किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटनं तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति। "नैवम्। यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, सुरभ्यसुरभिगन्ध-स्निग्धरूक्षादिस्पर्शमधुरादिरसविशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते। तथा पुद्गलपरमाणुनयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरबिम्बरूपैः पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतैः समुत्पन्नाना समयनिमिषघटिकादिवसपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणाः प्राप्नुवन्ति, न च तथा। = प्रश्न—समय, घड़ी आदि कालपर्यायोंका उपादान कारण काल द्रव्य नहीं है किन्तु समय रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें मन्दगतिसे परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है, तथा निमेषरूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें नेत्रोंके पुटोंका विघटन अर्थात् पलकका गिरना-उठना उपादान कारण है; ऐसे ही घड़ी रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें घड़ीकी सामग्रीरूप जलका कटोरा और पुरुषके हाथ आदिका व्यापार उपादान कारण है; दिन रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें सूर्यका बिम्ब उपादान कारण है। उत्तर—ऐसा नहीं है, जिस तरह चावल रूप उपादान कारणसे उत्पन्न भात पर्यायके उपादान कारणमें प्राप्त गुणोंके समान ही सफेद, कालादि वर्ण, अच्छी या बुरी गन्ध, चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श, मीठा आदि रस, इत्यादि विशेष गुण दीख पड़ते हैं, वैसे ही पुद्गल परमाणु, नेत्र, पलक, विघटन, जल कटोरा, पुरुष व्यापार आदि तथा सूर्यका बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गलपर्याय हैं उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घड़ी, दिन आदि जो काल पर्याय हैं उनके भी सफेद, काला आदि गुण मिलने चाहिए, परन्तु समय, घड़ी आदिमें ये गुण नहीं दीख पड़ते हैं। (रा. वा./५/२२/२६-२७/४८२-४८४ में सविस्तार तर्कादि)।

प. का./ता. वृ./२६/५५/१६ यद्यपि निश्चयेन द्रव्यकालस्य पर्यायस्तथापि व्यवहारेण परमाणुजलादिपुद्गलद्रव्यं प्रतीत्याश्रित्य निमित्तीकृत्य भव उत्पन्नो जात इत्यभिधीयते। = यद्यपि निश्चयसे (समय) द्रव्य कालकी पर्याय है, तथापि व्यवहारसे परमाणु, जलादि पुद्गलद्रव्यके आश्रयसे अर्थात् पुद्गल द्रव्यको निमित्त करके प्रगट होती है, ऐसा जानना चाहिए। (द्र. स. वृ./टी./३५/१३४)।

१०. परमाणु आदिकी गतिमें भी धर्म आदि द्रव्य निमित्त हैं, काल द्रव्यसे क्या प्रयोजन

रा. वा./५/२२/८/४७७/२४ आकाशप्रदेशनिमित्ता वर्तना नान्यस्तद्धेतुः कालोऽस्तीति; तन्न, किं कारणम्। स प्रत्यधिकरणभावात् भाजनवत्। यथा भाजनं तण्डुलानामधिकरणं न तु तदेव पचति, तेजसो हि स व्यापारः, तथा आकाशमप्यादित्यगत्यादिवर्तनायामधिकरणं न तु तदेव निर्वर्तयति। कालस्य हि स व्यापारः। = प्रश्न—आकाश प्रदेशके निमित्तसे (द्रव्योंमें) वर्तना होती है। अन्य कोई 'काल' नामक उसका हेतु नहीं है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे बर्तन चावलोंका आधार है, पर पाकके लिए तो अग्निका व्यापार ही चाहिए, उसी तरह आकाश वर्तनावाले द्रव्योंका आधार तो है

सक्ता है, पर वह वर्तनाकी उत्पत्तिमे सहकारी नही हो सकता। उसमें तो काल द्रव्यका ही व्यापार है।

पं.का /ता.वृ /२५/५३/३ आदित्यगत्यादिपरिणतेर्धर्मद्रव्य सहकारिकारणं कालस्य किमायातम्। नैवं। गतिपरिणतेर्धर्मद्रव्य सहकारिकारणं भवति कालद्रव्य च, सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति यत् कारणात् घटोत्पत्तौ कुम्भकारचक्रचीवरादिवत् मत्स्यादीना जलादिवत् मनुष्याणा शकटादिवत् इत्यादि कालद्रव्यं गतिकारणं। कुत्र भणित तिष्ठतीति चेत् "पोग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणेहि" क्रियावन्तो भवन्तीति कथयत्यग्रे। =प्रश्न—सूर्यकी गति आदि परिणतिमे धर्म द्रव्य सहकारी कारण है तो काल द्रव्यकी क्या आवश्यकता है? उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि गति परिणतके धर्म-द्रव्य सहकारी कारण होता है तथा काल द्रव्य भी। सहकारी कारण तो बहुत सारे होते है जैसे घटकी उत्पत्तिमें कुम्हार चक्र चीवरादिके समान, मत्स्योंकी गतिमें जलादिके समान, मनुष्योंकी गतिमें गाडी-पर बैठना आदिके समान, इत्यादि प्रकार कालद्रव्य भी गतिमें कारण है। =प्रश्न—ऐसा कहाँ है? उत्तर—धर्म द्रव्यके विद्यमान होनेपर भी जीवोकी गतिमें कर्म, नोकर्म, पुद्गल सहकारी कारण होते है और अणु तथा स्कन्ध इन दो भेदोवाले पुद्गलोके गमनमें काल द्रव्य सहकारी कारण होता है। (प का /मू /९८) ऐसा आगे कहेंगे।

११. सर्व द्रव्य स्वभावसे ही परिणमन करते है, काल द्रव्यसे क्या प्रयोजन

रा.वा /५/२२/१/४७७/२७ सत्ताना सर्वपदार्थाना साधारण्यस्ति तद्धेतुका वर्तनेति, तन्न, किं कारणम्। तस्या अप्यनुग्रहात्। कालानुगृहीतवर्तना हि सत्तेति ततोऽप्यन्येन कालेन भवितव्यम्। =प्रश्न—सत्ता सर्व पदार्थोमें रहती है, साधारण है, अत वर्तना सत्ताहेतुक है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योकि वर्तना सत्ताका भी उपकार करती है। कालसे अनुगृहीत वर्तना ही सत्ता कहलाती है। अत काल पृथक् ही होना चाहिए।

द्र सं वृ /टी /२२/६५/४ अथ मतं यथा कालद्रव्यं स्वस्योपादानकारण परिणते' सहकारिकारणं च भवति तथा सर्वद्रव्याणि, कालद्रव्येण किं प्रयोजनमिति। नैवम्; यदि पृथग्भूतसहकारिकारणेन प्रयोजन नास्ति तर्हि सर्वद्रव्याणा साधारणगतिस्थित्यवगाहनविषये धर्माधर्माकाशद्रव्यैरपि सहकारिकारणभूतै प्रयोजन नास्ति। किंच, कालस्य घटिकादिवसादिकार्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते; धर्मादीना पुनरागमकथनमेव, प्रत्यक्षेण किमपि कार्यं न दृश्यते; ततस्तेषामपि कालद्रव्यस्येवाभाव प्राप्नोति। ततश्च जीवपुद्गलद्रव्यद्वयमेव, स चागमविरोध। =प्रश्न—(कालकी भाँति) जीवादि सर्वद्रव्य भी अपने उपादानकारण और अपने-अपने परिणमनके सहकारी कारण रहे। उन द्रव्योंके परिणमनमें काल द्रव्य से क्या प्रयोजन है? उत्तर—ऐसा नही, क्योकि यदि अपनेसे भिन्न बहिरग सहकारी कारणकी आवश्यकता न हो तो सब द्रव्योके साधारण, गति, स्थिति, अवगाहनके लिए सहकारी कारणभूत जो धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य है उनकी भी कोई आवश्यकता न रहेगी। विशेष—कालका कार्य तो घडी, दिन, आदि प्रत्यक्षसे दीख पडता है, किन्तु धर्म द्रव्य आदिका कार्य तो केवल आगमके कथनसे ही जाना जाता है, उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष नही देखा जाता। इसलिए जैसे काल द्रव्यका अभाव मानते हो, उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म, तथा आकाश द्रव्योका भी अभाव प्राप्त होता है। और तब जीव तथा पुद्गल. ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे। केवल दो ही द्रव्योके माननेपर आगमसे विरोध आता है। (पं का /ता वृ /२४/५१)।

१२. काल द्रव्य न माने तो क्या दोष है

नि.सा /ता वृ./३२ मे मार्ग प्रकाशसे उद्धृत-कालाभावे न भावाना परिणामस्तदन्तरात्। न द्रव्यं नापि पर्याय सर्वाभाव' प्रसज्यते। =कालके अभावमें पदार्थोका परिणमन नही होगा, और परिणमन न हो तो द्रव्य भी न होगा तथा पर्याय भी न होगी, इस प्रकार सर्वके अभावका (शून्य)का प्रसंग आयेगा।

गो.जी /जी प्र /५६८/१०१३/१२ धर्मादिद्रव्याणा स्वपर्यायनिर्वृत्ति प्रति स्वयमेव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाभावे तद्वृत्त्यसभवात्। =धर्मादिक द्रव्य अपने-अपने पर्यायनिकी निष्पत्ति विषै स्वयमेव वर्तमान है, तिनके बाह्य कोई कारण भूत उपकार बिना सो प्रवृत्ति सम्भवे नाही।

१३. अलोकाकाशमें वर्तनाका हेतु क्या है

प का./ता वृ /२४/५०/१३ लोकाकाशाद्बहिर्भागे कालद्रव्यं नास्ति कथमाकाशस्य परिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—यथैकप्रदेशे स्पष्टे सति लम्बायमानमहावरत्रागा महावेणुदण्डे वा—सर्वत्र चलनं भवति यथैव च मनोजस्पर्शनेन्द्रियविषयैकदेशस्पर्शे कृते सति रसनेन्द्रियविषये च सर्वाङ्गेन सुखानुभवो भवति·· तथा लोकमध्ये स्थितेऽपि कालद्रव्ये सर्वत्रालोकाकाशे परिणतिर्भवति। कस्मात्। अखण्डैकद्रव्यत्वात्। =प्रश्न—लोकके बाहरी भागमे कालाणु द्रव्यके अभावमे अलोकाकाशमे परिणमन कैसे होता है? उत्तर—जिस प्रकार बहुत बडे बाँसका एक भाग स्पर्श करनेपर सारा बाँस हिल जाता है अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रियके विषयका, या रसना इन्द्रियके विषयका प्रिय अनुभव एक अगमे करनेसे समस्त शरीरमें सुखका अनुभव होता है; उसी प्रकार लोकाकाशमे स्थित जो काल द्रव्य है वह आकाशके एक देशमे स्थित है, तो भी सर्व अलोकाकाशमे परिणमन होता है, क्योकि आकाश एक अखण्ड द्रव्य है। (द्र सं वृ /टी./२२/६४)।

१४. स्वयं काल द्रव्यमे वर्तनाका हेतु क्या है

ध.४/१.५,१/३२१/५ कालस्स कालो कि तत्तो पुधभूदो अणण्णो वा। अणब्भुवगमा।· एत्थ वि एक्कम्हि काले भेदेण ववहारो जुज्जदे। =प्रश्न—कालका परिणमन करानेवाला काल क्या उससे पृथग्भूत है या अनन्य? उत्तर—हम कालके कालको कालसे भिन्न तो मानते नही है· यहाँपर एक या अभिन्न कालमें भी भेद रूपसे व्यवहार बन जाता है।

पं.का./ता वृ /२४/५०/१६ कालस्य किं परिणतिसहकारिकारणमिति। आकाशस्याकाशाधारवत् ज्ञानादित्यरत्नप्रदीपाना स्वपरप्रकाशवच्च कालद्रव्यस्य परिणते काल एव सहकारिकारण भवति। =प्रश्न—काल द्रव्यकी परिणतिमें सहकारी कारण कौन है? उत्तर—जिस प्रकार आकाश स्वय अपना आधार है, तथा जिस प्रकार ज्ञान, सूर्य, रत्न वा दीपक आदि स्वपर प्रकाशक है, उसी प्रकार कालद्रव्यकी परिणतिमे सहकारी कारण स्वयं काल ही है। (द्र स वृ /टी /२२/६५)

१५. काल द्रव्यको असंख्यात माननेकी क्या आवश्यकता, एक अखण्ड द्रव्य मानिए

श्लो वा २/भाषाकार १/४/४४-४५/१४८/१७ =प्रश्न—काल द्रव्यको असंख्यात माननेका क्या कारण है? उत्तर—काल द्रव्य अनेक है, क्योकि एक ही समय परस्परमें विरुद्ध हो रहे अनेक द्रव्योकी क्रियाओकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण हो रहे है· ·अर्थात् कोई रोगी हो रहा है, कोई निरोग हो रहा है।

१६. काल द्रव्य क्रियावान क्यों नहीं

स सि /५/२२/२९१/७ वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता काल'। यद्येव कालस्य क्रियावत्त्व प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति। नैष दोष, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृ व्यपदेशो दृष्ट। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एव कालस्य हेतुकर्तृता। =द्रव्यकी पर्याय बदलती है और उसे बदलानेवाला काल है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो काल क्रियावान् द्रव्य प्राप्त होता है? जैसे शिष्य पढता है और उपाध्याय पढाता है यहाँ उपाध्याय क्रियावान् द्रव्य है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्ता रूप व्यपदेश देखा जाता है। जैसे—कण्डेकी अग्नि पढाती है। यहाँ कण्डेकी अग्नि निमित्त मात्र है। उसी प्रकार काल भी हेतुकर्ता है।

१७. कालाणुको अनन्त कैसे कहते हैं

स. सि./५/४०/३१५/६ अनन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते। =प्रश्न—[एक कालाणुको भी अनन्त सज्ञा कैसे देते है?] उत्तर—अनन्त पर्याय वर्तना गुणके निमित्तसे होती है, इसलिए एक कालाणुको भी उपचारसे अनन्त कहा है।

ह पु /७/१० ।अनन्तसमयोत्पादादनन्तव्यपदेशिन'।१०। =ये कालाणु अनन्त समयोके उत्पादक होनेसे अनन्त भी कहे जाते है।१०।

१८. कालद्रव्यको जाननेका प्रयोजन

.सा /ता वृ /१३६/१९७/७ एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले ससारसागरे भ्रमितोऽय जीवो यतस्तत कारणात्तदेव निजपरमात्मतत्त्व सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेय ज्ञातव्यम् · ध्येयमिति तात्पर्यम्। =उपरोक्त लक्षणवाले कालके जाननेपर भी इस जीवने परमात्म तत्त्वकी प्राप्तिके बिना ससार सागरमे अनन्त काल तक भ्रमण किया है। इसलिए निज परमात्म सर्व प्रकार उपादेय रूपसे श्रद्धेय है, जानने योग्य है, तथा ध्यान करने योग्य है। यह तात्पर्य है।

पं का /ता वृ /२६/५५/२० अत्र व्याख्यानेऽतीतानन्तकाले दुर्लभो योऽसौ शुद्धजीवास्तिकायस्तस्मिन्नेव चिदानन्दैककालस्वभावे सम्यक्श्रद्धानं रागादिभ्यो भिन्नरूपेण भेदज्ञान विकल्पजालत्यागेन तत्रैव स्थिरचित्त' च कर्तव्यमिति तात्पर्यार्थ।

प का /ता वृ./१००/१६०/१२ अत्र यद्यपि काललब्धिवशेन भेदाभेदरत्नत्रयलक्षण मोक्षमार्गं प्राप्य जीवो रागादिरहितनित्यानन्दैकस्वभावमुपादेयभूत पारमार्थिकसुख साधयति तथा जीवस्तस्योपादानकारणं न च काल इत्यभिप्राय। =१ इस व्याख्यानमें तात्पर्यार्थ यह है कि अतीत अनन्त कालमें दुर्लभ ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है, उसी चिदानन्दैककालस्वभावमे सम्यक्श्रद्धान, तथा रागादिसे भिन्न रूपसे भेदज्ञान तथा विकल्प जालको त्यागकर उसीमें स्थिरचित्त करना चाहिए। २ यद्यपि जीव काललब्धिके वशमे भेदाभेद रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गको प्राप्त करके रागादिसे रहित नित्यानन्द एक स्वभाव तथा उपादेयभूत पारमार्थिक सुखको साधता है, परन्तु जीव ही उसका उपादान कारण है न कि काल, ऐसा अभिप्राय है।

द्र स.वृ /टी./२१/६३ यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि परमात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान तपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारण ज्ञातव्य न च कालस्तेन स हेय इति। =यद्यपि यह जीव काललब्धिके वशसे अनन्त सुखका भाजन होता है, तथापि निज परमात्म तत्त्वका सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान, आचरण और तपश्चरण रूप जो चार प्रकारकी निश्चय आराधना है वह आराधना ही उस जीवके अनन्त सुखकी प्राप्तिमें उपादान कारण जाननी चाहिए, उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिए काल हेय है।

३. समयादि व्यवहार काल निर्देश व तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. समयादिकी अपेक्षा व्यवहार कालका निर्देश

पंका /म /२५ समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती। मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो।२५। =समय, निमेष, काष्ठा, कला, घडी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल (व्यवहार काल) वह पराश्रित है॥२५॥

नि सा /मू /३१ समयावलिभेदेन दु वियप्पं अहव होइ तिवियप्पं/ तीदो सखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाण तु ॥३१॥ समय और आवलिके भेदसे व्यवहारकालके दो भेद हैं, अथवा (भूत, वर्तमान और भविष्यतके भेदसे) तीन भेद है। अतीत काल संस्थानोंके और सख्यात आवलिके गुणकार जितना है।

स,सि /५/२२/२९३/३ परिणामादिलक्षणो व्यवहारकाल'। अन्येन परिच्छिन्न' अन्यस्य परिच्छेदहेतु क्रियाविशेष' काल इति व्यवह्रियते। स त्रिधा व्यवतिष्ठते भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति ' व्यवहारकाले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः। कालव्यपदेशो गौण, क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात्कालकृतत्वाच।

स सि /५/४०/३१५/४ साम्प्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽपि अतीता अनागताश्च समया अनन्ता इति कृत्वा "अनन्तसमय" इत्युच्यते। =१. परिणामादि लक्षणवाला व्यवहार काल है। तात्पर्य यह है कि जो क्रियाविशेष अन्यसे परिच्छिन्न होकर अन्यके परिच्छेदका हेतु है उसमें काल इस प्रकारका व्यवहार किया जाता है। वह काल तीन प्रकारका है—भूत, वर्तमान और भविष्यत। ·· व्यवहार कालमें भूतादिक रूप संज्ञा मुख्य है और काल सज्ञा गौण है; क्योकि इस प्रकारका व्यवहार क्रियावाले द्रव्यकी अपेक्षासे होता है तथा कालका कार्य है। २ यद्यपि वर्तमान काल एक समयवाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय है ऐसा मानकर कालको अनन्त समयवाला कहा है। (रा वा /५/२२/२४/४८२/६)

ध. ११/४.२.६,१/१/७५ कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो। दोण्ण एस सहाओ कालो खणभंगुरो णियदो।१। =समयादि रूप व्यवहार काल चूँकि जीव व पुद्गलके परिणमनसे जाना जाता है, अत वह उससे उत्पन्न हुआ कहा जाता है।·· व्यवहारकाल क्षणस्थायी है।

ध ४/१,५,१/३१७/११ कल्यन्ते सख्यायन्ते कर्म-भव-कायायुस्थितयोऽनेनेति कालशब्दव्युत्पत्ते'। काल समय अद्धा इत्येकोऽर्थ'। =जिसके द्वारा कर्म, भव, काय और आयुकी स्थितियाँ कल्पित या सख्यात की जाती है अर्थात् कही जाती है, उसे काल कहते है, इस प्रकारकी काल शब्दकी व्युत्पत्ति है। काल, समय और अद्धा, ये सब एकार्थवाची नाम है। (रा वा /५/२२/२५/४८२/२१)

न. च. वृ /१३७ परिणामो। पज्जयठिदि उवचरिदो ववहारादो य णायव्वो।१३७। =परिणाम अथवा पर्यायकी स्थितिको उपचारसे वा व्यवहारसे काल जानना चाहिए।

गो जी /मू./५७२/१०१७ ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो। ववहारअवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु। =व्यवहार अर विकल्प अर भेद अर पर्याय ए सर्व एकार्थ है। इनि शब्दनिका एक अर्थ है तहाँ व्यंजन पर्यायका अवस्थान जो वर्तमानपना ताकरि स्थिति जो कालका परिणाम सोई व्यवहार काल है।

द्र सं /मू व टी./२१/६० दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। ।२१। पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थिति सा

व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः। =जो द्रव्योके परिवर्तनमें सहायक, परिणामादि लक्षणवाला है, सो व्यवहारकाल है ।२१। द्रव्यकी पर्यायसे सम्बन्ध रखनेवाली यह समय, घडी आदि रूप जो स्थिति है वह स्थिति ही 'व्यवहार काल' है, वह पर्याय व्यवहार काल नही है। (द्र स /टी /२१/६१)

पं.ध /पू /२७७ तदुदाहरणं संप्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत। अस्ति विवक्षित्वादिह नास्त्यशस्याविवक्षया तदिह ।२७७। =अब उसका उदाहरण यह है कि सत् सामान्यरूप परिणमनकी विवक्षासे काल सामान्य काल कहलाता है। और सत्के विवक्षित द्रव्य, गुण व पर्याय रूप विशेष अशोंके परिणमनकी अपेक्षासे काल विशेष काल कहलाता है।

२. समयादिकी उत्पत्तिके निमित्त

त. सू./४/१३, १४ (ज्योतिषदेवा) मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥ तत्कृत: कालविभाग ॥१४॥ =ज्योतिषदेव मनुष्य लोकमे मेरुकी प्रदक्षिणा करनेवाले और निरन्तर गतिशील है ॥१३॥ उन गमन करनेवाले ज्योतिषियोके द्वारा किया हुआ काल विभाग है ॥१४॥

प्र. सा /त प्र /१३६ यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेश मन्दगत्यातिक्रमत परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो य कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमय: स तस्य कालपदार्थस्य पर्याय:। =किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थके द्वारा आकाशका जो प्रदेश व्याप्त हो उस प्रदेशको जब परमाणु मन्दगतिसे उल्लंघन करता है तब उस प्रदेशमात्र अतिक्रमणके परिमाणके बराबर जो काल पदार्थकी सूक्ष्मवृत्ति रूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थकी पर्याय है। (नि. सा /ता. वृ /३१)

पं. का /त प्र./२५ परमाणुप्रचलनायत्त समय:। नयनपुटघटनायत्तो निमिष:। तत्सख्याविशेषत: काष्ठा कला नाली च। गगनमणिगमनायत्तो दिवारात्र:। तत्सख्याविशेषत मास:, ऋतु:, अयन, सवत्सरमिति। =परमाणुके गमनके आश्रित समय है, आँख मिचनेके आश्रित निमेष है, उसकी (निमेष की) अमुक सख्यासे काष्ठा, कला, और घडी होती है, सूर्यके गमनके आश्रित अहोरात्र होता है, और उसकी (अहोरात्रकी) अमुक सख्यासे मास, ऋतु, अयन और वर्ष होते हैं। (द्र. स. वृ /टी./३५/१३४)

द्र. सं वृ./टी./२१/६२ समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटनं, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारा, दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति। =समय रूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमें मन्दगतिसे परिणत पुद्गल परमाणु, निमेषरूप कालकी उत्पत्तिमें नेत्रोके पुटोंका विघटन, घडी रूप काल पर्यायकी उत्पत्तिमें घडीकी सामग्रीरूप जलका कटोरा और पुरुषके हाथ आदिका व्यापार दिनरूप कालपर्यायकी उत्पत्तिमे सूर्यका बिम्ब उपादान कारण है।

३. परमाणुकी तीव्रगतिसे समयका विभाग नहीं हो जाता

प्र. सा /त. प्र /१३६ तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्ध परमाणोरनशत्वात् पुनरप्यनन्ताशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद् द्वितीय लोकान्तमाक्रमत परमाणोरसंख्येया कालाणव: समयस्यानशत्वादसख्येयाशत्व न साधयन्ति॥ =जैसे विशिष्ट अवगाह परिणामके कारण एक परमाणुके परिमाणके बराबर अनन्त परमाणुओका स्कन्ध बनता है तथापि वह स्कन्ध परमाणुके अनन्त अशोको सिद्ध नही करता, क्योकि परमाणु निरंश है, उसी प्रकार जैसे एक कालाणुसे व्याप्त एक आकाशप्रदेशके अतिक्रमणके मापके बराबर एक 'समय'में परमाणु विशिष्टगति परिणामके कारण लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणुके द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय'के असख्य अशोको सिद्ध नही करते, क्योकि 'समय' निरंश है।

पं. का./ता. वृ /२५/५३/८ ननु यावता कालेनैकप्रदेशातिक्रम करोति पुद्गलपरमाणुस्तत्प्रमाणेन समयव्याख्यान कृत स एकसमये चतुर्दशरज्जुकाले गमनकाले यावन्त प्रदेशास्तावन्त समया भवन्तीति। नैवं। एकप्रदेशातिक्रमेण या समयोत्पत्तिर्भणिता सा मन्दगतिगमनेन, चतुर्दशरज्जुगमन यदेकसमये भणित तदक्रमेण शीघ्रगत्या कथितमिति नास्ति दोष:। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा कोऽपि देवदत्तो योजनशत दिनशतेन गच्छति स एव विद्याप्रभावेण दिनेनैकेन गच्छति तत्र किं दिनशतं भवति नैवैकदिनमेव तथा शीघ्रगतिगमने सति चतुर्दशरज्जुगमनेऽप्येकसमय एव नास्ति दोष: इति। =प्रश्न—जितने कालमे "आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें परमाणु गमन करता है उतने कालका नाम समय है" ऐसा शास्त्रमे कहा है तो एक समयमे परमाणुके चौदह रज्जु गमन करनेपर, जितने आकाशके प्रदेश है उतने ही समय होने चाहिए? उत्तर—आगममें जो परमाणुका एक समयमे एक आकाशके प्रदेशके साथ वाले दूसरे प्रदेशपर गमन करना कहा है, सो तो मन्दगतिकी अपेक्षासे है तथा परमाणुका एक समयमे जो चौदह रज्जुका गमन कहा है वह शीघ्र गमनकी अपेक्षासे है। इसलिए शीघ्रगतिसे चौदह रज्जु गमन करनेमें भी परमाणुको एक ही समय लगता है। इसमे दृष्टान्त यह है कि—जैसे देवदत्त धीमी चालसे सौ योजन सौ दिनमे जाता है, वही देवदत्त विद्याके प्रभावसे शीघ्र गतिके द्वारा सौ योजन एक दिनमें भी जाता है, तो क्या उस देवदत्तको शीघ्रगतिसे सौ योजन गमन करनेमे सौ दिन हो गये? किन्तु एक ही दिन लगेगा। इसी तरह शीघ्रगतिसे चौदह रज्जु गमन करनेमे भी परमाणुको एक ही समय लगेगा। (द्र सं./टी /२२/६६/१)

श्लो. वा /२/भाषाकार १/५/६६-६८/२७८/२ लोक सम्बन्धी नीचेके वातवलयसे ऊपरके वातवलयमें जानेवाला वायुकायका जीव या परमाणु एक समयमे चौदह राजू जाता है। अत: एक समयके भी असख्यात अविभाग प्रतिच्छेद माने गये है। संसारका कोई भी छोटेसे छोटा पूरा कार्य एक समयसे न्यून कालमें नही होता है।

४. व्यवहार कालका व्यवहार मनुष्य क्षेत्रमें ही होता है

रा वा./५/२२/२५/४८२/२० व्यवहारकालो मनुष्यक्षेत्रे सभवति इत्युच्यते। तत्र ज्योतिषाणा गतिपरिणामात्, न बहि:निवृत्तगतिव्यापारत्वात् ज्योतिषानाम्। =सूर्यगति निमित्तक व्यवहारकाल मनुष्य क्षेत्रमे ही चलता है, क्योकि मनुष्य लोकके ज्योतिर्देव गतिशील होते है, बाहरके ज्योतिर्देव अवस्थित है। (गो जी./मू./५७७)

ध. ४/१/५,१,३२०/५ माणुसखेत्तेक्कसुज्जमडलेतियालगोयराणतपज्जाएहि आवूरिदे। =त्रिकालगाचर अनन्त पर्यायोसे परिपूरित एक मात्र मनुष्य क्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमण्डलमे ही काल है, अर्थात् कालका आधार मनुष्य क्षेत्र सम्बन्धी सूर्यमण्डल है।

५. देवलोक आदिमें इसका व्यवहार मनुष्यक्षेत्रकी अपेक्षा किया जाता है

रा. वा /५/२२/२५/४८२/२१ मनुष्यक्षेत्रसमुत्थेन ज्योतिर्गतिसमयावलिकादिना परिच्छिन्नेन क्रियाकलापेन कालवर्तनया कालाख्येन ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् च प्राणिना सख्येयासख्येयानन्तानन्तकालगणनाप्रभेदेन कर्मभवकायस्थितिपरिच्छेद:। =मनुष्य क्षेत्रसे उत्पन्न आव-

लिका आदिसे तीनो लोकोके प्राणियो की कर्मस्थिति, भवस्थिति, और कायस्थिति आदिका परिच्छेद होता है। इसीसे संख्येय असंख्येय और अनन्त आदिकी गिनती की जाती है।

ध./४/३२०/६ इहत्थेणेव कालेण तेसि ववहारादो। =यहाँके कालसे ही देवलोकमें कालका व्यवहार होता है।

६. जब सब द्रव्योंका परिणाम काल है तो मनुष्य क्षेत्रमें इसका व्यवहार क्यों

ध./४/१,५,१/३२१/१ जीव-पोग्गलपरिणामो कालो होदि, तो सव्वेसु जीव-पोग्गलेसु संठिएण कालेण होदव्वं; तदो माणुसखेत्तेक्कसुज्जमंडलट्ठिदो कालो त्ति ण घडदे। ण एस दोसो, णिरवज्जत्तादो। किंतु ण तहा लोगे समए वा संववहारो अत्थि, अणाइणिहणरूवेण सुज्जमंडल किरियापरिणामेसु चेव कालसववहारो पयट्टो। तम्हा एदस्सेव गहणं कायव्वं। =प्रश्न—यदि जीव और पुद्गलका परिणाम ही काल है, तो सभी जीव और पुद्गलोमें कालको संस्थित होना चाहिए। तब ऐसी दशामें 'मनुष्य क्षेत्रके एक सूर्य मण्डलमें ही काल स्थित है' यह बात घटित नही होती? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। क्योकि उक्त कथन निर्दोष है। किन्तु लोकमें या शास्त्रमें उस प्रकार-से सव्यवहार नही है, पर अनादिनिधन स्वरूपसे सूर्यमण्डलकी क्रिया—परिणामोमें ही कालका संव्यवहार प्रवृत्त है। इसलिए इसका ही ग्रहण करना चाहिए।

७. भूत वर्तमान व भविष्यत कालका प्रमाण

नि सा /मू व टी /३१, ३२ तीदो सखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥३१॥ अतीतकालप्रपचोऽयमुच्यते—अतीतसिद्धाना सिद्धपर्याय-प्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यवहारकाल स कालस्यैषा ससारावस्थाना यानि सस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्त.। अनागतकालोऽप्यनागतसिद्धानामनागतशरीराणि यानि तैः सदृशत्वा' (?) मुक्तेः सकाशादित्यर्थः ॥टी०॥ जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा चावि सपदा समया। =अतीतकाल (अतीत) संस्थानोके और संख्यात आवलिके गुणाकार जितना है ॥३१॥ अतीतकालका विस्तार कहा जाता है, अतीत सिद्धोको सिद्धपर्यायके प्रादुर्भाव समयसे पूर्व बीता हुआ जो आवलि आदि व्यवहारकाल वह उन्हे ससार दशामें जितने सस्थान बीत गये है उनके जितना होनेसे अनन्त है। (अनागत सिद्धोको मुक्ति होने तकका) अनागत काल भी अनागत सिद्धोके जो मुक्ति पर्यन्त अनागत शरीर उनके बराबर है। अब, जीवसे तथा पुद्गलसे भी अनन्तगुने समय है।

ध.४/१,५,१/३२१/५ केवचिरकालो। अणादिओ अपज्जवसिदो। =प्रश्न—काल कितने समय तक रहता है? उत्तर—काल अनादि और अपर्यवसित है, अर्थात् कालका न आदि है न अन्त है।

ध ४/१ सर्वदा अतोत काल सर्वजीव राशिके अनन्तवें भाग प्रमाण रहता है, अन्यथा सर्व जीवोके अभाव होनेका प्रसग आता है।

गो. जी / मू /५७८, ५७९ ववहारो पुण तिविहो तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु। तीदो सखेज्जावलिहदसिद्धाण पमाणो दु ।५७८। समयो हु वट्टाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि। भावी अणतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ।५७९। =व्यवहार काल तीन प्रकार है—अतीत, अनागत और वर्तमान। तहाँ अतीतकाल सिद्ध राशिकौ सख्यात आवलीकरि गुणैं जो प्रमाण होइ तितना जानना ।५७८। वर्तमानकाल एक समयमात्र जानना। बहुरि भावी जो अनागतकाल सो सर्व जीवराशितैं वा सर्व पुद्गलराशि तै भी अनतगुणा जानना। ऐसे व्यवहार काल तीन प्रकार कहा ।५७९।

८. काल प्रमाण स्थित कर देनेपर अनादि भी सादि बन जायेगा—

ध. ३/१,२,३/३०/५ अणादिस्स अदीदकालस्स कधं पमाणं ठविज्जदि। ण, अण्णहा तस्साभावप्पसंगादो। ण च अणादि त्ति जाणिदे सादित्तं पावेदि, विरोहा। =प्रश्न—अतीतकाल अनादि है, इसलिए उसका प्रमाण कैसे स्थापित किया जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि उसका प्रमाण नहीं माना जाये तो उसके अभावका प्रसंग आ जायेगा। परन्तु उसके अनादित्वका ज्ञान हो जाता है, इसलिए उसे सादित्वकी प्राप्ति हो जायेगी, सो भी बात नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है।

९. निश्चय व व्यवहार कालमें अन्तर—

रा वा /६/८/२०/१३/२० मुख्यस्य कालस्यास्तित्वप्रतिपादनार्थं पुनः कालग्रहणम्। द्विविधो हि कालो मुख्यो व्यावहारिकश्चेति। तत्र मुख्यो निश्चयकालः। पर्यायिपर्यायावधिपरिच्छेदो व्यावहारिकः। =मुख्य काल-के अस्तित्वकी सूचना देनेके लिए स्थितिसे पृथक् कालका ग्रहण किया है। व्यवहार काल पर्याय और पर्यायीकी अवधिका परिच्छेद करता है।

४. उत्सर्पिणी आदि काल निर्देश

१. कल्पकाल निर्देश

सं. सि./३/२७/२२३/७ सोभयी कल्प इत्याख्यायते। =ये दोनों (उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी) मिल कर एक कल्पकाल कहे जाते हैं। (रा. वा /३/२७/५/१९१/३)।

ति प./४/३१६ दोण्णि वि मिलिदेकप्पं छब्भेदा होंति तत्थ एक्केक्कं॥ =इन दोनोंको मिलानेपर बीस कोडाकोडी सागरोपमप्रमाण एक कल्पकाल होता है। (ज० प०/२/११५)।

२. कालके उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी दो भेद—

स सि/३/२७/२२३/२ स च कालो द्विविधः-उत्सर्पिणी अवसर्पिणी चेति। =वह काल (व्यवहार काल) दो प्रकारका है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। (ति प./४/३१३) (रा. वा /३/२७/३/१९१/२६) (क. पा. १/§५६/७४/२)

३. दोनोंके सुषमादि छः छः भेद

स. सि /३/२७/२२३/४ तत्रावसर्पिणी षड्विधा—सुषमसुषमा सुषमा सुषमदुष्षमा दुष्षमसुषमा दुष्षमा अतिदुष्षमा चेति। उत्सर्पिण्यपि अतिदुष्षमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव भवति। =अवसर्पिणीके छह भेद है—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुष्षमा, दुष्षमसुषमा, दुष्षमा और अतिदुष्षमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी अतिदुष्षमासे लेकर सुषमसुषमा तक छह प्रकारका है। (अर्थात् दुष्षमदुष्षम, दुष्षमा, दुष्षमसुषमा, सुषमदुष्षमा, सुषमा और अतिसुषमा / (रा. वा./३/२७/५/१९१/३१) (ति. प./४/३१६) (ति प /४/१५५७-१५५६) (क पा. १/§५६/७४/३) (ध ९/४,१,४४/११९/१०)।

४. दुषमादुषमा सामान्यका लक्षण

म. पु /३/१९ समाकालविभागः स्यात् सुदुसावर्हगर्हयो.। सुषमा दुषमे-त्यमतोऽन्वर्थत्वमेतयोः ।१९। =समा कालके विभागको कहते है तथा

सु और दुर् उपसर्ग क्रमसे अच्छे और बुरे अर्थमे आते है। सु और दुर् उपसर्गोंको पृथक् पृथक् समाके साथ जोड देने तथा व्याकरणके नियमानुसार स को ष कर देनेसे सुषमा और दु'षमा शब्दोकी सिद्धि होती है। जिनके अर्थ क्रमसे अच्छा काल और बुरा काल होता है, इस तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छहों भेद सार्थक नामवाले है।११।

५. अवसर्पिणी कालके षट् भेदोंका स्वरूप

ति. प /४/३२०-३६४ "नोट—मूल न देकर केवल शब्दार्थ दिया जाता है। **१. सुषमासुषमा**—(भूमि) सुषमासुषमा कालमे भूमि रज, धूम, अग्नि और हिमसे रहित, तथा कण्टक, अभ्रशिला (बर्फ) आदि एवं बिच्छू आदिक कीडोके उपसर्गोसे रहित होती है।३२०। इस कालमें निर्मल दर्पणके सदृश और निन्दित द्रव्योसे रहित दिव्य बालू, तन, मन और नयनोंको सुखदायक होती है।३२१। कोमल घास व फलोंसे लदे वृक्ष।३२२-३२३। कमलोसे परिपूर्ण वापिकाएँ।३२४। सुन्दर भवन।३२५। कल्पवृक्षोसे परिपूर्ण पर्वत।३२८। रत्नोसे भरी पृथ्वी।३२६। तथा सुन्दर नदियाँ होती है।३३०। स्वामी भृत्य भाव व युद्धादिकका अभाव होता है। तथा विकलेन्द्रिय जीवोका अभाव होता है।३३१-३३२। दिन रातका भेद, शीत व गर्मीकी वेदनाका अभाव होता है। परस्त्री व परधन हरण नही होता।३३३। यहाँ मनुष्य युगल-युगल उत्पन्न होते है।३३४। **मनुष्य-प्रकृति**—अनुपम लावण्यसे परिपूर्ण, सुख सागरमें मग्न, मार्दव एवं आर्जवसे सहित मन्दकषायी, सुशीलता पूर्ण भोग-भूमिमें मनुष्य होते है। नर व नारीसे अतिरिक्त अन्य परिवार नही होता।।३३७-३४०। —वहाँ गाँव व नगरादिक सब नही होते केवल वे सब कल्पवृक्ष होते है।३४१। मासाहारके त्यागी, उदम्बर फलोके त्यागी, सत्यवादी, वेश्या व परस्त्रीत्यागी, गुणियोंके गुणोमें अनुरक्त, जिनपूजन करते है। उपवासादि सयमके धारक, परिग्रह रहित यतियोको आहारदान देनेमें तत्पर रहते है।३६५-३६८। **मनुष्य**—भोगभूमिजोके युगल कदलीघात मरणसे रहित, विक्रियासे बहुतसे शरीरोको बनाकर अनेक प्रकारके भोगोको भोगते है।३५८। मकुट आदि आभूषण उनके स्वभावसे ही होते है।३६०-३६४। **जन्म-मृत्यु**—भोगभूमिमें मनुष्य और तिर्यंचोकी नौ मास आयु शेष रहने पर गर्भ रहता है और मृत्यु समय आनेपर युगल बालक बालिका जन्म लेते है।३७५। नवमास पूर्ण होने पर गर्भसे युगल निकलते है, तत्काल ही तब माता पिता मरणको प्राप्त होते है।३७६। पुरुष छीकसे और स्त्री जभाई आनेसे मृत्युको प्राप्त होते है। उन दोनोके शरीर शरत्कालीन मेघके समान आमूल विनष्ट हो जाते है।३७७। **पालन**—उत्पन्न हुए बालकोके शय्यापर सोते हुए अपने अँगूठेके चूसनेमें ३ दिन व्यतीत होते है।३७६। इसके पश्चात् उपवेशन, अस्थिरगमन स्थिरगमन, कलागुणोकी प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शनके ग्रहणकी योग्यता, इनमें क्रमश' प्रत्येक अवस्थामें उन बालकोके तीन दिन व्यतीत होते है।३८०। इनका शरीरमे मूत्र व विष्ठाका आस्रव नही होता।३८१। **विद्याएँ**—वे अक्षर, चित्र, गणित, गन्धर्व और शिल्प आदि ६४ कलाओमें स्वभावसे ही अतिशय निपुण होते है ॥३८५॥ **जाति**—भोग भूमिमें गाय, सिंह, हाथी, मगर, शूकर, सारग, रोझ, भैंस, वृक, बन्दर, गवय, तेदुआ, व्याघ्र, शृगाल, रीछ, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर राजहस, कोरंड, काक, क्रौच, और कजक तथा और भी तिर्यंच होते है।३८६-३६०। **योग व आहार**—ये युगल पारस्परिक प्रेममे आसक्त रहते है।३८६। मनुष्योवद् तिर्यंच भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार मासाहारके बिना कल्पवृक्षोका भोग करते है।३६१-३६३। चौथे दिन बेरके बराबर आहार करते है।३३४। **कालस्थिति**—चार कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सुषमासुषमा कालमें पहिलेसे शरीरकी ऊँचाई, आयु, बल, ऋद्धि और तेज आदि हीन-हीन होते जाते है।३६४। (ह पु /७/६४-१०५) (म. पु /६/६३-६१) (ज प./२/११२-१६४) (त्रि सा /७८४-७६१) २—ति प./४/३६५-४०२। **२ सुषमा**—इस प्रकार उत्सेधादिकके क्षीण होनेपर सुषमा नामका द्वितीय काल प्रविष्ट होता है।३६५। इसका प्रमाण तीन कोडाकोडी सागरोपम है। उत्तम भोगभूमिवत् मनुष्य व तिर्यंच होते है। **शरीर**—शरीर समचतुरस्र सस्थान से युक्त होता है ॥३१८॥ **आहार**—तीसरे दिन अक्ष (बहेडा) फलके बराबर अमृतमय आहारको ग्रहण करते है।३६८। **जन्म व वृद्धि**—उस कालमें उत्पन्न हुए बालकोंके शय्यापर सोते हुए अपने अंगूठेके चूसनेमे पाँच दिन व्यतीत होते है।३६६। पश्चात् उपवेशन अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुणप्राप्ति, तारुण्य, और सम्यक्त्व ग्रहणकी योग्यता, इनमेंसे प्रत्येक अवस्थामें उन बालकोके पाँच-पाँच दिन जाते है।४०१। शेष वर्णन सुषमासुषमावद् जानना। **३.** ति प /४/४०३-५१० **सुषमादुषमा**—उत्सेधादिके क्षीण होनेपर सुषमादुषमा काल प्रवेश करता है, उसका प्रमाण दो कोडाकोडी सागरोपम है।४०३। **शरीर**—इस कालमें शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष प्रमाण तथा एक पल्यकी आयु होती है।४०४। **आहार**—एक दिनके अन्तरालसे आँवलेके बराबर अमृतमय आहारको ग्रहण करते है।४०६। **जन्म व वृद्धि**—उस कालमें बालकोके शय्यापर सोते हुए सात दिन व्यतीत होते है। इसके पश्चात् उपवेशनादि क्रियाओंमें क्रमश सात सात दिन जाते है।४०८। **कुलकर आदि पुरुष**—कुछ कम पल्यके आठवें भाग प्रमाण तृतीय कालके शेष रहने पर प्रथम कुलकर उत्पन्न होता है ॥४२१॥ फिर क्रमश चौदह कुलकर उत्पन्न होते है।४२२-४६४। यहाँसे आगे सम्पूर्ण लोक प्रसिद्ध त्रेशठ शलाका पुरुष उत्पन्न होते है।५१०। शेष वर्णन जो सुषमा (वा सुषमसुषमा) कालमें कह आये है, वही यहाँ भी कहना चाहिए।४०६। **४** ति प /४/१२७६-१२७७ **दुषमासुषमा**—ऋषभनाथ तीर्थंकरके निर्वाण होनेके पश्चात् तीन वर्ष और साढे आठ मासके व्यतीत होनेपर दुषमसुषमा नामक चतुर्थकाल प्रविष्ट हुआ।१२७६। इस कालमें शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण थी।१२७७। इसमें ६३ शलाका पुरुष व कामदेव होते है। इनका विशेष वर्णन—दे० 'शलाका पुरुष'। **५.** ति प /४/१४७४-१५३५ **दुषमा**—वीर भगवान्का निर्वाण होनेके पश्चात् तीन वर्ष, आठ मास, और एक पक्षके व्यतीत हो जानेपर दुषमाकाल प्रवेश करता है।१४७४। **शरीर**—इस कालमें उत्कृष्ट आयु कुल १२० वर्ष और शरीरकी ऊँचाई सात हाथ होती है।१४७५। **श्रुत विच्छेद**—इस कालमे श्रुततीर्थ जो धर्म प्रवर्तनका कारण है वह २०३१७ वर्षोमें काल दोषसे हीन होता होता व्युच्छेदको प्राप्त हो जायेगा।१४६३। इतने मात्र समय तक ही चातुर्वर्ण्य सघ रहेगा। इसके पश्चात् नही।।१४६४। **मुनिदीक्षा**—मुकुटधरोंमें अन्तिम चन्द्रगुप्तने दीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी प्रव्रज्याको धारण नही करते।१४८१। **राजवंश**—इस कालमें राजवंश क्रमश न्यायसे गिरते-गिरते अन्यायी हो जाते है। अत आचारागधरोके २७५ वर्ष पश्चात् एक कल्की राजा हुआ।१४६६-१५१०। जो कि मुनियोके आहारपर भी शुल्क माँगता है। तब मुनि अन्तराय जान निराहार लौट जाते है।१५१२। उस समय उनमें किसी एकको अवधिज्ञान हो जाता है। इसके पश्चात् कोई असुरदेव उपसर्गको जानकर धर्मद्रोही कल्कीको मार डालता है।१५१३। इसके ५०० वर्ष पश्चात् एक उपकल्की होता है और प्रत्येक १००० वर्ष पश्चात् एक कल्की होता है।१५१६। प्रत्येक कल्कीके समय मुनिको अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। और चातुर्वर्ण्य भी घटता जाता है।१५१७। **संघविच्छेद**—चाण्डालादि ऐसे बहुत मनुष्य दिखते है।।१५१८-१५१६। इस प्रकार से इक्कीसवाँ अन्तिम कल्की होता है।१५२०। उसके समय मे वीरागज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पगुश्री नामक श्रावक युगल होते है।।१५२१। उस राजाके द्वारा शुल्क माँगने पर वह मुनि उन श्रावक श्राविकाओको दुषमा कालका अन्त आनेका सन्देशा देता है। उस समय मुनिकी

आयु कुल तीन दिन की शेष रहती है। तब वे चारों ही संन्यास मरण पूर्वक कार्तिक कृष्ण अमावस्या को यह देह छोड कर सौधर्म स्वर्गमे देव होते है। ।१५२०-१५३३। अन्त—उस दिन क्रोधको प्राप्त हुआ असुर देव कल्कीको मारता है और सूर्यास्तसमयमें अग्नि विनष्ट हो जाती है। ।१५३३। इस प्रकार धर्मद्रोही २१ कल्की एक सागर आयुसे युक्त होकर घर्मा नरकमें जाते है ।१५३४-१५३५ (म. पु./७६/३६०-४३५)।

६—ति प /४/१५३५-१५४४ दुषमादुषमा—२१वें कल्की के पश्चात् तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्षके बीत जानेपर महाविषम वह अतिदुषमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है।१५३५। शरीर—इस कालके प्रवेशमे शरीरकी ऊँचाई तीन अथवा साढे तीन हाथ और उत्कृष्ट आयु २० वर्ष प्रमाण होती है ।१५३६। धूम वर्णके होते है। आहार—उस कालमे मनुष्योका आहार मूल, फल और मत्स्यादिक होते है ।१५३७। निवास—उस समय वस्त्र, वृक्ष और मकानादिक मनुष्योको दिखाई नही देते ।१५३७। इसलिए सब नंगे और भवनोंसे रहित होकर वनोमें घूमते है ।१५३८। शारीरिक दु:ख—मनुष्य प्रा.। पशुओ जैसा आचरण करनेवाले, क्रूर, बहिरे, अन्धे, काने, गूंगे, दारिद्रय एवं क्रोधसे परिपूर्ण, दीन, बन्दर जैसे रूपवाले, कुबडे बौने शरीरवाले, नाना प्रकार की व्याधि वेदनासे विकल, अतिकषाय युक्त, स्वभावसे पापिष्ठ, स्वजन आदिसे विहीन, दुर्गन्धयुक्त शरीर एवं केशोसे सयुक्त, जूं तथा लीख आदिसे आच्छन्न होते हैं ।१५३८-१५४१। आगमन निर्गमन—इस कालमें नरक और तिर्यंचगतिसे आये हुए जीव ही यहाँ जन्म लेते है, तथा यहाँ से मरकर घोर नरक व तिर्यचगतिमे जन्म लेते है ।१५४२। हानि—दिन प्रतिदिन उन जीवोकी ऊँचाई, आयु और वीर्य हीन होते जाते है ।१५४३। प्रलय—उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षोंके बीत जानेपर जन्तुओको भयदायक घोर प्रलय काल प्रवृत्त होता है। ।१५४४। (प्रलयका स्वरूप—दे० प्रलय। (म. पु /७६/४३८-४५०) (त्रि. सा/८५६-८६४) षट् कालोमें अवगाहना, आहारप्रमाण, अन्तराल, सस्थान व हड्डियों आदिकी वृद्धिहानिका प्रमाण। दे० काल/४/१६।

६. उत्सर्पिणी कालका लक्षण व काल प्रमाण

स सि /३/२७/२२३/३ अन्वर्थसंज्ञे चैते। अनुभवादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी। अवसर्पिण्या परिमाणं दशसागरोपमकोटीकोट्यः। उत्सर्पिण्या अपि तावत्य एव। =ये दोनो (उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी) काल सार्थक नामवाले है। जिसमें अनुभव आदिकी वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है। (रा वा /३/२७/५/१६१/३०)

अवसर्पिणी कालका परिमाण दस कोडाकोडी सागर है और उत्सर्पिणीका भी इतना ही है। (स सि /३/३८/२३४/६) (ध १३/५,५,५६/३१/३०१) (रा वा /३/३८/७/२०८/२१) (ति प /४/३१५) (ज प /२/११५)

ध ६/४,१,४४/११६/६ जत्थ बलाउ-उस्सेहाणं उस्सप्पणं उड्ढी होदि सो कालो उस्सप्पिणी। =जिस कालमें बल, आयु व उत्सेधका उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है वह उत्सर्पिणी काल है। (ति प /४/३१४१/१५५७) (क पा १/§५६/७४/३) (म पु./३/२०)

७. उत्सर्पिणी कालके षट् भेदोका विशेष स्वरूप

उत्सर्पिणी कालका प्रवेश क्रम=दे० काल/४/१२

ति प /४/१५६३-१५६६ दुषमादुषमा—इस कालमे मनुष्य तथा तिर्यंच नग्न रहकर पशुओ जैसा आचरण करते हुए क्षुधित होकर वन-प्रदेशोमे धतूरा आदि वृक्षोके फल मूल एवं पत्ते आदि खाते है ।१५६३। शरीरकी ऊँचाई एक हाथ प्रमाण होती है।१५६४। इसके आगे तेज, बल, बुद्धि आदि सब काल स्वभावसे उत्तरोत्तर बढते जाते है ।१५६५। इस प्रकार भरतक्षेत्रमें २१००० वर्ष पश्चात् अतिदुषमा काल पूर्ण होता है ।१५६६। (म पु./७६/४५४-४५६)

ति.प /४/१५६७-१५७५ दुषमा—इस कालमें मनुष्य-तिर्यंचोंका आहार २०,००० वर्ष तक पहलेके ही समान होता है। इसके प्रारम्भमें शरीरकी ऊँचाई ३ हाथ प्रमाण होती है।१५६८। इस कालमें एक हजार वर्षोंके शेष रहनेपर १४ कुलकरोंकी उत्पत्ति होने लगती है ।१५६९-१५७१। कुलकर इस कालके म्लेच्छ पुरुषोंको उपदेश देते हैं ।१५७५। (म पु /७६/४६०-४६६) (त्रि सा./८७१)

ति. प./४/१५७६-१५९५ दुषमासुषमा—इसके पश्चात् दुषम-सुषमाकाल प्रवेश होता है। इसके प्रारम्भमें शरीरकी ऊँचाई सात हाथ प्रमाण होती है ।१५७६। मनुष्य पाँच वर्णवाले शरीरसे युक्त, मर्यादा, विनय एवं लज्जासे सहित सन्तुष्ट और सम्पन्न होते हैं ।१५७७। इस कालमें २४ तीर्थंकर होते हैं। उनके समयमें १२ चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण हुआ करते हैं ।१५७८-१५९२। इस कालके अन्तमें मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ पचीस धनुष होती है। ।१५९४-१५९५। (म पु /७६/४८०-४८६) (त्रि सा /८८२-८८०)

ति. प./४/१५९६-१५९९ सुषमादुषमा—इसके पश्चात् सुषमदुषम नाम चतुर्थ काल प्रविष्ट होता है। उस समय मनुष्योंकी ऊँचाई पाँचसौ धनुष प्रमाण होती है। उत्तरोत्तर आयु और ऊँचाई प्रत्येक कालके बलसे बढती जाती है ।१५९६-१५९७। उस समय यह पृथिवी जघन्य भोगभूमि कही जाती है ।१५९८। उस समय के अन्त मनुष्य एक कोस ऊँचे होते हैं ।१५९९। (म पु /७६/४९०-९१)

ति प /४/१५९९-१६०१ सुषमा—सुषमादुषमा कालके पश्चात् पाँचवाँ सुषमा नामक काल प्रविष्ट होता है ।१५९९। उस कालके प्रारम्भमें मनुष्य तिर्यंचोंकी आयु व उत्सेध आदि सुषमादुषमा कालके अन्तवत् होता है, परन्तु काल स्वभावसे वे उत्तरोत्तर बढती जाती है ।१६००। उस समय (कालके अन्तके) नरनारी दो कोस ऊँचे, पूर्ण चन्द्रमाके सदृश मुखवाले विनय एव शीलसे सम्पन्न होते हैं ।१६०१। (म पु /-७६/४९२)

ति प /४/१६०२-१६०५ सुषमासुषमा—तदनन्तर सुषमासुषमा नामक छठा काल प्रविष्ट होता है। उसके प्रवेशमें आयु आदि सुषमाकालके अन्त-वत् होती है ।१६०२। परन्तु काल स्वभावके बलसे आयु आदिक बढती जाती है। उस समय यह पृथिवी उत्तम भोगभूमिके नामसे सुप्रसिद्ध है।१६०३। उस कालके अन्तमें मनुष्योकी ऊँचाई तीन कोस होती है।१६०४। वे बहुत परिवारकी विक्रिया करनेमें समर्थ ऐसी शक्तियोसे सयुक्त होते है। (म पु /७६/४९२)

छह कालोंमे आयु, वर्ण, अवगाहनादिकी वृद्धि व हानिकी सारणी—दे० काल/४/१६

८ छह कालोंका पृथक्-पृथक् प्रमाण

स सि /३/२७/२२३/७ तत्र सुषमसुषमा चतस्र सागरोपमकोटीकोट्य। तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्या। तत क्रमेण हानौ सत्या सुषमा भवति तिस्र सागरोपमकोटीकोट्य। तदादौ मनुष्या हरि-वर्षमनुष्यसमा। तत क्रमेण हानौ सत्या सुषमदुष्षमा भवति द्वे सागरोपमकोटीकोट्यौ। तदादौ मनुष्या हैमवतकमनुष्यसमा। तत क्रमेण हानौ सत्या दुष्षमसुषमा भवति एकसागरोपमकोटीकोटी द्वि-चत्वारिंशद्वर्षसहस्रोना। तदादौ मनुष्या विदेहजनतुल्या भवन्ति। तत क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। तत क्रमेण हानौ सत्यामतिदुष्षमा भवति एकविंशतिवर्षसहस्राणि। एवमुत्सर्पिण्यपि विपरीतक्रमा वेदितव्या। =इसमेंसे सुषमसुषमा चार कोडाकोडी सागरका होता है। इसके प्रारम्भमे मनुष्य उत्तर-कुरुके मनुष्योके समान होते है। फिर क्रमसे हानि होनेपर तीन कोडाकोडी सागर प्रमाण सुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें

मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योके समान होते है। तदनन्तर क्रमसे हानि होनेपर दो कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण सुषमदुष्षमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य हैमवतकके मनुष्योके समान होते है। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरका दुषमसुषमा काल प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भमें मनुष्य विदेह क्षेत्रके मनुष्योके समान होते है। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका दुष्षमा काल प्राप्त होता है। तदनन्तर क्रमसे हानि होकर इक्कीस हजार वर्षका अतिदुषमा काल प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी भी इससे विपरीत क्रमसे जानना चाहिए। (ति प./४/३१७-३१९)

९. अवसर्पिणीके छह भेदोंमें क्रमसे जीवोंकी वृद्धि होती जाती है

ति प /४/१६१२-१६१३ अवसप्पिणीए दुस्समसुसमपवेसस्स पढमसमयम्मि। विगलिंदियउप्पत्ती वड्ढी जीवाण थोवकालम्मि।१६१२। कमसो वड्ढति हु तियकाले मणुवतिरियाणमवि संखा। तत्तो उस्सप्पिणिए तिदए वट्टति पुव्वं वा।१६१३। =अवसर्पिणी कालमें दुष्षमसुषमा कालके प्रारम्भिक प्रथम समयमें थोडे ही समयके भीतर विकलेन्द्रियोकी उत्पत्ति और जीवोकी वृद्धि होने लगती है।१६१२। इस प्रकार क्रमसे तीन कालोमे मनुष्य और तिर्यंच जीवोकी संख्या बढती ही रहती है। फिर इसके पश्चात उत्सर्पिणीके पहले तीन कालोमें भी पहलेके समान ही वे जीव वर्तमान रहते है।१६१३।

१०. उत्सर्पिणीके छह कालोंमें जीवोंकी क्रमिक हानि व कल्पवृक्षोंकी क्रमिक वृद्धि

ति प /४/१६०८-१६११ उस्सप्पिणीए अज्जाखंडे अदिदुस्समस्स पढमखणे। होंति हु णरतिरियाणं जीवा सव्वाणि थोवाणि।१६०८। ततो कमसो वड्ढा मणुवा तेरिच्छसयलवियलक्खा। उप्पज्जंति हु जाव य दुस्समसुसमस्स चरिमो त्ति।१६०९। णासंति एक्कसमए वियलक्खायंगिणिवहकुलभेया। तुरिमस्स पढमसमए कप्पतरूण पि उप्पत्ती।१६१०। पविसंति मणुवतिरिया जेत्तियमेत्ता जहण्णभोगखिदि। तेत्तियमेत्ता होंति हु तक्काले भरहखेत्तम्मि।१६११। =उत्सर्पिणी कालके आर्यखण्डमें अतिदुषमा कालके प्रथम क्षणमें मनुष्य और तिर्यंचोमें-से सब जीव थोडे होते है।१६०८। इसके पश्चात फिर क्रमसे दुष्षमसुषमा कालके अन्त तक बहुतसे मनुष्य और सकलेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय तिर्यंच जीव उत्पन्न होते हैं।१६०९। तत्पश्चात् एक समयमें विकलेन्द्रिय प्राणियोके समूह व कुलभेद नष्ट हो जाते है तथा चतुर्थ कालके प्रथम समयमें कल्पवृक्षोकी भी उत्पत्ति हो जाती है।१६१०। जितने मनुष्य और तिर्यंच जघन्य भोगभूमिमे प्रवेश करते है उतने ही इस कालके भीतर भरतक्षेत्रमे होते है।१६११।

११. युगका प्रारम्भ व उसका क्रम

ति प /१/७० सावणबहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो। अभिजस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं।७०। =श्रावण कृष्णा पडिवाके दिन रुद्र मुहूर्तके रहते हुए सूर्यका शुभ उदय होनेपर अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमे इस युगका प्रारम्भ हुआ, यह स्पष्ट है।

ति प /७/५३०-५४८ आसाढपुण्णिमीए जुगणिप्पत्ती दु सावणे किण्हे। अभिजिम्मि चंदजोगे पाडिवदिवसम्मि पारंभो।५३०। पणवरिसे दुमणीणं दक्खिणुत्तरायणं उसुयं। चय आणेज्जो उस्सप्पिणिपढमआदिचरिमतं।५४७। पल्लस्सासखभागं दक्खिणअयणस्स होदि परिमाण। तेत्तियमेत्त उत्तरअयण उसुप च तद्दुगुणं।५४८। =आषाढ मासकी पूर्णिमाके दिन पाँच वर्ष प्रमाण युगकी पूर्णता और श्रावण-कृष्णा प्रतिपद्के दिन अभिजित् नक्षत्रके साथ चन्द्रमाका योग होनेपर उस युगका प्रारम्भ होता है।५३०।.. इस प्रकार उत्सर्पिणीके प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समय तक पॉच परिमित युगोमें सूर्योंके दक्षिण व उत्तर अयन तथा विषुवोको ले आना चाहिए।५४७। दक्षिण अयनका प्रमाण पल्यका असंख्यातवॉ भाग और इतना ही उत्तर अयनका भी प्रमाण है। विषुपोका प्रमाण इससे दूना है।५४८।

ति. प /४/१५५८-१५६३ पोक्खरमेघा सलिलं वरिसंति दिणाणि सत्त सुहजणणं। वज्जग्गिणिए दड्ढा भूमी सयला वि सीयला होदि।१५५८। वरिसंति खीरमेघा खीरजलं तेत्तियाणि दिवसाणि। खीरजलेहिं भरिदा सच्छाया होदि सा भूमी।१५५९। तत्तो अमिदपयोदा अमिदं वरिसंति सत्तदिवसाणि। अमिदेणं सित्ताए महिए जायंति वल्लिगोम्मादी।१५६०। ताधे रसजलवाहा दिव्वरस पवरिसति सत्तदिणे। दिव्वरसेणाउण्णा रसवंता होंति ते सव्वे।१५६१। विविहरसोसहिभरिदा भूमी सुस्सादपरिणदा होदि। तत्तो सीयलगंधं णादित्ता णिस्सरंति णरतिरिया।१५६२। फलमूलदलप्पहुदिं छुहिदा खादंति मत्तपहुदीणं। णग्गा गोधम्मपरा णरतिरिया वणपएसेसुं।१५६३। =उत्सर्पिणी कालके प्रारम्भमें सात दिन तक पुष्कर मेघ सुखोत्पादक जलको बरसाते है, जिससे वज्राग्निसे जली हुई सम्पूर्ण पृथिवी शीतल हो जाती है।१५५८। क्षीर मेघ उतने ही दिन तक क्षीर जल-वर्षा करते है, इस प्रकार क्षीर जलसे भरी हुई यह पृथिवी उत्तम कान्तिसे युक्त हो जाती है।१५५९। इसके पश्चात् सात दिन तक अमृतमेघ अमृतकी वर्षा करते है। इस प्रकार अमृतसे अभिषिक्त भूमिपर लतागुल्म इत्यादि उगने लगते है।१५६०। उस समय रसमेघ सात दिन तक दिव्य रसकी वर्षा करते है। इस दिव्य रससे परिपूर्ण वे सब रसवाले हो जाते है।१५६१। विविध रसपूर्ण ओषधियोंसे भरी हुई भूमि सुस्वाद परिणत हो जाती है। पश्चात् शीतल गन्धको ग्रहण कर वे मनुष्य और तिर्यंच गुफाओसे बाहर निकलते है।१५६२। उस समय मनुष्य पशुओ जैसा आचरण करते हुए क्षुधित होकर वृक्षोंके फल, मूल व पत्ते आदिको खाते है।१५६३।

१२. हुंडावसर्पिणी कालकी विशेषताएँ

ति प /४/१६१५-१६२३ असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालकी शलाकाओके बीत जानेपर प्रसिद्ध एक हुण्डावसर्पिणी आती है, उसके चिह्न ये है—१ इस हुण्डावसर्पिणी कालके भीतर सुषमदुष्षमा कालकी स्थितिमें से कुछ काल के अवशिष्ट रहनेपर भी वर्षा आदिक पडने लगती है और विकलेन्द्रिय जीवोकी उत्पत्ति होने लगती है।१६१६। २. इसके अतिरिक्त इसी कालमें कल्पवृक्षोका अन्त और कर्मभूमिका व्यापार प्रारम्भ हो जाता है। ३ उस कालमे प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते है।१६१७। ४. चक्रवर्तीका विजय भंग। ५ और थोडेसे जीवोका मोक्ष गमन भी होता है। ६ इसके अतिरिक्त चक्रवर्तीसे की गयी द्विजोके वंशकी उत्पत्ति भी होती है।१६१८। ७ दुष्षमसुषमा कालमे ५८ ही शलाकापुरुष होते है। ८ और नौवे [पन्द्रहवेकी बजाय] से सोलहवे तीर्थंकर तक सात तीर्थोमे धर्मकी व्युच्छित्ति होती है।१६१९। (त्रि,सा /८१४) ९ ग्यारह रुद्र और कलहप्रिय नौ नारद होते है। १० तथा इसके अतिरिक्त सातवें, तेईसवे और अन्तिम तीर्थंकरके उपसर्ग भी होता है।१६२०। ११ तृतीय, चतुर्थ व पचम कालमें उत्तम धर्मको नष्ट करनेवाले विविध प्रकारके दुष्ट पापिष्ठ कुदेव और कुलिगी भी दिखने लगते है। १२ तथा चाण्डाल, शबर, पाण (श्वपच), पुलिंद, लाहल, और किरात इत्यादि जातियॉ उत्पन्न होती है। १३ तथा दुषम कालमे ४२ कल्की व उपकल्की होते है। १४ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूवृद्धि (भूकंप?) और वज्राग्नि आदिका गिरना, इत्यादि विचित्र

भेदोंको लिये हुए नाना प्रकारके दोष इस हुण्डावसर्पिणी कालमें हुआ करते है ।१६२१–१६२३।

ध ३/१,२,१४/९८/४ पउमप्पहभडारओ बहुसीसपरिवारो पुव्विल्लगाहाए वुत्तमज्जाण पमाणं ण पावेति। तदा गाहा ण भद्दिएत्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे—सव्वोसप्पिणीहिंतो अहमा हुडोसप्पिणी। तत्थतण तित्थयरसिस्सपरिवार जुगमाहप्पेण ओहट्टिय डहरभावमापण्ण घेत्तूण ण गाहासुत्त दूसिदुं सक्किज्जदि, सेसोसप्पिणी तित्थयरेसु बहुसीसपरिवारुवलंभादो। =प्रश्न—पद्मप्रभ भट्टारकका शिष्य परिवार (की) संख्या पूर्व गाथामें कहे गये संयतोके प्रमाणको प्राप्त नहीं होती, इसलिए पूर्व गाथा ठीक नहीं ? उत्तर—आगे पूर्वशका का परिहार करते है कि सम्पूर्ण अवसर्पिणियोकी अपेक्षा यह हुडावसर्पिणी है, इसलिए युगके माहात्म्यसे घटकर ह्रस्वभावको प्राप्त हुए हुण्डावसर्पिणी काल सम्बन्धी तीर्थंकरोके शिष्य परिवारको ग्रहण करके गाथा सूत्रको दूषित करना शक्य नहीं है, क्योकि शेष अवसर्पिणियोके तीर्थंकरोंके बडा शिष्य परिवार पाया जाता है।

१३. ये उत्सर्पिणी आदि षट्काल भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें ही होते हैं

त.सू./३/२७-२८ भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।२७। ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता ।२८। =भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्सर्पिणीके और अवसर्पिणीके छह समयोकी अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता रहता है ।२७। भरत और ऐरावतके सिवा शेष भूमियाँ अवस्थित है ।२८।

ति प/४/३१३ भरहक्खेत्तम्मि इमे अज्जाखंडम्मि कालपरिभागा। अवसप्पिणिउस्सप्पिणिपज्जाया दोण्णि होंति पुढ ।३१३। =भरत क्षेत्रके आर्य खण्डोमे ये कालके विभाग हैं। यहाँ पृथक्-पृथक् अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीरूप दोनो ही कालकी पर्यायें होती है।३१३। और भी विशेष—दे० भूमि/१।

१४. मध्यलोकमें सुषमा दुषमा आदि काल विभाग

ति प/४/गा नं भरहक्खेत्तम्मि इमे अज्जाखंडम्मि कालपरिभागा। अवसप्पिणिउस्सप्पिणिपज्जाया दोण्णि होंति पुढ (३१३) दोण्णि वि मिलिदे कप्प छब्भेदा होंति तत्थ एक्केक्क। (३१६) पणमेच्छखयरसेढिसु अवसप्पुस्सप्पिणीए तुरिमम्मि। तदियाए हाणिचयं कमसो पढमादु चरिमोत्ति (१६०७) अवसेसवण्णणाओ सरिसाओ सुसमदुस्समेण पि। णवरि यवट्ठिदरूवं परिहीण हाणिवड्ढीहिं (१७०३) अवसेसवण्णणाओ सुसमस्स व होंति तस्स खेत्तस्स। णवरि य सट्ठिदस्स परिहीण हाणिवड्ढीहिं (१७४४) रम्मकविजओ रम्मो हरिवरिसो व वरवण्णणाजुत्तो। (२३३५) सुसमसुसमम्मि काले जा भणिदावण्णा विचित्तपरा। सा हाणीए विहीणा एदस्सि णिस्सेसेले य (२१४५)। विजओ हेरण्णवदो हेमवदो वण्णवण्णणाजुतो। (२३५०) =भरत क्षेत्रके [वैसे ही ऐरावत क्षेत्रके] आर्यखण्डमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनो ही कालकी पर्याय होती है ।३१३। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें-से प्रत्येकके छह-छह भेद है ।३१६। पाँच म्लेच्छखण्ड और विद्याधरोंकी श्रेणियोंमें अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी कालमें क्रमसे चतुर्थ और तृतीय कालके प्रारम्भसे अन्ततक हानि-वृद्धि होती रहती है। [अर्थात् इन स्थानोमें अवसर्पिणीकालमें चतुर्थकालके प्रारम्भसे अन्ततक हानि और उत्सर्पिणी कालमें तृतीयकालके प्रारम्भसे अन्ततक वृद्धि होती रहती है। यहाँ अन्य कालोंकी प्रवृत्ति नहीं होती।] ।१६०७। इसका (हैमवत क्षेत्र) का शेष वर्णन सुषमदुषमा कालके सदृश है। विशेषता केवल यह है कि यह क्षेत्र हानिवृद्धिसे रहित होता हुआ अवस्थितरूप अर्थात् एकसा रहता है ।१७०३। उस (हरि) क्षेत्रका अवशेष वर्णन सुषमाकालके समान है। विशेष यह है कि वह क्षेत्र हानि-वृद्धिसे रहित होता हुआ सस्थितरूप अर्थात् एक-सा ही रहता है ।१७४४। सुषमसुषमाकालके विषयमें जो विचित्रतर वर्णन किया गया है वही वर्णन हानिसे रहित—देवकुरुमें भी समझना चाहिए ।२१४५। रमणीय रम्यकविजय भी हरिवर्षके समान उत्तम वर्णनोंसे युक्त है ।२३३५। हैरण्यवतक्षेत्र हैमवतक्षेत्रके समान वर्णनसे युक्त है ।२३५०। (त्रि.सा./७७६)

ज. प/२/१६६-१७४ तदिओ दु कालसमओ असंखदीवे य होंति णियमेण। मणुसुत्तरादु परदो णगिंदवरपव्वदो णाम ।१६६। जम्हिहिमवरभूरवणे सयंभुरवणवणस्स दीवमज्झम्मि। भूहरणगिंदपरदो दुस्समकालो समुद्दिट्ठो ।१७४। =मानुषोत्तर पर्वतसे आगे नगेन्द्र (स्वयंप्रभ) पर्वततक असख्यात द्वीपोंमें नियमत तृतीयकालका समय रहता है ।१६६। नगेन्द्र पर्वतके परे स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयभूरमण समुद्रमें दुषमाकाल कहा गया है ।१७४। (कुमानुष द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि है। ज. प/११/५४-५५)

१५. छहों कालोंमें सुख-दुख आदिका सामान्य कथन

ज प/२/१६०-१६१ पढमे विदये तदिये काले जे होंति माणुसा पवरा। ते अवमिच्चुविहूणा एयंतसुहेहिं संजुत्ता ।१६०। चउथे पचमकाले मणुया सुहदुक्खसंजुदा णेया। छट्ठमकाले सव्वे णाणाविहदुक्खसंजुत्ता ।१६१। =प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालोंमें जो श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं वे अपमृत्युसे रहित और एकान्त सुखसे संयुक्त होते हैं ।१६०। चतुर्थ और पचमकालमें मनुष्य सुख-दुखसे संयुक्त तथा छठेकालमें सभी मनुष्य नानाप्रकारके दुखोंसे संयुक्त होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।१६१। और भी—दे० भूमि/१।

१६. चतुर्थकालकी कुछ विशेषताएँ

ज. प./२/१७६-१८५ एदम्मि कालसमये तित्थयरा सयलचक्कवट्टीया। बलदेववासुदेवा पडिसत्तू ताण जायंति ।१७६। रुद्दा य कामदेवा गणहरदेवा य चरमदेहधरा। दुस्समसुसमे काले उप्पत्ती ताण बोद्धव्वा ।१८५। =इस कालके समयमें तीर्थंकर, सकलचक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और उनके प्रतिशत्रु उत्पन्न होते है ।१७६। रुद्र, कामदेव, गणधरदेव, और जो चरमशरीरी मनुष्य हैं, उनकी उत्पत्ति दुषमसुषमा कालमें जाननी चाहिए ।१८५।

१७. पंचमकालकी कुछ विशेषताएँ

म. पु/४१/६३-७६ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवने भरत महाराजको उनके १६ स्वप्नोंका फल दर्शाते हुए यह भविष्यवाणी की—२३वें तीर्थंकरतक मिथ्या मतोंका प्रचार अधिक न होगा ।६३। २४वें तीर्थंकरके कालमें कुलिंगी उत्पन्न हो जायेंगे ।६५। साधु तपश्चरणका भार वहन न कर सकेंगे ।६६। मूल व उत्तरगुणोको भी साधु भग कर देंगे ।६७। मनुष्य दुराचारी हो जायेंगे ।६८। नीच कुलीन राजा होगे ।६९। प्रजा जैनमुनियोको छोडकर अन्य साधुओंके पास धर्म श्रवण करने लगेगी ।७०। व्यन्तर देवोकी उपासनाका प्रचार होगा ।७१। धर्म म्लेक्ष खण्डोंमें रह जायेगा ।७२। ऋद्धिधारी मुनि नहीं होंगे ।७३। मिथ्या ब्राह्मणोंका सत्कार होगा ।७४। तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहरा जा सकेगा ।७५। अवधि व मन पर्यय ज्ञान न होगा ।७६। मुनि एकल विहारी न होंगे ।७७। केवलज्ञान उत्पन्न न होगा ।७८। प्रजा चारित्र-भ्रष्ट हो जायेगी, औषधियोके रस नष्ट हो जायेंगे ।७९।

१८. षट्कालोंमें आयु, आहारादिकी वृद्धि व हानि प्रदर्शक सारणी

प्रमाण – (ति.प./४/गा.); (स.सि./३/२७-३१,३७), (त्रि सा /७८०-७९१,८८१-८८४); (रा.वा./३/२७-३१,३७/१९१-१९२,२०४), (महा.पु./३/२२-५५), (हरि पु /७/६४-७०), (ज.प /२/११२-१५५) संकेत—को को.सा =कोडाकोडी सागर; ज.=जघन्य; उ =उत्कृष्ट; पू.को.=पूर्व कोडि।

	प्रमाण सामान्य		पट्कालो में वृद्धि ह्रास की विशेषताएँ											
विषय	ज प /२/गा	त्रि सा	ति प	सुषमा सुषमा	ति.प	सुषमा	ति.प	सुषमा दुषमा	ति.प.	दुषमा सुषमा	ति.प	दुषमा	ति.प	दुषमा दुषमा
काल प्रमाण	११२-११४		३१६, ३९४	४को को सा.	३१६, ३९५	३को को सा	३१७, ४०३	२को को सा	३१७	१कोको सा से ४२००० वर्ष हीन	३१८	२१००० वर्ष	३१९	२१००० वर्ष
आयु (ज)			६६६	२ पल्य	१६००	१ ल्य	१५९६	१ पू० को०	१५७६	१२० वर्ष	१५६८	२० वर्ष	१५६४	१५-१६ वर्ष
,, (उ)	१२०-१२३ १७८,१८६		३३५	३ पल्य	३९६	२ पल्य	४०४, १५९८	१ पल्य	१२७७, १५६५	१ पू० को.	१४७५	१२० वर्ष	१५३६	२० वर्ष
अवगाहना (ज)			३९६ १६०१	४००० धनुष	१६००	२००० धनुष	१५९७	५०० धनुष	१५७६	७ हाथ	१५६८	३या३½ हाथ	१५६४	१ हाथ
,, (उ.)	१७७,१८६ १२०,१२३		३३५	६००० धनुष	३९६, १६०१	४००० धनुष	४०४, १५९९	२००० धनुष	१२७७, १५६५	५०० धनुष	१४७५	७ हाथ	१५३६	३ या ३½हाथ
आहार प्रमाण	१२०-१२३		३३४	बेर प्रमाण	३९८	बहेडा प्रमाण	४०६	आवलाप्रमाण						
,, अन्तराल	,,	७८५	,,	३ दिन	,,	२ दिन	,,	१ दिन	त्रि.सा.	प्रति दिन	त्रि.सा	अनेक बार	त्रि सा	बारम्बार
विहार			३३६	अभाव	३३६	अभाव	३३६	अभाव						
सस्थान	१५३		३४१	समचतुरस्र	३९८	समचतुरस्र	४०६	समचतुरस्र					१५३६	कुबडे बौने आदि
संहनन	१२४		,,	वज्रऋषभ ना	(ज प)	वज्र ऋषभ	ज प.	वज्र ऋषभ						
हड्डियाँ (शरीरके पृष्ठमें)			३३७	२५६	३९७	१२८	४०५	६४	१२७७, १५७७	४८-२४	१४७५	२४-१२	१५३६	१२
शरीरका रंग		७८४	रा.वा	स्वर्ण वत् सूर्य वत्	रा.वा	शख वत चन्द्र वत्	रा.वा	नील कमल हरित श्याम		पाँचों वर्ण		कान्तिहीन पंचवर्ण		धुँवे वत श्याम
बल	१५५			९००० हाथि- यो का		९०००गज वत्		९०००गज वत						
सयम				अभाव		अभाव		अभाव						
मरण समय	रा वा		→	पुरुषके छींक स्त्रीको जँभाई				←						
अपमृत्यु	हरि पु /३/३१			अभाव		अभाव		अभाव						
मृत्यु पश्चात् शरीर	रा वा		→	कर्पूर वत	उड	जाता है		←						
उपपद	रा वा.		→	(सम्यक्त्व सहित सौधर्म ईशानमें, मिथ्यात्व सहित भवनत्रिकमें)										
भूमि रचना	रा. वा.	८८१		उत्तम भोग		मध्यम भोग	१५९८	जघन्य भोग वकुभोगभूमि		कर्म भूमि		कर्मभूमि		कर्मभूमि
अन्य भूमियों मे काल अवस्थान	ति. प /२/	११६	११८, रा वा	१६६,१७४, ३/२३४-२३५), (त्रि.सा./८८२-८८३); (रा.वा), (गो,जी./५४८) उत्तर कुरु देव कुरु		हरि वर्षक्षेत्र, रम्यक क्षेत्र		हैमवत् क्षेत्र हैरण्यवत क्षेत्र अन्तर्द्वीप व मानुषोत्तरसे स्वयंभूरमण पर्वत तक	ति प/४ १६०७ त्रि सा / ८८३ म.पु/१९/ ९-१० ज प/२/- ११६ हरि पु /- ५/७३०	विदेह क्षेत्र भरतऐरावत के म्लेक्ष खण्ड व विजयार्ध मे विद्याधर श्रेणियाँ स्वयभूरमण पर्वतसे आगे		भरत क्षेत्र ऐरावत क्षेत्र		भरत क्षेत्र ऐरावत क्षेत्र
चतुर्गतिमे कालविभाग	ति प /२/- १७५	८८४		देव गति										नरक गति

त्वके कालमे एक समय अवशिष्ट रहनेपर सासादन गुणस्थानको प्राप्त हुआ।.. एकसमय मात्र सासादन गुणस्थानके साथ दिखाई दिया। (क्योकि जितना काल उपशमका शेष रहे उतना ही सासादनका काल है), दूसरे समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त हो गया। २. एक मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्ध होता हुआ सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ। पुन सर्व लघु अन्तर्मुहूर्त काल रहकर विशुद्ध होता हुआ असयत सहित सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ।.. अथवा सक्लेशको प्राप्त होनेवाला वेदक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त हुआ और वहाँपर सर्वलघु अन्तर्मुहूर्तकाल रह करके अविनष्ट सक्लेशी हुआ ही मिथ्यात्वको चला गया।.. इस तरह दो प्रकारोसे सम्यग् मिथ्यात्वके जघन्यकालकी प्ररूपणा समाप्त हुई। ३. एक अनिवृत्तिकरण उपशामक जीव एकसमय जीवन शेष रहनेपर अपूर्वकरण उपशामक हुआ, एक समय दिखा, और द्वितीय समयमें मरणको प्राप्त हुआ। तथा उत्तम जातिका विमानवासी देव हो गया। नोट—इसी प्रकार अन्य गुणस्थानोंमें भी यथायोग्य रूपसे लागू कर लेना चाहिए।

८. देवगतिमें मिथ्यात्वके उत्कृष्टकाल सम्बन्धी नियम

ध./४/१,५ २९३/४६१/६ 'मिच्छादिट्ठी जदि सुट्ठु महंतं करेदि। तो पलिदोवमस्स असखेज्जदिभागेणब्भधियवेसागरोवमाणि करेदि। सोहम्मे उप्पज्जमाणमिच्छादिट्ठीणं एदम्हादो अहियाउट्ठवणे सत्तीए अभावा। अतोमुहुत्तूणड्ढाइज्जसागरोवमेसु उप्पण्णसम्मादिट्ठिस्स सोहम्मणिवासिस्स मिच्छत्तगमणे सभवाभावो भवणादि-सहस्सार त देवेसु मिच्छाइट्ठिस्स दुविहाउट्ठिदिपरूवण्णा हाणुववत्तीदो। =मिथ्यादृष्टि जीव यदि अच्छी तरह खूब बडी भी स्थिति करे, तो पल्योपमके असंख्यातवें भागसे अभ्यधिक दो सागरोपम करता है, क्योंकि सौधर्म कल्पमें उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोके इस उत्कृष्ट स्थितिसे अधिक आयु की स्थिति स्थापन करनेकी शक्तिका अभाव है। 'अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरोपमकी स्थितिवाले देवोमें उत्पन्न हुए सौधर्म निवासी सम्यग्दृष्टि देवके मिथ्यात्वमें जानेकी सम्भावनाका अभाव है। अन्यथा भवनवासियोसे लेकर सहस्रार तकके देवोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंके दो प्रकारकी आयु स्थितिकी प्ररूपणा हो नहीं सकती थी।

९. इन्द्रिय मार्गणामें उत्कृष्ट भ्रमणकाल प्राप्ति विधि

ध.६/४,१,६६/१२६-१२७/२६५ व इनकी टीकाका भावार्थ—"सौधम्मे माहिंदे पढमपुढवीए होदि चदुगुणिदं। बम्हादि आरणच्चुद पुढवीणं होदि पचगुणं ॥१२६॥ पढमपुढवीए चदुरोपण (पण) सेसासु होंति पुढवीसु। चदु चदु देवेसु भवा बावीस तिं सदपुधत्तं ॥१२७॥"=प्रथम पृथिवीमें ४ बार=१×४=४ सागर, २ से ७ वी पृथिवीमें पाँच-पाँच बार=५×३, ५×७,५×१०,५×१७, ५×२२, ५×३३=१५+३५ ५०+८५+११०+१६५=४६० सागर, सौधर्म व माहेन्द्र युगलोमें चार-चार बार=४×२, ४×७=८+२८=३६ सागर, ब्रह्मसे अच्युत तकके स्वर्गो मे पाँच-पाँच बार=५×१०+५×१४+५×१६+५×१८+५×२०+५×२२=५०+७०+८०+९०+१००+११०=५०० सागर। इन सर्वके ७१ अन्तरालोमें पंचेन्द्रिय भवोकी कुल स्थिति=पूर्व पृथक्त्व है। अत पंचेन्द्रियोमे यह सब मिलकर कुल परिभ्रमण काल पूर्वकोडि पृथक्त्व अधिक १००० सागर प्रमाण है।१२६। अन्य प्रकार प्रथम पृथिवी चार बार=उपरोक्त प्रकार ४ सागर, २-७ पृथिवीमें पाँच-पाँच बार होनेसे उपरोक्त प्रकार ४६० सागर और सौधर्मसे अच्युत युगल पर्यन्त चार-चार बार=उपरोक्तवत ४३६ सागर अन्तरालोके ७१ भवोकी कुल स्थिति पूर्वकोडि पृथक्त्व। इस प्रकार कुल स्थिति पूर्वकोडि पृथक्त्व अधिक ९०० सागर भी है।१२७।

१०. काय मार्गणामें त्रसोंकी उत्कृष्ट भ्रमण प्राप्ति विधि

ध.६/४,१,६६/ १२८-१२९/२९८ व इनकी टीकाका भावार्थ-सोहम्मे माहिंदे पढमपुढवीसु होदि चदुगुणिदं। बम्हादि आरणच्चुद पुढवीण होदि अट्ठगुणं।१२८। गेवज्जेसु य विगुण उवरिम गेवज्ज एगवज्जेसु। दोण्णि सहस्साणि भवे कोडिपुधत्तेण अहियाणि।१२९।"=कल्पोमें सौधर्म माहेन्द्र युगलोंमें चार-चार बार=(४×२)+(४×७)=८+२८=३६ सागर, ब्रह्मसे अच्युत तकके युगलोमे आठ-आठ-बार=८×१०+८×१४+८×१६+८×१८+८×२०+८×२२=८०+११२+१२८+१४४+१६०+१७६=८०० सागर। उपरिम रहित ८ ग्रैवेयकोमें दो-दो बार=२×२१२ (२३+२४+२५+२६+२७+२८+२९+३०=४२४ सागर। प्रथम पृथिवीमे चार बार=४×१=४ सागर। २-७पृथिवियोमे आठ-आठ बार=८×३+८×७+८×१०+८×१७+८×२२+८×३३=२४+५६+८०+१३६+१७६+२६४=७३६ सागर। अन्तरालके त्रस भवोकी कुल स्थिति=पूर्व कोडि पृथक्त्व। कुल काल=२००० सागर+पूर्वकोडि पृथक्त्व।

११. योग मार्गणामें एक जीवापेक्षा जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ध.४/१,५,१६३/४०९/१० "गुणट्ठाणाणि अस्सिदूण एगसमयपरूवणा कीरदे। एत्थ ताव जोगपरावत्ति-गुणपरावत्ति-मरण-वाघादेहि मिच्छत्तगुणट्ठाणस्स एगसमओ परूविज्जदे।" त जधा—१. एक्को सासणो सम्मामिच्छादिट्ठी असजदसम्मादिट्ठी सजदा संजदो पमत्त-सजदो वा मणजोगेण अच्छिदो। एगसमओ मणजोगद्धाए अत्थित्ति मिच्छत्तं गदो। एगसमय मणजोगेण सह मिच्छत्त दिट्ठं। विदियसमए मिच्छादिट्ठी चेव, किन्तु वचिजोगी कायजोगी व जादो। एवं जोगपरिवत्तीए पंचविहा एगसमयपरूवणा कदा। (५ भंग) २. गुणपरावत्तीए एगसमओ वुच्चदे। त जहा-एक्को मिच्छादिट्ठी वचिजोगेण कायजोगेण वा अच्छिदो। तस्स वचिजोगद्धासु कायजोगद्धासु खीणासु मणजोगो आगदो। मणजोगेण सह एगसमय मिच्छत्तं दिट्ठ। विदियसमए वि मणजोगी चेव। किंतु सम्मामिच्छत्त वा असजमेण सह सम्मत्त वा सजमासजमं वा अपमत्तभावेण संजम वा पडिवण्णो। एव गुणपरावत्तीए चउव्विहा एगसमयपरूवणा कदा। (४ भग)। ३ एक्को मिच्छादिट्ठी वचिजोगेण कायजोगेण वा अच्छिदो। तेसिं खएण मणजोगो आगदो। एगसमय मणजोगेण सह मिच्छत्तं दिट्ठं। विदियसमए मदो। जदि तिरिक्खेसु वा मणुसेसु वा उप्पण्णो, तो कम्मइकायजोगी वा जादो। एव मरणेण लद्ध एग भंगे। ४. वाघादेण एक्को मिच्छादिट्ठी वचिजोगेण कायजोगेण वा अच्छिदो। तेसिं वचि-कायजोगाणं खएण तस्स मणजोगो आगदो। एगसमय मणजोगेण मिच्छत्तं दिट्ठ। विदियसमए वाघादिदो कायजोगी जादो। लद्धो एगसमओ। एत्थ उववुज्जती गाहा—गुण-जोग परावत्ती वाघादो मरणमिदि हु चत्तारि। जोगेसु होंति ण वर पच्छिल्लदुगुणका जोगे।३१। नोट—एदम्हि गुणट्ठाणे ट्ठिदजीवा इम गुणट्ठाणं पडिवज्जंति. ण पडिवज्जति त्ति णादूण गुणपडिवण्णा वि इमं गुणट्ठाणं गच्छति, ण गच्छति त्ति चितिय असजद-सम्मादिट्ठि-सजदासंजद-पमत्तसजदाणं च चउव्विहा एगसमय-परूवणा परूविदव्वा। एवमप्पमत्तसजदाण। णवरि वाघादेण विणा तिविधा एगसमयपरूवणा कादव्वा।=मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानको आश्रय करके एक समयकी प्ररूपणा की जाती है—उनमेंसे पहले योग परिवर्तन, गुणस्थान परिवर्तन, मरण और व्याघात, इन चारोके द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थानका एक समय प्ररूपण किया जाता है। वह इस प्रकार है—१ योगपरिवर्तनके पाँच भंग—सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयत सम्यग्दृष्टि, सयतासयत अथवा प्रमत्त

संयत (इन पाँचों) गुणस्थानवर्ती कोई एक जीव मनोयोगके साथ विद्यमान था। मनोयोगके कालमें एक-एक समय अवशिष्ट रहनेपर वह मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ। वहाँपर एक समय मात्र मनोयोगके साथ मिथ्यात्व दिखाई दिया। द्वितीय समयमें वही जीव मिथ्यादृष्टि ही रहा, किन्तु मनोयोगीसे वचनयोगी हो गया अथवा काययोगी हो गया। इस प्रकार योग परिवर्तनके साथ पाँच प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा की गयी। (योग परिवर्तन किये बिना गुणस्थान परिवर्तन सम्भव नहीं है—दे० अन्तर २)। २. गुणस्थान परिवर्तनके चार भग—अब गुणस्थान परिवर्तन द्वारा एक समयकी प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार है—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव वचनयोगसे अथवा काययोगसे विद्यमान था। उनके वचनयोग अथवा काययोगका काल क्षीण होनेपर मनोयोग आ गया और मनोयोगके साथ एक समयमें मिथ्यादृष्टि गोचर हुआ। पश्चात् द्वितीय समयमें भी वह जीव यद्यपि मनोयोगी ही है, किन्तु सम्यग्मिथ्यात्वको अथवा असंयमके साथ सम्यक्त्वको, अथवा संयमासंयमको अथवा अप्रमत्त संयमको प्राप्त हुआ। इस प्रकार गुणस्थान परिवर्तनके द्वारा चार प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा की गयी। (एक विवक्षित गुणस्थानसे अविवक्षित चार गुणस्थानोंमें जानेसे चार भंग)। ३ मरणका एक भग—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव वचन योगसे अथवा काययोगसे विद्यमान था पुन योग सम्बन्धी कालके क्षय हो जानेपर उसके मनोयोग आ गया। तब एक समय मनोयोगके साथ मिथ्यात्व दिखाई दिया और दूसरे समयमें मरा। सो यदि वह तिर्यंचोंमें या मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ तो कार्मण काययोगी अथवा औदारिक मिश्र काययोगी हो गया। अथवा यदि देव और नारकियोंमें उत्पन्न हुआ तो कार्मण काययोगी अथवा वैक्रियक मिश्र काययोगी हो गया। इस प्रकार मरणसे प्राप्त एक भंग हुआ। ४ व्याघातका एक भंग—अब व्याघातसे लब्ध होनेवाले एक भंगकी प्ररूपणा करते हैं—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव वचनयोगसे अथवा काययोगसे विद्यमान था। सो उन वचन अथवा काययोगके क्षय हो जानेपर उसके मनोयोग आ गया तब एक समय मनोयोगके साथ मिथ्यात्व दृष्ट हुआ और दूसरे समय वह व्याघातको प्राप्त होता हुआ काययोगी हो गया, इस प्रकारसे एक समय लब्ध हुआ। भंगोंको यथायोग्य रूपसे लागू करना—इस विषयमें उपर्युक्त गाथा इस प्रकार है—"गुणस्थान परिवर्तन, योगपरिवर्तन, व्याघात और मरण ये चारों बातें योगोंमें अर्थात् तीन योगोंके होनेपर हैं। किन्तु सयोग केवलीके पिछले दो अर्थात् मरण और व्याघात तथा गुणस्थान परिवर्तन नहीं होते।३१।" इस विवक्षित गुणस्थानमें विद्यमान जीव इस अविवक्षित गुणस्थानको प्राप्त होते हैं या नहीं, ऐसा जान करके तथा गुणस्थानोंको प्राप्त जीव भी इस विवक्षित गुणस्थानको जाते हैं अथवा नहीं ऐसा चिन्तवन करके असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्त संयतोंकी चार प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा करना चाहिए। इसी प्रकारसे अप्रमत्त संयतोंकी भी प्ररूपणा होती है, किन्तु विशेष बात यह है कि उनके व्याघातके बिना तीन प्रकारसे एक समयकी प्ररूपणा करनी चाहिए। क्योंकि अप्रमाद और व्याघात इन दोनोंका सहानवस्था लक्षण विरोध है। (अत चारों उपशामकोंमें भी अप्रमत्तवत् ही तीन प्रकार प्ररूपणा करनी चाहिए तथा क्षपकोंमें मरण रहित केवल दो प्रकारसे ही।) ५ भगोंका संक्षेप—(अविवक्षित मिथ्यादृष्टि योग परिवर्तन कर एक समयतक उस योगके साथ रहकर अविवक्षित सम्यग्मिथ्यात्वी, या असंयत-सम्यग्दृष्टि, या संयतासंयत, या अप्रमत्त संयत हो गया। विवक्षित सासादन, या सम्यग्मिथ्यात्व, या असंयत सम्यग्दृष्टि, या संयतासंयत, या प्रमत्तसंयत विवक्षित योग एक समय अवशिष्ट रहनेपर अविवक्षित मिथ्यादृष्टि होकर योग परिवर्तन कर गया। विवक्षित स्थानवर्ती योगपरिवर्तन कर एक समय रहा, पीछे मरण या व्याघात पूर्वक योग परिवर्तन कर गया।)

१२. योग मार्गणामें एक जीवापेक्षा उत्कृष्ट काल प्राप्ति विधि

ध. ७/२,२,९८/१५२/२ अणप्पिदजोगादो अप्पिदजोगं गंतूण उक्कस्सेण तत्थ अंतोमुहुत्तावट्ठाणं पडि विरोहाभावादो।

ध. ७/२,२,१०४/१५०/७ बावीसवाससहस्साउअपुढवीकाइएसु उप्पज्जिय सव्वजहण्णेण कालेण ओरालियमिस्सद्धं गमिय पज्जत्तिगदपढमसमयप्पहुडि जाव अंतोमुहुत्तूणबावीसवाससहस्साणि ताव ओरालियकायजोगुवलंभादो।

ध. ७/२,२,१०५/१५४/६ मणजोगादो वचिजोगादो वा वेउव्विय-आहारकायजोगं गंतूण सव्वुक्कस्सं अंतोमुहुत्तमच्छिय अण्णजोगं गदस्स अंतोमुहुत्तमेत्तकालुवलंभादो, अणप्पिदजोगादो ओरालियमिस्सजोगं गंतूण सव्वुक्कस्सकालमच्छिय अण्णजोगं गदस्स ओरालियमिस्सस्स अंतोमुहुत्तमेत्तुक्कस्सकालुवलंभादो। = १ (मनोयोगी तथा वचनयोगी) अविवक्षित योगसे विवक्षित योगको प्राप्त होकर उत्कर्षसे वहाँ अन्तर्मुहूर्त तक अवस्थान होनेमें कोई विरोध नहीं है। २ (अधिक से अधिक बाईस हजार वर्ष तक जीव औदारिक काययोगी रहता है। (प ख./ ७/२,२/सू. १०५/१५३) क्योंकि, बाईस हजार वर्षकी आयु वाले पृथिवीकायिकोंमें उत्पन्न होकर सर्व जघन्य कालसे औदारिकमिश्र कालको बिताकर पर्याप्तिको प्राप्त होनेके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तकम बाईस हजार वर्ष तक औदारिक काययोग पाया जाता है। ३. मनोयोग अथवा वचनयोगसे वैक्रियक या आहारककाययोगको प्राप्त होकर सर्वोत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल तक रह कर अन्य योगको प्राप्त हुए जीवके अन्तर्मुहूर्त मात्र काल पाया जाता है, तथा अविवक्षित योगसे औदारिकमिश्रयोगको प्राप्त होकर व सर्वोत्कृष्ट काल तक रहकर अन्य योगको प्राप्त हुए जीवके औदारिकमिश्रका अन्तर्मुहूर्त मात्र उत्कृष्ट काल पाया जाता है।

१३. वेद मार्गणामें स्त्रीवेदियोंकी उत्कृष्ट भ्रमणकाल प्राप्ति विधि

ध ९/४,१,६६/१३०-१३१/३०० सोहम्मे सत्तगुणं तिगुणं जाव दु सहस्सकप्पो त्ति। सेसेसु भवे विगुणं जाव दु आरणच्चुदो कप्पो।१३०। पणगादी दोहि जुदा सत्तावीसा ति पल्लदेवीणं। तत्तो सत्तुत्तरियं जाव दु आरणच्चुओ कप्पो।१३१। = सौधर्ममें सात बार = ७×५ पल्य। ईशानसे महाशुक्र तक तीन तीन बार = ३ (७+९+११+१३+१५+१७+१९+२१+२३) = २१+२७+३३+३९+४५+५१+५७+६३+६९ = ४०५ पल्य। शतारसे अच्युत तक दो दो बार = २ (२५+२७+३४+४१+४८+५५) = ५०+५४+६८+८२+९६+११० = ४६० पल्य।

अन्तरालोंके स्त्री भवोंकी स्थिति = १ कुल काल ९०० पल्य + १

१४. वेद मार्गणामें पुरुषवेदियोंकी उत्कृष्ट भ्रमण काल प्राप्ति विधि

ध ९/४,१,६६/१३२/३०० पुरिसेसु सदपुधत्तं असुरकुमारेसु होदि तिगुणेण। तिगुणे णवगेवज्जे सग्गठिदी छग्गुणं होदि।१३२। = असुरकुमारमें ३ बार = ३×१ = ३ सागर। नव ग्रैवेयकोंमें तीन बार = ३ (२४+२७+३०) = ७२+८१+९० = २४३ सागर। आठ कल्प युगलों अर्थात् १६ स्वर्गोंमें छ छ बार = ६ (२+७+१०+१४+१६+१८+२०+२२) = १२+४२+६०+८४+९६+१०८+१२०+१३२ = ६५४ सागर। अन्तरालोंके भवोंकी कुल स्थिति = १। कुल काल = ९०० सागर + १।

१५. कषाय मार्गणामें एक जीवापेक्षा जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ष. खं./७/२,२/सू. १२६/१६० जहण्णेण एयसमओ ।१२६।

ध. ७/२,२,१२६/१६०/१० कोधस्स वाघादेण एगसमओ णत्थि, वाघादिदे वि कोधस्सेव समुप्पत्तीदो। एवं सेसतिण्ह कसायाणं पि एगसमयपरूवणा कायव्वा। णवरि एदेसिं तिण्ह कसायाण वाघादेण वि एगसमयपरूवणा कायव्वा।=कमसे कम एक समयतक जीव क्रोध कषायी आदि रहता है (योगमार्गणावत् यहाँ भी योग परिवर्तनके पाँच, गुणस्थान परिवर्तनके चार, मरणका एक तथा व्याघातका एक इस प्रकार चारोंके ११ भंग यथायोग्यरूपसे लागू करना। विशेष इतना कि क्रोधके व्याघातसे एक समय नहीं पाया जाता, क्योंकि व्याघातको प्राप्त होनेपर भी पुनः क्रोधकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शेष तीन कषायोंके भी एक समयकी प्ररूपणा करना चाहिए (विशेष इतना है कि इन तीन कषायोंके व्याघातसे भी एक समयकी प्ररूपणा करना चाहिए।

क. पा. १/§३६८/चूर्ण सू /३८५ दोसो केवचिरं कालादो होदि। जहण्णुक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं।

क. पा १/§३६९-३८५/१० कुदो। मुदे वाघादिदे वि कोहमाणाणं अंतोमुहुत्तं मोत्तूण एग-दोसमयादीणमणुवलंभादो। जीवट्ठाणे एगसमओ कालम्मि परूविदो, सोकधमेदेण सह ण विरुज्झदे, ण, तस्स अण्णाइरियउवएसत्तादो। कोहमाणाणमेगसमयमुदओ होदूण विदियसमयकिण्ण फिट्टदे। ण, साहावियादो।=प्रश्न—दोष कितने कालतक रहता है? उत्तर—जघन्य और उत्कृष्ट रूपसे दोष अन्तर्मुहूर्त कालतक रहता है। प्रश्न—जघन्य और उत्कृष्टरूपसे भी दोष अन्तर्मुहूर्त कालतक ही क्यों रहता है? उत्तर—क्योंकि जीवके मर जानेपर या बीचमें किसी प्रकारकी रुकावटके आ जानेपर भी क्रोध और मानका काल अन्तर्मुहूर्त छोड़कर एक समय, दो समय, आदि रूप नहीं पाया जाता है। अर्थात् किसी भी अवस्थामें दोष अन्तर्मुहूर्तसे कम समयतक नहीं रह सकता। प्रश्न—जीवस्थानमें कालानुयोगद्वारका वर्णन करते समय क्रोधादिकका काल एक समय भी कहा है, अतः वह कथन इस कथनके साथ विरोधको क्यों प्राप्त नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जीवस्थानमें क्रोधादिकका काल जो एक समय कहा है वह अन्य आचार्यके उपदेशानुसार कहा है। प्रश्न—क्रोध और मानका उदय एक समयतक रहकर दूसरे समयमें नष्ट क्यों नहीं हो जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुहूर्ततक रहना उसका स्वभाव है।

१६. लेश्या मार्गणामें एक जीवापेक्षा एक समय जघन्यकाल प्राप्ति विधि

ध ४/१,५,२९६/४६६-४७५ का भावार्थ (योग मार्गणावत् यहाँ भी लेश्या परिवर्तनके पाँच, गुणस्थान परिवर्तनके चार, मरणका एक और व्याघातका एक इस प्रकार चारोंके ११ भंग यथायोग्य रूपसे लागू करना। विशेष इतना कि वृद्धिगत गुणस्थान लेश्याको भी वृद्धिगत और हीयमान गुणस्थानोंके साथ लेश्याको भी हीयमान रूप परिवर्तन कराना चाहिए। परन्तु यह सब केवल शुभ लेश्याओंके साथ लागू होता है, क्योंकि अशुभ लेश्याओंका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है।

ध. ४/१,५,२९७/४६७/३ एगो मिच्छादिट्ठी असंजदसम्मादिट्ठी वा वड्ढमाणपम्मलेस्सिओ पम्मलेस्सद्धाए एगो समओ अत्थि त्ति संजमासंजमं पडिवण्णो। विदिएसमए संजमासंजमेण सह सुक्कलेस्सं गदो। एसा लेस्सापरावत्ती (३)। अधवा वड्ढमाणतेउलेस्सिओ संजदासंजदो तेउलेस्सद्धाए खएण पम्मलेस्सिओ जादो। एगसमय पम्मलेस्साए सह संजमासंजम दिट्ठं, विदियसमए अप्पमत्तो जादो। एसा गुणपरावत्ती। अधवा संजदासंजदो हीयमाणसुक्कलेस्सिओ सुक्कलेस्सद्धाखएण पम्मलेस्सिओ जादो। विदियसमए पम्मलेस्सिओ चेव, किंतु असंजदसम्मादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी सासणसम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी वा जादो। एसा गुणपरावत्ती (४)।

ध. ४/१,५,३०७/४७५/१ (एक्को) अप्पमत्तो हीयमाणसुक्कलेस्सिगो सुक्कलेस्सद्धाए सह पमत्तो जादो। विदियसमये मदो देवत्तं गदो (३)। =१. वर्धमान पद्मलेश्यावाला कोई एक मिथ्यादृष्टि अथवा असंयतसम्यग्दृष्टि जीव, पद्मलेश्याके कालमें एक समय अवशेष रहनेपर संयमासंयमको प्राप्त हुआ। द्वितीय समयमें संयमासंयमके साथ ही शुक्ललेश्याको प्राप्त हुआ। यह लेश्या परिवर्तन सम्बन्धी एक समयकी प्ररूपणा हुई। अथवा, वर्धमान तेजोलेश्यावाला कोई संयतासंयत तेजोलेश्याके कालके क्षय हो जानेसे पद्मलेश्यावाला हो गया। एक समय पद्मलेश्याके साथ संयमासंयम दृष्टिगोचर हुआ। और वह द्वितीय समयमें अप्रमत्तसंयत हो गया। यह गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा एक समयकी प्ररूपणा हुई। अथवा, हीयमान शुक्ललेश्यावाला कोई संयतासंयत जीव शुक्ललेश्याके कालके पूरे हो जानेपर पद्मलेश्यावाला हो गया। द्वितीय समयमें वह पद्मलेश्यावाला ही है, किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टि, अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अथवा सासादन सम्यग्दृष्टि, अथवा मिथ्यादृष्टि हो गया। यह गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा एक समयकी प्ररूपणा हुई (४)। २. हीयमान शुक्ललेश्यावाला कोई अप्रमत्तसंयत, शुक्ललेश्याके ही कालके साथ प्रमत्तसंयत हो गया, पुन दूसरे समयमें मरा और देवत्वको प्राप्त हुआ। (यह मरणकी अपेक्षा एक समयकी प्ररूपणा हुई।) नोट—इस प्रकार यथायोग्यरूपसे सर्वत्र लागू कर लेना।

१७. लेश्या मार्गणामें एक जीवापेक्षा अन्तर्मुहूर्त जघन्यकाल भी है

यह काल अशुभलेश्याकी अपेक्षा है—क्योंकि—

ध. ४/१,५,२८४/४५६/१२ एत्थ (असुहलेस्साए) जोगस्सेव एगसमओ जहण्णकालो किण्ण लब्भदे। ण, जोगकसायाणं व लेस्साए तिस्सा

परावत्तीए गुणपरावत्तीए मरणेण वाघादेण वा एगसमयकालस्सा-संभवा। ण ताव लेस्सापरावत्तीए एगसमओ लब्भदि, अप्पिदलेस्साए परिणमिदबिदियसमए तिस्से विणासाभावा, गुणंतरं गदस्स बिदिय-समए लेस्संतरगमणाभावादो च। ण गुणपरावत्तीए, अप्पिदलेस्साए परिणदबिदियसमए गुणंतरगमणाभावा। ण च वाघादेण, तिस्से वाघा-दाभावा। ण च मरणेण, अप्पिदलेस्साए परिणदबिदियसमए मरणा-भावा। =प्रश्न—यहाँपर (तीनों अशुभ लेश्याओंके प्रकरणमें) योग-परावर्तनके समान एक समय रूप जघन्यकाल क्यों नहीं पाया जाता है? उत्तर—नहीं। क्योंकि, योग और कषायोंके समान लेश्यामें—लेश्याका परिवर्तन, अथवा गुणस्थानका परिवर्तन, अथवा मरण और व्याघातसे एक समयकालका पाया जाना असम्भव है। इसका कारण यह कि न तो लेश्या परिवर्तनके द्वारा एक समय पाया जाता है, क्योंकि विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीवके द्वितीय समयमें उस लेश्याके विनाशका अभाव है। तथा इसी प्रकारसे अन्य गुणस्थानको गये हुए जीवके द्वितीय समयमें अन्य लेश्याओंमें जानेका भी अभाव है। न गुणस्थान परिवर्तनकी अपेक्षा एक समय सम्भव है, क्योंकि विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीवके द्वितीय समयमें अन्य गुणस्थान-के गमनका अभाव है। न व्याघातकी अपेक्षा ही एक समय सम्भव है, क्योंकि, वर्तमान लेश्याके व्याघातका अभाव है। और न मरणकी अपेक्षा ही एक समय सम्भव है, क्योंकि, विवक्षित लेश्यासे परिणत हुए जीवके द्वितीय समयमें मरणका अभाव है। (ध ४/१,५,२६६/४६८/६)

१८. लेश्या परिवर्तन क्रम सम्बन्धी नियम

ध. ४/१,५,२८४/४५६/३ किण्हलेस्साए परिणदस्स जीवस्स अणंतरमेव काउलेस्सापरिणमणसत्तीए असंभवा।

ध. ८/३,२,५८/३२२/७ सुक्कलेस्साए ट्ठिदो पम्म-तेउ-काउणीललेस्सासु परिणमीय पच्छा किण्णलेस्सापज्जाएण परिणमणब्भुवगमादो। =कृष्ण लेश्या परिणत जीवके तदनन्तर ही कापोत लेश्यारूप परिणमन शक्तिका होना असम्भव है। शुक्ललेश्यासे क्रमशः पद्म, पीत, कापोत और नील लेश्याओंमें परिणमन करके पीछे कृष्ण लेश्या पर्यायसे परिणमन स्वीकार किया गया है।

१९. वेदक सम्यक्त्वका ६६ सागर उत्कृष्टकाल प्राप्ति विधि

ध. ७/२,२,१४१/१६४/११ देवस्स णेरइयस्स वा पढिवण्णउवसमसम्मत्तेण सह समुप्पण्णमदि-सुद-ओहि-णाणस्स वेदगसम्मत्तं पडिवज्जिय अविणट्ठतिणाणेहि अंतोमुहुत्तमच्छिय एदेणंतोमुहुत्तेणूणपुव्वकोडाउअमणुस्सेसुववज्जिय पुणो वीसंसागरोवमिएसु देवेसुववज्जिय पुणो पुव्व कोडाउएसु मणुस्सेसुववज्जिय बावीससागरोवमट्ठिदीएसु देवेसुव-वज्जिदूण पुणो पुव्वकोडाउएसु मणुस्सेसुववज्जिय खइयं पट्ठविय चउवीससागरोवमाउट्ठिदिएसु देवेसुववज्जिदूण पुणो पुव्वकोडाउएसु मणुस्सेसुववज्जिय थोवावसेसे जीविए केवलणाणी होदूण अबंधगत्तं गदस्स चदुहि पुव्वकोडीहि सादिरेयछावट्ठिसागरोवमाणमुवलं-भादो। =देव अथवा नारकीके प्राप्त हुए उपशम सम्यक्त्वके साथ मति, श्रुत व अवधि ज्ञानको उत्पन्न करके, वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त कर, अनिष्ट तीनों ज्ञानोंके साथ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहकर, इस अन्तर्मुहूर्तसे हीन पूर्व कोटि आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होकर, पुनः बीस सागरोपम प्रमाण आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होकर, पुनः बाईस सागरोपम आयुवाले देवोंमें उत्पन्न होकर, पुन पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होकर, क्षायिक सम्यक्त्वका प्रारम्भ करके, चौबीस सागरोपम आयुवाले देवोंमें उत्पन्न होकर, पुन पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होकर, जीवितके थोड़ा शेष रहनेपर केवलज्ञानी होकर अबन्धक अवस्थाको प्राप्त होनेपर चार पूर्वकोटियोंसे अधिक छयासठ सागरोपम पाये जाते हैं।

६ कालानुयोग विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका परिचय

अप०	लब्ध्यपर्याप्त	को० पू०	क्रोड पूर्व
अव०	अवसर्पिणी	पू० को०	पूर्व क्रोड
असं०	असंख्यात	१,२,३,४	वह वह गुणस्थान
उत०	उत्सर्पिणी	२८ ज०	२८ प्रकृतियोंकी सत्ता वाला कोई मिथ्या-दृष्टि या वेदक सम्यग्-दृष्टि जीव सामान्य
उप०	उपशम		
तिर्य०	तिर्यञ्च		
प०	पर्याप्त		
पल्य/असं०	पल्यका असंख्यातवाँ भाग	पूर्व	७०५६०००००००००० वर्ष
पृ०	पृथिवी	अन्तर्मु०	अन्तर्मुहूर्त
मनु०	मनुष्य	को.को.सा.	कोडाकोडी सागर
मिथ्या०	मिथ्यात्व	ज०	जघन्य
सम्य०	सम्यक्त्व	उ०	उत्कृष्ट
सा०	सागर		

२. जीवोंकी कालविषयक ओघप्ररूपणा

प्रमाण— १ (प ख. ४/१,५,२-३२/३२३-३५७), (गो.जी./भाषा/१४५/३५९/१)
संकेत—दे० काली (६/१ कुछ नियम), काल विशेषोको निकालनेका स्पष्ट प्रदर्शन—दे० काल/५ सम्बन्धी कुछ नियम)

गुण स्थान	प्रमाण नं० १/सू.	नाना जीवापेक्षया				एक जीवापेक्षया			
		जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
१	२-४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	अन्तर्मुहूर्त	३, ४, ५ या ६ठें स्थानसे गिरे, मिथ्यात्व हो, पुन ३, ४, ५ या ६ठे को प्राप्त हो	अर्धपुद्गल परिवर्तन	अनादि मिथ्यात्वी सर्वप्रथम सम्यक्त्व पाकर गिरे।
२	५-८	एक समय	२ या ३रेके १ समय स्थितिवाले सर्वजीव एकदम सासादन पूर्वक मिथ्यात्वको प्राप्त हो जायें।	पल्य/असं	६ आवली स्थितिवाले २, ३ या ४थे स्थानवाले जीवोंका प्रवेश क्रम न टूटे	१ समय	उपशम सम्यक्त्व में एक समय शेष रहनेपर सासादनको प्राप्त हो	६ आवली	उपशम सम्यक्त्व में ६ आवली शेष रहने पर सासादनको प्राप्त हो
३	९-१२	अन्तर्मुहूर्त	२८/ज वाले ७ या ८ जीव १,४,५ या छठे से युगपत् गिरे	,,	प्रवेश क्रम न टूटे	अन्तर्मुहूर्त	मिथ्यात्वसे चढकर ३रे को प्राप्त/गिरनेवाले की अपेक्षासे नही।	अन्तर्मुहूर्त	चढने व गिरने वाले दोनोकी अपेक्षा
४	१३-१५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	,,	२८/ज वाला १,३,५ या ६ठे स्थान से गिरने व चढने दोनोंकी अपेक्षा	३३ सागर+१ कोडपूर्व	५वाँ, ६ठा स्थानधारी या उपशम सम्यक्त्वी मनुष्य अनुत्तर विमानो १ समय कम ३३ सागर रहकर पूर्वकोड आयु वाला मनुष्य हो सयम धरे।
५	१६-१८	,,	,,	,,	,,	,,	२८/ज वाला १,४ या ६ठे स्थानसे अवरोहण या आरोहण करनेकी अपेक्षा। आरोहण करे तो १ या ४थे से ५वे पूर्वक ७वेको प्राप्त हो ६ठे को नहीं।	१ कोडपूर्व-अन्तर्मुहूर्त	सम्मूर्छिम संज्ञी पर्याप्त तिर्यंच, मच्छ, मेंढक आदिक भवके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् संयतासयत हो।
६	१९-२१	,,	,,	,,	,,	१ समय	६ठे ७वें में परस्पर आरोहण व अवरोहण करता १ समय गुणस्थान विशेषमें रहकर मरे	अन्तर्मुहूर्त	सर्वोत्कृष्ट कालपर्यन्त प्रमत्त रहकर मिथ्यात्वी होनेवाले की अपेक्षा
७	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	उपरोक्तवत पर अप्रमत्तसे मिथ्यात्वी होने वाला
८-११									

गुण स्थान	प्रमाण नं० १/सू.	नाना जीवापेक्षया जघन्य	नाना जीवापेक्षया विशेष	नाना जीवापेक्षया उत्कृष्ट	नाना जीवापेक्षया विशेष	एक जीवापेक्षया जघन्य	एक जीवापेक्षया विशेष	एक जीवापेक्षया उत्कृष्ट	एक जीवापेक्षया विशेष
उपशामकः	२२-२१	१ समय	२ या ३ अवरोहक-उपशामक ९ वें से ८वे में आ १ समय पश्चात् युगपत् मरे। ९वें व १०वें में भी उपरोक्तवत् पर अवरोहण व आरोहण दोनोंकी अपेक्षा। ११वे मे केवल आरोहणकी अपेक्षा	अन्तर्मुहूर्त	७,८ या ५४ तक जीव ८वे ९वे १०वे स्थानोंमे परस्पर अवरोहण व आरोहण करे। ११वे में केवल आरोहण करके गुणस्थान बदले। फिर अवश्य विरह होता है।	१ समय	१ समय जीवन शेष रहनेपर ९वें से ८वेमें या ८वें से ९वे में, १०वे से ९वें में वा ९वे से १०वेमे' ११वे से १०वें में या १०वे से ११वे में आ १ समय पश्चात् मरे।	अन्तर्मुहूर्त	७वे से ८वे मे व ९वे मे से ८वे मे तथा इसी प्रकार सर्वत्र आरोहण या अवरोहण द्वारा प्रवेश कर अन्तर्मुहूर्त रह गुणस्थान परिवर्तन करे।
८-१२ क्षपक	२६-२९	अन्तर्मुहूर्त	७,८ या १०८ जीव ७वे स्थानसे क्षपक श्रेणी चढ क्रमेण युगपत अयोगी स्थानको प्राप्त	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्	अन्तर्मुहूर्त	७वे स्थानसे क्षपक श्रेणी चढ क्रमेण स्थानको प्राप्त हुआ	,,	जघन्यवत्
१३	३०-३२	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	,,	१२वे से १३ में आ समुद्घात कर अयोगी स्थानको प्राप्त हुआ	१ कोड पूर्व— (७ वर्ष व ७ अन्तर्मुहूर्त)	१ पूर्वकोडकी आयुवाला मनुष्य ७ मास गर्भ मे रहा, ८ वर्ष आयुपर दीक्षा ले अप्रमत्त हुआ। ७ अन्तर्मुहूर्तोंमे क्रमसे सर्व गुणस्थानोको पार कर सयोगी स्थानको प्राप्त हुआ। शेष आयु पर्यन्त वहाँ रहा। अन्त में अयोगी हुआ।
१४ उपसर्ग-केवली १३-१४	२६-२९	अन्तर्मुहूर्त	उपरोक्त क्षपकोवत्	अन्तर्मुहूर्त	उपरोक्त क्षपकवत्	अन्तर्मुहूर्त ,,	उपरोक्त क्षपकोवत् (क० पा/पु १/पृ० ३४२)	अन्तर्मुहूर्त ,,	उपरोक्त क्षपकोवत् (क पा./पु २/पृ० ३६०)

३. जीवों के अवस्थान काल विषयक सामान्य व विशेष आदेश प्ररूपणा

प्रमाण—१. (प ख ४/१,५,३३-३४२/३५७-४८८); २ (प.ख /२,८,१-५५/पु ७/पृ ४६२-४७७), ३ (प ख.७/२,२,१-२१६/११४-१८५)

संकेत—दे० काल/६/१

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया						एक जीवापेक्षया					
		प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू	सू					सू	सू.	सू.			
१ गतिमार्गणा नरक गति—													
नरकगतिसामान्य	.		२	सर्वदा	प्रवेशान्तर काल से अवस्थान काल अधिक है	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२-३	१०००० वर्ष		३३ सागर	
१ली पृथिवी	.		”	”		”	”		५-६	”		१ सागर	
२-७ ”	...		”	”		”	”		८-९	१-२२ सागर	क्रमश १,३,७,१०,२२ सागर	३-३३ सागर	क्रमश ३,७,१०,१७,२२,३३ सागर
नरक सामान्य	१	३३		”	विच्छेदाभाव	”	”	३४-३५		अन्तर्मु०	२९/ज ३ या ४थे से गिरकर पुन. चढे	३३ सागर	७वे नरकको पूर्ण आयु मिथ्यात्व सहित बीते
	२-३	३६			मूलोघवत्		मूलोघवत्	३६			मूलोघवत्		मूलोघवत्
	४	३७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३८-३९		”	२८/ज १ले ३रे से ४थेमे जा पुनः गिरे	३३ सागर—६ अन्तर्मु०	७वे नरकमें उत्पन्न २९/ज.मिथ्यादृ पर्याप्तिपूर्णकर वेदकसम्यक्त्वी हो अन्तर्मु आयु शेष रहनेपर पुन. मिथ्यात्वी हुआ
१-७ पृथिवी	१	४०		”	”	”	”	४१-४२		”	नरक सामान्यवत्	क्रमश १,३,७ १० १७,२२,३३सागर	नरक सामान्यवत्
	२-३	४३			मूलोघवत्			४३			मूलोघवत्		
	४	४४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	४५-४६		अन्तर्मु०	नरक सामान्यवत्	क्रमश १,३,७,१०, १७सा २२सा ३अ, ३३सा –६अन्तर्मु०	नरक सामान्यवत् पूर्ण स्थितिसे पर्याप्तिकाल व अन्तिम अन्तर्मुहूर्त हीन)।
२. तिर्यंचगति													
तिर्यंच सामान्य	.		४-५	सर्वदा	प्रवेशान्तर काल से अवस्थानकाल अधिक है	सर्वदा	विच्छेदाभाव		११-१२	१ क्षुद्रभव	मनुष्यसे आकर कर्मभूमिमे उपजे तो	असं. पु परि.	अन्य गतियोसे आकर कर्मभूमिज तिर्यंचोमें परिभ्रमण
पंचेन्द्रिय सामा.	.		”	”		”	”		१४-१५	”	अपर्याप्तकको अपेक्षा	३पल्य+९५को पृ	परिभ्र केपश्चा, उत्तमभोगभू. में देव हुआ
” पर्याप्त०	...		”			”	”			अन्तर्मु०	पर्याप्तक की अपेक्षा	३पल्य+४७को. पृ	”
” योनिगति	. .		”	”	”	”	”		”	”	”	३पल्य+१५को. पृ	”
” नपुसकवेदी	. .		”	”	..	. .	.		”	.	.	८ कोड पूर्व	परिभ्रमण (कर्मभूमिमे)
” लब्ध्यपर्याप्त	.		”	सर्वदा	तिर्यं० सा०वत्	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१७-१८	क्षुद्रभव	अविवक्षि तिर्यं पर्या से आना	अन्तर्मुहूर्त	अविवक्षि, तिर्यं से आकर पचे. होना
तिर्यंच सामान्य	१	४७		”	विच्छेदाभाव	”	”	४८-४९		अन्तर्मु०	२९/ज. ३,४,५वेसे १ला हो पुन ऊपर चढे	असं.पुद्गलपरिव.	अनादि मिथ्यादृष्टि तिर्यंचोमे उपज वहाँ इतने काल पर्यंत परिभ्रमण कर अन्य गतिको प्राप्त हुआ

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया प्रमाण नं. १	नं. २	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एक जीवापेक्षया प्रमाण नं. १	नं. २	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू.	सू.					सू.	सू.				
	२-३ ४ ५	५० ५१ ५४		सर्वदा "	मूलोघवत् निच्छेदाभाव "	सर्वदा "	निच्छेदाभाव "	५० ५२-५३ ५५-५६		अन्तर्मु० "	मूलोघवत् १,३,५मेंसे ४थेमें आ पुन. लौटे उपरोक्तवत् पर २८/ज. की अपेक्षा	३ पल्य १को.पू.-३अन्तर्मु	मद्वागुणक्षा.सम्य. भोगभूमि. तिर्यं हुआ २८/ज. सम्मूर्छिम पर्याप्त मत्स्यमेंढक आदिकमें ३अन्तमें पर्याप्तिपूर्ण कर संयतासंय. हो भवके अन्त तक रहा
पंचेन्द्रिय सामान्य	१	५७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	निच्छेदाभाव	५८-५९		अन्तर्मु	तिर्यंच सामान्यवत्	३ पल्य+६५को. पू. । अन्तर्मुहूर्त	संज्ञी, असंज्ञी व तीनों वेद इन स्थानोंमेंसे प्रत्येकमें ८को०पू०=४८ को०पू०; ल०अप०में अन्तर्मु०, पुनः उपरोक्तवत् ३ वेदोंमें ४७को० पू०, फिर भोगभूमिमें उपजा
	२ ३ ४	६० ६१		सर्वदा	मूलोघवत् निच्छेदाभाव	सर्वदा	निच्छेदाभाव	६० ६२-६३		अन्तर्मु	मूलोघवत् तिर्यंच सामान्यवत्	३ पल्य	तिर्यंच सामान्यवत्
पंचेन्द्रिय पर्याप्त	५ १	६४ ५७			मूलोघवत् पंचेन्द्रिय सामान्यवत्			६४ ५८-५९			मूलोघवत् पंचेन्द्रिय सामान्यवत्	३पल्य+४७को.पू	सविशेष पंचेन्द्रिय सामान्यवत्
	२-३ ४-५	६० ६१-६४			मूलोघवत् पंचेन्द्रिय सामान्यवत्			६० ६१-६४			मूलोघवत् पंचेन्द्रिय सामान्यवत्		"
पंचेन्द्रिय योनिमति	१ २-३ ४	५७ ६० ६१			" " "			५८-५९ ६० ६२-६३			पंचेन्द्रिय सामान्यवत् पंचेन्द्रिय सामान्यवत् "	३पल्य+१५को.पू ३पल्य-२मास व मुहूर्त पृथक्त्व	सविशेष पंचेन्द्रिय सामान्य वत् २८/ज. मिथ्यात्वी भोगभूमिज तिर्यं.-में उपजा/२ मास गर्भमें बीते/जन्म के मुहू. पृथक्त्व पश्चात् वेद. सम्य.
पं. त. अप	५ १	६४ ६५		सर्वदा	" निच्छेदाभाव	सर्वदा	निच्छेदाभाव	६४ ६६-६७		क्षुद्रभव	पंचेन्द्रिय सामान्य वत् अनिव हि. पर्या. से आ पुनः लौटे	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
३. मनुष्यगति— मनुष्य सामान्य	...		४-५	सर्वदा	निच्छेदाभाव	सर्वदा	निच्छेदाभाव		२०-२१	क्षुद्रभव	अपर्याप्त की अपेक्षा	३पल्य+४०को.पू	कर्मभूमिजमें भ्रमणकाल ४०को०पू./ फिर भोगभूमिज
" पर्याप्त	...		"	"	"	"	"		"	अन्तर्मु.	पर्याप्त होकर इससे कालसे पहले न मरे	" +२३को.पू	कर्मभूमिजमें भ्रमणकाल २३को०पू./ फिर भोगभूमिज
मनुष्यणी प.	...		"	"	"	"	"		"	"	पर्याप्त होकर इससे कालसे पहले न मरे	" +७को. पू.	कर्मभूमिजमें भ्रमणकाल ७ को०पू./ फिर भोगभूमिज
मनुष्य ल. अप.	...		६-८	क्षुद्रभव	...	पल्य/ असं.	संतान क्रम		२२-२४	क्षुद्रभव	कदली घातसे मरण कर पर्याय परिवर्तन	अन्तर्मुहूर्त	भ्रमण

मार्गणा	गुण स्थान	नाना जीवापेक्षया प्रमाण न०१	न०२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एक जीवापेक्षया प्रमाण न०१	न०३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
मनुष्य सामान्य	१	सू० ६८	सू०	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू०	सू० ६९–७०	अन्तर्मु	३,४,५वेसे १ला, पुन ३,४या ५	३पल्य+४७को.पू +अन्तर्मुहूर्त	तीनो वेदोमे-से प्रत्येक ८को०पू०=२४को०पू०, फिर ल०अप०मेंअन्त०, फिर स्री व नपु० वेदमें ८,८ को० पू०=१६ को०पू०, फिर पुरुषवेदमें ७ को० पू० इस प्रकार ४७ को०पू० कर्मभूमिमें भ्रमण कर भोगभूमिमे उपजे
	२	७१–७२		१ समय	उप सम्य ७,८, मनुष्यका सम्य. मे १समय शेष रहते युग प्रवेश	अन्तर्मु	सख्यातमनु. काउप सम्य' में ६आव शेष रहते युग प्रवे	७३–७४		१ समय	उपशम सम्यक्त्वमे १ समय काल शेष रहने पर सासादनमें प्रवेश	६ आवली	उपशम सम्यक्त्वमें ६ आवली काल शेष रहनेपर सासादनमें प्रवेश
	३	७५–७६		अन्तर्मु	२८/ज १,४,५,६ठे से पीछे आये स मनु.युगपत् लौटे	अन्तर्मु	जघन्यवत्	७७–७८		अन्तर्मु	२८/ज १,४,५,६ठे से ३रे मे आ०, अन्तर्मु० वहाँ रह पुन लौट जाये	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
मनुष्य सामान्य	४	७९		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	८०–८२		अन्तर्मु०	२८/ज. १,३,५,६ठे से ४थे मे आ. पुन लौटकर गुणस्थान परिवर्तन करे	३पल्य+देशोन पूर्व कोड	१ को० पू० में त्रिभाग शेष रहनेपर मनुष्यायुको बाँध क्षायिक सम्यक्त्वी हो भोगभूमिमे उपजे।
मनुष्य पर्याप्त	५–१४	८२			मूलोघवत्			८२			मूलोघवत्		
	१–१४	६८–८२			मनुष्य सामान्यवत्			६८–८२			मनुष्य सामान्यवत्		
मनुष्यणी	१–३	६८–७८			"			६८–७८			"		
	४	७९		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	८०–८१		अन्तर्मु०	मनुष्य सामान्यवत्	३ पल्य–६ मास व ४९ दिन	२८/ज. भोग भूमिया मनुष्यणी हो ६ मास गर्भ में रह ४९ दिनमें पर्याप्ति पूर्ण कर सम्यक्त्वी हो।
	५–१४	८२			मनुष्य सामान्य वत्			८२			मनुष्य सामान्यवत्		
मनुष्य न० अप०	१	८३–८४		क्षुद्रभव	अनेक जीवोका युगपत् प्रवेश व निर्गमन	पल्य/अ.	सतति क्रम न टूटे	८५–८६		क्षुद्रभव	परिभ्रमण	अन्तर्मुहूर्त	परिभ्रमण

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया प्रमाण न०/१	प्रमाण नं०/२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एकजीवापेक्षया प्रमाण न०/१	प्रमाण नं०/३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
२ इन्द्रिय मार्गणा		सू.	सू					सू	सू				
एकेन्द्रिय सामान्य			१२–१३	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		४०-४१	क्षुद्रभव		असं पु० परि०	स्व मार्गणामें परिभ्रमण (सू० व बा०)
,, सा० पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		४६-४७	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ,, लं० अप०			,,	,,	,,	,,	,,		४९-५०	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, बा० सा०			,,	,,	,,	,,	,,		४३-४४	क्षुद्रभव		असं उत्सर्प० अवसर्प०	,,
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		४६-४७	अन्तर्मुहूर्त		सं सहस्र वर्ष	,,
,, ,, लं० अप			,,	,,	,,	,,			४९-५०	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, सू० सा०			,,	,,	,,	,,	,,		५२-५३	,,		असं लोक प्रमाण समय	,,
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		५५-५६	अन्तर्मुहूर्त		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, ,, लं० अप			,,	,,	,,	,,	,,		५८-५९	क्षुद्रभव		,,	,,
विकलेन्द्रिय सा			,,	,,	,,	,,	,,		६१-६२	,,		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		,,	,,
,, अपर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		६४-६५	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
पचेन्द्रिय सा०			,,	,,	,,	,,	,,		६७-६८	,,		१००० सा०+ को० पृ०	,,
,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		शतपृथक्त्व सागर	,,
,, लं० अप			,,	,,	,,	,,	,,		७०-७१	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
{ उपरोक्त सर्व विकल्प	१	१०७–१३८	,,	,,	,,	,,	,,		१०७–१३८	—	—उपरोक्त सर्व विकल्पोंके	ओघवत्	—
पचेन्द्रिय पर्याप्त	२–१४	१३७	—	—	—मूलोघवत्—	—	—		१३४	—	—मूलोघवत्—	—	सर्व स्थान सम्भव नहीं —
३. काय मार्गणा													
पृथि अप तेज वायु चारों सामान्य			१४-१५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		७३-७४	क्षुद्रभव		असं लोक प्रमाण समय	सू० बा/पर्याप्त अपर्याप्त सर्व विकल्पों
,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		७६-८०	अन्तर्मुहूर्त		सं सहस्र वर्ष	,,
,, लं० अपर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		८२-८३	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, बा० सामा			,,	,,	,,	,,	,,		७६-७७	क्षुद्रभव		७० कोड़ाकोड़ी सागर	स्व मार्गणामें परिभ्रमण (पूर्ण अपर्या०)
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		७९-८०	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ,, लं० अप०			,,	,,	,,	,,	,,		८२-८३	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, सू० सामान्य			,,	,,	,,	,,	,,		८४	क्षुद्रभव		असं लोक प्रमाण समय	,,
,, ,, पर्याप्त			,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, ,, लं० अप०			,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		,,	,,

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
वनस्पति सा०	..	सू	सू. १४-१५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू.	सू ८५	क्षुद्रभव		असं० पु० परि०	स्व मार्गणामे परिभ्रमण
,, पर्याप्त	.		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ल० अप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
वन० प्रत्येक सा	.		,,	,,	,,	,,	,,		७६-७७	क्षुद्रभव		७० कोडा कोडी सागर	,,
,, ,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,		,,		७९-८०	अन्तर्मुहूर्त		सं० सहस्र वर्ष	,,
,, ,, ल० अप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		८२-८३	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
वन० साधारण निगोद -													
,, सामान्य	..		,,	,,	,,	,,	,,		८७-८८	क्षुद्रभव		२½ पु० परिवर्तन	,,
,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		८९	अन्तर्मु०		स० सहस्र वर्ष	,,
,, ल० अप०	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, बा० सा०	...		,,	,,	,,	,,	,,		८९	क्षुद्रभव		७० कोडा कोडी सागर	,,
,, ,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मु०		सं० सहस्र वर्ष	,,
, ,, ल० अप	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, सू० सा०			,,	,,	,,	,,	,,		८४	क्षुद्रभव		असं लोक प्रमाण समय	,,
,, ,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मु०		अन्तर्मुहूर्त	,,
,, ,, ल० अप	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	क्षुद्रभव		,,	,,
त्रस सामान्य	...		,,	,,	,,	,,	,,		९१-९२	,,		२००० सा+ १ पू० को०	,, (रा० वा /३/३६/६/२१०)
,, पर्याप्त	...		,,	,,	,,	,,	,,		,,	अन्तर्मुहूर्त		२००० सा०	,, (ध०/प्र. १०/पु. ३४/१०)
,, ल०अप०			,,	,,	,,	,,	,,		९४-९५	क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	,,
स्थावरके सर्व विकल्प	१	१३९-१५६		,,	,,	,,	,,	१३९-१५६		—स्व स्व उपरोक्त ओघवत्—			
त्रस सामान्य	१	१५७-१५९		,,	,,	,,	,,	१५७-१५९		अन्तर्मु०	क्षुद्रभवसे असं गुणा	२००० सा+ १ पू० को	स्व मार्गणामें परिभ्रमण
,, पर्याप्त	१	,,		,,	,,	,,	,,	,,		,,		२००० सागर	,,
,, ,,	२-१४	१६०		,,	मूलोघवत्	—	—	१६०	—	—	—मूलोघवत्—	—	—
,, ल० अप०	१	१६१		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१६१		क्षुद्रभव		अन्तर्मुहूर्त	विकल व पंच इन्द्रियोंके निरन्तर भव क्रमेण ८०,६०,४०,२४ प्रमाण परिभ्रमण

४. योग मार्गणाः—

संकेत—१ समय सम्बन्धी प्ररूपणाके ११ भंगोंका विस्तार पहले सारणी सम्बन्धी नियमोंमें दिया गया है। वहाँसे देख लें।

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एकजीवापेक्षया प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
पाँचों मनोयोगी	.	सू	सू १६–१७	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू	सू ९७–९८	१ समय	योग परिवर्तनकर मरण व व्याघात	अन्तर्मुहूर्त	योग परिवर्तन
,, वचन योगी			,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,	,,	,,
काय योगी सा०			,,	,,	,,	,,	,,		१००–१०१	अन्तर्मु०	इससे कमकाल परिभ्रमणका अभाव	आ० असं. पु. परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
औदारिक	.		,,	,,	,,	,,	,,		१०३–१०४	१ समय	योग परिवर्तनकर मरण या व्याघात	२२००० वर्ष	पृथिवी कायिकोंमें परिभ्रमण
औदारिक मिश्र	.		,,	,,	,,	,,	,,		१०५–१०७	,,	दण्ड कपाट समुद्घातमें	अन्तर्मुहूर्त	पूर्व भवोंमें इतना ही उत्कृष्ट है अधिक नहीं
वैक्रियक	..		,,	,,	,,	,,	,,		,,	,,	योग प्राप्तकर मृत्यु या व्याघात	,,	,,
वैक्रियक मिश्र	.		१८–२०	अन्तर्मु.	२ विग्रह सहित देवोंमें उत्पत्तिका प्रवाह क्रम	पल्य/असं	२ विग्रहसहित देवोंमें उत्पत्तिका प्रवाह क्रम		१०९–११०	अन्तर्मु०	मिश्र योगमें मरण नहीं	अन्तर्मुहूर्त	इससे अधिक काल अवस्थानका अभाव
आहारक	..		२१–२३	१ समय	एक जीववत्	अन्तर्मु	एक जीववत्		१०६–१०७	१ समय	योग प्राप्तकर दूसरे समय शरीर प्रवेश	अन्तर्मुहूर्त	अधिकसे अधिक इतने काल पश्चात् शरीर प्रवेश
आहारक मिश्र	..		२४–२६	अन्तर्मु	,,	,,	,,		१०९–११०	अन्तर्मु०		,,	
कार्मण	...		१६–१७	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		११२–११३	१ समय	१ विग्रहपूर्वक जन्म धारण	३ समय	तीन विग्रह पूर्वक जन्मधारण
पाँचों मनो वचन योगी	१	१६२		सर्वदा	,,	सर्वदा	,,	१६३–१६४		१ समय	यथायोग्य ३ योग परिवर्तन, गुणस्थान परिवर्तन, मरण व व्याघातके सर्व ११ भंग (देखो चार्ट सम्बन्धी नियम)	अन्तर्मुहूर्त	केवल योग परिवर्तन
	२	१६५		१ समय	मूलोघवत्	पल्य/असं	मूलोघवत्	१६५		१ समय	,,	६ आवली	,,
	३	१६६–१६७		,,	११ भंगोंसे योग परिवर्तन	,,	अविच्छिन्न प्रवाह	१६८–१६९		१ समय	,,	अन्तर्मुहूर्त	इतने काल पश्चात् योग परिवर्तन
	४–७	१६२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१६३–१६४		,,	उपरोक्तवत् परन्तु अप्रमत्तके व्याघात बिनाके १० भंग	,,	,,
	८–१२ (उप०)	१७०–१७१		१ समय	११ भंगोंसे योग परिवर्तन	अन्तर्मु.	योगपरिवर्तन	१७२–१७३		१ समय	व्याघात बिना उपरोक्त १० भंग	,,	,,
	८–१२ क्षपक	,,		,,		,,	,,	,,		,,	योग व गुणस्थान परिवर्तन के ९ भंग	,,	,,
	१३	१६२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१६३–१६४		१ समय	विवक्षित योगसहित प्रवेश १ समय पीछे योग परिवर्तन	अन्तर्मुहूर्त	,,

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
कायYोगसामान्य	१	सू. १७४	सू.	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू. १७५–१७६	सू.	१ समय	मरण व व्याघात रहित ६ भंग	असं.पु परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमे परिभ्रमण
	२–१३	१७७		—	मनोयोगीवत्	—	,,	१७७		मनोयोगीवत् ३,४थेमें मरण व व्याघात रहित ६ भंग तथा २,५,६ठेमे केवल व्याघात रहित भी मनोयोगवत्			
औदारिक	१	१७८		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	,,	१७९–१८०		१ समय	मनोयोगीवत् ११ भग	२२००० वर्ष–अप० काल	पृथिवीकायमे परिभ्रमण
	२–१३	१८१		—	मनोयोगीवत्	—	—	१८१		मनो-योगीवत्	व्याघातवाले भगका कहीं भी अभाव नहीं	मनोयोगीवत्	
औदारिक मिश्र	१	१८२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१८३–१८४		क्षुद्र भवसे ३ समयक्रम	३ विग्रहसे उत्पन्न क्षुद्र भव-धारी	अन्तर्मुहूर्त	ल० अप० के संख्यातभव करके पर्याप्त हो गया
	२	१८५–१८६		१ समय	एक जीववत् ही ७ या ८ जीवोंकी युगपत् प्ररूपणा	पल्य/अस	अविच्छिन्न प्रवाह	१८७–१८८		१ समय	सासादन दृष्टि एक जीव स्वकालमें एक समय शेष रहनेपर मिश्र योगी हो द्वितीय समय मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ।	१ समयकम ६ आवली	जघन्यवत्
	४	१८९–१९०		अन्तर्मु	७ या ८ असंयत नारकी औ० मि० योगी हो पर्याप्त हुए	अन्तर्मु.	जघन्यवत्-पर देव, नारकी व मनुष्य तीनो की अपेक्षा प्ररूपणा	१९१–१९२		अन्तर्मु०	६ठी पृथिवीसे आ मनुष्य हुआ/गर्भमें अल्प अन्तर्मुहूर्त कालतक ही अपर्याप्त रहा/फिर पर्याप्त हो गया	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत् परन्तु सर्वार्थसिद्धिसे आकर
	१३	१९३–१९४		१ समय	दण्ड समुद्घातसे कपाटको प्राप्त हो पुनःदण्डको प्राप्त हुआ	सं०समय	दण्ड व कपाट में परिवर्तन करने अनेक जीव	१९५–१९६		१ समय	दण्ड-कपाट समुद्घातमें आरोहण व अवतरण करते हुए कपाट समुद्घात गत केवली	१ समय	जघन्यवत्
वैक्रियक	१	१९६		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	१९७–१९८		१ समय	मनो या वचन योगी विवक्षित गुणस्थानवर्ती वैक्रि. काय योगी हो १ समय पश्चात् या तो मर जाये या गुणस्थान परिवर्तन करे व्याघात रहित १० भंग	अन्तर्मुहूर्त	विवक्षित गुणस्थानमे ही योगपरिवर्तन करे

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०२	नाना जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०३	एक जीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
वैक्रियक	२	सू. १९९	सू	१ समय	११ भंग	पल्य/असं	प्रवाह	सू. १९९	सू.	१ समय	११ भंग लागू करने (देखो आगे नियम)	६ आवली	स्वकालमें ६ आ० रहनेपर विवक्षित योगमें प्रवेश
	३	२००		"	"	"	"	२००		"	"	अन्तर्मुहूर्त	इतने काल पीछे योग परिवर्तन
	४	१९६		—	स्व मिथ्यादृष्टि वत्	—		१९७–१९८	—	—	स्व मिथ्यादृष्टिवत् —	—	—
वैक्रियकमिश्र	१	२०१–२०२		अन्तर्मु.	७ या ८ द्रव्य लिंगी मुनि उपरिम ग्रैवेयकमें जा इतनेकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ	पल्य/असं	७ या ८ जीव देव या नरकमें जा इतने काल पश्चात पर्याप्त हुए	२०३–२०४		अन्तर्मु०	उपरिम ग्रैवेयकमें उपजनेवाला द्रव्य लिंगी मुनि सर्व लघुकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ	अन्तर्मुहूर्त	मनुष्य व तिर्यंच मिथ्यादृष्टि छठीं पृथिवीमें उपज इतने काल पश्चात् पर्याप्त हुआ
	२	२०५–२०६		१ समय	गुणस्थानमें १ समय शेष रहनेपर देवोंमें उपज सब मिथ्यात्वी हो गये	पल्य/असं	जघन्यवत पर १ समयसे ६ आवली शेष रहते उत्पत्ति की प्ररूपणा	२०७–२०८		१ समय	सासादनमें एक समय शेष रहनेपर देवोंमें उत्पन्न हुआ। द्वितीय समय मिथ्यादृष्टि हो गया	१ समय कम ६ आवली	उपशम सम्यक्त्वके कालमें ६ आवली शेष रहनेपर कोई मनुष्य या तिर्यंच सासादनको प्राप्त हुआ। एक समय पश्चात् देव हुआ। १ समयकम ६ आवली पश्चात् मिथ्यादृष्टि हो गया।
	४	२०१–२०२		अन्तर्मु.	संयत २ विग्रहसे सर्वार्थसिद्धिमें उपज पर्याप्त हुए	पल्य/असं	उपरोक्त मिथ्यादृष्टि वत्	२०३–२०४		अन्तर्मु०	कोई मुनि २ विग्रहसे सर्वार्थ सिद्धिमें उपजा। इतनेकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ	अन्तर्मुहूर्त	बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवीमें उपजा। इतनेकाल पश्चात् पर्याप्त हुआ।
आहारक	६	२०९–२१०		१ समय	एक जीववत् युगपत् नाना जीव	अन्तर्मु.	जघन्यवत् प्रवाह क्रम	२११–२१२		१ समय	अविवक्षितसे विवक्षित योगमें आकर १ समय पश्चात् मूल शरीर प्रवेश	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
आहारकमिश्र	६	२१३–२१४		१ समय	"	अन्तर्मु.	"	२१५–२१६		"	देखा है मार्ग जिन्होंने ऐसा जीव सर्वलघुकालमें पर्याप्त होता है	"	नहीं देखा है मार्ग जिसने ऐसा जीव इससे पहिले पर्याप्त न हो
कार्मण	१	२१७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२१८–२१९		"	मारणान्तिक समुद्घात पूर्वक १ विग्रहसे जन्म	३ समय	जघन्यवत् पर ३ विग्रहसे जन्म
	२, ४	२२०–२२१		१ समय	एक जीववत्	आ०/असं	जघन्यवत् प्रवाह	२२२–२२३		"	एक विग्रहसे उत्पन्न होनेवाला जीव	२ समय	२ विग्रहसे उत्पन्न होनेवाला जीव
	१३	२२४–२२५		३ समय	"	सं. समय	"	२२६		३ समय	कपाटसे क्रमशः प्रतर-लोक-पूर्ण-प्रतर	३ समय	जघन्यवत्

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण		नानाजीवापेक्षया				प्रमाण		एकजीवापेक्षया			
		नं०/१	नं०/२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	नं०/१	नं०/३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
५ वेद मार्गणा		सू.	सू.										
स्त्री वेद	..		२४-२८	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		११५-११६	१ समय	उपशम श्रेणीसे उतर सवेदी हो द्वितीय समय मृत्यु	३०० से ९०० पल्य तक	अविवक्षित वेदसे आकर तहाँ परिभ्रमण।
पुरुष वेद	..		"	"	"	"	"		११८-११९	अन्तर्मु०	उपशम श्रेणी उतर सवेदी होकर पुनः अवेदी हुआ। मृत्यु होनेपर तो पुरुष वेदी देव ही नियमसे होगा अत: १समयकी प्ररूपणा नहीं की	९०० सागर	नपुंसकसे आ पुरुषवेदी हो तहाँ परिभ्रमण
नपुंसक वेद	..		"	"	"	"	"		१२१-१२२	१ समय	स्त्री वेदवत्	असं० पु० परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
अपगत वेद उप.	..		"	"	"	"	"		१२४-१२५	"	उपशम श्रेणीमें अवेदी होकर पुन: सवेदी हो जाना	अन्तर्मुहूर्त	स्त्री व नपुंसक वेद सहित उपशम श्रेणी चढे तो।
" क्षपक	...		"	"	"	"	"		१२७-१२८	अन्तर्मु०		कुछ कम पूर्व कोडि	सर्व जघन्य कालमें संयम धर अवेदी हुआ और उत्कृष्ट आयुपर्यन्त रहा
स्त्री वेद	१	२२७	"	"	"	"	"	२२८-२२९		अन्तर्मुहूर्त	गुणस्थान प्रवेश कर पुनः लौटे	पल्यशत पृथक्त्व	वेद परिवर्तन करके पुनः लौटे
	२-३	२३०-२३१	—	—	मूलोघवत्	—	—	२३०-२३१		—	मूलोघवत्	—	—
	४	२३२		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२३३-२३४		अन्तर्मु०	गुणस्थान परिवर्तन	३ अन्तर्मु० कम ५५ पल्य	अविवक्षित वेदी ५५ पल्य आयु वाली देवियोंमें उपज, अन्तर्मु० से पर्याप्ति पूरीकर सम्यक्त्वी हुआ।
	५	२३५		"	"	"	"	२३५		"	"	२मास+मुहूर्त० पृथक्त्व कम १ को० पूर्व	२८/ज स्त्री वेदी मर्कट आदिकमें उपजा/२ मास गर्भमें रहा। निकलकर मुहूर्त पृथक्त्वसे संयता संयत हो रहा (ओघमें सम्मूर्च्छिनका ग्रहण किया है)
	६-९	२३५	—	—	मूलोघवत्	—	—	२३५		"	—मूलोघवत्	—	—
पुरुष वेद	१	२३६		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२३७-२३८		अन्तर्मु०	स्त्रीवेदवत्	सागरशत पृथक्त्व	स्त्रीवेदवत्
	२-४	२३९	—	—	मूलोघवत्	—	—	२३९					
	५	"	—	—	स्त्रीवेदवत्	—	—	"					
	६-९	"	—	—	मूलोघवत्	—	—						

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण		नाना जीवापेक्षया				प्रमाण		एक जीवापेक्षया			
		नं०/१	नं०/२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	नं०/१	नं०/३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
नपुंसक वेद	१	सू. २४०	सू.	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू. २४१-२४२	सू.	अन्तर्मु०	स्त्रीवेदवत्	असं० पु० परिवर्तन	स्त्रीवेदवत्
	२-३	२४३-२४४	—	—	मूलोघवत्	—	—	२४३-२४४		—	मूलोघवत्	—	—
	४	२४५		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२४६-२४७		अन्तर्मु०	स्त्रीवेदवत्	६ अन्तर्मु० कम ३३ सागर	२८/ज ७ वी पृथिवीमें जा ६ मुहूर्त पीछे पर्याप्त व विशुद्ध हो सम्यक्त्व 'को प्राप्त हुआ।
	५-९	२४८	—	—	मूलोघवत्	—	—	२४८		—	मूलोघवत्	—	—
अपगत वेदी	१०-१४	२४९			"			२४९			"		
६ कषाय मार्गणा:—													
चारों कषाय	...		२९-३०	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१२९—१३०	१ समय	क्रोधमें केवल मृत्यु वाला भंग और शेष तीनमें मृत्यु व व्याघात वाले दोनों भंग	अन्तर्मुहूर्त	कषाय परिवर्तन
अकषाय उप०	...		"	"	"	"	"		१३१	"	अपगत वेदीवत्	"	अपगत वेदीवत्
" क्षपक	...		"	"	"	"	"		"	अन्तर्मु०	"	कुछ कम पूर्णको०	"
चारों कषाय	१	२५०	"	"	"	"	"	२५०		१ समय	कषाय, गुणस्थान परिवर्तन व मरणके सर्व भंग। क्रोधके साथ व्याघात नहीं होता शेष तीनके साथ होता है। मरणकी प्ररूपणामें क्रोध कषायीको नरकमें उत्पन्न कराना, मान कषायीको नरकमें, माया कषायीको तिर्यंचमें और लोभ कषायी को देवोंमें। इस प्रकार यथा योग्य रूपसे सर्व हो गुण स्थानोंमें लगाना।	अन्तर्मुहूर्त	स्व गुणस्थानमें रहते हुए ही कषाय परिवर्तन
	२	२५०		१ समय	मूलोघवत्	पल्य/अ०	मूलोघवत्	"		१ समय	"	६ आवली	"
	३	"		"	२१ भंगोंसे परि०	"	अविच्छिन्न प्रवाह	"		"	"	अन्तर्मुहूर्त	"
	४-७	"		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	"		"	उपरोक्तवत् परन्तु ७ वें में व्याघात नहीं	"	"

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण		नानाजीवापेक्षया				प्रमाण		एकजीवापेक्षया			
		नं०/१	नं०/२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	नं०/१	नं०/३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
क्रोध मान माया	८-९ (उप०)	सू २५१-२५२	सू	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	जघन्यवत् प्रवाह	सू. २५३-२५४	सू.	१ समय	८,९,१० में अवरोहक और ९,१० में आरोहक व अवरोहक के प्रथम समय में मरण	अन्तर्मुहूर्त	सर्वोत्कृष्ट स्थिति
लोभ कषाय	८-१० (क्षप०)			"	"	"	'	"		"	"	"	"
क्रोध मान माया	८-९ (क्षप०)	२५५-२५६		अन्तर्मु०	"	जघन्यसे स०गुणा	"	२५७-२५८		अन्तर्मु०-	मरण रहित शेष भंग उपरोक्तवत्		"
लोभ	८-१० (उप०)	"		"	"	"	"	"		"	"	"	"
अकषायी	११-१४	२५९	—	—	मूलोघवत्	—	—	२५९	—	—	मूलोघवत्	—	—
७ ज्ञान मार्गणा													
मति श्रुतअज्ञान			३१-३२	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१३३-१३५	अनन्त	अनादि अनन्त व अनादि सान्त	अनन्त	जघन्यवत्
,, सादि सान्त			"	"	"	"	"		१३६-१३७	अन्तर्मु०	ज्ञान परिवर्तन	कुछ कम अर्ध पु० परि०	सम्यक्त्वसे मिथ्यात्व फिर सम्यक्त्व देव नारकीमें उपरोक्त प्रकार
विभंग सामान्य			"	"	"	"	"		१३८-१४०	१ समय	उप० सम्य० देव नारकी-द्विती समय सासा हो मरे।	अन्तर्मु० कम ३३ सा०	
,, (मनु० तिर्य०)			ध./९/३९७	"	"	"	"		ध/९/-३९७	१ समय	औदारिक शरीरकी संघातनपरिशातन कृति	अन्तर्मुहूर्त	
मतिश्रुत अवधि-ज्ञान			३१-३२	"	"	"	"		१४२-१४३	अन्तर्मु०	देव नारकी सम्यक्त्वी हो पुनः मिथ्या।	६६ सागर+४ पूर्व को०	(देखो नियम)
मन पर्यय			३१-३२	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१४५-१४६	अन्तर्मु०	इतने काल पश्चात् मरण	८ वर्ष कम १ को० पू०	८ वर्षमें दीक्षा लेकर शेष उत्कृष्ट आयु पर्यन्त
केवलज्ञान			"	"	"	"	"		" (क.पा.)	"	"	" अन्तर्मुहूर्त	" (दे० दर्शन/३/२)
मतिश्रुत अज्ञान	१-२	२६०-२६१	—	—	मूलोघवत्	—	—	२६०-२६१	—	—	मूलोघवत्	—	—
विभंग ज्ञान	१	२६२			विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२६३-२६४		अन्तर्मु०	गुणस्थान परिवर्तन	३३ सागर से अन्तर्मु० कम अन्तर्मुहूर्त	सप्तम पृथिवीकी अपेक्षा मनुष्य तिर्यंचकी अपेक्षा

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० २	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं० १	प्रमाण नं० ३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू	सू					सू	सू				
	२	२६५	—	—	मूलोघवत्	—	—	२६५	—	—	मूलोघवत्	—	—
मति श्रुत ज्ञान	४-१२	२६६			"			२६६			"		
अवधि ज्ञान	१-४	"			"			"			"		
	४-१२							"	—	मूलोघवत्	—	४ अंत० कम १ को पू	ओघ से १ अन्तर्मु० और भी कम है। क्योंकि सम्यक्त्व अवधि धारनेमें १ अन्तर्मु० लगा
	५	"			"								
	६-१२	"			"			"		—	मूलोघवत्	—	
मन.पर्यय	६-१२	२६७			"			२६७			"		
केवल	१३-१४	२६८			"			२६८			"		
८. संयम मार्गणा													
संयम सामान्य			३३-३४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१४८-१४९	अन्तर्मु०	सयमीसे असंयमी	८ वर्ष कम १ पूर्व कोड	८ वर्षकी आयुमें संयम धार उत्कृष्ट मनुष्य आयु पर्यन्त सयम सहित रहे
सामायिक छेदो०			"	"	"	"	"		१५१-१५२	१ समय	उपशम श्रेणीसे उतरते हुए मृत्यु	"	"
परिहार विशुद्धि			"	"	"	"	"		१४८-१४९	अन्तर्मु०		३८ वर्ष कम १ पूर्व कोड	सर्व लघु काल ८ वर्षमे संयम धार ३० साल पश्चात् तीर्थंकरके पादमूलमें प्रत्याख्यान पूर्वको पढकर परिहार विशुद्धि संयत हुआ।
सूक्ष्म साम्पराय	उप०		३५-३७	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	जघन्यवत् प्रवाह		१५४-१५५	१ समय	प्रथम समय प्रवेश द्वितीय समय मरण	अन्तर्मुहूर्त	इससे अधिक न रहे
	क्षप०		३३-३४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१५६-१५७	अन्तर्मु०	मरणका यहाँ अभाव है	"	
यथाख्यात	उप०		३५-३७	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	जघन्यवत् प्रवाह		१५९-१६०	१ समय	प्रथम समय प्रवेश द्वितीय समय मरण	"	
	क्षप०		३३-३४	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१६१-१६२	अन्तर्मु०	मरणका अभाव	८ वर्ष कम १ पूर्व कोड अन्त०	संयम सामान्यवत् पर यथा योग्य अन्त० पश्चात् यथाख्यात धारण करे
संयतासयत			"	"	"	"	"		१४८-१४९	"		अन्तर्मु० कम १ पूर्व कोड़	सम्मूर्च्छिम तिर्यंच मेंढकादिकी अपेक्षा
असंयत (अभ०)			"	"	"	"	"		१६४	—	अनादि अनन्त	—	—
(भव्य)			"	"	"	"	"		१६५-१६६	सादि सान्त	संयतसे असंयत हो पुनः संयत	अनादि सान्त	प्रथम बार संयम धारे तो
(सादि सान्त)			"	"	"	"	"		१६७-१६८	अन्तर्मु०	"	अर्ध० पु० परि०	इतने काल मिथ्यात्वमें रहकर पुन. सं०
संयम सामान्य	६-१४	२६९	—	—	मूल ओघवत्	—	—	२६९	—	—	मूलओघवत्	—	—

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया प्रमाण नं० १	नं० २	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एकजीवापेक्षया प्रमाण नं० १	नं० ३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
		सू	सू					सू					
सामायिक छेदो०	६–९	२७०	—	—	मूलोघवत्	—	—	२७०	—	—	मूलोघवत्	—	—
परिहार विशुद्धि	६–७	२७१			"			२७१			"		
सूक्ष्म साम्पराय	उप क्षप.	२७२			"			२७२			"		
यथाख्यात	११–१४	२७३			"			२७३			"		
संयतासंयत	५	२७४			"			२७४			"		
असंयत	१–४	२७५			"			२७५			"		
९. दर्शन मार्गणा :—													
चक्षुदर्शन	..		३८–३९	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१७०–१७१	अन्तर्मु०	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त क्षायोपशमापेक्षा	२००० सागर	क्षयोपशमापेक्षा परिभ्रमण
	..		"	"	"	"	"		"	"	उपयोगापेक्षा	अन्तर्मुहूर्त	उपयोग अपेक्षा
अचक्षुदर्शन	.		"	"	"	"	"		१७३	अनादि अनन्त	अभव्य क्षयोपशमापेक्षा	अनादि अनन्त	अभव्य क्षयोपशमापेक्षा
	...		"	"	"	"	"		१७४	अनादि सान्त	भव्य क्षयोपशमापेक्षा	अनादि सान्त	भव्य क्षयोपशमापेक्षा
			"	"	"	"	"		१७०–१७२	अन्तर्मु०	उपयोगापेक्षा	अन्तर्मुहूर्त	उपयोगापेक्षा
अवधि दर्शन	.		"	"	"	"	"		१७५		अवधिज्ञानवत्	—	
केवलदर्शन	.			"	"	"	"		१७६		केवलज्ञानवत्	—	
चक्षु दर्शन	१	२७६		"	"	"	"	२७७–२७८		अन्तर्मु०	गुण स्थान परिवर्तन	२००० सागर	परिभ्रमण
	२–१४	२७९	—	—	मूलोघवत्	—	—	२७९	—	—	मूलोघवत्	—	—
अचक्षु दर्शन	१–१२	२८०	—	—	"	—	—	२८०	—	—	"	—	—
अवधि दर्शन	४–१२	२८१	—	—	अवधिज्ञानवत्	—	—	२८१	—	—	अवधि ज्ञानवत्	—	—
केवल दर्शन	१३–१४	२८२	—	—	केवलज्ञानवत्	—	—	२८२	—	—	केवल ज्ञानवत्	—	—
१०. लेश्या मार्गणा :—													
कृष्ण			४०–४१	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		१७७–१७८	अन्तर्मु०	नीलसे कृष्ण पुन वापिस	३३ सा + अंत०	विवक्षित लेश्या सहित मनुष्य या तिर्यंचमें अन्तर्मुहूर्त रहा। फिर मर कर नरकमें उपजा
नील			"	"	"	"	"		"	"	कापोत या कृष्णसे नील पुन वापिस	१७ सा. + अंत०	" (पचम पृथिवीमें)
कापोत			"	"	"	"	"		"	"	नील या तेजसे कापोत पुन वापिस	७ सा. + अंतर्मु	" (तीसरी " ")
तेज			"	"	"	"	"		१८१–१८२	"	पद्मसे तेज फिर वापिस	२ सा. + अंतर्मु	उपरोक्तवत् परन्तु देवोंमें उत्पत्ति

मार्गणा	गुण स्थान	नानाजीवापेक्षया: प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०२	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	एकजीवापेक्षया: प्रमाण नं०१	प्रमाण नं०३	जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
क्षायिक सम्य०		सू.	सू. सर्वदा	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सू	सू १९२–१९३	अन्तर्मु०		८ वर्ष कम २ को० पूर्व + ३३ सागर	कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि देव या नारकी मनुष्योमे उपजा/सर्व लघु कालसे क्षायिक सम्यक्त्व सहित सयत होकर रहा/मरकर सर्वार्थसिद्धिमें गया/वहाँसे आ पुन को० पूर्व आयु वाला मनुष्य हो मुक्त हुआ। (देखो नियम)
वेदक सम्य०	...		"	"	"	"	"		१९५–१९६	"		६६ सा०+४ पू० को०	
उपशम "			४६–४८	अन्तर्मु०	सासादन	पल्य/असं०	प्रवाह क्रम		१९८–१९९	"	स्वकाल पूर्ण होने पर अवश्य सासादन	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
सम्यग्मिथ्यात्व			"	"	गुण स्थान परि	"	"		"	"	गुणस्थान परिवर्तन	"	"
सासादन			४९–५१	१ समय	मूलोघवत्	"	मूलोघवत्		२०१–२०२	१ समय	उपशम सम्यक्त्व में १ समय शेष रहने पर सासादन	६ आवली	उपशममें ६ आवली शेष रहनेपर सासादन
मिथ्यात्व			४४–४५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२०३		अनादि अनन्त		
(अभव्य)													
(भव्य)	.		"	"	"	"	"		"		अनादि सान्त व सादि सान्त		
(सादि सान्त)	.		"	"	"	"	"		"	अन्तर्मु०		कुछ कम अर्ध पु० परि०	
सम्यग्दृष्टि सामान्य	४–१४	३१७	—	—	मूलोघवत्	—	—	१३७	—	—	मूलोघवत्	—	—
क्षायिक सम्य०	४	"			"			"			"		
	५	"			"			"	—	मूलोघवत्	—	४ अन्तर्मु०+८ वर्ष कम १ कोड पूर्व	सम्य० देव या नारकी मनुष्योमें उपजा/३ अन्तर्मु० गर्भ काल, ८ वर्ष पश्चात संयमासंयम १ अन्तर्मु० विश्राम, १ अन्तर्मु० क्षपणा काल १ पूर्व कोडकी उत्कृष्ट आयु तक रहकर मरा
	६–१४	"		–	"			"	—	—	मूलोघवत्	—	—
वेदक सम्य०	४–७	३१८			"			३१८					
उपशम सम्य०	४–५	३१९–३२०		अन्तर्मु०	गुण स्थान परि० (एक जीववत्)	पल्य/असं०	प्रवाह क्रम (जघन्यवत्)	३२१–३२२		अन्तर्मु०	मिथ्यासे उप० सम्य० असंयत अथवा संयतासंयत पुनः सासादन पूर्वक मिथ्या	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत् पर सम्यग्मिथ्यात्व, मिथ्या० या वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त कराना सासादन नहीं

मार्गणा	गुण स्थान	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/२	नानाजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष	प्रमाण नं०/१	प्रमाण नं०/३	एकजीवापेक्षया जघन्य	विशेष	उत्कृष्ट	विशेष
	६-११	सू. ३२३-३२४	सू.	१ समय	१ जीववत्	अन्तर्मु०	प्रवाहक्रम (जघन्यवद्)	सू. ३२५-३२६		१ समय	यथा योग्य आरोहण व अवरोह क्रममें मरणस्थान वाला भंग (देखो नियम)	अन्तर्मुहूर्त	जघन्यवत्
सासादन	२	३२७	—	—	मूलोघवत्	—	—	३२७	—	—	मूलोघवत्	—	—
सम्यग्मिथ्यात्व	३	३२८			”			३२८			”		
मिथ्यादृष्टि	१	३२९			”			३२९			”		
१३ संज्ञी मार्गणा													
संज्ञी	...		५२-५३	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२०५-२०६	क्षुद्रभव	भव परिवर्तन	सागर शत-पृथक्त्व	परिभ्रमण
असंज्ञी	..		”	”	”	”	”		२०८-२०९	”	”	अरं० पु० परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
संज्ञी	१	३३०		”	”	”	”	३३१-३३२		अन्तर्मु०	भव या गुणस्थान परिवर्तन	सागर शत-पृथक्त्व	परिभ्रमण
	२-१४	३३३	—	—	मूलोघवत्	—	—	३३३			मूलोघवत्		
असंज्ञी	१	३३४		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	३३५-३३६		क्षुद्रभव	भव परिवर्तन	असं० पु० परिवर्तन	एकेन्द्रियोंमें परिभ्रमण
१४ आहारक मार्गणा													
आहारक	·		५४-५५	सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव		२११-२१२	३ समय कम क्षुद्रभव		असंख्याता-सख्यात अस उत्.अवसर्पि	
अनाहारक	·			”	”	”	”		२१४-२१५ २१६	१ समय	विग्रह गति	३ समय	विग्रह गति
आहारक	१	३३७		”	”	”	”	३३८-३३९		अन्तर्मु०	गुण स्थान या भव परिवर्तन कर विग्रह	अन्तर्मुहूर्त असं.उत् अवसर्पि	अयोग केवली १ समयके विग्रह सहित भ्रमण
	२-१४	३४०	—	—	मूलोघवत	—	—	३४०			मूलोघवत्		
अनाहारक (कार्मा.काययोग)	१	२१७		सर्वदा	विच्छेदाभाव	सर्वदा	विच्छेदाभाव	२१८-२१९		१ समय	मारणान्तिक समुद्घात पूर्वक १ विग्रहसे जन्म	३ समय	जघन्यवत पर ३ विग्रहसे जन्म
	२, ४	२२०-२२१		१ समय	एक जीववत्	आ०/-असं सं० समय	जघन्यवत् प्रवाह	२२२-२२३		”	एक विग्रहसे जन्म	२ समय	२ विग्रहसे उत्पन्न
	१३	२२४-२२५ २		३ समय	”		”	२२६		३ समय	कपाटसे क्रमश प्रतर, लोकपूर्ण पुनः प्रतर	३ समय	जघन्यवत्
	१४	३४२	—	—	मूलोघवत	—	—	३४२		—	मूलोघवत	—	—

४. सम्यक्प्रकृति व सम्यग्मिथ्यात्वकी सत्त्व काल प्ररूपणा

प्रमाण १. (क.पा./२,२२/२/§२८६-२६४/२५३-२५६); २ (क.पा./२,२२/२/§१२३/२०५)
विशेषोंके प्रमाण उस उस विशेष के ऊपर दिये हैं।

नं०	विषय	प्रमाण नं०	जघन्य		उत्कृष्ट	
			काल	विशेष	काल	विशेष
१	२६ प्रकृति स्थान	१	१ समय		अर्ध पु० परि०	
२	२७ ,, ,,	,,	अन्तर्मु०		पल्य/असं०	
३	२८ ,, ,,	,,	,,		साधिक १३२ सागर	(क.पा.२/२,२२/§११८ व १२३/१०० व १०८) से प्रथमोपशम सम्य० के पश्चात मिथ्यात्वकोप्राप्त पल्य/असं पश्चात् पुनः उपशम सम्यक्त्वी हुआ। २८ की सत्ता बनायी। पश्चात मिथ्यात्वमें जा वेदक सम्य० धारा। ६६ सा० रहा। फिर मिथ्यात्वमें पल्य/असं० रहकर पुन. उपशम पूर्वक वेदकमें ६६ सा० रह-कर मिथ्यादृष्टि हो गया और पल्य/अस० में उद्वेलना द्वारा २६ प्रकृति स्थान को प्राप्त।
४	अवस्थित विभक्ति स्थान	१	१ समय	(क.पा २/२,२२/§४२७/३६०) उपशम सम्यक्त्व सम्मुख जो जीव अन्तरकरण करनेके अनन्तर मिथ्यात्वकी प्रथम स्थितिके द्वि चरम समयमें सम्यक्त्व प्रकृतिकी उद्वेलना करके २७ प्रकृति स्थानको प्राप्त होकर १ समय तक अल्पतर विभक्ति स्थानवाला होता है। अनन्तर मिथ्यादृष्टिके अन्तिम समय से २७ प्रकृति स्थानके साथ १ समय तक रहकर मिथ्यात्वके उपान्त्य समयसे तीसरे समयमें सम्य०को प्राप्तकर २८ प्रकृति स्थान-वाला हो जाता है। उसके अल्पतर और भुजगारके मध्यमें अवस्थित विभक्ति स्थानका जघन्य काल १ समय देखा जाता है।		
	एकेन्द्रियोमे सम्यक्प्रकृति २८ प्रकृति स्थान	२	१ समय	(क.पा २/२/२२/१२१/१०४) उद्वेलनाके कालमे एक समय शेष रहनेपर अविवक्षितसे विवक्षित मार्गणामें प्रवेश करके उद्वेलना करे	पल्य/असं०	(क पा. २/२,२२/§१२३/२०५) क्योंकि यहाँ उपशम प्राप्तिकी योग्यता नही है इसलिए इस कालमें वृद्धि नही हो सक्ती। यदि उपशम सम्य० प्राप्त करके पुन इन प्रकृतियों की नवीन सत्ता बना ले तो क्रम न टूटने से इस कालमें वृद्धि हो जाती। तब तो उत्कृष्ट १३२ सा० काल बन जाता जैसा कि ऊपर दिखाया है
	सम्यग्मिथ्यात्व (२७ प्रकृति स्थान)	२	१ समय		पल्य/असं०	
२	अन्य कर्मोंका उदय काल					
१	शोक (ध.१४/५७/८)				छ मास	

प्रमाण ध /१४	विषय	जघन्य काल	जघन्य विशेष	उत्कृष्ट काल	उत्कृष्ट विशेष
५. पाँच शरीरबद्ध निषेकोंका सत्ता काल					
ध./१४/२४६–२४८					
२४६	औदारिक	१ समय	आबाधा काल नहीं है	३ पल्य	स्व भुज्यमान आयु
"	वैक्रियक	"	"	३३ सागर	"
"	आहारक	"	"	अन्तर्मु०	"
२४७	तैजस	"	"	६६ सागर	—
२४८	कार्माण	१ समय + १ आवली	आबाधा काल सहित	७० को-को सागर	
६. पाँच शरीरोंकी संघातन परिशातन कृति					
	(ध. ६/४,१,७१/३८०–४०१) नोट—(देखो वहाँ ही)				
७. योगस्थानोंका अवस्थान काल					
	(गो. जी./जी प्र./२४२/२३३/१)				
	उपपाद स्थान	१ समय		१ समय	
	एकान्तानुवृद्धि	"		"	
	परिणाम योग	२ समय	विग्रह गति	८ समय	केवलि समुद्घात

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
८. अष्टकर्मके चतुर्बन्ध सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा						
		(म.ब./पु न०· /§·· /पृष्ठ नं०· ·)				
१	प्रकृति	ज. उ. पद		१/३३२-३६४/२३६-२४६	१/४१–८३/४५-६८	
		भुजगारादि				
		हानि-वृद्धि				
२.	स्थिति	ज उ. पद	२/१८७–२०३/११०-११८	३/५२२-५५४/२४३-२५६	२/६७-६६/४७-५८	२/१४६-२१६/३१४-३६५
		भुजगारादि	२/३१६-३२५/१६६-१६६	३/७६५ /३७६-३८०	२/२७५-२८०/१४८-१५१	३/७२०-७३२/३५३-३३६
		हानि-वृद्धि	२/४०१-४०२/२०१-२०२	३/ (ताडपत्र नष्ट)	२/३६७-३६६/१८७-१८८	३/८७६-८८१/४१७-४१८
३.	अनुभाग	ज. उ पद	४/२४०-२५३/१०६-११६	५/४०५-४०६/२११-२१६	४/८०-११७/२६-४३	४/४६७-५५४/२२८-३१२
		भुजगारादि	४/२६८-२६६/१३७-१३८	५/५३८-५४१/३०६-३१२	४/१७२- /१२६-१२७	५/४५७- /२४८
		हानि-वृद्धि	४/३६५ /१६६	५/६२२ /३६७-३६८	४/३५७-३५८/१६२-१६३	५/३१५ /३६१
४.	प्रदेश	ज. उ. पद	६/६४ /४८-५०		६/६०-८६/२८-४५	६/२२५-२४८/१३७-१५१
		भुजगारादि	६/१३७-१३६/७३-७६		६/१०४-१०६/५५-५७	
		हानि-वृद्धि				
९. अष्टकर्मके चतुःउदीरणा सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा						
१	प्रकृति	ज. उ. पद	ध. १५/४७	ध १५/७३	ध १५/४४	ध १५/६१
		भुजगारादि	ध. १५/५३	ध. १५/६७	ध १५/५१	ध. १५/८७
		हानि-वृद्धि		ध. १५/६७		ध १५/६७
		भंगापेक्षा ज.उ पद	ध १५/५०	ध. १५/८५	ध १५/४६	ध. १५/८३

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
२	स्थिति	ज. उ. पद	ध.१५/१४१	ध. १५/१४१	ध. १५/११६-१३०	ध. १५/११६-१३०
		भुजगारादि			ध. १५/१५७-१६१	ध. १५/१५७-१६१
		हानि-वृद्धि				
		भगापेक्षा ज. उ.		ध. १५/२०५-२०८		ध. १५/१६०-१६६
३	अनुभाग	ज. उ. पद		ध. १५/२३५		ध. १५/२३२-२३३
		भुजगारादि				
		हानि-वृद्धि				
		भगापेक्षा ज.उ. पद		ध. १५/२६१		ध. १५/२६१
४	प्रदेश	ज. उ. पद		ध. १५/२६१		ध. १५/२६१
		भुजगारादि				ध. १५/२७३-२७४
		हानि-वृद्धि				
		भगापेक्षा ज उ. पद				

१०. अष्टकर्मके चतुः उदय सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
१	प्रकृति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२८५	ध. १५/२८८	ध, १५/२८५	ध. १५/२८८
		भुजगारादि पद				
		हानि वृद्धि पद				
		वृद्धि पद				
२	स्थिति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध १५/२९२	ध. १५/२९५	ध. १५/२९१	ध. १५/२९५
		भुजगारादि पद	ध १५/२९४	ध. १५/२९५	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५
		हानि वृद्धि पद	ध. १५/२९४	ध १५/२९५	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५
		वृद्धि पद	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५	ध. १५/२९४	ध. १५/२९५
३	अनुभाग	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
		भुजगारादि पद	ध. १५/२९६	ध, १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
		हानि वृद्धि पद	ध १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
		वृद्धि पद	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६	ध. १५/२९६
४	प्रदेश	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२९६	ध १५/३०६	ध. १५/२९६	ध. १५/३०६
		भुजगारादि पद	ध १५/२९६	ध. १५/३२८	ध १५/२९६	ध. १५/३२५-३२६
		हानि वृद्धि पद	ध. १५/२९६		ध. १५/२९६	
		वृद्धि पद	ध. १५/२९६		ध. १५/२९६	

११. अष्ट कर्मके चतुःअप्रशस्तोपशमना सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
१	प्रकृति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध. १५/२७७	ध १५/२७८-२८०	ध. १५/२७७	ध १५/२७८-२८०
		भुजगारादि पद	ध. १५/२७७	ध १५/२७८-२८०	ध १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०
		वृद्धि हानि पद	ध. १५/२७७	ध.१५/२७८-२८०	ध. १५/२७७	ध. १५/२७८-२८०
२	स्थिति	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध १५/२८१	ध १५/२८१	ध १५/२८१	ध. १५/२८१
		भुजगारादि पद	ध. १५/२८१	ध १५/२८१	ध. १५/२८१	ध. १५/२८१
		वृद्धि हानि पद	ध १५/२८१	ध. १५/२८१	ध १५/२८१	ध १५/२८१
३	अनुभाग	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध १५/२८२	ध. १५/२८२	ध १५/२८२	ध. १५/२८२
		भुजगारादि पद	ध १५/२८२	ध. १५/२८२	ध १५/२८२	ध. १५/२८२
		वृद्धि हानि पद	ध १५/२८२	ध १५/२८२	ध १५/२८२	ध. १५/२८२
४	प्रदेश	जघन्य उत्कृष्ट पद	ध १५/२८२	ध १५/२८२	ध १५/२८२	ध १५/२८२
		भुजगारादि पद	ध. १५/२८२	ध १५/२८२	ध १५/२८२	ध १५/२८२
		वृद्धि हानि पद	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध. १५/२८२	ध १५/२८२

१२. अष्ट कर्मके चतु:संक्रमण सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

(ध. १५/२८३-२८४)

चारों भेद सर्वविकल्प (देखो वहाँ ही)

१३. अष्ट कर्मके चतु:स्वामित्व (सत्त्व) सम्बन्धी ओघ आदेश प्ररूपणा

चारो भेद सर्वविकल्प (देखो 'स्वामित्व')

१४. मोहनीयके चतु:विषयक ओघ आदेश प्ररूपणा

(क०पा०/पु •• /§ ••/पृष्ठ नं. ••)

नं.	विषय	पद विशेष	नानाजीवापेक्षया मूल प्रकृति	नानाजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति	एकजीवापेक्षया मूल प्रकृति	एकजीवापेक्षया उत्तर प्रकृति
१	प्रकृति	जघन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोष अपेक्षा	१/३६० /४०५-४०६		१/३६६-३७२/३८५-३८६	
	२	प्रकृति अपेक्षा	२/८१-६८/७१-७३	२/१८३- /१७१-१७३	२/४८-६३/२७-४४	२/११८-१३७/६१-१२३
	३	२४-२८ प्रकृति स्थानापेक्षा	२/३७०-३७७/३३४-३४४	२/३७०-३७७/३३४-३४४	२/२६८-३०७/२३३-२८१	२/२६८-३०७/२३३-२८१
		भुजगारादि पद प्रकृतिकी अपेक्षा	२/४६०-४६३/४१४-४१६	२/४६०-४६३/४१४-४१६	२/४२२-४३७/३८७-३६७	२/४२२-४३७/३८७-३६७
		हानि वृद्धि पद प्रकृतिकी अपेक्षा	२/५२५-५२८/४७०-४७५	२/५२५-५२८/४७०-४७५	२/४८६-४६७/४४२-४४८	२/४८६-४६७/४२२-४४८
२	स्थिति	जघन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोष अपेक्षा				
	२	प्रकृति अपेक्षा	३/१४२-१५४/१८०-१८७	३/६४७-६७२/३८७-४०६	३/४४-८२/२५-४७	३/४७७-५३७/२६६-३१६
	३	२४-२४प्रकृति स्थानापेक्षा				
		भुजगारादि पद प्रकृति अपेक्षा	३/२१३-२१७/१२१-१२३	४/१२६-१४२/६७-७४	३/१७४-१८७/६८-१०८	४/२५-७०/१४-४२
		हानि वृद्धि पद प्रकृति अपेक्षा	३/३१६-३२७/१७५-१८०	४/ /२५१-२६०	३/२५६-२७२/१४१-१४६	४/२७४-३१४/१६४-१६१
३	अनुभाग	जघन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोष अपेक्षा				
	२	प्रकृति अपेक्षा	५/१२१-१३०/७७-८५	५/३६८-३६०/२३३-२४०	५/२६-५६/२०-४३	५/२७७-३२०/१८५-२०१
	३	२४-२८प्रकृति स्थानापेक्षा				
		भुजगारादि पद प्रकृति अपेक्षा	५/१५७-१५८/१०४-१०५	५/५०१-५०४/२६३-२६५	५/१४३-१४६/६३-६६	५/४७६-४८०/२७६-२८०
		हानि वृद्धि पद प्रकृति अपेक्षा	५/१८२- /१२२-१२३	५/५५८-५६१/३२४-३२६	५/१७२-१७३/११४-११६	५/५३६-५३६/३०१-३१२
४	प्रदेश	जवन्य उत्कृष्ट पद				
	१	पेज्ज दोप अपेक्षा				
	२	प्रकृति अपेक्षा				
	३	२४-२८प्रकृति स्थानापेक्षा				
		भुजगारादि पद प्रकृति अपेक्षा				
		हानि वृद्धि पद प्रकृति अपेक्षा				

कालक—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

कालकूट—भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कालकेतु—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

कालकेशपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० 'विद्याधर'।

कालक्रम—दे० 'क्रम'।

कालतोया—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कालनय—दे० नय/I/५।

काल परिवर्तन—दे० संसार/२।

काल प्रदेश—Time instant (ध/५/प्र० २७)

कालमही—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कालमुखी—एक विद्या—दे० 'विद्या'।

कालवाद—कालवादका मिथ्या निर्देश

गो क/मू/८७९/१०६५ कालो सव्व जणयदि कालो सव्व विणस्सदे भूदं। जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो।८७९। =काल ही सर्वको उपजावै है काल ही सर्वको विनाशै है। सुताप्राणिनि विषै भी काल ही प्रगट जागै है कालके ठिगनेकौ वचनेकौ समर्थ न हूजिए है। ऐसें कालही करि सबको मानना सो कालवादका अर्थ जानना।८७९।

* **कालवादका सम्यक् निर्देश**—दे० नय/I/५।

कालव्यभिचार—दे० नय/III/६/८।

काललब्धि—दे० नियति/२।

कालशुद्धि—दे० 'शुद्धि'।

कालसंवर—ह पु./४३/श्लोक—मेघकूट नगरका राजा (४९-५०) असुर द्वारा पर्वतपर छोड़े गये कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका पालन किया था। (४३/५७-६१)

कालातीत हेत्वाभास—दे० 'कालात्ययापदिष्ट'।

कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास

न्या सू/मू व टी/१/२/९/४९/१५ कालात्ययापदिष्ट' कालातीत।९। निदर्शनं नित्य' शब्द' संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूपवत्। =साधन कालके अभाव हो जानेपर प्रयुक्त किया हेतु कालात्ययापदिष्ट है।९।.. जैसे—शब्द नित्य है संयोग द्वारा व्यक्त होनेसे रूपकी नाईं। (श्लो.वा./४/न्या २७३/४२६/२७)

न्या दी./३/§४०/८८/३ बाधितविषय' कालात्ययापदिष्ट। यथा—अग्निरनुष्ण पदार्थत्वाद् इति। अत्र हि पदार्थत्व हेतु स्वविषयेऽनुष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण बाधिते प्रवर्तमानोऽबाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्ट। =जिस हेतुका विषय-साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित हो वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है। जैसे—'अग्नि ठण्डी है क्योंकि वह पदार्थ है' यहाँ 'पदार्थत्व' हेतु अपने विषय ठण्डापनमें,' जो कि अग्निकी गर्मीको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे बाधित है, प्रवृत्त है। अत बाधित विषयता न होनेके कारण पदार्थत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट है। (प.ध/पू/४०५)

कालिदास—१. राजा विक्रमादित्य न. १ के दरबारके नवरत्नोंमेसे एक थे। समय—ई.पू. ११७-५७ (ज्ञा./प्र १ प. पन्नालाल बाकलीवाल) २. वर्तमान इतिहास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ई. ३७५-४१३ के प्रसिद्ध कवि थे। कृति—१. शकुन्तला, विक्रमोर्वशी, मेघदूत, रघुवंश, कुमारसम्भव, मालविकाग्निमित्र। ३. ज्ञा./प्र. १ प. पन्नालाल बाकलीवाल 'राजाके दरबारमें एक रत्न थे। आप शुभचन्द्राचार्य प्रथमके समकालीन थे। आपके साथ भक्तामर स्तोत्रके रचयिता आचार्य श्री मानतुंगका शास्त्रार्थ हुआ था। समय—ई. १०२१-१०५५।

काली—१. भगवान् पुष्पदन्तकी शासक यक्षिणी—दे० 'यक्ष'। २ एक विद्या—दे० 'विद्या'।

कालीघट्टपुरी—वर्तमान कलकत्ता। (म.पु/प्र.४९/पं. पन्नालाल)

कालुष्य—प.का./मू/१३८ कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज। जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति।१३८। =जब क्रोध, मान, माया अथवा लोभ चित्तका आश्रय पाकर जीवको क्षोभ करते हैं, तब उसे ज्ञानी 'कलुषता' कहते हैं।

नि. सा/ता. वृ/६६/१३० क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भि कषायै क्षुभितं चित्तं कालुष्यम्। =क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायोंसे क्षुब्ध हुआ चित्त सो कलुषता है।

कालेयक—औदारिक शरीरमें कालेयकोंका प्रमाण —दे० औदारिक/१।

कालोद—मध्यलोकका द्वितीय सागर—दे० लोक/४/३।

कालोल—दूसरे नरकका नवमा पटल—दे० नरक/५।

काव्यानुशासन—दे० 'व्याकरण'।

काव्यालंकार टीका—पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) की एक संस्कृत भाषाबद्ध रचना।

काशमीर—१. म पु./प्र ४९ प. पन्नालाल 'भारतके उत्तरमें एक देश है। श्रीनगर राजधानी है। वर्तमानमें भी इसका नाम काशमीर ही है।' २. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

काशी—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

काष्ठकर्म—दे० निक्षेप/४।

काष्ठा—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

काष्ठासंघ—दिगम्बर साधुओंका संघ—दे० इतिहास/५/६।

काष्ठी—एक ग्रह—दे० 'ग्रह'।

किंनर—१. किंनरदेवका लक्षण

ध.१३/५.५.१४०/३९१/८ गीतरतय किन्नर। =गानमें रति करनेवाले किन्नर कहलाते हैं।

* **व्यन्तर देवोंका एक भेद है**—दे० व्यन्तर/१।

२. किन्नर देवके भेद

ति प./६/३४ ते किंपुरिसा किंणरहिदयगमरुवपालिकिंणरया। किंणरणिंदिदणामा मणरम्मा किंणरुत्तमया।३४। रतिपियजेट्ठा। =किंपुरुष, किन्नर, हृदयगम, रूपपाली, किन्नरकिन्नर, अनिन्दित, मनोरम, किन्नरोत्तम, रतिप्रिय और ज्येष्ठ, ये दश प्रकारके किन्नर जातिके देव होते है। (ति.सा/२५७-२५८)

* **किंनर देवोंके वर्ण परिवार व अवस्थानादि** —दे० व्यन्तर।

३ किंनर व्यपदेश सम्बन्धी शंका समाधान

रा.वा /४/११/४/२१७/२२ किंपुरुषान् कामयन्त इति किंपुरुषा', ·· तन्न, किं कारणम्। उक्तत्वात्। उक्तमेतत्—अवर्णवाद एप देवानामुपरीति। कथम्। न हि ते शुचिवैक्रियकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते। =प्रश्न—खोटे मनुष्योंको चाहनेके कारणसे किंनर·· यह संज्ञा क्यों नहीं मानते? उत्तर—यह सब देवोंका अवर्णवाद है। ये पवित्र वैक्रियक शरीरके धारक होते हैं, वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदिकी कामना नहीं करते।

किंनर—अनन्तनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० 'यक्ष'।

किंनरगीत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

किंनरोद्गीत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

किंनामित—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० 'विद्याधर'।

किंपुरुष—१. किंपुरुष देवका लक्षण—

ध.१३/५,५,१४०/३९१/८ प्रायेण मैथुनप्रिया: किंपुरुषा'। =प्राय' मैथुनमें रुचि रखनेवाले किंपुरुष कहलाते हैं।

*** व्यन्तर देवोंका एक भेद है—**दे० व्यन्तर/१।

२. किंपुरुष व्यन्तरदेवके भेद

ति प /६/३६ पुरुसा पुरुसुत्तमसप्पुरुसमहापुरुसपुरुसपभणामा। अतिपुरुसा तह मरुओ मरुदेवमरुप्पहा जसोवंता।३६। =पुरुष, पुरुषोत्तम, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषप्रभ, अतिपुरुष, पुरु, पुरुदेव, मरुप्रभ और यशस्वान्, इस प्रकार ये किंपुरुष जातिके देवोंके दश भेद हैं। (त्रि सा./२५)

*** किंपुरुष देवका वर्ण परिवार व अवस्थानादि** —दे० 'व्यंतर'।

*** किंपुरुष व्यपदेश सम्बन्धी शंका समाधान**

रा.वा /४/११/४/२१७/२१ क्रियानिमित्ता एवैता' सज्ञा,·· किंपुरुषान् कामयन्त इति किंपुरुषा।··, तन्न किं कारणम्। उक्तत्वात्। उक्तमेतत्—अवर्णवाद एप देवानामुपरीति। कथम्। न हि ते शुचिवैक्रियकदेहा अशुच्यौदारिकशरीरान् नरान् कामयन्ते। =प्रश्न—कुत्सित पुरुषोंकी कामना करनेके कारण किंपुरुष आदि कारणोंसे ये संज्ञाएँ क्यों नहीं मानते? उत्तर—यह सब देवोंका अवर्णवाद है। ये पवित्र वैक्रियक शरीरके धारक होते हैं वे कभी भी अशुचि औदारिक शरीरवाले मनुष्य आदिकी कामना नहीं करते।

किंपुरुष—धर्मनाथ भगवान्‌का एक यक्ष —दे० 'यक्ष'।

किंपुरुषवर्ष— ज प /प्र.१३१ सरस्वतीके उद्गम स्थानसे लेकर यह धरती तिब्बत तक फैली हुई है।

किलकिल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

किल्विष—१. किल्विष जातिके देवका लक्षण

स सि./४/४/२३९/७ अन्तेवासिस्थानीया: किल्विषिका:। किल्विष पाप येपामस्तीति किल्विषिका'। =जो सीमाके पास रहनेवालोंके समान हैं वे किल्विषक कहलाते हैं। किल्विष पापको कहते हैं। इसकी जिनके बहुलता होती है वे किल्विषक कहलाते हैं। (रा वा /४/४/१० /२१३/१४); (म. पु /२२/३०)।

ति प/३/६८—सुरा हवंति किब्भिसया॥६८॥ =किल्विष देव चाण्डालकी उपमाको धारण करने वाले हैं।

ति. सा /२२३-२२४ का भावार्थ-बहुरि जैसे गायक गावनें आदि क्रियातैं आजीविकाके करन हारे तैसें किल्विषक हैं।

*** किल्विष देव सामान्यका निर्देश:—**दे० देव /II/ २।

*** देवोंके परिवारमें किल्विष देवोंका निर्देशादि—**दे० भवनवासी आदि भेद।

२. किल्विषी भावना का लक्षण

भ आ /मू./१८१ णाणस्स केवलीण धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं। माइय अवण्णवादी खिब्भिसिय भावण कुणइ॥१८१॥ =श्रुतज्ञानमें, केवलियोंमें, धर्ममें, तथा आचार्य, उपाध्याय, साधुमें दोषारोपण करनेवाला, तथा उनकी दिखावटी भक्ति करनेवाला, मायावी तथा अवर्णवादी कहलाता है। ऐसे अशुभ विचारोंसे मुनि किल्विष जातिके देवोंमें उत्पन्न होता है, इन्द्रकी सभामें नहीं जा सकता। (मू. आ०/६६)

किष्किंध — १ भरतक्षेत्रस्थ विन्ध्याचलका एक देश—दे० मनुष्य/८; २ भरत क्षेत्र मध्य आर्यखण्ड मलयगिरि पर्वतके निकटस्थ एक पर्वत—दे० मनुष्य / ४, ३, प्रतिचन्द्रका पुत्र तथा सूर्यरजका पिता वानरवंशी राजा था—दे० इतिहास/७/१३।

किष्किंविल—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए—दे० 'अन्तकृत'

किष्कु - क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम रिक्कु या गज—दे० गणित/ I/१।

कीचक—पा पु./१७/श्लोक—चुलिका नगरके राजा चुलिकका पुत्र द्रौपदीपर मोहित हो गया था (२४५) तब भीम (पाण्डव) ने द्रौपदीका रूप धर इसको मारा था (२७८-२९५)। अथवा (हरिवंशपुराणमें) भीम द्वारा पीटा जानेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली। अन्तमें एक देव द्वारा परीक्षा लेनेपर चित्तकी स्थिरतासे मोक्ष प्राप्त किया। (ह. पु /४६/३४)

कीर्तिकूट—नील पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

कीर्तिदेवी—नील पर्वतस्थ केसरीहृद व उसकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

कीर्तिधर—१ प पु०/मू०/१२३/१६६ के आधारपर, प. पु./प्र २१/ पं० पन्नालाल—बडे प्राचीन आचार्य हुए हैं। कृति—रामकथा (पद्मचरित)। इसीको आधार करके रविषेणाचार्यने पद्मपुराणकी और स्वयम्भू कविने पउमचरिउकी रचना की। समय—ई० ६०० लगभग। २, प. पु /२१ श्लोक "सुकौशल स्वामीके पिता थे। पुत्र सुकौशलके उत्पन्न होते ही दीक्षा धारण की (१५७-१६५) तदनन्तर स्त्रीने शेरनी बनकर पूर्व वैरसे खाया, परन्तु आपने उपसर्गको साम्यसे जीत मुक्ति प्राप्त की (२२/९८)।

कीर्तिधवल—प पु./सर्ग/श्लोक—राक्षस वंशीय घनप्रभ राजाका पुत्र था (५/४०३ ४०४) इसने श्रीकण्ठको वानर द्वीप दिया था, जिससे पुत्र परम्परासे वानर वंशकी उत्पत्ति हुई (६/८४)।—दे० इतिहास/ ७/१२।

कीर्तिमति—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी।—दे०लोक/७।

कीर्तिवर्म—जैन सिद्धान्त प्रकाशिनीके समयप्राभृतमें K. B Pathak. "चालुक्य वंशी राजा थे। वातापी नगर में श० सं० ५०० (वि० ६३५) में प्राचीन कदम्ब वंशका नाश किया। समय—श ५०० (ई० ५७८)

कीर्तिषेण—ह पु /६६/२५-३३, म प /प्र. ४८ पं. पन्नालाल—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप अमितसेनके शिष्य

तथा हरिवंशपुराणकार श्री जिनसेनके गुरु थे। समय—वि ८२०-८७० (ई० ७६३-८१३)—दे० इतिहास/५/१८।

कीलित संहनन—दे० 'संहनन'

कुंचित—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

कुंजरावर्त—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणिका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कुंड—प्रत्येक क्षेत्रमें दो दो कुण्ड हैं जिनमें कि पर्वतसे निकलकर नदियाँ पहले उन कुण्डोंमें गिरती हैं। पीछे उन कुण्डोंमें से निकलकर क्षेत्रोंमें बहती हैं। प्रत्येक कुण्डमें एक एक द्वीप है।—दे० लोक/७।

कुंडलकूट—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

कुंडलगिरि—इसके बहु मध्य भागमें एक कुण्डलाकार पर्वत है, जिसपर आठ चैत्यालय हैं। १३ द्वीपके चैत्यालयोंमें इनकी गणना है।

कुंडलपुर—दे० कुंडिनपुर।

कुंडलवर द्वीप—मध्य लोकका ग्यारहवाँ द्वीप व सागर—दे० लोक/५/६।

कुंडला—पूर्व विदेहस्थ सुवत्सा क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७।

कुंडिनपुर—१. म. पु./प्र ४६ पं. पन्नालाल-विदर्भ (बरार) देशकी प्राचीन राजधानी/; २ वर्दा नदीपर स्थित एक नगर—दे० मनुष्य/४।

कुंतल—भरत क्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कुंती—पा. पु०/सर्ग/श्लोक—राजा अन्धकवृष्णिकी पुत्री तथा वसुदेव की बहन थी (७/१३२-१३८) कन्यावस्थामें पाण्डुसे 'कर्ण' नामक पुत्र उत्पन्न किया (७/२६३) पाण्डुसे विवाहके पश्चात् युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन पुत्रोंको जन्म दिया (८/१४-१४३) अन्तमें दीक्षा धारणकर सोलहवें स्वर्गमें देवपद प्राप्त किया (२५/१५,१४१)।

कुंथनाथ—म. पु./६४/श्लोक "पूर्वभव नं. ३ में वत्स देशकी सुसीमा के राजा सिंहरथ थे (२-३) फिर दूसरे भवमें सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए (१०) वर्तमान भवमें १७ वें तीर्थंकर हुए।५। विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५/।

कुंद—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कुंदकुंद—

१. परिचय—

दिगम्बर जैन आम्नायमें आपका नाम गणधर देवके पश्चात लिया जाता है अर्थात् गणधर देवके समान ही आपका आदर किया जाता है। आपको अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। आप अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्तिके साधु थे। आप अध्यात्म विषयमें इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्दकी गहनताको स्पर्श करना आजके तुच्छ बुद्धि व्यक्तियोंकी शक्तिसे बाहर है। आपके अनेकों नाम प्रसिद्ध हैं तथा आपके जीवनमें कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओंका भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्मप्रधानी होनेपर भी आप सर्व विषयोंके पारगामी थे और इसीलिए हर विषयपर आपने ग्रन्थ रचे हैं। आजके कुछ विद्वान् इनके सम्बन्धमें कल्पना करते हैं कि इन्हें करणानुयोग व गणित आदि विषयोंका ज्ञान न था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है। क्योंकि करणानुयोगके मूलभूत व सर्वप्रथम ग्रन्थ षट्खण्डागमपर आपने एक परिकर्म नामकी टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थोंको पढ़कर अज्ञानीजन उनके अभिप्रायकी गहनताको स्पर्श न करनेके कारण अपनेको एकदम शुद्ध बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं, परन्तु वे स्वयं महान् चारित्रवंत थे। भले ही अज्ञानी जगत उसे देख न सके पर इन्होंने अपने शास्त्रोंमें सर्वत्र व्यवहार व निश्चय नयोंका साथ-साथ कथन किया है। जहाँ वे व्यवहारको हेय बताते हैं वहाँ उसकी कथंचित उपादेयता भी बताये बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानीजन उनके शास्त्रोंको पढ़कर संकुचित एकान्त दृष्टि अपनानेकी बजाय व्यापक अनेकान्त दृष्टि अपनायें—

२ कुन्दकुन्दका वंश व ग्राम

कुरलकाव्य/प्र. २१ पं० गोविन्दराय शास्त्री—"दक्षिणादेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्। एलाचार्यो नाम्नो द्रविडगणाधीश्वरो धीमान्।—मन्त्र लक्षण।" —यह श्लोक हस्तलिखित 'मन्त्र लक्षण' ग्रन्थमें-से लेकर लिखा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य (अपर नाम कुन्दकुन्द) दक्षिण देशके मलय प्रान्तमें हेमग्रामके निवासी थे और द्रविडसंघके अधिपति थे। मद्रास प्रेजीडेन्सीके मलयाप्रदेशमें 'पोन्नूरगाँव'को ही प्राचीन कालमें हेमग्राम कहते थे, और सम्भवतः वहीं कुन्दकुन्दपुर है। इसीके पास नीलगिरि पहाड़पर श्री एलाचार्यकी चरणपादुका बनी हुई है।

प.प्रा/प्र ३/प्रेमीजी—द्रविड़ देशस्थ 'कोण्डकुण्ड' नामक स्थानके रहनेवाले थे और इस कारण कोण्डकुन्द नामसे प्रसिद्ध थे। नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० 'इतिहास') आप उस संघके आचार्य थे। श्री जिनचन्द्रके शिष्य तथा श्री उमास्वामीके गुरु थे। यथा—

मू. आ./प्र. ११ जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले—पद्मनन्दिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी.। (इत्यादि देखो आगे 'उनका श्वेताम्बरोंके साथ वाद')

३ अपर नाम

मूल नन्दिसंघकी पट्टावली—पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ, जिनादिचन्द्रस्समभूदतन्द्र। ततोऽभवत् पञ्च सुनामधामा, श्री 'पद्मनन्दि' मुनिचक्रवर्ती। आचार्य 'कुन्दकुन्दाख्यो' 'वक्रग्रीवो' महामति। 'एलाचार्यो' 'गृद्धपृच्छ' 'पद्मनन्दी' वितायते। = उस पट्टपर मुनिमान्य जिनचन्द्र आचार्य हुए और उनके पश्चात् पद्मनन्दि नामके मुनि चक्रवर्ती हुए। उनके पाँच नाम थे—कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपृच्छ और पद्मनन्दि।

पं.का./ता. वृ /१ मंगलाचरण—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैः। = श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव जिनके कि पद्मनन्दि आदि अपर नाम भी थे।

चन्द्रगिरि शिलालेख ४५/६६ तथा महानवमीके उत्तरमें एक स्तम्भपर—"श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द। = श्री पद्मनन्दि ऐसे अनवद्य नामवाले आचार्य जिनका नामान्तर कौण्डकुन्द था।

ष.प्रा./मो./प्रशस्ति पृ. ३७६ इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृध्रपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन •। = इस प्रकार श्री पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य नामपंचकसे विराजित••।

नोट—इनके अतिरिक्त इनका एक नाम वट्टकेर भी सिद्ध है।

४. नामों सम्बन्धी विचार

१ पद्मनन्दि—नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जिनचन्द्र आचार्यके पश्चात पद्मनन्दिका नाम आता है। अतः पता चलता है कि पद्मनन्दि इनका दीक्षाका नाम था। २ कुन्दकुन्द—श्रुतावतार/१६०-१६१ गुरुपरिपाट्या ज्ञात सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे।१६०। श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः। ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य।१६१। = गुरु परिपाटीसे आये हुए सिद्धान्तको जानकर कोण्डकुण्डपुरमें श्री पद्मनन्दि

मुनिके द्वारा १२००० श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामका ग्रन्थ षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंकी टीकाके रूपमें रचा गया। इसपरसे जाना जाता है तथा प्रसिद्धि भी है कि आप कोण्डकुण्डपुरके निवासी थे। इसी कारण आपको कुन्दकुन्द भी कहते थे। (प प्रा /प्र. ३ प्रेमीजी) ३ एलाचार्य—प. प्रा./प्र. ३ प्रेमीजी—कुरलकाव्य जो तामिल देशमें तामिलवेदके नामसे प्रसिद्ध है, श्री एम० ए० रामास्वामी आयंगरके अनुसार—एक जैन आचार्यकी रचना है। यह ग्रन्थ ईस्वीकी प्रथम शताब्दीके लगभग मदुराके कवि संघमें पेश करनेके लिए रचा गया था। और क्योंकि नन्दिसघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) कुन्दकुन्दका काल भी ईस्वी शताब्दी २ का मध्यभाग है इसपरसे अनुमान किया जा सक्ता है कि यह एलाचार्य वही कुन्दकुन्द हैं, जिनके पाँच नामोंमें एलाचार्य भी एक नाम बताया गया है। (मू. आ./प्र. ६ जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले) इन्होंने कुन्दकुन्दके इस नाम का कारण वह कथास्थल बताया है जिसके अनुसार वे विदेह क्षेत्रस्थ श्री सीमन्धरस्वामीके समवशरणमें गये थे, जहाँके लोगोंकी ऊँचाई ५०० धनुषकी होती है। भरतक्षेत्रकी अपेक्षा इनका शरीर कुल ३॥ हाथका था। समवशरणमें स्थित चक्रवर्तीको इन्हें देखकर आश्चर्य हुआ और इन्हें चीटी वत् उठा कर अपने हाथपर रख लिया। श्री सीमन्धर प्रभु द्वारा इनकी महत्ताका परिचय पाने पर उसने इन्हें नमस्कार किया और इनका नाम एलाचार्य रख दिया। ४ गृद्धपृच्छ—(मू.आ /प्र.१०/ जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले) गृद्धपृच्छ नामका हेतु ऐसा है कि विदेह क्षेत्रसे लौटते समय रास्तेमें इनकी मयूर पृच्छिका गिर गयी। तब यह गीधके पिच्छ (पंख) हाथमें लेकर लौट आये। अत' गृद्धपिच्छ ऐसा भी इनका नाम हुआ। ५ वक्रग्रीव—इस शब्द परसे अनुमान होता है कि सम्भवत' आपकी गर्दन टेढी हो और इसी कारणसे आपका नाम वक्रग्रीव पड गया हो। ६. वट्टकेर—मूलाचार नामके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—एकमें रचयिताका नाम वट्टकेर दिया है तथा दूसरेमें कुन्दकुन्द। दोनों ग्रन्थोंमें कुछ मात्र गाथाओंको छोड कर शेष समान हैं। इस परसे जाना जाता है कि वट्टकेर वाला मूलाचार भी वास्तवमें आपकी ही रचना है। (स सि /प्र ४६ / पं फूलचन्द्र व H L. Jain)

५ श्वेताम्बरोंके साथ वाद

(मू आ /प्र /११ / जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले) भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यका गिरनार पर्वतपर श्वेताम्बराचार्योंके साथ बडा वाद हुआ था, उस समय पाषाण निर्मित सरस्वतीकी मूर्तिसे आपने यह कहला दिया था कि दिगम्बर धर्म प्राचीन है।—यथा=''पद्मनन्दिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः। पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥–गुर्वावली॥ कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके। सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥'' (आचार्य शुभचन्द्र कृत पाण्डवपुराण)=ऐसे अनेक प्रमाणोंसे उनकी उद्भट विद्वत्ता सिद्ध है।

६ ऋद्धिधारी थे

श्रवणबेलगोलामें अनेकों शिलालेख प्राप्त हैं जिनपर आपकी चारण ऋद्धि तथा चार अंगुल पृथिवीसे ऊपर चलना सिद्ध है। यथा—जैन शिलालेख संग्रह/शिलालेख नं०/पृष्ठ नं० ४०/६४./ तस्यान्वये भूविदिते बभूव य पद्मनन्दिप्रथमाभिधान'। श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वरस्य सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धि. ॥६॥

४२/६६ श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द.। द्वितीयमासीदभिधानमुद्यचरित्रसंजातसुचारणर्द्धि' ।४। =श्री चन्द्रगुप्त मुनिराजके प्रसिद्ध वशमें पद्मनन्दि संज्ञावाले श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर हुए हैं। जिनको सत्संयमके प्रमादसे चारण ऋद्धि उत्पन्न हो गयी थी।४०। श्री पद्मनन्दि हैं अनवद्य नाम जिनका तथा कुन्दकुन्द है अपर नाम जिनका ऐसे आचार्यको चारित्रके प्रभावसे चारण ऋद्धि उत्पन्न हो गयी थी।४२।

२ शिलालेख नं ६२,६४,६६,६७,२५४,२६१ पृ २६३-२६६ कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे। उपरोक्त सभी लेखोंसे यही घोषित होता है।

३. चन्द्रगिरि शिलालेख/नं ५४/पृ १०२ कुन्दपुष्पकी प्रभा धरनेवाले, जिसकी कीर्तिके द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके चारण ऋद्धिधारी महामुनियोंके सुन्दर हस्तकमलका भ्रमर था और जिस पवित्रात्माने भरत क्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा करी है वह विभु कुन्दकुन्द इस पृथिवीपर किससे वन्द्य नहीं है।

४. जैन शिलालेख संग्रह/पृ.१९७-१९८ रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्यापि सव्यञ्जयितुं यतीश'। रज पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं स' ॥=यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रजस्थानको और भूमितलको छोडकर चार अंगुल ऊँचे आकाशमें चलते थे। उसके द्वारा मैं यों समझता हूँ कि वह अन्दरमें और बाहरमें रजसे अत्यन्त अस्पृष्टपनेको व्यक्त करता हुआ।''

५. मद्रास व मैसूर प्रान्त प्राचीन स्मारक पृ ३१७-३१८ (६६) लेख नं. ३५। आचार्यकी वंशावलीमें—(श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमिसे चार अंगुल ऊपर चलते थे।)

हल्ली नं २१ ग्राम हेग्गरेमें एक मन्दिरके पाषाणपर लेख—''स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य शासने। श्रीकुन्दकुन्दनामाभूत चतुरङ्गुलचारणे।''=श्री वर्द्धमान स्वामीके शासनमें प्रसिद्ध श्री कुन्दकुन्दाचार्य भूमिसे चार अंगुल ऊपर चलते थे।

प प्रा /मो/प्रशस्ति/पृ ३७९ नामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरजिनेन···। = नाम पंचक विराजित (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने चतुरंगुल आकाशगमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरमें स्थित श्री सीमन्धर प्रभुकी वन्दना की थी।

मू.आ /प्र १० जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले—भद्रबाहु चरित्रके अनुसार राजा चन्द्रगुप्तके सोलह स्वप्नोंका फल कथन करते हुए भद्रबाहु आचार्य कहते हैं कि पचम कालमें चारण ऋद्धि आदिक ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं, और इस लिए भगवान् कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि होनेके सम्बन्धमें शंका उत्पन्न हो सकती है। जिसका समाधान यों समझना कि चारण ऋद्धिके निषेधका वह सामान्य कथन है। पंचम कालमें ऋद्धिप्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है यही उस का अर्थ समझना चाहिए। पचम कालके प्रारम्भमें ऋद्धिका अभाव नहीं है परन्तु आगे उसका अभाव है ऐसा समझना चाहिए। यह कथन प्रायिक व अपवाद रूप है। इस सम्बन्धमें हमारा कोई आग्रह नहीं है।

७. विदेहक्षेत्र गमन

१ द सा /मू /४३. जइ पउमणंदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण। ण विबोहेइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणति ।४३। = विदेहक्षेत्रस्थ श्री सीमन्धर स्वामीके समवशरणमें जाकर श्री पद्मनन्दि नाथने जो दिव्य ज्ञान प्राप्त किया था, उसके द्वारा यदि वह बोध न देते तो, मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते।

२ पं. का /ता वृ /मगलाचरण/१ अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यै. प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतै श्रीकुण्डकुन्दाचार्यदेवै पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयै·· विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे · तात्पर्यव्याख्यान कथ्यते।=अब श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य, जो कि प्रसिद्ध कथाके अनुसार पूर्व विदेहमें जाकर वीतराग-सर्वज्ञ तीर्थंकर परमदेव श्रीमन्दर स्वामीके दर्शन करके, उनके मुख-

कमलसे विनिर्गत दिव्य वाणीके श्रवण द्वारा अवधारित पदार्थसे शुद्धात्म तत्त्वके सारको ग्रहण करके आये थे, तथा पद्मनन्दि आदि हैं दूसरे नाम भी जिनके ऐसे कुन्दकुन्द आचार्यदेव द्वारा विरचित पंचास्तिकाय प्राभृतशास्त्रका तात्पर्य व्याख्यान करते हैं।

३. ष.प्रा./मो./प्रशस्ति/पृ ३७९ श्री पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य...नामपञ्चक-विराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दित सीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्य-जीवेन श्रीजिनचन्द्रभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे...। =श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य देव जिनके कि पाँच नाम थे, चारण ऋद्धि द्वारा पृथिवीसे चार अंगुल आकाशमें गमन करते पूर्व विदेहकी पुण्डरीकणी नगरमें गये थे। तहाँ सीमन्धर भगवान् जिनका कि अपर नाम स्वयंप्रभ भी है, उनकी वन्दना करके आये थे। वहाँसे आकर उन्होंने भारतवर्षके भव्य जीवोंको सम्बोधित किया था। वे श्री जिनचन्द्र भट्टारकके पट्टपर आसीन हुए थे, तथा कलिकाल सर्वज्ञके रूपमें प्रसिद्ध थे। उनके द्वारा विरचित षट्प्राभृत-ग्रन्थमें।

४. भू.आ./प्र./१० जिनदास पार्श्वनाथ फुडकले = चन्द्रगुप्तके स्वप्नोंका फलादेश बताते हुए आचार्य भद्रबाहुने (भद्रबाहु चरित्रमें) कहा है कि पंचम कालमें देव और विद्याधर भी नहीं आयेंगे, अत शंका होती है कि भगवान् कुन्दकुन्दका विदेह क्षेत्रमें जाना असम्भव है। इसके समाधानमें भी ऋद्धिके समाधानवत् ही कहा जा सकता है।

८ कलिकालसर्वज्ञ कहलाते थे

१ ष.प्रा./मो./प्रशस्ति पृ ३७९ श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य... कलिकाल-सर्वज्ञेन विरचितेन षट्प्राभृतग्रन्थे। =कलिकाल सर्वज्ञ श्रीपद्मनन्दि अपर नाम कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रन्थमें।

९ गुरु सम्बन्धी विचार

आपके गुरुके सम्बन्धमें भी कुछ मतभेद है। पंचास्तिकायमें श्री जयसेनाचार्यके अनुसार आपके गुरुका नाम कुमारनन्दि बताया गया है।

यथा—अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः... श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-देवै...विरचिते पञ्चास्तिकाय...। =अर्थात् श्री कुमारनन्दि सिद्धान्त देवके शिष्य श्रीकुन्दकुन्द आचार्य देव द्वारा विरचित पंचास्तिकाय शास्त्र। परन्तु नन्दिसंघ बलात्कार गणकी पट्टावलीके अनुसार आपके गुरुका नाम जिनचन्द्र बताया गया है। यथा—

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन्बलात्कारगणोऽतिरम्यः। तत्राभवत् पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः॥ पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः। ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा श्री पद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती॥ =श्री मूलसंघमें नन्दिसंघ तथा उसमें बलात्कार-गण है। उसमें पूर्वपदांशधारी श्री माघनन्दि मुनि हुए जो कि नर सुर द्वारा वन्द्य हैं। उनके पदपर मुनि मान्य श्री जिनचन्द्र हुए और उनके पश्चात् पंच नामधारी मुनिचक्रवर्ती श्रीपद्मनन्दि हुए।

ष.प्रा./मो./प्रशस्ति/पृ. ३७९ श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य नाम पञ्चक-विराजितेन श्री जिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणेन। = श्री पद्म-नन्दि कुन्दकुन्दाचार्य जिनके पाँच नाम प्रसिद्ध हैं तथा जो श्री जिन-चन्द्रसूरि भट्टारकके पदपर आसीन हुए थे।

नोट —उपरोक्त मतभेदका समन्वय यह मानकर किया जा सकता है कि जिनचन्द्र आपके दीक्षा गुरु थे और श्री कुमारनन्दि इनके शिक्षा गुरु थे अथवा दोनों ही इनके शिक्षा गुरु थे और इनके दीक्षा गुरु कोई अन्य ही थे, जिनका पता नहीं है।

१०. रचनाएँ

कुन्दकुन्दाचार्यने समयसार आदि ८४ पाहुड रचे जिनमें १२ पाहुड ही उपलब्ध हैं। इस सम्बन्धमें सर्व विद्वान् एकमत हैं। परन्तु इन्होंने षट्खण्डागम ग्रन्थके प्रथम तीन खण्डोंपर भी एक १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामकी टीका लिखी थी, ऐसा श्रुतावतारमें आचार्य इन्द्रनन्दिने स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रन्थका निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके आधारपर ही आगे उनके काल सम्बन्धी निर्णय करनेमें सहायता मिलती है—

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्। गुरुपरिपाटया ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे ॥१६०॥ श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादश-सहस्रपरिमाणः। ग्रन्थ परिकर्म कर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥१६१॥ = इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करके गुरु परि-पाटीसे आये हुए सिद्धान्तको जानकर श्रीपद्मनन्दि मुनिने कोण्डकुण्ड-पुर ग्राममें १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामकी षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंकी व्याख्या की। इनकी प्रधान रचनाएँ निम्न हैं—षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामकी टीका, समय-सार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्ट पाहुड, पंचास्तिकाय, रयणसार, इत्यादि ८४ पाहुड, मूलाचार, दशभक्ति, कुरलकाव्य। कुरलकाव्यके सम्बन्धमें इनका एलाचार्य नाम सिद्ध करनेके लिए पहले बताया जा चुका है।

११ काल

नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार तथा पृथक्से सिद्ध किये अनुसार आपका काल—शालिवाहन सं. अर्थात् शक संवत् ४९-१०१ अर्थात् ई० सं० १२७-१७९ है। (देखो इतिहास)

कुंभ—असुरकुमार (भवनवासी)—दे० असुर।

कुंभक—ज्ञा./२९/८ निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे। कुम्भ-वन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः ॥=पूरक पवनको स्थिर करके नाभि कमलमें जैसे घड़ेको भरैं तैसें रोकैं (थाँभै) नाभिसे अन्य जगह चलने न दें सो कुम्भक कहा है।

★ **कुम्भक प्राणायाम सम्बन्धी विषय**—दे० प्राणायाम।

कुंभकटक द्वीप—भरतक्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कुंभकर्ण—प.पु./७/श्लोक—रावणका छोटा भाई था (२२२)। रावणकी मृत्युके पश्चात् विरक्त हो दीक्षा धारण कर (७८/८१) अन्तमें मोक्ष प्राप्त की (८०/१२९)।

कुंमुज—ज.प./प्र./१४० A. N. up H L. वर्तमान काराकोरम देश ही पुराणोंका कुंमुज्ज या मुंज्वान है। इसीका वैदिक नाम मूज-वान था। आज भी उसके अनुसार मुज्ताग कहते हैं। तुर्की भाषाके अनुसार इसका अर्थ पर्वत है।

कुअवधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान।

कुगुरु—कुगुरुकी विनयका निषेध व कारणादि—दे० विनय/४।

कुट्टक—ध. ५/प्र. २७ Indetrminte equation

कुडइ—ध. १४/५,६,४२/४२/२ जिणहरघरायदणाणं ठविदओलित्तीओ कुड्डा णाम। =जिनगृह, घर और भवनकी जो भीतें बनायी जाती है, उन्हें कुड्ड कहते हैं।

कुडचाश्रित—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

कुणिक—म. पु./७४/४१४ यह मगधका राजा था। राजा श्रेणिकका पिता था। राजा श्रेणिकके समयानुसार इसका समय—ई० पू० ५२५-५४६ माना जा सकता है।

कुणीयान—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

कुत्सा—दे० जुगुप्सा।

कुदेव—१. कुदेवकी विनयका निषेध—दे० विनय/४। २ कुदेवकी विनयादिके निषेधका कारण—दे० अमूढदृष्टि/३।

कुधर्म—१. कुधर्मकी विनयका निषेध—दे० विनय/४। २ कुधर्मके निषेधका कारण—दे० अमूढदृष्टि/३।

कुपात्र—दे० पात्र।

कुप्य—स. सि./७/२९/३६८/६ कुप्य क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि। =रेशम, कपास और कोसाके वस्त्र तथा चन्दन आदि कुप्य कहलाता है। (रा वा/७/२९/१/५५५/१०)।

कुबेर—१. अरहनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष। २ दे० लोकपालदेव।

कुथुमि—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

कुब्जक संस्थान—दे० संस्थान।

कुब्जा—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कुभोगभूमि—दे० भूमि।

कुमति—दे० मतिज्ञान।

कुमानुष—दे० म्लेच्छ/अन्तद्वीपज।

कुमार—१. श्रेयासनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष। २. आत्मप्रबोध/प्र प० गजाधरलाल—आप कविवर थे। द्विजवंशावतंस विद्वद्वर गोविन्दभट्टके ज्येष्ठ पुत्र थे, तथा प्रसिद्ध कवि हस्तिमल्लके ज्येष्ठ भ्राता थे। समय—ई० १२९० वि० १३४७। कृति—आत्मप्रबोध।

कुमार—इस नामके अनेकों आचार्य, पण्डित व कवि आदि हुए है जैसे कि—१ प का /ता. वृ /मगलाचरण/१ आपका नाम कुमारनन्दि था। आप भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यके गुरु थे। सम्भवत आप शिक्षा-गुरु थे, क्योंकि नन्दिसंघकी पट्टावलीके अनुसार आपके गुरुका नाम जिनचन्द्र बताया गया है। का. अ /प्र /७० A. N. up के अनुसार—यह लोहाचार्य या माघनन्दिके समकालीन होने चाहिए। तदनुसार आपका समय—नन्दिसघ बलात्कारगणके अनुसार विक्रम शक स० ३६-४० (ई० ११४-११८)। श्रुतावतारके अनुसार वि० नि० ५९३-६१४ (ई० ६६-८७)। २ का अ /प्र. ७५ A N up आपका नाम कुमारनन्दि द्वितीय था। नन्दिसघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप वज्रनन्दिके शिष्य तथा लोकचन्द्रके गुरु थे। समय—विक्रम शक स० ३८६-४२७ (ई० ४६४-५०५)। ३ ह पु /प्र ८ प० पन्नालाल—आपका नाम कुमारसेन गुरु था। तीसरे कुमारसेन चन्द्रोदय ग्रन्थके कर्त्ता प्रभाचन्द्रके गुरु थे। उसके अनुसार आपका समय—ई० ७३८ आता है। मूलगुण्ड नामक स्थानपर समाधि धारण की थी। शिष्यका नाम प्रभाचन्द्र (चन्द्रोदयके कर्ता) ४. का अ./प्र. ७१ A.N up; सि. वि /प्र. ३६ प० महेन्द्र—चौथे 'कुमार' का नाम 'कुमारनन्दि' था। इन्होंने वादन्याय' नामका एक ग्रन्थ रचा था। इनका समय—ई० ७७६ था। ५. पचस्तूप सघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/१८) पाँचवें 'कुमार' का नाम 'कुमारसेन' था। यह विनयसेनाचार्यके शिष्य थे। सन्यास भग होनेके कारण सघ बाह्य कर दिये गये थे। तब इन्होंने काष्ठासघकी स्थापना की थी। समय—(द. सा /३०-३९ प्रेमी के अनुसार) काष्ठासघकी स्थापना वि० स० ७५३ (ई० ६९६) में की थी। (बा. अ /प्र ५ में नाथूराम प्रेमी के अनुसार) ये वि० स० ८४५-६५५ (ई० ७८८-८९८) में होने चाहिए। (सि वि./प्र ३८ प० महेन्द्र के अनुसार) इनका समय ई० ७२०-८०० होना चाहिए। ६ नन्दिसघ देशीयगण न० १ के अनुसार (दे० इतिहास) गुरु आविद्धकरण पद्मनन्दि न० २ का दूसरा नाम कौमारदेव था। दे० पद्मनन्दि; दे० इतिहास/५/१४। ७. (का अ/प्र ५-६ प्रेमीजी), (का अ /प्र ६५, ६७, ६६, ७२) सातवें कुमारका नाम 'स्वामी कुमार' था। इन्हींको स्वामीकार्तिकेय भी कहते हैं। प्रेमीजीके अनुसार महादेवीके पुत्र षडाननके दो और भी नाम थे—एक कुमार और दूसरा कार्तिकेय। उनके ही अनुसार इनके गुरुका नाम विनयसेन था। कार्तिकेयानुप्रेक्षा। समय—ई० १००८। प० पन्नालाल द्वारा इनका समय वि. श २-३ कहा गया है। सम्भवत यह राजा क्रौंचका उपसर्ग सहकर जानेवाले कोई अन्य कार्तिकेय होंगे। इस द्वादशानुप्रेक्षाके कर्ता तो स्वामीकुमार है। ८ का. अ/प्र. ७१ A. N. up आठवें कुमारका नाम 'कुमार पण्डित' है। इनका समय—ई० १२३९ है।

कुमारगुप्त—मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) यह गुप्तवंशका पाँचवाँ राजा था। "जैनहितैषी भाग १३ अंक १२ में प्रकाशित "गुप्त राजाओंका काल, मिहिरकुल व कल्की" नामके लेखमें श्री के० बी० पाठक बताते है कि यह राजा शि० ४९३ (ई० ५५०) में राज्य करता था। और उस समय गुप्त सवत् ११७ था। समय—वी. नि ९६१-९८६ (ई० ४३८-४५९) विशेष—दे० इतिहास/३/१।

कुमारिल (भट्ट)—१ मीमासक मतके आचार्य थे। सि वि /२५ प० महेन्द्रके अनुसार—आपका समय—ई० श० ७ का पूर्वार्ध। (विशेष दे० मीमासा दर्शन)। २ वर्तमान भारतका इतिहास—हिन्दू धर्मका प्रभावशाली प्रचारक था। समय—ई० श० ८।

कुमुद—१ विजयार्धको उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर, २ अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र तथा सुखावह वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक—दे० लोक।७। ३ रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक।७। ४ कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

कुमुदप्रभा—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

कुमुदशैल—भद्रशाल वनमें स्थित एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७।

कुमुद्वती—पा पु /८/१०८-१११ देवकराजकी पुत्री पाण्डुके भाई विदुरसे विवाही गयी।

कुमुदांग—कालका परिमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

कुमुदा—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

कुरलकाव्य—आ० एलाचार्य अपरनाम कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत अध्यात्म नीति विषयक तामिल भाषामें रचित एक ग्रन्थ है दक्षिण देशमें यह तामिलवेदके नाममे प्रसिद्ध है, और इसकी जैनेतर लोगोंमें बहुत मान्यता है। इसमें १०,१० श्लोक प्रमाण १०८ परिच्छेद हैं।

कुरु—१ भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। २ म पु /प्र /४८ प पन्नालाल—सरस्वती नदीके बाँयीं ओर का कुरुजागल देश। हस्तिनापुर इसकी राजधानी है। ३ देव व उत्तरकुरु—(दे० लोक/३/११)

कुरुवंश—१. पुराणकी अपेक्षा कुरुवंश—दे० इतिहास/७/५। २ इतिहासकी अपेक्षा कुरुवंश—दे० इतिहास/३/५।

कुर्युंधर—पा पु /२५/श्लोक दुर्योधनका भानजा था (५६-५७) इसने पांचो पाण्डवोंको ध्यानमग्न देख अपने मामाकी मृत्युका बदला लेनेके लिए उनको तपे लोहेके जेवर पहनाये थे (६२-६५)।

कुल—स सि /९/२४/४४२/९ दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्याय कुलम्। =दीक्षकाचार्यके शिष्य समुदायको कुल कहते हैं। (रा. वा. /९/२४/९/६२३); (चा सा /१५१/३)

प्र. सा /ता. वृ /२०३/२७६/७ लाकदुगुंच्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्य कुल भण्यते। =लौकिक दोषोंसे रहित जो जिनदीक्षाके योग्य होता है उसे कुल कहते हैं।

मू. आ./भाषा /२२१ जाति भेदको कुल कहते हैं।

२. १९७½ लाख क्रोड़की अपेक्षा कुलोंका नाम निर्देश—

मू आ /२२१-२२५ बावीससत्ततिण्णि अ सत्तय कुलकोडि सद सहस्साई। णेयापुढविदगागणिवाऊकायाण परिसंखा ॥२२१॥ काडिसदसहस्साई सत्तट्ठ व णव य अट्ठवीस च। वेइदियतेइंदियचउरिंदियहरिदकायाणं ।२२२। अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं। जलचरपक्खिचउप्पयउरपरिसप्पेसु णव होंति ।२२३। छव्वीसं पणवीस चउदसकुनकोडिसदसहस्साइ। सुरणेरइयणराणं जहाकम हाइ णायव्व ।२२४। एया य काडिकाडो णवणवदीकाडिसदसहस्साइ। पण्णारसं च सहस्सा सवग्गोणं कुलाण कोडीओ ।२२५।

अर्थ=एकेन्द्रियोंमें

१. पृथिविकायिक जीवोंमें	=२२ लाख क्रोड कुल
२. अप्‌कायिक ,,	= ७ ,, ,, ,,
३ तेजकायिक ,,	= ३ ,, ,, ,,
४. वायुकायिक ,,	= ७ ,, ,, ,,
५. वनस्पतिकायिक ,,	=२८ ,, ,, ,,
विकलत्रय	
१ द्विइन्द्रिय जीवोंमें	= ७ ,, ,, ,,
२. त्रिइन्द्रिय ,,	= ८ ,, ,, ,,
३ चतुरिन्द्रिय ,,	= ९ ,, ,, ,,
पंचेन्द्रिय	
१ पचेन्द्रिय जलचर जीवोंमें	=१२½ ,, ,, ,,
२ ,, खेचर ,,	=१२ ,, ,, ,,
३ ,, भूचर चौपाये ,,	=१० ,, ,, ,,
४ ,, ,, सर्पादि ,,	= ९ ,, ,, ,,
५ नारक जीवोंमें	=२५ ,, ,, ,,
६ मनुष्योंमें	=१४ लाख क्रोड कुल
७. देवोंमे	=२६ ,, ,, ,,
कुल सर्व कुल	=१९९½ लाख क्रोड कुल

३. १९७½ लाख क्रोड़की अपेक्षा कुलोंका नाम निर्देश

नि सा /टी०/४२/२९६/७ पूर्वोक्तवत् ही है, अन्तर केवल इतना है कि वहाँ मनुष्योंमें १४ लाख क्रोड कुल कहे हैं, और यहाँ मनुष्योंमें १२ लाख क्रोड कुल कहे हैं। इस प्रकार २ क्रोड कुलका अन्तर हो जाता है। (त सा /२/११२-११६), (गो.जी मू /११३-११७)

४ कुल व जातिमें अन्तर

गो जी/भाषा /११७/२७८/९ जाति है सो तो योनि है तहाँ उपजनेके स्थान रूप पुद्गल स्कधके भेदनिका ग्रहण करना। बहुरि कुल है सो जिनि पुद्गलकरि शरीर निपजे तिनिके भेद रूप है। जैसे शरीर पुद्गल आकारादि भेदकरि पचेन्द्रिय तिर्यञ्चविषै हाथी, घोड़ा इत्यादि भेद है ऐसे सो यथासम्भव जानना।

कुलकर

म पु./२११-२१२ प्रजानां जीवनोपायमननान्मनवो मताः। आर्याणां कुलसंस्त्यायकृते कुलकरा इमे ।२११। कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति। युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णवः ।२१२। =प्रजाके जीवनका उपाय जाननेसे मनु तथा आर्य पुरुषोंको कुलकी भाँति इकट्ठे रहनेका उपदेश देनेसे कुलकर कहलाते थे। इन्होंने अनेक वंश स्थापित किये थे, इसलिए कुलधर कहलाते थे, तथा युगके आदिमें होनेसे युगादि पुरुष भी कहे जाते थे। (२११/२१२/त्रि.सा./७९४)

१४ कुलकर निर्देश—दे० शलाका पुरुष/९।

कुलकुण्ड पार्श्वनाथ विधान—आ० पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत पूजापाठ विषयक संस्कृत ग्रन्थ है।

कुलगिरि—दे० वर्षधर।

कुलचन्द्र—ष खं /प्र २/प्र H. L. Jain नन्दिसंघके देशीय गणके अनुसार (दे० इतिहास) आप कुलभूषणके शिष्य तथा माघनन्दि मुनि कोल्लापुरीयके गुरु थे। समय—वि. ११३०-११६० (ई० १०७३-११०३)—दे०-इतिहास ५/८।

कुलचर्या क्रिया—दे० संस्कार/२।

कुलधर—दे० कुलकर।

कुलभद्राचार्य—सारसमुच्चय टीका/प्र ४ ब शीतलप्रसाद—आप सारसमुच्चय ग्रन्थके कर्ता एक आचार्य थे। आपका समय वी. नि./२४६३ से १००० वर्ष पूर्व वी. १४६३, ई० ९३७ है।

कुलभूषण—१—प.पु /३९/श्लोक—वंशधर पर्वतपर ध्यानस्थ इनपर अग्निप्रभ देवने घोर उपसर्ग किया (४१) वनवासी रामके आनेपर देव तिरोहित हो गया (७३) तदनन्तर इनको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (७५)। २—नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार(दे०इतिहास) आविद्ध करण पद्मनन्दि कौमारदेव सिद्धान्तिक के शिष्य तथा कुलचन्द्रके गुरु थे। समय—१०७५-११५५ (ई० १०१८-१०८८) (ष खं /२ H. L. Jain) दे० इतिहास/५/४।

कुलमद—दे० मद।

कुलविद्या—दे० विद्या।

कुलसुत—भाविकालीन सातवें तीर्थंकर थे। अपरनाम कुलपुत्र, प्रभोदय, तथा उदयप्रभ है। दे० तीर्थंकर/५।

कुलोत्तुंग चोल—क्षत्र चूडामणि/प्र /७ प्रेमीजी, स्याद्वाद सिद्धि/प्र.२० पं०दरबारीलाल कोठिया—चोलदेशका राजा था। समय—वि ११२७-११७५ (ई० १०७०-१११८)।

कुवलयमाला—आ० द्योतन सूरि (ई० ७७८) की रचना है।

कुश—प पु /सर्ग/श्लोक रामचन्द्रजीके पुत्र थे (१००/१७) नारदकी प्रेरणासे रामसे युद्ध किया (१०२/४१-७४) अन्तमें पिताके साथ मिलन हुआ (१०३/४१,४७) अन्तमें क्रमसे राज्य (११९/१-२) व मोक्ष प्राप्त की। (१२३/८२)।

कुशपुर—१. भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश। दे० मनुष्य/४। २ म.पु /प्र.४९/पं० पन्नालाल—वर्तमान कुशावर (पंजाबका एक प्रसिद्ध नगर)।

कुशाग्रपुर—दे० कुशपुर।

कुशानवंश—भृत्यवंशका अपरनाम था—दे० इतिहास/३/१।

कुशील—दे० ब्रह्मचर्य।

कुशील संगति—मुनियोको कुशील संगतिका निषेध--दे० संगति।

कुशील साधु—१ कुशील साधुका लक्षण

भ. आ./मू./१३०१-१३०२ इंदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई। उम्मग्गेण पलायति साधुसत्थस्स दूरेण ।१३०१। तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पधेण धावंता। सण्णाणदीसु पडिदा किलेससुत्तेण बुढ्ढंति ।१३०२। =कितनेक मुनि इन्द्रिय चोरोसे पीडित होते है और कषाय रूप श्वापदोसे ग्रहण किये जाते है, तब साधुमार्गका त्याग कर उन्मार्ग में पलायन करते है। १३०१। साधुसार्थसे दूर पलायन जिन्होंने किया है ऐसे वे मुनि कुशील प्रतिसेवना-कुशील नामक भ्रष्टमुनिके सदोष आचरणरूप वनमे उन्मार्गसे भागते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी वाछा रूपी नदीमें पडकर दुःखरूप प्रवाहमें डूबते है। ।१३०२।

स सि /९/४६/४६०/८ कुशीला द्विविधा—प्रतिसेवनाकुशीला कपायकुशीला इति। अविविक्तपरिग्रहा परिपूर्णोभया कथंचिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीला। वशीकृतान्यकषायोदया संज्वलनमात्रतन्त्रा कपायकुशीला।

स सि /९/४७/४६१/१४ प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु काचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलप्रतिसेवना नास्ति। =१ कुशील दो प्रकारके होते है-प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो परिग्रहसे घिरे रहते है, जो मूल और उत्तर गुणोमें परिपूर्ण है, लेकिन कभी-कभी उत्तर गुणोंकी विराधना करते है वे प्रतिसेवनाकुशील है। जिन्होने अन्य कपायोके उदयको जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषायके आधीन है वे कपायकुशील कहलाते है (रा.वा./९/४६/३/६३६/२४): (चा सा./१०१/४) २ प्रतिसेवना कुशील मूलगुणोकी विराधना न करता हुआ उत्तरगुणोकी विराधनाकी प्रतिसेवना करनेवाला होता है। कषाय कुशील के प्रतिसेवना नही होती।

रा वा /९/४६/३/६३६/२९ ग्रीष्मे जङ्घाप्रक्षालनादिसेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदयाः सज्वलनमात्रतन्त्रत्वात् कषायकुशीलाः। =ग्रीष्म कालमे जघाप्रक्षालन आदिका सेवन करनेकी इच्छा होनेसे जिनके सज्वलन-कषाय जगती है और अन्य कपायें वशमें हो चुकी है वे कपाय-कुशील है।

भा पा /टी /१४/१३७/११ क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिहीन सघस्याविनयकारी कुशील उच्यते। = क्रोधादि कपायोसे कलुषित आत्मावाले, तथा व्रत, गुण और शीलोसे जो रहित है, और सघका अविनय करनेवाले है वे कपाय कुशील कहलाते है।

रा वा /हिं/९/४६/७६४ "यहाँ परिग्रह शब्दका अर्थ गृहस्थवत् नही लेना। मुनिनिके कमण्डलु पीछी पुस्तकका आलम्बन है, गुरु शिष्यानिका सम्बन्ध है, सो ही परिग्रह जानना।

२. कुशील साधु सम्बन्धी विषय—दे० साधु/५।

कुश्रुत—दे० श्रुतज्ञान।

कुष्मांड—पिशाच जातीय व्यतर देवोका भेद-दे० मनुष्य/४।

कुसंगति – दे० सगति।

कुसुम—भरतक्षेत्रके वरुण पर्वतस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कुह्य—भरत क्षेत्रस्थ कार्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कूट—ध १३/५,३,२६/३४/८ कागुंदुरादिधरणट्ठमोड्डिद कूड णाम। = चूहा आदिके धरनेके लिए जो बनाया जाता है उसे कूट कहते है।

ध./४/५,६,६४१/४९५/५ मेरु-कुलसेल-विंभ-सज्झादिपव्वया कूडाणि णाम। =मेरुपर्वत कुलपर्वत, विन्ध्यपर्वत, और सह्यपर्वत आदि कूट कहलाते है।

कूट—१. पर्वतपर स्थित चोटियोंको कूट कहते है। २ मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। ३. विभिन्न पर्वतोपर कूटोका अवस्थान व नाम आदि—दे० लोक/७।

कूटमातंगपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

कूटलेख क्रिया—दे० क्रिया/३।

कूर्मोन्नत योनि—दे० योनि।

कूष्मांडगणमाता—एक विद्या है—दे० विद्या।

कृत्—स.सि /६/८/३२५/४ कृत वचनं स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थम् =कर्ताकी कार्य विषयक स्वतन्त्रता दिखलानेके लिए सूत्रमें कृत वचन दिया है। (रा. वा /६/८/७/५१४)

रा.वा /६/८/७/५१४/७ स्वातन्त्र्यविशिष्टेनात्मना यत्प्रादुर्भावित तत्कृतमित्युच्यते। =आत्माने जो स्वतन्त्र भावसे किया वह कृत् है (चा सा /८८/५)

कृतनाशहेत्वाभास—श्लो. वा /२/१/९/२२/१ कर्तृ क्रियाफलानुभवितृनानात्वे कृतनाश। =करे कोई और फल कोई भोगे सो कृतनाश दोष है।

कृतक—स.म १ आपेक्षितपरव्यापारो हि भावः स्वभावनिष्पन्नो कृतकमित्युच्यते। =जो पदार्थ अपने स्वभावकी सिद्धि में दूसरेके व्यापारकी इच्छा करता है, उसे कृतक कहते है।

कृतकृत्य—भगवान्की कृतकृत्यता—ति प /१/१ णिट्ठियकज्जा· । · ।१। =जो करने योग्य कार्योको कर चुके है वे कृतकृत्य है।

प.वि /१/२ नो किंचित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किंचिद्दृशोर्दृश्य यस्य न कर्णयो किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न। तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टी रह। सप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिन ।२। =हाथोंसे कोई भी करने योग्य कार्य शेष न रहनेमे जिन्होने अपने हाथोको नीचे लटका रखा है, गमनसे प्राप्त करने योग्य कुछ भी कार्य न रहनेसे जो गमन रहित हो चुके है, नेत्रोके देखने योग्य कोई भी वस्तु न रहनेसे जो अपनी दृष्टिको नासाग्रपर रखा करते है, तथा कानोके सुनने योग्य कुछ भी शेष न रहनेसे जो आकुलता रहित होकर एकान्त स्थानको प्राप्त हुए थे, ऐसे वे ध्यानमें एकचित्त हुए भगवान् जयवन्त हो वे।

कृतकृत्य छद्मस्थ—(क्षीणमोह)—दे० छद्मस्थ।

कृतकृत्य मिथ्यादृष्टि—दे० मिथ्यादृष्टि/१।

कृतकृत्य वेदक—दे० सम्यग्दर्शन/IV/४।

कृतमातृकधारा—दे० गणित/II/५।

कृतमाला—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कृतमाल्य—विजयार्ध पर्वतस्थ तमिस्रकूटका स्वामी देव—दे० लोक/७।

कृतांतवक्त्र—प पु /सर्ग/श्लोक रामचन्द्रजीका सेनापति था (९/४४) दीक्षा ले. मरणकर देवपद प्राप्त किया (१०९/१४-१९) अपनी प्रतिज्ञानुसार लक्ष्मणकी मृत्युपर रामचन्द्रको सम्बोधकर उनका मोह दूर किया (१०९/११८-११९)।

कृति—१ किसी राशिके वर्ग या Square को कृति कहते है। विशेष—दे० गणित II/७। २. ष.खं./९/सू.६६/२७४ जो राशि वर्गित होकर वृद्धिको प्राप्त होती है। और अपने वर्गमेसे अपने वर्गमूलको कम करके पुनः वर्ग करनेपर भी वृद्धिको प्राप्त होती है उसे कृति कहते है। '१' या '२' ये कृति नही है। '३' आदि समस्त संख्याएँ कृति है। ३ ष.खं./९/सू०६६/२७४ 'एक' संख्याका वर्ग करनेपर वृद्धि नहीं होती तथा उसमेसे (उसके ही) वर्गमूलके कमकर देने पर वह निर्मूल नष्ट हो जाती है। इस कारण 'एक' संख्या नोकृति है।

कृति १ कृतिके भेद प्रभेद

ष खं/९/१,१/सू. /२३७-४५१
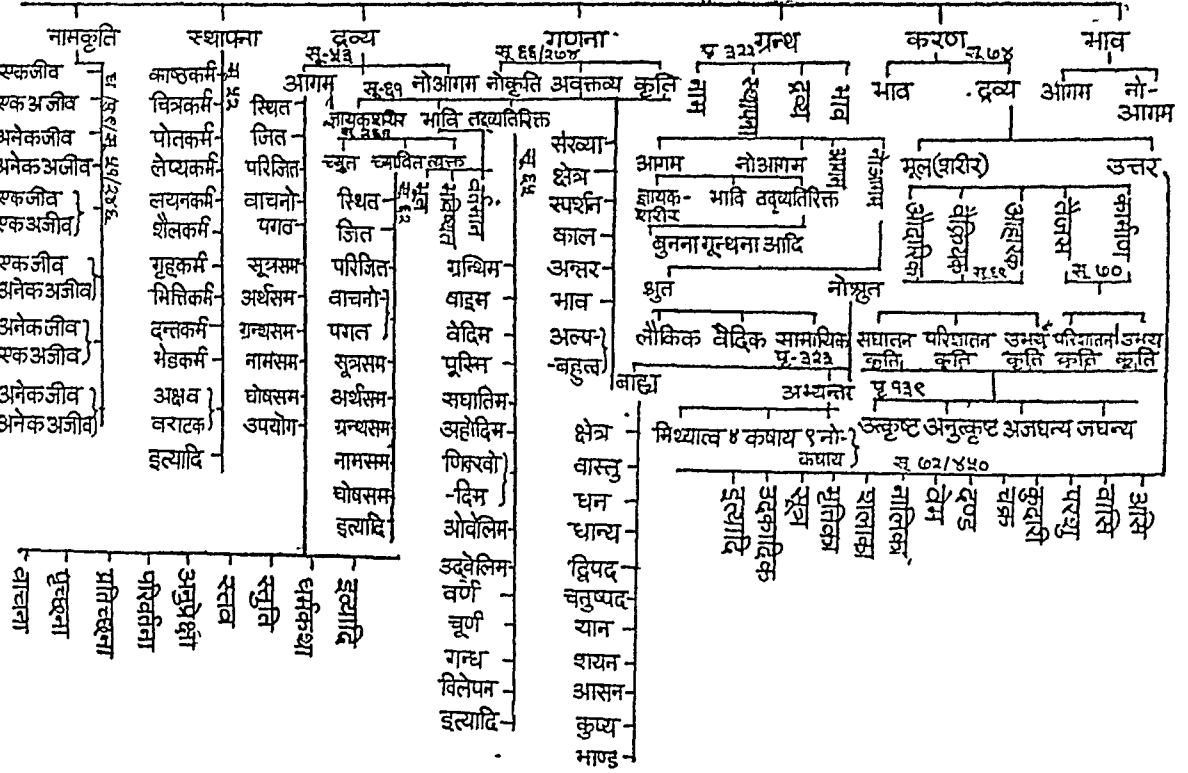
*** कृति सामान्यका लक्षण**

ध /९/४,१,६८/३२६/१ "क्रियते कृतिरिति व्युत्पत्ते, अथवा मूलकरमेव कृति, क्रियते अनया इति व्युत्पत्ते।=जो किया जाता है वह कृति शब्दकी व्युत्पत्ति है, अथवा मूल कारण ही कृति है, क्योंकि जिसके द्वारा किया जाता है वह कृति है, ऐसी कृति शब्दकी व्युत्पत्ति है।

* **निक्षेपरूप कृतिके लक्षण** — दे० निक्षेप।

* **स्थित जित आदि कृति**—दे० निक्षेप/५।

* **वाचना पृच्छना कृति**—दे० वह वह नाम।

* **ग्रन्थकृति**—दे० ग्रन्थ।

* **संघातन परिशातन कृति**—दे० वह वह नाम।

कृतिकर्म—द्रव्यश्रुतके १४ पूर्वोंमेंसे बारहवे पूर्वका छठो प्रकीर्णक —दे० श्रुतज्ञान/III/१।

कृतिकर्म—दैनिकादि क्रियाओमे साधुओको किस प्रकारके आसन, मुद्रा आदिका ग्रहण करना चाहिए तथा किस अवसरपर कौन भक्ति व पाठादिका उच्चारण करना चाहिए, अथवा प्रत्येक भक्ति आदिके साथ किस प्रकार आवर्त, नति व नमस्कार आदि करना चाहिए, इस सब विधि विधानको कृतिकर्म कहते है। इसी विषयका विशेष परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

*	कृतिकर्मके अतिचार —दे० व्युत्सर्ग/१।
९	अधिक बार आवर्तादि करनेका निषेध नहीं।
३	**कृतिकर्म व ध्यान योग्य द्रव्य क्षेत्रादि**
१	योग्य मुद्रा व उसका प्रयोजन।
२	योग्य आसन व उसका प्रयोजन।
३	योग्य पीठ।
४	योग्य क्षेत्र तथा उसका प्रयोजन।
५	योग्य दिशा।
—	योग्य काल —(दे० वह वह विषय)।
६	योग्य भाव आत्माधीनता।
७	योग्य शुद्धियां।
८	आसन क्षेत्र काल आदिके नियम अपवाद मार्ग हैं उत्सर्ग नहीं।
४	**कृतिकर्म विधि**
१	साधुका दैनिक कार्यक्रम।
२	कृतिकर्मानुपूर्वी विधि।
३	प्रत्येक क्रियाके साथ भक्तिके पाठोंका नियम।
५	**अन्य सम्बन्धित विषय**
*	कृतिकर्म विषयक सत् (अस्तित्व), सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ —दे० 'सत्'।
—	कृतिकर्मकी सवातन परिशातन कृति—दे० वह वह नाम।

१. भेद व लक्षण—

१. कृतिकर्मका लक्षण

प. ख /१३/५,४/सू.२८/८८ तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्त त सव्व किरियाकम्म णाम/२८/।=आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार करना (त्रि कृत्वा) तीन बार अवनति (नमस्कार), चार बार सिर नवाना (चतु' शिर) और १२ आवर्त ये सब क्रियाकर्म कहलाते है॥ (अन ध /६/१४)।

क. पा /१/१,१/§१/११८/२ जिणसिद्धाइरियं बहुसुदेसु वदिज्जमाणेसु। जं कीरइ कम्म त किदियम्म णाम।=जिनदेव, सिद्ध, आचार्य और उपाध्यायकी (नव देवता की) वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते है। (गो जी /जी प्र /३६७/७६०/५)

मू आ /भाषा /५७६ जिसमे आठ प्रकारके कर्मोंका छेदन हो वह कृतिकर्म है।

२. कृतिकर्म स्थितिकल्पका लक्षण

भ आ./टी /४२१/६१४/१० चरणस्थेनापि विनयो गुरूणा महत्तराणा शुश्रूषा च कर्तव्येति पञ्चम कृतिकर्मसज्ञित स्थितिकल्प।=चारित्र सम्पन्न मुनिका, अपने गुरुका और अपनेसे बडे मुनियोंका विनय करना शुश्रूषा करना यह कर्तव्य है। इसको कृतिकर्म स्थितिकल्प कहते है।

२. कृतिकर्म निर्देश—

१ कृतिकर्मके नौ अधिकार—

मू आ./५७५-५७६ किदियम्म चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च। कादव्व केण कस्स कथं व कहिं व कदि खुत्तो।५७६। कदि ओणद कदि सिरं कदिए आवत्तगेहिं परिसुद्धं। कदि दोसविप्पमुक्क किदियम्मं होदि कादव्वं।५७७।=जिससे आठ प्रकारके कर्मोंका छेदन हो वह कृतिकर्म है, जिसमे पुण्यकर्मका संचय हो वह चितकर्म है, जिससे पूजा करना वह माला चन्दन आदि पूजाकर्म है, शुश्रूषाका करना विनयकर्म है। १ वह क्रिया कर्म कौन करे, २ किसका करना, ३. किस विधिसे करना, ४. किस अवस्थामे करना, ५. कितनी बार करना, (कृतिकर्म विधान), ६. कितनी अवनतियोंसे करना, ७, कितनी बार मस्तकमें हाथ रख कर करना, ८. कितने आवर्तोंसे शुद्ध होता है, ९. कितने दोष रहित कृतिकर्म करना (अतिचार) इस प्रकार नौ प्रश्न करने चाहिए (जिनको यहाँ चार अधिकारोमे गर्भित कर दिया गया है।)

१. कृतिकर्मके प्रमुख अंग—

प ख./१३/५.४/सू २८/८८ तमादाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्त तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्व किरियाकम्म णाम।=आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना तीन बार करना (त्रि कृत्वा), तीन बार अवनति (या नमस्कार), चार बार सिर नवाना (चतु.शिर), और बारह आवर्त ये सब क्रियाकर्म हैं। (समवायाग सूत्र २) -

(क.पा /१/१.१/§६१/११८/२) (चा सा./१५७/१) (गो जी०/जी.प्र /३६७/७१०/५)

मू. आ /६०१,६८६ दोणदं तु जधाजादं बारसावत्तमेव य। चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्म पउजदे।६०१। तियरणसव्वविसुद्धो दव्व खेत्ते जधुत्तकालम्हि। मोणेणव्वाखित्तो कुज्जा आवासया णिच्चं।=ऐसे क्रियाकर्मको करे कि जिसमें दो अवनति (भूमिको छूकर नमस्कार) है, बारह आवर्त है, मन वचन कायकी शुद्धतासे चार शिरोनति है इस प्रकार उत्पन्न हुए बालकके समान करना चाहिए।६०१। मन, वचन काय करके शुद्ध, द्रव्य क्षेत्र यथोक्त कालमें नित्य ही मौनकर निराकुल हुआ साधु आवश्यकोंको करें।६८४। (भ आ./११६/२७५/११ पर उद्धृत) (चा सा /२५७/६ पर उद्धृत)

अन ध /८/७८ योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति। विनयेन यथाजात कृतिकर्मामल भजेत्।७८।=योग्य काल, आसन, स्थान (शरीरकी स्थिति बैठे हुए या खडे हुए), मुद्रा, आवर्त, और शिरोनति रूप कृतिकर्म विनय पूर्वक यथाजात रूपमे निर्दोष करना चाहिए।

३— कृतिकर्म कौन करे (स्वामित्व)—

मू. आ /५९० पचमहव्वदगुत्तो सविग्गोऽणालसो अमाणी य। किदियम्म णिज्जरट्ठी कुणइ सदा ऊणरादिणिओ।५९०। =पच महाव्रतोके आचरणमें लीन, धर्ममे उत्साह वाला, उद्यमी, मानकषाय रहित, निर्जराको चाहने वाला, दीक्षासे लघु ऐसा सयमी कृतिकर्मको करता है। नोट—मूलाचार ग्रन्थ मुनियोंके आचारका ग्रन्थ है, इसलिए यहाँ मुनियोंके लिए ही कृतिकर्म करना बताया गया है। परन्तु श्रावक व अविरत सम्यग्दृष्टियोको भी यथाशक्ति कृतिकर्म अवश्य करना चाहिए।

ध./५,४,३१/६४/४ किरियाकम्मदव्वट्ठदा असंखेज्जा। कुदो। पलिदोवमस्स असखेज्जदिभागमेत्त.सम्माइट्ठीसु चेव किरियाकम्मुवलभादो।=क्रियाकर्मकी द्रव्यार्थता (द्रव्य प्रमाण) असंख्यात है, क्योकि पल्योपमके असंख्यातवे भाग मात्र सम्यग्दृष्टियोमे ही क्रियाकर्म पाया जाता है।

चा सा /१६८/६ सम्यग्दृष्टीनां क्रियार्हा भवन्ति ।

चा सा./१६६/४ एवमुक्ता' क्रिया यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तम-श्रावकै सयतैश्च करणीया' ।=सम्यग्दृष्टियोंके ये क्रिया करने योग्य होती है।·· इस प्रकार उपरोक्त क्रियाएँ अपनी-अपनी योग्यतानुसार उत्तम, मध्यम, जघन्य श्रावकोंको तथा मुनियोको करनी चाहिए ।

अन. ध./८/१२६/८३७ पर उद्धृत--सव्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने। जायते यस्य संतोषो जिनवक्त्रविलोकने। परिषहसह शान्तो जिनसूत्रविशारद. । सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्त' प्रियंवद' ॥ आवश्यकमिदं धीर सर्वकर्मनिषूदनम् । सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता । =रोगीको निरोगताकी प्राप्तिसे; तथा अन्धे-को नेत्रोको प्राप्तिसे जिस प्रकार हर्ष व संतोष होता है, उसी प्रकार जिनमुख विलोकनसे जिसको सन्तोष होता हो २, परीषहोंको जीतनेमें जो समर्थ हो, ३, शान्त परिणामी अर्थात् मन्दकषायी हो; ४ जिनसूत्र विशारद हो, ५ सम्यग्दर्शनसे युक्त हो; ६. आवेश रहित हो, ७ गुरुजनोका भक्त हो; ८. प्रिय वचन बोलने वाला हो; ऐसा वही धीर-वीर सम्पूर्ण कर्मोंको नष्ट करने वाले इस आवश्यक कर्मको करनेका अधिकारी हो सकता है । और किसीमें इसकी योग्यता नहीं रह सक्ती ।

४. कृतिकर्म किसका करे—

मू आ./५९१ आइरियउवज्झायाण पवत्तगत्थेरगणधरादीणं । एदेसिं किदियम्म कादव्वं णिज्जरट्ठाए ।५९१। =आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदिकका कृतिकर्म निर्जराके लिए करना चाहिए, मन्त्रके लिए नही । (क पा /१/१.१/§९१/११८/२)

गो जी /जी प्र /३६७/७९०/२ तच्च अर्हत्सिद्धाचार्यबहुश्रुतसाध्वादि-नवदेवतावन्दनानिमित्त · क्रिया विधानं च वर्णयति । =इस (कृति-कर्म प्रकीर्णकमें) अर्हन्त सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि नवदेवतानि (पाँच परमेष्ठी, शास्त्र, चैत्य, चैत्यालय तथा निषद्यका) की वन्दनाके निमित्त क्रिया विधान निरूपिय है ।

५. किस किस अवसर पर करे—

मू आ०/५९९ आलोयणायकरणे पडिपुच्छा पूजणे य सज्झाए अवराधे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु ।५९९। =आलोचनाके समय, पूजाके समय, स्वाध्यायके समय, क्रोधादिक अपराधके समय—इतने स्थानोंमें आचार्य उपाध्याय आदिको वदना करनी चाहिये ।

भ.आ /वि /११६/२७८/२२ अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति। रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसंवत्सराद्या बहुप्रकारा भवन्ति। रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टयसवत्सरादिकालगोचरातिचारभेदापेक्षया । =अतिचार निवृत्तिके लिए कायोत्सर्ग बहुत प्रकारका है। रात्रि कार्योत्सर्ग, पक्ष, मास, चतुर्मास और सवत्सर ऐसे कायोत्सर्गके बहुत भेद है। रात्रि, दिवस, पक्ष, मास, चतुर्मास, वर्ष इत्यादिमें जो व्रतमें अतिचार लगते है उनको दूर करनेके लिए ये कायोत्सर्ग किये जाते है ।

६. नित्य करनेकी प्रेरणा—

अन ध./८/७७ नित्येनेत्थमथेतरेण दुरित निर्मूलयन् कर्मणा, / शुभग कैवल्यमस्तिघ्नुते ।७७। नित्य नैमित्तिक क्रियाओके द्वारा पाप कर्मों-का निर्मूलन करते हुए कैवल्य ज्ञानको प्राप्त कर लेता है ।

७. कृतिकर्मकी प्रवृत्ति आदि व अन्तिम तीर्थोंमें ही कही गयी है—

मू आ /६२९-६३० मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य। तह्माहु जमाचरति त गरहता वि सुज्झति।६२९। पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य। तो सव्वपडिक्कमणं अंधल-घोडय दिट्ठंतो ।६३०॥ =मध्यम तीर्थकरोके शिष्य स्मरण शक्तिवाले हैं, स्थिर चित्त वाले है, परीक्षापूर्वक कार्य करने वाले हैं, इस कारण जिस दोषको प्रगट आचरण करते हैं, उस दोषसे अपनी निन्दा करते हुए शुद्ध चारित्रके धारण करने वाले होते है ।६२९। आदि-अन्तके तीर्थकरोंके शिष्य चलायमान चित्त वाले होते हैं, मूढबुद्धि होते हैं, इसलिए उनके सब प्रतिक्रमण दण्डकका उच्चारण है। इसमें अन्धे घोडेका दृष्टान्त है। कि—एक वैद्यजी गाँव चले गये। पीछे एक सेठ अपने घोड़ेको लेकर इलाज करानेके लिए वैद्यजीके घर पधारे। वैद्यपुत्रको ठीक औषधिका ज्ञान तो था नहीं। उसने आलमारीमें रखी सारी ही औषधियोंका लेप घोडेकी आँखपर कर दिया। इससे उस घोड़ेकी आँखें खुल गईं। इसी प्रकार दोष व प्रायश्चित्तका ठीक-ठीक ज्ञान न होनेके कारण आगमोक्त आवश्य-कादिको ठीक-ठीक पालन करते रहनेसे जीवनके दोष स्वत शान्त हो जाते है । (भ आ./वि /४२१/६१६/५)

८. आवर्तादि करनेकी विधि—

अन ध./८/८९ त्रिः संपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुन' । साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतदाचरेत ।=आवश्यकोंका पालन करनेवाले तपस्वियोंको सामायिक पाठका उच्चारण करनेके पहले दोनों हाथों-को मुकुलित बनाकर तीन बार घुमाना चाहिए। घुमाकर सामायिक-के 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पाठका उच्चारण करना चाहिए। पाठ पूर्ण होनेपर फिर उसी तरह मुकुलित हाथोंको तीन बार घुमाना चाहिए। यही विधि स्तव दण्डकके विषयमें भी समझनी चाहिए।

९ अधिक बार भी आवर्त आदि करनेका निषेध नहीं—

ध.१३/५,४,२८/८९/१४ एवमेगं किरियाकम्मं चदुस्सिरं होदि । ण अण्णत्थ णवणपडिसेहो ऐदेण कदो, अण्णत्थणवणणियमस्स पडिसेहाकरणादो । =इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतु'सिर होता है। इससे अतिरिक्त नमन-का प्रतिषेध नहीं किया गया है, क्योंकि शास्त्रमें अन्यत्र नमन करनेके नियमका कोई प्रतिषेध नही है । (चा सा /१५७ ५/), (अन ध./८/९१)

३. कृतिकर्म व ध्यान योग्य द्रव्य क्षेत्रादि रूप सामग्री

१. योग्यमुद्रा व उसका प्रयोजन

१ शरीर निश्चल सीधा नासाग्रदृष्टि सहित होना चाहिए

भ आ /मू /२०८९/१९०३ उज्जुअआयददेहो अचल बधेत्त पलियकं। =शरीर व कमरको सीधी करके तथा निश्चल करके और पर्यंकासन बाँधकर ध्यान किया जाता है ।

रा. वा./९/४४/१/६३४/२० यथासुखमुपविष्टो बद्धपल्यङ्कासन समृजं प्रणिधाय शरीरयष्टिमस्तब्धां स्वाङ्के वामपाणितलस्योपरि दक्षिणपाणितल-मुत्तल समुपादाय(नेते)नात्युन्मीलन्नातिनिमीलन् दन्तैर्दन्ताग्राणि सद-धान. ईषदुन्नतमुख प्रगुणमध्योऽस्तब्धमूर्ति प्रणिधानगम्भीरशिरोधर प्रसन्नवक्त्रवर्ण अनिमिषस्थिरसौम्यदृष्टि विनिहितनिद्रालस्यकाम-रागरत्यरतिशोकहास्यभयद्वेषविचिकित्स' मन्दमन्दप्राणापानप्रचार इत्येवमादिकृतपरिकर्मा साधु ।=सुखपूर्वक पल्यंकासनसे बैठना चाहिए। उस समय शरीरको सम ऋजु और निश्चल रखना चाहिए। अपनी गोदमें बाये हाथके ऊपर दाहिना हाथ रखे। नेत्र न अधिक खुले न अधिक बन्द। नीचेके दाँतोपर ऊपरके दाँतोंको मिलाकर रखे। मुँहको कुछ ऊपरकी ओर किये हुए तथा सीधी कमर और गम्भीर गर्दन किये हुए, प्रसन्न मुख और अनिमिष स्थिर सौम्य दृष्टि होकर (नासाग्र दृष्टि होकर (ज्ञा /२८/३५,), निद्रा, आलस्य,

काम, राग, रति, अरति, शोक, हास्य, भय, द्वेष, विचिकित्सा आदिको छोडकर मन्दमन्द श्वासोच्छ्वास लेनेवाला साधु ध्यानकी तैयारी करता है। (म पु /२१/६०-६८), (चा सा /१७१/६), (ज्ञा./२८/३४-३७); (त. अनु /९२-९३)

म.पु /२१/६६ अपि व्युत्सृष्टकायस्य समाधिप्रतिपत्तये। मन्दोच्छ्वासनिमेषादिवृत्तेर्नास्ति निषेधनम् ।६६। = (प्राणायाम द्वारा श्वास निरोध नहीं करना चाहिए दे० प्राणायाम), परन्तु शरीरसे ममत्व छोडनेवाले मुनिके ध्यानकी सिद्धिके लिए मन्द-मन्द उच्छ्वास लेनेका और पलकोंकी मन्द मन्द टिमकारका निषेध नहीं किया है।

२. निश्चल मुद्राका प्रयोजन

म पु /२१/६७-६८ समावस्थितकायस्य स्यात् समाधानमङ्गिनः। दुःस्थिताङ्गस्य तद्भङ्गाद् भवेदाकुलता धियः ।६७। ततो तथोक्तपल्यङ्कलक्षणासनमास्थितः। ध्यानाभ्यासं प्रकुर्वीत योगी व्याक्षेपमुत्सृजन् ।६८। = ध्यानके समय जिसका शरीर समरूपसे स्थित होता है अर्थात् ऊँचा-नीचा नहीं होता है, उसके चित्तकी स्थिरता रहती है, और जिसका शरीर विषमरूपसे स्थित है उसके चित्तकी स्थिरता भंग हो जाती है, जिससे बुद्धिमें आकुलता उत्पन्न होती है, इसलिए मुनियोंको ऊपर कहे हुए पर्यंकासनसे बैठकर और चित्तकी चंचलता छोडकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए।

३. अवसरके अनुसार मुद्राका प्रयोग

अन ध /८/८७ स्वमुद्रा वन्दने मुक्ताशुक्ति सामायिकस्तवे। योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने ।८७। = (कृतिकर्म रूप) आवश्यकोंका पालन करनेवालोंको वन्दनाके समय वन्दना मुद्रा और 'सामायिक दण्डक' पढते समय तथा 'थोस्सामि दण्डक' पढते समय मुक्ताशुक्ति मुद्राका प्रयोग करना चाहिए। यदि बैठकर कायोत्सर्ग किया जाये तो जिनमुद्रा धारण करनी चाहिए। (मुद्राओंके भेद व लक्षण—दे० मुद्रा)

२. योग्य आसन व उसका प्रयोजन—

१. पर्यंक व कायोत्सर्गकी प्रधानता व उसका कारण

मू.आ./६०२ दुविहठाण पुनरुत्तं। = दो प्रकारके आसनोंमेंसे किसी एकसे कृतिकर्म करना चाहिए।

भ आ /मू /२०८९/१८०३ बंधेत्तु पलिअंकं। = पल्यंकासन बान्धकर किया जाता है। (रा.वा /९/४४/१/६३४/२०), (म.पु./२१/६०)

म पु /२१/६९-७२ पल्यङ्क इव दिध्यासो कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः। सप्रयुक्त सर्वाङ्गो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः ।६९। विसस्थुलासनस्थस्य ध्रुवं गात्रस्य निग्रहः। तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता ।७०। वैमनस्ये च किं ध्यायेत् तस्यादिष्टं सुखासनम्। कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः ततोऽन्यद्विषमासनम् ।७१। तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यते.। प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कम् आममन्ति सुखासनम् ।७२। = ध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले मुनिको पर्यंक आसनके समान कायोत्सर्ग आसन करनेकी भी आज्ञा है। परन्तु उसमें शरीरके समस्त अंग सम व ३२ दोषोंसे रहित रहने चाहिए (दे० व्युत्सर्ग १/६६) विषम आसनसे बैठने वालेके अवश्य ही शरीरमें पीडा होने लगती है। उसके कारण मनमें पीडा होती है और उससे व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है।।७०। आकुलता उत्पन्न होनेपर क्या ध्यान दिया जा सकता है? इसलिए ध्यानके समय सुखासन लगाना ही अच्छा है। कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो सुखासन हैं। इनके सिवाय बाकीके सब आसन विषम अर्थात् दुःख देनेवाले हैं।७१। ध्यान करने वालेको इन्हीं दो आसनोंकी प्रधानता रहती है। और उन दोनोंमें भी पर्यंकासन अधिक सुखकर माना जाता है।७२। (ध. १३/५,४,२६/६६/२), (ज्ञा/२८/१२-१३,३१-३२) (का अ/मू/३५५); (अन ध/८/८४)

२. समर्थ जनोंके लिए आसनका कोई नियम नहीं

ध १३/५,४,२६/६४/६६ जच्चिय देहावत्था जया ण झाणावरोहिणी होइ। झाएज्जो तदवत्थो ट्ठियो णिसण्णो णिवण्णो वा = जैसी भी देहकी अवस्था जिस समय ध्यानमें बाधक नहीं होती उस अवस्थामें रहते हुए खडा होकर या बैठकर (या म पु.के अनुसार लेट कर भी) कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान करे। (म पु/२१/७५), (ज्ञा /२८/११)

भ आ /मू./२०९०/१८०४ वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं। सम्म अधिदिट्ठो अध वसेज्जमुत्ताणसयणादि ।२०९०। = वीरासन आदि आसनोंसे बैठकर अथवा समपाद आदिसे खडे होकर अर्थात् कायोत्सर्ग आसनसे किंवा उत्तान शयनादिकसे अर्थात् लेटकर भी धर्मध्यान करते हैं।२०९०।

म पु/२१/७३-७४ वज्रकाया महासत्त्वा सर्वावस्थान्तरस्थिताः। श्रूयन्ते ध्यानयोगेन सम्प्राप्ताः पदमव्ययम् ।७३। बाहुल्यापेक्षया तस्माद् अवस्थाद्वयसङ्गरः। सक्तानां तूपसर्गाद्यैः तद्वैचित्र्यं न दुष्यति ।७४। = आगममें ऐसा भी सुना जाता है कि जिनका शरीर वज्रमयी है, और जो महाशक्तिशाली है, ऐसे पुरुष सभी आसनों से (आसनके वीरासन, कुक्कुटासन आदि अनेकों भेद—दे० आसन) विराजमान होकर ध्यानके बलसे अविनाशीपदको प्राप्त हुए हैं।७३। इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ऐसे दो आसनोंका निरूपण असमर्थ जीवोंकी अधिकतासे किया गया है। जो उपसर्ग आदिके सहन करनेमें अतिशय समर्थ हैं, ऐसे मुनियोंके लिए अनेक प्रकारके आसनोंके लगानेमें दोष नहीं है।७४। (ज्ञा/२८/१३-१७)

अन.ध./८/८३ त्रिविध पद्मपर्यङ्कवीरासनस्वभावकम्। आसन यत्नतः कार्यं विदधानेन वन्दनाम्। = वन्दना करनेवालोंको पद्मासन पर्यंकासन और वीरासन इन तीन प्रकारके आसनोंमेंसे कोई भी आसन करना चाहिए।

३. योग्य पीठ

रा. वा /९/४४/१/६३४/१६ समन्तात् बाह्यान्त करणविक्षेपकारणविरहिते भूमितले शुचावनुकूलस्पर्शे यथासुखमुपविष्टो। = सब तरफसे बाह्य और आभ्यन्तर बाधाओंसे शून्य, अनुकूल स्पर्शवाली पवित्र भूमिपर सुख पूर्वक बैठना चाहिए। (म पु /२१/६०)

ज्ञ /२८/९ दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले। समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ।९। = धीर वीर पुरुष समाधिकी सिद्धिके लिए काष्ठके तख्तेपर, तथा शिलापर अथवा भूमिपर वा बालू रेतके स्थानमें भले प्रकार स्थिर आसन करें। (त. अनु /९२)

अन ध /८/८२ विजन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम्। स्थेयस्तार्णाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम्। = विनयकी वृद्धिके लिए, साधुओंको तृणमय, शिलामय या काष्ठमय ऐसे आसनपर बैठना चाहिए, जिसमें क्षुद्र जीव न हों, जिसमें चरचर शब्द न होता हो, जिसमें छिद्र न हों, जिसका स्पर्श सुखकर हो, जो कील या काटे रहित हो तथा निश्चल हो, हिलता न हो।

४. योग्य क्षेत्र तथा उसका प्रयोजन

१ गिरि गुफा आदि शून्य व निर्जन्तु स्थान.

र. क. श्रा/९९ एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च। चैत्यालयेषु वापि च परिचेत्यं प्रसन्नधिया। = क्षुद्र जीवोंके उपद्रव रहित एकान्तमें तथा वनोंमें अथवा घर तथा धर्मशालाओंमें और चैत्यालयोंमें या पर्वतकी गुफा आदिमें प्रसन्न चित्तसे सामायिक करना चाहिए। (का. अ /मू /६५३). (चा सा/१९/२)

रा. वा /९/४४/१/६३४/१७ पर्वतगुहाकन्दरदरीद्रुमकोटरनदीपुलिनपितृवनजीर्णोद्यानशून्यागारादीनामन्यतमस्मिन्नवकाशे। = पर्वत, गुहा, वृक्षकी कोटर, नदीका तट, नदीका पुल, श्मशान, जीर्णोद्यान और

शून्यागार आदि किसी स्थानमे भी ध्यान करता है। (ध.१३/५,४, २६/६६/१), (म पु./२१/५७), (चा सा /१७१/३), (त अनु./९०)

ज्ञा./२८/१-७ सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते। कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धि प्रजायते ।१। सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा। पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसंकटे ।२। सरिता सगमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे। जीर्णोद्याने श्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ।३। सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा। महर्द्धिकमहाधीरयोगिस सिद्धवाञ्छिते ।४। =सिद्धक्षेत्र, पुराण पुरुषों द्वारा सेवित, महा तीर्थक्षेत्र, कल्याणकस्थान ।१। सागरके किनारे पर वन, पर्वतका शिखर, नदीके किनारे, कमल वन, प्राकार (कोट), शालवृक्षोंका समूह नदियोंका सगम, जलके मध्य स्थित द्वीप, वृक्षके कोटर, पुराने वन, श्मशान, पर्वतकी गुफा, जीवरहित स्थान, सिद्धकूट, कृत्रिम व अकृत्रिम चैत्यालय,—ऐसे स्थानोमें ही सिद्धिकी इच्छा करनेवाले मुनि ध्यानकी सिद्धि करते है। (अन ध /८/८१) (दे० वसतिका/४)

२. निर्बाध व अनुकूल

भ आ./मू /२०८६/१८०३ सुचिए समे विचित्ते देसे णिज्जंतुए अणुणाए ।२०८६। =पवित्र, सम, निर्जन्तुक तथा देवता आदिसे जिसके लिए अनुमति ले ली गयी है, ऐसे स्थानपर मुनि ध्यान करते है। (ज्ञा /२७/३२)

ध./१३/५,४,२६/१६-१७/६६ तो जत्थ समाहाण होज्ज मणोवयणकायजोगाण। भूदोवघायरहिओ सो देसो ज्झायमाणस्स ।१६। णिच्चं वियजुवइपसूणवुसयकुसीलवज्जियं जइणो। ट्ठाण वियण भणियं विसेसदो ज्झाणकालम्मि ।१७। =मन, वचन व कायका जहाँ समाधान हो और जो प्राणियोंके उपघातसे रहित हो वही देश ध्यान करनेवालोके लिए उचित है ।१६। जो स्थान श्वापद, स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशील जनोंसे रहित हो और जो निर्जन हो, यति जनोंको विशेष रूपसे ध्यानके समय ऐसा ही स्थान उचित है।१७। (दे० वसतिका/३ व ४)

रा वा/९/४४/१/६३४/१८ व्यालमृगपशुपक्षिमनुष्याणामगोचरे तत्रत्यैरागन्तुभिश्च जन्तुभि परिवर्जिते नात्युष्णे नातिशीते नातिवाते वर्षातापवर्जिते समन्तात् बाह्यान्त करणविक्षेपकारणविरहिते भूमितले। =व्याघ्र, सिंह, मृग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदिके अगोचर, निर्जन्तु, न अति उष्ण और न अति शीत, न अधिक वायुवाला, वर्षा-आतप आदिसे रहित, तात्पर्य यह कि सब तरफसे बाह्य और आभ्यन्तर बाधाओंसे शून्य ऐसे भूमितलपर स्थित होकर ध्यान करे। (म पु/ २१/५८-५९,७७), (चा सा /१७१/४), (ज्ञा /२७/३३), (त अनु /९०-९१), (अन.ध /८/८१)

३ पापी जनोंसे ससक्त स्थानका निषेध

ज्ञा /२७/२३-३० म्लेच्छाधमजनैर्जुष्ट दुष्टभूपालपालितम्। पाषण्डिमण्डलाक्रान्त महामिथ्यात्ववासितम् ।२३। कौलिकापालिकावास रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम्। उद्भ्रान्तभूतवेताल चण्डिकाभवनाजिरम् ।२४। पण्यस्त्रीकृतसकेत मन्दचारित्रमन्दिरम्। क्रूरकर्माभिचाराढ्य' कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ।२५। क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम्। मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ।२६। द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम्। पापिसत्त्वसमाक्रान्त नास्तिकासारसेवितम् ।२७। क्रव्यादकामुकाकीर्ण व्याधविध्वस्तश्वापदम्। शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीवजनाश्रितम् ।२८। प्रतिपक्षशिरःशूले प्रत्यनीकावलम्बितम्। आत्रेयीखण्डितव्यङ्गससृत च परित्यजेत् ।२९। विद्रवन्ति जना पापा सचरन्त्यभिसारिका। क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किता ।३०। =ध्यान करनेवाले मुनि ऐसे स्थानोको छोडे—म्लेच्छ व अधम जनोसे सेवित, दुष्ट राजासे रक्षित, पाखण्डियोसे आक्रान्त, महामिथ्यात्वसे वासित ।२३। कुलदेवता या कापालिक (रुद्र) आदि का वास व मन्दिर जहाँ कि भूत वेताल आदि नाचते हो अथवा चण्डिकादेवीके भवनका आँगन ।२४। व्यभिचारिणी स्त्रियोंके द्वारा संकेतित स्थान, कुचारित्रियोंका स्थान, क्रूरकर्म करने वालोंसे सचारित, कुशास्त्रोका अभ्यास या पाठ आदि जहाँ होता हो ।२५। जमींदारी अथवा जाति व कुलके गर्वसे गर्वित पुरुष जिस स्थानमें प्रवेश करनेसे मना करें, जिसमें अनेक दु शील व्यक्तियोंने कोई साहसिक कार्य किया हो ।२६। जुआरी, मद्यपायी, व्यभिचारी, बन्दीजन आदिके समूहसे युक्त स्थान पापी जीवोसे आक्रान्त, नास्तिकों द्वारा सेवित ।२७। राक्षसों व कामी पुरुषोंसे व्याप्त, शिकारियोंने जहाँ जीव वध किया हो, शिल्पी, मोची आदिकोंसे छोडा गया स्थान, अग्निजीवी (लुहार, ठठेरे आदि) से युक्त स्थान ।२८। शत्रुकी सेनाका पडाव, रजस्वला, भ्रष्टाचारी, नपुंसक व अंगहीनोंका आवास ।२९। जहाँ पापी जन उपद्रव करें, अभिसारिकाएँ जहाँ विचरती हों, स्त्रियाँ निःशक्ति होकर जहाँ कटाक्ष आदि करती हों ।३०। (वसतिका/३)

४ समर्थजनोंके लिए क्षेत्रका कोई नियम नहीं

ध.१३/५.४/२६/१८/६७ थिरकयजोगाणं पुण मुणीण झाणेसु णिच्चलमणाणं। गामम्मि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे य ण विसेसो ।१८। =परन्तु जिन्होंने अपने योगोंको स्थिर कर लिया है और जिनका मन ध्यानमें निश्चल है, ऐसे मुनियोंके लिए मनुष्योंसे व्याप्त ग्राममें और शून्य जगलमें कोई अन्तर नहीं है। (म पु /२१/८०), (ज्ञा /२८/२२)

५ क्षेत्र सम्बन्धी नियमका कारण व प्रयोजन

म पु /२१/७८-७९ वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यत। बाहुल्यादिन्द्रियार्थाना जातु व्यग्रीभवेन्मन ।७८। ततो विविक्तशायित्वं वने वासश्च योगिनाम्। इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयो ।७९। =जो मुनि मनुष्योंसे भरे हुए शहर आदिमे निवास करते हैं और निरन्तर विषयोंको देखा करते है, ऐसे मुनियोंका चित्त इन्द्रियोंके विषयोकी अधिकता होनेसे कदाचित् व्याकुल हो सकता है ।७८। इसलिए मुनियोंको एकान्त स्थानमें ही शयन करना चाहिए और वनमें ही रहना चाहिए यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकारके मुनियोंका साधारण मार्ग है ।७९। (ज्ञा./२७/२२)

५. योगदिशा

ज्ञा /२८/२३-२४ पूर्वदिशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा। प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ।२३। =ध्यानी मुनि जो ध्यानके समय प्रसन्न मुख साक्षात् पूर्व दिशामें मुख करके अथवा उत्तर दिशामें मुख करके ध्यान करे सो प्रशसनीय कहते हैं ।२३। (परन्तु समर्थजनोंके लिए दिशाका कोई नियम नहीं ।२४।

नोट--(दोनों दिशाओंके नियमका कारण—दे० दिशा)

६. योग्य भाव आत्माधीनता

ध.१३/५,४,२८/८८/१० किरियाकम्मे कीरमाणे अप्पायत्तं अपरवसत्तं आदाहीणं णाम। पराहीणभावेण किरियाकम्मं किण्ण कीरदे। ण, तहा किरियाकम्म कुणमाणस्स कम्मक्खयाभावादो जिणिंदादि अच्चासणदुवारेण कम्मबधसंभवादो च। =क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना अर्थात् परवश न होना आत्माधीनता है। प्रश्न—पराधीन भावसे क्रियाकर्म क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि उस प्रकार क्रियाकर्म करनेवालेके कर्मोंका क्षय नहीं होगा और जिनेन्द्रदेवकी आसादना होनेसे कर्मोंका बन्ध होगा।

अन ध /८/९९ कालुष्य येन जात त क्षमयित्वैव सर्वत.। सङ्गाच्च चिन्ता व्यावर्त्य क्रिया कार्या फलार्थिना ।९९। =मोक्षके इच्छुक साधुओको सम्पूर्ण परिग्रहोकी तरफसे चिन्ताको हटाकर और जिसके साथ किसी तरहका कभी कोई कालुष्य उत्पन्न हो गया हो, उसके क्षमा कराकर ही आवश्यक क्रिया करनी चाहिए।

७. योग्य शुद्धियाँ

(द्रव्य--क्षेत्र-काल व भाव शुद्धि, मन-वचन व काय शुद्धि; ईर्यापथ शुद्धि, विनय शुद्धि, कायोत्सर्ग-अवनति-आवर्त व शिरोनति आदि की शुद्धि—इस प्रकार कृतिकर्ममें इन सब प्रकारकी शुद्धियोका ठीक प्रकार विवेक रखना चाहिए। (विशेष—दे० शुद्धि)।

८. आसन, क्षेत्र, काल आदिके नियम अपवाद मार्ग है उत्सर्ग नहीं

ध.१३/५,४,२६/१५,२०/६६ सव्वासु वट्टमाणा जं देसकालचेट्ठासु। वर-केवलादिलाहं पत्ता हु सो खवियपावा ।१५। तो देसकालचेट्ठाणियमो ज्झाणस्स णत्थि समयम्मि। जोगाण समाहाणं जह होइ तहा पयइ-यव्वं ।२०। =सब देश सब काल और सब अवस्थाओं (आसनों) मे विद्यमान मुनि अनेकविध पापोंका क्षय करके उत्तम केवलज्ञानादि-को प्राप्त हुए ।१५। ध्यानके शास्त्रमें देश, काल और चेष्टा (आसन)का भी कोई नियम नही है। तत्त्वत. जिस तरह योगोंका समाधान हो उसी तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए ।२०। (म पु /२१/८२-८३), (ज्ञा./२८/२१)

म. पु /२१/७६ देशादिनियमोऽप्येवं प्रायोवृत्तिव्यपाश्रय । कृतात्मनां तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये ।७६। =देश आदिका जो नियम कहा गया है वह प्रायोवृत्तिको लिये हुए है, अर्थात् हीन शक्तिके धारक ध्यान करनेवालोके लिए ही देश आदिका नियम है, पूर्ण शक्तिके धारण करनेवालोके लिए तो सभी देश और सभी काल आदि ध्यान-के साधन है।

और भी दे० कृतिकर्म/३/२,४ (समर्थ जनोंके लिए आसन व क्षेत्रका कोई नियम नही)

दे० वह वह विषय—काल सम्बन्धी भी कोई अटल नियम नही है। अधिक बार या अन्य-अन्य कालोंमें भी सामायिक, वन्दना, ध्यान आदि किये जाते है।

४. कृतिकर्म-विधि

१. साधुका दैनिक कार्यक्रम

मू.आ./६०० चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए। पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दस्सा होंति ।६००। =प्रतिक्रमण कालमें चार क्रियाकर्म होते है और स्वाध्यायकालमें तीन क्रियाकर्म होते है। इस तरह सात सवेरे और सात साँझको सब १४ क्रियाकर्म होते है।

(अन. ध. ९/१-१३/३४-३५)

नं०	समय	क्रिया
१	सूर्योदय से लेकर २ घडी तक	देववन्दन, आचार्य वन्दना व मनन
२	सूर्योदयके २ घडी पश्चात्से मध्याह्नके २ घडी पहले तक	पूर्वाह्णिक स्वाध्याय
३	मध्याह्नके २ घडी पूर्वसे २ घडी पश्चात् तक	आहारचर्या (यदि उपवासयुक्त है तो क्रमसे आचार्य व देववन्दना तथा मनन)
४	आहारसे लोटने पर	मगलगोचरप्रत्याख्यान
५	मध्याह्नके २ घडी पश्चात्से सूर्यास्तके २ घडी पूर्व तक	अपराह्णिक स्वाध्याय
६	सूर्यास्तके २ घडी पूर्वसे सूर्यास्त तक	दैवसिक प्रतिक्रमण व रात्रियोग धारण
७	सूर्यास्तसे लेकर उसके २ घडी पश्चात तक	आचार्य व देववन्दना तथा मनन
८	सूर्यास्तके २ घडी पश्चात्से अर्धरात्रिके २ घडी पूर्व तक	पूर्वरात्रिक स्वाध्याय
९	अर्धरात्रिके २ घडी पूर्वसे उसके २ घडी पश्चात तक	चार घडी निद्रा
१०	अर्धरात्रिके २ घडी पश्चात्से सूर्योदयके २ घडी पूर्व तक	वैरात्रिक स्वाध्याय
११	सूर्योदयके २ घडी पूर्वसे सूर्योदय तक	रात्रिक प्रतिक्रमण
	नोट—रात्रि क्रियाओंके विषयमें दैवसिक क्रियाओकी तरह समयका नियम नही है। अर्थात् हीनाधिक भी कर सकते है ।४४।	

२. कृतिकर्मानुपूर्वी विधि

कोपकार—साधुके दैनिक कार्यक्रम परसे पता चलता है कि केवल चार घडी सोनेके अतिरिक्त शेष सर्व समयमें वह आवश्यक क्रियाओंमें ही उपयुक्त रहता है। वे उसकी आवश्यक क्रियाएँ छह कही गयी है—सामायिक, वन्दना, स्तुति, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान व कायोत्सर्ग। कही-कही स्वाध्यायके स्थान पर प्रतिक्रमण भी कहते है। यद्यपि ये छहो क्रियाएँ अन्तरंग व बाह्य दो प्रकारकी होती है। परन्तु अन्तरंग क्रियाएँ तो एक वीतरागता या समताके पेटमें समा जाती है। सामायिक व छेदोपस्थापना चारित्रके अन्तर्गत २४ घण्टो ही होती रहती है। यहाँ इन छहोका निर्देश वाचसिक व कायिकरूप बाह्य क्रियाओकी अपेक्षा किया गया है अर्थात इनके अन्तर्गत मुखसे कुछ पाठादिका उच्चारण और शरीरसे कुछ नमस्कार आदिका करना होता है। इस क्रिया काण्डका ही इस कृतिकर्म अधिकारमें निर्देश किया गया है। सामायिकका अर्थ यहाँ 'सामायिक दण्डक' नामका एक पाठ विशेष है और उस स्तवका अर्थ 'थोस्सामि दण्डक' नामका पाठ जिसमे कि २४ तीर्थंकरोका सक्षेपमें स्तवन किया गया है। कायोत्सर्गका अर्थ निश्चल सीधे खडे होकर ९ बार णमोकार मन्त्रका २७ श्वासोमें जाप्य करना है। वन्दना, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, व प्रतिक्रमणका अर्थ भी कुछ भक्तियोके पाठोका विशेष क्रमसे उच्चारण करना है, जिनका निर्देश पृथक् शीर्षकमें दिया गया है। इस प्रकारके १३ भक्ति पाठ उपलब्ध होते है—१ सिद्ध भक्ति,

२. श्रुत भक्ति, ३. चारित्र भक्ति, ४ योग भक्ति, ५. आचार्य भक्ति, ६. निर्वाण भक्ति, ७ नन्दीश्वर भक्ति, ८. वीर भक्ति ९. चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, १०. शान्ति भक्ति, ११ चैत्य भक्ति, १२. पचमहा-गुरु भक्ति व १३ समाधि भक्ति। इनके अतिरिक्त ईर्यापथ शुद्धि, सामायिक दण्डक व थोस्सामि दण्डक ये तीन पाठ और भी हैं। दैनिक अथवा नैमित्तिक सर्व क्रियाओंमें इन्ही भक्तियोंका उलट-पलट कर पाठ किया जाता है, किन्हीं क्रियाओंमें किन्हींका और किन्हींमें किन्हींका। इन छहों क्रियाओंमें तीन ही वास्तवमें मूल हैं—देव या आचार्य वन्दना, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय या प्रतिक्रमण। शेष तीनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उपरोक्त तीन मूल क्रियाओं-के क्रियाकाण्डमें ही उनका प्रयोग किया जाता है। यहाँ कृतिकर्मका विधि विधान है जिसका परिचय देना यहाँ अभीष्ट है। प्रत्येक भक्तिके पाठके साथ मुखसे सामायिक दण्डक व थोस्सामि दण्डक (स्तव) का उच्चारण, तथा कायसे दो नमस्कार, ४ नति व १२ आवर्त करने होते हैं। इनका क्रम निम्न प्रकार है—(चा सा/१५७/१ का भावार्थ)।

(१) पूर्व या उत्तराभिमुख खडे होकर या योग्य आसनसे बैठकर "विवक्षित भक्तिका प्रतिष्ठापन या निष्ठापन क्रियाया अमुक भक्ति कायोत्सर्ग करोम्यहम्" ऐसे वाक्यका उच्चारण। (२) पचाग नमस्कार, (३) पूर्व प्रकार खडे होकर या बैठकर तीन आवर्त व एक नति, (४) 'सामायिक दण्डक'का उच्चारण; (५) तीन आवर्त व एक नति, (६) कायोत्सर्ग, (७) पचाग नमस्कार, (८) ३ आवर्त व एक नति, (९) थोस्सामि दण्डकका उच्चारण, (१०) ३ आवर्त व एक नति; (११) विवक्षित भक्तिके पाठका उच्चारण, (१२) उस भक्ति पाठकी अंचलिका जो उस पाठके साथ ही दी गयी है। इसीको दूसरे प्रकारसे यों भी समझ सकते हैं कि प्रत्येक भक्ति पाठसे पहिले प्रतिज्ञापन करनेके पश्चात् सामायिक व थोस्सामि दण्डक पढने आवश्यक हैं। प्रत्येक सामायिक व थोस्सामि दण्डकसे पूर्व व अन्तमें एक एक शिरोनति की जाती है। इस प्रकार चार नति होती हैं। प्रत्येक नति तीन-तीन आवर्त पूर्वक ही होनेसे १२ आवर्त होते हैं। प्रतिज्ञापनके पश्चात् एक नमस्कार होता है और इसी प्रकार दोनों दण्डकोंकी सन्धिमें भी। इस प्रकार २ नमस्कार होते हैं। कहीं कहीं तीन नमस्कारोंका निर्देश मिलता है। तहाँ एक नमस्कार वह भी जोड लिया गया समझना जो कि प्रतिज्ञापन आदिसे भी पहिले बिना कोई पाठ बोले देव या आचार्यके समक्ष जाते ही किया जाता है। (दे० आवर्त व नमस्कार) किस क्रियाके साथ कौन कौन-सी भक्तियाँ की जाती हैं, उसका निर्देश आगे किया जाता है।

३. प्रत्येक क्रियाके साथ भक्ति पाठोंका निर्देश

(चा०सा०/१६०-१६६/६, क्रि०क०/४ अध्याय) (अन० ध०/९/४५-७४, ८२-८५)

संकेत—ल=लघु, जहाँ कोई चिह्न नहीं दिया वहाँ वह बृहत् भक्ति समझना।

१. नित्य व नैमित्तिक क्रियाकी अपेक्षा

(I) अनेक अपूर्व चैत्य दर्शन क्रिया—अनेक अपूर्व जिन प्रतिमाओं-को देखकर एक अभिरुचित जिनप्रतिमामें अनेक अपूर्व जिन चैत्य वन्दना करे। छठे महीने उन प्रतिमाओंमें अपूर्वता मानी जाती है। कोई नयी प्रतिमा हो या छह महीने पीछे पुन दृष्टिगत हुई प्रतिमा हो उसे अपूर्व चैत्य कहते हैं। ऐसी अनेक प्रतिमाएँ होनेपर स्व रुचि-के अनुसार किसी एक प्रतिमाके प्रति यह क्रिया करे। (केवल क्रि० क०)

(II) अपूर्व चैत्य क्रिया—सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, सालोचना-चारित्र भक्ति, चैत्य भक्ति, पचगुरु भक्ति। अष्टमी आदि क्रियाओंमें या पाक्षिक प्रतिक्रमणमें दर्शनपूजा अर्थात् अपूर्व चैत्य क्रियाका योग हो तो सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, चैत्य भक्ति, पचगुरु भक्ति करे। अन्तमें शान्तिभक्ति करे। (केवल क्रि० क०)

(III) अभिषेक वन्दना क्रिया—सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु-भक्ति, शान्ति भक्ति।

(IV) अष्टमी क्रिया—सिद्ध-भक्ति, श्रुतभक्ति, सालोचना चारित्रभक्ति, शान्ति भक्ति। (विधि नं० १), सिद्ध भक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्तिभक्ति। (विधि नं० २)

(V) अष्टाह्निक क्रिया—सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर चैत्यभक्ति, पंचगुरु-भक्ति, शान्ति भक्ति।

(VI) आचार्यपद प्रतिष्ठान क्रिया—सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति, शान्ति भक्ति।

(VII) आचार्य वन्दना.—लघु सिद्ध, श्रुत व आचार्य भक्ति। (विशेष दे० वन्दना) केश लोंच क्रिया—ल० सिद्ध—ल० योगि भक्ति। अन्त-में योगिभक्ति।

(VIII) चतुर्दशी क्रिया—सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पचगुरु भक्ति, शान्तिभक्ति, (विधि नं० १)। अथवा चैत्य भक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्तिभक्ति (विधि नं० २)

(IX) तीर्थंकर जन्म क्रिया—दे० आगे पाक्षिकी क्रिया।

(X) दीक्षा विधि (सामान्य) (१) सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, लोंचकरण (केशलुंचन), नामकरण, नाग्न्य प्रदान, पिच्छिका प्रदान, सिद्ध भक्ति। (२)—उसी दिन या कुछ दिन पश्चात् व्रतदान प्रतिक्रमण।

(XI) दीक्षा विधि (क्षुल्लक), सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति, 'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं नम' इस मन्त्रका २१ बार या १०८ बार जाप्य। विशेष दे० (क्रि० क०/पृ० ३३७)

(XII) दीक्षा विधि (बृहत्)'—शिष्य—(१) बृहत्प्रत्याख्यान क्रियामें सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति, गुरुके समक्ष सोपवास प्रत्याख्यान ग्रहण। आचार्य भक्ति, शान्ति भक्ति, गुरुको नमस्कार। (२)—गणधर वलय पूजा। (३)—श्वेत वस्त्र पर पूर्वाभिमुख बैठना। (४) केश लोंच क्रियामें सिद्ध भक्ति, योगि भक्ति। आचार्य—मन्त्र विशेषोंके उच्चा-रण पूर्वक मस्तकपर गन्धोदक व भस्म क्षेपण व केशोत्पाटन।

शिष्य—केश लोंच निष्ठापन क्रियामें सिद्ध भक्ति, दीक्षा याचना।

आचार्य—विशेष मन्त्र विधान पूर्वक सिर पर 'श्री' लिखे व अंजलीमें तन्दुलादि भरकर उस पर नारियल रखे। फिर व्रत दान क्रियामें सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, व्रत दान, १६ संस्कारारोपण, नामकरण, उपकरण प्रदान, समाधि भक्ति।

शिष्य—सर्व मुनियोंको वन्दना।

आचार्य—व्रतारोपण क्रियामें रत्नत्रय पूजा, पाक्षिक प्रतिक्रमण।

शिष्य—मुख शुद्धि मुक्त करण पाठ क्रियामें सिद्ध भक्ति, समाधि भक्ति। विशेष दे० (क्रि क /पृ. ३३३)।

देव वन्दना —ईर्यापथ विशुद्धि पाठ, चैत्य भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति। (विशेष दे० वदना)।

पाक्षिकी क्रिया —सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, और शान्ति भक्ति। यदि धर्म व्यासंगसे चतुर्दशीके रोज क्रिया न कर सके तो पूर्णिमा और अमावसको अष्टमी क्रिया करनी चाहिए। (विधि न. १)। सालोचना चारित्र भक्ति, चैत्य पचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति (विधि न. २)।

(XIII) पूर्व जिन चैत्य क्रिया —विहार करते करते छ महीने पहले उसी प्रतिमाके पुन' दर्शन हों तो उसे पूर्व जिन चैत्य कहते है। उस पूर्व जिन चैत्यका दर्शन करते समय पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिए। (केवल क्रि. क)।

(XIV) प्रतिमा योगी मुनिक्रिया'—सिद्धभक्ति योगी भक्ति, शान्ति भक्ति।

(XV) मंगल गोचार मध्याह्न वन्दना क्रिया'—सिद्ध भक्ति, चैत्य भक्ति, पचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति।

(XVI) योगनिद्रा धारण क्रिया'—योगि भक्ति। (विधि नं. १)।

(XVII) वर्षा योग निष्ठापन व प्रतिष्ठापन क्रिया'—(सिद्धभक्ति, योग भक्ति, 'यावन्ति जिनचैत्यायतनानि', और स्वयम्भूस्तोत्रमें से प्रथम दो तीर्थंकरोंकी स्तुति, चैत्य भक्ति। (२) ये सर्व पाठ पूर्वादि चारों दिशाओ की ओर मुख करके पढें, विशेषता इतनी कि प्रत्येक दिशामें अगले अगले दो दो तीर्थंकरोंकी स्तुति पढे। (३) पचगुरु भक्ति व शान्ति भक्ति।

नोट'—आषाढ शुक्ला १४ की रात्रिके प्रथम पहरमें प्रतिष्ठापन और कार्तिक कृष्णा १४ की रात्रिके चौथे पहरमें निष्ठापन करना। विशेष दे० पाद्य स्थिति कल्प।

वीर निर्वाण क्रिया'—सिद्ध भक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरु भक्ति, शान्ति भक्ति।

श्रुत पचमी क्रिया'—सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति पूर्वक वाचना नामका स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए। फिर स्वाध्याय कर श्रुत भक्ति और आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय ग्रहण कर श्रुत भक्ति कर स्वाध्याय पूर्ण करे। समाप्तिके समय शान्ति भक्ति करे।

संन्यास क्रिया —(१) सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, कर वाचना ग्रहण, (२) —श्रुत भक्ति, आचार्य भक्ति कर स्वाध्याय ग्रहण कर श्रुत भक्तिमें स्वाध्याय पूर्ण करे। (३) वाचनाके समय यही क्रिया कर अन्तमें शान्ति भक्ति करे। (४) सन्यासमें स्थित होकर-बृहत् श्रुत भक्ति, बृ० आचार्य भक्ति कर स्वाध्याय ग्रहण, बृ० श्रुत भक्तिमें स्वाध्याय करें। (विधि नं० १)। सन्यास प्रारम्भ कर सिद्ध व श्रुत भक्ति, अन्तमें सिद्ध श्रुत व शान्ति भक्ति। अन्य दिनोमे बृ० श्रुत भक्ति, बृ० आचार्य भक्ति पूर्वक प्रतिष्ठापना तथा बृ० श्रुत भक्ति पूर्वक निष्ठापना।

सिद्ध प्रतिमा क्रिया'—सिद्ध भक्ति।

२ पचकल्याणक वन्दना की अपेक्षा

(१) गर्भकल्याणक वन्दना'—सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति, शान्ति भक्ति।

(२) जन्म कल्याणक वन्दना'—सिद्ध भक्ति, चारित्र भक्ति व शान्ति भक्ति।

(३) तप कल्याणक वन्दना'—सिद्ध-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(४) ज्ञान कल्याणक वन्दना —सिद्ध-श्रुत-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(५) निर्वाण कल्याणक वन्दना —सिद्ध-श्रुत-चारित्र-योगिनिर्वाण व शान्ति भक्ति।

(६) अचलजिन बिम्ब प्रतिष्ठा'—सिद्ध व शान्ति भक्ति। (चतुर्थ दिन अभिषेक वन्दना में'—सिद्ध-चारित्र चैत्य-पचगुरु व शान्ति भक्ति (विधि न० १)। अथवा सिद्ध, चारित्र, चारित्रालोचना व शान्ति भक्ति।

(७) चल जिन बिम्ब प्रतिष्ठा'—सिद्ध व शान्ति भक्ति। ··(चतुर्थ दिन अभिषेक वन्दनामे)—सिद्ध-चैत्य-शान्ति भक्ति।

३. साधुके मृत शरीर व उसकी निषद्यका की वन्दनाकी अपेक्षा

(१) सामान्य मुनि सम्बन्धी —सिद्ध-योगी व शान्ति भक्ति।

(२) उत्तर व्रती मुनि सम्बन्धी - सिद्ध-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(३) सिद्धान्त वेत्ता मुनि सम्बन्धी'—सिद्ध-श्रुत-योगि व शान्ति भक्ति।

(४) उत्तरव्रती व सिद्धान्तवेत्ता उभयगुणी साधु —सिद्धश्रुत-चारित्र-योगि व शान्ति भक्ति।

(५) आचार्य सम्बन्धी'—सिद्ध-योगि-आचार्य-शान्ति भक्ति।

(६) कायक्लेशमृत आचार्य'—सिद्ध-योगि-आचार्य व शान्ति भक्ति। (विधि नं० १) सिद्ध-योगि-आचार्य-चारित्र व शान्ति भक्ति।

(७) सिद्धान्त वेत्ता आचार्य'—सिद्ध-श्रुत-योगि-आचार्य शान्ति भक्ति।

(८) शरीरक्लेशी व सिद्धान्त उभय आचार्य —सिद्ध-श्रुत-चारित्र-योगि-आचार्य व शान्ति भक्ति।

४ स्वाध्यायकी अपेक्षा

सिद्धान्ताचार वाचन क्रिया —(सामान्य) सिद्ध-श्रुत भक्ति करनी चाहिए, फिर श्रुत भक्ति व आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय करें, तथा अन्तमें श्रुत-व शान्ति भक्ति करें। तथा एक कायोत्सर्ग करें। (केवल चा० सा०)

विशेष'—प्रारम्भमें सिद्ध-श्रुत भक्ति तथा आचार्य भक्ति करनी चाहिए तथा अन्तमें ये हो क्रियाएँ तथा छह छह कायोत्सर्ग करने चाहिए।

पूर्वाह्न स्वाध्याय'—श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति			
अपराह्न ,,	—	,,	,,
पूर्वरात्रिक ,,	—	,,	,,
वैरात्रिक ,	—	,,	,,

५ प्रत्याख्यान धारणकी अपेक्षा

भोजन सम्बन्धी —ल० सिद्ध भक्ति।

उपवास सम्बन्धी=यदि स्वयं करे तो—ल० सिद्ध भक्ति।
यदि आचार्यके समक्ष करे तो—सिद्ध व योगि भक्ति।

मगल गोचर वृहत् प्रत्याख्यान क्रिया'—सिद्ध व योगि भक्ति (प्रत्याख्यान ग्रहण)—आचार्य व शान्ति भक्ति।

६ प्रतिक्रमणकी अपेक्षा

दैवसिक व रात्रिक प्रतिक्रमण —सिद्ध-व प्रतिक्रमण-निष्ठित चारित्र व चतुर्विंशति जिन स्तुति पढे। (विधि नं० १)। सिद्ध-प्रतिक्रमण भक्ति अन्तमें वीर भक्ति तथा चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति (विधि न० २।

यतिका पाक्षिक, चातुर्मासिक व सावत्सारिक प्रतिक्रमण-सिद्ध-प्रतिक्रमण तथा चारित्र प्रतिक्रमणके साथ साथ चारित्र-चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, चारित्र आलोचना गुरु भक्ति, बडी आलोचना गुरु भक्ति, फिर छोटी आचार्य भक्ति करनी चाहिए (विधि नं० १) (१) केवल शिष्य जन —ल० श्रुत भक्ति, ल० आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वन्दना करे। (२) आचार्य सहित समस्त सघ —बृ० सिद्ध भक्ति, आलोचना सहित बृ० चारित्र भक्ति। (३) केवल आचार्य'—ल० सिद्ध भक्ति, ल० योग भक्ति, 'इच्छामि भंते चरित्तायारो तेरह विहो' इत्यादि देवके समक्ष अपने दोषोकी आलोचना व प्रायश्चित्त ग्रहण। 'तीन बार पंच महाव्रत' इत्यादि देवके प्रति गुरु भक्ति। (४) आचार्य सहित समस्त सघ—ल० सिद्ध भक्ति, ल० योगि भक्ति तथा प्रायश्चित्त ग्रहण। (५) केवल शिष्य —ल० आचार्य भक्ति द्वारा आचार्य वन्दना। (६) गणधर वलय, प्रतिक्रमण दण्डक, वीरभक्ति, शान्ति जिनकीर्तन सहित चतुर्विंशति जिनस्तव, ल० चारित्रालोचना युक्त बृ० आचार्य भक्ति, बृ० आलोचना युक्त मध्याचार्य भक्ति, ल० आलोचना सहित ल० आचार्य भक्ति, समाधि भक्ति।

श्रावक प्रतिक्रमण'—सिद्ध भक्ति श्रावक प्रतिक्रमण भक्ति, वीर भक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, समाधिभक्ति।

कृतिकार्य—अपर नाम क्षत्रिय था—दे० क्षत्रिय।

कृतिधारा—दे० गणित/II/५।

कृतिमूल—किसी राशिके Square root को कृतिमूल कहते हैं —दे० गणित/II/१/७।

कृत्तिका—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

कृत्स्न—स०सि०/५/१३/२७८/१० कृत्स्नवचनमशेषव्याप्तिप्रदर्शनम्।··· सबके साथ व्याप्ति दिखलानेके लिए सूत्रमें 'कृत्स्न' पद रखा है।

कृषिकर्म—दे० सावद्य/२।

कृषिव्यवसाय—कुरलकाव्य/१०४/१ नरो गच्छतु कुत्रापि सर्वत्रान्नमपेक्षते। तत्सिद्धिश्च कृषेस्तस्माद् सुभिक्षेऽपि हिताय सा।१।=आदमी जहा चाहे घूमे पर अन्तमें अपने भोजनके लिए हलका सहारा लेना ही पड़ेगा। इसलिए हर तरहकी सस्ती होनेपर भी कृषि सर्वोत्तम उद्यम है।

कृष्टि—कृष्टिकरण विधानमें निम्न नामवाली कृष्टियोंका निर्देश प्राप्त होता है—कृष्टि, बादर कृष्टि, बादरकृष्टि, सूक्ष्मकृष्टि, पूर्वकृष्टि, अपूर्वकृष्टि, अधस्तनकृष्टि, संग्रहकृष्टि, अन्तरकृष्टि, पार्श्वकृष्टि, मध्यम खण्ड कृष्टि, साम्प्रतिक कृष्टि, जघन्योत्कृष्ट कृष्टि, घात कृष्टि। इन्हींका कथन यहां क्रमपूर्वक किया जायेगा।

१. कृष्टि सामान्य निर्देश

ध ६/१,९-८,१६/३३/३८२ गुणसेडि अणंतगुणा लोभादीकोधपच्छिमपदादो। कम्मस्स य अणुभागे किट्टीए लक्खणं एद।३३।=जघन्य-कृष्टिसे लेकर·· अन्तिम उत्कृष्ट कृष्टि तक यथाक्रमसे अनन्तगुणित-गुणश्रेणी है। यह कृष्टिका लक्षण है।

ल सा /जी.प्र /२८४/३४४/५ 'कर्शन कृष्टि कर्मपरमाणुशक्तेस्तनूकरणमित्यर्थः। कृश तनूकरणे इति धात्वर्थमाश्रित्य प्रतिपादनात्। अथवा कृष्यते तनूक्रियते इति कृष्टि प्रतिसमय पूर्वस्पर्धकजघन्यवर्गणाशक्तेरनन्तगुणहीनशक्तिवर्गणाकृष्टिरिति भावार्थ। =कृश तनूकरणे इस धातु करि 'कर्षण कृष्टि' जो कर्म परमाणुनिकी अनुभाग शक्तिका घटावना ताका नाम कृष्टि है। अथवा 'कृश्यत इति कृष्टिः' समय-समय प्रति पूर्व स्पर्धककी जघन्य वर्गणा तैं भी अनन्तगुणा घटता अनुभाग रूप जो वर्गणा ताका नाम कृष्टि है। (गो जी/ भाषा./५९/१६०/३) (क्ष. सा. ४९० की उत्थानिका)।

क्ष. सा /४९०. कृष्टिकरणका काल अपूर्व स्पर्धक करणसे कुछ कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। कृष्टिमें भी संज्वलन चतुष्कके अनुभाग काण्डक व अनुभाग सत्त्वमें परस्पर अश्वकर्ण रूप अल्पबहुत्व पाइये है। तातैं यहाँ कृष्टि सहित अश्वकरण पाइये है ऐसा जानना। कृष्टिकरण कालमें स्थिति बन्धापसरण और स्थिति सत्त्वापसरण भी बराबर चलता रहता है।

क्ष. सा /४९२-४९४ "संज्वलन चतुष्ककी एक-एक कषायके द्रव्यको अपकर्षण भागाहारका भाग देना, उसमेंसे एक भाग मात्र द्रव्यका ग्रहण करके कृष्टिकरण किया जाता है।४९२। इस अपकर्षण किये द्रव्यमें भी पल्य/असं० का भाग देय बहुभाग मात्र द्रव्य बादरकृष्टि सम्बन्धी है। शेष एक भाग पूर्व अपूर्व स्पर्धकनि विषै निक्षेपण करिये (४९३) द्रव्यकी अपेक्षा विभाग करनेपर एक-एक स्पर्धक विषै अनन्ती वर्गणाएँ है जिन्हें वर्गणा शलाका कहते है। ताके अनंतवें भागमात्र सर्व कृष्टिनिका प्रमाण है।४९४। अनुभागकी अपेक्षा विभाग करनेपर एक-एक कषाय विषै संग्रहकृष्टि तीन-तीन हैं, बहुरि एक-एक संग्रहकृष्टि विषै अन्तरकृष्टि अनन्त है। तहाँ सबसे नीचे लोभकी (लोभके स्पर्धकोंकी) प्रथम संग्रहकृष्टि है तिसविषै अन्तरकृष्टि अनन्त हैं। ताके ऊपर लोभकी द्वितीय संग्रहकृष्टि है तहाँ भी अन्तरकृष्टि अनन्त हैं। ताके ऊपर लोभकी तृतीय संग्रहकृष्टि है तहाँ भी अन्तरकृष्टि अनन्त हैं। ताके ऊपर मायाकी प्रथम संग्रहकृष्टि है तहाँ भी अन्तरकृष्टि अनन्त हैं। इसी प्रकार ताके ऊपर मायाकी द्वितीय, तृतीय संग्रहकृष्टि व अन्तरकृष्टि है। इसी क्रमसे ऊपर ऊपर मानकी ३ और क्रोधकी ३ संग्रहकृष्टि जानना।

२. स्पर्धक व कृष्टिमें अन्तर

क्ष. सा./५०९/ भाषा—अपूर्व स्पर्धककरण कालके पश्चात् कृष्टिकरण काल प्रारम्भ होता है। कृष्टि हैं ते तो प्रतिपद अनन्तगुणा अनुभाग लिये हैं। प्रथम कृष्टिका अनुभाग तें द्वितीयादि कृष्टिनिका अनुभाग अनन्त अनन्तगुणा है। बहुरि स्पर्धक हैं ते प्रतिपद विशेष अधिक अनुभाग लिये हैं अर्थात् स्पर्धकनिविषै प्रथम वर्गणा तैं द्वितीयादि वर्गणानि विषै क्रमसे विशेष-विशेष अधिक अनुभाग पाइये है। ऐसे अनुभागका आश्रयकरि कृष्टि अर स्पर्धकके लक्षणोंमें भेद है। इनकी शोभा सा यह घटता क्रम दोऊनि विषै ही है। इनकी पंक्तिबद्ध रचनाके लिए—दे० स्पर्धक।

३. बादरकृष्टि

क्ष. सा./४९० की उत्थानिका (लक्षण)—संज्वलन कषायनिके पूर्व अपूर्व स्पर्धक, जैसे—ईंटनिकी पंक्ति होय तैसे अनुभागका एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद बधता लीएँ परमाणूनिका समूहरूप जो वर्गणा तिनके समूह रूप हैं। तिनके अनन्तगुणा घटता अनुभाग होनेकर स्थूल-स्थूल खण्ड करिये सो बादर कृष्टिकरण है। बादरकृष्टिकरण विधानके अन्तर्गत संज्वलन चतुष्ककी अन्तरकृष्टि व संग्रहकृष्टि करता है। द्वितीयादि समयोंमें अपूर्व व पार्श्वकृष्टि करता है। जिसका विशेष आगे दिया गया है।

४. संग्रह व अन्तरकृष्टि

क्ष. सा./४९४-५०० भाषा—एक प्रकार बँधता (बढ़ता) गुणाकार रूप जो अन्तरकृष्टि, उनके समूहका नाम संग्रहकृष्टि है।४९४। कृष्टिनिके अनुभाग विषै गुणाकारका प्रमाण यावत् एक प्रकार बढ़ता भया तावत् सो ही संग्रहकृष्टि कही। बहुरि जहाँ निचली कृष्टि तैं ऊपरली कृष्टिका गुणाकार अन्य प्रकार भया तहाँ तैं अन्य संग्रहकृष्टि कही है। प्रत्येक संग्रहकृष्टिके अन्तर्गत प्रथम अन्तरकृष्टिसे अन्तिम अन्तरकृष्टि पर्यन्त अनुभाग अनन्त अनन्तगुणा है। परन्तु सर्वत्र इस अनन्त गुणकारका प्रमाण समान है, इसे <u>स्वस्थान गुणकार</u> कहते हैं। प्रथम संग्रहकृष्टिके अन्तिम अन्तरकृष्टिसे द्वितीय संग्रहकृष्टिकी प्रथम अन्तरकृष्टिका अनुभाग अनन्तगुणा है। यह द्वितीय अनन्त गुणकार पहलेवाले अनन्त गुणकारसे अनन्तगुणा है, यही परस्थान गुणकार है। यह द्वितीय संग्रह कृष्टिकी अन्तिम अन्तरकृष्टिका अनुभाग भी उसकी इस प्रथम अन्तरकृष्टिसे अनन्तगुणा है। इसी प्रकार आगे भी जानना।४९८। संग्रह कृष्टि विषै जितनी अन्तर कृष्टिका प्रमाण होइ तिहिका नाम <u>संग्रहकृष्टिका आयाम</u> है।४९९। चारों कषायोंकी लोभसे क्रोध पर्यन्त जो १२ संग्रहकृष्टियाँ है उनमें प्रथम संग्रहकृष्टिसे अन्तिम संग्रहकृष्टि पर्यन्त पल्य/ असं० भाग कम करि घटता संग्रहकृष्टि आयाम जानना।४९६। नौ कषाय सम्बन्धी सर्वकृष्टि क्रोधकी संग्रहकृष्टि विषै ही मिला दी गयी है।४९९। क्रोधके उदय सहित श्रेणी चढनेवालेके १२ संग्रह कृष्टि होती है। मानके उदय सहित चढनेवालेके ९; मायावालेके ६; और लोभवालेके केवल ३ ही संग्रहकृष्टि होती है, क्योंकि उनसे पूर्व पूर्वकी कृष्टियाँ

अपनेसे अगलियोमें सक्रमण कर दी गयी है ।४६७। अनुभागकी अपेक्षा १२ सग्रह कृष्टियोमें लोभकी प्रथम अन्तरकृष्टिसे क्रोधकी अन्तिम अन्तरकृष्टि पर्यन्त अनन्त गुणित क्रमसे (अन्तरकृष्टिका गुणकार स्वस्थान गुणकार है और संग्रहकृष्टिका गुणकार परस्थान गुणकार है जो स्वस्थान गुणकारसे अनन्तगुणा है—(दे० आगे कृष्टयन्तर) अनुभाग बढता बढता हो है ।४६६। द्रव्यकी अपेक्षा विभाग करनेपर क्रम उलटा हो जाता है। लोभकी जघन्य कृष्टिके द्रव्यतै लगाय क्रोधकी उत्कृष्टकृष्टिका द्रव्य पर्यन्त (चय हानि) हीन क्रम लिये द्रव्य दीजिये ।५००।

५. कृष्टयन्तर

क्ष.सा /४६६/भाषा—संज्वलन चतुष्ककी १२ संग्रह कृष्टियाँ है। इन १२ की पंक्तिके मध्यमें ११ अन्तराल है। प्रत्येक अन्तरालका कारण परस्थान गुणकार है। एक सग्रहकृष्टिकी सर्व अन्तर कृष्टियाँ सर्वत्र एक गुणकार-से गुणित है। यह स्वस्थान गुणकार है। प्रथम संग्रहकृष्टिको अन्तिम अन्तरकृष्टिसे द्वितीय सग्रहकृष्टिकी प्रथम अन्तरकृष्टिका अनुभाग अनन्त-गुणा है। यह गुणकार पहलेवाले स्वस्थान गुणकारसे अनन्तगुणा है। यही परस्थान गुणकार है। स्वस्थान गुणकारसे अन्तरकृष्टियोका अन्तर प्राप्त होता है और परस्थान गुणकारसे सग्रहकृष्टिका अन्तर प्राप्त होता है। कारणमें कार्यका उपचार करके गुणकारका नाम ही अन्तर है। जैसे अन्तराल होइ तितनी बार गुणकार होइ। तहाँ स्वस्थान गुणकार-निका नाम कृष्टयन्तर है और परस्थान गुणकारनिका नाम सग्रह-कृष्टयन्तर है।

६. पूर्व, अपूर्व, अधस्तन व पार्श्वकृष्टि

कृष्टिकरणकी अपेक्षा

क्ष. सा./५०२ भाषा—पूर्व समय विषै जे पूर्वोक्त कृष्टि करी थी (दे० सग्रहकृष्टि व अन्तरकृष्टि) तिनि विषै १२ संग्रहकृष्टिनिकी जे जघन्य (अन्तर) कृष्टि, तिनतै (भी) अनन्तगुणा घटता अनुभाग लिये, (ताकै) नीचैकेती इन नवीन कृष्टि अपूर्व शक्ति लिये युक्त करिए है। याही तै इसका नाम अधस्तन कृष्टि जानना। भावार्थ—जो पहलेसे प्राप्त न हो बल्कि नवीन की जाये उसे अपूर्व कहते है। कृष्टिकरण कालके प्रथम समयमें जो कृष्टियाँ की गयी वे तो पूर्वकृष्टि है। परन्तु द्वितीय समयमें जो कृष्टि की गयी वे अपूर्वकृष्टि है, क्योकि इनमे प्राप्त जो उत्कृष्ट अनुभाग है वह पूर्व कृष्टियोके जघन्य अनुभागसे भी अनन्तगुणा घटता है। अपूर्व अनु-भागके कारण इसका नाम अपूर्वकृष्टि है और पूर्वकी जघन्य कृष्टिके नीचे बनायी जानेके कारण इसका नाम अधस्तनकृष्टि है। पूर्व समय विषै करी जो कृष्टि, तिनिके समान ही अनुभाग लिये जो नवीन कृष्टि, द्वितीयादि समयोमे की जाती है वे पार्श्वकृष्टि कहलाती है, क्योकि समान होनेके कारण पंक्ति विषै, पूर्वकृष्टिके पार्श्वमें ही उनका स्थान हे।

७. अधस्तन व उपरितन कृष्टि

कृष्टि वेदनकी अपेक्षा

क्ष सा /५१८/भाषा—प्रथम द्वितीयादि कृष्टि तिनको निचलीकृष्टि कहिये। बहुरि अन्त, उपान्त आदि जो कृष्टि तिनिको ऊपरली कृष्टि कहिये। क्योकि कृष्टिकरणसे कृष्टिवेदनका क्रम उलटा है। कृष्टिकरणमें अधिक अनुभाग युक्त ऊपरली कृष्टियोके नीचे हीन अनुभाग युक्त नवीन-नवीन कृष्टियाँ रची जाती है। इसलिए प्रथमादि कृष्टियाँ ऊपरली और अन्त उपान्त कृष्टियाँ निचली कहलाती है। उदयके समय निचले निषेकोका उदय पहले आता है और ऊपरलोका बादमे। इसलिए अधिक अनुभाग युक्त प्रथमादि कृष्टिये नीचे रखी जाती है, और हीन अनुभाग युक्त आगेकी कृष्टिये ऊपर। अत वही प्रथमादि ऊपर वाली कृष्टिये यहाँ नीचे वाली हो जाती है और नीचे वाली कृष्टिये ऊपरवाली बन जाती है।

८. कृष्टिकरण विधानमे अपकृष्ट द्रव्यका विभाजन

१. कृष्टि द्रव्य —क्ष सा./५०३/ भाषा—द्वितीयादि समयनिविषै समय समय प्रति असख्यात गुणा द्रव्यको पूर्व अपूर्व स्पर्धक सम्बन्धी द्रव्यतै अपकर्षण करै है। उसमेंसे कुछ द्रव्य तो पूर्व अपूर्व स्पर्धक को ही देवै है और शेष द्रव्यकी कृष्टियें करता है। इस द्रव्यका कृष्टि सम्बन्धी द्रव्य कहते है। इस द्रव्यमें चार विभाग होते है—अधस्तन शीर्ष द्रव्य, अधस्तन कृष्टि द्रव्य, मध्य खण्ड द्रव्य, उभय द्रव्य विशेष।

२ अधस्तन शीर्ष द्रव्य.—पूर्व पूर्व समय विषैकरि कृष्टि तिनि विषै प्रथम कृष्टितै लगाय (द्रव्य प्रमाणका) विशेष घटता क्रम है। सो पूर्व पूर्व कृष्टिनिको आदि कृष्टि समान करनेके अर्थ घटे विशेषनिका द्रव्यमात्र जो द्रव्य तहा पूर्व कृष्टियोमे दीजिए वह अधस्तन शीर्ष विशेष द्रव्य है।

३ अधस्तन कृष्टि द्रव्य —अपूर्व कृष्टियोके द्रव्यको भी पूर्व कृष्टियोकी आदि कृष्टिके समान करनेके अर्थ जो द्रव्य दिया सो अधस्तन कृष्टि द्रव्य है।

४ उभय द्रव्य विशेष —पूर्व पूर्व कृष्टियोको समान कर लेनेके पश्चात् अब उनमे स्पर्धकोकी भाँति पुन नया विशेष हानि उत्पन्न करनेके अर्थ जो द्रव्य पूर्व व अपूर्व दोनो कृष्टियोको दिया उसे उभय द्रव्य विशेष कहते है।

५ मध्य खण्ड द्रव्य—इन तीनोकी जुदा किये अवशेष जो द्रव्य रहा ताको सर्व कृष्टिनि विषै समानरूप दीजिए, ताकौ मध्यखण्ड द्रव्य कहते है।

इस प्रकारके द्रव्य विभाजनमें २३ उष्ट्रकूट रचना होती है।

९ उष्ट्र कूट रचना

क्ष.सा./५०५/भाषा—जैसे ऊँटकी पीठ पिछाडी तौ ऊँची और मध्य विषै नीची और आगै ऊँची और नीची हो है तैसे इहा (कृष्टियोंमे अपकृष्ट द्रव्यका विभाजन करनेके क्रममें) पहले नवीन (अपूर्व) जघन्य कृष्टि विषै बहुत, बहुरि द्वितीयादि नवीन कृष्टिनि विषै क्रमतै घटता द्रव्य दै है। आगे पुरातन (पूर्व) कृष्टिनि विषै अधस्तन शीर्ष विशेष द्रव्य कर बँधता और अधस्तन कृष्टि द्रव्य अथवा उभय द्रव्य विशेषकरि घटता द्रव्य दीजियै है। तातै देयमान द्रव्यविषै २३ उष्ट्रकूट रचना हो है। (चारो कषायोमें प्रत्येककी तीन इस प्रकार पूर्व कृष्टि १२ प्रथम संग्रहके बिना नवीन संग्रह कृष्टि ११)।

१०. दृश्यमान द्रव्य

क्ष.सा./५०५/ भाषा—नवीन अपूर्व कृष्टि विषै तौ विवक्षित समय विषै दिया गया देय द्रव्य ही दृश्यमान है, क्योंकि, इससे पहले अन्य द्रव्य तहाँ दिया ही नही गया है, और पुरातन कृष्टिनिविषै पूर्व समयनिविषै दिया द्रव्य और विवक्षित समय विषै दिया द्रव्य मिलाये दृश्यमान द्रव्य हो है।

११ स्थिति बन्धापसरण व स्थिति सत्त्वापसरण

क्ष.सा /५०६-५०७/भाषा-अश्वकर्ण कालके अन्तिम समय सज्वलन चतुष्क का स्थिति बन्ध आठ वर्ष प्रमाण था। अब कृष्टिकरणके अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त बराबर स्थिति बन्धापसरण होते रहनेके कारण वह घटकर

इसके अन्तिम समयमे केवल अन्तर्मुहूर्त अधिक चार वर्ष प्रमाण रह गया। और अवशेष कर्मोंकी स्थिति सख्यात हजार वर्ष मात्र है। मोहनीयका स्थिति सत्त्व पहिले सख्यात हजार वर्ष मात्र था जो अब घट कर अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष मात्र रहा। शेष तीन घातियाका संख्यात हजार वर्ष और अघातियाका असख्यात हजार वर्ष मात्र रहा।

१२. संक्रमण

क्ष सा /५१२/ भाषा—नवक समय प्रबद्ध तथा उच्छिष्टावली मात्र निषेकोको छोडकर अन्य सर्व निषेक कृष्टिकरण कालके अन्त समय विषै ही कृष्टि रूप परिणमै है।

क्ष सा./५१२/ भाषा—अन्त समय पर्यन्त कृष्टियोके दृश्यमान द्रव्यकी चय हानि क्रम युक्त एक गोपुच्छा और स्पर्धकनिकी भिन्नचय हानि क्रम युक्त दूसरी गोपुच्छा है। परन्तु कृष्टिकालकी समाप्तताके अनन्तर सर्व ही द्रव्य कृष्टि रूप परिणमै एक गोपुच्छा हो है।

१३. घातकृष्टि

क्ष सा /५२३/ भाषा—जिन कृष्टिनिका नाश किया तिनका नाम घात कृष्टि है।

१४. कृष्टि वेदनका लक्षण व काल

क्ष.सा./५१०-५११/भाषा—कृष्टिकरण काल पर्यन्त क्षपक, पूर्व, अपूर्व स्पर्धकनिके ही उदयको भोगता है परन्तु इन नवीन उत्पन्न की हुई कृष्टिनिको नही भोगता। अर्थात् कृष्टिकरण काल पर्यन्त कृष्टियोका उदय नही आता। कृष्टिकरण कालके समाप्त हो जानेके अनन्तर कृष्टि वेदन काल आता है, तिस काल विषै तिष्ठति कृष्टिनिकी प्रथम स्थितिकै निषैकनि विषै प्राप्त करि भोगवै है। तिस भोगवै ही का नाम कृष्टि वेदन है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

क्ष.सा./५१३/भाषा—कृष्टिकरणकी अपेक्षा वेदनमें उल्टा क्रम है वहाँ पहले लोभकी और फिर माया, मान व क्रोधकी कृष्टि की गयी थी। परन्तु यहाँ पहले क्रोधकी, फिर मानकी, फिर मायाकी, और फिर लोभकी कृष्टिका वेदन होनेका क्रम है। (ल सा./५१३) कृष्टिकरणमें तीन संग्रह कृष्टियोमेसे वहाँ जो अन्तिम कृष्टि थी वह यहाँ प्रथम कृष्टि है और वहाँ जो प्रथम कृष्टि थी वह यहाँ अन्तिम कृष्टि है, क्योकि पहले अधिक अनुभाग युक्त कृष्टिका उदय होता है पीछे हीन हीन का।

१५. क्रोधकी प्रथम कृष्टि वेदन

क्ष सा./५१४-५१५/भाषा—अब तक अश्वकर्ण रूप अनुभागका काण्डक घात करता था. अब समय प्रतिसमय अनन्तगुणा घटता अनुभाग होकर अपवर्तना करै है। नवीन कृष्टियोका जो बन्ध होता है वह भी पहिलेसे अनन्तगुणा घात अनुभाग युक्त होता है।

क्ष सा /५१५/भाषा—क्रोधकी कृष्टिके उदय कालमे मानादिकी कृष्टिका उदय नही होय है।

क्ष सा /५१८/भाषा—प्रतिसमय बन्ध व उदय विषै अनुभागका घटना हो है।

क्ष सा /५२२-५२६/भाषा—अन्य कृष्टियोमे सक्रमण करके कृष्टियोका अनुसमयापवर्तना घात करता है।

क्ष सा /५२७-५२८/भाषा—कृष्टिकरणवत् मध्यखण्डादिक द्रव्य देनेकरि पुन सर्व कृष्टियोको एक गोपुच्छाकार करता है।

क्ष सा /५२९-५३५/ भाषा—सक्रमण द्रव्य तथा नवीन बन्धे द्रव्यमें यहाँ भी कृष्टिकरणवत् नवीन संग्रह व अन्तरकृष्टि अथवा पूर्व व अपूर्व कृष्टियोकी रचना करता है। तहाँ इन नवीन कृष्टियोमें कुछ तो पहली कृष्टियोके नीचे बनती है और कुछ पहले वाली पंक्तियोके अन्तरालोमें बनती है॥

क्ष सा /५३६-५३८/भाषा—पूर्व, अपूर्व कृष्टियोके द्रव्यका अपकर्षण द्वारा घात करता है।

क्ष.सा./५३९-५४० भाषा—क्रोध कृष्टिवेदनके पहले समयमें ही स्थितिबन्धापसरण व स्थितिसत्त्वासरण द्वारा पूर्वके स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्वको घटाता है। तहाँ संज्वलन चतुष्कका स्थितिबन्ध ४ वर्षसे घटकर ३ मास १० दिन रहता है। शेष घातीका स्थितिबन्ध संख्यात हजार वर्षसे घटकर अन्तर्मुहूर्त घात दशवर्षमात्र रहता है और अघाती कर्मोंका स्थितिबन्ध पहिलेसे संख्यातगुणा घटता संख्यात हजार वर्ष प्रमाण रहा। स्थितिसत्त्व भी घातिया का संख्यात हजार और अघातियाका असख्यात हजार वर्ष मात्र रहा।

क्ष सा./५४१-५४३/भाषा—क्रोधकृष्टि वेदनके द्वितीयादि समयोंमें भी पूर्ववत् कृष्टिघात व नवीन कृष्टिकरण, तथा स्थितिबन्धापसरण आदि जानने।

क्ष सा /५४४-५५४/भाषा—क्रोधकी द्वितीयादि कृष्टियोके वेदनाका भी विधान पूर्ववत् ही जानना।

१६. मान, माया व लोभका कृष्टिवेदन

क्ष.सा /५५५-५६२/भाषा—मान व मायाकी ६ कृष्टियोका वेदन भ क्रोधवत् जानना।

क्ष सा /५६३-५६४/ भाषा—क्रोधकी प्रथम संग्रहकृष्टिके वेदन कालमें उसकी द्वितीय व तृतीय सग्रहकृष्टिसे द्रव्यका अपकर्षणकर लोभकी सूक्ष्म कृष्टि करै है।

इस समय केवल संज्वलन लोभका स्थितिबंध हो है। उसका स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्व यहाँ आकर केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रह जाता है। तीन घातियानिका स्थितिबन्ध पृथक्त्व दिन और स्थिति सत्व सख्यात हजार वर्ष मात्र रहता है। अघातिया प्रकृतियोका स्थितिबन्ध पृथक्त्व वर्ष और स्थितिसत्त्व यथायोग्य असख्यात वर्ष मात्र है।

क्ष.सा /५७९-५८१/ भाषा—लोभकी द्वितीय संग्रह कृष्टिकी प्रथम स्थिति विषै समय अधिक आवली अवशेष रहे अनिवृत्तिकरणका अन्त समय हो है। तहाँ लोभका जघन्य स्थिति बन्ध व सत्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यहाँ मोह बन्धकी व्युच्छित्ति भई। तीन घातियाका स्थितिबन्ध एक दिनसे कुछ कम रहा। और सत्त्व यथायोग्य सख्यात हजार वर्ष रहा। तीन अघातियाका (आयुके बिना) स्थिति सत्त्व यथा योग्य असख्यात वर्ष मात्र रहा।

क्ष सा /५८२/भाषा—अनिवृत्तिकरणका अन्त समयके अनन्तर सूक्ष्म कृष्टिको वेदता हुआ सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है।

१७. सूक्ष्म कृष्टि

क्ष सा./४९० की उत्थानिका (लक्षण)—सज्वलन कषायनिके स्पर्धकोकी जो बादर कृष्टिये, उनमेसे प्रत्येक कृष्टि रूप स्थूलखंडका अनन्त गुणा घटता अनुभाग करि सूक्ष्म-सूक्ष्म खण्ड करिये जो सूक्ष्म कृष्टिकरण है।

क्ष.सा /५६५-५६६/भाषा—अनिवृत्तिकरणके लोभकी पथम सग्रह कृष्टिके वेदन कालमें उसकी द्वितीय व तृतीय संग्रहकृष्टिसे द्रव्यको अपकर्षण करि लोभकी नवीन सूक्ष्मकृष्टि करै है. जिसका अवस्थान लोभकी तृतीय बादर संग्रह कृष्टिके नीचे है। सो इसका अनुभाग उस बादर कृष्टिसे अनन्तगुणा घटता है। और जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त अनन्तगुणा अनुभाग लिये है।

क्ष सा /५६६-५७१/भाषा—तहाँ ही द्वितीयादि समयविषै अपूर्व सूक्ष्म कृष्टियोकी रचना करता है। प्रति समय सूक्ष्मकृष्टिको दिया गया द्रव्य

असंख्यात गुणा है। तदनन्तर इन नवीन रचित कृष्टियोंमें अपकृष्ट द्रव्य देने करि यथायोग्य घट-बढ करके उसकी विशेष हानिक्रम रूप एक गोपुच्छा बनाता है।

क्ष सा./५७६/भाषा—अनिवृत्तिकरण कालके अन्तिम समयमें लोभकी तृतीय संग्रहकृष्टिका तो सारा द्रव्य सूक्ष्मकृष्टि रूप परिणम चुका है और द्वितीय संग्रहकृष्टिमें केवल समय अधिक उच्छिष्टावली मात्र निषेक शेष है। अन्य सर्व द्रव्य सूक्ष्मकृष्टि रूप परिणमा है।

क्ष.सा./५८२/भाषा—अनिवृत्तिकरणका अन्त समयके अनन्तर सूक्ष्मकृष्टि-को वेदता हुआ सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है। तहाँ सूक्ष्म कृष्टि विषै प्राप्त मोहके सर्व द्रव्यका अपकर्षण कर गुणश्रेणी करै है।

क्ष.सा./५६७/भाषा—मोहका अन्तिम काण्डकका घात हो जानेके पश्चात जो मोहकी स्थितिविशेष रही, ता प्रमाण ही अत्र सूक्ष्मसाम्परायका काल भी शेष रहा, क्योंकि एक एक निषेकको अनुभवता हुआ उनका अन्त करता है। इस प्रकार सूक्ष्म साम्परायके अन्त समयको प्राप्त होता है।

क्ष सा./५६८-६००/भाषा—यहाँ आकर सर्व कर्मोंका जघन्य स्थितिबन्ध होता है। तीन घातियाका स्थिति सत्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र रहा है। मोहका स्थिति सत्त्व क्षयके सन्मुख है। अघातियाका स्थिति सत्त्व असंख्यात वर्ष मात्र है। याके अनन्तर क्षीणकषाय गुणस्थानमें प्रवेश करै है।

१९. साम्प्रतिक कृष्टि

क्ष.सा./५१६/भाषा—साम्प्रतिक कहिए वर्तमान उत्तर समय सम्बन्धी अन्त की केवल उदयरूप उत्कृष्ट कृष्टि हो है।

२०. जघन्योत्कृष्ट कृष्टि

क्ष सा./५२१/भाषा—जे सर्व तैं स्तोक अनुभाग लिये प्रथम कृष्टि सो जघन्य कृष्टि कहिये। सर्व तै अधिक अनुभाग लिये अन्तकृष्टि सो उत्कृष्ट कृष्टि हो है।

कृष्ण—ह पु./सर्ग/श्लोक "पूर्वके चौथे भवमें अमृतरसायन नामक मांस पाचक थे (३३/१५१)। फिर तीसरे भवमें तीसरे नरकमें गये (३३/१५४) वहाँसे आकर यक्षलिक नामक वैश्य पुत्र हुए (३३/१५८) फिर पूर्वके भवमें निर्नामिक राजपुत्र हुए (३३/१४४)। वर्तमान भवमें वसुदेवके पुत्र थे (३५/१६)। नन्दगोपके घर पालन हुआ (३५/२८)। कंसके द्वारा छलसे बुलाया जाने पर (३५/७५) इन्होंने मल्लयुद्धमें कंस को मार दिया (४१/१८)। रुक्मिणीका हरण किया (४२/७४) तथा अन्य अनेकों कन्याएँ विवाह कर (४४ सर्ग) अनेकों पुत्रोंको जन्म दिया (४८/६६)। महाभारतके युद्धमें पाण्डवोंका पक्ष लिया। तथा जरासंधको मार कर (५२/८३) नवमें नारायणके रूपमें प्रसिद्ध हुए (५२/१७)। अन्तमें भगवान् नेमिनाथकी भविष्यवाणीके अनुसार (५५/१२) द्वारकाका विनाश हुआ (६१/८८) और ये उत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते, जरत्कुमारके तीरसे मरकर नरकमें गये (६२/२३)। विशेष दे० शलाकापुरुष। भावि चौबीसीमें निर्मल नामके सोलहवें तीर्थंकर होंगे। —दे० तीर्थंकर/५।

कृष्ण गंगा—ज.प./प्र. १४१ A N up & H L यह हरमुकुट पर्वतकी प्रसिद्ध गंगाबल झीलसे निकलती है। कश्मीरमें बहती है। इसे आज भी वहाँके लोग गंगाका उद्गम मानते हैं। इस गंगाके रेतमें सोना भी पाया जाता है, इसी लिए इसका नाम गांगेय है। इस नदीका नाम जम्बू भी है। जम्बू नदीसे निकलनेके कारण सोनेको जम्बूनद कहा जाता है।

कृष्णदास—म पु/प्र २० प० पन्नालाल—आप ब्रह्मचारी थे। कृति—मुनिसुव्रत नाथ पुराण, विमल पुराण। समय—वि १६७४—ई० १६१७।

कृष्णपंचमी व्रत—

वर्द्धमान पुराण/१ कुल समय=५ वर्ष, उपवास ५।

व्रतविधान संग्रह/१०१ विधि—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष ज्येष्ठकृष्णा ५ को उपवास करे। जाप्य—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप।

कृष्णमति—भूतकालीन बीसवें तीर्थंकर —दे० तीर्थंकर/५।

कृष्णराज—१. ह पु/६६/५२-५३; (ह.पु/प्र ५ प० पन्नालाल) (स्याद्वाद सिद्धि/प्र/२५ पं० दरबारी लाल) दक्षिण लाट देशके राजा श्रीवल्लभके पिता थे। आपका नाम कृष्णराज प्रथम था। आपके दो पुत्र थे—श्रीवल्लभ और ध्रुवराज। आपका राज्य लाट देशमें था तथा शत्रु भयंकरकी उपाधि प्राप्त थी। बड़े पराक्रमी थे। आचार्य पुष्पसेनके समकालीन थे। गोविन्द प्रथम आपका दूसरा नाम था। समय—श ६७८-६६४, ई० ७५६-७७२ आता है। विशेष दे० इतिहास 3/४। २ कृष्णराज प्रथमके पुत्र ध्रुवराजके राज्य पर आसीन होनेके कारण राजा अकालवर्षका ही नाम कृष्णराज द्वितीय था (दे० अकालवर्ष) विशेष दे० इतिहास/3/२। 3 यशस्तिलक/प्र. २० पं० सुन्दर लाल—राष्ट्रकूट देशका राठौरवंशी राजा था। कृष्णराज द्वि०(अकालवर्ष) का पुत्र था। इसलिए यह कृष्णराज तृतीय कहलाया। अकालवर्ष तृतीयको ही अमोघवर्ष तृतीय भी कहते हैं। (विशेष दे० इतिहास/३/२) यशस्तिलक चम्पूके कर्ता सोमदेव सूरिके समकालीन थे। समय—वि० १००२-१०२६ (ई० ९४५-९७२) अकालवर्षके अनुसार (ई० ९१२-९७२) आना चाहिए।

कृष्णलेश्या—दे० लेश्या।

कृष्णवर्मा—समय—वि० ५२३ (ई० ४६६) (व सा./प्र.३८ प्रेमीजी) (Royal Asiatic Socity Bombay Gournal Val 12 के आधार पर)

कृष्ण वर्मा—आर्यखण्डकी एक नदी —दे० मनुष्य/४।

केंद्रवर्ती वृत—Initial Circle, Central Core (ध./पु. ५/प्र २७)

केकय—१. पंजाब प्रान्तकी वितस्ता (जेहलम) और चन्द्रभागा (चिनाव) नदियोंका अन्तरालवर्ती प्रदेश। इसकी राजधानी गिरिव्रज (जलालपुर) थी। (म.पु/प्र.५० प० पन्नालाल), २ भरत क्षेत्र आर्यखण्डका एक देश। अपरनाम कैकेय था। —दे० मनुष्य/४।

केकयी—प पु/सर्ग/श्लोक—शुभमति राजाकी पुत्री (२४/४) राजा दशरथकी रानी (२४/९२) व भरतकी माता थी। (२५/३५)। पुत्रके वियोगसे दुखित होकर दीक्षा ग्रहण कर ली (८६/२०)।

केतवा—भरत क्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी —दे० मनुष्य/४।

केतु—एक ग्रह —दे० ग्रह।

केतुभद्र—कुरुवंशी था। कलिंग देशका राजा था। कलिंग राज्यका संस्थापक था। महाभारत युद्धमें इसने भाग लिया [illegible] था। समय—ई० पू० १४६०। ([illegible] उड़ीसा।)

केतुमति—प पु/१५/६-८ हनुमानकी दादी थी।

केतुमाल—१ विदेहक्षेत्रका उत्तर [illegible] —दे० [illegible]। २ [illegible] और [illegible] प्रदेश ही [illegible] केतुमाल द्वीप है। (ज प/प्र. १४० A N up & H L)

केरल—कृष्णा और तुङ्गभद्राके दक्षिणमें विद्यमान भूभाग, जो आजकल मद्रासके अन्तर्गत है। पाण्ड्य केरल और सतीपुत्र नामसे प्रसिद्ध है।

कैरल—मध्य आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

केवल—मो पा /टी /६/३०८/१३ केवलोऽसहाय केवलज्ञानमयो वा के परब्रह्मनि निजशुद्धबुद्धैकस्वभावे आत्मनि वलमनन्तवीर्यं यस्य स भवति केवल, अथवा केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवल. ।=केवलका अर्थ असहाय या केवलज्ञानमय है। अथवा 'क' का अर्थ परब्रह्म या शुद्ध बुद्धरूप एक स्वभाववाला आत्मा है उसमे है बल अर्थात् अनन्तवीर्य जिसके। अथवा जो केवते अर्थात् सेवन करता है—अपनी आत्मामें एकलोलीभावमे रहता है वह केवल है।

केवलज्ञान—जीवन्मुक्त योगियोका एक निर्विकल्प अतीन्द्रिय अतिशय ज्ञान है जो विना इच्छा व बुद्धिके प्रयोगके सर्वांगसे सर्वकाल व क्षेत्र सम्बन्धी सर्व पदार्थोंको हस्तामलकवत टकोत्कीर्ण प्रत्यक्ष देखता है। इसीके कारण वह योगी सर्वज्ञ कहाते है। स्व व पर ग्राही होनेके कारण इसमें भी ज्ञानका सामान्य लक्षण घटित होता है। यह ज्ञानका स्वाभाविक व शुद्ध परिणमन है।

१. केवलज्ञान निर्देश

१. केवलज्ञानका व्युत्पत्ति अर्थ

स. सि /१/९/९४/६ बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्। =अर्थीजन जिसके लिए बाह्य और अभ्यन्तर तपके द्वारा मार्गका केवन अर्थात् सेवन करते है वह केवलज्ञान कहलाता है। (रा वा./१/९/६/४४-४५) (श्लो वा ३/१/९/८/५)

२. केवलज्ञान निरपेक्ष व असहाय है

स. सि /१/९/९४/७ असहायमिति वा। =केवल शब्द असहायवाची है, इसलिए असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते है। मो पा /टी.६/३०८/१३ (श्लो वा/३/१/९/८/५)

ध ६/१.९-१,१४/२९/५ केवलमसहायमिंदियालोयणिरवेक्खं तिकालगोयराणंतपज्जायसमवेदाणंतवत्थुपरिमसकुडियमसवत्त केवलणाणं। =केवल असहायको कहते है। जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय और आलोककी अपेक्षा रहित है, त्रिकालगोचर अनन्तपर्यायोंसे समवायसम्बन्धको प्राप्त अनन्त वस्तुओंको जाननेवाला है, असंकुटित अर्थात सर्व व्यापक है और असपत्न अर्थात प्रतिपक्षी रहित है उसे केवलज्ञान कहते है। (ध. १३/५,५,२१/२१३/४)

क. पा /१/१,१/§१५/२१,२३ केवलमसहाय इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्। आत्मार्थव्यतिरिक्तसहायनिरपेक्षत्वाद्वा केवलमसहायम्। केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम्। =असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते है, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात मनोव्यापारकी अपेक्षासे रहित है। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थसे अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायककी अपेक्षासे रहित है, इसलिए भी वह केवल अर्थात् असहाय है। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान कहते है।

३. केवलज्ञान एक ही प्रकारका है

ध १३/५,५,२१/३४५,५/४८०/७ केवलणाणमेयविधं, कम्मक्खएण उप्पज्जमाणत्तादो। =केवलज्ञान एक प्रकारका है, क्योंकि, वह कर्म क्षयसे उत्पन्न होनेवाला है।

४. केवलज्ञान गुण नहीं पर्याय है

ध ६/१,९-१,१७/३४/३ पर्यायस्य केवलज्ञानस्य पर्यायाभावत सामर्थ्यद्वयाभावात्। =केवलज्ञान स्वयं पर्याय है और पर्यायके दूसरी पर्याय होती नहीं है। इसलिए केवलज्ञानके स्व व पर को जाननेवाली दो शक्तियोंका अभाव है।

ध ७/२,१,४६/८८/११ ण पारिणामिएण भावेण होदि, सव्वजीवाणं केवलणाणुप्पत्तिप्पसंगादो। =प्रश्न—जीव केवलज्ञानी कैसे होता है? (सूत्र ४६)। उत्तर—पारिणामिक भावसे तो होता नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सभी जीवोंके केवलज्ञानकी उत्पत्तिका प्रसग आ जाता।

५. यह मोह व ज्ञानावरणीयके क्षयसे उत्पन्न होता है

त सू./१०/१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। =मोहका क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण व अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रगट होता है।

६. केवलज्ञानका मतार्थ

ध ६/१,९-९,२१६/४९०/४ केवलज्ञाने समुत्पन्नेऽपि सर्वं न जानातीति कपिलो ब्रूते। तत्र तन्निराकरणार्थं बुद्धयन्त इत्युच्यते। =कपिलका कहना है कि केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी सब वस्तुस्वरूपका ज्ञान नहीं होता। किन्तु ऐसा नहीं है, अत' इसीका निराकरण करनेके लिए 'बुद्ध होते है' यह पद कहा गया है।

प. प्र /टी./१/१/७/१ मुक्तात्मना सुप्तावस्थावद्बहिर्ज्ञेयविषये परिज्ञान नास्तीति सांख्या वदन्ति, तन्मतानुसारि शिष्य प्रति जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसर्वपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिरूपकेवलज्ञानस्थापनार्थं ज्ञानमयविशेषणं कृतमिति। —'मुक्तात्माओंके सुप्तावस्थाकी भाँति बाह्य ज्ञेय विषयोंका परिज्ञान नहीं होता' ऐसा सांख्य लोग कहते है। उनके मतानुसारी शिष्यके प्रति जगतत्रय कालत्रयवर्ती सर्वपदार्थोंको युगपद् जाननेवाले केवलज्ञानके स्थापनार्थ 'ज्ञानमय'यह विशेषण दिया है।

२. केवलज्ञानकी विचित्रता

१ सर्वको जानता हुआ भी व्याकुल नहीं होता

ध /१३/५,४,२६/८९/१ केवलिस्स विसईकयासेसदव्वपज्जायस्स सगसव्वद्धाए एगरूवस्स अणिंदियस्स। =केवली जिन अशेष द्रव्य पर्यायोंको विषय करते है, अपने सब कालमें एकरूप रहते है और इन्द्रियज्ञानसे रहित है।

प्र सा /त प्र/३२ युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणक्रियाविराम प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममान' समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव। =एक साथ ही सर्व पदार्थोंके समूहका साक्षात्कार करनेसे, ज्ञप्ति परिवर्तनका

अभाव होनेसे समस्त परिच्छेद्य आकारोरूप परिणत होनेके कारण जिसके ग्रहण त्याग क्रियाका अभाव हो गया है, फिर पररूपसे—आकारान्तररूपसे नहीं परिणमित होता हुआ सर्व प्रकारसे अशेष विश्वको (मात्र) देखता जानता है। इस प्रकार उस आत्माका (ज्ञेय-पदार्थोंसे) भिन्नत्व ही है।

प्र सा /त प्र /६० केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिक-सुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे। (उत्थानिका)। यतश्च त्रिसमया-वच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्र-भित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वमेव परिणमत्केवलमेव परिणाम', ततो कुतोऽन्य परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभ'। =प्रश्न—केवलज्ञानको भी परिणाम (परिणमन) के द्वारा खेदका सम्भव है, इसलिए केवलज्ञान एकान्तिक सुख नही है? उत्तर—तीन कालरूप तीन भेद जिसमें किये जाते है ऐसे समस्त पदार्थोंकी ज्ञेयाकाररूप विविधताको प्रकाशित करनेका स्थानभूत केवलज्ञान चित्रित दीवारकी भाँति स्वयं ही अनन्तस्वरूप परिणमित होता है, इसलिए केवलज्ञान (स्वय) ही परिणमन है। अन्य परिणमन कहाँ है कि जिससे खेदकी उत्पत्ति हो।

नि. सा /ता वृ./१७२ विश्वमश्रान्त जानन्नपि पश्यन्नपि वा मन.प्रवृत्ते-रभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिन। =विश्वको निरन्तर जानते हुए और देखते हुए भी केवलीको मन प्रवृत्तिका अभाव होनेसे इच्छा पूर्वक वर्तन नहीं होता।

स्या.म /६/४८/२ अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मा सर्व जगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाशुचिरसास्वादादीनामप्युपालम्भसंभावनात नरकादिदु खस्वरूपसंवेदनात्मकतया दु खानुभवप्रसंगाच्च अनिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत्, तदेतदुपपत्तिभि प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम्। यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थानस्थमेव विषय परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा,तत्कुतो भवदुपालम्भ' समोचीन। =प्रश्न—ज्ञानकी अपेक्षा जिनभगवान्को जगत्त्रयमें व्यापी माननेसे आप जैन लोगोके भगवान्को भी (शरीरव्यापी भगवान्वत) अशुचि पदार्थोंके रसास्वादनका ज्ञान होता है तथा नरक आदि दु खोके स्वरूपका ज्ञान होनेसे दु.खका भी अनुभव होता है, इसलिए अनिष्टापत्ति दोनोके समान है? उत्तर—यह कहना असमर्थ होकर धूल फेकनेके समान है। क्योकि हम ज्ञानको अप्राप्यकारी मानते है. अर्थात् ज्ञान आत्मामें स्थित होकर ही पदार्थोंको जानता है, ज्ञेयपदार्थोंके पास जाकर नही। इसलिए आपका दिया हुआ दूषण ठीक नही है।

२. केवलज्ञान सर्वांगसे जानता है

ध १/१,१,१/२७/४८ सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा। =जिन्होने सर्वांगसे सर्व पदार्थोंको जान लिया है (वे सिद्ध है)।

क. पा १/१,१/§४६/६५/२ ण चेगावयवेण चेव गेण्हदि, सयलावयवगय-आवरणस्स णिम्मूलविणासे सते एगावयवेणेव गहणविरोहादो। तदो पत्तमपत्त च अक्कमेण सयलावयवेहि जाणदि त्ति सिद्धं। =यदि कहा जाय कि केवली आत्माके एकदेशसे पदार्थोंका ग्रहण करता है, सो भो कहना ठीक नही है, क्योकि आत्माके सभी प्रदेशोमें विद्यमान आवरणकर्मके निर्मूल विनाश हो जानेपर केवल उसके एक अवयवसे पदार्थोंका ग्रहण माननेमे विरोध आता है। इसलिए प्राप्त और अप्राप्त सभी पदार्थोंको युगपद् अपने सभी अवयवोसे केवली जानता है, यह सिद्ध हो जाता है।

प्र सा /त. प्र /४७ सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्त.प्लवनात समन्ततोऽपि प्रकाशते। =(क्षायिक ज्ञान) सर्वत विशुद्ध होनेके कारण प्रतिनियत प्रदेशोकी विशुद्धि (सर्वत विशुद्धि) के भीतर डूब जानेसे वह सर्वत' (सर्वात्मप्रदेशोसे भी) प्रकाशित करता है। (प्र सा /त प्र /२२)।

३. केवलज्ञान प्रतिबिम्बवत् जानता है

प. प्र /मू /९९ जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ। अप्पहँ करेइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ।९९। =अपने आत्माके जाननेसे यह तीन लोक जाना जाता है, क्योकि आत्माके भावरूप केवलज्ञानमें यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ बस रहा है।

प्र सा./त. प्र /२०० अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात ..प्रतिबिम्बवत्तत्र ..समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं...। =एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे, समस्त द्रव्यमात्रको, मानों वे द्रव्य प्रतिबिम्बवद् हुए हों, इस प्रकार एक क्षणमें ही जो प्रत्यक्ष करता है।

४. केवलज्ञान टंकोत्कीर्णवत् जानता है

प्र. सा./त. प्र /३८ परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववद् प्रकम्पार्पितस्वरूपा। =ज्ञानके प्रति नियत होनेसे (सर्व पर्यायें) ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई पाषाणस्तम्भमें उत्कीर्ण भूत और भावि देवोंकी भाँति अपने स्वरूपको अकम्पतया अर्पित करती है।

प्र सा./त. प्र /२०० अथैकस्य ज्ञायकस्वभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तित.. समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं। =एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोको जाननेका स्वभाव होनेसे, समस्त द्रव्यमात्रको, मानो वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हो, चित्रित हो गये हो, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हो, डूब गये हों, समा गये हों, इस प्रकार एक क्षणमें ही जो प्रत्यक्ष करता है।

प्र. सा./त प्र /३७ किंच चित्रपटस्थानीयत्वात् संविद'। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकारा' साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि। =ज्ञान चित्रपटके समान है। जैसे चित्रपटमें अतीत अनागत और वर्तमान वस्तुओके आलेख्याकार साक्षात एक समयमें भासित होते है। उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी भासित होते है।

५. केवलज्ञान अक्रम रूपसे जानता है

प खं. १३/५५/सू ८२/३४६ ..सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।८२। =(केवलज्ञान) सब जीवों और सर्व भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते है, देखते है और विहार करते है। (प्र सा /मू /४७), (यो सा. अ./२९); (प्र. सा. /त प्र./५२/क ४), (प्र सा./त. प्र /३२, ३९) (ध ६/४,१,४५/५०/१४२)

भ. आ./मू /२१४२ भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ। सव्व वि तहा जुगवं केवलणाण पयासेदि।२१४२। =जैसे सूर्य अपने प्रकाशमें जितने पदार्थ समाविष्ट होते है उन सबको युगपत् प्रकाशित करता है, वैसे सिद्ध परमेष्ठीका केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञेयोको युगपत् जानता है। (प प्र./टी./१/६/७/३), (पं. का /ता. वृ./२२४/१०), (द्र स./टी /१४/४२/७)।

अष्ट सहस्री/निर्णय सागर बम्बई/पृ ४९. न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति। यन्न क्रमेत तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात। ='ज्ञ' स्वभावको कुछ भी अगोचर नही है, क्योकि वह क्रमसे नही जानता, तथा इससे अन्य प्रकारके स्वभावका उसमें निषेध है।

प्र.सा /मू व त प्र /२१ सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहि। २१। ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्त सर्वद्रव्यपर्याया प्रत्यक्षा एव भवन्ति। =वे उन्हे अवग्रहादि क्रियाओसे नही जानते। . अत' अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष संवेदनकी आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्याये प्रत्यक्ष ही है।

प्र सा /त. प्र /३७ यथा हि चित्रपटयाम्…वस्तूनामालेख्याकारा साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते तथा संविद्भित्तावपि। =जैसे चित्रपटमें वस्तुओके आलेख्याकार साक्षात् एक क्षणमे ही भासित होते है, इसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी जानना। (ध ७/-२,१,४६/८६/६), (द्र.सं /टी/५१/२१६/१३), (नि सा /ता वृ./४३)।

६. केवलज्ञान तात्कालिकवत् जानता है

प्र.सा./मू /३७ तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं। वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।३७। =उन द्रव्य जातियोकी समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक पर्यायोकी भाँति विशिष्टता पूर्वक ज्ञानमें वर्तती है। (प्र.सा /मू.४७)

७. केवलज्ञान सर्व ज्ञेयोंको पृथक्-पृथक् जानता है

प्र. सा./मू./३७ वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीण।३७। =द्रव्य जातियोकी सर्व पर्यायें ज्ञानमें विशिष्टता पूर्वक वर्तती है।

प्र.सा /त.प्र./५२/क४ ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्ति।४। =ज्ञेयाकारोको (मानो पी गया है इस प्रकार समस्त पदार्थोंको) पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।

३. केवलज्ञानकी सर्वग्राहकता

१. केवलज्ञान सब कुछ जानता है

प्र.सा./मू /४७ सव्वं अत्थं विचित्तं विसमं तं णाणं खाइयं भणियं।" =विचित्र और विषम समस्त पदार्थोंको जानता है उस ज्ञानको क्षायिक कहा है।

नि. सा./मू /१६७ मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च। पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ।१६७। =मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन, द्रव्योको, स्वको तथा समस्तको देखनेवालेका ज्ञान अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष है। (प्र.सा./मू /५४), (आप्त प /३६/§१२६/१०१/६);

स्व. स्तो./मू /१०६ "यस्य महर्षेः सकलपदार्थ-प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात्। सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म।" =जिन महर्षिके सकल पदार्थोका प्रत्यवबोध साक्षात् रूपसे उत्पन्न हुआ है, उन्हे देव मनुष्य सब हाथ जोडकर नमस्कार करते है। (पं सं./१/१२६); (ध.१०/४,२,४,१०७/३१६/५)।

क.पा.१/१,१/§४६/६४/४ तम्हा णिरावरणो केवली भूदं भव्वं भवत सुहुम ववहियं विप्पइट्ठं च सव्वं जाणदि त्ति सिद्धं। =इसलिए निरावरण केवली…सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट सभी पदार्थोको जानते है।

ध.१/१,१,१/४५/३ स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वत प्राप्तविश्वरूपा। =अपनेमें ही सम्पूर्ण प्रमेय रहनेके कारण जिसने विश्वरूपताको प्राप्त कर लिया है।

ध ७/२,१,४६/८६/१० तदणवगत्थाभावादो। =क्योकि, केवलज्ञानसे न जाना गया हो ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है।

पं.का/मू.४३की प्रक्षेपक गाथा नं. ५ तथा उसकी ता वृ.टी/८७/६ णाणं णेयणिमित्तं केवलणाणं ण होदि सुदणाणं। णेयं केवलणाणं णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो।५।—न केवले श्रुतज्ञानं नास्ति केवलिना ज्ञानाज्ञानं च नास्ति क्वापि विषये ज्ञानं क्वापि विषये पुनरज्ञानमेव न किन्तु सर्वत्र ज्ञानमेव। =ज्ञेयके निमित्तसे उत्पन्न नहीं होता इसलिए केवलज्ञानको श्रुतज्ञान नहीं कह सकते। और न ही ज्ञानाज्ञान कह सकते है। किसी विषयमें तो ज्ञान हो और किसी विषयमे अज्ञान हो ऐसा नही, किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही है।

२. केवलज्ञान समस्त लोकालोकको जानता है

भ आ /मू./२१४१ पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे। तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो। =वे (सिद्ध परमेष्ठी) सम्पूर्ण द्रव्यो व उनकी पर्यायोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगत्को तीनो कालोमे जानते है। तो भी वे मोहरहित ही रहते है।

प्र.सा /मू /२३ आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं। णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।२३। =आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान-ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक है, इसलिए ज्ञान सर्वगत है। (ध १/१,१,१३६/१९८/३८६), (नि.सा /ता वृ /१६१/क २७७)।

पं.स /प्रा /१/१२६ सपुण्णं तु समग्गं केवलमसपत्त सव्वभावगयं। लोयालोय वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वा।१२६। =जो सम्पूर्ण है, समग्र है, असहाय है, सर्वभावगत है, लोक और अलोकोमें अज्ञानरूप तिमिरसे रहित है, अर्थात् सर्व व्यापक व सर्वज्ञायक है, उसे केवलज्ञान जानो। (ध १/१,१,११५/ १८६/३६०), (गो. जी./मू /-४६०/८७२)।

द्र स /मू /५१ णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा। =नष्ट हो गयी है अष्टकर्मरूपी देह जिसके तथा जो लोकालोकको जानने देखनेवाला है (वह सिद्ध है) (द्र स /टी /१४/४२/७)

प प्र /टी /१/१४/८ केवलज्ञाने जाते सति सर्वं लोकालोकस्वरूपं विज्ञायते। =केवलज्ञान हो जाने पर सर्व लोकालोकका स्वरूप जाननेमें आ जाता है।

३. केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य क्षेत्र काल भावको जानता है

ष. खं १३/५,५/सू. ८२/३४६ सइं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स अगदिं गदिं चयणोववादं बंध मोक्खं इड्ढि ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।८२। =स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान् देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी अगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अरह कर्म, सब लोको, सब जीवो और सब भावोको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते है, देखते है और विहार करते है।

ध १३/५,५,८२/३५०/१२ ससारिणो दुविहा तसा थावरा चेदि।·तत्थ वणप्फदिकाइया अणंतवियप्पा, सेसा असखेज्जवियप्पा। एदे सव्वजीवे सव्वलोगट्ठिदे जाणदि त्ति भणिद होदि। =जीव दो प्रकारके है—त्रस और स्थावर। इनमेंसे वनस्पतिकायिक अनन्तप्रकारके है और शेष असख्यात प्रकारके है (अर्थात् जीवसमासोकी अपेक्षा जीव अनेक भेद रूप है)। केवली भगवान् समस्त लोकमें स्थित, इन सब जीवोको जानते है। यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

प्र सा /त. प्र /५४ अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव। तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेस्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टव्य प्रत्यक्षत्वात्। =जो अमूर्त है, जो मूर्त पदार्थोमे भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (ढँका हुआ) है, उस सबको, जो कि स्व व पर इन दो भेदोमें समा जाता है उसे अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है। अमूर्त द्रव्य धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि, मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादि, तथा द्रव्यमें प्रच्छन्न काल इत्यादि, क्षेत्रमें प्रच्छन्न अलोकाकाशके प्रदेश इत्यादि, कालमें प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (अतीत-अनागत) पर्यायें, तथा भाव प्रच्छन्न स्थूलपर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म

पर्यायें है उन सबको जो कि स्व और परके भेदसे विभक्त है उन सबका वास्तवमे उस अतीन्द्रियज्ञानके दृष्टपना है।

प्र सा /त प्र /२१ ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूता' सर्वद्रव्यपर्याया प्रत्यक्षा एव भवन्ति। =इसलिए उनके समस्त द्रव्य क्षेत्र काल और भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष-संवेदन (प्रत्यक्ष ज्ञान) की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य व पर्यायें प्रत्यक्ष ही है। (द्र.स /टी/५/१७/६)

प्र सा /त प्र /४७ अलमथातिविस्तरेण अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात्। =अथवा अतिविस्तारसे बस हो—जिसका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वको जानता है।

४. केवलज्ञान सर्व द्रव्य व पर्यायोंको जानता है

प्र.सा /मू /४९ दव्वं अणतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि। ण विजाणादि जदि जुगव किध सो सव्वाणि जाणादि। =यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको तथा अनन्त द्रव्य समूहको नही जानता तो वह सब अनन्त द्रव्य समूहको कैसे जान सकता है।

भ.आ /मू /२१४०-४१ सव्वेहिं पज्जएहिं य सपुण्ण सव्वदव्वेहिं।२१४०। तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो।२१४१। =सम्पूर्ण द्रव्यो और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंसे भरे हुए सम्पूर्ण जगतको सिद्ध भगवान् देखते है, तो भी वे मोहरहित ही रहते है।

त.सू /१/२९ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।

स सि./१/२९/१३५/८ सर्वेषु द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेष्विति। जीवद्रव्याणि तावदनन्तानन्तानि, पुद्गलद्रव्याणि च ततोऽप्यनन्तानन्तानि अणुस्कन्धभेदभिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासख्येयस्तेषा पर्यायाश्च त्रिकालभुव प्रत्येकमनन्तानन्तास्तेषु। द्रव्य पर्यायजात न किंचित्केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं सर्वद्रव्यपर्यायेषु इत्युच्यते। =केवलज्ञानकी प्रवृत्ति सर्व द्रव्योमें और उनकी सर्व पर्यायोमें होती है। जीव द्रव्य अनन्तानन्त है, पुद्गलद्रव्य इनसे भी अनन्तानन्तगुणे है जिनके अणु और स्कन्ध ये भेद है। धर्म अधर्म और आकाश ये तीन है, और काल असंख्यात है। इन सब द्रव्योकी पृथक् पृथक् तीनो कालोमे होनेवाली अनन्तानन्त पर्यायें है। इन सबमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञानके विषयके परे हो। केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है इसी बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' कहा है। (रा वा/१/२९/९/९०/४)

अष्टशती/का १०६/निर्णयसागर बम्बई—साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति (केवलाख्येन प्रत्यक्षेण केवली) नान्यत (नागमात्) इति। =केवली भगवान् केवलज्ञान नामवाले प्रत्यक्षज्ञानके द्वारा सर्व द्रव्यों व सर्व पर्यायोको जानते है, आगमादि अन्य ज्ञानोसे नही।

ध /१/१ १ १/२७/४८/४ सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा। =जिन्होने सम्पूर्ण पर्यायो सहित पदार्थोको जान लिया है।

प्र.सा /त प्र/२१ सर्वद्रव्यपर्याया' प्रत्यक्षा एव भवन्ति। =(उस ज्ञानके) समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही है।

नि. सा /ता वृ /४३ त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च। =तीन काल और तीन लोकके स्थावर जगमस्वरूप समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायोको एक समयमें जाननेमे समर्थ सकल विमल केवलज्ञान रूपसे अवस्थित होनेसे आत्मा निर्मूढ है।

५. केवलज्ञान त्रिकाली पर्यायोंको जानता है

ध.१/१,१,१३६/१९१/३८६ एय-दवियम्मि जे अत्थ-पज्जया वयणपज्जया वावि। तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवइ दव्व। =एक द्रव्यमें अतीत अनागत और गाथामें आये हुए अपि शब्दमे वर्तमान पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय और व्यजनपर्याय है तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है (जो केवलज्ञानका विषय है)। (गो.जी./मू /५८२/१०२३) तथा (क पा.१/१,१/§१५/२२/२), (क पा./१/१,१/§४६/६५/४) (प्र.सा./त प्र/५२/क४) (प्र सा./त प्र./३६,२००)'

ध ६/४,१,४५/५०/१४२ क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम्। निरतिशयमत्ययच्युतमव्यवधानं जिनज्ञानम्।५०। =जिन भगवान्का ज्ञान क्षायिक, एक अर्थात् असहाय,अनन्त,तीनोंकालोंके सर्व पदार्थोंको युगपत प्रकाशित करनेवाला निरतिशय, विनाशसे रहित और व्यवधानसे विमुक्त है। (ध १/१,१,१/२४/१०२३), (ध.१/१,१,२/६५/१); (ध. १/१,१,११५/३५८/३), (ध. ६/१,९-१,१४/२९/५); (ध १३/५,५,८१/३४५/८) (ध.१५/४/६), (क.पा.१/१,१/§२८/४३/६) (प्र.सा./त प्र.२६/३७/६०) (प.प्रा टी./६२/६१/१०) (न्याय विन्दु/२६१-२६२ चौखम्बा सीरीज)

६. केवलज्ञान सद्भूत व असद्भूत सब पर्यायोंको जानता है

प्र सा./मू./३७ तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासि। वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।३७। =उन जीवादि द्रव्य जातियोकी समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक पर्यायोकी भाँति विशिष्टता पूर्वक ज्ञानमें वर्तती है। (प्र.सा /त प्र/३७,३८,३९,४१)

यो सा /अ/१/२८ अतीता भाविनश्चार्था' स्वे स्वे काले यथाखिला'। वर्तमानास्ततस्तद्वद्वेत्ति तानपि केवलं।२८। =भूत और भावी समस्त पदार्थ जिस रूपसे अपने अपने कालमे वर्तमान रहते है, केवलज्ञान उन्हे भी उसी रूपसे जानता है।

७. प्रयोजनभूत व अप्रयोजनभूत सबको जानता है

ध. ६/४,१,४४/११८/८ ण च खीणावरणो परिमिय चेव जाणदि, णिप्पडिबंधस्स सयलत्थावगमणसहावस्स परिमियत्थावगमविरोहादो। अत्रोपयोगी श्लोक —"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञ स्यादसति प्रतिबंधरि। दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबंधरि।" २९। =आवरणके क्षीण हो जाने पर आत्मा परिमितको ही जानता हो यह तो हो नही सक्ता क्योकि, प्रतिबन्धसे रहित और समस्त पदार्थोंके जानने रूप स्वभाव से संयुक्त उसके परिमित पदार्थोके जाननेका विरोध है। यहाँ उपयोगी श्लोक—"ज्ञानस्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकका अभाव होनेपर ज्ञेयके विषयमें ज्ञानरहित कैसे हो सकता है? क्या अग्नि प्रतिबन्धकके अभावमे दाह्यपदार्थका दाहक नही होता है। होता ही है। (क. पा.१/१,१§४६/१३/६६)

स्या.म /१/५/१२ आह यद्येवम् अतीतदोपमित्येवास्तु, अनन्तविज्ञानमित्यतिरिच्यते। दोषात्ययेऽवश्यभावित्वादनन्तविज्ञानत्वस्य। न। केश्चिद्दोषाभावेऽपि तदनभ्युपगमात। तथा च वैशेषिकवचनम्—"सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु। कीटसख्यापरिज्ञानं तस्य न' क्वोपयुज्यते॥' तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्। प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे।" तन्मतव्यपोहार्थमनन्तविज्ञानमित्यदुष्टमेव। विज्ञानानन्त्य बिना एकस्याप्यर्थस्य यथावत परिज्ञानाभावात्। तथा चार्षम्—(दि० श्रुतकेवली।४)=प्रश्न—केवलीके साथ 'अतीत दोष' विशेष देना ही पर्याप्त है, 'अनन्तविज्ञान' भी कहनेकी क्या आवश्यकता? कारण कि दोषोके नष्ट होनेपर अनन्त विज्ञानकी प्राप्ति अवश्यंभावी है? उत्तर—कितने ही वादी दोषोका

नाश होने पर भी अनन्तविज्ञानकी प्राप्ति स्वीकार नहीं करते, अत एव 'अनन्तविज्ञान' विशेषण दिया गया है। वैशेषिकोंका मत है कि "ईश्वर सर्व पदार्थोंको जाने अथवा न जाने, वह इष्ट पदार्थोंको जाने इतना ही बस है। यदि ईश्वर कीडोंकी संख्या गिनने बैठे तो वह हमारे किस कामका ?" तथा "अतएव ईश्वरके उपयोगी ज्ञानकी ही प्रधानता है, क्योंकि यदि दूर तक देखनेवालेको ही प्रमाण माना जाये तो फिर हमें गीध पक्षियोंको भी पूजा करनी चाहिए। इस मतका निराकरण करनेके लिए ग्रन्थकारने अनन्तविज्ञान विशेषण दिया है और यह विशेषण ठीक ही है, क्योंकि अनन्तज्ञानके बिना किसी वस्तुका भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। आगमका वचन भी है—"जो एकको जानता है वही सर्वको जानता है और सर्वको जानता है वह एकको जानता है।"

८. केवलज्ञानमें इससे भी अनन्तगुणा जाननेकी सामर्थ्य है

रा वा /१/२९/९/९०/५ यावाल्लोकालोकस्वभावोऽनन्त तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्यु:. तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्य तत् केवलज्ञान वेदितव्यम्।=जितना यह लोकालोक स्वभावसे ही अनन्त है, उसमें भी यदि अनन्तानन्त विश्व है तो उसको भी जाननेकी सामर्थ्य केवलज्ञानमें है, ऐसा केवलज्ञानका अपरिमित माहात्म्य जानना चाहिए।

आ.अनु /२१९ वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यै:, उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य। तदपि किल परेषा ज्ञानकोणे निलीनं वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु।२१९।=जिस पृथिवीके ऊपर सभी पदार्थ रहते है वह पृथिवी भी दूसरोंके द्वारा—अर्थात् घनोदधि, घन और तनुवातवलयोंके द्वारा धारण की गयी है। वे पृथिवी और वे तीनों वातवलय भी आकाशके मध्यमें प्रविष्ट हैं, और वह आकाश भी केवलियोंके ज्ञानके एक मध्यमें निलीन है। ऐसी अवस्थामें यहाँ दूसरा अपनेसे अधिक गुणोंवालेके विषयमें कैसे गर्व धारण करता है ?

९. केवलज्ञानको सर्व समर्थ न माने सो अज्ञानी है

स.सा./आ /४१५/क२५५ स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्, तुच्छीभूय पशु प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्। स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां, त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्।२५५।=एकान्तवादी अज्ञानी, स्वक्षेत्रमें रहनेके लिए भिन्न-भिन्न परक्षेत्रोंमें रहे हुए ज्ञेयपदार्थोंको छोडनेसे, ज्ञेय-पदार्थोंके साथ चैतन्यके आकारोंका भी वमन करता हुआ तुच्छ होकर नाशको प्राप्त होता है, और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपना नास्तित्व जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थोंको छोडता हुआ भी पर-पदार्थोंमेंसे चैतन्यके आकारोंको खेंचता है, इसलिए तुच्छताको प्राप्त नहीं होता।

४. केवलज्ञानकी सिद्धिमें हेतु

१. यदि सर्वको नहीं जानता तो एकको भी नहीं जान सकता

प्र सा /४८-४९ जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे। णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।४८। दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि। ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि।४९।=जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थोंको नहीं जानता, उसे पर्याय सहित एक (आत्म--टीका) द्रव्य भी जानना शक्य नहीं।४८। यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको तथा अनन्त द्रव्य समूहको एक ही साथ नहीं जानता तो वह सबको कैसे जान सकेगा ?।४९। (यो सा./अ /१/२९-३०)

नि. सा /मू /१६८ पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं। जो ण पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स/१६८/=विविध गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्योंको जो सम्यक् प्रकारसे नहीं देखता उसे परोक्ष दर्शन है।

स सि./१/१२/१०४/८ यदि प्रत्यर्थवशवर्ति सर्वज्ञत्वमस्य नास्ति योगिन', ज्ञेयस्यानन्त्यात्।=यदि प्रत्येक पदार्थको (एक एक करके) क्रमसे जानता है तो उस योगीके सर्वज्ञताका अभाव होता है क्योंकि ज्ञेय अनन्त है।

स्या. म /१/५/२१ में उद्धृत—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ। (आचाराग सूत्र/१/३/४/सूत्र १२२)। तथा एको भाव' सर्वथा येन दृष्ट सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टा। सर्वे भावा' सर्वथा येन दृष्टा एको भाव सर्वथा तेन दृष्ट'।=जो एकको जानता है वह सर्वको जानता है और जो सर्वको जानता है वह एकको जानता है। तथा—जिसने एक पदार्थको सब प्रकारसे देखा है उसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे देखा है। तथा जिसने सब पदार्थोंको सब प्रकारसे जान लिया है, उसने एक पदार्थको सब प्रकारसे जान लिया है।

श्लो वा./२/१/५/१४/१६२/१७ यथा वस्तुस्वभाव प्रत्ययोत्पत्तौ कस्यचिदनाद्यनन्तवस्तुप्रत्ययप्रसंगात्.।=जैसी वस्तु होगी वैसा ही हूबहू ज्ञान उत्पन्न होवे तब तो चाहे जिस किसीको अनादि अनन्त वस्तुके ज्ञान होनेका प्रसंग होगा (क्योंकि अनादि अनन्त पर्यायोंसे समवेत ही सम्पूर्ण वस्तु है)।

ज्ञा /३४/१३ में उद्धृत—एको भाव' सर्वभावस्वभाव', सर्वे भावा एकभावस्वभावाः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्ध' सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धा'।=एक भाव सर्वभावोंके स्वभावस्वरूप है और सर्व भाव एक भावके स्वभाव स्वरूप है, इस कारण जिसने तत्त्वसे एक भावको जाना उसने समस्त भावोंको यथार्थतया जाना।

नि. सा /ता वृ./१६८/क २८४ यो नेव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव, कालत्रयं च तरसा सकलज्ञमानी। प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं, सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मन' स्यात्।=सर्वज्ञताके अभिमानवाला जो जीव शीघ्र एक ही कालमें तीन जगत्को तथा तीन कालको नहीं देखता, उसे सदा (कदापि) अतुल प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है, उस जडात्माको सर्वज्ञता किस प्रकार होगी।

२ यदि त्रिकालको न जाने तो इसकी दिव्यता ही क्या

प्र सा /मू./३९ जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स। ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।=यदि अनुत्पन्न पर्याय व नष्ट पर्यायें ज्ञानके प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञानको दिव्य कौन कहेगा ?

३. अपरिमिति विषय ही तो इसका माहात्म्य है

स. सि /१/२९/१३५/११ अपरिमितमाहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' इत्युच्यते=केवलज्ञानका माहात्म्य अपरिमित है, इसी बातका ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु' पद कहा है। (रा /वा./१/२९/९/९०/६)

४ सर्वज्ञत्वका अभाव कहनेवाला क्या स्वयं सर्वज्ञ नहीं है

सि वि /मू /८/१५-१६ सर्वात्मज्ञानविज्ञेयतत्त्व विवेचनम्। नो चेद्वेत्कथ तस्य सर्वज्ञाभावविस्स्वयम्।१५। तज्ज्ञेयज्ञानवैकल्याद् यदि

बुध्येत न स्वयम्।…। नरः शरीरी वक्ता वासकलङ्कं जगद्विदन्। सर्वज्ञः स्यात्ततो नास्ति सर्वज्ञाभावसाधनम् ।९९।=सब जीवोंके ज्ञान तथा उनके द्वारा ज्ञेय और अज्ञेय तत्त्वोंको प्रत्यक्षसे जाननेवाला क्या स्वय सर्वज्ञ नही है? यदि वह स्वय यह नही जानता कि सब जीव सर्वज्ञके ज्ञानसे रहित है तो वह स्वयं कैसे सर्वज्ञके अभावका ज्ञाता हो सकता है? शायद कहा जाये कि सब आत्माओंकी असर्वज्ञता प्रत्यक्षसे नहीं जानते किन्तु अनुमानसे जानते है अतः उक्त दोष नहीं आता। तो पुरुष विशेषको भी वक्तृत्व आदि सामान्य हेतुसे असर्वज्ञत्वका साधन करनेमें भी उक्त कथन समान है क्योंकि सर्वज्ञता और वक्तृत्वका कोई विरोध नही है सर्वज्ञ वक्ता हो सकता है।

न्याय वि /वृ./३/१९/२८९ पर उद्धृत (मीमासा श्लोक चोदना/१३४-१३५) "सर्वज्ञोऽयमिति ह्येव तत्कालेऽपि बुभुत्सुभि । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ।१३४। कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव। य एव स्यादसर्वज्ञ स सर्वज्ञं न बुध्यते ।१३५।"=उस कालमें भी जो जिज्ञासु सर्वज्ञके ज्ञान और उसके द्वारा जाने गये पदार्थोंके ज्ञानसे रहित है वे 'यह सर्वज्ञ है' ऐसा कैसे जान सकते है। और ऐसा माननेपर आपको बहुतसे सर्वज्ञ मानने होगे क्योंकि जो भी असर्वज्ञ है वह सर्वज्ञको नही जान सकता।

द्र. स./टी./५०/२११/५ नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धे । खरविषाणवत्। तत्र प्रत्युत्तर—किमत्र देशेऽत्र काले अनुपलब्धे, सर्वदेशे काले वा। यद्यत्र देशेऽत्र काले नास्ति तदा सम्मत एव। अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्त्रय कालत्रय सर्वज्ञरहित कथ ज्ञात भवता। ज्ञात चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञ। अथ न ज्ञात तर्हि निषेध कथं क्रियते ।१। यथोक्त खरविषाणवदिति दृष्टान्तवचन तदप्यनुचितम्। खरे विषाण नास्ति गवादौ तिष्ठतीत्यत्यन्ताभावो नास्ति यथा तथा सर्वज्ञस्यापि नियतदेशकालादिष्वभावेऽपि सर्वथा नास्तित्व न भवति इति दृष्टान्तदूषण गतम्। =प्रश्न—सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नही होती, जैसे गधेके सींग? उत्तर—सर्वज्ञकी प्राप्ति इस देश व इस कालमें नही है या सब देशो व सब कालोंमें नही है? यदि कहो कि इस देश व इस कालमें नही तब तो हमें भी सम्मत है ही। और यदि कहो कि सब देशो व सब कालोंमें नही है, तब हम पूछते है कि यह तुमने कैसे जाना कि तीनों जगत व तीनों कालोमें सर्वज्ञ नही है। यदि कहो कि हमने जान लिया तब तो तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हो चुके और यदि कहो कि हम नही जानते तो उसका निषेध कैसे कर सकते हो। (इस प्रकार तो हेतु दूषित कर दिया गया) अब अपने हेतुकी सिद्धिमे जो आपने गधेके सींगका दृष्टान्त कहा है वह भी उचित नहीं है, क्योंकि भले ही गधेको सीग न हो परन्तु बैल आदिको तो है ही। इसी प्रकार यद्यपि सर्वज्ञका किसी नियत देश तथा काल आदिमें अभाव हो पर उसका सर्वथा अभाव नही हो सकता। इस प्रकार दृष्टान्त भी दूषित है। (पं का/ता वृ/२९/६५/११)

५. बाधक प्रमाणका अभाव होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

सि वि/मू/८/६-७/५३७-५३८ "प्रामाण्यमक्षबुद्धेश्चेद्यथाऽबाधाविनिश्चयात्। निर्णीतासंभवद्बाध सर्वज्ञो नेति साहसम् ।६। सर्वज्ञोऽस्तीति विज्ञान प्रमाण स्वत एव तत्। दोषवत्कारणाभावाद् बाधकासंभवादपि ।७।"=जिस प्रकार बाधकाभावके विनिश्चयसे चक्षु आदिसे जन्य ज्ञानको प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार बाधाके असभवका निर्णय होनेसे सर्वज्ञके अस्तित्वको नहीं मानना यह अति साहस है ।६। 'सर्वज्ञ है' इस प्रकारके प्रवचनसे होने वाला ज्ञान स्वत ही प्रमाण है क्योंकि उस ज्ञानका कारण सदोष नहीं है। शायद कहा जाये कि 'सर्वज्ञ है' यह ज्ञान बाध्यमान है किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि उसका कोई बाधक भी नही है। (द्र स/टी/५०/२१३/७) (प. का/ता वृ/२९/६६ १३)।

आप्त.प/मू/९६-११० सुनिश्चितान्वयाद्धेतो प्रसिद्धव्यतिरेकत । ज्ञाताऽर्हन् विश्वतत्त्वानामेवं सिद्ध्येदबाधित ।९६।…एवं सिद्धः सुनिर्णीतासभवद्बाधकत्वत । सुखवद्विश्वतत्त्वज्ञ सोऽर्हन्नेव भवानिह ।१०९। =प्रमेयपना हेतुका अन्वय अच्छी तरह सिद्ध है और उसका व्यतिरेक भी प्रसिद्ध है, अत उसमे अर्हन्त निर्बाधरूपसे समस्त पदार्थोंका ज्ञाता सिद्ध होता है।९६। (१)—त्रिकाल त्रिलोकको न जाननेके कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष बाधक नहीं है।९७। (२)—केवल सत्ताको विषय करनेके कारण अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम भी बाधक नहीं है।९८। (३)—अनैकान्तिक होनेके कारण पुरुषत्व व वक्तृत्व हेतु(अनुमान)बाधक नहीं है—दे० केवलज्ञान/५/९९-१००; (४)—सर्व मनुष्योंमें समानताका अभाव होनेसे उपमान भी बाधक नहीं है।१०१। (५)—अन्यथानुपपत्तिसे शून्य होनेसे अर्थापत्ति बाधक नही है।१०२। (६)—अपौरुषेय आगम केवल यज्ञादिके विषयमें प्रमाण है, सर्वज्ञकृत आगम बाधक हो नही सकता और सर्वज्ञकृत आगम स्वत साधक है।१०३-१०४।; (७)—सर्वज्ञत्वके अनुभव व स्मरण विहीन होनेके कारण अभाव प्रमाण भी बाधक नहीं है अथवा असर्वज्ञत्वकी सिद्धिके अभावमें सर्वज्ञत्वका अभाव कहना भी असिद्ध है।१०५-१०८। इस प्रकार बाधक प्रमाणोंका अभाव अच्छी तरह निश्चित होनेसे सुखकी तरह विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता—सर्वज्ञ सिद्ध होता है।१०९।

६. अतिशय पूज्य होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

ध ९/४,१,४४/११३/७ कधं सव्वण्हू वड्ढमाणभयवंतो…णवकेवललद्धीओ पेच्छंतएण सोहम्मिदेण तस्स कयपूजण्णहाणुववत्तीदो। ण च विज्जावाइपूजाए वियहिचारो…साहम्माभावादो…वधम्मियादो वा। =प्रश्न—भगवान् वर्द्धमान सर्वज्ञ थे यह कैसे सिद्ध होता है? उत्तर—भगवान्मे स्थित देखनेवाले सौधर्मेन्द्र द्वारा की गयी उनकी पूजा क्योकि सर्वज्ञताके बिना बन नहीं सकती। यह हेतु विद्यावादियोंकी पूजासे व्यभिचरित नही होता, क्योंकि व्यन्तरो द्वारा की गयी और देवेन्द्रो द्वारा की गयी पूजामें समानता नहीं है।

७. केवलज्ञानका अंश सर्व प्रत्यक्ष होनेसे केवलज्ञान सिद्ध है

क पा १/१,/§३१/४४ ण च केवलणाणमसिद्ध, केवलणाणंसस्स ससवेयणपच्चक्खेण णिव्वाहेणुवलंभादो। ण च अवयवे पच्चक्खे संते अवयवी परोक्खो त्ति जुत्तं; चक्खिदियविसयीकयअवयवत्थंभस्स वि परोक्खप्पसगादो। =यदि कहा जाय कि केवलज्ञान असिद्ध है, सो भी बात नही है, क्योंकि स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अंशरूप (मति आदि) ज्ञानकी निर्बाध रूपसे उपलब्धि होती है। अवयवके प्रत्यक्ष हो जाने पर सहवर्ती अन्य अवयव भले परोक्ष रहें, परन्तु अवयवी परोक्ष नही कहा जा सकता, क्योकि ऐसा मानने पर चक्षुइन्द्रियके द्वारा जिसका एक भाग प्रत्यक्ष किया गया है उस स्तम्भको भी परोक्षताका प्रसग प्राप्त होता है।

स्या म/१७/२३७/६ तत्सिद्धिस्तु ज्ञानतारतम्य क्वचिद् विश्रान्तम्, तारतम्यत्वात् आकाशे परिणामतारतम्यवत्। =ज्ञानकी हानि और वृद्धि किसी जीवमें सर्वोत्कृष्ट रूपमें पायी जाती है, हानि, वृद्धि होनेसे। जैसे आकाशमें परिणामकी सर्वोत्कृष्टता पायी जाती है वैसे ही ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टता सर्वज्ञमें पायी जाती है।

८. सूक्ष्मादि पदार्थोंके प्रमेय होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

आप्त मी./५ सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा. कस्यचिद्यथा। अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थिति ।५। =सूक्ष्म अर्थात् परमाणु आदिक, अन्तरित अर्थात् कालकरि दूर राम रावणादि और दूरस्थ अर्थात् क्षेत्रकरि दूर मेरु आदि किसी न किसीके प्रत्यक्ष अवश्य है, क्योंकि ये अनुमेय है। जैसे अग्नि आदि पदार्थ अनुमानके विषय है सो ही किसीके प्रत्यक्ष भी अवश्य होते है। ऐसे सर्वज्ञका भले प्रकार निश्चय होता है। (न्या.वि /मू /३/२९/२९८) (सि वि./मू /८/३१/५७३) (न्या वि /वृ./३/२०/२८८ में उद्धृत) (आप्त.प /मू /८८-९१) (काव्य मीमासा ५) (द्र सं./टी /५०/२१३/१०) (पं का./ता वृ /२९/६६/१४) (सा म /१७/२३७/७) (न्या.दी./२/§२१-२३/४१-४४)

९. प्रतिबन्धक कर्मोका अभाव होनेसे सर्वज्ञत्व सिद्ध है

सि.वि /मू /८-९ ज्ञानस्यातिशयात् सिध्येद्विभुत्वं परिमाणवत्। वैषद्य क्वचिद्दोषमलहानेस्तिमिराक्षवत् ।८। माणिक्यादेर्मलस्यापि व्यावृत्तिरतिशयवती। आत्यन्तिकी भवत्येव तथा कस्यचिदात्मन ।९। =जैसे परिमाण अतिशययुक्त होनेसे आकाशमें पूर्णरूपसे पाया जाता है, वैसे ही ज्ञान भी अतिशययुक्त होनेसे किसी पुरुष विशेषमें विभु-समस्त ज्ञेयोका जाननेवाला होता है। और जैसे अन्धकार हटनेपर चक्षु स्पष्ट रूपसे जानती है, वैसे ही दोष और मलकी हानि होनेसे वह ज्ञान स्पष्ट होता है। शायद कहा जाये कि दोष और मलकी आत्यन्तिक हानि नही होती तो ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योंकि जैसे माणिक्य आदिसे अतिशयवाली मलकी व्यावृत्ति भी आत्यन्तिकी होती है उसके मल सर्वथा दूर हो जाता है उसी तरह किसी आत्मासे भी मलके प्रतिपक्षी ज्ञानादिका प्रकर्ष होनेपर मलका अत्यन्ताभाव हो जाता है ।७-८। (न्या वि./मू /३/२१-२५/२६१-२६५), (ध ६/-४,१,४४/२६/तथा टीका पृ ११४-११८), (क पा.१/१,१/§३७-४६/१३ तथा टीका पृ. ५६-६४), (राग/५—रागादि दोषोका अभाव असंभव नही है), (मोक्ष/६—अकृत्रिम भी कर्ममलका नाश सम्भव है), (न्या.दी./२/§२४-२८/४४-५०), (न्याय विन्दु चौखम्बा सीरोज/श्लो. ३६१-३६२)

५. केवलज्ञान विषयक शंका-समाधान

१. केवलज्ञान असहाय कैसे है ?

क.पा.१/१,१/§१५/२१/१ केवलमसहाय इन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षत्वात्। आत्मसहायमिति न तत्केवलमिति चेत्; न, ज्ञानव्यतिरिक्तात्मनोऽसत्त्वात्। अर्थसहायत्वान्न केवलमिति चेत्, न, विनष्टानुत्पन्नातीतानागतेऽर्थेष्वपि तत्प्रवृत्त्युपलम्भात् । =असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते है, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनोव्यापारकी अपेक्षासे रहित है। प्रश्न—केवलज्ञान आत्माकी सहायतासे उत्पन्न होता है, इसलिए इसे केवल नहीं कह सकते ? उत्तर—नही, क्योंकि ज्ञानसे भिन्न आत्मा नही पाया जाता है, इसलिए इसे असहाय कहनेमें आपत्ति नही है। प्रश्न—केवलज्ञान अर्थकी सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिए इसे केवल (असहाय) नहीं कह सकते ? उत्तर—नही, क्योकि नष्ट हुए अतीत पदार्थोमें और उत्पन्न न हुए अनागत पदार्थोमें भी केवलज्ञानकी प्रवृत्ति पायी जाती है, इसलिए यह अर्थकी सहायतासे होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

भ. आ /वि /५१/१७३/१५ प्रत्यक्षस्यावध्यादे आत्मकारणत्वादसहायतास्तीति केवलत्वप्रसग स्यादिति चेन्न रूढेर्निराकृताशेषज्ञानावरणस्योपजायमानस्यैव बोधस्य केवलशब्दप्रवृत्ते। =प्रश्न—प्रत्यक्ष अवधि व मन पर्यय ज्ञान भी इन्द्रियादिकी अपेक्षा न करके केवल आत्माके आश्रयसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनको भी केवलज्ञान क्यों नहीं कहते हो ? उत्तर—जिसने सर्व ज्ञानावरणकर्मका नाश किया है, ऐसे केवलज्ञानको ही 'केवलज्ञान' कहना रूढ है, अन्य ज्ञानोंमें 'केवल' शब्दकी रूढि नही है।

ध /१/१,१,२२/१९९/१ प्रमेयमपि मैवमैक्षिष्टासहायत्वादिति चेन्न, तस्य तत्स्वभावत्वात्। न हि स्वभावा परपर्यनुयोगार्हा अव्यवस्थापत्तेरिति। =प्रश्न—यदि केवलज्ञान असहाय है, तो वह प्रमेयको भी मत जानो ? उत्तर—ऐसा नही है, क्योंकि पदार्थोंका जानना उसका स्वभाव है। और वस्तुके स्वभाव दूसरोंके प्रश्नोंके योग्य नही हुआ करते है। यदि स्वभावमें भी प्रश्न होने लगे तो फिर वस्तुओंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती।

२. विनष्ट व अनुत्पन्न पदार्थोंका ज्ञान कैसे सम्भव है

क पा १/१,१/§१५/२२/२ असति प्रवृत्तौ खरविषाणेऽपि प्रवृत्तिरस्त्विति चेत्, न, तस्य भूतभविष्यच्छक्तिरूपतयाऽप्यसत्त्वात्। वर्तमानपर्यायाणामेव किमित्यर्थत्वमिष्यत इति चेत्, न, 'अर्यते परिच्छिद्यते' इति न्यायतस्तत्रार्थत्वोपलम्भात्। तदनागतातीतपर्यायेष्वपि समानमिति चेत्, न, तद्ग्रहणस्य वर्तमानार्थग्रहणपूर्वकत्वात्। =प्रश्न—यदि विनष्ट और अनुत्पन्नरूपसे असत् पदार्थोमें केवलज्ञानकी प्रवृत्ति होती है, तो खरविषाणमें भी उसकी प्रवृत्ति होओ ? उत्तर—नही, क्योंकि खरविषाणका जिस प्रकार वर्तमानमें सत्त्व नहीं पाया जाता है, उसी प्रकार उसका भूतशक्ति और भविष्यत् शक्तिरूपसे भी सत्त्व नहीं पाया जाता है। प्रश्न—यदि अर्थमें भूत और भविष्यत् पर्यायें शक्तिरूपसे विद्यमान रहती है तो केवल वर्तमान पर्यायको ही अर्थ क्यों कहा जाता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, 'जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वर्तमान पर्यायोंमें ही अर्थपना पाया जाता है। प्रश्न—यह व्युत्पत्ति अर्थ अनागत और अतीत पर्यायोमें भी समान है ? उत्तर—नही, क्योंकि उनका ग्रहण वर्तमान अर्थके ग्रहण पूर्वक होता है।

ध.९/४,१-१,१४/२९/६ णट्ठाणुप्पण्णअत्थाण कध तदो परिच्छेदो। ण, केवलत्तादो बज्झत्थावेक्खाए विणा तदुप्पत्तीए विरोहाभावा। ण तस्स विपज्जयणाणत्त पसज्जदे, जहारूवेण परिच्छित्तीदो। ण गद्दहसिंगेण विउचारो तस्स अच्चताभावरूवत्तादो। =प्रश्न—जो पदार्थ नष्ट हो चुके है और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका केवलज्ञानसे कैसे ज्ञान हो सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि केवलज्ञानके सहाय निरपेक्ष होनेसे बाह्य पदार्थों की अपेक्षाके बिना उनके, (विनष्ट और अनुत्पन्नके) ज्ञानकी उत्पत्तिमें कोई विरोध नही है। और केवलज्ञानके विपर्ययज्ञानपनेका भी प्रसग नहीं आता है, क्योंकि वह यथार्थ स्वरूपको पदार्थोंसे जानता है। और न गधेके सींगके साथ व्यभिचार दोष आता है, क्योंकि वह अत्यन्ताभाव रूप है।

प्र सा./त प्र /३७ न खल्वेतदयुक्त—दृष्टाविरोधात्। दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागत वा वस्तु चिन्तयत संविदालम्बितस्तदाकार। किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविद। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकारा साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि। किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तदात्विकत्वाविरोधात्। यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति। =यह (तीनों कालोंकी पर्यायोंका वर्तमान पर्यायों वत् ज्ञानमें ज्ञात होना)

अयुक्त नहीं है, क्योंकि १ उसका दृष्टके साथ अविरोध है। (जगत्‌में) दिखाई देता है कि छद्मस्थके भी, जैसे वर्तमान वस्तुका चिन्तवन करते हुए ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है, उसी प्रकार भूत और भविष्यत् वस्तुका चिन्तवन करते हुए (भी) ज्ञान उसके आकार-का अवलम्बन करता है। २ ज्ञान चित्रपटके समान है। जैसे चित्र-पटमें अतीत अनागत और वर्तमान वस्तुओके आलेख्याकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें भी अतीत अनागत पर्यायोके ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते है। ३ और सर्व ज्ञेयाकारोकी तात्कालिकता अविरुद्ध है। जैसे चित्रपटमें नष्ट व अनुत्पन्न (बाहूबली, राम, रावण आदि) वस्तुओके आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, इसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायोके ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।

३. अपरिणामी केवलज्ञान परिणामी पदार्थोंको कैसे जाने

ध १/१,१,२२/१९८/५ प्रतिक्षणं विवर्तमानानर्थानपरिणामि केवलं कथ परिच्छिनत्तीदि चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तिन. केवलस्य तदविरोधात्। ज्ञेयपरतन्त्रतया परिवर्तमानस्य केवलस्य कथ पुनर्नवोत्पत्तिरिति चेन्न, केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात्। विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोकमनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात्। केवल-मसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्षते स्वरूपहानिप्रसगात्। =प्रश्न—अपरि-वर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमे परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे जानता है? उत्तर—ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके लिए तदनुकूल परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके ऐसे परि-वर्तनके मान लेनेमें कोई विरोध नही आता। प्रश्न—ज्ञेयकी पर-तन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उत्पत्ति क्यो नही मानी जाये? उत्तर—नहीं, क्योंकि, केवलज्ञानरूप उपयोग-सामान्य-की अपेक्षा केवलज्ञानकी पुन उत्पत्ति नही होती है। विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह (उपयोग) इन्द्रिय, मन और आलोकसे उत्पन्न नही होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो गये है, ऐसे केवलज्ञानमे इन्द्रियादिकी सहायता माननेमें विरोध आता है। दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान स्वय असहाय है, इसलिए वह इन्द्रियादिकोकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा ज्ञानके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आ जायेगा।

४. केवलज्ञानीको प्रश्न पूछने या सुननेकी आवश्यकता क्यों

म पु/१/१८२ प्रश्नाद्विनैव तद्भाव जानन्नपि स सर्ववित्। तत्प्रश्नान्त-मुदैक्षिष्ट प्रतिपत्रनिरोधत ।१८२। =ससारके सब पदार्थोको एक साथ जाननेवाले भगवान् वृषभनाथ यद्यपि प्रश्नके विना ही भरत महाराज-के अभिप्रायको जान गये थे तथापि वे श्रोताओंके अनुरोधसे प्रश्नके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करते रहे।

५. सर्वज्ञत्वके साथ वक्तृत्वका विरोध नहीं है

आप्त प./मू./९९-१०० नार्हन्नि शेषतत्त्वज्ञो वक्तृत्व-पुरुषत्वत । ब्रह्मा-दिवदिति प्रोक्तमनुमान न वाधकम् ।९९। हेतोरस्य विपक्षेण विरोधा-भावनिश्चयात्। वक्तृत्वादे प्रकर्षेऽपि ज्ञानानिर्ह्रासिसिद्धित ।१००। =प्रश्न—अर्हन्त अशेष तत्त्वोका ज्ञाता नहीं है क्योकि वह वक्ता है और पुरुष है। जो वक्ता और पुरुष है, वह अशेष तत्त्वोका ज्ञाता नहीं है, जसे ब्रह्मा वगैरह? उत्तर—यह आपके द्वारा कहा गया अनुमान सर्वज्ञका बाधक नही है, क्योंकि, वक्तापन और पुरुषपन हेतुओका, विपक्षके (सर्वज्ञताके) साथ विरोधका अभाव निश्चित है, अर्थात् उक्त हेतु सपक्ष व विपक्ष दोनोमे रहता होनेसे अनैकान्तिक है। कारण वक्तापन आदिका प्रकर्ष होनेपर भी ज्ञानकी हानि नहीं होती। (और भी दे० व्यभिचार/४)।

६. अर्हन्तोंको ही केवलज्ञान क्यो अन्यको क्यों नहीं

आप्त. मी./मू./६,७ स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ।६। त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धाना स्वेष्टाद्दृष्टेन बाध्यते ।७। =हे अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष है। निर्दोष इसलिए है कि युक्ति और आगमसे आपके वचन अविरुद्ध हैं—और वचनोमें विरोध इस कारण नहीं है कि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाणसे बाधित नहीं है। किन्तु तुम्हारे अनेकान्त मतरूप अमृतका पान नहीं करनेवाले तथा सर्वथा एकान्त तत्त्वका कथन करनेवाले और अपनेको आप्त समझनेके अभिमानसे दग्ध हुए एकान्त-वादियोका इष्ट (अभिमत तत्त्व) प्रत्यक्षसे बाधित है। (अष्ट-सहस्री) (निर्णय सागर बम्बई /पृ. ६६-६७) (न्याय. दी/२/§२४-२६/४४-४६)।

७. सर्वज्ञत्व जाननेका प्रयोजन

प का/ता वृ/२९/६७/१० अन्यत्र सर्वज्ञसिद्धौ भणितमास्ते अत्र पुन-रध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यते। इदमेव वीतरागसर्वज्ञस्वरूप समस्तरागा-दिविभावत्यागेन निरन्तरमुपादेयत्वेन भावनीयमिति भावार्थ.। =सर्वकी सिद्धि न्याय विषयक अन्य ग्रन्थोंमें अच्छी तरह की गयी है। यहाँ अध्यात्मग्रन्थ होनेके कारण विशेष नहीं कहा गया है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञका स्वरूप ही समस्त रागादि विभावोंके त्याग द्वारा निरन्तर उपादेयरूपसे भाना योग्य है, ऐसा भावार्थ है।

६. केवलज्ञानका स्वपर-प्रकाशकपना

१ निश्चयसे स्वको और व्यवहारसे परको जानता है

नि. सा/मू. १५९ जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवली भगवं। केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ।१५९। =व्यवहार नयसे केवली भगवान् सब जानते है और देखते हैं, निश्चयनयसे केवलज्ञानी आत्माको जानता है और देखता है। (प प्र/टी/१/५२/५०/८ (और भी दे० श्रुतकेवली/३)।

प प्र/मू/१/५ ते पुणु वदउँ सिद्धगण जे अप्पाणि वसंत/लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहि विमलु णियत ।५। =मैं उन सिद्धोंको वन्दता हूँ, जो निश्चय करके अपने स्वरूपमें तिष्ठते हैं और व्यवहार नयकरि लोकालोकको सशयरहित प्रत्यक्ष देखते हुए ठहर रहे है।

२. निश्चयसे परको न जाननेका तात्पर्य उपयोगका पर-के साथ तन्मय न होना है

प्र सा/त प्र/५२/क.४ जानन्नप्येष विश्व युगपदपि भवद्भावि भूत समस्त, मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति पर नैव निर्लूनकर्मा। तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकार त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्ति ।४। =जिसने कर्मोंको छेद डाला है ऐसा यह आत्मा भूत, भविष्यत् और वर्तमान समस्त विश्वको एक ही साथ जानता हुआ भी मोहके अभावके कारण पररूप परिणमित नही होता, इसलिए अब, जिसके (समस्त) ज्ञेयाकारोंको अत्यन्त विकसित ज्ञप्तिके विस्तारसे स्वयं पी गया है ऐसे तीनों लोकके पदार्थोंको पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।

प्र सा /त. प्र./३२ अथ खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते। अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणक्रियाविराम·· विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव। =यह आत्मा स्वभावसे ही परद्रव्योंके ग्रहण-त्यागका तथा परद्रव्यरूपसे परिणमित होनेका अभाव होनेसे स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूपसे परिणमित होकर, निःशेषरूपसे परिपूर्ण आत्माको आत्मासे आत्मामें संचेतता जानता अनुभव करता है। अथवा एक साथ ही सर्व पदार्थोंके समूहका साक्षात्कार करनेसे ज्ञप्तिपरिवर्तनका अभाव होनेसे जिसके ग्रहणत्यागरूप क्रिया विरामको प्राप्त हुई है, सर्वप्रकारसे अशेष विश्वको देखता जानता ही है। इस प्रकार उसका अत्यन्त भिन्नत्व ही है। भावार्थ—केवली भगवान् सर्वात्म प्रदेशोंसे अपनेको ही अनुभव करते रहते है, इस प्रकार वे परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है। अथवा केवल भगवान्‌को सर्वपदार्थोंका युगपत् ज्ञान होता है। उनका ज्ञान एक ज्ञेयको छोडकर किसी अन्य विवक्षित ज्ञेयाकारको जाननेके लिए भी नहीं जाता है, इस प्रकार भी वे परसे सर्वथा भिन्न है।

प्र सा /ता. वृ /३७/५०/१६ अथ केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति। =यह केवली भगवान् परद्रव्य व उनकी पर्यायोको परिच्छित्ति (प्रतिभास) मात्रसे जानते है, तन्मयरूपसे नही। परन्तु निश्चयसे तो वे केवलज्ञानादि गुणोके आधारभूत स्वकीय सिद्धपर्यायको ही स्वसंवित्तिरूप आकारसे अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञानसे तन्मय होकर जानता है या अनुभव करता है।

स सा /ता. वृ /३५६-३६५ श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः तर्हि किं भवति। ज्ञायको ज्ञायक एव स्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तुव्यवहारेण जानाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। =जिस प्रकार खडिया दीवार रूप नही होती बल्कि दीवारके बाह्य भागमें ही ठहरती है इसी प्रकार ज्ञानात्मा घट पट आदि ज्ञेयपदार्थोंका निश्चयसे ज्ञायक नहीं होता अर्थात् उनके साथ तन्मय नही होता, ज्ञायक ज्ञायकरूप ही रहता है। जिस प्रकार खडिया दीवारसे तन्मय न होकर भी उसे श्वेत करती है, इसी प्रकार वह ज्ञानात्मा घट पट आदि परद्रव्यरूप ज्ञेयवस्तुओको व्यवहारसे जानता है पर उनके साथ तन्मय नही होता।

प. प्र /टी /१/५२/५०/१० कश्चिदाह। यदि व्यवहारेण लोकालोकं जानाति तर्हि व्यवहारनयेन सर्वज्ञत्व, न च निश्चयनयेनेति। परिहारमाह—यथा स्वकीयमात्मानं तन्मयत्वेन जानाति तथा परद्रव्यं तन्मयत्वेन न जानाति, तेन कारणेन व्यवहारो भण्यते न च परिज्ञानाभावात्। यदि पुनर्निश्चयेन स्वद्रव्यवत्तन्मयो भूत्वा परद्रव्यं जानाति तर्हि परकीयसुखदुःखरागद्वेषपरिज्ञातो सुखी दुःखी रागी द्वेषी च स्यादिति महद्दूषणं प्राप्नोतीति। =प्रश्न—यदि केवली भगवान् व्यवहारनयसे लोकालोकको जानते हैं तो व्यवहारनयसे ही उन्हे सर्वज्ञत्व भी होओ परन्तु निश्चयनयसे नहीं? उत्तर—जिस प्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्माको जानते हैं उसी प्रकार परद्रव्यको तन्मय होकर नहीं जानते, इस कारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञानका ही अभाव होनेके कारण। यदि स्वद्रव्यकी भाँति परद्रव्यको भी निश्चयसे तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख व दुःखको जाननेसे स्वयं सुखी दुःखी और परकीय रागद्वेषको जाननेसे स्वयं रागी द्वेषी हो गये होते। और इस प्रकार महत् दूषण प्राप्त होता। (प. प्र /टी /१/५/११) (और भी दे० मोक्ष/६ व हिंसा/६ में इसी प्रकारका शंका-समाधान)।

३. आत्मा ज्ञेयके साथ नहीं पर ज्ञेयाकारके साथ तन्मय होता है

रा. वा./१/१०/१०/५०/१६ यदि यथा बाह्यप्रमेयाकारात् प्रमाणमन्यत् तथाभ्यन्तरप्रमेयाकारादप्यन्यत् स्यात्, अनवस्थास्य स्यात् ।१०।·· स्यादन्यत्व स्यादनन्यत्वमित्यादि। संज्ञालक्षणादिभेदात् स्यादन्यत्वम्, व्यतिरेकेणानुपलब्धेः स्यादनन्यत्वमित्यादि ।१३। =जिस प्रकार बाह्य प्रमेयाकारोसे प्रमाण जुदा है, उसी तरह यदि अन्तरंग प्रमेयाकारसे भी वह जुदा हो तब तो अनवस्था दोष आना ठीक है, परन्तु इनमें तो कथंचित् अन्यत्व और कथंचित् अनन्यत्व है। संज्ञा लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा अन्यत्व है और पृथक् पृथक् रूपसे अनुपलब्धि होनेके कारण इनमें अनन्यत्व है। (प्र. सा /त प्र /३६)।

प्र. सा /त प्र /२९,३१ यथा चक्षु रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्ट परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्ट जानाति पश्यति च, एवमात्मापि·· ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरस्पृशन्न प्रविष्टः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च। एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ।२९। यदि खलु सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत। अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम्। तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावतीर्णप्रतिबिम्बस्थानीयस्वसंवेद्याकारकारणानि परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते। =जिस प्रकार चक्षु रूपीद्रव्योको स्वप्रदेशोके द्वारा अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर (उन्हे जानता देखता है), तथा ज्ञेयाकारोंको आत्मसात्कार करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता देखता है, उसी प्रकार आत्मा भी ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओको स्वप्रदेशोसे अस्पर्श करता है, इसलिए अप्रविष्ट रहकर (उनको जानता देखता है), तथा वस्तुओंमें वर्तते हुए समस्त ज्ञेयाकारोको मानो मूलमेंसे ही उखाडकर ग्रास कर लिया हो, ऐसे अप्रविष्ट न रहकर जानता देखता है। इस प्रकार इस विचित्र शक्तिवाले आत्माके पदार्थमें अप्रवेशकी भाँति प्रवेश भी सिद्ध होता है ।२९। यदि समस्त पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित न हो तो वह ज्ञान सर्वगत नही माना जाता। और यदि वह सर्वगत माना जाय तो फिर साक्षात् ज्ञानदर्पण भूमिकामें अवतरित बिम्बकी भाँति अपने अपने ज्ञेयाकारोंके कारण (होनेसे), और परम्परासे प्रतिबिम्बके समान ज्ञेयाकारोंके कारण होनेसे पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित नहीं होते ।३१। (प्र /सा /त प्र /२६) (प्र सा./प जयचन्द/१७४)

४. आत्मा ज्ञेयरूप नहीं पर ज्ञेयके आकार रूप अवश्य परिणमन करता है

स सा /आ /४२ सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। =(उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूपमें परिणमित होनेपर भी स्वयं रस रूप परिणमित नही होता, इसलिए (आत्मा) अरस है।

५. ज्ञानाकार व ज्ञेयाकार का अर्थ

रा वा /१/६/५/३४/२६ अथवा, चैतन्यशक्तेर्द्वावाकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च। अनुपयुक्तप्रतिबिम्बाकारादर्शतलवत् ज्ञानाकारः, प्रतिबिम्बाकारपरिणतादर्शतलवत् ज्ञेयाकारः। =चैतन्य शक्तिके दो आकार है ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। तहाँ प्रतिबिम्बशून्य दर्पणतलवत् तो ज्ञानाकार है और प्रतिबिम्ब सहित दर्पणतलवत् ज्ञेयाकार है।

६. वास्तवमें ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित निजात्माको देखते हैं

रा वा /१/१२/१५/५६/२३ अथ द्रव्यसिद्धिर्माभूदिति 'आकार एव न ज्ञानम्' इति कल्प्यते; एव सति कस्य ते आकारा इति तेषामप्यभावः स्यात्। =यदि (बौद्ध लोग) अनेकान्तात्मक द्रव्यसिद्धिके भयसे केवल आकार ही आकार मानते हैं, पर ज्ञान नहीं तो यह प्रश्न होता है कि वे आकार किसके हैं, क्योंकि निराश्रय आकार तो रह नहीं सकते हैं। ज्ञानका अभाव होनेसे आकारोंका भी अभाव हो जायेगा।

ध १३/५,५,८४/३५३/२ अशेषबाह्यार्थग्रहणे सत्यपि न केवलिनः सर्वज्ञता, स्वरूपपरिच्छित्त्यभावादित्युक्ते आह—'पस्सदि' त्रिकालगोचरानन्तपर्यायोपचितमात्मानं च पश्यति। =केवली द्वारा अशेष बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होनेपर भी उनका सर्वज्ञ होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके स्वरूपपरिच्छित्ति अर्थात् स्वसंवेदनका अभाव है, ऐसी आशंकाके होनेपर सूत्रमें 'पस्सदि' कहा है। अर्थात् वे त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे उपचित आत्माको भी देखते हैं।

प्र सा /त प्र /४९ आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः। अथ यः प्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं सर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात्। एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति। यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत्। =पहिले तो आत्मा वास्तवमें स्वयं ज्ञानमय होनेसे ज्ञातृत्वके कारण ज्ञान ही है, और ज्ञान प्रत्येक आत्मामें वर्तता हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है, वह प्रतिभास अनन्त विशेषोंमें व्याप्त होनेवाला है और उन विशेषोंके निमित्त सर्व द्रव्यपर्याय है। अब जो पुरुष उस प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्माका स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता वह सर्वद्रव्य पर्यायोंको कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा? अत जो आत्माको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता। आत्मा ज्ञानमयताके कारण सचेतक होनेसे, ज्ञाता और ज्ञेयका वस्तुरूपसे अन्यत्व होनेपर भी, प्रतिभास और प्रतिभास्य मानकर अपनी अवस्थामें अन्योन्य मिलन होनेके कारण, उन्हें (ज्ञान व ज्ञेयाकारको) भिन्न करना अत्यन्त अशक्य है इसलिए, मानो सब कुछ आत्मामें प्रविष्ट हो गया हो इस प्रकार प्रतिभासित होता है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानके परिपूर्ण आत्मसंचेतनका अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध न हो। (प्र सा /त प्र /४८), (प्र सा /ता.वृ /३५), (प ध /पू /६७३)

स सा /परिशिष्ट/क २५१ ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति। ।२५१। =ज्ञेयाकारोंको धोकर चेतनको एकाकार करनेकी इच्छासे अज्ञानीजन वास्तवमें ज्ञानको ही नहीं चाहता। ज्ञानी तो विचित्र होनेपर भी ज्ञानको प्रक्षालित ही अनुभव करता है।

७. ज्ञेयाकारमें ज्ञेयका उपचार करके ज्ञेयको जाना कहा जाता है

प्र सा /त प्र./३० यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते। =जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनीलरत्न अपने प्रभावसमूहसे दूधमें व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार संवेदन (ज्ञान) भी आत्मासे अभिन्न होनेसे समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिए कार्यमें कारणका उपचार करके यह कहनेमें विरोध नहीं आता, कि ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है। (स सा /पं जयचन्द/६)

स.सा./ता वृ /२६८ घटाकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते। =घटाकार परिणत ज्ञानको ही उपचारसे घट कहते हैं।

८. छद्मस्थ भी निश्चयसे स्वको और व्यवहारसे परको जानता है

प्र.सा /ता वृ /३६/५२/१६ यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम्। =जिस प्रकार केवली भगवान् परकीय द्रव्यपर्यायोंको यद्यपि परिच्छित्तिमात्ररूपसे जानते हैं तथापि निश्चयनयसे सहजानन्दरूप एकस्वभावी शुद्धात्मामें ही तन्मय होकर परिच्छित्ति करते हैं, उसी प्रकार निर्मल विवेकीजन भी यद्यपि व्यवहारसे परकीय द्रव्यगुण पर्यायोंका ज्ञान करता है परन्तु निश्चयसे निर्विकार स्वसंवेदन पर्यायमें ही तद्विषयक पर्यायका ही ज्ञान करता है।

९. केवलज्ञानके स्वपर-प्रकाशकपनेका समन्वय

नि.सा./मू /१६६-१७२ अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं। जइ कोइ भणइ एव तस्स य किं दूसणं होइ ।१६६। मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च। पेच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ।१६७। पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं। जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ।१६८। लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं। जो केइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ।१६९। णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणइ अप्पगं अप्पा। अप्पाणं ण वि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तं ।१७०। अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण संदेहो। तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ।१७१। जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो। केवलणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ।१७२। =प्रश्न—केवली भगवान् आत्मस्वरूपको देखते हैं लोकालोकको नहीं, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे क्या दोष है? ।१६६। उत्तर—मूर्त, अमूर्त, चेतन व अचेतन द्रव्योंको स्वको तथा समस्तको देखनेवालेका ही ज्ञान प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय कहलाता है। विविध गुणों और पर्यायोंसे संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्योंको जो सम्यक् प्रकार नहीं देखता उसकी दृष्टि परोक्ष है ।१६७-१६८। प्रश्न—(तो फिर) केवली भगवान् लोकालोकको जानते है आत्माको नहीं ऐसा यदि कहें तो क्या दोष है ।१६९। उत्तर—ज्ञान जीवका स्वरूप है, इसलिए आत्मा आत्माको जानता है, यदि ज्ञान आत्माको न जाने तो वह आत्मासे पृथक् सिद्ध हो। इसलिए तू आत्माको ज्ञान जान और ज्ञानको आत्मा जान। इसमें तनिक भी सन्देह न कर। इसलिए ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है और दर्शन भी (ऐसा निश्चय कर) (और भी दे० दर्शन/६) ।१७०-१७१। प्रश्न—(परको जाननेसे तो केवली भगवान्‌को बन्ध होनेका प्रसंग आयेगा, क्योंकि ऐसा होनेसे वे स्वभावमें स्थित न रह सकेंगे)? उत्तर—केवलीका जानना देखना क्योंकि इच्छापूर्वक नहीं होता है, (स्वाभाविक होता है) इसलिए उस जानने देखनेसे उन्हें बन्ध नहीं है ।१७२।

नि सा /ता वृ /गा स भगवान्·· सच्चिदानन्दमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोऽपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न खलु दूषणं भवतीति ।१६६। पराश्रितो व्यवहार इति मानाइ व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात् निरुपरागशुद्धा-

रमस्वरूपं नैव जानाति (लोकालोक जानाति) यदि व्यवहारनयविवक्षया कोऽपि जिननाथतत्त्वविचारलब्ध कदाचिदेवं वक्ति चेत् तस्य न खलु दूषणमिति।१६६। केवलज्ञानदर्शनाभ्या व्यवहारनयेन जगत्त्रय एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च स भगवान् परमेश्वर. परम, भट्टारक; पराश्रितो व्यवहार' इति वचनात्। शुद्धनिश्चयत' निजकारणपरमात्मान स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च।· किं कृत्वा, ज्ञानस्य धर्मोऽय तावत् स्वपरप्रकाशकत्व प्रदीपवत्।·· आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रय कालत्रय च परंज्योति स्वरूपत्वात् स्वयप्रकाशात्मकमात्मान च प्रकाशयति। अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येति सततनिरुपरागनिरञ्जनस्वभावनिरतत्वात् स्वाश्रितो निश्चय. इति वचनात्। सहजज्ञान तावदात्मन सकाशात संज्ञालक्षणप्रयोजनेन ·भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति, अत कारणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादिक जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानाति।१५६। =वह भगवान् आत्माको निश्चयसे देखते है'' शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षासे यदि शुद्ध अन्तस्तत्त्वका वेदन करनेवाला अर्थात् ध्यानस्थ पुरुप या परम जिनयोगीश्वर कहें तो उनको कोई दूषण नहीं है।१६६। और व्यवहारनय क्योंकि पराश्रित होता है, इसलिए व्यवहारनयमे व्यवहार या भेदकी प्रधानता होनेके कारण 'शुद्धात्मस्वरूपको नहीं जानते, लोकालोकको जानते है' ऐसा यदि कोई जिननाथतत्त्वका विचार करनेवाला अर्थात् विकल्पस्थित पुरुप व्यवहारनयकी विवक्षासे कहे तो उसे भी कोई दूषण नही है।१६६। अर्थात् विवक्षावश दोनो ही बाते ठीक है। (अब दूसरे प्रकारसे भी आत्माका स्वपरप्रकाशकत्व दर्शाते है, तहाँ व्यवहारसे तथा निश्चयसे दोनो अपेक्षाओंमे ही ज्ञानको व आत्माको स्वपरप्रकाशक सिद्ध किया है। सो कैसे—केवलज्ञान व केवलदर्शनसे व्यवहारनयकी अपेक्षा वह भगवान् तीनो जगत्को एक समयमे जानते है, क्योंकि व्यवहारनय पराश्रित कथन करता है। और शुद्धनिश्चयनयसे निज कारण परमात्मा व कार्य परमात्माको देखते व जानते है (क्योंकि निश्चयनय स्वाश्रित कथन करता है)। दीपकवत् स्वपरप्रकाशकपना ज्ञानका धर्म है।१६६। =इसी प्रकार आत्मा भी व्यवहारनयसे जगत्त्रय कालत्रयको और परज्योति स्वरूप होनेके कारण (निश्चयसे) स्वय प्रकाशात्मक आत्माको भी जानता है।१५६। निश्चय नयके पक्षमें भी ज्ञानके स्वपरप्रकाशकपना है। (निश्चय नयसे) वह सतत निरुपराग निरंजन स्वभावमे अवस्थित है, क्योंकि निश्चय नय स्वाश्रित कथन करता है। सहज ज्ञान सज्ञा, लक्षण व प्रयोजनकी अपेक्षा आत्मासे कथचित् भिन्न है, वस्तुवृत्ति रूपसे नहीं। इसलिए वह उस आत्मगत दर्शन, सुख, चारित्रादि गुणोको जानता है, और स्वात्माको भी कारण परमात्मस्वरूप जानता है। (इस प्रकार स्व पर दोनोको जानता है।) (और भी दे० दर्शन/२/६) (और भी देखो नय/V/७/१) तथा (नय/V/६/३)।

केवलज्ञानावरण—दे० ज्ञानावरण।

केवलदर्शन—दे० दर्शन/५

केवलदर्शनावरण—दे० दर्शनावरण।

केवललब्धि—दे० लब्धि/१।

केवलाद्वैत—दे० वेदान्त/८।

केवली—केवलज्ञान होनेके पश्चात् वह साधक केवली कहलाता है। इसीका नाम अर्हन्त या जीवन्मुक्त भी है। वह भी दो प्रकारके होते है—तीर्थंकर व सामान्य केवली। विशेष पुण्यशाली तथा साक्षात् उपदेशादि द्वारा धर्मकी प्रभावना करनेवाले तीर्थंकर होते है, और इनके अतिरिक्त अन्य सामान्य केवली होते है। वे भी दो प्रकारके होते है, कदाचित् उपदेश देनेवाले और मूक केवली। मूक केवली बिलकुल भी उपदेश आदि नही देते। उपरोक्त सभी केवलियो की दो अवस्थाएँ होती है—सयोग और अयोग। जब तक विहार व उपदेश आदि क्रियाएँ करते है, तबतक सयोगी और आयुके अन्तिम कुछ क्षणोंमें जब इन क्रियाओंका त्याग सर्वथा योग निरोध कर देते है तब अयोगी कहलाते है।

१. भेद व लक्षण

१. केवली सामान्यका लक्षण

१. केवली निरावरण ज्ञानी होते हैं

मू. आ./५६४ सव्वे केवलकप्प लोग जाणति तह य पस्संति। केवलणाणचरित्ता तम्हा ते केवली होति।५६४। =जिस कारण सब केवलज्ञानका विषय लोक अलोकको जानते हैं और उसी तरह देखते हैं। तथा जिनके केवलज्ञान ही आचरण है इसलिए वे भगवान् केवली हैं।

स. सि /६/१३/३३१/११ निरावरणज्ञाना' केवलिन ।

स सि /९/३८/४५३/६ प्रक्षीणसकलज्ञानावरणस्य केवलिन' सयोगस्यायोगस्य च परे उत्तरे शुक्लध्याने भवत'। =जिनका ज्ञान आवरणरहित है वे केवली कहलाते हैं। जिसके समस्त ज्ञानावरणका नाश हो गया है ऐसे सयोग व अयोग केवली । (ध /१/१,१,२१/१९१/३)।

रा वा /६/१३/१/५२३/२६ करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेता. केवलिन ।१। करण चक्षुरादि, कालभेदेन वृत्ति क्रम', कुड्यादिनान्तर्धानं व्यवधानम्, एतान्यतीत्य वर्तते, ज्ञानावरणस्यात्यन्तसंक्षये आविभृतमात्मन स्वाभाविक ज्ञानम्, तद्वन्तोऽर्हन्तो भगवन्त केवलिन इति व्यपदिश्यन्ते। =ज्ञानावरणका अत्यन्त क्षय हो जानेपर जिनके स्वाभाविक अनन्तज्ञान प्रकट हो गया है, जिनका ज्ञान इन्द्रिय कालक्रम और दूर देश आदिके व्यवधानसे परे है और परिपूर्ण है वे केवली हैं (रा वा /९/१/२३/५९०)।

२. केवली आत्मज्ञानी होते हैं

स सा /मू /जो हि सुएण हि गच्छइ अप्पाणमिण तु केवलं सुद्ध । त सुयकेवलिमिसिणो भणति लोयप्पईवयरा ।९। =जो जीव निश्चयसे श्रुतज्ञानके द्वारा इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्माको सम्मुख होकर जानता है, उसको लोकको प्रगट जाननेवाले ऋषिवर श्रुतकेवली है।

प्र सा./त प्र /३३ भगवान् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि सचेतनात् केवली। =भगवान् आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली है। (भावार्थ—भगवान् समस्त पदार्थोको जानते है, मात्र इसलिए ही वे 'केवली' नहीं कहलाते, किन्तु केवल अर्थात् शुद्धात्माको जानने—अनुभव करनेसे केवली कहलाते है)।

मो पा /टी०/६/३०८/११ केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठतीति केवल'। =जो निजात्मामें एकीभावसे केवते हैं, सेवते है या ठहरते है वे केवली कहलाते है।

२. केवलीके भेदोका निर्देश

क पा /१/१,१६/§ ३१२/३४८/२५ विशेषार्थ—तद्भवस्थकेवल और सिद्ध केवलोके भेदसे केवली दो प्रकारके होते है।

सत्ता स्वरूप/३८ सात प्रकारके अर्हन्त होते है। पाँच, तीन व दो कल्याणक युक्त, सातिशय केवली अर्थात् गन्धकुटी युक्त केवली, सामान्य केवली अर्थात् मूककेवली, —दे० मोक्ष/४/६/६. (दो प्रकार है—तीर्थंकर व सामान्य केवलो) उपसर्ग केवली और अन्तकृत् केवली।

३. तद्भवस्थ व सिद्ध केवलीका लक्षण

क. पा १/१,१६/§ ३११/३४८/२६ विशेषार्थ—जिस पर्यायमें केवलज्ञान प्राप्त हुआ उसी पर्यायमें स्थित केवलीको तद्भवस्थ केवली कहते है और सिद्ध जीवोको सिद्ध केवली कहते है।

४. सयोग व अयोग केवलीके लक्षण

प. सं /प्रा./१/२७-३० केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासि अण्णाओ। णवकेवललद्धुग्गमपावियपरमप्पववएसो ।२८। असहाणाण-दसणसहिओ वि हु केवली हु जोएण। जुत्तो त्ति सजोइजिणो अणाइणिहणारिसे वुत्तो ।२९। सेलेसिं सपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसओ जीवो। कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होई ।३०। =जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोसे अज्ञान विनष्ट हो गया है। जिसने केवललब्धि प्राप्त कर परमात्म सज्ञा प्राप्त की है, वह असहाय ज्ञान और दर्शनमे युक्त होनेके कारण केवली, तीनों योगोसे युक्त होनेके कारण सयोगी और घाति कर्मोंमे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादि निधन आर्षमें कहा है। (२७, २८) जो अठारह हजार शीलोंके स्वामी हैं, जो आस्रवोंसे रहित हैं, जो नूतन बँधने वाले कर्मरजसे रहित है और जो योगसे रहित हैं, तथा केवलज्ञानसे विभूषित हैं, उन्हे अयोगी परमात्मा कहते है ।३०। (ध /१/१,१ २१/१२४-१२६/१९२) (गो जी /मू /६३-६५) (पं.स /स /१/४९-५०)

प स /प्रा /१/१०० जेसिं ण सति जोगा सुहासुहा पुण्णपापसजणया। ते होति अजोइजिणा अणोवमाणतगुणकलिया ।१००। =जिनके पुण्य और पापके सजनक अर्थात् उत्पन्न करने वाले शुभ और अशुभ योग नहीं होते है, वे अयोगि जिन कहलाते है, जो कि अनुपम और अनन्त गुणोसे सहित होते है। (ध १/१ १,५६/१५५/२८०) (गो जी /मू /२४३) (प स /सं /१/१८०)

ध ७/२,१,१५/१९/२ सट्ठिदसमछंडिय छड्डित्ता वा जीवदव्वस्स। सावयवेहि परिप्फदो अजोगो णाम, तस्स कम्मक्खयत्तादो। =स्वस्थित प्रदेशको न छोडते हुए अथवा छोडकर जो जीव द्रव्यका अपने अवयवों द्वारा परिस्पन्द होता है वह अयोग है, क्योंकि वह कर्मक्षयसे उत्पन्न होता है।

ज १/१,१,२१/१९१/४ योगेन सह वर्तन्त इति सयोगा'। सयोगाश्च ते केवलिनश्च सयोगकेवलिन'।

ध १/१,१,२२/१९२/७ न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोग । केवलमस्यास्तीति केवली। अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली। =जो योगके साथ रहते है उन्हें सयोग कहते है, इस तरह जो सयोग होते हुए केवली है उन्हे सयोग केवली कहते हैं। जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते है। जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते है, जो योगरहित होते हुए केवली होता है उसे अयोग केवली कहते है। (रा वा /९/१/२४/५९/२३)

द्र स /टी /१३/३५ ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रय युगपदेकसमयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जिनभास्करा भवन्ति। मनोवचनकायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहितश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिजिना भवन्ति। =समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनोंको एक साथ एक कालमें सर्वथा निर्मूल करके मेघपटलसे निकले हुए सूर्यके समान केवलज्ञानकी किरणोंसे लोकालोकके प्रकाशक तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनभास्कर (सयोगी जिन) होते है। और मन, वचन, काय वर्गणाके अवलम्बनसे कर्मोके ग्रहण करनेमें कारण जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दन रूप योग है, उससे रहित चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जिन होते हैं।

२. केवली निर्देश

१. केवली चैतन्यमात्र नहीं बल्कि सर्वज्ञ होता है

स स्तो /टी /५/१३ ननु, तद् (कर्म) प्रक्षये तु जडो भविष्यति· बुद्धि आदि-विशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदात् इति यौगा । चैतन्यमात्ररूप'

इति सांख्या । सकलविप्रमुक्त सन्नात्मा समग्रविद्यात्मवपुर्भवति न जडो, नापि चेतन्यमात्ररूप । =प्रश्न—१ कर्मोंका क्षय हो जाने-पर जीव जड हो जायेगा, क्योकि उसके बुद्धि आदि गुणोका अत्यन्त उच्छेद हो जायेगा। ऐसा योगमत वाले कहते है। २. वह तो चेतन्य मात्र रूप है, ऐसा सांख्य कहते है ? उत्तर—सकल कर्मोसे मुक्त होने पर आत्मा सम्पूर्णत ज्ञानशरीरी हो जाता है जड नही, और न ही चैतन्य मात्र रहता है ।

२. सयोग व अयोग केवलीमें अन्तर

द्र.सं./टी./१३/३६ चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगिकेव-लिना निष्क्रियशुद्धात्माचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमय विहाय शेषाघाति-कर्मतीव्रोदयश्चारित्रमल जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावात् मोक्षं गच्छति । =सयोग केवलीके चारित्रके नाश करने वाले चारित्रमोहके उदयका अभाव है, तो भी निष्क्रिय आत्माके आचरणसे विलक्षण जो तीन योगोका व्यापार है वह चारित्रमें दूषण उत्पन्न कहता है। तीनो योगोसे रहित जो अयोगी जिन है उनके अन्त समयको छोडकर चार अघातिया कर्मोका तीव्र उदय चारित्रमे दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समयमें उन अघातिया कर्मोका मन्द उदय होने पर चारित्रमे दोषका अभाव हो जानेसे अयोगी जिन मोक्षको प्राप्त हो जाते है ।

श्लो वा./१/१/१/४/४८४/२६ स्वपरिणामविशेष' शक्तिविशेष सोऽन्त-रङ्ग सहकारी नि'श्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य तदभावे नामाद्यघातिकर्म-त्रयस्य निर्जरानुपपत्तेर्नि श्रेयसानुत्पत्ते · तदपेक्ष क्षायिकरत्नत्रय सयोगकेवलिन' प्रथमसमये मुक्ति न संपादयत्येव, तदा तत्सहकारि-णोऽसत्त्वात ।=वे आत्माकी विशेष शक्तियाँ मोक्षकी उत्पत्तिमें रत्न-त्रयके अन्तरंग सहकारी कारण हो जाती है। यदि आत्माकी उन सामर्थ्योको सहकारी कारण न माना जावेगा तो नामादि तीन अघाती कर्मोकी निर्जरा नही हो सकती थी। तिस कारण मोक्ष भी नही उत्पन्न हो सकेगा, क्योकि उसका अभाव हो जायेगा। उन आत्माके परिणाम विशेषोकी अपेक्षा रखने वाला क्षायिक रत्नत्रय सयोग केवली गुणस्थानके पहले समयमे मुक्तिको कथमपि प्राप्त नही करा सकता है। क्योंकि उस समय रत्नत्रयका सहकारी कारण वह आत्माकी शक्ति विशेष विद्यमान नही है।

३ सयोग व अयोग केवलीमें कर्मक्षय सम्बन्धी विशेषताएँ

ध १/१,१,२७/२२३/१० सयोगकेवली ण किंचि कम्म खवेदि । =सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नही करते ।

ध १२/४,२,७,१५/१८/२ खीणकषाय-सजोगीसु ट्ठिदि-अणुभागघादेसु सतेसु वि सुहाण पयडीण अणुभागघादो णत्थि त्ति सिद्धे अजोगि-म्हि ट्ठिदि-अणुभागवज्जिदे सुहाण पयडीणमुक्कस्साणुभागो होदि त्ति अत्थावत्तिसिद्धं । =क्षीणकषाय और सयोगी जिनका ग्रहण प्रगट करता है कि शुभ प्रकृतियोके अनुभागका घात विशुद्धि, केवलि-समुद्घात अथवा योग निरोधसे नही होता। क्षीण कषाय और सयोगी गुणस्थानोमे स्थितिघात व अनुभागघातके होने पर भी शुभ प्रकृतियोके अनुभागका घात वहाँ नही होता, यह सिद्ध होने पर स्थिति व अनुभागसे रहित अयोगी गुणस्थानमें शुभ प्रकृतियोका उत्कृष्ट अनुभाग होता है, यह अर्थापत्तिसे सिद्ध है।

४. केवलीको एक क्षायिक भाव होता है

ध. १/१,१ २१/१९१/६ घातिताशेषघातिकर्मत्वान्नि'शक्तीकृतवेदनीयत्वान्न-ष्टाष्टकर्मावयवषष्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुण ।

ध १/१,१,२१/१९१/२ पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चेत्, क्षीणाशेषघाति-कर्मत्वान्निरस्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुण । =१. चारों घातिया कर्मोके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निःशक्त कर देनेसे, अथवा आठो ही कर्मोके अवयव रूप साठ उत्तर प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है। २ प्रश्न—पाँच प्रकार के भावोंमें इस (अयोगी) गुणस्थानमें कौन-सा भाव होता है। उत्तर—सम्पूर्ण घातिया कर्मोके क्षीण हो जानेसे और थोडे ही समय-में अघातिया कर्मोके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है।

प्र सा./मू./४५ पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइगा। मोहादीहि विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा। =अरहन्त भगवान् पुण्य फलवाले है और उनकी क्रिया औदयिकी है, मोहादिसे रहित है इसलिए वह क्षायिकी मानी गयी है।

५. केवलियोंके शरीरकी विशेषताएँ

ति.प /४/७०५ जादे केवलणाणे परमोरालं जिणाण सव्वाणं । गच्छदि उवरिं चावा पंच सहस्साणि वसुहाओ ।७०५। =केवलज्ञानके उत्पन्न होने पर समस्त तीर्थंकरोका परमौदारिक शरीर पृथिवीसे पाँच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला जाता है ।७०५।

ध १४/५,६,९१/८१/८ सजोगि-अजोगिकेवलिणो च पत्तेय-सरीरा वुच्चंति एदेसिं णिगोदजीवेहि सह सबधाभावादो ।

ध १४/५,६,११६/१३८/४ खीणकसायम्मि बादरणिगोदवग्गणाए सतीए केवलणाणुप्पत्तिविरोहादो । =१. सयोगकेवली और अयोगिकेवली ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते है, क्योकि इनका निगोद जीवोके साथ सम्बन्ध नही होता। २ क्षीण कषायमें बादर निगोद वर्गणाके रहते हुए केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें विरोध है। (यहाँ बादर-निगोद वर्गणासे बादर निगोद जीवका ग्रहण नहीं है, बल्कि केवली-के औदारिक व कार्माण शरीरों व विस्रसोपचयोमें बँधे परमाणुओं-का प्रमाण बताना अभीष्ट है।)

३. शंका-समाधान

१. ईर्यापथ आस्रव सहित भी भगवान् कैसे हो सकते है

ध १३/५,४,२४/५१/८ जलमज्झणिवदियतत्तलोहुंडओ व्व इरियावहकम्म-जलं सगसव्वजीवपदेसेहि गेण्हमाणो केवली कध परमप्पएण समाणत्तं पडिवज्जदि त्ति भणिदे तण्णिण्णयत्थमिद वुच्चदे—इरियावहकम्मं गहिद पि तण्ण गहिद ·अणंतरसंसारफलणिव्वत्तणसत्तिविरहादो··· बद्ध पि तण्ण बद्धं चेव, बिदियसमए चेव णिज्जरुवलंभादो पुणो ·· पुट्ठं पि तण्ण पुट्ठं चेव, इरियावहबंधस्स सतसहावेण·· अवट्ठाणा-भावादो। ·उदिण्णमपि तण्ण उदिण्णं दद्धगोहूमरासिव्व पत्तणिव्वीय-भावत्तादो । =प्रश्न—जलके बीच पडे हुए तप्त लोह पिण्डके समान ईर्यापथ कर्म जलको अपने सर्व जीव प्रदेशों द्वारा ग्रहण करते हुए केवली जिन परमात्माके समान कैसे हो सकते है ? उत्तर—ईर्यापथ कर्म गृहीत होकर भी वह गृहीत नहीं है · क्योकि वह संसारफलको उत्पन्न करनेवाली शक्तिसे रहित है। बद्ध होकर भी वह बद्ध नही है, क्योकि दूसरे समयमें ही उसकी निर्जरा देखी जाती है। स्पृष्ट होकर भी वह स्पृष्ट नही है, कारण कि ईर्यापथ बन्धका सत्त्व रूपसे उनके अवस्थान नही पाया जाता उदीर्ण होकर भी उदीर्ण नही है, क्योकि वह दग्ध गेहूँके समान निर्बीज भावको प्राप्त हो गया है।

४. कवलाहार व परीषह सम्बन्धी निर्देश व शंका-समाधान

१. केवलीको नोकर्माहार होता है

क्ष.सा /६१८ पडिसमय दिव्वतम जोगी णोकम्मदेहपडिबद्धं । समयपबद्धं बंधदि गलिदवसेसाउमेत्तठिदी ।६१८। =सयोगी जिन हैं सो समय समय प्रति नोकर्म जो औदारिक तीहि सम्बन्धी जो समय प्रबद्ध-ताकौ ग्रहण करे है। ताकी स्थिति आयु व्यतीत भए पीछे जेता अव-शेष रहा तावन्मात्र जाननी। सो नोकर्म वर्गणाके ग्रहण ही का नाम आहार मार्गणा है ताका सद्भाव केवलीकै है।

२. समुद्घात अवस्थामें नोकर्माहार भी नहीं होता

प. ख १/१,१/सू १७७/४१० अणाहारा केवलीणं वा समुग्घाद-गदाण अजोगिकेवली चेदि ।१७७।

ध.२/१,१/६६६/५ कम्मग्गहणमत्थित्त पडुच्च आहारित्त किण्ण उच्चदि त्ति भणिदे ण उच्चदि, आहारस्स तिण्णिसमयविरहकालोवलद्धीदो। = १ समुद्घातगत केवलियोंके सयोगकेवली और अयोगकेवली अना-हारक होते है। २ प्रश्न--कार्माण काययोगीकी अवस्थामे भी कर्म वर्गणाओके ग्रहणका अस्तित्व पाया जाता है, इस अपेक्षा कार्माण काययोगी जीवोको आहारक क्यो नही कहा जाता ? उत्तर--उन्हें आहारक नही कहा जाता है, क्योकि कार्माण काययोगके समय नोकर्मणाओंके आहारका अधिकसे अधिक तीन समय तक विरह-काल पाया जाता है।

क्ष सा /६११ णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे। णत्थि ति-समये णियमा णोकम्माहारय तत्थ ।=समुद्घातकौ प्राप्त केवली विषै दोय तौ प्रतरके समय अर एक लोक पूरणका समय इनि तीन समया-निविषै नोकर्मका आहार नियमतै नही है।

३. केवलीको कवलाहार नहीं होता

स सि /८/१/३७५ केवली कवलाहारी' विपर्यय। =केवलीको कवलाहारी मानना विपरीत मिथ्या-दर्शन है।

४. मनुष्य होनेके कारण केवलीको भी कवलाहारी होना चाहिए

स्व स्तो /मू /७५ मानुषी प्रकृतिमभ्यतीतवान्, 'देवतास्वपि च देवता यत । तेन नाथ। परमासि देवता, श्रेयसे जिनवृष। प्रसीद न ।५। =हे नाथ। चूँकि आप मानुषी प्रकृतिको अतिक्रान्त कर गये है और देवताओमें भी देवता है, इसलिए आप उत्कृष्ट देवता है, अत' हे धर्म जिन। आप हमारे कल्याणके लिए प्रसन्न होवें ।७५। (बो.पा / टी /३४/१०१)

प्र सा /ता वृ /२०/२१/१२ केवलिनो कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमान-मनुष्यवत्। तदप्ययुक्तम्। तर्हि पूर्वकालपुरुषाणां सर्वज्ञत्वं नास्ति, रामरावणादिपुरुषाणा च विशेषसामर्थ्यं नास्ति वर्तमानमनुष्यवत्। न च तथा। =प्रश्न—केवली भगवान्के कवलाहार होता है, क्योकि वह मनुष्य है, वर्तमान मनुष्यकी भाँति ? उत्तर—ऐसा कहना युक्त नही है। क्योकि अन्यथा पूर्वकालके पुरुषोमें सर्वज्ञता भी नही है। अथवा राम रावणादि पुरुषोमें विशेष सामर्थ्य नही है, वर्तमान मनुष्यकी भाँति। ऐसा मानना पडेगा। परन्तु ऐसा है नही। (अत' केवली कवलाहारी नहीं है।)

५. संयमकी रक्षाके लिए भी केवलीको कवलाहारकी आवश्यकता थी

क पा १/१,१/§५२/५ किंतु तिरयणट्ठमिदि ण वोत्तुं जुत्त, तत्थ पत्तासेस-रुवम्मि तदसभवादो। त जहा, ण ताव णाणट्ठ भुजइ, पत्तकेवल-णाणभावादो। ण च केवलणाणादो अहियमण्ण पत्थणिज्ज णाण-मत्थि जेण तदट्ठ केवली भुजेज्ज। ण सजमट्ठं, पत्तजहाक्खाद-सजमादो। ण ज्झाणट्ठ; विसईकयासेसतिहुवणस्स ज्झेयाभावादो। ण भुजइ केवली भुत्तिकारणाभावादो त्ति सिद्धं।

क पा.१/१,१/§५२/७१/१ अह जड सो भुजइ तो बलाउ-सादुसरीरुवचय-तेज-सुहट्ठ चेव भुंजइ ससारिजावो व्व, ण च एव, ममोहत्तस केवल-णाणाणुववत्तीदो। ण च अकेवलिवयणमागमो, रागदोसमोहकलंकिए सच्चाभावादो। आगमाभावे ण तिरयणपउत्ति त्ति तित्थवोच्छेदो तित्थस्स णिव्वाहबोहविसयीकयस्स उवलंभादो। =१ प्रश्न—यदि कहा जाय कि केवली रत्नत्रयके लिए भोजन करते हैं ? उत्तर—यह कहना युक्त नही है, क्योंकि केवली जिन पूर्णरूपमे आत्मस्वभावको प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए वे 'रत्नत्रय अर्थात ज्ञान, सयम और ध्यानके लिए भोजन करते हैं, यह बात सभव नही है। इसीका स्पष्टीकरण करते है—केवली जिन ज्ञानकी प्राप्तिके लिए तो भोजन करते नही है, क्योकि उन्होने केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया है। तथा केवलज्ञानसे बडा और कोई दूसरा ज्ञान प्राप्त करने योग्य नही है, जिससे उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भोजन करें। न ही सयमके लिए भोजन करते है क्योकि उन्हे यथाख्यात सयमकी प्राप्ति हो चुकी है। तथा ध्यानके लिए भी भोजन नही करते क्योकि उन्होने त्रिभु-वनको जान लिया है, इसलिए इनके ध्यान करने योग्य कोई पदार्थ ही नही रहा है। अतएव भोजन करनेका कोई कारण न रहनेसे केवली जिन भोजन नही करते हैं यह सिद्ध हो जाता है। २ यदि केवली जिन भोजन करते है तो ससारी जीवोंके समान बल, आयु, स्वादिष्ट भोजन, शरीरकी वृद्धि, तेज और सुखके लिए ही भोजन करते है ऐसा मानना पडेगा, परन्तु ऐसा है नही, क्योंकि ऐसा मानने पर वह मोहयुक्त हो जायेंगे और इसलिए उनके केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही हो सकेगी। यदि कहा जाये कि जिनदेवको केवलज्ञान नही होता तो केवलज्ञानसे रहित जीवके वचन ही आगम हो जावें ? यह भी ठीक नही क्योकि ऐसा माननेपर राग, द्वेष, और मोहसे कल-ङ्कित जीवोके सत्यताका अभाव होनेसे उनके वचन आगम नहीं कहे जायेंगे। आगमका अभाव होनेसे रत्नत्रयकी प्रवृत्ति न होगी और तीर्थका व्युच्छेद हो जायेगा। परन्तु ऐसा है नही, क्योकि निर्बाध बोधके द्वारा ज्ञात तीर्थकी उपलब्धि बराबर होती है। न्यायकुमुद चन्द्रिका/पृ ८५२।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/पृ ३०० कवलाहारित्वे चास्य सरागत्वप्रसग'। =केवली भगवान्को कवलाहारी माननेपर सरागत्वका प्रसंग प्राप्त होता है।

६ औदारिक शरीर होनेसे केवलीको कवलाहारी होना चाहिए

प्र. सा /ता /वृ /२०/२८/७ केवलिना भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भा-वात्। अस्मदादिवत्। परिहारमाह—तद्भगवत शरीरमौदारिक न भवति किन्तु परमौदारिकम्—शुद्धस्फटिकसकाश तेजोमूर्तिमय वपु। जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्। =प्रश्न—केवली भगवान् भोजन करते है, औदारिक शरीरका सद्भाव होनेसे, हमारी भाँति ? उत्तर—भगवान्का शरीर औदारिक नहीं होता अपितु परमौदारिक है। कहा भी है कि—'दोषोंके विनाश हो जानेसे शुद्ध स्फटिकके सदृश सात धातुमे रहित तेज मूर्तिमय शरीर हो जाता है।

७. आहारक होनेके कारण केवलीको कवलाहार होना चाहिए

ध./१/१,१,१७३/४०६/१० अत्र कवललेपोष्ममन कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ग्राह्य, अन्यथाहारकालविरहाभ्यां सह विरोधात् =आहारक मार्गणामें आहार शब्दसे कवलाहार, लेपाहार· ·आदिको छोडकर नोकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ विरोध आता है।

प्र सा०/२०/२८/२१ मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, तत कारणात् केवलिनाम् हारोऽस्तीति । तदप्ययुक्तम्। परिहार ···यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारपेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम्। न च कवलाहारापेक्षया। तथाहि—सूक्ष्मा' सुरसा सुगन्धा अन्यमनुजानामसभविन कवलाहार विनापि किंचिदूनपूर्वकोटिपर्यन्त शरीरस्थितिहेतव' सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनाकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षणं पुद्गला आस्रवन्तीति ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम्। अथ मतम्—भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्व नोकर्माहारपेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथं ज्ञायते। नैवम्। "एक द्वौ त्रीन् वानाहारक" इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते। अस्य सूत्रस्यार्थ कथ्यते—भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थं त्रयाणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलपिण्डग्रहणं नोकर्माहार उच्यते। स च विग्रहगतौ कर्माहारे विद्यमानेऽप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्तं नास्ति। ततो नोकर्माहारापेक्षयाहारानाहारकत्वमागमे ज्ञायते। यदि पुन' कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकालं विहाय सर्वदैवानाहारक एव समयत्रयनियमो न घटते। =प्रश्न – मिथ्यादृष्टि आदि सयोग केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक होते है ऐसा आहारक मार्गणामें आगममें कहा है। इसलिए केवली भगवान्‌के आहार होता है? उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है। इसका परिहार करते है। यद्यपि छह प्रकारका आहार होता है परन्तु नोकर्माहारकी अपेक्षा केवलीको आहारक जानना चाहिए कवलाहारकी अपेक्षा नहीं। सो ऐसे है—लाभान्तराय कर्मका निरवशेष विनाश हो जानेके कारण सप्तधातुरहित परमौदारिक शरीरके नोकर्माहारके योग्य शरीरकी स्थितिके हेतुभूत अन्य मनुष्योंको जो असभव है ऐसे पुद्गल किंचिदून पूर्वकोटि पर्यन्त प्रतिक्षण आते रहते है, इसलिए जाना जाता है कि केवली भगवान्‌को नोकर्माहारकी अपेक्षा आहारकत्व है। प्रश्न—यह आपकी अपनी कल्पना है कि आहारक व अनाहारकपना नोकर्माहारकी अपेक्षा है कवलाहारकी अपेक्षा नहीं। कैसे जाना जाता है? उत्तर—ऐसा नही है। 'एक दो अथवा तीन समय तक अनाहारक होता है' ऐसा तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है। इस सूत्र का अर्थ कहते है—एक भवसे दूसरे भवमें गमनके समय विग्रहगतिमें शरीरका अभाव होनेपर नवीन शरीरको धारण करनेके लिए तीन शरीरोंकी पर्याप्तिके योग्य पुद्गल पिण्डको ग्रहण करना नोकर्माहार कहलाता है। वह कर्माहार विग्रहगतिमें विद्यमान होनेपर भी एक, दो, तीन समय पर्यन्त नहीं होता है। इसलिए आगममें आहारक व अनाहारकपना नोकर्माहारकी अपेक्षा है ऐसा जाना जाता है। यदि कवलाहारकी अपेक्षा हो तो भोजनकालको छोडकर सर्वदा अनाहारक ही होवे, तीन समयका नियम घटित न होवे। (बो. पा /टी०/३४/१०१/१५)।

८. परिषहोंका सद्भाव होनेसे केवलीको कवलाहारी होना चाहिए

ध. १२/४,२,७,२/२४/७ असादं वेदयमाणस्स सजोगिभवतस्स भुक्खा-तिसादीहि एक्कारसपरीसहेहि बाहिज्जमाणस्स कध ण भुत्ती होज्ज। ण एस दोसो, पाणोयणेसु जादतण्हाए स समोहस्स मरणभएण भुंजंतस्स परीसहेहि पराजियस्स केवलित्तविरोहादो। =प्रश्न—असाता वेदनीयका वेदन करनेवाले तथा क्षुधा तृषादि ग्यारह परिषहों द्वारा बाधाको प्राप्त हुए ऐसे सयोग केवली भगवान्‌के भोजनका ग्रहण कैसे नही होगा। उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योंकि, जो भोजन पानमें उत्पन्न हुई इच्छासे मोह युक्त है तथा मरणके भयसे जो भोजन करता है, अतएव परीषहोंसे जो पराजित हुआ है ऐसे जीवके केवली होनेमें विरोध है।

प्र सा /ता वृ /२०/२८/१२ यदि पुनर्मोहाभावेऽपि क्षुधादिपरिषहं जनयति तर्हि वधरोगादिपरिषहमपि जनयतु न च तथा। तदपि कस्मात्। "भुक्त्युपसर्गाभावात्" इति वचनात् अन्यदपि दूषणमस्ति। यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति। तथैव दु खितस्यानन्तसुखमपि नास्ति। जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न संभवति। =यदि केवली भगवान्‌को मोहका अभाव होनेपर भी क्षुधादि परिषह होती है, तो वध तथा रोगादि परिषह भी होनी चाहिए। परन्तु ये होती नहीं है, वह भी कैसे "भुक्ति और उपसर्गका अभाव है" इस वचनसे सिद्ध होता है। और भी दूषण लगता है। यदि केवली भगवान्‌को क्षुधा बाधा हो तो क्षुधाकी बाधासे शक्ति क्षीण हो जानेसे अनन्त वीर्यपना न रहेगा, उसीसे दुखी होकर अनन्त सुख भी नहीं बनेगा। तथा जिह्वा इन्द्रियकी परिच्छित्ति रूप मतिज्ञानसे परिणत उन केवली भगवान्‌को केवलज्ञान भी न बनेगा। (बो. पा /टी./३४/१०१/२२)।

९. केवली भगवान्‌को क्षुधादि परिषह नहीं होती

ति प /१/५९ चउविहउवसग्गेहि णिच्चविमुक्को कसायपरिहीणो। छुहपहुदिपरिसहेहि परिचत्तो रायदोसेहि ।५९। =देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकारके उपसर्गोसे सदा विमुक्त है, कषायोंसे रहित है, क्षुधादिक बाईस परीषहों व रागद्वेषसे परित्यक्त है।

१०. केवलीको परिषह कहना उपचार है

स सि /९/११/४२९/८ मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुदादिवेदनाभावे परिषहव्यपदेशो न युक्त। सत्यमेवमेतत्—वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परिषहोपचार क्रियते। =प्रश्न—मोहनीयके उदयकी सहायता न होनेसे क्षुधादि वेदनाके न होनेपर परिषह सज्ञायुक्त नहीं है? उत्तर—यह कथन सत्य ही है तथापि वेदनाका अभाव होनेपर द्रव्यकर्मके सद्भावकी अपेक्षासे यहाँ परीषहोंका उपचार किया जाता है। (रा वा /९/११/१/६१४/१)।

११. असाता वेदनीय कर्मके उदयके कारण केवलीको क्षुधादि परिषह होनी चाहिए

१. घाति व मोहनीय कर्मकी सहायता न होनेसे असाता अपना कार्य करनेको समर्थ नहीं है:—

रा वा /९/११/१/६१३/२७ स्यान्मतम्-घातिकर्मप्रक्षयान्निमित्तोपरमे सति नाग्न्यरतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनालाभसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनानि मा भूवन्, अमी पुनर्वेदनीयाश्रया खलु परीषहा' प्राप्नुवन्ति भगवति जिने इति, तन्न, कि कारणम्। घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात्। यथा विषद्रव्य मन्त्रौषधिबलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमान न मरणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसततेर्वेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबल स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादन प्रत्यसमर्थमिति क्षुधाद्यभाव; तत्सद्भावोपचाराद् ध्यानकल्पनवत्। =प्रश्न—केवलीमें घातिया कर्मका नाश होनेसे निमित्तके हट जानेके कारण नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश,

याचना, अलाभ, सत्कार. पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन परीषहें न हो, पर वेदनीय कर्मका उदय होनेसे तदाश्रित परीषहें तो होनी ही चाहिए? उत्तर—घातिया कर्मोदय रूपी सहायकके अभावसे अन्य कर्मोंकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। जैसे मन्त्र औषधीके प्रयोगसे जिसकी मारण शक्ति उपक्षीण हो गयी है ऐसे विषको खानेपर भी मरण नहीं होता, उसी तरह ध्यानाग्निके द्वारा घाति कर्मेन्धनके जल जानेपर अनन्तचतुष्टयके स्वामी केवलीके अन्तरायका अभाव हो जानेसे प्रतिक्षण शुभकर्म पुद्गलोंका संचय होते रहनेसे प्रक्षीण सहाय वेदनीयकर्म विद्यमान रहकर भी अपना कार्य नहीं कर सकता। इसलिए केवलीमें क्षुधादि नहीं होते। (ध. १३/५,४,२४/५३/१); (ध १२/४,२,७,२/२४/११), (क पा १/१,१/§५१/६६/१), (चा सा /१३१/२), (प्र सा /ता वृ./२०/२८/१०)।

गो.क./मू व जी.प्र /२७३ णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो। तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं।२७३। सहकारिकारणमोहनीयाभावे विद्यमानोऽपि न स्वकार्यकारीत्यर्थः। =जातैं सयोग केवलीकैं घातिकर्मका नाश भया है तातैं राग व द्वेषको कारणभूत क्रोधादि कषायोंका निर्मूल नाश भया है। बहुरि युगपत सकल प्रकाशी केवलज्ञान विषैं क्षयोपशमरूप परोक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान न सभवै तातैं इन्द्रिय जनित ज्ञान नष्ट भया तिस कारण करि केवलिकै साता असाता वेदनीयके उदयतैं सुख दुख नाही है जातैं सुख-दुख इन्द्रिय जनित है बहुरि वेदनीयका सहकारी कारण मोहनीयका अभाव भया है तातैं वेदनीयका उदय होत सतै भी अपना सुख-दुख देने रूप कार्य करनेकौ समर्थ नाहीं। (क्ष.सा /मू /६१६/७२८)

प्रमेयकमलमार्तण्ड/पृ ३०३ तथा असातादि वेदनीयं विद्यमानोदयमपि, असति मोहनीये, निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभु सामग्रीत कार्योत्पत्तिप्रसिद्ध। =असातादि वेदनीयके विद्यमान होते हुए भी, मोहनीयके अभावमें असमर्थ होनेसे, वे केवली भगवान्‌को क्षुधा सम्बन्धी दुःखको करनेमें असमर्थ है।

२ साता वेदनीयके सहवर्तीपनेसे असाताकी शक्ति अनन्तगुणी क्षीण हो जाती है

रा.वा /९/११/१/६१३/३१ निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसंततेर्वेदनीयाख्य कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबल स्वयोग्यप्रयोजन प्रत्यसमर्थमिति। =अन्तरायकर्मका अभाव होनेसे प्रतिक्षण शुभकर्मपुद्गलोंका संचय होते रहनेसे प्रक्षीण सहाय वेदनीयकर्म विद्यमान रहकर भी अपना कार्य नही कर सकता। (चा.सा /१३१/3)

ध.२/१,१/४३३/२ असादावेदणीयस्स उदीरणाभावादो आहारसण्णा अप्पमत्तसंजदस्स णत्थि। कारणभूत-कम्मोदय-संभवादो उवयारेण भय-मेहुण-परिग्गहसण्णा अत्थि। =असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणाका अभाव हो जानेसे अप्रमत्त संयतके आहार संज्ञा नही होती है। किन्तु भय आदि संज्ञाओंके कारणभूत कर्मोका उदय सम्भव है, इसलिए उपचारसे भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञाएँ है।

प्र सा /ता वृ /२०/२८/१६ असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोऽस्ति। तत कारणात् शर्करारासिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोऽपि न ज्ञायते। तथैवान्यदपि बाधकमस्ति—यथा प्रमत्तसंयतादितपोधनाना वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयत्वादखण्डब्रह्मचारीणा स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति। यथैव च नवग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवाना वेदोदये विद्यमानेऽपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदये विद्यमानेऽपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति। =और भी कारण है, कि केवली (भगवान्‌के) असाता वेदनीयके उदयकी अपेक्षा साता वेदनीयका उदय अनन्तगुणा है। इस कारण खण्ड (चीनी)की बड़ी राशिके बीचमें नीमकी एक कणिकाकी भाँति असातावेदनीयका उदय होनेपर भी नहीं जाना जाता है। और दूसरी एक और बाधा है—जैसे प्रमत्तसंयत आदि तपोधनोंके वेदका उदय होनेपर भी मोहका मन्द उदय होनेसे उन अखण्ड ब्रह्मचारियोंके स्त्रीपरीषहरूप बाधा नही होती, और जिस प्रकार नवग्रैवेयकादिमें अहमिन्द्रदेवोंके वेदका उदय विद्यमान होनेपर भी मोहके मन्द उदयसे स्त्री-विषयक बाधा नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्‌के असातावेदनीयका उदय विद्यमान होनेपर भी निरवशेष मोहका अभाव होनेसे क्षुधाकी बाधा नहीं होती। (और भी—दे० केवली/४/१२)

३ असाता भी सातारूप परिणमन कर जाता है

गो क./मू. व जी. प्र /२७४/४०३ समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स। तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणदि।२७४। यतस्तस्य केवलिन सातवेदनीयस्य बन्ध समयस्थितिक तत उदयात्मक एव स्यात् तेन तत्रासातोदय सातास्वरूपेण परिणमति कुत विशिष्टशुद्धे तस्मिन् असातस्य अनन्तगुणहीनशक्तित्वसहायरहितत्वाभ्या अव्यक्तोदयत्वात्। बध्यमानसातस्य च अनन्तगुणानुभागत्वात् तथात्वस्यावश्यंभावात्। न च तत्र सातोदयोऽसातस्वरूपेण परिणमतीति शक्यते वक्तु द्विसमयस्थितिकत्वप्रसङ्गात् अन्यथा असातस्यैव बन्ध प्रसज्यते। =जातैं तिस केवलीकैं साता वेदनीयका बन्ध एक समय स्थितिकौ लियें है तातैं उदय स्वरूप ही है तातैं केवलीकैं असाता वेदनीयका उदय सातारूप होइकरि परिनमै है। काहे तैं? केवलीके विषैं विशुद्धता विशेष है तातैं असातावेदनीयकी अनुभाग शक्ति अनन्तगुणी हीन भई है अर मोहका सहाय था ताका अभाव भया है तातैं असातावेदनीयका अप्रगट सूक्ष्म उदय है। बहुरि जो सातावेदनीय-बन्धै है ताका अनुभाग अनन्तगुणा है जातैं, साता वेदनीयकी स्थितिको अधिकता तौ संक्लेश तातैं हो है अनुभागकी अधिकता विशुद्धतातैं हो है सो केवलीके विशुद्धता विशेष है तातैं स्थितिका तौ अभाव है बन्ध है सो उदयरूप परिणमता ही हो है अर ताकैं सातावेदनीयका अनुभाग अनन्तगुणा हो है ताहीतैं जो असाता का भी उदय है सो सातारूप होइकरि परिनमै है। कोऊ कहै कि साता असातारूप होइ परिनमै है ऐसे क्यों न कहौं? ताका उत्तर—ताका स्थितिबन्ध दोय समयका न ठहरै वा अन्य प्रकार कहैं असाता ही का बन्ध होइ तातैं तैं कह्या कहना सभवै नाहीं।

१२. निष्फल होनेके कारण असाताका उदय ही नहीं कहना चाहिए

ध १३/४,२,७,२/२४/१२ णिप्फलस्स परमाणुपुंजस्स समयं पडि परिसदंतस्स कधं उदयववएसो। ण, जीव-कम्मविवेगमेत्तफलं दट्ठूण उदयस्स फलत्तब्भुवगमादो। जदि एवं तो असादवेदणीयोदयकाले सादावेदणीयस्स उदओ णत्थि, असादावेदणीयस्सेव उदओ अत्थि त्ति ण वत्तव्वं, सगफलाणुप्पायणेण दोण्णं पि सरिसत्तुवलंभादो। ण, असादपरमाणूणं व सादपरमाणूण सगसरूवेण णिज्जराभावादो। सादपरमाणओ असादसरूवेण विणस्सतावत्थाए परिणमिदूण णिणस्सते दट्ठूण सादावेदणीयस्स उदओ णत्थि त्ति वुच्चदे। ण च असादावेदणीयस्स एसो कमो अत्थि, [असाद]-परमाणूणं सगसरूवेणेव णिज्जरुवलंभादो। तम्हा दुक्खरूवफलाभावे वि असादावेदणीयस्स उदयभावो जुज्जदि त्ति सिद्धं। =प्रश्न—बिना फल दिये ही प्रतिसमय निर्जीर्ण होनेवाले परमाणु समूहकी उदय संज्ञा कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जीव व कर्मके विवेकमात्र फलको देखकर उदयको फलरूपसे स्वीकार किया गया है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो असातावेदनीयके उदय कालमें साता वेदनीयका उदय नहीं होता, केवल असाता वेदनीयका ही उदय रहता है ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अपने फलको नहीं उत्पन्न करनेकी अपेक्षा दोनोंमें ही समानता पायी जाती है।

सयोगी और अयोगी जिनोके क्षायोपशमिक पंचेन्द्रियत्व सिद्ध हो जाता है। अथवा, आवरणके क्षीण होनेसे पंचेन्द्रियोके क्षयोपशमके नष्ट हो जानेपर भी क्षयोपशमसे उत्पन्न और उपचारसे क्षायोपशमिक संज्ञाको प्राप्त पाँचो बाह्येन्द्रियोका अस्तित्व पाये जानेसे सयोगी और अयोगी जिनोके पंचेन्द्रियत्व सिद्ध कर लेना चाहिए।

४. भावेन्द्रियके अभाव सम्बन्धी शंका-समाधान

ध २/१,१/४४४/५ भाविंदियाभावादो। भविंदियं णाम पंचण्हमिंदियाणं खओवसमो। ण सो खीणावरणे अत्थि। =सयोगी जिनके भावेन्द्रियाँ नहीं पायी जाती है। पाँचों इन्द्रियावरण कर्मोके क्षयोपशमको भावेन्द्रियाँ कहते है। परन्तु जिनका आवरण समूल नष्ट हो गया है उनके वह क्षयोपशम नहीं होता। (ध /२/१,१/६५८/४)

५. केवलीके मन उपचारसे होता है

ध.१/१,१,५२/२८५/३उपचारतस्तयोस्तत' समुत्पत्तिविधानात्।=उपचारसे मनके द्वारा (केवलीके) उन दोनो प्रकारके वचनोकी उत्पत्तिका विधान किया गया है।

गो जी /मू /२२८ मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि। उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्मि ।२२८। =इन्द्रिय ज्ञानियोके वचन मनोयोग पूर्वक देखा जाता है। इन्द्रिय ज्ञानसे रहित केवली भगवान्‌के मुख्यपनें तो मनोयोग नहीं है, उपचारसे कहा है।

६. केवलीके द्रव्यमन होता है भावमन नहीं

ध. १/१,१,५०/२८४/४ अतीन्द्रियज्ञानत्वान्न केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनस. सत्त्वात्। =प्रश्न—केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिए उनके मन नही पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्य मनका सद्भाव पाया जाता है।

७. तहाँ मनका भावात्मक कार्य नहीं होता पर परिस्पन्दन रूप द्रव्यात्मक कार्य होता है

घ. १/१,१,५०/२८४/५ भवतु द्रव्यमनस सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिकज्ञानस्याभाव, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावात्। तेनात्मनो योग' मनोयोग। विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्न किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणक्षयोपशमाभावात्। =प्रश्न—केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा आवे, परन्तु वहाँपर उसका कार्य नहीं पाया जाता है? उत्तर—द्रव्यमनके कार्य रूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा आवे, परन्तु द्रव्य मनके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, द्रव्य मनकी वर्गणाओको लानेके लिए होनेवाले प्रयत्नमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्माका परिस्पन्द रूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हे। प्रश्न—केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यो नही करता है? उत्तर—नही, क्योकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिए उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नही होता है। (ध. १/१,१,२२/३६७-३६८/७), (गो०जी०/मू० व० जी० प्र०/२२९)।

८. भावमनके अभावमें वचनकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है

ध. १/१,१,१२३/३६८/३ तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्। अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकारात्क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात्। मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोध. स्यादिति चेन्न, मन'कार्यप्रथमचतुर्थवचसो' सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात्। जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोकर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोध'। =प्रश्न—अरहन्त परमेष्ठीमें मनका अभाव होनेपर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है? उत्तर—नही, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य है, मनके नहीं। प्रश्न—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योकि, घट विषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकार द्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नही आता है। प्रश्न—सयोगि केवलीके मनोयोगका अभाव माननेपर "सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति। (ष० ख०/१/१,१/५०/२८२) इस सूत्रके साथ विरोध आ जायेगा? उत्तर—नही, क्योकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नही आता है। अथवा, जीवप्रदेशोके परिस्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नही आता है। (ध. १/१,१,५०/२८५/२) (ध. १/१,१, १२३/३६८/२)।

९. मन सहित होते हुए भी केवलीको संज्ञी क्यों नहीं कहते

ध. १/१,१,१७२/४०८/१० समनस्कत्वात्सयोगिकेवलिनोऽपि सज्ञिन इति चेन्न, तेषा क्षीणावरणाना मनोऽवष्टम्भबलेन बाह्यार्थग्रहणाभावतस्तद सत्त्वात्। तर्हि भवन्तु केवलिनोऽसज्ञिन इति चेन्न, साक्षात्कृतशेषपदार्थानामसज्ञित्वविरोधात्। असज्ञिन केवलिनो मनोऽनपेक्ष्य बाह्यार्थग्रहणाद्विकलेन्द्रियवदिति चेद्भवत्येवं यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासज्ञित्वस्य निबन्धनमिति चेन्मनसोऽभावाद् बुद्ध्यतिशयाभाव', ततो नानन्तरोक्तदोष इति। =प्रश्न—मन सहित होनेके कारण सयोगकेवली भी सज्ञी होते है? उत्तर—नही, क्योकि आवरण कर्मसे रहित उनके मनके अवलम्बनसे बाह्य अर्थका ग्रहण नही पाया जाता है, इसलिए उन्हे सज्ञी नहीं कह सकते। प्रश्न—तो केवली असज्ञी रहे आवें? उत्तर—नहीं, क्योकि जिन्होंने समस्त पदार्थोको साक्षात् कर लिया है, उन्हें असज्ञी माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—केवली असज्ञी होते हैं, क्योकि, वे मनकी अपेक्षाके बिना ही विकलेन्द्रिय जीवोकी तरह बाह्य पदार्थोका ग्रहण करते है? उत्तर—यदि मनकी अपेक्षा न करके ज्ञानकी उत्पत्ति मात्रका आश्रय करके ज्ञानोत्पत्ति असज्ञीपनेकी कारण होती तो ऐसा होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योकि कदाचित मनके अभावसे विकलेन्द्रिय जीवोकी तरह केवलीके बुद्धिके अतिशयका अभाव भी कहा जावेगा। इसलिए केवलीके पूर्वोक्त दोष लागू नही होता।

१०. केवलीके चार प्राण होते हैं, समुद्घातमें ३,२ व १ प्राण होते हैं

ध. २/१,१/४४४/३ छहि इंदिएहि विणा चत्तारि पाणा दो वा।

ध २/१,१/४४६/४ उच्चारमस्सिऊण एगो वा छ वा सत्त वा पाणा भवंति।

ध. २/१,१/६५८/७ मण-वचि-उस्सासपज्जत्ती-सण्णिदपोग्गलक्खंध-णिव्वत्तिद-सपाणमण्ण-सजुत्तत्तीण साहणट्ट-केवलिम्हि अभावादो।

१. सयोगी जिनके पाँच भावेन्द्रियाँ और भावमन नहीं रहता है,

अष्टसहस्री /पृ.७२ (निर्णय सागर बम्बई) वस्तुतस्तु भगवतो वीतमोहत्वान्मोहपरिणामरूपाया इच्छाया तत्रासभवात्। तथाहि—नेच्छा सर्वविद शासनप्रकाशननिमित्तं प्रणष्टमोहत्वात्। =वास्तवमे केवली भगवान्के वीतमोह होनेके कारण, मोह परिणामरूप जो इच्छा है वह उनके असम्भव है। जैसे कि—सर्वज्ञ भगवान्को शासनके प्रकाशनकी भी कोई इच्छा नही है, मोहका विनाश हो जानेके कारण।

नि. सा /ता वृ./१७३-१७४ परिणामपूर्वक वचनं केवलिनो न भवति··· केवलीमुखारविन्दविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मक'। =परिणाम पूर्वक वचन तो केवलीको होता नही है।·· केवलीके मुखारविन्दसे निकली दिव्यध्वनि समस्तजनोके हृदयको आल्हादके कारणभूत अनिच्छात्मक होती है।

प्र सा /त प्र /४४ यथा हि महिलाना प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहार प्रवर्तते, तथा हि केवलिना प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानासन विहरण धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणताना पुद्गलाना गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिना स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। = **प्रश्न**—(बिना इच्छाके भगवान्को विहार स्थानादि क्रियाएँ कैसे सम्भव है)। **उत्तर**—जैसे स्त्रियोंके प्रयत्नके बिना भी, उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे स्वभावभूत ही मायाके ढक्कनसे ढका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवली भगवान्के, बिना ही प्रयत्नके उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे खडे रहना, बैठना, विहार और धर्मदेशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते है। और यह (प्रयत्नके बिना ही विहारादिका होना) बादलके दृष्टान्तसे अविरुद्ध है। जैसे बादलके आकाररूप परिणमित पुद्गलोका गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुषप्रयत्नके बिना भी देखी जाती है, उसी-प्रकार केवली भगवान्के खडे रहना इत्यादि अबुद्धि पूर्वक ही (इच्छाके बिना ही) देखा जाता है।

७. केवलीके उपयोग कहना उपचार है

रा. वा /२/१०/५/१२५/१० तथा उपयोगशब्दार्थोऽपि ससारिषु मुख्य' परिणामान्तरसक्रमात्, मुक्तेषु तदभावाद् गौण कल्प्यते उपलब्धिसामान्यात्। =संसारी जीवोमें उपयोग मुख्य है, क्योंकि बदलता रहता है। मुक्त जीवोमें सतत एकसी धारा रहनेसे उपयोग गौण है वहाँ तो उपलब्धि सामान्य होती है।

७. केवली समुद्घात निर्देश

१. केवली समुद्घात सामान्यका लक्षण

स सि /१/४४/४५७/३ लघुकर्मपरिपाचनस्याशेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वाभाव्याद्दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि स्वात्मप्रदेशविसर्पणत •। समुपहतप्रदेशविसरण'। =जिनके स्वल्पमात्रामे कर्मोका परिपाचन हो रहा है ऐसे वे अपने (केवली अपने) आत्मा प्रदेशोके फैलनेसे कर्म रजको परिशातन करनेकी शक्तिवाले दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातको करके अनन्तरके विसर्पणका सकोच करके •।

रा. वा /१/२०/१२/७७/१६ द्रव्यस्वभावत्वात् सुराद्रव्यस्य फेनवेगबुद्बुदाविर्भावोपशमनवद् देहस्थात्मप्रदेशाना बहि समुद्घातन केवलिसमुद्घात। =जैसे मदिरामें फेन आकर शान्त हो जाता है उसी तरह समुद्घातमें देहस्थ आत्मप्रदेश बाहर निकलकर फिर शरीरमें समा जाते है, ऐसा समुद्घात केवली करते है।

ध. १३/२/६१/३००/६ दंड-कवाड-पदर-लोगपूरणाणि केवलिसमुग्घादो णाम। =दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप जीव प्रदेशोकी अवस्थाको केवलिसमुद्घात कहते है। (प का./ता.वृ /१५३/२२१)।

२. भेद-प्रभेद

ध ४/,१,३,२/२८/८ दंडकवाड-पदर-लोकपूरणभेएण चउव्विहो। =दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणके भेदसे केवलीसमुद्घात चार प्रकारका है।

गो. जी /जी प्र./५४४/६६३/१४ केवलिसमुद्घात' दण्डकवाटप्रतरलोकपूरणभेदाच्चतुर्धा। दण्डसमुद्घात स्थितोपविष्टभेदाद् द्वेधा। कवाटसमुद्घातोऽपि पूर्वाभिमुखोत्तराभिमुखभेदाभ्या स्थित' उपविष्टश्चेति चतुर्धा। प्रतरलोकपूरणसमुद्घातावेकैककावेव। =केवली समुद्घात च्यारि प्रकार दड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण। तहाँ दड दोय प्रकार एक स्थिति दंड. अर एक उपविष्ट दण्ड। बहुरि कपाट चारि प्रकार पूर्वाभिमुखस्थितकपाट, उत्तराभिमुखस्थितकपाट, पूर्वाभिमुख उपविष्टकपाट, उत्तराभिमुख उपविष्ट कपाट। बहुरि प्रतर अर लोकपूरण एक एक ही प्रकार है।

३. दण्डादि भेदोंके लक्षण

ध ४/१,३,२/२८/८ तत्थ दण्डसमुग्घादो णाम पुव्वसरीरबाहल्लेण वा तत्तिगुणबाहल्लेण वा सविक्खंभादो सादिरेयतिगुणपरिट्ठएण केवलिजीवपदेसाण दंडागारेण देसूणचोद्दसरज्जुविसप्पणं। कवाडसमुग्घादो णाम पुव्विल्लबाहल्लायामेण वादवलयवदिरित्तसव्वखेत्तावूरणं। पदरसमुग्घादो णाम केवलिजीवपदेसाणं वादवलयरुद्धलोगखेत्तं मोत्तूण सव्वलोगावूरणं। लोगपूरणसमुग्घादो णाम केवलिजीवपदेसाण घणलोगमेत्ताण सव्वलोगावूरणं। =जिसकी अपने विष्कभसे कुछ अधिक तिगुनी परिधि है ऐसे पूर्व शरीरके बाहल्यरूप अथवा पूर्व शरीरसे तिगुने बाहल्यरूप दण्डाकारसे केवलीके जीव प्रदेशोका कुछ कम चौदह राजू उत्सेधरूप फैलनेका नाम दण्ड समुद्घात है। दण्ड समुद्घातमें बताये गये बाहल्य और आयामके द्वारा पूर्व पश्चिममे वातवलयसे रहित सम्पूर्ण क्षेत्रके व्याप्त करनेका नाम कपाट समुद्घात है। केवली भगवान्के जीवप्रदेशोका वातवलयसे रुके हुए क्षेत्रको छोडकर सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होनेका नाम प्रतर समुद्घात है। घन लोकप्रमाण केवली भगवान्के जीवप्रदेशोंका सर्वलोकके व्याप्त करनेको लोकपूरण समुद्घात कहते है। (ध./१३/५/४/२६/२)

४. सभी केवलियोंको होने न होने विषयक दो मत

भ आ /मू /२१०६ उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मिकेवली जादा। वच्चंति समुग्घाद सेसा भज्जा समुग्घादे।२१०६। =उत्कर्षसे जिनका आयु छह महीनेका अवशिष्ट रहा है ऐसे समयमे जिनको केवलज्ञान हुआ है वे केवली नियमसे समुद्घातको प्राप्त होते है। बाकीके केवलियोको आयुष्य अधिक होनेपर समुद्घात होगा अथवा नही भी होगा, नियम नही है। (पं स /प्रा १/२००), (ध. १/१,१,३०/१६७), (ज्ञा /४२/४२); (वसु श्रा /५३०)

ध १/१,१,६०/३०२/२ यतिवृषभोपदेशात्सर्वघातिकर्मणा क्षीणकषायचरमसमये स्थिते' साम्याभावात्सर्वेऽपि कृतसमुद्घाता' सन्तो निर्वृत्तिमुपढौकन्ते। येषामाचार्याणा लोकव्यापिकेवलिषु विंशतिसंख्यानियमस्तेषा मतेन केचित्समुद्घातयन्ति। के न समुद्घातयन्ति। =यतिवृषभाचार्यके उपदेशानुसार क्षीणकषाय गुणस्थानके चरमसमयमें सम्पूर्ण अघातिया कर्मोंकी स्थिति समान नही होनेसे सभी

केवली समुद्घात करके ही मुक्तिको प्राप्त होते है। परन्तु जिन आचार्योंके मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियोंकी बीस सख्याका नियम है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते है और कितने नही करते है।

ध.१३/५,४,३१/१५१/१३ सव्वेसि णिव्वुइमुवगमंताणं केवलिसमुग्घादाभावादो। =मोक्ष जानेवाले सभी जीवोंके केवलि समुद्घात नही होता।

५. आयुके छह माह शेष रहनेपर होने न होने सम्बन्धी दो मत

ध.१/१,१,६०/१६७/३०३ छम्मासाउवसेसे उप्पण्णं जस्स केवलणाणं। स-समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए।१६७। एदिस्से गाहाए उवएसे किण्ण गहिओ। ण, भज्जत्ते कारणाणुवलंभादो। =प्रश्न—छह माह प्रमाण आयुके शेष रहनेपर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घातको करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी है और नही भी करते है।१६७। (भ.आ./मू./२१०६) इस पूर्वोक्त गाथाका अर्थ क्यों नही ग्रहण किया है? उत्तर—नही, क्योंकि इस प्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नही पाया जाता है, इसलिए पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नही ग्रहण किया है।

६. कदाचित् आयुके अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर होता है

भ.आ./मू./२११२ अंतोमुहुत्तसेसे जंति समुग्घादमाउम्मि।२११२। =आयुकर्म जब अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहता है तब केवली समुद्घात करते है। (स.सि./९/४४/४५७/१); (ध.१३/५,४,२६/८४/१), (क्ष.सा./६२०); (प्र.सा./ता.वृ./१५३/१३१)।

७. आत्मप्रदेशोंका विस्तार प्रमाण

स.सि./५/८/२७४/११ यदा तु लोकपूरणं भवति तदा मन्दरस्याधश्चित्रवज्रपटलमध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशा व्यवतिष्ठन्ते। इतरे ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च कृत्स्न लोकाकाशं व्यश्नुवते। =केवलिसमुद्घातके समय जब यह (जीव) लोकको व्यापता है उस समय जीवके मध्यके आठ प्रदेश मेरु पर्वतके नीचे चित्रा पृथिवीके वज्रमय पटलके मध्यमें स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर नीचे और तिरछे समस्त लोकको व्याप्त लेते हैं। (रा.वा./५/८/४/४५०/१)

ध.११/४,२,५,१७/३१/११ केवली दंड करेमाणो सव्वो सरीरगुणबाहल्लेण [ण]कुणदि, वेयणाभावादो। को पुण सरीरतिगुणबाहल्लेण दंडं कुणइ। पलियंकेण णिसण्णकेवली। =दण्ड समुद्घातको करनेवाले सभी केवली शरीरसे तिगुणे बाहल्यमें उक्त समुद्घातको नही करते, क्योंकि उनके वेदनाका अभाव है। प्रश्न—तो फिर कौनसे केवली शरीरसे तिगुणे बाहल्यसे दण्डसमुद्घातको करते है? उत्तर—पल्यंक आसनसे स्थित केवली उक्त प्रकारसे दण्ड समुद्घातको करते है।

गो.जी./जी.प्र./५४४/६५३ केवल भापार्थ—दण्ड—स्थितिदण्ड समुद्घात विषै एक जीवके प्रदेश वातवलयके विना लोककी ऊँचाई किंचित् ऊन चौदह राजू प्रमाण है सो इस प्रमाणतै लंबे बहुरि बारह अगुल प्रमाण चौडे गोल आकार प्रदेश हैं। स्थितिदण्डके क्षेत्रको नवगुणा कीजिए तब उपविष्टदण्ड विषै क्षेत्र हो है। सो यहाँ ३६ अगुल चौडाई है। कपाट पूर्वाभिमुख स्थित कपाट समुद्घातविषै एक जीवके प्रदेश वातवलय विना लोक प्रमाण तो लम्बे हो है सो किंचित् ऊन चौदह राजू प्रमाण तो लम्बे हो है, बहुरि उत्तर-दक्षिण दिशाविषै लोककी चौडाई प्रमाण चौडे हो हैं सो उत्तर-दक्षिण दिशाविषै लोक सर्वत्र सात राजू चौडा है तातै सात राजू प्रमाण चौडे हो है। बहुरि बारह अगुल प्रमाण पूर्व पश्चिम विषै ऊँचे हो है। पूर्वाभिमुख स्थित कपाटके क्षेत्र तै तिगुना पूर्वाभिमुख उपविष्ट कपाट विषै क्षेत्र जानना। उत्तराभिमुख स्थित कपाटके चौदह राजू प्रमाण तो लम्बे पूर्व-पश्चिम दिशा विषैं लोकको चौडाईके प्रमाण चौडे है। उत्तर-दक्षिण विषै क्रमसे सात, एक, पाँच और एक राजू प्रमाण चौडे है। उत्तराभिमुख उपविष्ट कपाट विषैं तातै तिगुनी छत्तीस अंगुलकी ऊँचाई है। प्रतर—बहुरि प्रतर समुद्घात विषै तीन वलय बिना सर्व लोक विषैं प्रदेश व्याप्त है तातै तीन वातवलयका क्षेत्रफल लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। लोकपूरण—बहुरि लोकपूरण विषैं सर्व लोकाकाश विषैं प्रदेश व्याप्त हो है तातै लोकप्रमाण एक जीव सम्बन्धी लोकपूरण विषैं क्षेत्र जानना।

क्ष.सा./६२३/७३५/८–११ भापार्थ—कायोत्सर्ग स्थित केवलीके दण्ड समुद्घात उत्कृष्ट १०८ प्रमाण अंगुल ऊँचा, १२ प्रमाणागुल चौडा और सूक्ष्म परिधि $37\frac{15}{113}$ प्रमाणांगुल युक्त है। पद्मासन स्थित (उपविष्ट) दण्ड समुद्घात विषैं ऊँचाई ३६ प्रमाणागुल, और सूक्ष्म परिधि $113\frac{27}{113}$ प्रमाणांगुल युक्त है।

८. कुल आठ समय पर्यन्त रहता है

रा.वा./१/२०/१२/७७/२७ केवलिसमुद्घात अष्टसामयिक दण्डकवाटप्रतरलोकपूरणानि चतुर्षु समयेषु पुन प्रतरकपाटदण्डस्वशरीरानुप्रवेशाश्चतुर्षु इति। =केवलि समुद्घातका काल आठ समय है। दण्ड, कवाट, प्रतर, लोकपूरण, फिर प्रतर, कपाट, दण्ड और स्व शरीर प्रवेश इस तरह आठ समय होते है।

९. प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधिक्रम

पं.सं./प्रा./१९७–१९८ पढमे दंडं कुणइ य विदिए य कवाडयं तहा समए। तइए पयरं चेव य चउत्थए लोयपूणयं।१९७। विवरं पच समए जोई मंथाणयं तदो छट्ठे। सत्तमए य कवाडं संवरइ तदोऽट्ठमे दंडं।१९८। =समुद्घातगत केवली भगवान् प्रथम समयमें दण्डरूप समुद्घात करते है। द्वितीय समयमे कपाटरूप समुद्घात करते है। तृतीय समयमें प्रतररूप और चौथे समयमे लोक पूरण समुद्घात करते है। पाँचवें समयमें वे सयोगिजिन लोकके विवरगत आत्मप्रदेशोका सवरण (सकोच) करते है। पुन छट्ठे समयमें मन्थान (प्रतर) गत आत्म-प्रदेशोका सवरण करते है। सातवे समयमें कपाट-गत आत्म-प्रदेशोंका संवरण करते है और आठवें समयमें दण्डसमुद्घातगत आत्म-प्रदेशोका संवरण करते है। (भ.आ./मू./२११६); (क्ष.सा./मू./६२७), (क्ष.सा./भा./६२३)।

क्ष.सा./मू./६२१ हेट्ठा दंडस्संतोमुहुत्तमावज्जिदं हवे करण। तं च समुग्घादस्स य अहिमुहभावो जिणिंदस्स।६२१। =दण्ड समुद्घात करनेका कालके अन्तर्मुहूर्त काल आधा कहिए पहलैं आवर्जित नामा करण हो है सो जिनेन्द्र देवकैं जो समुद्घात क्रियाकौ सन्मुखपना सोई आवर्जितकरण कहिए।

१०. दण्ड समुद्घातमें औदारिक काययोग होता है शेष में नहीं

पं.स./प्रा./१९९ दंडदुगे ओरालं ·।·।१९९। =केवलि समुद्घातके उक्त आठ समयोमे से दण्ड द्विक अर्थात् पहले और सातवें समयके दोनो समुद्घातोंमें ओदारिक काययोग होता है। (ध.४/१,४,८८/२६३/१)

११. प्रतर व लोकमें आहारक शेषमें अनाहारक होता है

क्ष.सा./६११ णवरि समुग्घादगदे पदरे तह लोगपूरणे पदरे। णत्थि तिसमये णियमा णोकम्माहारय तत्थ।६११। =केवल समुद्घातकौ प्राप्त केवलिविषैं दोय तौ प्रतरके समय अर एक लोक पूरणका समय इन तीन

समयनि विषैं नोकर्मका आहार नियमतै नाही है अन्य सर्व सयोगी जिनका कालविषै नोकर्मका आहार है।

१२. केवली समुद्घातमें पर्याप्तापर्याप्त सम्बन्धी नियम

गो जी /जी प्र /७०३/११३७/१३ सयोगे पर्याप्तः। समुद्घाते तूभय अयोगे पर्याप्त एव। =सयोगी विषै पर्याप्त है, समुद्घात सहित दोऊ (पर्याप्त व अपर्याप्त) है। अयोगी विषैं पर्याप्त ही है।

गो क /जी प्र /५८७/७६१/१२ दण्डद्वये काल' औदारिकशरीरपर्याप्तिः, कवाटयुगले तन्मिश्रः, प्रतरयोर्लोकपूरणे च कार्मण इति ज्ञातव्य। मूल-शरीरप्रथमसमयात्संज्ञिवत्पर्याप्तय पूर्यन्ते। =दण्डका करनै वा समेटने रूप युगलविषैं औदारिक शरीर पर्याप्ति काल है। कपाटका करने समेटनेरूप युगलविषैं औदारिकमिश्रशरीर काल है अर्थात् अपर्याप्त काल है। प्रतरका करना वा समेटनाविषै अर लोकपूरणविषैं कार्माण-काल है। मूलशरीरविषैं प्रवेश करनेका प्रथम समय तै लगाय संज्ञी पञ्चेन्द्रियवत्, अनुक्रमतै पर्याप्ति पूर्ण करै है।

१३. पर्याप्तापर्याप्त सम्बन्धी शंका-समाधान

ध २/१,१/४४१-४४४/१ केवली कवाड-पदर-लोगपूरणगओ पज्जत्तो अपज्जत्तो वा। ण ताव पज्जत्तो, 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्ज-त्ताणं' इच्चेदेण सुत्तेण तस्स अपज्जत्तसिद्धीदो। सजोगिं मोत्तूण अण्णे ओरालियमिस्सकायजोगिणो अपज्जत्ता 'सम्मामिच्छाइट्ठि संजदा-संजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' त्ति सुत्तणिद्देसादो। ण, अहारमिस्सकायजोगपमत्तसंजदाण- पि पज्जत्तयत्त-प्पसंगादो। ण च एवं, आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं' त्ति सुत्तेण तस्स अपज्जत्त-भाव-सिद्धादो। अणवगामत्तादो एदेण सुत्तेण 'संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता' त्ति एदं सुत्तं बाहिज्जदि, त्ति अणेयंतियादो। किमेदेण जाणाविज्जदि। त्ति एदं सुत्तमणिच्चमिदि ण च सजोगम्मि सरीर-पट्ठवणमत्थि, तदो ण तस्स अपज्जत्तमिदि ण, छ-पज्जत्ति-सत्ति-वज्जियस्स अपज्जत्त-ववएसादो। =प्रश्न—कपाट प्रतर, और लोक-पूरण समुद्घातको प्राप्त केवली पर्याप्त है या अपर्याप्त? उत्तर—उन्हे पर्याप्त तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, 'औदारिक मिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है' इस सूत्रसे उनके अपर्याप्तपना सिद्ध है, इसलिए वे अपर्याप्तक ही है। प्रश्न—"सम्यग्मिथ्यादृष्टि संयतासंयत और संयतोके स्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते है" इस प्रकार सूत्र निर्देश होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि सयोगीको छोडकर अन्य औदारिकमिश्रकाययोगवाले जीव अपर्याप्तक हैं। उत्तर—ऐसा नही है। क्योंकि (यदि ऐसा मान लें) तो आहारक मिश्रकाययोगवाले प्रमत्तसंयतोको भी अपर्याप्तक ही मानना पडेगा, क्योकि वे भी संयत है। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'आहारकमिश्र काययोग अपर्याप्तको-के होता है' इस सूत्रसे वे अपर्याप्तक ही सिद्ध होते है। प्रश्न—यह सूत्र अनवकाश है, (क्योंकि) इस सूत्रसे संयतोके स्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं, यह सूत्र बाधा जाता है। उत्तर— इस कथनमें अनेकान्तदोष आ जाता है। (क्योकि अन्य सूत्रोमे यह भी बाधा जाता है। प्रश्न—(सूत्रमें पडे) इस नियम शब्दसे क्या ज्ञापित होता है। उत्तर—इससे ज्ञापित होता है "कि यह सूत्र अनि-त्य है। 'कहीं प्रवृत्त हो और कही न हो इसका नाम अनित्यता है। प्रश्न—सयोग अवस्थामें (नये) शरीरका आरम्भ तो होता नही, अत सयोगीके अपर्याप्तपना नहीं बन सकता। उत्तर—नही, क्योकि, कपाटादि समुद्घात अवस्थामें सयोगी छह पर्याप्ति रूप शक्तिसे रहित होते है, अतएव उन्हें अपर्याप्त कहा है।

१४. समुद्घात करनेका प्रयोजन

भ आ /मू /२११३-२११६ ओल्लं संत विरल्लिद जध लहु विणिव्वादि। संवेढियं तु ण तधा तधेव कम्मं पि णादव्वं।२११३। ठिदिबंधस्स सिणेहो हेदू खीयदि य सो समुहदस्स। सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि।२११४। सेलेसिमब्भुवेंतो जोगणिरोधं तदो कुणदि।२११६। =गीला वस्त्र पसारनेसे जल्दी शुष्क होता है, परन्तु वेष्टित वस्त्र जल्दी सूखता नहीं उसी प्रकार बहुत कालमें होने योग्य स्थिति अनुभागघात केवली समुद्घात-द्वारा शीघ्र हो जाता है।२११३। स्थिति बन्धका कारण जो स्नेहगुण वह इस समुद्घातमे नष्ट होता है, और स्नेहगुण कम होनेसे उसकी अल्प स्थिति होती है।२११४। अन्तमें योग निरोध वह धीर मुक्तिको प्राप्त करते है।२११६।

पं. का /ता वृ./१५३/२२१/८ संसारस्थितिविनाशार्थं केवलिसमुद्घातं। =ससारकी स्थितिका विनाश करनेके लिए केवली समुद्घात करते है।

१५. इसके द्वारा शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग घात नहीं होता

ध १२/४,२,७,१४/१८/२ सुहाणं पयडीण विसोहीदो केवलिसमुग्घादेण जोगणिरोहेण वा अणुभागघादो णत्थि त्ति जाणावेदि। =शुभ प्रकृ-तियोके अनुभागका घात विशुद्धि, केवलिसमुद्घात अथवा योगनिरोध-मे नही होता है।

१६. जब शेष कर्मोंकी स्थिति आयुके समान न हो तब उनका समीकरण करनेके लिए किया जाता है

भ आ /मू /२११०-२१११ जेसिं आउसमाइं णामगोदाइ वेदणीयं च। ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं।२११०। जेसिं हवंति विस-माणि णामगोदाउवेदणीयाणि। ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं।२१११। =आयुके समान ही अन्य कर्मोंकी स्थितिको धारण करनेवाले केवली समुद्घात किये बिना सम्पूर्ण शीलोके धारक बनते है।२११०। जिनके वेदनीय और गोत्रकर्मकी स्थिति अधिक रहती है वे केवली भगवान् समुद्घातके द्वारा आयुकर्मकी बराबरीकी स्थिति करते है, इस प्रकार वे सम्पूर्ण शीलोके धारक बनते है।२१११। (स सि /९/४४/४५७/१), (ध १/१,१,६०/१६८/३०४), (ज्ञा /४२/४२), (प का /ता वृ /१५३/७)

ध १/१,१,६०/३०२/६ के न समुद्घातयन्ति। येषा संसृतिव्यक्ति' कर्म-स्थित्या समाना ते न समुद्घातयन्ति, शेषा समुद्घातयन्ति। =प्रश्न—कौनसे केवली समुद्घात नही करते है? उत्तर—जिनकी संसार-व्यक्ति अर्थात् ससारमें रहनेका काल वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थितिके समान है वे समुद्घात नहीं करते है, शेष केवली करते है।

१७. कर्मोंकी स्थिति बराबर करनेका विधिक्रम

ध. ६/१,९-८,१६/४१२-४१७/४ पढमसमए ट्ठिदिए असंखेज्जे भागे हणदि। सेसस्स च अणुभागस्स अप्पसत्थाणमणंते भागे हणदि (४१२/४)। विदियसमए तम्हि सेसिगाए ट्ठिदीए असंखेज्जे भागे हणदि। सेसस्स च अणुभागस्स अप्पसत्थाणमणंते भागे हणदि। तदो तदियसमए मथ करेदि। ट्ठिदि-अणुभागे तहेव णिज्जरयदि। तदो चउत्थसमए लोगे पूण्णे एक्का वग्गणा जोगस्स समजोगजादसमए। ट्ठिदिअणुभागे तहेव णिज्जरयदि। लोगे पुण्णे, अंतोमुहुत्तट्ठिदि (४१३/१) ठवेदि संखेज्जगुणमाउआदो। एत्तो सेसियाए ट्ठिदीए संखेज्जे भागे हणदि। एतो अत्तोमुहुत्त गंतूण कायजोग वचि-जोग सुहुमउस्सास णिरु भदि (४१४/१)। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण इमाणि करणाणि करेदि—पढमसमय अपुव्वफद्दयाणि करेदि पुव्व-फद्दयाण हेट्ठादो (४१५/१) एत्तो अंतोमुहुत्त किट्टीओ करेदि (४१६/१)। जोगम्हि णिरुद्धम्हि आउसमाणि कम्माणि भवंति (४१७/१)।

=प्रथम समयमें "आयुको छोडकर शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात बहु भागको नष्ट करते हैं इसके अतिरिक्त क्षीण-कषायके अन्तिम समयमें घातनेसे शेष रहे अप्रशस्त प्रकृति सम्बन्धी अनुभागके अनन्त बहुभागको भी नष्ट करते है। द्वितीय समयमें-शेष स्थितिके असंख्यात बहुभागको नष्ट करते है, तथा अप्रशस्त प्रकृतियोंके शेष अनुभागके भी अनन्त बहुभागको नष्ट करते है। पश्चात् तृतीय समयमें प्रतर संज्ञित मन्थसमुद्घातको करते है। इस समुद्घातमें भी स्थिति व अनुभागको पूर्वके समान ही नष्ट करते है। तत्पश्चात् चतुर्थ समयमें...लोकपूरण समुद्घातमें समयोग हो जानेपर योगकी एक वर्गणा हो जाती है। इस अवस्थामें भी स्थिति और अनुभागको पूर्वके ही समान नष्ट करते है। लोकपूरणसमुद्घातमें आयुसे संख्यातगुणी अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितिको स्थापित करता है। ·उतरनेके प्रथम समयसे लेकर शेष स्थितिके संख्यात बहुभागको, तथा शेष अनुभागके अनन्त बहुभागको भी नष्ट करता है।· यहाँ अन्तर्मुहूर्त जाकर तीनों योग उच्छ्वासका निरोध करता है' · पश्चात् अपूर्व स्पर्धककरण करता है पश्चात् 'अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टियोको करता है।· ·फिर अपूर्व स्पर्धकोंको करता है। · योगका निरोध हो जानेपर तीन अघातिया कर्म आयुके सदृश हो जाते है। (ध ११/४,२,६,२०/१३३-१३४); (क्ष.सा /६२३-६४४)।

१८ स्थिति बराबर करनेके लिए इसकी आवश्यकता क्यों

ध १/१,१.६०/३०२/६ संसारविच्छित्तेः किं कारणम्। द्वादशाङ्गावगम तत्तीव्रभक्ति' केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च। न चैते सर्वेषु संभवन्ति दशनवपूर्वधारिणामपि क्षपकश्रेण्यारोहणदर्शनात्। न तत्र समारसमानकर्मस्थितय· समुद्घातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयाभागायतानि संख्येयावलिकागतानि च निपातयन्त आयु समानि कर्माणि कुर्वन्ति। अपरे समुद्घातेन समानयन्ति। न चेष संसारघात' केवलिनि प्राक् संभवति स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात्। =प्रश्न—संसारके विच्छेदका क्या कारण है? उत्तर—द्वादशागका ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब ससारके विच्छेदके कारण है। परन्तु ये सब कारण समस्त जीवोंमे सम्भव नहीं है, क्योंकि, दशपूर्व और नौपूर्वके धारी जीवोंका भी क्षपक श्रेणीपर चढना देखा जाता है। अत वहाँपर ससार-व्यक्तिके समान कर्म स्थिति पायी नही जाती है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे नाशको प्राप्त होनेवाले पल्योपमके असंख्यातवें भागप्रमाण या सख्यात आवली प्रमाण स्थिति काण्डकोका विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्घातके बिना ही आयुके समान शेष तीन कर्मोंको कर लेते है। तथा कितने ही जीव समुद्घातके द्वारा शेष कर्मोंको आयुके समान करते हैं। परन्तु यह संसारका घात केवलीमें पहले सम्भव नही है, क्योंकि, पहले स्थिति काण्डकके घातके समान सभी जीवोके समान परिणाम पाये जाते है।

१९. समुद्घात रहित जीवकी स्थिति समान कैसे होती है

ध. १३/५.४.३१/१५२/१ केवलिसमुग्घादेण विणा कध पलिदोवमस्स असखेज्जदिभागमेत्तट्ठिदीए घादो जायदे। ण ट्ठिदिखंडयघादेण तग्घादुववत्तीदो। =प्रश्न—जिन जीवोके केवलिसमुद्घात नहीं होता उनके केवलिसमुद्घात हुए विना पल्यके असंख्यातवें भागमात्र स्थितिका घात कैसे होता है? उत्तर—नही, क्योंकि स्थितिकाण्डक घातके द्वारा उक्त स्थितिका घात बन जाता है।

२०. ९वें गुणस्थानमें ही परिणामोंकी समानता होनेपर स्थितिकी असमानता क्यों?

ध /१/१.१.६०/३०२/७ अनिवृत्त्यादिपरिणामेषु समानेषु सत्सु किमिति स्थित्योर्वैषम्यम्। न, व्यक्तिस्थितिघातहेतुष्वनिवृत्तपरिणामेषु समानेषु सत्सु ससृतेस्तत्समानत्वविरोधात्। =प्रश्न—अनिवृत्ति आदि परिणामोके समान रहनेपर ससार—व्यक्ति स्थिति और शेष तीन कर्मोकी स्थितिमें विषमता क्यों रहती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि ससारकी व्यक्ति और कर्मस्थितिके घातके कारणभूत परिणामोंके समान रहनेपर संसारको उसके अर्थात् तीन कर्मोंकी स्थितिके समान मान लेनेमे विरोध आता है।

केवली समुद्घात—दे० केवली/७।

केश—एक ग्रह दे० 'ग्रह'।

केशलोंच—साधुके २८ मूलगुणोमें-से एक गुण केशलौच भी है। जघन्य ४ महीने, मध्यम तीन महीने, और उत्कृष्ट दो महीनेके पश्चात वह अपने बालोको अपने हाथसे उखाडकर फेंक देते हैं। इस परसे उसके आध्यात्मिक बलकी तथा शरीरपरसे उपेक्षा भावकी परीक्षा होती है।

१. केशलोंच विधि

मू. आ /२९ ../सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो।२९। =प्रतिक्रमण सहित दिनमें उपवास किया हो जो अपने हाथसे मस्तक दाढी व मूँछके केशोंका उपाडना वह लोच नामा मूल गुण है। (अन ध /९/८६); (क्रि क /४/२६/१)।

प प्र/मू /२/९० केण वि अप्पउ वंचिउ सिरलुंचिवि छारेण ।९०। =जिस किसीने जिनवरका वेश धारण करके भस्मसे शिरके केश लौच किये। ..।९०। (यहाँ भस्मके प्रयोगका निर्देश किया गया है।)

भ आ /वि०/८९/२२४/२१ प्रादक्षिणावर्त केशश्मश्रुविषय' हस्ताङ्गुलीभिरेव सपाद्य ।=मस्तक, दाढी और मूँछके केशोका लौच हाथोकी अंगुलियोसे करते है। दाहिने बाजूमे आरम्भकर बायें तरफ आवर्त रूप करते है।

२. केश लौंचके योग्य उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य अन्तर काल

मू.आ /२९बिय-तिय-चउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो। =केशोका उत्पाटन तीन प्रकारसे होता है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। दो महीनेके अन्तरसे उत्कृष्ट, तीन महीने अन्तरसे मध्यम, तथा जो चार महीनेके अन्तरसे किया जाता है वह जघन्य समझना चाहिए। (भ आ /वि /८९/२२४/२०), (अन. ध /९/८६), (क्रि क /४/२६/१)।

३. केशलोंचकी आवश्यकता क्यों?

भ /आ /८८-८९ केसा संसज्जति हु णिप्पडिकारस्स दुपरिहारा य। सयणादिसु ते जीवा दिट्ठा आगंतुया य तहा।८८। जूगाहिं य लिक्खाहिं य बाधिज्जतस्स संकिलेसो य। संघट्टिज्जति य ते कडुयणे तेण सो लोचो।८९। =तेल लगाना, अभ्यग स्नान करना, सुगन्धित पदार्थसे केशोका सस्कार करना, जलसे धोना इत्यादि क्रियाएँ न करनेसे केशोंमें यूका और लिखा ये जन्तु उत्पन्न होते है, जब इनकी उत्पत्ति केशोंमें होती है, तब इनको वहाँसे निकालना बडा कठिन काम है।८८। जूं और लिखाओसे पीडित होनेपर मनमें नवीन पापकर्मका आगमन करानेवाला अशुभ परिणाम—सक्लेश परिणाम हो जाता है। जीवोके द्वारा भक्षण किया जानेपर शरीरमें असह्य वेदना होती है, तब मनुष्य मस्तक खुजलाता है। मस्तक खुजलानेसे

जू लिखादिकका परस्पर मर्दन होनेसे नाश होता है। ऐसे दोषोंसे बचनेके लिए मुनि आगमानुसार केशलौंच करते हैं।

पं. वि./१/४२ काकिण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम्। हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैः वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ।४२। =मुनिजन कौडी मात्र भी धनका संग्रह नहीं करते जिससे कि मुण्डनकार्य कराया जा सके, अथवा उक्त मुण्डन कार्यको सिद्ध करनेके लिए वे उस्तरा या कैंची आदि औजारका भी आश्रय नहीं लेते, क्योंकि उनसे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता है। इससे वे जटाओं-को धारण कर लेते हों सो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उनके उत्पन्न होनेवाले जू आदि जन्तुओंकी हिंसा नहीं टाली जा सकती है। इसलिए अयाचन वृत्तिको धारण करनेवाले साधुजन वैराग्यादि गुणोंको बढानेके लिए बालोंका लोच किया करते हैं।

४. केशलौंच सर्वदा आवश्यक ही नहीं

ति.प./४/२३ आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ। पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।२३०। =वे आदि जिनेन्द्रकी प्रतिमाएँ जटामुकुट रूप शेखरसे सहित हैं। इन प्रति-माओंके ऊपर वह गंगा नदी मानो मनमें अभिषेककी भावनाको रखकर ही गिरती है।

प. पु./३/२८७-२८८ ततो वर्षार्द्धमात्रं स कायोत्सर्गेण निश्चलः। धरा-धरेन्द्रवत्तस्थौ कृतेन्द्रियसमस्थितिः ।२८७। वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः। धूमाल्य इव सद्ध्यानवह्निसक्तस्य कर्मणः ।२८८। =तदनन्तर इन्द्रियोंकी समान अवस्था धारण करनेवाले भगवान् ऋषभदेव छह मास तक कायोत्सर्गसे सुमेरु पर्वतके समान निश्चल खडे रहे।२८७। हवासे उडी हुई उनकी अस्त-व्यस्त जटाएँ ऐसी जान पडती थीं मानो समीचीन ध्यानरूपी अग्निसे जलते हुए कर्मके धूमकी पंक्तियाँ ही हों।२८८। (म.पु./१/६), (म.पु./१८/७५-७६); (पं.वि. १३/१८)।

प. पु./४/५ मेरुकूटसमाकारभासुरांसः समाहितः। स रेजे भगवान् दीर्घजटाजालहृतांशुमान्। =उनके कन्धे मेरु पर्वतके शिखरके समान ऊँचे तथा देदीप्यमान थे, उनपर बडी-बडी जटाएँ किरणोंकी भाँति सुशोभित हो रही थीं और भगवान् स्वयं बडी सावधानीसे ईर्या-समितिसे नीचे देखते हुए विहार करते थे।५।

म पु/३६/१०६ दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनी केशवल्लरीः। सोऽन्व-गाद्गूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम्।१०६। =कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पोंके समूहको धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे।

* भगवान्‌की जटाएँ नहीं होतीं —दे०/चैत्य/१/१३।

५. भगवान् आदिनाथने भी प्रथम बार केशलौंच किया था

म. पु/२०/६६ क्षुरक्रियायां तद्योग्यसाधनार्जनरक्षणे। तदपाये च चिन्ता स्यात् केशोत्पाटमितीच्छते।६६। =यदि छुरा आदिसे बाल बनवाये जायेंगे तो उसके साधन छुरा आदि लेने पडेंगे, उनकी रक्षा करनी पडेगी, और उनके खो जानेपर चिन्ता होगी ऐसा विचार कर जो भगवान् हाथसे ही केशलौंच करते थे।

६. रत्नत्रय हो चाहिए केशलौंचसे क्या प्रयोजन

भ.आ./मू./९०-९२ लाचकदे मुण्डत्तं मुण्डत्ते होइ णिव्वियारत्तं। तो णिव्वियारकरणो पग्गहिददरं परक्कमदि।९०। अप्पा दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि। साधीणदा य णिद्दोसदा य देहे य णिम्ममदा।९१। आणक्खिदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसड्ढा च। उग्गो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च।९२। =शिरोमुंडन होनेपर निर्विकार प्रवृत्ति होती है। उससे वह मुक्तिके उपायभूत रत्नत्रयमें खूब उद्यमशील बनता है, अतः लौंच परम्परा रत्नत्रयका कारण है। केशलोच करनेसे और दुःख सहन करनेकी भावनासे, मुनि-जन आत्माको स्ववश करते हैं, सुखोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं। लौंच करनेमें स्वाधीनता तथा निर्दोषता गुण मिलता है तथा देह-ममता नष्ट होती है।९०-९१। इससे धर्मके-चारित्रके ऊपर बडी भारी श्रद्धा व्यक्त होती है। लौंच करनेवाले मुनि उग्रतप अर्थात् काय-क्लेश नामका तप करके होनेवाला दुःख सहते हैं। जो लौंच करते हैं उनको दुःख सहनेका अभ्यास हो जाता है।९२।

* शरीरको पीडाका कारण होनेसे इससे पापास्रव होना चाहिए—दे० तप/५।

* केशलौंच परीषह नहीं है—दे० परीषह/3।

केशव—म पु./सर्ग/श्लोक पूर्व विदेहमें महावत्स देशकी सुसीमा नगरीके राजा सुविधिका पुत्र था (१०/१४५) पूर्वभवके संस्कारसे पिताका (भगवान् ऋषभका पूर्वभव) विशेष प्रेम था (१०/१४७)। अन्तमें दीक्षा धारणकर अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ (१०/१७१)। यह श्रेयांस राजाका पूर्वका पाँचवा भव है। —दे० श्रेयांस।

केशव वर्णी—१. यह ब्रह्मचारी थे। कृति—गोम्मटसारकी संस्कृत टीका (लघु गो.सा./प्र./१ मनोहर लाल)। २. गुरुका नाम अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्त चक्रवर्ती। कृति—गोम्मटसारकी जीवतत्त्व प्रबोधिनी नामकी कर्णाटक भाष्य टीका। समय—वि. १४१६ ई. १३५९ (मो.मा प्र./प्र २२ परमानन्द शास्त्री)।

केशव सेन—आप एक कवि थे। कृति—कर्णामृतपुराण। समय—वि सं. १६८८ ई १६३१। म.पु./प्र /२० पन्नालाल

केशाग्र—क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम बालाग्र—दे० गणित/I/१।

केशावाप क्रिया—दे० संस्कार/२।

केसरीह्रद—नील पर्वतस्थ एक ह्रद। इसमेंसे सीता व नरकान्ता नदियाँ निकलती है। कीर्तिदेवी इसमें निवास करती हैं।—दे० लोक/३/८।

कैकेय देश—दे० केकय।

कैटभ—म. पु /सर्ग/श्लोक अयोध्या नगरीमें हेमनाभ राजाका पुत्र तथा मधुका छोटा भाई था (१६०) अन्तमें दीक्षा धारण कर (२०२) घोर तपश्चरण पूर्वक अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुआ (२१६)। यह कृष्णके पुत्र 'शम्ब' का पूर्वका तीसरा भव है—दे० 'शंब'।

कैरल—दे० केरल।

कैलास—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कोंकण— पश्चिमी समुद्र तटपर यह प्रदेश सूरतसे रत्नगिरि तक विस्तृत है। बम्बई व कल्याण भी इसी देशमें हैं। (म. पु./प्र.४९ पं. पन्नालाल)।

कोका—मथुरा नगरीका दूसरा नाम है। (मदन मोहन पचशती/प्र०)

कोकिल पंचमी व्रत

व्रत विधान संग्रह—गणना—कुल समय ५ वर्षतक; उपवास २५। किशनसिंह क्रियाकोश विधि—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष आषाढ कृ० ५

से कार्तिक कृ० ५ (चतुर्मास) की ५ पंचमीको उपवास करे। जाप—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

कोट—Boundry wall.

कोटिशिला—प पु /४८/श्लोक यह वह शिला है जिसपरसे करोडो मुनि सिद्ध पदको प्राप्त हुए है। रावणको वही मार सक्ता है जो इसको उठावेगा ऐसा मुनियोंका वचन था (१८६)। लक्ष्मणने इसको उठाकर अपनी शक्तिका परिचय दिया था (२१४)।

कोटीश्वर—कृति—जीवन्धर शतपदी (कन्नड) समय—ई. १५००। पिताका नाम-तम्मण। बहदुरका सेनापति था। जीवन्धर चम्पू/प्र. १० A.N. up.

कोप्पण—निजाम हैदराबाद स्टेटके रायचूर जिलेमें वर्तमान कोप्पल नामका ग्राम। वर्तमानमें वहाँ एक दुर्ग तथा चहार दीवारी है जो चालुक्य कालीन कलाकी द्योतक समझी जाती है। (ध /२/प्र /१३)

कोश—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम गव्यूति —दे० गणित/I/१।

कोशल—दे० कोसल।

कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

कोष्ठा—ष. खं./१३/५.५/४०/२४३ धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा ।४०। =धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम है ।४०। और भी —दे० ऋद्धि/२।

कोसल—१. भरत क्षेत्रस्थ मध्य आर्य खण्डका एक देश अपरनाम कौशल व कोशल्य। दे० मनुष्य/४। २ उत्तरकोसल और दक्षिण-कोसलके भेदसे इसके दो भाग थे। अयोध्या, शरावती (श्रावस्ती) लक्ष्मणपुरी (लखनऊ) आदि इसके प्रसिद्ध नगर है। यहाँ गोमती, तमसा और सरयू नदियाँ बहती हैं। कुशावतीका समीपवर्ती प्रदेश दक्षिणकोसल था। और अयोध्या, लखनऊ आदिके समीपवर्ती प्रदेशका नाम उत्तरकोसल था।

कोत्किल—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

कौत्कुच्य—स सि /७/३२/३६६/१४ तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्म प्रयुक्तं कौत्कुच्यम्।=परिहार और असभ्यवचन इन दोनों के साथ दूसरेके लिए शारीरिक कुचेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है। (रा वा/७/३२/२/५५६)।

कौमार सप्तमी व्रत—व्रत विधान संग्रह/पृ. १२६। भादो सुदी सप्तमीके दिना, खजरी मण्डप पूजे जिना। (नवल साहकृत क्रियाकोष)।

कौरव—पा पु /सर्ग/श्लोक धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि १०० पुत्र कौरव कहलाते थे (८/२१७) भीष्म व द्रोणाचार्यसे शिक्षा प्राप्त कर (८/२०८) राज्य प्राप्त किया। (१०/३४)। अनेको क्रीडाओ-में इनको पाण्डवो द्वारा पराजित होना पडा था (१०/४०)। इससे यह पाण्डवोसे क्रुद्ध हो गये। भरी सभामें एक दिन कहा कि हमें सौको आधा राज्य और इन पाँचको आधा राज्य दिया गया यह हमारे साथ अन्याय हुआ (१२/२५)। एक समय कपटसे लाखका गृह बनाकर दिखावटी प्रेमसे पाण्डवोंको रहनेके लिए प्रदान किया (१२/६०) और अकस्मात मौका देख उसमें आग लगवा दी। (१२/११५)। परन्तु सौभाग्यसे पाण्डव वहाँसे गुप्त रूपमें प्रवासमें रहने लगे (१२/२३५)। और ये भी दिखावटी शोक करके शान्ति पूर्वक रहने लगे (१२/२२६)। द्रौपदीके स्वयवरमें पाण्डवोसे मिलाप होनेपर (१५/१४३) आधा राज्य बाँटकर रहने लगे (१६/२) दुर्योधनने ईर्ष्यापूर्वक (१६/१४) युधिष्ठिरको जुएमें हराकर १२ वर्षका देश निकाला दिया (१६/१०५)। सहायवनमें पाण्डवोंके आनेपर अर्जुनके शिष्योने दुर्योधनको बाँध लिया (१७/१०२-) परन्तु अर्जुनने दयासे उसे छोड दिया (१७/१४०)। इससे दुर्योधनका क्रोध अधिक प्रज्वलित हुआ। तब आधे राज्यके लालचसे कनकध्वज नामक व्यक्तिने दुर्योधनकी आज्ञासे पाण्डवोको मारनेकी प्रतिज्ञा की, परन्तु एक देवने उसका प्रयत्न निष्फल कर दिया (१७/१४५-)। तत्पश्चात् विराट् नगरमें इन्होने गोकुल लूटा उसमें भी पाण्डवो द्वारा हराये गये (१९/१५२)। इस प्रकार अनेको बार पाण्डवों द्वारा इनको अपमानित होना पडा। अन्तमे कृष्ण व जरासन्धके युद्धमें सब पाण्डवोंके द्वारा मारे गये (२०/२६६)।

कौशल्य—दे० कोसल।

कौशांबी—वर्तमान देश प्रयागके उत्तर भागकी राजधानी। वर्तमान नाम कोसम है। (म पु /प्र ४९ पं पन्नालाल)।

कौशिक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

कौशिकी—पूर्व आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

कौस्तुभ—लवण समुद्रमें स्थित पर्वत—दे० लोक/७।

कौस्तुभाभास—लवण समुद्रमें स्थित पर्वत—दे० लोक/७।

क्रतु—म. पु /६७/१९३ यागो यज्ञ क्रतु पूजा सपर्येज्याध्वरो मख। मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधे ।१९३। =याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, और मह ये सब पूजाविधिके पर्याय वाचक शब्द है ।१९३।

क्रम—वस्तुमें दो प्रकारके धर्म हैं क्रमवर्ती व अक्रमवर्ती। आगे-पीछे होनेके कारण पर्याय क्रमवर्ती धर्म है और युगपत पाये जानेके कारण गुण अक्रमवर्ती या सहवर्ती धर्म है। क्रमवर्तीको ऊर्ध्व प्रचय और अक्रमवर्तीको तिर्यक् प्रचय भी कहते है।

१. क्रम सामान्यका लक्षण

रा वा./६/१३/१/५२३/२६ कालभेदेन वृत्ति क्रम। =काल भेदसे वृत्ति होना क्रम कहलाता है।

स्या म /५/३३/१६ क्रमो हि पौर्वापर्यम्। =पूर्वक्रम और अपरक्रम।

स. भ त /३३/१ यदा तावदस्तित्वादिधर्माणा कालादिभिर्भेदविवक्षा, तदास्त्यादिरूपैकशब्दस्य नास्तित्वाद्यनेकधर्मबोधने शक्त्यभावा-त्क्रम। =जब अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्मोकी देश काल आदिके भेदसे कथनकी इच्छा है तब अस्तित्व आदि रूप एक ही शब्दकी नास्तित्व आदि रूप अनेक धर्मोंके बोधन करनेमें शक्ति न होनेसे नित्य पूर्वापर भाव वा अनुक्रमसे जो निरूपण है, उसको क्रम कहते है।

प ध /पू /१६७ अस्त्यत्र य. प्रसिद्ध क्रम इति धातुश्च पाद-विक्षेपे। क्रमति क्रम इति रूपस्तस्य स्वार्थानतिक्रमादेप। =यहाँ पर पैरोसे गमन करने रूप अर्थमें प्रसिद्ध जो क्रम यह एक धातु है उस धातुका ही पादविक्षेप रूप अपने अर्थको उल्लघन करनेसे "जो क्रमण करे सो क्रम" यह रूप सिद्ध होता है।

२. क्रमके भेदोंका निर्देश

स म /५/३३/२० देशक्रम कालक्रमश्चाभिधीयते न चैकान्तविनाशिनि सास्ति। =सर्वथा अनित्य पदार्थमे देशक्रम और कालक्रम नहीं हो सक्ता।

प ध./पू /१७४ विष्कम्भ क्रम इति वा क्रम प्रवाहस्य कारण तस्य। =प्रतिसमय होनेवाले द्रव्यके उस उत्पाद व्ययरूप प्रवाहक्रममें जो कारण स्वकालरूप अशकल्पना है अथवा जो विष्कम्भरूप क्रम है। ।१७४।

रा. वा./१/८/२/४१ क्रिया च परिस्पन्दात्मिका जीवपुद्गलेषु अस्ति न इतरेषु ।=परिस्पन्दात्मक क्रिया जीव और पुद्गलमें ही होती है अन्य द्रव्योंमें नहीं ।

स. सा /आ०/परि० न.४० कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः । =कारकके अनुसार होनेरूप भावमयी चालीसवी क्रियाशक्ति है ।

नोट—क्रियाशक्तिके लिए और भी दे० क्रिया/२/१ ।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१ गमनरूप क्रिया विषय विस्तार—दे० गति ।
२. क्रिया व पर्यायमें अन्तर—दे० पर्याय/२ ।
३. षट् द्रव्योंमें क्रियावान् अक्रियावान् विभाग—दे० द्रव्य/३ ।
४. ज्ञाननय व क्रियानयका समन्वय—दे० चेतना/३/८ ।
५. ज्ञप्ति व करोति क्रिया सम्बन्धी विषय विस्तार—दे० चेतना/३।
६ शुद्ध जीववत् शुद्ध परमाणु निष्क्रिय नहीं—दे० परमाणु/२ ।

३. श्रावकको क्रियाओंका निर्देश

१. श्रावककी २५ क्रियाओंका नाम निर्देश

दे० अगला शीर्षक पच्चीस क्रियाओंको कहते है—१ सम्यक्त्व क्रिया, २ मिथ्यात्व क्रिया, ३ प्रयोगक्रिया, ४ समादानक्रिया, ५ ईर्यापथक्रिया; ६ प्रादोषिकीक्रिया, ७ कायिकीक्रिया, ८ अधिकारिणिकी क्रिया, ९ पारितापिकीक्रिया, १० प्राणातिपातिकी क्रिया, ११ दर्शनक्रिया, १२ स्पर्शनक्रिया; १३ प्रात्ययकीक्रिया; १४ समन्तानुपातक्रिया; १५ अनाभोगक्रिया. १६ स्वहस्तक्रिया, १७ निसर्ग क्रिया; १८ विदारणक्रिया, १९ आज्ञाव्यापादिकीक्रिया, २० अनाकाक्षक्रिया, २१ प्रारम्भक्रिया, २२ परिग्रहिकीक्रिया, २३ माया क्रिया, २४ मिथ्यादर्शनक्रिया, २५ अप्रत्याख्यानक्रिया, (रा वा / ६/५/७-११/५०९-५१०) ।

२. श्रावककी २५ क्रियाओंके लक्षण

स सि /६/५/३२१-३२३/११ पञ्चविंशति क्रिया उच्यन्ते-चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनीक्रिया सम्यक्त्वक्रिया । अन्यदेवतास्तवनादिरूपामिथ्यात्वहेतुकी प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया। गमनागमनादिप्रवर्तनं कायादिभिः प्रयोगक्रिया [वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गोपष्टम्भादात्मनः कायवाङ्मनोयोगनिर्वृत्तिसमर्थपुद्गलग्रहणं वा (रा वा /६/५) संयतस्य सत अविरति प्रत्याभिमुख्यं समादानक्रिया । ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया । ता एता पञ्चक्रिया । क्रोधावेशात्प्रादोषिकीक्रिया। प्रदुष्टस्य सतोऽभ्युद्यम कायिकीक्रिया। हिंसोपकरणादानादाधिकरणिकीक्रिया। दु खोत्पत्तितन्त्रत्वात्पारितापिकीक्रिया । आयुरिन्द्रियबलोच्छ्वासनि श्वासप्राणाना वियोगकरणात्प्राणातिपातिकी क्रिया । ता एता पञ्चक्रिया । रागार्द्रीकृतत्वात्प्रमादिनोरमणीयरूपालोकनाभिप्रायो दर्शनक्रिया। प्रमादवशात्स्पृष्टव्यसन चेतनानुबन्ध स्पर्शनक्रिया । अपूर्वाधिकरणोत्पादनात्प्रात्ययिकी क्रिया। स्त्रीपुरुषपशुसम्पातिदेशेऽन्तर्मलोत्सर्गकरण समन्तानुपातक्रिया । अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एताः पञ्चक्रियाः। या परेण निर्वर्त्या क्रिया स्वयं करोति ना स्वहस्तक्रिया। पापादानादिप्रवृत्ति विशेषाभ्यनुज्ञान निसर्गक्रिया। पराचरितसावद्यादिप्रकाशनं विदारणक्रिया। यथोक्तामाज्ञावश्यकादिषु चारित्रमोहोदयात्कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथा प्ररूपणादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया। शाठ्यालस्याभ्या प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया। ता एता पञ्च क्रिया । छेदनभेदनविशसनादि क्रियापरत्वमन्येन वारम्भे क्रियमाणे प्रहर्ष प्रारम्भक्रिया। परिग्रहाविनाशार्था पारिग्राहिकी क्रिया। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनमायाक्रिया। अन्य मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशसादिभिर्दृढयति यथा साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया । ता एताः पञ्चक्रिया । समुदिताः पञ्चविंशतिक्रियाः ।=चैत्य, गुरु और शास्त्रकी पूजा आदि रूप सम्यक्त्वको बढानेवाली सम्यक्त्वक्रिया है। मिथ्यात्वके उदयसे जो अन्य देवताके स्तवन आदि रूप क्रिया होती है वह मिथ्यात्वक्रिया है। शरीर आदि द्वारा गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति प्रयोग क्रिया है। [अथवा वीर्यान्तराय ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर अगोपाग नामकर्मके उदयसे काय, वचन और मनोयोगकी रचनामें समर्थ पुद्गलोंका ग्रहण करना प्रयोगक्रिया है। (रा वा /६/५/७/ ५०९/१८)] संयतका अविरतिके सन्मुख होना समादान क्रिया है। ईर्यापथकी कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं।

क्रोधके आवेशसे प्रादोषिकी क्रिया होती है। दुष्टभाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकीक्रिया है। हिंसाके साधनोंको ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। जो दुःखकी उत्पत्तिका कारण है वह पारितापिकी क्रिया है। आयु, इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास रूप प्राणोका वियोग करनेवाली प्राणातिपातिकी क्रिया है। ये पाँच क्रिया है। रागवश प्रमादीका रमणीय रूपके देखनेका अभिप्राय दर्शनक्रिया है। प्रमादवश स्पर्श करने लायक सचेतन पदार्थका अनुबन्ध स्पर्शन क्रिया है। नये अधिकरणोंको उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है। स्त्री, पुरुष और पशुओके जाने, आने, उठने और बैठनेके स्थानमें भीतरी मलका त्याग करना समन्तानुपात क्रिया है। प्रमार्जन और अवलोकन नहीं की गयी भूमिपर शरीर आदिका रखना अनाभोगक्रिया है। ये पाँच क्रिया है। जो क्रिया दूसरो द्वारा करनेकी हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्त क्रिया है। पापादान आदिरूप प्रवृत्ति विशेषके लिए सम्मति देना निसर्ग क्रिया है। दूसरेने जो सावद्यकार्य किया हो उसे प्रकाशित करना विदारणक्रिया है। चारित्रमोहनीयके उदयसे आवश्यक आदिके विषयमें शास्त्रोक्त आज्ञाको न पाल सकनेके कारण अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है। धूर्तता और आलस्यके कारण शास्त्रमें उपदेशी गयी विधि करनेका अनादर अनाकाक्षक्रिया है। ये पाँच क्रिया हैं। छेदना-भेदना और रचना आदि क्रियाओंमें स्वयं तत्पर रहना और दूसरेके करनेपर हर्षित होना प्रारम्भक्रिया है। परिग्रहका नाश न हो इसलिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकीक्रिया है। ज्ञान, दर्शन आदिके विषयमें छल करना मायाक्रिया है। मिथ्यादर्शनके साधनोसे युक्त पुरुषको प्रशंसा आदिके द्वारा दृढ करना कि 'तू ठीक करता है' मिथ्यादर्शनक्रिया है। सयमका घात करनेवाले कर्मके उदयसे त्यागरूप परिणामोका न होना अप्रत्याख्यानक्रिया है। ये पाँच क्रिया है। ये सब मिलकर पच्चीस क्रियाएँ होती है। (रा वा /६/५/७/१६) ।

३ श्रावककी अन्य क्रियाओंका लक्षण

स सि /७/२६/३६६/९ अन्येनानुक्तमननुष्ठितं यत्किंचित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्त लेखन कूटलेखक्रिया ।=दूसरेने तो कुछ कहा और न कुछ किया तो भी अन्य किसीकी प्रेरणासे उसने ऐसा कहा है और ऐसा किया है इस प्रकार छलसे लिखना कूट लेखक्रिया है।

नि सा /ता वृ /१५२ निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रिया कुर्वन्नास्ते । =महामुमुक्षु निश्चयप्रतिक्रमणादि सत्क्रियाको करता हुआ स्थित है। (नि सा /ता वृ /१५५) ।

यो सा अ /८/२० आराधनाय लोकाना मलिनेनान्तरात्मना । क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता ।२०।=अन्तरात्माके मलिन होनेसे

मूर्ख लोग जो लोकके रंजायमान करनेके लिए क्रिया करते है उसे बाल अथवा लोक पक्तिक्रिया कहते है।

४. २५ क्रियाओं, कषाय व अव्रतरूप आस्रवोंमें अन्तर

रा. वा /६/५/१५/५१०/३२ कार्यकारणक्रियाकलापविशेषज्ञापनार्थं वा ।५। निमित्तनैमित्तिकविशेषज्ञापनार्थं तर्हि पृथगिन्द्रियादिग्रहण क्रियते, सत्यम्, स्पृशत्यादय क्रुध्यादय' हिनस्त्यादयश्च क्रिया आस्रव' इमा' पुनस्तत्प्रभवा' पञ्चविंशतिक्रिया' सत्स्वेतेषु त्रिषु प्राच्येषु परिणामेषु भवन्ति यथा मूर्च्छा कारण परिग्रहं कार्यं तस्मिन्सति पारिग्राहिकी-क्रिया न्यासरक्षणाविनाशसस्कारादिलक्षणा। =निमित्त नैमित्तिक भाव ज्ञापन करनेके लिए इन्द्रिय आदिका पृथक् ग्रहण क्रिया है। छूना आदि और हिंसा करना आदि क्रियाएँ आस्रव है। ये पच्चीस क्रियाएँ इन्हींसे उत्पन्न होती है। इनमें तीन परिणमन होते है। जैसे—मूर्च्छा-ममत्व परिणाम कारण है, परिग्रह कार्य है। इनके होने पर पारिग्राहिकी क्रिया होती है जो कि परिग्रहके सरक्षण अविनाश और सस्कारादि रूप है इत्यादि··।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. श्रावककी ५३ क्रियाएँ—दे० श्रावक/५।

२ साधुकी १० या १३ क्रियाएँ—दे० साधु /२।

३ धार्मिक क्रियाएँ – दे० धर्म/५।

क्रिया ऋद्धि—क्रिया ऋद्धिके चारण व आकाशगामित्व आदि बहुत-बहुत है—दे० ऋद्धि/४।

क्रियाकलाप—१. दे० कृतिकर्म। २. अमरकोषपर प. आशाधरजी (ई. ११७३-१२४३) कृत टीका है।

क्रियाकलाप ग्रन्थ—साधुओंके नित्य व नैमित्तिक प्रतिक्रमणादि क्रियाकर्म सम्बन्धी विषयोका प्रतिपादक एक सग्रह ग्रन्थ है। यह प. पन्नालालजी सोनीने किया है। इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायका सग्रह तो पण्डितजी का अपना किया हुआ है और शेष सग्रह काफी प्राचीन है। सम्भवत इसके सग्रहकर्ता प. प्रभाचन्द है (ई श १४-१७)। उनके अनुसार इस ग्रन्थमें संगृहीत सर्वत्र प्राकृत भक्ति पाठ तो आ० कुन्दकुन्दके है और सस्कृत भक्ति पाठ आ० पूज्यपादके है। शेष भक्तिमें भा वि. १४ वी शताब्दीके पूर्व कभी लिखी गयी है। (स सि /प्र. ८८/पं. फूलचन्द्र)।

क्रियाकांड—दे० कृतिकर्म।

क्रियाकोश—प दौलतराम (ई १७३८) द्वारा रचित भाषा छन्द-बद्ध ग्रन्थ है। जिसमें श्रावकोंकी भोजन बनाना आदि सम्बन्धी नित्य क्रियाओके करनेका विवेक पूर्ण विधि-विधान किया गया है।

क्रिया नय—दे० नय/I/५।

क्रिया मंत्र—दे० मत्र/१/६,७।

क्रियावाद—**१. क्रियावादका मिथ्या रूप**

रा. वा /भूमिका/६/१/२२ अपर आहु —क्रियात एव मोक्ष इति नित्य-कर्महेतुक निर्वाणमिति वचनात्। =कोई क्रियासे ही मोक्ष मानते है। क्रियावादियोका कथन है कि नित्य कर्म करनेसे ही निर्वाणको प्राप्त होता है।

भा.पा /टी /१३५/२८३/१५ अशीत्यग्र शत क्रियावादिना श्राद्धादिक्रिया-मन्यमानाना ब्राह्मणाना भवति। =क्रियावादियोके १८० भेद है। वे श्राद्ध आदि क्रियाओको माननेवाले ब्राह्मणोके होते है।

ज्ञा /४/२५ केचिच्च कीर्त्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम्। वादिना खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ।२४। =और कई वादियोने अन्य समस्त वादियोंके अन्य नयपक्षोका निराकरण करके केवल दर्शन (श्रद्धा) से ही मुक्ति होनी कही है।

गो क./भाषा/८७८/१०६४/११ क्रियावादीनि वस्तु कू अस्तिरूप ही मानकरि क्रियाका स्थापन करें है। तहाँ आपतैं कहिये अपने स्वरूप चतुष्टयकी अस्ति मानै है, अर परतै कहिए परचतुष्टयतै भी अस्तिरूप मानै है।

भा पा /भाषा/१३७ प जयचन्द—केई तो गमन करना, बैठना, खड़ा रहना, खाना, पीना सोवना, उपजना, विनसना, देखना, जानना, करना, भोगना, भूलना, याद करना, प्रीति करना, हर्ष करना, विषाद करना, द्वेष करना, जीवना, मरना इत्यादि क्रिया है तिनिकू जीवा-दिक पदार्थनिकै देखि कोई कैसी क्रियाका पक्ष किया है, कोई कैसी क्रियाका पक्ष किया है। ऐसे परस्पर क्रियावाद करि भेद भये है तिनिकै सक्षेप करि एक सौ अस्सी भेद निरूपण किये है, विस्तार किये बहुत होय है।

★ **क्रियावादका सम्यक् रूप**—दे० चारित्र/६।

२. क्रियावादियोंके १८० भेद

रा वा /१/२०/१२/७४/३ कौत्कल-काणेविद्धि-कौशिक-हरिस्मश्रु-माछपि-करोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादीना क्रियावाददृष्टीनामशीतिशतम्। =कौत्कल, काणेविद्धि, कौशिक, हरिस्मश्रु, माछपिक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि क्रियावादियोके १८० भेद है। (रा वा /८/१/६/५६२/२), (ध. १/४,१,४५/२०३/२), (गो जी /जी प्र/३६०/७७०/११)

ह पु /१०/४९-५१ नियतिश्च स्वभावश्च कालो दैवं च पौरुषम्। पदार्था नव जीवाद्या स्वपरौ नित्यतापरौ ।४९। पञ्चभिर्नियतिपृष्टैश्चतुर्भि स्वपरादिभि। एकैकस्यात्र जीवादेर्योगेऽशीत्युत्तर शतम् ।५०। निय-त्यास्ति स्वतो जीव परतो नित्यतोऽन्यत। स्वभावात्कालतो दैवात पौरुषाच्च तथेतरे ॥ =(अस्ति) (स्वत, परत, नित्य, अनित्य)। (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष), (काल, ईश्वर, आत्म, नियति, स्वभाव), इनमें पदनिके बदलनेतैं अक्ष सचार करि १×४×९×५ के परस्पर गुणनरूप १८० क्रियावादिनि-के भग है। (गो क /मू /८७७)।

क्रियाविशाल—द्रव्य श्रुतज्ञानका २२वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/३।

क्रिस्ती संवत्—दे० इतिहास/२।

क्रीड़ापर्वत—तुलसी स्याम नामक पर्वतको लोग श्रीकृष्णका क्रीडा पर्वत कहते है। इसपर रूठी रुक्मिणीकी मूर्ति बनी हुई है। (नेमि-चरित प्रस्तावना—प्रेमीजी)।

क्रीत—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२। २. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

क्रोध—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२। २ वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

क्रोध—**१. क्रोधका लक्षण**

रा वा /८/९/५/५७४/२८ स्वपरोपघातनिरनुग्रहाहितक्रौर्यपरिणामोऽमर्ष' क्रोध। स च चतु प्रकार -पर्वत-पृथ्वी-वालुका-उदकराजितुल्य। =अपने और परके उपघात या अनुपकार आदि करनेके क्रूर परिणाम क्रोध है। वह पर्वतरेखा, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा और जलरेखाके समान चार प्रकारका है।

ध ६/१,९,१,२३/४१/४ क्रोधो रोष सरम्भ इत्यनर्थान्तरम्। =क्रोध, रोष और संरम्भ इनके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है। (ध १/१,१, १११/३४९/६)

ध १२/४,२,८,८/२८३/६ हृदयदाहाङ्गकम्पाक्षिरागेन्द्रियापाटवादिनिमित्त-जीवपरिणाम क्रोध'। =हृदयदाह, अगकम्प, नेत्ररक्तता और

इन्द्रियोकी अपटुता आदिके निमित्तभूत जीवके परिणामको क्रोध कहा जाता है।

स. सा /ता. वृ /११६/२७४/१२ शान्तात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एष अक्षमारूपो भाव क्रोध'। =शान्तात्मासे पृथग्भूत यह जो क्षमा रहित भाव है वह क्रोध है।

द्र स /टी /३०/८८/७ अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्मस्वरूपक्षोभकारका' बहिर्विषये तु परेषां संबन्धित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपा' क्रोध । =अन्तरंगमें परम-उपशम-मूर्ति केवलज्ञानादि अनन्त, गुणस्वभाव परमात्मरूपमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले तथा बाह्य विषयमे अन्य पदार्थोंके सम्बन्धसे क्रूरता आवेश रूप क्रोध ।

*** क्रोध सम्बन्धी विषय**—दे० कषाय।

*** जीवको क्रोधी कहनेकी विवक्षा**—दे० जीव/३।

क्रौंच—यह एक राजा थे। जिन्होने स्वामी कार्तिकेयपर उपसर्ग किया था। **समय**—अनुमानत वि० श० १ के लगभग, ई० श० १ का पूर्व भाग। (का आ /प्र ६६ P. N. up.)

क्लेश—स सि /७/११/३४६/१० असद्वेद्योदयापादितक्लेशा क्लिश्यमाना'। =असातावेदनीयके उदयसे जो दु खी है वे क्लिश्यमान कहलाते है।

रा वा /७/११/७/५३८/२७ असद्वेद्योदयापादितशारीरमानसदु खसन्तापात क्लिश्यन्त इति क्लिश्यमाना.। =आसातावेदनीय कर्मके उदयसे जो शरीर और मानस, दु.खसे संतापित है वे क्लिश्यमान कहलाते है।

क्वाथतोय—भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

क्षणलव प्रतिबुद्धता—दे० प्रतिबुद्धता।

क्षणिकउपादान कारण—दे० उपादान।

क्षत्रवती—भरतक्षेत्र पूर्व आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

क्षत्रिय—म पु /१६/२८४, २४३ क्षत्रिया शस्त्रजीवितम् ।१८४। स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्र क्षत्रियानसृजद् विभुः। क्षतात्त्राणे नियुक्ता हि क्षत्रिया' शस्त्रपाणय'।२४३। =उस समय जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय हुए।१८४। उस समय भगवान्ने अपनी दोनों भुजाओमें शस्त्र धारण कर क्षत्रियोंकी सृष्टि की थी, अर्थात उन्हे शस्त्र विद्याका उपदेश दिया था, सो ठीक ही है जा हाथोमे हथियार लेकर सबल शत्रुओके प्रहारसे निर्बलोकी रक्षा करते हैं वे ही क्षत्रिय कहलाते है।२४३। (म पु /१६/१८३), (म.पु /३८/४६)

क्षत्रिय—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् तृतीय ११ अग व चौदह पूर्वधारी हुए है। अपरनाम कृतिकार्य था। **समय**—वी० नि० १६१-२०८, ई० पू० ३३६-३१९ (दे० इतिहास/४/१)

क्षपक—१ क्षपकका लक्षण

स सि /६/४५/४५६/४ स एव पुनश्चारित्रमोहक्षपणं प्रत्यभिमुख परिणामविशुद्ध्या वर्द्धमान' क्षपकव्यपदेशमनुभव । =पुन वह ही (उपशामक ही) चारित्रमोहकी क्षपणाके लिए सन्मुख होता हुआ तथा परिणामोकी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर क्षपक सज्ञाको अनुभव करता है।

ध. १/१,१,२७/२२४/८ तत्थ जे कम्म-क्खवणम्हि वावादा ते जीवा खवगा उच्चंति। =जो जीव कर्म-क्षपणमें व्यापार करते है उन्हे क्षपक कहते है।

क पा /१/१,१८/§३१५/३४७/६ खवयसेढिचढमाणेण मोहणीयस्स अतरकरणे कदे 'खवेंतओ' त्ति भण्णदि। =क्षपक श्रेणीपर चढनेवाला जीव चारित्रमोहनीयका अन्तरकरण कर लेनेपर क्षपक कहा जाता है।

२. क्षपकके भेद

ध. ७/२,१,१/५/८ जे खवगा ते दुविहा— अपुव्वकरणखवगा अणियट्टिकरणखवगा चेदि। =जो क्षपक है वे दो प्रकारके है—अपूर्वकरण-क्षपक और अनिवृत्तिकरण क्षपक।

क्षपकश्रेणी—दे० श्रेणी/२।

क्षपण—दर्शनमोह व चारित्रमोह क्षपणा विधान। दे० क्षय/२,३।

क्षपणसार—आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (ई० श० ११ पूर्वार्ध) द्वारा रचित मोहनीयकर्मके क्षपण विषयक ६५३ गाथा प्रमाण प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसके आधारपर माधव चन्द्रविद्यदेवने एक स्वतन्त्र क्षपणसार नामका ग्रन्थ संस्कृत गद्यमें लिखा था। इसकी एक टीका पं० टोडरमलजी (ई० १७३६) कृत उपलब्ध है।

क्षपित कर्मांशिक - १. लक्षण

कर्मप्रकृति/९४-१००/पृ ६४ पल्लासंखियभागेण कम्मट्ठिइमच्छिओ णिगोएसु। सुहमेस (सु.) भवियजोग जहण्णयं कट्टु निग्गम्म ।९४। जोगेसु (सु.) संखवारे सम्मत्त लभिय देसवीरियं च। अट्टुक्खुत्तो विरई संजोयणहा य तइवारे ।९५।

पडमवसमित्तु माह लहु खवेंतो भवे खवियकम्मो ।९६। हस्सगुणसंकमद्धाए पूरगित्वा समीससम्मत्त। चिरसंमत्ता मिच्छत्तंगयस्सुव्वलणथोगो सि ।१००। =जो जीव पल्यके असख्यातवें भागसे हीन सत्तरकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कालतक सूक्ष्म निगोद पर्यायमें रहा और भव्य जीवके योग्य जघन्य प्रदेश कर्मसचयपूर्वक सूक्ष्म निगोदसे निकलकर बादर पृथिवी हुआ और अन्तर्मुहूर्त कालमें निकलकर तथा सात माहमे ही गर्भसे उत्पन्न होकर पूर्वकोटि आयुवाले मनुष्योमें उत्पन्न और विरतियोग्य त्रसोमे हुआ तथा आठ वर्षमें संयमको प्राप्त करके संयमसहित ही मनुष्यायु पूर्णकर पुन. देव, बादर, पृथिवी कायिक व मनुष्योमें अनेक बार उत्पन्न होता हुआ पल्योपमके असख्यातवें भाग प्रमाण असख्यात बार सम्यक्त्व, उससे स्वल्पकालिक देशविरति, आठ बार विरतिको प्राप्त कर व आठ ही बार अनतानुबन्धीका विसयोजन व चार बार मोहनीयका उपशम कर शीघ्र ही कर्मोका क्षय करता है, वह उत्कृष्ट क्षपित कर्मांशिक होता है। (ध. ६/१,९-८/१२/२५७ की टिप्पणीमे उद्धृत)

२. गुणित कर्मांशिकका लक्षण

कर्मप्रकृति/गा. ७४-८२/पृ. १८७-१८६ जो बायरतसकालेणूणं कम्मट्ठिइं तु पुढवीए। बायरा(रि) पज्जत्तापज्जत्तगदीहेयरद्धासु ।७४। जोगकसाउक्कोसो बहुसो निच्चमवि आउबंध च। जोगजहण्णेणुवरिल्लठिइणिसेगं बहुं किच्चा ।७५। बायरतसेसु तक्कालमेव मते य सत्तमरिवईए सव्वलहुं पज्जत्तो जोगकसायाहिओ बहुसो ।७६। जोगजवमज्झुवरि मुहुत्तमच्छित्तु जोवियवसाणे। तिचरिमदुचरिमसमए पुरित्तु कसायउक्कस्स ।७७। जोगुक्कोस चरिम-दुचरिमे समए य चरिमसमयम्मि। सपुण्णगुणियकम्मो पगय तेणेह सामित्ते ।७८। संछोभणाए दोण्ह मोहाणं वेयगस्स खणसेसे। उप्पाइय सम्मत्तं मिच्छत्तगए तमतमाए ।८२। =जो जीव अनेक भवोंमे उत्तरोत्तर गुणितक्रमसे कर्म प्रदेशोका बन्ध करता रहा है उसे गुणितकर्मांशिक कहते है। जो जीव उत्कृष्ट योगो सहित बादर पृथिवीकायिक एकेन्द्रिय पर्याप्त व अपर्याप्त भवोंसे लेकर पूर्वकोटिपृथक्त्वसे अधिक दो हजार सागरोपम प्रमाण बादर त्रसकायमे परिभ्रमण करके जितने बार सातवी पृथिवीमें जाने योग्य होता है उतनी बार जाकर पश्चात सप्तम पृथिवीमें नारक पर्यायको धारण कर शीघ्रातिशीघ्र पर्याप्त होकर उत्कृष्ट योगस्थानो व उत्कृष्ट कषायों सहित होता हुआ उत्कृष्ट कर्मप्रदेशोका संचय करता है और अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुके शेष रहनेपर त्रिचरम और द्विचरम समयमें वर्तमान रहकर उत्कृष्ट सक्लेशस्थानको तथा चरम और द्विचरम

समयमें उत्कृष्ट योगस्थानको भी पूर्ण करता है, वह जीव उसो नारक पर्यायके अन्तिम समयमें सम्पूर्ण गुणितकर्मांशिक होता है। (ध ६/१,६,८,१२/२५७ को टिप्पणी व विशेषार्थ से उद्धृत)

गो.जी./मू /२५१ आवासया हु भव अद्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य । ओकट्टुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मंसे ।२५१। =गुणित कर्मांशिक कहिए उत्कृष्ट (कर्म प्रदेश) संचय जाकै होइ ऐसा कोई जीव तीहिं विषै उत्कृष्ट संचयको कारण ये छह आवश्यक होइ ।

३. गुणित क्षपित घोलमानका लक्षण

ध ६/१,६,८,१२/२५८/११ विशेषार्थ—जो जीव उपर्युक्त प्रकारसे न गुणित कर्मांशिक है और न क्षपित कर्मांशिक है, किन्तु अनवस्थितरूपसे कर्मसंचय करता है वह गुणित क्षपित घोलमान है।

४. क्षपित कर्मांशिक क्षायिक श्रेणी ही मांडता है

पं सं /प्रा /५/४८८ टीका —क्षपित कर्मांशो जीव' उपरि नियमेन क्षपकश्रेणिमेवारोहति । =क्षपित कर्मांशिक जीव नियमसे क्षपक श्रेणी ही मांडता है।

५. गुणित कर्मांशिकके छह आवश्यक

गो जी./मू /२५१ आवासया हु भवअद्धाउस्संजोगसंकिलेसो य । ओकट्टुक्कट्टणया छच्चेदे गुणिदकम्मंसे । =गुणित कर्मांशिक कहिए उत्कृष्ट संचय जाकै होय ऐसा जो जीव तीहि विषै उत्कृष्ट संचय कौ कारण ये छह आवश्यक होइ, तातै उत्कृष्ट संचय करनेवाले जीवके ये छह आवश्यक कहिये—भवाद्धा, आयुर्बल, योग, संक्लेश, अपकर्षण, उत्कर्षण ।

६. गुणित कर्मांशिक जीवोंमें उत्कृष्ट प्रदेशघात एक समय प्रबद्ध ही होता है इससे कम नहीं

ध १२/४,२,१३,२२२/४४६/१४ गुणिदकम्मं सियम्मि उक्कस्सेण जदि खओ होदि तो एगसमयपबद्धो चेव झिज्जदि त्ति गुरूवदेसादो । =गुणित कर्मांशिक जीवमें उत्कृष्ट रूपसे यदि क्षय होता है तो समय प्रबद्धका ही क्षय होता है। ऐसा गुरुका उपदेश है।

क्षमा—१. उत्तम क्षमाका व्यवहार लक्षण

बा अनु /७१ कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं । ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ।७१। =क्रोधके उत्पन्न होनेके साक्षात् बाहिरी कारण मिलनेपर भी जो थोडा भी क्रोध नही करता है, उसके (व्यवहार) उत्तम क्षमा धर्म होता है। (भा पा /मू /१०७) (का आ /मू /३६४); (चा.सा./५६/२)

नि सा /ता. वृ /११५ अकारणादप्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते, अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा। अकारणेन सन्त्रासकरस्य ताडनवधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा । =बिना कारण अप्रिय बोलनेवाले मिथ्यादृष्टिको बिना कारण मुझे त्रास देनेका उद्योग वर्तता है, वह मेरे पुण्यसे दूर हुआ—ऐसा विचारकर क्षमा करना वह प्रथम क्षमा है। मुझे बिना कारण त्रास देनेवालेको ताडन और वधका परिणाम वर्तता है, वह मेरे सुकृतसे दूर हुआ, ऐसा विचारकर क्षमा करना वह द्वितीय क्षमा है।

२. उत्तम क्षमाका निश्चय लक्षण

स. सि /९/६/४१२/४ शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशप्रहसनावज्ञाताडनशरीरव्यापादनादीना सनिधाने कालुष्यानुत्पत्ति' क्षमा। =शरीरकी स्थितिके कारणकी खोज करनेके लिए परकुलोमें जाते हुए भिक्षुको दुष्टजन गाली-गलौज करते है, उपहास करते है, तिरस्कार करते है, मारते-पीटते है और शरीरको तोडते-मरोडते है तो भी उनके कलुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है। (रा.वा /९/६/२/५९५/२१), (भ.आ /वि /४६/१५४/१२), (चा.सा./५९/१), (पं वि./१/८२)

नि मा./ता वृ /११५ वधे सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापकारहानिरिति परमसमरसी भावस्थितिरुत्तमा क्षमा। =(मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा बिना कारण मेरा) बध होनेसे अमूर्त परमब्रह्मरूप ऐसे मुझे हानि नही होती—ऐसा समझकर परमसमरसी भावमें स्थित रहना वह उत्तम क्षमा है।

३. उत्तम क्षमाकी महिमा

कुरल का./१६/२,१० तस्मै देहि क्षमादान यस्ते कार्यविघातक'। विस्मृति' कार्यहानीनां यद्यहो स्यात् तदुत्तमा ।२। महान्त' सन्ति सर्वेऽपि क्षीणकायास्तपस्विन' । क्षमावन्तमनुख्याता, किन्तु विश्वे हि तापसा ।१०। =दूसरे लोग तुम्हे हानि पहुचायें उसके लिए तुम उन्हे क्षमा कर दो, और यदि तुम उसे भुला सको तो यह और भी अच्छा है।२। उपवास करके तपश्चर्या करने वाले निस्सन्देह महान् है, पर उनका स्थान उन लोगोके पश्चात् ही है जो अपनी निन्दा करने वालोको क्षमा कर देते है।

भा पा /मू /१०८ पावं खवइ असेसं खमायपडिमंडिओ य मुणिपवरो। खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ।१०८। =जो मुनिप्रवर क्रोधके अभावरूप क्षमा करि मंडित है सो मुनि समस्त पापकूं क्षय करै है, बहुरि विद्याधर देव मनुष्यकरि प्रशसा करने योग्य निश्चयकरि होय है।

अन ध /६/५ य क्षाम्यति क्षमोऽप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागस' । कृतागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुष' ।५। =अपना अपराध करनेवालोंका शीघ्र ही प्रतिकार करनेमें समर्थ रहते हुए भी जो पुरुष अपने उन अपराधियोके प्रति उत्तम क्षमा धारण करता है उसको क्षमारूपी अमृतका समीचीनतया सेवन करनेवाले साधुजन पापोको नष्ट कर देनेवाला समझते है।

४ उत्तम क्षमाके पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ आ /मू /१४२०—१४२६ जदिदा सवति असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति खमिदव्व । अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ।१। =सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो ति य खमेज्ज। मारिज्जतो विसहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ।१४२२। पुव्वं सयभुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं । को धारणीओ धणियस्स दितओ दुक्खिओ होज्ज ।१४२५। =मैने इसका अपराध किया नही तो भी यह पुरुष मेरे पर क्रोध कर रहा है, गाली दे रहा है, मै तो निरपराधी हूँ ऐसा विचार कर उसके ऊपर क्षमा करनी चाहिए। इसने मेरे असद्दोषका कथन किया तो मेरी इसमें कुछ भी हानि नही है, अथवा क्रोध करनेपर दया करनी चाहिए, क्योकि यह दीन पुरुष असत्य दोषोंका कथन करके व्यर्थ ही पापका अर्जन कर रहा है। यह पाप उसको अनेक दु खोको देनेवाला होगा ।१४२०। इसने मेरेको गाली ही दी है, इसने मेरेको पीटा तो नहीं है, अर्थात् न मारना यह इसमें महान् गुण है। इसने गाली दी है परन्तु गाली देनेसे मेरा तो कुछ भी नुकसान नही हुआ अत. इसके ऊपर क्षमा करना ही मेरे लिए उचित है ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए। इसने मेरेको केवल ताडन ही किया है, मेरा वध तो नही किया है। वध करनेपर इसने मेरा धर्म तो नष्ट नहीं किया है, यह इसने मेरा उपकार किया ऐसा मानकर क्षमा ही करना योग्य है ।१४२२। ऋण चुकानेके समय जिस प्रकार अवश्य साहूकारका धन वापस देना चाहिए उसी प्रकार मैने पूर्व जन्ममें पापोपार्जन किया था अब यह मेरेको दुःख दे रहा है यह योग्य ही है। यदि मै इसे शान्त भावसे सहन करूँगा तो पाप

ऋणसे रहित होकर सुखी होऊँगा। ऐसा विचार कर रोष नहीं करना चाहिए। (रा.वा./६/६/२७/५६६/१); (चा.सा./६१/३); (पं.वि./१/८४); (ज्ञा./१६/१६); (अन.ध./६/७-८); (रा.वा.हिं./६/६/६६५-६६६)

* दश धर्मोंकी विशेषताएँ—(दे० धर्म/८)

क्षमावणी व्रत—व्रतविधानस०/पृ. १०८ आसोज कृ. १ को सबसे क्षमा माँगकर कुछ फल बाँटे तथा उपवास रखे।

क्षमाश्रमण—१. श्वेताम्बराचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमणको ही कदाचित् अकेले क्षमाश्रमण नामसे कहा जाता है। —दे० जिनभद्रगणी; २—यद्यपि श्वेताम्बराचार्य देवर्धिकी भी क्षमाश्रमण उपाधि थी, परन्तु अकेले क्षमाश्रमण द्वारा उनका ग्रहण नहीं होता।

क्षय—कर्मोंके अत्यन्त नाशका नाम क्षय है। तपश्चरण व साम्यभावमें निश्चलताके प्रभावसे अनादि कालके बँधे कर्म क्षण भरमें विनष्ट हो जाते हैं, और साधकको मुक्ति हो जाती है। कर्मोंका क्षय हो जानेपर जीवमें जो ज्ञाता द्रष्टा भाव व अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है वह क्षायिक भाव कहलाता है।

१. लक्षण व निर्देश

१. क्षयका लक्षण

स. सि./२/१/१४९/६ क्षय आत्यन्तिकी निवृत्तिः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तरसंक्रान्ते पङ्कस्यात्यन्ताभावः। =जैसे उसी जलको दूसरे साफ बर्तनमें बदल देनेपर कीचडका अत्यन्त अभाव हो जाता है, वैसे ही कर्मोंका आत्मासे सर्वथा दूर हो जाना क्षय है।

ध.१/१,१,२७/२१५/१ अट्ठण्हं कम्माणं मूलुत्तरभेय···पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो त खवणं णाम। =मूलप्रकृति और उत्तर प्रकृतिके भेदसे ··आठ कर्मोंका जीवसे अत्यन्त विनाश हो जाता है उसे क्षपण (क्षय) कहते हैं।

पं.का./त.प्र./५६ कर्मणां फलदानसमर्थत ·· अत्यन्तविश्लेषः क्षयः। =कर्मोंका फलदान समर्थरूपसे · अत्यन्त विश्लेष सो क्षय है।

गो.क./जी. प्र./८/२६/१४ प्रतिपक्षकर्मणां पुनरुत्पत्त्यभावेन नाशः क्षयः। =प्रतिपक्ष कर्मोंका फिर न उपजै ऐसा अभाव सो क्षय है।

२. क्षयदेशका लक्षण

गो.क./जी.प्र./४४५/५९६/४ तत्र क्षयदेशो नाम परमुखोदयेन विनश्यता चरमकाण्डकचरमफालिः, स्वमुखोदयेन विनश्यता च समयाधिकावलिः। =जे, प्रकृति अन्य प्रकृति रूप उदय देह विनसैं हैं ऐसी परमुखोदयी है तिनकैं तो अन्त काण्डककी अन्त फालि क्षयदेश है। बहुरि अपने ही रूप उदय देह विनसै है ऐसी स्वमुखोदयी प्रकृति तिनके एक-एक समय अधिक आवली प्रमाण काल क्षयदेश है।

गो क./भाषा./४४६/५९७/७ जिस स्थानक क्षय भया सो क्षयदेश कहिए है।

३. उदयाभावी क्षयका लक्षण

रा.वा./२/५/३/१०६/३० यदा सर्वघातिस्पर्धकस्योदयो भवति तदेषदप्यात्मगुणस्याभिव्यक्तिर्नास्ति तस्मात्तदुदयस्याभावः क्षय इत्युच्यते। =जब सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय होता है तब तनिक भी आत्माके गुणकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिए उस उदयके अभावको उदयाभावी क्षय कहते हैं।

ध.७/२,१,४९/९२/६ सव्वघादिफद्दयाणि अणंतगुणहीणाणि होदूण देसघादिफद्दयत्तणेण परिणमिय उदयमागच्छंति, तेसिमणंतगुणहीणत्तं खओ णाम। =सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्धकोंमें परिणत होकर उदयमें आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकोंका अनन्तगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है। (ध. ५/१,७,३१/२२०/११)।

* अपक्षयका लक्षण—दे० अपक्षय।

४. अष्टकर्मोंके क्षयका क्रम

त.सू./१०/१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। =मोहका क्षय होनेसे तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मका क्षय होनेसे केवलज्ञान प्रकट होता है।१।

क. पा ३/३,२२/२४३/५ मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्ते खविय पच्छा सम्मत्तं खविज्जदि त्ति कम्माणक्खवणक्कमं। = मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वको क्षय करके अनन्तर सम्यक्त्वका क्षय होता है।

त. सा./६/२१-२२ पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः। संसारबीजं कात्स्न्र्येन मोहनीयं प्रहीयते।२१। ततोऽन्तरायज्ञानघ्नदर्शनघ्नान्यनन्तरम्। प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषत।२२। =पूर्वमें कहे हुए कर्म क्षपणके हेतुओंके द्वारा सबसे प्रथम मोहनीय कर्मका क्षय होता है। मोहनीय कर्म ही सब कर्मोंका और संसारका असली कारण है। मोह क्षय हुआ कि बादमें एक साथ अन्तराय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण ये तीन घाती कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं।

६. मोहनीयकी प्रकृतियोंमें पहले अधिक अप्रशस्त प्रकृतियोंका क्षय होता है

क. पा./३/३,२२/§४२८/२४३/७ मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्तेसु कं पुव्वं खविज्जदि। मिच्छत्त। कुदो, अच्चसुहत्तादो। =प्रश्न—मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वमें पहले किसका क्षय होता है। उत्तर—पहले मिथ्यात्वका क्षय होता है। प्रश्न—पहले मिथ्यात्वका क्षय किस कारणसे होता है? उत्तर—क्योंकि मिथ्यात्व अत्यन्त अशुभ प्रकृति है।

७. अप्रशस्त प्रकृतियोंका क्षय पहले होना कैसे जाना जाता है

क. पा. ३/३,२२/४२८/८ असुहस्स कम्मस्स पुव्वं चेयखवणं होदि त्ति कुदो णव्वदे। सम्मत्तस्स लोहसंजलणस्स य पच्छा खवणण्णहाणुववत्तीदो। =प्रश्न—अशुभ कर्मका पहले ही क्षय होता है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—अन्यथा सम्यक्त्व व लोभ संज्वलनका पश्चात् क्षय बन नहीं सकता है, इस प्रमाणसे जाना जाता है कि अशुभ कर्मका क्षय पहले होता है।

* कर्मोंके क्षयकी ओघआदेशप्ररूपणा—दे० सत्त्व।

* स्थिति व अनुभाग काण्डक घात—दे० अपकर्षण/४।

२. दर्शनमोह क्षपणा विधान

१. छहों कालोंमें दर्शनमोहनी क्षपणा सम्भव है

ध. ६/१,९-८,१२/२४७/२ एदेण वक्खाणाभिप्पाएण दुस्सम-अइदुस्सम-सुसमसुसम-सुसमकालेसुप्पण्णाणं चेव दंसणमोहणीयक्खवणा णत्थि, अवसेसदोसु वि कालेसुप्पण्णाणमत्थि। कुदो। एइंदियादो आगंतूण तदियकालुप्पण्णवड्ढणकुमारादीणं दंसणमोहक्खवणदंसणादो। एदं चेवेत्थ वक्खाणं पधाणं कादव्वं। =दुषमा, अतिदुषमा, सुषमसुषमा और सुषमा कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके ही दर्शनमोहनीयकी क्षपणा नहीं होती है अवशिष्ट दोनों कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शनमोहनीयकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्यायसे आकर (इस अवसर्पिणीके) तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वर्द्धमानकुमार आदिकोंके दर्शनमोहकी क्षपणा देखी जाती है। यहाँपर यह व्याख्यान ही प्रधानतया ग्रहण करना चाहिए।

★ अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना—दे० विसंयोजना।

★ समुद्रोंमें दर्शनमोहक्षपण कैसे सम्भव है—दे० मनुष्य/३।

२. दर्शनमोह क्षपणाका स्वामित्व

४-७ गुणस्थान पर्यन्त कोई भी वेदकसम्यग्दृष्टि जीव, त्रिकरणपूर्वक अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके दर्शनमोहनीयकी क्षपणा प्रारम्भ करता है। (दे० सम्यग्दर्शन/IV/५)

★ त्रिकरण विधान—दे० करण/३।

३. दर्शन मोहकी क्षपणाके लिए पुनः त्रिकरण करता है

गो.क./जी.प्र./५५०/७४४/६ तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तं विश्रम्यानन्तानुबन्धिचतुष्कं विसंयोज्यान्तर्मुहूर्तानन्तरं करणत्रयं कृत्वा। =बहुरि ताके अनन्तरि अन्तर्मुहूर्त विश्राम लेइकरि अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन कीएं पीछै अन्तर्मुहूर्त भया तब बहुरि तीन करण करै। (ल.सा./मू./११३)

४ दर्शनमोहकी प्रकृतियोंका क्षपणाक्रम

गो.क./जी.प्र./५५०/७४४/६ अनिवृत्तिकरणकाले संख्यातबहुभागे गते शेषैकभागे मिथ्यात्वं ततः सम्यग्मिथ्यात्वं ततः सम्यक्त्वप्रकृतिं च क्रमेण क्षपयति, दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भप्रथमसमयस्थापितसम्यक्त्वप्रकृतिप्रथमस्थित्यामान्तर्मुहूर्तावशेषे चरमसमयप्रस्थापकः। अनन्तरसमयादाप्रथमस्थितिचरमनिषेकं निष्ठापकः। =अनिवृत्तिकरण कालका संख्यात भागनिमें एक भाग बिना बहुभाग गये एक भाग अवशेष रहै पहिले मिथ्यात्वको पीछै सम्यग्मिथ्यात्वको पीछै सम्यक्त्व प्रकृतिकों अनुक्रमतैं क्षय करै है। तहाँ दर्शन मोहकी क्षपणाका प्रारम्भका प्रथम समयविषैं स्थापी जो सम्यक्त्व मोहनीकी प्रथम स्थिति ताका काल विषैं अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहैं तहाँका अन्तसमय पर्यन्त तौ प्रस्थापक कहिए। बहुरि तिसके अनंतरि समयतैं प्रथम स्थितिका अन्तनिषेकपर्यन्त निष्ठापक कहिए। (गो.जी./जी.प्र./३३५-३३६/४८६); (ल.सा./जी.प्र./१२२-१३०)

५. कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि होनेका क्रम

ल.सा./जी.प्र./१३१/१७२/३ यस्मिन् समये सम्यक्त्वप्रकृतेरष्टवर्षमात्रस्थितिमवशेषयन् चरमकाण्डकचरमफालिद्रव्यं पातयति तस्मिन्नेव समये सम्यक्त्वप्रकृत्यनुभागसत्त्वमतीतानन्तरसमयनिषेकानुभागसत्त्वादनन्तगुणहीनमवशिष्यते।

ल.सा./जी.प्र./१४५/२००/१० प्रागुक्तविधानेन अनिवृत्तिकरणचरमसमये सम्यक्त्वप्रकृतिचरमकाण्डकचरमफालिद्रव्ये अधोनिक्षिप्ते सति तदनन्तरोपरितनसमयात् कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टिरिति जीव सञ्ज्ञायते। =१ जिस समय विषैं सम्यक्त्वमोहनीकी अष्टवर्ष स्थिति शेष राखी अर मिश्रमोहनी सम्यक्त्वमोहनीका अन्तकाण्डककी दीर्घ फालिका पतन भया तिसही समयविषैं सम्यक्त्व मोहनीका अनुभाग पूर्वसमयके अनुभागतैं अनन्तगुणा घटता अनुभाग अवशेष रहै है। २ अनिवृत्तिकरणके अन्त समयविषैं सम्यक्त्वमोहनीका अन्तकाण्डककी अन्तफालीका द्रव्यको नीचले निषेकनिविषैं निक्षेपण किये पीछैं अनन्तर समयतैं लगाय कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी हो है।

६ तत्पश्चात् स्थितिके निषेकोंका क्षयक्रम

ल.सा./जी.प्र./१५०/२०५/२० एवमनुभागस्यानुसमयमनन्तगुणितापवर्तनेन कर्मप्रदेशाना प्रतिसमयमसंख्यातगुणितोदीरणया च कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वप्रकृतिस्थितिमन्तर्मुहूर्तायामुच्छिष्टावलिं मुक्त्वा सर्वां प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविनाशपूर्वकं उदयमुखेन गालयित्वा। तदनन्तरसमये उदीरणारहित केवलमनुभागसमयापवर्तनेनैव प्रतिसमयमनन्तगुणितक्रमेण प्रवर्तमानेन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशविनाशपूर्वक प्रतिसमयमेकैकनिषेकं गालयित्वा तदनन्तरसमये क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्जायते जीव। =अनुभाग तौ अनुसमय अपवर्तनकरि अर कर्म परमाणूनिकी उदीरणा करि यहु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी रही थी जो सम्यक्त्व मोहनीकी अन्तमुहूर्त स्थिति तामैं उच्छिष्टावली बिना सर्व स्थिति है सो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशनिका सर्वथा नाश लीएं जो एक-एक निषेकका एक-एक समयविषैं उदय रूप होइ निर्जरना ताकरि नष्ट हो है, बहुरि ताका अनन्तर समयविषैं उच्छिष्टावली मात्र स्थिति अवशेष रहैं उदीरणाका भी अभाव भया, केवल अनुभागका अपवर्तन है·· उदय रूप प्रथम समयतैं लगाय समय-समय अनन्तगुणा क्रमकरि वर्तै है ताकरि प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशनिका सर्वथा नाश पूर्वक समय-समय प्रति उच्छिष्टावलीके एक-एक निषेको गालि निजरा रूप करि ताका अनन्तर समय विषैं जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो है। (अधिक विस्तारसे ध. ६/१,९-८,१२/२४८-२६६)

७. दर्शनमोहकी क्षपणामें दो मत

ध. ६/१,९-८,१२/२५८/३ ताधे सम्मत्तम्हि अट्ठवस्साणि मोत्तूण सव्वमागाइदं। संखेज्जाणि वाससहस्साणि मोत्तूण आगाइदमिदि भणंता वि अत्थि। =(अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना तथा दर्शन मोहके स्थिति काण्डक घातके पश्चात् अनिवृत्तिकरणमें उस जीवने) सम्यक्त्वके स्थिति सत्त्वमें आठ वर्षोंको छोडकर शेष सर्व स्थिति सत्त्वको (घातार्थ) किया। सम्यक्त्वके स्थिति सत्त्वमें संख्यात हजार वर्षोंको छोडकर शेष समस्त स्थिति सत्त्वको ग्रहण किया इस प्रकारसे कहनेवाले भी कितने ही आचार्य हैं।

★ तीसरे व चौथे कालमें ही दर्शनमोहकी क्षपणा संभव है—दे० मोक्ष/४/३।

★ दर्शनमोह क्षपणामें मृत्यु सम्बन्धी दो मत—दे० मरण/३।

★ नवक समय प्रबद्धका एक आवली पर्यन्त क्षपण संभव नहीं—दे० उपशम/४/३।

३. चारित्रमोह क्षपणा विधान

१. क्षपणाका स्वामित्व

क्ष.सा./भापा./३९२/४८०/१३ तीन करण विधान तैं क्षायिक सम्यग्दृष्टि होइ·· चारित्रमोहकी क्षपणाको योग्य जे विशुद्ध परिणाम तिनि करि सहित होइ तै प्रमत्ततैं अप्रमत्त विषैं, अप्रमत्ततैं प्रमत्तविषैं हजारोंवार गमनागमनकरि· क्षपकश्रेणीको सन्मुख· सातिशय प्रमत्तगुणस्थान विषैं अधःकरण रूप प्रस्थान करै है।

२. क्षपणा विधिके १३ अधिकार

क्ष.सा./मू./३९२ तिकरणमुभयो सरणं कमकरणं खणदेसमतरय। संकम अपुव्वफड्ढयाकिट्टीकरणाणुभवणखमणाये। =अध करण; अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, बधापसरण, सत्त्वापसरण, क्रमकरण अष्ट कषाय सोलह प्रकृतिनिकी क्षपणा, देशघातिकरणं, अतरकरण, सक्रमण, अपूर्व स्पर्धककरण, कृष्टिकरण, कृति अनुभवन, ऐसे ये चारित्र मोहकी क्षपणाविषै अधिकार जानने।

३. क्षपणा विधि

क्ष.सा./भापा/१/३९२-६००—१. यहाँ प्रथम ही अधःप्रवृत्तिकरण रूप परिणामोको करता हुआ सातिशय अप्रमत्त सञ्ज्ञाको प्राप्त होता है। इस

७वें गुणस्थानके कालमें चार आवश्यक है—१ प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि; २ प्रशस्त प्रकृतियोका अनन्तगुण क्रमसे चतुस्थानीय अनुभाग बन्ध, ३ अप्रशस्त प्रकृतियोका अनन्तवें भागहीन क्रमसे केवल द्विस्थानीय अनुभाग बन्ध, और ४ पल्य/असं हीन क्रमसे संख्यात सहस्र बन्धापसरण।३९२-३९६। तिस गुणस्थानके अन्तमें स्थिति बन्ध व सत्त्व दोनो ही घटकर केवल अन्त कोटाकोटी सागर प्रमाण रहती है।४६४। २. तदनन्तर अपूर्वकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके तहाँके योग्य चार आवश्यक करता है—१. असख्यात गुणक्रमसे गुण श्रेणी निर्जरा; २. असंख्यात गुणा क्रमसे ही गुण संक्रमण; ३. सर्व ही प्रकृतियोका स्थितिकाण्डक घात और, ४. केवल अप्रशस्त प्रकृतियोंका घात। यहाँ स्थिति काण्डकायाम पल्य/सं मात्र है, और अनुभाग काण्डक घातमे केवल अनन्त बहुभाग क्रम रहता है। इसके अतिरिक्त पल्य/सं हीनक्रमसे सख्यात सहस्र स्थिति बन्धापसरण करता है।३९७-४१०। इस गुणस्थानके अन्तमें स्थितिबन्ध तो घटकर पृथक्त्व सहस्र सागर प्रमाण और स्थिति सत्त्व घटकर पृथक्त्व लक्ष सागर प्रमाण रहते है।४१४। ३. तदनन्तर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके तहाँके योग्य चार आवश्यक करता है—१. असख्यात गुणसे गुणश्रेणी निर्जरा, २. असंख्यात गुणाक्रमसे ही गुण सक्रमण; ३. पल्य/अस. आयामवाला स्थिति काण्डक घात, ४. अनन्त बहुभाग क्रमसे अप्रशस्त प्रकृतियोका अनुभाग काण्डकघात। यह पल्य/असं. व अनन्त बहुभाग अपूर्वकरण वालोंकी अपेक्षा अधिक है।४११। इसके प्रथम समयमें नाना जोवोके स्थिति खण्ड असमान होते है परन्तु द्वितीयादि समयोमें सर्वके स्थिति सत्त्व व स्थिति खण्ड समान होते है।४१२-४१३। यहाँ स्थिति बन्धापसरणमें पहले पल्य/स हीनक्रम होता है, तत्पश्चात् पल्य/स. बहुभाग हीनक्रम और तत्पश्चात पल्य/असं. बहुभाग हीनक्रम तक हो जाता है। इस प्रकार विशेष हीनक्रमसे घटते-घटते इस गुणस्थानके अन्तमें स्थितिबन्ध केवल पल्य/असं. वर्ष मात्र रह जाता है।४१४-४२१। स्थिति सत्त्व भी उपरोक्त क्रमसे ही परन्तु स्थिति काण्डक घात द्वारा घटता घटता उतना ही रह जाता है।४१६-४२१। तीन करणोमें हो नहीं बल्कि आगे भी स्थिति-४-५. बन्ध व सत्त्वका अपसरण बराबर हुआ ही करै है। ३९५-४१८।

६. अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें ही क्रमकरण द्वारा मोहनीय, तीसिय, बीसिय, वेदनीय, नाम व गोत्र, इन सभी प्रकृतियोके स्थितिबन्ध व स्थितिसत्त्वके परस्थानीय अल्प-बहुत्वमें विशेष क्रमसे परिवर्तन होता है, अन्तमें नाम व गोत्रकी अपेक्षा वेदनीयका स्थितिबन्ध व सत्त्व डयोढा रह जाता है।४२२-४२७। ७. क्षपणा अधिकारमें मध्य आठ कषायो (प्रत्य, अप्रत्या.) की स्थितिका सज्वलन चतुष्ककी स्थिति—ये सक्रमण करनेका विधान है। यही उन आठोका परमुखरूपेण नष्ट करता है।४२६। तत्पश्चात् ३ निद्रा और १३ नामकर्मकी, इस प्रकार १६ प्रकृतियोको स्वजाति अन्य प्रकृतियोमें सक्रमण करके नष्ट करता है।४३०। ८. तदनन्तर मति आदि चार ज्ञानावरण, चक्षु आदि तीन दर्शनावरण और ५ अन्तराय इन १२ प्रकृतियोको सर्वघातीकी बजाय देशघाती अनुभाग युक्त बन्ध व उदय होने योग्य है।४३१-४३२।९। अनिवृत्तिकरणका संख्यात भाग शेष रहनेपर।४८४। चार सज्वलन और नव नोकषाय इन १३ प्रकृतियोका अन्तरकरण करता है।४३३-४३५। १०. सक्रमण अधिकारमें प्रथम ही सप्रकरण करता है। अर्थात्—'१-२. मोहनीयके अनुभाग बन्ध व उदय दोनोको दारुसे लता स्थानीय करता है। ३. मोहनीयके स्थिति बन्धको पल्य/अस. से घटाकर केवल सख्यात वर्ष मात्र करता है, ४. मोहनीयके पूर्ववर्तीय यथा तथा सक्रमणको छोडकर केवल आनुपूर्वीय रूप करता है, ५. लोभका जो अन्य प्रकृतियोमें संक्रमण होता था वह अब नही होता, ६. नपुसक वेदका अध प्रवृत्ति सक्रमण द्वारा नाश करता है, ७ सक्रमणसे पहले—आवलीमात्र आबाधा व्यतीत भये उदीरणा होती थी वह अब छह आवली व्यतीत होनेपर होती है।४३६-४३७। सप्रकरणके साथ ही सज्वलन क्रोध, मान, माया व नव नोकषायों, इन १२ प्रकृतियोका आनुपूर्वी क्रमसे गुण संक्रमण व सर्व सक्रमण द्वारा एक लोभमें परिणमाकर नाश करता है। उसका क्रम आगे कृष्टिकरण अधिकारके अनुसार जानना।४३८-४४०। यहाँ स्थिति-बन्धापसरणका प्रमाण नवीनस्थिति बन्धसे संख्यातगुणा घाट होता है।४४१-४६१। ११. अनिवृत्तिकरणके इस कालमें संज्वलन चतुष्कका अनुभाग प्रथम काण्डकका घात भये पीछे क्रोधसे लगाय लोभ पर्यन्त अनन्त गुणा घटता और लोभसे लगाय क्रोध पर्यन्त अनन्त-गुणा बधता हो है। इसे ही अश्वकर्ण करण कहते हैं। तहाँमें आगे अब उन चारोंमें अपूर्व स्पर्धकोंकी रचना करता है जिससे उनका अनुभाग अनन्त गुणा क्षीण हो जाता है। विशेष—दे० स्पर्धक व अश्वकर्ण।४६५-४६६। १२. तदनन्तर उसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके कालमें रहता हुआ इन अपूर्व स्पर्धकोका संग्रहकृष्टि व अन्तरकृष्टि करण द्वारा कृष्टियोमें विभाग करता है। साथ ही स्थिति व अनुभागका बराबर काण्डक घात द्वारा क्षीण करता है। अश्वकर्ण कालमें सज्वलन चतुष्ककी स्थिति आठ वर्ष प्रमाण थी, वह अब अन्तर्मूहूर्त अधिक चार वर्ष प्रमाण रह गयी। अवशेष कर्मोंकी स्थिति संख्यात सहस्रवर्ष प्रमाण है। संज्वलनका स्थितिसत्त्व पहले संख्यात सहस्रवर्ष था, वह अब घटकर अन्तर्मूहूर्त अधिक आठ वर्ष मात्र रहा और अघातियाका संख्यात सहस्रवर्ष मात्र रहा। कृष्टि-करणमें ही सर्व संज्वलन चतुष्कके सर्व निषेक कृष्टिरूप परिणामे।४९०-५१४। विशेष—दे० कृष्टि। १३. कृष्टिकरण पूर्ण कर चुकनेपर वहाँ अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके चरम भागमें रहता हुआ इन बादर कृष्टियोंको क्रोध, मान; माया व लोभके क्रमसे वेदना करता है। तिस कालमें अपूर्वकृष्टि आदि उत्पन्न करता है। क्रोधादि कृष्टियोंके द्रव्यको लोभकीकृष्टि रूप परिणमाता है। फिर लोभकी संग्रहकृष्टिके द्रव्यको भी सूक्ष्म कृष्टि रूप करता है। यहाँ केवल संज्वलन लोभका ही अन्तर्मुहूर्त मात्र स्थितिबन्ध शेष रह जाता है। अन्तमें लोभका स्थिति सत्त्व भी अन्तर्मुहूर्त मात्र रह जाता है, और उसके बन्धकी व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष घातियाका स्थितिबन्ध एक दिनसे कुछ कम और स्थिति सत्त्व संख्यात सहस्र वर्ष प्रमाण रहा।५१४-५७१। विशेष—दे० कृष्टि। १४. अब सूक्ष्म कृष्टिको वेदता हुआ सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानमें प्रवेश करता है। यहाँ सर्व ही कर्मोंका जघन्य स्थिति बन्ध होता है। तीन घातियाका स्थिति सत्त्व अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। लोभका स्थिति सत्त्व क्षयके सम्मुख है। अघातियाका स्थिति सत्त्व असंख्यात वर्ष मात्र है। याके अनन्तर लोभका भी क्षय करके क्षीणकषाय गुणस्थानमें प्रवेश करै है।५८२-६००। विशेष—दे० कृष्टि।

४. चारित्रमोह क्षपणा विधानमें प्रकृतियोंके क्षय सम्बन्धी दो मत

ध/१/१,१,२७/२१७/३ अपुव्वकरण-विहाणेण गमिय अणियट्टिअद्धाए सखेज्जदि-भागे सेसे·· सोलस पयडीओ खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गतूण पच्चक्खाणापच्चक्खाणावरणकोध-माण-माया-लोभे अक्कमेण खवेदि। एसो संतकम्म-पाहुड-उवएसो। कसाय-पाहुड-उवएसो। पुण अट्ठ कसाएसु खीणेसु पच्छा अंतोमुहुत्तं गतूण सोलस कम्माणि खविज्जंति त्ति। एदे दो वि उवएसा सच्चमिदि केवि भणंति, तण्ण घडदे, विरुद्धात्तादो सुत्तादो। दो वि पमाणाइं ति वयणमवि ण घडदे पमाणेण पमाणाविरोहिणा होदव्व' इदि णायादो। =अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यात भाग शेष रहनेपर·· सोलह प्रकृतियोका क्षय करता है। फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीत कर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी क्रोध,

मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोका एक साथ क्षय करता है यह सत्कर्म प्राभृतका उपदेश है। किन्तु कषाय प्राभृतका उपदेश तो इस प्रकार है कि पहले आठ कषायोके क्षय हो जानेपर पीछेसे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्म प्रकृतियाँ क्षयको प्राप्त होती है। ये दोनो ही उपदेश सत्य है, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना है। किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता, क्योकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पडता है। तथा दोनों कथन प्रमाण है, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योकि 'एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नही होना चाहिए' ऐसा न्याय है। (गो. क /मू./३८६, ३९१)

* **चारित्रमोह क्षपणामें मृत्युकी संभावना**—दे० मरण/३।

४. क्षायिक भाव निर्देश

१. क्षायिक भावका लक्षण

स सि /२/१/१४९/६ एवं क्षायिक।=जिस भावका प्रयोजन अर्थात् कारण क्षय है वह क्षायिक भाव है।

ध /१/१,१,८/१६१/१ कर्मणाम् "क्षयात्क्षायिक गुणसहचरितत्वादात्मापि गुणसंज्ञा प्रतिलभते।=जो कर्मोके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते है।...गुणके साहचर्यसे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है। (ध ५/१,७,१/१८५/१); (गो. क./मू./८१४)।

ध. ५/१,७,१०/२०६/२ कम्माणं खए जादो खइओ, खयट्ठ जाओ वा खइओ भावो इदि दुविहा सद्दउप्पत्ती घेत्तव्वा।=कर्मोके क्षय होनेपर उत्पन्न होनेवाला भाव क्षायिक है, तथा कर्मोके क्षयके लिए उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक है, ऐसी दो प्रकारकी शब्द व्युत्पत्ति ग्रहण करना चाहिए।

पं का./त.प्र./५६ क्षयेण युक्तः क्षायिकः।=क्षयसे युक्त वह क्षायिक है।

गो. जी./जी.प्र./८/२९/१४ तस्मिन् (क्षये) भव क्षायिक।=ताकौ (क्षय) होतै जो होइ सो क्षायिक भाव है।

पं.ध./उ./९६८ यथास्व प्रत्यनीकाना कर्मणा सर्वतः क्षयात्। जातो य क्षायिको भाव शुद्ध स्वाभाविकोऽस्य सः।९६८।=प्रतिपक्षी कर्मोके यथा-योग्य सर्वथा क्षयके होनेसे आत्मामें जो भाव उत्पन्न होता है वह शुद्ध स्वाभाविक क्षायिक भाव कहलाता है।९६८।

स. सा./ता. वृ./३२०/४०८/२१ आगमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रय भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसज्ञां लभते।=आगममें औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक तीन भाव कहे जाते है। और अध्यात्म भाषामे शुद्धआत्माके अभिमुख जो परिणाम है, उसको शुद्धोपयोग आदि नामोसे कहा जाता है।

२. क्षायिक भावके भेद

त. सू./२/३-४ सम्यक्त्वचारित्रे।३। ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च।४।=क्षायिक भावके नौ भेद है—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र। (ध. ५/१,७,१/१९०/११), (न. च./३७२), (त. सा./२/६), (नि. सा./ता.वृ./४१), (गो.जी./मू.३००) (गो. क./मू./८१६)।

ष. ख/१४/५,६/१८/१५ जो सो खइओ अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—से खीणकोहे खीणमाणे खीणमाये खीणलोहे खीणरागे खीणदोसे, खीणमोहे खीणकसायवीयरायछदुमत्थे खइयसम्मत्त खाइय चारित्तं खइया दाणलद्धी खइया लाहलद्धी खइया भोगलद्धी खइया परिभोगलद्धी खइया वीरियलद्धी केवलणाण केवलदसण सिद्धे बुद्धे परिणिव्वुदे सव्वदुक्खाणमंतयडेत्ति जे चामण्णे एवमादिया खइया भावा सो सव्वो खइयो अविवागपच्चइयो जीवभावबधो णाम।१८। =जो क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है—क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणदोष, क्षीणमोह, क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दानलब्धि, क्षायिक लाभलब्धि, क्षायिक भोगलब्धि, क्षायिक परिभोगलब्धि, क्षायिक वीर्य लब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध-बुद्ध, परिनिर्वृत्त, सर्वदु ख अन्तकृत्, इसी प्रकार और भी जो दूसरे क्षायिक भाव होते है वह सब क्षायिक अविपाक-प्रत्ययिक जीवभावबन्ध है।१८।

३. नीच गतियों आदिमें क्षायिक भावका अभाव है

ध.५/१,७,२८/२१५/१ भवणवासिय-वाणवेंतर-जोदिसिय-विदियादिछपुढविणेरइय-सव्वविगलिंदिय-लद्धिअपज्जत्तित्थीवेदेसु सम्मादिट्ठीण-मुववादाभावा, मणुसगइवदिरित्तण्णगईसु दंसणमोहणीयस्स खवणाभावा च।=भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क देव, द्वितीयादि छह पृथिवियोंके नारकी, सर्व विकलेन्द्रिय, सर्व लब्ध्यपर्याप्तक, और स्त्रीवेदियोमें सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, तथा मनुष्यगतिके अतिरिक्त अन्य गतियोंमें दर्शन मोहनीय कर्मकी क्षपणाका अभाव है।

४. क्षायिक भावमें भी कथंचित् कर्म जनितत्व

पं का /मू./५८ कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसम वा। खइयं खओवसमियं तम्हा भाव तु कम्मकद।

प. का /ता वृ /५६/१०६/१० क्षायिकभावस्तु केवलज्ञानादिरूपो यद्यपि वस्तुवृत्त्या शुद्धबुद्धैकजीवस्वभाव. तथापि कर्मक्षयेणोत्पन्नत्वादुपचारेण कर्मजनित एव।=१. कर्म बिना जीवको उदय, उपशम, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव नहीं होता, इसलिए भाव (चतुर्विध जीवभाव) कर्मकृत् है।५८। (पं का./त प्र /५८) २ क्षायिकभाव तो केवलज्ञानादिरूप है। यद्यपि वस्तु वृत्तिसे शुद्ध-बुद्ध एक जीवका स्वभाव है, तथापि कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण उपचारसे कर्मजनित कहा जाता है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अनिवृत्तिकरण आदि गुणस्थानों व संयम मार्गणामें क्षायिक भाव सम्बन्धी शका समाधान। —दे० वह वह नाम
२. क्षायिकभावमें आगम व अध्यात्मपद्धतिका प्रयोग —दे० पद्धति
३ क्षायिक भाव जीवका निज तत्त्व है —दे० भाव/२
४. अन्तराय कर्मके क्षयसे उत्पन्न भावों सम्बन्धी शंका-समाधान —दे० वह वह नाम
५ मोहोदयके अभावमें भगवान्की औदयिकी क्रियाएँ भी क्षायिकी हैं —दे० उदय/६
६ क्षायिक सम्यग्दर्शन —दे० सम्यग्दर्शन/IV/५

क्षयोपशम—कर्मोके एकदेश क्षय तथा एकदेश उपशम होनेको क्षयोपशम कहते है। यद्यपि यहाँ कुछ कर्मोका उदय भी विद्यमान रहता है परन्तु उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जानेके कारण व जीवके गुणको घातनेमें समर्थ नहीं होता। पूर्ण शक्तिके साथ उदयमें न आकर, शक्ति क्षीण होकर उदयमें आना ही यहाँ क्षय या उदयाभावी क्षय कहलाता है, और सत्तावाले सर्वघाती कर्मोका अकस्मात् उदयमें न आना ही उनका सदवस्थारूप उपशम है। यद्यपि क्षीण शक्ति या देश-

घाती कर्मोंका उदय प्राप्त होनेकी अपेक्षा यहाँ औदयिक भाव भी कहा जा सकता है, परन्तु गुणके प्रगट होनेवाले अंशकी अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव ही कहते हैं, औदयिक नहीं, क्योंकि कर्मोंका उदय गुणका घातक है साधक नहीं।

१. भेद व लक्षण निर्देश

१. क्षयोपशमका लक्षण

१. उदयाभाव क्षय आदि

स.सि /२/५/१५७/३ सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्द्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावो भवति। =वर्तमान कालमें सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय होनेसे और आगामी कालकी अपेक्षा उन्हींका सदवस्थारूप उपशम होनेसे देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय रहते हुए क्षायोपशमिक भाव होता है। (स सि /१/२२/१२७/१), (रा वा /१/२२/१/८१), (रा वा /२/५/३/१०७/१), (द्र.सं./टी /३०/६६/२)।

पं.का /त प्र./५६ कर्मणा फलदानसमर्थतयो' उद्‌भूत्यनुद्‌भूती क्षयोपशम। =फलदानसमर्थ रूपसे कर्मोंका... उद्‌भव तथा अनुद्‌भव सो क्षयोपशम है।

२ क्षय उपशम आदि

रा वा /२/१/३/१००/१६ यथा प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाक्षीणमदशक्तिकस्य कोद्रवस्य द्विधा वृत्ति, तथा यथोक्तक्षयहेतुसंनिधाने सति कर्मण एकदेशस्य क्षयादेकदेशस्य च वीर्योपशमादात्मनो भाव उभयात्मको मिश्र इति व्यपदिश्यते। =जैसे कोदोको धोनेसे कुछ कोदोकी मदशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछकी अक्षीण, उसी तरह परिणामोंकी निर्मलतासे कर्मोंके एकदेशका क्षय और एकदेशका उपशम होना मिश्रभाव है। इस क्षयोपशमके लिए जो भाव होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक कहते हैं। (स सि./२/१/१४६/७)।

ध १/१,१,८/१६१/२ तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुण' क्षायोपशमिक'। =कर्मोंके क्षय और उपशमसे उत्पन्न हुआ गुण क्षायोपशमिक कहलाता है।

ध ७/२,१,४६/९२/७ सव्वघादिफद्दयाणि अणतगुणहीणाणि होदूण देसघादिफद्दयत्तणेण परिणमिय उदयमागच्छंति, तेसिमणंतगुणहीणत्तं खओ णाम। देसघादिफद्दयसरूवेणवट्ठाणमुवसमो। तेहि खओवसमेहिं सजुत्तोदओ खओवसमो णाम। —सर्वघाति स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होकर और देशघाती स्पर्धकोंमे परिणत होकर उदयमें आते हैं। उन सर्वघाती स्पर्धकोंका अनन्तगुण हीनत्व ही क्षय कहलाता है, और उनका देशघाती स्पर्धकोंके रूपसे अवस्थान होना उपशम है। उन्ही क्षय और उपशमसे संयुक्त उदय क्षयोपशम कहलाता है। (ध. १४/५,६,१५/१०/२)।

३. आवृत भागमें शेष अंश प्रगट

ध. ५/१,७,१/१८५/२ कम्मोदए संते वि ज जीवगुणक्खंडमुवलंभदि सो खओवसमिओ भावो णाम। =कर्मोंके उदय होते हुए भी जो जीवगुणका खंड (अंश) उपलब्ध रहता है वह क्षायोपशम भाव है। (ध. ७/२,१,४५/८७/१), (गो.जी /जी.प्र./८/२६/१४), (द्र.स./टी /३४/९९/९)।

४ देशघातीके उदयसे उपजा परिणाम

ध. ५/१,७,५/२००/३ सम्मत्तस्स देसघादिफद्दयाणमुदएण सह वट्टमाणो सम्मत्तपरिणामो खओवसमिओ। =सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदयके साथ रहनेवाला सम्यक्त्व परिणाम क्षायोपशमिक कहलाता है। (द्र स /टी /३४/९९/९)।

५. गुणका एकदेश क्षय

ध. ७/२,१,४५/८७/३ णाणस्स विणासो खओ णाम, तस्स उवसमो एक्देसक्खओ, तस्स खओवसमसण्णा। =ज्ञानके विनाशका नाम क्षय है, उस क्षयका उपशम (अर्थात् प्रसन्नता) हुआ एकदेशक्षय। इस प्रकार ज्ञानके एकदेशीय क्षयकी क्षयोपशम संज्ञा मानी जा सकती है।

२. पाँचों लक्षणोंके उदाहरण

१. उदयाभावी क्षय आदिकी अपेक्षा

दे० मिश्र/२/६/१ मिथ्यात्वका उदयाभावी क्षय तथा उसीका सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय, इनसे होनेके कारण मिश्र गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. मिश्र/२/६/२ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदयरूप क्षयसे उसीके सदवस्थारूप उपशमसे तथा उसके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण मिश्र गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. संयत/२/३/१ प्रत्याख्यानावरणीयके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे, उसीके सदवस्थारूप उपशमसे और संज्वलनरूप देशघातीके उदयसे होनेके कारण प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. संयतासंयत/७.१ अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरणके उदयाभावी क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय, संज्वलन और नोकषायरूप देशघाती कर्मोंके उदयसे होनेके कारण संयतासंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है। २. अथवा अप्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे तथा उसीके सदवस्थारूप उपशमसे और प्रत्याख्यानावरणरूप देशघाती कर्मके उदयसे होनेके कारण संयतासंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. योग/३/४ वीर्यान्तराय कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे, उसीके सदवस्थारूप उपशमसे तथा उसीके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण योग क्षायोपशमिक है।

२ क—क्षय व उपशम युक्त उदयकी अपेक्षा

दे. संयत/२/३/२ नोकषायके सर्वघाती स्पर्धकोंकी शक्तिका अनन्तगुणा क्षीण हो जाना सो उनका क्षय, उन्हींके देशघाती स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम, इन दोनोंसे युक्त उसीके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे होनेके कारण प्रमत्त व अप्रमत्त संयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. संयत/२/३/३ प्रत्याख्यानावरणकी देशचारित्र विनाशक शक्तिका तथा संज्वलन व नोकषायोंकी सकलचारित्र विनाशक शक्तिका अभाव सो ही उनका क्षय तथा उन्हींके उदयसे उत्पन्न हुआ देश व सकल चारित्र सो ही उनका उपशम (प्रसन्नता)। दोनोंके योगसे होनेके कारण संयतासंयत आदि तीनों गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. क्षयोपशम/२/१ मिथ्यात्वकर्मकी शक्तिका सम्यक्त्वप्रकृतिमें क्षीण हो जाना सो उसका क्षय तथा उसीकी प्रसन्नता अर्थात् उसके उदयसे उत्पन्न हुआ कुछ मलिन सम्यक्त्व, सो ही उसका उपशम। दोनोंके योगसे होनेके कारण वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

२ ख—उदय व उपशमके योगकी अपेक्षा

दे. क्षयोपशम/२/२ सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेसे वेदक सम्यक्त्व औदयिक है और सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभाव होनेसे औपशमिक है। दोनोंके योगसे वह उदयोपशमिक है।

दे मिश्र/२/६/४ सम्यग्मिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंका उदय और उसीके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी उपशम। इन दोनोंके योगसे मिश्रगुणस्थान उदयोपशमिक है।

दे मतिज्ञान/२/४ अपने-अपने कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावीरूप उपशमसे तथा उन्हींके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण मति आदि ज्ञान व चक्षु आदि दर्शन क्षायोपशमिक है।

३ आवृतभावमें गुणांशकी उपलब्धि

दे. मिश्र/२/८ सम्यग्मिथ्यात्व कर्ममें सम्यक्त्वका निरन्वय घात करनेकी शक्ति नहीं है। उसका उदय होनेपर जो शबलित श्रद्धान उत्पन्न होता है, उसमें जितना श्रद्धाका अंश है वह सम्यक्त्वका अवयव है। इसलिए मिश्रगुणस्थान क्षायोपशमिक है।

४. देशघातीके उदय मात्रकी अपेक्षा

दे. क्षयोपशम/२/५ सम्यक् श्रद्धानको घातनेमें असमर्थ सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे होनेके कारण वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

दे. मिश्र/२/६/३ केवल सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे मिश्रगुणस्थान होता है, क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी और सम्यक्त्वप्रकृति, इनमेंसे किसीका भी उदयाभावी क्षय नहीं है।

दे सयतासयत/७ सज्वलन व नोकषायके क्षयोपशम सज्ञावाले देशघाती स्पर्धकोके उदयसे होनेके कारण संयतासंयत गुणस्थान क्षायोपशमिक है।

दे. मतिज्ञान/२/४ मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोके उदयसे तथा अपने-अपने ज्ञानावरणीयके देशघाती स्पर्धकोके उदयसे होनेके कारण मति अज्ञान आदि तीनो अज्ञान क्षायोपशमिक है।

५. गुणके एक देशक्षयकी अपेक्षा

(दे० उपशीर्षक नं० २ क व २ ख)

६. क्षायोपशमिकको औदयिक आदि नहीं कह सकते

दे. क्षयोपशम/२/३ देश सयत आदि तीन गुणस्थानोको उदयोपशमिक कहनेवाला कोई उपदेश प्राप्त नहीं है।

दे. क्षयोपशम/२/४ मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीनोका सदवस्थारूप उपशम रहनेपर भी मिश्र गुणस्थानको औपशमिक नही कह सकते।

दे. मिश्र/२/१० सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे होनेसे मिश्रगुणस्थान औदयिक नही हो जाता।

दे. सयत/२/४ संज्वलनके उदयसे होनेपर भी सयत गुणस्थानको औदयिक नही कह सकते।

३. क्षयोपशमिक भावके भेद

ष. खं /१४/५,६/१६/१८ जो सो तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—खओवसमियं एइंदियलद्धि त्ति वा खओवसमिय बीइंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं तीइंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं चउरिंदियलद्धि त्ति वा खओवसमिय पचिंदियलद्धि त्ति वा खओवसमियं मदिअण्णाणि त्ति वा खओवसमिय सुदअण्णाणि त्ति वा खओवसमियं विहगणाणि त्ति वा खओवसमिय आभिणिबोहियणाणि त्ति वा खओवसमियं सुदणाणि त्ति वा खओवसमियं ओहिणाणि त्ति वा खओवसमिय मणपज्जवणाणि त्ति वा खओवसमियं चक्खुदसणि त्ति वा खओवसमिय अचक्खुदंसणि त्ति वा खओवसमिय ओहिदसणि त्ति वा खओवसमियं सम्मामिच्छत्तलद्धि त्ति वा खओवसमियं सम्मत्तलद्धि त्ति वा खओवसमियं संजमासजमलद्धि त्ति वा खओवसमियं संजमलद्धि त्ति वा खओवसमिय दाणलद्धि त्ति वा खओवसमिय लाहलद्धि त्ति वा खओवसमिय भोगलद्धि त्ति वा खओवसमिय परिभोगलद्धि त्ति वा खओवसमिय वीरियलद्धि त्ति वा खओवसमिय से आयारधरे त्ति वा खओवसमिय सूदयडधरे त्ति वा खओवसमियं ठाणधरेत्ति वा खओवसमिय समवायधरे त्ति वा खओवसमिय वियाहपण्णधरे त्ति वा खओवसमियं णाहधम्मधरे त्ति वा खओवसमियं उवासयज्झेणधरे त्ति वा खओवसमियं अतयडधरे त्ति वा खओवसमिय अणुत्तरोववादियदसधरे त्ति वा खओवसमिय पण्णवागरणधरे त्ति वा खओवसमियं विवागसुत्तधरे त्ति वा खओवसमियं दिट्ठिवादधरे त्ति वा खओवसमियं गणि त्ति वा खओवसमियं वाचगे त्ति वा खओवसमियं दसपुव्वहरे त्ति वा खओवसमिय चोद्दसपुव्वहरे त्ति वा जे चामण्णे एवमादिया खओवसमियभावा सो सव्वो तदुभयपच्चइओ जीवभावबंधो णाम।१६। =जो तदुभय (क्षायोपशमिक) जीवभावबन्ध है उसका निर्देश इस प्रकार है।—एकेन्द्रियलब्धि, द्वीन्द्रिय लब्धि, त्रीन्द्रियलब्धि, पचेन्द्रियलब्धि, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, सम्यग्मिथ्यात्वलब्धि, सम्यक्त्वलब्धि, संयमासंयमलब्धि, संयमलब्धि, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, परिभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, आचारधर, सूत्रकृद्धर, स्थानधर, समवायधर, व्याख्याप्रज्ञप्तिधर, नाथधर्मधर, उपासकाध्ययनधर, अन्तकृद्धर, अनुत्तरौपपादिकदशधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकसूत्रधर, दृष्टिवादधर, गणी, वाचक, दशपूर्वधर तथा क्षायोपशमिक चतुर्दश पूर्वधर; ये तथा इसी प्रकारके और भी दूसरे जो क्षायोपशमिक भाव है वह सब तदुभय प्रत्ययिक जीव भावबन्ध है।

त. सू./२/५ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।५।=क्षायोपशमिक भावके १८ भेद है—चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम। (ध. ५/१,७,१/८/१९१), (ध. ५/१९१/१,७,१/१९१/३); (न च./३७१), (त. सा /२/४-५); (गो. जी /मू./३००); (गो क /मू./८१७)।

४. क्षयोपशम सर्वात्मप्रदेशोंमें होता है

ध. १/१,१,२३/२३३/२ सर्वजीवावयवेषु क्षयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्। =जीवके सम्पूर्ण प्रदेशोमें क्षयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. गुणस्थानों व मार्गणा स्थानोंमें क्षायोपशमिक भावोंका सत्त्व। —दे० भाव/२
२ गुणस्थानों व मार्गणा स्थानोंमें क्षायोपशमिक भावों विषयक शका-समाधान। —दे० वह वह नाम
३. क्षायोपशमिक भावका कथंचित् मूर्तत्व। —दे० मूर्त/२
४. क्षायोपशमिक भावबन्धका कारण नहीं, औदयिक है। —दे० भाव/२
५ क्षायोपशमिक भाव जीवका निज तत्त्व है। —दे० भाव/२
६ मिथ्याज्ञानको क्षायोपशमिक कहने सम्बन्धी। —दे० ज्ञान/III/३/४
७ क्षायोपशमिक भावको मिश्र भाव कहते है। —दे० भाव/२
८. क्षायोपशमिक भावको मिश्र कहने सम्बन्धी शका-समाधान। —दे० मिश्र/२

२. क्षयोपशमके लक्षणो का समन्वय

* वेदक सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन/IV/४।

१. वेदक सम्यग्दर्शनको क्षयोपशम कैसे हो, औदयिक क्यों नहीं

ध. ५/१,७,५/२००/७ कध पुण घडदे। जहट्ठियट्ठसद्दहणघायणसत्ती सम्मत्तफद्दएसु खीणा त्ति तेसिं खइयसण्णा। खयाणमुवसमो पसण्णदा खओवसमो। तत्थुप्पण्णत्तादो खओवसमिय वेदगसम्मत्तमिदि घडदे। =प्रश्न—(क्षयोपशमके प्रथम लक्षणके अनुसार) वेदक सम्य-

त्वमें क्षयोपशम भाव कैसे ? उत्तर—यथास्थित अर्थके श्रद्धानको घात करनेवाली शक्ति जब सम्यक्त्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें क्षीण हो जाती है, तब उनकी क्षायिक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकोंके उपशमको अर्थात् प्रसन्नताको क्षयोपशम कहते है। उसमें उत्पन्न होनेसे वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है।

ध ७/२,१,७३/१०८/७ सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमणंतगुणहाणीए उदयमागदाणमइदहरदेसघादित्तणेण उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि तेण तत्थुप्पणजीवपरिणामो खओवसमलद्धी सण्णिदो। तीए खओवसमलद्धीए वेदगसम्मत्त होदि।=अनन्तगुण हानिके द्वारा उदयमें आये हुए तथा अत्यन्त अल्प देशघातित्वके रूपसे उपशान्त हुए सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतिके देशघातिस्पर्धकोका चूँकि क्षयोपशम नाम दिया गया है, इसलिए उस क्षयोपशमसे उत्पन्न जीव परिणामको क्षयोपशमलब्धि कहते है। उसी क्षयोपशम लब्धिसे वेदक सम्यक्त्व होता है।

२. क्षयोपशम सम्यग्दर्शनको कथंचित् उदयोपशमिक भी कहा जा सकता है

ध./ १४/५,६,१९/२१/११ सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमुदएण सम्मत्तुप्पत्तीदो ओदइयं। ओवसमियं पि तं, सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावादो। = सम्यक्त्वके देशघाति स्पर्धकोके उदयसे सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए तो वह औदयिक है। और वह औपशमिक भी है, क्योंकि वहाँ सर्वघाति स्पर्धकोंका उदय नही पाया जाता। (दे० मिश्र/२/६/४)।

३. क्षायोपशमिक भावको उदयोपशमिकपने सम्बन्धी

ध ५/१,७,७/२०३/६ उदयस्स विज्जमाणस्स खयव्ववएसविरोहादो। तदो एदे तिण्णि भावा उदओवसमियत्तं पत्ता। ण च एवं, एदेसिमुदओवसमियत्तपदुप्पायणसुत्ताभावा ।=प्रश्न—जिस प्रकृतिका उदय विद्यमान है, उसके क्षय संज्ञा होनेका विरोध है। इसलिए ये तीनों ही भाव (देशसयतादि) उदयोपशमिकपनेको प्राप्त होते है। उत्तर—नहीं क्योंकि इन गुणस्थानोको उदयोपशमिकपना प्रतिपादन करनेवाले सूत्रका अभाव है।

* क्षायोपशमिक भावको औदयिक नहीं कह सकते

—दे० मिश्र/२

४. परन्तु सदवस्थारूप उपशमके कारण उसे औपशमिक नहीं कह सकते

ध १/१/१,११/१६६/७ [उपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यग्मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात्।] तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्यौपशमिकत्वप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकस्यार्षस्याभावात्। =[उपशम सम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर उस सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें आये हुए जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्-प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नही पाया जाता है।] प्रश्न—उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभाव रूप उपशम तो पाया जाता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि उस तरह तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानना पडेगा। प्रश्न—तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव भी मान लिया जावे ? उत्तर—नही, क्योंकि तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भावका प्रतिपादन करनेवाला कोइ आर्ष वाक्य नहीं है।

५. फिर वेदक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें क्या अन्तर

ध. १/१,१,११/१७२/६ उप्पज्जइ जदो तदो वेदयसम्मत्तं खओवसमियमिदि केसिंचि आइरियाण वक्खाणं तं किमिदि णेच्छिज्जदि, इदि चेत्तण्ण, पुव्वं उत्तुत्तरादो।

ध. १/१,१,११/१६९/५ वस्तुतस्तु सम्यमिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागम पर्यायविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति=१. प्रश्न—जब क्षयोपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते है। ऐसा कितने ही आचार्योका मत है, उसे यहाँ पर क्यो नहीं स्वीकार किया गया है ? उत्तर—यह कहना ठीक नही है, क्योकि इसका उत्तर पहले दे चुके हैं। २. यथा—वास्तवमें तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वय रूपसे आप्त, आगम और पदार्थ-विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किन्तु उसके उदयसे सत्-समीचीन और असत्-असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करने वाली श्रद्धा उत्पन्न होती है।

ध. १/१,१,१४६/३९८/१ कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते। दर्शनमोहवेदको वेदक , तस्य सम्यग्दर्शन वेदकसम्यग्दर्शनम्। कथं दर्शनमोहोदयवता सम्यग्दर्शनस्य सम्भव इति चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये सत्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशे सत्यविरोधात्। =प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है ? उत्तर—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका वेदन करनेवाले जीवको वेदक कहते है, उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक सम्यग्दर्शन कहते है। प्रश्न—जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है, उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जाता है ? उत्तर—नहीं, क्योकि, दर्शनमोहनीयको देशघाति प्रकृतिके उदय रहनेपर भी जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके एकदेश रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

गो जी./जी प्र /२५/५०/१८ सम्यक्त्वप्रकृत्युदयस्य तत्त्वार्थश्रद्धानस्य मलजननमात्र एव व्यापाराद् तत' कारणात् तस्य देशघातित्वं भवति। एवं सम्यक्त्वप्रकृत्युदयमनुभवतो जीवस्य जायमान तत्त्वार्थश्रद्धान वेदकसम्यक्त्वमित्युच्यते। इदमेव क्षायोपशमिकसम्यक्त्व नाम, दर्शनमोहसर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणक्षये देशघातिस्पर्धकरूपसम्यक्त्वप्रकृत्युदये तस्यैवोपरितनानुदयप्राप्तस्पर्धकाना सदवस्थालक्षणोपशमे च सति समुत्पन्नत्वात्। =सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयका तत्त्वार्थ श्रद्धान कौ मल उपजावने मात्र ही विषैं व्यापार है तीहि कारणतैं तिस सम्यक्त्वप्रकृतिकैं देशघातिपना है ऐसैं सम्यक्त्वप्रकृतिकैं उदयकौ अनुभवता जीवके उत्पन्न भया जो तत्त्वार्थ श्रद्धान सो वेदक सम्यक्त्व है ऐसा कहिए है। यह ही वेदक सम्यक्त्व है सो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ऐसा नाम धारक है जातैं दर्शनमोहके सर्वघाति स्पर्धकनिका उदयका अभावरूप है लक्षण जाका ऐसा क्षय होतैं बहुरि देशघातिस्पर्धकरूप सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होतैं बहुरि तिसहीका वर्तमान समय सम्बन्धीतैं ऊपरिके निषेक उदयकौ न प्राप्त भये तिनिसम्बन्धी स्पर्धकनिका सत्ता अवस्था रूप उपशम होतैं वेदक सम्यक्त्व हो है तातैं याहीका दूसरा नाम क्षायोपशमिक है भिन्न नाहीं है।

* कर्म क्षयोपशम व आत्माभिमुख परिणाममें केवल भाषाका भेद है—दे० पद्धति।

३. क्षयोपशम सम्यक्त्व व संयमादि आरोहण विधि

१. क्षयोपशम सम्यक्त्व आरोहणमें दो करण हो हैं

ल. सा./जो प्र/१७२/२२४/६ कर्मणा क्षयोपशमनविधाने निर्मूलक्षयविधाने चानिवृत्तिकरणपरिणामस्य व्यापारो न क्षयोपशमविधाने इति प्रवचने प्रतिपादितत्वात्। =कर्मोंके उपशम वा क्षय विधान ही विषैं अनिवृत्तिकरण हो है। क्षयोपशम विषैं होता नाहीं। ऐसा प्रवचनमे कहा है।

२. संयमासंयम आरोहणमें कथंचित् ३ व २ करण

ध./६/१,९-८,१४/२७०/१० पढमसम्मत्तं संजमासजमं च अक्कमेण पडिवज्जमाणो वि तिण्णि वि करणाणि कुणदि। • असंजदसम्मादिट्ठी अट्ठावीसमतकम्मियवेदगसम्मत्तपाओग्गमिच्छादिट्ठी वा जदि सजमासजमं पडिवज्जदि तो दो चेव करणाणि, अणियट्टीकरणस्स अभावादो। =प्रथमोपशम सम्यक्त्वको और संयमासयमको एक साथ प्राप्त होने वाला जीव भी तीनो ही करणोको करता है। • असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला वेदकसम्यक्त्व प्राप्त करनेके योग्य मिथ्यादृष्टि जीव यदि संयमासंयमको प्राप्त होता है, तो उसके दो ही करण होते, है क्योंकि उसके अनिवृत्तिकरण नहीं होता है। (ध ६/१,९-८,१४/२६८/९), (ल सा /मू./१७१)।

ध.६/१,९-८,१४/२७३/६ जदि संजमासंजमादो परिणामपच्चएण णिग्गदो संतो पुणरवि अंतोमुहुत्तेण परिणामपच्चएण आणीदो संजमासजम पडिवज्जदि, दोण्हं करणाणमभावादो तत्थ णत्थि ट्ठिदिघादो अणुभागघादो वा। कुदो। पुव्वं दोहि करणेहिघादिदट्ठिदि-अणुभागाण वड्ढीहि विणा संजमासंजमस्स पुणरागत्तादो। =यदि परिणामोके योगसे संयमासंयमसे निकला हुआ, अर्थात् गिरा हुआ, फिर भी अन्तर्मुहूर्तके द्वारा परिणामोके योगसे लाया हुआ सयमासंयमको प्राप्त होता है तो अध करण और अपूर्वकरण, इन दोनों करणोंका अभाव होनेसे वहाँपर स्थितिघात व अनुभाग घात नहीं होता है क्योंकि पहले उक्त दोनो करणोके द्वारा घात किये गये स्थिति और अनुभागोकी वृद्धिके बिना वह संयमासंयमको पुन' प्राप्त हुआ है।

ल. सा /मू./१७०-१७१ मिच्छो देसचरित्तं वेदगसम्मेण गेण्हमाणो हु। दुकरणचरिमे गेण्हादि गुणसेढी णत्थि तक्करणे। सम्मत्तुप्पत्तिं वा थोवबहुत्त च होदि करणाण। ठिदिखंडसहस्सगदे अपुव्वकरणं समप्पदि हु।१७१। =अनादि वा सादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशमसम्यक्त्व सहित देश चारित्रको गृहै है सो दर्शनमोहका उपशम विधान जैसे पूर्वे वर्णन किया तैसे ही विधान करि तीन करणनिकी अन्त समय विषैं देश चारित्रको गृहै है।१७०। सादि मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यक्त्व सहित देश चारित्रकौ ग्रहण करै ताके अध'करण और अपूर्वकरण ये दो ही करण होंइ, तिनि विषैं गुणश्रेणी निर्जरा न होइ।१७१।

३. संयमासंयम आरोहण विधान

ल सा /जी प्र./१७०-१७९ सारार्थ—सादि अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व सहित जब ग्रहण करता है तब दर्शनमोह विधानवत् तैसे विधान करके तीन करणनिका अन्त समयविषै देशचारित्र ग्रहै है।१७०। सादि मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यक्त्व सहित देश चारित्रको ग्रहै है ताकै अध.करण अपूर्वकरण ए दोय ही करण होय तिनविषै गुणश्रेणी निर्जरा न हो है। अन्य स्थिति-खण्डादि सर्व कार्योंको करता हुआ अपूर्वकरणके अन्त समयमें युगपत् वेदक सम्यक्त्व अर देशचारित्रको ग्रहण करै है। वहाँ अनिवृत्तिकरणके बिना भी इनकी प्राप्ति सभवै है। बहुरि अपूर्वकरणका कालविषै संख्यात हजार स्थिति खण्ड भयें अपूर्वकरणका काल समाप्त हो है। असंयत वेदक सम्यग्दृष्टि भी दोय करणका अतसमय विषैं देशचारित्रको प्राप्त हो है। मिथ्यादृष्टिका व्याख्यान तैं सिद्धान्तके अनुसारि असयतका भी ग्रहण करना।१७१-१७२। अपूर्वकरणका अन्त समयके अनन्तरवर्ती समय विषै जीव देशव्रती होइ करि अपने देशव्रतका काल विषै आयुके बिना अन्य कर्मनिका सर्व सत्त्व द्रव्य अपकर्षणकरि उपरितन स्थिति विषै अर बहुभाग गुणश्रेणी आयाम विषैं देना।१७३। देशसंयत प्रथम समयतैं लगाय अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त समय-समय अनन्तगुणा विशुद्धता करि बंधै है सो याकौ एकान्तवृद्धि देशसंयत कहिये। इसके अन्तर्मुहूर्त काल पश्चात विशुद्धताकी वृद्धि रहित हो स्वस्थान देशसंयत होइ याकौ अथाप्रवृत्त देशसयत भी कहिये।१७४। अथाप्रवृत्त देशसयत जीव सो कदाचित विशुद्ध होइ कदाचित संक्लेशी होइ तहाँ विवक्षित कर्मका पूर्व समयविषै जो द्रव्य अपकर्षण कीया तातैं अनन्तर समय विषै विशुद्धताकी वृद्धिके अनुसारि चतु स्थान पतित वृद्धि लिये गुणश्रेणि विषै निक्षेपण करै है।

४. क्षायोपशमिक संयममें कथंचित् ३ व २ करण

ध.६/१,९-८,१४/२८१/१ तत्थ खओवसमचारित्तपडिवज्जणविहाणं उच्चदे। तं जहा—पढमसम्मत्तं संजम च जुगवं पडिवज्जमाणो तिण्णि वि करणाणि काऊण पडिवज्जदि। जदि पुण अट्ठावीससतकम्मिओ मिच्छादिट्ठी असजदसम्माइट्ठी संजदासजदो वा सजमं पडिवज्जदि तो दो चेव करणाणि, अणियट्टीकरणस्स अभावादो। • सजमादो णिग्गदो असंजमं गतूण जदि ट्ठिदिसंतकम्मेण अवट्ठिदेण पुणो संजमं पडिवज्जदि तस्स सजमं पडिवज्जमाणस्स अपुव्वकरणाभावादो णत्थि ट्ठिदिघादो अणुभागघादो वा। असजमं गंतूण वड्ढाविदठिदि-अणुभागसंतकम्मस्स दो वि घादा अत्थि, दोहि करणेहि विणा तस्स सजमग्गहणाभावा। =क्षायोपशमिक चारित्रको प्राप्त करनेका विधान कहते है। वह इस प्रकार है—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त करनेवाला जीव तीनोंही करणोंको करके (संयम को) प्राप्त होता है। पुन' मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, अथवा संयतासयत जीव संयमको प्राप्त करता है, तो दो ही करण होते है, क्योंकि, उसके अनिवृत्तिकरणका अभाव होता है •। सयमसे निकलकर और असंयमको प्राप्त होकर यदि अवस्थित स्थिति सत्त्वके साथ पुन सयमको प्राप्त होनेवाले उस जीवके अपूर्वकरणका अभाव होनेसे न तो स्थिति घात होता है और न अनुभाग घात होना है। (इसलिए वह जीव संयमासयमवत् पहले ही दोनों करणों द्वारा घात किये गये स्थिति और अनुभागकी वृद्धिके बिना ही करणोके सयमको प्राप्त होता है) किन्तु असंयमको जाकर स्थिति सत्त्व और अनुभाग सत्त्वको बढानेवाला जीवके दोनो ही घात होते है क्योंकि दोनो करणोंके बिना उसके संयमका ग्रहण नहीं हो सक्ता।

५. क्षायोपशमिक संयम आरोहण विधान

ल सा /मू /१८९-१९० सयलचरित्त तिविहं खयउवसमि उवसम च खइयं च। सम्मत्तुप्पत्तिं वा उवसमसम्मेण गिण्हदो पढम।१८९। वेदकजोगो मिच्छो अविरददेसो य दोण्णि करणेण। देसवद वा गिण्हदि गुणसेढी णत्थि तक्करणे।१९०।

ल सा /जी. प्र /१९१/२४५/७ इत परमल्पबहुत्वपर्यन्तं देशसयते यादृशी प्रक्रिया तादृश्येवात्रापि सकलसयते भवतीति ग्राह्यम्। अयं तु विशेष'—यत्र यत्र देशसयत इत्युच्यते तत्र तत्र स्थाने विरत इति वक्तव्यं भवति। =१. सकल चारित्र तीन प्रकार है—क्षायोपशमिक, औपशमिक व क्षायिक। तहाँ पहला क्षायोपशमिक चारित्त सातवें वा छठे गुणस्थान

४. क्षीणकषाय गुणस्थानमें जीवोंका शरीर निगोद राशि-से शून्य हो जाता है

ष खं /१४/५.६/ ३६३/४८७ सव्वुक्कस्सियाए गुणसेडीए मरणेण मदाण सव्वचिरेण कालेण णिल्लेविज्जमाणाणं तेसि चरिमसमए मदावसिट्ठाणं आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणं ।६३२।

ध. १४/५,६,६३/८५/१ खीणकसायस्स पढमसमए अणंता बादरणिगोद-जीवा मरंति । ··· विदियसमए विसेसाहिया जीवा मरंति ··एव तदियसमयादिसु विसेसाहिया विसेसाहिया मरंति जाव खीणक-सायद्धाएपढमसमयप्पहुडि आवलियपुधत्तं गदं त्ति । तेण परं संखेज्जदि भागब्भहिया संखेज्जदि भागब्भहिया मरंति जाव खीणकसायद्धाए आवलियाए असखेज्जदि भागो सेसो त्ति । तदो उवरिमाणतरसमए असखेज्जगुणा मरति एवं असखेज्जगुणा असखे-ज्जगुणा मरति जाव खीणक्सायचरिमसमओ त्ति। · ·एवमुवरिं पि जाणिदूण वत्तव्वं जाव खीणकसायचरिमसमओ त्ति । =१ सर्वो-त्कृष्ट गुणश्रेणि द्वारा मरणसे मरे हुए तथा सबसे दीर्घकालके द्वारा निर्लेप्य होनेवाले उन जीवोंके अन्तिम समयमें मृत होनेसे बचे हुए निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।३६२। २ क्षीणकषाय हुए जीवके प्रथम समयमें अनन्त बादर निगोद जीव मरते है। दूसरे समयमें विशेष अधिक जीव मरते हैं।···इसी प्रकार तीसरे आदि समयो विशेष अधिक विशेष अधिक जीव मरते हैं। यह क्रम क्षीणकषायके प्रथम समयसे लेकर आवलि पृथक्त्व काल तक चालू रहता है। इसके आगे सख्यात भाग अधिक सख्यात भाग अधिक जीव मरते हैं। और यह क्रम क्षीणकषायके कालमें आवलिका संख्यातवाँ भाग काल शेष रहने तक चालू रहता है। इसके आगेके लगे हुए समयमें असंख्यात गुणे जीव मरते है। इस प्रकार क्षीण कषायके अन्तिम समय तक असख्यातगुणे जीव मरते हैं।···इसी प्रकार आगे भी क्षीणकषायके अन्तिम समय तक जानकर कथन करना चाहिए। (ध १४/५,६,/६३२/४८२/१०)।

ध, १४/५,६,६३/६१/१ संपहि खीणकसायपढमसमयप्पहुडि ताव बादर-णिगोदजीवा उप्पज्जंति जाव तेसिं चेव जहण्णाउवकालो सेसो त्ति। तेण परं ण उप्पज्जंति। कुदो। उप्पण्णाणं जीवणीयकालाभावादो। तेण कारणेण बादरणिगोदजीवा एतो प्पहुडि जाव खीणकसायचरिम-समओ ति ताव सुद्धा मरंति चेव।

ध. १४/५,६,११६/१३८/३ खीणकसायपाओग्गबादरणिगोदवग्गणाण सव्व-कालमवट्ठाणाभावादो। भावे वा ण कस्स वि णिव्वुई होज्ज, खीणक-सायम्मि बादरणिगोदवग्गणाए संतीए केवलणाणुप्पत्तिविरोहादो।= १. क्षीणकषायके प्रथम समयसे लेकर बादर निगोद जीव तबतक उत्पन्न होते है जबतक क्षीणकषायके कालमें उनका जघन्य आयुका काल शेष रहता है। इसके बाद नहीं उत्पन्न होते, क्योंकि उत्पन्न होनेपर उनके जीवित रहनेका काल नहीं रहता, इसलिए बादरणिगोदजीव यहाँ से लेकर क्षीणकषायके अन्तिम समय तक केवल मरते ही है। २. क्षीणकषाय प्रायोग्य बादरनिगोदवर्गणाओंका सर्वदा अवस्थान नही पाया जाता। यदि उनका अवस्थान होता है तो किसी भी जीवको मोक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि क्षीण कषायमें बादर निगोदवर्गणाके रहते हुए केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें विरोध है।

५. हिंसा होते हुए भी महाव्रती कैसे हो सकते हैं

ध. १४/५,६,६३/८६/६ किमट्ठमेदे एत्थ मरंति ? ज्झाणेण णिगोदजीवु-प्पत्तिट्ठिदिकारणणिरोहादो। ज्झाणेण अणंताणंतजीवरासिणिहंताण कधं णिव्वुई। अप्पमादादो तं करेंताणं कथमहिंसालक्खणपंच-महव्वयसभवो। ण, बहिरंगहिंसाए आसवत्ताभावादो।=प्रश्न—ये निगोद जीव यहाँ क्यो मरणको प्राप्त होते है ? उत्तर—क्योंकि ध्यान-से निगोदजीवोंकी उत्पत्ति और उनकी स्थितिके कारणका निरोध हो जाता है। प्रश्न—ध्यानके द्वारा अनन्तानन्त जीवराशिका हनन करनेवाले जीवोंको निर्वृत्ति कैसे मिल सकती है। उत्तर—अप्रमाद होनेसे। प्रश्न—हिंसा करनेवाले जीवोंके अहिंसा लक्षण पाँच महाव्रत (आदिरूप अप्रमाद) कैसे हो सकता है? उत्तर—नही, क्योंकि बहिरंग हिंसासे, आस्रव नहीं होता।

अन्य सम्बन्धित विषय

* क्षपक श्रेणी —दे० श्रेणी/३।

* इस गुणस्थानमें योगकी सम्भावना व तत्सम्बन्धी शंका-समाधान —दे० योग/३।

* इस गुणस्थानके स्वामित्व सम्बन्धी जीवसमास, मार्गणास्थानादि २० प्ररूपणाएँ —दे० सत।

* इस गुणस्थान सम्बन्धी सत् (अस्तित्व) संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम।

* इस गुणस्थानमें प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।

* सभी मार्गणास्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा।

क्षीरकदंब—प पु./११/श्लोक, नारद व वसुका गुरु तथा नारदका पिता था। (१६)/शिष्योके पढ़ाते समय मुनियोकी भविष्यवाणी सुनकर दीक्षा धारण कर ली (२४)/ (म पु./६७/२५८-३२६)।

क्षीरवर—मध्यलोकका पंचम द्वीप व सागर—दे० लोक/७।

क्षीरस—एक ग्रह—दे० ग्रह।

क्षीरस्रावी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/८।

क्षीरोदा—अपर विदेहस्थ एक विभगा नदी—दे० लोक/७।

क्षुद्रभव—एक अन्तर्मुहूर्तमें सम्भव क्षुद्रभवोंका प्रमाण—दे० आयु/७।

क्षुद्रहिमवान्—दे० हिमवान्।

क्षुधापरीषह— १. लक्षण

स सि /९/९/४२०/६ भिक्षोर्निरवद्याहारगवेषिणस्तदलाभे ईषल्लाभे च अनिवृत्तवेदनस्याकाले अदेशे च भिक्षा प्रति निवृत्तेच्छस्य·· संतप्तभ्रा-ष्ट्रपतितजलबिन्दुकतिपयवत्सहसा परिशुष्कपानस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि सतो सतोभिक्षालाभादलाभमधिकगुण मन्यमानस्य क्षुद्बाधाप्रत्यचि-न्तनं क्षुद्विजय'। =जो भिक्षु निर्दोष आहारका शोध करता है। जो भिक्षा के नही मिलने पर या अल्प मात्रामें मिलनेपर क्षुधाकी वेदना-को प्राप्त नही होता, अकालमें या अदेशमें जिसे भिक्षा लेनेकी इच्छा नही होती · अत्यन्त गर्म भाण्डमें गिरी हुई जलकी कतिपय बूँदोंके समान जिसका जलपान सूख गया है, और क्षुधा वेदनाकी उदीरणा होनेपर भी जो भिक्षा लाभकी अपेक्षा उसके अलाभको अधिक गुण-कारी मानता है, उसका क्षुधाजन्य बाधाका चिन्तन नही करना क्षुधा-परीषहजय है। (रा वा /९/९/२/६०८); (चा सा /१०८/५)।

२. क्षुधा और पिपासामें अन्तर

रा. वा /९/९/४/६०८/३१ क्षुत्पिपासयो, पृथग्वचनमनर्थकम् । कुत । ऐकार्थ्यादिति, तन्न, किं कारणम्। सामर्थ्यभेदात्। अन्यद्धि क्षुध· सामर्थ्यमन्यत्पिपासाया'। अभ्यवहारसामान्यात् एकार्थ मिति, तदपि

न युक्तम्, कुत । अधिकरणभेदात् । अन्यद्धि क्षुध' प्रतीकाराधिकरणम्, अन्यत् पिपासाया ।=प्रश्न—क्षुधा परीषह और पिपासा परीषहको पृथक्-पृथक् कहना व्यर्थ है, क्योंकि दोनोंका एक ही अर्थ है। उत्तर—ऐसा नहीं है। क्योंकि भूख और प्यासकी सामर्थ्य जुदी-जुदी है। प्रश्न—अभ्यवहार सामान्य होनेसे दोनों एक ही हैं। उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दोनोंमें अधिकरण भेद है अर्थात् दोनोंकी शान्तिके साधन पृथक् पृथक् है।

क्षुल्लक—क्षुल्लक 'शब्दका अर्थ छोटा है। छोटे साधुको क्षुल्लक कहते है। अथवा श्रावककी ११ भूमिकाओंमें सर्वोत्कृष्ट भूमिकाका नाम क्षुल्लक है। उसके भी दो भेद हैं—एक क्षुल्लक और दूसरा ऐल्लक। दोनों ही साधुवत् भिक्षावृत्तिसे भोजन करते हैं, पर क्षुल्लकके पास एक कौपीन व एक चादर होती है, और ऐलकके पास केवल एक कोपीन। क्षुल्लक बर्तनोंमे भोजन कर लेता है पर ऐलक साधुवत् पाणिपात्रमें ही करता है। क्षुल्लक केशलौच भी कर लेता है और कैंचीसे भी बाल कटवा लेता हैं पर ऐलक केश लोच ही करता हैं। साधु व ऐलकमें लंगोटीमात्रका अन्तर है।

१. क्षुल्लक शब्दका अर्थ छोटा

अमरकोप/३४२/१६ विवर्ण. पामरो नीच' प्राकृतश्च पृथग्जन. । निहीनोऽपसदो जाल्म. क्षुल्लकश्चेतरश्च स. । =विवर्ण, पामर, नीच, प्राकृत और पृथग्जन, निहीन, अपसद, जाल्म और क्षुल्लक ये एकार्थवाची शब्द है।

स्व. स्तो./५ स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चित सता, समग्रविद्यात्मवपुर्निरजन'। पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो, जिनोऽजितक्षुल्लक-वादि शासन.।५। =जो सम्पूर्ण कर्म शत्रुओंको जीतकर 'जिन' हुए, जिनका शासन क्षुल्लकवादियोंके द्वारा अजेय और जो सर्वदर्शी है, सर्व विद्यात्म शरीर है, जो सत्पुरुषोंसे पूजित है, जो निरजन पदको प्राप्त है। वे नाभिनन्दन श्री ऋषभदेव मेरे अन्त.करणको पवित्र करें।

* **उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाका लक्षण**—दे० उद्दिष्ट।
* **उत्कृष्ट श्रावकके दो भेदोंका निर्देश**—दे० श्रावक/१।
* **शूद्रकी क्षुल्लक दीक्षा सम्बन्धी**—दे० वर्ण व्यवस्था/४

२. क्षुल्लकका स्वरूप

सा. ध /७/३८ ' कौपीनसंव्यान(धर)=पहला (श्रावक) क्षुल्लक लंगोटी और कोपीनका धारक होता है।

ला. स /७/६३ क्षुल्लक. कोमलाचार' । एकवस्त्र सकोपीन'·· । =क्षुल्लक श्रावक ऐलककी अपेक्षा कुछ सरल चारित्र पालन करता है एक वस्त्र, तथा एक कोपीन धारण करता है। (भावार्थ—एक वस्त्र रखनेका अभिप्राय खण्ड वस्त्रसे है। दुपट्टाके समान एक वस्त्र धारण करता है।

३. क्षुल्लकको श्वेत वस्त्र रखना चाहिए, रंगीन नहीं

प पु /१००/३६ अंशुकेनोपवीतेन सितेन प्रचलात्मना। मृणालकाण्डजालेन नागेन्द्र इव मन्थर ।३६। =(वह क्षुल्लक) धारण किये हुए सफेद चञ्चल वस्त्रसे ऐसा जान पडता था मानो मृणालोके समूहसे वेष्टित मन्द-मन्द चलनेवाला गजराज ही हो।

सा ध /७/३८· ·। सितकौपीनसंव्यान' ।३८। =पहला क्षुल्लक केवल सफेद लंगोटी व ओढनी रखता है। (जसहर चरित्र (पुष्पदन्तकृता)/८५), (धर्मसग्रहश्रा /८/६१)

४. क्षुल्लकको शिखा व यज्ञोपवीत रखनेका निर्देश

ला स./७/६३ क्षुल्लक. कोमलाचार शिखासूत्राङ्कितो भवेत्। =यह क्षुल्लक श्रावक चोटी और यज्ञोपवीतको धारण करता है।६३। [दशवीं प्रतिमामे यदि यज्ञोपवीत व चोटीको रखा है तो क्षुल्लक अवस्थामें भी नियमसे रखनी होगी। अन्यथा इच्छानुसार कर लेता है। ऐसा अभिप्राय है। (ला स /७/६३ का भावार्थ)]

५. क्षुल्लकके लिए मयूरपिच्छका निषेध

सा ध /७/३६ स्थानादिपु प्रतिलिखेद्, मृदूपकरणेन स' ।३६। =वह प्रथम उत्कृष्ट श्रावक प्राणियोको बाधा नहीं पहुँचानेवाले कोमल वस्त्रादिक उपकरणसे स्थानादिकमें शुद्धि करे।३६।

ला स /७/६३ । ··वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ।६३। =वह क्षुल्लक श्रावक वस्त्रकी पीछी रखता है। [वस्त्रका छोटा टुकडा रखता है उसीसे पीछीका सब काम लेता है। पीछीका नियम ऐलक अवस्थासे है इसलिए क्षुल्लकको वस्त्रकी ही पीछी रखनेको कहा है। (ला. स /७/६३ का भावार्थ)]

६. क्षुल्लक घरमें भी रह सकता है

म पु /१०/१५८ नृपस्तु सुविधि' पुत्रस्नेहाद् गार्हस्थ्यमत्यजन् । उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरम् ।१५८। =राजा सुविधि (ऋषभ भगवान्‌का पूर्वका पाँचवाँ भाव) केशव पुत्रके स्नेहसे गृहस्थ अवस्थाका परित्याग नही कर सका था, इसलिए श्रावकके उत्कृष्ट पदमें स्थित रहकर कठिन तप तपता था ।१५८। (सा. ध /७/२६ का विशेषार्थ)

७. क्षुल्लक गृहत्यागी ही होता है

र क. श्रा./१४७ गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य । भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधर. ।१४७। =जो घरसे निकलकर मुनिवनको प्राप्त होकर गुरुसे व्रत धारण कर तप तपता हुआ भिक्षाचारी होता है और वह खण्डवस्त्रका धारक उत्कृष्ट श्रावक होता है ।

सा ध /७/४७ वसेन्मुनिवने नित्यं, शुश्रूषेत गुरुश्चरेत् । तपो द्विधापि दशधा, वैयावृत्यं विशेषत. । =क्षुल्लक सदा मुनियोंके साथ उनके निवास भूत वनमें निवास करे । तथा गुरुओंको सेवे, अन्तरंग व बहिरंग दोनो प्रकार तपको आचरे । तथा खासकर दश प्रकार वैयावृत्यको आचरण करे ।४७।

८. पाणिपात्रमें या पात्रमें भी भोजन कर सकता है

सू पा./मू./२१ । भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ।२। =उत्कृष्ट श्रावक भ्रम करि भोजन करै है, बहुरि पत्ते कहिये पात्रमै भोजन करै तथा हाथमै करै बहुरि समितिरूप प्रवर्त्तता भाषा समितिरूप बोले अथवा मौनकरि प्रवर्तै । (व सु श्रा /३०३); (सा ध./७/४०)

ला. सं /७/६४ भिक्षापात्र च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाप्ययोमयम् । एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकश' ।६४। =यह क्षुल्लक श्रावक भिक्षाके लिए काँसेका अथवा लोहेका पात्र रखता है तथा शास्त्रोमें जो भोजनके दोष बताये है, उन सबसे रहित एक बार भिक्षा भोजन करता है ।

९. क्षुल्लककी केश उतारनेकी विधि

म. पु /१००/३४ प्रशान्तवदनो धीरो लुञ्चरञ्जितमस्तक. । ।३४। =लव, कुशका विद्या गुरु सिद्धार्थ नामक क्षुल्लक, प्रशान्त मुख था, धीर-वीर था, केशलुंच करनेसे उसका मस्तक सुशोभित था ।

व. सु. श्रा /३०२ धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो । ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा ।३०२। =प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (जिसे क्षुल्लक कहते है) धम्मिल्लोका चयन अर्थात, हजामत कैंचीसे अथवा उस्तरेसे कराता है ।· ।३०२। (सा ध /७/३८), (ला स / ७/६५)

१०. क्षुल्लकको एकभुक्ति व पर्वोपवासका नियम

वसु श्रा./३०३ भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइ समुवइट्ठो । उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ।३०३। =क्षुल्लक एक बार बैठकर भोजन करता है किन्तु पर्वोमें नियमसे उपवास करता है ।

११. क्षुल्लक श्रावकके भेद

सा.:ध /७/४०-४९ भावार्थ, क्षुल्लक भी दो प्रकारका है, एक तो एकगृहभोजी ओर दूसरा अनेकगृह भोजी । (ला.स./७/६५)

१२. एकगृहभोजी क्षुल्लकका स्वरूप

वसु श्रा./३०९-३१० जइ एवं ण रएज्जो काउरिसगिहम्मि चरियाए । पविसति एतभिक्ख पवित्तिणियमण ता कुज्जा ।३०९। गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाण चउविहं विहिणा । गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ।३१०। =यदि किसीको अनेक गृहगोचरी न रुचे, तो वह मुनियोकी गोचरी जानेके पश्चात् चर्याके लिए प्रवेश करे, अर्थात् एक भिक्षाके नियमवाला उत्कृष्ट श्रावक चर्याके लिए किसी श्रावक जनके घर जावे और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले तो उसे प्रवृत्तिनियमन करना चाहिए ।३०९। पश्चात् गुरुके समीप जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध प्रत्याख्यान ग्रहणकर पुन' प्रयत्नके साथ सर्व दोषोंकी आलोचना करे ।३१०। (सा ध /७/४६) और भी दे० शीर्षक नं० ७ ।

१३. अनेकगृहभोजी क्षुल्लकका स्वरूप

वसु• श्रा./३०४-३०८ पक्खालिऊण पत्त पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा । भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्ख सयं चेव ।३०४। सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ । अण्णमि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण काय वा ।३०५। जइ अद्धवहे कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह । भोत्तूण णियमभिक्खं तस्सएण भुजए सेसं ।३०६। अहं ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाण । पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुग सलिल ।३०७। ज किं पि पडिय भिक्ख भुजिज्जो सोहिऊण जत्तेण । पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि ।३०८। =(अनेक गृहभोजी उत्कृष्टश्रावक) पात्रको प्रक्षालन करके चर्याके लिए श्रावकके घरमें प्रवेश करता है, और आँगनमें ठहरकर 'धर्म लाभ' कहकर (अथवा अपना शरीर दिखाकर) स्वय भिक्षा माँगता है ।३०४। भिक्षा-लाभके अलाभमें अर्थात् भिक्षा न मिलनेपर, अदीन मुख हो वहाँसे शीघ्र निकलकर दूसरे घरमें जाता है और मौनसे अपने शरीरको दिखलाता है ।३०५। यदि अर्ध-पथमें—यदि मार्गके बीचमें ही कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घरसे प्राप्त अपनी भिक्षाको खाकर, शेष अर्थात जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण उस श्रावकके अन्नको खाये ।३०६। यदि कोई भोजनके लिए न कहे, तो अपने पेटको पूरण करनेके प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने तक परिभ्रमण करे, अर्थात् अन्य-अन्य श्रावकोंके घर जावे । आवश्यक भिक्षा प्राप्त करनेके पश्चात किसी एक घरमें जाकर प्रासुक जल माँगे ।३०७। जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोधकर भोजन करे और यत्नके साथ अपने पात्रको प्रक्षालन कर गुरुके पास जावे ।३०८। (प. पु /१००/३३-४१), (सा. ध./७/४०-४३); (ल. सं० ७/) ।

१४. अनेकगृहभोजीको आहारदानका निर्देश

ला.स /६७-६८ तत्राप्यन्यतमगेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् । क्षणं चातिथिभागाय सप्रेक्ष्याध्वं च भोजयेत् ।६७। दैवात्पात्रं समासाद्य दद्यादान गृहस्थवत् । तच्छेष यत्स्वय भुट्क्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ।६८। =वह क्षुल्लक उन पाँच घरोंमेंसे ही किसी एक घरमें प्रासुक जल दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी घरमें भोजनके लिए ठहर जाता है तथा थोड़ी देर तक वह किसी भी मुनिराजको आहारदान देनेके लिए प्रतीक्षा करता है, यदि आहार दान देनेका किसी मुनिराजका समागम नही मिला तो फिर वह भोजन कर लेता है ।६७। यदि दैवयोगसे आहार दान देनेके लिए किसी मुनिराजका समागम मिल जाये अथवा अन्य किसी पात्रका समागम मिल जाये, तो वह क्षुल्लक श्रावक गृहस्थके समान अपना लाया हुआ भोजन उन मुनिराजको दे देता है । पश्चात् जो कुछ बच रहता है उसको स्वय भोजन कर लेता है, यदि कुछ न बचे तो उस दिन नियमसे उपवास करता है ।६८।

१५. क्षुल्लकको पात्रप्रक्षालनादि क्रियाके करनेका विधान

सा ध /७/४४ आकाङ्क्षन्संयमं भिक्षा-पात्रप्रक्षालनादिषु । स्वयं यतेत चादर्प., परथासंयमो महान् ।४४। =वह क्षुल्लक संयमकी इच्छा करता हुआ, अपने भोजनके पात्रको धोने आदिके कार्यमें अपने तप और विद्या आदिका गर्व नहीं करता हुआ स्वय ही यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करे नहीं तो बड़ा भारी असंयम होता है ।

४	**क्षेत्र प्ररूपणाएँ**
१	सारणीमें प्रयुक्त संकेत परिचय ।
२	जीवोंके क्षेत्रकी ओघ प्ररूपणा ।
३	जीवोंके क्षेत्रकी आदेश प्ररूपणा ।
४	**अन्य प्ररूपणाएँ**
	१. अष्टकर्मके चतु.बन्धकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
	२. अष्टकर्म सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
	३. मोहनीयके सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
	४. पाँचों शरीरोंके योग्य स्कन्धोंकी संघातन परिशातन कृतिके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
	५ पांच शरीरोंमें २,३,४ आदि भंगोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
	६. २३ प्रकारकी वर्गणाओंकी जघन्य, उत्कृष्ट क्षेत्र प्ररूपणा ।
	७ प्रयोग समवदान, अध., तप, ईर्यापथ व कृतिकर्म इन षट् कर्मोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश प्ररूपणा ।
*	उत्कृष्ट आयुवाले तिर्यञ्चोंके योग्य क्षेत्र —दे० आयु/६/१ ।

१. भेद व लक्षण

१. क्षेत्र सामान्यका लक्षण

स.सि /१/८/२६/७ "क्षेत्रं निवासो वर्तमानकालविषय ।"

स. सि./१/२५/१३२/४ क्षेत्र यत्रस्थान्भावान्प्रतिपद्यते ।=वर्तमान काल विषयक निवासको क्षेत्र कहते हैं । (गो जी /जी.प्र/५४३/६३६/१०) जितने स्थानमें स्थित भावोंको जानता है वह (उस उस ज्ञानका) नाम क्षेत्र है । (रा वा /१/२५ ।·· /१५/८६) ।

क. पा./२/२,२२/§११ /१/७ खेत्त खलु आगासं तव्विवरीयं च हवदि णोखेत्तं/१ ।=क्षेत्र नियमसे आकाश है और आकाशसे विपरीत नोक्षेत्र है ।

ध १३/५,३,८/६/३ क्षियन्ति निवसन्ति यस्मिन्पुद्गलादयस्तत् क्षेत्रमाकाशम् ।=क्षि धातुका अर्थ 'निवास करना' है। इसलिए क्षेत्र शब्दका यह अर्थ है कि जिसमें पुद्गलादि द्रव्य निवास करते है उसे क्षेत्र अर्थात आकाश कहते है । (म. पु /४/१४)

२. क्षेत्रानुगमका लक्षण

ध. १/१,१,७/१०२/१५८ अत्थित्त पुण संतं अत्थित्तस्स यत्तदेव परिमाणं । पच्चुप्पण्ण खेत्त अदीद-पदुप्पण्णाणं फसणं ।१०२।

ध. १/१,१,७/१५६/१ णिय-संखा-गुणिदोगाहणखेत्तं खेत्त उच्चदे दि । =१ वर्तमान क्षेत्रका प्ररूपण करनेवाली क्षेत्र प्ररूपणा है । अतीत स्पर्श और वर्तमान स्पर्शका कथन करनेवाली स्पर्शन प्ररूपणा है । २. अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्रानुगम कहते है ।

३. क्षेत्र जीवके अर्थमें

म. पु /२४/१०५ क्षेत्रस्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात् स तथोच्यते ।१०५। =इसके (जीवके) स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं और यह उसे जानता है इसलिए क्षेत्रज्ञ भी कहलाता है ।

क्षेत्रके भेद (सामान्य विशेष)

पं. ध /५/२७० क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् । तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ।२७०।=विवक्षा वशसे क्षेत्र सामान्य और विशेष रूप इस प्रकारका है ।

५. लोककी अपेक्षा क्षेत्रके भेद

ध. ४/१,३,१/८/६ दव्वट्ठियणयं च पडुच्च एगविधं । अथवा पओजणमभिसमिच्च दुविहं लोगागासमलोगागासं चेदि ।· ·अथवा देसभेएण तिविहो, मदरचूलियादो उवरिमुड्ढलोगो, मंदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो, मंदरपरिच्छिण्णो मज्झलोगो त्ति ।=द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा क्षेत्र एक प्रकारका है । अथवा प्रयोजनके आश्रयसे (पर्यायार्थिक नयसे) क्षेत्र दो प्रकारका है—लोकाकाश व अलोकाकाश । ··अथवा देशके भेदसे क्षेत्र तीन प्रकारका है=मन्दराचल (सुमेरुपर्वत) की चूलिकासे ऊपरका क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है, मन्दराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है, मन्दराचलसे परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्यलोक है ।

६. क्षेत्रके भेद—स्वस्थानादि

ध. ४/१,३,२/२६/१ सव्वजीवाणमवत्था तिविहा भवदि, सत्थाणसमुग्घादुववादभेदेण । तत्थ सत्थाणं दुविहं, सत्थाणसत्थाणं विहारवदिसत्थाणं चेदि । समुग्घादो सत्तविधो, वेदणसमुग्घादो कसायसमुग्घादो वेउव्वियसमुग्घादो मारणांतियसमुग्घादो तेजासरीरसमुग्घादो आहारसमुग्घादो केवलिसमुग्घादो चेदि ।=स्वस्थान, समुद्घात और उपपादके भेदसे सर्व जीवोंकी अवस्था तीन प्रकारकी है । उनमेंसे स्वस्थान दो प्रकारका है—स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान । समुद्घात सात प्रकारका है—वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, वैक्रियक समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, तैजस शरीर समुद्घात, आहारक शरीर समुद्घात और केवली समुद्घात । (गो. जी./जी प्र /५४३/६३६/१२) ।

७. निक्षेपोंकी अपेक्षा क्षेत्रके भेद

ध. ४/१,३,१/पृ ३-७ ।
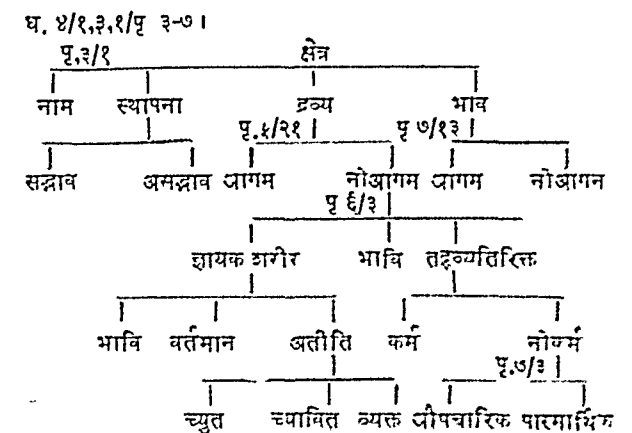
८. स्वपर क्षेत्रके लक्षण

प. का /त प्र /४३ द्वयोरप्यभिन्नप्रदेशत्वेनैकक्षेत्रत्वात् । ·· परमार्थसे गुण और गुणी दोनोंका एक क्षेत्र होनेके कारण दोनों अभिन्नप्रदेशी हैं ।

अर्थात् द्रव्यका क्षेत्र उसके अपने प्रदेश है, और उन्हीं प्रदेशोंमें ही गुण भी रहते है।

प्र. सा./ता.वृ /११५/१६१/१३ लोककाशप्रमिताः शुद्धासंख्येयप्रदेशा' क्षेत्रं भण्यते।=लोकाकाश प्रमाण जीवके शुद्ध असंख्यात प्रदेश उसका क्षेत्र कहलाता है। (अर्थापत्तिसे अन्य द्रव्योंके प्रदेश उसके परक्षेत्र है। (

पं. ध./पू./१४८,४४६ अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम्। तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः।१४८। क्षेत्रं इति वा सदधिष्ठान च भूर्निवासश्च। तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम्।४४६।=जो एक देश जितने क्षेत्रको रोक करके रहता है वह उस देशका—द्रव्यका क्षेत्र है, और अन्य क्षेत्र उसका क्षेत्र नहीं हो सकता। किन्तु दूसरा दूसरा ही रहता है, पहला नहीं। यह क्षेत्र व्यतिरेक है।१४८। प्रदेश यह अथवा सत्का आधार और सत्की भूमि तथा सत्का निवास क्षेत्र है और वह क्षेत्र भी स्वयं सत् रूप ही है किन्तु प्रदेशोंमें रहनेवाला जितना सत् है उतना वह क्षेत्र नहीं है।४४६।

रा वा./हिं./१/६/४६ देह प्रमाण संकोच विस्तार लिये (जीव प्रदेश) क्षेत्र है।

रा. वा./हिं /६/७/६७२ जन्म योनिके भेद करि (जीव) लोकमें उपजै, लोक कूं स्पर्शै सो परक्षेत्र ससार है।

९. सामान्य विशेष क्षेत्रके लक्षण

पं ध./पू./२७० तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदशमयम्।=केवल 'प्रदेश' यह तो सामान्य क्षेत्र कहलाता है, तथा यह वस्तुका प्रदेशरूप अशमयी अर्थात् अमुक द्रव्य इतने प्रदेशवाला है इत्यादि विशेष क्षेत्र कहलाता है।

१०. क्षेत्र लोक व नोक्षेत्रके लक्षण

ध. ४/१,३,१/३-४/७ खेत्तं खलु आगासं तव्वदिरित्तं च होदि णोखेत्तं। जीवा य पोग्गला वि य धम्माधम्मत्थिया कालो।३। आगासं सपदेसं तु उड्ढाधो तिरियो विय। खेत्तलोगं वियाणाहि अणंतजिण-देसिदं।४।=आकाश द्रव्य नियमसे तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यक्षेत्र कहलाता है और आकाश द्रव्यके अतिरिक्त जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय तथा काल द्रव्य नोक्षेत्र कहलाते है।३। आकाश सप्रदेशी है, और वह ऊपर नीचे और तिरछे सर्वत्र फैला हुआ है। उसे ही क्षेत्र लोक जानना चाहिए। उसे जिन भगवान्ने अनन्त कहा है। (क.पा २/२,२२/§११/६/६)।

११. स्वस्थानादि क्षेत्र पदोंके लक्षण

ध. ४/१,३,२/२६/२ सत्थाणसत्थाणणाम अप्पणो उप्पणगामे णयरे रण्णे वा सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारजुत्तेणच्छणं। विहारवदि-सत्थाण णाम अप्पणो उप्पण्णगाम-णयर-रण्णादीणि छड्डिय अण्णत्थ सयण-णिसीयण-चंकमणादिवावारेणच्छणं।

ध./४/१,३,२/२६/६ उववादो एयविहो। सो वि उप्पण्णपढमसमए चेव होदि।=१. अपने उत्पन्न होनेके ग्राममें, नगरमें, अथवा अरण्यमें,—सोना, बैठना, चलना आदि व्यापारसे युक्त होकर रहनेका नाम स्वस्थान-स्वस्थान अवस्थान है। (ध.४/१,३,५८/१२१/३) उत्पन्न होनेके ग्राम, नगर अथवा अरण्यादिको छोडकर अन्यत्र गमन, निषीदन और परिभ्रमण आदि व्यापारसे युक्त होकर रहनेका नाम विहारवत्-स्वस्थान है। (ध /७/२,६,१/३००/५) (गो. जी /जी प्र /५४३/९३६/११)। २. उपपाद (अवस्थान क्षेत्र) एक प्रकारका है। और वह उत्पन्न होने (जन्मने) के पहले समयमें ही होता है—इसमें जीवके समस्त प्रदेशोंका संकोच हो जाता है।

१२. निष्कुट क्षेत्रका लक्षण

स.सि /२/२८/टिप्पणी। पृ. १०८ जगरूपसहायकृत-लोकाग्रकोणं निष्कुट-क्षेत्रं।=लोक शिखरका कोण भाग निष्कुट क्षेत्र कहलाता है। (विशेष दे० विग्रह गति/६)।

१३. नो आगम क्षेत्रके लक्षण

ध.४/१,३,१/६/६ तदिरित्तदव्वखेत्तं दुविहं, कम्मदव्वखेत्तं णोकम्मदव्व-खेत्तं चेदि। तत्थ कम्मदव्वखेत्तं णाणावरणादिअट्ठविहकम्मदव्वं। ...णोकम्मदव्वखेत्तं पि दुविहं, ओवयारियं पारमत्थियं चेदि। तत्थ ओवयारियं णोकम्मदव्वखेत्तं लोगपसिद्धं सालिखेत्तं वीहिखेत्तमेव-मादि। पारमत्थियं णोकम्मदव्वखेत्तं आगासदव्वं।

ध.४/१,३,१/८/२ आगास गगणं देवपथं गोज्झगाचरिदं अवगाहणलक्खणं आधेयं वियापगमाधारो भूमि त्ति एयट्ठो।=१ जो तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य क्षेत्र है वह कर्मद्रव्यक्षेत्र और नोकर्म द्रव्य क्षेत्रके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मद्रव्य-को कर्मद्रव्यक्षेत्र कहते हैं। (क्योंकि जिसमें जीव निवास करते हैं, इस प्रकारकी निरुक्तिके बलसे कर्मोंके क्षेत्रपना सिद्ध है)। नोकर्मद्रव्य क्षेत्र भी औपचारिक और पारमार्थिकके भेदसे दो प्रकार है। उनमेंसे लोकमें प्रसिद्ध शालि-क्षेत्र, व्रीहि (धान्य) क्षेत्र इत्यादि औपचारिक नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम-द्रव्यक्षेत्र कहलाता है। आकाश द्रव्य पारमार्थिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यक्षेत्र है। २ आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यक्षोंके विचरणका स्थान) अवगाहन लक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि ये सब नोआगमद्रव्यके क्षेत्रके एकार्थनाम हैं।

२. क्षेत्र सामान्य निर्देश

१. क्षेत्र व अधिकरणमें अन्तर

रा वा /१/८/१६/४३/६ स्यादेतत्–यदेवाधिकरणं तदेव क्षेत्रम्, अतस्तयोर-भेदात् पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति, तन्न; किं कारणम्। उक्तार्थत्वात्। उक्तमेतत्–सर्वभावाधिगमार्थत्वादिति। =प्रश्न—जो अधिकरण है वही क्षेत्र है, इसलिए इन दोनोंमें अभेद होनेके कारण यहाँ क्षेत्रका पृथक् ग्रहण अनर्थक है? उत्तर—अधिकृत और अनधिकृत सभी पदार्थोंका क्षेत्र बतानेके लिए विशेष रूपसे क्षेत्रका ग्रहण किया गया है।

२. क्षेत्र व स्पर्शनमें अन्तर

रा वा /१/८/१७-१६/४३/६ यथेह सति घटे क्षेत्रे अम्बुनोऽवस्थानात् नियमाद् घटस्पर्शनम्, न ह्येतदस्ति–'घटे अम्बु अवतिष्ठते न च घटं स्पृशति' इति। तथा आकाशक्षेत्रे जीवावस्थानात् नियमादाकाशे स्पर्शनमिति क्षेत्राभिधानेनैव स्पर्शनस्यार्थगृहीतत्वात् पृथग्ग्रहणम-नर्थकम्। न वैष दोषः। किं कारणम्। विषयवाचित्वात्। विषय-वाची क्षेत्रशब्दः यथा राजा जनपदक्षेत्रेऽवतिष्ठते, न च कृत्स्नं जनपदं स्पृशति। स्पर्शनं तु कृत्स्नविषयमिति। यथा साम्प्रति-केनाम्बुना सांप्रतिक घटक्षेत्रं स्पृष्टं नातीतानागतम्, नैवमात्मनः साप्रतिकक्षेत्रस्पर्शने स्पर्शनाभिप्रायः, स्पर्शनस्य त्रिकालगोचरत्वात् ।१७-१८। =प्रश्न—जिस प्रकारसे घट रूप क्षेत्रके रहनेपर ही, जलका उसमें अवस्थान होनेके कारण, नियमसे जलका घटके साथ स्पर्श होता है। ऐसा नहीं है कि घटमें जलका अवस्थान होते हुए भी, वह उसे स्पर्श न करें। इसी प्रकार आकाश क्षेत्रमें जीवोंके अवस्थान होनेके कारण नियमसे उनका आकाशसे स्पर्श होता है। इसलिए क्षेत्रके कथन से ही स्पर्शके अर्थका ग्रहण हो जाता है। अत. स्पर्शका पृथक् ग्रहण करना अनर्थक है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षेत्र शब्द विषयवाची है, जैसे राजा जनपदमें रहता है। यहाँ राजाका विषय

जनपद है न कि वह सम्पूर्ण जनपदके स्पर्श करता है। स्पर्शन तो सम्पूर्ण विषयक होता है। दूसरे जिस प्रकार वर्तमानमे जलके द्वारा वर्तमानकालवर्ती घट क्षेत्रका हो स्पर्श हुआ है, अतीत व अनागत कालगत क्षेत्रका नही, उसी प्रकार मात्र वर्तमान कालवर्ती क्षेत्रके साथ जीवका स्पर्श वास्तवमे स्पर्शन शब्दका अभिधेय नहीं है। क्योकि क्षेत्र तो केवल वर्तमानवाची है और स्पर्श त्रिकालगोचर होता है।

ध १/१,१,७/१५६/८ वट्टमाण-फासं वण्णेदि खेत्तं। फोसणं पुण अदीदं वट्टमाणं च वण्णेदि। =क्षेत्रानुगम वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। और स्पर्शनानुयोग अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है।

ध. ४/१,४,२/१४५/८ खेत्ताणिओगद्दारे सव्वमग्गणट्ठाणाणि अस्सिदूण सव्वगुणट्ठाणाणं वट्टमाणकालविसिट्ठं खेत्तं पदुप्पादिद, सपदि पोसणाणिओगद्दारेण किं परूविज्जदे। चोद्दस मग्गणट्ठाणाणि अस्सिदूण सव्वगुणट्ठाणाणं अदीदकालविसेसिदखेत्तं फोसणं वुच्चदे। एत्थ वट्टमाणखेत्तं परूवणं पि सुत्तणिवद्धमेव दीसदि। तदो ण पोसणमदीदकालविसिट्ठखेत्तपदुप्पाइयं, किंतु वट्टमाणादीदकालविसेसिदखेत्तपदुप्पाइयमिदि? एत्थ ण खेत्तपरूवणं, त यं पुव्व खेत्ताणिओगद्दारपरूविदवट्टमाणखेत्त संभराविय अदीदकालविसिट्ठखेत्तपदुप्पायणट्ठं तस्सुवादाणा। तदो फोसणमदीदकालविसेसिदखेत्ते पदुप्पाइयमेवेत्ति सिद्धं। प्रश्न—क्षेत्रानुयोग सर्व मार्गणास्थानोका आश्रय लेकर सभी गुणस्थानोके वर्तमानकालविशिष्ट क्षेत्रका प्रतिपादन कर दिया गया है। अब पुन स्पर्शनानुयोग द्वारमे क्या प्ररूपण किया जाता है? उत्तर—चौदह मार्गणास्थानोका आश्रय लेकरके सभो गुणस्थानोके अतीतकाल विशिष्ट क्षेत्रको स्पर्शन कहा गया है। अतएव यहाँ उसीका ग्रहण किया गया समझना। प्रश्न—यहाँ स्पर्शनानुयोगद्वारमें वर्तमानकाल सम्बन्धी क्षेत्रकी प्ररूपणा भी सूत्र निबद्ध ही देखी जाती है, इसलिए स्पर्शन अतीतकाल विशिष्ट क्षेत्रका प्रतिपादन करनेवाला नहीं है, किन्तु वर्तमानकाल और अतीतकालसे विशिष्ट क्षेत्रका प्रतिपादन करनेवाला है? उत्तर—यहाँ स्पर्शनानुयोगद्वारमें वर्तमानकालकी प्ररूपणा नहीं की जा रही है, किन्तु पहले क्षेत्रानुयोगद्वारमें प्ररूपित उस उस वर्तमान क्षेत्रको स्मरण कराकर अतीतकाल विशिष्ट क्षेत्रके प्रतिपादनार्थ उसका ग्रहण किया गया है। अतएव स्पर्शनानुयोगद्वारमें अतीतकालसे विशिष्ट क्षेत्रका ही प्रतिपादन करनेवाला है, यह सिद्ध हुआ।

३. वीतरागियों व सरागियोंके स्वक्षेत्रमें अन्तर

ध ४/१,३,५८/१२१/१ ण च ममेदंबुद्धीए पडिगहिदपदेसो सत्थाणं, अजोगिम्हि खीणमोहम्हि ममेदबुद्धीए अभावादो त्ति। ण एस दोसो वीदरागाणं अप्पणो अच्छिदपदेसस्सेव सत्थाणववएसादो। ण सरागाणमेस णाओ, तत्थ ममेदंभावसंभवदो। =प्रश्न—इस प्रकार स्वस्थान पद अयोगकेवलीमें नहीं पाया जाता, क्योकि क्षणमोही अयोगी भगवान्में ममेदंबुद्धिका अभाव है? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि वीतरागियोंके अपने रहनेके प्रदेशको ही स्वस्थान नामसे कहा गया है। किन्तु सरागियोंके लिए यह न्याय नही है, क्योंकि इसमें ममेदंभाव सम्भव है। (ध ४/१,३,३/४७/८)।

३. क्षेत्र प्ररूपणा विषयक कुछ नियम

१. गुणस्थानोंमें सम्भव पदोंकी अपेक्षा

१ मिथ्यादृष्टि

ध.४/१,३,२/३८/६ मिच्छाइट्ठिस्स सेस-तिण्णि विसेसणाणि ण सभवंति, तक्कारणसजमादिगुणाणामभावादो। =मिथ्यादृष्टि जीवराशिके शेष तीन विशेषण अर्थात् आहारक समुद्घात, तैजस समुद्घात, और केवली समुद्घात सम्भव नही है, क्योंकि इनके कारणभूत संयमादि गुणोका मिथ्यादृष्टिके अभाव है।

२ सासादन

ध ४/१,३,३/३१/६ सासणसम्मादिट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्मादिट्ठी-सत्थाणसत्थाण-विहारवदिसत्थाण-वेदणकसाय-वेउव्वियसमुग्घादपरिणदा केवडि खेत्ते, लोगस्स असंखेज्जदिभागे।

ध ४/१ ३,३/४३/३ मारणातिय-उववादगद-सासणसम्मादिट्ठी-असजदसम्मादिट्ठीणमेवं चेव वत्तव्वं।

ध.४/१,४,४/१५०/१ तसजीवविरहिदेसु असंखेज्जेसु समुद्देसु णवरि सासणा णत्थि। वेरियवेतरदेवेहि घित्ताणमत्थि सभवो, णवरि ते सत्थाणत्था ण होंति, विहारेण परिणत्तादो। =प्रश्न—१. स्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषाय समुद्घात और वैक्रियक समुद्घात रूपसे परिणत हुए सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें होते है? उत्तर—लोकके असंख्यात भागप्रमाण क्षेत्रमें। अर्थात् सासादनगुणस्थानमें यह पाँच होने सम्भव है। २ मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टियोका इसी प्रकार कथन करना चाहिए। अर्थात् इस गुणस्थानमें ये दो पद भी सम्भव है। (विशेष दे० सासादन।१। १०) ३. त्रस जीवोसे विरहित (मानुषोत्तर व स्वयंप्रभ पर्वतोके मध्यवर्ती) असंख्यात समुद्रोमें सासादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होते। यद्यपि वैर भाव रखनेवाले व्यन्तर देवोंके द्वारा हरण करके ले जाये गये जीवोंकी वहाँ सम्भावना है। किन्तु वे वहाँ पर स्वस्थान स्वस्थानस्थ नही कहलाते हैं क्योंकि उस समय वे विहार रूपसे परिणत हो हो जाते है।

३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि

ध ४/१,३ ३/४४/५ सम्मामिच्छाइट्ठियस्स मारणंतिय-उववादा णत्थि, तग्गुणस्स तदुहयविरोहित्तादो। =सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद नही होते है, क्योंकि, इस गुणस्थानका इन दोनो प्रकारकी अवस्थाओके साथ विरोध है। **नोट**—स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय व वैक्रियक समुद्घात ये पाँचो पद यहाँ होने सम्भव है। दे०—ऊपर सासादनके अन्तर्गत प्रमाण नं० १।

४ असंयत सम्यग्दृष्टि

(स्वस्थान-स्वस्थान, विहारवत स्वस्थान, वेदना, कषाय और वैक्रियक व मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपाद, यह सातो ही पद यहाँ सम्भव है—दे० ऊपर सासादनके अन्तर्गत/प्रमाण नं० १)

५ सयतासंयत

ध ४/१,३,३/४४/६ एवं संजदासंजदाणं। णवरि उववादो णत्थि, अपज्जत्तकाले सजमासजमगुणस्स अभावादो। संजदासजदाणं कध वेउव्वियसमुग्घादस्स सभवो। ण, ओरालियसरीरस्स विउव्वणप्पयस्स विण्हुकुमारादिसु दंसणादो।

ध. ४/१,४,८/१६६/७ कध सजदासंजदाणं सेसदीव-समुद्देसु सभवो। ण, पुव्ववेरियदेवेहि तत्थ घित्ताणं संभव पडिविरोधाभावा। =१. इसी प्रकार (असयत सम्यग्दृष्टिवत्) सयतासंयतोंका क्षेत्र जानना चाहिए। इतना विशेष है कि सयतासंयतोके उपपाद नही होता है, क्योकि अपर्याप्त कालमें सयमासयम गुणस्थान नही पाया जाता है। ...प्रश्न—सयता-सयतोके वैक्रियक समुद्घात कैसे सम्भव है? उत्तर—नही, क्योकि, विष्णुकुमार मुनि आदिमें विक्रियात्मक औदारिक शरीर देखा जाता है। २ प्रश्न—मानुषोत्तर पर्वतसे परभागवर्ती और स्वयंप्रभाचलसे पूर्णभागवर्ती शेष द्वीप समुद्रोमें सयतासयत जीवोकी संभावना कैसे है? उत्तर—नही, क्योकि पूर्व भवके वैरी देवोके

द्वारा वहाँ ले जाये गये तिर्यञ्च संयतासंयत जीवोंकी सम्भावनाकी अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। (ध. १/१,१,१५८/४०२/१); (ध ६/१, ९–९,१८/४२६/१०)

६. प्रमत्तसंयत

ध. ४/१,३,३/४५–४७/सारार्थ—प्रमत्त संयतोमें अप्रमत्तसंयतकी अपेक्षा आहारक व तैजस समुद्घात अधिक है, केवल इतना अन्तर है। अत' दे०—अगला 'अप्रमत्तसंयत'

७. अप्रमत्तसंयत

ध ४/१,३,३/४७/४ अप्पमत्तसंजदा सत्थाणसत्थाण-विहारवदिसत्थाणत्था केवडिखेत्ते,…मारणंतिय-अप्पमत्ताणं पमत्तसजदभगो । अपमत्ते सेसपदा णत्थि ।=स्वस्थान स्वस्थान और विहारवत् स्वस्थान रूपसे परिणत अप्रमत्त संयत जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं। · मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त हुए अप्रमत्त संयतोका क्षेत्र प्रमत्त संयतोके समान होता है। अप्रमत्त गुणस्थानमें उक्त तीन स्थानको छोडकर शेष स्थान नहीं होते।

८. चारों उपशामक

ध. ४/१,३,३/४७/६ चदुण्हमुवसमा सत्थाणसत्थाण-मारणंतियपदेसु पमत्तसमा ' णत्थि वुत्तसेसपदाणि। =उपशम श्रेणीके चारो गुणस्थानवर्ती उपशामक जीव स्वस्थानस्वस्थान और मारणान्तिक समुद्घात, इन दोनों पदोमें प्रमत्तसंयतोके समान होते है।· (इन जीवोंमें) उक्त स्थानोके अतिरिक्त शेष स्थान नही होते है। [स्वस्थान स्वस्थान सम्बन्धी शंका समाधान दे० अगला क्षपक]

९. चारों क्षपक

ध. ४/१,३,३/४७/७ चदुण्हं खवगाणं·· सत्थाणसत्थाणं पमत्तसम। खवगुवसामगाणं णत्थि वुत्तसेसपदाणि। खवगुवसामगाणं ममेदंभावविरहिदाणं कधं सत्थाणसत्थाणपदस्स संभवो। ण एस दोसो, ममेदंभावसमण्णिदगुणेसु तहा गहणादो। एत्थ पुण अवट्ठाणमेत्तगहणादो। =क्षपक श्रेणीके चार गुणस्थानवर्ती क्षपक जीवोंका स्वस्थान स्वस्थान प्रमत्तसंयतोंके समान होता है। क्षपक और उपशामक जीवोके उक्त गुणस्थानोके अतिरिक्त शेष स्थान नहीं होते है। प्रश्न—यह मेरा है, इस प्रकारके भावसे रहित क्षपक और उपशामक जीवोके स्वस्थानस्वस्थान नामका पद कैसे सम्भव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योकि, जिन गुणस्थानोमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका भाव पाया जाता है, वहाँ वैसा ग्रहण किया है। परन्तु यहाँपर तो अवस्थान मात्रका ग्रहण किया है।

ध ६/१,९–८,११/२४५/६ मणुसेसुप्पण्णा कधं समुद्देसु दंसणमोहक्खवणं पट्ठवेंति। ण, विज्जादिवसेण तत्थागदाणं दंसणमोहक्खवणसभवादो। =प्रश्न—मनुष्योमें उत्पन्न हुए जीवसमुद्रोमें दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका कैसे प्रस्थापन करते है? उत्तर—नही, क्योकि, विद्या आदिके वशसे समुद्रोमें आये हुए जीवोके दर्शनमोहका क्षपण होना सभव है।

१३ सयोगी केवली

ध. ४/१,३,४/४८/३ एत्थ सजोगिकेवलियस्स सत्थाणसत्थाण-विहारवदिसत्थाणाणं पमत्तमंगो। दंडगदोकेवली (पृ० ४८) · कवाडगदो केवली पृ. ४९ पदरगदो केवली (पृ. ५०) लोगपूरणगदो केवली (पृ० ५६) केवडि खेत्ते। =सयोग केवलीका स्वस्थानस्वस्थान और विहारवत्स्वस्थान क्षेत्र प्रमत्त संयतोंके समान होता है। दण्ड समुद्घातगत केवली, ·· कपाट समुद्घातगत केवली·· प्रतर समुद्घातगत केवली · और लोकपूरण समुद्घातगत केवली कितने क्षेत्रमें रहते है।

१४. अयोग केवली

ध. ४/१,३,५७/१२०/६ सेसपदसंभवाभावादो सत्थाणे पदे। =अयोग केवलीके विहारवद् स्वस्थानादि शेष अशेष पद सम्भव न होनेसे वे स्वस्थानस्वस्थानपदमें रहते हैं।

ध. ४/१,३,५७/१२१/१ ण च ममेदंबुद्धीए पडिगहिदपदेसो सत्थाणं, अजोगिम्हि खीणमोहम्हि ममेदंबुद्धीए अभावादो त्ति। ण एस दोसो, वीदरागाणं अप्पणो अच्छिदपदेसस्सेव सत्थाणववएसादो। ण सरागाणमेस णाओ, तत्थ ममेदंभावसंभवादो। =प्रश्न—स्वस्थानपद अयोग केवलीमें नहीं पाया जाता, क्योंकि क्षीणमोही अयोगी भगवान्में ममेदंबुद्धिका अभाव है, इसलिए अयोगिकेवलीके स्वस्थानपद नहीं बनता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, वीतरागियोंके अपने रहनेके प्रदेशोंको ही स्वस्थान नामसे कहा गया है। किन्तु सरागियोंके लिए यह न्याय नहीं है। क्योंकि इनमें ममेदं भाव संभव है।

२. गति मार्गणामें सम्भव पदोंकी अपेक्षा

१. नरक गति

ध. ४/१,३,५/६४/१२ एवं सासणस्स। णवरि उववादो णत्थि।

ध. ४/१,३,६/६५/१ ण विदियादिपंचपुढवीण परूवणा ओघपरूवणाए पदं पडि तुल्ला, तत्थ असंजदसम्माइट्ठीण उववादाभावादो। ण सत्तमपुढविपरूवणा वि णिरओघपरूवणाए तुल्ला, सासणसम्माइट्ठिमारणंतियपदस्स असंजदसम्माइट्ठिमारणंतिय उववादपदाणं च तत्थ अभावादो। १. इसी प्रकार (मिथ्यादृष्टिवत् ही) सासादन सम्यग्दृष्टि नारकियोंके भी स्वस्थानस्वस्थानादि समझना चाहिए। इतनी विशेषता है कि उनके उपपाद नहीं पाया जाता है। (अर्थात् यहाँ केवल स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना, कषाय, वैक्रियक व मारणान्तिक समुद्घात रूप छः पद ही सम्भव हैं। २. द्वितीयादि पाँच पृथिवियोंकी प्ररूपणा ओघ अर्थात् नरक सामान्यकी प्ररूपणाके समान नहीं है, क्योंकि इन पृथिवियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टियोंका उपपाद नहीं होता है। सातवीं पृथिवीकी प्ररूपणा भी नारक सामान्य प्ररूपणाके तुल्य नहीं है, क्योंकि, सातवीं पृथिवीमें सासादन सम्यग्दृष्टियों सम्बन्धी मारणान्तिक पदका और असंयत सम्यग्दृष्टि सम्बन्धी मारणान्तिक और उपपाद (दोनों) पदका अभाव है।

२. तिर्यञ्च गति

ध. १/१,१,८५/३२७/१ न तिर्यक्षूत्पन्ना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुव्रतान्याददते भोगभूमावुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः। तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतोको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योकि, (बद्धायुष्क) क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते है तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं, और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण करना बन नहीं सकता। (ध. १/१,१, १५६/४०२/६)।

प. खं. ४/१,३/सू.१०/७३ पंचिंदियतिरिक्खअपज्जत्ता…।

ध. ४/१,३,१०/७३/५ विहारवदिसत्थाणं वेउव्वियसमुग्घादो य णत्थि।

ध. ४/१,३,६/७२/८ णवरि जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठीणं उववादो णत्थि।

ध. ४/१,३,२१/८७/३ सत्थाण-वेदण-कसायसमुग्घादगदपंचिंदियअपज्जत्ता · मारणांतियउववादगदा। =१-२. पंचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्त जीवोके विहारवद् स्वस्थान और वैक्रियक समुद्घात नही पाया जाता (७३)। ३. योनिमति तिर्यचोमें असंयत सम्यग्दृष्टियोका उपपाद नहीं होता है। ४. स्वस्थानस्वस्थान, वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपादगत पंचेन्द्रिय अपर्याप्त (परन्तु वैक्रियक समुद्घातें नही होता)।

३. मनुष्य गति

प.खं.४/१,३/सू.१३/७६ मणुसअपज्जता केयडि खेत्ते, लोगस्स असंखेज्जदि भागे।१३।

ध. ४/१,३,१३/७६/२ सत्थाण-वेदण-कसायसमुग्घादेहि परिणदा…मारणंतियसमुग्घादो।…एवमुववादस्सावि। =अपर्याप्त मनुष्य स्वस्थान-स्वस्थान, वेदना व कषाय समुद्घातसे परिणत, मारणान्तिक समुद्घात गत तथा उपपादमें भी होते है। (इसके अतिरिक्त अन्य पदोमें नही होते)।

ध. ४/१,३,१२/७५/७ मणुसिणीसु असंजदसम्मादिट्ठीण उववादो णत्थि। पमत्ते तेजाहारसमुग्घादा णत्थि।=मनुष्यनियोमें असंयत सम्यग्दृष्टियोके उपपाद नही पाया जाता है। इसी प्रकार उन्हींके प्रमत्त-संयत गुणस्थानमें तैजस व आहारक समुद्घात नही पाया जाता है।

४. देव गति

ध. ४/१,३,१५/७९/३ णवरि असंजदसम्माइट्ठीणं उववादो णत्थि। वाणवेंतर-जोइसियाणं देवोघभगो। णवरि असंजदसम्माइट्ठीणं उववादो णत्थि। =असयत सम्यग्दृष्टियोका भवनवासियोमें अपपाद नही होता। वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवोंका क्षेत्र देव सामान्यके क्षेत्रके समान है। इतनी विशेषता है कि असंयत सम्यग्दृष्टियोको वानव्यन्तर और ज्योतिषियोमें उपपाद नहीं होता है।

३. इन्द्रिय आदि शेष मार्गणाओंमें सम्भव पदोंकी अपेक्षा

१. इन्द्रिय मार्गणा

प. खं. ४/१,३/सू १८/८४-तीइंदिय-बीइंदिय चउरिंदिया तस्सेव पज्जता अपज्जत्ता ।१८।

ध. ४/१,३,१८/८५/१ सत्थाणसत्थाण वेदण-कसाय-कसाय समुग्घाद-परिणदा · मारणंतिय उववादगदा।

ध. ४/१,३,१७/८४/६ बादरेइंदियअपज्जत्ताणं बादरेइंदियभंगो। णवरि वेउव्वियपदं णत्थि। सुहुमेइंदिया तेसिं चेव पज्जत्तापज्जत्ता य सत्थाण-वेदण-कसाय-मारणातिय उववादगदा सव्वलोगे।=१.२. दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा उनके पर्याप्त व अपर्याप्त जीव स्वस्थान-स्वस्थान, वेदना व कषायसमुद्घात तथा मारणान्तिक व उपपाद (पद मेंहोते है। वैक्रियक समुद्घातसे परिणत नहीं होते)। ३. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकोका क्षेत्र बादर एकेन्द्रिय (सामान्य) के समान है। इतनी विशेषता है कि बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकोके वैक्रियक समुद्घात पद नही होता है। (तैजस, आहारक, केवली व वैक्रियक समुद्घात तथा विहारवत्स्वस्थानके अतिरिक्त सर्वपद होते है) स्वस्थान-स्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, और उपपादको प्राप्त हुए सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव और उन्हीके पर्याप्त जीव सर्व लोकमे रहते है।

२. काय मार्गणा

ध ४/१,३,२२/९२/२ एव बादरतेउकाइयाण तस्सेव अपज्जत्ताणं च। णवरि वेउव्वियपदमत्थि। एवं वाउकाइयाणं तेसिमपज्जत्ताणं च।' सव्व अपज्जत्तेसु वेउव्वियपदं णत्थि।=इसी प्रकार (अर्थात् बादर अप्कायिक व इनही अपर्याप्त जीवोके समान, बादर तैजसकायिक और उन्हीके अपर्याप्त जीवोकी (स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थान, वेदना व कषाय समुद्घात, मारणान्तिक व उपपाद पद सम्बन्धी) प्ररूपणा करनी चाहिए। इतनी विशेषता है कि बादर तैजस कायिक जीवो के वैक्रियक समुद्घात पद भी होता है। इसी प्रकार बादर वायुकायिक और उन्हीके अपर्याप्त जीवोंके पदोका कथन करना चाहिए। सर्व अपर्याप्तक जीवोमें वैक्रियक समुद्घात पद नही होता।

३. योग मार्गणा

ध.४/१,३,२१/१०३/१ मणवचिजोगेसु उववादो णत्थि।=मनोयोगी और वचनयोगी जीवोमें उपपाद पद नहीं होता।

प. खं. ४/१,३/सू. ३३/१०४ ओरालियकाजोगीसु मिच्छाइट्ठी ओघ ।३३। ··उववादो णत्थि (धवला टी०)।

ध. ४/१,३,३४/१०५/३ ओरालियकायजोगे सासणसम्मादिट्ठि-असंजदसम्मादिट्ठीणमुववादो णत्थि। पमत्ते आहारसमुग्घादो णत्थि।

ध. ४/१,३,३६/१०६/४ ओरालियमिस्सजोगिमिच्छाइट्ठी सव्वलोगे। विहारवदिसत्थाण-वेउव्वियसमुग्घादा णत्थि, तेण तेसिं विरोहादो।

ध. ४/१,३,३६/१०७/७ ओरालियमिस्सम्हि ट्ठिदाणमोरालियमिस्सकायजोगेसु उववादाभावादो। अधवा उववादो अत्थि, गुणेण सह अक्कमेण उपात्तभवसरीरपढमसमए उवलंभादो, पंचावत्थावदिरित्तओरालियमिस्सजीवाणमभावादो च। =१. औदारिक काययोगियोमें मिथ्यादृष्टि जीवोका क्षेत्र मूल ओघके समान सर्वलोक है।३३।' किन्तु उक्त जीवोके उपपाद पद नहीं होता है। २ औदारिक काययोगमें · सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयत-सम्यग्दृष्टि जीवोके उपपाद पद नहीं होता है। प्रमत्तगुणस्थानमें आहारक समुद्घात पद नहीं होता है। ३. औदारिक मिश्र काययोगी मिथ्यादृष्टि जीव सर्व लोकमे रहते है। यहाँ पर विहारवत् स्वस्थान और वैक्रियक स्वस्थान ये दो पद नहीं होते है, क्योंकि औदारिक मिश्र काययोगके साथ इन पदोका विरोध है। ४. औदारिक-मिश्र काययोगमें स्थित जीवोका पुन' औदारिकमिश्र काययोगियोमें उपपाद नही हो है। (क्योकि अपर्याप्त जीव पुन' नहीं मरता) अथवा उपपाद होता है, क्योकि, सासादन और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानके साथ अक्रमसे उपात्त भव शरीरके प्रथम समयमें (अर्थात् पूर्व भवके शरीरको छोडकर उत्तर भवके प्रथम समयमें) उसका सद्भाव पाया जाता है। दूसरी बात यह है, कि स्वस्थान-स्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, केवलिसमुद्घात और उपपाद इन पाँच अवस्थाओके अतिरिक्त औदारिकमिश्र काययोगी जीवोका अभाव है।

प ख. ७/२ ६/५९,६१/३४३ वेउव्वियकायजोगी सत्थाणेण समुग्घादेण केवडि खेत्ते।।५९। उववादो णत्थि।६१।

ध. ४/१,३,३७/१०९/३ (वेउव्वियकायजोगीसु) सव्वत्थ उववादो णत्थि।

ध. ७/२,३,६४/३४४/१ वेउव्वियमिस्सेण सह-मारणातियउववादेहि सह विरोहो। १. वैक्रियक काययोगी जीवोके उपपाद पद नहीं होता है। २ वैक्रियक काययोगियोमें सभी गुणस्थानोमें उपपाद नही होता है। ३. वैक्रियक मिश्रयोगके साथ मारणान्तिक व उपपाद पदोका विरोध है।

ध. ४/१,३,३९/११०/३ आहारमिस्सकायजोगिणो पमत्तमजदा · सत्थाणगदा ।

ध ७/२,६,६५/३४५/१० (आहारकायजोगी)– सत्थाण-विहारवदि सत्थाथणपरिणदा · मारण तियसमुग्घादगदा। १.आहारक मिश्रकाययोगी स्वस्थानस्वस्थान गत (ही है। अन्य पदोंका निर्देश नहीं है)। २. आहारककाययोगी स्वस्थानस्वस्थान, विहारवत्स्वस्थानसे परिणत तथा मारणान्तिक समुद्घातगत (से अतिरिक्त अन्यपदोका निर्देश नहीं है।)

ध. ४/१,३,४०/११०/७ सत्थाण-वेदण-कसाय-उववादगदाकम्मइयकायजोगिमिच्छादिट्ठिणो।=स्वस्थानस्वस्थान, वेदनासमुद्घात, कषाय-समुद्घात, और उपपाद इन पदोको प्राप्त कार्माण काययोगी मिथ्यादृष्टि (तथा अन्य गुणस्थानवर्तीमें भी इनसे अतिरिक्त अन्यपदोंमें पाये जानेका निर्देश नही मिलता)।

४. वेद मार्गणा

ध. ४/१,३४३/१११/८ इत्थिवेद ··असजदसम्मादिट्ठिम्हि उववादो णत्थि। पमत्तसजदेण होंति तेजाहारा।

ध ४/१,३,४४/११३/१ (णवुसयवेदेसु) पमत्ते तेजाहारपदं णत्थि। =१. असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें स्त्रीवेदियोंके उपपाद पद नहीं होता है। तथा प्रमत्तसयत गुणस्थानमें तैजस समुद्घात नहीं होते हैं। २. प्रमत्तसंयत गुणस्थानमे नपुसकवेदियोंके तैजस आहारक समुद्घात ये दो पद नहीं होते है। (असयत सम्यग्दृष्टिमे उपपाद पदका यहाँ निषेध नही किया गया है।)

५ ज्ञान मार्गणा

ध /४/१,३,५३/११८/६ विभगणाणी मिच्छाइट्ठी ·उववाद पदं णत्थि। सासणसम्मदिट्ठी वि उववादो णत्थि। =विभगज्ञानी मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उपपाद पद नही होता।

६. संयम मार्गणा

ध /४/१,६१/१२३/७ (परिहारविसुद्धिसंजदेसु (मूलसूत्रमें) पमत्तसजदे तेजाहार णत्थि। =परिहार विशुद्धि सयतोंमे प्रमत्त गुणस्थानवर्तीको तैजस समुद्घात और आहारक समुद्घात यह दो पद नहीं होते हैं।

७ सम्यक्त्व मार्गणा

ध ४/१,३,८२/१३५/६ पमत्तसजदस्स उवसमसम्मत्तेण तेजाहारं णत्थि। =प्रमत्त संयतके उपशम सम्यक्त्वके साथ तैजस समुद्घात और आहारक समुद्घात नहीं होते हैं।

८. आहारक मार्गणा

ष खं ४/१,३,/सू ८८/१३७ आहाराणुवादेण ··८८।

ध ४/१,३,८९/१३७/६ सजोगिकेवलिस्स वि पदर-लोग-पूरणसमुग्घादा वि णत्थि, आहारित्ताभावादो। =आहारक सयोगीकेवलीके भी प्रतर और लोकपूरण समुद्घात नहीं होते है, क्योकि, इन दोनों अवस्थाओं-में केवलीके आहारपनेका अभाव है।

ष. ख /४/,३/सू.९०/१३७ अणाहारएसु ।९०।

ध ४/१,३/९२/१३८/८ पदरगतो सजोगिकेवली···लोकपूरणे—पुण· · भवदि। =अनाहारक जीवोंमें प्रतर समुद्घातगत सयोगिकेवली तथा लोकपूरण समुद्घातगत भी होते हैं।

४. मारणान्तिक समुद्घातके क्षेत्र सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध ११/४,२,५,१२/२२/७ के वि आइरिया एवं होदि त्ति भण ति। तं जहा-अवरदिसादो मारण तियसमुग्घाद कादूण पुव्वदिसमागदो जाव लोगणालीए अत पत्तो त्ति। पुणो विग्गह करिय हेट्ठा छरज्जुपमाणं गतूण पुणरवि विग्गह करिय वारुणदिसाए अद्धरज्जुपमाणं गतूण अवहिट्ठाणम्मि उप्पण्णस्स खेत्त होदि त्ति। एदं ण घडदे, उववाद-ट्ठाण ओलेदूण गमणं णत्थि त्ति पवाइज्जत उवदेसेण सिद्धत्तादो। =ऐसा कितने ही आचार्य कहते है—यथा पश्चिम दिशासे मार-णान्तिक समुद्घातको करके लोकनालीका अन्त प्राप्त होने तक पूर्व दिशामें आया। फिर विग्रह करके नीचे छह राजू मात्र जाकर पुन विग्रह करके पश्चिम दिशामे (पूर्व ——←——o ↓ →—o पश्चिम) (इस प्रकार) आध राजू प्रमाण जाकर अवधिस्थान नरकमें उत्पन्न होनेपर उसका (मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त महा मत्स्यका) उत्कृष्ट क्षेत्र होता है। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, यह 'उपपादस्थानका अतिक्रमण करके गमन नहीं करता' इस परम्परागत उपदेशसे सिद्ध है।
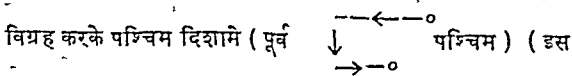
४. क्षेत्र प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेत परिचय

सर्व	सर्व लोक।
त्रि	त्रिलोक अर्थात् सर्वलोक
ति	तिर्यक्लोक (एक राजू/६६०० योजना)
द्वि	ऊर्ध्व व अधो दो लोक।
च	चतु लोक अर्थात मनुष्य लोक रहित सर्व लोक
म	मनुष्य लोक या अढाई द्वीप।
असं	असंख्यात।
सं	संख्यात।
सं ब.	संख्यात बहुभाग।
स. घ.	संख्यात घनांगुल।
/	भाग
×	गुणा।
क	
ख	पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग।
स्व ओघ	गुणस्थान निरपेक्ष अपनी अपनी सामान्य प्ररूपणा।
मूलोघ	गुणस्थानोंकी मूल प्रथम प्ररूपण।
और भी	देखो आगे।

मा/क $\frac{\text{जीवोंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{क २}} \times \frac{\text{क}-१}{\text{क}} \times \text{क} \times \text{सं. प्रतरांगुल} \times १ \text{ राजू} =$ मारणान्तिक समुद्घात सम्बन्धी क्षेत्र।

उप/क $\frac{\text{जीवोंकी स्व स्व ओघ राशि}}{\text{क २}} \times \frac{\text{क}-१}{\text{क २}} \times \text{स प्रतरांगुल} \times १ \text{ राजू} =$ उपपाद क्षेत्र।

मा/ख $\frac{\text{तिर्यंचोंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{ख २}} \times \text{क} - १ \times \text{स प्रतरांगुल} \times १ \text{ राजू} =$ मारणान्तिक समुद्घात सम्बन्धी क्षेत्र।

उप/ख $\frac{\text{तिर्यंचोंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{ख ३}} \times \text{क} - १ \times \text{सख्यात प्रतरांगुल} \times ३ \text{ राजू} =$ उपपाद क्षेत्र।

मा/ग $\frac{\text{मनुष्योंकी स्व स्व अघोराशि}}{\text{क} \times \text{ख}} \times \text{क} - १ \times \text{सख्यात प्रतरांगुल} \times १ \text{ राजू} =$ मारणान्तिक समुद्घात सम्बन्धी क्षेत्र।

उप/ग $\frac{\text{मनुष्योंकी स्व स्व ओघराशि}}{\text{क} \times \text{ख २}} \times \text{क} - १ \times \text{संख्यात प्रतरांगुल} \times १ \text{ राजू} =$ उपपाद क्षेत्र।

२. जीवोंके क्षेत्रकी ओघ प्ररूपणा

संकेत—दे० क्षेत्र/४/१.   प्रमाण—१ (ध ४/१,३,२–९२/१०–१३८); २. (ध ७/२,६,१–१२४/२९९–३६६)

प्रमाण न. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्धात	वैक्रियक समुद्धात	मारणान्तिक समुद्धात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्धात
१०–४३		मिथ्यादृष्टि	१	सर्व पृ.३६ (देवसामान्य प्रधान)	ति/स; द्वि/अस, म×असं	ति/सं	ति/सं; द्वि/असं; म×अस (ज्योतिष देवों प्रधान)	सर्व	मारणान्तिकवत्	
३६–४३		सासादन	२	त्रि./असं, म×असं पृ ४० (सौधर्मेशान प्रधान)	त्रि/अस;×सं.घ.; म×असं	त्रि/असं×सं.घ, म×असं	त्रि/असं×स.घ.; म×असं	त्रि/अस ; म×असं	"	
"		सम्यग्मिथ्यात्व	३	"	"	"	"		"	
"		असंयत सम्यक्त्व	४	"	"	"	"	त्रि/असं; म×असं	"	
४४		संयतासंयत	५	"	"	"	"	"		
४६		प्रमत्त संयत	६	च/असं; म/सं	च/असं; म/सं	च/असं, म/स	(विष्णुकुमार मुनिवत्) च/असं; म/सं	च/असं; म/अस		आहारक : च/असं म/सं; तैजस : आहारक/असं; केवली ·
४७		अप्रमत्त संयत	७	"	"			"		
"		उपशामक	८–११	"				"		
"		क्षपक	८–१२	"						
[illegible]		सयोग केवली	१३	"	च/असं; म/सं					दण्ड : च/असं; म×असं; कपाट : ति/सं, म×अस; प्रतर ' वातावलय हीन; सर्व लोकपूर्ण सर्व
"										
"		अयोग केवली	१४							

३ जीवोंके क्षेत्रकी आदेश प्ररूपणा

संकेत—दे० क्षेत्र/४/१.   प्रमाण—१. (ध. ४/१,३,२–९२/१०–१३८); २. (ध. ७/२,६,१–१२४/२९९–३६६).

प्रमाण न. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थानस्वस्थान	विहारवत्स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्धात	वैक्रियक समुद्धात	मारणान्तिक समुद्धात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्धात
१ गति मार्गणा										
	३०१–३०३	नरक गति सामान्य		च/असं / संख ; म×असं / संख.	च/असं / सं. ; म×अस / सं.	च/असं / सं. ; म×असं / सं.	च/असं / सं. ; म×अस / सं.	च/अस / सं. ; म×असं / सं.	मारणान्तिकवत्	
५७–६६	"	१–७ पृथिवी सामान्य	१	" च/असं; म×सं	" च/असं, म×सं.	" च/अस; म×सं	" च/असं; म×सं	" च/असं, ति×असं, म×स	"	

प्रमाण ष.ख./पृ.	ध./३ पृ.	मार्गणा	गुणस्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
६०-६१			२	च/असं; म×सं	च/असं; म×सं	च/असं, म×सं	च/असं; म×स	च/असं; म×अस		
६१			३	"	"	"	"	"	मारणान्तिकवत्	
६२			४	"	"	"	"	—	—	
६३		प्रथम पृथिवी	१-४	—	—	स्व ओघ (नारकी सामान्य) वत्				
६२		२-६ पृथिवी	१	च/अस; म×स	च/अस, म×स.	च/अस; म×सं	च/असं; म×सं	च/असं; म×अस	मारणान्तिकवत्	
"			२	"	"	"	"	"		
"			३	"	"	"	"			
"			४	"	"	"	"	च/असं, म×असं	मारणान्तिकवत्	
"		सप्तम पृथिवी	१	"	"	"	"	"	"	
"			२	"	"	"	"			
"			३-४	"	"	"				
		तिर्यंच गति								
	३०४	सामान्य		सर्व	ति/स; त्रि/असं; म×असं	सर्व	च/असं, म×अस	सर्व	"	
	३०६	पंचेन्द्रियतिर्यसामान्य		त्रि/अस; म×असं	त्रि/असं; म×असं	ति/अस; म×अस	ति/अस, म×असं	ति×असं, त्रि/असं, म×असं	"	
	"	" पर्याप्त		"	"	"	"	"	"	
	"	" योनिमति		"	"	"	"	"	"	
	३०८	" लब्ध्यपर्याप्त		च/असं; म×असं		च/असं; म×असं		"	"	
६६		सामान्य	१	सर्व	ति/सं; द्वि/असं	ति/सं; द्वि/असं	ति/अस	मा./क.	"	
६७			२	च/असं; म×असं	च/असं; म×असं	च/असं; म×असं	च/अस; म×असं	"	"	
६८			३	"	"	"	"		"	
६७			४	"	"	"	"	मा./क.	"	
६८			५	"	"	"	"	मा/क; च/असं; म×असं	"	
७०		पंचेन्द्रिय सामान्य	१	त्रि/असं; ति/सं; म×असं	स्वस्थानसे कुछ कम	स्वस्थानसे कुछ कम	च/असं; म×असं	पा/ख. (ति/असं, ति×असं	मारणान्तिकवत्	
.			२	"	"	"	"	"	"	
"			३	"	"	"	"	...	...	
७०-७			४	"	"	"	च/असं म×असं	मा/ख (त्रि/असं; ति×असं)	मारणान्तिकवत्	
"			५	"	"	"	"	"	...	
"		पंचेन्द्रि पर्याप्त	१-५	—	—	स्व ओघ (तिर्यंच सामान्य) वत्		—	—	
७०		" योनिमति	१-३	—	—	—	"	—	—	
७०-७२			४-५	—	—	—	"	—	—	

प्रमाण नं० १ पृ	प्रमाण नं० २ पृ	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक
७३		,, लब्ध्यपर्याप्त	१	त्रि/असं; म×असं	...	त्रि/अस,म×असं		मा/ख (त्रि/असं; म×असं)	मारणान्तिकवत्	
		मनुष्य गति—								
	३०९	सामान्य	...	च/अस	च/असं	च/असं; म×सं०	च/असं; म×सं	त्रि/असं; ति×असं; म×असं	,,	मूलोघवत
	३०९-३१०	मनुष्य पर्याप्त	.	,,	,,	,,	,,	च/असं; म×असं	,,	मूलोघवत
	,,	मनुष्यणी	...	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
	३११	लब्ध्यपर्याप्त	...	च/असं; म×असं	...	च/असं; प×असं		त्रि/अस; ति×असं; म×अस	,,	
७४		सामान्य	१	च/अस; म/सं	च/असं; म/सं.	च/असं; म/सं	च/असं; म/सं	,,	,,	
,,			२	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
७५			३	,,	,,	,,	,,	त्रि/असं; ति×अस; म×अ	,,	
७४			४	,,	,,	,,	,,		,,	
७५			५	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
,,			६-१३	—	—	मूलोघवत	—	—	—	
७४-७५		मनुष्य पर्याप्त	१-१३	—	—	स्व ओघवत	—	—	—	
,,		मनुष्यणी	१-५	—	—	,,	—	—	४ गुणस्थानमें भी उपपाद नहीं है	
,,			६	—	—	मूलोघवत्	—	—		
,,			७-१३	—	—	,,	—	—	—	
७६		लब्ध्यपर्याप्त	१	च/असं; म/स		च/अस; म/सं०		त्रि/असं; ति×अस; म×असं	मारणान्तिक वत्	
		देव गति.—								
	३१४-३१५	सामान्य (ज्योतिषी प्रधान)		त्रि/असं / स व. ; ति/स / स व. ; म×अस / सं वं	त्रि/असं / स , ति/सं / सं ; म×असं / स.	ति/असं / सं० , ति/सं / सं० , म×असं / स०	त्रि/अस / सं० , ति/स० / सं , म×असं / स०	ति/असं; ति×असं, म×असं	,,	
	३१६	भवनवासी		च/अस / सं ब , म×अस / स ब	च/असं / सं व. , म×असं / स व.	च/असं / मं , म×असं / सं०	च/अस. / स० ; म×असं / सं	,,	,,	
	३१७	व्यन्तर ज्योतिषी		—	—	देव सामान्यवत्	—	—	—	
	३१८	सौधर्म-ईशान		—	—	भवनवासी वत्	—	—	—	
	३१९	सनत्कुमार-अपराजित		—	—	,,	—	—	—	

प्रमाण नं० १ पृ	प्रमाण नं० २ पृ	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समु०
७७	३१९	सर्वार्थसिद्धि सामान्य	१	म+सं/सं. व त्रि/अस, ति/स, म×असं	म+सं/म त्रि/अस, ति/सं, म×असं	म+सं/सं त्रि/असं, ति/अस, म×असं	म+सं/सं त्रि/असं/ति/सं, म×असं	म+सं/म त्रि/असं; ति/सं, म×असं	मारणान्तिकवत् ,,	
,,			२-४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	
७७-७९		भवनवासी	१	च/असं, ति/असं, म×असं	च/असं, ति/असं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	च/असं, ति/अस, म×अस	च/असं, ति/असं, म×असं	मारणान्तिकवत्	
७९			२-४	—	—	मूलोघवत्	—	—	४थे गुणस्थानमें उपपाद नहीं	
,,		व्यन्तर ज्योतिषी	१-४	—	—	स्वओघ (देवसामान्य)वत्		—		
७९-८०		सौधर्म ईशान	१	—	भवनवासी वत्	—	—	स्वओघ (दे०	मारणान्तिकवत्)	
८०			२-४	—		स्वओघ (देवसामान्य)वत्	—	—	—	
,,		सनत्कुमार से उपरिमग्रैवेयक	१	—	—	,,	—	—	—	
			२-४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	
८१		अनुदिशसे जयन्त	४	च/अस, म×अस	च/असं, म×असं	च/अस, म×अस	च/असं, म×असं	च/अस, म×असं	मारणान्तिकवत्	
,,		सर्वार्थसिद्धि	४	म/सं	म/सं	म/स	म/स	,,	,,	
२ इन्द्रिय मार्गणा:—										
	३२१	एकेन्द्रिय सामान्य		सर्व		सर्व	च/असं	सर्व	,,	
	,,	,, सू० प० अप०		,,		,,		,,	,,	
	३२२	,, बा० प० अप०		त्रि/स. ति×असं, म×असं		त्रि/अस, ति×अस, म×अस	पर्याप्तमें च/असं व अप० में ×	,,	,,	
	३२४	विकलेन्द्रिय सामान्य		त्रि/असं; ति/सं, म×अस	त्रि/असं, ति/सं, म×अस	त्रि/अस, ति/स, म×असं		त्रि/सं, ति×अस, म×असं	,,	
	,,	,, पर्याप्त		—	—	विकलेन्द्रिय सामान्य	—	—	—	
	३२५	,, अपर्याप्त		च/अस, म×असं	च/अस, म×असं	च/असं, म×अस		त्रि/अस, ति/असं, म×अस	मारणान्तिकवत्	
	३२६	पंचेन्द्रिय सामान्य		त्रि/अस, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×अस	त्रि/अस, ति/स, म×असं	,,	,,	मूलोघवत्
	,,	,, पर्याप्त		,,	,,	,,	,,	,,	,,	
	,,	,, अपर्याप्त		च/अस, म×अस		च/अस, म×असं		,,	,,	
८२-८४		एकेन्द्रिय सर्व विकल्प	१	—	—	स्व सामान्यवत्	—	—	—	
८५		विकलेन्द्रिय ,, ,,	१	—	—	,,	—	—	—	
८६		पंचेन्द्रिय सा० व प०	१	त्रि/अस, ति/स, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×अस	त्रि/अस, ति×अस, त्र×अस	मारणान्तिकवत्	
,,			२-१४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	
८७		पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	१	च/असं, म×अस		च/अस, म×अस		त्रि/अस, ति×अस, म×असं	मारणान्तिकवत्	

प्रमाण नं० १ पृ.	प्रमाण नं० २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
३. काय मार्गणा										
	३२६	पृथिवी सूक्ष्म पर्याप्त		सर्व		सर्व		सर्व	मारणान्तिक वत्	
	,,	,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	३३४	,, बादर पर्याप्त		च/असं, म×अस		च/अस, म×असं		त्रि/असं, ति×असं, म×असं	,,	
	३३०–३३३	,, ,, अपर्याप्त		त्रि/असं, ति×स, म×असं		त्रि/असं, ति×सं, म×असं		सर्व	,,	
	३२६	अप. के सर्व विकल्प		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	,,	तेज सूक्ष्म पर्याप्त		सर्व		सर्व	सर्व/असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	,,	,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३५	,, बादर पर्याप्त		सर्व/असं		सर्व/असं	सर्व/असं, ति/सं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	३३०–३३०	,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३६	वायु सूक्ष्म पर्याप्त		सर्व		सर्व	च/असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	,,	,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३७	,, बादर पर्याप्त		त्रि/असं, ति×असं, म×असं		त्रि/असं, ति×असं, म×असं	च/असं	त्रि/सं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	३४६	,, ,, अपर्याप्त		,,		त्रि/सं, ति×असं, म×असं	,,	सर्व	,,	
	३३५	वन अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त		ति/सं		ति/सं		त्रि/सं, ति×असं, म×असं	,,	
	३३०–३३३	,, ,, ,, अपर्याप्त		—	—	पृथिवी वत्	—	—	—	—
	३३७–३३६	,, प्रतिष्ठित सू. पर्याप्त		त्रि/असं, ति×सं, म×असं		त्रि/असं, ति×सं, म×असं		त्रि/असं, ति×सं, म×अस	मारणान्ति वत्	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, बा० पर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, साधारण निगोद सू० पर्याप्त		सर्व		सर्व		सर्व	,,	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, बा० पर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	,, ,, ,, ,, अपर्याप्त		,,		,,		,,	,,	
	,,	त्रसके सर्व विकल्प		—	—	पंचेन्द्रिय वत्	—	—	—	—

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
९८-१००		स्थावर के सर्व विकल्प	१	—	—	स्व स्व ओघ वत्	—	—	—	
१०१		त्रस काय पर्याप्त	१	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं	मारणान्तिक वत्	
,,			२-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	
,,		,, ,, अपर्याप्त	१	च/असं, म×असं		च/असं, म×असं		त्रि/असं, ति×असं	मारणान्तिक वत्	
४ योग मार्गणा										
	३४१	पाँचों मनोयोगी		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं		तैजस आहारक मूलोघ वत्
	,,	,, वचन योगी		,,		,,	,,	,,		,,
	३४१-३४२	काय योगी सामान्य		सर्व	,,	सर्व	,,	सर्व	मारणान्तिक वत्	तीनों मूलोघ वत्
	३४२-३४३	औदारिक काय योगी		,,	,,	,,	च/असं, म×असं	,,		केवल दण्ड समु ,, प्रतर ,,
	३४१-३४२	,, मिश्र ,, ,,		,,		,,		,,	मारणान्तिक वत्	
	३४३	वैक्रियक काय योगी		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं		
	३४४	,, मिश्र ,, ,,		,,		,,				
	३४५	आहारक ,, ,,		च/असं, म/सं.	च/असं, म/सं			च/असं, म×असं		
	३४६	,, मिश्र ,, ,,		,,						
,,	,,	कार्माण काय योगी		सर्व		सर्व			सर्व	प्रतर व लोक पूर्ण
१०२		पाँचों मनो योगी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१०३			२-१३	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१०२-१०३		पाँचों वचन योगी	१-१३	—	—	मनोयोगी वत्	—	—	—	—
१०३		काय योगी सामान्य	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१०३-१०४			२-१३	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१०४		औदारिक काय योगी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—		
१०५			२-४	त्रि/असं, सं, घ, म×असं	त्रि/असं, सं, घ, म×असं	त्रि/असं, सं, घ, म×असं	त्रि/असं, सं, घ, म×असं	त्रि/असं, म×असं		
,,			५-१३	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	—
१०६		औदारिक मिश्र काय योगी	१	सर्व		सर्व		सर्व	मारणान्तिक वत्	

प्रमाण नं० १ पृ.	प्रमाण नं० २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
१०७			२	च/असं, म×अस		च/असं, म×असं			"	
"			४	च/असं, म/सं		च/असं, म/सं			"	
१०८			१३						"	मूलोघ वत् केवल कपाट
"		वैक्रियक काय योगी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१०९			२-४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
"		वैक्रियक मिश्र काय योगी	१-२	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
"			४	च/असं, म×असं		च/असं, म×असं			मारणान्तिक वत्	
११०		आहारक काय योगी	६	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
"		आहारक मिश्र काय योगी	६	—	—	"	—	—	—	—
११०		कार्माण काययोगी	१	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—	
"			२,४	च/असं, म×अस	च/असं, म×असं				च/असं, म×असं	
१११			१३							ओघ वत् प्रतर व लोकपूर्ण
५. वेद मार्गणा—										
	३४७	स्त्रीवेदी (देवीप्रधान)		त्रि/असं, ति/स, म×अस	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	३४७	पुरुष वेदी		"	"	"	"	"	"	केवल तैजस व आहा मूलोघ वत्
	३४८	नपुंसक वेदी		सर्व	"	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	"	
	"	अपगत वेदी		च/असं, म/सं				च/असं, म×असं		
१११		स्त्री वेदी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
"			२-९	—	—	मूलोघ वत्	—	—	चौथेमें उपपा.नही	
११२		पुरुषवेदी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	
"			२-९	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	केवल तै० आ०
११३		नपुंसक वेदी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
"			२-९	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	
११४		अपगद वेदी (उप०)	९-११	च/असं, म/सं				च/अस, म×अस		
"		" (क्षपक)	९-१२	"						
"			१३-१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—

प्रमाण नं० १ पृ.	प्रमाण नं० २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस, आहारक व केवली समुद्घात
६. कषाय मार्गणा—										
	३५०	चारों कषाय		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	केवल तै० अ० मूलोघ वत्
	”	अकषाय		—	—	अपगत वेदी वत्	—	—	—	—
११५		चारों कषाय	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	
११६			२,४	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
”			३	”	”	”	”			
”			५	”	”	”	”	च/असं, म×असं		
”			६–९	च/असं, म/सं	यथायोग्य च/सं, म/सं	यथायोग्य च/असं, म/सं	यथायोग्य च/असं. म/स	”		केवल तै० आ० मूलोघ वत्
११७		लोभ कषाय	१०	”				त्रि/असं		
११६		अकषाय	११–१३	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
७. ज्ञान मार्गणा										
	३५०	मति श्रुत अज्ञान		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	ति/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	३५१	विभंग ज्ञान		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/स, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं म×असं		
”	३५२	मति श्रुत ज्ञान		च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	केवल तै• आ• मूलोघ वत्
”	”	अवधि ज्ञान		”	”	”	”	”	”	”
”	३५१	मनः पर्यय ज्ञान		च/असं, म/असं	च/असं, म/असं	च/असं, म/सं		च/असं, म×असं		
”	३५२	केवल ज्ञान		”	”					केवल केवली समुद्घात मूलोघ वत्
११७		मति श्रुत अज्ञान	१	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, द्वि/असं	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, द्वि/असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
११८			२	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
”		विभंग ज्ञान	१			स्व ओघ वत्			—	—
११९			२	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, ति×असं म×असं		
”		मति श्रुत ज्ञान	४–१२	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
”		अवधि ज्ञान	४–१२			”			—	—
”		मनः पर्यय ज्ञान	६–१२			”			—	—
१२०		केवल ज्ञान	१३–१४			”			—	—

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
८. सयम मार्गणा—										
	३५४	सयन सामान्य		च/असं, म/सं	च/असं, म/स	च/अस, म/सं	च/असं, म/स	च/असं, म×असं		मूलोघ वत्
	”	सामायिक छेदोप०		”	”	”	”	”		केवल तै.आ.मूलोघवत्
	३५२	परिहार विशुद्धि		”	”	”	”			
	”	सूक्ष्मसाम्पराय		”				च/असं, म×असं		
	३५४	यथाख्यात		च/असं, म/सं	च/असं, म/सं	च/असं, म/सं	च/असं, म/सं	च/असं, म×असं		केवल केवली समु० मूलोघ वत्
	३५५	सयतासंयत		त्रि/असं, म×असं	त्रि/असं, म×असं	त्रि/असं, म×अस	त्रि/असं, म×असं	त्रि/असं, म×असं		
	”	असयत		—	—	नपुसक वेद वत्	—	—	—	—
१२१		संयत सामान्य	६×१४	—	—	मूलोघवत्	—	—	—	—
१२२		सामायिक छेदोप०	६–९	—	—	”	—	—	—	—
१२३		परिहार विशुद्धि	६–७	—	—	”	—	—	—	—
१२४		सूक्ष्म साम्पराय	१०	—	—	”	—	—	—	—
”		यथाख्यात	११–१४	—	—	”	—	—	—	—
”		संयमासयम	५	—	—	”	—	—	—	—
”		असंयम	१–४	—	—	”	—	—	—	—
९. दर्शन मार्गणा—										
	३५६	चक्षुदर्शन		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×अस	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिकवत् केवल लब्ध्यपेक्षा	तै० व आ० ओघवत् केवली समुद्घात नहीं
	”	अचक्षुर्दर्शन		—	—	नपुंसक वेद वत्	—	—	—	—
	३५७	अवधिदर्शन		—	—	अवधि ज्ञान वत्	—	—	—	—
	”	केवल दर्शन		—	—	केवल ज्ञान वत्	—	—	—	—
१२६		चक्षुर्दर्शन	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१२७			२–१२	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	
”		अचक्षुदर्शन	१–१४	—	—	”	—	—	—	—
”		अवधिदर्शन	४–१२	—	—	अवधि ज्ञान वत्	—	—	—	—
”		केवलदर्शन	१३–१४	—	—	केवल ज्ञान वत्	—	—	—	—
१०. लेश्या मार्गणा—										
	३५७	कृष्णनील कापोत		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	त्रि./असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
	३५८	तेज (देवप्रधान)		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं/ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	”	

प्रमाण नं. १ पृ.	प्रमाण नं. २ पृ.	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
	३६६	पद्म		,, (तिर्यंच प्रधान)	त्रि/असं/ति/सं, म×अस	त्रि/अस, ति/सं, म×असं	च/असं, म×असं (सनत्कुमार माहेन्द्र प्रधान)	त्रि/असं, ति×असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
	,,	शुक्ल		च/असं, म×असं	च/असं, म×अस	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	,,	मूलोघ वत्
१२८		कृष्णनील कापोत	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,		,,	२–४	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	—
१२९		तेज	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१३०			२–७	—	—	मूल ओघ वत्	—	—	—	—
,,		पद्म	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२–७	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		शुक्ल	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२–१३	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
११. भव्यत्व मार्गणा—										
	३६०	भव्य		—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
		अभव्य		सर्व	च/अर्ष, म×असं	सर्व	च/असं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	
१३१		भव्य	१–१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१३२		अभव्य	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१२. सम्यक्त्व मार्गणा—										
	३६१	सम्यक्त्व सामान्य		च/असं, म×असं	च/अस, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	मूलोघ वत्
	,,	क्षायिक		,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
	३६२	वेदक		,,	,,	,,	,,	,,	,,	केवल तैजस व आहारक मूलोघ वत्
	,,	उपशम		—	उपशम सम्यग्दृष्टि संख्या-	मे वेदकसे कुछ कम है	अतः वेदक वत् अर्थात्	उससे किंचित ऊन	उनका क्षेत्र है	—
	,,	सासादन		च/अस, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/असं, म×असं	च/अस, म×अस	मारणान्तिक वत्	
	३६४	सम्यग्मिथ्यात्व		,,	,,	,,	,,			
	,,	मिथ्यात्व		—	—	नपुंसक वेद वत्	—	—	—	—
१३३		सम्यक्त्व सामान्य	४–१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		क्षायिक	४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,			५	—	—	मनुष्य पर्याप्त वत्	—	—	—	—
,,			६–१४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
१३४		वेदक	४–७	—	—	,,	—	—	—	—

प्रमाण नं०१ पृ०	प्रमाण नं०२ पृ०	मार्गणा	गुण स्थान	स्वस्थान स्वस्थान	विहारवत् स्वस्थान	वेदना व कषाय समुद्घात	वैक्रियक समुद्घात	मारणान्तिक समुद्घात	उपपाद	तैजस आहारक व केवली समुद्घात
१३५		उपशम	४	च/असं, म×असं	च/अस, म×अस	च/अस, म×असं	च/अस, म×असं	च/असं, म×असं	मारणान्तिक वत्	
१३६			५	,,	,,	,,	,,	,,	—	
१३५			६–११	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		सासादन	२	—	—	,,	—	—	—	—
,,		सम्यग्मिथ्यादृष्टि	३	—	—	,,	—	—	—	—
,,		मिथ्यादृष्टि	१	—	—	,,	—	—		
१३ संज्ञी मार्गणा										
	३६४ ३६५	संज्ञी		त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/अस, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	त्रि/असं, ति×अस, म×असं	मारणान्तिक वत्	मूलोघ वत्
		असंज्ञी		सर्व	,,	सर्व	,,	सर्व	,,	
१३६		संज्ञी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
,,			२–४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	—	—
,,		असंज्ञी	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	—
१४ आहारक मार्गणा										
	३६६	अहारक		सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×अस	सर्व	त्रि/असं, ति/सं, म×असं	सर्व	मारणान्तिक वत्	केवल दण्ड कपाट समु मूलोघ वत्
	,,	अनाहारक		सर्व					सर्व	केवल प्रतर व लोक पूर्ण मूलोघ वत्
१३७		आहारक	१	—	—	स्व ओघ वत्	—	—	—	
,,			२–४	—	—	मूलोघ वत्	—	—	शरीर ग्रहण के प्रथम समयमें मूलोघ वत्	केवल दण्ड व प्रतर मूलोघ वत्
,,		अनाहारक	१						सर्व	
,,			२–४						च/असं, म×अस	
,,			१३							प्रतर व लोक पूर्ण मूलोघ वत्

४. अन्य प्ररूपणाएँ

नं०	पद विशेष	प्रकृति		स्थिति		अनुभाग		प्रदेश	
		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति
(१)	अष्टकर्मोंके बन्धके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा। प्रमाण—(म. ब/पु नं०/§…/पृ० सं०)								
१	ज. उ. पद		१/२८१–२६१/१८६–१६०	२/१६१–१६६/६३–१०१	३/४७१–४७७/२१३–२१७	४/२०३–२०७/८७–६१	५/३३८–३४७/१४२–१५१	६/१३१–१३२/६६–७१	
२	भुजगारादि पद			२/३०६/१६२–१६३	३/७७२–४७४/३६५–३६७	४/२८६/१३४	५/५१०–५१२/२८३–२८५		
३	वृद्धि हानि			२/३६०/११७–१६८	३/६२६–६३२/४५३–४५५	५/३६३/१६५	५/६२०/३६५		
(२)	अष्ट कर्म सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा प्रमाण—(म.ब./पु.न./§ ··/पृ० नं०…)							ध.११/५३–७४	
१	ज. उ. पद								
२	भुजगारादि पद								
३	वृद्धि हानि								
(३)	मोहनीयके सत्त्वके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा प्रमाण—(क.पा./पु.न./…/पृ.नं…)								
१	वेज्ज दो सामान्य	१/३८३/३६८–३६६							
२	२४, २८ आदि स्थान		२/३६०–३६१/३२४–३२६						
३	ज. उ पद.	२/७७–८०/५३–६०	२/१७५/१६३–१६५	३/११२–११८/६४–६८	३/६१६–६२१/३६४–३६८	५/६८–१०२/६२–६५	५/३५७–३८५/३२६–३२७		
४	भुजगारादि पद	२/४५३/४०८–४०६		३/२०३–२०५/११६–११७	४/११४–११७/५६–६०	५/१५५/१०३	५/४६६/२६०–२६१		
५	वृद्धि हानि	२/५१५–५१७/४६३		३/३०६–३०७/१६८–१६६	४/३७४/२३१	५/१८०/१२१	५/५५३/३२१		

(४) पाँचों शरीरोंके योग्य स्कन्धोंकी संघातन परिशातन कृतिके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा (देखो ध.६/पृ. ३६४–३७०)

(५) पाँचों शरीरोंमें २,३,४ आदि भंगोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा (देखो ध १४/पृ.२५३–२५६)

(६) २३ प्रकार वर्गणाओंकी जघन्य उत्कृष्ट क्षेत्र प्ररूपणा (देखो प.खं. १४/सू १/पृ. १४६/१)

(७) प्रयोग, समवदान, अधः, तप, ईर्यापथ व कृति कर्म इन षट्कर्मोंके स्वामी जीवोंकी अपेक्षा ओघ आदेश क्षेत्र प्ररूपणा (देखो ध.६/पृ. ३६४–३७०)

क्षेत्र आर्य—दे० आर्य।

क्षेत्र ऋद्धि—दे० ऋद्धि/६।

क्षेत्रज्ञ—जीवको क्षेत्रज्ञ कहनेकी विवक्षा (दे० जीव/१/२,३)

क्षेत्र परिवर्तन—दे० ससार/२।

क्षेत्रप्रदेश Locations Pointiar Places ध /५/२७।

क्षेत्रप्रमाणके भेद—

रा वा./३/३८/७/२०८/३० क्षेत्रप्रमाण द्विविध—अवगाहक्षेत्रं विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति। तत्रावगाहक्षेत्रमनेकविधम्-एकद्वित्रिचतु संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तप्रदेशपुद्गलद्रव्यावगाह्येकाद्यसंख्येयाकाशप्रदेशभेदात्। विभागनिष्पन्नक्षेत्र चानेकविधम्—असंख्येयाकाशश्रेणय' क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलस्यैकोऽसख्येयभाग', असख्येयाः क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलासख्येयभागा' क्षेत्रप्रमाणाङ्गुलमेकं भवति। पादवितस्त्यादि पूर्ववद्वेदितव्यम्।=क्षेत्र प्रमाण दो प्रकारका है—अवगाह क्षेत्र और विभाग निष्पन्न क्षेत्र। अवगाह क्षेत्र एक, दो, तीन, चार, संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशवाले पुद्गलद्रव्यको अवगाह देनेवाले आकाश प्रदेशोकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है। विभाग निष्पन्नक्षेत्र भी अनेक प्रकारका है—असख्यात आकाशश्रेणी; प्रमाणाङ्गुलका एक असख्यातभाग, असंख्यात क्षेत्र प्रमाणागुलके असंख्यात भाग, एकक्षेत्र प्रमाणाङ्गुल, पाद, वितस्त (वालिस्त) आदि पहलेकी तरह जानना चाहिए। विशेष दे० गणित/I/१।

क्षेत्र प्रयोग—Method of application of area (जे प/ प्रे/१०६)।

क्षेत्रवान्—षड् द्रव्योंमें क्षेत्रवान् व अक्षेत्रवान् विभाग (दे० द्रव्य/३)।

क्षेत्रविपाकी प्रकृति—दे० प्रकृतिबंध/२।

क्षेत्रफल—Arca ज दे० शुद्धि।

क्षेत्रमिति—Mensuation ध /५/प्र २७।

क्षेत्र शुद्धि—दे० शुद्धि।

क्षेत्रोपसंत—दे० समाचार।

क्षेप—१. गो क /भापा /८३४/१००८/२ जिसको मिलाइए किसी अन्य राशिमें जोडिए ताको क्षेप कहिए। २ अपकृष्ट द्रव्यका क्षेप करनेका विधान—दे० अपकर्षण/२।

क्षेमंकर—१ यह तृतीय कुलकर हुए है। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/६। २ विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ३ लौकान्तिक देवोका एक भेद—दे० लौकान्तिक। ४ लौकान्तिक देवोंका अवस्थान—दे० लोक/७।

क्षेमंधर—१ वर्तमान कालीन चतुर्थ कुलकर। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/६। २ कृति—बृहत्कथामजरी, समय—ई० १०००/ (जीवन्धर चम्पू/प्र १८)।

क्षेम—ध १३/५,५,६३/८ मारीदि-डमरादीणमभावो खेम णाम तव्विवरीदमक्खेम।=मारी, ईति व राष्ट्रविप्लव आदिके अभावका नाम क्षेम है। तथा उससे विपरीत अक्षेम है। (भ. आ /वि १५६/३७२/५)।

क्षेमकीर्ति—काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) यह यश कीर्तिके शिष्य थे। समय-वि० १०५५ ई० ९९८ (प्रद्युम्न चरित्र/प्र० प्रेमीजी), (ला स /१/६४-७०)। दे० इतिहास/५/६। २ यश कीर्ति भट्टारकके शिष्य थे। इनके समयमें ही प० राजमल्लजीने अपनी लाटी सहिता पूर्ण की थी। समय वि० १६४१ ई० १५८४। (स सा./कलश टी०/प्र० ५ ब्र० शीतल)।

क्षेमचन्द—दिगम्बर मुनि थे। इनकी प्रार्थनापर शुभचन्द्राचार्यने अपनी कृति अर्थात् कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीका पूर्ण की थी। समय—वि० १६१३-१६५७, ई० १५५६-१६०१।

क्षेमपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

क्षेमपुरी—पूर्व विदेहस्थ सुकच्छ देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७।

क्षेमा—पूर्व विदेहस्थ कच्छ देशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७।

क्षोभ—प्र. सा /ता वृ /७/९/१३ निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधान' क्षोभ इत्युच्यते।= निर्विकार निश्चल चित्तकी वृत्तिका विनाशक जो चारित्रमोह है वह क्षोभ कहलाता है।

क्ष्वेलौषध—दे० ऋद्धि/७।

[ख]

खंड—१ उभय व मध्य खण्ड कृष्टि —दे० कृष्टि। २. अखण्ड द्रव्यमें खण्डत्व अखण्डत्व निर्देश—दे० द्रव्य/४। ३ आकाशमें खण्ड कल्पना-दे० आकाश/२। ४. परमाणुमें खण्ड कल्पना—दे० परमाणु/३।

खंडप्रपात कूट—विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/७।

खंडप्रपात गुफा—विजयार्ध पर्वतकी एक गुफा. जिसमेंसे सिन्धु नदी निकलती है —दे० लोक/७।

खंडशलाका—Piece log ज. प /प्र. १०६।

खंडिका—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

खंडित—गणितकी भागहार विधिमे भाज्य राशिको भागहार द्वारा खण्डित किया गया कहते है —दे० गणित/II/१/६।

ख—अनन्त।

खचर—भा पा./टी /७५/२१८/४ खे चरन्त्याकाशे गच्छन्तीति खचरा' विद्याधरा उभयश्रेणिसम्बन्धिन।=आकाशमें जो चरते है, गमन करते है वे खचर कहलाते है, ऐसे विजयार्धकी उभयश्रेणि सम्बन्धी विद्याधर (खचर कहलाते है)।

खड्ग—१ चक्रवर्तीके चौदह रत्नोमेंसे एक है—दे० शलाकापुरुष/२। २ भरतक्षेत्र पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

खड़—चतुर्थ नरकका षष्ठ पटल—दे० नरक/५।

खड़गड़—चतुर्थ नरकका सातवाँ पटल —दे० नरक/५।

खड़गपुरी—पूर्व विदेहस्थ आवर्तदेशकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७।

खड़गा— अपरविदेहस्थ सुवल्गु देशकी मुख्य नगरी —दे० लोक/७।

खड़ा—दूसरे नरकका पाँचवाँ पटल —दे० नरक/५।

खड़िका—दूसरे नरकका सातवाँ पटल - दे० लोक/५।

खदिरसार – म पु /७४/ श्लोक विन्ध्याचल पर्वतपर एक भील था। मुनिराजके समीप कौवेके मांसका त्याग किया (३८६-३९६), प्राण जाते भी नियमका पालन किया। अन्तमें मरकर सौधर्मस्वर्गमें देव हुआ (४१०-)। यह श्रेणिक राजाका पूर्वका तीसरा भव है। —दे० श्रेणिक

खरकर्म—दे० सावद्य/२।

खरगसेन—लाहौर (लाभपुर) के रहनेवाले। कृति—त्रिलोक दर्पण वि० १७१३ (ई० १६५६) जयपुरके चतुर्भुज बैरागीके मित्र थे। समय—वि० १६६०-१७२० ई० १६०३-१६६३।

खरदूषण—प० पु०/६/ श्लोक मेघप्रभका पुत्र था (२२)। रावणकी बहन चन्द्रनखाको हर कर (२५) उससे विवाह किया (१०/२८)।

खरभाग—१. अधोलोकके प्रारम्भमें स्थित पृथ्वी विविध प्रकारके रत्नोसे युक्त है, इसलिए उसे चित्रा पृथिवी कहते हैं। चित्राके तीन भाग है, उनमेंसे प्रथम भागका नाम खरभाग है। विशेष —दे० रत्नप्रभा। २ अधोलोकमें खर पंकादि पृथिवियोंका अवस्थान—दे० लोक/३।

खर्वट—दे० कर्वट।

खलीनित—कायोत्सर्गका अतिचार —दे० व्युत्सर्ग/१।

खातिका—समवशरणकी द्वितीय भूमि —दे० समवशरण।

खाद्य—मू आ /६४४ / खादति खादिय पुण ··।६४४। =जो खाया जाये रोटी लड्डू आदि खाद्य है। (अन. ध /७/१३/६६७), (ला स / २/१६-१७)।

खारवेल—कलिंग देशका कुरुवंशी राजा था। समय—ई पू. १६०।

खारी—तौलका प्रमाण विशेष --दे० गणित /I/१।

खुशाल चन्द—सांगानेर निवासी खण्डेलवाल जेन थे। सांगानेरवासी प० लखमीदासके शिष्य थे। दिल्ली जयसिंहपुरामें वि० स० १७८० ई० १७२३ में हरिवंशपुराणका पद्यानुवाद किया। यह ग्रन्थ ब्र० जिनदासके हरिवंशके अनुसार रचा है। इसके अतिरिक्त, पद्मपुराण उत्तरपुराण, धन्यकुमार चरित्र, जम्बूचरित्र, यशोधर चरित्र। (हिं० जै० सा० ई०/१६० कामता)।

खेट—ति प /४/१३६८ । गिरिसरिकदपरिवेढं खेडं ।=पर्वत और नदीसे घिरा हुआ खेट कहलाता है।

ध.१३/५.५.६३/३३५/७ सरितपर्वतावरुद्धं खेडं णाम ।=नदी और पर्वतसे अवरुद्ध नगरकी खेट सज्ञा है। (म. पु /१६/१६१), (त्रि सा./६७६)।

खेद—नि सा (ता. वृ /६/१४/४) अनिष्टलाभः खेद ।=अनिष्टकी प्राप्ति (अर्थात कोई वस्तु अनिष्ट लगना) वह खेद है।

ख्याति—दे० लोकैषणा।

[ग]

गंगदेव—श्रुतावतारके अनुसार आपका नाम (दे० इतिहास) देव था। आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् दसवें, ११वें अग व पूर्वधारी हुए थे। समय—वी० नि० ३१५-३२६ (ई० पू० २१२-१९८)। (दे० इतिहास ४/१)।

गंगराज—पोरसल नरेश विष्णुवर्धन के मन्त्री थे। श० स० १०४५में अपने गुरु शुभचन्द्रकी निषद्यका बनवायी थी। तथा श० स० १०३७ ध्रुचिराजकी समाधि की स्मृतिमें स्तम्भ खडा कराया था। समय–श० १०१५-१०५० (ई० १०९३-११२८), (ध /२/प्र ११)।

गंगा—१ पूर्वीमध्य आर्य खण्डकी एक नदी —दे० लोक/३/१०/। २ कश्मीरमें बहनेवाली कृष्ण गगा ही पौराणिक गंगा नदी हो सकती है। (ज प./प्र १३९ A N. up and H L) —दे० कृष्ण गगा।

गंगाकुण्ड—भरतक्षेत्रस्थ एक कुण्ड जिसमेंसे गगा नदी निकलती है। दे० लोक/३/६।

गंगाकूट—हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/७।

गंगादेवी—गगाकुण्ड तथा गगाकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

गंगा नदी—भरत क्षेत्रकी प्रधान नदी —दे० लोक/७।

गंडरादित्य—शिलाहारके राजा थे। निम्बदेव इनके सामन्त थे। समय– श० १०३०-१०५८; ई० ११०८-११३६/प. ख. २/प्र०६ H. L. Jain).

गंडविमुक्तदेव—१. नन्दिसंघके देशीयगणके अनुसार (दे० इतिहास) माघनन्दि मुनि कोल्हापुरीयके शिष्य तथा भानुकीर्ति व देवकीर्ति के गुरु थे। समय—वि० ११९०-१२२० (ई० ११३३-११६३); (प. खं. २/प्र.४ H L. Jain.)–दे० इतिहास/५/१४। २. नन्दिसंघके देशीयगणके अनुसार (दे० इतिहास) माघनन्दि कोल्हापुरीयके शिष्य देवकीर्तिके शिष्य थे अपरनाम वादि चतुर्मुख था। इनके अनेक श्रावक शिष्य थे। यथा—१ माणिक्य भण्डारी मरियाने दण्डनायक, २. महाप्रधान सर्वाधिकारी ज्येष्ठ दण्डनायक भरतिमय्य; ३ हेडगे बूचिमय्यंगल: ४. जगदेकदानी हेडगे कोरय्य। तदनुसार इनका समय--ई० ११५८-११८५ होता है। दे० इतिहास/५/१४।

गंध—१. गन्धका लक्षण

स. सि./२/२०/१७८/६ गन्ध्यत इति गन्ध · गन्धनं गन्ध.।

स. सि./५/२३/२९४/१ गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्ध ।—१. जो सूँघा जाता है वह गन्ध है।·· गन्धन गन्ध है। २ अथवा जो सूँघा जाता है अथवा सूँघने मात्रको गन्ध कहते हैं। (रा वा./२/२०/१/१३२/३१); (ध. १/१,१,३३/२४४/१); (विशेष—दे० वर्ण/१)।

दे० निक्षेप/५/६ (बहुत द्रव्योंके सयोगसे उत्पादित द्रव्य गन्ध है)।

२. गन्ध के भेद

स. सि./५/२३/२९४/१ स द्वेधा, सुरभिरसुरभिरिति। ·त एते मूलभेदा· प्रत्येक सख्येयासंख्येयानन्तभेदाश्च भवन्ति। =सुगन्ध और दुर्गन्धके भेदसे वह दो प्रकारका है ·ये तो मूल भेद हैं। वैसे प्रत्येकके सख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। (रा वा/५/२३/६/४८५), (प प्र./टी /१/२१/२६/१); (द्र. स/टी /७/१९/१२); (गो. जी /जी. प्र /४७९/८८५/१५)।

३. गन्ध नामकर्मका लक्षण

स सि /८/११/३९०/१० यदुदयप्रभवो गन्धस्तद् गन्धनाम।=जिसके उदयसे गन्धकी उत्पत्ति होती है वह गन्ध नामकर्म है। (रा वा /८/११/१०/५७७/१६), (गो. क / जी. प्र /३३/२९/१३)।

ध. ६/१, ९-१,२८/५५/४ जस्स कम्मक्खधस्स उदएण जीवसरीरे जादिपडिणियदो गधो उप्पज्जदि तस्स कम्मक्खंधस्स गधसण्णा, कारणे कज्जुवयारादो। =जिस कर्म स्कन्धके उदयसे जीवके शरीरमें जातिके प्रति नियत गन्ध उत्पन्न होता है उस कर्मस्कन्धकी गन्ध यह सज्ञा कारणमें कार्यके उपचारसे की गयी है। (ध १३/५ ५. १०१/३६४/७)।

४. गन्ध नामकर्मके भेद

ष. ख. ६/१,९-१/सू ३८/७४ जं तं गधणामकम्म त दुविहं सुरहिगंध दुरहिगंधं चेव।३८।=जो गन्ध नामकर्म है वह दो प्रकारका है—सुरभि गन्ध और दुरभि गन्ध। (ष ख १३/५.५/सू १११/३७०), (पं. स प्रा /२/४/४७/३१), (स. सि /८/११/३९०/११); (रा वा./८/११/१०/५७७/१७) (गो क/जी. प्र /३२/२९/१, ३३/२९/१४)।

*** नामकर्मोंके गन्ध आदि सकारण है या निष्कारण**
—दे० वर्ण/४।

*** जल आदिमें भी गंधकी सिद्धि**
—दे० पुद्गल/२।

* गन्ध नामकर्मके बन्ध, उदय, सत्त्व

—दे० वह वह नाम।

गंध—तिल्लोयपण्णत्तिके अनुसार नन्दीश्वर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव; त्रि सा. व ह पु. के अनुसार इक्षुवर समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव-दे० व्यन्तर/४।

गंधअष्टमी व्रत—३५२ दिन तक कुल २८८ उपवास तथा ६४पारणा। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। विधि—(व्रतविधान सग्रह/पृ. ११०)।

गंधकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट व उसकी स्वामिनी देवी —दे० लोक/७।

गंधकुटी—समवशरणके मध्य भगवान्‌के बैठनेका स्थान। —दे० समवशरण।

गंधमादन—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें एक नगर—दे० विद्याधर। २ एक गजदन्त पर्वत दे० लोक/७। ३ गन्धमादन पर्वतस्थ एक कूट व उसका रक्षक देव —दे० लोक/७। ४. अन्धकवृष्णिके पुत्र हिमवान्‌का पुत्र नेमिनाथ भगवान्‌का चचेरा भाई —दे० इतिहास/७/१०। ५. हालार और वरडों प्रान्तके बीचकी पर्वत श्रेणीको 'बरडों' कहते है। सम्भवतः इसी श्रेणीके किसी पर्वतका नाम गन्धमादन है।

गंधमाली—गन्धमादन गजदन्तके गन्धमाली कूटका स्वामीदेव —दे० लोक/७।

गन्धमालिनी— १. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र —दे० लोक/७। २. देवमाल वक्षारका एक कूट —दे० लोक/७। ३. देवमाल वक्षारके गन्धमालिनी कूटका रक्षक देव —दे० लोक/७। ४. विदेह क्षेत्रस्थ एक विभंगा नदी —दे० लोक/७। ५. गन्धमादनविजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/७।

गंधवान्—हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें कूटाकार एक वैताढ्य पर्वत —दे० लोक/७।

गंधा—अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र अपर नाम वल्गु —दे० लोक/७।

गंधिला—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र —दे० लोक/७। २. देवमाल वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव —दे० लोक/७।

गंधर्व—१. कुन्थुनाथका शासक यक्ष —दे० यक्ष/२. पा. पु/१७/श्लोक—अर्जुनका मित्र व शिष्य था (६५-६७)। बनवासके समय सहायवनमें दुर्योधनको युद्धमें बाँध लिया था (१०२-१०४)।

गंधर्व—१. गंधर्वके वर्ण परिवार आदि—दे० व्यन्तर।

२. गन्धर्व देवका लक्षण

ध. १३/५,५,१४०/३९१/६ इन्द्रादीना गायका गन्धर्वा ।=इन्द्रादिकोंके गायकोंको गन्धर्व कहते हैं।

३. गन्धर्वके भेद

ति. प/६/४० हाहाहूहूणारदतुंवरवासवकदंवमहसरया। गीदरदीगीदरसा वइरवंतो होंति गधव्वा।४०। =हाहा, हूहू, नारद, तुम्बर, वासव, कदम्ब, महास्वर, गीतरति, गीतरस और वज्रवान् ये दस गन्धर्वोंके भेद है। (त्रि सा./२६३)।

गन्धर्वगुफा—सुमेरुपर्वतके नन्दनादिवनोके पश्चिममें स्थित एक गुफा। इसमें वरुणदेव रहता है। —दे० लोक/७।

गंधर्वपुर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

गन्धर्व विवाह—दे० विवाह।

गंधर्वसेन—१. हिन्दू धर्मके भविष्य पुराणके अनुसार राजा विक्रमादित्यके पिताका नाम गन्धर्वसेन था। (ति. प./प्र. १८ H. L Jain.) २ गन्धर्वसेनका प्रसिद्ध नाम गर्दभिल्ल है। मालवा (मगध) देशमें गन्धर्वके स्थानपर श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार गर्दभिल्लका नाम आता है। अथवा गर्दभी विद्या जाननेके कारण यह राजा गर्दभिल्लके नामसे प्रसिद्ध हो गया था। (क. पा १/प्र. ५३ पं० महेन्द्र)।

गंधसमृद्ध—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गंधहस्ती महाभाष्य—आचार्य समन्तभद्र (ई० श० २) कृत तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) पर संस्कृत भाषामें ९६००० श्लोक प्रमाण विस्तृत भाष्य है।

गंभीर—महोरग नामा जाति व्यन्तर देवका एक भेद—दे० महोरग।

गंभीरमालिनी—अपरविदेहस्थ एक विभगा नदी/अपरनाम गन्धमालिनी —दे० लोक/७।

गंभीरा—पूर्व आर्य खण्डस्थ एक नदी —दे० मनुष्य/४।

गगनचरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गगननंदन—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गगनमंडल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गगनवल्लभ—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गच्छ—ध. १३/५,४,२६/६३/८ तिपुरिसओ गणो। तदुवरि गच्छो। =तीन पुरुषोंके समुदायको गण कहते है और इससे आगे गच्छ कहलाता है।

गच्छपद— Number of Terms (ज. प्र/प्र/१०६) विशेष—दे० गणित/II/५।

गज—१. सौधर्म स्वर्गका २६ वाँ पटल व इन्द्रक —दे० लोक/५। २ चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२। ३. क्षेत्रका प्रमाण विशेष/अपरनाम रिक्कू या किष्कु —दे० गणित/I/१।

गजकुमार—(ह. पु/सर्ग/श्लोक—वसुदेवका पुत्र तथा कृष्णका छोटा भाई था। (६०/१२६)। एक ब्राह्मणकी कन्यासे सम्बन्ध जुड़ा ही था कि मध्यमें ही दीक्षा धारण कर ली (६१/४)। तब इनके ससुरने इनके सरपर क्रोधसे प्रेरित होकर आग जला दी। उस उपसर्गको जीत मोक्षको प्राप्त किया (६१/५-७)।

गजदंत—१ विदेह क्षेत्रस्थ सुमेरु पर्वतकी चारो विदिशाओंमें सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, माल्यवान नामक चार गजदन्ताकार पर्वत है। दो पर्वत सुमेरुसे निकलकर निषध पर्वत तक लम्बायमान स्थित हे। और दो पर्वत सुमेरुसे निकलकर नील पर्वत पर्यन्त लम्बायमान स्थित है। विशेष—दे० लोक/३/७। २ गजदन्तका नकशा —दे०लोक/७।

गजपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

गजवती— भरतक्षेत्रके वरुण पर्वतस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

गजाधरलाल— आगरा जिलेके जटौआ ग्राममें जन्म हुआ था। पिताका नाम चुन्नीलाल जैन पद्मावतीपुरवाला था। कृति—पंचविंशतिका, श्रेणिक चरित्र, तत्त्वार्थ राजवार्तिक; ४ अध्याय, विमलपुराण, मल्लिनाथ पुराण। स्वर्गवास—ई० १९३३ बम्बई (तत्त्वानुशासन/प्र० ब्र० श्री लाल)

गड्डी—ध १४/५,६,४१/३८/१० वहरदोचक्काओ धण्णादिभरुव्वहणक्खमाओ गड्डीओ णाम । =जिनके दो चक्के होते हैं, और जो धान्यादि हलके भारके ढोनेमें समर्थ हैं वे गड्डी कहलाती हैं ।

गण—स सि/९/२४/४४२/६ गण स्थविरसततिः । =स्थविरोंकी सन्ततिको गण कहते हैं । (रा. वा /९/२४/८/६२३/२०/), (चा सा /-१५१/३)

ध १३/५,४,२६/६३/८ तिपुरिसओ गणो । =तीन पुरुषोंके समुदायको गण कहते हैं ।

२. निज परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त—दे० परिहार प्रायश्चित्त ।

गणधर—१ गणधर देवोंके गुण व ऋद्धियाँ

ति. प /४/९६७ एदे गणधरदेवा सव्वे वि हु अट्ठरिद्धिसंपण्णा । =ये सब ही गणधर अष्ट ऋद्धियोंसे सहित होते हैं । (ध ९/४,१,४४/गा ४२/१२८)

ध ९/४ १,४४/१२७/७ पंचमहव्वयधारओ तिगुत्तिगुत्तो पंचसमिदो णट्ठट्ठमदो मुक्कसत्तभओ बीजकोट्ठ-पदाणुसारि-संभिण्णसोदारत्तुवलक्खिओ उक्कट्ठोहिणाणेण तत्ततवलद्धादो णीहारविवज्जिओ दित्ततवलद्धिगुणेण सव्वकालोववासो वि संतो सरीरतेजुज्जोइयदसदिसो सव्वोसहिलद्धिगुणेण सव्वोसहसरूवो अणंतबलादो करंगुलियाए तिहुवणचालणक्खमो अमियासवीलद्धिबलेण अंजलिपुडणिवदिदसयलाहारे अमियत्तेणेण परिणमणक्खमो महातवगुणेण कप्परुक्खोवमो महाणसक्खीणलद्धिबलेण सगहत्थणिवदिदाहाराणमक्खयभावुप्पायओ अघोरतवमाहप्पेण जीवाण मण-वयण-कायगयासेसदुत्थियत्तणिवारओ सयलविज्जाहि सवियपादमूलो आयासचारणगुणेण रक्खियासेसजीवणिवहो वायाए मणेण य सयलत्थसंपादणक्खमो अणिमादिअट्ठगुणेहि जियासेसदेवणिवहो वायाए मणेण य सयलत्थसंपादणक्खमो अणिमादि अट्ठगुणेहि जियासेसदेवणिवहो तिहुवणजणजेट्ठओ परोवदेसेण विणा अक्खराणक्खरसरूवासेसभासंतरकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्तणेण अम्हम्हाण भासाहि अम्हम्हाण चेव कहदि त्ति सव्वेसिं पच्चउप्पायओ समवसरणजणसोदिदिएसु सगमुहविणिग्गयाणेयभासाणं संकरेण पवेसस्स विणिवारओ गणहरदेवो गंथकत्तारो, अण्णहा गंथस्स पमाणत्तविरोहादो धम्मरसायणेण समोसरणजणपोसणाणुववत्तीदो । =पाँच महाव्रतोंके धारक, तीन गुप्तियोंसे रक्षित, पाँच समितियोंसे युक्त, आठ मदोंसे रहित, सात भयोंसे मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धियोंसे उपलक्षित, प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञानसे युक्त तप्ततप लब्धिके प्रभावसे मल, मूत्र रहित, दीप्त तपलब्धिके बलसे सर्वकाल उपवास युक्त होकर भी शरीरके तेजसे दशों दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले, सर्वौषधि लब्धिके निमित्तसे समस्त औषधियों स्वरूप, अनन्त बलयुक्त होनेसे हाथकी कनिष्ठ अगुली द्वारा तीनों लोकोंको चलायमान करनेमें समर्थ, अमृत-आस्रवादि ऋद्धियोंके बलसे हस्तपुटमें गिरे हुए सर्व आहारोंको अमृतस्वरूपसे परिणमानेमें समर्थ, महातप गुणसे कल्पवृक्षके समान, अक्षीणमहानस लब्धिके बलसे अपने हाथमें गिरे आहारकी अक्षयताके उत्पादक अघोरतप ऋद्धिके माहात्म्यसे जीवोंके मन, वच एव कायगत समस्त कष्टोंके दूर करनेवाले, सम्पूर्ण विद्याओंके द्वारा सेवित चरणमूलसे संयुक्त, आकाशचारण गुणसे सब जीव समूहकी रक्षा करनेवाले, वचन और मनसे समस्त पदार्थोंके सम्पादन करनेमें समर्थ, अणिमादिक आठ गुणोंके द्वारा सब देव समूहको जीतनेवाले, तीनों लोकोंके जनोंमें श्रेष्ठ, परोपदेशके बिना अक्षर व अनक्षर रूप सब भाषाओंमें कुशल, समवसरणमें स्थित जनमात्रके रूपके धारी होनेसे 'हमारी हमारी भाषाओंसे हम हमको ही कहते हैं' इस प्रकार सबको विश्वास करानेवाले, तथा समवसरणस्थ जनोंके कर्ण इन्द्रियोंमें अपने मुँहसे निकली हुई अनेक भाषाओंके सम्मिश्रित प्रवेशके निवारक ऐसे गणधरदेव ग्रन्थकर्ता हैं, क्योंकि ऐसे स्वरूपके बिना ग्रन्थकी प्रमाणिकताका विरोध होनेसे धर्म रसायन द्वारा समवसरणके जनोंका पोषण बन नहीं सकता ।

म पु /४३/६७ चतुर्भिरधिकाशीतिरिति सप्तर्द्धिभूषिताः । सर्वे सर्वज्ञरूपाः । ......संयुक्ता सर्वे वेदनुतादिनः ॥६७॥ =ऋषभदेवके सर्व (८४) गणधर सातों ऋद्धियोंसे सहित थे और सर्वज्ञ देवके अनुरूप थे । (ह. पु /-३/४४)

२. गणधरोंकी ऋद्धियोंका सद्भाव कैसे जाना जाता है

ध. ९/४,१,७/५८/१ गणहरदेवेसु चत्तारि बुद्धिओ, अण्णहा दुवालसंगाणमणुप्पत्तिप्पसंगादो । तं कधं । ण ताव तत्थ कोट्ठबुद्धीए अभावो, उप्पण्णसुदणाणस्स अवट्ठाणेण विणा विणासप्पसंगादो । ण ताए विणा तित्थयरवयणविणिग्गयअक्खराणक्खरप्पयबहुलिंगालिंगियबीजपदाणं गणहरदेवाणं दुवालसंगाभावप्पसंगादो । ण च तत्थ पदाणुसारित्तणिवारणाभावो, बीजबुद्धीए अवगदेहिंतो कोट्ठबुद्धिए पत्तावट्ठाणेहिंतो बीजपदेहिंतो ईहावाएहि विणा बीजपदुभयदिसाविसयसुदणाणक्खरपद-वक्क-तदट्ठविसयसुदणाणुप्पत्तीए अणुववत्तीदो । ण संभिण्णसोदारत्तस्स अभावो, तेण विणा अक्खराणक्खरप्पाए सत्तसदट्ठारसकुभास-भासरूवाए णाणाभेदभिण्णबीजपदरूवाए पडिक्खणमण्णण्णभावमुवगच्छंतीए दिव्वज्झुणीए गहणाभावादो दुवालसंगुप्पत्तीए अभावप्पसंगो त्ति । =गणधर देवोंके चार बुद्धियाँ होती हैं, क्योंकि, उनके बिना बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग आवेगा । प्रश्न—बारह अंगोंकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग कैसे आवेगा ? उत्तर—गणधरदेवोंमें कोष्ठ बुद्धिका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होनेपर अवस्थानके बिना उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानके विनाशका प्रसंग आवेगा । क्योंकि, इसके बिना गणधर देवोंको तीर्थंकरके मुखसे निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बहुत लिंगादिक बीज पदोंका ज्ञान न हो सकनेसे द्वादशांगके अभावका प्रसंग आवेगा । बीजबुद्धिके बिना भी द्वादशांगकी उत्पत्ति न हो सकती क्योंकि, ऐसा माननेमें अतिप्रसंग दोष आवेगा । उनमें पादानुसारी नामक ज्ञानका अभाव नहीं है, क्योंकि बीजबुद्धिसे जाना गया है स्वरूप जिनका तथा कोष्ठबुद्धिसे प्राप्त किया है अवस्थान जिन्होंने ऐसे बीजपदोंसे ईहा और अवायके बिना बीजपदकी उभय-दिशा विषयक श्रुतज्ञान तथा अक्षर, पद, वाक्य और उनके अर्थ विषयक श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति बन नहीं सकती । उनमें संभिन्नश्रोतृत्वका अभाव नहीं है, क्योंकि उसके बिना अक्षरानक्षरात्मक, सात सौ कुभाषा और अठारह भाषा स्वरूप, नाना भेदोंसे भिन्न बीजपदरूप, व प्रत्येक क्षणमें भिन्न-भिन्न स्वरूपको प्राप्त होनेवाली ऐसी दिव्यध्वनिका ग्रहण न हो सकनेसे द्वादशांगकी उत्पत्तिके अभावका प्रसंग होगा । (अतः उनमें उपरोक्त बुद्धियाँ हैं ।)

३. भगवान् ऋषभदेवके चौरासी गणधरोंके नाम

म पु /४३/५४-६६ से उद्धृत—१ वृषभसेन; २. कुम्भ, ३. दृढरथ, ४. शतधनु, ५. देवशर्मा, ६. देवभाव, ७. नन्दन, ८. सोमदत्त; ९. सूरदत्त, १०. वायुशर्मा, ११ यशोबाहु; १२. देवाग्नि, १३ अग्निदेव, १४ अग्निगुप्त, १५. मित्राग्नि, १६. हलभृत, १७ महीधर, १८ महेन्द्र; १९ वसुदेव, २० वसुंधर; २१ अचल, २२ मेरु, २३ मेरुधन, २४ मेरुभूति, २५. सर्वयश, २६. सर्वगुप्त, २७. सर्वप्रिय २८ सर्वदेव, २९ सर्वयज्ञ, ३०. सर्वविजय; ३१. विजयगुप्त, ३२ विजयमित्र, ३३ विजयिल; ३४. अपराजित, ३५. वसुमित्र, ३६. विश्वसेन, ३७. साधुसेन; ३८. सत्यदेव; ३९ देवसत्य, ४०. सत्यगुप्त; ४१. सत्यमित्र ४२ निर्मल; ४३ विनीत, ४४ संवर; ४५ मुनिगुप्त, ४६. मुनिदत्त, ४७. मुनियज्ञ; ४८. मुनिदेव; ४९ गुप्तयज्ञ; ५० मित्रयज्ञ;

५१. स्वयंभू; ५२. भगदेव; ५३ भगदत्त, ५४; भगफल्गु; ५५. गुप्तफल्गु; ५६ मित्रफल्गु, ५७ प्रजापति; ५८. सर्वसंघ, ५९. वरुण, ६० धनपालक; ६१. मघवान्, ६२. तेजोराशि, ६३ महावीर, ६४ महारथ, ६५ विशालाक्ष, ६६. महाबाल; ६७ शुचिशाल, ६८ वज्र; ६९. वज्रसार, ७०. चन्द्रचूल; ७१. जय, ७२ महारस; ७३, कच्छ; ७४ महाकच्छ, ७५. नमि; ७६ विनमि, ७७ बल, ७८. अतिबल, ७९. भद्रबल, ८० नन्दी, ८१ महीभागी, ८२. नन्दिमित्र; ८३, कामदेव, ८४ अनुपम। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेवके चौरासी गणधर थे।

४. भगवान् महावीरके ११ गणधरोंके नाम

ह. पु./३/४१-४३ इन्द्रभूतिरिति प्रोक्त. प्रथमो गणधारिणाम्। अग्निभूतिर्द्वितीयश्च वायुभूतिस्तृतीयक ॥४१॥ शुचिदत्तस्तुरीयस्तु सुधर्म' पञ्चमस्तत.। षष्ठो माण्डव्य इत्युक्तो मौर्यपुत्रस्तु सप्तम' ॥४२॥ अष्टमोऽकम्पनाख्यातिरचलो नवमो मत'। मेदार्यो दशमोऽन्त्यस्तु प्रभास. सर्व एव ते ।४३। =उन ग्यारह गणधरोंमें प्रथम इन्द्रभूति थे। फिर २ अग्निभूति, ३. वायुभूति ४. शुचिदत्त, ५ सुधर्म; ६. माण्डव्य, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकम्पन; ९. अचल, १० मेदार्य और अन्तिम प्रभास थे। (म. पु./७४/३४३-३७४)

५ उक्त ११ गणधरोंकी आयु

म पु /६०/४८२-४८३ वीरस्य गणिना वर्षाण्यायुर्द्वानवतिश्वतु। विशति सप्ततिश्च स्यादशीति शतमेव च।४८२। त्र्योऽशीतिश्च नवतिः पञ्चभि. साष्टसप्तति.। द्वाभ्या च सप्तति षष्टिश्चत्वारिंशच्च सयुता ।४८३। =महावीर भगवान्के गणधरोकी आयु क्रमसे ९२ वर्ष, २४ वर्ष, ७० वर्ष, ८० वर्ष, १०० वर्ष, ८३ वर्ष, ९५ वर्ष, ७८ वर्ष, ७२ वर्ष, ६० वर्ष और ४० वर्ष है।४८२-४८३।

★ २४ तीर्थंकरोंके गणधरोंकी संख्या—दे० तीर्थंकर/५।

★ गणधरकी दिव्यध्वनिमें स्थान—दे० दिव्यध्वनि।

गणधरवलययंत्र—दे० यंत्र।

गणना—सख्यात, असख्यात, व अनन्तकी गणना—दे० वह वह नाम।

गणनानंत—Numerical infinite (ज प/प्र १०६)।

गणनाप्रमाण—१ दे० प्रमाण/५। २. गणना प्रमाण निर्देश—दे० गणित/१।

गणपोषणकाल—दे० काल/१।

गणोपग्रहण क्रिया—दे० संस्कार/२।

गणित—यद्यपि गणित एक लौकिक विषय है परन्तु आगमके करणानुयोग विभागमे सर्वत्र इसकी आवश्यकता पडती है। कितनी ऊँची श्रेणीका गणित वहाँ प्रयुक्त हुआ यह बात उसको पढनेसे ही सम्बन्ध रखती है। यहाँ उस सम्बन्धी ही गणितके प्रमाण, प्रक्रियाएँ व सहनानी आदि संग्रह की गयी है।

I द्रव्य क्षेत्रादिके प्रमाण

१. द्रव्य क्षेत्रादिके प्रमाणोंका निर्देश

१. संख्याकी अपेक्षा द्रव्यप्रमाण निर्देश

(ध.५/प्र./२२)

१. एक	१	१६. निरब्बुद	$(१०,०००,०००)^{९}$
२. दस	१०	१७ अहह	$(१०,०००,०००)^{१०}$
३ शत	१००	१८. अबब	$(१०,०००,०००)^{११}$
४. सहस	१०००	१९. अटट	$(१०,०००,०००)^{१२}$
५. दस सह०	१०,०००	२०. सोगन्धिक	$(१०,०००,०००)^{१३}$
६. शत सह०	१००,०००	२१. उप्पल	$(१०,०००,०००)^{१४}$
७. दसशत सहस	१,०००,०००	२२ कुमुद	$(१०,०००,०००)^{१५}$
८. कोटि	१०,०००,०००	२३. पुंडरीक	$(१०,०००,०००)^{१६}$
९ पकोटि	$(१०,०००,०००)^{२}$	२४. पद्म	$(१०,०००,०००)^{१७}$
१०. कोटिप्प-कोटि	$(१०,०००,०००)^{3}$	२५ कथान	$(१०,०००,०००)^{१८}$
११. नहुत	$(१०,०००,०००)^{४}$	२६. महाकथान	$(१०,०००,०००)^{१९}$
१२ निन्नहुत	$(१०,०००,०००)^{५}$	२७. असंख्येय	$(१०,०००,०००)^{२०}$
१३. अखोभिनी	$(१०,०००,०००)^{६}$	२८ पणट्ठी	$=(२५६)^{२}=६५५३६$
१४. बिन्दु	$(१०,०००,०००)^{७}$	२९. बादाल	$=\text{पणट्ठी}^{२}$
१५. अब्बुद	$(१०,०००,०००)^{८}$	३०. एकट्ठी	$=\text{बादाल}^{२}$

ति.प./४/३०९–३११; (रा.वा./३/३८/५/२०९/१७), (त्रि.सा.२८–५१)

१. जघन्य संख्यात =२

२. उत्कृष्ट संख्यात =जघन्य परीतासंख्यात–१

३. मध्यम संख्यात =(जघन्य – स + १) से (उत्कृष्ट–१) तक

नोट—आगममें जहाँ सख्यात कहा जाता है वहाँ तीसरा विकल्प समझना चाहिए।

४. जघन्य परीतासख्यात =अनवस्थित कुण्डोंमें अघाऊरूपसे भरे सरसोके दानोका प्रमाण १९९७११२९३८-४५१३१६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६$\frac{४}{११}$ (दे० 'असख्यात')

५. उत्कृष्ट परीतासख्यात =जघन्य युक्तासंख्यात–१

६. मध्यम परीतासंख्यात =(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट – १) तक

७ जघन्य युक्तासंख्यात =यदि जघन्य परीतासंख्यात=क

$$\left(क^{क}\right)^{\left(क^{क}\right)}$$ (दे० असंख्यात)

८ उत्कृष्ट युक्तासंख्यात =जघन्य असंख्यातासख्यात–१

९. मध्य युक्तासंख्यात =(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट – १) तक

१०. जघन्य असंख्याता-सख्यात =$(\text{जघन्य युक्ता.})^{\text{जघन्य युक्ता.}}$ (दे० असख्यात)

११ उत्कृष्ट असंख्याता० =जघन्य परीतानन्त—१

१२. मध्यम असंख्याता० =(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट—१) तक

१३ जघन्य परीतानन्त =जघन्य असंख्यातासंख्यातको तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें द्रव्योके प्रदेशो आदि रूपसे कुछ राशियाँ जोडना (दे० अनन्त)

१४ उत्कृष्ट परीतानन्त =जघन्य युक्तानन्त—१

१५ मध्यम परीतानन्त =(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट—१) तक

१६ जघन्य युक्तानन्त	=जघन्य परीतानन्तकी दो बार वर्गित संवर्गित राशि (दे० अनन्त)
१७ उत्कृष्ट युक्तानन्त	=जघन्य अनन्तानन्त—१
१८. मध्यम युक्तानन्त	=(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट−१) तक
१९. जघन्य अनन्तानन्त	=(जघन्य युक्ता०)$^{(\text{जघन्य युक्ता०})}$ (दे० अनन्त)
२०. उत्कृष्ट अनन्तानन्त	=जघन्य अनन्तानन्तको तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें कुछ राशिमें मिलान (दे० अनन्त),
२१. मध्यम अनन्तानन्त	=(जघन्य+१) से (उत्कृष्ट−१) तक

२. तौलकी अपेक्षा द्रव्यप्रमाण निर्देश

रा.वा /३/३८/२०५/२६

४ महा अधिक तृण फल	=१ श्वेत सर्षप फल
१६ सर्षप फल	=१ धान्यमाष फल
२ धान्यमाष फल	=१ गुंजाफल
२ गुंजाफल	=१ रूप्यमाष फल
१३ रूप्यमाष फल	=१ धरण
२½ धरण	=१ सुवर्ण या १ कंस
४ सुवर्ण या ४ कंस	=१ पल
१०० पल	=१ तुला या १ अर्धकंस
३ तुला या ३ अर्धकस	=एक कुडव (पुसेरा)
४ कुडव (पुसेरे)	=१ प्रस्थ (सेर)
४ प्रस्थ (सेर)	=१ आढक
४ आढक	=१ द्रोण
१६ द्रोण	=१ खारी
२० खारी	=१ वाह

३ क्षेत्रके प्रमाणोंका निर्देश

ति. प /१/१०२-११६ (रा.वा/३/३८/६/२०७/२६), (ह पु /७/३६-४६); (ज दी/१३/१६-३४); (गो. जी./जी प्र./११८ की उत्थानिका या उपोद्घात/२८५/७), (ध /३/प्र/३६)।

द्रव्यका अविभागी अंश	=परमाणु
अनन्तानन्त परमा०	=अवसन्नासन्न
८ अवसन्नासन्न	=१ सन्नासन्न
८ सन्नासन्न	=१ त्रुटरेण (व्यवहाराणु)
८ त्रुटरेणु	=१ त्रसरेणु (त्रस जीवके पाँवसे उडनेवाला अणु)
८ त्रसरेणु	=१ रथरेणु (रथसे उडनेवाली धूलका अणु)
८ रथरेणु	=उत्तम भोगभूमिका बालाग्र.
८ उ भो भू बा	=मध्यम भो. भू बा
८ म.भो भू.बा.	=जघन्य भो भू बा
८ ज भो.भू बा	=कर्मभूमि बालाग्र.
८क भू बालाग्र	=१ लिक्षा (लीख)
८ लीख	=१ जू

८ जू	=१ यव
८ यव	=१ उत्सेधांगुल
५०० उ.अंगुल	=१ प्रमाणांगुल
आत्मांगुल	=भरत ऐरावत (ति प /१/१०६/१३) क्षेत्रके चक्रवर्तीका अंगुल
६ विवक्षित अंगुल	=१ विवक्षित पाद
२ वि पाद	=१ वि. वितस्ति
२ वि वितस्ति	=१ वि. हस्त
२ वि. हस्त	=१ वि. किष्कु
२ किष्कु	=१ दंड, युग, धनुष, मूसल या नाली, नाडी
२००० दण्ड (धनु)	=१ कोश
४ कोश	=१ योजन

नोट—उत्सेधांगुलसे मानव या व्यवहार योजन होता है और प्रमाणांगुलसे प्रमाण योजन।

(ति प./१/१३१-१३२), (रा वा./३/३८/७/२०८/१०,२३)

५०० मानव योजन	=१ प्रमाण योजन (महायोजन या दिव्य योजन) ८० लाख गज=४५४५.४५ मील
१ योजन	=७६८००० अंगुल
१ प्रमाण योजन गोल व गहरे कुण्डके आश्रयसे उत्पन्न	=१ अद्धापल्य (दे० पल्य)
(१ अद्धापल्य या प्रमाण-योजन^{3})$^{\text{छे}}$ जब कि छे=अद्धापल्यकी अर्द्धछेद राशि या $\log_2$ पल्य	=१ सूच्यंगुल (गो जी /जी प्र./पृ.२८८/४)
१ सूच्यंगुल^{2}	=१ प्रतरांगुल
१ सूच्यंगुल^{3}	=१ घनांगुल
(१ घनांगुल)$^{\text{अद्धापल्य} \div \text{असं}}$ (असं=असंख्यात)	=जगत्श्रेणी (प्रथम मत) (ध./३/१,२,४/३४/१)
(१ घनांगुल)$^{\text{छे} \div \text{असं.}}$ (छे व असं =दे० ऊपर)	=जगत्श्रेणी (द्वि मत) =(ध./३/१,२४/३४/१)
जगत्श्रेणी ÷ ७	=१ रज्जू (दे० राजू)
(जगत्श्रेणी)^{2}	=१ जगत्प्रतर
(जगत्श्रेणी)^{3}	=१ जगत्घन या घनलोक
(ध./६/४,१,२/३६/४)	=(आवली ÷ असं)$^{\text{आवली} \div \text{असं.}}$ (आवली=आवलीके समयो प्रमाण प्रदेश)

४. सामान्य काल प्रमाण निर्देश

१. प्रथम प्रकारसे काल प्रमाण निर्देश

ति. प /४/२८५-३०९, (रा वा./३/३८/७/२०८/३५); (ह.पु /७/१८-३१), (ध /३/१,२ ६/गा.३५-३६/६५-६६), (ध /८/१,५,१/३१८/२), (म पु /३/२१७-२२७), (ज दी./१३/४-१५), (गो जी./मू /५७४-५७६/१०१८-१०२८), (चा पा /टी /१७/४० पर उद्धृत)

नोट—ति प. व धवला अनुयोगद्वार आदिमे प्रयुक्त नामोंके क्रममें कुछ अन्तर है वह भी नीचे दिया गया है। (ति प /प्र /८०/H. L. Jain) (ज.प./के अन्तमें पो. लक्ष्मीचन्द)

ति.प व रा.वा आदिमें पर्व व पर्वांगसे लेकर अन्तिम अचलात्मवाले विकल्प तक गुणाकारमें कुछ अन्तर दिया है वह भी नीचे दिया जाता है।

नामक्रम भेद

क्रमांक	१ ति.प /४/ २८५-३०६	२ अनुयोग द्वार सूत्र ११४-१३७	३ जं प /दि / १३/४-१४	४ ज.प./श्वे/पृ. ३६-४० अनु सू. पृ ३४२-३४३	५ ज्यो.क /८- १०; २६-३१; ६२-७१
१	समय	समय	समय	समय	समय
२	आवलि	आवलिका	आवली	आवली	उच्छ्वास
३	उच्छ्वास	आन	उच्छ्वास	आनप्राण	स्तोक
४	प्राण (निश्वास)	प्राणु	स्तोक	स्तोक	लव
५	स्तोक	स्तोक	लव	लव	नालिका
६	लव	लव	नाली	मुहूर्त	मुहूर्त
७	नाली	·	मुहूर्त	अहोरात्र	अहोरात्र
८	मुहूर्त	मुहूर्त	दिवस	पक्ष	पक्ष
९	दिवस	अहोरात्र	मास	मास	मास
१०	पक्ष	पक्ष	ऋतु	ऋतु	संवत्सर
११	मास	मास	अयन	अयन	पूर्वांग
१२	ऋतु	ऋतु	वर्ष	संवत्सर	पूर्व
१३	अयन	अयन	युग	युग	लतांग
१४	वर्ष	वर्ष	दशवर्ष	वर्षशत	लता
१५	युग	युग	वर्षशत	वर्षसहस्र	महालतांग
१६	वर्षदशक		वर्षसहस्र	वर्षशतसहस्र	महालता
१७	वर्षशत	वर्षशत	दशवर्षसहस्र	पूर्वांग	नलिनांग
१८	वर्षसहस्र	वर्षसहस्र	वर्षशतसहस्र	पूर्व	नलिन
१९	दशवर्षसह०	·	पूर्वांग	त्रुटितांग	महानलिनांग
२०	वर्ष लक्ष	वर्षशतसह०	पूर्व	त्रुटित	महानलिन
२१	पूर्वांग	पूर्वांग	पर्वांग	अडडांग	पद्मांग
२२	पूर्व	पूर्व	पर्व	अडड	पद्म
२३	नियुतांग	त्रुटितांग	नयुतांग	अववांग	महापद्मांग
२४	नियुत	त्रुटित	नयुत	अवव	महापद्म
२५	कुमुदांग	अटटांग	कुमुदांग	हूहूअंग	कमलांग
२६	कुमुद	अटट	कुमुद	हूहू	कमल
२७	पद्मांग	अववांग	पद्मांग	उत्पलांग	महाकमलांग
२८	पद्म	अवव	पद्म	उत्पल	महाकमल
२९	नलिनांग	हूहूकांग	नलिनांग	पद्मांग	कुमुदांग
३०	नलिन	हूहूक	नलिन	पद्म	कुमुद
३१	कमलांग	उत्पलांग	कमलांग	नलिनांग	महाकुमुदांग
३२	कमल	उत्पल	कमल	नलिन	महाकुमुद
३३	त्रुटितांग	पद्मांग	त्रुटितांग	अत्थिनेपुरांग	त्रुटितांग
३४	त्रुटित	पद्म	त्रुटित	अत्थिनेपुर	त्रुटित
३५	अटटांग	नलिनांग	अटटांग	आउअंग (अयुतांग)	महात्रुटितांग
३६	अटट	नलिन	अटट	आउ (अयुत)	महात्रुटित
३७	अममांग	अर्थनिपुरांग	अममांग	नयुतांग	अडडांग
३८	अमम	अर्थनिपुर	अमम	नयुत	अडड
३९	हाहांग	अयुतांग	हाहांग	प्रयुतांग	महाअडडांग
४०	हाहा	अयुत	हाहा	प्रयुत	महाअडड
४१	हूहूवंग	नयुतांग	हूहू ०ंग	चूलितांग	ऊहांग
४२	हूहू	नयुत	हूहू	चूलित	ऊह
४३	लतांग	प्रयुतांग	लतांग	शीर्षप्रहेलिकांग	महाऊहांग
४४	लता	प्रयुत	लता	शीर्षप्रहेलिका	महाऊह

क्रम	१	२	३	४	५
४५	महालतांग	चूलिकांग	महालतांग	...	शीर्षप्रहे-लिकांग
४६	महालता	चूलिका	महालता	...	शीर्षप्रहे-लिका
४७	श्रीकल्प	शीर्षप्रहेलितांग	शीर्षप्रकंपित	...	..
४८	हस्तप्रहेलित	शीर्षप्रहेलिका	हस्तप्रहेलित	...	...
४९	अचलात्म	...	अचलात्म	...	...

काल प्रमाण

पूर्वोक्त प्रमाणोंसे—(सर्व प्रमाण); (ध /३/३४/ H. L. Jain)

१. समय = एक परमाणुके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर मन्दगतिसे जानेका काल।

२. ज युक्ता. असंख्यात समय = ... = आवली

३-४ संख्यात आवली = $\frac{२८८०}{३७७३}$ सैकेण्ड = उच्छ्वास या प्राण

५. ७ उच्छ्वास = ५$\frac{१८५}{५३९}$ सैकेण्ड = स्तोक

६ ७ स्तोक = ३७$\frac{३१}{७७}$ सैकेण्ड = लव

७ ३८½ लव = २४ मिनिट = नाली (घडी)

८. २ नाली (घडी) = ४८ मिनट = मुहूर्त

१५१० निमेष ३७७३ उच्छ्वास (दे० मुहूर्त)

" मुहूर्त—१ समय = भिन्न मुहूर्त

" (भिन्न मुहूर्त – १ समय) से (आवली + १ समय) तक = अन्तर्मुहूर्त

९. ३० मुहूर्त २४ घण्टे = अहोरात्र (दिवस)

१०. १५ अहोरात्रि = पक्ष

पूर्वोक्त प्रमाणोमेंसे :—नं० १, २,३,४,७, (ध /५/२१/H L Jain)

११. २ पक्ष = मास

१२. २ मास = ऋतु

१३ ३ ऋतु = अयन

१४. २ अयन = संवत्सर (वर्ष)

१५. ५ वर्ष = युग

१६. १० व १०० वर्ष = वर्षदशक व

१८ १०००;१०,०००; = वर्ष सहस्र व दश सहस्र

२०. १००,००० वर्ष = वर्ष लक्ष

क्रम	रा.वा ; ह. पु.; ज.प	ति प, महापुराण	प्रमाण निर्देश
२१	८४ लाख वर्ष	८४ लाख वर्ष	पूर्वांग
२२	८४ लाख पूर्वांग	८४ लाख पूर्वांग	पूर्व
"		८४ पूर्व	पर्वांग
"		८४ लाख पर्वांग	पर्व
२३	८४ लाख पर्व	८४ पर्व	नियुताग
२४	८४ लाख नियुतांग	८४ लाख नियुतांग	नियुत
२५	८४ लाख नियुत	८४ नियुत	कुमुदाग
२६	८४ लाख कुमुदाग	८४ लाख कुमुदांग	कुमुद
२७	८४ लाख कुमुद	८४ कुमुद	पद्माग
२८	८४ लाख पद्मांग	८४ लाख पद्मांग	पद्म
२९	८४ लाख पद्म	८४ पद्म	नलिनाग
३०	८४ लाख नलिनाग	८४ लाख नलिनाग	नलिन
३१	८४ लाख नलिन	८४ नलिन	कमलाग
३२	८४ लाख कमलाग	८४ लाख कमलाग	कमल
३३	८४ लाख कमल	८४ कमल	त्रुटिताग
३४	८४ लाख त्रुटिताग	८४ लाख त्रुटिताग	त्रुटित
३५	८४ लाख त्रुटित	८४ त्रुटित	अटटांग
३६	८४ लाख अटटांग	८४ लाख अटटाग	अटट
३७	८४ लाख अटट	८४ अटट	अममाग
३८	८४ लाख अममांग	८४ लाख अममाग	अमम
३९	८४ लाख अमम	८४ अमम	हाहाग
४०	८४ लाख हाहांग	८४ लाख हाहाग	हाहा
४१	८४ लाख हाहा	८४ हाहा	हूहू अंग
४२	८४ लाख हूहू अंग	८४ लाख हूहू अग	हूहू
४३	८४ लाख हूहू	८४ हूहू	लताग
४४	८४ लाख लतांग	८४ लाख लताग	लता
४५	८४ लाख लता	८४ लता	महालताग
४६	८४ लाख महालताग	८४ लाख म लतांग	महालता
	ति.प ; रा.वा ; ह.पु.,ज प	म पु.	प्रमाण निर्देश
४७	८४ लाख महालता	८४ महालता	श्रीकल्प
४८	८४ लाख श्रीकल्प	८४ लाख श्रीकल्प	हस्तप्रहेलित
४९	८४ लाख हस्तप्रहेलित	८४ हस्त प्रहेलित	अचलात्म

ति प /४/३०८ अचलात्म $= (८४)^{३१} \times (१०)^{८०}$ वर्ष

२. दूसरे प्रकारसे काल प्रमाण निर्देश

प. का/ता. वृ/२५/५२/५

असंख्यात समय = निमेष
१५ निमेष = काष्ठा (२ सैकेंड)
३० काष्ठा = कला (मिनट)
कुछ अधिक २० कला (२४ मिनट) (महाभारतकी अपेक्षा १५ कला) = घटिका (घडी)
२ घड़ी (महाभरतकी अपेक्षा ३ कला + ३ काष्ठा) मुहूर्त
आगे पूर्ववत्‌ '—

एक मिनट = ६० सैकेंड
२४ सैकेंड = पल
६० पल (२४ मिनिट) = घडी
शेष पूर्ववत्—
एक मिनिट = ५४०००० प्रतिविपलाश
६० प्रतिविपलाश = प्रतिविपल
६० प्रतिविपल विपल
६० विपल पल
६० पल घडी
शेष पूर्ववत् —

५. उपमा कालप्रमाण निर्देश

१. पल्य सागर आदिका निर्देश

ति. प./१/९४-१३०; (स सि/३/३८/२३३/५); (रा. वा/३/३८/७/२०८/७); (ह. पु/७/४७-५६), (त्रि सा/१०२); (ज. प./१३/३५-४२) (गो.जी /; जी. प्र./११८ का उपोद्घात/पृ ८६/४)।

व्यवहार पल्यके वर्ष = १ प्रमाण योजन गोल व गहरे गर्तमें १-७दिन तकके उत्तम भोगभूमिया भेडके बच्चेके बालोंके अग्रभागों-का प्रमाण×१० वर्ष $= \frac{१}{४}\pi \times ४^३ \times २०००^३ \times २^३ \times २^३ \times २^३ \times २^३ \times ६^३ \times ५००^३ \times ८^३ \times ८^३ \times ८^३ \times ८^३ \times ८^३ \times ८^३ \times ८^३$ = ४५ अक्षर प्रमाण बालाग्र ×१०० वर्ष अथवा–४१३४,५२६३,०३०८,२०३१, ७७-७४, ९५१२,१९२००००००००००००००००००×१०० वर्ष

व्यवहार पल्यके समय = उपरोक्त प्रमाण वर्ष ×२×३× २×२×१५×३०× २×३८$\frac{१}{२}$×७×७×संख्यात (आवली) (जघन्य युक्तासंख्यात समय)।

उद्धार पल्यके समय = उपरोक्त ४५ अक्षर प्रमाण रोमराशि प्रमाण×असंख्यात क्रोड वर्षोंके समय)।

अद्धापल्यके समय = उद्धार पल्यके उपरोक्त समय×असंख्य वर्षोंके समय।

व्यवहार उद्धार या अद्धासागर = १० कोडाकोडी विवक्षित पल्य

ति. प /४/३१५-३१६, (रा वा/३/३८/७/२०८/२०)

१० कोडाकोडी अद्धासागर = अवसर्पिणीकाल या उत्सर्पिणीकाल

एक अवसर्पिणी या एक उत्सर्पिणी = एक कल्प काल

२ कल्प (अव०+उत०) = एक युग

एक उत्सर्पिणी या एक अवसर्पिणी = छह काल—सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा दुषमा, दुषमा सुषमा, दुषमा, दुषमा दुषमा।

सुषमा सुषमा काल = ४ कोड कोडी अद्धा सागर

सुषमाकाल = ३ " " "

सुषमा दुषमा काल = २ " " "

दुषमा सुषमा काल = १ को को अद्धासागर–४२००० वर्ष

दुषमाकाल = २१००० वर्ष

दुषमा दुषमा काल = २१००० वर्ष

२. क्षेत्र प्रमाणका काल प्रमाणके रूपमें प्रयोग

ध १०/४,२,४,३२/११३/१ अंगुलस्स असंखेज्जदिभागो असंखेज्जाओ ओसप्पिणी उस्सप्पिणीओ भागाहारो होदि। = अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है जो असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके समय, उतना भागाहार है। (ध १०/४,२,४,३२/१२)।

गो जी /भाषा/११७ का उपोद्घात/३२१/२ कालपरिमाणविषै जहाँ लोक परिमाण कहैं तहाँ लोकके जितने प्रदेश होंहि तितने समय जानने।

६. उपमा प्रमाणकी प्रयोग विधि

ति. प./१/११०-११३ उस्सेहअगुलेणं सुराणणरतिरियणारयाणं च। उस्सेहगुलमाणं चउदेवणिदेणयराणि ।११०। दीवो दहिमेलाणं वेदीण णदीण कुडनगदीणं। वस्साण च पमाणं होदि पमाणुंगलेणेव ।१११। भिंगारकलसदप्पणवेणुपडहजुगाणमयणसगदाण। हलमुसलसत्तितोमर-सिंहासणबाणणालिअक्खाण ।११२। चामरदुदुहिपीढच्छत्ताणं णरणिवासणगराण। उज्जाणपहुदियाण सखा आदगुल णेया।११३। =उत्सेधागुलसे देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियोंके शरीरकी ऊँचाईका प्रमाण और चारों प्रकारके देवोंके निवास स्थान व नगरादिकका प्रमाण जाना जाता है।११०। द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड या सरोवर, जगती और भरतादि क्षेत्र इन सबका प्रमाण प्रमाणागुलसे ही हुआ करता है।१११। झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाडी या रथ) हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुदुभी, पीठ, छत्र (अर्थात तीर्थंकरों व चक्रवर्तियों आदि शलाका पुरुषोंकी सर्व विभूति) मनुष्योंके निवास स्थान व नगर और उद्यान आदिकोंकी संख्या आत्मागुलसे समझना चाहिए।१११-११३। (रा. वा /३/३८/६/२०७/33)

ति. प /१/६४ ववहारुद्धारद्धातियपल्ला पढमयम्मि सखाओ। विदिये दीवसमुद्दा तदिये मिज्जेदि कम्मठिदि।६४। =व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य और अद्धापल्य ये पल्यके तीन भेद है। इनमें-से प्रथम पल्यसे सख्या (द्रव्य प्रमाण); द्वितीयसे द्वीप समुद्रादि (की सख्या) और तृतीयसे कर्मोंका (भव स्थिति, आयु स्थिति, काय स्थिति आदि काल प्रमाण लगाया जाता है। (ज प /१३/३६), (त्रि. सा./६३)

स. सि /३/३८/२३३/५ तत्र पल्यं त्रिविधम्-व्यवहारपल्यमुद्धारपल्यमद्धापल्यमिति। अन्वर्थसंज्ञा एता। आद्यं व्यवहारपल्यमित्युच्यते, उत्तरपल्यद्वयव्यवहारबीजत्वात। नानेन किंचित्परिच्छेद्यमस्तीति। द्वितीयमुद्धारपल्यम्। तत उद्धृतैर्लोमकच्छेदैर्द्वीपसमुद्रा सख्यायन्त इति। तृतीयमद्धापल्यम्। अद्धा कालस्थितिरित्यर्थ। अर्धतृतीयोद्धारसोद्धारोपमाना यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्रा'। ' अनेनाद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनीना देवमनुष्याणा च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायु स्थिति कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या। =पल्य तीन प्रकारका है—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनो सार्थक नाम है। आदिके पल्यको व्यवहारपल्य कहते है, क्योंकि यह आगेके दो पल्योंका मूल है। इसके द्वारा और किसी वस्तुका प्रमाण नहीं किया जाता। दूसरा उद्धारपल्य है। उद्धारपल्यमेंसे निकाले गये रोमके छेदों द्वारा द्वीप और समुद्रोंकी गिनती की जाती है। तीसरा अद्धापल्य है। अद्धा और काल स्थिति ये एकार्थवाची शब्द है। "ढाई उद्धार सागरके जितने रोम खण्ड हों उतने सब द्वीप और समुद्र है।' अद्धापल्यके द्वारा नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्योंकी कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थिति-की गणना करनी चाहिए। (रा वा /३/३८/७/२०८/७,२२), (ह पु /७/५१-५२), (ज. प /१३/२८-३१)

रा वा./३/३८/५/पृष्ठ/पक्ति यत्र सख्येन प्रयोजन तत्राजघन्योत्कृष्टसख्येयग्राह्यम् ।२०६/२६। यत्रावलिकाया कार्यं तत्र जघन्ययुक्तासख्येयग्राह्यम् ।२०७।३। यत्र सख्येयासख्येया प्रयोजन तत्राजघन्योत्कृष्टासंख्येयासख्येय ग्राह्यम् ।२०७/१३। अभव्यराशिप्रमाणमार्गणे जघन्ययुक्तानन्त ग्राह्यम् ।२०७/१६। यत्राऽनन्तानन्तमार्गणा तत्राजघन्योत्कृष्टाऽनन्ताऽनन्तं ग्राह्यम् ।२०७/२३/ =जहाँ भी सख्यात शब्द आता है। वहाँ यही अजघन्योत्कृष्ट सख्यात लिया जाता है। जहाँ आवलीसे प्रयोजन होता है, वहाँ जघन्य युक्तासख्येय लिया जाता है। असख्यासख्येयके स्थानोंमें अजघन्योत्कृष्ट असख्येयासख्येय विवक्षित होता है। अभव्य राशिके प्रमाणमें जघन्य युक्तानन्त लिया जाता है। जहाँ अनन्तानन्तका प्रकरण आता है वहाँ अजघन्योत्कृष्ट अनन्तानन्त लेना चाहिए।

ह. पु /७/२२ सोध्या द्विगुणितो रज्जुस्तनुवातोभयान्तभाग्। निष्पद्यते त्रयो लोका' प्रमीयन्ते बुधैस्तथा ।५२। =द्वीपसागरोंके एक दिशाके विस्तारको दुगुना करनेपर रज्जुका प्रमाण निकलता है। यह रज्जु दोनो दिशाओंमें तनुवातवलयके अन्त भागको स्पर्श करती है। विद्वान् लोग इसके द्वारा तीनों लोकोंका प्रमाण निकालते है।

२. द्रव्य क्षेत्रादि प्रमाणोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

१. लौकिक संख्याओंकी अपेक्षा सहनानियाँ

गो जी./अर्थ सदृष्टि/पृ. १/१३ तहाँ कहीं पदार्थनिके नाम धरि सहनानी है। जहाँ जिस पदार्थका नाम लिखा होई तहाँ तिस पदार्थकी जितनी सख्या होइ तितनी सख्या जाननी। जैसे—विधु=१ क्योंकि दृश्यमान चन्द्रमा एक है। निधि=९ क्योंकि निधियोंका प्रमाण नौ है।

बहुरि कहीं अक्षरनिकौ अंकनिकी सहनानीकरि संख्या कहिए है। ताका सूत्र—कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपञ्चाष्टकल्पितै. क्रमश'। स्वर-व्यञ्जनशून्य सख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्। अर्थात क, ख, ग, घ,
१ २ ३ ४
ङ, च, छ, ज, झ (ये नौ), ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध (ये नौ)
५ ६ ७, ८ ९ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
प, फ, ब, भ, म (ये पाँच), य, र, ल, व, श, ष, स, ह (ये आठ)
१ २ ३ ४ ५ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
बहुरि अकारादि स्वर वा 'ञ' वा 'न' करि बिन्दी जाननी। वा अक्षरकी मात्रा वा कोई ऊपर अक्षर होइ जाका प्रयोजन किछु ग्रहण न करना।

(तात्पर्य यह है कि अकके स्थानपर कोई अक्षर दिया हो तो तहां व्यञ्जनका अर्थ तो उपरोक्त प्रकार १, २ आदि जानना। जैसे कि—ङ, ण, म, श इन सबका अर्थ ५ है। और स्वरोंका अर्थ बिन्दी जानना। इसी प्रकार कहीं ञ या न का प्रयोग हुआ तो वहाँ भी बिन्दी जानना। मात्रा तथा सयोगी अक्षरोंको सर्वथा छोड देना। इस प्रकार अक्षर परसे अक प्राप्त हो जायेगा।

(गो सा /जी का/की अर्थ संदृष्टि)

लक्ष	=ल	जघन्य ज्ञान	=ज. ज्ञा
कोटि (क्रोड)	=को.	मूल	=मूल
लक्षकोटि	=ल को.	जघन्यको आदि लेकर अन्य भी	=ज=
कोडाकोडी	=को. को.	६५ को आदि लेकर अन्य भी	=६५=
अन्तःकोटाकोटि	=अ को. को.	एकट्ठी	=१८=
जघन्य	=ज०	बादाल	=४२=
उत्कृष्ट	=उ०	पणट्ठी	=६५=
अजघन्य	=अज०		
साधिक जघन्य	=ज'		

नोट—इसी प्रकार सर्वत्र प्रकृत नामके आदि अक्षर उस उसकी सहनानी है।

२. अलौकिक संख्याओंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो सा/जी का/की अर्थ सदृष्टि)

संख्यात	= $\mathcal{Q}$
असंख्यात	= $a(^{a})$
अनन्त	= ख
जघन्य संख्यात	= २
जघन्य असंख्यात	= २
उत्कृष्ट असंख्यात	= १५
जघन्य अनन्त	= १६
उत्कृष्ट अनन्त	= के
जघन्य परीतासंख्यात	= १६
उत्कृष्ट परीतासंख्य	= $२^{१}$ –
जघन्य युक्तासंख्यात	= २
उत्कृष्ट युक्तासंख्यात	= $४^{१}$ –
जघन्य असंख्यातासं	= ४
उत्कृष्ट असंख्यातासं.	= $२५६^{१}$ –
जघन्य परीतानन्त	= २५६
उत्कृष्ट परीतानन्त	= ज जु. अ ^{१} –
जघन्य युक्तानन्त	= ज. जु अ
उत्कृष्ट युक्तानन्त	= ज. जु अ व ^{१} –

{ जघन्य अनन्तानन्त (जघन्य युक्ताका वर्ग)	= ज. जु अ व
{ उत्कृष्ट अनन्तानन्त (केवल ज्ञान)	= के
{ मध्यम अनन्तानन्त (सम्पूर्ण जीव राशि)	= १६
संसारी जीव राशि	= १३
सिद्ध जीव राशि	= ३
{ पुद्गल राशि (सम्पूर्ण जीव राशिका अनन्तगुणा)	= १६ख
काल समय राशि	= १६खख
आकाश प्रदेश राशि	= १६ख ख ख
{ केवलज्ञानका प्रथम मूल	= के. $मू.^{१}$
केवलज्ञानका द्वि. मूल	= के $मू^{२}$
केवलज्ञान	= के
ध्रुव राशि	= २५६/१३
{ असंख्यात लोक प्रमाण राशि	= ६
{ π (१६२२ या १६/६)	= $\sqrt{१०}$

३. द्रव्य गणनाकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा/जी का/की अर्थ संदृष्टि)

सम्पूर्ण जीव राशि	= १६	पुद्गल राशि	= १६ख
संसारी जीवराशि	= १३	काल समय राशि	= १६ख ख.
मुक्त जीव राशि	= ३	{ आकाश प्रदेश राशि	= १६ख.ख ख

४. पुद्गल परिवर्तन निर्देशकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा/जी का/की अर्थ संदृष्टि)

गृहीत द्रव्य	= १	मिश्र द्रव्य	= ×
अगृहीत द्रव्य	= ०	{ अनेक बार गृहीत अगृहीत या मिश्र द्रव्यका ग्रहण	= दो बार लिखना

५. एकेन्द्रियादि जीव निर्देशकी अपेक्षा

(गो सा/जी.का/की अर्थ सदृष्टि)

एकेन्द्रिय	= ए	सञ्ज्ञी	= सं
विकलेन्द्रिय	= वि	पर्याप्त	= २
पचेन्द्रिय	= प	अपर्याप्त	= ३
असंज्ञी	= अ	सूक्ष्म	= सू
		बादर	= बा

६. कर्म व स्पर्धकादि निर्देशकी अपेक्षा

(गो.सा./जी. का/की अर्थ सदृष्टियाँ)

समय प्रबद्ध	= $स_{a}$	स्पर्धक शलाका	= ६
उत्कृष्ट समय प्रबद्ध	= स३२	{ एक स्पर्धकविषै वर्गणाएँ	= ४
जघन्य वर्गणा	= व		

७. क्षेत्रप्रमाणोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(ति प/१/१३; १/१३२)

सूच्यगुल		= मू	= २
प्रतरागुल	= $सू^{२}$	= प्र	= ४
घनागुल	= $सू^{३}$	= घ	= ६
जगश्रेणी		= ज	= —
जगत्प्रतर	= $ज^{२}$	= ज प्र	= =
लोकप्रतर	= $ज^{२}$	= लो प्र.	= =
घनलोक	= $ज^{३}$	= लो	= ≡

गो सा. व ल. सा की अर्थ सदृष्टि

रज्जू	= जगश्रेणी/७	= $\overline{२}$	= $\overline{७}$
रज्जूप्रतर	= $रज्जू^{२}$	= $(\overline{७})^{२}$	= $\overline{\overline{४९}}$
रज्जू घन	= $रज्जू^{३}$	= $(\overline{७})^{३}$	= ≡ ३४३
{ सूच्यगुलकी अर्धच्छेद राशि	= (पल्यकी अर्धच्छेद $राशि)^{२}$		= छे छे
{ सूच्यगुलकी वर्गशलाका राशि	= (पल्यकी वर्गशलाका $राशि)^{२}$		= $व_{२}$
{ प्रतरागुलकी अर्धच्छेद राशि	= (सूच्यंगुलकी अर्धच्छेद राशि×२)		= $छे छे_{२}$
{ प्रतरागुलकी वर्गशलाका राशि			= $व_{२}^{१-}$
{ घनागुलकी अर्धच्छेद राशि			= $छे छे_{३}$
{ घनागुलकी वर्गशलाका राशि			= $व_{२}$
{ जगश्रेणीकी अर्धच्छेद राशि	= (पल्यकी अर्धच्छेद राशि – असं)×(घनागुलकी अर्धच्छेद राशि)		= $a छे छे छे_{३}$ या $विछेछे_{३}$ (वि = विरलन राशि)
{ जगश्रेणीकी वर्गशलाका राशि	= घनागुलकी वर्गशलाका + पल्यकी वर्ग श. / ज. परी. जस×२ या $व_{२}$ + व/१६×२		व/१६/२
{ जगत्प्रतरकी अर्धच्छेद राशि	= जगश्रेणीकी अर्धच्छेद राशि×२		= $a छे छे छे_{६}$
{ जगत्प्रतरकी वर्गशलाका राशि	= जगश्रेणीकी वर्गशलाका + १		[$व^{१-}$ १६/२ $व_{२}$]
{ घनलोकको अर्धच्छेद राशि	= $a छे छे छे_{६}$		= वि छे $छे_{६}$ (यदि वि = विरलन राशि)
{ घनलोकको वर्गशलाका राशि	=		[व १६/२ $व_{२}$]

८. कालप्रमाणोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो सा/जी का/को अर्थ सदृष्टि)

आवली	=आ	=२
अन्तर्मुहूर्त	=सख्यात आ	=२ ७
पल्य (ध.३/पृ ८८)	=प.	=६५५३६
सागर	=सा.	
प्रतरावली	=आवली^{2} =२^2	=४
घनावली	=आवली^{3} =२^3	=८
पल्यकी अर्धच्छेद राशि	=छे	
पल्यकी वर्गशलाका राशि	=व	
सागरकी अर्धच्छेद राशि	=७/छे अथवा	७/छे
सख्यात आवली		=२ ७

सूच्यगुलकी अ. छे=(पल्यकी अर्धच्छेद राशि)^2 छे छे
सूच्यगुलकी व.श.=पल्यकी व श.×२ =$व_2$
प्रतरागुलकी अ.छे=सूच्यंगुलकी अ. छे×२ =$छे छे_2$
प्रतरागुलकी व.श =सूच्यगुलकी व. श.+१ =$व_2$ (१–)
घनांगुलकी अ छे=सूच्यंगुलकी अ. छे ×३ =$छे छे_3$
घनागुलकी व. श.=(जातै द्विरूप वर्गधारा विषै जेते स्थान गये सूच्यंगुल हो है तेते ही स्थान गये द्विरूप घन धारा विषै घनागुल हो है =$व_2$

जगश्रेणीकी अ छे=पल्यकी अ. छे÷असं/अथवा =[$छे छे छे_3$ / ७]
तीहि प्रमाण विरलन राशि, या
ताके आगे घनागुलकी अ. छे वि $छे छे_3$
का गुणकार जानना।

जगश्रेणीको व.श.=(घनागुलकी व.श.+ज.परीता)λ/२ = { व / १६/२ / $व_2$ }

जगप्रतरकी अ. छे=जगश्रेणीकी अ. छे×२ =[$छे छे छे_6$ / ७]

जगप्रतरकी व. श=जगश्रेणीकी व. श+१ ={ १– / व / १६/२ / $व_2$ }

घनलोककी अ छे=सूच्यगुल की अ छे×३ =$छे छे छे_6$

घनलोककी व. श=जातै द्विरूप वर्ग धाराविषै जेते स्थान गये जगश्रेणी हो है, तेते ही स्थान गये द्विरूप घनधारा विषै घनलोक हो है। ={ व / १६/२ / $व_2$ }

३. गणितकी प्रक्रियाओंकी अपेक्षा सहनानियाँ

१ परिकर्माष्टककी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो सा./जी.का./की अर्थ सदृष्टि)

नोट—यहाँ '⌄' को सहनानीका अंग न समझना। केवल आँकडों-का अवस्थान दर्शानेको ग्रहण किया है।

व्यकलन (घटाना)	=Ω/x	गुणा	=x।
संकलन (जोडना)	=λ	मूल	=मू.
किंचिदून	=⌄–	वर्ग मूल	=व. मू.
एक घाट	=१Ω	प्रथम वर्गमूल	=$मू^1$
किंचिदधिक	=।/x	द्वितीय वर्गमूल	=$मू^2$
संकलनेमें एक दो तीन आदि राशियाँ	=। ।।,।।।	घनमूल	=वमू
ऋण राशि	=⌄°	विरलन राशि	=वि.
पाँच घाट लक्ष	=ल—५ या $ल_5$	(विशेष देखो गणित /II/१/)	

२. लघुरिक्थ गणितकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो.सा /जी.का /की अर्थ सदृष्टि)

संकेत—अ छे	=अर्धच्छेद राशि	
व श	=वर्ग शलाका राशि	
पल्यकी अर्ध-च्छेद राशि	=$\log_2$ of पल्य	=$प_2$ (गो.क/पृ ३३६)—छे
पल्यकी व.श. (जघन्य वर्गणा)	=$\log \log_2$ of पल्य	=व

सागरकी अ छे =पल्यकी अर्धच्छेद+संख्यात=७/छे

३. श्रेणी गणितकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो. सा/जी. का/की अर्थ सदृष्टि)

एक गुणहानि	=८	नाना गुणहानि	=ना
एक गुणहानि-विषै स्पर्धक	=६	किंचिदून ड्योढ (द्व्यर्ध) गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध	=७$^{१२-}$
ड्योढ गुणहानि	=१२		
दो गुणहानि (निषेकाहार)	=१६	उत्कृष्ट समयप्रबद्ध	=स३२

४. षट्गुणवृद्धि हानिकी अपेक्षा सहनानियाँ

(गो सा/जी. का/की अर्थसंदृष्टि)

अनन्तभाग	=उ	संख्यातगुण	=६
असंख्यात भाग	=४	असंख्यातगुण	=७
संख्यातभाग	=५	अनन्त गुण	=८

४. अक्षर व अंकक्रमकी अपेक्षा सहनानियाँ

१. अक्षरक्रमकी अपेक्षा सहनानियाँ

(पूर्वोक्त सर्व सहनानियोंके आधार पर)

संकेत—अ छे=अर्धच्छेद राशि, व श=वर्गशलाका राशि प्र=प्रथम, द्वि=द्वितीय; ज=जघन्य, उ=उत्कृष्ट,

अ को को	=अत कोटाकोटी
अ	=असञ्ज्ञी
उ	=उत्कृष्ट, अनन्त-भाग, अपकर्षण भागाहार
ए	=एकेन्द्रिय
के	=केवलज्ञान, उत्कृष्ट-अनन्तानन्त
के $मू^1$	='के'का प्र. वर्गमूल
के $मू^2$	='के'का द्वि. वर्गमूल
को	=कोटि (क्रोड)
को. को.	=कोटाकोटी
ख	=अनन्त
ख ख ख	=अनन्तानन्त-अलोकाकाश
घ	=घन, घनांगुल
घ मू	=घनमूल
घ लो	=घनलोक
छे	=अर्द्धच्छेद तथा पल्यकी अ. छे
छे छे	=सूच्यंगुलकी अ छे
छे $छे_2$	=प्रतरांगुलकी अ छे
छे $छे_3$	=घनांगुलकी अ छे
[छे छे $छे_2$ / ७]	=जगश्रेणीकी अ छे
[छे छे $छे_6$ / ७]	=जगत्प्रतरकी अ छे
[छे छे $छे_6$ / ७]	=घनलोककी अ छे
ज	=जघन्य, जगश्रेणी
ज'	=साधिक जघन्य
ज=	=जघन्यको आदि लेकर अन्य भी
ज जु अ	=ज युक्तानन्त
ज जु $अ^{1 \frown}$	=उ. परीतानन्त
ज जु अ व	=ज युक्तानन्तका वर्ग ज अनन्तानन्त
ज जु अ $व^{1 \frown}$	=उत्कृष्ट युक्तानन्त
ज ज्ञा	=जघन्य ज्ञान
ज प्र	=जगत्प्रतर
ना	=नानागुणहानि
प	=पल्य
प्र	=प्रतरांगुल
बा	=बादर
मू	=मूल
$मू^1$	=प्रथम मूल
$मू^2$	=द्वितीय मूल
ल	=लक्ष
ल को	=लक्ष कोटि
लो	=लोक
लो प्र	=लोक प्रतर
व	=वर्ग,जघन्य वर्गणा, पल्यकी वर्ग श
$व^{1-}_2$	=प्रतरांगुलकी व श
$व_2$	=घनांगुलकी व श
[व / १६।२]	सूच्यंगुलकी व.श. / =जगश्रेणीकी व.श.
[$व^{1-}$ / १६।२ / $व_2$]	=जगत्प्रतरकी व श.
[व / १६।२ / $व_2$]	=घनलोककी व श.
व. मू.	=वर्गमूल
व $मू^1$	=प्रथम वर्गमूल
व $मू.^2$	=द्वितीय वर्गमूल
वि	=विरलन राशि
स	सञ्ज्ञी
स ७	=समय प्रबद्ध
स ३२	=उत्कृष्ट समयप्रबद्ध
सा	=सागर
सू	=सूक्ष्म, सूच्यंगुल
$सू^2$	=(सूच्यंगुल $)^2$ प्रतरांगुल
$सू^3$	(सूच्यगुल$)^3$, घनांगुल

२. अंकक्रमकी अपेक्षा सहनानियाँ

(पूर्वोक्त सर्व सहनानियोंके आधार पर)—

१	=गृहीत पुद्गल प्रचय
२	=जघन्य सख्यात, जघन्य असख्यात, जघन्य युक्तासख्यात, सूच्यंगुल, आवली
२2	=अतर्मुहूर्त, संख्य आव
$२^{1 \frown}$	=उत्कृष्ट परीतासख्या
३	=सिद्धजीव राशि
४	=असख्यात भाग जघन्य असंख्याता-संख्य०, एक स्पर्धक विषै वर्गणा, प्रतरा-गुल प्रतरावली।
५	=संख्यात भाग
६	=सख्यात गुण, घनागुल
७	=असंख्यात गुण
$\bar{७}$	=रज्जू
$\bar{७}^2$	=रज्जूप्रतर
$\bar{७}^3$	=रज्जूघन
८	=अनन्तगुण, एक गुणहानि, घनावली
९	=एक गुणहानि विषै स्पर्धक, स्पर्धकशलाका
१२	=ड्योढ गुणहानि
१३	=संसारीजीव राशि
१५	=उत्कृष्ट असख्य,
१६	=जघन्य अनन्त, सम्पूर्ण जीवराशि, दोगुणहानि, निषेकाहार
१६ ख	=पुद्गल राशि
१६ ख ख	=काल समय राशि
१६खखख	=आकाशप्रदेश
१८=	=एकट्ठी
४२=	=बादाल
$\overline{\overline{४६}}$	=रजत प्रतर
६५=	=पणट्ठी
$\overline{\overline{\overline{३४३}}}$	=रज्जूघन
२५६	=जघन्य परीतानन्त
$२५६^{1 \frown}$	=उत्कृष्ट असंख्याता-सख्यात
$\frac{२५६}{१३}$	=ध्रुव राशि

३. आँकड़ोंकी अपेक्षा सहनानियाँ

(पूर्वोक्त सर्व सहनानियोंके आधारपर)

नोट—यहाँ 'X' को सहनानीका अंग न समझना। केवल आंकडोंका अवस्थान दर्शानेको ग्रहण किया है।

$\bar{X}$	=सकलन (जोडना)
X—	=किंचिदून
$X^{\frown}$	=व्यकलन (घटाना)
$१^{\frown}$	=एक घाट
X/	=किंचिदधिक
I,II,III	=संकलनमें एक, दो, तीन आदि राशियाँ
O	=अगृहीत वर्गणा
X.	=मिश्र वर्गणा
$२^{1 \frown}$	=उत्कृष्ट परीतासंख्या.
$४^{1 \frown}$	=उत्कृष्ट युक्तासख्य
$२५६^{1 \frown}$	=उ. सख्यातासंख्य
ज जु $अ^{1 \frown}$	=उत्कृष्ट युक्तानंत
ज'	=साधिक जघन्य
$व^{1-}_2$	=सूच्यंगुलकी वर्ग-शलाका
[$व^{1-}$ / १६/२ / $व_2$]	=जगत्प्रतरकी वर्ग-शलाका
—	=जगश्रेणी
=	=जगत्प्रतर
≡	=घनलोक
$\bar{७}$	=रज्जू
$\overline{\overline{४६}}$	=रज्जू प्रतर
$\overline{\overline{\overline{३४३}}}$	=रज्जू घन

४ कर्मोकी स्थिति व अनुभागकी अपेक्षा

(ल. सा की अर्थसंदृष्टि)

II. गणित विषयक प्रक्रियाएँ

१. परिकर्माष्टक गणित निर्देश

१. अंकोंकी गति वाम भागसे होती है

गो जो./पूर्व परिचय/६०/१८ अङ्काना वामतो गति'। =अंकनिका अनुक्रम बाईं तरफसेती है। जैसे २५६ के तीन अकनिविषै छक्का आदि (इकाई) अक, पाचा दूसरा (दहाई) अक, दूवा अत (सैकडा) अंक कहिये। (यद्यपि अकोको लिखते समय या राशिको मुँहसे बोलते समय भी अक बायेसे दायेको लिखे या बोले जाते है जैसे दो सौ छप्पनमें दोका अक अन्तमें न बोलकर पहिले बोला या लिखा गया, परन्तु अक्षरोमे व्यक्त करनेसे उपरोक्त प्रकार पहिले इकाई फिर दहाई रूपमें इससे उलटा क्रम ग्रहण किया जाता है।)

२. परिकर्माष्टकके नाम निर्देश

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ /पं परिकर्माष्टकका वर्णन इहा करिए है। तहा सक्लन, व्यकलन, गुणकार, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल ए आठ नाम जानने ।५८–१७। अब भिन्न परिकर्माष्टक कहिये है। तहा अंश और हारनिका सकलनादि (उपरोक्त आठो) जानना (दे० आगे नं० १०)। अब शून्य परिकर्माष्टक कहिए है। (बिन्दीके संकलनादि उपरोक्त आठो शून्य परिकर्माष्टक कहलाते है। (दे० आगे नं० ११) ।६८–१७।

३. संकलनकी प्रक्रिया

गो जी /पूर्व परिचय/पृ./पं. किसी प्रमाणको किसी प्रमाणविषै जोडिये सो संकलन कहिये ।५६–४। (जिसमे जोडा जाये उसे मूल राशि कहते है)। जोडने योग्य राशिका नाम धन है। मूलराशिको तिस करि अधिक कहिए ।५६–१६।

गो.जी /अर्थ संदृष्टि—जोडते समय धनराशि ऊपर और मूलराशि नीचे लिखी जाती है। (जब कि अँगरेजी विधिमे मूलराशि ऊपर और धनराशि नीचे लिखकर जोडा जाता है)। यथा—

$\overset{५}{१०००}$=१०००+५=१००५ या $\overset{५—}{१०००}$=१०००+५=१००५

४. व्यकलनकी प्रक्रिया

गो जी./पूर्व परिचय/पृ./प. किसी प्रमाणको किसी प्रमाण विषै घटाइये तहां व्यकलन कहिये ।५६–५। (जिस राशिमेसे घटाया जाये उसे मूलराशि कहते है)। घटावने योग्य राशिका नाम ऋण है। मूल राशिको तिसकरि हीन, वा न्यून, वा शोधित वा स्फोटित कहिए ।६०–२।

गो जी /अंक संदृष्टि—घटाते समय निम्न विधियोके प्रयोगका व्यवहार है:

(१)—$\left(\overset{५}{१०००}\right)$=१०००−५=९९५॥ (२)—$\left(\overset{१^{\circ}}{को}\right)$=एक घाट कोटि॥ (३)—$\left(\overset{१}{ल}\right)$=एक घाट लक्ष॥ (४)—$\left(\overset{ल}{१^{\circ}}\right)$=एक घाट लक्ष॥ (५) (ल—२)=२ घाट लक्ष॥ (६) (ल~~२)=२ घाट लक्ष॥ (७)—(ख—)=किंचिद्न अनन्त॥ (८)—(ल=२)=(ल−२−२)॥ (९)—(ल~५)=५ घाट लक्ष॥ (१०)—$\left(\overset{ल}{५}\right)$=५ घाट लक्ष॥ (११)—(छेवछे)=पल्यकी अर्धच्छेदराशिमे-से पल्यकी वर्गशलाकाराशि घटाओ।

५. गुणकार प्रक्रिया

गो.जी./पूर्व परिचय/पृ /पं. किसी प्रमाणको किसी प्रमाणकरि गुणिए तहा गुणकार कहिए ।५६–७। गुणकारविषै जाको गुणिए ताका नाम गुण्य कहिए। जाकरि गुणिए ताका नाम गुणकार या गुणक कहिए। गुण्य राशिको गुणकार करि गुणित, हत वा अभ्यस्त व घ्नत कहिए है। गुननेका नाम गुणन वा हनन वा घात इत्यादि कहिए है ।६०–४।

गो जी /अर्थसदृष्टि—गुणा करते समय गुणकारको ऊपर तथा गुण्यको नीचे लिख निम्न प्रकार खण्डो द्वारा गुणा करनेका व्यवहार था। यथा—

१६ २५६	१६ ३२५६	१६ ४००६	१६ २५६ =
१×२=२ ६×२=१२ ५६	३२ १×५= ५ ६×५= ३० ६	४०० १×६= ६ ६×६= ३६	=१६×२५६ =४०९६
३२५६	४००६	फल ४०९६	

६. भागहार प्रक्रिया

गो जी /पूर्व परिचय/पृ /पं किसी प्रमाणको किसी प्रमाणका जहाँ भाग दीजिए तहाँ भागहार कहिए ।५६–८। जा विषै भाग दीजिए ताका

नाम भाज्य वा हार्य इत्यादि है। और जाका भाग दीजिए ताका नाम भागहार, हार, वा भाजक इत्यादि है। भाज्य राशिकौ भागहारकरि करि भाजित, भक्त वा हृत वा खण्डित इत्यादि कहिए। भागहारका भाग देइ एक भाग ग्रहण करना होइ तहा तैथवा भाग वा एक भाग कहिए।६०-८।

गो जी /अर्थ सदृष्टि—भाग देते समय भाज्य ऊपर व भागहार नीचे लिखा जाता है। यथा—

$\frac{\text{४०९६}}{\text{१६}} = \frac{\text{४०९६}}{\text{१६}} = \text{२५६}$ या $\frac{\text{को}}{\text{५}} = \frac{\text{को}}{\text{५}}$ = कोटिका पाँचवाँ भाग/

या $\text{१}/\frac{\text{१}}{\text{२}} = \text{१}\frac{\text{१}}{\text{२}}$

भाजन-विधि:

४०९६	८९६	९६
१६×२=३२	१६×५=८०	१६×६=९६
८९६	९६	०

१६ के तीनो गुणकारोको क्रमसे लिखनेपर २,५,६=२५६ लब्ध आ जाता है।

Division by Ratio

गो जी.—प्रक्षेप योगोद्धृतमिश्रपिण्ड प्रक्षेपकाणा गुणको भवेदिति। = प्रक्षेपकौ मिलायकरि मिश्र पिंडका भाग जो प्रमाण होइ ताको प्रक्षेपकरि गुणै अपना-अपना प्रमाण होइ। यथा—

$\text{१०००} : \text{५}:\text{७}:\text{८} = \frac{\text{१०००}}{\text{२०}} \times \text{५};\quad \frac{\text{१०००}}{\text{२०}} \times \text{७};\quad \frac{\text{१०००}}{\text{२०}} \times \text{८}$

= २५०, ३५०, ४००

७. वर्ग व वर्गमूलकी प्रक्रिया

गो जी /पूर्व परिचय/पृ /पं. = किसी प्रमाणको दोय जायगा माडि परस्पर गुणिए तहा तिस प्रमाणका वर्ग कहिए। बहुरि जो प्रमाणका जाका वर्ग कीए होय तिस प्रमाणका सो वर्गमूल कहिए। जैसे पच्चीस पाचका वर्ग कीए होइ तातै २५ का वर्गमूल ५ है।५६-१०। बहुरि वर्गका नाम कृति भी है। बहुरि वर्गमूलका नाम कृतिमूल वा मूल वा पाद वा प्रथम मूल भी है। (तहा प्रथम बार वर्ग करनेको प्रथम वर्ग कहिए। तिस वर्गको पुन वर्ग करनेको द्वितीय वर्ग कहिए। इसी प्रकार तृतीय चतुर्थ आदि वर्ग जानना) बहुरि प्रथम मूलके मूलको द्वितीय मूल कहिए। द्वितीय मूलके मूलको तृतीय मूल कहिए। (इसी प्रकार तृतीय चतुर्थ आदि मूल जानने)।६०-१४।

ध ५/प्र. ७—प्रथम वर्ग = $\text{अ}^{\text{२}}$; द्वि. वर्ग = $(\text{अ}^{\text{२}})^{\text{२}} = \text{अ}^{\text{४}}$

प्रथम वर्गमूल = $\text{अ}^{\frac{\text{१}}{\text{२}}}$; द्वि वर्गमूल = $\left(\text{अ}^{\frac{\text{१}}{\text{२}}}\right)^{\frac{\text{१}}{\text{२}}} = \text{अ}^{\frac{\text{१}}{\text{४}}}$

८. घन व घनमूल प्रक्रिया

गो जी /पूर्व परिचय/पृ /प किसी प्रमाणको तीन जायगा माडि परस्पर गुणै तिस प्रमाणका घन कहिए। बहुरि जो प्रमाण जाका घन कीए होइ तिस प्रमाणका सो घनमूल कहिए। जैसे १२५ पाचका घनमूल कीए होइ तातै १२५ का घनमूल ५ है।५६-१४।

गो जी /अर्थ सदृष्टि—गुणन विधि आदि सर्व गुणकारवत् जानना। यथा—४/३ = $\text{४}^{\text{३}}$ या ४ ४ ४ = $\text{४}^{\text{३}}$ = ६४। वर्ग व वर्गमूलकी भाँति यहाँ भी प्रथम, द्वितीय आदि घन तथा प्रथम, द्वितीय आदि घनमूल जानने। यथा प्रथम घन = $\text{अ}^{\text{३}}$; द्वि. घन = $(\text{अ}^{\text{३}})^{\text{३}} = \text{अ}^{\text{९}}$

प्रथम घनमूल = $\text{अ}^{\frac{\text{१}}{\text{३}}}$; द्वि घनमूल = $\left(\text{अ}^{\frac{\text{१}}{\text{३}}}\right)^{\frac{\text{१}}{\text{३}}} = \text{अ}^{\frac{\text{१}}{\text{९}}}$

९. विरलन देय या घातांक गणितकी प्रक्रिया

ध.५/प्र ८ धवला (व गोमट्टसार आदि करणानुयोगके ग्रन्थो) मे विरलन देय 'फैलाना और देना' नामक प्रक्रियाका उल्लेख आता है। किसी सख्याका **विरलन** करना व फैलाना अर्थात् उस संख्याको एक-एकमें अलग-अलग करना। जैसे न के विरलनका अर्थ है—१,१, १,१, न बार। **देय** का अर्थ है उपर्युक्त अकोमे प्रत्येक स्थानपर एक-की जगह 'न' अथवा किसी भी विवक्षित संख्याको रख देना (लिखनेमें विरलनराशि ऊपर लिखी जाती है और देय नीचे। जैसे $\text{६}^{\text{४}}$ में ६ देय है और ४ विरलन)। फिर उस विरलन—देयमे उपलब्ध सख्याओंको परस्पर गुणा कर देनेसे उस सख्याका **वर्गित-सवर्गित** प्राप्त हो जाता है। और यही उस संख्याका प्रथम वर्गित-संवर्गित कहलाता है। जैसे नका प्रथम वर्गित संवर्गित = $\text{न}^{\text{न}}$। विरलन-देयकी एक बार पुन प्रक्रिया करनेसे, अर्थात् $\text{न}^{\text{न}}$ को लेकर वही विधान फिर करनेसे द्वितीय वर्गित सवर्गित $\left(\text{न}^{\text{न}}\right)^{\text{न}^{\text{न}}}$ प्राप्त है। इसी विधानको पुन एक बार करनेसे 'न'का तृतीय वर्गित

$$\left(\left\{\left(\text{न}^{\text{न}}\right)^{\text{न}^{\text{न}}}\right\}^{\left\{\left(\text{न}^{\text{न}}\right)^{\text{न}^{\text{न}}}\right\}}\right)$$

संवर्गित प्राप्त होता है

धवलामें उक्त प्रक्रियाका प्रयोग तीन बारसे अधिक अपेक्षित नही हुआ है, किन्तु तृतीय वर्गित-संवर्गितका उल्लेख अनेक बार (ध.३/१,२,२/२० आदि) बडी सख्याओं व असख्यात व अनन्तके सम्बन्धमें किया गया है। इस प्रक्रियासे कितनी बडी संख्या प्राप्त होती है, इसका ज्ञान इस बातसे हो सकता है कि २ का तृतीय बार वर्गित-संवर्गित रूप $\text{२५६}^{\text{२५६}}$ हो जाता है।

उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है कि धवलाकार आधुनिक घाताक सिद्धान्त (Theory of indices या Powers) से पूर्णत' परिचित थे। यथा—

(१) $\text{अ}^{\text{म}}\ \text{अ}^{\text{न}} = \text{अ}^{\text{म}+\text{न}}$ (२) $\text{अ}^{\text{म}} / \text{अ}^{\text{न}} = \text{अ}^{\text{म}-\text{न}}$

(३) $(\text{अ}^{\text{म}})^{\text{न}} = \text{अ}^{\text{म न}}$—(त्रि सा /१०५-१०७)

(४) यदि $\text{१}+\text{२}^{X} = Y$ तथा $\text{२}^{X+P} = Q$ तो $Y\times\text{२}^{P} = Q$

(५) यदि $\text{२}^{\lambda} = Y$ तथा $\text{२}^{\lambda-P} = Q$ तो $Y-\text{२}^{P} = Q$

(त्रि सा./११०-१११)

१०. भिन्न परिकर्माष्टक प्रक्रिया

गो जी /पूर्व परिचय/६६/१२ अत्र भिन्न परिकर्माष्टक कहिए है। तहाँ अंश अर हारनिका सकलन व्यकलन आदिक (पूर्वोक्त आठो बातें) जानना। अंश अर हार कहा सो कहिए। तहाँ छह का पाँचवाँ भाग ($\frac{\text{६}}{\text{५}}$) मे छ को अंश व लव इत्यादि कहिये ओर ५ को हार वा हर वा छेद आदि कहिए। तहाँ भिन्न सकलन व्यकलनके अर्थ भाग जाति, प्रभाग जाति, भागानुबंध, भागापवाह ए च्यारि जाति है। तिनिविषै इहाँ विशेष प्रयोजनभूत समच्छेद विधि लिये भाग जाति कहिए है। जुदे-जुदे अंश अर तिनिके हार लिखि एक-एक हारको अन्य हारोनके अंशनिकरि गुणिए और सर्व हारनिको परस्पर गुणिए। (यथा—$\frac{\text{५}}{\text{६}} + \frac{\text{२}}{\text{३}} + \frac{\text{३}}{\text{४}}$ में ६ को २ व ३ के साथ गुणे, ३ को ५ व ३ के साथ, ४ को ५ व २ के साथ। और तीनों हारोको परस्पर गुणें ६×३×४=७२। उपरोक्त रूपसे गुणित सर्व अंशोंका समान रूपसे यह

एक ही हार होता है। यथा $\left(\frac{५}{६}+\frac{२}{३}+\frac{३}{४}\right)=\left(\frac{६०}{७२}+\frac{४८}{७२}+\frac{५४}{७२}\right)$ इस प्रकार सर्व राशियोंके हारोंको समान करना समच्छेद कहलाता है) अब संकलन करना होइ तो परस्पर अंशनिको जोड दीजिए और व्यकलन करना होइ मूल राशिके अंशनिविषै ऋणराशिके अंश घटाइ दीजिए। अर हार सबनिके समान भए। ताते हार परस्पर गुणे जेते भए तेते ही राखिए। ऐसे समान हार होनेतें याका नाम समच्छेद विधान है। उदाहरणार्थ—

$$\frac{५}{६}+\frac{२}{३}+\frac{३}{४}=\frac{६०}{७२}+\frac{४८}{७२}+\frac{५४}{७२}=\frac{६०+४८+५४}{७२}$$

$$=\frac{१६२}{७२}$$

$$\text{अथवा } \frac{५}{६}+\frac{२}{३}-\frac{३}{४}=\frac{६०}{७२}+\frac{४८}{७२}-\frac{५४}{७२}=\frac{६०+४८-५४}{७२}$$

$$=\frac{५४}{७२}$$

कोई सम्भवत: प्रमाणका भाग देइ भाज्य व भाजक (अंश व हार) राशिका महत् प्रमाणको थोरा कीजिए वा नि:शेष कीजिए तहाँ अपवर्तन संज्ञा जाननी।

$$\text{यथा } \frac{१६२}{७२}=२\frac{१८}{७२}=२\frac{१}{४} \text{ अथवा } \frac{५४}{७२}=\frac{३}{४}$$

गुणकार विषै गुण्य और गुणकारके अंशको अंशकरि और हारको हारकरि गुणन करना। यथा $\frac{५}{६}\times\frac{२}{३}\times\frac{३}{४}=\frac{३०}{७२}=\frac{१५}{३६}$।

भागहार विषै भाजकके अंशको हार कीजिए और हारनिको अंश कीजिये। ऐसे पलटि भाज्य भाजकका गुण्य गुणकारवत् (उपरोक्त) विधान करना।

वर्ग और घनका विधान गुणकारवत् ही जानना। अर्थात् अंशों व हारोंका पृथक्-पृथक् वर्ग व घन करके अंशके वर्ग या घनको लब्धका अंश और हारके वर्ग या घनको लब्धका हार जानना।

$$\text{यथा } \left(\frac{५}{६}\right)^२=\frac{५^२}{६^२}=\frac{२५}{३६} \text{ अथवा } \left(\frac{५}{६}\right)^३=\frac{५^३}{६^३}=\frac{१२५}{२१६}$$

वर्गमूल व घनमूल का विधान भी वर्ग व घनवत् जानना। अंशका वर्ग या घन तो लब्धका अंश है और हारका वर्ग या घन लब्धका हार है।

$$\text{यथा } \left(\frac{२५}{३६}\right)^{\frac{१}{२}}=\frac{२५^{\frac{१}{२}}}{३६^{\frac{१}{२}}}=\frac{५}{६} \text{ अथवा } \left(\frac{१२५}{२१६}\right)^{\frac{१}{३}}=\frac{१२५^{\frac{१}{३}}}{२१६^{\frac{१}{३}}}=\frac{५}{६}$$

भिन्न परिकर्माष्टक विषयक अनेकों प्रक्रियाएँ

ध.३/१,२,५/गा.२४-३०/४६ तथा (ध ५/प्र.११)—

(१) $\frac{न^२}{न\pm(न/प)}=न\mp\frac{न}{प\pm१}$

(२) यदि $\frac{म}{द}=क$ और $\frac{म}{द'}=क'$

तो $\frac{म}{द\pm द'}=\frac{क}{१\pm(क\div क')}$ या $\frac{क'}{(क'\div क)\pm१}$

(३) यदि $\frac{म}{द}=क$ और $\frac{म'}{द}=क$

तो $(क-क')+म'=म$

(४) यदि $\frac{अ}{ब}=क$, तो $\frac{अ}{ब+\frac{ब}{न}}=क-\frac{क}{न+१}$

और $\frac{अ}{ब-\frac{ब}{न}}=क+\frac{क}{न-१}$

(५) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ तो $\frac{अ}{ब+म}=क-\frac{क}{\frac{ब}{म}+१}$ और

$$\frac{अ}{ब-म}=क+\frac{क}{\frac{ब}{म}-१}$$

(६) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब'}=क+म$, तो

$$ब'=ब-\frac{ब}{\frac{क}{म}+१}$$

यदि $\frac{अ}{ब'}=क-म$, तो $ब'=ब+\frac{ब}{\frac{क}{म}-१}$

(७) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब'}$ दूसरा भिन्न है, तो

$$\frac{अ}{ब}-\frac{अ}{ब'}=क\left[\frac{ब'-ब}{ब'}\right]$$

(८) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब-स}=क+स$, तो

$$स=\frac{ब स}{क-स}$$

(९) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब-स}=क+स$, तो

$$स=\frac{ब स}{क+स}$$

(१०) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब+स}=क'$, तो

$$क'=क-\frac{क स}{ब+स}$$

(११) यदि $\frac{अ}{ब}=क$ और $\frac{अ}{ब-स}=क'$, तो

$$क'=क+\frac{कस}{ब-स}$$

११. शून्य परिकर्माष्टककी प्रक्रियाएँ

गो जी /पूर्व परिचय/६८/१७ अब शून्य परिकर्माष्टक लिखिए हैं। शून्य नाम बिन्दीका है। ताके संकलनादिक (पूर्वोक्त आठों) कहिए है। तहाँ—

संकलन	=अंक+०=अंक	वर्ग	= $(०)^२$	=०
व्यकलन	=अंक−०=अंक	वर्गमूल	= $(०)^{\frac{१}{२}}$	=०
गुणकार	=अंक×०=०	घन	= $(०)^३$	=०
भागहार	=अंक÷०=∞ (अवक्तव्य)	घनमूल	= $(०)^{\frac{१}{३}}$	=०

२. अर्द्धच्छेद या लघुरिक्थ गणित निर्देश

१. अर्द्धच्छेद आदिका सामान्य निर्देश

त्रि सा./७६ दलवारा होति अद्धच्छिदी। =राशिका दलवार (अर्थात जितनी बार राशिको आधा-आधा करनेसे एक रह जाय) तितना तिस राशिका अर्द्धच्छेद जानना। जैसे $२^{म}$ के अर्द्धच्छेद म है। (गो. जी./भाषा/११८ का उपोद्घात/पृ ३०३/७)।

त्रि सा /७५ वग्गसला रूवहिया सपदे पर सम मवग्गसलमेत्तं। दुगमाहद-मच्छिदी तम्मेत्तदुगे गुणे रासी।७५। =अपनी वर्गशलाकाका जेता प्रमाण तितना दूवा माड परस्पर गुणें अर्द्धच्छेद होहि। जैसे $(२)^{२म}$ के अर्द्धच्छेद $=२^{म}$।

ध ५/प्र ६ (अँगरेजीमें इसका नाम logarithm to the base २ अर्थात् लघुरिक्थ$_२$ है।) अर्द्धच्छेदका संकेत 'अछे' मान कर इसे आधुनिक पद्धतिमें इस प्रकार रख सक्ते सक्ते है। 'क' का अछे (या अछे 'क') = लरि$_२$ क। यहाँ लघुरिक्थका आधार दो है।

त्रि.सा /७६ वग्गिदवारा वग्गसला रासिस्स अद्धच्छेदस्स। अद्धिदवारा वा खलु…।७६। =राशिका जो वर्गितवार (दोयके वर्गतैं लगाइ जितनी बार कीए विवक्षित राशि होइ (गो.जी /भाषा/११८ का उपोद्घात/३०३/२) तितनी वर्गशलाका राशि जाननी। अथवा राशिके जेते अर्द्धच्छेद होहि तिनि अर्द्धच्छेदनिके जेते अर्द्धच्छेद होहिं तितनी तिस राशिकी वर्गशलाका जाननी।

ध ५/प्र ६ जैसे 'क' की वर्गशलाका=वश क=अछे अछे क= लरि$_२$ लरि$_२$ क। यहाँ भी लघुरिक्थका आधार ३ है।

जितनी बार एक संख्या उत्तरोत्तर तीनसे विभाजित की जाती है उतने उस संख्याके त्रिकच्छेद होते है। जैसे—'क' के त्रिकच्छेद =त्रिछे क=लरि$_३$ क। यहाँ लघुरिक्थका आधार ३ है। (ध १/१,२,५/५६)।

जितनी बार एक संख्या उत्तरोत्तर ४ से विभाजित की जा सकती है उतने उस संख्याके चतुर्थच्छेद होते है। जैसे 'क' के चतुर्थच्छेद=चछे क=लरि$_४$ क। यहाँ लघुरिक्थका आधार ४ है। (ध ३/१,२ ५/५६)।

नोट—और इस प्रकार लघुरिक्थका आधार हीन या अधिक कितना भी रखा जा सकता है। आजकल प्राय. १० आधार वाला लघुरिक्थ व्यवहारमे आता है। इसे फ्रैंच लौग कहते है। २ के आधार वाले लघुरिक्थका नाम नैपीरियन लौग प्रसिद्ध है॥ जैनागम में इसीका प्रयोग किया गया है। क्योंकि तहाँ अर्द्धच्छेद व वर्ग-शलाका विधिका ही यत्रतत्र निर्देश मिलता है। अत इन दोनो सम्बन्धी ही कुछ आवश्यक प्रक्रियाएँ नीचे दी जाती है।

२. लघुरिक्थ विषयक प्रक्रियाएँ

ध.५/प्र ६-११ (ध.३/१ २,२-५/पृष्ट): (त्रि, सा./गा)

(१) लरि $२^{म}$ =म { (राशिको जितनी बार आधा किया जा सके), (त्रि सा/७६)

(२) लरि $(२)^{२^{म}}$ $=२^{म}$ (वर्गशलाका प्रमाण दूवोंका परस्पर गुणनफल (त्रि.सा /७५)

(३) २ लरि म =म (राशिके अर्द्धच्छेद (लरि म) प्रमाण दूवोंका परस्पर गुणनफल ध ५५)

(४) लरि (म. न.) =लरि म+लरि न (त्रि सा /१०५)

(५) लरि (म−न) =लरि म−लरि न (ध. ६०, त्रि १०६)

(६) लरि $(क^{ख})$ =ख लरि क (त्रि सा/१०७)

(७) लरि $(क^{ख})^{२}$ =२ ख लरि क (ध २१)

(८) लरि $(क^{क})^{ख^{ख}}$ $=ख^{ख}$ लरि $क^{क}$ (ध २१)

(९) लरि लरि $(२)^{२^{म}}$ =म (त्रि सा/७६)

(१०) लरि लरि $(क^{ख})^{२}$ =लरि (२ ख लरि क)
=लरि ख+लरि २+लरि लरि क
=लरि ख+१+लरि लरि क (ध २१)

(११) मान लो 'अ' एक संख्या है, तो—

'अ' का प्रथम वर्गित संवर्तित=$अ^{अ}$ =ब (मान लो)
" " द्वि " " $=ब^{ब}$ =भ (")
" " तृ " " $=भ^{भ}$ =म (")

धवलामें इस सम्बन्धमें निम्न परिणाम दिये है—
(ध ३/१,२,२/२१-२४)

(क) लरि ब =अ लरि अ (दे ऊपर न ६)
(ख) लरि लरि ब=लरि अ+लरि लरि अ
(ग) लरि भ =ब लरि ब
(घ) लरि लरि भ=लरि ब+लरि लरि ब
=लरि अ+लरि लरि अ+अ लरि अ
(ङ) लरि म =भ लरि भ
(च) लरि लरि म =लरि भ+लरि लरि भ इत्यादि

(१२) लरि लरि म < $ब^{२}$ (ध २४)

इस असाम्यतासे निम्न असाम्यता आती है—
ब लरि ब+लरि ब+लरि लरि ब < $ब^{२}$

(१३) वर्गधारा, घनधारा और घनाघनधारा (दे. गणित/II/५/१) विषै स्वस्थानमें तो उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपरके स्थानमें दुगुने-दुगुने अर्धच्छेद हों है और परस्थान विषै तिगुने अर्धच्छेद हो हैं। जैसे वर्गधाराके प्रथम स्थानकी अपेक्षा तिसहीके द्वितीय स्थानमें दुगुने अर्धच्छेद है, परन्तु वर्गधाराके प्रथमस्थानकी अपेक्षा घनधाराके द्वितीयस्थानमें तिगुने अर्धच्छेद हैं। (त्रि.सा/७४)

(१४) वर्गशलाका स्वस्थानविषै एक अधिक होइ परन्तु परस्थानविषै अपने समान होय है। जैसे वर्गधारा (दे ऊपर न० १३) के प्रथम-स्थानकी अपेक्षा तिसहीके द्वितीयस्थानमें एक अधिक वर्गशलाका होती है। परन्तु वर्गधाराके प्रथमस्थानमें और घनधाराके भी प्रथम-स्थानमें एक-एक ही होनेके कारण दोनो स्थानोमें वर्गशलाका समान है। (त्रि. सा/७१)

(१५) वश जगश्रेणी = वश घनागुल $-$ $\frac{\text{वश उद्धारपल्य}}{(२ \times \text{जघन्य परी. असं})}$

(वश = वर्गशलाका), (त्रि. सा/१०६)

३. अक्षसंचार गणित निर्देश

१. अक्षसंचार विषयक शब्दोंका परिचय

गो जी /मू व जी. प्र /३५/६५ सखा तह पत्थारो परियट्टण णट्ट तह समुद्दिट्ट। एदे पंचपयारा पमदसमुक्कित्तणे णेया ।३५। प्रमादालापोत्पत्तिनिमित्ताक्षसंचारहेतुविशेष संख्या, एषा न्यास प्रस्तार', अक्षसंचार' परिवर्तनं, संख्या धृत्वा अक्षानयन नष्ट अक्ष धृत्वा संख्यानयनं समुद्दिष्टं। एते पचप्रकारा प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेया भवन्ति। =सख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, समुद्दिष्ट ए पाँच प्रकार प्रमादनिका व्याख्यानविषै जानना। (ऐसे ही साधुक ८४००'००० उत्तर गुण अथवा ८०,००० शीलके गुण इत्यादिमे भी सर्वत्र ये पाँच बातें जाननी योग्य है। यहाँ प्रमादका प्रकरण होनेसे केवल प्रमादके आधारपर कथन किया गया है।)

तहाँ प्रमादनिका आलापको कारणभूत जो अक्षसंचारके निमित्त-का विशेष सो संख्या है।

बहुरि इनिका स्थापन करना सो प्रस्तार है।

बहुरि अक्षसंचार परिवर्तन है।

सख्या धर अक्षका ल्यावना नष्ट है।

अक्ष धर सख्याका ल्यावना समुद्दिष्ट है।

तहाँ भगको कहमेको विधान सो आलाप है।

बहुरि भेद व भगका नाम अक्ष जानना।

बहुरि एक भेद अनेक भगनिविषै क्रमतैं पलटै ताका नाम अक्ष-संचार जानना।

बहुरि जेथवाँ भंग होइ तीहिं प्रमाणका नाम सख्या जानना।

२. अक्षसंचार विधिका उदाहरण

मन वचन कायके कृत कारित अनुमोदनाके साथ क्रमसे पलटनेसे तीन-तीन भग होते हैं। यही अक्ष संचार है। जैसे १, मनो कृत, २ मनो कारित, ३, मनो अनुमोदित। १ वचन कृत, २ वचन कारित, ३, वचन अनुमोदित। १. काय कृत, २. काय कारित व ३. काय अनुमोदित।

या कुल ९ भंग हुए सो संख्या है। इन नौ भंगोंके नाम अक्ष है। इनकी ऊपर नीचे करके स्थापना करना सो प्रस्तार है। जैसे

मन १ वचन २ काय ३

कृत ० कारित ३ अनुमोदित ६

मनो अनुमोदित तक आकर पुन' वचन कृतसे प्रारम्भ करना परिवर्तन है। सातवाँ भग बताओ १ 'कायकृत'; ऐसे संख्या धरकर अक्षका नाम बताना नष्ट है और वचन अनुमोदित कौन-सा भंग है १ 'छठा'। इस प्रकार अक्षका नाम बताकर संख्या लाना समुद्दिष्ट है।

३ प्रमादके ३७५०० दोषोंके प्रस्तार यंत्र

१. प्रथम प्रस्तार—(प्रमादोके भेद प्रभेद—दे वह वह नाम)

१ प्रमाण—(गो. जी /जी. प्र. व भाषा/४४/पृ. ८६–९१)

२. संकेत—अन =अनन्तानुबन्धी, अप्र.=अप्रत्याख्यान; प्र =प्रत्याख्यान; स.=संज्वलन.

क्रम	कथा	कषाय	इन्द्रिय	निद्रा	प्रणय
१	स्त्री ०	अन क्रोध ०	स्पर्शन ०	स्त्यानगृद्धि ०	स्नेह १
२	अर्थ १५००	अन मान ६०	रसना १०	निद्रानिद्रा २	मोह २
३	भोजन ३०००	अन माया १२०	घ्राण २०	प्रचलाप्रचला ४	
४	राज ४५००	अन लोभ १८०	चक्षु ३०	निद्रा ६	
५	चोर ६०००	अप्र. क्रोध २४०	श्रोत्र ४०	प्रचला ८	
६	वैर ७५००	अप्र. मान ३००	मन ५०		
७	परपाखण्ड ९०००	अप्र माया ३६०			
८	देश १०५००	अप्र लोभ ४२०			
९	भाषा १२०००	प्र क्रोध ४८०			
१०	गुणबन्ध १३५००	प्र. मान ५४०			
११	देवी १५०००	प्र. माया ६००			
१२	निष्ठुर १६५००	प्र. लोभ ६६०			
१३	परपैशुन्य १८०००	सं. क्रोध ७२०			
१४	कन्दर्प १९५००	सं. मान ८००			
१५	देशकालानुचित २१०००	सं. माया ८६०			
१६	भंड २२५००	सं. लोभ ९००			
१७	मूर्ख २४०००	हास्य ९६०			
१८	आत्म प्रशंसा २५५००	रति १०२०			
१९	परपरिवाद २७०००	अरति १०८०			
२०	परजुगुप्सा २८५००	शोक ११४०			
२१	परपीडा ३००००	भय १२००			
२२	कलह ३१५००	जुगुप्सा १२६०			
२३	परिग्रह ३३०००	स्त्रीवेद १३२०			
२४	कृष्याद्यारम्भ ३४५००	पुरुषवेद १३८०			
२५	संगीत वाद्य ३६०००	नपुंसकवेद १४४०			

२. द्वितीय प्रस्तार—

१	स्त्री ०	अन. क्रोध ०	स्पर्शन ०	स्त्यानगृद्धि ०	स्नेह ०
२	अर्थ २	अन. मान २५	रसना ६२५	निद्रानिद्रा ३७५०	मोह १८७५०
३	भोजन ३	अन. माया ५०	घ्राण १२५०	प्रचलाप्रचला ७५००	
४	राज ४	अन. लोभ ७५	चक्षु १८७५	निद्रा ११२५०	
५	चोर ५	अप. क्रोध १००	श्रोत्र २५००	प्रचला १५०००	
६	वैर ६	अप्र. मान १२५	मन ३१२५		
७	परपाखण्ड ७	अप्र. माया १५०			
८	देश ८	अप्र. लोभ १७५			
९	भाषा ९	प्र. क्रोध २००			
१०	गुणबन्ध १०	प्र. मान २२५			
११	देवी ११	प्र. माया २५०			
१२	निष्ठुर १२	प्र. लोभ २७५			
१३	परपैशुन्य १३	सं. क्रोध ३००			
१४	कन्दर्प १४	सं. मान ३२५			
१५	देशकालानुचित १५	सं. माया ३५०			
१६	भंड १६	सं. लोभ ३७५			
१७	मूर्ख १७	हास्य ४००			
१८	आत्मप्रशंसा १८	रति ४२५			
१९	परपरिवाद १९	अरति ४५०			
२०	परजुगुप्सा २०	शोक ४७५			
२१	परपीड़ा २१	भय ५००			
२२	कलह २२	जुगुप्सा ५२५			
२३	परिग्रह २३	स्त्रीवेद ५५०			
२४	कृष्याद्यारम्भ २४	पुरुषवेद ५७५			
२५	संगीतवाद्य २५	नपुंसकवेद ६००			

४. नष्ट निकालनेकी विधि

गो जी/जी प्र./४४/८४/१० व भाषा/४४/९१/९का भावार्थ—जिस संख्याका नष्ट निकालना इष्ट है उसे भाज्य रूपसे ग्रहण करना और प्रमादके विकथा आदि पाँच मूल भेदोंकी अपनी-अपनी जो भेद संख्या हो सो भागहार रूपसे ग्रहण करना। यथा विकथाकी संख्या २५ है सो भागहार है। प्रणयकी संख्या २ है सो भागहार है।

विवक्षित प्रस्तारके क्रमके अनुसार ही क्रम से उपरोक्त भागहारों को ग्रहण करके भाज्यको भाग देना। जैसे प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा प्रणयवाला भागाहार प्रथम है और विकथावाला अन्तिम। तथा द्वितीय प्रस्तारकी अपेक्षा विकथावाला प्रथम है और प्रणयवाला अन्तिम।

विवक्षित संख्याको पहिले प्रथम भागहार या प्रमादकी भेद संख्यासे भाग दे, पुन. जो लब्ध आवे उसे दूसरे भागाहारसे भाग दें, पुन: जो लब्ध आवे उसे तीसरे भागाहारसे भाग दें इत्यादि क्रमसे बराबर अन्तिम प्रस्तार तक भाग देते जाये।

द्वितीयादि बार भाग देनेसे पूर्व लब्धराशि मे '१' जोड दें। परन्तु यदि अवशेष ० बचा हो तो कुछ न जोडे।

प्रत्येक स्थानमे क्या अवशेष बचता है, इसपरसे ही उस प्रस्तारका विवक्षित अक्ष जाना जाता है। यदि ० बचा हो तो उस प्रस्तारका अन्तिम भेद या अक्ष जानना और यदि कोई अंक शेष बचा हो तो तेथवाँ अक्ष जानना। —दे० पहिले यन्त्र।

उदाहरणार्थ ३५०००वाँ आलाप बताओ।

१. प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा

नं.	प्रस्तार	भाज्य	भागहार	लब्ध	शेष	अक्ष
१	प्रणय	३५०००+०	२	१७५००	०	मोह
२	निद्रा	१७५००+०	५	३५००	०	प्रचला
३	इन्द्रिय	३५००+०	६	५८३	२	रसना
४	कषाय	५८३+१	२५	२३	९	प्र. क्रोध
५	विकथा	२३+१	२५	०	२४	कृष्याद्यारम्भ

अत इष्ट आलाप=मोही प्रचलायुक्त रसना इन्द्रियके वशीभूत प्रत्याख्यानक्रोधवाला कृष्याद्यारम्भ करता हुआ।

२. द्वितीय प्रस्तारकी अपेक्षा

नं०	प्रस्तार	भाज्य	भाजक	लब्ध	शेष	अक्ष
१	विकथा	३५०००+०	२५	१४००	०	संगीतवाद्य
२	कषाय	१४००+०	२५	५६	०	नपु वेद
३	इन्द्रिय	५६+०	६	९	२	रसना
४	निद्रा	९+१	५	२	०	प्रचला
५	प्रणय	२+०	२	१	०	मोह

अत —इष्ट आलाप=संगीतवाद्यालापी, नपुंसकवेदी, रसना इन्द्रियके वशीभूत, प्रचलायुक्त मोही।

५. समुद्दिष्ट निकालनेकी विधि

गो जी/जी प्र./४४/८४/१५ व भाषा/४४/९२/६ का भावार्थ—यन्त्रकी अपेक्षा साधना हो तो इष्ट आलापके अक्षोंके पृथक् पृथक् कोठोंमें दिये गये जो अंक उनको केवल जोड दीजिये। जो लब्ध आवे तेथवाँ अक्ष जानना। —दे० पूर्वोक्त यन्त्र।

गणितकी अपेक्षा साधना हो तो नष्ट प्राप्ति विधिसे उलटी विधिका ग्रहण करना। भागहारके स्थानपर गुणकार विधिको अपनाना। प्रस्तार क्रम भी उलटा ग्रहण करना। अर्थात् प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा विकथा पहिले है और प्रणय अन्तमे। द्वितीय प्रस्तारकी अपेक्षा प्रणय पहिले है और विकथा अन्तमें।

गुणकार विधिमें पहिले '१' का अंक स्थापो। इसे प्रथम विवक्षित प्रस्तारकी भेद संख्यासे गुणा करो। विवक्षित अक्षके आगे जितने कोठे या भग शेष रहते है (दे० पूर्वोक्त यत्र) तितने अंक लब्धमेंसे घटावे। जो शेष रहे उसे पुन द्वितीय विविक्षित प्रस्तारकी भेद संख्यासे गुणा करें। लब्धमें से पुन पूर्ववत् अक घटावें। इस प्रकार अन्तिम प्रस्तार तक बराबर गुणा करना व घटाना करते जायें। अन्तमे जो लब्ध हो सो ही इष्ट अक्षकी संख्या जाननी।

उदाहरणार्थ स्नेही, निद्रा युक्त, मनके वशीभूत अनन्तानुबन्धी क्रोधवाला मूर्खकथालापीकी संख्या लानी हो तो—

यन्त्रकी अपेक्षा—प्रथम प्रस्तारके कोठोंमें दिये गये अंक निम्न प्रकार है (देखो पूर्वोक्त यन्त्र)—स्नेह=१, निद्रा=६, मन=५०; अनन्त-क्रोध=० मूर्खकथा=२४०००। सब अंकोंको जोडे=२४०५७ पाया।

गणितकी अपेक्षा प्रथम प्रस्तारमें

{'१' (स्थापा)×२५ (विकथाकी संख्या) }—८

(मूर्ख कथासे आगे ८ कोठे या भग शेष है) =१७

इसी प्रकार १७×२५ (कपाय)—२४ =४०१

४०१×६ (इन्द्रिय)—० =२४०६

२४०६×५ (निद्रा) —१ =१२०२६

१२०२६×२ (प्रणय)—१ =२४०५७ वॉ अक्ष

इसी प्रकार द्वितीय प्रस्तारमें भी जानना। केवल क्रम बदल देना। पहिले प्रणयकी २ सख्यासे '१' को गुणा करना, फिर निद्राकी पाँच संख्यामे इत्यादि। तहाँ (१×२)−१=१, (१×५)—१=४; (४×६) − ०=२४; (२४×२५)—२४=५७६; (५७६×२५) − ८=१४३९२

४. त्रैराशिक व संयोगी भंग गणित निर्देश

१. द्वि त्रि आदि संयोगी भंग प्राप्ति विधि

गो. क./जी प्र/७९९/९७७ का भापार्थ—जहॉ प्रत्येक द्विसयोगी त्रिसयोगी इत्यादि भेद करने होहि तहॉ विवक्षितका जो प्रमाण होहि तिस प्रमाणतै लगाय एक एक घटता एक अंक पर्यंत अनुक्रमतै लिखने, सो ए तो भाज्य भए। अर तिनिके नीचै एक आदि एक एक बँधता तिस प्रमाणका अंक पर्यंत अक क्रमतै लिखने, सो ए भागहार भए। सा भाज्यनिकौ अंश कहिए भागहारनिकौ हार कहिए। क्रमतै पूर्व अशनिकरि अगले अशकौ और पूर्व हारनिकरि अगले हारकौ गुणि (अर्थात् पूर्वोक्त सर्व अशोको परस्पर तथा हारोंको परस्पर गुणा करनेसे उन उनका जो जो प्रमाण आवै) जो जो अशनिका प्रमाण होइ ताकौ हार प्रमाणका भाग दीए जो जो प्रमाण आवै तितने तितने तहॉ भंग जानने।

उदाहरणार्थ—(पट्काय जीवोकी हिंसाके प्रकरणमें किसी जीवको एक कालमें किसी एक कायकी हिंसा होती है, किसीको एक कालमें दो कायकी हिंसा होती है। किसीको ३ की…इत्यादि। वहाँ एक द्वि त्रि आदि सयोगी भग निम्न प्रकार निकाले जा सकते है।

भाज्य या अश	६	५	४	३	२	१
भाजक या हार	१	२	३	४	५	६

एक संयो० $=\frac{\text{अंश नं. १}}{\text{हार नं. १}} = \frac{६}{१} = ६$

द्वि० सयोगी $=\frac{\text{अंश नं १×२}}{\text{हार नं १×२}} = \frac{६×५}{१×२} = १५$

त्रि० संयोगी $=\frac{\text{अंश न १×२×३}}{\text{हार नं १×२×३}} = \frac{६×५×४}{१×२×३} = २०$

चतु० संयोगी $=\frac{\text{अंश न १×२×३×४}}{\text{हार न १×२×३×४}} = \frac{६×५×४×३}{१×२×३×४} = १५$

पंच संयोगी $=\frac{\text{अंश नं १×२×३×४×५}}{\text{हार नं १×२×३×४×५}} = \frac{६×५×४×३×२}{१×२×३×४×५} = ६$

छ सयोगी $=\frac{\text{अंश न. १×२×३×४×५×६}}{\text{हार न. १×२×३×४×५×६}} = \frac{६×५×४×३×२×१}{१×२×३×२×३×४} = १$

कुल भग =६+१५+२०+१५+६+१ =६३

२. त्रैराशिक गणित विधि

गो जी./पूर्व परिचय/पृ ७०/१३ त्रैराशिकका जहाँ तहाँ प्रयोजन जान स्वरूप मात्र कहिए है। तहॉ तीन राशि हो है—प्रमाण, फल व इच्छा। तहाँ तिस विवक्षित प्रमाणकरि जो फल प्राप्त होइ सो प्रमाण राशि व फल राशि जाननी। बहुरि अपना इच्छित प्रमाण होइ सो इच्छाराशि जाननी।

तहॉ फलकौ इच्छाकरि गुणि प्रमाणका भाग दीए अपना इच्छित प्रमाणकरि जो फल ताका प्रमाण आवै है। इसका नाम लब्ध है। इहाँ प्रमाण और इच्छाकी एक जाति जाननी। बहुरि फल और लब्धकी एक जाति जाननी।

उदाहरणार्थ—पॉच रुपयाका सात मण अन्न आवै तो सात रुपयाका केता अन्न आवै ऐसा त्रैराशिक कीया। इहाँ प्रमाण राशि ५ (रुपया) फल राशि ७ (मण) है, इच्छा राशि ७ (रुपया) है। तहाँ फलकरि इच्छाकौ गुणि प्रमाणका भाग दीए $\frac{७×७}{५} = \frac{४९}{५}$ ९$\frac{४}{५}$ मन मात्र लब्धराशि भया।—अर्थात् $\frac{\text{फल×इच्छा}}{\text{प्रमाण}}$ =लब्ध

(ध /३/१.२,६/९९ तथा १,२.१४/१००).

५. श्रेणी व्यवहारगणित सामान्य

१. श्रेणी व्यवहार परिचय

संकलन व्यकलन आदि पूर्वोक्त आठ बातोंका प्रयोग दो-चार राशियो तक सीमित न रखकर धारावाही रूपसे करना **श्रेणी व्यवहार** गणित कहलाता है। अर्थात् समान वृद्धि या हानिको लिये अनेकों अंको या राशियोकी एक लम्बी अटूट धारा यो श्रेणीमें यह गणित काम आता है। यह दो प्रकारका है—**संकलन व्यवहार श्रेणी** (Arithematical Progression) और **गुणन व्यवहार श्रेणी** (Geomctrical Pregression)।

तहाँ प्रथम विधिमे१,२,३,४ · ∞ इस प्रकार एकवृद्धि क्रमवाली, या २,४,६,८ ∞ इस प्रकार दोवृद्धि क्रमवाली, या इसी प्रकार ३,४,५ सख्यात, असंख्यात व अनन्त वृद्धि क्रमवाली धाराओका ग्रहण किया जाता है, जो सर्वधारा, समधारा आदि अनेको भेदरूप है। द्वितीय विधिमे १,२,४,८· ∞ इस प्रकार दोगुणकारवाली, या १,३,-९,२७ · ∞ इस प्रकार तीनगुणकारवाली, या इसी प्रकार ४,५,६, सख्यात, असंख्यात व अनन्त गुणकार वृद्धि क्रमवाली धाराओंका ग्रहण किया जाता है, जो कृतिधारा, घनधारा आदि अनेक भेदरूप है। इन सब धाराओका परिचय इस अधिकारमें दिया जायेगा।

समान-वृद्धि क्रमवाली ये धाराएँ कहींसे भी प्रारम्भ होकर तत्पश्चात् नियमित समान-वृद्धि क्रमसे कही तक भी जा सकती है। उस धारा या श्रेणीके सर्व स्थानोमें ग्रहण किये गये अको या राशियोका सकलन या गुणनफल 'सर्वधन' कहलाता है। उसके सर्व स्थान 'गच्छ', तथा समान वृद्धि 'चय' कहलाता है। इन 'सर्वधन' आदि सैद्धान्तिक शब्दोका भी परिचय इस अधिकारमें आगे दिया जायेगा।

दो-चार अकों या राशियोका संकलन या गुणन तो सामान्य विधिसे भी किया जाना सम्भव है, परन्तु पचास, सौ, सख्यात, असख्यात व अनन्त राशियोंवाली अटूट श्रेणियोका सकलन आदि सामान्य विधिसे किया जाना सम्भव नही है। तिसके लिए जिन विशेष प्रक्रियाओका प्रयोग किया जाता है, उनका परिचय भी इस अधिकारमें आगे दिया जानेवाला है।

२. सर्वधारा आदि श्रेणियोंका परिचय

त्रि सा /मू /५३-९१ धारेत्थ सव्वसमदिघणमाउगइदरवेकदीविंदं। तस्स घणाघणमादी अतं ठाण च सव्वत्थ ।५३। =चौदह धाराएँ है—

१ सर्वधारा, २ समधारा, ३. विषमधारा, ४. कृतिधारा, ५. अकृतिधारा, ६. घनधारा, ७. अघनधारा, ८. कृतिमातृकधारा, ९. अकृतिमातृकधारा, १०. घनमातृकधारा, ११ अघनमातृकधारा, १२. द्विरूपवर्गधारा, १३. द्विरूपघनधारा, १४. द्विरूपघनाघनधारा। इनके आदि अर अत स्थानभेद है ते सर्वत्र धारानि विषै कहिए है। (गो. जी./भाषा/२१८ का उपोद्घात पृ. २९९/१०)।

सकेत – a = केवलज्ञानप्रमाण उ. अनन्तानन्त।

क्रम	धाराका नाम	विशेषता	कुलस्थान
१	सर्वधारा	१,२,३,४ . . . . a	a
२	समधारा	२,४,६,८.. .... a	$a/2$
३	विषमधारा	१,३,५,७ . . .. a	$a/2$
४	कृतिधारा	१,४,९,१६ ($१^२$, $२^२$, $३^३$, $४^३$) $(a^{\frac{1}{2}})^3$	$a^{\frac{1}{2}}$
५	अकृतिधारा	कृतिधाराकी राशियोंमे हीन सर्वधारा अर्थात् ×,२,३,×,५,६,७,८×,१० .. ....a	$a^{\frac{1}{2}}$
६	घनधारा	१,८ २७ ($१^३$, $२^३$, $३^३$) $(a^{\frac{1}{3}})^3$	$a^{\frac{1}{3}}$
७	अघनधारा	घनधाराकी राशियोसे हीन सर्वधारा अर्थात् ×,२,३,४,५,६,७,×,९,१० . a	$a-a^{\frac{1}{3}}$
८	कृतिमातृक धारा	१,२,३ {($१^२$)$^{\frac{2}{2}}$, ($२^२$)$^{\frac{1}{2}}$, ($३^२$)$^{\frac{1}{2}}$ } $a^{\frac{1}{2}}$	$a^{\frac{1}{2}}$
९	अकृतिमातृक धारा	$a^{\frac{1}{2}}+१$, $a^{\frac{1}{2}}+२$, $a^{\frac{1}{2}}+३$ a (कृतिमातृकसे आगे जितने स्थान a तक शेष रहे वे सर्व)	$a-a^{\frac{1}{2}}$
१०	घन मातृक धारा	१,२,३,{($१^३$)$^{\frac{1}{3}}$; ($२^३$)$^{\frac{1}{3}}$; ($३^३$)$^{\frac{1}{3}}$ } $a^{\frac{1}{3}}$	$a^{\frac{1}{3}}$
११	अघन मातृक धारा	घनमातृक्से आगे जितने स्थान a तक शेष रहे वे सर्व अर्थात् $a^{\frac{1}{3}}+१$ $a^{\frac{1}{3}}+२$ $a^{\frac{1}{3}}+३$ .. a	$a-a^{\frac{1}{3}}$
१२	द्विरूप वर्ग धारा	$२^२$, $२^{२×२}$, $२^{२×२×२}$ २ लरि लरि a	लरि लरिa
१३	द्विरूप घन-धारा	$२^३$, $२^{२×३}$, $२^{२×२×३}$ ... या $२^{२+१}$, $२^{२×२+२}$, $२^{२×२×२+४}$ $२^{२×२×२×२+८}$ ..२ लरि लरि a	लरि लरि (a)
१४	द्विरूपघना-घनधारा	($२^६$)^२, ($२^६$)$^{२×२}$ ($२^६$)$^{२×२×२}$	लरि लरि- $a_{-४}$
१५	अर्धच्छेद-राशि	=२,४,८,१६,३२,६४ · १६.	लरिa
१६	वर्गशलाका राशि	=४,१६,२५६, पणट्ठी a	लरि लरिa

३. सर्वधन आदि शब्दोंका परिचय

गो जी./भाषा/४९/१२१

{संकलन व्यव-हारकी श्रेणी = ४+८+१२+१६+२०+२४+२८+३२ = १४४

{गुणन व्यव-हारकी श्रेणी = ४+१६+६४+१२८+२५६+५१२+१०२४+२०४८ = ४०५२।

{स्थान = प्रथम अंकसे लेकर अन्तिम तक पृथक्-पृथक् अंकोंका अपना-अपना स्थान।

{पदधन या सर्वधन = विवक्षित सर्व स्थानकनि सम्बन्धी सर्व द्रव्य जोडनेसे जो प्रमाण आवे। जैसे उपरोक्त श्रेणियोमें = १४४१, ४०५२।

{पद, गच्छ स्थान = स्थानकनिका प्रमाण। यथा उपरोक्त श्रेणियोमें ८ (स्थान)

{मुख, आदि, प्रथम = आदि स्थानविषै जो प्रमाण होइ। जैसे उपरोक्त श्रेणियोमे ४।

भूमि या अन्त = अन्त स्थानविषै जो प्रमाण होइ। जैसे उपरोक्त श्रेणियोमें ३२,२०४८।

मध्यधन = सर्व स्थानकनिके बीचका स्थान। जहाँ स्थानकनिका प्रमाण सम होइ तहाँ बीचके दोय स्थानकनिका द्रव्य जोड आधा कीए जो प्रमाण आवे तितना मध्य धन है। जैसे उपरोक्त श्रेणी नं १ में $\frac{१६+२०}{२}=१८$

आदिधन = जितना मुखका प्रमाण होइ तितना तितना सर्व स्थानकनिका ग्रहण करि जोड जो प्रमाण होई। जैसे ऊपरोक्त श्रेणी नं. १ में (४×८) = ३२।

{उत्तर, चय वृद्धि, विशेष = स्थान-स्थान प्रति जितना-जितना बधै। जैसे उपरोक्त श्रेणी न १ मे ४।

{उत्तरधन या चयधन = सर्व स्थानकनिविषै जो-जो चय बधै उन सब चयोको जोड जो प्रमाण होइ। जैसे उपरोक्त श्रेणी नं. १ में १४४-३२ = ११२।

मध्य चयधन = बीचके स्थानपर प्रथम स्थानकी अपेक्षा वृद्धि। या मध्यमधन जैसे उपरोक्त श्रेणी न. १ मे मध्यधन १८ है। (ज.प/१२/४८) तहाँ प्रथमकी अपेक्षा १४ की वृद्धि है।

४. संकलन व्यवहार श्रेणी (Arithematical Progression) सम्बन्धी प्रक्रियाएँ

(त्रि सा/गा नं); (गो जी/भाषा/४९/१२१-१२४ उद्धृतसूत्र)

१ सर्वधन निकालो

(I) यदि आदिधन और उत्तरधन दिया हो तो—
आदिधन + उत्तरधन = सर्वधन

(II) यदि मध्यधन और गच्छ दिया हो तो—
मध्यधन×गच्छ = सर्वधन

(iii) यदि, मुख, गच्छ और चय दिया हो तो—
"पदमेगेण विहीण दुभाजिदं उत्तरेण संगुणिदं ।
पभवजुद पदगुणिदं पदगणिदं त विजाणीहि (त्रि. सा/१६४) ।

$$\left[\left\{\frac{\text{गच्छ}-१}{२}\times\text{चय}\right\}+\text{मुख}\right]\times\text{गच्छ}=\text{सर्वधन}$$

(iv) यदि मुख भूमि और गच्छ दिया हो तो—
"मुखभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधन होदि" (त्रि सा/१६३)

$$\frac{\text{मुख}+\text{भूमि}}{२}\times\text{गच्छ}=\text{सर्वधन}$$

(सर्वधन=S_n ; गच्छ=n ; मुख=T_1 ; भूमि=T_n ; चय=d)

तो $S_n = T_1+(T_1+d)+(T_1+2d)+(T_1+3d)+ (T_n-3d)+(T_n-2d)+(T_n-d)+T_n$

$$2S_n = \overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n} \cdot\cdot \overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n}+\overline{T_1+T_n} = n(T_1+T_n).$$

$$S_n = \frac{T_1+T_n}{2}n = \frac{\text{मुख}+\text{भूमि}}{२}\times\text{गच्छ} ।$$

(१) गच्छ निकालो

(i) यदि मुख भूमि और चय दिया हो तो
"आदी अंते सुद्धे वड्ढिहिदे इगिजुदे ठाणा । (त्रि.सा/५७)"

$$\frac{\text{भूमि}-\text{मुख}}{\text{चय}}+१=\frac{T_n-T_1}{d}+1= \text{गच्छ } (n)$$

(३) चय निकालो

(i) यदि गच्छ और सर्वधन दिया हो तो
"पदकदिसंखेण भाजिय पचयं । ' (गो जी./भाषा/४६/१२३)

$$\frac{\text{सर्वधन}}{\text{गच्छ}^२}-\text{संख्यात}=\text{चय } (d)$$

(ii) यदि सर्वधन, आदिधन व गच्छ दिया हो तो
"आदिधनोन गुणितं पदोनपदकृतिदलेन समाजतं पचयं (गो. जी./भाषा/४६/१२३)

$$(\text{सर्वधन}-\text{आदिधन})\div\frac{\text{गच्छ}^२-\text{गच्छ}}{२}=\text{चय } (d)$$

(सर्वधन = S_n; मुख = T_1, भूमि=T_n ; गच्छ=n, चय=d

$$S_n=\frac{T_1+T_n}{2}n=\frac{n\{T_1+T_1+d(n-1)\}}{2}$$

$$=\frac{n\,2T_1+n(n-1)d}{2}$$

$$=\frac{2nT_1+(n^2-n)d}{2} \qquad \therefore \frac{2(S_n-nT_1)}{n^2-n/2}=d$$

(iii) यदि सर्वधन, मुख व गच्छ दिया हो तो—

$$\left\{\frac{\text{सर्वधन}}{\text{गच्छ}}-\text{मुख}\right\}\div\frac{\text{गच्छ}-१}{2}=\text{चय}$$

$$\left(\frac{S_n}{n}-T_1\right)\div\frac{n-1}{2}=d$$

(४) मुख या आदि निकालो

यदि सर्वधन, उत्तरधन व गच्छ दिया हो तो
(i) वेगपदं चयगुणिदं भूमिम्हि रिणवणं चकए । (त्रि.सा /१६३)।

भूमि – चय (गच्छ – १) = $T_n-d(n-1)$ =मुख

(ii) $$\frac{\text{सर्वधन}-\text{उत्तरधन}}{\text{गच्छ}}=\frac{S_n-\left(\frac{n-1}{2}.nd\right)}{n}=\text{गच्छ}$$

(गो.जी./भाषा/४६/१२२/६) ।

अन्त या भूमि निकालो

(i) यदि गच्छ, चय, व मुख दिया हो तो—
व्येक पदं चयाभ्यस्तं तदादिसहितं अंतधनं (गो.जी./भाषा/४६/१२२)

(गच्छ – १) चय+मुख=$T_1+d(n-1)$ =भूमि

(६) उत्तरधन निकालो

(i) यदि गच्छ व चय दिया हो तो—
व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनं । (गो.जी./भाषा/४६/१२३)

$$\frac{\text{गच्छ}-१}{२}\times\text{चय}\times\text{गच्छ}=\frac{n-1}{2}.nd=\text{चयधन} ।$$

(ii) यदि गच्छ, चय व मुख दिया हो तो—
पदमेगेण विहीण दुभाजिदं उत्तरेण सगुणिदं ।
पभवजुदं पदगुणिदं पदगुणिद होदि सव्वत्थ ।
(गो.क /भाषा/६०४/१०८१)

$$\left\{\frac{(\text{गच्छ}-१)\times\text{चय}}{२}+\text{चय}\right\}\times\text{गच्छ}= \quad =\text{उत्तरधन}$$

(७) आदिधन निकालो

यदि गच्छ व मुख दिया हो तो—
(i) पदहतमुखमादिधन । (गो.जी./भाषा/४६/१२२)
मुख×गच्छ =आदिधन

५. गुणन व्यवहार श्रेणी (Geometrical Progression) सम्बन्धी प्रक्रियाएँ

(१) गुणकाररूप सर्वधन निकालो

अतधणं गुणगुणियं आदिविहीणं रुऊणुत्तरपदभजियं=गुणकार करता अतविषै जो प्रमाण होइ ताकौ जितनेका गुणकार होइ ताकरि गुणिए, तिस विषै पहिले जितना प्रमाण होइ सो घटाइए। जो प्रमाण होइ ताको एकघाटि गुणकारका भाग दीजिये। यो करता जो प्रमाण होइ सो ही गुणकार रूप सर्व स्थाननिका जोड जानना ।

$$T_n=T_1\times r^{n-1}$$

$$S_n=\frac{T_1(1-r^n)}{1-r} \text{ or } \frac{T_1(n^n-1)}{r-1} \text{ । यथा—}$$

$$S_n=a+ar+ar^2+ar^3 \quad ar^{n-1}$$

$$r.S_n=ar+ar^2+ar^3+ar^4 \quad ar^{n-1}+ar^n$$

$$S_n-r.S_n=a-ar^n$$

$$S_n(1-r)=a(1-r^n)$$

$$S_n=\frac{a(1-r^n)}{1-r}=\frac{T_1(1-r^n)}{1-r}$$

Where $a=T_1$ = मुख , r = गुणाकार

६. मिश्रित श्रेणी व्यवहारकी प्रक्रियाएँ

जैसे $a+(a+d)r+(a+2d)r^2 \ldots$
$\{a+(n-1)d\} r^{n-1}$
$T_n = (A_r . T_n) r^{n-1}$

७. द्वीप समुद्रोंमें चन्द्र-सूर्यादिका प्रमाण निकालनेकी प्रक्रिया

ज प./१२/१४-६१ मध्य लोकमे एक द्वीप व एक सागरके क्रमसे जम्बूद्वीप व लवणसागरसे लेकर स्वयंभूरमण द्वीप व स्वयभूरमण सागर पर्यंत असख्यात द्वीप सागर स्थित है। अगला अगला द्वीप या सागर पिछले पिछलेकी अपेक्षा दूने दूने विस्तारवाला है।

तहाँ प्रथम ही अढाई द्वीपके पाँच स्थानोमे तो २,४,१२,४२ व ७२ चन्द्र व इतने ही सूर्य है। इससे आगे अर्थात् मानुपोत्तर पर्वतके परभागमे स्वयंभूरमण सागर पर्यंत प्रत्येक द्वीप व सागरमें चन्द्र व सूर्योके अनेको अनेको वलय है। प्रत्येक वलयमें अनेको चन्द्र व सूर्य हैं। सर्वत्र सूर्योकी सख्या चन्द्रोके समान है।

तहाँ आदि स्थान अर्थात् पुष्करार्ध द्वीपमे आधा द्वीप होनेके कारण १६ के आधे ८ वलय है परन्तु इसमे आगे अन्त पर्यंत १६ के दुगुने, चौगुने आदि क्रमसे वृद्धि गत होते गये है। अर्थात् पूर्वोक्त श्रेणी नं०२ (देखो गणित II/५/३) के अनुसार गुणन क्रमसे वृद्धिगत है। यहाँ गुणकार २ है।

तहाँ भी प्रत्येक द्वीप या सागरके प्रथम वलयमे अपनेसे पूर्व द्वीप या सागरके प्रथम वलयसे दूने दूने चन्द्र होते है। तत्पश्चात् उसीके अन्तिम वलय पर्यंत ४ चयरूप वृद्धि क्रमसे वृद्धिगत होते गये है। तिनका प्रमाण निकालने सम्बन्धी प्रक्रियाएँ—

पुष्करार्ध द्वीपके ८ वलयोके कुल चन्द्र तो क्योकि १४४, १४८, १५२ इस प्रकार केवल संकलन व्यवहार श्रेढीके अनुसार वृद्धिगत हुए है अतः तहाँ उसी सम्बन्धी प्रक्रियाका प्रयोग किया गया है। अर्थात्—

$$\text{सर्वधन} = \left[\left\{ \frac{\text{गच्छ}-१}{२} \times \text{चय} \right\} + \text{मुख} \right] \times \text{गच्छ}$$

$$= \left[\left\{ \frac{८-१}{२} \times ४ \right\} + १४४ \right] \times ८ = १२६४$$

परन्तु शेष द्वीप समुद्रोमे आदि (मुख) व गच्छ उत्तरोत्तर दुगुने दुगुने होते है और चय सर्वत्र चार है। इस प्रकार सकलन व्यवहार और श्रेणी व्यवहार दोनोका प्रयोग किया गया है। (विशेष देखो वहाँ ही अर्थात् ग्रन्थमें ही)

६. गुणहानि रूप श्रेणीव्यवहार निर्देश

१. गुणहानि सामान्य व गुणहानि आयाम निर्देश

ध ६/१,९-६ ६/१५१/१० पढमणिसेओ अवट्ठिदहाणीए जेत्तियमद्धाणं गंतूण अद्ध होदि तमद्धाण गुणहाणि त्ति उच्चदि। =प्रथम निषेक अवस्थित हानिसे जितनी दूर जाकर आधा होता है उस अध्वान (अन्तराल या कालको) 'गुणहानि' कहते हैं।

गो.जी./भाषा/२५८/५२६ पूर्व पूर्व गुणहानितैं उत्तर उत्तर गुणहानिविषै गुणहानिका वा निषेकनिका द्रव्य दूणा दूणा घटता होइ है, तातै गुणहानि नाम जानना। गुणहानि यथायोग्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अपने अपने योग्य अन्तर्मुहूर्तके जेते समय होंइ तितना गुणहानिका आयाम जानना। यथा—

गुणहानि आयाम	गुणहानि नं०					
	१	२	३	४	५	६
समय						
१	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६
२	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५
३	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
४	४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३
५	३८४	१९२	९६	४८	२४	१२
६	३५२	१७६	८८	४४	२२	११
७	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
८	२८८	१४४	७२	३६	१८	९
सर्वद्रव्य	३२००	१६००	८००	४००	२००	१००
चय	३२	१६	८	४	२	१

(ध.६/१ ९-६/१५४); (गो.जी./भाषा/५६/१५८)

२. गुणहानि सिद्धान्त विषयक शब्दोंका परिचय

प्रमाण—१ (गो जी /भाषा/५६/१५५/१२), २. (गो क /भाषा/९२२/११०७); ३ (गो क /भाषा/६५५/११८१); ४ (गो का /भाषा/९०५-९०६/१०८२), ५ (ल सा /जी प्र /४२/७७)।

प्रमाण नं०

१. **प्रथम गुणहानि**—अपनी अपनी द्वितीयादि वर्गणाके वर्गविषैं अपनी अपनी प्रथम वर्गणाके वर्गतैं एक एक अविभागप्रतिच्छेद बंधता अनुक्रमैं जानना। ऐसे स्पर्धकनिके समूहका नाम प्रथम-गुणहानि है।

१. **द्वितीय गुणहानि**—इस प्रथम गुणहानिके प्रथम वर्गविषै जेता परमाणु रूप पाइये है तिनितैं एक एक चय प्रमाण घटते द्वितीयादि वर्गणानिविषै वर्ग जानने। ऐसे क्रमतैं जहाँ प्रथम गुणहानिका प्रथम वर्गणाके वर्गनितैं आधा जिस वर्गणाविषैं वर्ग होइ तहाँ तै दूसरी गुणहानिका प्रारम्भ भया। तहाँ-द्रव्य चय आदिका प्रमाण आधा आधा जानना।

१. **नाना गुहानि**—इस क्रमतैं जेती गुणहानि सर्व कर्म परमाणूनिविषै पाइए तिनिके समूहका नाम नाना गुणहानि है। (जैसे उपरोक्त यन्त्रमे नाना गुणहानि छह है।)।

१. **गुणहानि आयाम**—एक गुणहानिविषै अनंत वर्गणा पाइये (अथवा जितना द्रव्य या काल एक गुणहानिविषै पाइए) सो गुणहानि आयाम जानना।

१. **दो गुणहानि**—याकौ (गुणहानि आयामकौ) दूना कीए जो प्रमाण होइ सो दो गुणहानि है।

: **ड्योढगुणहानि या द्व्यर्धगुणहानि**—(गुणहानि आयामको ड्योढा कीए जो प्रमाण होइ)।

१ **अन्योन्याभ्यस्त राशि**—नानागुणहानि प्रमाण दुये माडि परस्पर गुणै जो प्रमाण होइ सो अन्योन्याभ्यस्त राशि है।

२ **निषेकहार**—निषेकच्छेद कहिए दो गुणहानि।

५ **अनुकृष्टि** -प्रतिसमयपरिणामखण्डानि—प्रति समय परिणामोमें जो खण्ड उपलब्ध होते हैं वे अनुकृष्टि कहलाते हैं (अर्थात् मुख्य गुण हानिके प्रत्येक समयके अन्तर्गत इतनी पृथक् पृथक् उत्तर गुण-हानि रूप रचना होती है)। (दे० करण/४/३)।

प्रमाण नं०

३ तिर्यक् गच्छ—नाना गुणहानियोका प्रमाण।

४ ऊर्ध्वगच्छ—गुणहानि आयाममें समयो या वर्गणाओं आदिका प्रमाण।

४ अनुकृष्टि गच्छ—ऊर्ध्व गच्छ÷संख्यात।

ऊर्ध्वचय—ऊर्ध्व गच्छमें अर्थात् मूल गुणहानिमें चय।

४ अनुकृष्टि चय—ऊर्ध्वचय÷अनुकृष्टि गच्छ विवक्षित सर्वधन—गुणहानिका कोई एक विवक्षित समय सम्बन्धी द्रव्य।

३. गुणहानि सिद्धान्त विषयक प्रक्रियाएँ

(१) अन्तिम गुणहानिका द्रव्य

गो क/भापा/९५२/११७३ से उद्धृत—रूऊणण्णोण्णब्भवहिददव्वं।
सर्व द्रव्य÷(अन्योन्याभ्यस्त राशि-१)

(२) प्रथम गुणहानिका द्रव्य

गो क/भापा/९५२/११७३/१०
अन्त गुणहानिका द्रव्य×(अन्योन्याभ्यस्त÷२)।

(३) प्रथम गुणहानिकी प्रथम वर्गणाका द्रव्य

गो जी/भाषा/५९/१५६/११ दिवड्ढ गुणहाणिभाजिदे पढमा। सर्व-द्रव्य÷साधिक ड्योढ गुणहानि।

गो. क./भापा/९५९/११४/११ पचय तं दो गुणहाणिणा गुणिदे आदि णिसेय तत्तो विसेसहीणकमं। चय×दो गुणहानि।

(४) विवक्षित गुणहानिका चय

(i) यदि अन्तिम या प्रथम निषेक तथा गुणहानि आयाम दिया हो तो अन्तिम वर्गणाका द्रव्य—दो गुणहानि (या निषेकहार)
(गो जी/भापा/५९/१५६/१३)।

अथवा—प्रथम निषेक÷(गुणहानि आयाम+१)
(गो जी/भाषा/९५९/११६३/७)

(ii) यदि सर्वद्रव्य या मध्यधन व गुणहानि आयाम (गच्छ) दिया हो तो—

गो. क/भाषा/९५९/११४/१० तं रूऊणद्धाणद्धेण ऊणेण णिसेयभागहारेण मज्झिमधणमवहरदे पचयं।

$$\text{मध्यधन} \div \left\{ \text{दो गुणहानि} - \frac{\text{गुणहानि आयाम}-१}{२} \right\}$$

(गो क./भाषा/९५३/११७३/१६); (ल० सा/जी. प्र/७२/१०६)।
(गो. क/भापा/९३०/१११३/११)।
नोट—मध्यधनके लिए देखो नीचे

(५) विवक्षित गुणहानिका मध्यधन

गो क./भापा/९५९/११४/१० अद्धाणेण स... मज्झिमधण-मागच्छदि। =विवक्षित गुणहानिका सर्वद्र... आयाम।

(६) अनुकृष्टि चय

गो. क/भापा/९५५/११८१/४ विवक्षित गुणहानिका ऊर्ध्व... अनु-कृष्टि गच्छ।

(७) अनुकृष्टिके प्रथम खण्डका द्रव्य

गो क/भापा/९५५/११८१/१४ तथा ११८२/१ (विवक्षित गुणहानिका सर्वद्रव्य—उसही का आदिधन÷अनुकृष्टि गच्छ)।

४. कर्म स्थितिकी अन्योन्याभ्यस्त राशियाँ

गो. क/मू/९३७-९३९/११३७ इट्ठसलायपमाणे दुगसंवग्गे कदे दु इट्ठस्स। पयडिस्स य अण्णोण्णाभत्थपमाणं हवे णियमा। =अपनी अपनी इष्टशलाका प्रमाण दूवे माडि। परस्पर गुणे अपनी इष्ट प्रकृतिका अन्योन्याभ्यस्त राशिका प्रमाण हो है।९३७।

नं०	प्रकृति	उत्कृष्ट स्थिति	अन्योन्याभ्यस्त राशि
१	ज्ञानावरण	३०-को-को-सा	पल्य $४ \times \frac{१}{७} \times$ (पल्य $\frac{१}{८}$)असंख्यात
२	दर्शनावरण	,,	,,
३	वेदनीय	,,	,,
४	मोहनीय	७० को को सा.	२(पल्य-लरि लरि पल्य)
५	आयु	३३ सागर	त्रैराशिक विधिमे मोहनीयवत्
६	नाम	२० को को सा	पल्य $\frac{१}{४}$×असंख्यात
७	गोत्र	,,	,,
८	अन्तराय	३० को को सा	ज्ञानावरणवत

७. क्षेत्रफल आदि निर्देश

१. चतुरस्र सम्बन्धी

क्षेत्रफल =लम्बाई×चौडाई

परिधि =(लम्बाई+चौडाई)×२

घन फल =लम्बाई×चौडाई×ऊँचाई

२. वृत्त (circle) सम्बन्धी

(१) बादर परिधि= ३ व्यास अर्थात् ३ dia (त्रि.सा./३११)

(२) सूक्ष्म परिधि= $(\text{व्यास}^२ \times १०)^{\frac{१}{२}}$ अर्थात् २πr

(त्रि. सा./९६); (ज.प/१/२३;४/३४); (ति प/१/११७)

(३) बादर या सूक्ष्म क्षेत्र फल=

$$=\text{बादर या सूक्ष्म परिधि} \times \frac{\text{व्यास}}{४} \text{ अर्थात् } \pi r^२$$

(ति. प./१/११७), (ज. प/१/२४,४/३४), (त्रि सा/९६, ३११)

(३) वृत्त विष्कम्भ या व्यास (diameter)

(i) $=\frac{४\ \text{वाण}^२ + \text{जीवा}^२}{४\ \text{वाण}}$ या
(त्रि सा/७६१,७६३) (ज. प/६/७)

(ii) $=\text{वाण}+\frac{\text{जीवा}^२}{४\ \text{वाण}}$ या (ज. प/६/१२)

(iii) $=\frac{(\text{धनुष पृष्ठ}^२ + \text{वाण}) - \text{वाण}}{२}$ (त्रि सा/७६५).

३. धनुष (arc) सम्बन्धी

(१) जीवा (chord)—

(i) $=\sqrt{(\text{व्यास}-\text{बाण})\ ४\ \text{बाण}}$
(ज. प./६/६)
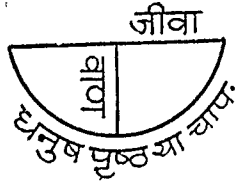
(ii) $= (\text{धनुष पृष्ठ}^{२} - ६\ \text{बाण}^{२})^{\frac{१}{२}}$ (त्रि. सा/७६६)

(२) बाण (depth of the arc)

(i) $= \{ (\text{धनुष पृष्ठ}^{२} - \text{जीवा}^{२}) - ६ \}^{\frac{१}{२}}$
(त्रि सा/७६३).

(ii) $= \text{व्यास} - \left(\frac{\text{व्यास}^{२}\ \text{जीवा}^{२}}{२} \right)^{\frac{१}{२}}$
(त्रि. सा/७६४); (ज प./६/११)

(iii) $= \text{व्यास}^{२} + \left\{ \frac{\text{धनुष पृष्ठ}^{२}}{२} \right\}^{\frac{१}{२}} - \text{व्यास}$
(त्रि सा/७६५)।

(३) धनुष पृष्ठ (arc)

(i) $= \left\{ \left(\text{व्यास} + \frac{\text{बाण}}{२} \right) ४\ \text{बाण} \right\}^{\frac{१}{२}}$ (त्रि. सा/७६६)

(ii) $= (६\ \text{बाण}^{२} + \text{जीवा}^{२})^{\frac{१}{२}}$
(ज प /६/१०); (त्रि, सा/७६०)

(४) धनुषका क्षेत्रफल

(i) बादर क्षेत्रफल $= \text{बाण} \times \frac{\text{जीवा} + \text{बाण}}{२}$
(त्रि सा/७६२)

(ii) सूक्ष्म क्षेत्रफल $= \left[१० \left\{ \text{जीवा} \times \frac{\text{बाण}}{४} \right\}^{२} \right]^{\frac{१}{२}}$
(त्रि सा/७६२)

(५) क्षेत्र या पर्वतकी चूलिका

$= \frac{\text{बड़ी जीवा} - \text{छोटी जीवा}}{२}$
(ज. प/२/३१)

४. वृत्त वलय (ring) सम्बन्धी
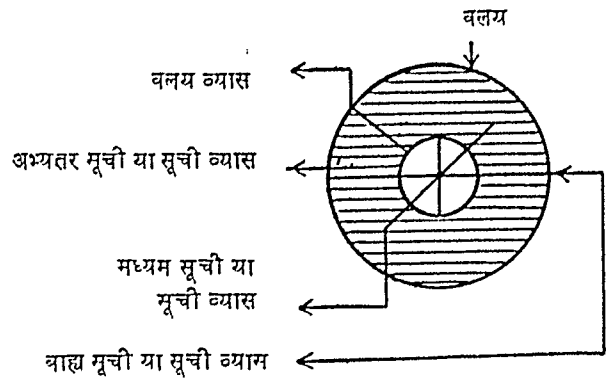
(१) अभ्यन्तर सूची या व्यास—
$=२$ वलय व्यास-३००,०००
(त्रि सा/३१०)

(२) मध्यम सूची या व्यास—
$=३$ वलय व्यास—३००,०००

(३) बाह्य सूची या व्यास—
$= ४$ वलय व्यास—३००,०००
(त्रि. सा/३१०)

(४) वृत्त वलयका क्षेत्रफल—

(i) बादर क्षेत्रफल $=३$ (अभ्यंतर सूची + बाह्य सूची) $\times \frac{\text{वलय व्यास}}{२}$
(त्रि. सा/३१५)

सूक्ष्म क्षेत्र फल $=$

$= १० \times \left\{ (\text{अभ्यं० सूची} + \text{बाह्य सूची}) \times \frac{\text{वलय व्यास}}{२} \right\}^{२}$
(त्रि सा/३१५)

(५) वृत्तवलयकी बाह्य परिधि—
$= \text{अभ्यन्तर परिधि} \times \frac{\text{बाह्य सूची}}{\text{अभ्यन्तर सूची}}$

५ विवक्षित द्वीप सागर सम्बन्धी

(१) जम्बू द्वीपकी अपेक्षा विवक्षित द्वीप सागरकी परिधि

$= \frac{\text{जम्बूद्वीपकी परिधि} \times \text{विवक्षितकी सूची}}{\text{जम्बूद्वीपका व्यास}}$
(त्रि सा /३१५)

(२) विवक्षित द्वीप सागरकी सूची
$= (२^{\text{गच्छ}+१} \times १००,०००) - ३००,०००$
(त्रि सा /३०६)

(... ीप सागरका वलय व्यास
... $-१ \times १००,०००) - ०$

(४) विवक्षित द्वीप सागरके क्षेत्रफलमें जम्बूद्वीप समान खण्ड

(i) $= \frac{\text{बाह्य सूची}^2 - \text{अभ्यन्तर सूची}^2}{\text{जम्बूद्वीपका व्यास}^2}$

(त्रि सा/३१६)

(ii) =(वलय व्यासकी शलाका—) १२ वलय व्यास
(शलाका जैसे २००,००० की शलाका=२)
(त्रि. सा/३१८)

(iii) $= \frac{(\text{बाह्य सूची} - \text{वलय व्यास}) \times 4 \text{ वलय व्यास}}{100{,}000^2}$

(त्रि. सा/३१७)

(५) विवक्षित द्वीप या सागरकी बाह्य परिधिसे घिरे हुए सर्व क्षेत्रमें जम्बू द्वीप समान खण्ड

(बाह्य सूचीकी शलाका)^2
(शलाका जैसे २००,००० की शलाका=२)
(त्रि सा./३१७)

६. वेलनाकार (cylenerical) सम्बन्धी

(१) क्षेत्र फल=गोल परिधि×ऊँचाई
(२) घन फल=मूल क्षेत्रफल×ऊँचाई
(अर्थात् area of the lase×hight)

७. अन्य-आकारों सम्बन्धी

(१) मृदंगाकारका क्षेत्रफल

$= \frac{\text{मुख} + \text{भूमि}}{2} \times \text{ऊँचाई}$

(ति प/१/१६५)

(२) शंखका क्षेत्रफल

$= 2 \text{ मोटाई} \left\{ \left(\text{लम्बाई}^2 - \frac{\text{मुख व्यास}}{2} \right) + \left(\frac{\text{मुखव्यास}}{2} \right)^2 \right\}$

(त्रि. सा/३२७)
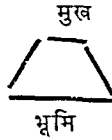
गणितज्ञ—Mathematicians (ध./५/प्र/२७)

गणित शास्त्र—Mathematics (ध/५/प्र/२८)

गणितसार संग्रह—महावीराचार्य (ई. ८१४-८७८) द्वारा सस्कृत भाषामें रचित गणित विषयक एक ग्रन्थ।

गणी—(ध/१४/५,६,२०/२२/७) एकादशागविद्गणी । =ग्यारह अगका ज्ञाता गणी कहलाता है।

गति—गति शब्दका दो अर्थमें प्राय प्रयोग होता है—गमन व देवादि चार गति। छहों द्रव्योमें जीव व पुद्गल ही गमन करनेको समर्थ है। उनकी स्वाभाविक व विभाविक दोनो प्रकारकी गति होती है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव ये जीवोकी चार प्रसिद्ध गतियाँ है, जिनमें ससारी जीव नित्य भ्रमण करता है। इसका कारणभूत कर्म गति नामकर्म कहलाता है।

१	**गमनार्थ गति निर्देश**
१	गति सामान्यका लक्षण।
२	गतिके भेद व उसके लक्षण।
३	ऊर्ध्वगति जीवकी स्वभावगति है।
४	पर ऊर्ध्वगमन जीवका त्रिकाली स्वभाव नहीं।
५	दिगन्तर गति जीवकी विभाव गति है।
६	पुद्गलोंकी स्वभाव विभाव गतिका निर्देश।
*	सिद्धोंका ऊर्ध्वगमन। —दे० मोक्ष/५।
*	विग्रह गति। —दे० विग्रहगति।
*	जीव व पुद्गलकी स्वभावगति तथा जीवकी भवान्तरके प्रति गति अनुश्रेणी ही होती है। —दे० विग्रह गति।
*	जीव व पुद्गलकी गमनशक्ति लोकान्ततक सीमित नहीं है वल्कि असीम है। —दे० धर्माधर्म/२/३।
*	ससारी जीव एक वारमें ९ राजूसे अधिक गमन नहीं कर सकता। —दे० स्पर्शन/२।
७	जीवकी भवान्तरके प्रति गति छह दिशाओंमें होती है ऐसा क्यों।
*	गमनार्थगतिकी ओव आदेश प्ररूपणा—दे० क्षेत्र/३,४।
२	**नामकर्मज गति निर्देश**
१	गतिसामान्यके निश्चय व्यवहार लक्षण।
२	गति नामकर्मका लक्षण।
३	क, ख—गति व गति नामकर्मके भेद।
*	नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवगति। —दे० 'वह वह नाम'।
*	सिद्ध गति। —दे० मोक्ष।
४	जीवकी मनुष्यादि पर्यायोंको गति कहना उपचार है।
५	कर्मोदयापादित भी इसे जीवका भाव कैसे कहते हो।
*	यदि मोहके सहवर्ती होनेके कारण इसे जीवका भाव कहते हो तो क्षपक आदि जीवोंमें उसकी व्याप्ति कैसे होगी। —दे० क्षेत्र/३/१।
६	प्राप्त होनेके कारण सिद्ध भी गतिवान् वन जायेंगे।
७	प्राप्त किये जानेसे द्रव्य व नगर आदिक भी गति वन जायेंगे।
*	गतिकर्म व आयुवन्धमें सम्वन्ध। —दे० आयु/६।
*	गति जन्मका कारण नहीं आयु है। —दे० आयु/२।
*	कौन जीव मरकर कहाँ उत्पन्न हो ऐसी गति अगति सम्वन्धी प्ररूपणा। —दे० जन्म/६।
*	गति नामकर्मकी वन्ध-उदय-सत्त्व प्ररूपणाएँ। —दे० 'वह वह नाम'।
*	सभी मार्गणाओंमें भावमार्गणा इष्ट होती है तथा वहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम है। —दे० मार्गणा।
*	चारों गतियोंमें जन्मने योग्य परिणाम।—दे० आयु/३।

१. गमनार्थ गति निर्देश

१. गति सामान्यका लक्षण

स सि /४/२१/२५२/५ देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गति । =एक देशसे दूसरे देशके प्राप्त करनेका जो साधन है उसे गति कहते हैं। (स.सि /५/१७/२८१/१२); (रा वा /४/२१/१/२३६/३); (रा.वा/५/१७/१/४६०/२२), (गो.जी /जी प्र /६०५/१०६०/३)

रा वा/४/२१/१/२३६/३ उभयनिमित्तवशाद् उत्पद्यमान कायपरिस्पन्दो गतिरित्युच्यते। =बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तके वशसे उत्पन्न होनेवाला कायका परिस्पन्दन गति कहलाता है।

२. गतिके भेद व उनके लक्षण

रा.वा/५/२४/२१/४९०/२१ सैषा क्रिया दशप्रकारा वेदितव्या । कुत । प्रयोगादिनिमित्तभेदात् । तद्यथा, इष्वेरण्डबीजमृदङ्गशब्दजतुगोलकनौद्रव्यपाषाणालाबूसुराजलदमारुतादीनाम् । इषुचक्रकणयादीनां प्रयोगगति'। एरण्डतिन्दुकबीजाना बन्धाभावगति । मृदङ्गभेरीशङ्खादिशब्दपुद्गलाना छिन्नानां गति' छेदगति । जतुगोलककुन्ददारुपिण्डादीनामभिघातगति । नौद्रव्यपोतकादीनामवगाहनगति । जलदरथमुशलादीना वायुवाजिहस्तादीना संयोगनिमित्ता संयोगगति'। मारुतपावकपरमाणुसिद्धज्योतिष्कादीना स्वभावगति.। =क्रिया प्रयोग बन्धाभाव आदिके भेदसे दस प्रकारकी है। वाण चक्र आदिकी प्रयोगगति है। एरण्डबीज आदिकी बन्धाभाव गति है। मृदग भेरी शखादिके शब्द जो दूर तक जाते हैं पुद्गलोंकी छिन्नगति है। गेंद आदिकी अभिघात गति है। नौका आदिकी अवगाहनगति है। पत्थर आदिकी नीचेकी ओर (जानेवाली) गुरुत्वगति है। तुंबडी रुई आदिकी (ऊपर जानेवाली) लघुत्वगति है। सुरा सिरका आदिकी संचारगति है। मेघ, रथ, मूसल आदिकी क्रमश' वायु, हाथी तथा हाथके सयोगसे होनेवाली संयोगगति है। वायु, अग्नि, परमाणु, मुक्तजीव और ज्योतिर्देव आदिकी स्वभावगति है।

३ ऊर्ध्वगति जीवकी स्वभाव गति है

प.का/मू./७३ बधेहिं सव्वदो मुक्को। उड्ढ गच्छदि। =बन्धसे सर्वांग मुक्त जीव ऊपरको जाता है।

त.सू /१०/६ तथागतिपरिणामाच्च। =स्वभाव होनेसे मुक्त जीव ऊर्ध्व गमन करता है।

रा.वा/२/७/१४/११३/७ ऊर्ध्वगतित्वमपि साधारणम्। अग्न्यादीनामूर्ध्वगतिपारिणामिकत्वात्। तच्च कर्मोदयाद्यपेक्षाभावाद् पारिणामिकम्। एवमन्ये चात्मन' साधारणा पारिणामिका योज्या ।

रा.वा/१०/७/४/६४५/१८ ऊर्ध्वगौरवपरिणामो हि जीव उत्पतत्येव ।

रा.वा/५/२४/२१/४९०/१४ सिद्ध्यतामूर्ध्वगतिरेव । =१ अग्नि आदिमें भी ऊर्ध्वगति होती है, अत ऊर्ध्वगतित्व भी साधारण है। कर्मोंके उदयादिकी अपेक्षाका अभाव होनेके कारण वह पारिणामिक है। इसी प्रकार आत्मामें अन्य भी साधारण पारिणामिक भाव होते हैं। २ क्योकि जीवोंको ऊर्ध्वगौरव धर्मवाला बताया है, अत' वे ऊपर ही जाते हैं। ३ मुक्त होनेवाले जीवोंकी ऊर्ध्वगति ही होती है।

रा.वा/१०/९/१४/६४९ पर उद्धृत श्लोक न १३-१६ ऊर्ध्वगौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमै'।—।१३। यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निदीप्तय'। स्वभावत प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनाम्।१४। ऊर्ध्वगतिमेव स्वभावेन भवति क्षीणकर्मणाम्।१६। =जीव ऊर्ध्वगौरवधर्मा बताया गया है। जिस तरह लोष्ट, वायु और अग्निशिखा स्वभावसे ही नीचे तिरछे और ऊपरको जाती है उसी तरह आत्माकी स्वभावत' ऊर्ध्वगति ही होती है। क्षीणकर्मा जीवोंकी स्वभावसे ऊर्ध्वगति ही होती है। (त सा /८/३१-३४); (पं.का./त प्र./२८)

द्र.स /मू./२ सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई। =जीव स्वभावसे ऊर्ध्व-गमन करनेवाला है।

नि.सा /ता.वृ /१८४ जीवाना स्वभावक्रिया सिद्धिगमनं। =जीवोंकी स्वभाव क्रिया सिद्धिगमन है।

४ पर ऊर्ध्व गमन जीवका त्रिकाली स्वभाव नहीं

रा.वा/१०/७/६-१०/६४५/३३ स्यान्मतम्—यथोष्णस्वभावस्याग्नेरौष्ण्याभावेऽभावस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वे तदभावे तस्याप्यभाव प्राप्नोतीति। तन्न; किं कारणम्। गत्यन्तरनिवृत्त्यर्थत्वात्। मुक्तस्योर्ध्वमेव गमन न दिगन्तरगमनमित्यय स्वभावो नोर्ध्वगमनमेवेति। यथा ऊर्ध्वज्वलनस्वभावत्वेऽप्यग्नेर्वेगवद्द्रव्याभिघातात्तिर्यग्ज्वलनेऽपि नाग्नेर्विनाशो दृष्टस्तथा मुक्तस्योर्ध्वगतिस्वभावत्वेऽपि तदभावे नाभाव इति। =प्रश्न—सिद्धशिलापर पहुँचनेके बाद चूँकि मुक्त जीवमें ऊर्ध्वगमन नहीं होता, अत उष्णस्वभावके अभावमें अग्निके अभावकी तरह मुक्तजीवका भी अभाव हो जाना चाहिए। उत्तर—'मुक्तका ऊर्ध्व ही गमन होता है, तिरछा आदि गमन नहीं' यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे कभी ऊर्ध्वगमन नहीं करती, तब भी अग्नि बनी रहती है, उसी तरह मुक्तमें भी लक्ष्यप्राप्तिके बाद ऊर्ध्वगमन न होनेपर भी उसका अभाव नहीं होता है।

५. दिगन्तर गति जीवकी विभाव गति है

रा वा /१०/९/१४/६४९ पर उद्धृत श्लोक नं १५-१६ अतस्तु गतिवैकृत्य तेषा यदुपलभ्यते। कर्मण प्रतिघाताच्च प्रयोगाच्च तदिष्यते ।१५। स्यादधस्तिर्यगूर्ध्वं च जीवाना कर्मजा गति । =जीवोंमें जो विकृत गति पायी जाती है, वह या तो प्रयोगसे है या फिर कर्मोंके प्रतिघातसे है।१५। जीवोंके कर्मवश नीचे, तिरछे और ऊपर भी गति होती है।१६। (त सा /८/३३-३४)

पं.का./मू व त प्र./७३ सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति।७३। बद्धजीवस्य षड्गतय' कर्मनिमित्ता ।

नि सा /ता. वृ /१८४ जीवाना · विभावक्रिया षट्कायक्रमयुक्तत्वम्। =१ शेष (मुक्तोंसे अतिरिक्त जीव भवान्तरमें जाते हुए) विदिशाएँ छोडकर गमन करते हैं।७३। बद्धजीवको कर्मनिमित्तक षट्दिक् गमन होता है। २ जीवोंकी विभाव क्रिया (अन्य भवमें जाते समय) छह दिशामें गमन है।

द्र. सं /टी/२/९/६ व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभाव । =व्यवहारसे चार गतियोंको उत्पन्न करनेवाले (भवान्तरोंको ले जानेवाले) कर्मोंके उदयवश ऊँचा, नीचा, तथा तिरछा गमन करनेवाला है।

६ पुद्गलोंकी स्वभाव विभाव गतिका निर्देश

रा. वा /१०/९/१४/६४९ पर उद्धृत श्लोक नं. १३-१४ अधोगौरवधर्माण पुद्गला इति चोदितम् ।१३। यथाधस्तिर्यगूर्ध्वं च लोष्टवाय्वग्निदीप्तय । स्वभावत प्रवर्तन्ते ·।१४। =पुद्गल अधोगौरवधर्मा होते हैं, यह बताया गया है।१३। लोष्ट, वायु और अग्निशिखा स्वभावसे ही नीचे-तिरछे व ऊपरको जाते हैं।१४। (त सा /८/३१-३२)

रा वा /२/२६/६/१३८/३ पुद्गलानामपि च या लोकान्तप्रापिणी सा नियमादनुश्रेणिगति । या त्वन्या सा भजनीया। =पुद्गलोंकी (परमाणुओंकी) जो लोकान्त तक गति होती है वह नियमसे अनुश्रेणी ही होती है। अन्य गतियोंका कोई नियम नहीं है।

चउव्विहा। अहवा सिद्धगईए सह पंचविहा। एव गइसमासो अणेय-भेयभिण्णो।

ध.७/२,११,७/५२२/२ ताओ चेव गदीओ मणुस्सिणीओ मणुस्सा, णेरइया तिरिक्खा पचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ देवा देवीओ सिद्धा त्ति अट्ठहवति। =१. गति सामान्यरूपसे एक प्रकार है। वही गति सिद्धगति और असिद्धगति इस तरह दो प्रकार है। अथवा देवगति अदेवगति और सिद्धगति इस तरह तीन प्रकार है। अथवा नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति, इस तरह चार प्रकार है। अथवा सिद्धगतिके (उपरोक्त चार मिलकर) पाँच प्रकार है। इस प्रकार गतिसमास अनेक भेदोसे भिन्न हैं। २ वे ही गतियाँ मनुष्यणी, मनुष्य, नरक, तिर्यंच, पचेन्द्रिय तिर्यंच योनिमति, देव देवियाँ ओर सिद्ध इस प्रकार आठ होती है।

३ स. गति नामकर्मके भेद

प ख ६/१५६-१/सूत्र२६/६७७ जे त गदिणामकम्म तं चउव्विहं णिरयगइणाम तिरिक्खगइणाम मणुस्सगदिणामं देवगदिणाम चेदि। =जो गतिनामकर्म है वह चार प्रकारका है, नरकगतिनामकर्म, तिर्यंच गति नामकर्म, मनुष्य गति नामकर्म और देवगति नामकर्म।

(प ख/१३/३०५/सू १०२/३६७) (पं.स/प्रा./२/४/४६) (स सि/८११/३८६/१); (रा.वा/८/११/१/५७६/८); (म.व/१/६६/२८), (गो.क/जी प्र/३३/२८/१३) गो.क/जी प्र/३३।

४. जीवको मनुष्यादि पर्यायोंको गति कहना उपचार है

ध.१/१,१.२४/२०२/६ अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगति। अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादितमनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारान्मनुष्यगतिः।

ध १/१,१,२४/२०३/४ देवानां गतिर्देवगति'। अथवा देवगतिनामकर्मोदयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको देवगति.। देवगतिनामकर्मोदयजनितपर्यायो वा देवगति कार्ये कारणोपचारात्। =१. जो मनुष्यकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें उत्पन्न कराती है उसे मनुष्यगति कहते हैं। अथवा मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य पर्यायोके समूहको मनुष्य गति कहते है। यह लक्षण कार्यमें कारणके उपचारसे किया गया है। २ देवोंकी गतिको देव कहते हैं। अथवा जो अणिमादि ऋद्धियोसे युक्त 'देव' इस प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उदयको देवगति कहते है। अथवा देवगति नामकर्मके उत्पन्न हुई पर्यायको देवगति कहते है। यहाँ कार्यमें कारणके उपचारसे यह लक्षण किया गया है।

५. कर्मोदयापादित भी इसे जीवका भाव कैसे कहते हो?

प.ध/उ./६८०-६६०,१०२५ ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम्। तत्कथ जीवभावस्य हेतु' स्याद्घातिकर्मवत्।६८०। सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत्। नूनं तद्वदेहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत्।६८१। अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयाञ्जसा। तस्मादौदयिको भाव' स्यात्तद्देहक्रियाकृति। ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया। तत्तद्वपु क्रियाकारो नियतोऽय कुतो नयात्।६८३। नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि मोहस्योदयवैभवे। तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात्।६८४। तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तदयादिह। अपि यावदनात्मीयमात्मीय मनुते कुदृक्।६६०। तत्राप्यस्ति विवेकोऽय श्रेयानत्रादितो यथा। वैकृतो मोहजो भाव' शेष' सर्वोऽपि लौकिक.।१०२५। =प्रश्न—जब देवादि पर्यायें केवल नामकर्मके उदयसे होती है तो वह नामकर्म कैसे घातिया कर्मकी तरह जीवके भावमें हेतु हो सकता है।६८०। उत्तर—ठीक है, क्योकि, वह नामकर्म भी चित्रकारकी तरह गतिके अनुसार केवल जीवके शरीरादिकका ही निर्माण करता है।६८१। परन्तु उन शरीरादिक पर्यायोंमें भी वास्तवमे मोहका गत्यनुसार निरन्तर उदय रहता है। जिसके कारण उस उस शरीरादिककी क्रियाके आकारके अनुकूल भाव रहता है।६८२। प्रश्न—यदि मोहनीयका उदय प्रतिसमय निर्विच्छिन्न रूपसे होता रहता है तब यह उन उन शरीरोकी क्रियाके अनुकूल किस न्यायसे नियमित हो सकता है।६८३। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योकि तुम उन गतियोमें मोहोदयके लक्षणानुसार बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक होनेवाले मोहोदयके वैभवसे अनभिज्ञ हो।६८४। उसके उदयसे जीव सम्पूर्ण परपदार्थों (इन शरीरादिकों) को भी निज मानता है।६६०। घातिया अघातिया कर्मोंके उदयसे होनेवाले औदयिक भावोमें यह बात विशेष है कि मोहजन्य भाव ही सच्चा विकारयुक्त भाव है और शेष सब तो लौकिक रूढिसे (अथवा कार्यमे कारणका उपचार करनेसे) औदयिक भाव कहे जाते है।१०२५।

६. प्राप्त होनेके कारण सिद्ध भी गतिवान् बन जायेंगे

ध १/१,१,४/१३४ गम्यत इति गति'। नातिव्याप्तिदोष सिद्धैः प्राप्यगुणाभावात्। न केवलज्ञानादय' प्राप्यास्तथात्मकैकस्मिन् प्राप्यप्रापकभावविरोधात्। कषायादयो हि प्राप्या. औपाधिकत्वात्। =जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते है। गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि सिद्धोके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोका अभाव है। यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जावे, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि केवलज्ञान स्वरूप एक आत्मामें प्राप्य-प्रापक भावका विरोध है। उपाधिजन्य होनेसे कषायादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है। परन्तु वे सिद्धोंमे पाये नहीं जाते है।

७. प्राप्त किये जानेसे द्रव्य व नगर आदि भी गति बन जायेंगे

ध.१/१,१,४/१३४/६ गम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामपि गतिव्यपदेश' स्यादिति चेन्न, गतिकर्मण' समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य तत कथचिद्भेदादविरुद्धप्राप्तित' प्राप्तकर्मभावस्य गतित्वाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्ते'। =प्रश्न—जो प्राप्त की जाये उसे गति कहते है, गतिका ऐसा लक्षण करनेपर गमनरूप क्रियामें परिणत जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकको भी 'गति' यह संज्ञा प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते है। उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योकि गति नामकर्मके उदयसे जो आत्माके पर्याय उत्पन्न होती है, वह आत्मासे कथंचित् भिन्न है, अत उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है। और इसीलिए प्राप्तिरूप क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नरकादि आत्मपर्यायके गतिपना माननेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

ध./७/२,१,२/६/४ गम्यत इति गति। एदीए णिरुत्तीए गाम-णयर-खेड-कव्वडादीण पि गदित्त पसज्जदे। ण, रूढिवलेण गदिणामकम्मणिप्पाइयपज्जायम्मि गदिसद्दपवुत्तीदो। गदिकम्मोदयाभावा सिद्धगदी अगदी। अथवा भवाद्भवसंक्रान्तिर्गति', असक्रान्ति, सिद्धगति। =प्रश्न—'जहाँको गमन किया जाये वह गति है' गतिकी ऐसी निरुक्ति करनेसे तो ग्राम, नगर, खेडा, कर्वट, आदि स्थानोको भी गति माननेका प्रसंग आता है। उत्तर—नहीं आता, क्योकि रूढिके

बलसे नामकर्म द्वारा जो पर्याय निष्पन्न की गयी है, उसीमें गति शब्दका प्रयोग किया जाता है। गति नामकर्मके उदयके अभावके कारण सिद्धगति अगति कहलाती है। अथवा एक भवसे दूसरे भवको संक्रान्तिका नाम गति है, और सिद्ध गति असक्रान्ति रूप है।

गद्यकथाकोश—दे० कथाकोश।

गद्यचिंतामणि—आ. वादीभसिंह सूरि नं २ (ई० १०१५-१०५०) द्वारा रचित यह ग्रन्थ संस्कृत गद्यमें रचा गया है और यशोधर चारित्रका वर्णन करता है।

गमन—दे० गति/१।

गरिमा ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

गरुड़—१. सनत्कुमार स्वर्गका चौथा पटल—दे० स्वर्ग/५। २. शान्तिनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष।

ध.१३/५,५,१४०/३९१/९ गरुडाकारविकरणप्रिया गरुडा। =जिन्हे गरुडके आकाररूप विक्रिया करना प्रिय है वे गरुड (देव) कहलाते हैं।

ज्ञा./२१/१५ गगनगोचरामूर्त्तजयविजयभुजङ्गभूषणोऽनन्ताकृतिपरमविभुर्नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मक' समस्तज्वररोगविषधरोड्डामरडाकिनीग्रहयक्षकिन्नरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्य परिकलितसमस्तगारुडमुद्राडम्बरसमस्ततत्त्वात्मक' सन्नात्मैव गारुडगीगोचरत्वमवगाहते। इति वियत्तत्त्वम्। =आकाशगामी दो सर्प है भूषण जिसके; आकाशवत् सर्वव्यापक; लीन है पृथिवी, वरुण, वह्नि व वायुनामा समस्त तत्त्व जिसमें; (नीचेसे लेकर घुटनो तक पृथिवी तत्त्व, नाभिपर्यंत अप्‌तत्त्व, हृदय पर्यंत वह्नि तत्त्व और मुखमें पवनतत्त्व स्थित है) रोग कृत, सर्प आदि विषधरो कृत, कुत्सित देवी देवताओकृत, राजा आदि शत्रुओकृत, व्याघ्रादि हिंस्र पशुओ कृत, समस्त उपसर्गोको निर्मूलन करनेवाला है सामर्थ्य जिसका, रचा है समस्त गारुडमण्डलका आडम्बर जिसने तथा पृथिवी आदि तत्त्वस्वरूप हुआ है आत्मा जिसका ऐसा गारुडगीके नामको अवगाहन करनेवाला गारुड तत्त्व आत्मा ही है। इस प्रकार वियत्तत्त्वका कथन हुआ (और भी—दे० ध्यान/४/५)।

गरुडध्वज—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गरुडपञ्चमी व्रत—पाँच वर्षतक प्रतिवर्ष श्रावण शु ५ को उपवास करना। ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

गरुडेन्द्र—(प पु /३९/२३०-३१) वंशधर पर्वतपर पूर्व भवके पुत्र देशभूषण व कुलभूषण मुनियोका राम लक्ष्मण द्वारा उपसर्ग निवारण किया जानेपर गरुडेन्द्रने उनको वर दिया कि सङ्कटके समय रक्षा करूँगा।

गर्तपूरण वृत्ति—साधुकी भिक्षावृत्तिका एक भेद—दे० भिक्षा १/७

गर्दतोय—१ लौकान्तिक देवोका एक भेद (दे० लौकांतिक)। २ उनका लोकमें अवस्थान—दे० लोक/७।

गर्दभिल्ल—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका एक सरदार था, जिसने मौर्यकालमें ही मगधदेशके किसी भागपर अपना अधिकार जमा लिया था। इसका असली नाम गन्धर्व था। गर्दभी विद्या जाननेके कारण गर्दभिल्ल नाम पड गया था। इसी कारण ह पु /६०/४८९ मे गर्दभ शब्दका पर्यायवाची रासभ शब्द इस नामके स्थानपर प्रयोग किया गया है। इनका समय वी नि ३४५-४४५, (ई पू १८१-८१) है। (इतिहास/३/१) परन्तु (क पा /१/६५/ पं. महेन्द्र कुमार) के अनुसार वि.पू. या १३ ई.पू. १३ अनुमान किया जाता है।

गर्भ—

त सू./२/३३ जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ. ।३३। =जरायुज अण्डज व पोतज जीवोका गर्भजन्म होता है।

स. सि./२/३१/१८७/४ स्त्रिया उदरे शुक्रशोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भ'। मात्रुपभुक्ताहारगरणाद्वा गर्भ'। =स्त्रीके उदरमें शुक्र और शोणितके परस्पर गरण अर्थात् मिश्रणको गर्भ कहते हे। अथवा माताके द्वारा उपभुक्त आहारके गरण होनेको गर्भ कहते हैं। (रा वा./२/३१/२-३/१४०/२५)।

गो जी /जी प्र./८३/२०५/१ जायमानजीवेन शुक्रशोणितरूपपिण्डस्य गरणं—शरीरतया उपादानं गर्भ'। =माताका रुधिर और पिताका वीर्यरूप पुद्गलका शरीररूप ग्रहणकरि जीवका उपजना सो गर्भ जन्म है।

गर्भज जीव—दे० जन्म/२।

गर्भाधान क्रिया—दे० संस्कार/२।

गर्भान्वय की ५३ क्रियाएँ—(दे० संस्कार /२)।

गर्व—दे० गारव।

गर्हण—१. निन्दन गर्हण ही सम्यग्दृष्टिका चारित्र है—दे० सम्यग्दृष्टि/५। २. स्व निन्दा—दे० निन्दा।

गर्हा—(स. सा./ता.वृ./३०६)—गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा। =गुरुके समक्ष अपने दोष प्रगट करना गर्हा है।

पं ध /उ./४७४ गर्हण तत्परित्याग' पञ्चगुर्वात्मसाक्षिक'। निष्प्रमादतया नूनं शक्तित. कर्महानये ।४७४। =निश्चयसे प्रमाद रहित होकर अपनी शक्तिके अनुसार उन कर्मोके क्षयके लिए जो पंचपरमेष्ठीके सामने आत्मसाक्षिपूर्वक उन रागादि भावोका त्याग है वह गर्हा कहलाती है।

गर्हित वचन—दे० वचन।

गलितावशेष—गलितावशेष गुणश्रेणी आयाम—दे० संक्रमण/८।

गवेषणा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा—और मीमासा, ये ईहाके पर्याय नाम है।

ध.१३/५,५,३८/२४२/१० गवेष्यते अनया इति गवेषणा। =जिस (ज्ञान) के द्वारा गवेषणा की जाती है वह गवेषणा है।

गव्यूति—क्षेत्रका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१ अपर नाम कोश है।

गांगेय—(पा.पु /सर्ग/श्लोक) इनका अपर नाम भीष्माचार्य था और राजा पाराशरका पुत्र था (७/८०)। पिताको धीवरकी कन्यापर आसक्त देख धीवरकी शर्त पूरी करके अपने पिताको सन्तुष्ट करनेके लिए आपने स्वय राज्यका त्याग कर दिया और आजन्म ब्रह्मचर्यसे रहनेकी भीष्म प्रतिज्ञा की (७/९२-१०६)। कौरवो तथा पाण्डवोको अनेको उपयोगी विषयोकी शिक्षा दी (८/२०८)। कौरवो द्वारा पाण्डवोका दहन सुन दु खी हुए (१२/१८९)। अनेको बार कौरवोकी ओरसे पाण्डवोके विरुद्ध लडे। अन्तमे कृष्ण जरासन्ध युद्धमें राजा शिखण्डी द्वारा मरणासन्न कर दिये गये। तब उन्होने जीवनका अन्त जान सन्यास धारण कर लिया (१९/२४३)। इसी समय दो चारण मुनियोके आजानेपर सल्लेखनापूर्वक प्राण त्याग ब्रह्म स्वर्गमे उत्पन्न हुए (१९/२५४-२७१)।

गांधार—१ एक स्वर—दे० स्वर। २ वर्तमान कन्धार या अफगानिस्तान देश। यह देश सिन्धु नदी व कश्मीरके पश्चिममें

स्थित है। इसकी प्राचीन राजधानियाँ पुरुषपुर (पेशावर) और पुष्करावर्त (हस्तनागपुर) थी। (म.पु/प्र ५०/पं. पन्नालाल) ३. सिकन्दर द्वारा भाजित पंजाबका जेहलुमसे पश्चिमका भाग गांधार था (वर्तमान भारत इतिहास) ४ भरत क्षेत्र उत्तर आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

गांधारी—१. (पा पु./सर्ग/श्लोक) भोजकवृष्णिकी पुत्री थी और धृतराष्ट्रसे विवाही गयी थी। (८/१०८-१११)। इसने दुर्योधन आदि सौ पुत्रोको जन्म दिया जो कौरव कहलाये। (८/१८३-२०५)। २. भगवान् विमलनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष। ३.—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

गारव—(भा पा./टी /१५७/२९९।२१) गारवं शब्दगारवर्द्धिगारवसातगारवभेदेन त्रिविधं। तत्र शब्दगारव वर्णोच्चारगर्वं, ऋद्धिगारवं शिष्यपुस्तककमण्डलुपिच्छपट्टादिभिरात्मोद्भावनं, सातगारव भोजनपानादिसमुत्पन्नसौख्यलीलामदस्तैर्मोहमदगारवं। =गारव तीन प्रकारका—शब्द गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव। तहाँ वर्णके उच्चारणका गर्व करना शब्द गारव है। शिष्य पुस्तक कमण्डलु पिच्छी या पट्ट आदि द्वारा अपनेको ऊँचा प्रगट करना ऋद्धि गारव है। भोजन पान आदिसे उत्पन्न सुखकी लीलासे मस्त होकर मोहमद करना सात गारव है। (मो पा /टी /२७/३२२/१)।

२. न्याय विषयक गारव दोष—दे० अति प्रसंग।

३. कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

गारवातिचार—दे० अतिचार/१।

गार्ग्य—एक अक्रियावादी—दे० अक्रियावाद।

गार्हपत्य अग्नि—दे० अग्नि।

गिरनार—भरत क्षेत्रका एक पर्वत। अपर नाम ऊर्जयंत। सौराष्ट्र देश जूनागढ स्टेटमें स्थित है—दे० मनुष्य/४।

गिरिकूट—ऐरावती नदीके पास स्थित भरत क्षेत्रका एक पर्वत —दे० मनुष्य/४।

गिरिवज्र—पंजाब देशका वर्तमान जलालपुर नगर—(म पु./प्र. ५०/पं पन्नालाल)।

गिरिशिखर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

गीतरति—गन्धर्व जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० गंधर्व।

गीतरस—गन्धर्व जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० गंधर्व।

गुंजाफल—तौलका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

गुडव—तौलका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

गुण—जैन दर्शनमें 'गुण' शब्द वस्तुकी किन्ही सहभावी विशेषताओका वाचक है। प्रत्येक द्रव्यमे अनेको गुण होते है—कुछ साधारण कुछ असाधारण कुछ स्वाभाविक और कुछ विभाविक। परिणमनशील होनेके कारण गुणोंकी अखण्ड शक्तियोकी व्यक्तियोमें नित्य हानि वृद्धि दृष्टिगत होती है, जिसे मापनेके लिए उसमें अविभागी प्रतिच्छेदो या गुणाशोकी कल्पना की जाती है। एक गुणमें आगे पीछे अनेको पर्यायें देखी जा सकती है, परन्तु एक गुणमे कभी भी अन्य गुण नही देखे जा सकते है।

७	द्रव्यमें साधारणासाधारण गुणोंके नामनिर्देश।
*	आपेक्षिक गुणों सम्बन्धी। —दे० स्वभाव।
*	जीवमें अनेकों विरोधी धर्मोंका निर्देश। —दे० जीव/३।
८	द्रव्योंमें अनुजीवी और प्रतिजीवी गुणोंके नाम निर्देश।
९	द्रव्यमें अनन्त गुण है।
१०	जीव द्रव्यमें अनन्त गुणोंका निर्देश।
११	गुणोंके अनन्तत्व विषयक शंका व समन्वय।
१२	द्रव्यके अनुसार उसके गुण भी मूर्त या चेतन आदि कहे जाते है।
*	गुण-गुणीमें कथंचित् भेदाभेद।
*	गुणका द्रव्यरूपसे और द्रव्य व पर्यायका गुणरूपसे उपचार। —दे० उपचार/३।

१. गुणके भेद व लक्षण

१. गुण सामान्यका लक्षण

स.सि./५/३८/३०९ पर उद्धृत गुण इदि दव्वविहाणं। =द्रव्यमें भेद करनेवाले धर्मको गुण कहते है।

आ.प./६ गुण्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्यान्तराद्यैस्ते गुणा'। =जो द्रव्य-को द्रव्यान्तरसे पृथक् करता है सो गुण है।

न्या.दी./३/§७८/१२१ यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः वस्तुत्वरूपरसगन्धस्पर्शादयः। =जो सम्पूर्ण द्रव्यमें व्याप्त कर रहते है और समस्त पर्यायोंके साथ रहनेवाले है उन्हें गुण कहते हे। और वे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि है।

पं.ध./पू./४८ शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च। प्रकृतिशीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः।४८।

पं.ध./उ./४७८ लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः।४७८। =१. शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक है।४८। २ लक्षण, गुण और अंग ये सब एकार्थवाचक शब्द है।

२. गुणके साधारण असाधारणादि मूल भेद

न.च.वृ./११ दव्वाण सहभूदा सामण्णविसेसदो गुणा णेया। =द्रव्योंके सहभूत गुण सामान्य व विशेषके भेदसे दो प्रकारके होते है।

प्र.सा./त.प्र./९५ गुणा विस्तारविशेषा, ते द्विविधा सामान्यविशेषा-त्मकत्वात्। =गुण द्रव्यके विस्तार विशेष है। वे सामान्य विशेषा-त्मक होनेसे दो प्रकारके है। (पं.ध./पू./१६०-१६१)

प.प्र./टी./१/५८/५८/७ गुणास्त्रिविधा भवन्ति। केचन साधारणा केचना-साधारणा, केचन साधारणासाधारणा इति। =गुण तीन प्रकारके है— कुछ साधारण है, कुछ असाधारण है और कुछ साधारणासाधारण है।

श्लो.वा./भाषा २/१/४/५३/१५८/११ अनुजीवी प्रतिजीवी, पर्यायशक्ति-रूप और आपेक्षिक धर्म इन चार प्रकारके गुणोका समुदाय रूप ही वस्तु है।

३. साधारण व असाधारण या सामान्य व विशेष गुणोंके लक्षण

प.प्र./टी./१/५८/५८/८ ज्ञानसुखादयः स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणाः। =ज्ञान सुखादि गुण स्वजातिकी अर्थात् जीवकी अपेक्षा साधारण है और विजाति द्रव्योंकी अपेक्षा असाधारण है।

अध्यात्मकमल मार्तण्ड/२/७-८ सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्तन्ते। ते सामान्यगुणा इह यथा सदादिप्रमाणतः सिद्धम्।७। तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्नाः इहेदमिति चिज्ज्ञाः। ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियतो विशेषगुणाः।८। =सभी द्रव्योंमें विशेषता रहित जो गुण वर्तन करते हैं, वे सामान्य गुण हैं जैसे कि सत् आदि गुण प्रमाणसे सिद्ध हैं।७। उस ही विवक्षित वस्तुमें जो मग्न हो तथा 'यह वह है' इस प्रकारका ज्ञान करानेवाले गुण विशेष हैं। जैसे—द्रव्यके प्रतिनियत ज्ञानादि गुण।८।

४. स्वभाव विभाव गुणोंके लक्षण

प.प्र./टी./१/५७/५६/१० जीवस्य तावत्कथ्यन्ते। केवलज्ञानादयः स्वभावगुणा असाधारणा इति। अगुरुलघुकाः स्वभावगुणास्ते···सर्वद्रव्यसाधारणाः। तस्यैव जीवस्य मतिज्ञानादिविभावगुणाः इति। इदानीं पुद्गलस्य कथ्यन्ते। तस्मिन्नेव परमाणौ वर्णादयः स्वभावगुणा इति। ···द्व्यणुकादिस्कन्धेषु वर्णादयो विभावगुणाः इति भावार्थः। धर्माधर्माकाशकालानां स्वभावगुणपर्यायास्ते च यथावसरं कथ्यन्ते। =जीवकी अपेक्षा कहते हैं। केवलज्ञानादि इसके असाधारण स्वभाव गुण हैं और अगुरुलघु इसका साधारण स्वभाव गुण है। उसी जीवके मतिज्ञानादि विभावगुण हैं। अब पुद्गलके कहते हैं। परमाणुके वर्णादिगुण स्वभावगुण हैं और द्व्यणुकादि स्कन्धोंके विभावगुण हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंके भी स्वभाव विभाव गुण यथा अवसर कहते हैं।

२. गुण निर्देश

१. गुणका अनेक अर्थोंमें प्रयोग

रा.वा./२/३४/२/४६८/१७ गुणशब्दोऽनेकस्मिन्नर्थे दृष्टप्रयोगः क्वचिद्रूपा-दिषु वर्तते-रूपादयो गुणा इति क्वचिद्भागे वर्तते द्विगुणा यवास्त्रि-गुणा यवा इति। क्वचिदुपकारे वर्तते- गुणज्ञः साधुः उपकारज्ञ इति यावत्। क्वचिद्द्रव्ये वर्तते-गुणवानयं देश इत्युच्यते यस्मिन् गावः शस्यानि च निष्पद्यन्ते। क्वचित्समेष्ववयवेषु-द्विगुणा रज्जुः त्रिगुणा रज्जुरिति। क्वचिदुपसर्जने-गुणभूता वयमस्मिन् ग्रामे उपसर्जन-भूता इत्यर्थः। =गुण शब्दके अनेक अर्थ है—जैसे रूपादि गुण (रूप रस गन्ध स्पर्श इत्यादि गुण) में गुणका अर्थ रूपादि है। 'दोगुणा यव त्रिगुणा यव' में गुणका अर्थ भाग है। 'गुणज्ञ साधु' में या 'उपकारज्ञ' में उपकार अर्थ है। 'गुणवानदेश' में द्रव्य अर्थ है, क्योंकि जिसमें गौयें या धान्य अच्छा उत्पन्न होता है वह देश गुणवान कहलाता है। द्वि गुण रज्जु त्रिगुणरज्जु में समान अवयव अर्थ है। 'गुणभूता वयम्' में गौण अर्थ है। (भ.आ./वि./७/३९/४)।

ध./१/१,१,८/गा. १०४/१६१ जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि। जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहि।१०४।

रा.वा./७/११/६/४३८/२५ सम्यग्दर्शनादयो गुणाः।

ध. १५/१७४/१ को पुण गुणो ? संजमो संजमासंजमो वा।

ध. १/१,१,८/१६१/३ गुणसहचरित्वादात्मापि गुणसंज्ञां प्रतिलभते।

ध.१/१,१,८/१६०/७ के गुणाः। औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-पारिणामिका इति गुणाः।

प्र.सा./त.प्र./९५ गुणा विस्तारविशेषाः।९५।

वसु श्रा./५१३ अणिमा महिमा लघिमा पागम्म वसित्त कामरूवित्तं। ईसत्त पावणं तह अट्ठगुणा वण्णिया समए।५१३। =१. कर्मके उदय उपशमादिसे उत्पन्न जिन परिणामोसे युक्त जो जीव देखे जाते है, वे उसी गुण संज्ञावाले कहे जाते है।१०४। (गो. क/मू/८१२/९८७)। २ सम्यग्दर्शनादि भी गुण है। ३. सजम व सजमासंजम भी गुण कहे जाते है। ४ गुणोके सहवर्ती होनेसे आत्मा भी गुण कह दिया जाता है। ५. औदयिक औपशमिक आदि पाँच भाव भी गुण कहे गये है। ६. गुणको विस्तार विशेष भी कहा जाता है। ७, अणिमा महिमा आदि ऋद्धियाँ भी गुण कहे जाते है।

२. गुणांशके अर्थमें गुण शब्दका प्रयोग

त. सू/५/३३-३६ स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।३३। न जघन्यगुणाना।३४। गुणसाम्ये सदृशानाम्।३५। द्वयधिकादि गुणाना तु।३६।

स. सि/५/३५/३०५/१० गुणसाम्यग्रहण तुल्यभागसप्रत्ययार्थम्।

रा. वा./५/३४/२/४९८/२१ तत्रेह भागे वर्तमान' परिगृह्यते। जघन्यो गुणो येषा ते जघन्यगुणास्तेषा जघन्यगुणाना नास्ति बन्ध.।

ध १४/५,६,५३६/४५०/५ एयगुणं ति कि घेप्पदि। जहण्णगुणस्स गहणं। सो च जहण्णगुणो अणंतेहि अविभागपडिच्छेदेहि णिप्पण्णो।

ध १४/५,६,५४०/४५१/५ गुणस्स विदियअवत्थाविसेसो विदियगुणो णाम। तदियो अवत्थाविसेसो तदियगुणो णाम। =१ स्निग्धत्व और रूक्षत्वसे बन्ध होता है।।३३। जघन्य गुणवाले पुद्गलोका बन्ध नही होता है।।३४।। समान गुण होनेपर तुल्य जातिवालोका बन्ध नही होता है।३५। दो अधिक गुणवालोका बन्ध होता है।३६। २. तुल्य शक्त्यशोका ज्ञान करानेके लिए 'गुणसाम्य' पदका ग्रहण किया है। ३. यहाँ भाग अर्थ विवक्षित है। जिनके जघन्य (एक) गुण होते है वे जघन्य गुण कहलाते है। उनका बन्ध नही होता। ४, एक गुणसे जघन्य गुण ग्रहण किया जाता है जो अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोंसे निष्पन्न है। ५ उसके ऊपर एक आदि अविभागी प्रतिच्छेदकी वृद्धि होनेपर गुणकी द्वितीयादि अवस्था विशेषोकी द्वितीयगुण तृतीयगुण आदि सज्ञा होती है।ध०।

३. एक अखण्ड गुणमें अविभागी प्रतिच्छेदरूप खण्ड कल्पना

ध १४/५,६,५३६/४५०/६ सो च जहण्णगुणो अणंतेहि अविभागपडिच्छेदेहिं णिप्पण्णो। =वह जघन्यगुण अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोसे निष्पन्न होता है।

प• ध/५३ तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशा। =उन अनन्त शक्तियो या गुणोमें-से प्रत्येक शक्तिके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते है। अध्यात्मकमलमार्तण्ड/२/६)

४. उपरोक्त खण्ड कल्पनामें हेतु तथा भेद-अभेद समन्वय

ध. १४/५,६,५३६/४५०/७ त कथ णव्वदे। सो अणंतविस्सासुवचएहि उवचिदो त्ति सुत्तण्णहाणुववत्तीदो। ण च एक्कम्मि अविभागपडिच्छेदे सते एगविस्सासुवचय मोत्तूण अणंताणंतविस्सासुवचयाणं तत्थ सभवो अत्थि, तेसि सबंधस्स णिप्पच्चत्तयप्पसगादो। ण च तस्स विस्सासुवचएहि बधो वि अत्थि जहण्णवज्जे त्ति सुत्तेण सह विरोहादो। =प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है (कि पुद्गलके बन्ध योग्य एक जघन्य गुण अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोसे निष्पन्न है)? उत्तर—'वह अनन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित है' यह सूत्र (ष ख. १४/५,६/सू ५३६/४५०) अन्यथा बन नहीं सकता है, इससे जाना जाता है कि वह अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोसे निष्पन्न होता है। प्रश्न—अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदके रहते हुए वहाँ केवल एक विस्रसोपचय (बन्धयोग्य परमाणु) न होकर अनन्त विस्रसोपचय संभव है (या हो जायेंगे)? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योकि ऐसी अवस्थामें उनका सम्बन्ध (उन परमाणुओंका बन्ध) बिना कारणके होता है, ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है। यदि कहा जाये कि उसका विस्रसोपचयोके साथ बन्ध भी होता है, सो यह कहना ठीक नही है, क्योंकि 'जघन्य गुणवालेके साथ बन्ध नही होता' ('न जघन्य गुणाना'/त मू./५/३४) इस सूत्रके साथ विरोध आता है।

प. ध/पू./५६,५९ देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणाशस्य। विष्कम्भस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभाग'।५६। तेन गुणाशेन पुनर्गणिता' सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते तेषामात्मा गुण इति न हि ते गुणत पृथक्त्वसत्ताकः।५९। =जैसे चौडाईके विभागसे देशका छेद होता है वैसे गुणांशका छेद नही होता। क्योकि जैसे वह देश देशाश स्थूल होता है वैसे गुणाशस्थूल नहीं होता।५६। उस जघन्य अविभाग प्रतिच्छेदसे यदि सब गुणाश गिने जावे तो वे अनन्त होते है. और उन सब गुणाशोका आत्मा ही गुण कहलाता है। तथा वे सब गुणाश निश्चयसे गुणसे पृथक् सत्तावाले नही है।५९।

५. गुणका परिणामीपना तथा तद्गत शंका

अध्यात्मकमल मार्तण्ड/२/६ अन्वयिन' किल नित्या गुणाश्च निर्गुणाऽवयवा ह्यनन्तांशा'। द्रव्याश्रया विनाशप्रादुर्भावा' स्वशक्तिभि' शश्वत्।६। =गुणोमें नित्य ही अपनी शक्तियों द्वारा विनाश व प्रादुर्भाव होता रहता है।

प ध./५/११२-१५९ वस्तु यथा परिणामी तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि। तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणाना तु।११२। ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्यनित्यास्तु पर्यया सर्वे। तत्कि द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मका' गुणा प्रोक्ता।११५। सत्यं तत्र यत' स्यादिदमेव विवक्षित यथा द्रव्ये। न गुणेभ्य. पृथगिह तत्सदिति द्रव्य च पर्यायाश्चेति।११६। अयमर्थ' सन्ति गुणा अपि किल परिणामिन स्वत सिद्धा। नित्यानित्यत्वादप्युत्पादित्रयात्मका सम्यक्।१५९। =जैसे वस्तु परिणमनशील है वैसे ही गुण भी परिणमनशील है, इसलिए निश्चय करके गुणके भी उत्पाद और व्यय ये दोनो होते है।११२। प्रश्न—गुण नित्य होते हैं और सम्पूर्ण पर्याये अनित्य होती है, तो फिर क्यो इस प्रकरणमें द्रव्यकी तरह गुणोको नित्यानित्यात्मक कहा है? उत्तर—ठीक है, क्योकि तहाँ यही विवक्षित है कि जैसे द्रव्यमे जो 'सत' है, यह सत् गुणोसे पृथक् नहीं है वैसे ही द्रव्य और पर्यायें भी गुणोसे पृथक् नही है।।११६। गुण स्वयंसिद्ध है और परिणामी भी है, इसलिए वे नित्य और अनित्य रूप होनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक भी है।१५९।

६. गुणका अर्थ अनन्त पर्यायोंका समूह

प्र. सा./त. प्र/९५ गुणा विस्तारविशेषा। =गुण विस्तार विशेष है।

श्लो. वा/भाषा/२/१/६/५६/५०३/७ कालत्रयवर्ती अनतानत पर्यायोका ऊर्ध्वांश समुदाय एक गुण है।

७. परिणमन करे पर गुणान्तर रूप नहीं हो सकता

रा वा/५/२४/२५/४९०/२८ स्पर्शादीनां गुणाना परिणाम एकजातीय इत्येतस्यार्थस्य ख्यापनार्थं 'च' क्रियते पृथक्ग्रहणम्। तद्यथा स्पर्श एको गुण' काठिन्यलक्षण स्वजात्यपरित्यागेन पूर्वोत्तरस्वगतभेदनिरोधोपजननसतत्या वर्तनात्, द्वित्रिचतु सख्येयासख्येयानन्तगुणस्पर्शपर्यायैरेव परिणमते न मृदुगुरुलघ्वादिस्पर्शै। एव मृद्वादयोऽपि जेयया। रसश्च तिक्त एक एव गुण रसजातिमजहन् पूर्ववन्नाशोत्पादावनुभवन् द्वित्रिचतु सख्येयासख्येयानन्तगुणतिक्तरसैरेव परिणमते

न कटुकादिरसैः। एवं कटुकादयो वेदितव्याः। 'अथ यदा कठिन-स्पर्शो मृदुस्पर्शेन, गुरुर्लघुना, स्निग्धो रूक्षेण, शीत उष्णेन परिणमते तिक्तश्च कटुकादिभि··इतरे चेतरैः, सयोगे च गुणान्तरैस्तदा कथम्। तत्रापि कठिनस्पर्शः स्पर्शजातिमजहन् मृदुस्पर्शेनैव विनाशोत्पादौ अनुभवन् परिणमते नेतरैः, एवमितरत्रापि योज्यम्। ='स्पर्शादि गुणोंका एकजातीय परिणमन होता है' इसकी सूचना करनेके लिए पृथक् सूत्र बनाया है। जैसे कठिनस्पर्श अपनी जातिको न छोडकर पूर्व और उत्तर स्वगत भेदोके उत्पाद विनाशको करता हुआ दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण स्पर्श पर्यायोंसे ही परिणत होता है, मृदु गुरु लघु आदि स्पर्शोंसे नहीं। इसी तरह मृदु आदि भी। तिक्त रस रसजातिको न छोडकर उत्पाद विनाशको प्राप्त होकर भी दो तीन चार सख्यात असंख्यात अनन्त गुण तिक्तरसरूप ही परिणमन करेगा कटुक आदि रसोमे नही। इसी तरह कटुक आदिमे भी समझना चाहिए। (इसी प्रकार गन्ध व वर्ण गुणमें भी लागू कर लेना)। प्रश्न—जब कठिन स्पर्श मृदुरूपमें, गुरु लघुरूपमे, स्निग्ध रूक्षमें, और शीत उष्णमें बदलता है, इसी तरह तिक्त कठिनादि रूपसे तथा और भी परस्पर संयोगसे गुणान्तर रूपमें परिणमन करते है, तब यह एकजातीय परिणमनका नियम कैसे रहेगा? उत्तर—ऐसे स्थानमे कठिन स्पर्श अपनी स्पर्श जातिको न छोडकर ही मृदु स्पर्शसे विनाश उत्पादका अनुभव करता हुआ परिणमन करता है अन्य रूपमें नहीं। इसी तरह अन्य गुणोमें भी समझ लेना चाहिए।

८. प्रत्येक गुण अपने-अपने रूपसे पूर्ण स्वतन्त्र है

पं.ध /उ./१०१२-१०१३ न गुण कोऽपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित्। नाधारोऽपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ।१०१२। किन्तु सर्वेऽपि स्वात्मीया. स्वात्मीयशक्तियोगत । नानारूपा ह्यनेकेऽपि सता सम्मिलिता मिथ ।१०१३। =प्रकृतमें कहीं भी कोई भी गुण किसी भी गुणका अन्तर्भावी नही है, आधार नहीं है, आधेय भी नहीं है, कारण और कार्य भी नही है ।१०१२। किन्तु अपनी अपनी शक्तिको धारण करनेकी अपेक्षासे सब गुण अपने अपने स्वरूपमें स्थित है। इस लिए यद्यपि वे नानारूप व अनेक है तथापि निश्चयपूर्वक वे सब गुण परस्परमें एक ही सत्के साथ अन्वयरूपसे सम्बन्ध रखते है।

उपादान निमित्त चिट्ठी (प बनारसी दास)—ज्ञान चारित्रके आधीन नहीं, चारित्र ज्ञानके आधीन नही। दोनो असहाय रूप है। ऐसी तो मर्यादा है।

९. गुणोंमे परस्पर कथंचित् भेदाभेद

प ध./पू /५१-५२ तदुदाहरण चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैक.। तन्न ज्ञान न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ।५१। एव य कोऽपि गुण सोऽपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा। स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ता: ।५२। =जीवमें जो दर्शन नामका एक गुण है, वह न ज्ञान गुण है, न सुख है, न चारित्र अथवा कोई अन्य गुण ही हो सकता है। किन्तु वह 'दर्शन' दर्शन ही है ।५१। इसी तरह द्रव्यका जो कोई भी गुण है वह भी उससे भिन्न रूपवाला नहीं हो सकता है अर्थात् सब गुण अपने अपने स्वरूपमें ही रहते है, इसलिए ये परस्पर भिन्न अनन्त ही शक्तियाँ द्रव्यमें स्वय उछलती है—प्रतिभासित होती है ।५२।

१०. ज्ञानके अतिरिक्त सर्व गुण निर्विकल्प हैं

प.ध /उ /३९२,३९५ नाकार: स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता। शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा।३९२। ज्ञानादिना गुणा: सर्वे प्रोक्ता सल्लक्षणाङ्किता । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्य नाकारमात्रका. ।३९५। =जो आकार न हो सो अनाकार है। इसलिए वास्तवमें ज्ञानके बिना शेष अनन्त गुणोमें निर्विकल्पता होती है। इसलिए ज्ञानके बिना शेष सब गुणोंका लक्षण अनाकार होता है ।३९२। ज्ञानके बिना शेष सब गुण केवल सत् रूप लक्षणसे ही लक्षित है। इसलिए सामान्य अथवा विशेष दोनो ही अपेक्षासे वास्तवमें अनाकार रूप ही होते हे ।३९५।

११. सामान्य गुण द्रव्यके पारिणामिक भाव हैं

स सि /२/७/१६१/५ ननु चास्तित्वनित्यत्वप्रदेशवत्त्वादयोऽपि भावा पारिणामिकाः सन्ति. तेषामिह ग्रहण कर्त्तव्यम्। न कर्तव्यम्, कृतमेव। कथम्। 'च' शब्देन समुच्चितत्वात्। यद्येवं त्रय इति सख्या विरुध्यते। न विरुध्यते, असाधारणा जीवस्य भावाः पारिणामिकास्त्रय एव। अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति 'च'शब्देन पृथग्गृह्यन्ते। =प्रश्न—अस्तित्व, नित्यत्व, और प्रदेशत्व आदिक भी पारिणामिक भाव हैं। उनका इस सूत्रमें ग्रहण करना चाहिए। उत्तर—उनका ग्रहण पहले ही 'च' शब्द द्वारा कर लिया गया है, अत. पुन ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'तीन' संख्या (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व) विरोधको प्राप्त होती है? उत्तर—नही होती, क्योंकि, जीवके असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं। अस्तित्वादिक तो जीव और अजीव दोनोके साधारण हैं। इसलिए उनका 'च'शब्दके द्वारा अलगसे ग्रहण किया गया है।

१२. सामान्य व विशेष गुणोंका प्रयोजन

प्र.सा /त.प्र /१३४ चैतन्यपरिणामो चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसभवन् जीवमधिगमयति। एव गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्य। =चेतना गुण जीवका ही है। शेष पाँच द्रव्योंमें असम्भव होनेसे जीवको ही प्रगट करता है। इस प्रकार विशेष गुणोके भेदमे द्रव्योका भेद जाना जाता है।

पं.ध /पू /१६२ तेषामिह वक्तव्ये हेतु साधारणैर्गुणैर्यस्मात्। द्रव्यत्व-मस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरैः ।१६२। =यहाँपर उन गुणोंके कहनेमें प्रयोजन यह है कि जिस कारणसे साधारण गुणोंके द्वारा तो केवल द्रव्यत्व सिद्ध किया जाता है और विशेष गुणोंके द्वारा द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है।

३. द्रव्य गुण सम्बन्ध

१. गुण वस्तुके विशेष है

पं.ध /पू /३८ अथ चैव ते प्रदेशा सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिता। अपि च विशेषा सर्वे गुणसज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ।३८। =विशेष गुणसहित वे प्रदेश ही द्रव्य नामसे कहे गये है और जितने भी विशेष है वे सब गुण कहे जाते है।

२. गुण द्रव्यके सहभावी विशेष है

प.प्र /मू./१/५७ सह-भुव जाणहि ताहँ गुण कमभुवपज्जउ वुत्तु। =सहभू-को तो गुण जानो और क्रमभूको पर्याय। (पं.का /त.प्र./६), (पं.का / ता वृ./५/१४/६), (प्र.सा /ता वृ/९३/१२१/११), (नि सा /ता वृ /१०७), (त अनु /११४); (पं ध /पू १३८)।

प्र.सा /त प्र /२३५ सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमय। = (विचित्र गुणपर्याय विशिष्ट द्रव्य) सह-क्रम-प्रवृत्त अनेक धर्मोंमें व्यापक अनेकान्तमय है।

न.च.वृ./११ दव्वाणं सहभूदा सामण्णविसेसदो गुणा णेया। =सामान्य विशेष गुण द्रव्योके सहभूत जानने चाहिए।

आ.प./६ सहभावा गुणा.। =गुण द्रव्यके सहभाव होते हैं।

३. गुण द्रव्यके अन्वयी विशेष हैं

स./सि /५/३८/३०९/१ अन्वयिनो गुणा'। =गुण अन्वयी होते हैं। (प.प्र /टी /१/५७/५६); (प्र.सा /ता वृ./९३/१२१/११); (अध्यात्म कमल मार्तण्ड/२/६), (पं ध /पू /१३८)।

प्र सा /त प्र /८० तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुण। =वहाँ अन्वय द्रव्य है। अन्वयका विशेषण गुण है।

४. द्रव्यके आश्रय गुण रहते हैं पर गुणके आश्रय अन्य गुण नहीं रहते

वैशे. दे०/१-१/सूत्र १६ द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।१६। =द्रव्यके सहारे रहनेवाला हो, जिसमें कोई अन्य गुण न हो, और वस्तुओंके सयोग व विभागमे कारण न हो। क्रिया व विभागकी अपेक्षा न रखता हो। यही गुणका लक्षण है।

त. सू /५/४१ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' ।४१। =जो निरन्तर द्रव्यमे रहते है और अन्य गुण रहित है वे गुण है। (अध्यात्म कमल मार्तण्ड/२/६)

प्र. सा /त. प्र./१३० द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणा.। =द्रव्यका आश्रय लेकर और परके आश्रयके बिना प्रवर्तमान होनेसे जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित (प्राप्त) होता है, पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण है। (प्र सा /त प्र /८७)

५. द्रव्योंमें सामान्य गुणोंके नाम निर्देश

न. च वृ /११-१६ सव्वेसिं सामण्णा दह· ।११। अत्थित्तं वत्थुत्तं दव्वत्तं पमेयत्त अगुरुलहुगुत्तं। देसत्त चेदणिदर मुत्तममुत्तं वियाणेह।१२। एक्केक्का अट्ठट्ठा सामण्णा हुति सव्वदव्वाणं।१५।

न. च. वृ./१६ की टिप्पणी-कौ द्वौ द्वौ गुणौ हीनौ। जीवद्रव्येऽचेतनत्व मूर्तत्व च नास्ति, पुद्गलद्रव्ये चेतनत्वममूर्तत्वं च नास्ति। धर्माधर्माकाशकालद्रव्येषु चेतनत्वममूर्तत्वं च नास्ति। एवं द्विद्विगुणवर्जिते अष्टौ अष्टौ सामान्यगुणा' प्रत्येकद्रव्ये भवन्ति। =सर्व ही सामान्य गुण दस है—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व। इनमें से प्रत्येक द्रव्यमें आठ आठ होते है। **प्रश्न**—वे दो दो गुण कौनसे कम है। **उत्तर**—जीवद्रव्यमें अचेतनत्व व मूर्तत्व नहीं है। पुद्गल द्रव्यमे चेतनत्व व अमूर्तत्व नही है। धर्म, अधर्म, आकाश व काल द्रव्योमें चेतनत्व व मूर्तत्व नही है। इस प्रकार दो गुण वर्जित आठ-आठ सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्यमे है। (आ प/२), (प्र. प/टी./१/५८/५८/८)।

प्र. सा./त. प्र / ९५ तत्रास्तित्व नास्तित्वमेकत्वमन्यत्व द्रव्यत्वं पर्यायत्व सर्वगतत्वमसर्वगतत्व सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्व सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्याद्य सामान्यगुणा। =(तहाँ दो प्रकारके गुणोमें) अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण है। (नोट—इनमे कुछ आपेक्षिक धर्मोंके भी नाम है—जैसे नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व अभोक्तृत्व।

६. द्रव्योंमें विशेष गुणोंके नाम निर्देश

न च. वृ/११,१३, १५ सव्वेसिं सामण्णा दह भणिया सोलस विसेसा।११। णाण द सणसुहसत्तिरूपरसगधफासगमणठिदी। वट्टणगाहणहेउं मुत्तममुत्त खलु चेदणिदरं च।१३। छ वि जीवपोग्गलाणं इयराण वि सेस तितिभेदा।१५। =सर्व द्रव्योमे विशेष गुण सोलह कहे गये है।११। —ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहनाहेतुत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, और अचेतनत्व।१३। तिनिमें से जीव व पुद्गलमें तो छह-छह है और शेष चार द्रव्योमें तीन-तीन। (विशेष देखो उस उस द्रव्यका नाम); (आ प/२)।

प्र. सा/त.प्र/९५ अवगाहनाहेतुत्व गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्याद्यो विशेषगुणा'। =अवगाहनाहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, रूप-रस-गन्धादिमत्ता, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण है।

७. द्रव्योंमें साधारणासाधारण गुणोंके नामनिर्देश

न. च. वृ/१६ चेदणमचेदणा तह मुत्तममुत्ता वि चरिमे जे भणिया। समण्णा सजाईणं ते वि विसेसा विजाईणं।१६। =अन्तमें कहे गये जो चार सामान्य या विशेष गुण, अर्थात् मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व अचेतनत्व ये स्वजातिकी अपेक्षा तो साधारण है और विजातिकी अपेक्षा विशेष है। यथा—(देखो निचला उद्धरण)।

प. प्र./टी/१/५८/५८/८ जीवस्य तावदुच्यन्ते। ज्ञानसुखादय स्वजातौ साधारणा अपि विजातौ पुनरसाधारणा। अमूर्तत्वं पुद्गलद्रव्यं प्रत्यसाधारणमाकाशादिक प्रति साधारणम्। प्रदेशत्व पुन' कालद्रव्यं प्रति पुद्गलपरमाणुद्रव्यं च प्रत्यसाधारणं शेषद्रव्य प्रति साधारणमिति संक्षेपव्याख्यानम्। एव शेषद्रव्याणामपि यथासभवं ज्ञातव्यमिति भावार्थ। =पहले जीवकी अपेक्षा कहते है। ज्ञान सुखादि गुण स्वजातिकी अपेक्षा साधारण होते हुए भी विजातिकी अपेक्षा असाधारण है। (सर्व जीवोमे सामान्यरूपसे पाये जानेके कारण जीव द्रव्यके प्रति साधारण है और शेष द्रव्योमें न पाये जानेसे उनके प्रति असाधारण है)। अमूर्तत्व गुण पुद्गलद्रव्यके प्रति असाधारण है परन्तु आकाशादि अन्य द्रव्योके प्रति साधारण है। प्रदेशत्व गुण काल द्रव्य व पुद्गल परमाणुके प्रति साधारण है परन्तु शेष द्रव्योंके प्रति असाधारण है। इस प्रकार जीवके गुणोका संक्षेप व्याख्यान किया। इसी प्रकार अन्य द्रव्योके गुणोका भी यथासभव जानना चाहिए।

८. द्रव्योंमें अनुजीवी और प्रतिजीवी गुणोंके नाम निर्देश

प ध /उ /७४,३७९ अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी।७४। ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ। देहेन्द्रियाद्यभावेऽपि नाभावस्तद्द्वयोरिति।३७९। =वैभाविकी शक्ति उस उस द्रव्यके अर्थात् जीव और पुद्गलके अपने अपने लिए उपजीविनी है।७४। ज्ञान व आनन्द ये दोनो चेतन-धर्म नित्य द्रव्योपजीवी है, क्योंकि देह व इन्द्रियोका अभाव हो जानेपर भी उसका अभाव नही हो जाता।३७९।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/१७८-१७९. भावस्वरूप गुणोको अनुजीवी-गुण कहते है। जैसे —सम्यक्त्व, चारित्र, सुख, चेतना, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदिक।१७८। वस्तुके अभावस्वरूप धर्मको प्रतिजीवी गुण कहते है। जैसे—नास्तित्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व वगैरह।१७९।

श्लो. वा./भाषा/१/४/५३/१५८/८ प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ये प्रतिजीवी गुणस्वरूप अभाव अंश माने जाते है।

*	प्रत्येक गुणस्थान पर आरोहण करनेके लिए त्रिकरणों-का नियम —दे० उपशम, क्षय व क्षयोपशम ।
*	दर्शन व चारित्रमोहका उपशम व क्षपण विधान । —दे० उपशम व क्षय
*	गुणस्थानोंमें मृत्युकी सम्भावना असम्भावना सम्बन्धी नियम । —दे० मरण/३
*	कौन गुणस्थानसे मरकर कहा उत्पन्न हो, और कौन-सा गुण प्राप्त कर सके इत्यादि —दे० जन्म/६ ।
*	गुणस्थानोंमें उपशमादि १० करणोंका अधिकार । —दे० करण/२ ।
*	सभी गुणस्थानोंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा/३
*	१४ मार्गणाओं, जीवसमासों आदिमें गुणस्थानोंके स्वामित्वकी २० प्ररूपणाएँ । —दे० सत्/ ।
*	गुणस्थानोंकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ । —दे० वह वह नाम
*	पर्याप्तापर्याप्त तथा गतिकाय आदिमें पृथक् पृथक् गुण-स्थानोंके स्वामित्वकी विशेषताएँ — दे० वह वह नाम
*	बद्धायुष्ककी अपेक्षा गुणस्थानोंका स्वामित्व । —दे० आयु/६ ।
*	गुणस्थानोंमें सम्भव कर्मोंके बन्ध, उदय, सत्त्वादिकी प्ररूपणाएँ । —दे० वह वह नाम ।

१. गुणस्थानों व उनके भावोंका निर्देश

१. गुणस्थान सामान्यका लक्षण

पं स/प्रा/१/३ जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं। जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ।३। =दर्शनमोहनीयादि कर्मोंकी उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओंके होनेपर उत्पन्न होनेवाले जिन भावोंसे जीव लक्षित किये जाते है, उन्हें सर्व-दर्शियोंने 'गुणस्थान' इस सज्ञासे निर्देश किया है। (प. सं/स/१/१२) (गो. जी/मू./८/२९)।

२. गुणस्थानोंकी उत्पत्ति मोह और योगके कारण होती है।

गो. जी/मू/३/२२ संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। =संक्षेप, ओघ ऐसी गुणस्थानकी सज्ञा अनादिनिधन ऋषिप्रणीत मार्गविषै रूढ है। बहुरि सो सज्ञा दर्शन चारित्र मोह और मन वचन काय योग तिनिकरि उपजी है।

३. १४ गुणस्थानोंके नाम निर्देश

ष. ख १/१.१/सू ९-२२/१६१-१९२ ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी ।९। सासण-सम्माइट्ठी ।१०। सम्मामिच्छाइट्ठी ।११। असजदसम्माइट्ठी ।१२। संजदासंजदा ।१३। पमत्तसंजदा ।१४। अप्पमत्तसंजदा ।१५। अपुव्व-करण-पविट्ठ-सुद्धि संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ।१६। अणियट्टि-बादर-सांपराइय-पविट्ठसुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ।१७। सुहुम-सांप-राइय-पविट्ठ-सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा ।१८। उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ।१९। खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था ।२०। सजोगकेवली ।२१। अजोगकेवली ।२२। =(गुण स्थान १४ होते हैं)—मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्र, असं-यत या अविरत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत या देशविरत, प्रमत्तसंयत या प्रमत्तविरत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण या अपूर्वकरण-प्रविष्टशुद्धि-संयत, अनिवृत्तिकरण या अनिवृत्तिकरणबादरसाम्पराय-प्रविष्ट-शुद्धि संयत, सूक्ष्मसाम्पराय या सूक्ष्म साम्पराय प्रविष्ट शुद्धि संयत, उपशान्तकषाय या उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ, क्षीणकषाय या क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली और अयोगकेवली (मू आ/११९५-११९६), (पं. सं/प्रा/१/४-५), (रा. वा/९/१/११/५८८/८), (गो. जी/मू/९-१०/३०) (पं. सं/सं/१/१७-१८)।

४. सर्वगुणस्थानोंमें विरताविरतपनेका अथवा प्रमत्ता-प्रमत्तपने आदिका निर्देश

ध. १/१.१,१२-२१/पृष्ठ/पंक्ति 'असजद' इदि जं सम्मादिट्ठिस्स विसेसण-वयणं तमंतदीवयत्तादो हेट्ठिल्लाणं सयल-गुणट्ठाणाणमसंजदत्तं परू-वेदि। उवरि असजदभावं किण्ण परूवेदि त्ति उत्ते ण परूवेदि, उवरि सव्वत्थ सजमासजम-संजम-विसेसणोवलभादो त्ति। (१७२/८)। एदं सम्माइट्ठि वयणं उवरिम-सव्व-गुणट्ठाणेसु अणुवट्टइ गंगा-णई-पवाहो व्व (१७३/७)। प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वाच्छेषातीतसर्वगुणेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति। (१७६/६)। बादरग्रहणमन्तदीपकत्वाद् गताशेषगुणस्थानानि बादरकषायाणीति प्रज्ञापनार्थम्, 'सति सभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति न्यायात्। (१८५/१)। छद्मस्थग्रहणमन्तदीपकत्वादतीताशेषगुणानां सावरणत्वस्य सूचक-मित्यवगन्तव्यम् (१९०/२)। सयोगग्रहणमधस्तनसकलगुणाना सयो-गत्वप्रतिपादकमन्तदीपकत्वात् (१९१/५)। =सूत्रमें सम्यग्दृष्टिके लिए जो असंयत विशेषण दिया गया है, वह अन्तदीपक है, इस-लिए वह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोके असंयतपनेका निरू-पण करता है। (इससे ऊपरवाले गुणस्थानोंमें सर्वत्र संयमासयम या सयम विशेषण पाया जानेसे उनके असंयमपनेका यह प्ररूपण नहीं करता है। (अर्थात् चौथे गुणस्थान तक सब गुणस्थान असंयत हैं और इससे ऊपर संयतासंयत या संयत/ (१७२/८)। इस सूत्रमें जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदीके प्रवाहके समान ऊपरके समस्त गुणस्थानोमें अनुवृत्तिको प्राप्त होता है। अर्थात् पाँचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन पाया जाता है। (१७३/७)। यहाँ पर प्रमत्त शब्द अन्तदीपक है, इसलिए वह छठवें गुणस्थानसे पहिलेके सम्पूर्ण गुणस्थानोमे प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है। (अर्थात् छठे गुणस्थान तक सब प्रमत्त है और इससे ऊपर सातवें आदि गुण-स्थान सब अप्रमत्त है। (१७६/६)। सूत्रमें जो 'बादर' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थान बादर-कषाय है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए ग्रहण किया है, ऐसा सम-झना चाहिए, क्योंकि जहाँपर विशेषण सभव हो अर्थात् लागू पडता हो और न देनेपर व्यभिचार आता हो, ऐसी जगह दिया गया विशे-षण सार्थक होता है, ऐसा न्याय है (१८५/१)। इस सूत्रमें आया हुआ छद्मस्थ पद अन्तदीपक है, इसलिए उसे पूर्ववर्ती समस्त गुण-स्थानोंके सावरण (या छद्मस्थ)पनेका सूचक समझना चाहिए (१९०/२)। इस सूत्रमें जो सयोग पदका ग्रहण किया है, वह अन्तदीपक होनेसे नीचेके सम्पूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है (१९१/५)।

५. चौथे गुणस्थान तक दर्शनमोहकी तथा इससे ऊपर चारित्रमोहकी अपेक्षा प्रधान है

गो.जी./मू./१२-१३/३७ एदे भावा णियमा दसणमोहं पडुच्च भणिदा हु। चारित्त णत्थि जदो अविरद अतेसु ठाणेसु।१२। देसविरदे पमत्ते इदरे य खओवसमिय भावो दु। सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणिय तहा उवरिं।१३। =(मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोमें क्रमश. जो औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक व औपशमिकादि तीनो भाव बताये गये हैं। प्र। ११।) वे नियमसे दर्शन-मोहको आश्रय करके कहे गये है। प्रगटपनैं जातैं अविरतपर्यन्त च्यारि गुणस्थानविषै चारित्र नाही है। इस कारण तै चारित्रमोहका आश्रय-करि नाही कहे है।१२। देशसयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत विषै क्षायोपशमिकभाव है, वह चारित्रमोहके आश्रयसे कहा गया है। तैसे ही ऊपर भी अपूर्वकरणादि गुणस्थाननिविषै चारित्रमोहको आश्रय-करि भाव जानने।१३।

६. संयत गुणस्थानोंका श्रेणी व अश्रेणी रूप विभाजन

रा वा /६/१/१६/५८६/३० एतदादीनि गुणस्थानानि चारित्रमोहस्य क्षयोपशमादुपशमात् क्षयाच्च भवन्ति।

रा वा /६/१/१८/५६०/७ इत ऊर्ध्वं गुणस्थानाना चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवत उपशमकश्रेणी क्षपकश्रेणी चेति। =१. संयतासयत आदि गुणस्थान चारित्रमोहके क्षयोपशमसे अथवा उपशमसे अथवा क्षयसे उत्पन्न होते है। (तहाँ भी) २. अप्रमत्त सयतसे ऊपरके चार गुणस्थान उपशम या क्षपक श्रेणीमें ही होते है।

७. जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं

ध १/१,१,१७/१८४/८ यावन्त परिणामास्तावन्त एव गुणा· किन्न भवन्तीति चेन्न, तथा व्यवहारानुपपत्तौ द्रव्यार्थिकनयसमाश्रयणात्। =प्रश्न—जितने परिणाम होते है उतने ही गुणस्थान क्यो नहीं होते है? उत्तर—नही, क्योकि, जितने परिणाम होते है, उतने ही गुण-स्थान यदि माने जायें तो (समझने समझाने या कहनेका) व्यवहार ही नही चल सकता है, इसलिए द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नियत सख्यावाले ही गुणस्थान कहे गये है।

८. गुणस्थान निर्देशका कारण प्रयोजन

रा.वा./६/१/१०/५८८/६ तस्य सवरस्य विभावनार्थं गुणस्थानविभागवचन क्रियते। =सवरके स्वरूपका विशेष परिज्ञान करनेके लिए चौदह गुणस्थानोका विवेचन आवश्यक है।

२. गुणस्थानों सम्बन्धी कुछ नियम

१. गुणस्थानोंमें परस्पर आरोहण व अवरोहण सम्बन्धी नियम

गो क /मू /५५६-५५६/७६०-७६२ चदुरेक्कदुपण पंच य छत्तिगठाणाणि अप्पमत्तता। तिसु उवसमगे सतेत्ति य तियतिय दोण्णि गच्छंति ।५५६। सासणपमत्तवज्ज अपमत्तं समल्लियइ मिच्छो। मिच्छत्त विदियगणो मिस्सो पढम चउत्थ च ।५५७। अविरदसम्मा देसो पमत्तपरिहीणमपमत्तं त। छट्ठाणाणि पमत्तो छट्ठगुणं अप्पमत्तो दु ।५५८। उवसामगा दु सेढि आरोहति य पडति य कमेण। उवसामगेसु मरिदो देवतमत्त समल्लियई।५५६।

ध १२/४,२,७,१६/२०/१३ उक्कस्साणुभागेण सह आउवबधे सजदासंज-दादिहेट्ठिमगुणट्ठाणाण गमणाभावादो। =मिथ्यादृष्टयादिक निज निज गुणस्थानकौ छेडै अनुक्रमतैं ४,१,२,५,५,६,३ गुणस्थाननिकौ अप्रमत्त-पर्यन्त प्राप्त हो है। बहुरि अपूर्वकरणादिक तीन उपशमवाले तीन तीनकौ, उपशान्त कषायवाले दोय गुणस्थानकनिकौ प्राप्त हो है ।५५६। वह कैसे सो आगे कोष्ठकोमें दर्शाया है—इतना विशेष है कि उत्कृष्ट अनुभागके साथ आयुके बाँधनेपर (अप्रमत्तादि गुणस्थानोसे) अधस्तन गुणस्थानोमें गमन नहीं होता है।ध।

नोट—निम्नमेंसे किसी भी गुणस्थानको प्राप्त कर सकता है।

न	गुणस्थान	आरोहण क्रम	अवरोहणक्रम
१	मिथ्यादृष्टि		
	अनादि	उपशम सम्य. सहित ४,५,७	×
	सादि	३,४,५,७	
२	सासादन	×	१
३	मिश्र	४	१
४	असंयत-		
	उपशम साम्य	५,७	सासादन पूर्वक १
	क्षायिक	५,७	×
	क्षायोपशमिक	५,७	३,१
५	संयतासंयत	७	४,३,२,१
६	प्रमत्तसयत	७	५,४,३,२,१
७	अप्रमत्त ,,	८	६ (मृत्यु होनेपर देवोमें जन्म चौथा स्थान)
८	अपूर्वकरण	६	७ (,, ,, ,,)
६	अनिवृत्तिकरण	१०	८ (,, ,, ,,)
१०	सूक्ष्मसापराय	११,१२	६ (,, ,, ,,)
११	उप-कषाय	×	१० (,, ,, ,,)
१२	क्षीण ,,	३	×
१३	सयोगी	१४	×
१४	अयोगी	सिद्ध	×

गुणहानि—१ गुणहानि श्रेढी व्यवहार—दे० गणित/II/६। २ षट्-गुण हानि वृद्धि—दे० षट्गुण हानि वृद्धि।

गुणा—Multiplication (ध ५/प्र /२७)

गुणाधिक—

स सि /७/११/३४६/६ सम्यग्ज्ञानादिभि प्रकृष्टा गुणाधिका। =जो सम्यग्ज्ञानादि गुणोंमें बढे-चढे हे वे गुणाधिक कहलाते है।

गुणारोपण—दे० प्रतिष्ठा विधान।

गुणार्थिक—गुणार्थिक नयनिर्देशका निषेध —(दे० नय/I/१/५)

गुणित—गुणकार विधिमें गुण्य राशिको गुणकार द्वारा गुणित कहा जाता है—दे० गणित/II/१/५।

गुणित कर्मांशिक—दे० क्षपित।

गुणिदेश—की अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद—दे० सप्तभंगी/५।

गुणी अगुणी नय—दे० नय/I/५।

गुणोत्तर श्रेढी—Geometrical Progression (ज प /प्र.१०६)। इस सबन्धी प्रक्रियाएँ (दे० गणित /II/५/५)।

गुण्य—जिस राशिको किसी अन्य राशि द्वारा गुणा किया जाये —दे० गणित /II/१/५।

गुप्त वंश—दे० इतिहास/३/१।

गुप्तसंघ—दे० इतिहास /५/८।

गुप्तसंवत्—दे० इतिहास /२।

गुप्ति—मन, वचन व कायकी प्रवृत्तिका निरोध करके मात्र ज्ञाता, द्रष्टा भावसे निश्चयसमाधि धारना पूर्णगुप्ति है, और कुछ शुभराग मिश्रित विकल्पों व प्रवृत्तियो सहित यथा शक्ति स्वरूपमें निमग्न रहनेका नाम आंशिकगुप्ति है। पूर्णगुप्ति ही पूर्णनिवृत्ति रूप होनेके कारण निश्चयगुप्ति है और आंशिकगुप्ति प्रवृत्ति अंशके साथ वर्तनेके कारण व्यवहारगुप्ति है।

१. गुप्तिके भेद, लक्षण व तद्‌गत शंका

१. गुप्ति सामान्यका निश्चय लक्षण

स सि./९/२/४०९/७ यत संसारकारणादात्मनो गोपन सा गुप्ति ।=जिसके बलसे संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन अर्थात् रक्षा होती है वह गुप्ति है। (रा. वा /९/२/१/५९१/२७) (भ आ /वि/११५/२६६/१७)।

द्र. स/टी/३५/१०१/५ निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयादात्मनो गोपन प्रच्छादन झम्पनं प्रवेशणं रक्षण गुप्ति ।=निश्चयसे सहज-शुद्ध-आत्म-भावनारूप गुप्त स्थानमें संसारके कारणभूत रागादिके भयसे अपने आत्माका जो छिपाना, प्रच्छादन, झपन, प्रवेशन, या रक्षण है सो गुप्ति है।

प्र. सा/ता वृ/२४०/३३३/१२ त्रिगुप्त निश्चयेन स्वरूपे गुप्त परिणत ।=निश्चयसे स्वरूपमें गुप्त या परिणत होना ही त्रिगुप्तिगुप्त होना है।

स. सा/ता. व/३०७ ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमण तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानलक्षण त्रिगुप्तिरूप ।=ज्ञानीजनोके आश्रित जो अप्रति-क्रमण होता है वह शुद्धात्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान ही है लक्षण जिनका, ऐसी त्रिगुप्तिरूप होता है।

२. गुप्ति सामान्यका व्यवहार लक्षण

मू. आ./३३१ मणवचकायपवुत्ती भिक्खू सावज्जकज्जसजुत्ता। खिप्पं णिवारयंतो तीहिं दु गुत्तो हवदि एसो ।३३१।=मन वचन व कायकी सावद्य क्रियायोसे रोकना गुप्ति है। (भ. आ/वि/१६/६१/३०)।

त. सू./९/४ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति ।=(मन वचन काय इन तीनों) योगोका सम्यक् प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।

स सि/९/४/४११/३ योगो व्याख्यात 'कायवाङ्मन'कर्म योग' इत्यत्र। तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनम् निग्रहः विषयसुखाभिलाषार्थं प्रवृत्ति-निषेधार्थं सम्यग्विशेषणम्। तस्मात्सम्यग्विशेषणविशिष्टात् सक्लेशा-प्रादुर्भावपरात कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति। =मन वचन काय ये तीन योग पहिले कहे गये हैं। उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोकना निग्रह है। विषय सुखकी अभिलाषाके लिए की जानेवाली प्रवृत्तिका निषेध करनेके लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस सम्यक् विशेषण युक्त सक्लेशको नही उत्पन्न होने देनेरूप योग-निग्रहसे कायादि योगोंका निरोध होनेपर तन्निमित्तक कर्मका आस्रव नहीं होता है। (रा वा/९/४/२-४/५९३/१३), (गो. क/जी. प्र/५४७/७१४/८)।

रा वा/९/५/९/५९४/३२ परिमितकालविषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्ति । =परिमित कालपर्यन्त सर्व योगोंका निग्रह करना गुप्ति है।

प्र. सा//ता वृ/२४०/३३३/१२ व्यवहारेण मनोवचनकाययोगत्रयेण गुप्त त्रिगुप्त ।=व्यवहारसे मन वचन काय इन तीनो योगोसे गुप्त होना सो त्रिगुप्त है।

द्र सं./टी/३५/१०१/६ व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकाय-व्यापारनिरोधो गुप्ति'।=व्यवहार नयसे बहिरग साधन (अर्थात धर्मानुष्ठानों) के अर्थ जो मन वचन कायकी क्रियाको (अशुभ प्रवृत्ति से) रोकना सो गुप्ति है।

अन. ध/४/१५४ गोप्तुं रत्नत्रयात्मान स्वात्मान प्रतिपक्षत,। पापयोगा-न्निगृहीयाल्लोकपङ्क्त्यादिनिस्पृह ।१५४। =मिथ्यादर्शन आदि जो आत्माके प्रतिपक्षी, उनसे रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको सुरक्षित रखनेके लिए ख्याति लाभ आदि विषयोंमें स्पृहा न रखना गुप्ति है।

३. गुप्तिके भेद

स. सि /९/४/४११/६ सा त्रितयी कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति ।=वह गुप्ति तीन प्रकारकी है—काय गुप्ति, वचन गुप्ति और मनोगुप्ति। (रा. वा/९/४/४/५९३/२१)।

४. मन वचन काय गुप्तिके निश्चय लक्षण

नि. सा /मू /६९-७० जो रायादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ती। अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ।६९।

नि. सा /ता वृ./६९-७० निश्चयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम् ।६९। निश्चय-शरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत। कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती। हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तीत्ति णिद्दिट्ठा ।७०। =रागद्वेषसे मन परावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है। असत्य-भाषणादिसे निवृत्ति होना अथवा मौन धारण करना यह वचनगुप्ति-का लक्षण है। औदारिकादि शरीरकी जो क्रिया होती रहती है उससे निवृत्त होना यह कायगुप्तिका लक्षण है, अथवा हिंसा चोरी वगैरह पापक्रियासे परावृत होना कायगुप्ति है। (ये तीनों निश्चय मन वचन कायगुप्तिके लक्षण हैं।) (मू. आ /३३२-३३३) (भ. आ./मू /११८७-११८८/११७७)।

ध. १/१ १ २/११६/६ व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्वं वा वाग्गुप्ति ।=असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचनसंयम अर्थात मौनके धारण करने-को वचनगुप्ति कहते हैं।

ज्ञा /१८/१५-१८ विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्। स्वाधीनं कुरुते चेत समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।१५। सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेर-यतोऽथवा। भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिण' ।१६। साधुसंवृत्त-वाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुने। सज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्ति स्यान्महा-मुने ।१७। स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यंकसंस्थितस्य वा। परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुने ।१८। =रागद्वेषसे अवलम्बित समस्त संकल्पोंको छोडकर जो मुनि अपने मनको स्वाधीन करता है और समता भावमें स्थिर करता है, तथा सिद्धान्तके सूत्रकी रचनामें निरन्तर प्रेरणारूप करता है, उस बुद्धिमान मुनिके सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती है।१५-१६। भले प्रकार वश करी है वचनोकी प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनिके तथा समस्यादिका त्याग कर मौनारूढ होनेवाले महामुनिके वचनगुप्ति होती है।१७। स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परिषह आजानेपर भी अपने पर्यंकासनसे ही स्थिर रहे, किन्तु डिगे नहीं, उस मुनिके ही कायगुप्ति मानी गयी है।१८। (अन. ध /४/१५६/४८४)

नि सा./ता. वृ /६९-७० सकलमोहरागद्वेषाभावादखण्डाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनोगुप्ति। हे शिष्य त्वं तावन्न चलिता मनोगुप्तिमिति जानीहि। निखिलावृतभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रत च। इति निश्चयवाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम् ।६९। सर्वेषा जनाना कायेषु बह्य क्रिया विद्यन्ते, तासा निवृत्ति कायोत्सर्ग, स एव गुप्ति-र्भवति। पञ्चस्थावराणां त्रसानां हिंसानिवृत्ति कायगुप्तिर्वा। परम-सयमधर परमजिनयोगीश्वर य स्वकीय वपु स्वस्य वपुषा विवेश

तस्यापरिस्पन्दमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति ।७०। =सकल मोह-रागद्वेषके अभावके कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूपमें सम्यक् रूपसे अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य! तू उसे अचलित मनोगुप्ति जान। समस्त असत्य भाषाका परिहार अथवा मौन-व्रत सो वचनगुप्ति है। इस प्रकार निश्चय वचनगुप्तिका स्वरूप कहा है।६९। सर्वजनोंको काय सम्बन्धी बहुत क्रियाएँ होती हैं, उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है। वही (काय) गुप्ति है। अथवा पाँच स्थावरोंकी और त्रसोंकी हिंसानिवृत्ति सो कायगुप्ति है। जो परम-संयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने (चैतन्यरूप) शरीरमें अपने (चैतन्यरूप) शरीरसे प्रविष्ट हो गये, उनकी अपरिस्पन्द मूर्ति ही निश्चय कायगुप्ति है।७०। (और भी देखो व्युत्सर्ग/१ में कायोत्सर्ग)।

५. मन वचन कायगुप्तिके व्यवहार लक्षण

नि.सा./मू./६६-६८ कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं। परिहारो मणुगुत्तो ववहारणयेण परिकहियं।६६। थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स। परिहारो वचगुत्ती अलीयादिणियत्तिवयणं वा।६७। बंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति।६८। =कलुषता, मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंके परिहारको व्यवहार नयसे मनोगुप्ति कहा है।६६। पापके हेतुभूत ऐसे स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादिरूप वचनोंका परिहार अथवा असत्यादिककी निवृत्तिवाले वचन, वह वचनगुप्ति है।६७। बन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन (सकोचना) तथा प्रसारणा (फैलाना) इत्यादि कायक्रियाओंकी निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है।६८।

६. मनोगुप्तिके लक्षण सम्बन्धी विशेष विचार

भ.आ./वि./११८७/११७७/१४ मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य। प्रवृत्तं चेदं शुभं मनः तस्य का रक्षा। अप्रवृत्तं तथापि असतः का रक्षा।—किंच मनःशब्देन किमुच्यते द्रव्य-मन उत भावमनः। द्रव्यवर्गणामनश्चेत् तस्य कोऽपायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात्। ...अथ नोइन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसंजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः। यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते। ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपायः। अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टैव किमुच्यते 'रागादिणियत्ती मणस्स' इति। अत्र प्रतिविधीयते—नोइन्द्रियमतिरिह मनःशब्देनोच्यते। सा रागादिपरिणामैः सह एककालं आत्मनि प्रवर्तते। वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न वर्तते। तेन मनस्तत्त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः। ...अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिणतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते। अथैवं ब्रूषे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः। =प्रश्न—मनकी जो यह गुप्ति कही गयी है, वहाँ प्रवृत्त हुए मनकी गुप्ति होती है अथवा रागद्वेषमें अप्रवृत्त मनकी होती है? यदि मन शुभ कार्यमें प्रवृत्त हुआ है तो उसके रक्षण करनेकी आवश्यकता ही क्या? और यदि किसी कार्यमें भी वह प्रवृत्त ही नहीं है तो वह असद्रूप है। तब उसकी रक्षा ही क्या? और भी हम यह पूछते हैं कि मन शब्दका आप क्या अर्थ करते हैं—द्रव्यमन या भावमन? यदि द्रव्य वर्गणाको मन कहते हो तो उसका अपाय क्या चीज है, जिससे तुम उसको बचाना चाहते हो? और यदि भावमनको अर्थात् मनोमति ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न ज्ञानको मन कहते हो तो उसका अपाय ही क्या? यदि इसके नाशको उसका अपाय कहते हो तो उसका परिहार शक्य नहीं है, क्योंकि, समुद्रकी तरंगोंवत् सदा ही आत्मामें अनेकों ज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, उनके अविनाश होनेका अर्थात् स्थिर रहनेका जगत्में कोई उपाय ही नहीं है? और यदि रागादिकोंसे व्यावृत्त होना मनोगुप्तिका लक्षण मानते हो तो वह भी योग्य नहीं है क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान रागादिकोंसे युक्त ही रहता है? (तब वह मनोगुप्ति क्या चीज है?) उत्तर—मनोमति ज्ञान रूप भावमनको हम मन कहते हैं, वह रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें ही आत्मामें रहते हैं। जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका मन विचार करता है तब उसके साथ रागद्वेष नहीं रहते हैं, तब मनोगुप्ति आत्मामें है ऐसा समझा जाता है। अथवा जो आत्मा विचार करता है, उसको मन कहना चाहिए, ऐसा आत्मा जब राग-द्वेष परिणामसे परिणत नहीं होता है तब उसको मनोगुप्ति रहते हैं। अथवा यदि आप यह कहो कि सम्यक् प्रकार योगोंका निरोध करना गुप्ति कहा गया है, तो वहाँ ख्याति लाभादि दृष्ट फलकी अपेक्षाके बिना वीर्य परिणामरूप जो योग उसका निरोध करना, अर्थात् रागादिकार्योंके कारणभूत योगका निरोध करना मनोगुप्ति है, ऐसा समझना चाहिए।

७. वचनगुप्तिके लक्षण सम्बन्धी विशेष विचार

भ.आ./वि./११८७/११७८/५ ननु च वाचः पुद्गलत्वात् • न चासौ संवरे हेतुरनात्मपरिणामत्वात्।... यां वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं, वाग्गुप्तिस्तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः। मौनं वा सकलाया वाचो या परिहृतिः सा वाग्गुप्तिः। =प्रश्न—वचन पुद्गलमय हैं, वे आत्माके परिणाम (धर्म) नहीं हैं अतः कर्मका संवर करनेको वे समर्थ नहीं हैं? उत्तर—जिनसे परप्राणियोंको उपद्रव होता है, ऐसे भाषणसे आत्माका परावृत्त होना सो वाग्गुप्ति है, अथवा जिस भाषणमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा अशुभ कर्मका विस्तार करता है ऐसे भाषणसे परावृत्त होना वाग्गुप्ति है। अथवा सम्पूर्ण प्रकारके वचनोंका त्याग करना या मौन धारण करना सो वाग्गुप्ति है। और भी दे—'मौन'।

८. कायगुप्तिके लक्षण सम्बन्धी विशेष विचार

भ.आ./वि./११८८/११८२/२ आसनस्थानशयनादीनां क्रियाणां चात्मनः प्रवर्तकत्वात् कथमात्मना कायक्रियाभ्यो व्यावृत्तिः। अथ मतं कायस्य पर्यायः क्रिया, तस्याश्चार्थान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यान्तरं तत्परिणामशून्यं तथापरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते। नैवमात्मनामित्थं कायगुप्तिः स्यात् न चेष्टेति। अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते। तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया तस्या निवृत्तिः। कायोत्सर्गः.. तद्गतममतापरिहारः कायगुप्तिः। अन्यथा शरीरमायुः शृङ्खलाबद्धं त्यक्तुं न शक्यते इत्यसम्भवः कायोत्सर्गस्य। • गुप्तिर्निवृत्तिवचन इति सूत्रकाराभिप्रायो। कायोत्सर्गग्रहणे निश्चलता भण्यते। यद्येवं 'कायकिरियाणियत्ती' इति न वक्तव्यं, कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येतदेव वाच्यं इति चेत् न कायविषयं ममेदंभावरहितत्वमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्ते। धावनगमनलङ्घनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यात् चेन्नो। अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्युच्यते मूर्च्छापरिगतस्यापि अपरिस्पन्दता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात्। ततः उभयोपादानं व्यभिचारनिवृत्तये। शरीरनिमित्तात्मक्रियानिवृत्तिः, कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः। =प्रश्न—आसन स्थान शयन आदि क्रियाओंका प्रवर्तक होनेसे आत्मा इनसे कैसे पराङ्मुख हो सकता है? यदि आप कहो कि ये क्रियाएँ तो शरीरकी पर्यायें हैं और आत्मा शरीरसे भिन्न है। और

द्रव्यान्तरसे द्रव्यान्तरमें परिणाम हो नहीं सकता। और इस प्रकार कायकी क्रियासे निवृत्ति हो जानेसे आत्माको कायगुप्ति हो जाती है, परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि, ऐसा माननेसे तो सम्पूर्ण आत्माओमें कायगुप्ति माननी पडेगी (क्योकि सभीमें शरीर की परिणति होनी सम्भव नहीं है) उत्तर—यहाँ शरीर सम्बन्धी जो क्रिया होती है उसको 'काय' कहना चाहिए। (शरीरको नहीं)। इस क्रियाको कारणभूत जो आत्माकी क्रिया (या परिस्पन्दन या चेष्टा) होती है उसको कायक्रिया कहना चाहिए ऐसी क्रियासे निवृत्ति होना यह कायगुप्ति है। प्रश्न—कायोत्सर्गको कायगुप्ति कहा गया है? उत्तर—तहाँ शरीरगत ममताका परिहार कायगुप्ति है ऐसा समझना चाहिए। शरीरका त्याग नहीं, क्योकि आयुकी शृंखलासे जकडे हुए शरीरका त्याग करना शक्य न होनेसे इस प्रकार कायोत्सर्ग ही असम्भव है। यहाँ गुप्ति शब्दका 'निवृत्ति' ऐसा अर्थ सूत्रकारको इष्ट है। प्रश्न—कायोत्सर्गमे शरीरकी जो निश्चलता होती है उसे कायगुप्ति कहे तो? उत्तर—तो गाथामें "कायकी क्रियासे निवृत्ति" ऐसा कहना निष्फल हो जायेगा। प्रश्न—कायोत्सर्ग ही कायगुप्ति है ऐसा कहे तो? उत्तर—नहीं, क्योकि, शरीर विषयक ममत्व रहितपनाकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग (शब्द) की प्रवृत्ति होती है। यदि इतना (मात्र ममतारहितपना) ही अर्थ कायगुप्तिका माना जायगा तो भागना, जाना, कूदना आदि क्रियायोमें प्राणीको भी कायगुप्ति माननी पडेगी (क्योंकि उन क्रियाओको करते समय कायके प्रति ममत्व नहीं होता है। प्रश्न—तब 'शरीरकी क्रियाका त्याग करना कायगुप्ति है' ऐसा मान लें? उत्तर—नहीं, क्योकि, ऐसा माननेसे मूर्च्छित व अचेत व्यक्तिको भी कायगुप्ति माननी पडेगी। प्रश्न—(तब काय गुप्ति किसे कहे?) उत्तर—व्यभिचार निवृत्तिके लिए दोनो रूप ही कायगुप्ति मानना चाहिए—कर्मादानकी निमित्तभूत सकल कायकी क्रियासे निवृत्तिको तथा साथ साथ कायगत ममताके त्यागको भी।

२. गुप्ति निर्देश

१. मन वचन कायगुप्तिके अतिचार

भ.आ/वि/१६/६२/१० असमाहितचित्ततया कायक्रियानिवृत्ति' कायगुप्तेरतिचार.। एकपादादिरथान वा जनसंचरणदेशे, अशुभध्यानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता। आप्ताभासप्रतिबिम्बाभिमुखता वा तदाराधनाव्यापृत इवावस्थानं। सचित्तभूमौ संपतत्सु समतत अशेषेषु महति वा वाते हरितेषु रोपाद्वा दर्पात्तूष्णी अवस्थान निश्चला स्थिति कायोत्सर्ग। कायगुप्तिरित्यस्मिन्पक्षे शरीरममताया अपरित्याग' कायोत्सर्गदोषो वा कायगुप्तेरतिचार। रागादिसहिता स्वाध्याये वृत्तिर्मनोगुप्तेरतिचार'।=मनकी एकाग्रताके विना शरीरकी चेष्टाएँ बन्द करना कायगुप्तिका अतिचार है। जहाँ लोक भ्रमण करते है ऐसे स्थानमें एक पाँव ऊपर कर खडे रहना, एक हाथ ऊपर कर खडे रहना, मनमें अशुभ सकल्प करते हुए अनिश्चल रहना, आप्ताभास हरिहरादिककी प्रतिमाके सामने मानो उसकी आराधना ही कर रहे हो इस ढंगसे खडे रहना या बैठना। सचित्त जमीनपर जहाँ कि बीज अकुरादिक पडे है ऐसे स्थलपर रोषसे, वा दर्पसे निश्चल बैठना अथवा खडे रहना, ये कायगुप्तिके अतिचार है। कायोत्सर्गको भी गुप्ति कहते है, अत शरीरममताका त्याग न करना, किंवा कायोत्सर्गके दोषोको (दे० व्युत्सर्ग/१) न त्यागना ये भी कायगुप्तिके अतिचार है। (अन.ध/४/१६१)

रागादिक विकार सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना, मनोगुप्तिके अतिचार है।

अन. ध/४/१५६-१६० रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्य वा। दुष्प्रणिधान वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्ते।१५६। कर्कश्यादिगरोद्गारो गिरः सविकथादर. । हुंकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्तेस्तद्वदत्यय'।१६०।=(मनोगुप्तिका स्वरूप पहिले तीन प्रकारसे बताया जा चुका है—रागादिकके त्यागरूप, समय या शास्त्रके अभ्यासरूप, और तीसरा समीचीन ध्यानरूप। इन्हीं तीन प्रकारोको ध्यानमें रखकर यहाँ मनोगुप्तिके क्रमसे तीन प्रकारके अतिचार बताये गये है।)—रागद्वेषादिरूप कषाय व मोह रूप परिणामोमें वर्तन, शब्दार्थ ज्ञानकी विपरीतता, आर्त रौद्र ध्यान।१५६। (पहिले वचनगुप्तिके दो लक्षण बताये है—दुर्वचनका त्याग व मौन धारण। यहाँ उन्हींकी अपेक्षा वचनगुप्तिके दो प्रकारसे अतिचार बताये गये है)—भाषासमितिके प्रकरणमें बताये गये कर्कशादि वचनोंका उच्चारण अथवा विकथा करना यह पहिला अतिचार है। और मुखसे हुंकारादिके द्वारा अथवा खकार करके यद्वा हाथ और भृकुटिचालन क्रियाओंके द्वारा इङ्गित करना दूसरा अतिचार है।१६०।

* व्यवहार व निश्चय गुप्तिमें आस्रव व संवरके अंश

दे० संवर/१

२. सम्यग्गुप्ति ही गुप्ति है

पु.सि उ/२०२ सम्यग्दण्डो वपुष. सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य। मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीना त्रितयमेव गम्यम्।=शरीरका भले प्रकार—पाप कार्योसे वश करना तथा वचनका भले प्रकार अवरोध करना, और मनका सम्यक्तया निरोध करना. इन तीनो गुप्तियोको जानना चाहिए। अर्थात् ख्याति लाभ पूजादिकी वाछाके विना मनवचनकायकी स्वेच्छाओंका निरोध करना ही व्यवहार गुप्ति कहलाती है। (भ आ/वि/११५/२६६/२०)

३. प्रवृत्तिके निग्रहके अर्थ ही गुप्तिका ग्रहण है

स.सि/९/६/४१२/२ किमर्थमिदमुच्यते। आद्य' प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्। =प्रश्न—यह किसलिए कहा है? उत्तर—संवरका प्रथम कारण (गुप्ति) प्रवृत्तिका निग्रह करनेके लिए कहा है। (रा.वा/९/६/१/५९५/१८)

४. वास्तवमें आत्मसमाधिका नाम ही गुप्ति है

प.प्र/मू/२/३८ अच्छइ जित्तउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु। सवर णिज्जर जाणि तुहुँ सयल-वियप्प विहीणु।३८।

प्र प/टी/१/६५/ निश्चयेन परमाराध्यत्वाद्वीतरागनिर्विकल्पत्रिगुप्तपरमसमाधिकाले स्वशुद्धात्मस्वभाव एव देव इति।=१ मुनिराज जबतक शुद्धात्मस्वरूपमें लीन हुआ रहता है उस समय हे शिष्य! तू समस्त विकल्प समूहोसे रहित उस मुनिको सवर निर्जरा स्वरूप जान।३८। २ निश्चयनयकर परम आराधने योग्य वीतराग निर्विकल्प त्रिगुप्तिगुप्त परमसमाधिकालमें निज शुद्धात्मस्वभाव ही देव है।

५. मनोगुप्ति व शौच धर्ममें अन्तर

रा.वा/९/६/५९५/३० स्यादेतत्—मनोगुप्तौ शौचमन्तर्भवतीति पृथगस्य ग्रहणमनर्थकमिति, तन्न, किं कारणम्। तत्र मानसपरिस्पन्दप्रतिषेधात्। तत्रासमर्थेषु परकीयेषु वस्तुषु अनिष्टप्रणिधानोपरमार्थमिदमुच्यते। =प्रश्न—मनोगुप्तिमें ही शौच धर्मका अन्तर्भाव हो जाता है, अत इसका पृथक् ग्रहण करना अनर्थक है। उत्तर—नहीं, क्योकि, मनोगुप्तिमें मनके व्यापारका सर्वथा निरोध किया जाता है। जो पूर्ण मनोनिग्रहमें असमर्थ है। पर-वस्तुओ सम्बन्धी अनिष्ट विचारोकी शान्तिके लिए शौच धर्मका उपदेश है।

६. गुप्ति समिति व दशधर्ममें अन्तर

स.सि/९/६/४१२/२ किमर्थमिदमुच्यते। आद्य (गुप्तादि) प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्। तत्रासमर्थाना प्रवृत्त्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयम् (एषणादि)।

इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं समितिषु प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् । =प्रश्न—यह (दशधर्मविषयक सूत्र) किसलिए कहा है ? उत्तर—संवरका प्रथम कारण गुप्ति आदि प्रवृत्तिका निग्रह करनेके लिए कहा गया है जो वैसा करनेमें असमर्थ है उन्हें प्रवृत्तिका उपाय दिखलानेके लिए दूसरा कारण (ऐषणा आदि समिति) कहा गया है। किन्तु यह दश प्रकारके धर्मका कथन समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले के प्रमादका परिहार करनेके लिए कहा गया है। (रा.वा/९/६/१/५९५/१८)

७. गुप्ति व ईर्याभाषा समितिमें अन्तर

रा.वा/९/५/९/५९४/३० स्यान्मतम् ईर्यासमित्यादिलक्षणावृत्ति. वाक्काय-गुप्तिरेव, गोपनं गुप्ति रक्षणं प्राणिपीडापरिहार इत्यनर्थान्तरमिति। तन्न; किं कारणम् । तत्र कालविशेषे सर्वनिग्रहोपपत्ते । परिमितकाल-विषयो हि सर्वयोगनिग्रहो गुप्ति'। तत्रासमर्थस्य कुशलेषु वृत्ति. समिति. । =प्रश्न—ईर्या समिति आदि लक्षणवाली वृत्ति ही वचन व काय गुप्ति है, क्योंकि गोपन करना, गुप्ति, रक्षण, प्राणोपीडा परिहार इन सबका एक अर्थ है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ कालविशेषमें सर्व निग्रहकी उपपत्ति है अर्थात् परिमित कालपर्यंत सर्व योगोका निग्रह करना गुप्ति है। और वहाँ असमर्थ हो जानेवालोके लिए कुशल कर्मोंमें प्रवृत्ति करना समिति है।

भ.आ/वि/११८७/११७८/६ अयोग्यवचनेऽप्रवृत्ति प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा । भाषासमितिस्तु योग्यवचस. कर्तृता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्यो. । मौनं वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेद'। योग्यस्य वचस' प्रवर्तकता। वाच कस्याश्चित्तदनुत्पादकतेति । = (वचन गुप्तिके दो प्रकार लक्षण किये गये है—कर्कशादि वचनोका त्याग करना व मौन धारना) तहाँ—१. जो आत्मा अयोग्य वचनमे प्रवृत्ति नहीं करता परन्तु विचार पूर्वक योग्य भाषण बोलता है अथवा नहीं भी बोलता है यह उसकी वाग्गुप्ति है। परन्तु योग्य भाषण बोलना यह भाषा समिति है। इस प्रकार गुप्ति और समितिमें अन्तर है। २. मौन धारण करना यह वचन गुप्ति है। यहाँ—योग्य भाषणमे प्रवृत्ति करना समिति है। और किसी भाषाको उत्पन्न न करना यह गुप्ति है। ऐसा इन दोनोमें स्पष्ट भेद है।

८. गुप्ति पालनेका आदेश

मू आ/३३४-३३५ खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो । तह पापस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ।३३४। तम्हा तिविहेण तुम णिच्च मणवयणकायजोगेहिं। होहिसु समाहिदमई णिरंतर झाण-सज्झाए ।३३५।=जैसे खेतकी रक्षाके लिए बाड होती है, अथवा नगरकी रक्षारूप खाई तथा कोट होता है, उसी तरह पापके रोकनेके लिए संयमी साधुके ये गुप्तियाँ होती है ।३३४। इस कारण हे साधु ! तू कृत कारित अनुमोदना सहित मन वचन कायके योगोसे हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें सावधानीसे चित्तको लगा ।३३५। (भ.आ/मू/११८९-११९०/११८४)

९. अन्य सम्बन्धित विषय

१ श्रावकको भी यथा शक्ति गुप्ति रखनी चाहिए—दे० श्रावक/४ ।

२. संयम व गुप्तिमें अन्तर—दे० संयम/२ ।

३. गुप्ति व सामायिक चारित्रमें अन्तर—दे० सामायिक /४ ।

४. गुप्ति व सूक्ष्म साम्परायिक चारित्रमें अन्तर —दे० सूक्ष्म साम्पराय /१ ।

५. कायोत्सर्ग व काय गुप्तिमें अन्तर—दे० गुप्ति /१/७ ।

गुप्ति ऋद्धि—पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुप्तिश्रुतिके शिष्य तथा शिवगुप्तिके गुरु थे। समय—वी. नि ५५० (ई० २३) —दे० इतिहास /५/१८।

गुप्तिगुप्त—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार इनका नाम भद्रबाहु द्वितीयके पश्चात् व माघनन्दिसे पूर्व आता है। परन्तु इनकी नन्दिसंघके आचार्योंमें गणना नहीं की गयी है। इसका कारण यह है नन्दिका प्रारम्भ ही माघनन्दिसे होता है। नन्दिसंघकी पट्टावलीमे इनको नमस्कार ही किया गया है, जिससे पता चलता है कि नन्दिसंघके अग्रणी माघनन्दि आचार्य इन्हीकी आम्नायके थे। समय—शक स २६-३६ (ई० १०४-११४)— दे० इतिहास /५/१३।

गुप्तिश्रुति—पुन्नाटसघकी गुर्वावलीके अनुसार आप विनयधरके शिष्य तथा गुप्तिऋद्धिके गुरु थे। समय—वी. नि ५४० (ई० १३)—दे० इतिहास /५/१८

गुमानीराम—पं. टोडरमलजीके पुत्र थे। गुमानी पन्थकी अर्थात् १३ पन्थ शुद्धाम्नायकी स्थापना की। समय—वि. १८३७ (ई १७८०)।

गुरु—गुरु शब्दका अर्थ महान् होता है। लोकमें अध्यापकोको गुरु कहते है। माता पिता भी गुरु कहलाते हैं। परन्तु धार्मिक प्रकरणमें आचार्य, उपाध्याय व साधु गुरु कहलाते है, क्योंकि वे जीवको उपदेश देकर अथवा विना उपदेश दिये ही केवल अपने जीवनका दर्शन कराकर कल्याणका वह सच्चा मार्ग बताते है, जिसे पाकर वह सदाके लिए कृतकृत्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरक्त चित्त सम्यग्दृष्टि श्रावक भी उपरोक्त कारणवश ही गुरु सज्ञाको प्राप्त होते हैं। दीक्षा गुरु, शिक्षा गुरु, परम गुरु आदिके भेदसे गुरु कई प्रकारके होते है।

१. गुरु निर्देश

१. अर्हन्त भगवान् परम गुरु हैं

प्र. सा./ता. वृ./७९/ प्रक्षेपक गाथा २/१००/२४ अनन्तज्ञानादिगुरुगुणै-स्त्रैलोकस्यापि गुरुस्त त्रिलोकगुरु', तमित्थभूत भगवंत' ।=अनन्त-ज्ञानादि महान् गुणोके द्वारा जो तीनो लोकोमे भी महान् हे वे भगवान् अर्हन्त त्रिलोक गुरु है। (पं. ध /उ /६२०)।

२. आचार्य उपाध्याय साधु गुरु है

भ. आ /वि /३००/५११/१३ गुरुसूसया गुरूणं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रे-र्गुरुतया गुरव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्यायसाधव ।=सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन गुणोके द्वारा जो बडे बन चुके हैं उनको गुरु कहते है। अर्थात् आचार्य उपाध्याय और साधु ये तीन परमेष्ठी गुरु कहे जाते है।

ज्ञा. सा /५ पञ्चमहाव्रतकलितो मदमथन क्रोधलोभभयत्यक्त'। एष गुरुरिति भण्यते तस्माज्जानीहि उपदेशं ।५। =पाँच महाव्रतधारी, मद-का मथन करनेवाले, तथा क्रोध लोभ व भयको त्यागने वाले गुरु कहे जाते है।

पं. ध /उ/६२१,६३७ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिण । गुरव' स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ।६२१। अथास्त्येकस्स सामा-न्यात्सद्विशेष्यस्त्रिधा मत'। एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्य' पार्ण्यो दार्व्य-स्त्रिधोच्यते ।६३७।=उन सिद्ध और अर्हन्तोकी अवस्थाके पहिले की अवस्थावाले उसी देवके रूपधारी छठे गुणस्थानमे लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहनेवाले मुनि भी गुरु कहलाते हैं, क्योंकि वे भी भावी नैगम नयकी अपेक्षासे उक्त गुरुकी अवस्था-विशेषको धारण करनेवाले है, अगुरु नहीं हैं ।६३१। वह गुरु यद्यपि सामान्य रूपसे एक प्रकारका है परन्तु सत्की विशेष अपेक्षासे तीन प्रकारका माना गया है—(आचार्य, उपाध्याय व साधु) जैसे कि अग्नित्व सामान्यसे

अग्नि एक प्रकारकी होकर भी तृणकी, पत्रकी तथा लकडीकी अग्नि इस प्रकार तीन प्रकारकी कही जाती है।६३७।

*** आचार्य उपाध्याय व साधु**—दे० वह वह नाम।

३. संयत साधुके अतिरिक्त अन्यको गुरु संज्ञा प्राप्त नहीं

अ. ग. श्रा/१/४३ ये ज्ञानिनश्चारुचारित्रभाजो ग्राह्या गुरूणां वचनेन तेषा। संदेहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीय वचनं परेषा।४३। जे ज्ञानवान सुन्दर चारित्रके धरनेवाले है, तिनि गुरुनिके वचननिकरि सन्देह छोड धर्म ग्रहण करना योग्य है। बहुरि ऐसे गुरुनि विना औरनिका वचन सन्देह योग्य है।

पं. ध/उ./६५८ इत्युक्तव्रततप शीलसयमादिधरो गणी। नमस्यः स गुरुः साक्षादन्यो न तु गुरुर्गणी।६५८। =इस प्रकार जो आचार्य पूर्वोक्त तप-शील और संयमादिको धारण करनेवाले है, वही साक्षात् गुरु है, और नमस्कार करने योग्य है, किन्तु उससे भिन्न आचार्य गुरु नहीं हो सकता।

र. क. आ/टी./१/१० प. सदासुखदास—जो विषयनिका लम्पटी होय सो औरनिकूं विषयनितै छुडाय वीतराग मार्गमे नाही प्रवर्तावै। ससारमार्गमें लगाय संसार समुद्रमें डुबोय देय है। तातै विषयनिकी आशाकै वश नही होय सो ही गुरु आराधन करने व वन्दने योग्य है। जातै विषयनिमें जाकै अनुराग होय सो तो आत्मज्ञानरहित वहिरात्मा है, गुरु कैसे होय। बहुरि जिसकै त्रस स्थावर जीवनिका घातक आरम्भ होय तिसकै पापका भय नही, तदि पापिष्ठकै गुरुपना कैसे सम्भवै। वहुरि जो चौदह प्रकार अन्तरंग परिग्रह और दस प्रकार बहिरंग परिग्रहकरि सहित होय सो गुरु कैसे होय? परिग्रही तो आप ही ससारमे फँस रह्या, सो अन्यका उद्धार करनेवाला गुरु कैसे होय?

दे. विनय/४ असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि साधु आदि वन्दने योग्य नही है।

*** मिथ्यादृष्टि साधुको गुरु मानना मूढ़ता है**—दे० मूढता।

*** कुगुरु निषेध**—दे० कुदेव।

४. सदोष साधु भी गुरु नहीं है

पं. ध/उ/६५७ यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकी क्रियाम्। तावत्काल स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युत।६५७। =जो मोह-से अथवा प्रमादसे जितने काल तक लौकिक क्रियाको करता है, उतने काल तक वह आचार्य नही है और अन्तरंगमें व्रतोसे च्युत भी है।६५७।

५. निर्यापकाचार्यको शिक्षा गुरु कहते है

प्र. सा/ता. वृ/२१०/२८४/१५ छेदयोर्ये प्रायश्चित्त दत्वा संवेगवैराग्य-जनकपरमागमवचनै' सवरणं कुर्वन्ति ते निर्यापका' शिक्षागुरव' श्रुतगुरवश्चेति भण्यते। =देश व सकल इन दोनो प्रकारके संयमके छेदकी शुद्धिके अर्थ प्रायश्चित्त देकर सवेग व वैराग्य जनक परमागमके वचनो द्वारा साधुका संवरण करते है वे निर्यापक है। उन्हे ही शिक्षा गुरु या श्रुत गुरु भी कहते है।

६. निश्चयसे अपना आत्मा ही गुरु है

इ. उ/३४ स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वत। स्वयं हि प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मन।३४। =वास्तवमें आत्माका गुरु आत्मा ही है, क्योंकि वही सदा मोक्षकी अभिलाषा करता है, मोक्ष सुखका ज्ञान करता है और स्वयं ही उसे परम हितकर जान उसकी प्राप्तिमें अपनेको लगाता है।

स. श/७५ नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च। गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत।७५। =आत्मा ही आत्माको देहादिमें ममत्व करके जन्म मरण कराता है, और आत्मा ही उसे मोक्ष प्राप्त कराता है। इसलिए निश्चयसे आत्माका गुरु आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं।

ज्ञा/३२/८१ आत्मात्मना भव मोक्षमात्मन' कुरुते यत.। अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मन.।८१। =यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने संसारको या मोक्षको करता है। इसलिए आप ही अपना शत्रु और आप ही अपना गुरु है।

प. ध./उ/६२८ निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मन'। परमार्ह' स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः।६२८। =वास्तवमें आत्माका शुद्ध-भाव ही निर्जरादिका कारण है, वही परमपूज्य है, और उस शुद्ध-भावसे युक्त आत्मा ही केवल गुरु कहलाता है।

७. उपकारी जनोंको भी कदाचित् गुरु माना जाता है

ह पु/२१/१२८-१३१ अक्रमस्य तदा हेतुं खेचरौ पर्यपृच्छताम्। देवावृपमितिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावकं कुत।१२८। त्रिदशावूचतुर्हेतुं जिन-धर्मोपदेशक'। चारुदत्तो गुरु. साक्षादावयोरिति बुध्यताम्।१२९। तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्व' सुरोऽभणीत। श्रूयतां मे कथा तावत् कथ्यते खेचरौ। स्फुटम्।१३०। =(उस रत्नद्वीपमे जब चारण मुनि-राजके समक्ष चारुदत्त व दो विद्याधर विनय पूर्वक बैठे थे, तब स्वर्ग-लोकसे दो देव आये जिन्होने मुनिको छोडकर पहिले चारुदत्तको नमस्कार किया) विद्याधरोने उस समय उस अक्रमका कारण पूछा कि हे देवो, तुम दोनोने मुनिराजको छोडकर श्रावकको पहिले नमस्कार क्यो किया? देवोने इसका कारण कहा कि इस चारुदत्तने हम दोनोको जिन धर्मका उपदेश दिया है, इसलिए यह हमारा साक्षात् गुरु है। यह समझिए।१२८-१२९। यह कैसे? इस प्रकार पूछने पर जो पहिले बकराका जीव था वह बोला कि हे विद्याधरो। सुनिए मै अपनी कथा स्पष्ट कहता हूँ।१३०।

म.पु./९/१७२ महाबलभवेऽप्यासीत् स्वयंबुद्धो गुरो स न.। वितीर्य दर्शनं सम्यक् अधुना तु विशेषत'।१७२। =महाबलके भवमें भी वे मेरे स्वयंबुद्ध (मन्त्री) नामक गुरु हुए थे और आज इस भवमें भी सम्यग्दर्शन देकर (प्रीतंकर मुनिराजके रूपमें) विशेष गुरु हुए है।१७२।

*** अणुव्रती श्रावक भी गृहस्थाचार्य या गुरु संज्ञाको प्राप्त हो जाता है।** —दे० आचार्य/२।

२. गुरु शिष्य सम्बन्ध

१. शिष्यके दोषोंके प्रति उपेक्षित मृदु भी 'गुरु' गुरु नहीं

मू.आ./१६८ जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं। जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गेह्णदि सोवि छेदरिहो।१६८। =आगन्तुक साधु या चरणकरणसे अशुद्ध हो तो संघके आचार्यको उसे प्रायश्चि-त्तादि देकर छेदोपस्थापना करना योग्य है। यदि वह छेदोपस्थापना स्वीकार न करे तो उसका त्याग कर देना योग्य है। यदि अयोग्य साधुको भी मोहके कारण ग्रहण करे और उसे प्रायश्चित्त न दे तो वह आचार्य भी प्रायश्चित्तके योग्य है।

भ.आ/मू/४८१/७०३ जिब्भाए वि लिहंतो ण भद्दओ जत्थ सारणा णत्थि। =जो शिष्योके दोष देखकर भी उन दोषोको निवारण नहीं करते और जिह्वासे मधुर भाषण बोलते है तो भी वे भद्र नही है अर्थात उत्तम गुरु नहीं है।

आ.अनु/१४२ दोषान् काश्चन तान्प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं, सार्धं तै. सहसा म्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्। तस्मान्मे न

गुरुर्गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुट, ब्रूते य सततं समीक्ष्य निपुण सोऽय खलः सद्गुरु ।१४२।= जो गुरु शिष्योके चारित्रमें लगते हुए अनेक दोषोको देखकर भी उनकी तरफ दुर्लक्ष्य करता है व उनके महत्त्वको न समझकर उन्हे छिपाता चलता है वह गुरु हमारा गुरु नही है। वे दोष तो साफ न हो पाये हो और इतनेमें ही यदि शिष्य का मरण हो गया तो वह गुरु पीछेसे उस शिष्यका सुधार कैसे करेगा ? किन्तु जो दुष्ट होकर भी उसके दोष प्रगट करता है वह उसका परम कल्याण करता है। इसलिए उससे अधिक और कौन उपकारी गुरु हो सकता है।

२. शिष्यके दोषोंका निग्रह करनेवाला कठोर भी 'गुरु'—गुरु है

भ.आ /मू./४७९-४८३ पिल्लेदूण रडत पि जहा बालस्स मुहं विदारित्ता। पज्जेड घदं माया तस्सेव हिदं विचिंतंती ।७९। तह आयरिओ वि अणुज्जस्स खवयस्स दोसणीहरणं। कुणदि हिदं से पच्छा होहिदि कडुओसहं वत्ति ।८०। • । पाएण वि ताडितो स भद्दओ जत्थ सारणा अत्थि ।८१। आदट्ठमेव जे चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे। कडुय फरुसेहिं ते हु अदिदुल्लहा लोए ।४८३। =जो जिसका हित करना चाहता है वह उसको हितके कार्यमें बलात्कारसे प्रवृत्त करता है, जैसे हित करनेवाली माता अपने रोते हुए भी बालकका मुँह फाड कर उसे घी पिलाती है ।४७९। उसी प्रकार आचार्य भी मायाचार धारण करनेवाले क्षपकको जबरदस्ती दोषोकी आलोचना करनेमें बाध्य करते हैं तब वह दोष कहता है जिससे कि उसका कल्याण होता है जैसे कि कडवी औषधी पीनेके अनन्तर रोगीका कल्याण होता है ।४८०। लातोंसे शिष्योको ताडते हुए भी जो शिष्यको दोषोसे अलिप्त रखता है वही गुरु हित करनेवाला समझना चाहिए ।४८१। जो पुरुष आत्महितके साथ-साथ, कटु व कठोर शब्द बोलकर परहित भी साधते है वे जगत्मे अतिशय दुर्लभ समझने चाहिए ।४८३।

* **कठोर व हितकारी उपदेश देनेवाला गुरु श्रेष्ठ है** —दे० उपदेश/३।

३. गुरु शिष्यके दोषोंको अन्यपर प्रगट न करे

भ.आ /मू /४८८ आयरियाणं वीसत्थदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे। कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेसि कहेदि ते दोसे ।४८८। =आचार्यपर विश्वास करके ही भिक्षु अपने दोष उससे कह देता है। परन्तु यदि कोई आचार्य उन दोषोको किसी अन्यसे कहता है तो उसे जिनधर्म बाह्य समझना चाहिए।

* **गुरु विनयका माहात्म्य** —दे० विनय/२।

३. दीक्षागुरु निर्देश

१. दीक्षा गुरुका लक्षण

प्र.सा /मू /२१० लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि। ।

प्र सा /त प्र /२१० लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसयमप्रतिपादकत्वेन य. किलाचार्यः प्रव्रज्यादायक स गुरु ।

प्र सा /ता.वृ /२१०/२८४/१२ योऽसौ प्रव्रज्यादायक' स एव दीक्षागुरु । =१. लिंग धारण करते समय जो निर्विकल्प सामायिक चारित्रका प्रतिपादन करके शिष्यको प्रव्रज्या देते हैं वे आचार्य दीक्षा गुरु है।

२. दीक्षा गुरु ज्ञानी व वीतरागी होना चाहिए

प्र.सा /मू /२५६ छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो। ण लहदि अपुणब्भाव सादप्पग लहदि।२५६।

प्र सा./ता वृ./२५६/३४९/१५ ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति पुण्यमेव मुक्तिकारणं भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते न च गणधरदेवादय । तैः छद्मस्थैरज्ञानिभि शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते। =जो कोई निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गको तो नहीं जानते और पुण्यको ही मोक्षका कारण बताते है वे यहाँ 'छद्मस्थ' शब्दके द्वारा ग्रहण किये गये है। (यहाँ सिद्धान्त ग्रन्थोमें प्ररूपित १२वें गुणस्थान पर्यन्त छद्मस्थ संज्ञाको प्राप्त) गणधरदेवादिसे प्रयोजन नहीं है। ऐसे शुद्धात्माके उपदेशसे शून्य अज्ञानी छद्मस्थो द्वारा दीक्षाको प्राप्त जो साधु है उन्हे छद्मस्थविहित वस्तु कहा गया है। ऐसी छद्मस्थ विहित वस्तुओंमें जो पुरुष व्रत, नियम, पठन, ध्यान, दानादि क्रियाओं युक्त है वह पुरुष मोक्षको नहीं पाता किन्तु पुण्यरूप उत्तम देवमनुष्य पदवीको पाता है।

* **व्रत धारणमें गुरु साक्षीकी प्रधानता** —दे० व्रत/I/३।

३. स्त्रीको दीक्षा देनेवाले गुरुकी विशेषता

मू.आ./१८३-१८५ पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो। सगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ।१८३। गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य। चिरपव्वइ गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ।१८४।=आर्यकाओका गणधर ऐसा होना चाहिए, कि उत्तम क्षमादि धर्म जिसको प्रिय हो, दृढ धर्मवाला हो, धर्ममें हर्ष करनेवाला हो, पापसे डरता हो, सब तरहसे शुद्ध हो अर्थात् अखण्डित आचरणवाला हो, दीक्षाशिक्षादि उपकारकर नया शिष्य बनाने व उसका उपकार करनेमें चतुर हो और सदा शुभ क्रियायुक्त हो हितोपदेशी हो ।१८३। गुणोकर अगाध हो, परवादियोसे दबनेवाला न हो, थोडा बोलनेवाला हो, अल्प विस्मय जिसके हो, बहुत कालका दीक्षित हो, और आचार प्रायश्चित्तादि ग्रन्थोका जाननेवाला हो, ऐसा आचार्य आर्यकाओको उपदेश दे सकता है ।१८४। इन पूर्वकथित गुणोसे रहित मुनि जो आर्यकाओका गणधरपना करता है उसके गणपोषण आदि चारकाल तथा गच्छ आदिकी विराधना होती है ।१८५।

गुरु तत्त्व विनिश्चय—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई. १६३८-१६८८) द्वारा सस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ।

गुरुत्व—(त.सा /भाषा/३२)—कुछ लोग गुरुत्व शब्दका अर्थ ऐसा करते है कि जो नीचेकी तरफ चीजको गिराता है वह गुरुत्व है, परन्तु हम इसका अर्थ करते है कि जो किसी भी तरफ किसी चीजको ले जाये वह गुरुत्व है। वह चाहे नीचेकी तरफ ले जानेवाला हो अथवा ऊपरकी तरफ। नीचेकी तरफ ले जानेका सामर्थ्य तथा ऊपरकी तरफ ले जानेका सामर्थ्य उसी गुरुत्वके उत्तर भेद हो सकते है। (जैसे)—पुद्गल अधोगुरुत्व धर्मवाले होते हैं और जीव ऊर्ध्व गुरुत्व धर्मवाले होते है।

गुरु परम्परा—दे० इतिहास/४।

गुरु पूजन क्रिया—दे० क्रिया/३।

गुरु मत—दे० मीमांसा दर्शन।

गुरु मूढता—दे० मूढता।

गुरु स्थानाभ्युपगमन क्रिया—दे० क्रिया/३।

गुर्जर नरेन्द्र—जगतुङ्ग अर्थात् गोविन्द तृतीयका अपर नाम (क पा.१/प्र.७३/पं. महेन्द्र कुमार)।

गुर्वावली—दे० इतिहास/४,५।

गुल्म—सेनाका एक अंग—दे० सेना।

गुहिल—सम्भवत यही जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ता आचार्य शक्ति कुमार है। (ति.प /प्र.८/A-N.up); (जैन साहित्य इतिहास/ पृ ६७१)।

गुह्यक—भगवान् महावीरका शासक यक्ष—दे० यक्ष।

गूढ ब्रह्मचारी—दे० ब्रह्मचारी।

गृद्धपिच्छ—१. कुन्दकुन्दका अपर नाम—दे० कुन्दकुन्द। २. उमास्वामीका अपर नाम (ध १/५६) H L. Jain); (तत्त्वार्थ सूत्र प्रशस्ति)।

गृद्धपिच्छ मरण—दे० मरण/१।

गृह—(ध १४/५,६,४१/३६/३) कड्डियाहि वद्धकुड्डा उवरि वंसिकच्छण्णा गिहा णाम।=जिसकी भीत लकडियोंसे बनायी जाती है। और जिसका छप्पर बाँस और तृणसे छाया जाता है, वह गृह कहलाता है।

गृह कर्म—दे० निक्षेप/४।

गृहक्रिया—दे० संस्कार/२।

गृहपति—चक्रवर्तीका एक रत्न—दे० शलाका पुरुष/२।

गृहस्थ धर्म—दे० सागार।

गृहस्थाचार्य—दे० आचार्य/२।

गृहीत मिथ्यात्व—दे० मिथ्यादर्शन/१।

गृहीता स्त्री—दे० स्त्री।

गृहीशिता क्रिया—दे० संस्कार/२।

गोक्षीर फेन—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गोचरी वृत्ति—दे० भिक्षा/१/७।

गोणसेन—अनन्तवीर्यकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिद्धान्त देवके शिष्य तथा अनन्तवीर्यके गुरु थे। समय—ई० ६२५–६६५—दे०—इतिहास/५/४।

गोतम—लवण समुद्रकी पूर्व व पश्चिम दिशामें स्थित द्वीप व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

गोत्र कर्म—दे० वर्ण व्यवस्था/१।

गोदावरी—भरत क्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

गोपसेन—लाडबागडसघकी पट्टावलीके अनुसार आप शान्तिसेनके शिष्य और भावसेनके गुरु थे। समय—वि. १००५ (ई० ९४८)—दे० इतिहास/५/२५।

गोपुच्छक—दिगम्बर साधुओंका एक सघ—दे० इतिहास/५/६।

गोपुच्छा—(क्ष सा/भाषा/५६३)—(गुणश्रेणी क्रमको छोड) जहाँ विशेष (चय) घटता क्रम लीएँ (अल्पबहुत्व) होइ तहाँ गोपुच्छा संज्ञा है। (क्ष सा/भाषा/५२४)—विवक्षित एक संग्रह कृष्टिविषै जो अन्तरकृष्टीनिके विशेष (चय) घटता क्रम पाइये है सो यहाँ **स्वस्थान गोपुच्छा** कहिए है। और निचली विवक्षित संग्रह कृष्टिकी अन्त-कृष्टितै ऊपरकी अन्य सग्रहकृष्टिकी आदि कृष्टिके विशेष घटता क्रम पाइए है सो यहाँ **परस्थान गोपुच्छा** कहिए।

गोपुर—ध./१४/५,६,४२/३६/४ पायाराणं वारे घडिदगिहा गोवुरं णाम।=कोटोंके दरवाजोंपर जो घर बने होते है—वह गोपुर कहलाते है।

गोप्य—दिगम्बर साधुसंघ—दे० इतिहास/५/१०।

गोमट्ट—दे० चामुण्डराय।

गोमट्टसार—मन्त्री चामुण्डरायके अर्थ आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (ई० श ११ पूर्वार्ध) द्वारा रचित कर्म सिद्धान्त प्ररूपक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ दो भागोमें विभक्त है—जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड। जीवकाण्डमें जीवका गति आदि २० प्ररूपणाओं द्वारा वर्णन है और कर्मकाण्डमें कर्मोकी ८ व १४८ मूलोत्तर प्रकृतियोंके बन्ध, उदय, सत्त्व आदि सम्बन्धी वर्णन है। कहा जाता है कि चामुण्डराय जो आ. नेमिचन्द्रके परम भक्त थे, एक दिन जब उनके दर्शनार्थ आये तब वे धवला शास्त्रका स्वाध्याय कर रहे थे। चामुण्डरायको देखते ही उन्होने शास्त्र बन्द कर दिया। पूछनेपर उत्तर दिया कि तुम अभी इस शास्त्रको पढनेके अधिकारी नहीं हो। तब उनकी प्रार्थनापर उन्होने उस शास्त्रके संक्षिप्त सारस्वरूप यह ग्रन्थ रचा था। जीवकाण्डमे २० अधिकार और ७३५ गाथाएँ है तथा कर्मकाण्डमें ८ अधिकार और ९७२ गाथाएँ है। इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ लिखी गयीं—१ अभयनन्दि आचार्य (ई. श. १०-११) कृत टीका। २. चामुण्डराय (ई. श. १०-११) कृत कन्नड वृत्ति 'वीर मार्तण्डी।' ३. आ. अभयचन्द्र (ई० १३३३-१३४३) कृत मन्दप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीका। ४ ब्र. केशव वर्णी (ई० १३५९) कृत जीव प्रबोधिनी नामक संस्कृत टीका। ५ आ. नेमिचन्द्र नं० ५ (ई. श. १६ पूर्वार्ध) कृत जीवतत्त्वप्रबोधिनी नामकी संस्कृत टीका। ६. पं० हेमचन्द्र (ई० १६४३-१६७०) कृत भाषा वचनिका। ७. प० टोडरमल्ल (ई० १७३६) द्वारा रचित भाषा वचनिका।

गोमट्टसार पूजा—पं० टोडरमल्ल (ई० १७३६) कृत गोमट्टसार ग्रन्थकी भाषा पूजा।

गोमती—भरतक्षेत्र पूर्वी मध्य आर्यखण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४।

गोमूत्रिका—दे० विग्रहगति/२।

गोमेध—नमिनाथ भगवान्का शासक यक्ष—दे० यक्ष।

गोरस—दे० रस।

गोरस शुद्धि—दे० भक्ष्याभक्ष्य/३।

गोलाचार्य—नन्दिसंघ देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप पूज्यपाद व अकलंक भट्टकी आम्नायमेंसे थे। आप ही देशीयगण नं० २ के अग्रणी थे। गोल्ल देशके अधिपति होनेके कारण आपका नाम गोलाचार्य प्रसिद्ध हुआ। आप त्रैकाल्य-योगीके गुरु और आविद्धकरण-पद्मनन्दि-कौमारदेव-सैद्धान्तिकके दादा गुरु थे। समय—वि० ९३२-१०३० (ई० ८७५-९७३)।—दे० इतिहास/५/१४।

गोवदन—भगवान् ऋषभदेवका शासक यक्ष—दे० यक्ष।

गोवर्द्धन—श्रुतावतारकी गुर्वावलीके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात चौथे श्रुतकेवली हुए। समय—वी नि ११४-१३३ (ई० पू० ४१३-३९४)—दे० इतिहास/४/१।

गोवर्द्धन दास—पानीपत निवासी एक प्रसिद्ध पण्डित थे। पिता नन्दलाल थे। शिष्यका नाम लक्ष्मीचन्द था। 'शकुन विचार' नामकी एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी है। समय वि० १७६२ (ई० १७०७)। (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/पृ १७९/कामताप्रसाद)।

गोविन्द—१—कृष्णराज प्रथमका ही दूसरा नाम गोविन्द प्रथम था-दे० कृष्णराज प्रथम। २—राजा कृष्णराज प्रथमका पुत्र 'श्री वल्लभ' गोविन्द द्वि० प्रसिद्ध हुआ—दे० श्री वल्लभ। ३—गोविन्द द्वि० के राज्यपर अधिकार कर लेनेके कारण राजा अमोघवर्षके पिता जगतुंगको गोविन्द तृ० 'जगतुंग' कहते है। (दे० जगतुंग)। ४—शंकराचार्यके गुरु। समय—ई० ७८०—दे० वेदात।

गोशाल—एक मिथ्यामत प्रवर्तक—दे० पूरनकश्यप।

गोशीर्ष—भरतक्षेत्रके मध्य आर्यखण्डमें मलयगिरिके निकट स्थित एक पर्वत—दे० मनुष्य /४।

गोसर्ग काल—(मू.आ/भापाकार/२७०) दो घडी दिन चढनेके बादसे लेकर मध्याह्नकालमे दो घडी कम रहें उतने कालको गोसर्गिक काल कहते है।

गौड़—१. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४)। २ वर्तमान बंगालका उत्तर भाग। अपर नाम पुण्ड्र'/ (म पु /प्र.४८/पं पन्नालाल)।

गौड़पाद—शंकराचार्यके दादा गुरु/समय—ई०७८०/—दे० वेदांत।

गौण—गौणका लक्षण व मुख्य गौणव्यवस्था—दे० स्याद्वाद/३।

गौतम—१. श्रुतावतारकी गुर्वावलीके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात् प्रथम केवली हुए। आप भगवान्के गणधर थे। आपका पूर्वक नाम इन्द्रभूति था।—दे० इन्द्रभूति।समय—वी० नि०-१२ (ई० पू० ५२७-५१५)॥—दे० इतिहास /४/१। २. (ह पु /१८/१०२-१०६) हस्तिनापुर नगरीमें कापिष्ठलायन नामक ब्राह्मणका पुत्र था। इसके उत्पन्न होते ही माता पिता मर गये थे। भूखा मरता फिरता था कि एक दिन मुनियोके दर्शन हुए और दीक्षा ले ली (श्लो ५०)। हजारवर्ष पर्यन्त तप करके छठें ग्रैवेयकके सुविशाल नामक विमानमें उत्पन्न हुआ। यह अन्धकवृष्णिका पूर्व भव है—दे० अन्धक वृष्णि।

गौतम ऋषि—नैयायिक मतके आदि प्रवर्तक थे। 'न्यायसूत्र' ग्रन्थकी रचनी की।– दे० न्याय /१/७।

गौरव—दे० गारव।

गौरिकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

गौरिव—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

गौरी—१. भगवान् वासुपूज्यकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष। २ एक विद्याधर विद्या। —दे० विद्या।

ज्ञ—जीवको 'ज्ञ' कहनेकी विवक्षा—दे० जीव /१/२.३।

ज्ञप्ति—ज्ञप्ति क्रियाका लक्षण—दे० चेतना /१। ज्ञप्ति व करोति क्रियामें परस्पर विरोध—दे० चेतना /३।

ज्ञात—(रा वा./६/६/३/५१२/१) हिनस्मि इत्यसति परिणामे प्राणव्यपरोपणे ज्ञातमात्र मया व्यापादित इति ज्ञातम्। अथवा 'अय प्राणी हन्तव्य.' इति ज्ञात्वा प्रवृत्ते. ज्ञातमित्युच्यते।=मारनेके परिणाम न होनेपर भी हिंसा हो जानेपर 'मैने मारा' यह जान लेना ज्ञात है। अथवा, 'इस प्राणीको मारना चाहिए' ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात है।

ज्ञातृ कथांग—द्वादशाग श्रुतज्ञानका छठा अंग—दे० श्रुतज्ञान/ III

ज्ञान– ज्ञान जीवका एक विशेष गुण है जो स्व व पर दोनोंको जाननेमें समर्थ है। वह पाँच प्रकारका है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय व केवलज्ञान। अनादि कालसे मोहमिश्रित होनेके कारण यह स्व व परमें भेद नही देख पाता। शरीर आदि पर पदार्थोंको ही निजस्वरूप मानता है, इसीसे मिथ्याज्ञान या अज्ञान नाम पाता है। जब सम्यक्त्वके प्रभावसे परपदार्थोंसे भिन्न निज स्वरूपको जानने लगता है तब भेदज्ञान नाम पाता है। वही सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान वास्तवमें सम्यक् मिथ्या नहीं होता, परन्तु सम्यक्त्व या मिथ्यात्वके सहकारीपनेसे सम्यक् मिथ्या नाम पाता है। सम्यग्ज्ञान ही श्रेयोमार्गकी सिद्धि करनेमें समर्थ होनेके कारण जीवको इष्ट है। जीवका अपना प्रतिभास तो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उसको प्रगट करनेमें निमित्तभूत आगमज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तहाँ निश्चय सम्यग्ज्ञान ही वास्तवमें मोक्षका कारण है, व्यवहार सम्यग्ज्ञान नहीं।

I ज्ञान सामान्य

१. भेद व लक्षण

१. ज्ञानका सामान्य लक्षण

स सि /१/१/६/१ जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानम्। =जो जानता है वह ज्ञान है (कर्तृ साधन); जिसके द्वारा जाना जाय सो ज्ञान है (करण साधन), जाननामात्र ज्ञान है (भाव साधन)। (रा.वा./१/१/२४/९/१, २६/९/१२), (ध १/१,१,११५/३५३/१०),(स्या.म./१६/२१५/२७)।

रा.वा./१/१/५/५/१ एवंभूतनयवक्तव्यवशात् ज्ञानदर्शनपर्यायपरिणतात्मैव ज्ञान दर्शन च तत्स्वभाव्यात्। =एवंभूतनयकी दृष्टिमें ज्ञानक्रियामें परिणत आत्मा ही ज्ञान है, क्योंकि, वह ज्ञानस्वभावी है।

दे० आकार/५ साकारोपयोगका नाम ज्ञान है।

दे० विकल्प/२ सविकल्प उपयोगका नाम ज्ञान है।

दे० दर्शन/१/३ बाह्य चित्प्रकाशका तथा विशेष ग्रहणका नाम ज्ञान है।

२. भूतार्थ ग्रहणका नाम ज्ञान है

ध १/१,१,४/१४२/३ भूतार्थप्रकाशन ज्ञानम्। अथवा सद्भाव विनिश्चयोपलम्भक ज्ञानम्। शुद्धनयविवक्षाया तत्त्वार्थोपलम्भक ज्ञानम्। द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम्।=१ सत्यार्थका प्रकाश करनेवाली शक्ति विशेषका नाम ज्ञान है। २. अथवा सद्भाव अर्थात् वस्तु-स्वरूपका निश्चय करनेवाले धर्मको ज्ञान कहते है। शुद्धनयकी विवक्षामें वस्तुस्वरूपका उपलम्भ करनेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है। ३ जिसके द्वारा द्रव्य गुण पर्यायोको जानते है उसे ज्ञान कहते है। (ध ७/२,१,३/७२)।

स्या म /१६/२२१/२८ सम्यगवैपरीत्येन विद्यतेऽवगम्यते वस्तुस्वरूपमनयेति संवित्। =जिससे यथार्थ रीतिसे वस्तु जानी जाय उसे संवित् (ज्ञान) कहते है।

दे० ज्ञान/III/२/११ सम्यग्ज्ञान की ही ज्ञान संज्ञा है।

३. मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भूतार्थ ग्राहक कैसे हो सकता है

ध १/१/१,१,४/१४२/३ मिथ्यादृष्टीना कथ भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यङ्मिथ्यादृष्टीना प्रकाशस्य समानतोपलम्भात्। कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न (दे० ज्ञान/III/३/३)—विपर्यय. कथ भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, चन्द्रमस्युपलम्भ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्त्वस्तस्य भूतत्वोपपत्ते.। =प्रश्न=मिथ्यादृष्टियोका ज्ञान भूतार्थ प्रकाशक कैसे हो सकता है? उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के प्रकाशमें समानता पायी जाती है। प्रश्न—यदि दोनोके प्रकाशमें समानता पायी जाती है तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकता है? उत्तर—(दे० ज्ञान/III/३/३) प्रश्न—(मिथ्यादृष्टिका ज्ञान विपर्यय होता है) वह सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है? उत्तर—ऐसी शका ठीक नही है, क्योकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे पदार्थोमे सत्त्व पाया जाता है। इसलिए उस ज्ञानमें भूतार्थता बन जाती है।

४. अनेक प्रकारसे ज्ञानके भेद

१. ज्ञान मार्गणाकी अपेक्षा आठ भेद

प ख/१/१,१/सू ११५/३५३ णाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी विभंगणाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि। =ज्ञानमार्गणाके अनुवादसे मत्य-ज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिक ज्ञानी (मति ज्ञानी), श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी

जीव होते हैं। (मू.आ./२२८) (पं.का /मू./४१); (रा.वा /१/७/११/६०४/८) (द्र सं./टी./४२)।

२. प्रत्यक्ष परोक्षकी अपेक्षा भेद

ध. १/१,१,११५/पृ /८ तदपि ज्ञानं द्विविधम् प्रत्यक्ष परोक्षमिति। परोक्षं द्विविधम्, मतिः श्रुतमिति। (३५३/१२)। प्रत्यक्षं त्रिविधम्, अवधिज्ञानं, मन.पर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमिति। (३५८।१)।=वह ज्ञान दो प्रकारका है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्षके दो भेद है—मतिज्ञान व श्रुतज्ञान। प्रत्यक्षके तीन भेद है—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। (विशेष देखो प्रमाण/१ तथा प्रत्यक्ष व परोक्ष)।

३. निक्षेपोंकी अपेक्षा भेद

ध.६/४,१,४५/१८४/७ णामट्ठवणादव्वभावभेएण चउव्विहं णाणं।=नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे ज्ञान चार प्रकारका है—(विशेष दे० निक्षेप।

४. विभिन्न अपेक्षाओंसे भेद

रा.वा./१/६/५/३४/२६ चैतन्यशक्तेर्द्वावकारौ ज्ञानाकारो ज्ञेयाकारश्च।

रा.वा./१/७/१४/४१/२ सामान्यादेकं ज्ञानम् प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद्द्विधा, द्रव्यगुणपर्यायविषयभेदात्त्रिधा नामादिविकल्पाच्चतुर्धा, मत्यादिभेदात् पञ्चधा इत्येवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पं च भवति ज्ञेयाकारपरिणतिभेदात्। =चैतन्य शक्तिके दो आकार है—ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार। ··सामान्यरूपसे ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष व परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है, द्रव्य गुण पर्याय रूप विषयभेदसे तीन प्रकारका है। नामादि निक्षेपोंके भेदसे चार प्रकारका है। मति आदिकी अपेक्षा पाँच प्रकारका है। इस प्रकार ज्ञेयाकार परिणतिके भेदसे संख्यात असंख्यात व अनन्त विकल्प होते है।

द्र.सं /टी /४२/१८३/५ संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति।=संक्षेपसे हेय व उपादेय भेदोसे व्यवहार ज्ञान दो प्रकारका है।

२. ज्ञान निर्देश

१. ज्ञानकी सत्ता इन्द्रियोंसे निरपेक्ष है

क.पा/१/१,१/§३४/४९/४ करणजणिदत्तादो णेदं णाण केवलणाणमिदि चे; ण, करणवावारादो पुव्वं णाणाभावेण जीवाभावप्पसंगादो। अत्थि तत्थणाणसामण्णं ण णाणविसेसो तेण जीवाभावो ण होदि त्ति चे, ण; तब्भावलक्खणसामण्णादो पुधभूदणाणविसेसाणुवलंभादो। =प्रश्न—इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान आदिको केवलज्ञान (के अंश—दे० आगे ज्ञान /I/४/) नही कहा जा सकता? उत्तर—नहीं, क्योंकि यदि ज्ञान इन्द्रियोसे ही पैदा होता है, ऐसा मान लिया जाये, तो इन्द्रिय व्यापारके पहिले जीवके गुणस्वरूप ज्ञानका अभाव हो जानेसे गुणी जीवके भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। प्रश्न—इन्द्रिय व्यापारके पहिले जीवमें ज्ञानसामान्य रहता है, ज्ञानविशेष नही, अतः जीवका अभाव नहीं प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योकि, तद्भावलक्षण सामान्यसे अर्थात् ज्ञानसामान्यसे ज्ञानविशेष पृथग्भूत नहीं पाया जाता है।

क.पा/१/१-१/५४/३ जीवदव्वस्स इंदिएहितो उप्पत्ती मा होउ णाम, किंतु तत्तो णाणमुप्पज्जदि त्ति चे; ण, जीवदव्विन्त्तिणाणाभावेण जीवस्स वि उप्पत्तिप्पसगादो। होदु च, ण, अणेयंतप्पयस्य जीवदव्वस्स पत्तजच्चतरभावस्स णाणदंसणलक्खणस्स एअतवाइविसईकय-उप्पाय-वयधुत्ताणमभावादो।=प्रश्न—इन्द्रियोसे जीव द्रव्यकी उत्पत्ति मत होओ, किन्तु उनसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह अवश्य मान्य है? उत्तर—नहीं, क्योकि, जीवसे अतिरिक्त ज्ञान नही पाया जाता है, इसलिए इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति मान लेनेपर उनसे जीवकी भी उत्पत्तिका प्रसंग प्राप्त होता है। प्रश्न—यदि यह प्रसंग प्राप्त होता है तो होओ? उत्तर—नहीं; क्योंकि अनेकान्तात्मक जात्यन्तर भावको प्राप्त और ज्ञानदर्शन लक्षणवाले जीवमें एकान्तवादियोंद्वारा माने गये सर्वथा उत्पाद व्यय व ध्रुवत्वका अभाव है।

३. ज्ञानका स्वपर प्रकाशकपना

१. स्वपर प्रकाशकपनेकी अपेक्षा ज्ञानका लक्षण

प्र.सा/त प्र/१२४ स्वपरविभागेनावस्थिते विश्वं विकल्पस्तदाकारावभासनं। यस्तु मुकुरुन्दाभाग इव युगपदवभासमानस्वपराकारार्थविकल्पस्तद् ज्ञानं।=स्वपरके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व 'अर्थ' है। उसके आकारोका अवभासन 'विकल्प' है। और दर्पणके निजविस्तारकी भाँति जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते है, ऐसा अर्थ विकल्प 'ज्ञान' है। (पं ध/पू/५४१) (पं.ध/उ/३९१, ८३७)।

२. स्वपर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है

स सि/१/१०/९८/४ यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं मृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्।=जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है, और अपने स्वरूपके प्रकाश करनेमें भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नही ढूँढना पडता। उसी प्रकार प्रमाण भी है, यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। (रा.वा/१/१०/२/४९/२३)।

प.मु/१/१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं /१/।=स्व व अपूर्व (पहिलेसे जिसका निश्चय न हो ऐसे) पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है। (सि.वि/मू/१/३/१२)।

प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार—स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।=स्व-पर व्यवसायी ज्ञानको प्रमाण कहते है।

न.दी/१/§२८/२२ तस्मात्स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पकमगृहीतग्राहकं सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे निवर्तयत्प्रमाणमित्यार्हतं मतम्।=अत यही निष्कर्ष निकला कि अपने तथा परका प्रकाश करनेवाला सविकल्पक और अपूर्वार्थग्राही सम्यग्ज्ञान ही पदार्थोंके अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ है। इसलिए वही प्रमाण है। इस तरह जैन मत सिद्ध हुआ।

३. प्रमाण स्वयं प्रमेय भी है

रा.वा /१/१०/१३/५०/३२ ततः सिद्धमेतत्—प्रमेयम् नियमात् प्रमेयम्, प्रमाणं तु स्यात्प्रमाणं स्यात्प्रमेयम् इति।=निष्कर्ष यह है कि 'प्रमेय' नियमसे प्रमेय ही है, किन्तु 'प्रमाण' प्रमाण भी है और प्रमेय भी।

४. निश्चय व व्यवहार दोनों ज्ञान कथंचित् स्वपर प्रकाशक है

नि सा/ता वृ/१५९ अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तम्। पराश्रितो व्यवहारः इति वचनात्।·· ज्ञानस्य धर्मोऽयं तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोऽपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्वं परं च प्रकाशयति। आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रयं च परं ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयंप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति।··अथ निश्चयपक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरंजनस्वभावनिरतत्वात् स्वाश्रितो निश्चयः इति वचनात्। सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् संज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानलक्षणलक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति। अतः कारणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादिक

जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानाति। =यहाँ ज्ञानीको स्व-पर स्वरूपका प्रकाशकपना कथंचित् कहा है। 'पराश्रितो व्यवहार' ऐसा वचन होनेसे इस ज्ञानका धर्म तो, दीपककी भाँति स्वपर प्रकाशकपना है। घटादिकी प्रमितिसे प्रकाश व दीपक दोनो कथंचित् भिन्न होनेपर भी स्वय प्रकाशस्वरूप होनेसे स्व और परको प्रकाशित करता है, आत्मा भी ज्योति स्वरूप होनेसे व्यवहारसे त्रिलोक और त्रिकाल रूप परको तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्माको प्रकाशित करता है। अत्र 'स्वाश्रितो निश्चय' ऐसा वचन होनेसे सतत निरूपण निरंजन स्वभावमें लीनताके कारण निश्चय पक्षसे भी स्वपरप्रकाशकपना है ही। (वह इस प्रकार) सहजज्ञान आत्मासे सज्ञा लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षा भिन्न जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्तिसे भिन्न नही है। इस कारणसे यह आत्मगत दर्शन सुख चारित्रादि गुणोको जानता है और स्वात्माको अर्थात् कारण परमात्माके स्वरूपको भी जानता है। (पं ध/उ /३९७-३९९) (और भी दे० धर्मध्यान /६/७)

प.ध/पू/६६५-६६६ विधिपूर्वं प्रतिषेध प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयो.। मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ।६६५। अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञान किल लक्षणं स्वतस्तस्य। एकविकल्पो नयसादुभयविकल्प प्रमाणमिति बोध. ।६६६। =विधि पूर्वक प्रतिषेध और प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है, किन्तु इन दोनों नयोकी मैत्री प्रमाण है। अथवा स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है ।६६५। साराश यह है कि निश्चय करके अर्थके आकार रूप होना जो ज्ञान है वह प्रमाणका स्वयसिद्ध लक्षण है। तथा एक (स्व या परके) विकल्पात्मक ज्ञान नयाधीन है और उभयविकल्पात्मक प्रमाणाधीन है। दे० दर्शन /६—ज्ञान व दर्शन दोनो स्वपर प्रकाशक है।

५. ज्ञानके स्व प्रकाशकत्वमें हेतु

स.सि/१/१०/९८/६ प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणान्तरपरिकल्पनायां स्वाधिगमाभावात् स्मृत्यभाव। तदभावाद्व्यवहारलोप स्यात् ।=यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृतिका अभाव हो जाता है। और स्मृतिका अभाव हो जानेसे व्यवहारका लोप हो जाता है।

लघीयस्त्रय/५९ स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ. परिछेद्य स्वतो यथा। तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वत ।=अपने ही कारणसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थ जिस प्रकार स्वत ज्ञेय होते है, उसी प्रकार अपने कारणसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी स्वत ज्ञेयात्मक है। (न्या वि/१/३/६८/१५)।

प मु/१/६-७,१०-१२ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसाय ।६। अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।७। शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।१०। को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ।११। प्रदीपवत् ।१२। =जिस प्रकार पदार्थकी ओर झुकनेपर पदार्थका ज्ञान होता है, उसी प्रकार ज्ञान जिस समय अपनी ओर झुकता है तो उसे अपना भी प्रतिभास होता है। इसीको स्व व्यवसाय अर्थात् ज्ञानका जानना कहते है।६-७। जिस प्रकार घटपटादि शब्दोका उच्चारण न करनेपर भी घटपटादि पदार्थोका ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार 'ज्ञान' ऐसा शब्द न कहने पर भी ज्ञानका ज्ञान हो जाता है।१०। घटपटादि पदार्थोका और अपना प्रकाशक होनेसे जैसा दीपक स्वपरप्रकाशक समझा जाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी घट पट आदि पदार्थोका और अपना जाननेवाला है, इसलिए उसे भी स्वपर-स्वरूपका जाननेवाला समझना चाहिए। क्योकि ऐसा कौन लौकिक व परीक्षक है जो ज्ञानसे जाने पदार्थको तो प्रत्यक्षका विषय माने और स्वयं ज्ञानको प्रत्यक्षका विषय न माने ।११-१२।

६. ज्ञानके परप्रकाशकपनेकी सिद्धि

प मु /१/८-९ घटमहमात्मना वेद्मि ।८। कर्मवत्कर्तृ करणक्रियाप्रतीते ।९। =मै अपने द्वारा घटको जानता हूँ इस प्रतीतिमें कर्मकी तरह कर्ता, करण व क्रियाकी भी प्रतीति होती है। अर्थात् कर्मकारक जो 'घर' उसही की भाँति कर्ताकारक 'मै' व 'अपने द्वारा जानना' रूप करण व क्रिया की पृथक् प्रतीति हो रही है।

४. ज्ञानके पाँचो भेदों सम्बन्धी

१. ज्ञानके पाँचों भेद पर्याय हैं

ध. १/१,१,१/३७/१ पर्यायत्वात्केवलादीना =केवलज्ञानादि (पाँचोंज्ञान) पर्यायरूप है…

२. पाँचों भेद ज्ञानसामान्यके अंश है

ध. १/१,१,१/३७/१ पर्यायत्वात्केवलादीना न स्थितिरिति चेन्न, अत्रुटयज्ज्ञानसंतानापेक्षया तत्स्थैर्यस्य विरोधाभावात्। =प्रश्न—केवलज्ञानादि पर्यायरूप है, इसलिए आवृत अवस्थामें उसका (केवलज्ञानका) सद्भाव नहीं बन सक्ता है? उत्तर—यह शका भी ठीक नहीं है, क्योकि, कभी भी नही टूटनेवाली ज्ञानसन्तानकी (ज्ञान सामान्यकी) अपेक्षा केवलज्ञानके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नही आता है। (दे० ज्ञान/I/४/७)।

स. सा./ आ/२०४ यदेतत्तु ज्ञानं नामैक पद म एप परमार्थ साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिन्दन्ति किंतु तेपीदमेवैक पदमभिनन्दन्ति। =यह ज्ञान (सामान्य) नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पदका अभिनन्दन करते है। (ध १/१,१,१/३७/५)।

ज्ञानबिन्दु / पृ १ केवलज्ञानावरण पूर्णज्ञानको आवृत करनेके अतिरिक्त मन्दज्ञानको उत्पन्न करनेमें भी कारण है।

३. ज्ञान सामान्यके अंश होने सम्बन्धी शंका

ध ६/१,९-१,५/७/१ ण सव्वावयवेहि णाणस्सुवलभो होदु त्ति वोत्तु जुत्तं, आवरिदणाणभागाणमुवलंभविरोहा। आवरिदणाणभागा सावरणे जीवे किमत्थि आहो णत्थि त्ति। दव्वट्ठियणए अवलंबिज्जमाणे आवरिदणाणभाग सावरणे वि जीवे अत्थि जीवदव्वादो पुधभूदणाणाभावा, विज्जमाणणाणभागादो आवरिदणाणभागाणमभेदादो वा। आवरिदाणावरिदाणं कधमेगत्तमिदि चे ण, राहु-मेहेहि आवरिदाणावरिदसुज्जिदुमडलभागाणमेगत्तुवलभा। =प्रश्न—यदि सर्व जीवोंके ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध है, तो फिर सर्व अवयवोंके साथ ज्ञान उपलम्भ होना चाहिए? उत्तर—यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि, आवरण किये गये ज्ञानके भागोका उपलम्भ माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—आवरणयुक्त जीवमें आवरण किये गये ज्ञानके भाग है अथवा नहीं है (सत् है या असत् है)? उत्तर—द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बन करनेपर आवरण किये गये ज्ञानके अंश सावरण जीवमें भी होते हैं, क्योंकि, जीवसे पृथग्भूत ज्ञानका अभाव है। अथवा विद्यमान ज्ञानके अशमे आवरण किये गये ज्ञानके अंशोंका कोई भेद नहीं है। प्रश्न—ज्ञानके आवरण किये गये और आवरण नहीं किये गये अशोके एकता कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, राहु और मेघोंके द्वारा सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डलके आवरित और अनावरित भागोंके एकता पायी जाती है। (रा वा/८/६/४ ५/५७१/८)।

४. मतिज्ञानादि भेद केवलज्ञानके अंश हैं

क पा /१/१,१/§३१/४४/६ ण च केवलणाणमसिद्धं; केवलणाणस्स ससंवेयणपच्चक्खेण णिव्वाहेणुवलभादो। =यदि कहा जाय कि केवल-

ज्ञान प्रसिद्ध है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि, स्वसंवेद्य प्रत्यक्षके द्वारा केवलज्ञानके अंशरूप ज्ञानकी (मति आदि ज्ञानोंकी) निर्बाध रूपसे उपलब्धि होती है।

क. पा १/१,१/३७/५६/७ केवलणाणसेसावयवाणमत्थित्तं गम्मदे। तदो आवरिदावयवो सव्वज्जओ पच्चक्खाणुमाणविसओ होदूण सिद्धो। =केवलज्ञानके प्रगट अंशों (मतिज्ञानादि) के अतिरिक्त शेष अवयवोंका अस्तित्व जाना जाता है। अत सर्वपर्यायरूप केवलज्ञान अवयवी जिसके कि प्रगट अंशोंके अतिरिक्त शेष अवयव आवृत हैं, प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा सिद्ध है। अर्थात् उसके प्रगट अंश (मतिज्ञानादि) स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा सिद्ध है और आवृत अंश अनुमान प्रमाणके द्वारा सिद्ध है।

नन्दि सूत्र/४४ केवलज्ञानावृत केवल या सामान्य ज्ञानकी भेद-किरणें भी मत्यावरण, श्रुतावरण आदि आवरणोंसे चार भागोंमे विभाजित हो जाती है, जैसे मेघ आच्छादित सूर्यकी किरणें चटाई आदि आवरणोंमे छोटे बडे रूप हो जाती हैं। (ज्ञान विन्दु/पृ. १)।

५. मतिज्ञानादिका केवलज्ञानके अंश होनेकी विधि साधक शंका समाधान

दे ज्ञान/2/१ प्रश्न—इन्द्रिय ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान आदिको केवलज्ञानके अंश नहीं कह सकते? उत्तर—(ज्ञान सामान्यका अस्तित्व इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं करता।)

ध. १/१,१,१/३८/४ रजोजुषा ज्ञानदर्शने न मंगलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवाविति चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्तयोस्तयोरसत्त्वात्। मत्यादयोऽपि सन्तीति चेन्न तदवस्थाना मत्यादिव्यपदेशात्। तयो केवलज्ञानदर्शनांकुरयोर्मंगलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मंगल तत्रापि तौ स्त इति चेद्भवतु तद्रूपतया मंगल, न मिथ्यात्वादीना मंगलम्। कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मंगलत्वमिति चेन्न • पापक्षयकारित्वतस्तयोरुपपत्ते। =प्रश्न—आवरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयव ही नहीं हो सकते है? उत्तर ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता। प्रश्न—उनसे अतिरिक्त भी मतिज्ञानादि तो पाये जाते है। इनका अभाव कैसे किया जा सकता है? उत्तर—उन (केवल) ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि नाना संज्ञाएँ है। प्रश्न—केवलज्ञानके अंकुररूप छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलरूप मान लेनेपर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमे भी वे अंकुर विद्यमान हैं? उत्तर—यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किन्तु इतनेसे ही (उसके) मिथ्यात्व अविरति आदिको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता है। प्रश्न—फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है? उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानदर्शनकी भाँति मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमे पापका क्षयकारीपना पाया जाता है।

ध १३/५,५,२१/२१३/६ जीवो किं पंचणाणसहावो आहो केवलणाणसहावो त्ति। [illegible] केवलणाणसहावो चेव। ण च सेसावरणाणमावरणिज्जाभावेण अभावो, केवलणाणावरणीएण आवरिदस्स वि केवलणाणस्स [illegible] सव्वघादि आवरणेण आवरिदे वि चदुण्णं णाणाणं [illegible] तं मदिणाणावरणीयं सुदणाणावरणीयं ओहिणाणावरणीयं मणपज्जवणाणावरणीयं च भण्णदे। [illegible] केवलणाणावरणीयं [illegible] चिं सिद्धं। केवल [illegible] सव्वघादी आहो देसघादी। ण ताव केवलणाणावरणीयं देसघादी, किंतु सव्वघादी चेव; णिस्सेसावरिदकेवलणाणत्तादो। ण च जीवाभावो, केवलणाणे आवरिदे वि चदुण्णं णाणाणं सत्तुवलंभादो। जीवम्मि एक्कं केवलणाण, तं च णिस्सेसमावरिदं। कत्तो पुण चदुण्णं णाणाणं सभवो। ण, छारण्णच्छग्गीदो बप्फुप्पत्तीए इव सव्वघादिणा आवरणेण आवरिदकेवलणाणादो चदुण्णं णाणाणमुप्पत्तीए विरोहाभावादो। =प्रश्न—जीव क्या पाँच ज्ञान स्वभाववाला है या केवलज्ञान स्वभाववाला है? उत्तर—जीव केवलज्ञान स्वभाववाला ही है। फिर भी ऐसा माननेपर आवरणीय शेष ज्ञानोंका (स्वभाव रूपसे) अभाव होनेसे उनके आवरण कर्मोंका अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञानावरणीयके द्वारा आवृत हुए भी केवलज्ञानके (विषयभूत) रूपी द्रव्योंको प्रत्यक्ष ग्रहण करनेमें समर्थ कुछ (मतिज्ञानादि) अवयवोंकी सम्भावना देखी जाती है। इन चार ज्ञानोंके जो जो आवरक कर्म है वे मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय और मन पर्ययज्ञानावरणीय कर्म कहे जाते है। इसलिए केवलज्ञानस्वभाव जीवके रहनेपर भी ज्ञानावरणीयके पाँच भेद है, यह सिद्ध होता है। प्रश्न—केवलज्ञानावरणीय कर्म क्या सर्वघाती है या देशघाती? उत्तर—केवल ज्ञानावरणीय देशघाती तो नहीं है, किन्तु सर्वघाती ही है, क्योंकि वह केवलज्ञानका नि शेष आवरण करता है। फिर भी जीवका अभाव नही होता, क्योकि केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी चार ज्ञानोका अस्तित्व उपलब्ध होता है। प्रश्न—जीवमें एक केवलज्ञान है। उसे जब पूर्णतया आवृत कहते हो, तब फिर चार ज्ञानोंका सद्भाव कैसे सम्भव हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योकि जिस प्रकार राखसे ढकी हुई अग्निसे वाष्पकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सर्वघाती आवरणके द्वारा केवलज्ञानके आवृत होनेपर भी उससे चार ज्ञानोकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नही आता है।

६ मत्यादि ज्ञान केवलज्ञानके अंश नहीं हैं

ध.७/२,१,४७/९०/३ ण च छारेणोट्ठद्धग्गिविणिग्गयबप्फाए अग्गिववएसो अग्गिबुद्धी वा अग्गिववहारो वा अत्थि अणुवलंभादो। तदो णेदाणि णाणाणि केवलणाणं। =भस्मसे ढकी हुई अग्नि (देखो ऊपरवाली शका) से निकले हुए वाष्पको अग्नि नाम नहीं दिया जा सकता, न उसमें अग्निकी बुद्धि उत्पन्न होती है, और न अग्निका व्यवहार ही, क्योकि वैसा पाया नहीं जाता। अतएव ये सब मति आदि ज्ञान केवलज्ञान नही हो सकते।

७. मत्यादि ज्ञानोंका केवलज्ञानके अंश होने व न होनेका समन्वय।

ध १३/५,५,२१/२१५/४ एदाणि चत्तारि वि णाणाणि केवलणाणस्स अवयवा ण होंति, विगलाणं परोक्खाणं सक्खयाण सवड्ढीणं सगलपच्चक्खक्खयवड्ढिहाणिविवज्जिदकेवलणाणस्स अवयवत्तविरोहादो। पुव्वं केवलणाणस्स चत्तारि वि णाणाणि अवयवा इदि उत्तं, तं कधं घडदे। ण, णाणसामण्णमवेक्खिय तदवयवत्त पडि विरोहाभावादो। =प्रश्न—ये चारो ही ज्ञान केवलज्ञानके अवयव नहीं, क्योंकि ये विकल है, परोक्ष है, क्षय सहित है और वृद्धिहानि युक्त है। अतएव इन्हे सकल, प्रत्यक्ष तथा क्षय और वृद्धिहानिसे रहित केवल ज्ञानके अवयव माननेमे विरोध आता है। इसलिए जो पहिले केवलज्ञानके चारों ही ज्ञान अवयव कहे है, वह कहना कैसे बन सकता है? उत्तर—नही, क्योंकि, ज्ञानसामान्यको देखते हुए चार ज्ञानको उसके अवयव माननेमें कोई विरोध नहीं आता। —दे० ज्ञान/I/२/१।

८. सामान्य ज्ञान केवलज्ञानके बराबर है

प्र सा /त प्र./४८ समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकार चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मान परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः। =(समस्त ज्ञाकार-

पर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन वत्) समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञाता (केवलज्ञानी) समस्त ज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका (स्वरूप) है, ऐसे निजरूपसे जो चेतनाके कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष है, उसरूप परिणमित होता है। इस प्रकार वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है।

प ध /पू./१९०-१९२ न घटाकारेऽपि चित शेषाशाना निरन्वयो नाश.। लोकाकारेऽपि चितो नियताशाना न चासदुत्पत्ति'।=ज्ञानको घटके आकारके बराबर होनेपर भी उसके घटाकारसे अतिरिक्त शेष अंशोका जिस प्रकार नाश नही हो जाता। इसी प्रकार ज्ञानके नियत अंशोको लोकके बराबर होनेपर भी असत्की उत्पत्ति नही होती ।१९१। किन्तु घटाकार वही ज्ञान लोकाकाशके बराबर होकर केवलज्ञान नाम पाता है ।१९०।

९. पाँचों ज्ञानोंको जाननेका प्रयोजन

नि.सा /ता वृ /१२ उक्तेषु ज्ञानेपु साक्षान्मोक्षमूलमेक निजपरमतत्त्वनिष्ठ-सहजज्ञानमेव। अपि च पारिणामिकभावस्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेय न समस्ति।=उक्त ज्ञानोंमें साक्षात मोक्षका मूल निजपरमतत्त्वमें स्थित ऐसा एक सहज ज्ञान ही है। तथा सहजज्ञान पारिणामिकभावरूप स्वभावके कारण भव्यका परमस्वभाव होनेसे, सहजज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ उपादेय नही है।

१०. पाँचों ज्ञानोंका स्वामित्व

(प खं.१/१०१/सू ११६-१२२/३६१-३६७)

सूत्र	ज्ञान	जीव समास	गुणस्थान
११६	कुमति व कुश्रुति	सर्व १४ जीवसमास	१-२
११७-११८	विभगावधि	सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त	१-२
१२०	मति, श्रुति, अवधि	सज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य तिर्यंच पर्याप्त अपर्याप्त	४-१२
१२१	मन पर्यय	सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मनु	६-१२
१२२	केवलज्ञान	सज्ञी पर्याप्त, अयोगीकी अपेक्षा	१३,१४, सिद्ध
११९	मति, श्रुत, अवधि ज्ञान अज्ञान मिश्रित	संज्ञी पर्याप्त	३

(विशेष-दे० सत्)।

११. एक जीवमें युगपत् सम्भव ज्ञान

त सू /१/३० एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्य. ।३०।

रा.वा /१/३०/४,६/९०-९१ एते हि मतिश्रुते सर्वकालभव्यभिचारिणी नारदपर्वतवत्। (४/९०/२६)। एकस्मिन्नात्मन्येक केवलज्ञानं क्षायिकत्वात् ।(१०/९१/२४)। एकस्मिन्नात्मनि द्वे मतिश्रुते। क्वचित् त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि, मतिश्रुतमन पर्ययज्ञानानि वा. क्वचिच्चत्वारि मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञानानि। न पञ्चैकस्मिन् युगपद् संभवन्ति ।(६/९१/१७)। =१. एकको आदि लेकर युगपत् एक आत्मामें चार तक ज्ञान होने सम्भव है। २. वह ऐसे—मति और श्रुत तो नारद और पर्वतकी भाँति सदा एक साथ रहते हैं। एक आत्मामे एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है क्योकि वह क्षायिक है, दो हो तो मति, श्रुत, तीन हो तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मन पर्यय, चार हो तो मति, श्रुत, अवधि, और मन पर्यय। एक आत्मामे पाँचो ज्ञान युगपत कदापि सम्भव नही है।

II भेद व अभेद ज्ञान

१. भेद व अभेद ज्ञान

१. भेद ज्ञानका लक्षण

स. सा /मू /१८१-१८३ उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो। कोहो कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ।१८१। अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो। उवओगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ।१८२। एयं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स। तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ।१८३।

स.सा /आ /१८१—१८३ ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्ध भेदविज्ञानम्। =उपयोग उपयोगमें है क्रोधादि (भावकर्मों) में कोई भी उपयोग नही है। और क्रोध (भाव कर्म) क्रोधमें ही है, उपयोगमें निश्चयसे क्रोध नही है ।१८१। आठ प्रकारके (द्रव्य) कर्मोंमें और नोकर्ममें उपयोग नही है और उपयोगमें कर्म तथा नोकर्म नहीं है ।१८२। ऐसा अविपरीत ज्ञान जब जीवके होता है तब वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावको नही करता ।१८३। इसलिए उपयोग उपयोगमें ही है और क्रोध क्रोधमें ही है, इस प्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया।

चा पा /मू./३८ जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी। रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति ।३८। =जो पुरुष जीव और अजीव (द्रव्य कर्म, भावकर्म व नोकर्म) इनका भेद जानता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है। रागादि दोषोसे रहित वह भेद ज्ञान हो जिनशासनमें मोक्षमार्ग है। (मो.पा /मू /४१)।

प्र सा /ता वृ /५/६/१६ रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थसुखस्वभाव परमात्मेति भेदविज्ञानं। =रागादि भिन्न यह स्वात्मोत्थ सुखस्वभावी आत्मा है, ऐसा भेद विज्ञान होता है।

स्व स्तो/टी /२२/५५जीवादितत्त्वे सुखादिभेदप्रतीतिर्भेदज्ञानं।=जीवादि सातो तत्त्वोमें सुखादिकी अर्थात स्वतत्त्वकी स्वसवेदनगम्य पृथक् प्रतीति होना भेदज्ञान है।

२. अभेद ज्ञानका लक्षण

सा स्तो /टी /२२/५५ सुखादौ, बालकुमारादौ च स एवाहमित्यात्मद्रव्यस्याभेदप्रतीतिरभेदज्ञानं। =इन्द्रिय सुख आदिमें अथवा बाल कुमार आदि अवस्थाओमे, 'यह ही मैं हूँ' ऐसी आत्मद्रव्यकी अभेद प्रतीति होना अभेद ज्ञान है।

३. भेद ज्ञानका तात्पर्य षट्कारकी निषेध

प्र सा /मू /१६० णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं। कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीण ।१६०।=मैं न देह हूँ, न मन हूँ, और न वाणी हूँ। उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, करानेवाला नहीं हूँ और कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ। (स.श /मू /५४)।

स /सा/आ /२००/क २०० नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्ध परद्रव्यात्मतत्त्वयो। कर्तृ कर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुत ।२००।

स सा/आ/३२९/क२०१ एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्ध। तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेद पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ।२०१।=पर द्रव्य और आत्मतत्त्वका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है। और उसका अभाव होनेसे आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कहाँसे हो सकता है ।२००। क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसलिए जहाँ वस्तुभेद है अर्थात भिन्न वस्तुएँ है वहाँ कर्ताकर्मपना

घटित नहीं होता। इस प्रकार मुनि जन और लौकिक जन तत्त्वको अकर्ता देखो।२०१।

४. स्वभावभेदसे ही भेद ज्ञानकी सिद्धि है

स्या.म/१६/२००/१३ स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्तेः।= वस्तुओमे स्वभावभेद माने बिना उन वस्तुओमे व्यावृत्ति नही बन सकती।

५. संज्ञा लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा अभेदमें भी भेद

पं का/ता वृ/५०/९९/७ गुणगुणिनोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावादपृथग्भूतत्वं भण्यते।=गुण और गुणीमे संज्ञा लक्षण प्रयोजनादिसे भेद होनेपर भी प्रदेशभेदका अभाव होनेसे उनमे अपृथक्भूतपना कहा जाता है।

प.का/ता वृ/१५४/२२४/११ सहशुद्धसामान्यविशेषचैतन्यात्मकजीवास्तित्वात्सकाशात्सज्ञालक्षणप्रयोजनभेदेऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावैरभेदादिति"। =सहज शुद्ध सामान्य तथा विशेष चैतन्यात्मक जीवके दो अस्तित्वोमें (सामान्य तथा विशेष अस्तित्वमें) संज्ञा लक्षण व प्रयोजनसे भेद होनेपर भी द्रव्य क्षेत्र काल व भावसे उनमें अभेद है। (प्र सा/त.प्र/९७)

III सम्यक् मिथ्या ज्ञान

१. भेद व लक्षण

१. सम्यक् व मिथ्याकी अपेक्षा ज्ञानके भेद

त.सू/१/९,३१ मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।९। मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।३१।=मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान है।९। मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय अर्थात् मिथ्या भी होते है।३१। (पं का/मू/४१/)। (द्र सं/मू/५)।

गो जी/मू/३००-३०१/६५० पंचेव होंति णाणा मदिसुदओहिमणं च केवलय। खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं।३००। अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतिय खु मिच्छअणउदये। ।३०१।=मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये सम्यग्ज्ञान पाँच ही है। जे सम्यग्दृष्टिकैं मति श्रुत अवधि ए तीन सम्यग्ज्ञान है तेई तीनो मिथ्यात्व वा अनन्तानुबन्धी कोई कषायके उदय होतै तत्त्वार्थका अश्रद्धानरूप परिणया जीव कैं तीनो मिथ्याज्ञान हो है। उनके कुमति, कुश्रुत और विभंग ये नाम हो है।

२. सम्यग्ज्ञानका लक्षण

१ तत्त्वार्थके यथार्थ अधिगमकी अपेक्षा

पं का/मू/१०७ तेसिमधिगमो णाण। ।१०७। उन नो पदार्थोका या सात तत्त्वोका अधिगम सम्यग्ज्ञान है। (मो.पा./मू/३८)।

स सि./१/१/५/६ येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगम सम्यग्ज्ञानम्।=जिस जिस प्रकारसे जीवादि पदार्थ अवस्थित है उस उस प्रकारसे उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। (रा.वा/१/१/२/४/६)। (प प्र/मू/२/२९) (ध.१/१,१,१२०/३६४/५)।

रा वा/१/१/२/४/३ नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगम सम्यग्ज्ञानम्।=नय व प्रमाणके विकल्प पूर्वक जीवादि पदार्थोका यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। (न च वृ/३२६)।

स सा/आ/१५५ जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन ज्ञानम्। जीवादि पदार्थोके ज्ञानस्वभावरूप ज्ञानका परिणमन कर सम्यग्ज्ञान है।

२. सशयादि रहित ज्ञानकी अपेक्षा

र क श्रा/४२ अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्। नि सदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन।४२।=जो ज्ञान वस्तुके स्वरूपको न्यूनतारहित तथा अधिकतारहित, विपरीततारहित. जैसाका तैसा. सन्देह रहित जानता है, उसको आगमके ज्ञाता पुरुष सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

स सि./१/१/५/७ विमोहसंशयविपर्ययनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम्।=ज्ञानके पहिले सम्यग्विशेषण विमोह (अनध्यवसाय) संशय और विपर्यय ज्ञानोंका निराकरण करनेके लिए दिया गया है। (रा वा/१/१/२/४/७)। (न.दी./१/§८/९)।

द्र.सं./मू/४२ संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स। गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु।४२।=आत्मस्वरूप और अन्य पदार्थके स्वरूपका जा संशय विमोह और विभ्रम (विपर्यय) रूप कुज्ञानसे रहित जानना है वह सम्यग्ज्ञान है। (स सा/ता.वृ./१५५)।

३. भेद ज्ञानकी अपेक्षा

मो.पा./मू/४१ जीवाजीवविहत्ती जोइ जाणेइ जिणवरमएण। तं सण्णाण भणियं अवियत्थं सव्वदरिसीहिं।४१। जो योगी मुनि जीव अजीव पदार्थका भेद जिनवरके मतकरि जाणै है सो सम्यग्ज्ञान सर्वदर्शी कह्या है सो ही सत्यार्थ है। अन्य छद्मस्थका कह्या सत्यार्थ नाहीं। (चा.पा./मू/३८)।

सि वि./वृ/१०/१९/६८४/२३ सदसद्व्यवहारनिबन्धनं सम्यग्ज्ञानम्।= सत् और असत् पदार्थोंमे व्यवहार करनेवाला सम्यग्ज्ञान है।

नि.सा/ता.वृ/५१ तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्।=जिन प्रणीत हेयोपादेय तत्त्वोंका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

द्र स./टी/४२/१८३/३ सप्ततत्त्वनवपदार्थेषु 'मध्य' निश्चयनयेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यं·· उपादेय। शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति।=सात तत्त्व और नौ पदार्थोंमें निश्चयनयसे अपना शुद्धात्मद्रव्य ही उपादेय है। इसके सिवाय शुद्ध या अशुद्ध परजीव अजीव आदि सभी हेय है। इस प्रकार संक्षेपसे हेय तथा उपादेय भेदोसे व्यवहार ज्ञान दो प्रकारका है।

सं.सा./ता वृ/१५५ तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञान।=उन नवपदार्थोंका ही सम्यक् परिच्छित्ति रूप शुद्धात्मासे भिन्नरूपमें निश्चय करना सम्यग्ज्ञान है। और भी देखो ज्ञान/II/१–(भेद ज्ञानका लक्षण)

४. स्वसंवेदकी अपेक्षा निश्चय लक्षण

त.सा./१/१८ सम्यग्ज्ञानं पुन स्वार्थव्यवसायात्मकं विदु। ··।१८। =ज्ञानमें अर्थ (विषय) प्रतिबोधके साथ-साथ यदि अपना स्वरूप भी प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उसको सम्यग्ज्ञान कहना चाहिए।

प्र सा/त प्र/५ सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसपादकमाश्रम···।=सहज शुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाववाले आत्मतत्त्वका श्रद्धान और ज्ञान जिसका लक्षण है, ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सम्पादक है

नि सा/ता वृ/३ ज्ञानं तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलम्बनत्वेन नि.शेषतान्तर्मुखयोगशक्ते सकाशात् निजपरमतत्त्वपरिज्ञानम् उपादेयं भवति।=परद्रव्यका अवलम्बन लिये बिना नि शेष रूपसे अन्तर्मुख योगशक्तिमें-से उपादेय (उपयोगको सम्पूर्णरूपसे अन्तर्मुख करके ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निज परमात्मतत्त्वका परिज्ञान सो ज्ञान है।

स सा/ता वृ/३८ तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसवेदनं सम्यग्ज्ञानं।=उस शुद्धात्ममें ही स्वसंवेदन करना सम्यग्ज्ञान है। (प्र सा/ता वृ/२४०/३३३/१६)।

द्र.सं/टी./४२/१८४/४ निर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते। =निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान ही निश्चयज्ञान है।

द्र.सं./टी./५२/२१८/११ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्य पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं ।= उस शुद्धात्माको उपाधिरहित स्वसंवेदनरूप भेदज्ञानद्वारा मिथ्या-रागादि परभावोंसे भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है।

द्र.सं./टी./४०/१६३/११ तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्य पृथक् परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानम् ।=उसी (अतीन्द्रिय) सुखका रागादि समस्त विभावोंसे स्वसंवेदन ज्ञानद्वारा भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। दे० अनुभव/१/५ (स्वसंवेदनका लक्षण)।

३. मिथ्याज्ञान सामान्यका लक्षण

स. सि /१/३१/१३७/३ विपर्ययो मिथ्येत्यर्थ । 'कुत' पुनरेषां विपर्यय'। मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् सरजस्ककटुकालाबुगतदुग्धवत् । = ('मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च') इस सूत्रमें आये हुए विपर्यय शब्दका अर्थ मिथ्या है। मति श्रुत व अवधि ये तीनो ज्ञान मिथ्या भी है और सम्यक् भी। प्रश्न—ये विपर्यय क्यो है? उत्तर—क्योंकि मिथ्यादर्शनके साथ एक आत्मामें इनका समवाय पाया जाता है। जिस प्रकार रज सहित कडवी तूंबडीमें रखा दूध कडवा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके निमित्तसे ये मिथ्या हो जाते है। (रा. वा /१/३१/१/९१/३०)।

श्लो. वा. ४/१/३१/८/११५ स च सामान्यतो मिथ्याज्ञानमत्रोपवर्ण्यते। सशयादिविकल्पाना त्रयाणा संगृहीयते।८।=सूत्रमें विपर्यय शब्द सामान्य रूपमे सभी मिथ्याज्ञानो-स्वरूप होता हुआ मिथ्याज्ञानके सशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन भेदोंके सग्रह करनेके लिए दिया गया है।

ध १२/४,२,८,१०/२८६/५ बौद्ध-नैयायिक-सांख्य-मीमासक-चार्वाक-वैशेपिकादिदर्शनरुच्यनुविद्धं ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्।=बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, चार्वाक और वैशेपिक आदि दर्शनोकी रुचिसे सम्बद्ध ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

न. च वृ /२३८ ण मुणइ वत्थुसहावं अहविवरीय णिखेक्खदो मुणइ। तं इह मिच्छणाणं विवरीयं सम्मरूव खु ।२३८। =जो वस्तुके स्वभावको नहीं पहचानता है अथवा उलटा पहिचानता है या निरपेक्ष पहिचानता है वह मिथ्याज्ञान है। इससे विपरीत सम्यग्ज्ञान होता है।

नि. सा/ ता. वृ/९१ तत्रैवावस्तुनि वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञानं । 'अथवा स्वात्मपरिज्ञानविमुखत्वमेव मिथ्याज्ञान ।=उसी (अर्हन्तमार्गमे प्रतिकूल मार्गमें) कही हुई अवस्तुमें वस्तुबुद्धि वह मिथ्याज्ञान है, अथवा निजात्माके परिज्ञानसे विमुखता वही मिथ्याज्ञान है।

द्र. सं/टी/५/१४/१० अष्टविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयवशाद्विपरीताभिनिवेशरूपाण्यज्ञानानि भवन्ति।=उन आठ प्रकारके ज्ञानोमें मति, श्रुत, तथा अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्वके उदयसे विपरीत अभिनिवेशरूप अज्ञान होते हैं।

२. सम्यक् व मिथ्याज्ञान निर्देश

१. सम्यग्ज्ञानके आठ अंगोंका नाम निर्देश

मू. आ./२६९ काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे। वंजण अत्थ तदुभय णाणाचारो दु अट्ठविहो।२६०।=स्वाध्यायका काल, मनवचनकायसे शास्त्रका विनय, यत्न करना, पूजासत्कारादिसे पाठादिक करना, तथा गुरु या शास्त्रका नाम न छिपाना, वर्ण पद वाक्यको शुद्ध पढना, अनेकान्त स्वरूप अर्थको ठीक ठीक समझना, तथा अर्थको ठीक ठीक समझते हुए पाठादिक शुद्ध पढना इस प्रकार (क्रमसे काल, विनय, उपधान, बहुमान, तथा निह्नव, व्यञ्जन शुद्धि, अर्थ शुद्धि, तदुभय शुद्धि, इन आठ अंगोंका विचार रखकर स्वाध्याय करना ये) ज्ञानाचारके आठ भेद है। (और भी दे० विनय /१/६) (पु.सि.उ./३६)।

२. सम्यग्ज्ञानकी भावनाएँ

म.पु /२१/९६ वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम्। सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या' ज्ञानभावना ।९६। =जैन शास्त्रोंका स्वयं पढना, दूसरोंसे पूछना, पदार्थके स्वरूपका चिन्तवन करना, श्लोक आदि कण्ठ करना तथा समीचीन धर्मका उपदेश देना ये पाँच ज्ञानकी भावनाएँ जाननी चाहिए।

नोट—(इन्हींको त सू./९/२५ मे स्वाध्यायके भेद कहकर गिनाया है।)

३. पाँचों ज्ञानोंमें सम्यग्मिथ्यापनेका नियम

त.सू./१/९,३१ मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।९। मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।३१।=मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय व केवल ये पाँच ज्ञान है।९। इनमें से मति श्रुत और अवधि ये तीन मिथ्या भी होते है और सम्यक् भी (शेष दो सम्यक् ही होते हैं)।३१।

श्लो.वा /४/१/३१/श्लो ३–१०/११४ मत्यादय समाख्यातास्त एवेत्यवधारणात्। सगृह्यते कदाचिन्न मन पर्ययकेवले ।३। नियमेन तयो सम्यग्भावनिर्णयत सदा। मिथ्यात्वकारणाभावाद्विशुद्धात्मनि सम्भवात् ।४। मतिश्रुतावधिज्ञानत्रिक तु स्यात्कदाचन। मिथ्येति ते च निर्दिष्टा विपर्यय इहाङ्गिनाम् ।७। समुच्चिनोति चस्तेषा सम्यक्त्व व्यवहारिकम्। मुख्य च तदनुक्तौ तु तेषा मिथ्यात्वमेव हि ।९। ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते। चशब्दमन्तरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्वत ।१०।=मति आदि तीन ज्ञान ही मिथ्या रूप होते है' मन पर्यय व केवलज्ञान नही, ऐसी सूचना देनेके लिए ही सूत्रमें अवधारणार्थ 'च' शब्दका प्रयोग किया है।३। वे दोनो ज्ञान नियमसे सम्यक् ही होते है, क्योकि मिथ्यात्वके कारणभूत मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे विशुद्धात्मामें ही सम्भव है।४। मति, श्रुत व अवधि ये तीन ज्ञान तो कभी कभी मिथ्या हो जाते है। इसी कारण सूत्रमें उन्हे विपर्यय भी कहा है।७। 'च' शब्दसे ऐसा भी सग्रह हो जाता है कि यद्यपि मिथ्यादृष्टिके भी मति आदि ज्ञान व्यवहारमे समीचीन कहे जाते है, परन्तु मुख्यरूपमे तो वे मिथ्या ही है।९। यदि सूत्रमें च शब्दका ग्रहण न किया जाता तो वे तीनों भी सदा सम्यक्रूप समझे जा सकते थे। विपर्यय और च इन दोनो शब्दोंसे उनके मिथ्यापनेकी भी सूचना मिलती है।१०।

४. सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है

र.सा /४७ सम्मविणा सण्णाणं सच्चारित्त ण होइ णियमेण।=सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र नियमसे नही होते है।

स.सि /१/१/७/३ कथमभ्यर्हितत्व। ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात्। =प्रश्न—सम्यग्दर्शन पूज्य क्यो है? उत्तर—क्योंकि सम्यग्दर्शनसे ज्ञानमें समीचीनता आती है। (प.ध./उ /७६७)।

पु.सि.उ./२१,३२ तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन। तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्र च।२१। पृथगाराधनमिष्ट दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य। लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सभवत्यनयो ।३२।=इन तीनो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें पहिले समस्त प्रकारके उपायोसे सम्यग्दर्शन भलेप्रकार अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि इसके अस्तित्वमें ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र होता है।२१। यद्यपि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान ये दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि इनमें लक्षण भेदसे पृथक्ता सम्भव है।३२।

अन ध./३/१५/२६४ आराध्यं दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वत' । सह-भावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत् ।१५। =सम्यग्दर्शनकी आराधना करके ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान सम्यग्दर्शनका फल है। जिस प्रकार प्रदीप और प्रकाश साथ ही उत्पन्न होते है, फिर भी प्रकाश प्रदीपका कार्य है, उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान साथ साथ होते हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञान कार्य है और सम्यग्दर्शन उसका कारण।

५. सम्यग्दर्शन भी कथंचित् ज्ञानपूर्वक होता है

स सा./मू./१७-१८ जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि। तो त अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ।१७। एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहदव्वो। अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्ख-कामेण ।१८। =जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष राजाको जानकर (उसकी) श्रद्धा करता है और फिर प्रयत्नपूर्वक उसका अनुचरण करता है अर्थात उसकी सेवा करता है, उसी प्रकार मोक्षके इच्छुकको जीव रूपी राजाको जानना चाहिए, और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए। और तत्पश्चात उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभवके द्वारा उसमे तन्मय होना चाहिए।

न च.वृ /२८८ सामण्ण अह विसेसं दव्वे णाणं हवेइ अविरोहो। साहइ तं सम्मत्तं णहु पुण तं तस्स विवरीयं ।२८८। =सामान्य तथा विशेष द्रव्य सम्बन्धी अविरुद्धज्ञान ही सम्यक्त्वकी सिद्धि करता है। उससे विपरीत ज्ञान नही।

६. सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानकी व्याप्ति है पर ज्ञानके साथ सम्यक्त्वकी नहीं।

भ आ /मू /४/२२ दंसणमाराहतेण णाणमाराहिद भवे णियमा।· । णाणं आराहतस्स दंसणं होइ भयणिज्ज ।४। =सम्यग्दर्शनको आराधना करनेवाले नियमसे ज्ञानाराधना करते हैं, परन्तु ज्ञानाराधना करने-वालेको दर्शनको आराधना हो भी अथवा न भी हो।

७. सम्यक्त्व हो जाने पर पूर्वका ही मिथ्याज्ञान सम्यक् हो जाता है

स सि /१/१/६/७ ज्ञानग्रहणमादौ न्याय्यं, दर्शनस्य तत्पूर्वकत्वात् अल्पाक्ष-रत्वाच्च। नैतद्युक्तं, युगपदुत्पत्ते। यदा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्याये-णाविर्भवति तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति घनपटलविगमे सवितु. प्रतापप्रकाशाभिव्यक्ति-वत्। =प्रश्न—सूत्रमे पहिले ज्ञानका ग्रहण करना उचित है, क्योंकि एक तो दर्शन ज्ञानपूर्वक होता है और दूसरे ज्ञानमें दर्शन शब्दकी अपेक्षा कम अक्षर है? उत्तर—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि दर्शन और ज्ञान युगपद् उत्पन्न होते हे। जैसे मेघपटलके दूर हो जाने पर सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रगट होते हैं, उसी प्रकार जिस समय आत्माकी सम्यग्दर्शन पर्याय उत्पन्न होती है उसी समय उसके मति-अज्ञान और श्रुत अज्ञानका निराकरण होकर मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान प्रगट होते हैं। (रा वा /१/१/२८-३०/६/१६) (पं.ध./उ/७६८)।

८. वास्तवमें ज्ञान मिथ्या नहीं होता, मिथ्यात्वके कारण ही मिथ्या कहलाता है

स सि./१/३१/१३७/४ कथं पुनरेषां विपर्ययः। मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थ-समवायात सरजस्ककटुकालाबुगतदुग्धवत। ननु च तत्राधारदोषाद् दुग्धस्य रसविपर्ययो भवति। न च तथा मत्यज्ञानादीना विषयग्रहणे विपर्ययः। तथा हि, सम्यग्दृष्टिर्यथा चक्षुरादिभी रूपादीनुपलभते तथा मिथ्यादृष्टिरपि मत्यज्ञानेन यथा च सम्यग्दृष्टि' श्रुतेन रूपादीद् जानाति निरूपयति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि श्रुताज्ञानेन। यथा चावधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टि रूपिणोऽर्थानवगच्छति तथा मिथ्यादृष्टिर्वि-भङ्गज्ञानेनेति। अत्रोच्यते—"सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्त-वत।(त.सू./१/३२)।"· तथा हि, कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्म-न्यवस्थितो रूपाद्युपलब्धौ सत्यामपि कारणविपर्यासं भेदाभेद-विपर्यासं स्वरूपविपर्यासं च जानाति। ...एवमन्यानपि परिकल्पनाभेदान् दृष्टेष्टविरुद्धान्मिथ्यादर्शनोदयात्कल्पयन्ति तत्र च श्रद्धानमुत्पादयन्ति। ततस्तन्मत्यज्ञान श्रुताज्ञानं विभंग-ज्ञान च भवति। सम्यग्दर्शनं पुनस्तत्त्वार्थाधिगमे श्रद्धानमुत्पादयति। ततस्तन्मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं च भवति। =प्रश्न—यह (मति, श्रुत व अवधिज्ञान) विपर्यय क्यों है? उत्तर—क्योंकि मिथ्यादर्शनके साथ एक आत्मामें इनका समवाय पाया जाता है। जिस प्रकार रजसहित कडवी तूँबडीमें रखा गया दूध कड़वा हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके निमित्तसे यह विपर्यय होता है। प्रश्न—कडवी तूँबडीमें आधारके दोषसे दूधका रस मीठेसे कड़वा हो जाता है यह स्पष्ट है, किन्तु इस प्रकार मत्यादि ज्ञानोंकी विषयके ग्रहण करनेमें विपरीता नहीं मालूम होती। खुलासा इस प्रकार है—जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि चक्षु आदिके द्वारा रूपादिक पदार्थोंको ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण करता है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रुतके द्वारा रूपादि पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी श्रुत अज्ञानके रूपादि पदार्थोंको जानता है और उनका निरूपण करता है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी विभग ज्ञानके द्वारा रूपी पदार्थोंको जानता है। उत्तर—इसीका समाधान करनेके लिए यह अगला सूत्र कहा गया है कि "वास्तविक और अवास्तविकका अन्तर जाने बिना, जब जैसा जीमें आया उस रूप ग्रहण होनेके कारण, उन्मत्तवत् उसका ज्ञान भी अज्ञान ही है।" (अर्थात् वास्तवमें सत क्या है और असत क्या है, चैतन्य क्या है और जड क्या है, इन बातोंका स्पष्ट ज्ञान न होनेके कारण कभी सत्को असत् और कभी असत्को सत् कहता है। कभी चैतन्यको जड और कभी जड (शरीर) को चैतन्य कहता है। कभी कभी सत्को सत और चैतन्यको चैतन्य इस प्रकार भी कहता है। उसका यह सब प्रलाप उन्मत्तकी भाँति है। जैसे उन्मत्त माताको कभी स्त्री और कभी स्त्रीको माता कहता है। वह यदि कदाचित् माताको माता भी कहे तो भी उसका कहना समीचीन नही समझा जाता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिका उपरोक्त प्रलाप भले ही ठीक क्यो न हो समीचीन नहीं समझा जा सकता है) खुलासा इस प्रकार है कि आत्मामें स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिककी उपलब्धि होनेपर भी कारणविपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूपविपर्यास-को उत्पन्न करता रहता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे ये जीव प्रत्यक्ष और अनुमानके विरुद्ध नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते है, और उनमें श्रद्धान उत्पन्न करते है। इसलिए इनका यह ज्ञान मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग ज्ञान होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थके ज्ञानमें श्रद्धान उत्पन्न करता है, अत' इस प्रकारका ज्ञान मति ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है। (रा वा /१/३१/२-३/६२/१) तथा (रा.वा./१/३२/पृ.६२); (विशेषावश्यक भाष्य/११५ से स्याद्वाद मंजरी/२३/२७४ पर उद्धृत) (पं वि /१/७७)।

ध.७/२,१,४४/८५/५ किमट्ठं पुण सम्माइट्ठीणाणस्स पडिसेहो ण कीरदे विहि-पडिसेहभावेण दोण्ह णाणाणं विसेसाभावा। ण परदो वदिरित्त-भावसामण्णमवेक्खिय एत्थ पडिसेहो होज्ज, किंतु अप्पणो अवगयत्थे जम्हि जीवे सद्दहण ण उप्पज्जदि अवगयत्थविवरीयसद्दधुप्पायणमि-च्छत्तुदयबलेण तत्थ ज णाण तमण्णाणमिदि भण्णइ,णाणफलाभावादो।

घड-पडत्थभादिसु मिच्छाइट्ठीणं जहावगम सद्दहणमुवलब्भदे चे, ण, तत्थ वि तस्स अणज्झवसायदसणादो। ण चेदमसिद्धं 'इदमेवं चेवेति' णिच्छयाभावा। अधवा जहा दिसामूढो वण्ण-गंध-रस-फास-जहावगम सद्दहंतो वि अण्णाणी वुच्चदे जहावगमदिससद्दहणाभावादो, एवं थंभादिपयत्थे जहावगम सद्दहंतो वि अण्णाणी वुच्चदे जिणवयणेण सद्दहणाभावादो। =प्रश्न—यहाँ सम्यग्दृष्टिके ज्ञानका भी प्रतिषेध क्यो न किया जाय, क्योकि, विधि और प्रतिषेध भावसे मिथ्यादृष्टिज्ञान और सम्यग्दृष्टिज्ञानमें कोई विशेषता नही है? उत्तर—यहाँ अन्य पदार्थोमें परत्वबुद्धिके अतिरिक्त भावसामान्यकी अपेक्षा प्रतिषेध नही किया गया है, जिससे कि सम्यग्दृष्टिज्ञानका भी प्रतिषेध हो जाय। किन्तु ज्ञात वस्तुमे विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करानेवाले मिथ्यात्वोदयके वलसे जहाँपर जीवमे अपने जाने हुए पदार्थमे श्रद्धान नही उत्पन्न होता, वहाँ जो ज्ञान होता है वह अज्ञान कहलाता है, क्योकि उसमे ज्ञानका फल नही पाया जाता। शंका—घट पट स्तम्भ आदि पदार्थो मे मिथ्यादृष्टियोके भी यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान पाया जाता है? उत्तर—नही पाया जाता, क्योकि, उनके उसके उस ज्ञानमे भी अनध्यवसाय अर्थात अनिश्चय देखा जाता है। यह बात असिद्ध भी नही है, क्योकि, 'यह ऐसा ही है' ऐसे निश्चयका यहाँ अभाव होता है। अथवा, यथार्थ दिशाके सम्बन्धमे विमूढ जीव वर्ण, गध, रस और स्पर्श इन इन्द्रिय विषयोके ज्ञानानुसार श्रद्धान करता हुआ भी अज्ञानी कहलाता है, क्योकि, उसके यथार्थ ज्ञानकी दिशामे श्रद्धान-का अभाव है। इसी प्रकार स्तम्भादि पदार्थोमे यथाज्ञान श्रद्धा रखता हुआ भी जीव जिन भगवान्के वचनानुसार श्रद्धानके अभावसे अज्ञानी ही कहलाता है।

स सा /आ /७२ आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दु खस्य कारणानि खल्वास्रवा, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वाभावेनाकार्यकारणत्वाद्दु खस्या-कारणमेव। इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्त्तमानस्य पार-मार्थिकत्तद्भेदज्ञानसिद्धे तत क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोध सिध्येत्। =आस्रव आकुलताके उत्पन्न करनेवाले है इसलिए दु खके कारण है, और भगवान् आत्मा तो, सदा ही निराकुलता-स्वभावके कारण किसीका कार्य तथा किसीका कारण न होनेसे, दु खका अकारण है।' इस प्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवोके भेदको जानता है, उसी समय क्रोधादि आस्रवोसे निवृत्त होता है, क्योकि, उनमे जो निवृत्ति नहीं है उसे आत्मा और आस्रवो के पारमार्थिक भेदज्ञानकी सिद्धि हो नही हुई। इसलिए क्रोधादि आस्रवोसे निवृत्तिके साथ जो अविनाभावी है ऐसे ज्ञानमात्रसे ही, अज्ञानजन्य पोद्गलिक कर्मके बन्धका निरोध होता है। (तात्पर्य यह कि मिथ्यादृष्टिको शास्त्रके आधारपर भले ही आस्रवादि तत्त्वोका ज्ञान हो गया हो पर मिथ्यात्ववश स्वतत्त्व दृष्टिसे ओझल होनेके कारण वह उस ज्ञानको अपने जीवनपर लागू नही कर पाता। इसोसे उसे उस ज्ञानका फल भी प्राप्त नही होता और इसीलिए उसका वह ज्ञान मिथ्या है। इसमे विपरोत सम्यग्दृष्टिका तत्त्वज्ञान अपने जोवन पर लागू होनेके कारण सम्यक् है)।

स सा /प, जयचन्द/७२ प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टिको यद्यपि मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोका आस्रव नही होता, परन्तु अन्य प्रकृतियोका तो आस्रव होकर बन्ध होता है, इसलिए ज्ञानी कहना या अज्ञानी? उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है, क्योकि वह अभिप्राय पूर्वक आस्रवोसे निवृत्त हुआ है।

और भी दे० ज्ञान/III/३/३ मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भी भूतार्थग्राही होने-के कारण यद्यपि कथंचित् सम्यक् है पर ज्ञानका असली कार्य (आस्रव निरोध) न करनेके कारण वह अज्ञान ही है।

९. मिथ्यादृष्टिका शास्त्रज्ञान भी मिथ्या व अकिंचित्कर है

दे ज्ञान/IV/१/४—[आत्मज्ञानके बिना सर्व आगमज्ञान अकिंचित्कर है]

दे राग/६/१ [परमाणु मात्र भी राग है तो सर्व आगमधर भी आत्माको नही जानता]

स.सा /मू /३१७ ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि। गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति। =भलीभाँति शास्त्रोको पढकर भी अभव्य जीव प्रकृतिको (अपने मिथ्यात्व स्वभावको) नही छोडता। जैसे मीठे दूधको पीते हुए भी सर्प निर्विष नही होते। (स सा./मू /२७४)

द पा /मू./४ सम्मत्तरयणभट्ठा जाणता बहुविहाइ सत्थाइ। आराहणा-विरहिया भमति तत्थेव तत्थेव ।४। =सम्यक्त्व रत्नसे भ्रष्ट भले ही बहुत प्रकारके शास्त्रोको जानो परन्तु आराधनासे रहित होनेके कारण ससारमे ही नित्य भ्रमण करता है।

यो सा अ /७/४४ ससार पुत्रदारादि पुसा संमूढचेतसाम्। ससारो विदुषा शास्त्रमध्यात्मरहितमात्मनाम् ।४४। =अज्ञानीजनोका ससार तो पुत्र स्त्री आदि है और अध्यात्मज्ञान शून्य विद्वानोका ससार शास्त्र है।

द्र सं./५०/२१५/७ पर उद्धृत—यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्र तस्य करोति किम्। लोचनाभ्या विहीनस्य दर्पण कि करिष्यति॥ =जिस पुरुषके स्वय बुद्धि नही है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है। क्योकि नेत्रोसे रहित पुरुषका दर्पण क्या उपकार कर सकता है। अर्थात् कुछ नही कर सकता।

स्या म /२३/२७४/१५ तत्परिगृहीत द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति। तेषामुपपत्ति निरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसरम्भात्। =मिथ्यादृष्टि बारह (?) अंगोको पढकर भी उन्हे मिथ्या श्रुत समझता है, क्योकि, वह शास्त्रोको समझे बिना उनका अपनी इच्छाके अनुसार अर्थ करता है। (और भी देखो पीछे इसीका नं० ८)

प ध /उ./७७० यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक्। न तज्ज्ञान न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ।७७०। =जो सम्यग्दर्शनके बिना द्रव्य-चारित्र तथा श्रुतज्ञान होता है वह न सम्यग्ज्ञान है और न सम्य-क्चारित्र है। यदि है तो वह ज्ञान तथा चारित्र केवल कर्मबन्धको ही करनेवाला है।

१० सम्यग्दृष्टिका कुशास्त्र ज्ञान भी कथंचित् सम्यक् है

स्या म /२३/२७४/१६ सम्यग्दृष्टिपरिगृहीत तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्-श्रुततया परिणमति सम्यग्दृशाम्। सर्वविदुपदेशानुसारिप्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेधविषयतयोन्नयनात्। =सम्यग्दृष्टि मिथ्याशास्त्रोको पढकर उन्हे सम्यक्श्रुत समझता है, क्योकि सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञदेवके उपदेशके अनुसार चलता है, इसलिए वह मिथ्या आगमोका भी यथोचित विधि निषेधरूप अर्थ करता है।

११. सम्यग्ज्ञानको ही ज्ञान संज्ञा है

मू आ /२६७-२६८ जेण तच्च विबुज्झेज्ज जेण चित्त णिरुज्झदि। जेण अत्ता विसुज्झेज्ज त णाण जिणसासणे ।२६७। जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि। जेण मेत्ती पभावेज्ज त णाण जिणसासणे ।२६८। =जिससे वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाना जाय, जिससे मनका व्यापार रुक जाय, जिससे आत्मा विशुद्ध हो, जिनशासनमे उसे ही ज्ञान कहा गया है ।२६७। जिससे रागसे विरक्त हो, जिससे श्रेयस मार्गमें रक्त हो, जिससे सर्व प्राणियोमें मैत्री प्रवर्ते, वही जिनमतमे ज्ञान कहा गया है ।२६८।

५. सं./प्रा /१/११७ जाणइं तिक्कालसहिए दव्वगुणपज्जए बहुब्भेए। पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणं त्ति ण विंति ।११७ =जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक सर्व द्रव्य, उनके समस्त गुण और उनकी बहुत भेदवाली पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जानता है. उसे निश्चयसे ज्ञानीजन ज्ञान कहते हैं। (ध. १/१,१,४/गा ९१/१४४), (पं. त. स./१/२१३), (गो. जी /मू /२९९/६४८)

स. सा /पं. जयचन्द/७४ मिथ्यात्व जानेके बाद उसे विज्ञान कहा जाता है। (और भी दे सम्यग्दृष्टि/१ में ज्ञानीका लक्षण)

३. सम्यक् व मिथ्याज्ञान सम्बन्धी शंका-समाधान व समन्वय

१. तीनों अज्ञानोंमें कौन-कौन-सा मिथ्यात्व घटित होता है

श्लो. वा. ४/१/३१/१३/११८/६ मतौ श्रुते च त्रिविधं मिथ्यात्वं बोद्धव्यं मतेरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तकत्वनियमात्। श्रुतस्यानिन्द्रियनिमित्तत्वनियमाद्‌ द्विविधमवधौ संशयाद्विना विपर्ययानध्यवसायाविरयर्थः। =मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें तीनों प्रकारका मिथ्यात्व (सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय) समझ लेना चाहिए। क्योंकि मतिज्ञानके निमित्तकारण इन्द्रिय और अनिन्द्रिय है ऐसा नियम है तथा श्रुतज्ञानका निमित्त नियमसे अनिन्द्रिय माना गया है। किन्तु अवधिज्ञानमें संशयके बिना केवल विपर्यय व अनध्यवसाय सम्भवते हैं (क्योंकि यह इन्द्रिय अनिन्द्रियकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होता है और सशय ज्ञान इन्द्रिय व अनिन्द्रियके बिना उत्पन्न नहीं हो सकता।)

२. अज्ञान कहनेसे क्या यहाँ ज्ञानका अभाव इष्ट है

ध. ७/२,१,४४/८४/१० एत्थ चोदओ भणदि—अण्णाणमिदि वुत्ते किं णाणस्स अभावो घेप्पदि आहो ण घेप्पदि त्ति। णाइल्लो पक्खो मदिणाणाभावे मदिपुव्वं सुदमिदि कट्टु सुदणाणस्स वि अभावप्पसंगादो। ण चेद पि ताणमभावे सव्वणाणाणमभावप्पसंगादो। णाणाभावे ण दंसण पि दोण्णमण्णोण्णाविणाभावादो। णाणदंसणाभावे ण जीवो वि, तस्स तल्लक्खणत्तादो त्ति। ण विदियपक्खो वि, पडिसेहस्स फलाभावप्पसंगादो त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे—ण पढमपक्खदोससंभवो, पसज्जपडिसेहेण एत्थ पओजणाभावा। ण विदियपक्खुत्तदोसो वि, अप्पेहिंतो विदिरित्तासेसदव्वेसु सविहिवहसठिएसु पडिसेहस्स फलभावुवलभादो। किमट्ठं पुण सम्माइट्ठीणाणस्स पडिसेहो ण कीरदे। =प्रश्न—अज्ञान कहनेपर क्या ज्ञानका अभाव ग्रहण किया है या नहीं किया है? प्रथम पक्ष तो बन नहीं सकता, क्योंकि मतिज्ञानका अभाव माननेपर 'मतिपूर्वक ही श्रुत होता है' इसलिए श्रुतज्ञानके अभावका भी प्रसंग आ जायेगा। और ऐसा भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, मति और श्रुत दोनों ज्ञानोंके अभावमें सभी ज्ञानोंके अभावका प्रसंग आ जाता है। ज्ञानके अभावमें दर्शन भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान और दर्शन इन दोनोंका अविनाभावी सम्बन्ध है। और ज्ञान और दर्शनके अभावमें जीव भी नहीं रहता, क्योंकि जीवका तो ज्ञान और दर्शन ही लक्षण है। दूसरा पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि, यदि अज्ञान कहनेपर ज्ञानका अभाव माना जाये तो फिर प्रतिषेधके फलाभावका प्रसंग आ जाता है? उत्तर—प्रथम पक्षमें कहे गये दोषकी प्रस्तुत पक्षमें सम्भावना नहीं है, क्योंकि यहाँपर प्रसज्यप्रतिषेध अर्थात् अभावमात्रसे प्रयोजन नहीं है। दूसरे पक्षमें कहा गया दोष भी नहीं आता, क्योंकि, यहाँ जो अज्ञान शब्दमें ज्ञानका प्रतिषेध किया गया है, उसकी, आत्माको छोड़ अन्य समीपवर्ती प्रदेशमें स्थित समस्त द्रव्योंमें स्व व पर विवेकके अभावरूप सफलता पायी जाती है। अर्थात् स्व पर विवेकसे रहित जो पदार्थज्ञान होता है उसे ही यहाँ अज्ञान कहा है। प्रश्न—तो यहाँ सम्यग्दृष्टिके ज्ञानका भी प्रतिषेध क्यों न किया जाय? उत्तर—दे० ज्ञान/III/२/८।

३. मिथ्याज्ञानकी अज्ञान संज्ञा कैसे है?

ध. १/१,१,४/१४२/४ कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयात्प्रतिभासितेऽपि वस्तुनि संशयविपर्ययानध्यवसायानिवृत्तितस्तेषामज्ञानितोक्त.। एवं सति दर्शनावस्थायां ज्ञानाभावः स्यादिति चेन्नैष दोष, इष्टत्वात्।· ·एतेन संशयविपर्ययानध्यवसायावस्थासु ज्ञानाभाव. प्रतिपादित स्यात्, शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम्। ततो मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिनः। =प्रश्न—यदि सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंके प्रकाशमें (ज्ञानसामान्यमें) समानता पायी जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे वस्तुके प्रतिभासित होनेपर भी सशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहा है। प्रश्न—इस तरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी माननेपर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्राप्त हो जायेगा? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानोपयोगका अभाव इष्ट ही है। यहाँ संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्रतिपादित हो जाता है। कारण कि शुद्धनिश्चयनयकी विवक्षामें वस्तुस्वरूपका उपलम्भ करानेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है। अतः मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानी नहीं हो सकते हैं।

ध ५/१ ७,४५/२२४/३ कध मिच्छादिट्ठिणाणस्स अण्णाणत्तं। णाणकज्जाकरणादो। किं णाणकज्जं। णादत्थसद्दहणं। ण ते मिच्छादिट्ठिम्हि अत्थि। तदो णाणमेव अणाण, अण्णहा जोवविणासप्पसगा। अवगयदवधम्मणाहसु मिच्छादिट्ठिम्हि सद्दहणमुवलभए चे ण, अत्तागमपयत्थसद्दहणविरहियस्स दवधम्मणाहसु जहट्ठसद्दहणविरोहा। ण च एस ववहारो लोगे अप्पसिद्धो, पुत्तकज्जमकुणंते पुत्ते वि लोगे अपुत्तववहारदंसणादो। =प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीवोंके ज्ञानको अज्ञानपना कैसे कहा? उत्तर—क्योंकि, उनका ज्ञान ज्ञानका कार्य नहीं करता है। प्रश्न—ज्ञानका कार्य क्या है? उत्तर—जाने हुए पदार्थका श्रद्धान करना ज्ञानका कार्य है। इस प्रकारका ज्ञान मिथ्यादृष्टि जीवमें पाया नहीं जाता है। इसलिए उनके ज्ञानको ही अज्ञान कहा है। अन्यथा जीवके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा। प्रश्न—दयाधर्मको जाननेवाले ज्ञानियोंमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि जीवमें तो श्रद्धान पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, दयाधर्मके ज्ञाताओंमें भी, आप्त आगम और पदार्थके प्रति श्रद्धानसे रहित जीवके यथार्थ श्रद्धानके होनेका विरोध है। ज्ञानका कार्य नहीं करनेपर ज्ञानमें अज्ञानका व्यवहार लोकमें अप्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, पुत्रकार्यको नहीं करनेवाले पुत्रमें भी लोकके भीतर अपुत्र कहनेका व्यवहार देखा जाता है। (ध.१/१,१,११५/३५३/७)।

४. मिथ्याज्ञान क्षायोपशमिक कैसे है?

ध. ७/२ १,४५/८६/७ कध मदिअण्णाणिस्स खवोवसमिया लद्धी। मदिअण्णाणावरणस्स देसघादिफद्दयाणमुदएण मदिअणाणित्तुवलभादो। जदि देसघादिफद्दयाणमुदएण अण्णाणित्तं होदि तो तस्स ओदइयत्तं पसज्जदे।·ण. सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावा। कधं पुण खओवसमियत्तं (दे० क्षयोपशम/१ में क्षयोपशमके लक्षण)। =प्रश्न—मति अज्ञानी जीवके क्षायोपशमिक लब्धि कैसे मानी जा सकती है? उत्तर—क्योंकि, उस जीवके मति अज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे मति अज्ञानित्व पाया जाता है। प्रश्न—यदि

देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे अज्ञानित्व होता है तो अज्ञानित्वको औदयिक भाव माननेका प्रसग आता है ? उत्तर—नही आता, क्योकि, वहाँ सर्वघाती स्पर्धकोके उदयका अभाव है । प्रश्न—तो फिर अज्ञानित्वमें क्षायोपशमिकत्व क्या है ? उत्तर—(दे० क्षयोपशमका लक्षण) ।

५. मिथ्याज्ञान दर्शानेका प्रयोजन

स. सा /ता.वृ/२२/५१/१ एवमज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकार-स्वसवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावना दृढयति ।=इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीवका लक्षण जानकर, निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणवाला जो भेदज्ञान, उसमें स्थित होकर भावना करनी चाहिए तथा उसी भावनाको दृढ करना चाहिए ।

IV निश्चय व्यवहार सम्यग्ज्ञान

१. निश्चय सम्यग्ज्ञान निर्देश

१. निश्चय सम्यग्ज्ञानका माहात्म्य

प्र. सा./मू /८० जो जाणदि अरहंत दव्वत्त गुणत्त पज्जत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादु तस्स लयं ।८०।=जो अर्हन्तको द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह आत्माको जानता है और उसका मोह अवश्य लयको प्राप्त होता है ।

र सा/१४४ दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेयं। अप्पाणं जाणइ सो सिवगइपहणायगो होई ।१४४।=आत्माके दो भेद हैं—एक स्वसमय और दूसरा परसमय। जो जीव इन दोनों को द्रव्य, गुण व पर्यायसे जानता है, वह ही वास्तवमें आत्माको जानता है। वह जीव ही शिवपथका नायक होता है ।

भ. आ /मू /७६८-७६६ णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघादो। दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ।७६८। णाणं पयासओ सो वओ तओ सजमो य गुत्तियरो । तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिनसासणे दिट्ठो ।७६६।=ज्ञानप्रकाश ही उत्कृष्ट प्रकाश है, क्योकि किसीके द्वारा भी इसका प्रतिघात नहीं हो सकता। सूर्यका प्रकाश यद्यपि उत्कृष्ट समझा जाता है, परन्तु वह भी अल्पमात्र क्षेत्रको ही प्रकाशित करता है। ज्ञान प्रकाश समस्त जगत्को प्रकाशित करता है ।७६८। ज्ञान संसार और मुक्ति दोनोंके कारणोंको प्रकाशित करता है। व्रत, तप, गुप्ति व सयमको प्रकाशित करता है, तथा तीनोंके सयोगरूप जिनोपदिष्ट मोक्षको प्रकाशित करता है ।७६६।

यो मा अ./८/३१ अनुष्ठानास्पद ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम् । पुरुषार्थकरं ज्ञान ज्ञानं निर्वृतिसाधनम् ।३१।='ज्ञान' अनुष्ठानका स्थान है, मोहान्धकारका विनाश करनेवाला है, पुरुषार्थका करनेवाला है, और मोक्षका कारण है ।

ज्ञा./७/२१-२३ यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डित‍ । बाल‍ स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ।२१। दुरिततिमिरहस मोक्षलक्ष्मीसरोज मदनभुजगमन्त्र चित्तमातङ्गसिंहं व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं, विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वम् ।२२। अस्मिन्ससारकक्षे यमभुजगविपाक्रान्तनि‍शेषसत्त्वे, क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसंतापभीमे । मोहान्धा सचरन्ति स्खलनविधुरता प्राणिनस्तावदेते, यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिद नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ।२३। =जिस मार्गमें अज्ञानी चलते हैं उसी मार्गमें विद्वज्जन चलते है, परन्तु अज्ञानी तो अपनी आत्माको बाँध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है, यह ज्ञानका माहात्म्य है ।२१। हे भव्य तू ज्ञानका आराधन कर, क्योकि, ज्ञान पापरूपी तिमिर नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है, और मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिए कमलके समान है। कामरूपी सर्पके कीलनेको मन्त्रके समान है, मनरूपी हस्तीको सिंहके समान है, आपदारूपी मेघोंको उडानेके लिए पवनके समान है, समस्त तत्त्वोको प्रकाश करनेके लिए दीपकके समान है तथा विषयरूपी मत्स्योंको पकडनेके लिए जालके समान है ।२२। जबतक इस ससाररूपी वनमें सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य उदित होकर ससारभयदायक अज्ञानान्धकारका उच्छेद नहीं करता तबतक ही मोहान्ध प्राणी निज स्वरूपसे च्युत हुए गिरते पडते चलते है। कैसा है ससाररूपी वन ?—जिसमें कि पापरूपी सर्पके विषसे समस्त प्राणी व्याप्त है, जहाँ क्रोधादि पापरूपी बडे-बडे पर्वत है, जो वक्र गमनवाली दुर्गतिरूपी नदियोमें गिरनेसे उत्पन्न हुए सन्तापसे अतिशय भयानक है। ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाश होनेसे किसी प्रकारका दु‍ख व भय नहीं रहता है ।२३।

२. भेदविज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है

इ. उ./३३ गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्ते‍ स्वपरान्तरम् । जानाति य स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ।३३।=जो कोई प्राणी गुरूपदेशसे अथवा शास्त्राभ्याससे या स्वात्मानुभवसे स्व व परके भेदको जानता है वही पुरुष सदा मोक्षसुखको जानता है ।

स सा /आ /२०० एवं सम्यग्दृष्टि सामान्येन विशेषेण च, परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्व विजानाति ।

स सा /आ /३१४ स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति ।=इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावोंसे विवेक (भेदज्ञान) करके टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो आत्मतत्त्व उसको जानता है। आत्मा स्व परके भेदविज्ञानसे ज्ञायक होता है ।

३. अभेद ज्ञान या इन्द्रियज्ञान अज्ञान है

स सा./३१४ स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति ।=स्व परके एकत्व ज्ञानसे आत्मा अज्ञायक होता है ।

प्र. सा /त./प्र /५५ परोक्ष हि ज्ञान आत्मन‍ स्वय परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमनन्ताया‍ शक्ते‍ परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् । =परोक्षज्ञान आत्मपदार्थको स्वय जाननेमें असमर्थ होनेसे उपात्त और अनुपात्त परपदार्थ रूप सामग्रीको ढूँढनेकी व्यग्रतासे अत्यन्त चचल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्त शक्तिसे च्युत होनेसे अत्यन्त खिन्न होता हुआ‍ परमार्थत अज्ञानमें गिने जाने योग्य है, इसलिए वह हेय है ।

४. आत्मा ज्ञानके बिना सर्व आगमज्ञान अकिंचित्कर है

मो. पा /मू./१०० जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते । तं बालसुद चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीय ।१००।=आत्म स्वभावसे विपरीत बहुत प्रकारके शास्त्रोका पढना और बहुत प्रकारके चारित्रका पालन भी बाल श्रुत बालचरण है । (मू आ./८९७) ।

मू आ /८९४ धीरो वइरागपरो थोव हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु । ण हि सिज्झहि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्था ।=धीर और वैराग्यपरायण तो अल्पमात्र शास्त्र पढा हो तो भी मुक्त हो जाता है, परन्तु वैराग्य विहीन सर्व शास्त्र भी पढ ले तो भी मुक्त नहीं होता ।

स श /९४ विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते। देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ।९४।=शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रोको जान लेनेपर भी मुक्त नही होता और देहसे भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा सोता और उन्मत्त हुआ भी मुक्त हो जाता है। (यो सा यो /९६) (ज्ञा/३२/१००) ।

प प्र /मू /२/८८ बोह णिमित्तें सत्थु किल लोइ पढिज्जइ इत्थु। तेण वि बोहु ण जासु वरु सो किं मूढु ण तत्थु।८८। = इस लोकमें नियमसे ज्ञानके निमित्त शास्त्र पढे जाते हैं परन्तु शास्त्रके पढनेसे भी जिसको उत्तम ज्ञान नहीं हुआ, वह क्या मूढ नहीं है ? है ही।

प प्र /मू २/१६१ घोरु करन्तु वि तवचरणु सयल वि सत्थ मुणंतु। परम-समाहि-विवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु।१६१। = महा दुर्धर तपश्चरण करता हुआ और सब शास्त्रोंको जानता हुआ भी, जो परम समाधिसे रहित है वह शान्तरूप शुद्धात्माको नहीं देख सकता।

न च वृ/२८४ मे उद्धृत "णियदव्वजाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहि छद्दव्वं। तम्हा परछद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं।" = जिनेन्द्र भगवान्ने निजद्रव्यको जाननेके लिए ही अन्य छह द्रव्योंका कथन किया है, अत मात्र उन पररूप छ द्रव्योंका जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है।

आराधनासार/मू/१११, ५४ अति करोतु तप पालयतु संयम पठतु सकलशास्त्राणि। यावन्न ध्यायत्यात्मानं तावन्न मोक्षो जिनो भवति १११। सकलशास्त्रसेविता सूरिसंघानदृढयतु च तपश्चाभ्यस्तु स्फीतयोगम्। चरतु विनयवृत्ति बुध्यता विश्वतत्त्वं यदि विषयविलास सर्वमेतन्न किंचित्।५४।" = तप करो, संयम पालो, सकल शास्त्रोंको पढो परन्तु जबतक आत्माको नहीं ध्याता तबतक मोक्ष नहीं होता।१११। सकलशास्त्रोंका सेवन करनेसे भले आचार्य संघको दृढ करो, भले ही योगमें दृढ होकर तपका अभ्यास करो, विनयवृत्तिका आचरण करो, विश्वके तत्त्वोंको जान जाओ, परन्तु यदि विषय विलास है तो सबका सब अकिंचित्कर है।५४।

या सा अ/७/४३ आत्मध्यानरतिर्ज्ञेय विद्वत्ताया पर फलम्। अशेषशास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभापि धीधनै।४३। = विद्वान् पुरुषोंने आत्मध्यानमें प्रेम होना विद्वत्ताका उत्कृष्ट फल बतलाया है और आत्मध्यानमें प्रेम न होकर केवल अनेक शास्त्रोंको पढ लेना ससार कहा है। (प्र सा/त, प्र/२७१)

स सा/आ/२७७ नाचारादिशब्दश्रुतमेकान्तेन ज्ञानस्याश्रय, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। = मात्र आचारांगादि शब्द श्रुत ही (एकान्तसे) ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्धात्माके अभावके कारण ज्ञानका अभाव है।

का अ/मू/४६६ जो णवि जाणदि अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं। सो णवि जाणदि सत्थं आगमपाढं कुणंतो वि।४६६। = जो ज्ञानस्वरूप आत्माको शरीरसे भिन्न नहीं जानता वह आगमका पठन-पाठन करते हुए भी शास्त्रको नहीं जानता।

स सा/ता वृ/ १०१, पुद्गलपरिणामं... व्याप्यव्यापकभावेन न करोति इति यो जानाति निर्विकल्पसमाधौ स्थित सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञान मात्रेणैव। = 'आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलका परिणाम नहीं करता है' यह बात निर्विकल्प समाधिमे स्थित होकर जो जानता है वह ज्ञानी होता है। परिज्ञान मात्रसे नहीं।

प्र सा /ता. वृ/२३७ जीवस्यापि परमागमाधारेण सकलपदार्थज्ञेयाकाराकारकरम्बितविशदैकज्ञानरूपं स्वात्मानं जानतोऽपि ममात्मैवोपादेय इति निश्चयरूपं यदि श्रद्धानं नास्ति तदास्य प्रदीपस्थानीय आगम किं करोति न किमपि। = परमागमके आधारसे, सकलपदार्थोंके ज्ञेयाकारसे अवलम्बित विशद एक ज्ञानरूप निजआत्माको जानकर भी यदि मेरी यह आत्मा ही उपादेय है ऐसा निश्चयरूप श्रद्धान न हुआ तो उस जीवको प्रदीपस्थानीय यह आगम भी क्या करे।

पं ध/उ /४६३ स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुण। भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वत ।४६३। = केवल स्वात्माकी अनुभूतिरूप आस्तिक्य ही परमगुण है। किन्तु परद्रव्यमें वह आस्तिक्य केवल स्वानुभूतिरूप हो अथवा न भी हो।

और भी दे ज्ञान/III/२/६ (मिथ्यादृष्टिका आगमज्ञान अकिंचित्कर है।)

२ व्यवहार सम्यग्ज्ञान निर्देश

१ व्यवहारज्ञान निश्चयका साधन है तथा इसका कारण

न च वृ/२६७ (उद्धृत) उक्तं चान्यत्र ग्रन्थे—दव्वसुयादो भावं तत्तो उहय हवेइ संवेदं। तत्तो संवित्ती खलु केवलणाणं हवे तत्तो।२६७। = अन्यत्र ग्रन्थमें कहा भी है कि द्रव्य श्रुतके अभ्याससे भाव होते हैं, उससे बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारका संवेदन होता है, उससे शुद्धात्माकी संवित्ति होती है और उससे केवलज्ञान होता है।

द्र सं./टी/४२/१८३/८. तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्य निश्चयज्ञान कथ्यते।—निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चय ज्ञानं भण्यते (पृ० १८४।८)। = उस विकल्परूप व्यवहार ज्ञानके द्वारा साध्य निश्चय ज्ञानका कथन करते हैं। निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानको ही निश्चयज्ञान कहते हैं। (और भी दे० समयसार)।

२. आगमज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहना उपचार है

प्र सा/त. प्र/३४ श्रुतं हि तावत्सूत्रम्। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव।" = श्रुत ही सूत्र है। उस (शब्द ब्रह्मरूप सूत्र) की ज्ञप्ति सो ज्ञान है। श्रुत (सूत्र) उसका कारण होनेसे ज्ञानके रूपमे उपचारसे ही कहा जाता है।

३. व्यवहारज्ञान प्राप्तिका प्रयोजन

स सा/मू/४१५ जो समयपाहुडमिणं पडिऊण अत्थतच्चओ णाउं। अत्थे ठही चेया सो होही उत्तम सोक्खं।४१५। = जो आत्मा इस समयप्राभृतको पढकर अर्थ और तत्त्वको जानकर उसके अर्थमे स्थित होगा, वह उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

प्र सा/मू ८८, १५४, २३२ जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं। सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण। तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं। जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।१५४। एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु। णिच्छित्ती आगमदो आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा।२३२। = जो जिनेन्द्रके उपदेशको प्राप्त करके मोह, राग, द्वेषको हनता है वह अल्पकालमें सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है।८८। जो जीव उस अस्तित्वनिष्पन्न तीन प्रकारसे कथित द्रव्यस्वभावको जानता है वह अन्य द्रव्यमें मोहको प्राप्त नहीं होता।१५४। श्रमण एकाग्रताको प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयवानके होती है, निश्चय आगम द्वारा होता है अत आगममे व्यापार मुख्य है।२३२।

प्र, सा/मू/१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।१२६। = यदि श्रमण कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है, ऐसा निश्चयवाला होता हुआ अन्य रूप परिणमित न ही हो तो वह शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है। (प्र. सा/मू/१६०)

पं. का/मू/१०३ एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता। जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं।१०३।" = इस प्रकार प्रवचनके सारभूत 'पंचास्तिकायसंग्रह' को जानकर जो रागद्वेषको छोडता है वह दुःखसे परिमुक्त होता है।

न च वृ/२८४ मे उद्धृत—णियदव्वजाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं। = निज द्रव्यको जाननेके लिए ही जिनेन्द्र भगवान्ने अन्य छह द्रव्योंका कथन किया है।

आ अनु/१७३-१७५ ज्ञानस्वभावः स्वभावात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः। तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्‌ ।१७४। ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम्‌। अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ।१७५। =मुक्तिकी अभिलाषा करनेवालेको मात्र ज्ञानभावनाका चिन्तवन करना चाहिए कि जिससे अविनश्वर ज्ञानकी प्राप्ति होती है परन्तु अज्ञानी प्राणी ज्ञानभावनाका फल ऋद्धि आदिकी प्राप्ति समझते हैं, सो उनके प्रबल मोहकी महिमा है।

स सा/आ/१५३/क १०५ यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं, शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति। अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्, ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्‌ ।१०५। =जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूपसे और अचलरूपसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ या परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्षका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है। उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्धका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। इसलिए आगममें ज्ञानस्वरूप होनेका अर्थात् अनुभूति करनेका ही विधान है।

प का/त प्र/१७२ द्विविधं किल तात्पर्यम्‌-सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यं चेति। तत्र सूत्रतात्पर्यं प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्‌। शास्त्रतात्पर्यं त्विदं प्रतिपाद्यते। अस्य खलु पारमेश्वरस्य शास्त्रस्य, साक्षान्मोक्षकारणभूतपरमवीतरागत्वविश्रान्तसमस्तहृदयस्य, परमार्थतो वीतरागत्वमेव तात्पर्यमिति। =तात्पर्य दो प्रकारका होता है—सूत्र तात्पर्य और शास्त्र तात्पर्य। उनमें सूत्र तात्पर्य प्रत्येक सूत्रमें प्रतिपादित किया गया है और शास्त्र तात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है। साक्षात् मोक्षके कारणभूत परमवीतरागपनेमें जिसका समस्त हृदय स्थित है ऐसे इस (पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य सप्ततत्त्व व नवपदार्थके प्रतिपादक) यथार्थ पारमेश्वर शास्त्रका, परमार्थसे वीतरागपना ही तात्पर्य है। (नि सा/ता वृ/१८७)।

प्र. सा/त. प्र/१४ सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः। =सूत्रोंके अर्थके ज्ञानबलसे स्वद्रव्य और परद्रव्यके विभागके परिज्ञानमें, श्रद्धानमें और विधानमें समर्थ होनेसे जो श्रमण पदार्थोंको और सूत्रोंको जिन्होंने भलीभाँति जान लिया है।

प का/त प्र/३ ज्ञानसमयप्रसिद्ध्यर्थं शब्दसमयसंबन्धेनार्थसमयोऽभिधातुमभिप्रेतः। =ज्ञानसमयकी प्रसिद्धिके लिए शब्दसमयके सम्बन्धसे अर्थसमयका कथन करना चाहते हैं।

प्र. सा/ता वृ/८९,९०/१११/१९ ज्ञानात्मकमात्मानं जानाति यदि। परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीयद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्‌। कस्मात् निश्चयतः निश्चयानुकूलं भेदज्ञानमाश्रित्य। स स मोहस्य क्षयं करोतीति सूत्रार्थः। अथ पूर्वसूत्रे यदुक्तं स्वपरभेदविज्ञानं तदागमतः सिद्ध्यतीति प्रतिपादयति। =यदि कोई पुरुष ज्ञानात्मक आत्माको तथा यथोचितरूपसे परकीय चेतनाचेतन द्रव्योंको निश्चयके अनुकूल भेदज्ञानका आश्रय लेकर जानता है तो वह मोहका क्षय कर देता है। और यह स्व-परभेदविज्ञान आगमसे सिद्ध होता है।

पं. का/ता वृ./१७३/२५४/१६ श्रुतभावनाया फलं जीवादितत्त्वविषये संक्षेपेण हेयोपादेयतत्त्वविषये वा संशयविमोहविभ्रमरहितो निश्चलपरिणामो भवति। =श्रुतभावनाका फल, जीवादि तत्त्वोंके विषयमें अथवा हेयोपादेय तत्त्वके विषयमें संशय विमोह व विभ्रम रहित निश्चल परिणाम होना है।

द्र सं/टी/१/७/७ प्रयोजनं तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्‌, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरूपं स्वसंवेदनज्ञानम्‌। =इस शास्त्रका प्रयोजन व्यवहारसे तो षट्द्रव्य आदिका परिज्ञान है और निश्चयसे निजनिरंजन शुद्धात्मसंवित्तिसे उत्पन्न परमानन्दरूप एक लक्षणवाले सुखामृतके रसास्वादरूप स्वसंवेदन ज्ञान है।

द्र. स/टी/२/१०/६ शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयं शेषं च हेयम्‌। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः। =शुद्ध नयके आश्रित जो जीवका स्वरूप है, वह तो उपादेय है और शेष सब हेय है। इस प्रकार हेयोपादेय रूपसे भावार्थ भी समझना चाहिए।

३. निश्चय व्यवहार ज्ञानका समन्वय

१ निश्चय ज्ञानका कारण प्रयोजन

स सा/आ/२९५ एतदेव किलात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बन्धत्यागेन शुद्धात्मोपादानम्‌। =वास्तवमें यही आत्मा और बन्धके द्विधा करनेका प्रयोजन है कि बन्धके त्यागसे शुद्धात्माको ग्रहण करना है।

प का./त प्र/१२७ एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेदः सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्ध्यर्थं प्रतिपादित इति। =इस प्रकार यहाँ जीव और अजीवका वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियोंके मार्गकी प्रसिद्धिके हेतु प्रतिपादित किया गया है।

स सा/ता. वृ/२८ एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्तव्येति तात्पर्यम्‌। =इस प्रकार देह और आत्माके भेदज्ञानको जानकर, मोहके उदयसे उत्पन्न समस्त विकल्पजालका त्यागकर निर्विकार चैतन्यचमत्कार मात्र निजपरमात्म तत्त्वमें भावना करनी चाहिए, ऐसा तात्पर्य है।

प्र सा/ता वृ/१८२/२४६/१७ भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्तिं परद्रव्ये निवृत्तिं च करोतीति भावार्थः। =भेद विज्ञान हो जानेपर मोक्षार्थी जीव स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यमें निवृत्ति करता है ऐसा भावार्थ है।

द्र स/टी/४२/१८३/३ निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यं उपादेयं। शेषं च हेयमिति संक्षेपेण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति। तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्यं निश्चयज्ञानं। स्वस्य सम्यग्निर्विकल्परूपेण वेदनं निश्चयज्ञानं भण्यते। =निश्चयसे स्वकीय शुद्धात्मद्रव्य उपादेय है और शेष सब हेय है। इस प्रकार संक्षेपसे हेयोपादेयके भेदसे दो प्रकार व्यवहारज्ञान है। उसके विकल्परूप व्यवहारज्ञानके द्वारा निश्चयज्ञान साध्य है। सम्यक् व निर्विकल्प अपने स्वरूपका वेदन करना निश्चयज्ञान है।

२. निश्चय व्यवहारज्ञानका समन्वय

प्र सा/ता वृ/२६३/३५४/२३ बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसंवेदनज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्‌। =बहिरंग परमागमके अभ्याससे अभ्यन्तर स्वसंवेदन ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है।

प प्र/टी/२/२९/१४९/२ अयमत्र भावार्थः। व्यवहारेण सविकल्पावस्थायां तत्त्वविचारकाले स्वपरपरिच्छेदकं ज्ञानं भण्यते। निश्चयनयेन पुनर्वीतरागनिर्विकल्पसमाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितवृत्त्या निरस्तस्तथापीहापूर्वकविकल्पाभावाद्गौणत्वमिति कृत्वा स्वसंवेदनज्ञानमेव ज्ञानमुच्यते। =यहाँ यह भावार्थ है कि व्यवहारनयसे तो तत्त्वका विचार करते समय सविकल्प अवस्थामें ज्ञानका लक्षण स्वपरपरिच्छेदक कहा जाता है। और निश्चयनयसे वीतराग निर्विकल्प समाधिके समय यद्यपि अनीहित वृत्तिसे उपयोगमें से बाह्य पदार्थोंका निराकरण किया जाता है—फिर भी ईहापूर्वक विकल्पोंका अभाव होनेसे उसे गौण करके स्वसंवेदन ज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं।

स सा/ता वृ/९६/१५४/८ हे भगवन्, धर्मास्तिकायोऽयं जीवोऽयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारकाले क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः। नैवं वक्तव्यं। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्वि-

कल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया पुनः मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवञ्चनार्थं कर्तव्यः ।=प्रश्न—हे भगवन् ! 'यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है' इत्यादि ज्ञेयतत्त्वके विचारकालमें किये गये विकल्पोंसे यदि कर्मबन्ध होता है तो ज्ञेयतत्त्वका विचार करना वृथा है, इसलिए वह नहीं करना चाहिए ? उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए । यद्यपि त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पसमाधिके समय वह नहीं करना चाहिए तथापि उस त्रिगुप्तिरूप ध्यानका अभाव हो जानेपर शुद्धात्मको उपादेय समझते हुए या आगमभाषामें एक मात्र मोक्षको उपादेय करके सरागसम्यक्त्वके कालमें विषयकषायसे बचनेके लिए अवश्य करना चाहिए । (न च. लघु/७७) ।

और भी दे० नय/V/९/२ (निश्चय व व्यवहार सम्यग्ज्ञानमें साध्यसाधन भाव) ।

ज्ञानज्ञेय अद्वैतनय—दे० नय/I/५ ।

ज्ञानचन्द्र—वि० १७७५ (ई० १७१८) के एक भट्टारक । आपने पंचास्तिकायकी टीका लिखी है । (प. का./प्र 3/पं पन्नालाल) ।

ज्ञानचेतना—दे० चेतना ।

ज्ञानदान—दे० दान ।

ज्ञानदीपक—आ० ब्रह्मदेव (ई० १२९२-१३२३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचा गया एक आध्यात्मिक ग्रन्थ ।

ज्ञानदीपिका—प० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) की संस्कृत भाषा बद्ध एक आध्यात्मिक रचना ।

ज्ञाननय—दे० नय/I/४ ।

ज्ञानपंचमी—कवि विष्णु (ई० १३६६) कृत हिन्दी छन्दबद्ध रचना, जिसमें श्रुतपचमी व्रतका माहात्म्य दर्शाया है ।

ज्ञानपच्चीसी व्रत—चौदह पूर्वोंकी १४ चतुर्दशी और ग्यारह अंगोंकी ११ एकादशी इस प्रकार २५ उपवास करने । "ॐ ह्रीं द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानाय नम" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य । (व्रत विधान संग्रह/ पृ० १७३) (किशन सिंह क्रियाकोश) ।

ज्ञान प्रवाद—अंग द्रव्यश्रुतज्ञानका पाँचवाँ पूर्व —दे० श्रुतज्ञान/III ।

ज्ञानभूषण—१ नन्दिसघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप भुवनकीर्तिके शिष्य तथा विजयकीर्तिके गुरु थे । कृतियाँ—१ तत्त्वज्ञान तरंगिनी, २ सिद्धान्तसारका भाष्य, ३, परमार्थोपदेश, ४ (नेमिनिर्वाण पञ्जिका ?), ५. (पचास्तिकाय टीका ?) समय—प० गजाधर लालके अनुसार वि १५६० (ई० १५०३) A. N. Up के अनुसार ई० १४४७-१४९५—दे० इतिहास/५/१३ । २ नन्दि संघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार, आप ज्ञानसागरके शिष्य तथा प्रभाचन्द्रके सहधर्मा थे । समय वि १६०० (ई० १५४३) —दे० इतिहास/५/१३ ।

ज्ञान मति—भूतकालीन २१वे तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५ ।

ज्ञानमद—दे० मद ।

ज्ञानवाद—दे० वाद ।

ज्ञानविनय—दे० विनय ।

ज्ञानशक्ति—(स. सा /आ /प्रशस्ति/शक्ति न० ४) साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्ति ।=(ज्ञेय पदार्थोंके विशेष रूपमें उपयुक्त होनेवाली आत्माकी एक) साकारोपयोगमयी शक्ति अर्थात् ज्ञान ।

ज्ञानशुद्धि—दे० शुद्धि ।

ज्ञानसमय—दे० समय ।

ज्ञानसागर—१. नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावली के अनुसार आप आ० लक्ष्मीचन्दके शिष्य तथा वीरचन्दके सधर्मा तथा ज्ञानभूषणके गुरु थे । समय—वि० १५८५ (ई० १५३८) । दे० इतिहास/५/१३ । २. 'ब्र० ज्ञानसागर' काष्ठासंघीय आ० श्रीभूषणके शिष्य थे । आपने ब्र० मतिसागरके पठनार्थ एक गुटका लिखा था । एक कथासग्रह भी आपने लिखा है । समय—वि० श० १७ (ई० श०/१७). (हि० जै० सा० इतिहास/३७ । कामता प्रसाद) .

ज्ञानसार—१. आ० देवसेन (ई० ८९३-९४३) द्वारा रचित प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ । २. मुनि पद्मसिंह रचित संस्कृत श्लोकबद्ध ध्यान विषयक ग्रन्थ (ई० १०३९) ।

ज्ञानाचार—दे० आचार ।

ज्ञानार्णव—आ० शुभचन्द्र (ई० १००३-११६८) द्वारा संस्कृत श्लोकोंमें रचित एक आध्यात्मिक व ध्यान विषयक ग्रन्थ है । इसमें ४२ प्रकरण हैं और कुल २५०० श्लोक प्रमाण है । इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ लिखी गयीं—(१) आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) ने 'तत्त्वत्रय प्रकाशिका' टीका इसके गद्यभागपर लिखी, जिसमें शिवतत्त्व, गरुडतत्त्व और कामतत्त्व इन तीनों तत्त्वोंका वर्णन है ।—(२) प० जयचन्द छावडा (ई० १८१२) कृत भाषा वचनिका ।

ज्ञानावरण—जीवके ज्ञानको आवृत करनेवाले एक कर्म विशेषका नाम ज्ञानावरणीय है । जितने प्रकारका ज्ञान है, उतने ही प्रकारके ज्ञानावरणीय कर्म भी हैं और इसीलिए इस कर्मके संख्यात व असंख्यात भेद स्वीकार किये गये हैं ।

१. ज्ञानावरणीय कर्म निर्देश

१. ज्ञानावरणीय सामान्यका लक्षण

स सि /८/४/३८०/३ आवृणोत्यावियतेऽनेनेति वा आवरणम् ।

स सि./८/३/३७८/१० ज्ञानावरणस्य का प्रकृति । अर्थानवगम । =जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है ।४। ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति (स्वभाव) है ? अर्थका ज्ञान न होना । (रा. वा /८/४/२/५६७/३२), (८/३/४/५६७/२)

ध. १/१,१,१३१/३८१/६ बहिरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम् । =बहिरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है, ऐसा जानना चाहिए ।

ध. ६ /१,९-१,५/६/८ णाणमवबोहो अवगमो परिच्छेदो इदि एयट्ठो । तमावरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं । =ज्ञान, अवबोध, अवगम, और परिच्छेद ये सब एकार्थवाचक नाम हैं. उस ज्ञानको जो आवरण करता है, वह ज्ञानावरणीय कर्म है ।

द्र. स /टी /३१/९०/१ सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूत ज्ञानशब्दवाच्य परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं । =सहज शुद्ध केवलज्ञानको अथवा अभेदनयसे केवलज्ञान आदि अनन्तगुणोंके आधारभूत 'ज्ञान' शब्दसे कहने योग्य परमात्माको जो आवृत करे यानि ढके सो ज्ञानावरण है ।

★ **ज्ञानावरण कर्मका उदाहरण**—दे० प्रकृति बन्ध/३ ।

२. ज्ञानावरण कर्मके सामान्य पाँच भेद

ष. ख. १३/५.५/सू २१/२०९ णाणावरणीयस्स कम्मस्स पंच पयडीओ—आभिणिबोहियणाणावरणीयं सुदणाणावरणीयं, ओहिणाणावरणीयं

मणपज्जवणाणावरणीयं केवलणाणावरणीयं चेदि ।२१। =ज्ञानावरण कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ है—आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मन पर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय ।२१। (प खं ६/१,६-१/सू. १४/१५), (मू आ/१२२४); (त. सू/८/६), (प. सं/प्रा/२/४), (त. सा/५/२४)

★ **ज्ञानावरण व मोहनीयमें अन्तर**—दे० मोहनीय/१

३. ज्ञानावरणके संख्यात व असंख्यात भेद

१. ज्ञानावरण सामान्यके असंख्यात भेद

प ख. १२/४,२,१४/सू ४/४७६ णाणावरणीयदसणावरणीयकम्मस्स असखेज्जलोगपयडीओ ।४। =ज्ञानावरण और दर्शनावरणकी असख्यात प्रकृतियाँ है। (रा. वा/१/१५/१३/६१/३०), (रा. वा/८/१३/3/५८१/४),

ध १२/४,२,१४,४/४७६/४ कुदो एत्तियाओ होति त्ति णव्वदे। आवरणिज्जणाण-दंसणाणमसंखेज्जलोगमेत्त भेदुवलभादो। =प्रश्न—उनकी प्रकृतियाँ इतनी है, यह कैसे जाना ? उत्तर—चूँकि आवरणके योग्य ज्ञान न दर्शनके असख्यात लोकमात्र भेद पाये जाते है।

स्या.म /१७/२३८/७स्वज्ञानावरणवीर्यान्तिरायक्षयोपशमविशेषवशादेवास्य नैयत्येन प्रवृत्ते'। =ज्ञानावरण और वीर्यान्तिराय कर्मके क्षयोपशम होनेपर उनकी (प्रत्यक्ष, स्मृति, शब्द व अनुमान प्रमाणोकी) निश्चित पदार्थोंमें प्रवृत्ति होती है। (अर्थात् जिस समय जिस विषयको रोकनेवाला कर्म नष्ट हो जाता है उस समय उसी विषयका ज्ञान प्रकाशित हो सकता है, अन्य नहीं।)

२ मतिज्ञानावरणके संख्यात व असंख्यात भेद

प ख १३/५,५/सू. ३५/२३४ एवमाभिणिबोहियणाणावरणीयस्स कम्मस्स चउव्विह वा चदुवीसदिविध वा अट्ठावीसदिविध वा बत्तीसदिविधं वा अडदालीसविधं वा चोद्दाल-सदविध वा अट्ठसट्ठि-सदविध वा बाणउदि-सदविध वा वेसद-अट्ठासीदिविधं वा तिसद-छत्तीसदिविध वा तिसद-चुलसीदिविध वा णादव्वाणि भवति ।३४। =इस प्रकार आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय कर्मके चार भेद (अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणावरणीय), चौबीस (उपरोक्त चारोको ६ इन्द्रियोसे गुणा करनेसे २४), अट्ठाईस भेद, बत्तीस भेद, अडतालीस भेद, १४४ भेद, १४८ भेद, १६२ भेद, २४८ भेद, ३३६ भेद, और ३८४ भेद ज्ञातव्य है (विशेष देखा मतिज्ञान/१)

ध १२/४,२,१५,४/५०१/१३ मदिणाणावरणीयपयडीओ असखेज्जलोगमेत्ताओ। =मतिज्ञानावरणकी प्रकृतियाँ असंख्यात लोकमात्र है।

म पु /६२/७१ लब्धनोधिर्मतिज्ञानक्षयोपशमनावृत ।७१। =मतिज्ञानके क्षयोपशममें युक्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया।

प ध./उ /४०७,८५५,८५६ (स्वानुभूत्यावरण कर्म)।

३ श्रुतज्ञानावरणीयके सख्यात व असख्यात भेद

प ख १३/५,५/४४,४५,४८,२४७ २६० सुदणाणावरणीयस्स कम्मस्स सखेज्जाओ पयडीओ ।४४। जावदियाणि अक्खराणि अक्खरसंजोगा वा ।४५। तस्सेव सुदणाणावरणीयस्स कम्मस्स वीसदिविधा परूवणा कायव्वा भवदि ।४७। पज्जयावरणीयं पज्जयसमासावरणीय अक्खरावरणीय अक्खरसमासावरणीयं पदावरणीय पदसमासावरणीय सघादावरणीयं सघादसमासावरणीय पडिवत्तिआवरणीयं पडिवत्तिसमासावरणीय अणियोगद्दारावरणीय अणियोगद्दारसमासावरणीय पाहुडपाहुडावरणीय पाहुडपाहुडसमासावरणीयं पाहुडावरणीयं पाहुडसमासावरणीय वत्थुआवरणीय वत्थुसमासावरणीय पुव्वावरणीय पुव्वसमासावरणीय ।४८। =श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी सख्यात प्रकृतियाँ है ।४४। जितने अक्षर है और जितने अक्षर सयोग है (दे० अक्षर) उतनी श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी प्रकृतियाँ है ।४५। उसी श्रुतज्ञानावरणीयकी २० प्रकारकी प्ररूपणा करनी चाहिए ।४७। पर्यायावरणीय, पर्यायसमासावरणीय, अक्षरावरणीय, अक्षरसमासावरणीय, पदावरणीय, पदसमासावरणीय, सघातावरणीय, संघातसमासावरणीय, प्रतिपत्ति आवरणीय, प्रतिपत्ति समासावरणीय, अनुयोगद्वारावरणीय, अनुयोगद्वारसमासावरणीय, प्राभृतप्राभृतावरणीय, प्राभृतप्राभृतसमासावरणीय, प्राभृतावरणीय, प्राभृतसमासावरणीय, वस्तुआवरणीय, वस्तुसमासावरणीय, पूर्वावरणीय, पूर्वसमासावरणीय, ये श्रुतज्ञानावरणके २० भेद है।

ध १२/५,२,१५,४/५०२/२ सुदणाणावरणीयपयडीओ असखेज्जालोगमेत्ताओ। =श्रुतज्ञानावरणीयको प्रकृतियाँ असख्यात लोकमात्र है।

४ अवधिज्ञानावरणीयके सख्यात व असख्यात भेद

प. खं. १३/५,५/सूत्र ५२/२८६ ओहिणाणावरणीयस्स कम्मस्स असंखेज्जाओ पयडीओ ।५२।

ध. १३/५,५,५२/२८६/१२ असखेज्जाओ त्ति कुदोवगम्मदे। आवरणिज्जस्स ओहिणाणस्स असखेज्जविपप्पत्तादो। =अवधिज्ञानावरण कर्मकी असख्यात प्रकृतियाँ है ।५२। प्रश्न—असख्यात है, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है, उत्तर—क्योकि, आवरणीय अवधिज्ञानके असख्यात विकल्प है। (विशेष दे० अवधिज्ञानके भेद) ध १२/८,२,१५,४/५०१/११)

५ मन पर्ययज्ञानावरणीयके सख्यात व असख्यात भेद.—

प. खं १३/५,५/सूत्र ६०-६२,७०/३२८-३२६,३४०।
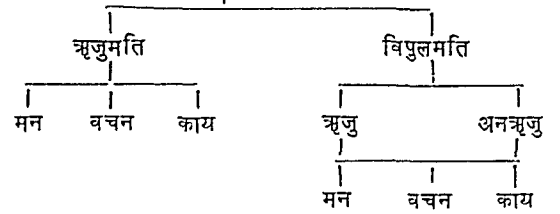
ध १२/४,२,१५,४/५०२/३ मणपज्जवणाणावरणीयपयडीओ असखेज्जकप्पमेत्ताओ। =मन'पर्ययज्ञानावरणीयकी प्रकृतियाँ असंख्यात कल्पमात्र है।

४. केवलज्ञानावरणकी एक ही प्रकृति है

प. खं /१३/५,५/सूत्र ८०/३४५ केवलणाणावरणीयस्स कम्मस्स एया चेव पयडी ।८०। =केवलज्ञानावरणीय कर्मकी एक ही प्रकृति है।

५. ज्ञानावरण व दर्शनावरणके बन्ध योग्य परिणाम

दे० वचन। १—(अभ्याख्यान आदि वचनोंसे ज्ञानावरणीयकी वेदना होती है।

त. सू /६/१० तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तिरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो' ।१०।

स /सि/६/१०/३२८/५ एतेन ज्ञानदर्शनवत्सु तत्साधनेषु च प्रदोपादयो योज्या', तन्निमित्तत्वात्। ज्ञानविषया प्रदोपादयो ज्ञानावरणस्य। दर्शनविषया प्रदोपादयो दर्शनावरणस्येति। =ज्ञान और दर्शनके विषयमें [१]प्रदोष, [२]निह्नव, [३]मात्सर्य, [४]अन्तराय, [५]आसादन, और [६]उपघात य ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव है ।१०। ज्ञान और दर्शनवालोंके विषयमें तथा उनके साधनोके विषयमे प्रदोपादिकी योजना करनी चाहिए, क्योकि ये उनके निमित्तसे होते है। अथवा ज्ञान सम्बन्धी प्रदोपादिक ज्ञानावरणके आस्रव है और दर्शन सम्बन्धी प्रदोपादिक दर्शनावरणके आस्रव है (गो क/मू /८००/९७६)

रा वा /६/१०/२०/५१९/१० अपि च, आचार्योपाध्यायप्रत्यनीकत्वअकालाध्ययन-श्रद्धाभाव-अभ्यासालस्य-अनादरार्थ-श्रावण-तीर्थोपरोध-बहुश्रुतगर्व-मिथ्योपदेश-बहुश्रुतावमान-स्वपक्षपरिग्रहपण्डितत्वस्व-पक्षपरित्याग-अबद्धप्रलाप-उत्सूत्रवाद-साध्यपूर्वकज्ञानाधिगमशास्त्र-विक्रय-प्राणातिपातादय ज्ञानावरणस्यास्रवा' । दर्शनमात्स-र्यान्तराय-नेत्रोत्पाटनेन्द्रियप्रत्यनीकत्व-दृष्टिगौरव-आगतरवापिता-दिवाशयनालस्य-नास्तिक्यपरिग्रह-सम्यग्दृष्टिसदूषण-कुतीर्थ प्रशसा, प्राणव्यपरोपण-यतिजनजुगुप्सादयो दर्शनावरणस्यास्रवा', इत्यस्ति आस्रवभेद' ।=(उपरोक्तमे अतिरिक्त और भी ज्ञानावरण व दर्शनावरणके कुछ आस्रवोका निर्देश निम्न प्रकार है) ७ आचार्य और उपाध्यायके प्रतिकूल चलना, ८ अकाल अध्ययन, ९ अश्रद्धा, १० अभ्यासमे आलस्य, ११ अनादरसे अर्थ सुनना, १२ तीर्थोपरोध अर्थात् दिव्यध्वनिके समय स्वय व्याख्या करने लगना, १३ बहुश्रुतपनेका गर्व, १४ मिथ्योपदेश, बहुश्रुतका अपमान करना, १५ स्वपक्षका दुराग्रह, १६ दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप करना, १७ सूत्रविरुद्ध बोलना, १८ असिद्धसे ज्ञानप्राप्ति १९ शास्त्रविक्रय; और २० हिंसा आदि ज्ञानावरणके आस्रवके कारण है। ७ दर्शनमात्सर्य, ८. दर्शन अन्तराय ९ आँखे फोडना; १० इन्द्रियोके विपरीत प्रवृत्ति, ११ दृष्टिका गर्व, १२ दीर्घनिद्रा, १३ दिनमे सोना; १४ आलस्य, १५ नास्तिकता, १६ सम्यग्दृष्टिमें दूषण लगाना, १७ कुतीर्थकी प्रशंसा, १८ हिसा, और १९ यतिजनोके प्रति ग्लानिके भाव आदि भी दर्शनावरणीयके आस्रवके कारण है। इस प्रकार इन दोनोके आस्रवमें भेद भी है। (त सा /४/१३-१९)।

*** ज्ञानावरण प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा** —दे० वह वह नाम

*** ज्ञानावरणका सर्व व देशघातीपना** —दे० अनुभाग

२. ज्ञानावरणीय विषयक शंका-समाधान

१. ज्ञानावरणको ज्ञान विनाशक कहे तो ?

ध ६/१,९-१,५/६/९ णाणविणासयमिदि किण्ण उच्चदे। ण, जीवलक्खणाण णाणदसणाणं विणासाभावा। विणासे वा जीवस्स वि विणासो होज्ज, लक्खणरहियलक्खाणुवलंभा। णाणस्स विणासाभावे सव्वजीवाण णाणत्थित्त पसज्जदे चे, होदु णाम विरोहाभावा, अक्खरस्स अणतभाओ णिच्चुग्घाडियओ इदि सुत्ताणुकूलत्तादो वा। ण सव्वावयवेहि णाणस्सुवलभो हदु त्ति वोत्तु जुत्त, आवरिदणाणभागाणमुवलभविरोहा।=प्रश्न—'ज्ञानावरण' नामके स्थानपर 'ज्ञानविनाशक' ऐसा नाम क्यो नही कहा ? उत्तर—नही, क्योकि, जीवके लक्षणस्वरूप ज्ञान और दर्शनका विनाश नही होता है। यदि ज्ञान और दर्शनका विनाश माना जाये, तो जीवका भी विनाश हो जायेगा, क्योंकि, लक्षणसे रहित लक्ष्य पाया नही जाता। प्रश्न—ज्ञानका विनाश नही माननेपर सभी जीवोके ज्ञानका अस्तित्व प्राप्त होता है ? उत्तर—ज्ञानका विनाश नही माननेपर यदि सर्व जीवोके ज्ञानका अस्तित्व प्राप्त होता है तो होने दो, उसमें कोई विरोध नही है। अथवा 'अक्षरका अनन्तवाँ भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है' इस सूत्रके अनुकूल होनेसे सर्व जीवोके ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध है। प्रश्न—तो फिर सर्व अवयवोके साथ ज्ञानका उपलम्भ होना चाहिए (हीन ज्ञानका नहीं) ? उत्तर—यह कहना उपयुक्त नही है, क्योकि, आवरण किये गये ज्ञानके भागोका उपलम्भ माननेमे विरोध आता है।

२. ज्ञानावरण कर्म सद्भूतज्ञानांशका आवरण करता है या असद्भूतका

रा वा /८/६/४-६/५७१/४ इदमिह सप्रधार्यम्—सता मत्यादीना कर्म आवरणं भवेत, असता वेति। कि चात' यदि सताम्; परिप्राप्तात्मलाभत्वात् सत्वादेव आवृत्तिर्नोपपद्यते। अथासताम्, नन्वावरणाभाव। न हि खरविषाणवदसदाव्रियते।४। न वैष दोष'। कि कारणम्। आदेशवचनात्।५। द्रव्यार्थादेशेन सता मत्यादीनामावरणम्, पर्यायार्थादेशेनासताम्।५। न कुटीभूतानि मत्यादीनि कानिचित् सन्ति येषामावरणात् मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वं भवेत् किन्तु मत्याद्यावरणसंनिधाने आत्मा मत्यादिज्ञानपर्यायैर्नोत्पद्यते इत्यतो मत्याद्यावरणानाम् आवरणत्वम्।६।=प्रश्न—कर्म विद्यमान मत्यादिका आवरण करता है या अविद्यमानका ? यदि विद्यमानका तो जब वह स्वरूपलाभ करके विद्यमान ही है तो आवरण कैसा ? और यदि अविद्यमानका तो भी खरविषाणकी तरह उसका आवरण कैसा ? उत्तर—द्रव्यार्थदृष्टिसे सत और पर्यायदृष्टिसे असत मति आदिका आवरण होता है। अथवा मति आदिका कहीं प्रत्यक्षीभूत ढेर नहीं लगा है जिसको ढक देनेसे मत्यावरण आदि कहे जाते हों, किन्तु मत्यावरण आदिके उदयसे आत्मामें मति आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होते इसलिए उन्हें आवरण संज्ञा दी गयी है। (प्रत्याख्यानावरणकी भाँति)। (ध. ६/१,९-१,५/७/३)।

*** आवृत व अनावृत ज्ञानांशोंमें एकत्व कैसे** —दे० ज्ञान/I/४/८।

*** अभव्यमें केवल व मनःपर्यय ज्ञानावरणका सत्त्व कैसे** —दे० भव्य/३/१।

३. सात ज्ञानोंके सात ही आवरण क्यों नहीं

ध. ७/२,१,४५/८७/७ सत्तण्हं णाणाण सत्त चेव आवरणाणि किण्ण होदि चे। ण, पंचणाणवदिरित्तणाणाणुवलभा। यदि अण्णाण-सुदअण्णाण-विभंगणाणमभावो वि णत्थि, जहाकमेण आभिणिबोहिय-सुद-ओहिणाणेसु तेसिमतब्भावादो।=प्रश्न—इन सातों ज्ञानोके साथ ही आवरण क्यो नही ? उत्तर—नहीं होते, क्योकि, पाँच ज्ञानोके अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान पाये नही जाते। किन्तु इससे मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञानका अभाव नही हो जाता, क्योंकि, उनका यथाक्रमसे आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, और अवधिज्ञानमें अन्तर्भाव होता है।

४. ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवोंमें समानता कैसे हो सकती है

रा वा /६/१०-१२/५१८/४ स्यान्मतम्-तुल्यास्रवत्वादनयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्यकारणाना हि लोके एकत्व दृष्टमिति, तन्न, किं कारणम्। तुल्यहेतुत्वेऽपि तत्तन स्वपक्षस्य साधकमेव परपक्षस्य दूषकमेवेति न साधकदूषकधर्मयोरेकत्वमिति मतम्।१०। यस्य तुल्यहेतुकानामेकत्वं यस्य मृत्पिडादितुल्यहेतुकाना घटशरावादीना नानात्व व्याहन्यत इति द्रष्टव्याघात'।११। आवरणात्यन्तसक्षये केवलिनि युगपत् केवलज्ञानदर्शनयो साहचर्यं भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत्। ततश्चानयोस्तुल्यहेतुत्व युक्तम्।१२।=प्रश्न—ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रवके कारण तुल्य है, अत दोनोंको एक ही कहना चाहिए, क्योकि, जिनके कारण तुल्य होते है वे एक देखे जाते है ? उत्तर—तुल्य कारण होनेसे कार्यैक्य माना जाये तो एक हेतुक होनेपर भी वचन स्वपक्षके ही साधक तथा परपक्षके ही दूषक होते है इस प्रकार साधक और दूषक दोनों धर्मोमें एकत्व प्राप्त होता है। एक मिट्टी रूप कारणसे ही घट घटी शराव सकोरा आदि अनेक कार्योकी प्रत्यक्ष सिद्धि है। आवरणके अत्यन्त सक्षय होनेपर केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनो, सूर्यके प्रताप और प्रकाशकी तरह प्रगट हो जाते है, अत इनमे तुल्य कारणोसे आस्रव मानना उचित है।

ज्ञानी—१. लक्षण

स. सा/मू/७५ ' कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं । ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।=जो आत्मा इस कर्मके परिणामको तथा नोकर्मके परिणामको नही करता किन्तु जानता है, वह ज्ञानी है।

आ. अनु/२१०-२११ "रसादिराद्यो भाग' स्याज्ज्ञानावृत्त्यादिरन्वत । ज्ञानादयस्तृतीयस्तु समार्येवं त्रयात्मक' ।२१०। भागत्रयमयं नित्य-मात्मानं बन्धवर्तिनम् । भागद्वयात्पृथक्कर्तुं यो जानाति स तत्त्व-वित् ।२११। =संसारी प्राणीके तीन भाग है—सप्तधातुमय शरीर, ज्ञानावरणादि कर्म और ज्ञान ।२१०। इन तीन भागोमें-से जो ज्ञानको अन्य दो भागोसे करनेका विधान जानता है वह तत्त्वज्ञानी है।२११।

स. सा /प. जयचन्द/१७७-१७८ ज्ञानी शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं-को लेकर प्रवृत्त होता है—(१) प्रथम तो जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है, इस प्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षासे सभी जीव ज्ञानी है। (२) यदि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो सम्यग्दृष्टिको सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए उस अपेक्षासे वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्णज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो केवली भगवान् ज्ञानी है और छद्मस्थ अज्ञानी है।

* **जीवको ज्ञानी कहनेकी विवक्षा**—दे० जीव/१/२,३ ।

* **ज्ञानीका विषय**—दे० सम्यग्दृष्टि ।

* **श्रुतज्ञानी**—दे० श्रुतकेवली ।

* **ज्ञानीकी धार्मिक क्रियाएँ**—दे० मिथ्यादृष्टि/४ ।

ज्ञानेश्वर—भूतकालीन १७वें तीर्थंकर। दे० तीर्थंकर/५ ।

ज्ञायक—१ ज्ञायक शरीर—दे० निक्षेप/५ । २. ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध। दे० सम्बन्ध ।

ज्ञेय—१. ज्ञानमें ज्ञेयोका आकार। दे० केवलज्ञान/६ । २ ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध। दे० सम्बन्ध ।

ज्ञेयार्थ—१ ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया—दे० परिणमन ।

ग्रन्थ—१. ग्रन्थ सामान्यका लक्षण

ध ६/४,१,५४/२५६/१० "गणहरदेवविरइददव्वसुद गंथो"।=गणधर देवसे रचा गया द्रव्यश्रुत ग्रन्थ कहा जाता है।

ध ६/४,१,६७/३२३/७ ववहारणय पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगथ-कारणत्तादो। एदस्स परिहरण णिग्गथत्तं। णिच्छयणय पडुच्च मिच्छ-त्तादी गथो, कम्मबधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्त। =व्यवहार नयकी अपेक्षा क्षेत्रादि ग्रन्थ है, क्योकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थके कारण है और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनयकी अपेक्षा मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ है, क्योंकि वे कर्मबन्धके कारण है और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

भ आ /वि /४३/१४१/२० ग्रन्थन्ति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्था । मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञानं असयम' कषाया' अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामा । =जो संसारको गूँथते है अर्थात् जो ससारकी रचना करते है, जो संसारको दीर्घकाल तक रहनेवाला करते है, उनको ग्रन्थ कहना चाहिए। (तथा)—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय, अशुभ मन वचन काय योग, इन परिणामोंको आचार्य ग्रन्थ कहते है।

२. ग्रन्थके भेद-प्रभेद—

ध. ६/४,१,६७/३२२-३२३
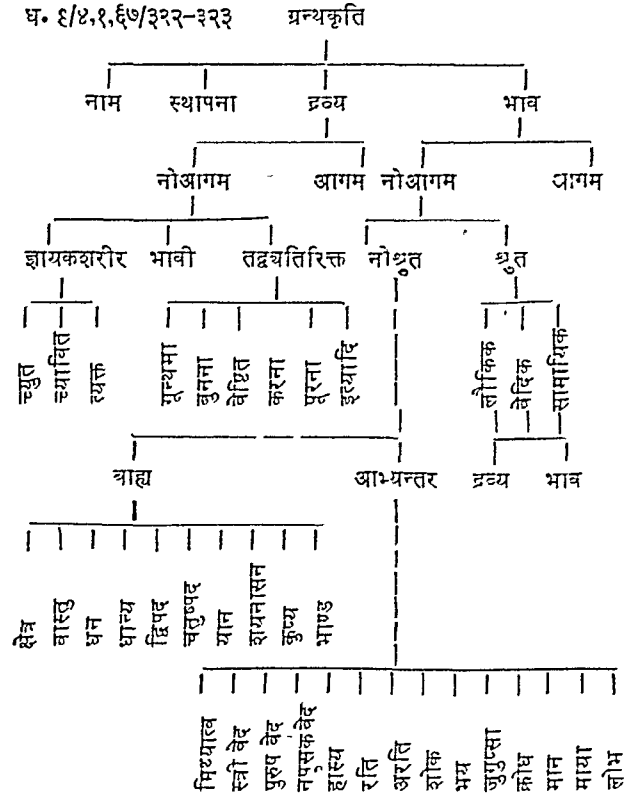
(मू आ /४०७-४०८), (भ.आ /मू /१११८-१११६/११२४), (पु.सि उ ११६ में केवल अन्तरगवाले १४ भेद); (ज्ञानार्णव/१६/४+६में उद्धृत)।

त. सू /७/२६ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमा ।२६। =क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य इन नौके परिमाणका अतिक्रम करना परिग्रह प्रमाणव्रतके पाँच अतिचार है। (प प्र./पू /२/४६)

द.पा /टी /१४/१५ पर उद्धृत=क्षेत्रं वास्तु धनं धान्य द्विपद च चतु-ष्पद । कुप्यं भाण्ड हिरण्य च सुवर्णं च बहिर्दश ।१। =क्षेत्र वास्तु, धन-धान्य; द्विपद-चतुष्पद, कुप्य-भाण्ड; हिरण्य-सुवर्ण—ये दश बाह्य परिग्रह है।

३. ग्रन्थके भेदोंके लक्षण

ध ६/४,१,६७/३२२/१० हस्त्यश्व-तन्त्र-कौटिल्य-वात्सायनादिबोधो लौकिकभावश्रुतग्रन्थ । द्वादशाङ्गादिबोधो वैदिकभावश्रुतग्रन्थ । नैयायिकवैशेषिकलोकायतसांख्यमीमासकबौद्धादिदर्शनविषयबोध' सामायिकभावश्रुतग्रन्थ' । एदेसिं सद्दपबधा अक्खरकव्वादीणं जा च गंथरयणा अक्खरकाव्यैर्ग्रन्थरचना प्रतिपाद्यविषया सा सुदगथकदी णाम । =(नाम स्थापना आदि भेदोके लक्षणोके लिए दे० निक्षेप)—हाथी, अश्व, तन्त्र, कौटिल्य, अर्थशास्त्र ओर वात्सायन कामशास्त्र आदि विषयक ज्ञान लौकिक भावश्रुत ग्रन्थकृति है। द्वादशागादि विषयक बोध वैदिक भावश्रुत ग्रन्थकृति है। तथा नैयायिक वैशे-षिक, लोकायत, सांख्य, मीमासक और बौद्ध इत्यादि दर्शनोंको विषय करनेवाला बोध सामायिक भावश्रुत ग्रन्थकृति है। इनकी शब्द सन्दर्भ रूप अक्षरकाव्यो द्वारा प्रतिपाद्य अर्थको विषय करनेवाली जो ग्रन्थरचना की जाती है। वह श्रुतग्रन्थकृति कही जाती है। (निक्षेपो रूप भेदों सम्बन्धी —दे० निक्षेप)।

* **परिग्रह सम्बन्धी विषय**—दे० परिग्रह ।

ग्रन्थसम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद —दे० निक्षेप/५/८।

ग्रन्थि—एक ग्रह—दे० ग्रह।

ग्रन्थिम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद —दे० निक्षेप/५/९।

ग्रह—१. अठासी ग्रहोंका नाम निर्देश

ति.प /७/१५-२२ का भापार्थ—१ बुध, २ शुक्र; ३ बृहस्पति; ४. मंगल, ५. शनि, ६ काल; ७ लोहित; ८ कनक; ९. नील; १०. विकाल, ११ केश (कोश), १२. कवयव (कचयव); १३ कनक-संस्थान; १४ दुन्दुभक (दुन्दुभि); १५. रक्तनिभ. १६. नीलाभास; १७ अशोक सस्थान; १८ कंस; १९. रूपनिभ (रूपनिर्भास); २०. कनकवर्ण (कंस वर्ण) २१. शंखपरिणाम; २२. तिलपुच्छ; २३. शंखवर्ण; २४. उदकवर्ण (उदय); २५ पंचवर्ण; २६. उत्पात; २७ धूमकेतु; २८. तिल, २९ नभ; ३०. क्षारराशि; ३१. विजिष्णु (विजगिष्णु); ३२. सदृश; ३३ सधि (शान्ति); ३४. कलेवर; ३५ अभिन्न (अभिन्न सन्धि); ३६ ग्रन्थि; ३७. मानवक (मान); ३८. कालक, ३९. कालकेतु; ४०. निलय; ४१. अनय, ४२. विद्युज्जिह्व, ४३ सिंह, ४४ अलक, ४५. निर्दुःख; ४६ काल; ४७. महाकाल; ४८. रुद्र; ४९. महारुद्र; ५० सन्तान; ५१ विपुल; ५२ संभव; ५३. स्वार्थी, ५४. क्षेम (क्षेमकर), ५५. चन्द्र, ५६ निर्मन्त्र, ५७, ज्योतिष्माण; ५८ दिशसंस्थित (दिशा), ५९ विरत (विरज), ६०. वीतशोक; ६१ निश्चल, ६२. प्रलम्न, ६३ भासुर; ६४ स्वयप्रभ; ६५ विजय; ६६ वैजयन्त, ६७ सीमकर, ६८. अपराजित, ६९ जयन्त; ७० विमल; ७१ अभयकर; ७२ विकस; ७३ काष्ठी (करिकाष्ठ), ७४, विकट, ७५ कज्जली; ७६ अग्निज्वाल; ७७. अशोक; ७८. केतु, ७९ क्षीररस; ८० अघ, ८१. श्रवण; ८२ जलकेतु; ८३. केतु (राहु); ८४ अतरद, ८५ एकसस्थान, ८६ अश्व, ८७ भावग्रह, ८८. महाग्रह, इस प्रकार ये ८८ ग्रहोंके नाम हैं।

नोट—ब्रैकेटमें दिए गए नामें त्रिलोक सारकी अपेक्षा है। नं १७, २६; ३८; ३९, ४४, ५१, ५५; ७५, ७७ ये नो नाम त्रि-सामें नही है। इनके स्थानपर अन्य नौ नाम दिये हैं—अश्वरथान; धूम; अक्ष, चतुपाद, वस्तून, त्रस्त, एकजटी; श्रवण, (त्रि. सा /३६३-३७०)

*** ग्रहोंकी संख्या व उनका लोकमें अवस्थान—** (दे० ज्योतिषी)।

ग्रहण—१. ज्ञानके अर्थमें—

रा वा /१/१/१/३/२५ आहितमात्मसात्कृतं परिगृहीतम् इत्यनर्थान्तरम्। =आहित, आत्मसात् किया गया या परिगृहीत ये एकार्थवाची है।

२ इन्द्रियके अर्थमें

रा वा /२/८/१६/१२२/२५ यान्यमूनि ग्रहणानि पूर्वकृतकर्मनिर्वर्तितानि हिरुक्कृतस्वभावसामर्थ्यजनितभेदानि रूपरसगन्धस्पर्शशब्दग्राहकाणि चक्षुरसनघ्राणत्वक्श्रोत्राणि। =जो यह पूर्वकृतकर्मसे निर्मित, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व शब्दको ग्रहण करनेवाली, चक्षु रसन घ्राण त्वक् और श्रोत्र रूप 'ग्रहणानि' अर्थात् इन्द्रियाँ है।

३. सूर्य व चन्द्र ग्रहणके अर्थमें

त्रि सा./३३९/भाषा टीका—राहू तो चन्द्रमाको आच्छादे है और केतु सूर्यको आच्छादे है, याहीका नाम ग्रहण कहिए है। विशेष दे० ज्योतिषी/२/८)।

*** ग्रहण के अवसर पर स्वाध्याय करनेका निषेध—** —दे० स्वाध्याय/२।

ग्रहावती—पूर्व विदेहकी एक विभगा नदी—दे० लोक/७।

ग्राम—(ति प/४/१३९८), वइपरिवेढो गामो। =वृति (बाड़) से वेष्टित ग्राम होता है। (ध.१३/५.५.६४/३३६/३) (त्रि सा/६७६)।

म. पु./१६/१६४-१६६ ग्रामवृत्तिपरिक्षेपमात्राः स्युरुचिताश्रयाः। शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशयाः।१६४। ग्रामाः कुलशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः। परस्तत्पञ्चशत्या स्यात् सुसमृद्धकृषीबलः।१६५। क्रोशद्विक्रोशसीमानो ग्रामाः स्युरधमोत्तमाः। [illegible] प्रभूतयवसोदकाः।१६६। =जिसमें बाड़से घिरे हुए घर हों, जिसमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों, तथा जो बगीचा और तालाबोंसे सहित हों, उन्हें ग्राम कहते हैं।१६४। जिसमें सौ घर हों उसे छोटा गाँव तथा जिसमें ५०० घर हों और जिसके किसान धन-सम्पन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं।१६५। छोटे गाँवकी सीमा एक कोसकी और बड़े गाँवकी सीमा दो कोसकी होती है।१६६।

ग्रास—(ह. पु /११/१२५) सहस्रसिक्थः कवलो। =१००० चावलोंका एक कवल होता है। (ध. १३/५ ४,२६/५६/६)।

*** स्वस्थ मनुष्योंके आहारमें ग्रासोंका प्रमाण** —दे० आहार/I/२।

ग्राह्य—१ ग्राह्य ग्राहक संबंध—दे० संबंध। २ ग्राह्य वर्गणा—(दे० वर्गणा)।

ग्रीवावनमन—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

ग्रीवोन्नमन—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

ग्रैवेयक—कल्पातीत स्वर्गोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/१.५।

रा वा./४/१९/२/२० लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवा, ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि, तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयकाः। =लोक पुरुषके ग्रीवाकी तरह ग्रैवेयक है। जो ग्रीवामें स्थित हों वे ग्रैवेयक विमान हैं। उनके साहचर्यसे वहाँके इन्द्र भी ग्रैवेयक हैं।

ग्लान—(स.सि /९/२४/४४२/८) रुजादिक्लिष्टशरीरो ग्लानः। =रोग आदिसे क्रान्त शरीरवाला ग्लान कहलाता है। (रा वा /९/२४/९/६२३/१९) (चा. सा /१५१/३)।

ग्लानि—१. घृणा या ग्लानिका निषेध—दे० निर्विचिकित्सा। २ मोक्ष-मार्गमें जुगुप्साकी कथंचित इष्टता अनिष्टता—दे० सूतक।

[घ]

घट—चौथे नरकका ७वाँ पटल—दे० नरक/५।

घटिका—कालका एक प्रमाण (अपर नाम घड़ी या नाली) —दे० गणित/I/१।

घड़ी—कालका एक प्रमाण (अपर नाम घटिका या नाली) —दे० गणित/I/१।

घन—Cube अर्थात् किसी राशिको तीन बार परस्पर गुणना।

घनधारा— १. घनधारा, २. द्विरूप घनधारा, ३. घनमातृकाधारा, ४ द्विरूप घनाघनधारा—दे० गणित/II/५।

घन प्रायोगिक शब्द—(दे० शब्द)।

घनफल—(ज प /प्र /१०६) Volume —दे० गणित/I/७।

घनफल निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७।

घनमूल—Cube root—दे० गणित गणि/II/९। (ज प्र /प्र. १०६); (ध. ५/प्र २७)।

घनलोक—Valume of Universe (दे० गणित/I/३) (दे० प्रमाण/६). (ज. प्र/प्र. १०६) ।

घनवात—Atmosphere—दे० वातवलय) (ज. प्र./प्र १०६)

घनांगुल—(अगुल)³– दे० गणित/I/१ ।

घनाकार—Cube (ज.प /प्र १०६) ।

घनाघन—द्विरूप घनाघनधारा—दे० गणित II/५ ।

घनोदधि वात—दे० वातवलय ।

घम्मा—प्रथम नरककी पृथिवी –दे० रत्नप्रभा ।

घाटा—चौथे नरकका ८ठा पटल—दे० नरक/५ ।

घात—१. दूसरे नरकाका ५वाँ पटल—दे० नरक/५ । २ परस्पर गुणा करना—दे० गणित/II/१/५ । ३. घात निकालना=Raising of numbes to given Powers ध /पु ५/प्र २७ ।

* **अनुभाग व स्थिति काण्डक घात**—दे० अपकर्षण/४ ।

घातकृष्टि—दे० कृष्टि ।

घातांक—Theory of indices या Powers. (ध./पु ५/प्र. २७) विशेष दे० गणित/II/६ ।

घातायुष्क—दे० मिथ्यादृष्टि ।

घाती—१ घाती, देशघाती व सर्वघाती प्रकृतियाँ—दे० अनुभाग । २ देश व सर्वघाती स्पर्धक—दे० स्पर्धक ।

घुटुक—(पा पु./सर्ग/श्लो.) । विद्याधर कन्या हिडिम्बासे भीमका पुत्र था (१४/५१-६५) महाभारत युद्धमें अश्वत्थामा द्वारा मारा गया (२०/२१८-२१) ।

घृणा—घृणा करनेका निषेध—दे० निर्विचिकित्सा । मोक्षमार्गमे जुगुप्सा भावकी कथंचित् इष्टता अनिष्टता—दे० सूतक ।

घृतवर—१ मध्यलोकका ६ठाँ द्वीप व सागर -दे० लोक /५ । २ उत्तर घृतवरद्वीपका अधिपति व्यतर देव—दे० व्यंतर/४ ।

घृतस्रावी—दे० ऋद्धि/१ ।

घोटकपाद—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

घोटमान—दे० घोलमान ।

घोर गुण ब्रह्मचर्य—दे० ऋद्धि/४ ।

घोर तप—दे० ऋद्धि/४ ।

घोर पराक्रम—दे० ऋद्धि/४ ।

घोलमान—हानि वृद्धि सहित अनवस्थित भावका नाम घोलमान है—विशेष देखो घोलमान योगस्थान—दे० योग/५ , और गुणित क्षपित घोलमान कर्माशिक (क्षपित) ।

घोष—ध १३/५,५,६३/२३६/२ घोषो नाम व्रज ।=घोषका अर्थ व्रज है ।

म पु./१६/१७६ तथा घोषकरादीनामपि लक्ष्म विकल्प्यताम् ।—इसी प्रकार घोष तथा आकर आदिके लक्षणोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिए, अर्थात् जहाँ पर बहुत- घोष (अहीर) रहते है उसे (उस ग्राम को) घोष कहते है ।

घोष प्रायोगिक शब्द—दे० शब्द ।

घोषसम द्रव्यनिक्षेप—दे० निक्षेप/५/८ ।

घ्नत—गणितकी गुणकार विधिमें गुण्यको गुणकार द्वारा घ्नत किया कहा जाता है—दे० गणित/II/१/५ ।

घ्राण—दे० इन्द्रिय/१ ।

[च]

चंचत—सौधर्म स्वर्गका ११ वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५ ।

चंड—ई० पू० ३ का एक प्राकृत विद्वान् जिन्होने 'प्राकृत लक्षण' नामका एक प्राकृत व्याकरण लिखा है । (प प्र ११८) ।

चंडवेगा—भरत क्षेत्रके वरुण पर्वतपर स्थित एक नदी —दे० मनुष्य/४ ।

चंडशासन—(म पु./६०/५२-५३) मलय देशका राजा था । एक समय पोदनपुरके राजा वसुषेणसे मिलने गया, तब वहाँ उसकी रानीपर मोहित होकर उसे हर ले गया ।

चंद—अपर विदेहस्थ देवमाल वक्षारका कूट व देव—दे० लोक/७ ।

चंदन कथा—आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ ।

चंदन षष्ठी व्रत—६ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद कृष्णा ६ को उपवास करे । उस दिन तीन काल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे । श्वेताम्बरोंकी अपेक्षा उस दिन उपवासकी बजाय चन्दन चर्चित भोजन किया जाता है । (व्रत-विधान सग्रह/पृ. ८६, १२६) (किशन सिंह क्रिया कोश) (नवल साहकृत वर्धमान पुराण) ।

चंदना—(म. पु /७५/श्लोक नं) — पूर्वभव न० ३ मे सोमिला ब्राह्मणी थी ।७३। पूर्वभव न० २ में कनकलता नामकी राजपुत्री थी ।८३। पूर्वभव न० १ में पद्मलता नामकी राजपुत्री थी ।६८। वर्तमानभवमें चन्दना नामकी राजपुत्री हुई ।१७०। =वर्तमान भवमे राजा चेटकको पुत्री थी, एक विद्याधर कामसे पीडित होकर उसे हर ले गया और अपनी स्त्रीके भयसे महा अटवीमें उसे छोड दिया । किसी भीलने उसे वहाँसे उठाकर एक सेठको दे दी । सेठकी स्त्री उससे शकित होकर उसे कांजी मिश्रित कोदोंका आहार देने लगी । एक समय भगवान् महावीर सौभाग्यसे चर्याके लिए आये, तब चन्दनाने उनको कोदोंका ही आहार दे दिया, जिसके प्रतापसे उसके सर्व बन्धन टूट गये तथा वह सर्वांगसुन्दर हो गयी । (म पु /७४/३३८-३४७) । तथा (म पु./७५/६-७,३५-७०) (म पु /७५/श्लो न)—स्त्रीलिंग छेदकर अगले भवमे अच्युत स्वर्गमें देव हुआ ।१७७। वहाँसे चयकर मनुष्य भवधारण कर मोक्ष पाएगा ।१८७। (ह पु /२/७०) ।

चंद्र—१. अपर विदेहस्थ देवमाल वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव, —(दे० लोक/७) २. सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि वनोंके उत्तरभागमे स्थित कुबेरका भवन व गुफा—दे० लोक/८, ३ रुचक पर्वतका एक कूट —दे० लोक/८, ४. सौधर्म स्वर्गका ३रा पटल —दे० स्वर्ग/५, ५ दक्षिण अरुणवरद्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४, ६ एक ग्रह । दे० ग्रह ।

२. चन्द्रग्रह सम्बन्धी विषय—दे० ज्योतिषी ।

चंद्रकल्याणक व्रत—दे० कल्याणक व्रत ।

चंद्रकीर्ति—१ नन्दिसघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप मल्लधारिदेवके शिष्य और दिवाकर नन्दिके गुरु थे । समय—वि० ११००-११३० (ई० १०४३-१०७३)—दे० इतिहास/५/१४ । २ [illegible]

१६५४ (ई० १५६७) के एक भट्टारक थे जिन्होने आदिपुराण, पद्मपुराण और पार्श्वपुराण लिखे है—(म पु./प्र २०/पं० पन्नालाल)।

चंद्रगिरि— श्रवणबेलगोलामे दो पर्वत स्थित है—एक विन्ध्य और दूसरा चन्द्रगिरि। इस पर्वतपर आचार्य भद्रबाहु द्वितीय और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त (सम्राट्) की समाधि हुई थी।

चंद्रगुप्त १—चन्द्रगुप्त मौर्य मालवादेशके राजा थे। उज्जैनी राजधानी थी। इन्होने राजा धनानन्दको युद्धमे परास्त करके नन्दवंशका नाश तथा मौर्य राज्यकी स्थापना की थी। (भद्रबाहु चारित्र/३/८) के अनुसार आप पचम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी प्रथम (वी.नि. १६२) के शिष्य थे। १२ वर्षके दुर्भिक्षमे जब भद्रबाहु स्वामी उज्जैनी छोडकर दक्षिणकी ओर जाने लगे तो आप भी उनसे दीक्षित होकर उनके साथ ही चले गये। वहाँ श्रवणबेलगोला ग्रामके चन्द्रगिरि पर्वतपर दोनोकी समाधि हुई थी। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ६४ (दे प ख २/प्र.४ (H L Jain) के अनुसार गोतम गणधरको आदि लेकर भद्रबाहु तक हो जानेके पश्चात् उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए और उन्हीके अन्वयमें पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) आदि आचार्य हुए हैं। उपरोक्त मान्यताके अनुसार आपका राज्य बहुत अल्पकाल रहा। मौर्यवंशके कालके अनुसार इनका समय जैनमान्यतामें वी नि. १५५-१६२ (ई० पू० ३७१-३६४) आता है। दे० इतिहास/३/१ वर्तमान भारतीय इतिहासके अनुसार इनका काल ई० पू० ३२२-२९८ बताया जाता है। इसके अनुसार उन्होने ई० पू० ३२२ मे ही धनानन्दसे मगधका राज्य छीना था। ई० पू० ३०५ में इन्होने पंजाबमें स्थित यूनानी सूबेदार (सिकन्दरके सेनापति) सिलोकसको परास्त करके उसकी कन्यासे विवाह किया था। इनका पुत्र 'सम्प्रति' था।

नोट:—उपरोक्त दोनो मान्यताओको मान्य उनके समयकी किसी भी प्रकार सगति नही बैठती है।

चंद्रगुप्त २—मगधदेशकी राज्य वशावलीके अनुसार यह गुप्तवंशका सर्वप्रथम राजा था, जिसने गुप्तोकी बिखरी हुई शक्तिको समेटकर ई० ३२० मे भारतमे एकछत्र राज्यकी स्थापना की थी। इसका विवाह लिच्छवि नामकी एक प्रबल जातिकी कन्यासे हुआ था। इसने गुप्त शासनकी स्थापनाके उपलक्ष्यमें गुप्त सवत् (ई० ३२०) में प्रचलित किया था। जैन हितैषी भाग १३ अक १२ मे प्रकाशित श्री के० बी० पाठकके "गुप्तराजाओका काल, मिहिरकुल व कल्की" नामके लेखके अनुसार वि ४६३ (ई० ५५०) में कुमारगुप्त राज्य करता था और उस समय गुप्त सवत् ११७ था। तदनुसार इनका समय वी नि. ८४६-८५६ ई० ३२०-३३० होता है। विशेष—दे० इतिहास/३/१।

चंद्रगुप्त ३—मगध देशको राज्य वशावलीके अनुसार यह गुप्तवंशका तीसरा पराक्रमी राजा था। इसका दूसरा नाम विक्रमादित्य भी था। यह विद्वानोका बडा सत्कार करता था। भारतका प्रसिद्ध कवि कालिदास इसीके दरबारका एक रत्न था। समय—वी. नि. ९०१-९३९ (ई० ३७५-४१३) —दे० इतिहास/३/१।

चंद्रद्रह—उत्तरकुरुके दस द्रहोमेंसे दोका नाम चन्द्र है—दे० लोक/७

चंद्रनंदि—भगवती आराधनाकार शिवार्यके गुरु बलदेव सूरिके भी गुरु थे। आपका अपर नाम कर्मप्रकृताचार्य था। तदनुसार आपका समय ई० श० १ का प्रारम्भ आता है (भ आ./प्र १६/प्रेमी जी.)।

चंद्रनखा—(प पु /७/२२४) रत्नश्रवाकी पुत्री और रावणकी बहन थी। (प पु /७/४३) खरदूषणकी स्त्री थी। (प पु./७८/९५) रावणकी मृत्युपर दीक्षा धारण कर ली।

चंद्रपर्वत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चंद्रपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चंद्रप्रज्ञप्ति—१. अंग श्रुतज्ञानका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान III; २ आ० अमितगति (ई० ९९३-१०२१) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध एक ग्रन्थ जिसमें चन्द्रमाका स्वरूप व उसकी गति अगतिका वर्णन है।

चंद्रप्रभ—आप जयसिंह सूरिके शिष्य थे। आपने प्रमेयरत्नकोष (न्यायका ग्रन्थ) और दर्शन शुद्धि (सम्यक्त्व प्रकरण) ये दो ग्रन्थ लिखे हैं। समय ई० ११०२—(न्यायावतार/प्र.४/ सतीशचन्द्र विद्याभूषण)।

चंद्रप्रभ चरित्र— १ आ. वीरनन्दि स.२ (ई० श १०-११) रचित संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ। २ आ. श्रीधर (ई० श० १४) की प्राकृत छन्दबद्ध रचना। ३. आ. शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) की संस्कृत छन्दबद्ध रचना।

चंद्रप्रभु—(म.पु /५४/श्लोक न.) पूर्वभव नं० ७ में पुष्करद्वीप पूर्वमेरु के पश्चिममे सुगन्धि देशके श्रीवर्मा नामके राजा थे।७३-७६। पूर्वभव नं० ६ में श्रीप्रभ विमानमें श्रीधर नामक देव हुए।८२। पूर्वभव नं० ५ में धातकीखण्ड द्वीप पूर्वमेरुके भरत क्षेत्रमें अलकादेशस्थ अयोध्याके अजितसेन नामक राजा हुए।८६-९७। पूर्वभव न० ४ मे अच्युतेन्द्र हुए।१२२-१२६। पूर्व भव न० ३ में पूर्वधातकीखण्डमें मंगलावती देशके रत्नसंचय नगरके पद्मनाभ नामक राजा हुए।१४३। पूर्व भव न० २ मे वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुए।१५८-१६२। और वर्तमान भवमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभुनाथ हुए—दे० तीर्थंकर/५।

चंद्रभागा—पंजाबकी वर्तमान चिनाब नदी (म.पु /प्र.५०/पं. पन्नालाल)।

चंद्रवंश—दे० इतिहास/७/६।

चंद्रशेखर—(पा.पु /१७/श्लोक नं.) विशालाक्ष विद्याधरका पुत्र था।४९। अर्जुनने वनवासके समय इसको हराकर अपना सारथी बनाया था।३७-३८। तब इसकी सहायतासे विजयार्धपर राजा इन्द्रकी सहायता की थी।५८।

चंद्रसेन—पचस्तूप संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आर्यनन्दिके गुरु थे। समय—ई० ७४२-७७३। (आ. अनु/प्र ८/A. N. Up), (सि.वि /प्र./४२ प महेन्द्र), (और भी दे० इतिहास/५/१७)।

चंद्राभ—१ विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. लोकान्तिक देवोकी एक जाति—दे० लौकान्तिक। ३ इनका लोकमें अवस्थान—दे० लोक/७।

चंद्राभ— ११वे कुलकर—दे० शलाका पुरुष/९।

चंद्रोदय—आ. प्रभाचन्द्र नं. ३ (ई० ७६३ से पहले) की एक रचना।

चंपा—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. वर्तमान भागलपुर (म.पु./प्र.४९/पं. पन्नालाल)।

चक्र—१. सनत्कुमार स्वर्गका प्रथम पटल—दे० स्वर्ग/५। २. चक्रवर्ती का एक प्रधान रत्न—दे० शलाका पुरुष/२; ३. धर्मचक्र—दे० धर्मचक्र।

चक्रक—वादोका बात करते हुए पुनः-पुनः घूमकर वही आ जाना चक्रक दोष है। (श्लो वा/४/न्या ४५६/५५१)।

चक्रपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य ४।

चक्रपुरी—अपर विदेहके वल्गु क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/७।

चक्रवर्ती—बारह चक्रवर्तियोका परिचय—दे० शलाकापुरुष/२।

चक्रवान्—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चक्रायुध १—(म पु./सर्ग/श्लोक नं.)। पूर्वभव नं १३ में मगध देशके राजा श्रीषेणकी स्त्री आनन्दिता थी। (६२/४०)। पूर्वभव नं १२ में भोमिज आर्य था। (६२/३५७-३५८)। पूर्वभव नं ११ मे सौधर्म स्वर्गमे विमलप्रभ देव हुआ। (६२/३७६)। पूर्वभव नं १० मे त्रिपृष्ठ नारायणका पुत्र श्रीविजय हुआ। (६२/१५३)। पूर्वभव नं. ९ मे तेरहवे स्वर्गमें मणिचूलदेव हुआ। (६२/४११) पूर्वभव नं ८ मे वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीके राजा स्तिमितसागरका पुत्र नारायण 'अनन्तवीर्य' हुआ। (६२/४१४)। पूर्वभव नं ७ मे रत्नप्रभा नरकमें नारकी हुआ। (६३/२५)। पूर्वभव न ६ में विजयार्धपर गगनवल्लभनगरके राजा मेघवाहनका पुत्र मेघनाद हुआ। (६३/२८-२९)। पूर्वभव न. ५ मे अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ (६३/३६)। पूर्वभव न. ४ मे वज्रायुधका पुत्र सहस्रायुध हुआ। (६३/४५) पूर्वभव नं ३ मे अधोग्रैवेयकमे अहमिन्द्र हुआ। (६३/१३८ १४१)। पूर्वभव नं २ में पुष्कलावती देशमे पुण्डरीकनी नगरीके राजा धनरथका पुत्र दृढरथ हुआ। (६३/१४२-१४४)। पूर्व भव नं १ में सर्वार्थसिद्धिमे अहमिन्द्र हुआ। (६३/३३६-३७)। वर्तमान भवमें राजा विश्वसेन-का पुत्र शान्तिनाथ भगवान्का सोतेला भाई (६३/४१४) हुआ। शान्तिनाथ भगवान्के साथ दीक्षा धारण की (६३/४७६)। शान्ति-नाथ भगवान्के प्रथम प्रधान गणधर बने। (६३/४८९)। अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया (६३/५०१)। (म पु/६३/५०५-५०७) में इनके उपरोक्त सर्व भवोका युगपत् वर्णन किया है।

चक्रायुध २—(म पु/५९/श्लोक नं)—पूर्वभव न ३ मे भद्रमित्र सेठ, पूर्वभव नं २ मे सिंहचन्द्र, पूर्वभव नं. १ मे प्रीतिंकर देव था। (३१६)। वर्तमान भवमे जम्बूद्वीपके चक्रपुर नगरका राजा अपरा-जितका पुत्र हुआ।२३९। राज्यकी प्राप्ति कर।२४४। कुछ समय पश्चात् अपने पुत्र रत्नायुधको राज्य दे दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त की।२४५।

चक्रायुध ३—स्व चिन्तामणिके अनुसार यह इन्द्रायुधका पुत्र था। वत्सराजके पुत्र नागभट्ट द्वि ने इसको युद्धमे जीतकर इससे कन्नौजका राज्य छीन लिया था। नागभट्ट व इन्द्रायुधके समयके अनुसार इसका समय वि ८४०-८५७ (ई ७८३-८००) आता है। (ह पु/प्र ५/प. पन्नालाल)।

चक्रेश्वरी—भगवान् ऋषभदेवकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष।

चक्षु—१ चक्षु इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय; २ चक्षुदर्शन—दे० दर्शन/ ५। ३ चक्षु दर्शनावरण—दे० दर्शनावरण।

चक्षुष्मान्—१ दक्षिण मानुषोत्तर पर्वतका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर।४। २ अपर पुष्करार्धका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर।४। ३ आठवे कुलकर—दे० शलाका पुरुष।९।

चतुरंक—ध १२/४,२,७,२१४/१७०/६ एत्थ असखेज्जभागवड्ढीए-चत्तारि अको।=असख्यातभाग वृद्धिकी चतुरक सज्ञा है। (गो. जी/मू/३२५/६८४)।

चतुरिंद्रिय—१ चतुरिन्द्रिय जीव—दे० इन्द्रिय।४। २ चतुरिन्द्रिय-जाति नामकर्म—दे० जाति।१।

चतुर्थच्छेद—Number of times that a number can be devided by 4 (ध / ५/प्र २७) विशेष—दे० गणित/II/२।

चतुर्थभक्त—एक उपवास—दे० प्रोषधोपवास।१।

चतुर्दश—१. चतुर्दश गुणस्थान—दे० गुणस्थान, २. चतुर्दश जीव-समास—दे० समास, ३. चतुर्दश पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/III/ ४ चतु-र्दश पूर्वित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि।१।१. ५. चतुर्दश पूर्वी—दे० श्रुतकेवली, ६ चतुर्दश मार्गणा—दे० मार्गणा।

चतुर्दशीव्रत—१४ वर्ष पर्यन्त प्रतिमासकी दोनो चतुर्दशियोको १६ पहरका उपवास करे। लौदके मासो सहित कुल ३४४ उपवास होते है। 'ॐ ह्रीं अनन्तनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (चतुर्दशी व्रत कथा), (व्रत विधान सग्रह/पृ १२४)।

चतुर्द्वीप—भारतके सीमान्तपर तीन और देश माने जाते है—सीदिया, बैक्ट्रिया, सरियाना। भारत सहित यह चारों मिलकर चतुर्द्वीप कहलाते हे। तहाँ सीदिया तो 'भद्राश्व' द्वीप है, और बैक्ट्रिया, एरियान व उत्तरकुरुमे 'केतुभाल' द्वीप हैं। (ज. प/प्र. १३८/A N Up व. H L Jain).

चतुर्भुज—यह जयपुर निवासी थे। बैरागीके नामसे प्रसिद्ध थे। प्राय लाहौर जाते थे, तब वहाँ कवि खरगसेनसे मिला करते थे। समय—वि १६८५ (ई १६२८) मे लाहौर गये थे। (हि. जैन, साहित्य इतिहास/पृ. १५५/ कामता प्रसाद)।

चतुर्भुज समलम्ब—Trapizium. (ज. प./प्र १०६)।

चतुर्मास—१. साधुओके लिए चतुर्मास करनेकी आज्ञा—दे० पाद स्थिति कल्प, २ चतुर्मासधारण विधि—दे० कृतिकर्म/ ४।

चतुर्मुख—

भा. पा./टी./१४९/२९३/१२ चतुर्दिक्षु सर्वसभ्यानां सन्मुखस्य दृश्यमान-त्वात् सिद्धावस्थायां तु सर्वत्रावलोकनशीलत्वात् चतुर्मुख।=अर्हन्त अवस्थामे तो समवशरणमे सर्व सभाजनोंको चारो ही दिशाओंमें उनका मुख दिखाई देता है इसलिए तथा सिद्धावस्थामें सर्वत्र सर्व दिशाओमे देखनेके स्वभाववाले होनेके कारण भगवान्का नाम चतुर्मुख है।

चतुर्मुख—मगधकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह राजा शिशुपाल-का पुत्र था। वी. नि. १००३ मे इसका जन्म हुआ था। ७० वर्षकी कुल आयु थी। ४० वर्ष राज्य किया। अत्यन्त अत्याचारी होनेके कारण कल्की कहलाता था। हूणवंशी मिहिर कुल ही चतुर्मुख था। समय—वी नि १०३३-१०७३ (ई. ५०७-५४७)।—दे० कल्की तथा इतिहास/४/३।

चतुर्मुख देव—अपभ्रंश ग्रन्थ पद्मचरित और हरिवंश पुराणके कर्ता थे। (म. पु/प्र/२० प. पन्नालाल)।

चतुर्मुख पूजा—दे० पूजा/१।

चतुर्मुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चतुर्विंशति—१. चतुर्विंशति तीर्थंकर (दे० तीर्थंकर)। २. चतु-र्विंशति पूजा—दे० पूजा), ३. चतुर्विंशति स्तव द्रव्यश्रुतज्ञानका दूसरा अग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III। ४. चतुर्विंशति स्तव विधि—दे० भक्ति/३।

चतुःशिर—शिरोनतिके अर्थमें प्रयुक्त होता है—दे० नमस्कार।

चतुष्टय—चतुष्टय नाम चौकडीका है। आगममें कई प्रकारसे चौक-डियाँ प्रसिद्ध है—द्रव्यके स्वभावभूत स्वचतुष्टय, द्रव्यमें विरोधी धर्मो रूप युग्म चतुष्टय, जीवके ज्ञानादि प्रधान गुणोंकी अनन्त शक्ति व व्यक्ति रूप कारण अनन्त चतुष्टय व कार्य अनन्त चतुष्टय।

१. स्वचतुष्टयके नामनिर्देश

प ध/पू/२६३ अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च। द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाऽथवाऽपिभावेन।२६३।=द्रव्यके द्वारा, क्षेत्रके द्वारा, कालके द्वारा और भावके द्वारा जो है वह परद्रव्य क्षेत्रादिसे नहीं है, इस प्रकार अस्ति नास्ति आदिरूप चतुष्टय हो जाता है। और भी दे० श्रुतज्ञान/III में सप्तभंगी।

२. स्वपरचतुष्टयके लक्षण व उनकी योजना विधि

रा. वा./४/४२/१५/२५४/१५ यदस्ति तत् स्वायत्तद्रव्यक्षेत्रभावरूपेण भवति नेतरेण तस्याप्रस्तुतत्वात्। यथा घटो द्रव्यतः पार्थिवत्वेन, क्षेत्रतया इहत्यतया, कालतो वर्तमानकालसंबन्धितया, भावतो रक्तत्वादिना, न परायत्तैर्द्रव्यादिभिरतेपामप्रसक्तत्वात् इति।... कथम्? =जो अस्ति है वह अपने द्रव्य क्षेत्रकाल भावसे ही है, इतर द्रव्यादिसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं। जैसे घडा पार्थिवरूपसे, इस क्षेत्रसे, वर्तमानकाल या पर्यायरूपसे तथा रक्तादि वर्तमान भावोंमें है पर अन्यसे नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत है। (अर्थात् जलरूपमे, अन्य-क्षेत्रसे, अतीतानागत पर्यायोंरूप पिण्ड कपाल आदिसे तथा श्वेतादि भावोंसे नहीं है। यहाँ पृथिवी उसका स्व द्रव्य है और जलादि पर द्रव्य, उसका अपना क्षेत्र स्वक्षेत्र हे और उससे अतिरिक्त अन्य क्षेत्र पर क्षेत्र, वर्तमान पर्याय स्वकाल है और अतीतानागत पर्याय पर काल, रक्तादि भाव स्वभाव है और श्वेतादि भाव परभाव)। (विशेष देखो 'द्रव्य', 'क्षेत्र', 'काल' व 'भाव'।)।

३. स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा वस्तुमें भेदाभेद तथा अस्तित्व नास्तित्व—दे० सप्तभंगी/५।

४. स्वकाल और स्वभावमें भिन्नत्व व एकत्व

ध. ९/४,१,२/२७/११ तीदाणागदपज्जायाणं किण्ण भावववएसो। ण, तेसिं कालत्तब्भुवगमादो। =प्रश्न—अतीत और अनागत पर्यायोंकी भाव संज्ञा क्यों नहीं है? उत्तर—नहीं है, क्योंकि, उन्हें काल स्वीकार किया गया है।

ध ९/४,१,३/४३/४ होदु कालपरूवणा एसा, ण भावपरूवणा, कालभावाणमेयत्तविरोहादो। ण एस दोसो, अदीदाणागयपज्जया तीदाणागयकालो वट्टमाणपज्जया वट्टमाणकालो। तेसिं चेव भावसण्णा वि, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव' इदि पओअदंसणादो। तीदाणागयकालेहिंतो वट्टमाणकालो भावसण्णिदो कालत्तणेण अभिण्णो त्ति काल-भावाणमेयत्ताविरोहादो। =प्रश्न—यह काल प्ररूपणा भले ही हो, किन्तु भाव प्ररूपणा नहीं हो सकती, क्योंकि, काल और भावकी एकताका विरोध है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अतीत और अनागत पर्यायें अतीत अनागत काल है, तथा वर्तमान पर्यायें वर्तमान काल है। उन्हीं पर्यायोंकी ही भाव संज्ञा भी है, क्योंकि 'वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्य भाव है, ऐसा प्रयोग देखा जाता है'। अतीत और अनागतकालसे चूँकि भाव संज्ञा वाला वर्तमान कालस्वरूपसे अभिन्न है, अत काल और भावकी एकतामें कोई विरोध नहीं है।

५. स्वपर चतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक नय (दे० नय/IV/२)।

६. युग्मचतुष्टय निर्देश व उनकी योजना विधि—

=दे० अनेकान्त/४, ५।

७. कारण व कार्यरूप अनन्त चतुष्टय निर्देश

नि. सा/ता वृ १५ सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण । साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपानन्तचतुष्टयेन । =सहज शुद्ध निश्चयनयसे, अनादि-अनन्त, अमूर्त-अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजचारित्र और सहजपरमवीतरागसुखात्मक-शुद्ध अन्त तत्त्वस्वरूप जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयका स्वरूप । तथा सादि, अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहारसे केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्त चतुष्टय...।

८. अनन्त चतुष्टयमें अनन्तत्व कैसे है—दे अनन्त/२।

चमकदशमी व्रत—चमक दशमि और चमकाय। जो भोजन नहिं तो अन्तराय। (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है। (व्रत विधान संग्रह/पृ० १३०) (नवलसाह कृत वर्द्धमान पुराण)।

चमत्कार—१. लौकिक चमत्कारोंसे विमोहित होना सम्यग्दर्शनका दोष है—दे० 'अमूढदृष्टि' का व्यवहार लक्षण। २. लौकिक चमत्कारोंके प्रति आकर्षित होना लोकमूढता है—दे० मूढता।

चमर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चमरेन्द्र—(प पु./सर्ग/श्लोक नं.) शत्रुघ्न द्वारा राजा मधुके मारे जाने पर अपने शूलरत्नको विफल हुआ देख। (९०/३) इसने क्रोधवश मथुरामें महामारी रोग फैलाया था। (९०/२७)। जो पीछे सप्त ऋषियोंके आगमनके प्रभावसे नष्ट हुआ। (९२/६)।

चमू—सेनाका एक अंग—दे० सेना।

चय—(Common difference) (ज. प./प्र. १०६) विशेष देखो गणित/II/५)।

चयधन—दे० गणित/II/५।

चरण—दे० चारित्र।

चरणसार—आ० पद्मनन्दि (ई० ११६८-१२४३) की एक रचना।

चरणानुयोग—दे० अनुयोग/१।

चरम—१. **चरमोत्तम देह**

स. सि./२/५३/२०१/४ चरमशब्दोऽन्त्यवाची। उत्तम उत्कृष्टः। चरम-उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहा। परीतससारास्तज्जन्मनिर्वाणार्हा इत्यर्थः। =चरम शब्द अन्त्यवाची। उत्तम शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है। जिनका शरीर चरम और उत्तम है वे चरमोत्तम देहवाले कहे जाते है। जिनका संसार निकट है अर्थात् उसी भवसे मोक्षको प्राप्त होनेवाले जीव चरमोत्तम देहवाले कहलाते है। (रा. वा/२/५३/२/१५७/११)।

२. द्विचरम देह

रा. वा/४/२६/२-५/२४४/२० चरमशब्द उक्तार्थ.। द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमा, तेषां भावो द्विचरमत्वम्। एतन्मनुष्यदेहद्वयापेक्षमवगन्तव्यम्। विजयादिभ्यः च्युता अप्रतिपतितसम्यक्त्वा मनुष्येषूत्पद्य संयममाराध्य पुनर्विजयादिषूत्पद्य च्युता मनुष्यभवमवाप्य सिध्यन्ति इति द्विचरमदेहत्वम्। कुत पुन मनुष्यदेहस्य चरमत्वमिति चेत्। उच्यते।२। यतो मनुष्यमवाप्य देवनारकतैर्यग्योना सिध्यन्ति न तेभ्य एवेति मनुष्यदेहस्य चरमत्वम्।३। स्यान्मतम्-एकस्य भवस्य चरमत्वम् अन्त्यत्वात्, न द्वयोस्ततो द्विचरमत्वमयुक्तमिति, तन्न, किं कारणम्, औपचारिकत्वात्। येन देहेन साक्षान्मोक्षोऽवाप्यते स मुख्यश्चरम तस्य प्रत्यासन्नो मनुष्यभव तत्प्रत्यासत्तेश्चरम इत्युपचर्यते।४। स्यान्मतम्-विजयादिषु द्विचरमत्वमार्षविरोधि। कुत'। त्रिचरमत्वात्। सर्वार्थसिद्धा च्युता मनुष्येषूत्पद्य तेनैव भवेन सिध्यन्तीति, न लौकान्तिकवदेकभविका एवेति विजयादिषु द्विचरमत्वं नार्षविरोधि, कल्पान्तरोत्पत्त्यनपेक्षत्वात्, प्रश्नस्येति।५। =चरमका अर्थ कह दिया गया है अर्थात् अन्तिम। दो अन्तिम देह हों सो द्विचरम है। दो मनुष्य देहोंकी अपेक्षा यहाँ द्विचरमत्व समझना

चाहिए। विजयादि विमानोंसे च्युत सम्यक्त्व छूटे मनुष्योंमें उत्पन्न हो संयम धार पुनः विजयादि विमानोंमें उत्पन्न हो, वहाँसे चयकर पुनः मनुष्यभव प्राप्त कर मुक्त होते है, ऐसा द्विचरम देहत्वका अर्थ है। प्रश्न—मनुष्यदेहके ही चरमपना कैसे है? उत्तर—क्योंकि तीनों गतिके जीव मनुष्यभवको पाकर ही मुक्त होते है, उन उन भवोंसे नही, इसलिए मनुष्यभवके द्विचरमपना है। प्रश्न—चरम शब्द अन्त्यवाची है इसलिए एक ही भव चरम हो सकता है दो नहीं, इसलिए द्विचरमत्व कहना युक्त नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ उपचारसे द्विचरमत्व कहा गया है। चरमके पासमें अव्यवहित पूर्वका मनुष्य-भव भी उपचारसे चरम कहा जा सकता है। प्रश्न—विजयादिकोंमें द्विचरमत्व कहनेमें आर्ष विरोध आता है। क्योंकि, उसे त्रिचरमत्व प्राप्त है? उत्तर—सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होनेवाले मनुष्य पर्यायमें आते है तथा उसी पर्यायसे मोक्ष लाभ करते है। विजयादिक देव लौकान्तिककी तरह करते हैं। विजयादिक देव लौकान्तिककी तरह एक-भविक नही है किन्तु द्विभविक है। इसके बीचमें यदि कल्पान्तरमें उत्पन्न हुआ है तो उसकी विवक्षा नही है।

* **चरमदेहीको उत्पत्ति योग्य काल**—दे० मोक्ष/४/३।

चर्चा—१ वीतराग व विजिगीषु कथाके लक्षण—दे० कथा, २ वाद सम्बन्धी चर्चा—दे० वाद। ३. चौथे नरकका चतुर्थ पटल—दे० नरक/५।

चर्चिका—कालका प्रमाण विशेष। अपरनाम अचलात्म व अचलाप्त—दे० गणित/I/१।

चर्म—चक्रवर्तीका एक रत्न—दे० शलाका पुरुष/२।

चर्मण्वती—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

चर्या—म पु /३९/१४७-१४८ चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्धयर्थमेव वा। औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम्।१४७। तत्राकाम-कृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते। पश्चाच्चात्मालयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम्।१४८। =किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिए, अथवा किसी ओषधि या भोजन बनवानेके लिए मै किसी जीवकी हिंसा नही करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है।१४७। इस प्रतिज्ञामें यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि की जाती है।१४८।

चर्या परिषह—

प. सि/९/९/४२३/४ निराकृतपादावरणस्य परुषशर्कराकण्टकादिव्यधन-जातचरणखेदस्यापि सत. पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतो यथाकालमावश्यकापरिहाणिमास्कन्दतश्चर्यापरिषहसहनमवसेयम्। = जिसका शरीर तपश्चरणादिके कारण अत्यन्त अशक्त हो गया है, जिसने खड़ाऊँ आदिका त्याग कर दिया है, तीक्ष्ण कंकड और काँटे आदिके बिंधनेसे चरणमें खेदके उत्पन्न होनेपर भी पूर्व में भोगे यान और वाहन आदिसे गमन करनेका जो स्मरण नही करता है, तथा जो यथाकाल आवश्यकोंका परिपूर्ण परिपालन करता है उसके चर्या परिषहजय जानना चाहिए। (रा वा /९/९/१४/६१०/१६) (चा. सा /११८/१)।

२. चर्या निषद्या व शय्या परिषहमें अन्तर

रा.वा /९/१७/७/६१६/११/ स्यान्मतम्—चर्यादीनां त्रयाणां परीषहाणाम-विशेषादेकत्र नियमाभावादेकत्वमित्यैकान्नविंशतिवचनं क्रियते इति, तन्न, किं कारणम्। अरतौ परीषहजयाभावात्। यद्यत्र रतिर्नास्ति परीषहजय एवास्य व्युच्छिद्यते। तस्माद्यथोक्तप्रतिद्वन्द्विसान्निध्यात परीषहस्वभावाश्रयपरिणामात्मलाभनिमित्तविचक्षणस्य तत्परित्यागा-यादरप्रवृत्त्यर्थमोपोऽक्रातिदं प्रकरणमुक्तम्। =प्रश्न—चर्या आदि तीन परीषह समान है, एक साथ नहीं हो सकती, क्योंकि बैठनेमें परीषह आनेपर सो सकता है, सोनेमें परीषह आनेपर चल सकता है, और सहनविधि एक जैसी है तब इन्हे एक परिषह मान लेना चाहिए? और इस प्रकार २२ की बजाय १९ परीषह कहनी चाहिए? उत्तर—अरति यदि रहती है तो परीषहजय नहीं कहा जा सकता। यदि साधु चर्याकष्टसे उद्विग्न होकर बैठ जाता है या बैठनेसे उद्विग्न होकर लेट जाता है तो परीषह जय कैसा? यदि परीषहोंको जीतूँगा इस प्रकारकी रुचि नही है, तो वह परीषहजयी नहीं कहा जा सकता। अत तीनों क्रियाओंके कष्टोंको जीतना और एकके कष्टके निवारणके लिए दूसरेकी इच्छा न करना ही परीषहजय है।

चर्या श्रावक—दे० श्रावक/१।

चल—सम्यग्दर्शनका चल दोष

गो.जी /जी प्र /२५/५१/५ मे उद्धृत—नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं स्मृतम्। लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमवस्थितम्। नानात्मीयविशेषेषु आप्तागमपदार्थश्रद्धानविकल्पेषु चलतीति चलं स्मृतं। तद्यथा—स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते। अन्यस्यायमिति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते। =नानाप्रकार अपने ही विशेष कहिए आप्तआगमपदार्थरूप श्रद्धानके भेद तिनिविषै जो चलै चंचल होइ सो चल कह्या है सोई कहिए है। अपना कराया अर्हंतप्रतिबिंबा-दिकविषै यहु मेरा देव है ऐसे ममत्वकरि, बहुरि अन्यकरि कराया अर्हंतप्रतिबिंबादिकविषै यहु अन्यका है ऐसे परका मानकरि भेदरूप करै है तातै चल कह्या है। इहाँ दृष्टान्त कहै है—जैसे नाना प्रकार कल्लोल तरंगनिकी पंक्तिविषै जल एक ही अवस्थित है, तथापि नानारूप होइ चल है तैसे मोह जो सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय तातै श्रद्धान है सो भ्रमणरूप चेष्टा करै है। भावार्थ—जैसे जल तरंगनि-विषै चंचल होइ परन्तु अन्यभावको न भजै, तैसे वेदक सम्यग्दृष्टि अपना वा अन्यका कराया जिनबिंबादि विषै यहु मेरा यहु अन्यका इत्यादि विकल्प करै परन्तु अन्य देवादिकको नाहीं भजै है। (अन ध /२/६०-६१/१८३)।

अन ध /२/६१/१८४/पर उद्धृत-कियन्तमपि यत्कालं स्थित्वा चलति तच्चलम्। =जो कुछ कालतक स्थिर रहकर चलायमान हो जाता है उसको चल कहते है।

चल शील—

भ आ./वी /१८०/३९८/२ कंदर्पकौत्कुच्याभ्यां चलशील। =कंदर्प और कौत्कुच्य इन दो प्रकारके वचनोंका पुनः पुनः प्रयोग करना चल शीलता है।

चलसंख्या—Varriable quantities in the equation as in ($ax^2+bx+c=0$) a, b, c are constant and 'x' is varriable.

चलितप्रदेश—दे० जीव/५।

चलितरस—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

चल्लितापी—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

चांदराय – मालवके राजा थे। समय—ई० १४८८ (प प्र /प्र १२१/ A N Up)।

चातुर्मास—दे० वर्षायोग।

चाप—arc या धनुष पृष्ठ।

चामुंडराय १—आपका दूसरा नाम गोम्मट था और इसीके कारण श्रवणबेलगोलपर इनके द्वारा स्थापित विशालकाय भगवान् बाहुबली

की प्रतिमाका नाम गोमटेश्वर पड गया, और इनकी प्रेरणासे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा रचित सिद्धान्त ग्रन्थका नाम भी गोमट्टसार पड गया (गो क./मू /६६७-६७१)। आप गंगवंशी राजा राजमल्लके मन्त्री थे, तथा एक महान् योद्धा भी। आप आचार्य अजितसेनके शिष्य थे तथा स्वयं बडे सिद्धान्तवेत्ता थे। पीछेसे आ. नेमिचन्द्रके भी शिष्य रहे हैं। इन्हींके निमित्त गोमट्टसार ग्रन्थकी रचना हुई थी। निम्न रचनाएँ इनकी अपूर्व देन है--वीर मार्तण्डी (गोमट्टसारकी कन्नड वृत्ति); तत्त्वार्थ राजवार्तिक संग्रह; चारित्रसार; त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित। समय-१. राजा राजमल्ल (नि सं १०३१-१०४०) के समयके अनुसार आपका समय वि.श ११का, पूर्वार्ध (ई० श० १०-११) आता है। २ बाहुबलिचरित श्लो न० ४३ मे कल्की शक स ६०० मे इनके द्वारा बाहुबली भगवान्की प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करानेका उल्लेख है। उसके अनुसार भी लगभग यही समय सिद्ध होता है, क्योकि एक दृष्टिसे कल्कीका राज्य वी नि. ६१८ में प्रारम्भ हुआ था। ३. थामस सी राइस (मालवा कार्टर्ली रिव्यू) के अनुसार आपने कर्णाटक देशमें विल्लाल नामके राज्यवंशकी स्थापना की थी, जिसका राज्य मेसूर प्रान्तमें ई० ७१४ में था। सो यह बात उपरोक्त समयके साथ मेल नही खाती। (जैन साहित्य इतिहास/पृ २६७/प्रेमी जी)।

चामुंडराय—शक सं. ६८० वि. स. १११५, (ई० १०५८) के एक कवि थे, जिन्होने चामुण्डपुराण लिखा है। (म पु /प्र २०/पं पन्नालाल)।

चार—चारकी संख्या कृति कहलाती है—दे० कृति।

चारक्षेत्र—Motion space (ज प./प्र १०६)।

चारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

चारणकूट व गुफा—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदिक वनोके दक्षिण मे स्थित यमदेवका कूट व गुफा—दे० लोक/७।

चारित्र—चारित्र मोक्षमार्गका एक प्रधान अंग है। अभिप्रायके सम्यक् व मिथ्या होनेसे वह सम्यक् व मिथ्या हो जाता है। निश्चय, व्यवहार, सराग, वीतराग, स्व, पर आदि भेदोसे वह अनेक प्रकारसे निर्दिष्ट किया जाता है, परन्तु वास्तवमे वे सब भेद प्रभेद किसी न किसी एक वीतरागता रूप निश्चय चारित्रके पेटमे समा जाते हैं। ज्ञाता द्रष्टा मात्र साक्षीभाव या साम्यताका नाम वीतरागता है। प्रत्येक चारित्रमे उसका अंश अवश्य होता है। उसका सर्वथा लोप होनेपर केवल बाह्य वस्तुओका त्याग आदि चारित्र संज्ञाको प्राप्त नही होता। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि बाह्य व्रतत्याग आदि बिलकुल निरर्थक है, वह उस वीतरागताके अविनाभावी है तथा पूर्व भूमिका वालोको उसके साधक भी।

१. चारित्र निर्देश

(१) चारित्र सामान्य निर्देश

१. चरणका चरण

पं. ध /उ /४१२-४१३ चरणं क्रिया ।४१२। चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापार शुभकर्मसु ।४१३। = तत्त्वार्थकी प्रतीतिके अनुसार क्रिया करना चरण कहलाता है। अर्थात मन, वचन, कायसे शुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करना चरण है।

२. चारित्र सामान्यका लक्षण

स. सि /१/१/६/२ चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् । = जो आचरण करता है, अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र चारित्र है। (रा. वा /१/१/२४/२५, १/१ २८/८/३४, १/१/२६/६/१२) (गो क /जी.प्र /३३/२७/२३)।

भ. आ /वि /८/४१/११ चरति याति तेन हितप्राप्ति अहितनिवारणं चेति चारित्रम् । चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकम् । = जिससे हितको प्राप्त करते हैं और अहितका निवारण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं, जिसके सामायिकादि भेद हैं।

और भी देखो चारित्र १/११/१ संसारकी कारणभूत बाह्य और अन्तरंग क्रियाओंसे निवृत्त होना चारित्र है।

३. चारित्रके एक दो आदि अनेक विकल्प

रा वा /१/७/१४/४१/८ चारित्रनिर्देशः...सामान्यादेकम्, द्विधा बाह्याभ्यन्तरनिवृत्तिभेदात्, त्रिधा औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकविकल्पात्, चतुर्धा चतुर्यमभेदात्, पञ्चधा सामायिकादिविकल्पात् । इत्येवं सख्येयासख्येयानन्तविकल्पं च भवति परिणामभेदात् ।

रा वा /६/१७/७/६१६/१८ यदवोचाम चारित्रम्, तच्चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणात्मविशुद्धिलब्धिसामान्यापेक्षया एकम् । प्राणिपीडापरिहारेन्द्रियदर्पनिग्रहशक्तिभेदाद् द्विविधम् । उत्कृष्टमध्यमजघन्यविशुद्धिप्रकर्षापकर्षयोगात्तृतीयमवस्थानमनुभवति । विकलज्ञानविषयसरागवीतराग-सकलावबोधगोचरसयोगायोगविकल्पाच्चातुर्विध्यमश्नुते । पञ्चतयीं च वृत्तिमास्कन्दति तद्यथा—

त. सू /९/१८ सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति चारित्रम् ।१८। = सामान्यपने एक प्रकार चारित्र है अर्थात चारित्रमोहके उपशम क्षय व क्षयोपशमसे होनेवाली आत्मविशुद्धिकी दृष्टिसे चारित्र एक है। बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार व निश्चयकी अपेक्षा दो प्रकारका है। या प्राणसंयम व इन्द्रियसंयमकी अपेक्षा दो प्रकारका है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे तीन प्रकारका है, अथवा उत्कृष्ट मध्यम व जघन्य विशुद्धिके भेदसे तीन प्रकारका है। चार प्रकारके यतिकी दृष्टिसे या चतुर्यमकी अपेक्षा चार प्रकारका है, अथवा छद्मस्थोंका सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञोंका सयोग और अयोग इस तरह चार प्रकारका है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातके भेदसे पाँच प्रकारका है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामोंकी दृष्टिसे संख्यात असंख्यात और अनन्त विकल्परूप होता है।

जैनसिद्धान्त प्र /२२२ चार हैं—स्वरूपाचरण चारित्र देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात चारित्र।

४. चारित्रके १३ अंग

द्र स /मू /४५ वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम् । = वह चारित्र व्यवहारनयसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इस प्रकार १३ भेद रूप है।

५. चारित्रकी भावनाएँ

म. पु./२१/९८ ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तय: । परीषहसहिष्णुत्वम् इति चारित्रभावना ।९८। = चलने आदिके विषयमें यत्न रखना अर्थात् ईर्यादि पाँच समितियोंका पालन करना, मन, वचन व कायकी गुप्तियोंका पालन करना, तथा परीषहोंको सहन करना। ये चारित्र की भावनाएँ जाननी चाहिए।

६. चारित्र जीवका स्वभाव है पर संयम नहीं

ध. ७/२,१,५६/९६/१ संजमो णाम जीवसहावो, तदो ण सो अण्णेहि विणासिज्जदि तव्विणासे जीवदव्वस्स वि विणासप्पसंगादो। ण; उवजोगस्सेव संजमस्स जीवस्स लक्खणत्ताभावादो। = प्रश्न-संयम तो जीवका स्वभाव ही है, इसीलिए वह अन्यके द्वारा अर्थात् कर्मोंके द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका विनाश होनेपर जीव द्रव्यके भी विनाशका प्रसंग आता है? उत्तर—नहीं आयेगा, क्योंकि, जिस प्रकार उपयोग जीवका लक्षण माना गया है, उस प्रकार संयम जीवका लक्षण नहीं होता।

प्र सा./त प्र./७ स्वरूपे चरणं चारित्रं । स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थ: । तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्म: । = स्वरूपमें रमना सो चारित्र है। स्वसमयमें अर्थात् स्वभावमें प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। यह वस्तु (आत्मा) का स्वभाव होनेसे धर्म है।

पु. सि. उ /३९ चारित्रं भवति यत समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् । सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् । = क्योंकि समस्त पापयुक्त मन, वचन, कायके योगोंके त्यागसे सम्पूर्ण कषायोंसे रहित अतएव, निर्मल, परपदार्थोंसे विरक्ततारूप चारित्र होता है, इसलिए वह आत्माका स्वरूप है।

७. स्व व पर अथवा सम्यक् मिथ्याचारित्र निर्देश

नि. सा./मू /११ मिच्छादसणणाणचरित्तं...सम्मत्तणाणचरणं । = मिथ्यादर्शन-ज्ञान चारित्र 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र।

प. का /त. प्र /१५४ द्विविधं हि किल संसारिषु चरितं—स्वचरितं परचरितं च। स्वसमयपरसमयावित्यर्थ: । = संसारियोंका चारित्र वास्तवमें दो प्रकारका है—स्वचारित्र अर्थात सम्यक्चारित्र और परचारित्र अर्थात् मिथ्याचारित्र। स्वसमय और परसमय ऐसा अर्थ है। (विशेष दे. समय) (यो. सा /अ /८/९६)।

८. स्वपर चारित्रके लक्षण

प. का./मू /१५६-१५९ जो परदव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं । सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ।१५६। आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण । सो तेण परचरित्तो हवदि त्ति जिणा परूवंति ।१५७। जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण । जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ।१५८। चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा । दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ।१५९। = जो रागसे परद्रव्यमें शुभ या अशुभ भाव करता है वह जीव स्वचारित्र भ्रष्ट ऐसा परचारित्रका आचरण करनेवाला है ।१५६। जिस भावसे आत्माको पुण्य अथवा पाप आस्रवित होते हैं उस भाव द्वारा वह (जीव) परचारित्र है ।१५७। जो सर्वसंगमुक्त और अनन्य मनवाला वर्तता हुआ आत्माको (ज्ञानदर्शनरूप) स्वभाव द्वारा नियत रूपसे जानता देखता है वह जीव स्वचारित्र आचरता है ।१५८। जो परद्रव्यात्मक भावोंसे रहित स्वरूप वाला वर्तता हुआ, दर्शन ज्ञानरूप भेदको आत्मासे अभेदरूप आचरता है वह स्वचारित्रको आचरता है ।१५९। (ति. प./९/२२)।

पं. का./त. प्र./१५४/ तत्र स्वभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं स्वचरितं, परभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं परचरितम् । = तहाँ स्वभावमें अव-

स्थित अस्तित्वस्वरूप वह स्वचारित्र है और परभावमे अवस्थित अस्तित्वस्वरूप वह परचारित्र है ।

पं. का/ता. वृ./१५६-१५९ य कर्ता शुद्धात्मद्रव्यात्परिभ्रष्टो भूत्वा… रागभावेन परिणम्य शुद्धोपयोगाद्विपरीत. समस्तपरद्रव्येषु शुभमशुभं वा भावं करोति स ज्ञानानन्दैकस्वभावात्मा स्वकीयचारित्राद्भ्रष्ट' सन् स्वसवित्त्यनुष्ठानविलक्षणपरचारित्रचरो भवतीति सूत्राभिप्राय.।१५६। निजशुद्धात्मसवित्त्यनुचरणरूपं परमागमभाषया वीतरागपरमसामायिकसंज्ञं स्वचरितम् ।१५८। पूर्वं सविकल्पावस्थाया ज्ञाताहं द्रष्टाहमिति यद्विकल्पद्वयं तन्निर्विकल्पसमाधिकालेऽनन्तज्ञानादिगुणस्वभावादात्मन. सकाशादभिन्न चरतीति सूत्रार्थ ।१५९। =जो व्यक्ति शुद्धात्म द्रव्यसे परिभ्रष्ट होकर, रागभाव रूपमे परिणमन करके, शुद्धोपयोगसे विपरीत समस्त परद्रव्योंमें शुभ व अशुभ भाव करता है, वह ज्ञाननन्दरूप एकस्वभावात्मक स्वकीय चारित्रसे भ्रष्ट हो, स्वसंवेदनसे विलक्षण परचारित्रको आचरनेवाला होता है, ऐसा सूत्रका तात्पर्य है ।१५६। निज शुद्धात्माके संवेदनमे अनुचरण करने रूप अथवा आगमभाषामे वीतराग परमसामायिक नामवाला अर्थात् समता भावरूप स्वचारित्र होता है ।१५८। पहले सविकल्पावस्थामें 'मै ज्ञाता हूँ, मै द्रष्टा हूँ' ऐसे जो दो विकल्प रहते थे वे अब इस निर्विकल्प समाधिकालमें अनन्तज्ञानादि गुणस्वभाव होनेके कारण आत्मासे अभिन्न ही आचरण करता है, ऐसा सूत्रका अर्थ है ।१५९। और भी देखो 'समय' के अन्तर्गत स्वसमय व परसमय ।

९. सम्यक् व मिथ्या चारित्रके लक्षण

मो. पा./मू./१०० जदि काहिं बहुविहे य चारित्ते । तं बाल चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं । =बहुत प्रकारसे धारण किया गया भी चारित्र यदि आत्मस्वभावसे विपरीत है तो उसे बालचारित्र अर्थात् मिथ्याचारित्र जानना ।

नि. सा /ता वृ /९१ भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभास तन्मार्गाचरणं मिथ्याचारित्रं च। अथवा स्वात्म अनुष्ठानरूपविमुखत्वमेव मिथ्या ··चारित्र । =भगवान् अर्हंत परमेश्वरके मार्गसे प्रतिकूल मार्गाभासमे मार्गका आचरण करना वह मिथ्याचारित्र है। अथवा निज आत्माके अनुष्ठानके रूपसे विमुखता वही मिथ्याचारित्र है ।

नोट'—सम्यक्चारित्रके लक्षणके लिए देखो चारित्र सामान्यका, अथवा निश्चय व्यवहार चारित्रका अथवा सराग वीतराग चारित्रका लक्षण ।

१०. निश्चय व्यवहार चारित्र निर्देश

चारित्र यद्यपि एक प्रकारका परन्तु उसमे जीवके अन्तरंग भाव व बाह्य त्याग दोनो बातें युगपत् उपलब्ध होने के कारण, अथवा पूर्व भूमिका ओर ऊँची भूमिकाओमे विकल्प व निर्विकल्पताकी प्रधानता रहनेके कारण, उसका निरूपण दो प्रकारसे किया जाता है—निश्चय चारित्र व व्यवहारचारित्र ।

तहाँ जीवकी अन्तरग विरागता या साम्यता तो निश्चय चारित्र ओर उसका बाह्य वस्तुओका ध्यानरूप व्रत, बाह्य क्रियाओमे यत्नाचार रूप समिति ओर मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको नियन्त्रित करने रूप गुप्ति ये व्यवहार चारित्र है। व्यवहार चारित्रका नाम सराग चारित्र भी है। और निश्चय चारित्रका नाम वीतराग चारित्र। निचली भूमिकाओमे व्यवहार चारित्रकी प्रधानता रहती है और ऊपर ऊपरकी ध्यानस्थ भूमिकाओमे निश्चय चारित्रकी।

११. निश्चय चारित्रका लक्षण

१ बाह्याभ्यन्तर क्रियाओंसे निवृत्ति—

मो. पा./मू./३७ तच्चारित्त भणिय परिहारो पुण्णपावाण । =पुण्य व पाप दोनोका त्याग करना चारित्र है। (न. च वृ /३७८)।

स. सि./१/१/५/८ संसारकारणनिवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादानक्रियोपरम सम्यग्चारित्रम् ।=जो ज्ञानी पुरुष संसारके कारणोको दूर करनेके लिए उद्यत है उसके कर्मोंके ग्रहण करनेमे निमित्तभूत क्रियाके त्यागको सम्यक्चारित्र कहते है । (रा. वा./१/१/३/४/६; १/७/१४/४१/५), (भ आ /वि /६/३२/१२) (पं ध /उ /७६४) (ला. स/४/२६३/१९१)।

द्र. स मू /४६ व्यवहारचारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं निरूपयति—बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं । णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परम सम्मचारित्त ।४६। =व्यवहार चारित्रसे साध्य निश्चय चारित्रका निरूपण करते है—ज्ञानी जीवके जो संसारके कारणोको नष्ट करनेके लिए बाह्य और अन्तरंग क्रियाओका निरोध होता है वह उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है ।

प वि /१/७२ चारित्रं विरति' प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद्योगिना । =योगियोका प्रमादसे होनेवाले कर्मास्रवसे रहित होनेका नाम चारित्र है।

२. ज्ञान व दर्शनकी एकता ही चारित्र है

चा पा /मू /३ जं जाणइ तं णाणं पिच्छइ तं च दसण भणियं । णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ।३। =जो जानै सो ज्ञान है, बहुरि जो देखे सो दर्शन है, ऐसा कह्या है । बहुरि ज्ञान और दर्शनके समायोग तै चारित्र होय है ।

३. साम्यता या ज्ञाता द्रष्टाभावका नाम चारित्र है

प्र सा /मू /७ चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो । मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।७। =चारित्र वास्तवमें धर्म है । जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा कहा है । साम्य मोह क्षोभरहित आत्माका परिणाम है ।७। (मो पा /मू /५०); (पं का /मू /१०७)

म पु /२४/११९ माध्यस्थलक्षणं प्राहुश्चारित्रं वितृषो मुने । मोक्षकामस्य निर्मुक्तश्चेलसाहिंसकस्य तत् ।११९। =इष्ट अनिष्ट पदार्थोंमे समता भाव धारण करनेको सम्यक्चारित्र कहते है। वह सम्यग्चारित्र यथार्थ रूपसे तृषा रहित, मोक्षकी इच्छा करनेवाले वस्त्ररहित और हिंसाका सर्वथा त्याग करनेवाले मुनिराजके ही होता है ।

न च. वृ /३५६ समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्त । तह चारित्त धम्मो सहाव आराहणा भणिया ।३५६। =समता, माध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभावकी आराधना ये सब एकार्थवाची है । (प. ध /उ /७६४), (ला सं /४/२६३/१९१)

प्र. सा./त प्र /२४२ ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृत्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण· । =ज्ञेय और ज्ञाताकी क्रियान्तरसे अर्थात् अन्य पदार्थोंके जानने रूप क्रियासे निवृत्तिके द्वारा रचित दृष्टि ज्ञातृतत्त्वमें (ज्ञाता द्रष्टा भावमें) परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्र पर्याय है ।

४ स्वरूपमें चरण करना चारित्र है

स सा /आ./३८६ स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाच्चारित्र भवति । =अपनेमें अर्थात् ज्ञानस्वभावमे ही निरन्तर चरनेसे चारित्र है ।

प्र सा /त प्र /७ स्वरूपे चरण चारित्र स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थ । तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्म । =स्वरूपमें चरण करना चारित्र है, स्वसमयमें प्रवृत्ति करना इसका अर्थ है। यही वस्तुका (आत्माका) स्वभाव होनेसे धर्म है ।

प. का /ता. वृ /१५४/२२४/१४ जीवस्वभावनियतचारित्र भवति । तदपि· कस्मात् । स्वरूपे चरण चारित्रमिति वचनात् । =जीव स्वभावमें अवस्थित रहना ही चारित्र है, क्योंकि, स्वरूपमें चरण करनेको चारित्र कहा है । (द्र. स./टी./३५/१४७/३)

५ स्वात्मामें स्थिरता चारित्र है

पं. का./मू./१६२ जे चरदि णाणी पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमय। सा चारित्त णाण दंसणमिदि णिच्छिदो होदि।१६२। =जो (आत्मा) अनन्यमय आत्माको आत्मासे आचरता है वह आत्मा ही चारित्र है।

मो. पा./मू./८३ णिच्छयणयस्स एवं अप्पम्मि अप्पणे सुरदो। सो होदि हु सुचरित्तो जोइ सो लहइ णिव्वाणं।८३। =जो आत्मा आत्मा ही विषै आपहीके अर्थि भले प्रकार रत होय है। यो योगी ध्यानी मुनि सम्यग्चारित्रवान् भया संता निर्वाण कूँ पावै है।

स सा./मू./१५५ रागादिपरिहरणं चरण। =रागादिकका परिहार करना चारित्र है। (ध १३/३५८/२)

प. प्र./मू./२/३० जाणवि मण्णवि अप्पपरु जो परभाउ चएहि। सो णियसुद्धउ भावडउ णाणिहिं चरणु हवेइ।३०। =अपनी आत्माको जानकर व उसका श्रद्धान करके जो परभावको छोड़ता है, वह निजात्माका शुद्धभाव चारित्र होता है। (मो. पा./मू./३७)

मोक्ष. पचाशत्/मू./४५ निराकुलत्वजं सौख्यं स्वयमेवावतिष्ठत। यदात्मनैव संवेद्यं चारित्रं निश्चयात्मकम्।४५। =आत्मा द्वारा संवेद्य जो निराकुलताजनक सुख सहज ही आता है, वह निश्चयात्मक चारित्र है।

न. च. वृ./३५४ सामण्णे णियबोहे वियलियपरभावपरमसब्भावे। तत्थाराहणजुत्तो भणिओ खलु सुद्धचारित्ती। =परभावोंसे रहित परम स्वभावरूप सामान्य निज बोधमें अर्थात् शुद्धचैतन्य स्वभावमें तत्त्वाराधना युक्त होनेवाला शुद्ध चारित्री कहलाता है।

यो सा. अ./८/९५ विविक्तचेतनध्यानं जायते परमार्थतः। —निश्चयनयसे विविक्त चेतनध्यान-निश्चय चारित्र मोक्षका कारण है। (प्र. सा./ता. वृ./२४५/३३८/१७)

का. अ./मू./९९ अप्पसरूवं वत्थु चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं। सज्झाणम्मि णिलीणं तं जाणसु उत्तमं चरणं।९९। =रागादि दोषोंसे रहित शुभ ध्यानमें लीन आत्मस्वरूप वस्तुको उत्कृष्ट चारित्र जानो।९९।

नि. सा./ता. वृ./५५ स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम्। =निज स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप सहज निश्चय चारित्र है। (नि. सा./ता. वृ./३)

प्र. सा./ता. वृ./६/७/१४ आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थानं, तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। = आत्माधीन ज्ञान व सुखस्वभावरूप शुद्धात्म द्रव्यमें निश्चल निर्विकार अनुभूतिरूप जो अवस्थान है, वही निश्चय चारित्रका लक्षण है। (स. सा./ता. वृ./३८), (सा. सा./ता. वृ./१५५), (द्र. स./टी./४६/१९७/८)

द्र. स./टी./४०/१६३/१३ संकल्पविकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुनःपुनः स्थिरीकरणं सम्यक्चारित्रम्। =समस्त संकल्प विकल्पोंके त्याग द्वारा, उसी (वीतराग) सुखमें सन्तुष्ट तृप्त तथा एकाकार परम समता भावसे द्रवीभूत चित्तका पुनःपुनः स्थिर करना सम्यक्चारित्र है। (प. प्र./टी./२/३० की उत्थानिका)

१२. व्यवहार चारित्रका लक्षण

स./सा./मू./३८६ णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिकम्मदि यो य। णिच्चं आलोचेयइ सो हु चारित्तं हवइ चेया।३८६। =जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है, वह आत्मा वास्तवमें चारित्र है।३८६।

मू. आ./मू./९/४५ कायव्वमिणमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो। =यह करने योग्य कार्य है ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अकर्तव्यका त्याग करना चारित्र है।

र. क. श्रा./४९ हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं।४९। =हिंसा, असत्य, चोरी, तथा मैथुनसेवा और परिग्रह इन पाँचों पापोंकी प्रणालियोंसे विरक्त होना चारित्र है। (ध ६/१,९-१,२२/४०/५), (नि. सा./ता. वृ./५२), (मो. पा./टी./३७,३८/३२८)

यो सा./अ./८/९५ कारणं निर्वृतेरेतच्चारित्रं व्यवहारतः।...।९५। व्रतादिका आचरण करना व्यवहार चारित्र है।

पु. सि. उ./३९ चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्। सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्।३९। =समस्त पापयुक्त मन, वचन, कायके त्यागसे सम्पूर्ण कषायोंसे रहित अतएव निर्मल परपदार्थोंसे विरक्ततारूप चारित्र होता है। इसलिए वह चारित्र आत्माका स्वभाव है।

भ. आ./वि./६/३३/१ एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकषायत्यजनरूपतया। इत्थं चारित्राराधनयोक्तया.. । =अविरति, प्रमाद, कषायोंका त्याग स्वाध्याय करनेसे तथा ध्यान करनेसे होता है, इस वास्ते वे भी चारित्र रूप है।

द्र. सं./मू./४५ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं। वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिण भणियं।४५। =अशुभ कार्योंसे निवृत्त होना और शुभकार्योंमें प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए। व्यवहार नयसे उस चारित्रको व्रत, समिति और गुप्तिस्वरूप कहा है।

त. अनु./२७ चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः। पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषन्ति तत्।२७। =मनसे, वचनसे, कायसे, कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा जो पापरूप क्रियाओंका त्याग है उसको सम्यग्चारित्र कहते है।

१३. सराग वीतराग चारित्र निर्देश

[वह चारित्र अन्य प्रकारसे भी दो भेद रूप कहा जाता है—सराग व वीतराग। शुभोपयोगी साधुका व्रत, समिति, गुप्तिके विकल्पोंरूप चारित्र सराग है, और शुद्धोपयोगी साधुके वीतराग सवेदनरूप ज्ञाता द्रष्टा भाव वीतराग चारित्र है।]

१४. सराग चारित्रका लक्षण

स. सि./६/१२/३३१/२ संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णोऽक्षीणाशयः सराग इत्युच्यते। प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः। सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः। =जो संसारके कारणोंके त्यागके प्रति उत्सुक है, परन्तु जिसके मनसे रागके संस्कार नष्ट नहीं हुए है, वह सराग कहलाता है। प्राणी और इन्द्रियोंके विषयमें अशुभ प्रवृत्तिके त्यागको संयम कहते है। रागी जीवका संयम कहते हैं। (रा. वा./६/१२/५-६/५२२/२१)

न. च. वृ./३३४ मूलुत्तरसमणगुणा धारण कहणं च पंच आयारो। सो ही तहव सणिट्ठा सरायचरिया हवइ एवं।३३४। =श्रमण जो मूल व उत्तर गुणोंको धारण करता है तथा पंचाचारोंका कथन करता है अर्थात् उपदेश आदि देता है, और आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें निष्ठ रहता है, वह उसका सराग चारित्र है।

द्र. सं./मू./४५/१९४ वीतरागचारित्रस्य साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति। · "असुहादो विणिवत्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त। वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणयादु जिणभणियं।४५।=वीतराग चारित्रके परम्परा साधक सराग चारित्रको कहते है—जो अशुभ कार्यसे निवृत्त होना और शुभकार्यमें प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए, व्यवहार नयसे उसको व्रत, समिति, गुप्ति स्वरूप कहा है।

प्र. सा./ता. वृ./२३०/३१५/१० तत्रासमर्थः पुरुषः—शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृहातीत्यपवादो 'व्यवहारनय'एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः' सरागचारित्रं

शुभोपयोग इति यावदेकार्थ ।=वीतराग चारित्रमें असमर्थ पुरुष शुद्धात्म भावनाके सहकारीभूत जो कुछ प्रासुक आहार तथा ज्ञानादि के उपकरणोका ग्रहण करता है, वह अपवाद मार्ग,—व्यवहार नय या व्यवहार चारित्र, एकदेश परित्याग, अपहृत सयम, सराग चारित्र या शुभोपयोग कहलाता है। यह सब शब्द एकार्थवाची है।

नोट'—और भी—दे० चारित्र/१/१२ में व्यवहार चारित्र-सयम/१ मे अपहृत संयम, 'अपवाद' मे अपवादमार्ग।

१५. वीतराग चारित्रका लक्षण

न. च वृ./३७८ सुहअसुहाण णिवित्ति चरण साहूस्स वीयरायस्स ।=शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके योगोसे निवृत्ति, वीतराग साधुका चारित्र है।

नि. सा /ता वृ /१५२ स्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचारित्रे ।=स्वरूपमें विश्रान्ति सो ही परम वीतराग चारित्र है।

द्र स./टी./५२/२१६/१ रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखस्वादेन निश्चलचित्त वीतरागचारित्र तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचार'=उस शुद्धात्मामे रागादि विकल्परूप उपाधिसे रहित स्वाभाविक सुखके आस्वादनसे निश्चल चित्त होना वीतराग चारित्र है। उसमें जो आचरण करना सो निश्चय चारित्राचार है। (स सा /ता वृ /२/८/१०) (द्र. स./टी./२२/६७/१)।

प्र. सा /ता वृ./२३०/३१५/८ शुद्धात्मन' सकाशादन्यबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूपं सर्वं त्याज्यमित्युत्सर्गो 'निश्चय नय' सर्वपरित्याग परमोपेक्षासयमो वीतरागचारित्तं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः।=शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह रूप पदार्थोका त्याग करना उत्सर्ग मार्ग है। उसे ही निश्चयनय या निश्चयचारित्र व शुद्धोपयोग भी कहते है, इन सब शब्दोका एक ही अर्थ है।

नोट—और भी देखे चारित्र/१/११ मे निश्चय चारित्र, संयम/१ मे उपेक्षा सयम; अपवादमें उत्सर्ग मार्ग।

१६. स्वरूपाचरण व संयमासंयम चारित्र निर्देश

चा. पा /मू ५ जिणणाणदिट्ठिसुद्धपढम सम्मत्तं चरणचारित्त। विदिय संजमचरणं जिणणाणसदेसियं त पि ।५।=पहला तो, जिनदेवके ज्ञान दर्शन व श्रद्धाकरि शुद्ध ऐसा सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और दूसरा सयमाचरण चारित्र है।

चा पा /टी /३/३२/३ द्विविधं चारित्रं—दर्शनाचारचारित्राचारलक्षणं।=दर्शनाचार और चारित्राचार लक्षणवाला चारित्र दो प्रकारका है। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका/२२३ शुद्धात्मानुभवनसे अविनाभावी चारित्र-विशेषको स्वरूपाचरण चारित्र कहते है।

१७. अधिगत व अनधिगत चारित्र निर्देश व लक्षण

रा. वा /३/३६/२/२०१/८ चारित्रार्या द्वेधा अधिगतचारित्रार्या' अनधिगतचारित्रार्यश्चेति। तद्भेद अनुपदेशोपदेशापेक्षभेदकृत। चारित्रमोहस्योपशमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्र-परिणामास्कन्दिन उपशान्तकषाया' क्षीणकषायाश्चाधिगतचारित्रार्या (अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्त-विरतिपरिणामा अनधिगमचारित्रार्या ।=असावद्यकर्मार्य दो प्रकारके है—अधिगत चारित्रार्य और अनधिगत चारित्रार्य। जो बाह्य उपदेशके बिना स्वय ही चारित्रमोहके उपशम वा क्षयसे प्राप्त आत्म प्रसादसे चारित्र परिणामको प्राप्त हुए है, ऐसे उपशान्तकषाय और क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती जीव अधिगत चारित्रार्य है। और जो अन्दरमे चारित्रमोहका क्षयोपशम होनेपर बाह्योपदेशके निमित्तसे विरति परिणामको प्राप्त हुए है वे अनधिगत चारित्रार्य है। तात्पर्य यह है कि उपशम व क्षायिकचारित्र तो अधिगत कहलाते है और क्षयोपशम चारित्र अनधिगत।

१८. क्षायिकादि चारित्र निर्देश

ध. ६/१,९-८,१४/२८१/१ सयलचारित्त तिविह खओवसमियं, ओवसमियं खइय चेदि।=क्षयोपशमिक, औपशमिक व क्षायिकके भेदसे सकल चारित्र तीन प्रकारका है। (ल. सा /मू /१८६/२४३)।

१९. औपशमिक चारित्रका लक्षण

रा. वा /२/३/३/१०५/१७ अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रम्=अनन्तानुबन्धी आदि १६ कषाय और हास्य आदि नव नोकषाय, इस प्रकार २५ तो चारित्रमोहकी और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्प्रकृति ये तीन दर्शनमोहनीयकी—ऐसे मोहनीयकी कुल २८ प्रकृतियोके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है। (स. सि /२/३/१५३/७)।

२०. क्षायिक चारित्रका लक्षण

रा. वा /२/४/७/१०७/११ पूर्वोक्तस्य दर्शनमोहत्रिकस्य चारित्रमोहस्य च पञ्चविंशतिविकल्पस्य निरवशेषक्षयात् क्षायिके सम्यक्त्वचारित्रे भवत ।=पूर्वोक्त (देखो ऊपर औपशमिक चारित्रका लक्षण) दर्शन मोहकी तीन और चारित्रमोहकी २८, इन २८ प्रकृतियोके निरवशेष विनाशसे क्षायिक चारित्र होता है। (स सि /२/४/१५५/१)

२१. क्षायोपशमिक चारित्रका लक्षण

स सि /२/५/१५७/८ अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानद्वादशकषायोदयक्षयात्सदुपशमाच्च संज्वलनकषायचतुष्टयान्यतमदेशघातिस्पर्धकोदये नोकषायनवकस्य यथासभवोदये च निवृत्तिपरिणाम आत्मन क्षायोपशमिक चारित्रम्=अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायोके उदयाभावी क्षय होनेसे और इन्हीके सदवस्थारूप उपशम होनेसे तथा चार सज्वलन कषायोमेंसे किसी एक देशघाती प्रकृतिके उदय होनेपर और नव नोकषायोका यथा सम्भव उदय होनेपर जो त्यागरूप परिणाम होता है, वह क्षायोपशमिक चारित्र है। (रा. वा./२/५/८/१०८/३) इस विषयक विशेषताएँ व तर्क आदि। दे० क्षयोपशम।

२२. सामायिकादि चारित्र पञ्चक निर्देश

त सू./९/१८ सामायिकछेदोपस्थानापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसापराययथाख्यातमिति चारित्रम्=सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात—ऐसे चारित्र पाँच प्रकारका हैं। (और भी—दे० संयम/१।

२. मोक्षमार्गमें चारित्रकी प्रधानता

१. चारित्र ही धर्म है

प्र सा /मू /७ चारित्तं खलु धम्मो=चारित्र वास्तवमे धर्म है (मो. पा /मू./५०) (प. का./मू०/१०७)।

२. चारित्र साक्षात् मोक्षका कारण है

चा पा /मू०/८-९ त चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्त सुमुक्खठाणाय। ज चरइ णाणजुत्त' पढम सम्मत्त' चरणचारित्त ॥८॥ सम्मत्तचरणसुद्धा सजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा। णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाण ॥९॥=प्रथम सम्यक्त्व चरणचारित्र मोक्षस्थानके अर्थ है ॥८॥ जो अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण और सयमाचरण दोनोसे विशुद्ध होता है, वह शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त करता है॥

स सि /९/१८/४३६/४ चारित्रमन्ते गृह्यन्ते मोक्षप्राप्ते साक्षात्करणमिति ज्ञापनार्थं=चारित्र मोक्षका साक्षात् कारण है यह बात जाननेके लिए सूत्रमें इसका ग्रहण अन्तमें किया है॥

प्र. सा /त प्र./६ सपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्ष.। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्ध =दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे यदि वह वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, व नरेन्द्रके वैभव क्लेशरूप बन्धकी प्राप्ति होती है, (यो सा अ/६/१२)

प. ध /उ./७५६ चारित्र निर्जरा हेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम्। सर्वस्वार्थ-क्रियामर्हन्, सार्थनामास्ति दीपवत् ॥७५६॥=वह चारित्र. (पूर्व श्लोकमें कथित शुद्धोपयोग रूप चारित्र) निर्जराका कारण है, यह बात न्यायसे भी अबाधित है। वह चारित्र अन्वर्थ क्रियामें समर्थ होता हुआ दीपककी तरह अन्वर्थ नामधारी है।

३. चारित्राराधनामे अन्य सर्व आराधनाएँ गर्भित हैं

भ. आ./मू /८/४१ अहवा चारित्ताराहणाए आहारियं सव्व। आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ॥८॥=चारित्रकी आराधना करनेसे दर्शन, ज्ञान व तप, यह तीनो आराधनाएँ भी हो जाती है। परन्तु दर्शनादिकी आराधनासे चारित्रकी आराधना हो या न भी हो।

४. चारित्रसहित ही सम्यक्त्व, ज्ञान व तप सार्थक है

शी पा /मू./५ णाणं चरित्तहीणं लिंगगहणं च दसणविहूणं। सजमहीणो य तवो तइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥५॥=चारित्ररहित ज्ञान और सम्यक्त्वरहित लिंग तथा संयमहीन तप ऐसे सर्वका आचरण निरर्थक है। (मो पा /मू /५७,५६,६७) (मू. आ /६५०) (अ. आ /मू / ७७०/६२६); (आराधनासार/५४/१२६)।

मू आ /८६७ थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ बहुसुद जो चारित्त। सपुण्णो जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ।८६७।=जो मुनि चारित्रसे पूर्ण है, वह थोडा भी पढा हुआ हो तो भी दशपूर्वके पाठीको जीत लेता है। (अर्थात् वह तो मुक्ति प्राप्त कर लेता है, और सयमहीन दशपूर्वका पाठी ससारमें ही भटकता है) क्योकि जो चारित्ररहित है, वह बहुतसे शास्त्रोका जाननेवाला हो जाये तो भी उसके बहुत शास्त्र पढे होनेसे क्या लाभ (मू आ /८६४)।

भ आ /मू./१२/५६ चक्खुस्स दसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं। चक्खू होइ णिरत्थं दठ्ठूण बिले पडंतस्स ।५२।

भ.आ /वि /१२/५६/१७ ननु ज्ञानमिष्टानिष्टमार्गोपदर्शि तदुक्त ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातुं इति चेन्न ज्ञानमात्रेणेष्टार्थासिद्धि यतो ज्ञानं प्रवृत्तिहीनं असत्सम। =नेत्र और उससे होनेवाला जो ज्ञान उसका फल सर्पदंश, कंटकव्यथा इत्यादि दु खोका परिहार करना है। परन्तु जो बिल आदिक देखकर भी उसमे गिरता है, उसका नेत्र ज्ञान वृथा है।२। प्रश्न—ज्ञान इष्ट अनिष्ट मार्गको दिखाता है, इसलिए उसको उपकारपना युक्त है (परन्तु क्रिया आदिका उपकारक कहना उपयुक्त नहीं। उत्तर—यह कहना योग्य नही है, क्योकि ज्ञान मात्रसे इष्ट सिद्धि नहीं होती, कारण कि प्रवृत्ति रहित ज्ञान नही हुएके समान है। जैसे नेत्रके होते हुए भी यदि कोई कुएँ मे गिरता है, तो उसके नेत्र व्यर्थ है।

स.श /८१ शृण्वन्नप्यन्यत' काम वदन्नपि कलेवरात्। नात्मान भावयेद्भिन्न यावत्तावन्न मोक्षभाक् ।८१। =आत्माका स्वरूप उपाध्याय आदिके मुखसे खूब इच्छानुसार सुननेपर भी, तथा अपने मुखसे दूसरोको बतलाते हुए भी जबतक आत्मस्वरूपकी शरीरादि पर-पदार्थोसे भिन्न भावना नही की जाती, तबतक यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता।

प प्र./मू./२/८१ बुज्झइ सत्थइ तउ चरइ पर परमत्थु ण वेइ। ताव ण मुचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ ।८२। =शास्त्रोको खूब जानता हो और तपरया करता हो, लेकिन परमात्माको जो नही जानता या उसका अनुभव नही करता, तबतक वह नहीं छूटता।

स.सा /आ./७२ यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति। =यदि आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान होनेपर भी आस्रवोसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नही है।

प्र.सा /ता वृ./२३७ अयं जीव' श्रद्धानज्ञानमहितोऽपि पौरुषस्थानीय-चारित्रबलेन रागादिविकल्परूपादसयमाद्यपि न निवर्तते तदा तस्य श्रद्धानं ज्ञानं वा किं कुर्यान्न किमपि। =यह जीव श्रद्धान या ज्ञान सहित होता हुआ भी यदि चारित्ररूप पुरुषार्थके बलमे रागादि विकल्परूप असयमसे निवृत्त नही होता तो उसका वह श्रद्धान व ज्ञान उसका क्या हित कर सकता है। कुछ भी नहीं।

मो पा./पं. जयचन्द/६८ जो ऐसैं श्रद्धान करै, जो हमारे सम्यक्त्व तो है ही, बाह्य मूलगुण बिगडे तौ बिगडौ, हम मोक्षमार्गी ही है. तौ ऐसे श्रद्धान तै तौ जिनाज्ञा होनेतैं सम्यक्त्वका भग होय है। तब मोक्ष कैसे होय।

शी.पा /पं जयचन्द/१८ सम्यक्त्व होय तब विषयनितै विरक्त होय ही होय। जो विरक्त न होय तो ससार मोक्षका स्वरूप कहा जानना।

५. चारित्रधारणा ही सम्यग्ज्ञानका फल है

ध १/१,१,११५/३५३/८ किं तज्ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थे रुचि' प्रत्यय. श्रद्धा चारित्रस्पर्शन च।=प्रश्न—ज्ञानका कार्य क्या है? उत्तर—तत्त्वार्थमें रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्रका धारण करना कार्य है।

द्र स /टी /३६/१५३/५ यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिक त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्ति। =जो रागादिकका भेद विज्ञान हो जानेपर रागादिकका त्याग करता है, उसे भेद विज्ञानका फल है।

३. चारित्रमे सम्यक्त्वका स्थान

१. सम्यक् चारित्रमें सम्यक् पदका महत्त्व

स.सि /१/१/५/६ अज्ञानपूर्वकाचरणनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम्। =अज्ञान पूर्वक आचरणके निराकरणके अर्थ सम्यक् विशेषण दिया गया है।

२. चारित्र सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होता है

स.सा /मू./१८,३४ एव हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहदव्वो। अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।१८। सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाइं परे त्ति णादूणं। तम्हा पचक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वा ।३४।=मोक्षके इच्छुकको पहले जीवराजाको जानना चाहिए, फिर उसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए, और तत्पश्चात् उसका आचरण करना चाहिए।१८। अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ पर हैं, ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, अत प्रत्याख्यान ज्ञान ही है (प.का / मू./१०४)।

स सि /१/१/७/३ चारित्रात्पूर्वं ज्ञानं प्रयुक्त, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य। =सूत्रमे चारित्रके पहले ज्ञानका प्रयोग किया है, क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है। (रा वा /१/१/३२/९/३२), (पु.सि उ /३८)।

ध १३/५,५,५०/२८८/६ चारित्राच्छ्रुत प्रधानमिति अग्र्यम्। कथ तत श्रुतस्य प्रधानता। श्रुतज्ञानमन्तरेण चारित्रानुपपत्ते।=चारित्रसे श्रुत प्रधान है, इसलिए उसकी अग्र्य सज्ञा है। प्रश्न—चारित्रसे श्रुतकी प्रधानता किस कारणसे है? उत्तर—क्योकि श्रुतज्ञानके बिना चारित्र-की उत्पत्ति नही होती, इसलिए चारित्रकी अपेक्षा श्रुतकी प्रधानता है।

स.सा /आ /३४ य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य प्रत्याख्यान ज्ञानमेव इत्यनुभवनीयम्। =जो पहले जानता है वही त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नही है, इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही हो।

३. चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है

चा.पा./मू./८ जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।८।

चा.पा./टी./८/३५/१६ द्वयोर्दर्शनाचारचारित्राचारयोर्मध्ये सम्यक्त्वाचारचारित्र प्रथम भवति । =दर्शनाचार और चारित्राचार इन दोनोंमें सम्यक्त्वाचरण चारित्र पहले होता है ।

र.सा./७३ पुव्व सेवइ मिच्छामलसोहणहेउ सम्मभेसज्ज । पच्छा सेवइ कम्मामयणासणचरियसम्मभेसज्ज ।७३। =भव्य जीवोंको सम्यक्त्वरूपी रसायन द्वारा पहले मिथ्यामलका शोधन करना चाहिए, पुन' चारित्ररूप औषधका सेवन करना चाहिए । इस प्रकार करनेसे कर्मरूपी रोग तत्काल ही नाश हो जाता है ।

मो.मा./मू./८ त चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्त सुमुक्खठाणाय । ज चरइ णाणजुत्त पढम सम्मत्तचरणचारित्तं ।८। =जिन सम्यक्त्व विशुद्ध होय ताहि यथार्थ ज्ञान करि आचरण करै, सो प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र है, सो मोक्षस्थानके अर्थ होय है ।८।

स.सि./२/३/१५३/७ सम्यक्त्वस्यादौ वचन, तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य । ='सम्यक्त्वचारित्रे' इस सूत्रमें सम्यक्त्व पदको आदिमे रखा है, क्योकि चारित्र सम्यक्त्वपूर्वक होता है । (भ.आ./वि./११६/२७३/१०) ।

रा.वा./२/३/४/१०५/२१ पूर्वं सम्यक्त्वपर्यायेणाविर्भाव आत्मनस्तत क्रमाच्चारित्रपर्याय आविर्भवतीति सम्यक्त्वस्यादौ ग्रहणं क्रियते । =पहले औपशमिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । तत्पश्चात् क्रमसे आत्मामें औपशमिक चारित्र पर्यायका प्रादुर्भाव होता है, इसीसे सम्यक्त्वका ग्रहण सूत्रके आदिमें किया गया है ।

पु.सि.उ./२१ तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन । तस्मिन्सत्येव यतो भवति ज्ञान चारित्र च ।२१। =इन तीनो (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) के पहले समस्त प्रकारसे सम्यग्दर्शन भले प्रकार अगीकार करना चाहिए, क्योकि इसके अस्तित्व होते हुए ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है ।

आ.अनु./१२०-१२१ प्राक् प्रकाशप्रधान' स्यात् प्रदीप इव सयमी । पश्चात्तापप्रकाशाभ्या भास्वानिव हि भासताम् ।१२०। भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वर. । स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्वत्कर्मकज्जलम् ।१२१। =साधु पहले दीपके समान प्रकाशप्रधान होता है । तत्पश्चात् वह सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे शोभायमान होता है ।१२०। वह बुद्धिमान साधु (सम्यक्त्व द्वारा) दीपकके समान होकर ज्ञान और चारित्रसे प्रकाशमान होता है, तब वह कर्म रूपका जलको उगलता हुआ स्वके साथ परको प्रकाशित करता है ।

४. सम्यक्त्व हो जानेपर पहला ही चारित्र सम्यक् हो जाता है

पं.ध./उ./७६८ अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् । भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वाभूतपूर्वकम् ।७६८। =सम्यग्दर्शनके होते ही जो भूतपूर्व ज्ञान व चारित्र था, वह सम्यक् विशेषण सहित हो जाता है । अत सम्यग्दर्शन अभूतपूर्वके समान ही सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को उत्पन्न करता है, ऐसा कहा जाता है ।

५. सम्यक्त्व हो जानेके पश्चात् क्रमशः चारित्र स्वतः हो जाता है

पं.ध./उ./६४० स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् । वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह कि बहु ।६४०। =सम्यग्दर्शनके होनेपर आत्मामें प्रत्यक्ष, स्वानुभव नामका ज्ञान, वैराग्य और भेद विज्ञान इत्यादि गुण प्रगट हो जाते है ।

शी.पा./प. जयचन्द/४० सम्यक्त्व होय तो विषयनितै विरक्त होय ही होय । जो विरक्त न होय तौ ससार मोक्षका स्वरूप कहा जान्या ?

६. सम्यग्दर्शन सहित ही चारित्र होता है

चा.पा./मू. ३ णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्त ।

बो.पा./मू.२० संजमसंजुतस्स य सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स । णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ।=ज्ञान और दर्शनके समायोगसे चारित्र होता है ।३। संयम करि सयुक्त और ध्यानके योग्य ऐसा जो मोक्षमार्ग ताका लक्ष्य जो अपना निज स्वरूप सो ज्ञानकरि पाइये है तातै ऐसे लक्ष्कूं जाननेकूं ज्ञानकू जानना ।२०।

ध.१२/४,२,७,१७७/८१/१० सो सजमो जो सम्माविणाभावीण अण्णो । तत्थ गुणसेडिणिज्जराकज्जणुवलंभादो । तदो संजमगहणादेव सम्मत्तसहायसजमसिद्धी जादा ।=सयम वही है, जो सम्यक्त्वका अविनाभावी है, अन्य नही । क्योंकि, अन्यमें गुणश्रेणी निर्जरारूप कार्य नही उपलब्ध होता । इसलिए सयमके ग्रहण करनेसे ही सम्यक्त्व सहित सयमकी सिद्धि हो जाती है ।

७. सम्यक्त्व रहितका चारित्र चारित्र नहीं है

स.सि./६/२१/३३६/७ सम्यक्त्वाभावे सति तद्व्यपदेशाभावात्तदुभयमप्यत्रान्तर्भवति ।=सम्यक्त्वके अभावमें सराग सयम और सयमासयम नही होते, इसलिए उन दोनोका यही (सूत्रके 'सम्यक्त्व' शब्दमें) अन्तर्भाव होता है ।

रा.वा./६/२१/२/५२८/४ नासतिसम्यक्त्वे सरागसंयम-संयमासंयमव्यपदेश इति ।=सम्यक्त्वके न होनेपर सरागसंयम और सयमासयम ये व्यपदेश ही नही होता । (पु.सि.उ./३८) ।

श्लो.वा./सस्कृत/६/२३/७/पृ ५५६ ससाराद्भीरुताभीक्ष्णं सवेग. । सिद्ध्यताम् यत. न तु मिथ्यादृशाम् । तेषाम् संसारस्य अप्रसिद्धित' । =बुद्धिमानोंमें ऐसी सम्मति है कि ससारभीरु निरन्तर सविग्न रहता है । परन्तु यह बात मिथ्यादृष्टियोंमें नही है । उन बुद्धिमानोंमें संसारकी प्रसिद्धि नहीं है ।

ध.१/१,१,४/१४४/४ संयमन सयम. । न द्रव्ययम संयमस्तस्य 'सं' शब्देनापादित्वात् । =सयमन करनेको संयम कहते है. सयमका इस प्रकार लक्षण करनेपर द्रव्य यम अर्थात् भाव चारित्र शून्य द्रव्य चारित्र सयम नही हो सकता । क्योकि सयम शब्दमे ग्रहण किये गये 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया गया है । (ध.१/१,१,१४/१७७/४) ।

प्र.सा./ता.वृ./२३६/३२६/११ यदि निर्दोपिनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं नास्ति तर्हि पञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषषड्जीववधव्यावर्तोऽपि सयतो न भवति ।=निर्दोष निज परमानन्द ही उपादेय है, यदि ऐसा रुचि रूप सम्यक्त्व नही है, तब पचेन्द्रियोंके विषयोकी अभिलाषाका त्याग रूप इन्द्रिय सयम तथा षट्कायके जीवोके वधका त्यागरूप प्राणि संयम ही नहीं होता ।

मार्गणा—[मार्गणा प्रकरणमे सर्वत्र भाव मार्गणा इष्ट है] ।

८. सम्यक्त्वके बिना चारित्र सम्भव नहीं

र.सा./४७ सम्मत्तं विणा सण्णाण सच्चारित्तं ण होइ णियमेण ।=सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम पूर्वक नही होते है ।४७। (और भी – दे० लिंग/२) (स.सि./६/२१/३३६/७), (रा.वा./६/२१/२/५२८/४) ।

ध.१/१,१,१३/१७५/३ तान्यन्तरेणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिविरोधात् । सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो दृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाक्षस्यानिवृत्तविषयपिपासस्याप्रत्याख्यानानुपपत्ते ।

ध.१/१,१,१३०/३७८/७ मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्सयतो दृश्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण सयमानुपपत्ते' ।=१ औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक इन तीनोमेसे किसी एक सम्यग्दर्शनके बिना अप्रत्याख्यान चारित्रका (संयमासंयमका) प्रादुर्भाव नही हो सकता । प्रश्न—सम्यग्दर्शनके बिना भी देश सयमी देखनेमे आते है ? उत्तर—नहीं,

क्योकि जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित है, और जिनकी विषय पिपासा दूर नही हुई है, उनको अप्रत्याख्यान सयमकी उत्पत्ति नही हो सकती। प्रश्न—कितने ही मिथ्यादृष्टि सयत देखे जाते है? उत्तर—नहीं, क्योकि सम्यग्दर्शनके बिना संयमकी उत्पत्ति नही हो सकती।

भ आ /वि /८/४१/१७ मिथ्यादृष्टिस्त्वनशनादावुद्यतोऽपि न चारित्रमाराधयति।

भ. आ /वि /११६/२७३/१० न श्रद्धानं ज्ञानं चान्तरेण संयम' प्रवर्तते। अजानत श्रद्धानरहितस्य वासंयमपरिहारो न संभाव्यते।= १ मिथ्यादृष्टिको अनशनादि तप करते हुए भी चारित्रकी आराधना नही होती। २. श्रद्धान और ज्ञानके बिना संयमकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, । क्योकि जिसको ज्ञान नही होता, और जो श्रद्धान रहित है, वह असयमका त्याग नही करता है।

प्र सा /त, प्र /२३६ इह हि सर्वस्यापि 'तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्टया शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायै सहैक्यमध्यवसतो··· सर्वतो निवृत्त्यभावात् परमात्मज्ञानाभावाद् ··ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च सयम एव न तावत् सिद्धयेत्।=इस लोकमें वास्तवमें तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षणवाली दृष्टिसे जो शून्य है, उन सभीको संयम ही सिद्ध नही होता, क्योकि स्वपर विभागके अभावके कारण काया और कषायोंकी एकताका अध्यवसाय करनेवाले उन जीवोंके सर्वत. निवृत्तिका अभाव है, तथापि उनके परमात्मज्ञानके अभावके कारण आत्मतत्त्वमें एकाग्रताकी प्रवृत्तिका अभाव है।

९. सम्यक्त्व शून्य चारित्र मोक्ष व आत्मप्राप्तिका कारण नहीं है

चा॰ पा /मू /१० सम्मत्तचरणभट्टा सजमचरणं चरंति जे वि णरा। अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं।१०।=जो पुरुष सम्यक्त्व चरण चारित्र (स्वरूपाचरण चारित्र) करि भ्रष्ट है, अर सयम आचरण करें है तोऊ ते अज्ञानकरि मूढ दृष्टि भए सन्ते निर्वाणकू नही पावै है।

प. प्र /मू /२/८२ बुज्झइ सत्थइँ तउ चरइं पर परमत्थु ण वेइ। ताव ण मुचइ जाम णवि इहु परमत्थु मुणेइ।८। =शास्त्रोंको जानता है, तपस्या करता है, लेकिन परमात्माको नही जानता, और जबतक पूर्व प्रकारसे उसको नहीं जानता तबतक नही छूटता।

यो सा /अ /२/५० अजीवतत्त्वं न विदन्ति सम्यक् यो जीवतत्त्वाद्विधिनाविभक्त। चारित्रवतोऽपि न ते लभन्ते विविक्तमात्मानमपास्तदोषम्।=जो विधि पूर्वक जीव तत्त्वसे सम्यक् प्रकार विभक्त (भिन्न किये गये) अजीव तत्त्वको नहीं जानते वे चारित्रवन्त होते हुए भी निर्दोष परमात्मतत्त्वको नहीं प्राप्त होते।

प. वि /७/२६/ भाषाकार–मोक्षके अभिप्रायसे धारे गये व्रत ही सार्थक है।

दे. मिथ्यादृष्टि/४ (सागोपाग चारित्रका पालन करते हुए भी मिथ्यादृष्टि मुक्त नहीं होता)।

१०. सम्यक्त्व रहित चारित्र मिथ्या है अपराध है इत्यादि

स. सा /मू /२७३ वदसमिदिगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं। कुव्वतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु।२७३।=जिनेन्द्र देवके द्वारा कथित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है। (भ. आ /मू /७७१/९२९)।

मो पा /मू /१०० जदि पढदि बहुसुदाणि जदि कहिदि बहुविहं य चारित्त। तं बालसुद्धं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीद।=जो आत्म स्वभावसे विपरीत बाह्य बहुत शास्त्रोंको पढेगा और बहुत प्रकारके चारित्रको आचरेगा तो वह सब बालश्रुत व बालचारित्र होगा।

म. पु /२४/१२२ चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम्। प्रपातायैव तद्धि स्याद् अन्धस्येव विवल्गितम्।१२२। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता, किन्तु जिस प्रकार अन्धे पुरुषका दौडना उसके पतनका कारण होता है उसी प्रकार वह उसके पतनका कारण होता है अर्थात् नरकादि गतियोंमें परिभ्रमणका कारण होता है।

न. च. लघु /८ बुज्झहता जिणवयणं पच्छा णिजकज्जसंजुआ होह। अहवा तंदुलरहियं पलालसधुणाणं सव्वं।=पहिले जिन-वचनोंको जानकर पीछे निज कार्यसे अर्थात् चारित्रसे सयुक्त होना चाहिए, अन्यथा सर्व चारित्र तप आदि तन्दुल रहित पलाल कूटनेके समान व्यर्थ है।

न. च /श्रुत/पृ. ६२ स्वकार्यविरुद्धा क्रिया मिथ्याचारित्रं।=निजकार्यसे विरुद्ध क्रिया मिथ्याचारित्र है।

स. सा /आ /३०६ अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु···साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवति। ' तथैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव।=जो अप्रतिक्रमणादि रूप (अर्थात् प्रतिक्रमण आदिके विकल्पोंसे रहित) तीसरी भूमिका है वह स्वयं साक्षात् अमृत कुम्भ है। उससे ही आत्मा निरपराध होता है। उसके अभावमें द्रव्य प्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है।

पं. वि./१/७० "दर्शनं यद्विना स्यात्। मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्र।७०।=वह सम्यग्दर्शन जयवन्त वर्तो, कि जिसके बिना मती भी कुमति है और चारित्र भी दुश्चरित्र है।

ज्ञा /४/२७ में उद्धृत—हतं ज्ञान क्रिया शून्यं हता चाज्ञानिन' क्रिया। धावन्नप्यन्धको नष्ट. पश्यन्नपि च पगुल।=क्रिया रहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञानीकी क्रिया नष्ट हुई। देखो दौडता दौडता तो अन्धा (ज्ञान रहित क्रिया) नष्ट हो गया और देखता देखता पगुल (क्रिया रहित ज्ञान) नष्ट हो गया।

अन ध /४/३/२७७ ज्ञानमज्ञानमेव यद्विना सद्दर्शनं यथा। चारित्रमप्यचारित्र सम्यग्ज्ञानं विना तथा।३। =जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र भी अचारित्र ही माना जाता है।३।

४. निश्चय चारित्रकी प्रधानता

१. शुभ-अशुभसे अतीत तीसरी भूमिका ही वास्तविक चारित्र है

स.सा /आ /३०६ यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादि' स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव, किं तस्य विचारेण। यस्तु द्रव्यरूप प्रक्रमणादि स सर्वापराधदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयिकीं भूमिमपश्यत स्वकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात्। अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणा सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति।=प्रथम तो अज्ञानी जनसाधारणके प्रतिक्रमणादि (असयमादि) है वे तो शुद्धात्माकी सिद्धिके अभावरूप स्वभाववाले है, इसलिए स्वयमेव अपराध रूप होनेसे विषकुम्भ ही है, उनका विचार यहाँ करनेसे प्रयोजन ही क्या?—और जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि है वे सब अपराधरूपी विषके दोषको (क्रमश) कम करनेमें समर्थ होनेसे यद्यपि व्यवहार आचारशास्त्रके अनुसार अमृत कुम्भ है तथापि प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण (अर्थात् प्रतिक्रमणादिके विकल्पोंसे दूर और लौकिक असयमके भी अभाव स्वरूप पूर्ण ज्ञाता द्रष्टा भावस्वरूप निर्विकल्प समाधि दशारूप) जो तीसरी साम्य भूमिका है, उसे न देखनेवाले पुरुषको वे द्रव्य प्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करनेको असमर्थ होनेसे और

विपक्ष (अर्थात् बन्धका) कार्य करते होनेसे विषकुम्भ ही है।—जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके कारण समस्त अपराधरूपी विषके दोषोंको सर्वथा नष्ट करनेवाली होनेसे, साक्षात् स्वयं अमृत कुम्भ है।

२. चारित्र वास्तवमें एक ही प्रकारका है

प्र.सा./त.प्र./२/६७ उपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ तावपि तेषामेव (शुद्धोपयोगिनामेव) संभवत । अथवा सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपरायययथाख्यातभेदेन पञ्चधा संयम. सोऽपि लभ्यते तेषामेव । 'येन कारणेन पूर्वोक्ता संयमाद्यो गुणा' शुद्धोपयोगे लभ्यन्ते तेन कारणेन स एव प्रधान उपादेय' ।'' =उपेक्षा संयम या वीतराग चारित्र और अपहृत संयम या सराग चारित्र ये दोनों भी एक उसी शुद्धोपयोगमें प्राप्त होते है। अथवा सामायिकादि पाँच प्रकारके संयम भी उसीमें प्राप्त होते है। क्योंकि उपरोक्त संयमादि समस्त गुण एक शुद्धोपयोगमें प्राप्त होते हैं, इसलिए वही प्रधानरूपसे उपादेय है।

प्र.सा./ता. वृ./११/१३/१६ धर्मशब्देनाहिंसालक्षण' सागारानागाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणाम' शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते। स एव धर्मः पर्यायान्तरेण चारित्र भण्यते। =धर्म शब्दसे—अहिंसा लक्षणधर्म, सागार-अनागारधर्म, उत्तमक्षमादिलक्षणधर्म, रत्नत्रयात्मकधर्म, तथा मोह क्षोभ रहित आत्माका परिणाम या शुद्ध वस्तु स्वभाव ग्रहण करना चाहिए। वह ही धर्म पर्यायान्तर शब्द द्वारा चारित्र भी कहा जाता है।

३. निश्चय चारित्रसे ही व्यवहार चारित्र सार्थक है, अन्यथा वह अचारित्र है

प्र.सा./मू./७९ चत्ता पावारंभो समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि। ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ।७९। =पापारम्भको छोडकर शुभ चारित्रमें उद्यत होनेपर भी यदि जीव मोहादिको नही छोडता है तो वह शुद्धात्माको नहीं प्राप्त होता है।

नि.सा./मू./१४४ जो चरदि संजदो खलु सुहभावो सो हवेइ अण्णवसो। तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ।१४४। =जो जीव संयत रहता हुआ वास्तवमें शुभभावमें प्रवर्तता है, वह अन्यवश है। इसलिए उसे आवश्यक स्वरूप कर्म नहीं है।१४४। (नि. सा./ता. वृ./१४८)

स.सा./मू./१५२ परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई। तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ।१५२। =परमार्थमें अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब तप और व्रतको सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते है।

र.सा./७१ उवसमभवभावजुदो णाणी सो भावसंजदो होई। णाणी कसायवसगो असंजदो होइ स ताव ।७१। =उपशम भावसे धारे गये व्रतादि तो संयम भावको प्राप्त हो जाते है, परन्तु कषाय वश किये गये व्रतादि असंयम भावको ही प्राप्त होते है। (प. प्र./मू./२/४१)

मू. आ./९९५ भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुगई होई। विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ।९९५। =जो अन्तरंगमें विरक्त है वही विरक्त है, बाह्य वृत्तिसे विरक्त होनेवालेकी शुभ गति नहीं होती। इसलिए मनरूपी हाथीको जो कि क्रीडावनमें लंपट है रोकना चाहिए।९९५।

प. प्र./मू./२/६६ वंदिउ णिंदउ पडिकमउ भाउ असुद्धउ जासु। पर तसु संजमु अत्थि णवि जं मणसुद्धि ण तासु ।६६। =निःशंक वन्दना करो, निन्दा करो, प्रतिक्रमणादि करो लेकिन जिसके जबतक अशुद्ध परिणाम है, उसके नियमसे संयम नहीं हो सकता।६६।

स.सा./आ./२७७ शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रय षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्।

स.सा./आ./२७३ निश्चयचारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात्। =शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है क्योंकि छह जीव निकायके सद्भावमें या असद्भावमें उसके सद्भावमे ही चारित्रका सद्भाव होता है।२७७। =निश्चय चारित्रका अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि वह निश्चय चारित्रके ज्ञान श्रद्धानसे शून्य है।

स.सा./आ./३०६ अप्रतिक्रमणादितृतीयभूमिस्तु साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुम्भत्वं साधयति।.. तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। =अप्रतिक्रमणादिरूप जो तीसरी भूमि है, वही स्वयं साक्षात् अमृतकुम्भ होती हुई, द्रव्यप्रतिक्रमणादिको अमृत कुम्भपना सिद्ध करती है। अर्थात् विकल्पात्मक दशामें किये गये द्रव्यप्रतिकमणादि भी तभी अमृतकुम्भरूप हो सकते है जब कि अन्तरंगमें तीसरी भूमिका अंश या झुकाव विद्यमान हो। उसके अभावमें द्रव्य प्रतिक्रमणादि भी अपराध है।

प्र.सा./त.प्र./२४१ ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वत साम्य तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयोगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम्। =ज्ञानात्मक आत्मामें जिसकी परिणति अचलित हुई है, उस पुरुषको वास्तवमें जो सर्वत साम्य है, सो संयतका लक्षण समझना चाहिए, कि जिस संयतके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वकी युगपतताके साथ आत्म ज्ञानकी युगपतता सिद्ध हुई है।

ज्ञा./२२/१४ मन'शुद्ध्यैव शुद्धि. स्याद्देहिना नात्र संशय। वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ।१४। =नि सन्देह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके बिना केवल कायको क्षीण करना वृथा है।

दे चारित्र/३/८ (मिथ्यादृष्टि संयत नहीं हो सकता)।

४. निश्चय चारित्र वास्तवमें उपादेय है

ति. प./९/२३ णाणम्मि भावना खलु कादव्वा दसणे चरित्ते य। ते पुण आदा तिण्णि वि तम्हा कुण भावणं आदे ।२३। =ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें भावना करना चाहिए, चूँकि वे तीनों आत्मस्वरूप हैं, इसलिए आत्मामें भावना करो।

प्र.सा./त. प्र./६ मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम्। = मुमुक्षु जनोको इष्ट फल रूप होनेके कारण वीतरागचारित्र उपादेय है। (प्र सा./त प्र./५, ११) (नि सा./ता वृ./१०५)।

पं. ध./उ./७६१ नामौ वर वर' य' स नापकारोपकारकृत्। =यह (शुभोपयोग बन्धका कारण होनेसे) उत्तम नहीं है, क्योंकि जो उपकार व अपकार करनेवाला नही है, ऐसा साम्य या शुद्धोपयोग ही उत्तम है।

५. व्यवहार चारित्रकी गौणता

१. व्यवहार चारित्र वास्तवमें चारित्र नहीं

प्र सा./त प्र./२०२ अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि। =अहो ! मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत पंच महाव्रत सहित मनवचनकाय-गुप्ति और ईर्यादि समिति रूप चारित्राचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है !

प. ध./उ./७६० रूढे: शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसञ्ज्ञया। स्वार्थ-क्रियामकुर्वाण. सार्थनामा न निश्चयात् ।७६०। =यद्यपि लोकरूढिसे शुभोपयोगको चारित्र नामसे कहा जाता है, परन्तु निश्चयसे वह चारित्र स्वार्थ क्रियाको नहीं करनेसे अर्थात् आत्मलीनता अर्थका धारी न होनेसे अन्वर्थनामधारी नहीं है।

२. व्यवहार चारित्र वृथा व अपराध है

न.च.वृ./३४५ आलोयणादि किरिया जं विसकुभेति सुद्धचरियस्स। भणियमिह समयसारे तं जाण एएण अत्थेण ।=आलोचनादि क्रियाओंको समयसार ग्रन्थमे शुद्धचारित्रवान्के लिए विषकुम्भ कहा है, ऐसा तू श्रुतज्ञान द्वारा जान (स. सा./आ./३०६); (नि सा./ता.वृ./३९२), (नि सा/ता. वृ/१०९/ कलश १५५) और भी दे० चारित्र/४/३।

यो सा/अ/६/७१ रागद्वेषप्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिक वृथा। रागद्वेषाप्रवृत्तस्य प्रत्याख्यानादिकं वृथा।=राग-द्वेष करके जो युक्त है उनके लिए प्रत्याख्यानादिक करना व्यर्थ है। और राग-द्वेष करके जो रहित है उनको भी प्रत्याख्यानादिक करना व्यर्थ है।

३ व्यवहार चारित्र बन्धका कारण है

रा वा/८/ उत्थानिका/५६१/१३ षष्ठसप्तमयो. विविधफलानुग्रहतन्त्रास्रवप्रकरणवशात् सप्रपञ्चात्मन कर्मबन्धहेतवो व्याख्याता ।=विविध प्रकारके फलोको प्रदान करनेवाले आस्रव होनेके कारण, जिनका सातवें अध्यायमें विस्तारसे वर्णन किया गया है वे (व्रतादि भी) आत्माको कर्मबन्धके हेतु है।

क. पा/१/१-१/§३/८/७ पुण्णबंधहेउत्तं पडिविसेसाभावादो।=देशव्रत और सरागसंयममें पुण्यबन्धके कारणोके प्रति कोई विशेषता नहीं है।

त. सा/४/१०१ हिंसानृतचुराब्रह्मसंगसन्यासलक्षणम्। व्रतं पुण्यास्रवोत्थानं भावेनेति प्रपञ्चितम् ।१०। हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, परिग्रहके त्यागको व्रत कहते है, ये व्रत पुण्यास्रवके कारणरूप भाव समझने चाहिए।

प्र. सा/त. प्र/५ जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसम्प्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रम्।=जिसमें कषायकण विद्यमान होनेसे जीवको जो पुण्य बन्धकी प्राप्तिका कारण है ऐसे सराग चारित्रको-(प्र. सा/त प्र/६)

द्र सं/टी/३८/१५८/२ पुण्यं पाप च भवन्ति खलु स्फुट जीवा.। कथंभूता सन्त पञ्चव्रतरक्षा कोपचतुष्कस्य निग्रह परमम्। दुर्दान्तेन्द्रियविजय तप सिद्धिविधौ कुरूद्यागम् ।२। इत्यार्याद्वयकथितलक्षणेन शुभोपयोगपरिणामेन तद्विलक्षणा शुभोपयोगपरिणामेन च युक्ता. परिणता।=कैसे होते हुए जीव पुण्य-पापको धारण करते है। 'पचमहाव्रतोका पालन करो, क्रोधादि कषायोका निग्रह करो और प्रबल इन्द्रिय शत्रुओको विजय करो तथा बाह्य व अभ्यन्तर तपको सिद्ध करनेमें उद्योग करो इस आर्या छन्दमें कहे अनुसार शुभ उपयोग रूप परिणामसे युक्त जीव है वे पुण्य-पापको धारण करते है।

प ध/उ/७६२ विरुद्धकार्यकारित्वं नास्त्यसिद्ध विचारणात्। बन्धस्यैकान्ततो हेतु शुद्धादन्यत्र संभवात्।=नियमसे शुद्ध क्रियाको छोडकर शेष क्रियाएँ बन्धकी ही जनक होती है, इस हेतुसे विचार करनेपर इस शुभोपयोगको विरुद्ध कार्यकारित्व असिद्ध नहीं है।

४. व्यवहार चारित्र निर्जरा व मोक्षका कारण नहीं

पं ध/उ/७६३ नोह्य प्रज्ञापराधत्व निर्जराहेतुर शत। अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात्।=बुद्धिकी मन्दतासे यह भी आशका नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोग एक देशसे निर्जराका कारण हो सकता है, कारण [illegible] नयसे शुभोपयोग भी संसारका कारण होनेसे निर्जरादिका [illegible] नहीं हो सकता है।

५. व्यवहार चारित्र विरुद्ध व अनिष्टफल प्रदायी है

प्र. सा./त प्र/६,११ अनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ।६। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्र: शिखितप्तघृतोपशक्तिपुरुषो दाहदु:खमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति ।११।=अनिष्ट फलप्रदायी होनेसे सराग चारित्र हेय है ।६। जो वह धर्म परिणत स्वभाव वाला होनेपर भी शुभोपयोग परिणतिके साथ युक्त होता है, तब जो विरोधी शक्ति सहित होनेसे स्वकार्य करनेमे असमर्थ है, और कथंचित् विरुद्ध कार्य (अर्थात् बन्धको) करनेवाला है ऐसे चारित्रसे युक्त होनेसे, जैसे अग्निसे गर्म किया घी किसी मनुष्यपर डाल दिया जाये तो वह उसकी जलनसे दु खी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्ग सुखके बन्धको प्राप्त होता है। (पं. का./त. प्र/१६४); (नि. सा./ता. वृ./१४७)।

६. व्यवहार चारित्र कथंचित् हेय है

भा. पा/मू/९० भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण। मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ।९०।=इन्द्रियोकी सेनाको भजनकर, मनरूपी बन्दरको वशकर, लोकरञ्जक बाह्य वेष मत धारण कर।

स. श./मू./८३ अपुण्यमव्रतैः पुण्य व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्यय। अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।८३। हिसादि पाँच अव्रतोसे पाँच पापका और अहिसादि पाँच व्रतोसे पुण्यका बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनों कर्मोका विनाश मोक्ष है, इसलिए मोक्षके इच्छुक भव्य पुरुषको चाहिए कि अव्रतोकी तरह व्रतोको भी छोड दे।—(दे० चारित्र/४/१); (ज्ञा./३२/८७); (द्र सं./टी/५७/२२६/५)

न.च.वृ./३८१ णिच्छयदो खलु मोक्खो बन्धो ववहारचारिणो जम्हा। तम्हा णिव्वुदिकायो ववहारो चयदु तिविहेण ।३८१।=निश्चय चारित्रसे मोक्ष होता है और व्यवहार चारित्रसे बन्ध। इसलिए मोक्षके इच्छुकको मन, वचन, कायसे व्यवहार छोडना चाहिए।

प्र. सा/त प्र./६ अनिष्टफलत्वात्सरागचारित्र हेयम्।=अनिष्ट फल वाला होनेसे सराग चारित्र हेय है।

नि. सा/ता. वृ./१४७/क २५५ यद्येवं चरणं निजात्मनियतं ससारदु:खापहं. मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्। बुद्ध्वेत्थ समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा, सोऽयं त्यक्तक्रियो मुनिपति. पापाटवीपावक. ।२५५।=जिनात्मनियत चारित्रको, संसारदु ख नाशक और मुक्ति श्रीरूपी सुन्दरीसे उत्पन्न अतिशय सुखका कारण जानकर, सदैव समयसारको ही निष्पाप माननेवाला, बाह्य क्रियाको छोडनेवाला मुनिपति पापरूपी अटवीको जलानेवाला होता है।२५५।

६. व्यवहार चारित्रकी कथंचित् प्रधानता

१. व्यवहार चारित्र निश्चयका साधन है

न. च. वृ./३२९ णिच्छय सज्झसरूवं सराय तस्सेव साहणं चरणं।=निश्चय चारित्र साध्य स्वरूप है और सराग चारित्र उसका साधन है। (द्र. स./टी/४५-४६ की उत्थानिका १६४, १६७)

२. व्यवहार चारित्र निश्चय का या मोक्षका परम्परा कारण है

द्र स/टी/४५/१६४ की उत्थानिका—वीतरागचारित्र्यस्य पारम्पर्येण साधक सरागचारित्र प्रतिपादयति।=वीतराग चारित्रका परम्परा साधक सराग चारित्र है। उसका प्रतिपादन करते है।

प्र. सा./ता. वृ./६/८/१ सरागचारित्रात् ··· मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति। =सराग चारित्रसे मुख्य वृत्तिसे विशिष्ट पुण्यका बन्ध होता है और परम्परासे निर्वाण भी।

देखो धर्म/६ परम्परा कारण कहनेका प्रयोजन।

३. दीक्षा धारण करते समय पंचाचार अवश्य धारण किया जाता है

प्र. सा./मू./२०२ आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं। आसिज्ज णाणदंसणचारित्ततववीरियायारं ॥२०२॥ =(श्रामण्यार्थी) बन्धुवर्गसे विदा माँगकर बडोंसे तथा स्त्रीसे और पुत्रसे मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अंगीकार करके ·

४. व्यवहारपूर्वक ही निश्चय चारित्रकी उत्पत्तिका क्रम है

स. श./मू./८६, ८७ अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः। त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ।८४। अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः। परात्मज्ञानसंपन्नः स्वयमेव परो भवेत्। =हिंसादि पाँच अव्रतोंको छोडकर अहिंसादि पाँच व्रतोंमें निष्ठ हो, पीछे आत्माके राग-द्वेषादि रहित परम वीतराग पदको प्राप्त करके उन व्रतोंको भी छोड देवे ।८४। अव्रतोंमें अनुरक्त मनुष्यको ग्रहण करके अव्रतावस्थामें होनेवाले विकल्पोंका नाश करे और फिर अरहन्त अवस्थामें केवलज्ञानसे युक्त होकर स्वयं ही बिना किसीके उपदेशके सिद्धपदको प्राप्त करे ।८६।

५. तीर्थंकरों व भरत चक्रीने भी चारित्र धारण किया था

मो. पा./मू./६० धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं। णाऊण धुवं उज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ।६०। =देखो—जिसको नियमसे मोक्ष होनी है और चार ज्ञान करि युक्त है, ऐसा तीर्थंकर भी तपश्चरण करे है। ऐसा निश्चय करके ज्ञान युक्त होते हुए भी तप करना योग्य है।

द्र. सं./टी./५७/२३१ योऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गतो भरतचक्री सोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वा विषयकषायनिवृत्तिरूपं क्षणमात्रं व्रतपरिणामं कृत्वा पश्चाच्छुद्धोपयोगत्वरूपरत्नत्रयात्मके निश्चयव्रताभिधाने वीतरागसामायिकसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा केवलज्ञानं लब्धवानिति। परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वाल्लोका व्रतपरिणामं न जानन्तीति। =जो दीक्षाके पश्चात् दो घडी कालमें भरतचक्रीने मोक्ष प्राप्त की है, उन्होंने भी जिन दीक्षा ग्रहण करके, थोडे समय तक विषय और कषायोंकी निवृत्तिरूप जो व्रतका परिणाम है उसको करके तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप, रत्नत्रय स्वरूप निश्चय व्रत नामक वीतराग सामायिक नाम धारक निर्विकल्प ध्यानमें स्थित होकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए है। किन्तु भरतके जो थोडे समय व्रत परिणाम रहा, इस कारण लोक उनके व्रत परिणामको जानते नहीं है। (प. प्र./टी./२/५२/१७४/२)

६. व्यवहार चारित्रका गुणश्रेणी निर्जरा

क.पा. १/१-१/§३/६/१ सरागसंजमो गुणसेढिणिज्जराए कारणं तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्जगुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठाणं कायव्वं। अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। =यदि कहा जाय कि सराग संयम गुणश्रेणी निर्जराका कारण है, क्योंकि, उससे बन्धकी अपेक्षा मोक्ष अर्थात् कर्मोंकी निर्जरा असंख्यात गुणी होती है, अतः अर्हंत नमस्कारकी अपेक्षा सराग संयममें ही मुनियोंकी प्रवृत्तिका होना योग्य है, सो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिए, क्योंकि अर्हन्त नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्म निर्जराका कारण है, इसलिए सराग संयमके समान उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

७. व्यवहार चारित्रकी इष्टता

मो.पा./मू./२५ वरवयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं। छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ।२५। =व्रत और तपसे स्वर्ग होता है और अव्रत व अतपसे नरकादि गतिमें दुख होते हैं। इसलिए व्रत श्रेष्ठ है और अव्रत श्रेष्ठ नहीं है। जैसे कि छाया व आतपमें खडे होनेवालेके प्रतिपालक कारणोंमें बडा भेद है (इ. उ./मू. ३)।

प्र.सा./त.प्र./२०२ अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारण ·चारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धात्मानमुपलभे। =अहो। मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत (महाव्रत समिति गुप्तिरूप १३ विध) चारित्राचार। मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं, तथापि तुझे तभी तक अंगीकार करता हूँ, जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूँ।

सा. ध./२/७७ यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानप्रवृत्तितः। व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ।७७। =पचेन्द्रिय सम्बन्धी स्त्री आदिक विषय जब तक या जबसे सेवनमें आना शक्य न हो तब तक या तबसे उन विषयोंको फिरसे उन विषयोंमें प्रवृत्ति न होनेके समय तक छोड देना चाहिए। क्योंकि व्रत सहित मरा हुआ व्यक्ति परलोकमें सुखी होता है।

प. प्र./टी./२/५२/१७४/१ कश्चिदाह। व्रतेन किं प्रयोजनमात्मभावनया मोक्षो भविष्यति। भरतेश्वरेण किं व्रतं कृतम्। घटिकाद्वयेन मोक्षं गत इति। अथ परिहारमाह। अथेदं मतं वयमपि तथा कुर्मोऽवसानकाले। नैवं वक्तव्यम्। यद्येकस्यान्धस्य कथंचिन्निधानलाभो जातस्तर्हि किं सर्वेषां भवतीति भावार्थः। =प्रश्न—व्रतसे क्या प्रयोजन। भावना मात्रसे मोक्ष हो जायेगी। क्या भरतेश्वरने व्रत धारण किये थे। उसे दो घडीमें बिना व्रतोंके ही मोक्ष हो गयी? उत्तर—(भरतेश्वरने भी व्रत अवश्य धारण किये थे पर स्तोक काल होनेसे उसका पता न चला (दे० धर्म/६/४), (दे० चारित्र ६/५) प्रश्न—तब तो हम भी मरण समय थोडे कालके लिए व्रत धारण कर लेंगे? उत्तर—यदि किसी अन्धेको किसी प्रकार निधिका लाभ हो जाय, तो क्या सबको हो जायेगा।

८. मिथ्यादृष्टियोंका चारित्र भी कथंचित् चारित्र है

रा. वा./७/२१/२५/५४९/३३ एवं च कृत्वा अभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिणः एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादेशसंयतसंयताभावस्यापि उपरिमग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति। =इसलिए निर्ग्रन्थ लिंगधारी और एकादशांगपाठी अभव्यकी भी बाह्य महाव्रत पालन करनेसे देशसंयत भाव और संयतभावका अभाव होनेपर भी उपरिम ग्रैवेयक तक उत्पत्ति बन जाती है।

ध. ६/१,९-९,१३३/४६५/८ उवरि किण्ण गच्छति। ण तिरिक्खसम्माइट्ठीसु संजमाभावा। संजमेण विणा ण च उवरि गमणमत्थि। ण मिच्छाइट्ठीहि तत्थुप्पज्जंतेहि विउचारो, तेसिं पि भावसंजमेण विणा दव्वसंजमस्स संभवा। =प्रश्न—संख्यात वर्षायुष्क असंयत सम्यग्दृष्टि मरकर आरण अच्युत कल्पसे ऊपर क्यों नहीं जाते? उत्तर—नहीं, क्योंकि तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीवोंमें संयमका अभाव पाया जाता है, और संयमके बिना आरण अच्युत कल्पसे ऊपर गमन

होना नहीं है। इस कथनसे आरण अच्युत कल्पसे ऊपर उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादृष्टि जीवोंके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता, क्योंकि उन मिथ्यादृष्टियोंके भी भाव सयम रहित द्रव्य संयम पाया जाता है।

गो क /जी प्र./५०७/९८३/१३ य सम्यग्दृष्टिर्जीव' स केवल सम्यक्त्वेन साक्षादणुव्रतमहाव्रतैर्वा देवायुर्बध्नाति। यो मिथ्यादृष्टिर्जीव, स उपचाराणुव्रतमहाव्रतैर्बालतपसा अकामनिर्जरया च देवायुर्बध्नाति। =सम्यग्दृष्टि जीव तो केवल सम्यक्त्व द्वारा अथवा साक्षात् अणुव्रत व महाव्रतो द्वारा देवायु बाँधता है, और मिथ्यादृष्टि जीव उपचार अणुव्रत महाव्रतो द्वारा अथवा बालतप और अकामनिर्जरा द्वारा देवायु बाँधता है (और भी दे० सामायिक/३)।

७. निश्चय व्यवहार चारित्र समन्वय

१. निश्चय चारित्रकी प्रधानताका कारण

न च वृ /३४४,३६६ जह सुह णासइ असुह तहवासुद्धं सुद्धेण खलु चरिए। तम्हा सुद्धुवजोगी मा वट्टउ णिंदणादीहि।३४४। असुद्धसंवेयणेण अप्पा बंधेइ कम्मणोकम्मसुद्धसंवेयणेण अप्पा मंचेइ कम्म णोकम्मं।३६६। =जिस प्रकार शुभोपयोगसे अशुभोपयोगका नाश होता है उसी प्रकार शुद्ध चारित्रसे अशुद्धका नाश होता है, इसलिए शुद्धोपयोगीको आलोचना, निन्दा, गर्हा आदि करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।३४४। अशुद्ध सवेदनसे आत्मा कर्म व नोकर्मका बन्ध करता है, और शुद्ध सवेदनसे कर्म व नोकर्मसे छूटता है।३६६।

२. व्यवहार चारित्रके निषेधका कारण व प्रयोजन

प प्र /टी /२/५२ में उद्धृत—रागद्वेषो प्रवृत्ति स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्। तौ च बाह्यार्थसंबन्धौ तस्मात्तास्तु परित्यजेत्। =राग और द्वेष दोनों प्रवृत्तियाँ है तथा इनका निषेध वह निवृत्ति है। ये दोनो (राग व द्वेष) अपने नहीं है, अन्य पदार्थके सम्बन्धसे है। इस लिए इन दोनोको छोडो।

द्र स /टी /४५-४६/१९६,१९७ पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसयमाख्य शुभोपयोगलक्षण सरागचारित्राभिधानं भवति।४५-१९६। बहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्याग. स च किमर्थं संसारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशुभकर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थम्। =पंच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति रूप, अपहृत सयम नामवाला शुभोपयोग लक्षण सराग चारित्र होता है। प्रश्न—बाह्य विषयोमें शुभ व अशुभ वचन व कायके व्यापार रूप और इसी तरह अन्तरंगमें शुभ-अशुभ मनके विकल्प रूप क्रियाके व्यापारका जो निरोध है, वह किस लिए है? उत्तर—ससारके व्यापारका कारणभूत शुभ अशुभ कर्मास्रव, उसके विनाशके लिए है।

द्र स /टी /५७/२३०/२ अयं तु विशेष .—व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानि त्यक्तानि। यानि पुन सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुप्तिलक्षणस्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिर्विकल्पध्याने स्वकृतान्येव न च त्यक्तानि। =व्रतोके त्यागमें यह विशेष है कि ध्यानावस्थामें व्यवहार रूप प्रसिद्ध एकदेश व्रतोका अर्थात् महाव्रतो का (दे० व्रत) त्याग किया है। किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्वशुद्धात्मरूप निर्विकल्प ध्यानमें शुभाशुभकी निवृत्तिरूप निश्चय व्रत स्वीकार किये गये है। उनका त्याग नहीं किया गया है।

३. व्यवहारको निश्चय चारित्रका साधन कहनेका कारण

द्र स /टी /४५-४६/१९६/१० (व्रत समिति आदि) शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधान भवति। तत्र योऽसो बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण, यच्चाभ्यन्तररागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः। एवं निश्चयचारित्रसाधक व्यवहारचारित्रं व्याख्यातमिति। तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्यं परमोपेक्षा लक्षणशुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम्। =(व्रत समिति आदि) शुभोपयोग लक्षणवाला सराग चारित्र होता है। (उसमें युगपत् दो अंग प्राप्त हैं—एक बाह्य और एक आभ्यन्तर) तहाँ बाह्य विषयोंमें पांचों इन्द्रियोके विषयादिका त्याग है सो उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे चारित्र है। और जो अन्तरगमें रागादिकका त्याग है वह अशुद्ध निश्चय नयसे चारित्र है। इस तरह नय विभाग जानना चाहिए। ऐसे निश्चय चारित्रको साधनेवाले व्यवहार चारित्रका व्याख्यान किया। अत्र उस व्यवहार चारित्रसे साध्य परमोपेक्षा लक्षण शुद्धोपयोगसे अविनाभूत होनेसे उत्कृष्ट सम्यग्चारित्र जानना चाहिए। (अर्थात् व्यवहारचारित्रके अभ्यास द्वारा क्रमश. बाह्य और आभ्यन्तर दोनो क्रियाओंका रोध होते-होते अन्तमें पूर्ण निर्विकल्प दशा प्राप्त हो जाती है। यही इनका साध्यसाधन भाव है।)

द्र सं./टी./३५/१४१/१२ त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्थाना यतीनां तयैव पूर्यते तत्रासमर्थना पुनर्बहुप्रकारेण संवरप्रतिपक्षभूतो मोहो विजृम्भते, तेन कारणेन व्रतादिविस्तरं कथयन्त्याचार्या.। =मन, वचन काय इन तीनोकी गुप्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यानमें स्थित मुनिके तो उस सवर अनुप्रेक्षासे ही संवर हो जाता है, किन्तु उसमें असमर्थ जीवोके अनेक प्रकारसे संवरका प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रतादिका कथन करते है।

पं. का./ता. वृ./१०७।१७१/१२ व्यवहारचारित्रं बहिरङ्गसाधकत्वेन वीतरागचारित्रभावनोत्पन्नपरमामृततृप्तिरूपस्य निश्चयसुखस्य बीजं, तदपि निश्चयसुखं पुनरक्षयानन्तसुखस्य बीजमिति। अत्र यद्यपि साध्यसाधकभावज्ञापनार्थं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्यैव मुख्यत्वमिति भावार्थ। =व्यवहार चारित्र बहिरंग साधक रूपसे वीतराग चारित्र भावनासे उत्पन्न परमात्म तृप्तिरूप निश्चय सुखका बीज है और वह निश्चय सुख भी अक्षयानन्त सुखका बीज है। ऐसा निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गमें साध्यसाधक भाव जानना चाहिए। (और भी दे० शीर्षक नं० १०)।

४. व्यवहार चारित्रको चारित्र कहनेका कारण

र. क श्रा./४७-४८ मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान.। रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु'।४७। रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तनाकृता भवन्ति। अनपेक्षितार्थवृत्ति क पुरुष सेवते नृपतीन्।४८। =सम्यग्दृष्टि जीव रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यग्चारित्रको धारण करता है और रागद्वेषादिकी निवृत्ति हो जानेपर हिंसादिसे निवृत्ति पूर्ण हो जाती है, क्योकि नही है आजीविकाकी इच्छा जिसको ऐसा कौन पुरुष है, जो राजाओकी सेवा करे।

स. सा /ता. वृ/२७६ षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वात् हेतुत्वात् व्यवहारेण चारित्रं भवति। एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्ग' प्रोक्त इति। =चारित्रका (अर्थात् रागद्वेषसे निवृत्ति रूप वीतरागताका) आश्रय होनेके कारण छह कायके जीवोकी रक्षा भी व्यवहारसे चारित्र कहलाती है। पराश्रित होनेसे यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

५. व्यवहार चारित्रकी उपादेयताका कारण व प्रयोजन

र क. श्रा /४७ रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु।४७। =सम्यग्दृष्टि जीव राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यग्चारित्रको धारण करता है।

प्र. सा /त प्र /२०२ अहो! मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेत गुप्तिसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वा तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मान-

मुपलभे ।=अहो, मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत, पचमहाव्रत सहित गुप्ति समिति स्वरूप चारित्राचार! मै यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूँ।

नि.सा./ता.वृ./१४८ अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवन्दनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीण' श्रमणश्चारित्रभ्रष्ट इति यावत् ।=(शुद्धोपयोग सम्मुख जीवको शिक्षा दी जाती है कि) यहाँ (इस लोकमें) व्यवहार नयसे भी समता, स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यानादि छह आवश्यकसे रहित श्रमण चारित्रपरिभ्रष्ट (चारित्रसे सर्वथा भ्रष्ट) है।

देखो चारित्र/७/२/द्र. सं/टी० त्रिगुप्तिमे असमर्थ जनोके लिए व्यवहार चारित्रका उपदेश किया जाता है।

६. बाह्य व आभ्यन्तर चारित्र परस्पर अविनाभावी हैं

प्र सा /मू /गा. चरदि निबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि। पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ।२१४। पचसमिदो तिगुत्तो पचिंदिसवुडो जिदकसाओ। दसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ।२४०। समसत्तुबधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो। समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समे समणो ।२४१।=जो श्रमण सदा ज्ञान व दर्शनमे प्रतिबद्ध तथा मूलगुणोमें प्रयत्नशील है वह परिपूर्ण श्रामण्य वाला है ।२१४। पाँच समिति, पंचेन्द्रिय सवर व तीन गुप्ति सहित तथा कपायजयी और दर्शन ज्ञानसे परिपूर्ण जो श्रमण है वह सयत माना गया है ।२४०। शत्रु व बन्धुवर्गमें, सुख व दु खमें, प्रशसा व निन्दामें, लोहे व सोनेमें तथा जीवन व मरणमे जो सम है वह श्रमण है ।२४१।

चा. पा /मू /६ सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्ध। णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावेति णिव्वाणं ।६।=जो ज्ञानी अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वचरण चारित्रसे शुद्ध होते है वे यदि संयमचरण चारित्रसे भी शुद्ध हो जाये तो शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होते है ।६।

न. च वृ /३५३ हेयोपादेयविदो संजमतववीयरायसंजुत्तो। जियदुक्खाइ तह चिय सामग्गो सुद्धचरणस्स ।३५३।=हेय व उपादेयको जाननेवाला हो सयम तप व वीतरागता सयुक्त हो, दु खादिको जीतनेवाला हो अर्थात सुख दु ख आदिमे सम हो, यह सब शुद्ध चारित्रकी सामग्री है।

न. च. वृ /२०४ ज विय सरायचरणे [सरागकाले] भेदुवयारेण भिण्णचारित्त। तं चेव वीयराये विपरीय होइ कायव्व। उक्त च—चरिय चरदि सग सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा। दंसणणाणवियप्पा अवियप्प चावियप्पादो। =सराग अवस्थामें भेदोपचार रूप जिस चारित्रका आचरण किया जाता है, उसीका वीतराग अवस्थामें अभेद व अनुपचारसे करना चाहिए। (अर्थात् सराग व वीतराग चारित्रमे इतना ही अन्तर है कि सराग चारित्रमें बाह्य क्रियाओका विकल्प रहता है और वीतराग अवस्थामें उनका विकल्प नही रहता, सराग चारित्रमें वृत्ति बाह्य त्यागके प्रति जाती है और वीतराग अवस्थामें अन्तरंगकी ओर) कहा भी है कि—

स्व चारित्र अर्थात् वीतराग चारित्रका आचरण वही करता है जो परद्रव्यके प्रभावसे रहित हो, तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विकल्पोसे जो अविकल्प हो गया हो।

ध. १/१,१,४/१४४/४ संयमन सयम। न द्रव्ययम संयमस्तस्य 'स' शब्देनापादितत्वात्। यमेन समितय सन्ति, तास्वसतीषु सयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं'शब्देनात्मसात्कृताशेषसमितित्वात्। अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणा धारणानुपालननिग्रहत्यागजया सयम'।='संयमन करनेको सयम कहते है' सयमका इस प्रकार लक्षण करनेपर भाव चारित्र शून्य द्रव्य चारित्र सयम नही हो सकता, क्योंकि 'सं' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया गया। प्रश्न—यहाँ पर 'यम' से समितियोका ग्रहण करना चाहिए, क्योकि समितियोंके नहीं होनेपर संयम नही बन सकता? उत्तर—ऐसी शका ठीक नहीं है क्योकि 'स' शब्दमे सम्पूर्ण समितियोका ग्रहण हो जाता है। अथवा पाँच व्रतोंका धारण करना, पाँच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोका निग्रह करना, मन, वचन और काय रूप तीन दण्डोका त्याग करना और पाँच इन्द्रियोके विषयोका जीतना संयम है।

प्र सा /त प्र./२४७ शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ताश्रमापनयनप्रवृत्ति च न दुष्येत्।=शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र होता है, इसलिए जिनने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणोंके प्रति जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान, अनुगमन रूप विनीत वर्तनकी प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षाकी निमित्तभूत जो श्रम दूर करनेकी (वैयावृत्ति रूप) प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियोके लिए दूषित नही है।

प्र सा /त प्र /२००/क १२ द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्। तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्य प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।१२।=चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है, इस प्रकार वे दोनो परस्पर सापेक्ष है। इसलिए या तो द्रव्यका अर्थात् अन्तरंग प्रवृत्तिका आश्रय लेकर अथवा चरणका अर्थात् बाह्य निवृत्तिका आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्गमें आरोहण करो।

और भी देखो चारित्र/४/२ (चारित्रके सर्व भेद-प्रभेद एक शुद्धोपयोगमें समा जाते है।)

७. एक ही चारित्रमें युगपत् दो अंश होते हैं

मो पा /पं जयचन्द/४२ चारित्र निश्चय व्यवहार भेदकरि दो भेद रूप है; तहाँ महाव्रत समिति गुप्तिके भेद करि कह्या है सो तो व्यवहार है। तिनिमें प्रवृत्ति रूप क्रिया है सो शुभ बन्ध करै है, और इन क्रियानिमें जेता अंश निवृत्तिका है ताका फल बन्ध नाही है। ताका फल कर्मकी एक देश निर्जरा है। और सर्व कर्म तै रहित अपना आत्म स्वरूपमें लीन होना सो निश्चय चारित्र है, ताका फल कर्मका नाश ही है।

और भी देखो उपयोग/II/3/3 (जितना रागांश है उतना बंध है, और जितना वीतरागांश है उतना संवर निर्जरा है।)

और भी देखो व्रत/३/७,६ (सम्यग्दृष्टिकी बाह्य प्रवृत्तिमे अवश्य निवृत्तिका अंश विद्यमान रहता है।)

और भी देखो उपयोग/II/३/१ (शुभोपयोगमें अवश्य शुद्धोपयोगका अंश मिश्रित रहता है।)

८. निश्चय व्यवहार चारित्रकी एकार्थताका नयार्थ

नि सा /ता. वृ /१४८ व्यवहारनयेनापि षडावश्यकपरिहीण श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत, शुद्धनिश्चयेन निर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थ। पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यकं करोतु परममुनिरिति।=व्यवहार नयसे तो छह आवश्यकोसे रहित श्रमण चारित्र परिभ्रष्ट है और शुद्ध निश्चयनयसे निर्विकल्प—समाधि स्वरूप परमावश्यक क्रियासे रहित श्रमण निश्चय चारित्र भ्रष्ट है। ऐसा अर्थ है। (इसलिए) स्व वश परमजिन योगीश्वरके निश्चय आवश्यकका जो क्रम पहले कहा गया है (आत्मस्थितिरूप समता, वन्दना, प्रतिक्रमणादि) उस क्रमसे स्वात्माश्रित ऐसे निश्चय धर्म-

ध्यान तथा निश्चयशुक्लध्यानस्वरूपसे परम मुनि सदा आवश्यक करो।

९. व्रतादि बन्धके कारण नहीं बल्कि उनमें अध्यवसान ही बन्धका कारण है

स. सा./मू./२६४, २७० तह विय सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव। कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं।२६४। एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि। तं असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।२७०। = इसी प्रकार (हिंसादि पाँचो अव्रतोवत् ही) सत्यमे, अचौर्यमें, ब्रह्मचर्यमें और अपरिग्रहमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यका बन्ध होता है।२६४। ये (अव्रतो और व्रतों-वाले पूर्वकथित) तथा ऐसे हो और भी, अध्यवसान जिनके नहीं है, वे मुनि अशुभ या शुभ कर्मसे लिप्त नही होते।२७०। (मो. मा. प्र./७/३७३/३)

१०. व्रतोंको त्यागनेका उपाय व क्रम

स. श./८४, ८६ अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः। त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः।८४। अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण.। परात्मज्ञानसंपन्न स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥ = हिंसादि पाँच अव्रतोको छोड करके अहिंसादि व्रतोका दृढतासे पालन करे। पीछेसे आत्माके परम वीतराग पदको प्राप्त करके उन व्रतोको (व्रतोके अध्यवसानको) भी छोड देवे।८४। हिंसादि पाँच अव्रतोंमें अनुरक्त हुआ मनुष्य पहले व्रतोको ग्रहण करके व्रती बने। पीछे ज्ञान भावनामें लीन होकर केवलज्ञानसे युक्त हो स्वय ही परमात्मा हो जाता है। (ज्ञा०/३२।८८); (द्र. स./टी./५७/२२६/१०), (प. प्र./टी./२/५५/१७७/४)

नि. सा./ता. वृ./१०३ भेदोपचारचारित्रम्, अभेदोपचारं करोमि, अभेदोपचारम् अभेदानुपचार करोमि, इति त्रिविध सामायिकमुत्तरोत्तर-स्वीकारेण सहजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूपसहजचारित्र, निराकार-तत्त्वनिरतत्वान्निराकारचारित्रमिति। = भेदोपचारित्रको अभेदोपचार कहता हू। तथा अभेदोपचार चारित्रको अभेदानुपचार करता हूँ—इस प्रकार त्रिविध सामायिकको (चारित्रको) उत्तरोत्तर स्वीकृत करनेसे सहज परम तत्त्वमें अविचल स्थितिरूप सहज निश्चय चारित्र होता है, कि जो निराकार तत्त्वमें लीन होनेसे निराकार चारित्र है। (और भी दे० धर्मध्यान/६/४)

द्र. स./टी./५७/२३०/८ त्याग कोऽर्थ.। यथैव हिंसादिरूपाव्रतेषु निवृत्तिस्तथैकदेशव्रतेष्वपि। कस्मादिति चेत्—त्रिगुप्तावस्थाया प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपविकल्पस्य स्वयमेवाकाशो नास्ति। = प्रश्न—व्रतोके त्यागका क्या अर्थ है? उत्तर—गुप्तिरूप अवस्थामें प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विकल्पको रंचमात्र स्थान नही है। अहिंसादिक महाव्रत विकल्परूप है अत वे ध्यानमे नहीं रह सकते।

चारित्र पाहुड़—आ कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) द्वारा रचित सम्यग्चारित्र विषयक, ४४ प्राकृत गाथाओमें निबद्ध एक ग्रन्थ। इस पर आ श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत संस्कृत टीका तथा प. जयचन्द छाबडा (ई० १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

चारित्र भूषण—इनके मुखसे ही स्वामी समन्तभद्र कृत देवागम स्तोत्रका पाठ सुनकर श्लोकवार्तिककार श्री विद्यानन्दि आचार्य जिन दीक्षित हो गये थे। आ० विद्यानन्दिजीके अनुसार आपका समय ई० ७५०-८१५ आता है।

चारित्र मोहनीय—मोहनीयकर्मका एक भेद—दे० मोहनीय/१।

चारित्र लब्धि—दे० लब्धि।

चारित्रवाद—दे० क्रियावाद।

चारित्र विनय—दे० विनय।

चारित्र शुद्धि—दे० शुद्धि।

चारित्र शुद्धि व्रत—चारित्रके निम्न १२३४ अंगोंके उपलक्षमें एक उपवास एक पारणा क्रमसे ६ वर्ष, १० मास ८ दिनमें १२३४ उपवास पूरे करे—(१) अहिंसाव्रत = १४ जीव समास×९ कोटि (मन वचन काय×कृत कारित अनुमोदना) = १२६। (२) सत्य व्रत = भय, ईर्ष्या, स्वपक्षपात, पैशुन्य, क्रोध, लोभ, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा ये ८×९ कोटि = ७२। (३) अचौर्य व्रत = ग्राम, अरण्य, खल, एकान्त, अन्यत्र, उपधि, अमुक्त, पृष्ठ ग्रहण ऐसे ८ पदार्थ×९ कोटि = ७२। (४) ब्रह्मचर्य = मनुष्यणी, देवांगना, तिर्यंचिनी व अचेतनी ये चार स्त्रियाँ×९ कोटि×५ इन्द्रिय = १८०। (५) परिग्रह त्याग = २४ प्रकार परिग्रह×९ कोटि = २१६। (६) गुप्ति = ३×९ कोटि = २७। (७) समिति ईर्या, आदान-निक्षेपण व उत्सर्ग ये ३×९ कोटि = २७ + भाषा समिति के १० प्रकार सत्य×९ कोटि = ९० + एषणा समितिके ४६ दोष×९ कोटि = ४१४ = १२३४ ओं ह्रीं अ सि आ उ सा चारित्रशुद्धिव्रतेभ्यो नम इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे (ह. पु./३४/१००-११०), (व्रत विधान संग्रह/पृ ५९)।

चारित्रसार—चामुण्डराय (ई०श० १०-११) द्वारा रचित, संस्कृत गद्यबद्ध ग्रन्थ। इसमें मुनियोंके आचारका संक्षिप्त वर्णन है। कुल ६००० श्लोक प्रमाण है।

चारित्राचार—दे० आचार।

चारित्राराधना—दे० आराधना।

चारित्रार्य—दे० आर्य।

चारुदत्त—(ह. पु./२१/श्लोक नं०) भानुदत्त वैश्यका पुत्र (६-१०), मित्रावतीसे विवाह हुआ (३८), संसारसे विरक्त रहता था (३९), चचा रुद्रदत्तने उसे वेश्यामे आसक्त कर दिया (४०-६४); अन्तमें तिरस्कार पाकर वेश्याके घरसे निकला और अपने घर आया (६४-७४), व्यापारके लिए रत्नद्वीपमें गया (७५), मार्गमे अनेकों कष्ट सहे (११२), वहाँ मुनिराजके दर्शन किये (११३-१२६), बहुत धन लेकर घर लौटा (१२७)।

चारुदत्त चरित्र — आ सोमकीर्ति (ई० १४७१) कृत संस्कृत भाषामे रचा गया ग्रन्थ है। तत्पश्चात इसके आधारपर कई रचनाएँ हुई—१ कवि भारामल (ई० १७५६) ने चोपाई-दोहेमे एक कृति रची।

चार्वाक—

१. सामान्य परिचय

स्या मं./परि. छ/४४३-४४४ = सर्वजनप्रिय होनेके कारण इसे 'चार्वाक' सज्ञा प्राप्त है। सामान्य लोगोंके आचरणमें आनेसे कारण इसे 'लोकायत' कहते है। आत्मा व पुण्य-पाप आदिका अस्तित्व न मानने-के कारण यह मत 'नास्तिक' कहलाता है। धार्मिक क्रियानुष्ठानोंका लोप करनेके कारण यह 'अक्रियावादी'। इसके मूल प्रवर्तक बृहस्पति आचार्य हुए है, जिन्होने बृहस्पति सूत्रकी रचना की थी। आज यद्यपि इस मतका अपना कोई साहित्य उपलब्ध नही है, परन्तु ई० पूर्व ५५०-६०० के अजितकेश कम्बली कृत बौद्ध सूत्रोमे तथा महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थोमें भी इसका उल्लेख मिलता है।

इनके साधु कापालिक होते है। अपने सिद्धान्तके अनुसार वे मद्य व मासका सेवन करते है। प्रतिवर्ष एकत्रित होकर स्त्रियोके साथ क्रीडा करते है। (षड्दर्शन समुच्चय/८०-८२/७४-७७)।

२. जैनके अनुसार इस मतकी उत्पत्तिका इतिहास

धर्म परीक्षा/१८/५५-५९ भगवान् आदिनाथके साथ दीक्षित हुए अनेक राजा आदि जब क्षुधा आदिकी बाधा न सह सके तो भ्रष्ट हो गये। कच्छ-महाकच्छ आदि राजाओने फल-मूल आदि भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया और उसीको धर्म बताकर प्रचार किया। शुक्र और बृहस्पति राजाओने चार्वाक मतकी प्रवृत्ति की।

३. इस मतके भेद

ये दो प्रकारके है—धूर्त व सुशिक्षित। पहले तो पृथिवी आदि भूतोके अतिरिक्त आत्माको सर्वथा मानते ही नही और दूसरे उसका अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी मृत्युके समय शरीरके साथ उसको भी विनष्ट हुआ मानते है (स्या मं./परि. छ /पृ.४४३)।

४. प्रमाण व सिद्धान्त

- केवल इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते है, इस लिए इस लोक तथा ऐन्द्रिय सुखको ही सार मानकर खाना-पीना व मौज उडाना ही प्रधान धर्म मानते है (स्या.म /परि छ /पृ ४८४)।

यु.अनु./३५ मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञ, शक्त्यन्तर-व्यक्तिरदैवसृष्टि.। इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदव प्रलब्धा' ।३५। =जिस प्रकार मद्यागोके समागमपर मदशक्तिकी उत्पत्ति अथवा आविर्भूति होती है उसी तरह पृथिवी, जल आदि पचभूतोके समागमपर चैतन्य अथवा अभिव्यक्त होता है, कोई दैव।सृष्टि नही है। इस प्रकार यह जिन (चार्वाको) का मत है, उन अपने शिश्न और उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले, अर्थात् खाओ, पीओ, मौज उडाओ के सिद्धान्तवाले, उन निर्लज्जो तथा निर्भयो द्वारा हा! कोमलबुद्धि ठगे गये है (षट्दर्शन समुच्चय/८४-८५/७८); (स.भ त /६२/१)। दे० अनेकान्त/२/६ (यह मत व्यवहार नयाभासी है)।

चालिसिय—(ल सा /भाषा/२२८/२८५/३) जाकी चालीस कोडाकोडी सागरकी उत्कृष्ट स्थिति ऐसा चारित्रमोह ताकौ चालिसिय कहिए।

चालुक्य जयसिंह—ई० १०२४ के एक राजा (सि वि /प्र /७५/ शिलालेख)।

चिंता—१. लक्षण

त.सू./१/१३ मतिः स्मृति' संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। =मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम है। (प खं १३/५०५/सू ४१/२४४)।

स.सि /१/१३/१०६/५ चिन्तनं चिन्ता = चिन्तन करना चिन्ता है। (ध.१३/१,१,४१/२४४/३)।

स.सि./६/२७/४४४/७ नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती। =नाना पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है।

रा.वा /६/२७/४/६२५/२५ अन्त करणस्य वृत्तिरर्थेषु चिन्तेत्युच्यते। =अन्त करणकी वृत्तिका पदार्थोमें व्यापार करना चिन्ता कहलाती है।

ध १३/५,५,६३/३३३/६ वट्टमाणत्थविसयमदिणाणेण विसेसिदजीवो चिंता णाम।=वर्तमान अर्थको विषय करनेवाले मतिज्ञानसे विशेषित जीवकी चिन्ता सज्ञा है।

स सि./प. जयचन्द/१/१३/३५४ किसी चिह्नको देखकर वहाँ इस चिह्नवाला अवश्य होगा ऐसा ज्ञान, तर्क, व्याप्ति वा ऊह ज्ञान चिन्ता है।

२. स्मृति चिन्ता आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिका क्रम व इनकी एकार्थता—दे० मतिज्ञान /३।

३. चिन्ता व ध्यानमें अन्तर—दे० धर्मध्यान/३।

चिंतागति—(म पु /७०/श्लोक नं.) पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिममेरुके पास गन्धिल नामके देशके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें सूर्यप्रभ नगरके राजा सूर्यप्रभका पुत्र था।२६-२८। अजितसेना नामा कन्या द्वारा गतियुद्धमे हरा दिया जानेपर।३०-३१। दीक्षा धारण कर ली और स्वर्गमें सामानिक देव हुआ।३६-३७। यह नेमिनाथ भगवान्का पूर्वका सातवाँ भव है।

चिकित्सा—१ आहारका दोष (दे० आहार/II/४) २ वस्तिकाका दोष—दे० वस्तिका।

चित्—

न्या वि./वृ /१/८/१४८/६ चिदिति चिच्छक्तिरनुभव इत्यर्थ.। =चित अर्थात् चित् शक्ति या अनुभव।

अन.ध./२/३४/१५१ अन्वितमहमिकाया प्रतिनियतार्थावभासिबोधेषु। प्रतिभासमानमखिलैर्यद्रूपं वेद्यते सदा सा चित्।=अन्वित और 'अहम्' इस प्रकारके सवेदनके द्वारा अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले जिस रूपका सदा स्वयं अनुभव करते है उसीको चित् या चेतन कहते है।

चिति—(स सा /आ /परि /शक्ति न २) अजडत्वात्मिका चितिशक्ति। =अजडत्व अर्थात् चेतनत्व स्वरूप चितिशक्ति है।

चित्त—

स.सि /२/३२/१८७/१० आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। =आत्माके चैतन्यविशेषरूप परिणामके चित्त कहते है (रा.वा/२/३२/१४१/ २२)।

सि वि /वृ /७/२२/४६२/२० स्वसवेदनमेव लक्षण चित्तस्य। =चित्तका लक्षण स्वसवेदन ही है।

नि सा /ता वृ /११६ बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम्। =बोध, ज्ञान व चित्त ये भिन्न पदार्थ नही है।

द्र सं /टी /१४/४६/१० हेयोपादेयविचारकचित्त' ''। =हेयोपादेयको विचारनेवाला चित्त होता है।

स श /टी /५/२२५/३ चित्तं च विकल्पो। =विकल्पका नाम चित्त है।

२. भक्ष्याभक्ष्य पदार्थोंका सचित्ताचित्त विचार—दे० सचित्त।

चित्प्रकाश—अन्तर चित्प्रकाश दर्शन है और बाह्य चित्प्रकाश ज्ञान है—दे० दर्शन/२।

चित्र—

न्या वि /वृ /१/८/१४८/६ चिदिति चिच्छक्तिरनुभव इत्यर्थ.। सैव त्राणं त्रा परिरक्षण यस्य तच्चित्रम्।·· अनुभवप्रसिद्धं खलु अनुभवपरिरक्षितं भवति। =चित्शक्ति या अनुभवका नाम चित है। वह चित् ही जिसका त्राण या रक्षण है, उसे चित्र कहते है। अनुभव प्रसिद्ध होना ही अनुभव परिरक्षित होना है।

चित्रकर्म—दे० निक्षेप/४।

चित्रकारपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर —दे० मनुष्य/४।

चित्रकूट—१. पूर्व विदेहका एक वक्षार पर्वत तथा उसका स्वामी देव—दे० लोक/७। २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे०

विद्याधर। ३. वर्तमानका 'चित्तौडगढ नगर' (पं.सं./प्र. ४१/A.N. Up तथा H. L Jain.

चित्रगुप्त—भावी १७वे तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

चित्रगुप्ता—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

चित्रभवन—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि वनोंमें स्थित कुबेरका भवन व गुफा—दे० लोक/७।

चित्रवती—पूर्व आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

चित्रांगद—(पा पु/१७/श्लोक नं) अर्जुनका प्रधान शिष्य था (६५), वनवासके समय सहाय वनमें नारद द्वारा, पाण्डवोंपर दुर्योधनकी चढाईका समाचार जानकर (८६) उसे वहाँ जाकर बाँध लिया।

चित्रा—१ एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र। २ रुचक पर्वतके विमल कूटपर बसनेवाली एक विद्युत्कुमारी देवी—दे० लोक/५। ३. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक/७। ४ अनेक प्रकारके वर्णोंसे युक्त धातुएँ), वप्रक (मरकत), बकमणि (पुष्पराग), मोचमणि (कदलीवर्णाकार नीलमणि) और मसारगल्ल (विद्रुमवर्ण मसृण-पाषाण मणि) धातुएँ हैं, इसलिए इस पृथिवीका 'चित्रा' इस नामसे वर्णन किया गया है। (अर्थात् मध्य लोक की १००० योजन मोटी पृथिवी चित्रा कहलाती है।) —दे० रत्नप्रभा।

चिद्विलास—पं दीपचन्दजी शाह (ई० १७२२) द्वारा रचित हिन्दी भाषा बद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ। इसपर कवि देवदास (ई० १७-५५-१७६७) ने भाषा वचनिका लिखी है।

चिन्ह—१ Trace-(ध /पु.५/प्र. २७)। २. चिन्हसे चिन्हीका ज्ञान—दे० अनुमान। ३ चिन्ह नामक निमित्त ज्ञान—दे० निमित्त/२. ४ अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके स्थानभूत करण चिन्ह—दे० अवधि-ज्ञान/५।

चिलात—उत्तर भरतक्षेत्रके मध्यम्लेक्षखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

चिलात पुत्र—भगवान् वीरके तीर्थके एक अनुत्तरोपपादक साधु—दे० अनुत्तरोपपादक।

चुलुलित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

चूड़ामणि—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

चूर्ण—१ द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५/६। २. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४, ३ वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

चूर्णी—भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

चूर्णोपजीवन—वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

चूलिका—१ पर्वतके ऊपर क्षुद्र पर्वत सरीखी चोटी, Top (ज प/प्र १०६), २ दृष्टिप्रवाद अगका ५वाँ भेद—दे० श्रुतज्ञान/III। ३.
ध ७/२,११,१/५७५/७ ण च एसो णियमो सव्वाणिओगद्दारसूइदत्थाणं विसेसपरूविणा चूलिया णाम, किंतु एक्केण दोहि सव्वेहिं वा अणिओगद्दारेहिं सूइदत्थाणं विसेसपरूविणा चूलिया णाम=सर्व अनुयोगद्वारोंमें सूचित अर्थोकी विशेष प्ररूपणा करनेवाली ही चूलिका हो, यह कोई नियम नहीं है, किन्तु एक, दो अथवा सब अनुयोगद्वारोसे सूचित अर्थोंकी विशेष प्ररूपणा करना चूलिका है (ध. ११/४,२,६,३६/१४०/११)।
स. सा /ता. वृ. ३२१ विशेषव्याख्यानं उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्त-संकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्य'=विशेष व्याख्यान, उक्त या अनुक्त व्याख्या अथवा उक्तानुक्त अर्थका संक्षिप्त व्याख्यान (Summary), ऐसे तीन प्रकार चूलिका शब्दका अर्थ जानना चाहिए। (गो क./जी. प्र.।३६८/५६३/७), (द्र.सं./टी./अधिकार २ की चूलिका पृ. ८०/३)।

चेटक—(म. पु./७५/श्लोक नं.) पूर्व भव नं. २में विद्याधर (११६); पूर्वभव नं. १ में देव (१३१-१३५) वर्तमान भवमें वैशाली नगरीका राजा चन्दनाका पिता (३-८,१६८)।

चेटिका—दे० स्त्री।

चेतन—द्रव्यमें चेतन अचेतनकी अपेक्षा भेद—दे० द्रव्य/३।

चेतना—स्वसंवेदनगम्य अन्तरंग प्रकाशस्वरूप भाव विशेषको चेतना कहते है। वह दो प्रकारकी है—शुद्ध व अशुद्ध। ज्ञानी व वीतरागी जीवोका केवल जानने रूप भाव शुद्धचेतना है। इसे ही ज्ञान चेतना भी कहते हैं। इसमें ज्ञानकी केवल ज्ञप्ति रूप क्रिया होती है। ज्ञाता द्रष्टा भावसे पदार्थोंको मात्र जानना, उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि न करना यह इसका अर्थ है। अशुद्ध चेतना दो प्रकारकी है—कर्म चेतना व कर्मफल चेतना। इष्टानिष्ट बुद्धि सहित परपदार्थोंमें करने-धरनेके अहंकार सहित जानना सो कर्म चेतना है और इन्द्रियजन्य सुख-दुःखमें तन्मय होकर 'सुखी दुःखी' ऐसा अनुभव करना कर्मफल चेतना है। सर्व संसारी जीवोंमें यह दोनों कर्म व कर्मफल चेतना ही मुख्यतः पायी जाती है। तहाँ भी बुद्धिहीन असंज्ञी जीवोंमें केवल कर्मफल चेतना है, क्योंकि वहाँ केवल सुख-दुःखका भोगना मात्र है, बुद्धि पूर्वक कुछ करनेका उन्हे अवकाश नहीं।

१. भेद व लक्षण

१. चेतना सामान्यका लक्षण

रा. वा /१/४/१४/२६/११ जीवस्वभावश्चेतना।" यत्संनिधानादात्मा ज्ञाता द्रष्टा कर्ता भोक्ता च भवति तल्लक्षणो जीवः।=जिस शक्तिके सान्निध्यसे आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा अथवा कर्ता-भोक्ता होता है वह चेतना है और वही जीवका स्वभाव होनेसे उसका लक्षण है।

न. च. वृ /६४ अणुहवभावो चेयणम्।=अनुभवरूप भावका नाम चेतन है। (आ. प /६) (नय चक्र श्रुत/५७)।

स सा /आ./२९८-२९९ चेतना तावत्प्रतिभासरूपा; सा तु तेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने।=चेतना प्रतिभास रूप होती है। वह चेतना द्विरूपताका उल्लंघन नही करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक है। उसके जो दो रूप है वे दर्शन और ज्ञान है।

पं का./त. प्र./३९ चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात्।=चेतना, अनुभूति, उपलब्धि, वेदना इन सबका एक अर्थ है।

२. चेतनाके भेद दर्शन व ज्ञान

स सा/आ /२९८-२९९ ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने।=उस चेतनाके जो दो रूप है वे दर्शन और ज्ञान है।

* उपयोग व लब्धि रूप चेतना—दे० उपयोग/I।

३. चेतनाके भेद शुद्ध व अशुद्ध आदि

प्र. सा /मू./१२३ परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा। सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा। =आत्मा चेतना रूपसे परिणमित होता है। और चेतना तीन प्रकारसे मानी गयी है—ज्ञानसम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी अथवा कर्मफलसम्बन्धी। (पं. का/मू./३८)

स. सा./आ व. ता वृ /३८७ ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्द्विविधा भवति (ता. वृ)॥ अज्ञानचेतना। सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। =ज्ञान और अज्ञानके भेदसे चेतना दो प्रकार की है। तहाँ अज्ञान चेतना दो प्रकार की है—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना।

प्र. सा./ता. वृ /१२४ अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतना विशेषेण विचारयति। ज्ञान मत्यादिभेदेनाष्टविकल्पं भवति।·· कर्म शुभाशुभ-शुद्धोपयोगभेदेनानेकविधं त्रिविधं भणितम्। =ज्ञान, कर्म व कर्म-फल ऐसी जो तीन प्रकार चेतना उसका विशेष विचार करते है। ज्ञान मति ज्ञान आदि रूप आठ प्रकारका है। कर्म शुभ अशुभ व शुद्धोपयोग आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है अथवा इन्हीं तीन भेद-रूप है।

प ध /उ /१९२-१९५ स्वरूप चेतना जन्तो' सा सामान्यात्सदेकधा। सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाक्रमादिह।१९२। एकधा चेतना शुद्धा-शुद्धस्यैकविधत्वत । शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना।१९४। अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना। चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना।१९५। =जीवके स्वरूपको चेतना कहते है, और वह सामान्यरूपसे अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे सदा एक प्रकारको होती है। परन्तु विशेषरूपसे अर्थात् पर्याय दृष्टिसेवह ही दो प्रकार होती है—शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना।१९२। शुद्धात्माको विषय करनेवाला शुद्धज्ञान एक ही प्रकारका होनेसे शुद्ध चेतना एकही प्रकारकी है।१९४। अशुद्धचेतना दो प्रकारकी है—कर्मचेतना व कर्मफल चेतना।१९५।

४. ज्ञान व अज्ञान चेतनाके लक्षण

स. सा /आ /गा. न. ज्ञानी हि · ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्म-बन्धं कर्मफलं च शुभमशुभ वा केवलमेव जानाति।३१९। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः।३८६। ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना।३८७। =ज्ञानी तो ज्ञानचेतनामय होनेके कारण केवल ज्ञाता ही है, इसलिए वह शुभ तथा अशुभ कर्मबन्धको तथा कर्मफलको मात्र जानता ही है।३१९। चारित्रस्वरूप होता हुआ (वह आत्मा) अपनेको अर्थात् ज्ञानमात्रको चेतता है इसलिए स्वय ही ज्ञानचेतना है। ज्ञानसे अन्य (भावोंमें) 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव करना सो अज्ञानचेतना है।

पं ध /उ /१९६-१९७ अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रत. स्वयं। स चेत्यते अनया शुद्ध. शुद्धा सा ज्ञानचेतना।१९६। अर्थाज्ज्ञान गुण' सम्यक् प्राप्तावस्थान्तर यदा। आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञान-चेतना।१९७। =इस ज्ञानचेतना शब्दमें ज्ञानशब्दमे आत्मा वाच्य है, क्योंकि वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और वह शुद्धात्मा इस चेतनाके द्वारा अनुभव होता है, इसलिए वह ज्ञान चेतना शुद्ध कहलाती है।१९६। अर्थात् मिथ्यात्वोदयके अभावमें सम्यक्त्व युक्त ज्ञान ज्ञानचेतना है।१९७।

५. शुद्ध व अशुद्ध चेतनाका लक्षण

पं. का /त प्र /१६ ज्ञानानुभूतिलक्षणा शुद्धचेतना, कार्यानुभूतिलक्षणा कर्मफलानुभूतिलक्षणा चाशुद्धचेतना। =ज्ञानानुभूतिस्वरूप शुद्ध चेतना है और कार्यानुभूतिस्वरूप तथा कर्मफलानुभूति स्वरूप अशुद्धचेतना है।

द्र. स /टी /१५/५०/८ केवलज्ञानरूपा शुद्धचेतना। =केवलज्ञानरूप शुद्ध चेतना है।

पं. ध /उ./१९३ एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा तत। शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धात्मकर्मजा।१९३। =एक शुद्ध चेतना है और उससे विपरीत दूसरी अशुद्ध चेतना है। उनमें-से शुद्ध चेतना आत्माका स्वरूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्मके सयोगसे उत्पन्न होनेवाली है।

प. ध./उ /१९६,२१३ शुद्धा सा ज्ञानचेतना।१९६। अस्त्यशुद्धोपलब्धि. सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात्। न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना।२१३। =ज्ञानचेतना शुद्ध कहलाती है।१९६। अशुद्धोपलब्धि शुद्धात्मा-के आभासरूप होती है। चिदन्वयसे अशुद्धात्माके प्रतिभासरूप होने-से ज्ञानचेतनारूप नही कही जा सकती है, किन्तु कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना स्वरूप कही जाती है।२१३।

६. कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके लक्षण

स. सा /आ /३८७ तत्राज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतन कर्मचेतना। ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। =ज्ञानसे अन्य (भावोंमें) ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मै करता हूँ' सो कर्म चेतना है, और ज्ञानसे अन्य (भावोंमें) ऐसा अनुभव करना कि 'इसे मै भोगता हूँ' सो कर्मफल चेतना है।

प्र सा /त प्र /१२३-१२४ कर्मपरिणति. कर्म चेतना, कर्मफलपरिणति' कर्मफलचेतना।१२३। क्रियमाणमात्मना कर्म। ' तस्य, कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदु.खं तत्कर्मफलम्।१२४। =कर्म परिणति कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति कर्मफल चेतना है।१२३। आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है और उस कर्मसे उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दु'ख कर्मफल है।१२४।

द्र. स /टी./१५/५०/६ अव्यक्तसुखदु खानुभवनरूपा कर्मफलचेतना। स्वेहापूर्वेष्टानिष्टविकल्परूपेण विशेषरागद्वेषपरिणमन कर्मचेतना।= अव्यक्तसुखदु'खानुभव स्वरूप कर्मफल चेतना है, तथा निजचेष्टा-पूर्वक अर्थात् बुद्धिपूर्वक इष्ट अनिष्ट विकल्परूपसे विशेष रागद्वेषरूप जो परिणाम है वह कर्मचेतना है।

२. ज्ञान अज्ञान चेतना निर्देश

१. सम्यग्दृष्टिको ज्ञानचेतना ही इष्ट है

पं. ध /उ./८२२ प्रकृत तद्यथास्ति स्वं स्वरूप चेतनात्मन.। सा त्रिधात्राप्युपादेया सदृष्टेर्ज्ञानचेतना।८२२। =चेतना निजस्वरूप है और वह तीन प्रकारकी है। तो भी सम्यग्दर्शनका लक्षण करते समय सम्यग्दृष्टिको एक ज्ञानचेतना ही उपादेय होती है। (स सा/ आ /३८७)

२. ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिको ही होती है

प. ध /उ /१९८ सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मन। न स्यान्मि-थ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसंभवात्। =निश्चयसे वह ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि जीवके होती है, क्योंकि, मिथ्यात्वका उदय होनेपर उस आत्मोपलब्धिका होना असम्भव है, इसलिए वह ज्ञानचेतना मिथ्या-दृष्टि जीवके किसी भी अवस्थामें नही होती।

३. निजात्म तत्त्वको छोड़कर ज्ञानचेतना अन्य अर्थोंमें नहीं प्रवर्तती

पं ध /उ./८५० सत्य हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद्व्यभिचारिता। यतोऽत्रा-न्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना। =ठीक है—हेतुके विपक्षमें वृत्ति होनेसे उसमें व्यभिचारीपना आता है क्योंकि परस्वरूप पर-पदार्थसे भिन्न अपने इस स्वात्मामें ज्ञानचेतना होती है।

४. मिथ्यादृष्टिको कर्म व कर्मफल चेतना ही होती है

प ध./उ./२२३ यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम्। अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि।२२३। =अथवा मिथ्यादृष्टियोंको विशेषरूपसे अर्थात् पर्यायरूपसे उस सत्का स्वाद आता है, इसलिए वास्तवमे उनकी वह चेतना कर्मफलमें और कर्ममें ही होती है।

५. अज्ञानचेतना संसारका बीज है

स. सा./आ./३८७-३८९ सा तु समस्तापि संसारबीजं. संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। =वह समस्त अज्ञान चेतन संसारका बीज है, क्योंकि संसारके बीजभूत अष्टविध कर्मोंकी वह बीज है।

६. त्रस स्थावर आदिकी अपेक्षा तीनों चेतनाओंका स्वामित्व

पं का /मू./३९ सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं। पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा। =सर्व स्थावर जीव वास्तवमें कर्मफलको वेदते हैं, त्रस कर्म व कर्मफल इन दो चेतनाओंको वेदते हैं और प्राणित्वका अतिक्रम कर गये हैं ऐसे केवलज्ञानी ज्ञानचेतनाको वेदते हैं।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. ज्ञान चेतनाकी निर्विकल्पता—दे० विकल्प।

२. सम्यग्दृष्टिकी कर्म व कर्मफल चेतना भी ज्ञान चेतना ही है —दे० सम्यग्दृष्टि/२।

३. लौकिक कार्य करते भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञान चेतना रहती है —दे० सम्यग्दृष्टि/२।

४ सम्यग्दृष्टिको ज्ञान चेतना अवश्य होती है—दे० अनुभव/५।

५. शुद्ध व अशुद्ध चेतना निर्देश—दे० उपयोग/II।

६ ज्ञप्ति व करोति क्रिया निर्देश—दे० चेतना/३/५।

३. ज्ञातृत्व कर्तृत्व विचार

१ ज्ञान क्रिया व अज्ञान क्रिया निर्देश

स सा./आ /७० आत्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशङ्कमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्चज्ञानक्रियाया स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति । तदत्र योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवने · ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। =आत्मा और ज्ञानमें विशेष न होनेसे उनके भेदको न देखता हुआ निःशंकपने ज्ञानमें आत्मपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ प्रवर्तता हुआ वह ज्ञानक्रियाका स्वभावभूत होनेसे निषेध नहीं किया गया है, इसलिए जानता है, जानने रूपमें परिणमित होता है। जो यह आत्मा अपने अज्ञानभावसे ज्ञानभवनरूप प्रवृत्तिसे भिन्न जो क्रियमाणरूपसे अन्तरंग उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं ऐसे क्रोधादि वे (उस आत्मारूप कर्ताके) कर्म हैं।

२. परद्रव्योंमें अध्यवसान करनेके कारण ही जीव कर्ता प्रतिभासित होता है

न च वृ /३७६ भेदुवयारे जइया वट्टदि सो विय सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणिदो संसारी तेण सो आदा।३७६। =शुभ और अशुभके आधीन भेद उपचार जबतक वर्तता है तबतक संसारी आत्मा कर्ता कहा जाता है। (ध १/१,१,२/११९/३)।

स.सा /आ /३१२-३१३ अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता। =यह आत्मा अनादि संसारसे ही (अपने और परके भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान न होनेसे दूसरेका और अपना एकत्वका अध्यास करनेसे कर्ता होता है। (स.सा /आ./३१४-३१५) (अन ध /८/६/७३४)।

स.सा /आ./९७ येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति "आसंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात्, ततः परात्मनावेकत्वेन जानाति, ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति; ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारंवारमनेकविकल्पैः परिणमनकर्ता प्रतिभाति। =क्योंकि यह आत्मा अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वका आत्मविकल्प करता है, इसलिए वह निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है। अनादि संसारसे लेकर मिश्रित स्वादका स्वादन या अनुभवन होनेसे जिसकी भेद संवेदनकी शक्ति संकुचित हो गयी है ऐसा अनादिसे ही है। इसलिए वह स्वपरका एकरूप जानता है, इसलिए मैं क्रोध हूँ इत्यादि आत्मविकल्प करता है, इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन (स्वभाव) से भ्रष्ट होता हुआ, बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है। (स.सा /आ /९२,७०,२८३-२८५)।

पं.का /ता.वृ./१४७/२१३/१५ यदायमात्मा निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिबन्धनोपाधिवशाद्रक्तः सन् निर्मलज्ञानानन्दादिगुणास्पदशुद्धात्मस्वरूपपरिणतेः पृथग्भूतामुदयागतं शुभाशुभं वा स्वसंवित्तिश्च्युतो भूत्वा भावं परिणामं करोति तदा स आत्मा तेन रागपरिणामेन कर्तृभूतेन बन्धो भवति। =यद्यपि निश्चयनयसे यह आत्मा शुद्धबुद्ध एकस्वभाव है, तो भी व्यवहारसे अनादि बन्धकी उपाधिके वशसे अनुरक्त हुआ, निर्मल ज्ञानानन्द आदि गुणरूप शुद्धात्मस्वरूप परिणतिसे पृथग्भूत उदयागत शुभाशुभ कर्मको अथवा स्वसंवित्तिसे च्युत होकर भावों या परिणामोंको करता है, तब वह आत्मा उस कर्ताभूत रागपरिणामसे बन्धरूप होता है।

३. स्वपर भेद ज्ञान होनेपर वही ज्ञाता मात्र रहता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है

न.च.वृ /३७७ जइया तव्विवरीए आदसहावेहि संठियो होदि। तइया किंच ण कुव्वदि सहावलाहो हवे तेण।३७७। =उस शुभाशुभ रूप भेदोपचार परिणतिसे विपरीत जब वह आत्मा स्वभावमें स्थित होकर कुछ नहीं करता तब उसे स्वभाव (ज्ञातादृष्टापने) का लाभ होता है।

स सा./आ /३१४-३१५ यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् · परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति। =जब यही आत्मा (अपने और परके भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंके ज्ञानके कारण स्व परके एकत्वका अध्यास नहीं करता तब अकर्ता होता है।

स सा./आ /९७ ज्ञानी तु सन् निखिलरसान्तरविविक्तात्यन्तमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति, ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यन्तमकर्ता प्रतिभाति। =जब आत्मा ज्ञानी होता है तब समस्त अन्य रसोंसे विलक्षण अत्यन्त मधुर चैतन्य रस ही एक जिसका रस है ऐसा आत्मा है और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं; उनके साथ जो एकत्वका विकल्प करना है वह अज्ञानसे है, इस प्रकार परको और अपनेको भिन्नरूप जानता है, इसलिए अकृत्रिम (नित्य) एक ज्ञान ही मैं हूँ, किन्तु कृत्रिम (अनित्य) अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नहीं हूँ ऐसा जानता हुआ, निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक, विज्ञानघन होता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है। (स सा /आ /९३,७१,२८३-२८५)।

स सा /आ /९७/क ५९ ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषम्। चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो, जानीत एव हि करोति न किंचनापि। =जैसे हंस दूध और पानीके विशेषको जानता है, उसी प्रकार जो जीव ज्ञानके कारण विवेकवाला होनेसे परके और अपने विशेषको जानता है, वह अचल चैतन्य धातुमें

आरूढ होता हुआ, मात्र जानता ही है, किंचित् मात्र भी कर्ता नहीं होता।

स सा /आ /७२/क ४७ परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादानिदमुदितमखण्ड ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः। ननु कथमवकाश. कर्तृ कर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गल. कर्मबन्ध । =परपरणतिको छोडता हुआ, भेदके कथनोंको तोडता हुआ, यह अत्यन्त अखण्ड और प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। अहो ! ऐसे ज्ञानमे कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है ? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है।

४. ज्ञानी जीव कर्म कर्ता हुआ भी अकर्ता ही है

स.सा /आ./२२७/क १५३ त्यक्त येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं, किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् । तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो, ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क ।१५३। =जिसने कर्मका फल छोड दिया है, वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—उसे (ज्ञानीको) भी किसी कारणसे कोई ऐसा कर्म अवशतासे आ पडता है। उसके आ पडनेपर भी जो अकम्प परमज्ञानमें स्थित है, ऐसा ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ?

यो.सा /अ /६/५६ य कर्म मन्यते कर्माऽकर्म वाऽकर्म सर्वथा। स सर्वकर्मणा कर्ता निराकर्ता च जायते ।५६। =जो बुद्धिमान पुरुष सर्वथा कर्मको कर्म और अकर्मको अकर्म मानता है वह समस्त कर्मोका कर्ता भी अकर्ता है।

सा ध./१/१३ भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया, हेयं वैषयिक सुखं निजमुपादेय त्विति श्रद्दधत्। चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान्, शर्माक्ष भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघै । =जो सर्वज्ञदेवकी आज्ञासे वैषयिक सुखोको हेय और निजात्म तत्त्वको उपादेय रूप श्रद्धान करता है। कोतवालके द्वारा पकडे गये चोरकी भाँति सदा अपनी निन्दा करता है। भूरेखा सदृश अप्रत्याख्यान कर्मके उदयसे यद्यपि रागादि करता है तो भी मोक्षको भजनेवाला वह कर्मोसे नही लिपता।

पं ध./उ./२६५ यथा कश्चित्परायत्त. कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम्। कर्ता तस्या क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान्। =जैसे कि अपनी इच्छाके बिना कोई पराधीन पुरुष अनुचित क्रियाको करता हुआ भी वास्तवमें उस क्रियाका कर्ता नही माना जाता, (उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोके आधीन कर्म करता हुआ भी अकर्ता ही है।)

और भी दे० राग/६ (विषय सेवता हुआ भी नही सेवता)।

५. वास्तवमें जो करता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं

स सा /आ /९६-९७ य करोति स करोति केवल, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्। य करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।९६। ज्ञप्ति. करोतौ न हि भासतेऽन्त', ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त । ज्ञप्ति करोतिश्च ततो विभिन्ने, ज्ञाता न कर्तेति तत स्थितं च ।९७। =जो करता है सो मात्र करता ही है। और जो जानता है सो जानता ही है। जो करता है वह कभी जानता नहीं और जो जानता है वह कभी करता नही ।९६। करनेरूप क्रियाके भीतर जानने रूप क्रिया भासित नही होती और जानने रूप क्रियाके भीतर करनेरूप क्रिया भासित नही होती। इसलिए ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनो भिन्न है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नही है ।९७।

६. कर्मधारामें ही कर्तापना है ज्ञानधारामें नहीं

स.सा /आ./३४४/क २०५ माकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुष सांख्या इवाप्यार्हता', कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादध.। ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेन स्वय, पश्यन्तु च्युतकर्तृ भावमचलं ज्ञातारमेकं परम्। =यह जैनमतानुयायी सांख्यमतियोकी भाँति आत्माको (सर्वथा) अकर्ता न मानो। भेदज्ञान होनेसे पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो, और भेदज्ञान होनेके बाद, उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञानप्रकाश) में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्माको कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो।

७. जब कर्ताबुद्धि है, तब तक अज्ञानी है

स.सा /मू /२४७ जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो। =जो यह मानता है कि मैं परजीवोको मारता हूँ और परजीव मुझे मारते है, वह मूढ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत ज्ञानी है।

स सा /आ /७५/क ४८ अज्ञानोत्थितकर्तृ कर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्त स्वयं ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगत' साक्षी पुराण' पुमान् ।४८। =अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके अभ्याससे उत्पन्न क्लेशोंसे निवृत्त हुआ, स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ जगतका साक्षी पुराण पुरुष अब यहाँसे प्रकाशमान होता है।

स सा /आ./२५६/क १६६ अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य, पश्यन्ति ये मरणजीवितदु खसौख्यम्। कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते, मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति। =इस अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परके मरण, जीवन, दु.ख, सुखको देखते है, वे पुरुष—जो कि इस प्रकार अहंकाररससे कर्मोको करनेके इच्छुक है, वे नियमसे मिथ्यादृष्टि है, अपने आत्माका घात करनेवाले है।

स सा /आ./३२१ ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते। =जो आत्माको कर्ता ही देखते है, वे लोकोत्तर हो तो भी लौकिकताको अतिक्रमण नहीं करते।

८. वास्तवमें ज्ञप्तिक्रियायुक्त ही ज्ञानी है

स सा /आ /१६१-१६३/क१११ मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यन्मग्ना ज्ञाननयेषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा। विश्वस्योपरिते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्त: स्वय, ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ।१११। =कर्मनयके आलम्बनमें तत्पर पुरुष डूबे हुए है, क्योकि वे ज्ञानको नही जानते। ज्ञाननयके इच्छुक पुरुष भी डूबे हुए है, क्योकि वे स्वच्छन्दतासे अत्यन्त मन्द उद्यमी है। वे जीव विश्वके ऊपर तैरते है, जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए (ज्ञानरूप परिणमते हुए) कर्म नही करते और कभी प्रमादके वश भी नही होते।

स सा /आ /परि /क २६७ स्याद्वादकौशलसुनिश्चितसंयमाभ्या, यो भावयत्यहरह स्वमिहोपयुक्त । ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृत श्रयति भूमिमिमा स एक । =जो पुरुष स्याद्वादमें प्रवीणता तथा सुनिश्चल सयम—इन दोनोके द्वारा अपनेमें उपयुक्त रहता हुआ प्रतिदिन अपनेको भाता है, वही एक ज्ञाननय और क्रियानयकी परस्पर तीव्र मैत्रीका पात्ररूप होता हुआ, इस भूमिकाका आश्रय करता है।

९. कर्ताबुद्धि छोड़नेका उपाय

स.सा /आ /७१ ज्ञानस्य यद्भवनं तत्र क्रोधादेरपि भवन यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञान भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि, यस्तु क्रोधादेर्भवन तत्र ज्ञानस्यापि भवन यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधा-

द्यो भवन्तो विभाव्यन्ते न तथा ज्ञानमपि इत्यात्मन. क्रोधादीना च न खल्वेकवस्तुत्वं इत्येवमात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते। =जो ज्ञानका परिणमन है वह क्रोधादिका परिणमन नहीं है, क्योंकि जैसे ज्ञान होने पर ज्ञान ही हुआ मालूम होता है वैसे क्रोधादिक नहीं मालूम होते। जो क्रोधादिका परिणमन है, वह ज्ञानका परिणमन नहीं है, क्योंकि, क्रोधादिक होनेपर जैसे क्रोधादिक हुए प्रतीत होते हैं वैसे ज्ञान हुआ प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार क्रोध (राग, द्वेषादि) और ज्ञान इन दोनोंके निश्चयसे एक वस्तुत्व नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवोंका भेद देखनेसे जिस समय भेद जानता है उस समय इसके अनादिकालसे उत्पन्न हुई परमें कर्ता कर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है।

चेदि—१ मालवा प्रान्त (इन्दौर आदि) की वर्तमान चन्देरी नगरी के समीपवर्ती प्रदेश। अब यह गवालियर राज्यमें है। (म.पु./प्र.५०/पं. पन्नालाल)। २. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। ३. विन्ध्याचल पर स्थित एक नगर —दे० मनुष्य/४।

चेर—मध्य आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

चेलना—१ (म.पु/७५/श्लोक नं.) राजा चेटककी पुत्री थी।६-८। राजा श्रेणिकसे विवाही गयी, तथा उसकी पटरानी बनी।३४। २ (बृहत्कथाकोश/कथा नं. ८/पृ. नं. ३६) वैराग्य नामा मुनि राजगृहमें एक महीनेके उपवाससे आये। मुनिकी स्त्री जो व्यन्तरी हो गयी थी, उसने मुनिराजके पडगाहनेके समय उनकी इन्द्री बटा दी। तब चेलनाने उनके आगे कपडा ढँककर उनका उपसर्ग व अवर्णवाद दूर करके उनको आहार दिया।२६।

चेष्टा—न्या द./भा/१-१/११/१८ ईप्सितं जिहासितं वा अर्थमधिकृत्येप्साजिहाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणसमीहा चेष्टा। =किसी वस्तुको लेने व छोडनेको इच्छासे उस वस्तुमें ग्रहण करने या छोड़नेके लिए जो उपाय किया जाता है उसको चेष्टा कहते हैं।

चैत्य चैत्यालय—जिन प्रतिमा व उनका स्थान अर्थात् मन्दिर चैत्य व चैत्यालय कहलाते हैं। ये मनुष्यकृत भी होते हैं और अकृत्रिम भी। मनुष्यकृत चैत्यालय तो मनुष्यलोकमें ही मिलने सम्भव है, परन्तु अकृत्रिम चैत्यालय चारों प्रकारके देवोंके भवन प्रासादों व विमानोंमें तथा स्थल-स्थल पर इस मध्यलोकमें विद्यमान है। मध्यमें १३ द्वीपोंमें स्थित जिन चैत्यालय प्रसिद्ध है।

१. चैत्य या प्रतिमा निर्देश

१. निश्चय स्थावर जंगम प्रतिमा निर्देश चैत्य या प्रतिमा निर्देश

बो पा/मू/६,१० चेइय बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स।६। सपरा जंगमदेहा दसणणाणेण सुद्धचरणाण। णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा।१०। =बन्ध, मोक्ष, दुःख व सुखको भोगनेवाला आत्मा चैत्य है।६। दर्शनज्ञान करके शुद्ध है आचरण जिनका ऐसे वीतराग निर्ग्रन्थ साधुका देह उसकी आत्मासे पर होनेके कारण जिनमार्गमें जंगम प्रतिमा कही जाती है। अथवा ऐसे साधुओंके लिए अपनी और अन्य जीवोंकी देह जंगम प्रतिमा है।

बो पा/मू/११,१३ जो चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं। सो होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा।११। णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया जंगमेण रूवेण। सिद्धठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा।१३। =जो शुद्ध आचरणको आचरै, बहुरि सम्यग्ज्ञानकरि यथार्थ वस्तुकूं जानै है, बहुरि सम्यग्दर्शनकरि अपने स्वरूपकूं देखै है, ऐसै निर्ग्रन्थ संयमस्वरूप प्रतिमा है सो वंदिबे योग्य है।११। जो निरुपम है, अचल है, अक्षोभ है, जो जंगमरूपकरि निर्मित है, अर्थात् कर्मनि मुक्त हुए पीछे एक समयमात्र जिनको गमन होता है, बहुरि सिद्धालयमें विराजमान, सो व्युत्सर्ग अर्थात् कायरहित प्रतिमा है।

द. पा./मू./३५/७७ विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्तो। चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया।३५।

द. पा./टी/३५/२९/११ सा प्रतिमा प्रतियातना प्रतिबिम्बं प्रतिकृतिः स्थावरा भणिता इह मध्यलोके स्थितत्वात् स्थावरप्रतिमेत्युच्यते। मोक्षगमनकाले एकस्मिन् समये जिनप्रतिमा जंगमा कथ्यते।= केवलज्ञान भये पीछे जिनेन्द्र भगवान् १००८ लक्षणोंसे युक्त जेतेकाल इस लोकमें विहार करते हैं तेतै तिनिका शरीर सहित प्रतिबिम्ब, तिसकूं 'थावर प्रतिमा' कहिए।३५। प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिबिम्ब, प्रतिकृति ये सब एकार्थ वाचक नाम हैं। इस लोकमें स्थित होनेके कारण वह प्रतिमा स्थावर कहलाती है और मोक्षगमनकालमें एक समयके लिए वही जंगम जिनप्रतिमा कहलाती है।

२. व्यवहार स्थावर जंगम चैत्य या प्रतिमा निर्देश

भ. आ/वि./४६/१५४/४ चैत्यं प्रतिबिम्बं इति यावत्। कस्य। प्रत्यासत्ते श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयो. प्रतिबिम्बग्रहणं। =चैत्य अर्थात् प्रतिमा। चैत्य शब्दसे प्रस्तुत प्रसंगमें अर्हत व सिद्धोके प्रतिमाओंका ग्रहण समझना।

द. पा/टी/३५/२९/१३ व्यवहारेण तु चन्दनकनकमहामणिस्फटिकादिघटिता प्रतिमा स्थावरा। समवशरणमण्डिता जंगमा जिनप्रतिमा प्रतिपाद्यते। =व्यवहारसे चन्दन कनक महामणि स्फटिक आदिसे घडी गयी प्रतिमा स्थावर है और समवशरण मण्डित अर्हत भगवान सो जंगम जिनप्रतिमा है।

३. व्यवहार प्रतिमा विषयक धातु-माप-आकृति व अंगोपांग आदिका निर्देश

वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ/मू/परि ४/श्लो. नं. अथ बिम्बं जिनेन्द्रस्य कर्तव्यं लक्षणान्वितम्। ऋज्वायतसुसंस्थानं तरुणाङ्गं दिगम्बरम्।१। श्रीवृक्षभूषितोरस्कं जानुप्राप्तकराग्रजम्। निजाङ्गुलप्रमाणेन साष्टाङ्गुलशतायुतम्।२। मानं प्रमाणमुन्मानं चित्रलेपशिलादिषु। प्रत्यङ्गपरिणाहोर्ध्वं यथासंख्यमुदीरितम्।३। कक्षादिरोमहीनाङ्गं श्मश्रुरेखाविवर्जितम्। ऊर्ध्वं प्रलम्बकं दत्वा समाप्त्यन्तं च धारयेत्।४। तालं मुखं वितस्ति स्यादेकार्थं द्वादशाङ्गुलम्। तेन मानेन तद्बिम्बं नवधा प्रविकल्पयेत्।५। लक्षणैरपि संयुक्तं बिम्बं दृष्टिविवर्जितम्। न शोभते यतस्तस्मात्कुर्याद्दृष्टिप्रकाशनम्।७२। नात्यन्तोन्मीलिता स्तब्धा न विस्फारितमीलिता। तिर्यगूर्ध्वमधो दृष्टिं वर्जयित्वा प्रयत्नतः।७३। नासाग्रनिहिता शान्ता प्रसन्ना निर्विकारिका। वीतरागस्य मध्यस्था कर्तव्याधोत्तमा तथा।७४। =(१) लक्षण—जिनेन्द्रकी प्रतिमा सर्व लक्षणोंसे युक्त बनानी चाहिए। वह सीधी, लम्बायमान, सुन्दर संस्थान, तरुण अंगवाली व दिगम्बर होनी चाहिए।१। श्रीवृक्ष लक्षणसे भूषित वक्षस्थल और जानुपर्यंत लम्बायमान बाहुवाली होनी चाहिए।२। कक्षादि अंग रोमहीन होने चाहिए तथा मूछ व झुर्रियों आदिसे रहित होने चाहिए।४। (२) माप—प्रतिमाकी अपनी अंगुलीके मापसे वह १०८ अंगुलकी होनी चाहिए।२। चित्रमें या लेपमें या शिला आदिमें प्रत्येक अंगका मान, प्रमाण व उन्मान नीचे व ऊपर सर्व ओर यथाकथित रूपसे लगा लेना चाहिए।३। ऊपरसे नीचेतक सौल डालकर शिलापर सीधे निशान लगाने चाहिए।४। प्रतिमाकी तौल या माप निम्न प्रकार जानने चाहिए। उसका मुख उसकी अपनी अंगुलीके मापसे १२ अंगुल या एक बालिश्त होना चाहिए। और उसी मानसे

अन्य भी नौ प्रकारका माप जानना चाहिए ।५। (३) मुद्रा—लक्षणोंसे सयुक्त भी प्रतिमा यदि नेत्ररहित हो या मुन्दी हुई आँखवाली हो तो शोभा नही देती, इसलिए उसे उसकी आँख खुली रखनी चाहिए ।७२। अर्थात् न तो अत्यन्य मुन्दी हुई होनी चाहिए और न अत्यन्त फटी हुई। ऊपर नीचे अथवा दायें-बायें दृष्टि नही होनी चाहिए ।७३। बल्कि शान्त नासाग्र प्रसन्न व निर्विकार होनी चाहिए। और इसी प्रकार मध्य व अधोभाग भी वीतराग प्रदर्शक होने चाहिए ।७४।

४. सदोष प्रतिमासे हानि

वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ/परि ४/श्लो. न. अर्थनाशं विरोधं च तिर्यग्दृष्टिर्भयं तथा। अधस्तात्सुतनाश च भार्यामरणमूर्ध्वगा ।७५। शोकमुद्वेगसताप स्तब्धा कुर्याद्धिनक्षयम्। शान्ता सौभाग्यपुत्रार्थाशाभिवृद्धिप्रदा भवेत् ।७६। सदोषार्चा न कर्त्तव्या यत. स्यादशुभावहा। कुर्याद्रौद्रा प्रभोर्नाश कृशाङ्गी द्रव्यसंक्षयम् ।७७। सक्षिप्ताङ्गी क्षय कुर्याच्चिपिटा दु खदायिनी। विनेत्रा नेत्रविध्वंस हीनवक्त्रा त्वशोभनी ।७८। व्याधि महोदरी कुर्याद् हृद्रोगं हृदये कृशा। अंसहीनानुज हन्याच्छुष्कजङ्घा नरेन्द्रहा ।७९। पादहीना जन हन्यात्कटिहीना च वाहनम्। ज्ञात्वैवं कारयेज्जैनी प्रतिमा दोषवर्जिताम् ।८०। =दायी-बायी दृष्टिसे अर्थका नाश, अधो दृष्टिसे भयं तथा ऊर्ध्व दृष्टिसे पुत्र व भार्याका मरण होता है ।७५। स्तब्ध दृष्टिसे शोक, उद्वेग, संताप तथा धनका क्षय होता है। और शान्त दृष्टि सौभाग्य, तथा पुत्र व अर्थकी आशामे वृद्धि करनेवाली है ।७६। सदोष प्रतिमाकी पूजा करना अशुभदायी है, क्योकि उससे पूजा करनेवालेका अथवा प्रतिमाके स्वामीका नाश, अगोका कृश हो जाना अथवा धनका क्षय आदि फल प्राप्त होते है ।७७। अंगहीन प्रतिमा क्षय व दु खको देनेवाली है। नेत्रहीन प्रतिमा नेत्रविध्वंस करनेवाली तथा मुखहीन प्रतिमा अशुभकी करनेवाली है ।७८। हृदयसे कृश प्रतिमा महोदर रोग या हृदयरोग करती है। अस या अगहीन प्रतिमा पुत्रको तथा शुष्क जंघावाली प्रतिमा राजाको मारती है ।७९। पाद रहित प्रतिमा प्रजाका तथा कटिहीन प्रतिमा वाहनका नाश करती है। ऐसा जानकर जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा दोषहीन बनानी चाहिए ।८०।

५. पाँचों परमेष्ठियोंकी प्रतिमा बनानेका निर्देश

भ आ./वि /४६/१५४/४ कस्य। प्रत्यासत्ते' श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयो प्रतिबिम्बग्रहणं। अथवा मध्यप्रक्षेप' पूर्वोत्तरगोचरस्थापनापरिग्रहार्थस्तेन साध्वादिस्थापनापि गृह्यते। =प्रश्न—प्रतिबिम्ब किसका होता है? उत्तर—प्रस्तुत प्रसंगमे अर्हत और सिद्धोके प्रतिमाओका ग्रहण समझना चाहिए। अथवा यह मध्य प्रक्षेप है, इसलिए पूर्व विषयक और उत्तर विषयक स्थापनाका यहाँ ग्रहण होता है। अर्थात् पूर्व विषय तो अर्हत और सिद्ध है ही और उत्तर विषय (इस प्रकरणमे आगे कहे जानेवाले विषय) श्रुत, शास्त्र, धर्म, साधु, परमेष्ठी, आचार्य, उपाध्याय वगैरह है। इनका भी यहाँ सग्रह होनेसे, इनकी भी प्रतिमाएँ स्थापना होती है।

६. पाँचों परमेष्ठियोंकी प्रतिमाओंमें अन्तर

वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ/परि. ४/६९-७० प्रातिहार्याष्टकोपेतं संपूर्णावयवं शुभम्। भावरूपानुविद्धाङ्ग कारयेद्बिम्बमर्हत ।६९। प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमपीदृशम्। सूरीणा पाठकानां च साधूनां च यथागमम्। =आठ प्रातिहार्योसे युक्त तथा सम्पूर्ण शुभ अवयवोवाली, वीतरागताके भावसे पूर्ण अर्हन्तकी प्रतिबिम्ब करनी चाहिए ।६९। प्रातिहार्योंसे रहित सिद्धोकी शुभ प्रतिमा होती है। आचार्यों, उपाध्यायो व साधुओकी प्रतिमाएँ भी आगमके अनुसार बनानी चाहिए ।७०। (वरहस्त सहित आचार्यकी, शास्त्रसहित उपाध्यायकी तथा केवल पिच्छी कमण्डलु सहित साधुकी प्रतिमा होती है। शेष कोई भेद नही है)।

७. शरीर रहित सिद्धोंकी प्रतिमा कैसे सम्भव है

भ. आ /वि /४६/१५३/१९ ननु सशरीरस्थात्मनः प्रतिबिम्बं युज्यते, अशरीराणा तु शुद्धात्मना सिद्धाना कथ प्रतिबिम्बसभव'। पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया शरीरसस्थानवच्चिदात्मापि सस्थानवानेव संस्थानवतोऽव्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्थात्मवत्। स एव चायं प्रतिपन्नसम्यक्त्वाद्यगुण इति स्थापनासंभव.। =प्रश्न—शरीरसहित आत्माका प्रतिबिम्ब मानना तो योग्य है, परन्तु शरीर रहित शुद्धात्मस्वरूप सिद्धोकी प्रतिमा मानना कैसे सम्भव है? उत्तर—पूर्वभावप्रज्ञापन नयको अपेक्षासे सिद्धोकी प्रतिमाएँ स्थापना कर सकते है, क्योकि जो अब सिद्ध है वही पहले सयोगी अवस्थामें शरीर सहित थे। दूसरी बात यह है कि जैसी शरीरकी आकृति रहती है वैसी ही चिदात्मा सिद्धकी भी आकृति रहती है। इसलिए शरीरके समान सिद्ध भी संस्थानवान् है। अत. सम्यक्त्वादि अष्टगुणोसे विराजमान सिद्धोकी स्थापना सम्भव है।

८. दिगम्बर ही प्रतिमा पूज्य है

चैत्यभक्ति/३२ निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदयान्निरम्बरमनोहर प्रकृतिरूपनिर्दोषत। निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमान्निरामिषसुतृप्ति द्विविधवेदनाना क्षयात् ।३२। =हे जिनेन्द्र भगवान्! आपका रूप रागके आवेगके उदयके नष्ट हो जानेसे आभरण रहित होनेपर भी भासुर रूप है; आपका स्वाभाविक रूप निर्दोष है इसलिए वस्त्ररहित नग्न होनेपर भी मनोहर है; आपका यह रूप न औरोके द्वारा हिंस्य है और न औरोका हिंसक है, इसलिए आयुध रहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है, तथा नाना प्रकारकी क्षुत्पिपासादि वेदनाओके विनाश हो जानेसे आहार न करते हुए भी तृप्तिमान है।

बो.पा./टी./१०/७८/१८ स्वकीयशासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया ज्ञातव्या। या परकीया प्रतिमा सा हेया न वन्दनीया। अथवा सपरा-स्वकीयशासनेऽपि या प्रतिमा परा उत्कृष्टा भवति सा वन्दनीया न तु अनुत्कृष्टा। का उत्कृष्टा का वानुत्कृष्टा इति चेदुच्यन्ते या पञ्चजैनाभासैरञ्जलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चर्चनीया च। या तु जैनाभासरहितै' साक्षादार्हतसघैः प्रतिष्ठिता चक्षु'स्तनादिपु विकाररहिता समुपन्यस्ता सा वन्दनीया। तथा चोक्तम् इन्द्रनन्दिना भट्टारकेण—चतु सघसहिताया जैनं बिम्ब प्रतिष्ठित। नमेन्नापरसघाया यतो न्यासविपर्यय ।१। =स्वकीय शासनकी प्रतिमा ही उपादेय है और परकीय प्रतिमा हेय है, वन्दनीय नही है। अथवा स्वकीय शासनमे भी उत्कृष्ट प्रतिमा वन्दनीय है अनुत्कृष्ट नही। प्रश्न—उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रतिमा क्या? उत्तर—पच जैनाभासोके द्वारा प्रतिष्ठित अजलिका रहित तथा नग्न भी मूर्ति वन्दनीय नही है। जैनाभासोसे रहित साक्षात् आर्हत सघोके द्वारा प्रतिष्ठित तथा चक्षु व स्तन आदि विकारोसे रहित प्रतिमा ही वन्दनीय है। इन्द्रनन्दि भट्टारक ने भी कहा है—नन्दिसंघ, सेनसघ, देवसघ और सिहसघ इन चार संघोके द्वारा प्रतिष्ठित जिनबिम्ब ही नमस्कार की जाने योग्य है, दूसरे संघोके द्वारा प्रतिष्ठित नही, क्योकि वे न्याय व नियमसे विरुद्ध है।

९. रंगीन अंगोपांगों सहित प्रतिमाओंका निर्देश

ति प /४/१८७२-१८७४ भिण्णिदणीलमरगयकुतलभूवग्गदिण्णसोहाओ। फलिहिंदणीलणिम्मिदधवलासिदणेत्तजुयलाओ ।१८७२। वज्जमयदतपतीपहाओ पल्लवसरिच्छअधराओ। हीरमयवरणहाओ पउमा-

रुणपाणिचरणाओ ।१८७३। अट्ठभहियसहस्सप्पमाणवंजणसमूह-सहिदाओ । वत्तीसलक्खणेहि जुत्ताओ जिणेसपडिमाओ ।१८७४। =(पाण्डुक वनमे स्थित) ये जिनेन्द्र प्रतिमाएँ भिन्नइन्द्र-नीलमणि व मरकतमणिमय कुतल तथा भृकुटियोके अग्रभागसे शोभाको प्रदान करनेवाली, स्फटिक व इन्द्रनीलमणिसे निर्मित धवल व कृष्ण नेत्र युगलसे सहित, वज्रमय दन्तपंक्तिकी प्रभासे सयुक्त, पल्लवके सदृश अधरोष्ठसे सुशोभित, हीरेसे निर्मित उत्तम नखोसे विभूषित, कमलके समान लाल हाथ पैरोसे विशिष्ट, एक हजार आठ व्यंजनसमूहोसे सहित और बत्तीस लक्षणोसे युक्त है। (त्रि. सा./९८५)

रा वा/३/१०/१३/१७८/३४ कनकमयदेहास्तपनीयहस्तपादतलतालुजिहा-लोहिताक्षमणिपरिक्षिप्ताङ्कस्फटिकमणिनयना अरिष्टमणिमयनयन-तारकारजतमयदन्तपङ्क्तयः विद्रुमच्छायाधरपुटा अञ्जनमूलमणिम-याक्षपक्ष्मभ्रूलता नीलमणिविरचितासितास्निग्धकेशा ·· भव्यजनस्तवन-वन्दनपूजनार्हा अर्हत्प्रतिमा अनाद्यनिधना··। =(सुमेरु पर्वतके भद्रशाल वनमें स्थित चार चैत्यालयोमे स्थित जिनप्रतिमाओ) की देह कनकमयी है, हाथ-पाँवके तलवे-तालु व जिह्वा तपे हुए सोनेके समान लाल है, लोहिताक्ष मणि अंकमणि व स्फटिकमणिमयी आँखे है; अरिष्टमणिमयी आँखोके तारे है, रजतमयी दन्तपक्ति है; विद्रुममणिमयी होठ है, अंजनमूल मणिमयी आँखोकी पलकें व भ्रूलता है, नीलमणि रचित सरके केश है। ऐसी अनादिनिधन तथा भव्यजनोके स्तवन, वन्दन, पूजनादिके योग्य अर्हत्प्रतिमा है।

१०. सिंहासन व यक्षों आदि सहित प्रतिमाओंका निर्देश

ति.प/३/५२ सिहासणादिसहिदा चामरकरणागजक्खमिहुणजुदा । णाणा-विहरयणमया जिणपडिमा तेसु भवणेसु ।५२। =उन (भवनवासी देवोके) भवनोंमे सिंहासनादिकसे सहित, हाथमें चमर लिये हुए नागयक्षयुगलसे युक्त और नाना प्रकारके रत्नोसे निर्मित, ऐसी जिन-प्रतिमाएँ विराजमान है। (रा वा/३/१०/१३/१७९/२); (ह.पु/५/३६३), (त्रि.सा./९८६-९८७)

११. प्रतिमाओंके पासमें अष्ट मंगल द्रव्य तथा १०८ उपकरण रहनेका निर्देश

ति. प/४/१८७९-१८८० ते सव्वे उवयरणा घंटापहुदीओ तह य दिव्वाणि । मंगलदव्वाणि पुढं जिणिंदपासेसु रेहंति ।१८७९। भिंगार-कलसदप्पणचामरधयवियणछत्तसुपयट्ठा । अट्ठुत्तरसयसखा पत्तेक मगला तेसु ।१८८०। =घंटा प्रभृति वे सब उपकरण तथा दिव्य मंगल द्रव्य पृथक्-पृथक् जिनेन्द्रप्रतिमाओके पासमें सुशोभित होते है।१८७९। भृंगार, कलश, दर्पण, चँवर, ध्वजा, बीजना, छत्र और सुप्रतिष्ठ—य आठ मंगल द्रव्य है, इनमेंसे प्रत्येक वहाँ १०८ होते है ।१८८०। (ज.प/१३/११२—अर्हतके प्रकरणमे अष्ट मगलद्रव्य); (त्रि सा /९८९); (द पा /टी /३५/२९/५) अर्हतके प्रकरणमें अष्टद्रव्य।

ह.पु./५/३६४-३६५ भृंगारकलशादर्शपात्रीशङ्खा समुद्गकाः । पालिका-धूपनीदीपकूर्चाः पाटलिकादयः ।३६४। अष्टोत्तरशत ते पि कसतालन-कादयः । परिवारोऽत्र विज्ञेयः प्रतिमानां यथायथम् ।६३५। =झारी कलश, दर्पण, पात्री, शख, सुप्रतिष्ठक, ध्वजा, धूपनी, दीप, कूर्च, पाटलिका आदि तथा झाझ, मजीरा आदि १०८ उपकरण प्रतिमाओं-के परिवारस्वरूप जानना चाहिए, अर्थात् ये सब उनके समीप यथा योग्य विद्यमान रहते है।

१२. प्रतिमाओंके लक्षणोंकी सार्थकता

ध.९/४,१,४४/१०७/४ कधमेदम्हादो सरीरादो गंथस्स पमाणत्तमव-गम्मदे । उच्चदे—णिराउहत्तादो जाणाविदकोह-माण-माया-लोह-जाइ-जरा-मरण-भय-हिंसाभावं, णिप्फंदक्खेक्खणादो जाणाविदति-वेदोदयाभावं । णिराहरणत्तादो जाणाविदरागाभावं, भिउडिविरहादो जाणाविदकोहाभावं । वग्गण-णच्चण-हसण-फोडणक्खसुत्त-जडा-मउड-णरसिरमालाधरणविरहादो मोहाभावलिंग । णिरंबरत्तादो लोहाभावलिंगं । ···अग्गि—विसासणि-वज्जाउहादीहि बाहाभावादो घाइकम्माभावलिंगं । ···वलियावलोयणाभावादो सगासेसजीवपदेस-ट्ठियणाण-दंसणावरणाणं णिस्सेसाभावलिंगं । ···आगासगमणेण पहापरिवेढेण तिहुवणभवणविसारिणा सुसुरहिगंधेण च जाणाविद-अमाणुसभावं । ···तदो एदं सरीरं राग-दोस-मोहाभावं जाणावेदि। =प्रश्न—इस (भगवान् महावीरके) शरीरसे ग्रन्थकी प्रमाणता कैसे जानी जाती है? उत्तर—(१) निरायुध होनेसे क्रोध मान माया लोभ, जन्म, जरा, मरण, भय और हिंसाके अभावका सूचक है। (२) स्पन्दरहित नेत्र दृष्टि होनेसे तीनों वेदोंके उदयके अभावका ज्ञापक है। (३) निराभरण होनेसे रागका अभाव। (४) भृकुटिरहित होनेसे क्रोधका अभाव। (५) गमन, नृत्य, हास्य, विदारण, अक्ष-सूत्र, जटा मुकुट और नरमुण्डमालाको न धारणा करनेसे मोहका अभाव। (६) वस्त्ररहित होनेसे लोभका अभाव। (७) अग्नि, विष, अशनि और वज्रायुधादिकोसे बाधा न होनेके कारण घातिया कर्मों-का अभाव। (८) कुटिल अवलोकनके अभावमे ज्ञानावरण व दर्शनावरणका पूर्ण अभाव। (९) गमन, प्रभामण्डल, त्रिलोकव्यापी सुरभिसे अमानुषता। इस कारण यह शरीर राग-द्वेष एवं मोहके अभावका ज्ञापक है। (इस वीतरागतासे ही उनकी सत्य भाषा व प्रामाणिकता सिद्ध होती है)।

१३. अन्य सम्बन्धी विषय

१. प्रतिमामें देवत्व—दे० देव/I/१
२. देव प्रतिमामें नहीं हृदयमें है—दे० पूजा/३
३. प्रतिमाकी पूजाका निर्देश—दे० पूजा/३
४. जटा सहित प्रतिमाका निर्देश—दे० केश लौच/४
५. अष्ट मंगल द्रव्य—दे० अर्हन्त/१

२. चैत्यालय निर्देश

१. निश्चय व्यवहार चैत्यालय निर्देश

बो.पा /मू./८/९ बुद्धं च बोहंतो अप्पाणं चेतयाइं अण्ण च । पचमहव्व-यसुद्ध णाणमयं जाण चेदिहरं।८। चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ।९।

बो.पा /टी./८/७६/१३ कर्मतापन्नानि भव्यजीववृन्दानि बोधयन्तमात्मान चैत्यगृहं निश्चयचैत्यालयं हे जीव । त्वं जानीहि निश्चय कुरु ।· व्यवहारनयेन निश्चयचैत्यालयप्राप्तिकारणभूतेनान्यच्च दृपदिष्टका-काष्टादिरचिते श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञवीतरागप्रतिमाधिष्ठित चैत्यगृहं। =स्व व परकी आत्मा को जाननेवाला ज्ञानी आत्मा जिसमें बसता हो ऐसा पंचमहाव्रत संयुक्त मुनि चैत्यगृह है।८। जिनमार्गमे चैत्यगृह षट्काय जीवोका हित करनेवाला कहा गया है।९। कर्मबद्ध भव्य-जीवोके समूहको जाननेवाला आत्मा निश्चयसे चैत्यगृह या चैत्यालय है तथा व्यवहार नयसे निश्चय चैत्यालयके प्राप्तिका कारणभूत अन्य जो ईंट, पत्थर व काष्ठादि से बनाये जाते है तथा जिनमे भगवत् सर्वज्ञ वीतराग की प्रतिमा रहती है वह चैत्यगृह है।

* चैत्यालयमें देवत्व—दे० देव/I/१।

२. भवनवासी देवोंके चैत्यालयोंका स्वरूप

ति प/३/गा नं /भावार्थ—सर्व जिनालयोमें चार चार गोपुरोसे युक्त तीन कोट, प्रत्येक वीथी (मार्ग) में एकमें एक मानस्तम्भ व नौ स्तूप तथा

(कोटोके अन्तरालमे) क्रमसे वनभूमि, ध्वजभूमि और चैत्यभूमि होती है ।४४। वन भूमिमें चैत्यवृक्ष है ।४५। ध्वज भूमिमें गज आदि चिन्हो युक्त ८ महा ध्वजाएँ है । एक एक महाध्वजाके आश्रित १०८ क्षुद्र ध्वजाएँ है ।६४। जिनमन्दिरोमे देवच्छन्दके भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वान्ह तथा सनत्कुमार यक्षोकी मूर्तियाँ एवं आठ मगल द्रव्य होते है ।४८। उन भवनोमें सिंहासनादिसे सहित हाथमें चँवर लिये हुए नाग यक्ष युगलसे युक्त और नाना प्रकारके रत्नोसे निर्मित ऐसी जिन प्रतिमाएँ विराजमान है ।५२।

३. व्यंतर देवोंके चैत्यालयोंका स्वरूप

ति प /६/गा नं./सारार्थ—प्रत्येक जिनेन्द्र प्रासाद आठ मगल द्रव्योंसे युक्त है ।१३। ये दुदुभी आदिसे मुखरित रहते है ।१४। इनमें सिंहासनादि सहित, प्रातिहार्यो सहित, हाथमे चँवर लिये हुए नाग यक्ष देवयुगलोंसे संयुक्त ऐसी अकृत्रिम जिनप्रतिमाएँ है ।१५।

ति प /५/गा न /सारार्थ—प्रत्येक भवनमें ६ मण्डल है । प्रत्येक मण्डलमे राजागणके मध्य (मुख्य) प्रासादके उत्तर भागमे सुधर्मा सभा है । इसके उत्तरभागमें जिनभवन है ।१९०-२००। देव नगरियोके बाहर पूर्वादि दिशाओमे चार वन खण्ड है । प्रत्येकमें एक-एक चैत्य वृक्ष है । इस चैत्यवृक्षकी चारों दिशाओमें चार जिनेन्द्र प्रतिमाएँ है ।२३०।

४. कल्पवासी देवोके चैत्यालयोंका स्वरूप

ति प /८/गा.नं /सारार्थ—समस्त इन्द्र मन्दिरोके आगे न्यग्रोध वृक्ष होते है, इनमें एक-एक वृक्ष पृथिवी स्वरूप व पूर्वोक्त जम्बू वृक्षके सदृश होते है ।४०५। इनके मूलमें प्रत्येक दिशामें एक एक जिन प्रतिमा होती है ।४०६। सौधर्म मन्दिरकी ईशान दिशामें सुधर्मा सभा है ।४०७। उसके भी ईशान दिशामें उपपाद सभा है ।४१०। उसी दिशामें पाण्डुक वन सम्बन्धी जिनभवनके सदृश उत्तम रत्नमय जिनेन्द्र-प्रासाद है ।४११।

५. पांडुक वनके चैत्यालयका स्वरूप

ह पु /५/३६६-३७२ का संक्षेपार्थ—यह चैत्यालय झरोखा, जाली, झालर, मणि व घटियो आदिसे सुशोभित है । प्रत्येक जिनमन्दिरका एक उन्नत प्राकार (परकोटा) है । उसकी चारों दिशाओंमें चार गोपुर द्वार है । चैत्यालयकी दशों दिशाओंमें १०८,१०८ इस प्रकार कुल १०८० ध्वजाएँ है । ये ध्वजाएँ सिंह, हंस आदि दश प्रकारके चिन्होसे चिन्हित है । चैत्यालयोके सामने एक विशाल सभा मण्डप (सुधर्मा सभा) है । आगे नृत्य मण्डप है । उनके आगे स्तूप है । उनके आगे चैत्य वृक्ष है । चैत्य वृक्षके नीचे एक महामनोज्ञ पर्यंक आसन प्रतिमा विद्यमान है । चैत्यालयसे पूर्व दिशामे जलचर जीवो रहित सरोवर है । (ति प./४/१८५५-१९३५); (रा वा /३/१०/१३/१७८/२५), (ज प./४/४६-५३,६६), (ज प /५/१/५६), (त्रि सा /९८३-१०००) ।

६ मध्य लोकके अन्य चैत्यालयोंका स्वरूप

ज प /५/गा न का संक्षेपार्थ—जम्बूद्वीपके सुमेरु सम्बन्धी जिनभवनोके समान ही अन्य चार मेरुओंके, कुलपर्वतोके, वक्षार पर्वतोके तथा नन्दन वनोंके जिनभवनोका स्वरूप जानना चाहिए ।८६-९०। इसी प्रकार ही नन्दीश्वर द्वीपमें, कुण्डलवर द्वीपमें और मानुषोत्तर पर्वत व रुचक पर्वतपर भी जिनभवन है । भद्रशाल वनवाले जिनभवनके समान ही उनका तथा नन्दन, सौमनस व पाण्डुक वनोके जिनभवनो का वर्णन जानना चाहिए ।१२०-१२३।

७. जिन भवनोंमें रति व कामदेवकी मूर्तियाँ तथा उनका प्रयोजन

ह.पु /२९/२-५ अत्रैव कामदेवस्य रतेश्च प्रतिमां व्यधात् । जिनागारे समस्तायाः प्रजायाः कौतुकाय स ।२। कामदेवरतिप्रेक्षाकौतुकेन जगज्जनाः । जिनायतनमागत्य प्रेक्ष्य तत्प्रतिमाद्वयम् ।३। संविधान-कमाकर्ण्य तद् भाद्रकमृगध्वजम् । बहव प्रतिपद्यन्ते जिनधर्ममहर्दिवम् ।४। प्रसिद्धं गृहं जैन कामदेवगृहाख्यया । कौतुकागतलोकस्य जातं जिनमताप्तये ।५। =सेठने इसी मन्दिरमें समस्त प्रजाके कौतुकके लिए कामदेव और रतिकी भी मूर्ति बनवायी ।२। कामदेव और रतिको देखनेके लिए कौतूहलसे जगतके लोग जिनमन्दिरमें आते है और वहाँ स्थापित दोनो प्रतिमाओको देखकर मृगध्वज केवली और महिषका वृत्तान्त सुनते है, जिससे अनेको पुरुष प्रतिदिन जिनधर्मको प्राप्त होते है ।३-४। यह जिनमन्दिर कामदेवके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है । और कौतुकवश आये हुए लोगोके जिनधर्मकी प्राप्तिका कारण है ।५।

८. चैत्यालयोंमें पुष्पवाटिकाएँ लगानेका विधान

ति.प /४/१९७-१९९ का सक्षेपार्थ—उज्जाणेहि सोहदि विविहेहिं जिणिंदपासादो ।१९७। तस्सिं जिणिंदपडिमा ।१९९। =(भरत क्षेत्रके विजयार्धपर स्थित) जिनेन्द्र प्रासाद विविध प्रकारके उद्यानोसे शोभायमान है ।१९७। उस जिनमन्दिरमें जिनप्रतिमा विराजमान है ।१९९।

सा ध /२/४० सत्रमप्यनुकम्प्यानां सृजेदनुजिघृक्षया । चिकित्साशाल-वदुष्येन्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ।४०। =पाक्षिक श्रावकोको जीव दयाके कारण औषधालय खोलना चाहिए, उसी प्रकार सदाव्रत शालाएँ व प्याऊ खोलनी चाहिए और जिनपूजाके लिए पुष्पवाटिकाएँ बावडी व सरोवर आदि बनवानेमें भी हर्ज नही है ।

३. चैत्यालयोंका लोकमें अवस्थान, उनकी संख्या व विस्तार

१. देव भवनोंमें चैत्यालयोंका अवस्थान व प्रमाण

ति.प /अधि./गा नं. संक्षेपार्थ—भवनवासीदेवोके ७,७२०००,०० भवनोकी वेदियोके मध्यमे स्थित प्रत्येक कूटपर एक एक जिनेन्द्र भवन है । (३।४३) (त्रि सा /२०८) रत्नप्रभा पृथिवीमें स्थित व्यन्तरदेवोंके ३०,००० भवनोके मध्य वेदीके ऊपर स्थित कूटोंपर जिनेन्द्र प्रासाद है (६।१२) । जम्बूद्वीपमें विजय आदि देवोंके भवन जिनभवनोसे विभूपित है (५।१८१) । हिमवान पर्वतके १० कूटोपर व्यन्तरदेवोंके नगर है, इनमें जिन भवन है (४।१६५७) । पद्म ह्रदमे कमल पुष्पोंपर जितने देवोके भवन कहे है उतने ही वहाँ जिनगृह है (४।१६९२) । महाह्रदमें जितने ही देवीके प्रासाद है उतने ही जिनभवन है (४।१७२६) । लवण समुद्रमें ७२०००+४२०००+२८००० व्यतर नगरियाँ है । उनमें जिनमन्दिर है (४।२४५५) । जगत्प्रतरके संख्यात भागमें ३०० योजनोके वर्गका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतना व्यन्तर लोकमें जिनपुरोंका प्रमाण है (६।१०२) । व्यंतर देवोके भवनो आदिका अवस्थान व प्रमाण—(दे० व्यतर/४) । ज्योतिष देवोंमें प्रत्येक चन्द्र विमानमें (७।४२); प्रत्येक सूर्यविमानमें (७।७१), प्रत्येक ग्रह विमानमें (७।८७); प्रत्येक नक्षत्र विमानमे (७।१०६); प्रत्येक तारा विमानमें (७।११३), राहुके विमानमें (७।२०४); केतु विमानमें (७।२७५) जिनभवन स्थित है । इन चन्द्रादिकोंकी निज निज राशिका जो प्रमाण है उतना ही अपने-अपने नगरों व जिन भवनोका प्रमाण है (७।११४) । इस प्रकार ज्योतिष लोकमें असंख्यात चैत्यालय

झाव दशमीव्रत—झाव दशमीव्रत दश दशपुरी। दश श्रावक दे भोजन करी।

नोट—यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है। (नवलसाह कृत वर्द्धमान पुराण), (व्रत विधान संग्रह/पृ० १३०)

झूठ—दे० असत्य।

[ट]

टंक—(ध. १४/५.६.६४१/४९५/४)—सिलामयपव्वएसु उक्किण्णवावी-कूव-तलाय-जिणधरादीणि टंकाणि णाम।=शिलामय पर्वतोंमें उकीरे गये वापी, कुँआ, तालाब, और जिनघर आदि टंक कहलाते है।

टंकण—ऐरावती नदी व गिरिकूट पर्वतके निकट स्थित एक नगर—दे० मनुष्य/४।

टंकोत्कीर्ण—(प्र सा./त. प्र./५१) क्षायिकं हि ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्ण-न्यायावस्थित समस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वम्। = वास्तव मे क्षायिक (केवल) ज्ञान अपनेमे समस्त वस्तुओंके ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्यायसे स्थित होनेसे जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है।

टिप्पणी—गणित विषयक Notes (ध. ५/प्र. २७)।

टीका—(क. पा. २/१,२२/§२१/१४/८) वित्तिसुत्तविवरणाए टीकाव-वएसादो।=वृत्तिसूत्रके विशद व्याख्यानको टीका कहते है।

टोडर मल—नगर जयपुर, पिताका नामजोगीदास, माताका नाम रम्भादेवी, गोत्र गोदीका (बड जातीया), जाति खण्डेलवाल, पथ-तेरापंथ, गुरु वंशीधर थे। व्यवसाय साहूकारी था। जैन आम्नायमें आप अपने समयमें एक क्रान्तिकारी पण्डित हुए हैं। आपके दो पुत्र थे हरिचन्द व गुमानीराम। आपने निम्न रचनाएँ की हे—१ गोमट्ट-सार; २ लब्धिसार; ३ क्षपणसार, ४. त्रिलोकसार, ५ आत्मानु-शासन, ६ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय—इन छह ग्रन्थोंकी टीकाएँ। ७, गोमट्टसार व लब्धिसारकी अर्थ सदृष्टियाँ, ८ गोम्मट्टसार पूजा, ९. मोक्षमार्ग प्रकाशक, १०. रहस्यपूर्ण चिट्ठी। आप शास्त्र रचनामे इतने सलग्न रहते थे कि ६ महीने तक, जब तक कि गोम्मट्टसारकी टीका पूर्ण न हो गयी, आपको यह भी भान न हुआ कि माता भोजनमें नमक नहीं डालती है। आप अत्यन्त विरक्त थे। उनकी विद्वत्ता व अजेय तर्कोंसे चिडकर किसी विद्वेषीने राजासे उनकी चुगुली खायी। फल स्वरूप केवल ३२ वर्षकी आयुमें उन्हें हाथीके पाँव तले रौदकर मार डालनेका दण्ड दिया गया, जिसे उन्होने सहर्ष स्वीकार ही न किया बल्कि इस पापकार्यमें प्रवृत्ति न करते हुए हाथीको स्वय सम्बोधकर प्रवृत्ति भी करायी। समय—वि० स० १७९३ (ई० १७३६); (मो. मा. प्र/प्र.९/प परमानन्द शास्त्री)।

[ड]

डड्ढा—चित्रकूट (चित्तौडगढ) के निवासी एक पण्डित थे। श्रीपलादे पुत्र तथा प्राग्वाट (पोरवाड या परवार) जातीय वैश्य थे। आपने दिगम्बर पच संग्रहके आधारपर एक संस्कृत पंचसंग्रह नामक ग्रन्थ लिखा है। समय—वि० श० १७। (प. सं प्र. ४१/ 1 N up)

[ढ]

ढूंढिया मत—दे० श्वेताम्बर।

[ण]

णमोकार पैंतीसी व्रत—आषाढ शु० से आसोज शु ८ तक सप्तमियाँ, कार्तिक कृ० ५ से पौष कृ० ५ तक ५ पञ्चमियाँ, पौष कृ० १४ से आषाढ शु० १४ तक १४ चतुर्दशियाँ; श्रावण कृ० ९ से आसोज कृ० ९ तक ९ नवमियाँ, इस प्रकार ३५ तिथियोंमें ३५ उपवास करे। णमोकार मन्त्रको त्रिकाल जाप्य करे। नमस्कार मन्त्रकी ही पूजा करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ ४५)।

णमोकार मन्त्र—दे० मन्त्र/२।

णिक्खोदिस—दे० निक्षेप/५/६।

[त]

तंदुल मत्स्य—दे० सम्मूर्च्छन/७

तंतुचारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

तंत्र—दे० मंत्र।

तंत्र सिद्धांत—तंत्र सिद्धांतके लक्षण व भेदादि—दे० सिद्धांत।

तक्षशिला—वर्तमान टैक्सिला। उत्तर पंजाबका एक प्रसिद्ध नगर। (म पु/प्र ४९ प पन्नालाल)। सिन्ध नदीसे जेहलम तकके समस्त प्रदेशका नाम तक्षशिला था। जिसपर सिकन्दरके समय राजा अम्भी राज्य करता था। (वर्तमान भारतका इतिहास)

तत्—स.सि /१/२/८/३ तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। ='तत' यह सर्वनाम पद है। और सर्वनाम सामान्य पदमें रहता है। (रा वा/१/२/५/१९/३९), (ध १३/५.५.५०/२८५/११)

ध १/१,१,३/१३२/४ तच्छब्द पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी इति। ='तत' शब्द पूर्व प्रकरणमें आये हुए अर्थका परामर्शक होता है।

प ध /३१२ 'तद्' भावविचारे परिणामो सदृशो वा। =तत्के कथनमें सदृश परिणाम विवक्षित होता है।

२ द्रव्यमें तत धर्म—दे० अनेकान्त/४।

ततक—द्वितीय नरकका प्रथम पटल। दे० नरक/५।

तत्प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान—दे० 'प्रत्यभिज्ञान'।

तत्प्रदोष—गो क /जी प्र /८००/९७९/६ तत्त्वप्रदोषतत्त्वज्ञाने हर्षाभाव'। =तत्त्वज्ञानमे हर्षका न होना तत्प्रदोष कहलाता है।

तत्प्रमाण—दे० प्रमाण/५।

तत्प्रायोगिक शब्द—दे० 'शब्द'।

तत्त्व—चौथे नरकका चौथा पटल—दे० नरक/५।

तत्त्व—प्रयोजनभूत वस्तुके स्वभावको तत्त्व कहते हैं। परमार्थमें एक शुद्धात्मा ही प्रयोजनभूत तत्त्व है। वह संसारावस्थामें कर्मोंसे बँधा हुआ है। उसको उस बन्धनसे मुक्त करना इष्ट है। ऐसे हेय व उपा-देयके भेदसे वह दो प्रकारका है अथवा विशेष भेद करनेसे, वह सात प्रकारका कहा जाता है। यद्यपि पुण्य व पाप दोनों ही आस्रव हैं, परन्तु संसारमें इन्हीं दोनोंकी प्रसिद्धि होनेसे कारण इनका पृथक् निर्देश करनेसे ये तत्त्व नौ हो जाते हैं।

१. भेद व लक्षण

१. तत्त्वका अर्थ

१. वस्तुका निज स्वरूप

स.सि./२/१/१५०/११ तद्‌ भावस्तत्त्वम्। =जिस वस्तुका जो भाव है वह तत्त्व है। (स.सि./५/४२/३१७/१); (ध.१३/५,५,५०/२८५/११); (मो.मा.प्र./४/८०/१४)

रा.वा/२/१/६/१००/२५ स्वं तत्त्वं स्वतत्त्वं, स्वोभावोऽसाधारणो धर्मः। =अपना तत्त्व स्वतत्त्व होता है, स्वभाव असाधारण धर्मको कहते है। अर्थात् वस्तुके असाधारण रूप स्वतत्त्वको तत्त्व कहते है।

स.श./टी./३५/२३५ आत्मनस्तत्त्वमात्मनःस्वरूपम्। =आत्म तत्त्व अर्थात् आत्माका स्वरूप।

स.सा./आ./३५६/४६१/७ यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति···इति तत्त्व सम्बन्धे जीवति। =जिसका जो होता है वह वही होता है·· ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित होनेसे।

२. यथावस्थित वस्तु स्वभाव

स.सि./१/२/८/३ तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। कथम्? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। =तत्त्व शब्द भाव सामान्य वाचक है, क्योकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमें रहता है अतः उसका भाव तत्त्व कहलाया। यहाँ तत्त्व पदसे कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है, उसका उस रूप होना यही यहाँ तत्त्व शब्दका अर्थ है। (रा.वा/१/२/१/१९/६); (रा.वा/१/२/५/१९/१६); (भ.आ./वि./५६/१५०/१६); (स्या.म./२५/२९६/१५)

३. सत्, द्रव्य, कार्य इत्यादि

न.च./४ तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं परम एयट्ठा हुंति अभिहाणा।४। =तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, परमपरम, ध्येय, शुद्ध और परम ये सब एकार्थवाची शब्द है।

गो.जी./जी.प्र./५६१/१००६ आर्या न.१ प्रदेशप्रचयात्काया द्रवणाद्द्रव्यनामकाः। परिच्छेद्यत्वतस्तेऽर्थाः तत्त्वं वस्तु स्वरूपतः।१। =बहुत प्रदेशनिका प्रचय समूहकौ धरैं है तातै काय कहिये। बहुरि अपने गुण पर्यायनिकौ द्रवैं है तातै द्रव्यनाम कहिए। जीवनकरि जानने योग्य है तातै अर्थ कहिए, बहुरि वस्तुस्वरूपपनाकौ धरै है तातैं तत्त्व कहिए।

प.ध./पू./८ तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्। तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च।८। =तत्त्वका लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है। जिस कारणसे कि वह स्वभावसे ही सिद्ध है, इसलिए वह अनादि निधन है, वह स्वसहाय है और निर्विकल्प है।

४. अविपरीत विषय

रा.वा./१/२/१/१९/८ अविपरीतार्थविषयं तत्त्वमित्युच्यते। =अविपरीत अर्थके विषयको तत्त्व कहते है।

५. श्रुतज्ञानके अर्थमें

ध.१३/५,५,५०/२८५/११ तदिति विधिस्तस्य भावस्तत्त्वम्। कथं श्रुतस्य विधिव्यपदेश? सर्वनयविषयाणामस्तित्वविधायकत्वात्। तत्त्व श्रुतज्ञानम्। ='तत्' इस सर्वनामसे विधिकी विवक्षा है, 'तत्'का भाव तत्त्व है। प्रश्न—श्रुतकी विधि संज्ञा कैसे है? उत्तर—चूँकि वह सब नयोके विषयके अस्तित्व विधायक है, इसलिए श्रुतकी विधि संज्ञा उचित ही है।। तत्त्व श्रुतज्ञान है। इस प्रकार तत्त्वका विचार किया गया है।

२. तत्त्वार्थका अर्थ

नि.सा./मू./९ जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं। तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।९। =जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश, यह तत्त्वार्थ कहे हैं, जो कि विविध गुणपर्यायोसे संयुक्त है।

स.सि./१/२/८/५ अर्यत इत्यर्थो निश्चीयत इति यावत्। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः अथवा भावेन भाववतोऽभिधानम्, तदव्यतिरेकात्। तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः। =अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - अर्यते निश्चीयते इत्यर्थ. =जो निश्चय किया जाता है। यहाँ तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दोंके संयोगसे तत्त्वार्थ शब्द बना है जो 'तत्त्वेन अर्थः तत्त्वार्थ'' ऐसा समास करनेपर प्राप्त होता है। अथवा भाव द्वारा भाववाले पदार्थका कथन किया जाता है, क्योंकि भाव भाववालेसे अलग नहीं पाया जाता है। ऐसी हालतमें इसका समास होगा 'तत्त्वमेव अर्थ' तत्त्वार्थ'।'

रा.वा./१/२/६/१९/२३ अर्यते गम्यते ज्ञायते इत्यर्थः, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। येन भावेनार्थो व्यवस्थितस्तेन भावेनार्थस्य ग्रहणं (तत्त्वार्थः)। =अर्थ माने जो जाना जाये। तत्त्वार्थ माने जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे ग्रहण।

३. तत्त्वोंके ३, ७ या ९ भेद

त.सू./१/४ जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।७। =जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व है। (न.च./१५०)

नि.सा./ता.वृ./५/१२/१ तत्त्वानि बहिस्तत्त्वान्तस्तत्त्वपरमात्मतत्त्वभेदभिन्नानि अथवा जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदात्सप्तधा भवन्ति। =तत्त्व बहिस्तत्त्व और अन्तस्तत्त्व रूप परमात्म तत्त्व ऐसे (दो) भेदो वाले हैं। अथवा जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ऐसे भेदोके कारण सात प्रकारके है। (इन्हींमें पुण्य, पाप और मिला देनेपर तत्त्व नौ कहलाते है)। नौ तत्त्वोंका नाम निर्देश—दे० पदार्थ।

★ **गरुड तत्त्व आदि ध्यान योग्य तत्त्व**—दे० वह वह नाम।

★ **परम तत्त्वके अपर नाम**—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

२. सप्त तत्त्व व नव पदार्थ निर्देश

१. तत्त्व वास्तवमें एक है

स.सि./१/४/१६/१ तत्त्वशब्दो भाववाचीत्युक्तः। स कथं जीवादिभिर्द्रव्यवचनैः समानाधिकरण्यं प्रतिपद्यते? अव्यतिरेकात्तद्भावाध्यारोपाच्च समानाधिकरण्य भवति। यथा उपयोग एवात्मा इति। यद्येवं तत्तल्लिङ्गसङ्ख्यानुव्यतिक्रमो न भवति। =प्रश्न—तत्त्व शब्द भाववाची है इसलिए उसका द्रव्यवाची जीवादि शब्दोके साथ समानाधिकरण कैसे हो सकता है? उत्तर—एक तो भाव द्रव्यसे अलग नही पाया जाता, दूसरा भावमें द्रव्यका अध्यारोप कर लिया जाता है इसलिए समानाधिकरण बन जाता है। जैसे—'उपयोग ही आत्मा है' इस वचनमे गुणवाची उपयोगके साथ द्रव्यवाची आत्मा शब्दका समानाधिकरण है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है, तो विशेष्यका जो लिंग और सख्या है वही विशेषणको भी प्राप्त होते हैं? उत्तर—व्याकरणका ऐसा नियम है कि 'विशेषण विशेष्य सम्बन्धके रहते हुए भी शब्द शक्तिकी अपेक्षा जिसने जो लिग और सख्या प्राप्त कर ली है उसका उल्लंघन नहीं होता' 'अत' यहाँ विशेष्य और विशेषणके लिंगके पृथक्-पृथक् रहनेपर भी कोई दोष नही है। (रा.वा./१/४/२९-३०/२७)

रा.वा /२/१/१६/१०१/२७ ओपशमिकादिपञ्चतयभावसामानाधिकरण्यात्तत्त्वस्य बहुवचनं प्राप्नोतीति, तन्न, किं कारणम् । भावस्यैकत्वात्, 'तत्त्वम्' इत्येष एको भावः । =प्रश्न—औपशमिकादि पाँच भावोंके समानाधिकरण होनेसे 'तत्त्व' शब्दके बहुवचन प्राप्त होता है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि सामान्य स्वतत्त्वकी दृष्टिसे यह एकवचन निर्देश है।

पं.ध./उ/१८६ ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम् । शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ।१८६। =शुद्ध तत्त्व कुछ उन तत्त्वोंसे विलक्षण अर्थान्तर नहीं है, किन्तु केवल नव सम्बन्धी विकारको छोडकर नव तत्त्व ही शुद्ध है। (पं ध /उ./१५५)

२. सात तत्त्व या नौपदार्थोंमें केवल जीव व अजीव ही प्रधान है

स.सा./आ /१३/३१ विकार्यविकारकोभय पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रव , सवार्यसंवारकोभय सवर', निर्जर्यनिर्जरकोभय निर्जरा, बन्ध्यबन्धकोभयं बन्ध', मोच्यमोचकोभयं मोक्ष , स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः । तदुभय च जीवाजीवाविति । =विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला दोनों पुण्य है तथा दोनो पाप है, आस्रव होने योग्य और आस्रव करनेवाला दोनो आस्रव है, संवर रूप होने योग्य और संवर करनेवाला—दोनों संवर है, निर्जरा होनेके योग्य और निर्जरा करनेवाला दोनो निर्जरा है बँधनेके योग्य और बन्धन करनेवाला—दोनो बन्ध है, और मोक्ष होने योग्य और मोक्ष करनेवाला—दोनो मोक्ष है, क्योंकि एकके ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षकी उत्पत्ति नहीं बनती। वे दोनो जीव और अजीव है।

प.ध /उ/१५२ तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ । स्वद्रव्याद्यै रनन्यत्वाद्वस्तुत. कर्तृकर्मणो' ।१५२। =ये नव तत्त्व केवल जीव और पुद्गल रूप हैं, क्योंकि वास्तवमें अपने द्रव्य क्षेत्रादिकके द्वारा कर्ता तथा कर्ममें अन्यत्व है—अनन्यत्व नहीं है।

३. शेष ५ तत्त्वों या ७ पदार्थोंका आधार एक जीव ही है

पं ध /उ./२६ आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोऽधिष्ठानमन्वयात् ।

प.ध./उ /१५५ अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते । तदात्वेऽपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ।१५५। =आस्रवादि शेष तत्त्वोंमें जीवका आधार है।२६। अर्थात् एक जीव ही जीवादिक नव पदार्थ रूप होकरके विराजमान है, और उन नव पदार्थोंकी अवस्थामें भी यदि विशेष दशाकी विवक्षा न की जावे तो केवल शुद्ध जीव ही अनुभवमें आता है। (पं.ध /उ./१३८)

४. शेष ५ तत्त्व या सात पदार्थ जीव अजीवकी ही पर्याय है

पं.का /ता.वृ /१२८-१३०/१९२/११ यतस्तेऽपि तयो एव पर्याया इति । =आस्रवादि जीव व अजीवकी पर्याय है।

द्र.सं /मू व टी /२८/८५ आसव बधण सवर णिज्जर समुण्णपावा जे। जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ।२८। चैतन्या अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतनाः कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्येत्यर्थ. ।

द्र स /चूलिका/२८/८५/२ आस्रवबन्धपुण्यपापपदार्थाः जीवपुद्गलसयोगपरिणामरूपविभावपर्यायेणोत्पद्यन्ते । सवरनिर्जरामोक्षपदार्थाः पुनर्जीवपुद्गलसयोगपरिणामविनाशोत्पन्नेन विवक्षितस्वभावपर्यायेणेति स्थितम् । =जीव, अजीवके भेदरूप जो आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ऐसे सात पदार्थ हैं।२८। चेतन्य आस्रवादि तो जीवके अशुद्ध परिणाम है और जो अचेतन कर्मपुद्गलोकी पर्याय है वे अजीवके है। आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गलके संयोग परिणामस्वरूप जो विभाव पर्याय है उनमे उत्पन्न होते है। और सवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ जीव और पुद्गलके सयोग रूप परिणामके विनाशसे उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है, उससे उत्पन्न होते है, यह निर्णीत हुआ।

श्लो.वा २/१/४/४८/१५६/६ जीवाजीवौ हि धर्मिणौ तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति । धर्मिधर्मात्मिक तत्त्वं सप्तविधमुक्तम् । =सात तत्त्वोंमें जीव और अजीव दो तत्त्व तो नियमसे धर्मी है। तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तो उन जीव तथा अजीवके धर्म है। इस प्रकार दो धर्मी स्वरूप और पाँच धर्म स्वरूप ये सात प्रकारके तत्त्व उमास्वामी महाराजने कहे है।

५. जीव पुद्गलके निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे इनकी उत्पत्ति होती है

द्र. स./चूलिका/२८/८१-८२/६ कथंचित्परिणामित्वे सति जीवपुद्गलसंयोगपरिणतिनिर्वृत्तत्वादास्रवादिसप्तपदार्था घटन्ते । =इनके कथंचित् परिणामित्व (सिद्ध) होनेपर जीव और पुद्गलके सयोगसे बने हुए आस्रवादि सप्त पदार्थ घटित होते है।

पं.ध /उ /१५४ किन्तु सबन्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् । नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ।१५४। =परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त उन दोनो जीव और पुद्गलोके ही नैमित्तिक निमित्त सम्बन्धसे होनेवाले भाव ये नव पदार्थ है। और भी —दे० ऊपर शीर्षक न. ४।

६. पुण्य पापका आस्रव बन्धमें अन्तर्भाव करनेपर ९ पदार्थ ही सात तत्त्व बन जाते हैं

द्र. स./चूलिका/२८/८१/११ नव पदार्था । पुण्यपापपदार्थद्वयस्याभेदनयेन कृत्वा पुण्यपापयोर्बन्धपदार्थस्य वा मध्ये अन्तर्भावविवक्षया सप्ततत्त्वानि भण्यन्ते । =नौ पदार्थोंमें पुण्य और पाप दो पदार्थोंका सात पदार्थोंसे अभेद करनेपर अथवा पुण्य और पाप पदार्थका बन्ध पदार्थमें अन्तर्भाव करनेपर सात तत्त्व कहे जाते है।

पुण्य व पापका आस्रवमें अन्तर्भाव—दे० पुण्य/२/४।

३. तत्त्वोपदेशका कारण व प्रयोजन

१. सप्त तत्त्व निर्देश व उसके क्रमका कारण

स.सि /१/४/१४/६/सर्वस्य फलस्यात्माधीनत्वात्तदनन्तरमास्रवग्रहणम् । तत्पूर्वकत्वात्तदनन्तरं बन्धाभिधानम् । सवृतस्य बन्धाभावात्तत्प्रत्यनीकप्रतिपत्त्यर्थं तदनन्तरं सवरवचनम् । सवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदन्तिके निर्जरावचनम् । अन्ते प्राप्यत्वान्मोक्षस्यान्ते वचनम् । .. इह मोक्ष प्रकृत सोऽवश्यं निर्देष्टव्य । स च संसारपूर्वक ससारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च । मोक्षस्य प्रधानहेतु सवरो निर्जरा च । अत. प्रधानहेतुहेतुमत्फलनिदर्शनार्थत्वात्पृथगुपदेश कृत । =सब फल जीवको मिलता है। अत' सूत्रके प्रारम्भमें जीवका ग्रहण किया है। अजीव जीवका उपकारी है यह दिखलानेके लिए जीवके बाद अजीवका कथन किया है। आस्रव जीव और अजीव दोनोंको विषय करता है अत इन दोनोके बाद आस्रवका ग्रहण किया है। बन्ध आस्रव पूर्वक होता है, इसलिए आस्रवके बाद बन्धका कथन किया है। सवृत जीवके बन्ध नहीं होता, अत सवर बन्धका

स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय चैतन्यात्मक और जीव संज्ञा वाला है वह मैं उपादेय हूँ तथा ये मुझसे भिन्न पौद्गलिक रागादिक भाव त्याज्य है।

द्र.सं /चूलिका/२८/८२/५ हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादि-पदार्थाः व्याख्येया भवन्ति। =कौन तत्त्व हेय है और कौन तत्त्व उपादेय है इस विषयके परिज्ञानके लिए आस्रवादि तत्त्वोंका व्याख्यान करने योग्य है।

मो.मा प्र./७/३३१/१३ यहु जीवकी क्रिया है, ताका पुद्गल निमित्त है, यहु पुद्गलकी क्रिया है, ताका जीव निमित्त है इत्यादि भिन्न-भिन्न भाव भासे नाहीं तातैं जीव अजीव जाननेका प्रयोजन तो यही था।

भा पा /टी./११४ प. जयचन्द =प्रथम जीव तत्त्वकी भावना करनी, पीछे 'ऐसा मैं हूँ' ऐसे आत्म तत्त्वकी भावना करनी। दूसरे अजीव तत्त्वकी भावना करनी जो यह मैं नाहीं हूँ। तीसरा आस्रव तत्त्व तै संसार होय है तातै तिनिका कर्ता न होना। चौथा बन्धतत्त्व तै मेरे विभाव तथा पुद्गल कर्म सर्व हेय है (अतः) मोकूं राग द्वेष मोह न करना। पाँचवाँ तत्त्व संवर है सो अपना भाव है याही करि भ्रमण मिटै है ऐसे इन पाँच तत्त्वनि की भावना करनेमें आत्म-तत्त्व की भावना प्रधान है। (इस प्रकार) आत्म भाव शुद्ध अनुक्रम तै होना तो निर्जरा तत्त्व भया। और (तिन छहका फलरूप) सर्व कर्मका अभाव होना मोक्ष भया।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. सप्त तत्त्व नव पदार्थके व्याख्यानका प्रयोजन कर्ता कर्म रूप भेद विज्ञान —दे० ज्ञान/II/१।
२. सप्त तत्त्व श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान —दे० सम्यग्दर्शन/II/१।
३. सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टिके तत्त्वोंका कर्तृत्व —दे० मिथ्यादृष्टि/४।
४. मिथ्यादृष्टिका तत्त्व विचार मिथ्या है —दे० मिथ्यादृष्टि/३।
५. तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान करनेका उपाय —दे० न्याय।

तत्त्वज्ञान तरंगिनी—आचार्य ज्ञानभूषण (ई० १४४७-१४६५) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें १७ अधिकार है तथा कुल ३७४ श्लोक प्रमाण है।

तत्त्वत्रय प्रकाशिका—आचार्य शुभचन्द्र (ई० १००३-११८) कृत ज्ञानार्णवके गद्य भागपर की गयी आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत संस्कृत टीका जिसमें शिवतत्त्व, गरुड तत्त्व और काम तत्त्व, इन तत्त्वोंका वर्णन है।

तत्त्व दीपक—आ० ब्रह्मदेव (ई० १२९२-१३२३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित एक आध्यात्मिक ग्रन्थ।

तत्त्व निर्णय—आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित न्याय विषयक ग्रन्थ।

तत्त्व प्रकाशिका—आ० योगेन्दुदेव (ई० श० ६) द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्रकी प्राकृत भाषा-बद्ध टीका है।

तत्त्व प्रदीपिका—प्रवचनसार व पचास्तिकाय दोनों ग्रन्थोंकी आ० अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०५५) द्वारा रचित संस्कृत टीकाओंका यही नाम है।

तत्त्ववतीधारणा—

ज्ञा /३७/२९/३८५ सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्। सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी।२८। =तत्पश्चात् (वारुणी धारणाके पश्चात्) संयमी मुनि सप्त धातुरहित, पूर्णचन्द्रमाके समान है निर्मल प्रभा जिसकी ऐसे सर्वज्ञ समान अपने आत्माका ध्यान करै।२८। विशेष—दे० पिंडस्थ ध्यान का लक्षण।

* **ध्यान सम्बन्धी ६ तत्त्व**—दे० ध्येय।
* **प्राणायाम सम्बन्धी तत्त्व**—दे० ध्येय।

तत्त्व शक्ति—स.सा./आ./परि० शक्ति नं० २९ तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। =तत्स्वरूप होना जिसका स्वरूप है ऐसी उनतीसवीं तत्त्वशक्ति है, जो वस्तुका स्वभाव है उसे तत्त्व कहते है वही तत्त्व-शक्ति है।

तत्त्वसार—आ० देवसेन (ई० ८९३-९४३) द्वारा रचित प्राकृत गाथा-बद्ध ग्रन्थ है।

तत्त्वानुशासन—१. आ० समन्तभद्र (ई०श० २) द्वारा रचित यह ग्रन्थ न्याय पूर्वक तत्त्वोंका अनुशासन करता है। संस्कृत बद्ध है, २. आ० नागसेन (ई०श० १२) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध अध्यात्म विषयक ग्रन्थ। इसमें २५९ श्लोक है। ३. आ० रामसेन (ई०श० १२-१३) द्वारा रचित ग्रन्थ।

तत्त्वार्थ—दे० तत्त्व/१।

तत्त्वार्थ बोध—प. बुधजन (ई० १८१४) द्वारा रचित भाषा छन्द बद्ध तत्त्वार्थ विषयक कृति।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक—दे० राजवार्तिक।

तत्त्वार्थसार—राजवार्तिकालंकारके आधारपर लिखा गया यह ग्रन्थ तत्त्वार्थका प्ररूपक है। आ० अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०५५) द्वारा संस्कृत श्लोकोंमें रचा गया है। इसमें ९ अधिकार और कुल ७२० श्लोक हैं।

तत्त्वार्थसार दीपक—आ० सकलकीर्ति (ई० १४३३-१४७३) कृत एक रचना।

तत्त्वार्थ सूत्र—आ० उमास्वामी (ई० १७९-२२०) कृत मोक्षमार्ग, तत्त्वार्थ व दर्शन विषयक १० अध्यायोंमें सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। कुल सूत्र ३५७ है। इसीको मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनोंको समान रूपसे मान्य है। जैन आम्नायमें यह सर्व प्रधान सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है। जैन दर्शन प्ररूपक होनेके कारण यह जैन बाइबलके रूपमे समझा जाता है। इसके मंगलाचरण रूप प्रथम श्लोकपर ही आ० समन्तभद्र (ई०श० २) ने आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) की रचना की थी, जिसकी पीछे अकलंकदेव (ई० ६४०-६८०) ने ८०० श्लोक प्रमाण अष्टशती नामकी टीका की। आगे आ० विद्यानन्दि नं० १ (ई० ७७५-८४०) ने इस अष्टशतीपर भी ८००० श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नामकी व्याख्या की। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थपर अनेकों भाष्य व टीकाएँ उपलब्ध है—१. आ० उमास्वामी कृत (ई० १७९-२२०) तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (संस्कृत), २ आ० समन्त-भद्र (ई० २) विरचित ९६०० श्लोक प्रमाण गन्धहस्ति महाभाष्य; ३. श्री पूज्यपाद (ई० श० पू०) विरचित सर्वार्थसिद्धि, ४ योगीन्द्र देव विरचित तत्त्व प्रकाशिका (ई० श० ६) ५. श्री अकलंक भट्ट (ई० ६४०-६८०) विरचित तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ६ श्री अभयनन्दि (ई० श० १०-११) विरचित तत्त्वार्थ वृत्ति, ७ श्री विद्यानन्दि (ई०७७५-८४०) विरचित श्लोकवार्तिक। ८. आ० शिवकोटि (ई०श० ११) द्वारा रचित रत्नमाला नामकी टीका। ९. आ० भास्करनन्दि (ई० श० १३) कृत सुखबोध नामक टीका। १०. आ० बालचन्द्र (ई० १३५०) कृत कन्नड टीका। ११ विबुधसेनाचार्य (?) विरचित तत्त्वार्थ टीका। १२. योग देव (?) विरचित तत्त्वार्थ वृत्ति। १३. लक्ष्मी देव (?) विरचित तत्त्वार्थ टीका। १४. आ० श्रुतसागर

५	**शंका-समाधान**
१	देवादि पदोंकी प्राप्तिका कारण तप निर्जराका कारण कैसे।
*	तपकी प्रवृत्तिमें निवृत्तिका अंश ही संवरका कारण है —दे० संवर/४।
२	दुःख प्रदायक तपसे असाताका आस्रव होना चाहिए।
३	तपसे इन्द्रिय दमन कैसे होता है।
६	**तप धर्म भावना व प्रायश्चित्त निर्देश**
*	धर्मसे पृथक् पुनः तपका निर्देश क्यों —दे० निर्जरा/३/४।
*	कायक्लेश तप व परिषहजयमें अन्तर —दे० कायक्लेश।
१	शक्तितस्तप भावनाका लक्षण
२	शक्तितस्तप भावनामें शेष १५ भावनाओंका समावेश
*	शक्तितस्तप भावनासे ही तीर्थंकर प्रकृतिका सम्भव —दे० भावना/२।
३	तप प्रायश्चित्तका लक्षण।
*	तप प्रायश्चित्तके अतिचार —दे० वह वह नाम।
*	तप प्रायश्चित्त किस अपराधमें तथा किसको दिया जाता है। —दे० प्रायश्चित्त/४।

१. भेद व लक्षण

१. तपका निश्चय लक्षण—१-निरुक्त्यर्थ।

स. सि./९/६/४१२/११ कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः। =कर्मक्षयके लिए जो तपा जाता है वह तप है। (रा. वा./९/६/१७/५९८/३); (त. सा./६/१८/३४४)।

रा. वा./९/१९/१८/६१९/३१ कर्मदहनात्तपः।२८। =कर्मको दहन अर्थात् भस्म कर देनेके कारण तप कहा जाता है।

चा. वि./१/६८ कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्। =सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले साधुके द्वारा जो कर्मरूपी मैलको दूर करनेके लिए तपा जाता है उसे तप कहा गया है (चा. सा./१३३/४)।

२. आत्मनि प्रतपन

बा. अ./७७ विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसिज्झीए। जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।७७। =पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंको तथा चारों कषायोंको रोककर शुभध्यानकी प्राप्तिके लिए जो अपनी आत्माका विचार करता है, उसके नियमसे तप होता है।

प्र. सा./त. प्र./१४/१६/३ स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च तपः। =स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होनेसे.. तपयुक्त है। (प्र. सा./ता. वृ./७९/१००/१२), (द्र. स./५२/२१९/३)।

नि. सा./ता. वृ./५५,११८, १२३ सहजनिश्चयनयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः।५५। प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनं यत्तत्तपः।११८। आत्मानमात्मन्यात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनम्। =सहज निश्चय नयात्मक परमस्वभावस्वरूप परमात्मामें प्रतपन सो तप है।५५। प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्त्वमें सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप है।११८। आत्माको आत्मामें आत्माने धारण कर रखता है—टिका रखता है—जोड़ रखता है वह अध्यात्म है और वह अध्यात्म सो तप है।

३. इच्छा निरोध

मोक्ष पंचाशत्/४८ तस्माद्वीर्यसमुद्रेकादिच्छारोधस्तपो विदुः। बाह्यं वाक्कायसंभूतमान्तरं मानसं स्मृतम्।४८। =वीर्यका उद्रेक होनेके कारणसे इच्छा निरोधको तप कहते हैं।

ध. १३/५,४,२६/५४/१२ तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो। =तीनों रत्नोंको प्रगट करनेके लिए इच्छानिरोधको तप कहते हैं। (चा. सा./१३३/४)।

नि. सा./ता. वृ./६/१५ में उद्धृत तवो विसयणिग्गहो जत्थ। =तप वह है जहाँ विषयोंका निग्रह है।

प्र. सा./ता. वृ./७९/१००/१२ समस्तभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः। =भावोंमें समस्त इच्छाके त्यागसे स्व-स्वरूपमें प्रतपन करना, विजयन करना सो तप है।

द्र. स./२१/६३/४ समस्तबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणं। =सम्पूर्ण बाह्य द्रव्योंकी इच्छाको दूर करनेरूप लक्षणका धारक तपश्चरण। (द्र. स./३६/१५१/७), (द्र. स./५७/२२६/३)।

अन. ध./७/२/६५९ तपो मनोऽक्षकायाणां तपनात् संनिरोधनात्। निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम्।२। =तप शब्दका अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। अतएव रत्नत्रयका आविर्भाव करनेके लिए इष्टानिष्ट इन्द्रिय विषयोंकी आकांक्षाके निरोधका नाम तप है।

४. चारित्रमें उद्योग

भ. आ./मू./१० चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई। सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स।१०। =चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग किया जाता है जिनेन्द्र भगवान् उसको ही तप कहते हैं।

२. तपका व्यवहार लक्षण

कुरल. का./२७/१ सर्वेषामेव जीवानां हिंसाया विरतिस्तथा। शान्त्या हि सर्वदुःखानां सहनं तप इष्यते।१। =शान्तिपूर्वक दुःख सहन करना और जीवहिंसा न करना, बस इन्हींमें तपस्याका समस्त सार है।

स. सि./६/२४/३३८/१२ अनिगूहीतवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः। शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है। (रा. वा./६/२४/७/५२९)।

रा. वा./९/१९/२१/६१९/३३ देहस्येन्द्रियग्रामाणां च तापं करोतीत्यनशनादि-[अतः] तप इत्युच्यते। =देह और इन्द्रियोंकी विषय प्रवृत्तिको रोककर उन्हें तपा देते हैं। अतः ये तप कहे जाते हैं।

रा. वा./६/२४/७/५२९/३२ यथाशक्ति मार्गाविरोधिकायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते। =अपनी शक्तिको न छिपाकर मार्गाविरोधी कायक्लेश आदि करना तप है। (चा. सा./१३३/३), (भा. पा./टी./७७/२२१/८)।

का. अ./मू./४०० इह-पर-लोय-सुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि सम-भावो। विविहं काय-किलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स। =जो समभावी इस लोक और परलोकके सुखकी अपेक्षा न करके अनेक प्रकारका कायक्लेश करता है उसके निर्मल तपधर्म होता है।

३. श्रावककी अपेक्षा तपके लक्षण

प. पु./१४/२४२-२४३ नियमश्च तपश्चेति द्वयमेतन्न भिद्यते।२४२। तेन युक्तो जनः शक्त्या तपस्वीति निगद्यते। तत्र सर्वप्रयत्नेन मतिः कार्या

३. तप मनुष्यगतिमें ही सम्भव है

ध./१३/५, ४, ३१/६१/५ णेरइएसु ओरालियसरीरस्स उदयाभावादो पचमहव्वयाभावादो। तिरिक्खेसु महव्वयाभावादो। =(नारकी देव, तथा तिर्यंचोंमें तपकर्म नहीं होते) क्योंकि नारकी व देवोके औदारिक शरीरका उदय तथा पचमहाव्रत नही होते तथा तिर्यंचोंमें महाव्रत नहीं होते।

४. गृहस्थके लिए तप करनेका विधि निषेध

भ. आ./मू /७ सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि। होदि हु हत्थिण्हाण चुंदच्चुदग व त तस्स ॥७॥ =अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुषका तप महान् उपकार करनेवाला नही होता है. वह उसका तप हाथीके स्नानके सदृश होता है। अथवा चर्मसे जैसे छेद पाडते (करते) समय डोरी बाँधकर घुमाते है तो वह डोरी एक तरफसे खुलती है दूसरी तरफसे दृढ बँध जाती है। (मू आ /९४०)

सा ध /७/५० श्रावको वीर्यचर्याह -प्रतिमातापनादिषु। स्यान्नाधिकारी ॥५०॥ =श्रावक वीर्यचर्या, दिनमें प्रतिमायोग धारण करना आदि रूप मुनियोंके करने योग्य कार्योंके विषयमें अधिकारी नही है। और भी दे० तप/१/३।

५. तप शक्तिके अनुसार करना चाहिए

मू आ./६६७ वलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं। काओसग्ग कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ॥६६७॥ =बल और आत्मशक्तिका आश्रयंकर क्षेत्र, काल, शरीरके संहनन—इनके बलकी अपेक्षा कर कायोत्सर्गके कहे जानेवाले दोषोका त्याग करता हुआ कायोत्सर्ग करे। (मू आ /६७१)

अन. ध /५/६५ द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च। स्वास्थ्याय वर्तता सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥६५॥ =विचारक साधुओंको आरोग्य और आत्मस्वरूपमें अवस्थान करनेके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल और वीर्य, इन छह बातोका अच्छी तरह पर्यालोचन करके सर्वाशन, विद्धाशन और शुद्धाशनके द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिए।

६. तपमें फलेच्छा नहीं होनी चाहिए

रा. वा /९/१९/१९/६१९/२४ इत्यत सम्यग्ग्रहणमनुवर्त्तते, तेन दृष्टफलनिवृत्ति कृता भवति सर्वत्र। ='सम्यक्' पदकी अनुवृत्ति आनेसे दृष्टफल निरपेक्षताका होना तपोमें अनिवार्य है।

७. पंचमकालमें तपकी अप्रधानता

म. प्र./४१/६६ करीन्द्रभारनिर्भुग्नपृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात्। कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढुं नाल दुष्षमसाधव ॥६६॥ =भगवान् ऋषभदेवने भरत चक्रवर्तीके स्वप्नोका फल बताते हुए कहा कि 'बडे हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ झुक गयी है, ऐसे घोडेके देखनेसे मालूम होता है कि पचमकालके साधु तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेमें समर्थ नही हो सकेंगे।

८. तप धर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

भ आ /मू /१४५३,१४६२ अप्पा य वंचिओ तेण होई विरियं च गूहिय भवदि। सुह सीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणीयं ॥१४५३॥ संसारमहाडाहेण उज्झमाणस्स होइ सीयधर। सुत्तवोदाहेण जहा सीयधर उज्झमाणस्स ॥१४६२॥ =शक्त्यनुरूप तपमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है, उसने अपने आत्माको फँसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है ऐसा मानना चाहिए, सुखासक्त होनेसे जीवको असाता वेदनीयका अनेक भवमें तीव्र दु ख देनेवाला, तीव्र पापबंध होता है ॥१४५३॥ जैसे सूर्यकी प्रचंड किरणोंसे सतप्त मनुष्यका शरीरदाह धारागृहसे नष्ट होता है वैसे संसारके महादाहसे दग्ध होनेवाले भव्योंके लिए तप जलगृहके समान शान्ति देनेवाला है। तपमे सासारिक दु ख निर्मूलन करना यह गुण है ऐसा यह गाथा कहती है। (भ. आ./टी./१४५०-१४७५), (पं वि./१/९८-१००)

दे. तप /४/७ (तपकी महिमा अपार है। जो तप नही करता वह तृणके समान है।)

३. वाह्याभ्यन्तर तपका समन्वय

१. सम्यक्त्व सहित ही तप तप है

मो मा /मू /५९ तवरहियं ज णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो। =जो ज्ञान तप रहित है, और जो तप है सो भी ज्ञान रहित है तो दोऊही अकार्य है।

का.अ /१०२ बारस-विहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि। वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स।१०२।=निदान रहित, निरभिमानी, ज्ञानी पुरुषके वैराग्यकी भावनासे अथवा वैराग्य और भावनासे बारह प्रकारके तपके द्वारा कर्मोकी निर्जरा होती है।

२. सम्यक्त्व रहित तप अकिंचित्कर है

नि.सा /मू /१२४ कि काहदि वणवासो कायक्लेसो विचित्त उववासो। अज्झयमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स।१२४। =वनवास, कायक्लेश रूप अनेक प्रकारके उपवास, अध्ययन मौन आदि समता रहित मुनिको क्या करते है—क्या लाभ करते है? अर्थात् कुछ नहीं।

द पा /मू /५सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्ग तव चरंताणं। ण लहंति बोहिलाह अवि वाससहस्सकोडीहि।५। सम्यक्त्व बिना करोडों वर्ष तक उग्र तप भी तपै तो भी बोधिकी प्राप्ति नाही (मो पा./५७,५९), (र सा /१०३), (मू आ /९००)।

मो पा./९९ किं काहिदि वहिकम्म किं काहिदि बहुविहं च खवण तु। किं काहिदि आदाव आदसहावस्स विवरीदो।९९। =आत्म स्वभावतैं विपरीत प्रतिकूल बाह्यकर्म जो क्रियाकाड सो कहा करैगा? कछू मोक्षका कार्य तौ किंचिन्मात्र भी नाहीं करेगा, बहुरि अनेक प्रकार क्षमण कहिए उपवासादिक कहा करैगा? आतापनयोगादि कायक्लेश कहा करैगा? कछू भी नाही करैगा।

स श./३३ यो न वेत्ति पर देहादेवमात्मानमव्ययम्। लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परम तप।३३। =जो अविनाशी आत्माको शरीरसे भिन्न नही जानता है, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्षको नही प्राप्त करता है (ज्ञा /३२/४७)।

यो सा अ /६/१० वाह्यमाभ्यन्तरं द्वेधा प्रत्येक कुर्वता तप। नैनो निर्जीर्यते शुद्धमात्मतत्त्वमजानता।१०। =जो पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपको नही जानता है वह चाहै बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकारके तप करे वा एक प्रकारका करै, कभी कर्मोंकी निर्जरा नही कर सकता।

पं.वि /१/६७ कालत्रये बहिरवस्थितिजातवर्षाशीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदु खे। आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि कायक्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे।६७।=साधु जिन तीन कालोंमे घर छोडकर बाहिर रहने से उत्पन्न हुए वर्षा, शैत्य और धूप आदिके तीव्र दु खको सहता है वह यदि उन तीन कालोमें अध्यात्म ज्ञानसे रहित होता है तो उसका यह सब ही कायक्लेश इस प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार कि धान्यांकुरोसे रहित खेतोमें बाँसों या काँटो आदिसे बाढका निर्माण करना।६७। (पं वि./१/५०)।

३. संयम बिना तप निरर्थक है

मो.पा./मू./५ संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ।५। =बहुरि संयमरहित तप होय सो निरर्थक है। ऐसे ए आचरण करै तो सर्व निरर्थक है (मू.आ./९५०)।

मू.आ./९४० सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि। होदि हु हत्थिण्हाणं चुंदच्छिदकम्म तं तस्स ।९४०। =संयम रहित तप महान् उपकारी नहीं। उसका तप हस्तिस्नानकी भाँति जानना, अथवा दही मथने की रस्सीकी तरह जानना।

भ.आ./मू./७७० सजमहीणो य तवो जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि। =संयम रहित तप करना निरर्थक है, अर्थात् उससे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती।

४. अंतरंग तपके विना बाह्य तप निरर्थक है

प.प्र./मू./१६१ घोरु करंतु वि तवचरणु सयल वि सत्थ मुणंतु। परम-समाहिविवज्जियउ णवि देक्खइ सिउ संतु ।१६१। =घोर तपश्चरण करता हुआ भी और सब शास्त्रोंको जानता हुआ भी जो परम समाधिसे रहित है वह शान्तरूप शुद्धात्माको नहीं देख सकता।

भ.आ./वि./१३४८/१३०६/१ यदि यदर्थं तत्प्रधान इति प्रधानताभ्यन्तर-तपः। तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मक तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलम्। =अभ्यन्तर तपके लिए बाह्य तप है। अतः आभ्यन्तर तप प्रधान है। यह आभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामोसे युक्त रहता है इसके बिना बाह्य तप कर्म निर्जरा करनेमें असमर्थ है।

स.सा./आ./२०४/क. १४२ क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः, क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्। साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते नहि ।१४२। =कोई जीव दुष्करतर और मोक्षसे पराङ्मुख कर्मोंके द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करो, जो साक्षात् मोक्ष स्वरूप है, निरामय पद है, और स्वयं संवेद्यमान है, ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके बिना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते।

ज्ञा./२२/१४/२२४ मनःशुद्धयैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः। वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ।१४। =निःसन्देह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके बिना केवल कायको क्षीण करना वृथा है (ज्ञा./२२/२८)।

आचारांग/१११ अति करोतु तपः पालयतु संयमं पठतु सकलशास्त्राणि। यावन्न ध्यायत्यात्मानं तावन्न मोक्षो जिनो भणति।

आ.मा./१४/१२६ नानाशास्त्रं सेवितां सूरिसधात् उदयनुर्च तपश्चा-ऽस्तु स्फोउयोग। यस्तु निनवृत्तिं कुध्यता विश्वतत्त्वं यदि विश्वविलास सर्वमेतन्न किंचित्। =१ अति तप भी करे, संयमका पालन भी करे, और सकल शास्त्रोंका अध्ययन भी करे, परन्तु जब तक आत्माको नहीं ध्याता है, तब तक मोक्ष नहीं होती है ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है ।१११। २ सकल शास्त्रको पढे, आचार्यसे सधर्म दृढ़ करे, और निश्चल योगकर तपश्चरण भी करे, निज वृत्ति धारण करे, तथा समस्त विश्वके तत्त्वोंको भी जाने, परन्तु यदि चित्त मलिन है तो ये सर्व निरर्थक है।

मो.मा.प्र./७/३४०/१ जो बाह्य तप तो करे अर अन्तरंग तप न होय, तौ उपचारतें भी वाकौ तप संज्ञा नहीं।

मो.मा.प्र./७/३४२/८ बीतराग भावरूप तपको न जानै अर इन्हीको तप जानि संग्रह करै तो संसार ही में भ्रमै।

५. अंतरंग सहित ही बाह्य तप कार्यकारी है

[illegible] परिच्यागो चेत् अनेन, [illegible] । =यह इनका (अनशनादिका) यह अर्थ नही कि चारो प्रकारके आहारका त्याग ही अनेषण कहलाता है क्योकि रागादिके साथ ही उन चारोके (चार प्रकारका आहार) त्यागको अनेषण रूपसे स्वीकार किया है।

६. बाह्य तप केवल पुण्य बन्धका कारण है

ज्ञा./८/७/४३ सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम्। सचिनोति शुभं कर्म काययोगेन सयमी ।७। =भले प्रकार गुप्त रूप किये हुए, अर्थात् अपने वशीभूत किय हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे संयमी मुनि शुभकर्मको संचय करते है।

७. बाह्य तपोंको तप कहनेका कारण

अन.ध./७/५,८ देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च। तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम् ।५। बाह्यैस्तपोभि कायस्य कर्शनाद-क्षमर्दने। छिन्नबाहो भट इव विक्रामति कियन्मन. ।८। =अनशनादि तप इसलिए है कि इनके होनेपर शरीर इन्द्रियाँ उद्रिक्त नही हो सकती किन्तु कृश हो जाती है। दूसरे इनके निमित्तसे सम्पूर्ण अशुभकर्म अग्निके द्वारा ईंधनकी तरह भस्मसात् हो जाते है। तीसरे आभ्यन्तर प्रायश्चित्त आदि तपोके बढानेमें कारण है ।५। बाह्य तपोंके द्वारा शरीरका कर्षण हो जानेसे इन्द्रियोका मर्दन हो जाता है, इन्द्रिय दलनसे मन अपना पराक्रम किस तरह प्रगट कर सकता है कैसा भी योद्धा हो प्रतियोद्धा द्वारा अपना घोडा मारा जानेपर अवश्य निर्बल हो जायेगा।

मो.मा.प्र./७/३४०/१ बाह्य साधन भए अन्तरग तपकी वृद्धि हो है। तातै उपचार करि इनको तप कहै है।

८. बाह्य अभ्यन्तर तपका समन्वय

स्व.स्तो./८३ बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्व-माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्। ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्, ध्यान-द्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ।३। =आपने आध्यात्मिक तपकी परि-वृद्धिके लिए परम दुश्चर बाह्य तप किया है। और आप आर्तरौद्र रूप दो कलुषित ध्यानोका निराकरण करके उत्तरवर्ती दो सातिशय ध्यानोमे प्रवृत्त हुए है। (भ.आ./वि./१३४८/१३०६/२)।

भ.आ./मू./१३५० लिंगं च होदि अब्भंतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी। भिउडीकरणं लिंगं जहसंतो जदकोधस्स ।१३५०। =अभ्यंतर परिणाम शुद्धिका अनशनादि बाह्य तप चिह्न है। जैसे किसी मनुष्यके मनमें जब क्रोध उत्पन्न होता है, तब उसकी भौंहे चढती है इस प्रकार इन तपोमें लिंग लिंगी भाव है।

द्र.स./टी./५७/२२८/११ द्वादशविधं तपः। तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्च। =बारह प्रकारका तप है। उसी (व्यवहार) तपसे सिद्ध होने योग्य निज शुद्ध आत्म स्वरूपमें प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चय तप है।

मो.मा.प्र./७/३४०/१ बाह्य साधन होते अंतरंग तपकी वृद्धि होती है। इससे उपचारसे उसको तप कहते है। परन्तु जो बाह्य तप तो करै अर अतरग तप न होय तो उपचारसे भी उसको तप सज्ञा प्राप्त नही।

४. तपके कारण व प्रयोजनादि

१. तप करनेका उपदेश

मो.पा./मू./६० धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं। णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ।६०। =आचार्य कहै है—देखो जाकै नियमकरि मोक्ष होनी है अर च्यार ज्ञान मति, श्रुति, अवधि, मन पर्यय इनिकरि युक्त है ऐसा तीर्थकर है सो भी तपश्चरण करै है, ऐसे निश्चय करि जानि ज्ञान करि युक्त होतें भी तप करना योग्य है।

२. तपके उपदेशका कारण

भ॰ आ /मू./१६१,२३७-२४५ पुव्वमकारिदजोग्गो समाधिकामो तहा मरणकाले। ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ।१६१। सो णाम वाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि। जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ।२३६। वाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता। सल्लिहिद च सरीर ठविदो अप्पा य संवेगे ।२३७ =यदि पूर्व कालमें तपश्चरण नहीं किया होय तो मरण कालमे समाधिकी इच्छा करता हुआ भी परीषहोको सहन नही करता है, अतः विषय सुखो में आसक्त हो जाता है ।१६१। जिस तपके आचरणसे मन दुष्कर्मके प्रति प्रवृत्त नही होता है, तथा जिसके आचरणसे अभ्यन्तर प्रायश्चित्तादि तपोमे श्रद्धा होती है जिसके आचरणसे पूर्वके धारण किये हुए व्रतोका नाश नही होता है, उसी तपका अनुष्ठान करना योग्य है ।२३६। तपसे सम्पूर्ण सुख स्वभावका त्याग होता है। बाह्य तप करनेसे शरीर सल्लेखनाके उपायकी प्राप्ति होती है और आत्मा संसारभीरुता नामक गुणमें स्थिर होता है। (भ. आ /मू / १६३) (भ आ /मू. १८८)।

मो पा /मू ६२ सुहेण भाविद णाणं दुहे जादे विणस्सदि। तम्हा जहावलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ।६२। =जो सुखकरि भाया हुआ ज्ञान है सो उपसर्ग परीषहादिक करि दुखकूं उपजते नष्ट हो जाय है ताते यह उपदेह है जो योगी ध्यानी मुनि है सो तपश्चरणादिकके कष्ट दुखसहित आत्माकूं भावै। (स. रा./मू० /१०२) (ज्ञा०/३२/१०२/ ३३४)।

अन. ध./७/१ ज्ञाततत्त्वोऽपि वैतृष्ण्यादृते नाप्नोति तत्पदम्। ततस्तत्सिद्धये धीरस्तपस्तप्येत नित्यशः ।१। तत्त्वोका ज्ञाता होनेपर भी, वीतरागताके विना अनन्तचतुष्टय रूप परम पदको प्राप्त नही हो सकता। अत वीतरागताकी सिद्धिके अर्थ धीर वीर साधुओको तपका नित्य ही सचय करना चाहिए।

३. तपको तप कहनेका कारण

रा. वा /९/१९/२०-२१/६१९/३१ यथाग्नि' संचितं तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निर्दहतीति तप इति निरुच्यते ।२०। देहेन्द्रियतापाद्वा ।२१। =जैसे–अग्नि संचित तृणादि इन्धनको भस्म कर देती है उसी तरह अनशनादि अर्जित मिथ्यादर्शनादि कर्मोंका दाह करते है। तथा देह और इन्द्रियोकी विषय प्रवृत्ति रोककर उन्हे तपा देते है अत' ये तप कहे जाते है।

४. तपसे बलकी वृद्धि होती है

ध. ९/४,१,२२/८९/१ आघादाउआ वि छम्मासोववासा चेव होति, तदुवरि संकिलेसुप्पत्तीदो त्ति ण तवोवलेणुप्पण्णविरियतराइयक्खओवसमाणं तव्वलेणेव मंद्दीकथासादावेदणीओदयाणमेस णियमो तस्थ तव्विरोहादो। =प्रश्न—अघातायुष्क भी छह मास तक उपवास करनेवाले ही होते है, क्योकि इसके आगे सक्लेश उत्पन्न हो जाता है ? उत्तर— • तपके बलसे उत्पन्न हुए वीर्यान्तिरायके क्षयोपशमसे संयुक्त तथा उसके बलसे ही असाता वेदनीयके उदयको मन्द कर चुकनेवाले साधुओके लिए यह नियम नही है। क्योकि उनमे इसका विरोध है।

५. तप निर्जरा व संवरका कारण है

त. सू /९/३ तपसा निर्जरा च ।३। =तपसे सवर और निर्जरा होती है।

रा. वा./८/२३/७/५८४ पर उद्धृत—कायमणोवचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं। सो कम्मणिज्जराए विपुलाए वट्टदे मणुस्सोत्ति। =काय, मन और वचन गुप्तिसे युक्त होकर जो अनेक प्रकारके तप करता है वह मनुष्य विपुल कर्म निर्जराको करता है।

न. वि॰/मू./३/५४/३३७ तपसश्च प्रभावेण निर्जीर्णं कर्म जायते ।५४। =तपके प्रभावसे कर्म निर्जीर्ण हो जाते है।

दे॰ निर्जरा/२/४ [तप निर्जराका ही नही संवरका भी कारण है।]।

६. तप दुखका कारण नहीं आनन्दका कारण है

स. श /३४ आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृत । तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ।३४। =आत्म और शरीरके भेद-विज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है वह तपके द्वारा उदयमें लाये हुए भयानक दुष्कर्मोंके फलको भोगता हुआ भी खेदको प्राप्त नही होता है।

इ. उ /४८ आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्। न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतन ।४८। =वह परमानन्द सदा आनेवाली कर्म रूपी ईंधनको जला डालता है। उस समय ध्यान मग्न योगीके बाह्य पदार्थोंसे जायमान दुखोका कुछ भी भान न होनेके कारण कोई खेद नही होता।

ज्ञा./३२/४८/३२४ स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्पन्दाभिनन्दित'। खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शरीरजै' ।४८। =भेद-विज्ञानी मुनि आत्मा और परके अन्तर्भेदी विज्ञानरूप अमृतके वेगसे आनन्दरूप होता हुआ व तप करता हुआ भी शरीरसे उत्पन्न हुए खेद क्लेशादिसे खिन्न नही होता है ।४८।

७. तपकी महिमा

भ॰ आ /मू /१४७२-१४७३ तं णत्थि ज ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स। अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी ।१४७२। सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फल तवस्स वण्णेदुं। कोई अत्थि समत्थे जस्स वि जिब्भासयसहस्सं ।१४७३। =निर्दोष तपसे जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जगतमे है नहीं। अर्थात् तपसे पुरुषको सर्व उत्तम पदार्थोंकी प्राप्ति होती है। जैसे प्रज्वलित अग्नि तृणको जलाती है वैसे तपरूप अग्नि कर्म रूप तृणको जलाती है ।१४७२। उत्तम प्रकारसे किया गया और कर्मास्रव रहित तपका फल वर्णन करनेमें जिसको हजार जिह्वा हैं ऐसा भी कोई शेषादि देव समर्थ नही है। (भ. आ./ मू /१४५०-१४७५)।

कुरल०/२७/७ यथा भवति तीक्ष्णाग्निस्तथैवोज्ज्वलकाञ्चनम्। तपस्येवं यथाकष्टं मन,शुद्धिस्तथैव हि ।७। =सोनेको जिस आगमें पिघलाते है वह जितनी ही तेज होती है, सोनेका रंग उतना ही अधिक उज्ज्वल निकलता है। ठीक इसी तरह तपस्वी जितने ही बडे कष्टोंको सहता हे उसके उतने ही अधिक आत्मिक भाव निर्मल होते हैं।

आराधना सार/७/२६ निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्मवन्ति न। यावत्प्रवचने प्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते ।७। =निकाचित कर्म तब तक भस्म नही होते है, जब तक कि प्रवचनमें कही गयी तप रूपी अग्नि दीप्त नही होती है।

रा वा /९/६/२७/५९९/२२ तप' सर्वार्थसाधनम्। तत एव ऋद्धय' संजायन्ते। तपस्विभिरध्युषितान्येव क्षेत्राणि लोके तीर्थतामुपगतानि। तद्यस्य न विद्यते स तृणाल्लघुर्लक्ष्यते। मुञ्चन्ति त सर्वे गुणा। नासौ मुञ्चति संसारम्। =तपसे सभी अर्थोकी सिद्धि होती है। इससे ऋद्धियोकी प्राप्ति होती है। तपस्वियोकी चरणरजसे पवित्र स्थान ही तीर्थ बने है। जिसके तप नही वह तिनकेसे भी लघु है। उसे सब गुण छोड देते है वह संसारसे मुक्त नही हो सकता।

आ अनु /११४ इहैव सहजान् रिपून् विजयते प्रकोपादिकान्, गुणा' परिणमन्ति यानसुभिरप्ययं वाञ्छति। पुरश्च पुरुषार्थसिद्धिरचिरात्स्वयं यायिनी, नरो न रमते कथं तपसि तापसंहारिणि ।११४। =इसके अतिरिक्त वह तप इसी लोकमें क्षमा, शान्ति, एवं विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणोको भी प्राप्त कराता है। वह चूँकि परलोक-मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध कराता है अतएव वह परलोकमें भी हितका

साधक है। इस प्रकार विचार करके जो विवेकी जीव हैं वे उभय-लोकके सन्तापको दूर करने वाले उस तपमें अवश्य प्रवृत्त होते हैं ॥

पं. वि./१/९९-१०० कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठाद् तपः-सुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः। अतो हि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया, यतिः समुपलक्षित पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥९९॥ मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमग्न तपोभ्यो, जात तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात्। स्तोकं तेन प्रभवमखिलं कृच्छ्रलब्धे नरत्वे, यद्यतर्हि स्खलति तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥१००॥ =जो क्रोधादि कषायो और पंचेन्द्रिय विषयोरूपी उद्भट एवं बहुतसे चोरोका समुदाय बडी कठिनतासे जीता जा सकता है वह चूंकि तपरूपी सुभटके द्वारा बलपूर्वक ताडित होकर नष्ट हो जाता है। अतएव उस तपसे तथा धर्मरूपी लक्ष्मीसे संयुक्त साधु मुक्तिरूपी नगरीके मार्गमें सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर सुख-पूर्वक गमन करता है ॥९९॥ लोकमें मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे जो तीव्र दुख प्राप्त होनेवाला है उसकी अपेक्षा तपसे उत्पन्न होनेवाला दुख इतना अल्प होता है कि समुद्रके सम्पूर्ण जलकी अपेक्षा उसकी एक बूंद होती है। उस तपसे सब कुछ आविर्भूत हो जाता है। इसलिए हे जीव। कष्टसे प्राप्त होनेवाली मनुष्य पर्याय प्राप्त होनेपर भी यदि तुम तपसे भ्रष्ट होते हो तो फिर तुम्हारी कौन-सी हानि होगी। अर्थात् सब लुट जायेगा ॥१००॥

५. शंका समाधान

१. देवादि पदोंकी प्राप्तिका कारण तप निर्जराका कारण कैसे

रा. वा./९/३/४-५/५९३ तपसोऽभ्युदयहेतुत्वान्निर्जराङ्गत्वाभाव इति चेद्, न, एकस्यानेककार्यारम्भदर्शनात् ॥४॥ गुणप्रधानफलोपपत्तेर्वा कृषीवलवत् ॥५॥ यथा कृषीवलस्य कृषिक्रियायाः पलालशस्यफलगुण-प्रधानफलाभिसंबन्धः तथा मुनेरपि तपरिक्रयाया प्रधानोपसर्जनाभ्यु-दयनिश्रेयसफलाभिसंबन्धोऽभिसन्धिवशाद् वेदितव्यः। =प्रश्न—तप देवादि स्थानोकी प्राप्तिका कारण होनेसे निर्जराका कारण नहीं हो सकता। उत्तर—एक कारणसे अनेक कार्य होते है। जैसे एक ही अग्नि पाक और भस्म करना आदि अनेक कार्य करती है। अथवा जैसे किसान मुख्यरूपसे धान्यके लिए खेती करता है, पयाल तो उसे यो ही मिल जाता है। उसी तरह मुख्यत तप क्रिया कर्मक्षयके लिए है, अभ्युदयकी प्राप्ति तो पयालकी तरह आनुषंगिक ही है, गौण है। किसीको विशेष अभिप्रायसे उसकी सहज प्राप्ति हो जाती है।

२. दुखं प्रदायक तपसे तो असाताका आस्रव होना चाहिए

रा. वा./६/११/१९-२०/५२१/१६ स्यादेतत्-यदि दुःखाधिकरणमसद्वेद्यहेतुः, ननु नाग्न्यलोचानशनादितपःकरण दुःखहेतुरिति तदनुष्ठानोपदेशनं स्वतीर्थकरस्य विरुद्धम्, तदविरोधे च दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवस्यायुक्ति-रिति; तन्न किं कारणम्।.. यथा अनिष्टद्रव्यसंपर्काद् द्वेषोत्पत्तौ दुःखोत्पत्तिः न तथा बाह्याभ्यन्तरतप प्रवृत्तौ धर्मध्यानपरिणतस्य यतेरनशनकेशलुञ्चनादिकरणकारणापादितकायक्लेशेऽस्ति द्वेषसंभवः तस्मान्नासद्वेद्यबन्धोऽस्ति। क्रोधाद्यावेशे हि सति स्वपरोभयदुःखादीना पापास्रवहेतुत्वमिष्टं न केवलानाम्।. तथा अनादिमासारिक-जातिजरामरणवेदनाजिघासा प्रत्यागूर्णो यतिः तदुपाये प्रवर्तमानः स्वपरस्य दुःखादिहेतुत्वे सत्यपि क्रोधाद्यभावात् पापस्याबन्धक। =प्रश्न—यदि दुखके कारणोंसे असाता वेदनीयका आस्रव होता है तो नग्न रहना केशलुंचन और अनशन आदि तपोका उपदेश भी दुखके कारणोका उपदेश हुआ। उत्तर—क्रोधादिके आवेशके कारण द्वेषपूर्वक होनेवाले स्व पर और उभयके दुखादि पापास्रवके हेतु होते है न कि स्वेच्छासे आत्मशुद्ध्यर्थ किये जानेवाले तप आदि। जैसे अनिष्ट द्रव्यके सम्पर्कमें द्वेषपूर्वक दुख उत्पन्न होता है उस तरह बाह्य और अभ्यंतर तपकी प्रवृत्तिमें धर्म ध्यान परिणत मुनिके अन-शन केशलुचनादि करने या करानेमें द्वेषकी सम्भावना नहीं है अत असाताका बन्ध नहीं होता।.. अनादि कालीन सांसारिक जन्म मरणकी वेदनाको नाश करनेकी इच्छासे तप आदि उपायोंमें प्रवृत्ति करनेवाले यतिके कार्योमें स्वपर-उभयमें दुखहेतुता होनेपर भी क्रोधादि होनेके कारण पापका बन्धक नहीं होता। (स. सि./६/११/-३२९/६)

३. तपसे इन्द्रिय दमन कैसे होता है

भ. आ./वि./१८८/४०६/५ ननु चानशनादौ प्रवृत्तस्याहारदर्शने तद्वार्ता-श्रवणे तदासेवायां चादरो नितान्तं प्रवर्तते ततोऽयुक्तमुच्यते तपो-भावनया दान्तानीन्द्रियाणीति। इन्द्रियविषयरागकोपपरिणामाना कर्मास्रवहेतुतया अहितत्वप्रकाशनपरिज्ञानपुरःसरतपोभावनया विषयसुखपरित्यागात्मकेन अनशनादिना दान्तानि भवन्ति इन्द्रि-याणि। पुन पुन सेव्यमानं विषयसुख रागं जनयति। न भाव-नान्तरान्तर्हितमिति मन्यते। =प्रश्न—उपवासादि तपोंमें प्रवृत्त हुए पुरुषको आहारके दर्शनसे और उसकी कथा सुननेसे, उसको भक्षण करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। अत तपोभावनासे इन्द्रियोंका दमन होता है। यह कहना अयोग्य है। उत्तर—इन्द्रियोके इष्टानिष्ट स्पर्शादि विषयोंपर आत्मा रागी और द्वेषी जब होता है तब उसके राग द्वेष परिणाम कर्मागमनके हेतु बनते है। ये राग जीवनका अहित करते है, ऐसा सम्यग्ज्ञान जीवको बतलाता है। सम्यग्ज्ञान युक्त तपो-भावनासे जो कि विषय सुखोका त्यागरूप और अनशनादि रूप है, इन्द्रियोका दमन करती है। पुन विषय सुखका सेवन करनेसे राग भाव उत्पन्न होता है परन्तु तपोभावनासे जब आत्मा सुसंस्कृत होता है तब इन्द्रियाँ विषय सुखकी तरफ दौडती नहीं है।

६. तपधर्म, भावना व प्रायश्चित्त निर्देश

१. शक्तितस्तप भावनाका लक्षण

स सि/६/२४/३३८/१२ अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेश-स्तपः। =शक्तिको न छिपाकर मोक्षमार्गके अनुकूल शरीरको क्लेश देना यथाशक्ति तप है। (भा. पा./टी /७७-२२१) (चा. सा /५४/३)

रा. वा./६/२४/७/५२९/३० शरीरमिदं दुःखकारणमनित्यमशुचि, नास्य यथेष्टभोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीद गुणरत्नसंचयोपका-रीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिष्वङ्गस्य स्वकार्यं प्रत्येतद्भृत-कमिव नियुञ्जानस्य यथाशक्ति मार्गाविरोधि कायक्लेशानुष्ठानं तप इति निश्चीयते। =अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर मार्गा-विरोधी कायक्लेशादि करना तप है। यह शरीर दुखका कारण है, अशुचि है, कितना भी भोग भोगो पर इसकी तृप्ति नहीं होती। यह अशुचि होकर भी शीलव्रत आदि गुणोके संचयमें आत्माकी सहायता करता है यह विचारकर विषय विरक्त हो आत्म कार्यके प्रति शरीर-का नौकरकी तरह उपयोग कर लेना उचित है। अत मार्गाविरोधी कायक्लेशादि करना यथाशक्ति तप भावना है।

२. एक शक्तितस्तपमें ही १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८६/११ जहाथामतवे सयलसेसतित्थयरकारणाणं संभवादो, जदो जहाथामो णाम ओघबलस्स धीरस्स णाणदंसणकलिदस्स होदि। ण च तत्थ दंसणविसुज्झदादीणमभावो, तहा तवतस्स अण्ण-हाणुववत्तीदो।'' =प्रश्न—(शक्तितस्तपमें शेष भावनाएँ कैसे

संभव है ? उत्तर—यथाशक्ति तपमें तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके सभी शेष कारण सम्भव हैं, क्योंकि, यथाथाम तप ज्ञान, दर्शनसे युक्त सामान्य बलवान और धीर व्यक्तिके होता है, और इसलिए उसमें दर्शनविशुद्धतादिकोका अभाव नही हो सकता, क्योकि ऐसा होनेपर यथाथाम तप बन नही सकता।

३. तपप्रायश्चित्तका लक्षण

ध. ८/५,४,२६/६१/५ खवणायविलणिव्वियडि न पुरिमडलेयट्ठाणाणि तवो णाम। = उपवास, आचाम्ल, निर्विकृति, और दिवसके पूर्वार्धमें एकासन तप (प्रायश्चित्त) है।

चा. सा./१४२/५ सत्त्वादिगुणालंकृतेन कृतापराधेनोपवासैकस्थानाचाम्ल-निर्विकृत्यादिभि' क्रियमाणं तप इत्युच्यते। = जो शारीरिक व मानसिक बल आदि गुणोसे परिपूर्ण है, और जिनसे कुछ अपराध हुआ है ऐसे मुनि उपवास, एकासन, आचाम्ल आदिके द्वारा जो तपश्चरण करते हैं उसे तप प्रायश्चित्त कहते हैं।

स. सि./९/२२/४४०/८ अनशनावमौदर्यादिलक्षणं तप'। = अनशन, अवमौदर्य आदि करना तप प्रायश्चित्त है। (रा. वा./९/२२/७/-६२१/२९)।

तप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

तपन—तीसरे नरकका तीसरा पटल—दे० नरक/५।

तपनतापि—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/१।

तपनीय—१. मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। २. सौधर्म स्वर्गका १९वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

तप प्रायश्चित्त—दे० तप/६।

तपमद—दे० मद।

तपविद्या—दे० विद्या।

तपविनय—दे० विनय/१।

तपस्वी—र.क श्रा /१० विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह। ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते।१०। = जो विषयोकी आशाके वशसे रहित हो, चौबीस प्रकारके परिग्रहसे रहित और ज्ञान-ध्यान-तपमें लवलीन हो, वह तपस्वी गुरु प्रशसाके योग्य है।

स.सि./९/२४/४४२/८ महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। = महोपवासादिका अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी कहलाता है। (रा.वा /९/२४/५/६२३); (चा.सा /१५१/१)

तपाचार—दे० आचार।

तपाराधना—दे० आराधना।

तपित—तीसरे नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५।

तपोनिधि व्रत—इस व्रतकी दो प्रकार विधि वर्णन की गयी है—बृहद् व लघु।

बृहद्विधि—ह.पु./३४/९२-९५ १ उपवास, १ ग्रास, २ ग्रास। इसी प्रकार एक ग्रास वृद्धि क्रमसे सातवे दिन ७ ग्रास। आठ दिनों-का यह क्रम ७ बार दोहराएँ। पीछेसे अन्तमें एक उपवास करे और अगले दिन पारणा। यह 'सप्त सप्त' तपो विधि हुई। इसी प्रकार अष्टम अष्टम, नवम नवम आदि रूपसे द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् (३२-३२) पर्यंत करना। जेतवी तप विधि हो उतने ही ग्रास तक वृद्धि करे, और उतनी ही बार क्रमको दोहराये।

इस प्रकार करते करते सप्तम सप्तमके (८×७)+१=५७ दिन; अष्टम अष्टमके (९×८)+१=७३ दिन, नवम नवमके (१०×९)+१=९१ दिन···द्वात्रिंशत्तम द्वात्रिंशत्तमके (३३×३२)+१=१०५७ दिन।

लघुविधि—ह.पु./३४/९२-९५ उपरोक्तवत् ही विधि है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँका ग्रहण न करने। केवल ग्रासोका वृद्धिक्रम ग्रहण करना।

तपो भावना—दे० भावना/१।

तपोशुद्धि व्रत—ह.पु./३४/१०० मन्त्र—२,१,१,५,१,१+१९,३०,१०, ५,२,१। विधि—अनशनके २; अवमौदर्यका १, वृति परिसंख्यान-का १, रसपरित्यागके ५; विविक्त शय्यासनका १; कायक्लेशका १; इस प्रकार बाह्य तपके ११ उपवास। प्रायश्चित्तके १९, विनयके ३०, वैयावृत्तिके १०, स्वाध्यायके ५; व्युत्सर्गके २; ध्यानका १; इस प्रकार अन्तरग तपके ६७ उपवास। कुल—७८ उपवास बीचके १२ स्थानोमें एक पारणा।

तप्त—१. प्रथम नरकका नवाँ पटल—दे० नरक/५। २. तृतीय पृथिवीका प्रथम पटल—दे० नरक/५।

तप्तजला—पूर्व विदेहकी एक विभंगा नदी—दे० लोक/७।

तप्ततप्त ऋद्धि—दे० ऋद्धि/१।

तम—स.सि./५/२४/२९६/८ तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि। = जिससे दृष्टिमें प्रतिबन्ध होता और जो प्रकाशका विरोधी है वह तम कहलाता है। (रा वा./५/२४/१५/४८९/७), (त सा./३/६८/१६१), (द्र.सं./१६/५३/११)

रा. वा./५/२४/१/४८५/१४ पूर्वोपात्ताशुभकर्मोदयात् ताम्यति आत्मा, तम्यतेऽनेन, तमनमात्रं वा तम'। = पूर्वोपात्त अशुभकर्मके उदयसे जो स्वरूपको अन्धकारावृत करता है या जिसके द्वारा किया जाता है, या तमन मात्रको तम कहते हैं।

तमःप्रभा—लक्षण व नामकी सार्थकता

स.सि./३/१/२०१/९ तम'प्रभासहचरिता भूमिस्तमःप्रभा.। = जिसकी प्रभा अन्धकारके समान है वह तम प्रभा भूमि है। (ति पं./२/२१), (रा वा/३/१/३/१५९/१९)

रा.वा./३/१/४-६/१५९/२१ तम' प्रभेति विरुद्धमिति चेत्, न; स्वात्म-प्रभोपपत्ते।४।···न दीप्तिरूपैव प्रभा द्रव्याणा स्वात्मैव मृजा प्रभा यत्सनिधानात् मनुष्यादीनामयं संव्यवहारो भवति स्निग्धकृष्ण-प्रभमिद रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति, ततस्तमसोऽपि स्वात्मैव कृष्णा प्रभा अस्तीति नास्ति विरोध'। बाह्यप्रकाशापेक्षा सेति चेत्, अविशेष-प्रसङ्ग' स्यात्। अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाद्वा इन्द्रगोपवत्।५। भेदरूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेत्; न, सूत्रस्य प्रतिपादनोपायत्वात्। = प्रश्न—तम और प्रभा कहना यह विरुद्ध है? उत्तर—नही, तमकी एक अपनी आभा होती है। केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नही है, किन्तु द्रव्योका जो अपना विशेष विशेष सलोनापन होता है, उसीसे कहा जाता है कि यह स्निग्ध कृष्ण-प्रभावाला है, यह रूक्ष कृष्ण प्रभावाला है। जैसे—मखमली कीडेकी 'इन्द्रगोप' संज्ञा रूढ है, इसमें व्युत्पत्ति अपेक्षित नहीं है। उसी तरह तम'प्रभा आदि संज्ञाएँ अनादि पारिणामिकी रूढ समझनी चाहिए। यद्यपि ये रूढ शब्द है फिर भी ये अपने प्रतिनियत अर्थों-को रखती है।

* **तम.प्रभा पृथिवीका आकार व विस्तारादि**—दे० नरक/५।

* **तम.प्रभा पृथिवीका नकशा**—दे० लोक/७।

* **अपर नाम मघवा**—दे० नरक/५।

तमक—१ चतुर्थ नरकका पंचम पटल—दे० नरक/५। २ पाँचवें नरकका पहला पटल—दे० नरक/५।

तमका—चौथे नरकका पाँचवा पटल—दे० नरक/५।

तमसा—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

तमिस्र—१ एक गुफा—दे० 'तिमिस्रा', २. पाँचवें नरका पटल —दे० नरक/५।

तमिस्रा—विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

तमो—पाँचवे नरकका पहला पटल—दे० नरक/५।

तमोर दशमी व्रत—व्रतविधान सं./पृ. १३० 'तम्बोल दशमि व्रत-को यह बोर, दश सुपात्रको देय तमोर।' (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है।)

तर्क—का लक्षण

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/१५ ईहा, ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।=ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा यह सब शब्द एक अर्थवाले है।

श्लो. वा /३/१/१३/११६/२६८/२२ साध्यसाधनसबन्धाज्ञानविवृत्तिरूपे साक्षात् स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमस्तर्क.। =साध्य और साधन-के अविनाभावरूप सम्बन्धके अज्ञानकी निवृत्ति करना रूप स्वार्थ निश्चयस्वरूप अव्यवहित फलको उत्पन्न करनेमे जो प्रकृष्ट उपकारक है, उसे तर्क कहते है।

प मु./३/११-१३ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह.।११। इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च।१२। यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।१३।=उपलब्धि और अनुपलब्धिकी सहायतासे होनेवाले व्याप्तिज्ञानको तर्क कहते है, और उसका स्वरूप है कि इसके होते ही यह होता है इसके न होते होता ही नही, जैसे अग्निके होते ही धुआँ होता है ओर अग्निके न होते होता ही नहीं है।

न्या. दी /३/§१५-१६/६२/१ व्याप्तिज्ञानं तर्क। साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णु संबन्धविशेषो व्याप्तिरविनाभाव इति च व्यपदिश्यते। तत्सामर्थ्यात्खल्वग्न्यादि धूमादिरेव गमयति न तु घटादि, तदभावात्। तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्या' व्याप्ते'; प्रमितौ यत्साधक्तम तदिद तर्काख्यं प्रमाणमित्यर्थ.। यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति। =व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते है। साध्य और साधनमे गम्य ओर गमक (बोध्य और बोधक) भावका साधक और व्यभिचारीकी गन्धसे रहित जो सम्बन्ध विशेष है, उसे व्याप्ति कहते है। उसीको अविनाभाव भी कहते है। उस व्याप्तिके होनेसे अग्नि आदिको धूमादिक ही जनाते है, घटादिक नही। क्योकि घटादिकको अग्नि आदिके साथ व्याप्ति नही है। इस अविनाभाव रूप व्याप्तिके ज्ञानमें जो साधकतम है वह यही तर्क नामका प्रमाण है।...उदाहरण—जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है।

स्या. म /२८/३२१/२७, उपलम्भानुपलम्भसभव त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकार सवेदनमूहस्तर्कापरपर्याय'। यथा यावान् कश्चिद् धूम, स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेति वा। =उपलम्भ और अनुपलम्भसे उत्पन्न तीन कालमें होनेवाले साध्य साधनके सम्बन्ध आदिसे होनेवाले, इसके होनेपर यह होता है, इस प्रकारके ज्ञानको ऊह अथवा तर्क कहते है जैसे—अग्निके होनेपर ही धूम होता है, अग्निके न होनेपर धूम नही होता है।

२. तर्काभासका लक्षण

प. मु./६/१०/५५ असबद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासं॥१०॥ =जिन पदार्थोंका आपसमें सम्बन्ध नही उनका सम्बन्ध मानना तर्काभास है।

३. तर्कमें पर समयकी मुख्यतासे व्याख्यान होता है

द्र. सं./टी./४४/१६२/४ तर्के मुख्यवृत्त्यापरसमयव्याख्यानं। =तर्कमें मुख्यतासे अन्य मतोंका व्याख्यान होता है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

- मतिज्ञानके तर्क प्रत्यभिज्ञान आदि भेद व इनकी उत्पत्तिका क्रम। —दे० मतिज्ञान/३
- आगम प्रमाणमें तर्क नहीं चलता। —दे० आगम/६
- आगम सुतर्क द्वारा बाधित नहीं होता। —दे० आगम/५
- आगम विरुद्धतर्क तर्क ही नहीं। —दे० आगम/५
- तर्क आगम व सिद्धान्तोंमें अन्तर। —दे० पद्धति
- स्वभावमें तर्क नहीं चलता। —दे० स्वभाव/२

तर्जित—कायोत्सर्गका एक अतिचार —दे० व्युत्सर्ग/१

तलवर—त्रि. सा /टी./६८३ तलवर कहिये कोटवाल।

तात्पर्यवृत्ति—इस नामकी कई टीकाएँ उपलब्ध है—१. आ० अभयनन्दि (ई० ६६३-७१३) कृत तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका; २. आ० विद्यानन्दि कृत अष्ट सहस्री की लघु समन्तभद्र (ई० १०००) कृत वृत्ति; ३. आचार्य जयसेन (ई० ११६२-१३२३) कृत समयसार, प्रवचनसार व पंचास्तिकायकी टीकाएँ।

तादात्म्य संबन्ध— स मा./३३/५७,६१ अग्नेरुष्णगुणेनैव सह तादात्म्यलक्षणसबन्धः।५७। यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्त भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तै' सह तादात्म्यलक्षणसबन्ध स्यात्।=अग्नि और उष्णताके साथ तादात्म्य रूप सम्बन्ध है।५७। जो निश्चयसे समस्त ही अवस्थाओमें यद्—आत्मकपनेसे अर्थात् जिस स्वरूपपनेसे व्याप्त हो और तद्—आत्मकपनेकी अर्थात् उस स्वरूपपनेकी व्याप्तिसे रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध होता है।

ताप—स.सि./६/११/३२६/१ परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः। =अपवाद आदिके निमित्तसे मनके खिन्न होने पर जो तीव्र अनुशय सन्ताप होता है, वह ताप है। (रा वा./६/११/३/५१९)।

स्या.म /३२/३४२/ पर उद्धृत श्लो० ३ जीवाइभावबाओ बंधाइपसाइगो इदं तावो। =जीवोसे सम्बद्ध दु'ख और बन्धको सहना करना ताप है।

तापन—१. विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/७, २. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७; ३. तीसरे नरकका चौथा पटल—दे० नरक/५।

तापस—१ एक विनयवादी—दे० वैनयिक; २. भरतक्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

तापी—भरत क्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

तामस दान—दे० दान।

तामिल वेद—एलाचार्य (अपरनाम कुन्दकुन्द) द्वारा रचित कुरल-काव्यका अपरनाम है।

ताम्रलिप्ती—वर्तमान ताम्रलूक नगर। सुह्म देशकी राजधानी थी (म पु /प्र.४९/प. पन्नालाल)।

ताम्रा—पूर्व आर्यखण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

तार—चतुर्थ नरकका तृतीय पटल—दे० नरक/५।

तारक—१. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० पिशाच; २ म.पु./५८/६३ भरतक्षेत्रके मलय देशका राजा विन्ध्यशक्ति था। चिरकाल तक अनेकों योनियोंमें भ्रमणकर वर्तमान भवमें द्वितीय प्रतिनारायण हुआ। विशेप [परिचय—दे० शलाकापुरुष/५; ३. पा. पु./१७/६५— अर्जुन (पाण्डव) का शिष्य एवं मित्र था। वनवासके समय सहायवनमें दुर्योधन द्वारा चढाई करनेपर अपना शौर्य प्रगट किया।

तारे—**१. तारोंके नाम उपलब्ध नहीं है**

ति.प./७/३२ संपहि कालवसेणं ताराणामाणं णत्थि उवदेसो ।३२। =इस समय कालके वशसे ताराओंके नामोंका उपदेश नहीं है।

*** ताराओंकी संख्या, भेद व उनका लोकमें अवस्थान** —दे० ज्योतिषी।

ताल प्रलंब—

भ.आ./वि./११२३/११३०/११ तालशब्दो न तरुविशेषवचन' किंतु वनस्पत्येकदेशस्तरुविशेष उपलक्षणाय वनस्पतीना गृहीतं · प्रलम्ब द्विविध मूलप्रलम्ब, अग्रप्रलम्ब च। कन्दमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशि-कन्दमूलप्रलम्बं अङ्कुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलम्बानि। तालस्य प्रलम्ब तालप्रलम्बं वनस्पतेरङ्कुरादिक च लभ्यत इति। =ताल प्रलम्ब इस सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ ताडका वृक्ष इतना ही लोक नही समझते हे। किन्तु वनस्पतिका एकदेश रूप जो ताडका वृक्ष वह इन वनस्पतियोंका उपलक्षण रूप समझकर उससे सम्पूर्ण वनस्पतिओंका ग्रहण करते है।···

'ताल प्रलम्ब' इस शब्दमें जो प्रलम्ब शब्द है उसका स्पष्टीकरण करते है—प्रलम्बके मूल प्रलम्ब, अग्र प्रलम्ब ऐसे दो भेद है। कन्दमूल और अकुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुए है उनको मूलप्रलम्ब कहते है। अकुर, कोमल पत्ते, फल और कठोर पत्ते इनको अग्र प्रलम्ब कहते है। अर्थात् तालप्रलम्ब इस शब्दका अर्थ उपलक्षणसे वनस्पतियोंके अकुरादिक ऐसा होता है (ध १/१,१,१/९ पर विशेषार्थ)।

तिगिंच्छ—निषध पर्वतस्थ एक ह्रद। इसमेंसे हरित व सीतोदा नदियाँ निकलती है। धृतिदेवी इसमें निवास करती है।—दे० लोक/३/८।

तित्तिणदा—तित्तिणदा अतिचार सामान्य—दे० अतिचार/१।

तिमिस्र—१ विजयार्ध पर्वतकी एक गुफा—दे० लोक/७; २. पाँचवें नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५।

तिरस्कारिणी—एक विद्या—दे० विद्या।

तिरुत्तक्क देवर—एक तामिल जैन कवि थे। कृति—जीवक चिन्तामणि (तामिल)। (गद्य चिन्तामणि, छत्र चूडामणि, व जीवन्धर चम्पू, इन तीनोंके आधारपर रचा गया था।) समय—ई० १०-११।

तिर्यंच—पशु, पक्षी, कीट, पतग यहाँ तक कि वृक्ष, जल, पृथिवी, व निगोद जीव भी तिर्यंच कहलाते है। एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यन्त अनेक प्रकारके कुछ जलवासी कुछ थलवासी और कुछ आकाशचारी होते हे। इनमेंसे असज्ञी पर्यन्त सब सम्मूर्छिम व मिथ्यादृष्टि होते है। परन्तु सज्ञी तिर्यंच सम्यक्त्व व देशव्रत भी धारण कर सकते है। तिर्यंचोंका निवास मध्य लोकके सभी असख्यात द्वीप समुद्रोंमें है। इतना विशेष है कि अढाई द्वीपसे आगेके सभी समुद्रोंमें जलके अतिरिक्त अन्य कोई जीव नही पाये जाते और उन द्वीपोंमें विकलत्रय नहीं पाये जाते। अन्तिम स्वयम्भूरमण सागरमें अवश्य संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पाये जाते है। अत' यह सारा मध्यलोक तिर्यक् लोक कहलाता है।

*	कौन तिर्यंच मरकर कहाँ उत्पन्न हो और क्या गुण प्राप्त करे —दे० जन्म/६।
*	तिर्यंच गतिमें १४ मार्गणाओंके अस्तित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
*	तिर्यंच गतिमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल,
*	अन्तर, भाव व अल्प-बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम।
*	तिर्यंच गतिमें कर्मोंका बन्ध उदय व सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियमादि। —दे० वह वह नाम।
*	तिर्यंचगति व आयुकर्मकी प्रकृतियोंके बन्ध, उदय, सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी नियमादि। —दे० वह वह नाम।
*	भाव मार्गणाकी इष्टता तथा उसमें भी आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।
३	**तिर्यंच लोक निर्देश**
१	तिर्यंच लोक सामान्य निर्देश।
२	तिर्यंच लोकके नामका सार्थक्य।
३	तिर्यंच लोककी सीमा व विस्तार सम्बन्धी दृष्टि भेद।
४	विकलेन्द्रिय जीवोंका अवस्थान।
५	पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका अवस्थान।
६	जलचर जीवोंका अवस्थान।
*	कर्म व भोग भूमियोंमें जीवोंका अवस्थान। —दे० भूमि।
*	तैजस कायिकोंके अवस्थान सम्बन्धी दृष्टि भेद। —दे० काय/२/५।
*	मारणान्तिक समुद्धातगत महामत्स्य सम्बन्धी भेद दृष्टि। —दे० जन्म/५/६।
७	वैरी जीवोंके कारण विकलत्रय सर्वत्र तिर्यक्‌में होते हैं।

१. भेद व लक्षण

१. तिर्यंच सामान्यका लक्षण

त. सू./४/२७ औपपादिकमनुष्येभ्य शेषास्तिर्यग्योनय ।२७। =उपपाद जन्मवाले और मनुष्योंके सिवा शेष सब जीव तिर्यंचयोनि वाले है ।२७।

ध. १/१,१.२४/गा. १२६/२०२ तिरियंति कुडिल-भावं सुवियड-सण्णा-णिगिट्ठमण्णाणा। अच्चत-पाव-बहुला तम्हा तेरिच्छया णाम। =जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त है, जिनकी आहारादि सज्ञाएँ सुव्यक्त है, जो निकृष्ट अज्ञानी है और जिनके अत्यधिक पापकी बहुलता पायी जावे उनको तिर्यंच कहते है ।१२६। (प. सं /प्रा /१/६१); (गो जी /मू /१४८)।

रा. वा./४/२७/३/२४५/ तिरोभावो न्यग्भाव' उपवाह्यत्वमित्यर्थ', तत: कर्मोदयापादितभावा तिर्यग्योनिरित्याख्यायते। तिरश्चियोनिर्येषां ते तिर्यग्योनय'। =तिरोभाव अर्थात् नीचे रहना-बोझा ढोनेके लायक। कर्मोदयसे जिनमें तिरोभाव प्राप्त हो वे तिर्यग्योनि है।

ध./१३/५,५,१४०/३९२/२ तिर: अञ्चन्ति कौटिल्यमिति तिर्यञ्च'। 'तिर.' अर्थात् कुटिलताको प्राप्त होते हैं वे तिर्यंच कहलाते हैं।

२. जलचर आदिकी अपेक्षा तिर्यंचोंके भेद

रा. वा /३/३९/५/२०९/३० पञ्चेन्द्रिया' तैर्यग्योनयः पञ्चविधा'–जलचराः, परिसर्पाः, उरगा', पक्षिण., चतुष्पादश्चेति। =पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच पाँच प्रकारके होते है—जलचर-(मछली आदि), परिसर्प (गोह नकुलादि); उरग-सर्प; पक्षी, और चतुष्पद।

पं. का./ ता. वृ./११८/१८९/११ पृथिव्याद्येकेन्द्रियभेदेन शम्बूकयूकोद्'-शकादिविकलेन्द्रियभेदेन जलचरस्थलचरखचरद्विपदचतुष्पदादि-पञ्चेन्द्रियभेदेन तिर्यञ्चो बहुप्रकारा। =तिर्यंचगतिके जीव पृथिवी आदि एकेन्द्रियके भेदसे, शम्बूक, जूँ व मच्छर आदि विकलेन्द्रियके भेदसे; जलचर, स्थलचर, आकाशचर, द्विपद, चतुष्पदादि पञ्चेन्द्रियके भेदसे बहुत प्रकारके होते हैं।

३. गर्भजादिकी अपेक्षा तिर्यंचोंके भेद

का. अ./१२९-१३० पंचक्खा वि य तिविहा जल-थल-आयासगामिणो तिरिया। पत्तेयं ते दुविहा मणेण जुत्ता अजुत्ता य ।१२९। ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भजजम्मा तहेव संमुच्छा। भोगभुवा गब्भ-भुवा थलयर-णह-गामिणो सण्णी ।१३०। =पंचेन्द्रिय तियच जीवोके भी तीन भेद हैं—जलचर, थलचर और नभचर। इन तीनोंमें से प्रत्येकके दो-दो भेद हैं—सैनी और असैनी ।१२९। इन छह प्रकारके तिर्यंचोंके भी दो भेद हैं—गर्भज, दूसरा सम्मूर्छिम जन्मवाले ··।

४. मार्गणाकी अपेक्षा तिर्यंचोंके भेद

ध. १/१,१,२६/२०८/३ तिर्यञ्चः पञ्चविधा', तिर्यञ्च' पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्च', पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्च, पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिरश्च्य। पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च इति। =तिर्यंच पाँच प्रकारके होते है—सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पंचेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्च, पंचेन्द्रिय पर्याप्त-योनिमती, पचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यंच। (गो. जी./मू. १५०)।

२. तिर्यंचोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थान निर्देश व शंकाएँ

१. तिर्यंच गतिमें सम्यक्त्वका स्वामित्व

ष. ख./१/१,१/सू. १५६-१६१/४०१ तिरिक्खा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति ।१५६। एव जाव सव्व दीव-समुद्देसु ।१५७। तिरिक्खा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ।१५८। तिरिक्खा संजदासंजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि ।१५९। एव पंचिदियतिरिक्खा-पज्जत्ता ।१६०। पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइट्ठी-संजदासंजदट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि ।१६१। =तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत होते है ।१५६। इस प्रकार समस्त द्वीप-समुद्रवर्ती तिर्यंचोंमें समझना चाहिए ।१५७। तिर्यंच असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते है ।१५८। तिर्यच सयतासयत गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते है। शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ।१५९। इसी प्रकार पचेन्द्रिय तिर्यंच और पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यच भी होते है ।१६०। योनिमती पचेन्द्रिय तिर्यंचोंके असयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयतगुणस्थानमे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नही होते है। शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते है ।१६१।

२. तिर्यंचोंमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू ८४-८८/३२५ तिरिक्खा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।८४। सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे-णियमा पज्जत्ता ।८५। एवं पंचिंदिय-तिरिक्खापज्जत्ता ।८६। पंचिंदियतिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।८७। सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ।८८। =तिर्यंच मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं अपर्याप्त भी होते हैं ।८४। तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ।८५। तिर्यंच सम्बन्धी सामान्य प्ररूपणाके समान पंचेन्द्रिय तिर्यंच और पर्याप्त-पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी होते हैं ।८६। योनिमती-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ।८७। योनिमती तिर्यंच सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ।८८।

ष. खं. १/१,१/सू २६/२०७ तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा त्ति ।२६। =मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत इन पाँच गुणस्थानोंमें तिर्यंच होते हैं ।२६।

ति. प./५/२९९-३०३ तेतीसभेदसंजुदतिरिक्खजीवाण सव्वकालम्मि। मिच्छत्तगुणट्ठाणं वोच्छं सण्णीण तं माणं ।२९९। पणपणअज्जाखंडे भरहेरावदखिदिम्मि मिच्छत्तं। अवरे वरम्मि पण गुणठाणाणि कयाइ दीसंति ।३००। पंचविदेहे सट्ठिसमण्णिदसदअज्जवखंडए तत्तो। विज्जाहरसेढीए बाहिरभागे सयंपहगिरीदो ।३०१। सासणमिस्सविहीणा तिगुणट्ठाणाणि थोवकालम्मि। अवरे वरम्मि पण गुणठाणाइं कयाइ दीसंति ।३०२। सव्वेसु वि भोगभुवे दो गुणठाणाणि थोवकालम्मि। दीसंति चउवियप्पं सव्व मिलिच्छम्मि मिच्छत्तं ।३०३। =संज्ञी जीवोंको छोड शेष तेतीस प्रकारके भेदोंसे युक्त तिर्यंच जीवोंके सब कालमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। संज्ञीजीवोंके गुणस्थान प्रमाणको कहते हैं ।२९९। भरत और ऐरावत क्षेत्रके भीतर पाँच-पाँच आर्यखण्डोंमें जघन्य रूपसे एक मिथ्यात्व गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे कदाचित् पाँच गुणस्थान भी देखे जाते हैं ।३००। पाँच विदेहोंके भीतर एकसौ साठ आर्यखण्डोंमें विद्याधर श्रेणियोंमें और स्वयंप्रभ पर्वतके बाह्य भागमें सासादन एवं मिश्र गुणस्थानको छोड तीन गुणस्थान जघन्य रूपसे स्तोक कालके लिए होते हैं। उत्कृष्ट रूपसे पाँच गुणस्थान भी कदाचित् देखे जाते हैं ।३०१-३०२। सर्व भोगभूमियोंमें दो गुणस्थान और स्तोक कालके लिए चार गुणस्थान देखे जाते हैं। सर्वम्लेच्छखण्डोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है ।३०३।

ध.१/१,१ २६/२०८/६ लब्ध्यपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टिव्यतिरिक्तशेषगुणासंभवात् ..शेषेषु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति,...तिरश्चीष्वपर्याप्ताद्धाया मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात्। =लब्ध्यपर्याप्तकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोडकर शेष गुणस्थान असम्भव हैं ..शेष चार प्रकारके तिर्यंचोंमें पाँचों ही गुणस्थान होते हैं। 'तिर्यंचनियोंके अपर्याप्त कालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं। विशेष—दे० सत्।

३. क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयत मनुष्य ही होते हैं तिर्यंच नहीं

ध ८/३,२७८/३६३/१० तिरिक्खेसु खइयसम्माइट्ठीसु संजदासंजदाणमणुवलंभादो। =तिर्यंच क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें संयतासंयत जीव पाये नहीं जाते।

गो क./जी प्र./३२९/४७१/५ क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्देशसंयतो मनुष्य एव तत कारणात्तत्र तिर्यगायुरुद्योतस्तिर्यग्गतिश्चेति त्रीण्युदये न सन्ति। =क्षायिक सम्यग्दृष्टि देशसंयत मनुष्य ही होता है, इसलिए तिर्यगायु, उद्योत, तिर्यग्गति, पंचम गुणस्थान विषै नाहीं।

४. तिर्यंच संयतासंयतोंमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध.१/१,१,१५८/४०२/६ तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयता' किमिति न सन्तीति चेन्न, क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां भोगभूमिमन्तरेणोत्पत्तेरभावात्। न च भोगभूमावुत्पन्नानामणुव्रतोपादानं संभवति तत्र तद्विरोधात्। =प्रश्न—तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यों नहीं होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तिर्यंचोंमें यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो वे भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं दूसरी जगह नहीं। परन्तु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतकी उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि वहाँपर अणुव्रतके होनेमें आगमसे विरोध आता है। (ध.१/१,१,८५/३२७/१) (ध.२/१,१/४८२/२)।

५. तिर्यंचिनीमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं

स.सि./१/७/२३/३ तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति। कुत इत्युक्ते मनुष्यकर्मभूमिज एव दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भको भवति। क्षपणाप्रारम्भकालात्पूर्वं तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्कृष्टभोगभूमितिर्यक्पुरुषेष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु द्रव्यवेदस्त्रीणां तासां क्षायिकासंभवात्। =तिर्यंचनियोंमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है? प्रश्न—क्यों? उत्तर—कर्मभूमिज मनुष्य ही दर्शन मोहकी क्षपणा प्रारम्भ करता है। क्षपणा कालके प्रारम्भसे पूर्व यदि कोई तिर्यंचायु बद्धायुष्क हो तो वह उत्कृष्ट भोगभूमिके पुरुषवेदी तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होता है, स्त्रीवेदी तिर्यंचोंमें नहीं। क्योंकि द्रव्य स्त्रीवेदी तिर्यंचोंके क्षायिक सम्यक्त्वकी असम्भावना है।

ध.१/१,१,१६१/४०३/५ तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च। =योनिमती पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि उनमें दर्शन मोहनीयकी क्षपणाका अभाव है।

६. अपर्याप्त तिर्यंचिनीमें सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध १/१,१,२६/२०६/५ भवतु नामसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतानां तत्रासत्त्वं पर्याप्ताद्धायामेवेति नियमोपलम्भात्। कथं पुनरसंयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्। =प्रश्न—तिर्यंचनियोंके अपर्याप्त कालमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयत इन दो गुणस्थानवालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि ये दो गुणस्थान पर्याप्त कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है। परन्तु उनके अपर्याप्त कालमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव कैसे माना जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि तिर्यंचनियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए उनके अपर्याप्त कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है।

७. अपर्याप्त तिर्यंचमें सम्यक्त्व कैसे सम्भव है

ध.१/१,१,८४/३२५/४ भवतु नाम मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां तिर्यक्षु पर्याप्तापर्याप्तद्वयोः सत्त्वं तयोस्तत्रोत्पत्त्यविरोधात्। सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विरोधादिति। न विरोध, अस्यार्षस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। क्षायिकसम्यग्दृष्टिः सेविततीर्थकरः क्षपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्सूत्पद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखाधिक्याभावात्। नारकेष्वपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां तत्रोत्पत्तिप्रतिपादकार्षोपलम्भात्। किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राङ् मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यङ्नरकायुष्कत्वात्। सम्यग्दर्शनेन तत् किमिति न छिद्यते। इति चेत् किमिति तन्न छिद्यते। अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः। तदपि कुत.। स्वाभाव्यात्। =**प्रश्न**—मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोकी तिर्यंचो सम्बन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें भले ही सत्ता रही आवे, क्योंकि इन दो गुणस्थानोकी तिर्यंच सम्बन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामे उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नही आता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यंचोमे उत्पन्न नहीं होते है, क्योंकि तिर्यंचोकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है। **उत्तर**—विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जावे तो ऊपरका सूत्र अप्रमाण हो जायेगा। **प्रश्न**—जिसने तीर्थंकरकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है ऐसा क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव दुःख बहुल तिर्यंचोमें कैसे उत्पन्न होता है? **उत्तर**—नही, क्योकि तिर्यंचो के नारकियोकी अपेक्षा अधिक दुख नही पाये जाते है। **प्रश्न**—तो फिर नारकियोमे भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नही होंगे? **उत्तर**—नही, क्योकि, सम्यग्दृष्टियोंको नारकियोमे उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रमाण पाया जाता है। **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि जीव नारकियोमे क्यो उत्पन्न होते है? **उत्तर**—नही, क्योकि जिन्होने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यंचायु और नरकायुका बन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहाँपर उत्पत्ति माननेमें कोई आपत्ति नही आती है। **प्रश्न**—सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यों नही हो जाता है? **उत्तर**—उसका छेद क्यों नही होता है? अवश्य होता है। अवश्य होता है किन्तु उसका समूल नाश नही होता है। **प्रश्न**—समूल नाश क्यो नही होता है? **उत्तर**—आगेके भवके बाँधे हुए आयुकर्मका समूल नाश नही होता है, इस प्रकारका स्वभाव ही है।

ध.२/१,१/४८१/१ मणुस्सा पुव्वबद्ध-तिरिक्खयुगा पच्छा सम्मत्तं घेत्तूण... खइयसम्माइट्ठी होदूण असंखेज्ज-वस्सायुगेसु तिरिक्खेसु उप्पज्जंति ण अण्णत्थ, तेण भोगभूमि-तिरिक्खेसुप्पज्जमाण पेक्खिऊण असंजद-सम्माइट्ठि-अपज्जत्तकाले खइयसम्मत्तं लब्भदि। तत्थ उप्पज्ज-माण-कदकरणिज्जं पडुच्च वेदगसम्मत्तं लब्भदि। =(इन क्षायिक व क्षायोपशमिक) दो सम्यक्त्वोके (वहाँ) होनेका कारण यह है कि जिन मनुष्योंने सम्यग्दर्शन होनेके पहले तिर्यंच आयुको बाँध लिया है वे पीछे सम्यक्त्वको ग्रहणकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर असंख्यात वर्षकी आयुवाले तिर्यंचोमें ही उत्पन्न होते है अन्यत्र नहीं। इस कारण भोगभूमिके तिर्यंचोमे उत्पन्न होनेवाले जीवोकी अपेक्षासे असंयत सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त कालमें क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है। और उन्हीं भोग भूमिके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोके कृतकृत्य वेदककी अपेक्षा वेदक सम्यक्त्व भी पाया जाता है।

८. अपर्याप्त तिर्यंचोमे संयमासंयम क्यों नहीं

ध. १/१,१,८५/३२६/५ मनुष्या मिथ्यादृष्ट्यवस्थायां बद्धतिर्यगायुषः पश्चात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ताप्रत्याख्याना: क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किन्नोत्पद्यन्ते। इति चेत् किंचातोऽप्रत्याख्यानगुणस्य तिर्यगपर्याप्तेषु सत्त्वापत्तिः। न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसम्बद्धायुषोपलक्षितानामणुव्रतोपादानबुद्ध्यनुत्पत्तेः। =**प्रश्न**—जिन्होने मिथ्यादृष्टि अवस्थामे तिर्यंचायुका बन्ध करनेके पश्चात् देशसंयमको ग्रहण कर लिया है और मोहकी सात प्रकृतियोका क्षय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यंचोंमें क्यों नही उत्पन्न होते है? यदि होते है तो इससे तिर्यंच अपर्याप्तोंमें देशसयमके प्राप्त होनेकी क्या आपत्ति आती है? **उत्तर**—नहीं, क्योकि, देवगतिको छोड़कर शेष तीन गति सम्बन्धी आयुबन्धसे युक्त जीवोके अणुव्रतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नही होती है।

९. तिर्यंच संयत क्यों नहीं होते

ध. १/१,१ १५६/४०१/८ संन्यस्तशरीरत्वात्त्यक्ताहाराणां तिरश्चां किमिति संयमो न भवेदिति चेन्न, अन्तरङ्गायाः सकलनिवृत्तेरभावात्। किमिति तदभावश्चेज्जातिविशेषात्। =**प्रश्न**—शरीरसे सन्यास ग्रहण कर लेनेके कारण जिन्होने आहारका त्याग कर दिया है ऐसे तिर्यंचोंके सम्यक्त्व क्यो नहीं होता है। **उत्तर**—नही, क्योंकि, आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव है। **प्रश्न**—उसके आभ्यन्तर सकल निवृत्तिका अभाव क्यो है? **उत्तर**—जिस जातिमे वे उत्पन्न हुए है उसमें संयम नहीं होता यह नियम है, इसलिए उनके संयम नही पाया जाता है।

१०. सर्व द्वीपसमुद्रोंमें सम्यग्दृष्टि व संयतासंयत तिर्यंच कैसे सम्भव हैं

ध. १/१,१,१५७/४०२/१ स्वयंप्रभादारान्मानुषोत्तरात्परतो भोगभूमिसमानत्वान्न तत्र देशव्रतिनः सन्ति तत एतत्सूत्रं न घटत इति न वैरसम्बन्धेन देवैर्दानवैर्वोत्क्षिप्य क्षिप्तानां सर्वत्र सत्त्वाविरोधात्। =**प्रश्न**—स्वयंभूरमण द्वीपवर्ती स्वयप्रभ पर्वतके इस ओर और मानुषोत्तर पर्वतके उस ओर असंख्यात द्वीपोंमे भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहाँपर देशव्रती नहीं पाये जाते है, इसलिए यह सूत्र घटित नहीं होता है? **उत्तर**—नही, क्योकि, वैरके सम्बन्धसे देवों अथवा दानवोंके द्वारा कर्मभूमिसे उठाकर लाये गये कर्मभूमिज तिर्यंचोका सब जगह सद्भाव होनेमे कोई विरोध नही आता है, इसलिए वहाँपर तिर्यंचोके पाँचो गुणस्थान बन जाते है। (ध ४/१,४,८/१६६/७); (ध. ६/१,६,६ २०/४२६/१०)।

११. ढाई द्वीपसे बाहर क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्यों नहीं

ध ६/१,६-८,११/२४४/२ अढाइज्जा दीवेसु दसणमोहणीयकम्मस्स खवणमाढवेदि त्ति, णो सेसदीवेसु। कुदो। सेसदीवट्ठिदजीवाणं तक्खवणसत्तीए अभावादो। लवण-कालोदइसण्णिदेसु दोसु समुद्देसु दसणमोहणीयं कम्म खवेंति, णो सेससमुद्देसु, तत्थ सहकारिकारणाभावा। 'जम्हि जिणा तित्थयर' त्ति विसेसणेण पडिसिद्धत्तादो। =अढाई द्वीपोमें ही दर्शनमोहनीय कर्मके क्षपणको आरम्भ करता है, शेष द्वीपोमें नही। इसका कारण यह है कि शेष द्वीपोंमें स्थित जीवोंके दर्शन मोहनीय कर्मके क्षपणकी शक्तिका अभाव होता है। लवण और कालोदक संज्ञावाले दो समुद्रोमें जीव दर्शनमोहनीयकर्मका क्षपण करते है, शेष समुद्रोंमें नहीं, क्योकि उनमें दर्शनमोहके क्षपण करनेके सहकारी कारणोका अभाव है।...'जहाँ जिन तीर्थंकर सम्भव हैं' इस विशेषणके द्वारा उसका प्रतिषेध कर दिया गया है।

१२. कर्मभूमिया तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध. ६/१,९-८,११/२४५/१ कम्मभूमीसु ट्ठिद-देव-मणुसतिरिक्खाणं सव्वेसिं पि गहणं किण्ण पावेदि त्ति भणिदे ण पावेदि, कम्मभूमी-सुप्पण्णमणुस्साणमुवयारेण कम्मभूमीववदेसादो। तो वि तिरिक्खाणं गहण पावेदि, तेसिं तत्थ वि उप्पत्तिसंभवादो। ण, जेसिं तत्थेव उप्पत्ती, ण अण्णत्थ संभवो अत्थि, तेसिं चेव मणुस्साण पण्णारसकम्म-भूमिववएसो, ण तिरिक्खाणं सयपहपव्वदपरभागे उप्पज्जणेण सव्व-हिचाराण। =प्रश्न—(सूत्रमें तो) 'पन्द्रह 'कर्मभूमियोंमें' ऐसा सामान्य पद कहनेपर कर्मभूमियोंमें स्थित, देव मनुष्य और तिर्यंच, इन सभीका ग्रहण क्यों नहीं प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि, कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए मनुष्योंकी उपचार-से 'कर्मभूमि' यह सज्ञा दी गयी है। प्रश्न—यदि कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंको 'कर्मभूमि' यह सज्ञा है, तो भी तिर्यंचोंका ग्रहण प्राप्त होता है, क्योंकि, उनकी भी कर्मभूमिमें उत्पत्ति सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिनकी वहाँपर ही उत्पत्ति होती है, और अन्यत्र उत्पत्ति सम्भव नहीं है, उनही मनुष्योंके पन्द्रह कर्मभूमियोंका व्यपदेश किया गया है, न कि स्वयप्रभ पर्वतके परभागमें उत्पन्न होने-से व्यभिचारको प्राप्त तिर्यंचोंके।

३. तिर्यंच लोक निर्देश

१. तिर्यंच लोक सामान्य निर्देश

स. सि /४/१९/२५०/१२ बाहल्येन तत्प्रमाणस्तिर्यक्प्रसृतस्तिर्यग्लोक'। =मेरु पर्वतकी जितनी ऊँचाई है, उतना मोटा और तिरछा फैला हुआ तिर्यग्लोक है।

ति. प /५/६-७ मदरगिरिमूलादो इगिलक्ख जोयणाणि बहलम्मि। रज्जूय पदरखेत्ते चिट्ठेदि तिरियतसलोओ।६। पणुवीसकोडाकोडी-पमाण उद्धारपल्लरोमसमा। दिओवहीणसंखा तस्सद्धं दीवजलणिही कममो।७। =मंदर पर्वतके मूलसे एक लाख योजन बाहल्य रूप राजु-प्रतर अर्थात् एक राजू लम्बे चौडे क्षेत्रमें तिर्यक्त्रस लोक स्थित है।६। पच्चीस कोडाकोडी उद्धार पल्योंके रोमोंके प्रमाण द्वीप व समुद्र दोनोंकी संख्या है। इसकी आधी क्रमश' द्वीपोंकी और आधी समुद्रोंकी सख्या है। (गो जी /भाषा./५४३/९४५/१८)।

२. तिर्यग्लोकके नामका सार्थक्य

रा. वा /३/७/उत्थानिका/१६९/६ कुत' पुनरिय तिर्यग्लोकसज्ञा प्रवृत्तेति। उच्यते—यतोऽसख्येया' स्वयंभूरमणपर्यन्तास्तिर्यक्प्रचयविशेषेणा-वस्थिता द्वीपसमुद्रास्तत तिर्यग्लोक इति। =प्रश्न—इसको तिर्यक्-लोक क्यो कहते है? उत्तर—चूँकि स्वयम्भूरमण पर्यन्त असंख्यात द्वीप समुद्र तिर्यक्-समभूमिपर तिरछे व्यवस्थित है अत इसको तिर्यक् लोक कहते है।

३. तिर्यंच लोककी सीमा व विस्तार सम्बन्धी दृष्टि भेद

ध.३/१,२,४/३४/४ का विशेषार्थ—कितने ही आचार्योंका ऐसा मत है कि स्वयभूरमण समुद्रकी बाह्य वेदिकापर जाकर रज्जू समाप्त होती है। तथा कितने ही आचार्योंका ऐसा मत है कि असख्यात द्वीपों और समुद्रोंकी चौडाईसे रुके हुए क्षेत्रसे सख्यात गुणे योजन जाकर रज्जू-की समाप्ति होती है। स्वयं वीरसेन स्वामीने इस मतको अधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि ज्योतिषियोंके प्रमाणको लाने-के लिए २५६ अगुलके वर्ग प्रमाण जो भागाहार बतलाया है उससे यही पता चलता है कि स्वयभूरमण समुद्रमे सख्यातगुणे योजन जाकर मध्यलोककी समाप्ति होती है।

ध ४/१,३,३/४१/८ तिण्हं लोगाणमसंखेज्जदिभागे तिरियलोगो होदि त्ति के वि आइरिया भणंति। तं ण घडदे। =तीनों लोकोंके अस-ख्यातवें भाग क्षेत्रमें तिर्यक् लोक है। ऐसा कितने ही आचार्य कहते है, परन्तु उनका इस प्रकार कहना घटित नहीं होता।

ध ११/४,२,५,८/१७/४ सयंभूरमणसमुद्दस्स बाहिरिल्लतडो णाम तदवय-वभूदबाहिरवेइयाए, तत्थ महामच्छो अच्छिदो त्ति के वि आइरिया भणंति। तण्ण घडदे, 'कायलेस्सियाए लग्गो' त्ति उवरि भण्णमाण-सुत्तेण सह विरोहादो। ण च सयभुरमणसमुद्दबाहिरवेइयाए संबद्धा तिण्णि वि वादवलया तिरियलोयविक्खंभस्स एगरज्जुपमाणादो-ऊणत्तप्पसंगादो। =स्वयम्भूरमण समुद्रके बाह्य तटका अर्थ उसकी अंगभूत बाह्य वेदिका है, वहाँ स्थित महामत्स्य ऐसा कितने ही आचार्य कहते है, किन्तु वह घटित नही होता क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर ..'तनुवातवलयसे संलग्न हुआ' इस सूत्रके साथ विरोध आता है। कारण कि स्वयम्भूरमणसमुद्रकी बाह्य वेदिकासे तीनों ही वातवलय सम्बद्ध नहीं हैं, क्योंकि वैसा माननेपर तिर्यग्लोक सम्बन्धी विस्तार प्रमाणके एक राजूसे हीन होनेका प्रसंग आता है।

४. विकलेन्द्रिय जीवोंका अवस्थान

ह पु /५/६३३ मानुषोत्तरपर्यन्ता जन्तवो विकलेन्द्रिया। अन्त्यद्वीपार्द्धत' सन्ति परस्तात्ते यथा परे॥६३३॥ =इस ओर विकलेन्द्रिय जीव मानुषोत्तर पर्वत तक ही रहते हैं। उस ओर स्वयम्भूरमण द्वीपके अर्धभागसे लेकर अन्ततक पाये जाते है॥६३३॥

ध ४/१, ३, २/३३/२ भोगभूमीसु पुण विगलिंदिया णत्थि। पंचिंदिया वि तत्थ सुट्ठु थोवा, सुहकम्माइ जीवाणं बहुणामसंभवादो। =भोगभूमिमें तो विकलत्रय जीव नहीं होते हैं, और वहाँपर पचे-न्द्रिय जीव भी स्वल्प होते है, क्योंकि शुभकर्मकी अधिकतासे बहुत जीवोंका होना असम्भव है।

का. अ./टी./१४२ बि-ति-चउरक्खा जीवा हवंति णियमेण कम्म-भूमीसु। चरिमे दीवे अद्धे चरम-समुद्दे वि सव्वेसु॥१४२॥ =दो-इन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जीव नियमसे कर्मभूमिमें ही होते हैं। तथा अन्तके आधे द्वीपमें और अन्तके सारे समुद्रमें होते है।१४२।

५. पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका अवस्थान

ध ७/२, ७, ११/३७१/३ अधवा सव्वेसु दीव-समुद्देसु पंचिंदियतिरिक्ख-अपज्जत्ता होंति। कुदो। पुव्ववइरियदेवसंबंधेण कम्मभूमिपडिभागु-प्पण्णपंचिंदियतिरिक्खाणं एगबंधणबद्धछज्जीवणिकाएोगाढ ओरा-लिय देहाणं सव्वदीवसमुद्देसु पंचिंदियतिरिक्खअपज्जत्ता होंति। =अथवा सभी द्वीप समुद्रोंमें पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च अपर्याप्त जीव होते हैं, क्योंकि, पूर्वके वैरी देवोंके सम्बन्धसे एक बन्धनमें बद्ध छह जीवनिकायोंसे व्याप्त औदारिक शरीरको धारण करनेवाले कर्मभूमि प्रतिभागमें उत्पन्न हुए पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंका सर्व समुद्रोंमें अवस्थान देखा जाता है।

६. जलचर जीवोंका अवस्थान

मू. आ /१०८१ लवणे कालसमुद्दे सयभुरमणे य होंति मच्छा दु। अवसे-सेसु समुद्देसु णत्थि मच्छा य मयरा वा॥१०८१॥ =लवणसमुद्र और कालसमुद्र तथा स्वयंभूरमण समुद्रमें तो जलचर आदि जीव रहते हैं, और शेष समुद्रोंमें मच्छ-मगर आदि कोई भी जलचर जीव नहीं रहता है। (ति प./५/३१); (रा वा./3/३२/८/१९४/१८), (ह. पु /-५/६३०), (ज प /११/६१), (का अ /मू १४४)

ति प /४/१७७२ ..। भोगवणीए णदीओ सरपहुदी जलयरविहीणा। =भोगभूमियोंकी नदियाँ, तालाब आदिक जलचर जीवोंसे रहित है॥१७७२॥

ध. ६/१, ९-६,२०/४२६/१० णत्थि मच्छा वा मगरा वा त्ति जेण तस-जीवपडिसेहो भोगभूमिपडिभागिएसु समुद्देसु कदो, तेण तत्थ पढमसम्मत्तस्स उप्पत्ती ण जुज्जदि त्ति। ण एस दोसो, पुव्ववइरिय-देवेहि खित्तपंचिदियतिरिक्खाणं तत्थ सभवादो। =प्रश्न—चूंकि 'भोगभूमिके प्रतिभागी समुद्रोमें मत्स्य या मगर नहीं है' ऐसा वहाँ त्रस जीवोका प्रतिषेध किया गया है, इसलिए उन समुद्रोमे प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति मानना उपयुक्त नहीं है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पूर्वके वैरी देवोके द्वारा उन समुद्रोमें डाले गये पचेन्द्रिय तिर्यंचोंकी सम्भावना है।

त्रि. सा /३२० जलयरजीवा लवणे कालेय तिमसयभुरमणे य। कम्ममही पडिबद्धे ण हि सेसे जलयरा जीवा ॥३२०॥ =जलचर जीव लवण समुद्रविषै बहुरि कालोदक विषैं बहुरि अन्तका स्वयम्भूरमण विषैं पाइये है। जातैं ये तीन समुद्र कर्मभूमि सम्बन्धी है। बहुरि अवशेष सर्व समुद्र भोगभूमि सम्बन्धी है। भोगभूमि विषै जलचर जीवोका अभाव है। तातैं इन तीन बिना अन्य समुद्र विषै जलचर जीव नाहीं।

७. वैरी जीवोंके कारण विकलत्रय सर्वत्र तिर्यक्‌में होते हैं

ध. ४/१, ३, ५६/२४३/८ सेसपदेहि वइरिसंबंधेण विगलिंदिया सव्वत्थ तिरियपदरब्भतरे होति त्ति। =वैरी जीवोके सम्बन्धसे विकलेन्द्रिय जीव सर्वत्र तिर्यक्प्रतरके भीतर ही होते है।

ध. ७/२, ७, ६७/३९७/४ अधवा पुव्ववेरियदेवपओगेण भोगभूमि पडिभागदीव-समुद्दे पदिदतिरिक्खकलेवरेसु तस अपज्जत्ताणमुप्पत्ती अत्थि त्ति भणंताणमहिप्पाएण। =[विकलेन्द्रिय अपर्याप्त जीवोका अवस्थान क्षेत्र स्वयंप्रभपर्वतके परभागमें ही है क्योकि भोगभूमि प्रतिभागमें उनकी उत्पत्तिका अभाव है] अथवा पूर्व वैरीके प्रयोगसे भोगभूमि प्रतिभागरूप द्वीप समुद्रोंमें पडे हुए तिर्यंच शरीरोंमें त्रस अपर्याप्तोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा कहनेवाले आचार्योंके अभिप्रायसे..।

तिर्यंचायु—दे० आयु।

तिर्यंचिनी—दे० वेद/३।

तिर्यक् आयत चतुरस्र—Cuboid (ज. प /प्र. १०६)

तिर्यक् क्रम—दे० क्रम/१।

तिर्यक् गच्छ—गुण हानियोका प्रमाण। विशेष —दे० गणित/-II/५।

तिर्यक् प्रचय—दे० क्रम/१।

तिर्यक् प्रतर—राजू² (ध १३/५, ५, ११६/३७३/१०)

तिर्यक् लोक—दे० तिर्यंच/३।

तिल—एक ग्रह। —दे० 'ग्रह'।

तिलक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

तिलपुच्छ—एक ग्रह। —दे० 'ग्रह'।

तिल्लोय पण्णत्ति—आ० यतिवृषभ (ई० ५४०-६०६) द्वारा रचित लोकके स्वरूपका प्रतिपादक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। उसमें ९ अधिकार और लगभग ३८०० गाथाएँ हैं।

तीन—तीनकी संख्या कृति कहलाती है। —दे० कृति।

तीन चौबीसी व्रत—प्रतिवर्ष तीन वर्ष तक भाद्रपद कृ० ३ को उपवास करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रतविधान स /पृ० ८६) किशनसिंह क्रियाकोष।

तीर्णकर्ण—भरत क्षेत्रके उत्तर आर्य खण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४

तीर्थंकर—महापरिनिर्वाण सूत्र, महावग्ग दिव्यावदान आदि बौद्ध ग्रन्थोंके अनुसार महात्मा बुद्धके समकालीन छह तीर्थंकर थे—
१ भगवान् महावीर; २. महात्मा बुद्ध; ३. मस्करीगोशाल; ४. पूरन कश्यप।

तीर्थंकर—संसार सागरको स्वयं पार करने तथा दूसरोको पार करानेवाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते है। प्रत्येक कल्पमें वे २४ होते है। उनके गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञानोत्पत्ति व निर्वाण इन पांच अवसरोपर महान् उत्सव होते है जिन्हे पच कल्याणक कहते है। तीर्थंकर बननेके संस्कार षोडशकारण रूप अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, उसे तीर्थंकर प्रकृतिका बँधना कहते हैं। ऐसे परिणाम केवल मनुष्य भवमें और वहाँ भी किसी तीर्थंकर वा केवलीके पादमूलमें ही होने सम्भव है। ऐसे व्यक्ति प्राय. देवगतिमें ही जाते है। फिर भी यदि पहलेसे नरकायुका बंध हुआ हो और पीछे तीर्थंकर प्रकृति बँधे तो वह जीव केवल तीसरे नरक तक ही उत्पन्न होते है, उससे अनन्तर भवमें वे अवश्य मुक्तिको प्राप्त करते है।

१	**तीर्थंकर निर्देश**
१	तीर्थंकरका लक्षण।
२	तीर्थंकर माताका दूध नहीं पीते।
३	गृहस्थावस्थामें अवधिज्ञान होता है पर उसका प्रयोग नहीं करते।
४	तीर्थंकरोंके पांच कल्याणक होते है।
*	तीर्थंकरके जन्मपर रत्नवृष्टि आदि अतिशय। —दे० कल्याणक।
५	कदाचित् तीन व दो कल्याणक भी संभव हैं अर्थात् तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करके उसी भवसे मुक्त हो सकता है ?
६	तीर्थंकरोंके शरीरकी विशेषताएँ।
*	केवलज्ञानके पश्चात् शरीर ५००० धनुष ऊपर चला जाता है। —दे० केवली/२।
*	तीर्थंकरोंका शरीर मृत्युके पश्चात् कपूरवत् उड़ जाता है। —दे० मोक्ष/५।
७	हुंडावसर्पिणीमें तीर्थंकरोंपर कदाचित् उपसर्ग भी होता है।
*	तीर्थंकर एक कालमें एक क्षेत्रमें एक ही होता है। उत्कृष्ट १७० व जघन्य २० होते है। —दे० विदेह/१।
*	दो तीर्थंकरोंका परस्पर मिलाप सम्भव नहीं है। —दे० शलाका पुरुष/१।
८	तीसरे कालमें भी तीर्थंकरकी उत्पत्ति सम्भव है।
*	तीर्थंकर दीक्षित होकर सामायिक संयम ही ग्रहण करते है। —दे० छेदोपस्थापना/५।
*	प्रथम व अन्तिम तीर्थमें छेदोपस्थापना चारित्रकी प्रधानता। —दे० छेदोपस्थापना।

१. तीर्थंकर निर्देश

१. तीर्थंकरका लक्षण

ध.१/१,१,१/गा.४४/५८ सकलभुवनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठैः। विधुधवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्टिः ।४४। =जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौसठ चवर दुरते हैं, ऐसे सकल भुवनके अद्वितीय स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थंकर कहते हैं।

भ.आ./मू./३०२/५१६ णित्थयरो चदुणाणी सुरमहिदो सिज्झिदव्वय-धुवम्मि।

भ.आ./वि./३०२/५१६/७ श्रुतं गणधराः तदुभयकरणात्तीर्थकरः।'' मार्गो रत्नत्रयात्मकः उच्यते तत्करणात्तीर्थकरो भवति। =मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञानोंके धारक, स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक और दीक्षा कल्याणादिकोंमें चतुर्णिकाय देवोंसे जो पूजे गये हैं, जिनको नियमसे मोक्ष प्राप्ति होगी ऐसे तीर्थंकर…। श्रुत और गणधरको भी जो कारण हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं। '''अथवा रत्नत्रयात्मक मोक्ष-मार्गको जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं।

स.श./टी./२/२२२/२४ तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थ-मागमः तत्कृतवत। =संसारसे पार होनेके कारणको तीर्थ कहते हैं, उसके समान होनेसे आगमको तीर्थ कहते हैं, उस आगमके कर्ताको तीर्थंकर है।

त्रि.सा./६८६ सयलभुवणेक्कणाहो तित्थयरो कोमुदीव कुंदं वा। धवलेहिं चामरेहि चउसट्ठिहिं विज्जमाणो सो ।६८६। =जो सकल लोकका एक अद्वितीय नाथ है। बहुरि गङ्गननी समान वा कुन्देका फूलके समान श्वेत चौसठि चमरनि करि वीज्यमान है सो तीर्थंकर जानना।

२. तीर्थंकर माताका दूध नहीं पीते

म.पु./१४/१६५ धात्र्यो नियोजितास्य देव्यः शक्रेण सादरम्। मज्जने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेऽपि च ।१६५। =इन्द्रने आदर सहित भगवान्‌को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, दूध पिलाने, शरीरके संस्कार करने और खिलानेके कार्य करनेमें अनेको देवियोंको धाय बनाकर नियुक्त किया था ।१६५।

३. गृहस्थावस्थामें ही अवधिज्ञान होता है पर उसका प्रयोग नहीं करते

ह.पु./४३/७८ योऽपि नेमिकुमारोऽत्र ज्ञानत्रयविलोचनः। जानन्नपि न स ब्रूयान्न विद्मो केन हेतुना ।७८। =[कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नके धूमकेतु नामक असुर द्वारा चुराये जानेपर नारद कृष्णसे कहता है]·· यहाँ जो तीन ज्ञानके धारक नेमिकुमार (नेमिनाथ) हैं वे जानते हुए भी नहीं कहेंगे। किस कारणसे नहीं कहेंगे ? यह मैं नहीं जानता।

४. तीर्थंकरोंके पाँच कल्याणक होते हैं

गो.जी./जी.प्र./३८१/६ अथ तृतीयभवे हन्ति तदा नियमेन देवायुरेव बद्ध्वा देवो भवेत् तस्य पञ्चकल्याणानि स्युः। यो बद्धनारकायु-स्तीर्थसत्त्वः स प्रथमपृथ्व्या द्वितीयायाः तृतीयायाः वा जायते। तस्य षण्मासावशेषे बद्धमनुष्यायुष्कस्य नारकोपसर्गनिवारणं गर्भावतरण-कल्याणादयश्च भवन्ति। =तीसरा भव विषै घाति कर्म नाश करै तो नियम करि देवायु ही बांधे तहाँ देवपर्याय विषै देवायु सहित एकसौ अठतीस सत्त्व पाइये। तिसके छः महीना अवशेष रहैं मनुष्यायुका बन्ध होइ अर पंच कल्याणक ताकैं होइ। बहुरि जाकै मिथ्यादृष्टि विषै नरकायुका बंध भया था अर तीर्थंकरका सत्त्व होई तौ वह जीव नरक पृथ्वीविषैं उपजै तहाँ नरकायु सहित एक सौ अठतीस सत्त्व पाइये, तिनकै छह महीना आयुका अवशेष रहैं मनुष्यायुका बन्ध होइ अर नारक उपसर्गका निवारण होइ अर गर्भ कल्याणादिक होई। (गो.क./जी.प्र./५४९/७०८/११); (गो.क./जी.प्र./५४६/७०८/११)

५. कदाचित् तीन व दो कल्याणक भी सम्भव हैं

गो.क./जी.प्र./५४९/७०८/११ तीर्थबन्धप्रारम्भश्चरमाङ्गाणामसंयतदेश-संयतयोस्तदा कल्याणानि निःक्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे। =तीर्थंकर प्रकृतिका प्रारम्भ चरम शरीरीनिकै असंयत देशसंयत गुणस्थाननिविषै होइ तौ तिनकै तप कल्याणादि तीन ही कल्याण होइ अर प्रमत्त अप्रमत्त विषै होइ तौ ज्ञान निर्वाण दो ही कल्याण होइ (गो.क./जी.प्र./३८१/५४५/४)।

६. तीर्थंकरोंके शरीरकी विशेषताएँ

बो.पा./टी./३२/९८ पर उद्धृत—तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्की य अद्धचक्की य। देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ।१। तथा तीर्थंकराणां श्मश्रूणि कूर्चं न भवति, शिरसि कुन्तला भवन्ति। =तीर्थंकरोंके, उनके पिताओंके, बलदेवोंके, चक्रवर्तियोंके, अर्धचक्रवर्तियोंके, देवोंके तथा भोगभूमिजोंके आहार होता है परन्तु नीहार नहीं होता है। तथा तीर्थंकरोंके मूंछ-दाढ़ी नहीं होती परन्तु शिरपर बाल होते हैं।

७. हुंडावसर्पिणीमें तीर्थंकरोंपर कदाचित् उपसर्ग भी होता है

ति.प./४/१६२० सत्तमतेवीसंतिमतित्थयराणं च उवसग्गो ।१६२०। =(हुंडावसर्पिणी कालमें) सातवें, तेईसवें और अन्तिम तीर्थंकरके उपसर्ग भी होता है।

८. तीसरे कालमें भी तीर्थंकरकी उत्पत्ति सम्भव

ति.प./४/१६१७ तक्काले जायते पढमजिणो पढमचक्की य ।१६१७। =(हुंडावसर्पिणी) कालमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं ।१६१७।

९. सभी तीर्थंकर आठ वर्षकी आयुमें देशव्रती हो जाते हैं

म.पु./६३/३५ स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्। उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ।३५। =जिनके प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कषायोंका ही केवल उदय रह जाता है, ऐसे सभी तीर्थंकरोंके अपनी आयुके आठ वर्षके बाद देश संयम हो जाता है।

२. तीर्थंकर प्रकृति बन्ध सामान्य निर्देश

१. तीर्थंकर प्रकृतिका लक्षण

स.सि./८/११/३९२/७ आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वनाम। =आर्हन्त्यका कारण तीर्थंकर नामकर्म है। (रा.वा./८/११/४०/५८०); (गो.क./जी.प्र./३३/३०/१२)।

ध.६/१,९-१,३०/६७/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स तिलोगपूजा होदि तं तित्थयरं णाम। =जिस कर्मके उदयसे जीवकी त्रिलोकमें पूजा होती है वह तीर्थंकर नामकर्म है।

ध. १३/५,१०१/३६६/७ जस्स कम्ममुदएण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थ दुवालसंगं कुणदि त तित्थयरणामं। =जिस कर्मके उदयसे जीव पाँच महा कल्याणकोको प्राप्त करके तीर्थ अर्थात् बारह अंगोंकी रचना करता है वह तीर्थंकर नामकर्म है।

२. इसका बन्ध तीनों वेदोंमें सम्भव है पर उदय केवल पुरुष वेदमें ही

गो क /जी.प्र /११६/१११/११ स्त्रीषंढवेदयोरपि तीर्थाहारकबन्धो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदिषु नियमात्। =स्त्रीवेदी अर नपुंसकवेदी कैं तीर्थंकर अर आहारक द्विकका उदय तो न होइ पुरुषवेदी ही के होइ अर बंध होने विषै किछू विरोध नाही।

दे० वेद/७/६ षोडशकारण भावना भानेवाला सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रियोंमें उत्पन्न नही हो सकता।

३. परन्तु देवियोंके इसका बन्ध सम्भव नहीं

गो क /जी प्र./१११/६८/६ कल्पस्त्रीषु च तीर्थबन्धाभावात्। =कल्पवासिनी देवागनाके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्भव नाही (गो क./जी प्र./११२/६६/१३)।

४. मिथ्यात्वके अभिमुख जीव तीर्थंकर प्रकृतिका उत्कृष्ट बन्ध करता है

म बं /२/§७०/२७७/८ तित्थयर उक्क० ट्ठिदि० कस्स। अण्णद० मणुसस्स असंजदसम्मादिट्ठिस्स सागार-जागार० तप्पाओग्गस्स० मिच्छादिट्ठिमुहस्स। =प्रश्न—तीर्थंकर प्रकृतिके उत्कृष्ट स्थिति बन्धका स्वामी कौन है? उत्तर—जो साकार जागृत है, तत्प्रायोग्य सक्लेश परिणामवाला है और मिथ्यात्वके अभिमुख है ऐसा अन्यतर मनुष्य असयत सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर प्रकृतिके उत्कृष्ट स्थितिबन्धका स्वामी है।

५. अशुभ लेश्याओंमें इसका बन्ध सम्भव है

म.बं./१/§१८७/१३२/४ किण्णणीलासु तित्थयरं-सयुतं कादव्वं। =कृष्ण और नील लेश्याओंमें तीर्थंकर को संयुक्त करना चाहिए।

गो.क./जी प्र./३५४/५०६/८ अशुभलेश्यात्रये तीर्थबन्धप्रारम्भाभावात्। बद्धनारकायुषोऽपि द्वितीयतृतीयपृथ्व्यो. कपोतलेश्ययैव गमनात्। =अशुभ लेश्या विषै तीर्थंकरका प्रारम्भ न होय बहुरि जाकैं नरकायु बँध्या होइ सो दूसरी तीसरी पृथ्वी विषै उपजै तहाँ भी कपोत लेश्या पाइये।

६. तीर्थंकर संतकर्मिक तीसरे भव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है

ध.८/३,३८/७५/१ पारद्धतित्थयरबधभवादो तदियभवे तित्थयरसंतकम्मियजीवाण मोक्खगमणणियमादो। =जिस भवमे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध प्रारम्भ किया है उससे तीसरे भवमें तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्व युक्त जीवोंके मोक्ष जानेका नियम है।

७. तीर्थंकर प्रकृतिका महत्त्व

ह.पु./२/२४ प्रच्छन्नोऽभासयद्गर्भस्ता रवि प्रावृष यथा।२४। =जिस प्रकार मेघमालाके भीतर छिपा हुआ सूर्य वर्षा ऋतुको सुशोभित करता है। उसी प्रकार माता प्रियकारिणीको वह प्रच्छन्नगर्भ सुशोभित करता था।

म पु./१२/६६-६७,१६३ षण्मासानिति सापप्तत् पुण्ये नाभिनृपालये। स्वर्गावतरणाद् भर्त्तु. प्राक्तरा द्युम्नसततिः।६६। पश्चाच्च नवमासेषु वसुधारा तदा मता। अहो महान् प्रभावोऽस्य तीर्थकृत्त्वस्य भा[विनः]।६७। तदा प्रभृति सुत्रामशासनात्ताः सिषेविरे। दिक्कुमार्योऽनुचा[रिकाः] तत्कालोचितकर्मभिः।१६३। =कुबेरने स्वामी वृषभदेवके स्वर्गावत[रण]से छह महीने पहलेसे लेकर अतिशय पवित्र नाभिराजके घरपर और सुवर्णकी वर्षा की थी।६६। और इसी प्रकार गर्भावतरणसे भी नौ महीने तक रत्न तथा सुवर्णकी वर्षा होती रही थी। सो है क्योकि होनेवाले तीर्थंकरका आश्चर्यकारक बडा भारी [प्रभाव] होता है।६७। उसी समयसे लेकर इन्द्रकी आज्ञासे दिक्कुमारी दे[वियाँ] उस समय होने योग्य कार्योंके द्वारा दासियोके समान मरुदे[वीकी] सेवा करने लगीं।१६३। और भी—दे० कल्याणक।

३. तीर्थंकर प्रकृतिबन्धमे गति, आयु व स[म्यक्त्व] सम्बन्धी नियम

१. तीर्थंकर प्रकृतिबन्धकी प्रतिष्ठापना सम्बन्धी नि[यम]

ध. ८/३,४०/७८/७ तत्थ मणुस्सगदीए चेव तित्थयरकम्मस्स बंधप[ारंभो] होदि, ण अण्णत्थेत्ति। ‥ केवलणाणोवलक्खियजीवदव्व कारणस्स तित्थयरणामकम्मबधपारंभस्स तेण विणा समुप्पत्ति[विरो]हादो। =मनुष्य गतिमे ही तीर्थंकर कर्मके बन्धका प्रारम्भ हे[ाता है] अन्यत्र नही। ‥ क्योकि अन्य गतियोमे उसके बन्धका प्रार[म्भ नहीं] होता, कारण कि तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके प्रारम्भका कारण केवलज्ञानसे उपलक्षित जीवद्रव्य है, अतएव, मनुष्य[गतिके] बिना उसके बन्ध प्रारम्भकी उत्पत्तिका विरोध है। गो क., ९३/७८/७)।

२. प्रतिष्ठापनाके पश्चात् निरन्तर बन्ध रहनेका [नियम]

ध. ८/३,३८/७४/४ णिरंतरो बधो, सगबंधकारणे संते अ[द्धाक्खएण] वरमाभावादो। =बन्ध इस प्रकृतिका निरन्तर है, क्योंकि कारणके होनेपर कालक्षयसे बन्धका विश्राम नहीं होता।

गो. क./जी. प्र./९३/७८/१० न च तिर्यग्वर्जितगतित्रये तीर्थबन्ध[ोऽ]स्ति तद्बन्धकालस्य उत्कृष्टेन अन्तर्मुहूर्ताधिकाष्टवर्षन्यू[न]द्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममात्रत्वात्। =तिर्यंच गति बिन[ा तीन] गति विषै तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध है। ताकौ प्रारम्भ कहि[ये] समयतैं लगाय समय समय विषै समयप्रबद्ध रूप बन्ध विषै [तीर्थंकर] प्रकृतिका भी बंध हुआ करै है। सो उत्कृष्टपने अन्तर्मुहूर्त आठ वर्ष घाटि दोय कोडि पूर्व अधिक तेतोस सागर प[्रमाण] पर्यन्त बन्ध हो है (गो क /भाषा /७४५/९०५/१५), (गो. क ३६७/५२६/८)।

३. नरक व तिर्यंच गति नामकर्मके बन्धके [साथ इसके] बन्धका विरोध है

ध, ८/३,३८/७४/५ तित्थयरबधस्स णिरय-तिरिक्खगइबंधेहि [विरो]हादो। =तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका नरक व तिर्यंच गतियो[के] साथ विरोध है।

४. इसके साथ केवल देवगति बँधती है

ध ८/३,३८/७४/६ उवरिमा देवगइसजुत्त, मणुसगदिट्ठि[दा] तित्थयरबधस्स देवगइ मोत्तूण अण्णगईहि सह विरोहादो। [उपरिम] जीव देवगतिसे संयुक्त बाँधते है, क्योकि, मनुष्यगति[के] जीवोंके तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका देवगतिको छोडकर अ[न्य गतियों]के साथ विरोध है।

५. इसके बन्धके स्वामी

ध. ८/३,३८/७४/७ तिगदि असंजदसम्मादिट्ठी सामी, तिरिक्खगईए तित्थयरस्स बंधाभावादो। =तीन गतियोंके असंयत सम्यग्दृष्टि जीव इसके बन्धके स्वामी हैं, क्योंकि तिर्यग्गतिके साथ तीर्थंकरके बन्धका अभाव है।

६. मनुष्य व तिर्यगायु बन्धके साथ इसकी प्रतिष्ठापनाका विरोध है

गो. क/जी. प्र/३६६/५२४/११ बद्धतिर्यग्मनुष्यायुष्कयोस्तीर्थसत्त्वाभावात्।···देवनारकासयतेऽपि तद्बंध···संभवात्। =मनुष्यायु तिर्यंचायुका पहले बन्ध भया होइ ताकैं तीर्थंकरका बन्ध न होइ।··देवनारकी विषै तीर्थंकरका बन्ध सम्भवै है।

७. सभी सम्यक्त्वोंमें तथा ४-८ गुणस्थानोंमें बन्धनेका नियम

गो. क/मू/९३/७८ पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि। तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥९३॥

गो.क/जी. प्र/९२/७७/१२ तीर्थबन्ध असंयताद्यपूर्वकरणषष्ठभागान्तनम्यग्दृष्टिष्वेव। =प्रथमोपशम सम्यक्त्व विषै वा अवशेष द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक, क्षायिक सम्यक्त्व विषै असंयततैं लगाइ अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त मनुष्य ही तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धको प्रारम्भ करे है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध असयमते लगाई अपूर्वकरणका छटा भाग पर्यन्त सम्यग्दृष्टि विषै ही हो है।

८. तीर्थंकर बंधके पश्चात् सम्यक्त्व च्युतिका अभाव

गो क/जी प्र./५५०/७४३/३ प्रारब्धतीर्थबन्धस्य बद्धदेवायुष्कवदबद्धायुष्कस्यापि सम्यक्त्वप्रच्युत्याभावात्। =देवायुका बन्ध सहित तीर्थंकर बन्धवालेके जैसे सम्यक्त्वतैं भ्रष्टता न होइ तैसे अबद्धायु देवके भी न होइ।

गो. क./जी. प्र/७४५/६ प्रारब्धतीर्थबन्धस्यान्यत्र बद्धनरकायुष्कात्सम्यक्त्वाप्रच्युतिर्नेति तीर्थबन्धस्य नैरन्तर्यात्। =तीर्थंकर बन्धका प्रारम्भ भये पीछे पूर्वे नरक आयु बन्ध बिना सम्यक्त्व तैं भ्रष्टता न होइ अर तीथकरका बन्ध निरन्तर है।

९ बद्ध नरकायुष्क मरण कालमें सम्यक्त्वसे च्युत होता है

ध ८/३,५४/१०५/५ तित्थयर बंधमाणसम्माइट्ठीणं मिच्छत्तं गंतूण तित्थयरसतकमेण सह विदिय-तदियपुढवीसु व उप्पज्जमाणाणमभावादो। =तीर्थंकर प्रकृतिको बाँधनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वको प्राप्त होकर तीर्थंकर प्रकृतिकी सत्ताके साथ द्वितीय व तृतीय पृथिवियोंमें उत्पन्न होते हैं वैसे इन पृथिवियोंमें उत्पन्न नही होते।

गो क/जी. प्र/३३६/४८७/३ मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने कश्चिदाहारकद्वयमुद्वेल्य नरकायुर्बध्वाऽसयतो भूत्वा तीर्थं बद्ध्वा द्वितीयतृतीयपृथ्वीगमनकाले पुनर्मिथ्यादृष्टिर्भवति। =मिथ्यात्व गुणस्थानमें आय आहारकद्विकका उद्वेलन किया, पीछै नरकायुका बन्ध किया, तहाँ पीछै असंयत्त गुणस्थानवर्ती होइ तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कीया पीछै दूसरी वा तीसरी नरक पृथ्वीकौ जानेका कालविषै मिथ्यादृष्टी भया।

गो. क/जी. प्र./५४९/७२५/१८ वंशामेघयो' सतीर्था पर्याप्तत्वे नियमेन मिथ्यात्वं त्यक्त्वा सम्यग्दृष्टयो भूत्वा। =वशा मेघा विषैं तीर्थंकर सत्त्व सहित जीव सो पर्याप्ति पूर्ण भए नियमकरि मिथ्यात्वकौ छोडि सम्यग्दृष्टि होइ।

१०. उत्कृष्ट आयुवाले जीवोंमें तीर्थंकर सन्तकर्मिक मिथ्यादृष्टि नहीं जाते

ध. ८/३,२५८/३३२/४ ण च उक्कस्साउएसु तित्थयरसंतकम्मियमिच्छाइट्ठीणमुववादो अत्थि, तहोवएसाभावादो। =उत्कृष्ट आयुवाले जीवोंमें तीर्थंकर सन्तकर्मिक मिथ्यादृष्टियोंका उत्पाद है नहीं, क्योंकि ऐसा उपदेश नही है।

११. नरकमें भी तीसरे नरकके मध्यम पटलसे आगे नहीं जाते

ध. ८/३, २५८/३३२/३ तत्थ णेरइयसंदए णीललेस्सासहिए तित्थयरसतकम्मियमिच्छाइट्ठीणमुववादाभावादो। कुदो तत्थ तिस्से पुढवीए उक्कस्साउदंसणादो। =(तीसरी पृथिवी में) नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रकमें तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्ववाले मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्तिका अभाव है। इसका कारण यह है कि वहाँ उस पृथिवीकी उत्कृष्ट आयु देखी जाती है। (ध. ८/३, ५४/१०५/६), (गो. क/जी. प्र./३८१/५४६/७)।

१२. वहाँ अन्तिम समय उपसर्ग दूर हो जाता है

त्रि सा/१९५ तित्थयरसतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा। छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाणमालंको ॥१९५॥ =तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्ववाले जीवके नरकायु विषै छह महीना अवशेष रहैं देव नरक विषै ताका उपसर्ग निवारण करे हैं। बहुरि स्वर्ग विषैं छह महीना आयु अवशेष रहे मालाका मलिन होना चिन्ह न हो है।

गो. क./जी प्र/३८१/५४६/९ यो बद्धनारकायुस्तीर्थसत्त्वः···तस्य षण्मासावशेषे बद्धमनुष्यायुष्कस्य नारकोपसर्गनिवारणं गर्भावतरणकल्याणादयश्च भवन्ति। =जिस जीवके नरकायुका बन्ध तथा तीर्थंकरका सत्त्व होइ, तिसके छह महीना आयुका अवशेष रहे मनुष्यायुका बन्ध होइ अर नारक उपसर्गका निवारण अर गर्भ कल्याणादिक होई।

१३. तीर्थंकर संतकर्मिकको क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है

ध.६/१-९-८, १२/२४७/१७ विशेषार्थ—पूर्वोक्त व्याख्यानका अभिप्राय यह है कि सामान्यत' तो जीव दुषम-सुषम कालमे तीर्थंकर, केवली या चतुर्दशपूर्वीके पादमूलमें ही दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका प्रारम्भ करते है, किन्तु जो उसी भवमें तीथकर या जिन होनेवाले हैं वे तीर्थंकरादिकी अनुपस्थितिमें तथा सुषमदुषम कालमें भी दर्शनमोहका क्षपण करते है। उदाहरणार्थ—कृष्णादि व वर्धनकुमार।

१४. नरक व देवगतिसे आये जीव ही तीर्थंकर होते हैं

प ख. ६/१, ९-९/सू. २२०, २२१ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा ··केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति ॥२२०॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा·· केइं तित्थयरत्तमुप्पाएंति ॥२२१॥ मणुसेसु उववण्णल्लया मणुसा· णो तित्थयरमुप्पाएति। =ऊपरकी तीन पृथिवियोसे निकलकर मनुष्यों-मे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य कोई तीर्थंकरत्व उत्पन्न करते है ॥२२०॥ देवगतिसे निकलकर मनुष्योमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य· कोई तीर्थंकरत्व उत्पन्न करते है ॥२२१॥ भवनवासी आदि देव-देवियाँ मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य होकर·· तीर्थंकरत्व उत्पन्न नही करते है ॥२३३॥ [इसी प्रकार तिर्यञ्च व मनुष्य तथा चौथी आदि पृथिवियोंसे मनुष्योमे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य तीर्थंकरत्व उत्पन्न नहीं करते है।]

रा वा/३/६/७/१६९/२ उपरि तिसृभ्य उद्वर्तिता मनुष्येपूत्पन्ना·· केचित्तीर्थकरत्वमुत्पादयन्ति। =तीसरी पृथ्वीसे निकलकर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले कोई तीर्थंकरत्वको उत्पन्न करते हैं।

४. तीर्थंकर प्रकृति सम्बन्धी शंका-समाधान

१. मनुष्यगतिमें ही इसकी प्रतिष्ठापना क्यों

ध. ८/३, ४०/७८/८ अण्णगदीसु किण्ण पारंभो होदित्ति वुत्ते—ण होदि, केवलणाणोवलक्खियजीवदव्वसहकारिकारणस्स तित्थयरणामकम्म-बंधपारंभस्स तेण विणा समुप्पत्तिविरोहादो। =प्रश्न—मनुष्य-गतिके सिवाय अन्य गतियोमें इसके बन्धका प्रारम्भ क्यों नहीं होता? उत्तर—अन्य गतियोमे इसके बन्धका प्रारम्भ नहीं होता, कारण कि तीर्थंकर नामकर्मके प्रारम्भका सहकारी कारण केवलज्ञानसे उपलक्षित जीव द्रव्य है, अतएव मनुष्य गतिके बिना उसके बन्ध प्रारम्भकी उत्पत्तिका विरोध है।

गो. क./जी. प्र /९३/७८/१० नरा इति विशेषणं शेषगतिज्ञानमपाकरोति विशिष्टप्रणिधानक्षयोपशमादिसामग्रीविशेषाभावात्। =बहुरि,मनुष्य कहनेका अभिप्राय यह है जो और गतिवाले जीव तीर्थंकर बंधका प्रारंभ न करै जातै और गतिवाले जीवनिकै विशिष्ट विचार क्षयो-पशमादि सामग्रीका अभाव है सो प्रारंभ तौ मनुष्य विषै ही है।

२. केवलीके पादमूलमें ही बन्धनेका नियम क्यों

गो. क./जी. प्र./९३/७८/११ केवलिद्वयान्ते एवेति नियमः तदन्यत्र तादृग्-विशुद्धिविशेषासंभवात्। =प्रश्न—[केवलीके पादमूलमें ही बन्धने का नियम क्यों?] उत्तर—बहुरि केवलिके निकट कहनेका अभिप्राय यह है जौ और ठिकानै ऐसी विशुद्धता होई नाहीं, जिसतैं तीर्थंकर बंधका प्रारंभ होई।

३. अन्य गतियोंमे तीर्थंकरका बन्ध कैसे सम्भव है

गो.क./जी प्र /५२४/१२ देवनारकासंयतेऽपि तद्बन्धः कथं। सम्यक्त्वा-प्रच्युतावुत्कृष्टतन्निरन्तरबन्धकालस्यान्तर्मुहूर्ताधिकाष्टवर्षन्यूनपूर्वको-टिद्वयाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपममात्रत्वेन तत्रापि संभवात्। =प्रश्न—जो मनुष्य ही विषै तीर्थंकर बंधका प्रारम्भ कहा तो देव, नारकीकै असंयतविषैं तीर्थंकर बन्ध कैसे कहा? उत्तर—जो पहिलै तीर्थंकर बंधका प्रारंभ तौ मनुष्य ही कै होइ पीछे जो सम्यक्त्वस्यो भ्रष्ट न होइ तो समय समय प्रति अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष घाटि दोय-कोडि पूर्व अधिक तेतीस सागर पर्यन्त उत्कृष्ट पनै तीर्थंकर प्रकृति-का बंध समयप्रबद्धविषै हुआ करै तातै देव नारकी विषै भी तीर्थं-करका बंध संभवै है।

४. तिर्यंचगतिमें उसके बन्धका सर्वथा निषेध क्यों

ध ८/३, ३८/७४/८ मा होदु तत्थ तित्थयरकम्मबंधस्स पारंभो, जिणा-णमभावादो। किंतु पुव्वं बद्धतिरिक्खाउआणं पच्छा पडिवण्णसम्म-त्तादिगुणेहि तित्थयरकम्मं बंधमाणाणं पुणो तिरिक्खेसुप्पण्णाणं तित्थयरस्स बंधस्स सामित्तं लब्भदि त्ति वुत्ते—ण, बद्धतिरिक्ख-मणुस्साउआणं जीवाणं बद्धणिरय-देवाउआण जीवाणं व तित्थयर-कम्मस्स बंधाभावादो। तं पि कुदो। पारद्धतित्थयरबंधभवादो तदिय भवे तित्थयरसंतकम्मियजीवाणं मोक्खगमण-णियमादो। ण च तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पण्णमणुससम्माइट्ठीण देवेसु अणुप्पज्जिय देवणेर-इएसुप्पण्णाणं व मणुस्सेसुप्पत्ती अत्थि जेण तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पण्ण-मणुससम्माइट्ठीणं तदियभवे णिव्वुई होज्ज। तम्हा तिगइअसंजद-सम्माइट्ठिणो चेव सामिया त्ति सिद्धं। =प्रश्न—तिर्यग्गतिमें तीर्थंकर कर्मके बन्धका प्रारम्भ भले ही न हो, क्योंकि वहाँ जिनोका अभाव है। किन्तु जिन्होने पूर्वमे तिर्यगायुको बान्ध लिया है, उनके पीछे सम्यक्त्वादि गुणोके प्राप्त हो जानेसे तीर्थंकर कर्मको बान्धकर पुनः तिर्यञ्चोमे उत्पन्न होनेपर तीर्थंकरके बन्धका स्वामीपना पाया जाता है? उत्तर—ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि जिन्होंने पूर्वमें तिर्यंच व मनुष्यायुका बन्ध कर लिया है उन जीवोंके नरक व देव आयुओंके बन्धसे संयुक्त जीवोंके समान तीर्थंकर कर्मके बन्धका अभाव है। प्रश्न—वह भी कैसे सम्भव है? उत्तर—क्योंकि जिस भवमें तीर्थंकर प्रकृतिका बंध प्रारम्भ किया है उससे तृतीय भवमें तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्वयुक्त जीवोंके मोक्ष जानेका नियम है। परन्तु तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न हुए मनुष्य सम्यग्दृष्टियोकी देवोंमें उत्पन्न न होकर देव नारकियोमें उत्पन्न हुए जीवोंके समान मनुष्योंमें उत्पत्ति होती नहीं, जिससे कि तिर्यंच व मनुष्योंमें उत्पन्न हुए मनुष्य सम्यग्दृष्टियोकी तृतीय भवमें मुक्ति हो सके। इस कारण तीन गतियोके असंयत सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके स्वामी हैं।

५. नरकगतिमें उसका बन्ध कैसे सम्भव है।

गो. क./जी प्र./५५०/७४२/२० नन्वविरदादिचत्तारितित्थयरबंधपारंभया णरा केवलि दुगंते इत्युक्तं तदा नारकेषु तद्युक्तस्थानं कथं बध्नाति। तन्न। प्राग्बद्धनरकायुषां प्रथमोपशमसम्यक्त्वे वेदकसम्यक्त्वे वा प्रारब्धतीर्थबन्धाना मिथ्यादृष्टित्वेन मृत्वा तृतीयपृथ्व्यन्तं गताना शरीरपर्याप्तेरुपरि प्राप्ततदन्यतरसम्यक्त्वाना तद्बन्धस्यावश्यं-भावात्। =प्रश्न—"अविरतादि चत्तारि तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते" इस वचन तैं अविरतादि च्यारि गुणस्थानवाले मनुष्य ही केवली द्विककै निकटि तीर्थंकर बंधके प्रारंभक कहे नरक विषैं कैसे तीर्थंकरका बंध है? उत्तर—जिनके पूर्वैं नरकायुका बंध होइ, प्रथमोपशम वा वेदक सम्यग्दृष्टि होय तीर्थंकरका बन्ध प्रारम्भ मनुष्य करै पीछे मरण समय मिथ्यादृष्टि होइ तृतीय पृथ्वीपर्यंत उपजै तहाँ शरीर पर्याप्ति पूर्ण भए पीछे तिन दोऊनि मैं स्यों किसी सम्यक्त्वको पाई समय प्रबद्ध विषैं तीर्थंकरका भी बंध करै है।

६. कृष्ण व नील लेश्यामें इसके बन्धका सर्वथा निषेध क्यों

ध. ८/३, २५८/३३२/३ तत्थ हेट्ठिमइंदए णीललेस्सासहिए तित्थयर-संतकम्मियमिच्छाइट्ठीणमुववादाभावादो। ·· तित्थयरसंतकम्मिय-मिच्छाइट्ठीणं णेरइएसुववज्जमाणाणं सम्माइट्ठीणं व काउलेस्सं मोत्तूण अण्णलेस्साभावादो वा ण णीलकिण्हलेस्साए तित्थयरसंत-कम्मिया अत्थि। =प्रश्न—[कृष्ण, नीललेश्यामें इसका बंध क्यों सम्भव नहीं है।] उत्तर—नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रक-में तीर्थंकर प्रकृतिके सत्त्ववाले मिथ्यादृष्टियोंकी उत्पत्तिका अभाव है। · अथवा नारकियोमें उत्पन्न होनेवाले तीर्थंकर सत्कर्मिक मिथ्यादृष्टि जीवोंके सम्यग्दृष्टियोके समान कापोत लेश्याको छोडकर अन्य लेश्याओका अभाव होनेसे नील और कृष्ण लेश्यामें तीर्थंकरकी सत्तावाले जीव नहीं होते हैं। (गो क./जी. प्र /३५४/५०१/८)

७. प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें इसके बन्ध सम्बन्धी दृष्टि भेद

गो. क./जी प्र./९३/७८/८ अत्र प्रथमोपशमसम्यक्त्वे इति भिन्नविभक्ति-करणं तत्सम्यक्त्वे स्तोकान्तर्मुहूर्तकालत्वात् षोडशभावनासमृद्धय-भावात् तद्बन्धप्रारम्भो न इति केषांचित्पक्षं ज्ञापयति। =इहां प्रथमोपशम सम्यक्त्वका जुदा कहनेका अभिप्राय ऐसा है जो कोई आचार्यनिका मत है कि प्रथमोपशमका काल थोरा अंतर्मुहूर्त मात्र है तातै षोडश भावना भाई जाइ नाहीं, तातै प्रथमोपशम विषैं तीर्थंकर प्रकृतिके बंधका प्रारंभ नाहीं है।

५. तीर्थंकर परिचय सारणी

१. भूत भावी तीर्थंकर परिचय

	जम्बू द्वीप भरत क्षेत्रस्थ चतुर्विंशतितीर्थंकरोंका परिचय								अन्य द्वीप व अन्य क्षेत्रका
	१ भूतकालीन	२ भावि कालीनका नाम निर्देश					३ भावि तीर्थंकरोंके पूर्व अनन्त भवके नाम		तीर्थंकरोंका परिचय
नं०	जयसेन प्रतिष्ठा पाठ/४७०-४९३	ति.प./४/१५७९-१५८१	त्रि० सा०/८७३-८७५	ह०पु०/६०/५५८-५६२	म०पु०/७६/४७६-४८०	जयसेन प्रतिष्ठा पाठ/५२०-५४३	ति.प./४/१५८३-१५८६	म.पु./७६/४७१-४७५	ति.प./४/२३६६
१	निर्वाण	महापद्म	महापद्म	महापद्म	महापद्म	महापद्म	श्रेणिक	श्रेणिक	णवरि विसेसो तस्सिं सलागपुरिसा भवंति जे कोई। ताणं णामापहुदिसु उवदेसो संपइ पण्णट्ठो ।२३६६। विशेष यह कि उस (ऐरावत) क्षेत्रमें जो कोई शलाका पुरुष होते हैं उनके नामादि विषयक उपदेश नष्ट हो चुका है।
२	सागर	सुरदेव	सुरदेव	सुरदेव	सुरदेव	सुरप्रभ	सुपार्श्व	सुपार्श्व	
३	महासाधु	सुपार्श्व	सुपार्श्व	सुपार्श्व	सुपार्श्व	सुप्रभ	उदंक	उदंक	
४	विमलप्रभ	स्वयंप्रभ	स्वयप्रभ	स्वयप्रभ	स्वयंप्रभ	स्वयप्रभ	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	
५	शुद्धाभदेव	सर्वप्रभ	सर्वात्मभूत	सर्वात्मभूत	सर्वात्मभूत	सर्वायुध	कृतसूर्य	पद्म	
६	श्रीधर	देवसुत	देवपुत्र	देवदेव	देवपुत्र	जयदेव	क्षत्रिय	क्षत्रिय	
७	श्रीदत्त	कुलसुत	कुलपुत्र	प्रभोदय	कुलपुत्र	उदयप्रभ	पाविल	श्रेष्ठी	
८	सिद्धाभदेव	उदङ्क	उदङ्क	उदङ्क	उदङ्क	प्रभादेव	शंख	शंख	
९	अमलप्रभ	प्रोष्ठिल	प्रौष्ठिल	प्रश्नकीर्ति	प्रौष्ठिल	उदंक	नन्द	नन्दन	
१०	उद्धारदेव	जयकीर्ति	जयकीर्ति	जयकीर्ति	जयकीर्ति	प्रश्नकीर्ति	सुनन्द	सुनन्द	
११	अग्निदेव	मुनिसुव्रत	मुनिसुव्रत	सुव्रत	मुनिसुव्रत	जयकीर्ति	शशाङ्क	शशाङ्क	
१२	सयम	अर	अर	अर	अरनाथ	पूर्णबुद्धि	सेवक	सेवक	
१३	शिव	अपाप	निष्पाप	पुण्यमूर्ति	अपाप	निःकषाय	प्रेमक	प्रेमक	
१४	पुष्पाजलि	निःकषाय	निःकषाय	निःकषाय	निःकषाय	विमलप्रभ	अतोरण	अतोरण	
१५	उत्साह	विपुल	विपुल	विपुल	विपुल	बहुलप्रभ	रैवत	रैवत	
१६	परमेश्वर	निर्मल	निर्मल	निर्मल	निर्मल	निर्मल	कृष्ण	वासुदेव	
१७	ज्ञानेश्वर	चित्रगुप्त	चित्रगुप्त		चित्रगुप्त	चित्रगुप्ति	सीरी	भगलि	
१८	विमलेश्वर	समाधिगुप्त	समाधिगुप्त	मनाधिगुप्त	समाधिगुप्त	समाधिगुप्ति	भगलि	वागलि	
१९	यशोधर	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	स्वयम्भू	विगलि	द्वैपायन	
२०	कृष्णमति	अनिवर्तक	अनिवर्तक	अनिवर्तक	अनिवर्तक	कदर्प	द्वीपायन	कनकपाद	
२१	ज्ञानमति	जय	जय	जय	विजय	जयनाथ	माणवक	नारद	
२२	शुद्धमति	विमल	विमल	विमल	विमल	विमल	नारद	चारुपाद	
२३	श्रीभद्र	देवपाल	देवपाल	दिव्यपाद	देवपाल	दिव्यवाद	सुरूपदत्त	सत्यकिपुत्र	
२४	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	अनन्तवीर्य	सत्यकिपुत्र	एक कोई अन्य	

२. वर्त्तमान चौवीसीके पूर्व भव नं० २ (देवसे पूर्व) का परिचय

	१ वर्तमानका नाम निर्देश	२ पूर्व भव नं० २ (देव गतिसे पूर्व) के नाम				३. क्या थे		४. पिताओंके नाम		५. पूर्व भवके देश व नगरके नाम			
नं०	प्रमाण (दे० अगली सूची)	महापुराण सर्ग/श्लो०	नाम	प.पु./२०/१८-२४	ह.पु /६०/ १५०-१५५	म.पु./सर्ग/श्लो०		प.पु./२०/ २५-३०	ह.पु /६०/ १५८-१६३	१. प पु./२०/१४-१७; २. ह.पु./६०/१४२-१४६ म.पु /सर्ग/श्लो०		प्रमाण नं०	विशेष
१	ऋषभनाथ	४७/३५७	वज्रनाभि	वज्रनाभि	वज्रनाभि	११/५५	चक्रवर्ती	वज्रसेन	वज्रसेन	११/८	जम्बू वि. पुण्डरीकिणी		
२	अजितनाथ	४८/५४	विमलवाहन	विमलवाहन	विमल	४८/४	मण्डलेश्वर	महातेज	अरिन्दम	४८/४	,, ,, सुसीमा	१	पुण्डरीकिणी
३	सम्भवनाथ	४६/५६	विमलवाहन	विपुलख्याति	विपुलवाहन	४६/२	"	रिपंदम	स्वयप्रभ	४६/२	,, ,, क्षेमपुरी	१-२	१. ,, २. रत्नसंचय
४	अभिनन्दन	५०/६६	महाबल	विपुलवाहन	महाबल	५०/३	"	स्वयप्रभ	विमलवाहन	५०/३	,, ,, रत्नसंचय	१	सुसीमा
५	सुमतिनाथ	५१/८६	रतिषेण	महाबल	अतिबल	५१/३	"	विमलवाहन	सीमन्धर	५१/३	धात. वि. पुण्डरीकिणी	१	"
६	पद्मप्रभु	५२/७०	अपराजित	अतिबल	अपराजित	५२/२	"	सीमन्धर	पिहितास्रव	५२/२	,, ,, सुसीमा		
७	सुपार्श्व	५३/५६	नन्दिषेण	अपराजित	नन्दिषेण	५३/२	"	पिहितास्रव	अरिन्दम	५३/२	,, ,, क्षेमपुरी		
८	चन्द्रप्रभ	५४/२७६	पद्मनाभ	नन्दिषेण	पद्म	५४/१४३	"	अरिन्दम	युगन्धर	५४/१३०	,, ,, रत्नसंचय	१	क्षेमा
९	पुष्पदन्त	५५/६२	महापद्म	पद्म	महापद्म	५५/२	"	युगन्धर	सर्वजनानन्द	५५/२	पुष्कर. वि. पुण्डरीकिणी	१	क्षेमा
१०	शीतलनाथ	५६/६२	पद्मगुल्म	महापद्म	पद्मगुल्म	५६/२	"	सर्वजनानन्द	उभयानन्द	५६/२	,, ,, सुसीमा	१	रत्नसंचयपुरी
११	श्रेयान्स	५७/६६	नलिनप्रभ	पद्मोत्तर	नलिनगुल्म	५७/३	"	अभयानन्द	वज्रदत्त	५७/२	,, ,, क्षेमपुरी	१	,,
१२	वासुपूज्य	५८/५८	पद्मोत्तर	पङ्कजगुल्म	पद्मोत्तर	५८/२	"	वज्रदन्त	वज्रनाभि	५८/२	,, ,, रत्नसंचय		
१३	विमलनाथ	५६/६१	पद्मसेन	नलिनगुल्म	पद्मासन	५६/३	"	वज्रनाभि	सर्वगुप्त	५६/३	धात. विदेह महानगर		
१४	अनन्तनाथ	६०/४८	पद्मरथ	पद्मासन	पद्म	६०/३	"	सर्वगुप्ति	त्रिगुप्त	६०/२	,, ,, अरिष्टा		
१५	धर्मनाथ	६१/५४	दशरथ	पद्मरथ	दशरथ	६१/३	"	गुप्तिमान्	चित्तरक्ष	६१/२	,, ,, सुसीमा	१-२	१. सुमाद्रिका २. मद्रिलपुर
१६	शान्तिनाथ	६३/५०४	मेघरथ	दृढरथ	मेघरथ	६३/३८४	"	चिन्तारक्ष (घनरथ तीर्थंकर १६४)	विमलवाहन	६३/१४२	जम्बू वि पुण्डरीकिणी		
१७	कुन्थु नाथ	६४/५४	सिंहरथ	महामेघरथ	सिंहरथ	६४/३	"	विपुलवाहन	घनरथ	६४/२	,, ,, सुसीमा	२	रत्नसंचय
१८	अरहनाथ	६५/५०	धनपति	सिंहरथ	धनपति	६५/२	"	घनरव	सवर	६५/२	,, ,, क्षेमपुरी		
१९	मल्लिनाथ	६६/६६	वैश्रवण	वैश्रवण		६६/२	"	धीर	वरधर्म	६६/२	,, ,, वीतशोका		
२०	मुनिसुव्रत	६७/६०	हरिवर्मा	श्रीधर्म	श्रीधर्म	६७/२	"	संवर	सुनन्द	६७/२	,, भरत चम्पापुरी		
२१	नमिनाथ	६६/७१	सिद्धार्थ	सुरश्रेष्ठ	सिद्धार्थ	६६/६-१०	"	त्रिलोकीय	नन्द	६८/२	,, ,, कौशाम्बी		
२२	नेमिनाथ	७२/२७७	सुप्रतिष्ठ	सिद्धार्थ	सुप्रतिष्ठ	७०/५४	"	सुनन्द	व्यतीतशोक	७०/५०	,, ,, हस्तनागपुर	१	नागपुर
२३	पार्श्वनाथ	७३/१६६	आनन्द	आनन्द	आनन्द	७३/६१	"	डामर	दामर	७३/४१	,, ,, अयोध्या		
२४	वर्द्धमान	७४/२४३	नन्द	सुनन्द	नन्दन	७४/२४३	"	प्रौष्ठिल	प्रौष्ठिल	७४/२४२	,, ,, छत्रपुर		

६. वर्तमान चौबीसीके वर्तमान भवका परिचय—(१. सामान्य)

	१. नाम निर्देश				२ पूर्व भवका स्थान (देव भव)				३ वर्तमान भवकी जन्म नगरी				४ चिह्न	५. यक्ष	६. यक्षिणी
	१. ति.प /४/५१२-५१४ २ प पु /२०/८-१० ३. ह पु /६०/१३८-१४१				१. ति.प./४/५२२-५२५ २ प.पु /२०/३१-३५ ३. ह पु /६०/१६४-१६८				१ ति.प./४/५२६-५४९ २. प पु /२०/३६-६० ३ ह पु /६०/१८२-२०५				ति प /४/६०४	ति प./४/-९३४-९३६	ति.प./४/-९३७-९३९
४	म.पु. सर्ग/श्लो.	सामान्य नाम	विशेष प्रमाण	विशेष नाम	म.पु / सर्ग/श्लो.	सामान्य नाम	विशेष प्रमाण	विशेष नाम	४. म.पु / सर्ग/श्लो	सामान्य नाम	विशेष प्रमाण	विशेष नाम			
			न.				म.				ज.				
१	१४/१६०	ऋषभ			११/१११	सर्वार्थसिद्धि			१२/८२	अयोध्या	१	विनीता	बैल	गोवदन	चक्रेश्वरी
२	४८/१	अजित			४८/१३	विजय	२	वैजयन्त	४८/२०	"	१,२	साकेता	गज	महायक्ष	रोहिणी
३	४९/१	सम्भव			४९/६	अ. ग्रैवेयक			४९/१४	श्रावस्ती			अश्व	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४	५०/१	अभिनन्दन			५०/१३	विजय	२	वैजयन्त	५०/१६	अयोध्या	१	साकेता	बन्दर	यक्षेश्वर	वज्रशृंखला
५	५१/१	सुमति			५१/१५	वैजयन्त	१	जयन्त	५१/१९-२०	"	१,२	"	चकवा	तुम्बुरव	वज्रांकुशा
६	५२/१	पद्मप्रभु			५२/१४	ऊ ग्रैवेयक			५२/१८	कौशाम्बी	२	वत्स	कमल	मातङ्ग	अप्रतिचक्रेश्वरी
७	५३/१	सुपार्श्व			५३/१५	म. ग्रैवेयक			५३/१८	काशी	१	वाराणसी	नन्द्यावर्त	विजय	पुरुषदत्ता
८	५४/१	चन्द्रप्रभु			५४/१६२	वैजयन्त			५४/१६३	चन्द्रपुर			अर्धचन्द्र	अजित	मनोवेगा
९	५५/१	सुविधि	१	पुष्पदन्त	५५/२०	प्राणत	१,३	आरण २ अपराजित	५५/२३	काकन्दी			मगर	ब्रह्म	काली
१०	५६/१	शीतलनाथ			५६/१८	आरण	१,३	अच्युत	५६/२४	भद्रपुर	३	भद्रिल	स्वस्तिक	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११	५७/१	श्रेयान्सनाथ	३	श्रेयोनाथ	५७/१४	पुष्पोत्तर			५७/१७	सिंहपुर	३	सिंहनादपुर	गैंडा	कुमार	महाकाली
१२	५८/१	वासुपूज्य			५८/१३	महाशुक्र	२	कापिष्ठ	५८/१७	चम्पा			भैंसा	षण्मुख	गौरी
१३	५९/१	विमलनाथ			५९/६	सहस्रार	१,३	शतार २. महाशुक्र	५९/१४	काम्पिल्य			शूकर	पाताल	गान्धारी
१४	६०/२	अनन्तनाथ	३	अनन्तजित	६०/१२	पुष्पोत्तर	२	सहस्रार	६०/१६	अयोध्या	२	विनीता	सेही	किन्नर	वैरोटी
१५	६१/१	धर्मनाथ			६१/१२	सर्वार्थसि.	२	पुष्पोत्तर	६१/१३	रत्नपुर			वज्र	किंपुरुष	सोलसा(अनन्तम.)
१६	६२/१	शान्तिनाथ			६३/३३७	"			६३/३८३	हस्तिनागपुर			हरिण	गरुड	मानसी
१७	६४/१	कुन्थुनाथ			६४/१०	"			६४/१२	"			छाग	गन्धर्व	महामानसी
१८	६५/१	अरनाथ			६५/८	जयन्त	१ २	अपराजित सर्वार्थसिद्धि	६५/१४	"			मत्स्य	कुबेर	जया
१९	६६/१	मल्लिनाथ			६६/१४	अपराजित	२	विजय १. अपराजित	६६/२०	मिथिला			कलश	वरुण	विजया
२०	६७/१	मुनिसुव्रत	१,२	सुव्रतनाथ	६७/१५	प्राणत (१ आनत)	२ ३	अपराजित सहस्रार	६७/२०	राजगृह	२-३	कुशाग्रनगर	कूर्म	भृकुटि	अपराजिता
२१	६९/१	नमिनाथ			६९/१६	अपराजित	२	आनत	६९/१९	मिथिला			उत्पल (नीलकमल)	गोमेध	बहुरूपिणी
२२	७०/१	नेमिनाथ			७०/५७	जयन्त	१ २	अपराजित आनत	७१/२८	द्वारावती	१-२	शौरीपुर	शंख	पार्श्व	कूष्माण्डी
२३	७३/१	पार्श्वनाथ			७३/६८	प्राणत	२ ३	वैजयन्त सहस्रार	७३/७५	बनारस	१-२	वाराणसी	सर्प	मातङ्ग	पद्मा
२४	७४/१	वर्द्धमान	२,३	महावीर	७४/२४६	पुष्पोत्तर			७४/२५२	कुण्डनपुर	१-२	कुण्डलपुर	सिंह	गुह्यक	सिद्धायिनी

१. गर्भावतरण

नं.	४ म.पु./सर्ग/श्लो.	७. पिताके नाम — १. ति.प./४/५२६-५४६ २. म.पु./२०/३६-६० ३. ह.पु./६०/१८२-२०५ — ४. म.पु./पूर्ववत् सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	८. माताका नाम — १. ति.प./४/५२६-५४६ २. प.पु./२७/३६-६० ३. ह.पु./६०/१८२-२०५ — ४. म.पु./पूर्ववत् सामान्य	प्रमाण नं.	विशेष	९. वंश — ति.प./४/५५०	त्रि.सा./८४८-८४९	१० गर्भ तिथि — म.पु./पूर्ववत्	११. गर्भ-नक्षत्र — म.पु./पूर्ववत्	१२. गर्भ-काल — म.पु./पूर्ववत्
१	१२/१४६-१६३	नाभिराय			मरुदेवी			इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	आषाढ कृ. २	उत्तराषाढ	
२	४८/१८-२५	जितशत्रु			विजयसेना			"	"	ज्येष्ठ कृ. १५	रोहिणी	ब्रह्ममुहूर्त
३	४९/१४-१६	दृढराज्य	१-३	जितारि	सुषेणा	१-३	सेना	"	"	फा. शु. ८	मृगशिरा	प्रात:
४	५०/१६-१८	स्वयंवर	१-३	सवर	सिद्धार्था			"	"	वैशा. शु. ६	पुनर्वसु	
५	५१/१९-२१	मेघरथ	१-३	मेघप्रभ	मंगला	२-३	सुमंगला	"	"	श्रा. शु. २	मघा	
६	५२/१८-१९	धरण			सुसीमा			"	"	मा. कृ. ६	चित्रा	प्रातः
७	५३/१८-२०	सुप्रतिष्ठ			पृथ्वीषेणा			"	"	भाद्र. शु. ६	विशाखा	
८	५४/१६४-१६६	महासेन			लक्ष्मणा	१	लक्ष्मीमती	"	"	चैत्र. कृ. ५	...	पिछली रात्रि
९	५५/२४-२५	सुग्रीव			जयरामा	१-३	रामा	"	"	फा कृ. ९	मूल	प्रभात
१०	५६/२४-२६	दृढरथ			सुनन्दा	१	नन्दा	"	"	चैत्र. कृ. ८	पूर्वाषाढा	अन्तिम रात्रि
११	५७/१७-१९	विष्णु				१	वेणुश्री	"	"	ज्येष्ठ. कृ. ६	श्रवण	प्रात
						२,३	विष्णुश्री	"	"			...
१२	५८/१७-१८	वसुपूज्य			जयावती	१	विजया	"	"	आषा. कृ ६	शतभिषा	अन्तिम रात्रि
१३	५९/१४-१७	कृतवर्मा			जयश्यामा	२-३	शर्मा	"	"	ज्येष्ठ कृ १०	उत्तरभाद्रपदा	प्रात.
१४	६०/१६-१८	सिंहसेन			"	१-३	सर्वश्यामा	"	"	कार्ति. कृ. १	रेवती	
१५	६१/१३-१५	भानु	२	भानुराज	सुप्रभा	१-३	सुव्रता	कुरु	"	वैशा. शु. १३	"	"
१६	६३/३८४-३८६	विश्वसेन			ऐरा			इक्ष्वाकु	"	भाद्र. कृ. ७	भरणी	अन्तिम रात्रि
१७	६४/१३-१४	सूरसेन	३	सूर्य	श्रीकान्ता	१-३	श्रीमती	कुरु	"	श्रा कृ. १०	कृत्तिका	"
१८	६५/१५-१६	सुदर्शन			मित्रसेना			"	"	फा. कृ. ३	रेवती	"
१९	६६/२०-२२	कुम्भ			प्रजावती	१	प्रभावती	इक्ष्वाकु	"	चैत्र. शु. १	अश्विनी	प्रातः
						२,३	रक्षिता					
२०	६७/२०-२१	सुमित्र			सोमा	१-३	पद्मावती	यादव	हरिवंश	श्रा. कृ. २	श्रवण	
२१	६९/१९,२५,२६	विजय			महादेवी	२-३	वप्रा	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	आश्वि. कृ. २	अश्विनी	अन्तिम रात्रि
						१	वप्रिला					
२२	७१/३०-३१	समुद्रविजय			शिवदेवी			यादव	हरिवंश	का शु. ६	उत्तराषाढा	"
२३	७३/७५-७६	विश्वसेन	१-३	अश्वसेन	ब्राह्मी	१-३	वर्मिला (नामा)	उग्र	उग्र	वैशा. कृ. २	विशाखा	प्रातः
						२-३	वर्मा					
२४	७४/२५२-२५४	सिद्धार्थ			प्रियकारिणी			नाथ	नाथ	आषा. शु. ६	उत्तराषाढा	अन्तिम रात्रि

२. जन्मावतार

नं०	म० पु०/ सर्ग/श्लो०	१३ जन्म तिथि — १ ति. प./४/५२६-५४९; २ ह पु/१६९-१८०			१४ जन्म नक्षत्र — १. ति प/४/५२६-५४९; २. प. पु/२०/३६-६०; ३. ह पु./६०/१८२-२०५; ४ म. पु/पूर्ववत्			१५ योग — १ म. पु/ जन्म तिथिवत्	१६ उत्सेध — १ ति प/४/५८५-५८७; २ त्रि सा./८०४; ३. प. पु/२०/११२-११५; ४. ह पु/६०/३०४-३०५; ५ म पु/पर्व/श्लो.		१७ वर्ण — १. ति. प/४/५८८-५८६; २ त्रि सा./८४७-८४८; ३. प पु./२०/६३-६६; ४. ह पु/६०/२१०-२१३; ५. म. पु/उत्सेधवत		
		सामान्य	प्रमाण न०	विशेष	सामान्य	प्रमाण न	विशेष			धनुष	सामान्य	प्रमाण न	विशेष
१	१३/२	चैत्र कृ. ६			उत्तराषाढा					५०० ,,	स्वर्ण		
२	४८/२५	मा. शु. १०			रोहिणी			प्रजेशयोग	४८/२८-३१	४५० ,,	,,		
३	४९/१८-१९	का. शु. १५	१-२	मार्ग. शु. १५	ज्येष्ठा	२ ४	पूर्वाषाढा मृगशिरा	साम्ययोग	४९/२६-२८	४०० ,,	,,		
४	५०/१९	माघ शु १२			पुनर्वसु			अदितियोग	५०/२६-२७	३५० ,,	,,	५	बालचन्द्र
५	५१/२२	चैत्र शु ११	१-२	श्रा शु. ११	मघा			पितृ	५१/२६	३०० ,,	,,		
६	५२/२१	का. कृ. १३	१	आश्विन कृ. १३	चित्रा	४	चित्रा	त्वष्ट्रयोग	५२/३५	२५० ,,	रक्त		
७	५३/२२	ज्ये. शु १२	१		विशाखा			अग्निमित्र	५३/२५	२०० ,,	हरित	२	नील
८	५४/१७०	पौ कृ. ११			अनुराधा			शक्र	५४/१७६	१५० ,,	धवल		
९	५५/२७	मार्ग. शु १			मूल			जैत्र	५५/३०	१०० ,,	,,		
१०	५६/२८	माघ. कृ. १२			पूर्वाषाढा			विश्व	५६/३१	९० ,,	स्वर्ण		
११	५७/२१	फा. कृ. ११			श्रवण			विष्णु	५७/३८	८० ,,	,,		
१२	५८/१९-२०	फा. कृ. १४	१	फा. शु. १४	विशाखा	२,३	शतभिषा	वारुण	५८/२४	७० ,,	रक्त		
१३	५९/२१ (प्रति,ख ग)	माघ. शु. ४ ,, ,, १४	१-२	माघ. शु. १४	पूर्वभाद्रपदा	२-३	उत्तरा भाद्रपदा	अहिर्बुध्न	५९/२४	६० ,,	स्वर्ण		
१४	६०/२१	ज्ये. कृ. १२			रेवती			पूषा	६०/२४	५० ,,	,,		
१५	६१/१८	मा. शु. १३			पुष्य			गुरु	६१/२३	४५ ,,	,,		
१६	६३/३९७	ज्ये कृ. १४	१	ज्ये. शु. १२	भरणी			याम्य	६३/४१३	४० ,,	,,		
१७	६४/२२	वै. शु १			कृत्तिका			आग्नेय	६४/२६	३५ ,,	,,		
१८	६५/२१	मार्ग. शु. १४			रोहिणी	४	पुष्य		६५/२६	३० ,,	,,		
१९	६६/३१	मार्ग. शु. ११			अश्विनी				६६/३७	२५ ,,	,,		
२०	६७/४१		१,२ २/१६/१२	आश्वि. शु. १२ माघ कृ. १२	श्रवण				६७/२९	२० ,,	नील	२	कृष्ण
२१	६९/३०	आषा. कृ. १०	१	आषा. शु. १०	अश्विनी	४	स्वाति		६९/३३	१५ ,,	स्वर्ण		
२२	७१/३८	श्रा. शु ६	१-२	वैशा. शु. १३	चित्रा			ब्रह्म	७१/५०	१० ,,	नील	२	कृष्ण
२३	७३/९०	पौष, कृ. ११			विशाखा			अनिल	७३/९५	९ हाथ	हरित	२-४	नील,श्यामल
२४	७४/२६२	चै. शु. १३			उत्तरा-फाल्गुनी			अर्यमा	७४/२८०	७ ,,	स्वर्ण		

३. दीक्षा धारण

न०	१८ वैराग्य कारण				१९ दीक्षा तिथि			२० दीक्षा नक्षत्र		२१ दीक्षा काल			२२ दीक्षोपवास	
	ति. प /४/ ६०७-६११				१ ति. प./४/६४४-६६७ २. ह. पु./६०/२२६-२३६ ३ म. पु./पूर्ववत्			ति प / ६४४-६६७	म पु./ पूर्ववत्	१ ति. प /४/६४४-६६७ २. ह. पु./६०/२१७-२१८ ३. म. पु / पूर्ववत्			ति. प./४/ ६४४-६६७	ह./पु. ६०/ ५१६.
		म पु / सर्ग/श्लो	विषय	म पु/ सर्ग/श्लो.	सामान्य	प्रमाण नं	विशेष			सामान्य	प्रमाण	विशेष		
१	नीलाञ्जना मरण	१७/८	नीलाञ्जना मरण	१७/२०३	चै. कृ. ९			उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	अपराह्न	३	सायकाल	षष्ठोपवास	वेला
२	उल्कापात	४८/३२	उल्कापात	४८/३७-३९	मा. शु. ९			रोहिणी	रोहिणी	,,	३	,,	अष्ट भक्त	,,
३	मेघ			४९/३६-३७		१,२	मार्ग. शु. १५	ज्येष्ठा		,,			तृतीय उप.	,,
४	गन्धर्व नगर	५०/४५	मेघ	५०/५१-५४	मा शु १२			पुनर्वसु		पूर्वाह्न	-३	अपराह्न सायकाल	,, ,,	,,
५	जातिस्मरण			५१/७०-७२	वै. शु. ९			मघा	मघा	,,	३	प्रात'	,, ,,	तेला
६	,,			५२/५१-५४	का. कृ. १३			चित्रा	चित्रा	अपराह्न	२	सन्ध्या	,, भक्त	वेला
७	पतझड	५३/३७	ऋतु परिवर्तन	५३/४१-४३	ज्ये. शु. १२			विशाखा	विशाखा	पूर्वाह्न	२-३	अपराह्न सन्ध्या	,, ,,	,,
८	तडिद्	५४/३७	ऋतु परि०	५४/२१६-२१८	पौ कृ. ११			अनुराधा	अनुराधा	अपराह्न	३		,, उप.	,,
९	उल्का	५५/३७	उल्कापात	५५/४६-४८	मार्ग. शु. १	१	पौ. शु. ११	,,		,,	३	सायंकाल	,, भक्त	,,
१०	हिमनाश	५६/३६	हिम	५६/४४-४७	मा. कृ. १२			मूल	पूर्वाषाढा	,,	३	सायंकाल	,, उप.	,,
११	पतझड	५७/४३	बसन्त-वि०	५७/४८-५०	फा. कृ. ११			श्रवण	श्रवण	पूर्वाह्न	३	प्रात'	,, भक्त	,,
१२	जातिस्मरण	५८/३०	चिन्तवन	५८/३७-४०	फा. कृ १४			विशाखा	विशाखा	अपराह्न	३	सायकाल	एक उप.	१ उपवास
१३	मेघ	५९/३२	हिम	५९/४०/४२	मा. शु. ४			उ. भाद्रपदा	उ. भाद्रपदा	,,	३	,,	तृतीय ,,	वेला
१४	उल्कापात	६०/२६	उल्कापात	६०/३२-३४	ज्ये कृ १२			रेवती		,,	३	,,	,, भक्त	,,
१५	,,	६१/३०	,,	६१/३७-४०	मा. शु. १३	१	भाद्र. शु १३	पुष्य	पुष्य	,,	३	,,	,, ,,	,,
१६	जातिस्मरण	६३/४६२	दर्पण	६३/४७०-४७६	ज्ये कृ. १४	२	ज्ये. कृ. १३	भरणी	भरणी	,,			,, उप.	,,
१७	,,	६४/३६	जातिस्मरण	६४/३८-४१	वै शु. १			कृत्तिका	कृत्तिका	,,	३	सायंकाल	,, भक्त	,,
१८	मेघ	६५/३१	मेघ	६५/३३-३५	मार्ग. शु. १०			रेवती	रेवती	,,	३	सन्ध्या	,, ,,	,,
१९	तडिद्	६६/४०	जातिस्मरण	६६/४७-५०	मार्ग. शु. ११	२	मार्ग. शु. १	अश्विनी	अश्विनी	पूर्वाह्न	३	सायकाल	षष्ठ भक्त	तेला
२०	जातिस्मरण	६७/३७	हाथीका संयम	६७/४१-४५	वै कृ. १०	२	{ वै. कृ. ९ श्रा शु. ७ १९ + ५६	श्रवण	श्रवण	अपराह्न	३	,,	तृतीय उप.	वेला
२१	,,	३९/४५	जातिस्मरण	६९/५३-५६	आषा. कृ. १०	२	श्रा. शु. ४	अश्विनी	अश्विनी	,,	३	,,	,, भक्त	,,
२२	,,	७१/१६४	पशुक्रन्दन	७१/१६९-१७६	श्रा शु. ६	१	मा. शु. ११	चित्रा		,,	२-३	पूर्वाह्न सायंकाल	,, ,,	,,
२३	,,	७३/१२४	जातिस्मरण	७३/१२७-१३३	पौ. कृ. ११			विशाखा		पूर्वाह्न	३	प्रातः	षष्ठ भक्त	एक उपवास
२४	,,	७४/२९७	,,	७४/३०२-३०४	मार्ग. कृ. १०			उत्तरा फा०	उत्तरा फा	अपराह्न	३	सन्ध्या	तृतीय ,,	वेला

४. ज्ञानावतरण :

नं०	२३ दीक्षा वन: ति प /४/ ६४४–६६७	२३ दीक्षा वन: म. पु./ दीक्षातिथिवत्	२४ दीक्षा वृक्ष: प. पु /२०/ ३६–६०	२४ दीक्षा वृक्ष: म. पु./ दीक्षातिथिवत्	२५ सह दीक्षित: १.ति.प/४/६६८ २ ह पु./६०/३५० ३ म.पु /दीक्षा-तिथिवत्	२५ सह दीक्षित: म. पु / सर्ग/श्लो०	२६ केवलज्ञान तिथि: ति. प /४/ ६७६–७०१	२६ केवलज्ञान तिथि: ह. पु./४/ २५७–२६५	२६ केवलज्ञान तिथि: म. पु / पूर्ववत्	२७ केवलज्ञान नक्षत्र: ति. प /४/ ६७६-७०१	२७ केवलज्ञान नक्षत्र: म. पु / पूर्ववत्	२८ केवलोत्पत्ति काल: ति प /४/ ६७६-७०१	२८ केवलोत्पत्ति काल: ह. पु./६०/२५६	२८ केवलोत्पत्ति काल: म. पु / पूर्ववत्
१	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ (१७/१८२)	वट		४०००	२०/२६८	फा. कृ. ११	फा. कृ. ११	फा कृ. ११	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	पूर्वाह्न	पूर्वाह्न	
२	सहेतुक	सहेतुक	सप्तपर्ण	सप्तपर्ण	१०००	४८/४२	पौ. शु. १४	फा. कृ. ११	पौ. शु. ११	रोहिणी	रोहिणी	अपराह्न	अपराह्न	सन्ध्या
३	,,	,,	शाल	शाल्मलि	,,	४९/४०-४१	का. कृ ५	का. कृ ५	का. कृ ४	ज्येष्ठा	मृगशिरा	,,	,,	,,
४	उग्र	अग्रोद्यान	सरल	असन	,,	५०/५६	का शु. ५	पौ. शु १५	पौ. शु. १४	पुनर्वसु	पुनर्वसु	,,	,,	,,
५	सहेतुक	सहेतुक	प्रियङ्गु	प्रियङ्गु	,,	५१/७५	पौ. शु १५	चै. शु. १०	चै. शु. ११	हस्त		,,	,,	सूर्यास्त
६	मनोहर	मनोहर	प्रियङ्गु		,,	५२/५६-५०	वै शु. १०	,, ,, ,,	चै. शु. १५	चित्रा	चित्रा	,,	,,	अपराह्न
७	सहेतुक	सहेतुक	श्रीष	श्रीष	,,	५३/४५	फा. कृ. ७	फा. कृ. ७	फा. कृ. ६	विशाखा	विशाखा	,,	,,	सायं
८	सर्वार्थ	सुवर्तक	नाग	नाग	,,	५४/२२३-२२४	,, ,, ,,	,,	फा कृ. ७	अनुराधा	अनुराधा	,,	,,	,,
९	पुष्प	पुष्पक	साल	नाग	,,	५५/४९	का. शु. ३	का. शु ३	का शु. २	मूल	मूल	,,	,,	,,
१०	सहेतुक	सहेतुक	प्लक्ष	बेल	,,	५६/४८-४९	पौ कृ. १४	पौ. कृ. १४	पौ कृ. १४	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	,,	,,	,,
११	मनोहर	मनोहर	तेन्दु	तुम्बुर	,,	५७/५१-५२	मा. कृ. १५	मा. कृ. १५	मा. कृ. १५	श्रवण	श्रवण	,,	पूर्वाह्न	,,
१२	,,	,,	पाटला	कदम्ब	६०६	५८/४२	मा शु. २	मा. शु. २	मा. शु ३	विशाखा	विशाखा	,,	अपराह्न	,,
१३	सहेतुक	सहेतुक	जम्बू	जम्बु	१०००	५९/४४-४५	पौ. शु १०	पौ. शु १०	मा. शु. ६	उत्तराषाढा	उत्तराभाद्र	,,	,,	,,
१४	,,	,,	पीपल	अश्वत्थ	,,	६०/३५-३६	चै. कृ. १५	चै कृ. १५	चै. कृ १५	रेवती	रेवती	,,	,,	,,
१५	शालि	शाल	दधिपर्ण	सप्तच्छद	,,	६१/४२-४३	पौ. शु. १५	पौ. शु १५	पौ. शु. १५	पुष्य	पुष्य	,,	,,	,,
१६	आम्रवन	सहस्राम्र	नन्द	नन्द्यावर्त	,,	६३/४८१-४८२	पौ. शु. ११	पौ. शु ११	पौ. शु. १०	भरणी		,,	,,	,,
१७	सहेतुक	सहेतुक	तिलक	तिलक	,,	६४/४२-४३	चै. शु. ३	चै. शु. ३	चै शु ३	कृत्तिका	कृत्तिका	,,	,,	,,
१८	,,	,,	आम्र	आम्र	,,	६५/३७-३८	का शु. १२	का. शु. १२	का. शु. १२	रेवती	रेवती	,,	,,	,,
१९	शालि	श्वेत	अशोक	अशोक	३००	६६/५१-५२	फा. कृ. १२	फा. कृ. १२	मार्ग. शु. ११	अश्विनी	अश्विनी	,,	पूर्वाह्न	प्रातः
२०	नील	नीलोद्यान	चम्पक	चम्पक	१०००	६७/४६-४७	फा. कृ. ६	मार्ग. शु. ५ (१६/६४)	चै. कृ. १०	श्रवण	श्रवण	पूर्वाह्न	अपराह्न	सायं
२१	चैत्र	चैत्रोद्यान	बकुल	बकुल	,,	६९/५७-५९	चै. शु ३	चै. शु. ३	मार्ग. शु. ११	अश्विनी		अपराह्न	,,	,,
२२	सहकार	सहस्रार	मेषशृंग	बांस	,,	७१/१७९-१८१	आश्वि. शु. १	आश्वि. शु. १	आश्वि. कृ. १	चित्रा	चित्रा	पूर्वाह्न	पूर्वाह्न	प्रातः
२३	अश्वत्थ	अश्ववन	धव	देवदारु	३००	७३/१३४-१४३	चै. कृ. ४	चै. कृ. ४	चै. कृ. १३	विशाखा	विशाखा	,,	,,	,,
२४	नाथ	पण्डवन	साल	साल	एकाकी	७४/३५०	वै. शु १०	वै. शु. १०	वै. शु. १०	मघा	हस्त व उत्तरा-फागुनी	अपराह्न	अपराह्न	अपराह्न

नं०	म. पु /सर्ग/श्लो.	२९. केवल स्थान		३० केवल वन		३१ केवल वृक्ष (अशोक वृक्ष)		३२ समवसरण	३३. योग निवृत्ति काल		
		ह. पु./६०/ २५४-२५६	म. पु./पूर्ववत्	ति पं /४/ ६७९-७०१	म. पु /पूर्ववत्	१. ति. प /४/- ६६५-६६८ २. ह. पु /६०/- १८२-२०५	म. पु./पूर्ववत्	ति प./४/ ७१६-७१९	म./पु./सर्ग/श्लो		ति. प./४/ १२०६
१	२०/२१९-२२०	पूर्वतालका	पुरिमताल	पुरिमताल	शकट	न्यग्रोध	वट	१२ यो०	४७/३३६	१४ दिन पूर्व	१४ दिन पूर्व
२	४८/४०	अयोध्या	साकेत	सहेतुक	×	सप्तपर्ण	×	११½ "	४८/५१	१ मास पूर्व	१ मास पूर्व
३	४९/३८-४१	श्रावस्ती	श्रावस्ती	"	×	शाल	शाल्मलि	११ "	४९/५५	"	"
४	५०/५४-५५	अयोध्या	अयोध्या	उग्रवन	×	सरल	असन	१०½ "	५०/६५	"	"
५	५१/७४	"	×	सहेतुक	सहेतुक	प्रियंगु	प्रियंगु	१० "	५१/८४	"	"
६	५२/५३	कौशाम्बी	वर्धमान व.	मनोहर	×	"	×	९½ "	५२/६५-६६	"	"
७	५३/४३-४४	काशी	×	सहेतुक	सहेतुक	श्रीष	श्रीष	९ "	५३/५२	"	"
८	५४/२२३	चन्द्रपुरी	×	सर्वार्थ	सुवर्तक	नाग	नाग	८½ "	५४/२७०	"	"
९	५५/५०	काकन्दी	×	पुष्प	पुष्प ×	अक्ष (बहेडी)	नाग	८ "	५५/५६-५७	"	"
१०	५६/४८	भद्रिल	×	सहेतुक	×	धूलीशाल	वेल	७½ "	५६/५६-५७		१ मास
११	५७/५१	सिंहनादपुर	×	मनोहर	मनोहर	तेन्दू	तुम्बुर	७ "	५७-६०	१ मास पूर्व	"
१२	५८/४१-४२	चम्पापुरी	×	"	"	पाटल	कदम्ब	६½ "	५८/५१	"	"
१३	५९/४४	कम्पिला	×	सहेतुक	सहेतुक	जम्बू	जम्बू	६ "	५९/५४	"	"
१४	६०/३५	अयोध्या	×	"	"	पीपल	पीपल	५½ "	६०/४४	"	"
१५	६१/४२	रत्नपुर	×	"	शाल	दधिपर्ण	सप्तच्छद	५ "	६१/५१	"	"
१६	६३/३८१	हस्तनागपुर	×	आम्रवन	सहस्राम्र	नन्दी	नन्दी	४½ "	६३/४९६	"	"
१७	६४/४२	"	×	सहेतुक	सहेतुक	तिलक	तिलक	४ "	६४/५१	"	"
१८	६५/३७	"	×	"	"	आम्र	आम्र	३½ "	६५/४५	"	"
१९	६६/५१	मिथिला	×	मनोहर	श्वेत	ककेलि (अशोक)	अशोक	३ "	६६/६१	"	"
२०	६७/४६	कुशाग्रनगर	×	नील	नील	चम्पक	चम्पक	२½ "	६७/५५	"	"
२१	६९/५७	मिथिला	×	चित्र	चित्र	बकुल	बकुल	२ "	६९/६७	"	"
२२	७१/१७९-१८०	गिरनार	गिरनार		सहस्रार	मेषशृंग	बांस	१½ "	७२/२७३	"	"
२३	७३/१३४	आश्रमकेस	×		अश्ववन	धव	देवदारु	१¼ "	७३/१५५	"	"
२४	७४/३४९-३५०	ऋजुकूला	ऋजुकूला		षण्डवन	शाल	शाल	१ "	७४/५१०	दो दिन पूर्व	"

६. संघ

नं.	म पु/सर्ग/श्लो०	३९. पूर्वधारी १. ति.प/४/१०९८-११६१ २. ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म पु/पूर्ववत्			४०. शिक्षक १. ति.प./४/१०९८-११६१ २. ह पु/६०/३५८-४३१ ३ म.पु./पूर्ववत्			४१ अवधि ज्ञानी १. ति.प./४/१०९८-११६१ २. ह.पु/६०/३५८-४३१ ३. म पु/पूर्ववत्			४२. केवली १. ति.प/४/१०९८-११६१ २ ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म पु./पूर्ववत्			४३. विक्रियाधारी १ ति.प/४/१०९८-११६१ २. ह.पु./६०/३५८-४३१ ३. म.पु/पूर्ववत्		
		सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष
१	४७/३९०-३९४	४७५०	नं.		४१५०	नं.		९०००	नं.		२००००	नं.		२०६००	नं.	
२	४८/४३-४८	३७५०			२१६००			९४००			२००००			२०४००	२	२०४५०
															३	२०४००
३	४९/४३-४९	२१५०			१२९३००			९६००			१५०००			१९८००	२	१९८५०
४	५०/५७-६३	२५००			२३००५०			९८००			१६०००			१९०००		
५	५१/७६-८१	२४००			२५४३५०			११०००			१३०००			१८४००		
६	५२/५८-६४	२३००			२६९०००			१००००			१२०००	२	१२८००	१६८००	२	१६३००
७	५३/४६-५१	२०३०			२४४९२०			९०००			११०००	२	११३००	१५३००	२	१५१५०
८	५४/२५४-२७८	४०००	२,३	२०००	२१०४००	२,३	२००४००	२०००	२,३	८०००	१८०००	२,३	१००००	६००	२	१०४००
															३	१४०००
९	५५/५२-५७	१५००	२	५०००	१५५५००			८४००			७५००	३	७०००	१३०००		
१०	५६/५०-५७	१४००			५९२००			७२००			७०००			१२०००		
११	५७/५४-५९	१३००			४८२००			६०००			६५००			११०००		
१२	५८/४४-४९	१२००			३९२००			५४००			६०००			१०८००		
१३	५९/४८-५३	११००			३८५००			४८००			५५००			९०००		
१४	६०/३७-४२	१०००			३९५००			४३००			५०००			८०००		
१५	६१/४४	९००			४०७००			३६००			४५००			७०००		
१६	६३/४७९-४९५	८००			४१८००			३०००			४०००			६०००		
१७	६४/४५-४९	७००			४३१५०			२५००			३२००			५१००		
१८	६५/३९-४३	६१०			३५८३५			२८००			२८००			४३००		
१९	६६/५३-५९	५५०	२	७५०	२९०००			२२००			२२००	२	२६५०	२९००	२	१४००
२०	६७/४९-५३	५००			२१०००			१८००			१८००			२२००		
२१	६९/६०-६५	४५०			१२६००			१६००			१६००			१५००		
२२	७१/१८२-१८७	४००			११८००			१५००			१५००			११००		
२३	७३/१४९-१५२	३५०			१०९००			१४००			१०००			१०००		
२४	७४/३७२-३७८	३००			९९००			१३००			७००			९००		

नं०	म पु./ सर्ग/श्लो.	४९ आर्यिका सख्या १ ति. प /४/११६६-११७६ २ ह पु /६०/४३२-४४० ३. म पु./पूर्ववत्			५० मुख्य आर्यिका १. ति. प./४/११७८-११८० २. म. पु./ पूर्ववत्			५१ श्रावक सख्या १. ति. प./४/११८१-११८२ २. ह पु./६०/४४१- ३. म. पु./ पूर्ववत्			५२ श्राविका संख्या १. ति प /४/११८३ २. ह. पु./ ६०/४४२ ३ म पु./ पूर्ववत्		
		सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष	सामान्य	प्रमाण	विशेष
१	४७/२९०-२९४	३५००००			ब्राह्मी			३०००००			५०००००		
२	४८/४३-४८	३२००००			प्रकुब्जा	२	कुब्जा	"			"		
३	४९/४३-४९	३३००००	३	३२००००	धर्मश्री	२	धर्मार्या	"			"		
४	५०/५७-६३	३३०६००	३	३३००००	मेरुषेणा			"			"		
५	५१/७६-८१	३३००००			अनन्ता	२	अनन्तमती	"			"		
६	५२/५८-६४	४२००००			रतिषेणा			"			"		
७	५३/४६-५१	३३००००			मीना	२	मीनार्या				"		
८	५४/२४४-२४८	३८००००			वरुना			"			"		
९	५५/५२-५७	३८००००			घोषा	२	घोषार्या	२०००००			४०००००	३	५०००००
१०	५६/५०-५५	"			धरणा			"			"		
११	५७/५४-५९	१३००००	२,३	१२००००	चारणा	२	धारणा	"			"		
१२	५८/४४-४९	१०६०००			वरसेना	२	सेना	"			"		
१३	५९/४८-५३	१०३०००			पद्मा			"			"		
१४	६०/३७-४२	१०८०००			सर्वश्री			"			"		
१५	६१/४४	६२४००			सुव्रता			"			"		
१६	६३/४७९-४९५	६०३००			हरिषेणा			"			"		
१७	६४/४४-४९	६०३५०			भाविता			१०००००			३०००००		
१८	६५/३९-४३	६००००			कुन्थुसेना	२	यक्षिता	"	३	१६०,०००	"		
१९	६६/५३-५९	५५०००			मधुसेना	२	बन्धुसेना	"			"		
२०	६७/४९-५३	५००००			पूर्वदत्ता	२	पुष्पदन्ता	"			"		
२१	६९/६०-६५	४५०००			मार्गिणी	२	मंगिनी	"			"		
२२	७१/१८२-१८७	४००००			यक्षिणी	२	राजमती	"			"		
२३	७३/१४९-१५३	३८०००	३	३६०००	सुलोका	२	सुलोचना	"			"		
२४	७४/३७३-३७८	३६०००	२	३५०००	चन्दना			"			"		

४. वर्तमान चौबीसीके आयुकालका विभाग परिचय

ला० = लाख, को० = कोटि, सा० = सागर, प० = पल्य

*ह.पु मे सर्वत्र इन स्थानोंमें वर्षकी जगह मास दिये है।

नं०	५३. आयु — १ ति प /४/५७६-५८२; २. त्रि सा./८०५-८०६; ३ प पु /२०/११८-१२२; ४. ह.पु /६०/३१२-३१६; ५. म.पु / — सर्ग/श्लो	सामान्य	५४ कुमारकाल — १. ति प /४/५८३-५८४; २ ह पु /६०/३२५-३३१; ३. म.पु /सर्ग/श्लो — सर्ग/श्लो	सामान्य	५५. विशेषता — १ ति.प /४/५९०-६०३; २ त्रि सा /८४८; ३. प पु./२०/६२-६७; ४ ह पु /६०/२०९ — विवाह	राज्य	५६ राज्यकाल — १ ति प /४/५९०-६०३; २ ह पु./६०/३२५-३३१; ३. म पु / — सर्ग/श्लो.	सामान्य	५७ छद्मस्थ काल — १. ति.प /४/६७५-६७८; २. ह.पु /३३०/३३७-३४०; ३ म पु./सर्ग/श्लो — सर्ग/श्लो	सामान्य	५८. केवलिकाल — १ ति.प /४/६४३-६६०; २. ह.पु /६०/३३२-३४० — सामान्य
१		८४ ला० पूर्व	१६/१२६	२० ला० पूर्व		मण्डलीक	१६/२६७	६३ ला० पूर्व		१००० वर्ष	१ ला० पू०—१००० वर्ष
२	४८/२८-३१	७२ ,, ,,	४८/३१	१८ ,, ,,		,,	४८/२८-३१	५३ ला० पूर्व + १ पूर्वांग	४८/४२	१२ वर्ष	१ ,, ,,—(१ पूर्वांग १२ ,,)
३	४९/२६-२८	६० ,, ,,	४९/२६-२८	१५ ,, ,,		,,	४९/	४४ ,, ,,+४ ,,	४९/४०-४१	१४ ,,	१ ,, ,,—(४ ,, १४ ,,)
४	५०/२६-२७	५० ,, ,,	५०/२८	१२½ ,, ,,		,,	५०/४५	३६½ ,, ,,+८ ,,	५०/५५	१८ ,,	१ ,, ,,—(८ ,, १८ ,,)
५	५१/२६	४० ,, ,,	५१/५५	१० ,, ,,		,,	५१/६८	२९ ,, ,,+१२ ,,	५१/७४	२० ,,	१ ,, ,,—(१२ ,, २० ,,)
६	५२/३५	३० ,, ,,	५२/३५-३६	७½ ,, ,,		,,	५२/	२१½ ,, ,,+१६ ,,	५२/५५	६ मास	१ ,, ,,—(१६ ,, ६ मास)
७	५३/२५	२० ,, ,,	५३/२६	५ ,, ,,		,,	५३/३७	१४ ,, ,,+२० ,,	५३/४४	९ वर्ष	१ ,, ,,—(२०* ,, ९ वर्ष)
८	५४/१७९	१० ,, ,,	५४/१९५	२½ ,, ,,		,,	५४/२०२	६½ ,, ,,+२४ ,,	५४/२२३	३ मास	१ ,, ,,—(२४ ,, ३ मास)
९	५५/३०	२ ,, ,,	५५/३०	५०००० पूर्व		,,	५५/३६	½ ,, ,,+२८ ,,	५५/४९	४ वर्ष	१ ,, ,,— २८ ,, ४ वर्ष*
१०	५६/३१	१ ,, ,,	५६/३२	२५००० ,,		,,	५६/३५	५०,००० पूर्व	५६/४८	३ ,,	२५००० पु.—३ वर्ष*
११	५७/३६	८४ ला० वर्ष	५७/३८	२१ ला० वर्ष		,,	५७/४३	४२ ला० वर्ष	५७/५१	२ ,,*	२०९९९९८ वर्ष*
१२	५८/२४	७२ ,, ,,	५८/३०	१८ ,, ,,	कुमारश्रमण	त्याग	५८/		५८/४१	१ ,,*	५३९९९९९ वर्ष
१३	५९/२४	६० ,, ,,	५९/२५	१५ ,, ,,		मण्डलीक	५९/३१	३० ला० वर्ष	५९/४४	३ ,,*	१४९९९९७ ,,*
१४	६०/२४	३० ,, ,,	६०/२५	७½ ,, ,,		,,	६०/२६	१५ ,, ,,	६०/३५	२ ,,*	७४९९९८ ,,*
१५	६१/२२	१० ,, ,,	६१/२३	२½ ,, ,,		,,	६१/३०	५ ,, ,,	६१/४२	१ ,,*	२४९९९९ ,,*
१६	६३/४१३	१ ,, ,,	६३/४५५	२५००० वर्ष		चक्रवर्ती	६३/४५७,४६१	{ मण्डलेश + चक्रवर्ती २५००० + २५०००	६३/४८५	१६ ,,*	२४९८४ ,,
१७	६४/२६	९५००० वर्ष	६४/२७	२३७५० ,,		,,	६४/२८,३५	२३७५० + २३७५०	६४/४१	,, ,,	२३७३४ ,,
१८	६५/२५	८४००० ,,	६५/२९	२१००० ,,		,,	६५/२९-३०	२१००० + २१०००	६५/३६	,, ,,	२०९८४ ,,
१९	६६/३७	५५००० ,,	६६/३८	१०० ,,	कुमारश्रमण	त्याग	६६/		६६/५१	६ दिन	५४९०० वर्ष—६ दिन
२०	६७/२९	३०००० ,,	६७/३०	७५०० ,,		मण्डलीक	६७/३१	१५००० वर्ष	६७/४६	११ मास	७४९९ ,,+१ मास
२१	६९/३३	१०००० ,,	६९/३४	२५०० ,,		,,	६९/३५	५००० ,,	६९/५७	९ वर्ष	२४९१ वर्ष
२२	७१/५०	१००० ,,	७१/१७०	३०० ,,	कुमारश्रमण	त्याग	७१/		७१/१७९	५६ दिन	६९९ ,, १० मास ४ दिन
२३	७३/६४	१०० ,,	७३/११९	३० ,,		,,			७३/१३४	४ मास	६९ ,, ८ ,,
२४	७४/२८०	७२ ,,	७४/२९६	३० ,,		,,			७४/३४८	१२ वर्ष	३० ,,

न०	म पु./सर्ग/श्लो.	५९. जन्मान्तरालकाल — १. ति म /४/५५३-५७७ २. त्रि सा /८०७-८८१	३. प पु /२०/८३-९१	४ म.पु./पूर्ववत्	६० केवलोत्पत्ति अन्तराल — १. ति.प /४/७०२-७०३	६१. निर्वाण अन्तर० — १. ति.प /४/१२४०-१२४९ २. त्रि.सा /८०७ ३. ह.पु /६०/४६७-४७२
		चौथे कालमें ८४ ला० पू० ३ वर्ष ८½ मास शेष रहनेपर उत्पन्न हुए।				
१	४८/२६	५० ला० को० सा०+१२ ला० पू०	५० ला० को० सा०	५० ला० को० सा०	५० ला० को० सा०+८३९९०१२ वर्ष	५० ला० को० सा०
२	४९/२६	३० ,, ,, ,, +१२ ,, ,,	३० ,, ,, ,,	३० ,, ,, ,,	३० ,, ,, ,, +३ पूर्वांग २ वर्ष	३० ,, ,, ,,
३	५०/२६	१० ,, ,, ,, +१० ,, ,,	२० ,, ,, ,,	१० ,, ,, ,,	१० ,, ,, ,, +४ ,, ४ ,,	१० ,, ,, ,,
४	५१/२५	९ ,, ,, ,, +१० ,, ,,	९ ,, ,, ,,	९ ,, ,, ,,	९ ,, ,, ,, +४ ,, २ ,,	९ ,, ,, ,,
५	५२/३४	९०,००० ,, ,, +१० ,, ,,	९०,००० ,, ,,	९०,००० ,, ,,	९०,००० ,, ,, +३ पूर्वांग ८३९९९८०½ वर्ष	९०,००० को० सा०
६	५३/३४	९००० ,, ,, +१० ,, ,,	९००० ,, ,,	९००० ,, ,,	९००० ,, ,, +४ ,, ८½ ,,	९००० ,, ,,
७	५४/१७८	९०० ,, ,, +१० ,, ,,	९०० ,, ,,	९०० ,, ,,	९०० ,, ,, +३ ,, ८३९९९१¼ ,,	९०० ,, ,,
८	५५/२९	९० ,, ,, +८ ,, ,,	९० ,, ,,	९० ,, ,,	९० ,, ,, +४ ,, ३¾ ,,	९० ,, ,,
९	५६/३०	९ ,, ,, +१ ,, ,,	९ ,, ,,	९ ,, ,,	९ को० सा० ७४९९९ पूर्व ८३९९९१ पूर्वांग ८३९९९९९ वर्ष	९ ,, ,,
१०	५७/३६	१ को०सा०+१ला० पू०—(१०० सा०+१५०२६००० वर्ष)	१ को० सा —१००सा	१ क सा.-(१०० सा.+६६२६००० वर्ष)	९९९९९०० सा० २४९९९ पूर्व ७०५५९९९१२७३९९९ वर्ष	३३७३९०० सा०
११	५८/२३	५४ सा०+१२ ना० वर्ष	५४ सा०	५४ सा०	५४ सा० ३३०००१ वर्ष	५४ सा०
१२	५९/२३	३० ,, +१२ ,, ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,, ३९०००२ वर्ष	३० ,,
१३	६०/२३	९ ,, +३० ,, ,,	९ ,,	९ ,,	९ ,, ७४९९९९ ,,	९ ,,
१४	६१/२०	४ ,, +२० ,, ,,	४ ,,	४ ,,	४ ,, ४९९९९९ ,,	४ ,,
१५	६३/४११	(३ सा० ९ ला० वर्ष)—३/४ पल्य	३ सा०—३/४ पल्य	३ सा०—३/४ पल्य	३ ,, २२५०१५ वर्ष—३/४ पल्य	३ सा०—३/४ पल्य
१६	६४/२५	१/२ पल्य+५००० वर्ष	१/२ पल्य	१/२ पल्य	१/२ पल्य १२५० वर्ष	१/२ पल्य
१७	६५/२४	१/४ पल्य—९९९९९८९००० वर्ष	१/४ प.—१००० को. वर्ष	१/४ प०—१०० को० वर्ष	१/४ ,,—९९९९९९७२५० वर्ष	१/४ प०—१००० को० वर्ष
१८	६६/३६	१०००००२९००० वर्ष	१००० को० सा०—९९५८४००० वर्ष	१००० को० वर्ष	९९९९९९९०८४ वर्ष ६ दिन	१००० को० वर्ष
१९	६७/२७	५४२५००० ,,	५४००००० वर्ष	५४००००० वर्ष	५४४७४०० वर्ष १० मास २४ दिन	५४ ला० वर्ष
२०	६९/३२	६२०,००० ,,	६००००० ,,	६०,००,००० वर्ष (?)	६०५००८ वर्ष १ मास	६ ,, ,,
२१	७१/४९	५०९००० ,,	५०,००० ,,	५०००,००० वर्ष	५०१७९१ वर्ष ५६ दिन	५ ,, ,,
२२	७२/९३	८४६५० ,,	८४,००० ,,	८३७५० वर्ष	८४३८० वर्ष २ मास ४ दिन	८३७५० वर्ष
२३	७३/२७९	२७८ ,,	२५०	२५० वर्ष	२७९ ,, ८ मास	२५० ,,
२४		चतुर्थकालमें ७५ वर्ष ८½ मास शेष रहने पर उत्पन्न हुए थे।				

५. वर्तमान चौबीसीके तीर्थकाल व तत्कालीन प्रसिद्ध पुरुष

ला० = लाख, को० = कोडि, सा० = सागर, प० = पल्य

नं०	६२ तीर्थकाल (१. ति. प./४/१२५०-१२७४)	६३ तीर्थ व्युच्छित्ति (१. ति. प./४/१२७६; २. त्रि. सा./८१४; ३ ह. पु./६०/४७४-४७५) — ४ म. पु./सर्ग/श्लो	सामान्य
१	५० ला० को० सा० + १ पूर्वांग		×
२	३० " " " ३ "		×
३	१० " " " ४ "		×
४	९ " " " ४ "		×
५	९०,००० " " ४ "		×
६	९,००० " " ४ "		×
७	९०० " " ४ "		×
८	९० " " ४ "		×
९	(९ को० सा० – १/४ प०) + (१ ला० पूर्व – २८ पूर्वांग)	५६/३०	१/४ पल्य
१०	१ को० सा० – {(१०० सा० + १/२ प०) + (२५००० पूर्व – ६६२६००० वर्ष)}	५७/३६	१/२ पल्य
११	(५४ सा० + २१ ला० वर्ष) – ३/४ पल्य	५८/२३	(१/३१)३/४ प०
१२	(३० सा० + ५४ ला० वर्ष) – १ पल्य	५९/२३ (टिप्पणी)	१ पल्य
१३	(९ सा० + १५ ला० वर्ष) – ३/४ पल्य	६०/२३	३/४ पल्य
१४	(४सा० + ७५०००० वर्ष) – ३/४ पल्य	६१/२०	१/२ पल्य
१५	(३सा० + २५०००० वर्ष) – १ पल्य	६३/४११	१/४ पल्य
१६	१/२ पल्य + १२५० वर्ष		×
१७	१/४ पल्य – ९९९९९९७२५० वर्ष		×
१८	९९९९९९६६१०० वर्ष		×
१९	५४४७४०० वर्ष		×
२०	६०५००० वर्ष		×
२१	५०१८०० वर्ष		×
२२	८४३८० वर्ष		×
२३	२७८ वर्ष		×
२४	२१०४२ वर्ष		×

६४ सामयिक शलाका पुरुष (१. ति. प./४/१२८३-१२८६, १४११-१४४३; २ त्रि. सा./८४२-८४६, ३. ह. पु./६०/२८४-३०१) — नाम	चक्रवर्ती	बलदेव	नारायण	प्रतिनारायण	रुद्र	६५ मुख्य श्रोता (म पु/७६/५२९-५३३) — मुख्य
१ ऋषभ	१ भरत	×	×	×	१ भोमावलि	भरत
२ अजित	२ सगर	×	×	×	२ जितशत्रु	सगर
३ सम्भव	×	×	×	×	×	सत्यवीर्य
४ अभिनन्दन	×	×	×	×	×	मित्रभाव
५ सुमति	×	×	×	×	×	मित्रवीर्य
६ पद्मप्रभु	×	×	×	×	×	धर्मवीर्य
७ सुपार्श्व	×	×	×	×	×	दानवीर्य
८ चन्द्रप्रभु	×	×	×	×	×	मघवा
९ पुष्पदन्त	×	×	×	×	३ रुद्र	बुद्धिवीर्य,
१० शीतल	×	×	×	×	४ वैश्वानर	सीमधर
११ श्रेयांस	×	१ विजय	१ त्रिपृष्ठ	१ अश्वग्रीव	५ सुप्रतिष्ठ	त्रिपृष्ठ
१२ वासुपूज्य	×	२ अचल	२ द्विपृष्ठ	२ तारक	६ अचल	स्वयम्भू
१३ विमल	×	३ धर्म	३ स्वयंभू	३ मेरक	७ पुण्डरीक	पुरुषोत्तम
१४ अनन्त	×	४ सुप्रभ	४ पुरुषोत्तम	४ मधु कै०	८ अजितंधर	पुरुष पुण्डरीक
१५ धर्म	×	५ सुदर्शन	५ पुरुषसिंह	५ निशुम्भ	९ अजितनाभि	सत्यदत्त
×	३ मघवा	×	×	×	×	×
×	४ सनत्कुमार	×	×	×	×	×
१६ शान्ति	५ स्वयं	×	×	×	१० पीठ	कुनाल
१७ कुन्थु	६ "	×	×	×	×	नारायण
१८ अर	७ "	×	×	×	×	सुभौम
×	८ सुभौम	×	×	×	×	×
×	×	६ नन्दी	६ पुण्डरीक	६ बलि	×	×
१९ मल्लि	×	×	×	×	×	सार्वभौम
×	×	७ नन्दिमित्र	७ पुष्पदत्त	७ प्रहरण	×	×
×	९ पद्म	×	×	×	×	×
२० सुव्रत	×	×	×	×	×	अजितञ्जय
×	१० हरिषेण	×	×	×	×	×
×	×	८ राम	८ लक्ष्मण	८ रावण	×	×
२१ नमि	×	×	×	×	×	विजय
×	११ जयसेन	×	×	×	×	×
२२ नेम	×	९ पद्म	९ कृष्ण	९ जरासिंध	×	उग्रसेन
×	१२ ब्रह्मदत्त	×	×	×	×	×
२३ पार्श्व	×	×	×	×	×	महासेन
२४ वर्द्धमान	×	×	×	×	११ सत्यकिपुत्र	श्रेणिक

४. विदेहक्षेत्रस्थ तीर्थंकरोंका परिचय

	१ जयसेन प्रतिष्ठा पाठ/५४५-५६४					१. त्रि. सा./ ६८१ २. म. पु /७६/४६६ ३. जयसेन प्रतिष्ठा पाठ/५६५
	१ नाम	२ चिह्न	३ नगरी	४ पिता	५ माता	६ विदेहस्थ तीर्थंकरोंकी संख्या
१	सीमन्धर		पुण्डरीकणी	हंस		सिरथद्धसयलचक्की सट्ठिसयं पुहवरेण अवरेण । वीसं वी ' सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो ।६८१। तीर्थंकर पृथक्-पृथक् एक एक विदेह देशविषै एक एक होइ तब उत्कृष्टपनै करि एकसौ साठि होंइ । बहुरि जघन्यपने करि सीता सीतोदाका दक्षिण उत्तर तट विषै एक एक होइ ऐसे एक मेरु अपेक्षा च्यारि होंहि । सब मिलि करि पंच मेरुके विदेह अपेक्षाकरि बीस हो है ।
२	युगमन्धर			श्री रुह		
३	याहु	हरिण	सुसीमा	सुग्रीव	विजया	
४	सुबाहु		अयध्यदेश		सनन्दा	
५	संजात	सूर्य	अलकापुरी	देवसेन		
६	स्वयंप्रभ	चन्द्रमा	मंगला			
७	ऋषभानन		सुसीमा		वीरसेना	
८	अनन्तवीर्य					
९	सूरिप्रभ	बैल				
१०	विशालप्रभ	इन्द्र	पुण्डरीकणी	वीर्य	विजया	
११	वज्रधर	शंख		पद्मरथ	सरस्वती	
१२	चन्द्रानन	गो	पुण्डरीकणी		दयावती	
१३	चन्द्रबाहू	कमल			रेणुका	
१४	भुजंगम	चन्द्रमा		महाबल		
१५	ईश्वर		सुसीमा	गलसेन	ज्वाला	
१६	नेमिप्रभ	सूर्य				
१७	वीरसेन		पुण्डरीकणी	भूमिपाल	वीरसेना	
१८	महाभद्र	;	विजया	देवराज	उमा	
१९	देवयश		सुसीमा	स्तवभूति	गंगा	
२०	अजितवीर्य	कमल		कनक		

सादि होता है। बीज और वृक्षकी भाँति। जैसे वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष इस प्रकार बीज वृक्ष अनादि होकर भी तद्बीज और तद्वृक्षकी अपेक्षा सादि है। यदि सर्वथा आदिमान् मान लिया जाये तो अशरीर आत्माके नूतन शरीरका सम्बन्ध ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि शरीर सम्बन्धका कोई निमित्त ही नहीं है। यदि निर्निमित्त होने लगे तो मुक्तात्माके साथ भी शरीरका सम्बन्ध हो जायेगा।२-४। यदि अनादि होनेसे अनन्त माना जायेगा तो भी किसीको मोक्ष नहीं हो सकेगा।५। अत सिद्ध होता है कि किसी अपेक्षासे अनादि है तथा किसी अपेक्षासे सादि है।

७. तैजस व कार्माण शरीर आत्मप्रदेशोंके साथ रहते हैं

रा.वा./२/४९/८/१५४/१६ तैजसकार्माणे जघन्येन यथोपात्तौदारिकशरीर-प्रमाणे, उत्कर्षेण केवलिसमुद्घाते सर्वलोकप्रमाणे। =तैजस और कार्माण शरीर जघन्यसे अपने औदारिक शरीरके बराबर होते हैं और उत्कृष्टसे केवलिसमुद्घातमें सर्वलोक प्रमाण होते हैं।

८. तैजस कार्माण शरीरका निरुपभोगत्व

त सू./२/४४ निरुपभोगमन्त्यम्।४४। =अन्तिम अर्थात् तैजस और कार्माण शरीर उपभोग रहित है।

स.सि./२/४४/१९६/८ अन्ते भवमन्त्यम्। किं तत्। कार्मणम्। इन्द्रिय-प्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग। तदभावान्निरुपभोगम्। विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियलब्धौ द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्त्यभावाच्छब्दाद्युपभोगाभाव इति। ननु तैजसमपि निरुपभोगम्। तत्र किमुच्यते निरुपभोगमन्त्यमिति। तैजसं शरीरं योगनिमित्तमपि न भवति, ततोऽस्योपभोगविचारेऽनधिकार। =जो अन्तमें होता है वह अन्त्य कहलाता है। प्रश्न—अन्तका शरीर कौन है? उत्तर—कार्मण। इन्द्रिय रूपी नलियोंके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं। यह बात अन्तके शरीरमें नहीं पायी जाती, अत वह निरुपभोग है। विग्रहगतिमें लब्धिरूप भावेन्द्रियोंके रहते हुए भी द्रव्येन्द्रियोंकी रचना न होनेसे शब्दादिकका उपभोग नहीं होता। प्रश्न=तैजस शरीर भी निरुपभोग है इसलिए वहाँ यह क्यों कहते हो कि अन्तका शरीर निरुपभोग है? उत्तर—तैजस शरीर योगमें निमित्त भी नहीं होता, इसलिए इसका उपभोगके विचारमें अधिकार नहीं है। (रा.वा./२/४४/२-३/१५१)

९. तैजस व कार्मण शरीरोंका स्वामित्व

त सू./२/४२ सर्वस्य।४२। =तैजस व कार्मण शरीर सर्व संसारी जीवोंके होते हैं।

नोट—तैजस कार्मण शरीरके उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशाग्रोंका स्वामित्व —दे० (ष.ख./१४/५,६/सू./४५८-४७९/४१६-४२२) तैजस व कार्मण शरीरोंके जघन्य व अजघन्य प्रदेशाग्रोंके संचयका स्वामित्व। —दे० (ष ख./१४/५,६/सू.४६१-४९६/४२८)

१०. अन्य सम्बन्धित विषय

१. तैजस व कार्मण शरीर अप्रतिघाती हैं। —दे० शरीर/२/५।
२. पाँचों शरीरोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता व उनका स्वामित्व। —दे० शरीर/१/२।
३ तैजस शरीरकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आठ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
४ तैजस शरीरकी संघातन परिशातन कृति। —दे० ध/९/३५५-४५१।
५ मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।

२. तैजस समुद्घात निर्देश

१. तैजस समुद्घात सामान्यका लक्षण

रा.वा./१/२०/१२/७७/१६ जीवानुग्रहोपघातप्रवणतेज शरीरनिर्वर्तनार्थस्तैजससमुद्घातः। =जीवोंके अनुग्रह और विनाशमें समर्थ तैजस शरीर-की रचनाके लिए तैजस समुद्घात होता है।

ध.४/१,३,२/२७/७ तेजासरीरसमुग्घादो णाम तेजइयसरीरविउव्वणं। =तैजस शरीरके विसर्पणका नाम तेजस्कशरीरसमुद्घात है।

★ तैजस समुद्घातके भेद

निस्सरणात्मक तैजस शरीरवत्—दे० तैजस/१/२।

२ अशुभ तैजस समुद्घातका लक्षण

रा वा./२/४९/८/१५३/१६ यतेरुग्रचारित्रस्यातिक्रुद्धस्य जीवप्रदेश-संयुक्तं बहिर्निष्क्रम्य दाह्यं परिवृत्यावतिष्ठमानं निष्पावहरितफल-परिपूर्णां स्थालीमिव पचति, पक्त्वा च निवर्तते, अथ चिरमवतिष्ठते अग्निसाद् दाह्योऽर्थो भवति, तदेतन्निःसरणात्मकम्। =निःसरणात्मक तैजस उग्रचारित्रवाले अतिक्रोधी यतिके शरीरसे निकलकर जिसपर क्रोध है उसे घेरकर ठहरता है और उसे शाककी तरह पका देता है, फिर वापिस होकर यतिके शरीरमें ही समा जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाये तो उसे भस्मसात् कर देता है।

ध. १४/५,६,२४१/३२८/५ कोधं गदस्स संजदस्स वामंसादो बारह-जोयणायामेण णवजोयणविक्खंभेण सूचिअंगुलस्स संखेज्जदिभागमेत्त बाहल्लेण जासवणकुसुमवण्णेण णिस्सरिदूण सगखेत्तब्भंतरट्ठियसत्त-विणासं काऊण पुणो पविसमाणं तं जं चेव संजदमावूरेदि तमसुहं णाम। =क्रोधको प्राप्त हुए संयतके वाम कंधेसे बारह योजन लम्बा, नौ योजन चौड़ा और सूच्यंगुलके संख्यातवें भाग प्रमाण मोटा तथा जपाकुसुमके रंगवाला शरीर निकलकर अपने क्षेत्रके भीतर स्थित हुए जीवोंका विनाश करके पुनः प्रवेश करते हुए जो उसी संयतको व्याप्त करता है वह अशुभ तैजस शरीर है। (ध/४/१,३,२/२८/१)

द्र. सं./टी/१०/२५/८ स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किंचित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभाग-मूलविस्तारो नवयोजनविस्तार' काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धा-न्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वैपायनमुनिवत्। असावशुभतेज समुद्घात.। =अपने मनको अनिष्ट उत्पन्न करनेवाले किसी कारणको देखकर क्रोधी संयमके निधान महामुनिके बायें कन्धेसे सिन्दूरके ढेर जैसी कान्तिवाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुलके संख्यात भाग प्रमाण मूल विस्तार और नौ योजनके अग्र विस्तारवाला, काहल (बिलाव) के आकारका धारक पुरुष निकल करके बायी प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिसपर क्रोधी हो उस पदार्थको भस्म करके और उसी मुनिको साथ आप भी भस्म हो जावे जैसे द्वैपायन मुनि। सो अशुभ तैजस समुद्घात है।

३. शुभ तैजस समुद्घातका लक्षण

ध/१४/५,६,२४०/३२८/३ संजदस्स उग्गचरितस्स दयापुरंगम-अणुकंपा-वूरिदस्स इच्छाए दक्खिणंसादो हंससंखवण्ण णिस्सरिदूण मारीदि-रमरवाहिवेयणादुब्भिक्खुवसग्गादिपसमणदुवारेण सव्वजीवाणं संज-दस्स य जं सुहमुप्पादयदि तं सुहं णाम। =उग्र चारित्रवाले तथा दयापूर्वक अनुकम्पासे आपूरित संयतके इच्छा होनेपर दाहिने कंधेसे हंस और शंखके वर्णवाला शरीर निकलकर मारी, दिरमर, व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष और उपसर्ग आदिके प्रशमन द्वारा सब जीवों और

संयतके जो सुख उत्पन्न करता है वह शुभ तैजस कहलाता है। (ध ४/१,३,२/२८/३) (ध. ७/२,६,१/३००/५)।

द्र. सं/टी/१०/२६ लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुभ्राकृति' प्रागुक्तदेहप्रमाण' पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेज'समुद्घात.। =जगतको रोग दुर्भिक्ष आदिसे दुःखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई ऐसे परम संयमनिधान महाऋषिके मूल शरीरको न त्यागकर पूर्वोक्त देहके प्रमाण, सौम्य आकृतिका धारक पुरुष दाये कन्धेसे निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा देकर रोग, दुर्भिक्षादिको दूर कर फिर अपने स्थानमें आकर प्रवेश करे वह शुभ तैजस समुद्घात है।

४. तैजस समुद्घातका वर्ण शक्ति आदि

प्रमाण—दे० उपरोक्त लक्षण

विषय	अप्रशस्त	प्रशस्त
वर्ण	जपाकुसुमवत् रक्त	हंसवत् धवल
शक्ति	भूमि व पर्वतको जलानेमें समर्थ	रोग मारी आदिके प्रशमन करनेमें समर्थ
उत्पत्ति-स्थान	बाया कधा	दायां कन्धा
विसर्पण	इच्छित क्षेत्र प्रमाण अथवा १२ यो×६ यो×६ यो सूच्यंगुलको = संख्यात भाग प्रमाण	←
निमित्त	रोष	प्राणियोके प्रति अनुकंपा

५. तैजस समुद्घातका स्वामित्व

द्र. स./टी./१०/२५/६ संयमनिवानस्य। =सयमके निधान महामुनिके तैजस समुद्घात होता है।

ध. ४/१, ३, ८२/१३५/६ णवरि पमत्तसजदस्स उवसमसम्मत्तेण तेजाहार णत्थि। =प्रमत्त संयतके उपशम सम्यक्त्वके साथ तैजस समुद्घात ···नही होते है।

ध./७/२, ६, १/२९९/७ तेजइयसमुग्घादो विणा महव्वएहि तदभावादो। =बिना महाव्रतोके तैजस समुद्घात नहीं होता।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. सातों समुद्घातोंके स्वामित्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा। —दे० समुद्घात।

२. तैजस समुद्घातका फैलाव दशों दिशाओंमें होता है। —दे० समुद्घात।

३. तैजस समुद्घातकी स्थिति सख्यात समय है। —दे० समुद्घात।

४. परिहारविशुद्धि सयमके साथ तैजस व आहारक समुद्घातका विरोध। —दे० परिहारविशुद्धि।

तैजस वर्गणा—दे० वर्गणा।

तेजस्काय—दे० अग्नि।

तेजांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

तेजोज—दे० ओज।

तेला व्रत—व्रत विधान सं./१२३ पहले दिन दोपहरको एकाशन करके मन्दिरमें जाये। तीन दिन तक उपवास करे। पाँचवें दिन दोपहरको एकलठाना (एक स्थानपर मौनसे भोजन करे)।

तैजस—दे० अग्नि।

तैजस शरीर—दे० तैजस/१।

तैजस समुद्घात—दे० तैजस/२।

तैतिल—भरत क्षेत्रस्थ एक देश। —दे० मनुष्य/४।

तैला—भरत क्षेत्र आर्य खण्डस्थ एक नदी। —दे० मनुष्य/४।

तैलिपदेव—कल्याण (बम्बई) के राजा थे। इनके हाथसे राजा मुंजकी युद्धमे मृत्यु हुई थी। समय—वि सं. १०५८ (ई० ११२१) (द सं/प्र ३६ प्रेमी)।

तोयंधरा—नन्दनवनमें स्थित विजयकूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/७।

तोरण—ध. १४/५,-६, ५१/३९/४ पुराणं पुराणं पासादाणं वंदणमालबधणट्ठ पुरदो ट्ठविदरुक्खविसेसा तोरणं णाम। =प्रत्येक पुर प्रासादोंपर वन्दनमाला बांधनेके लिए आगे जो वृक्ष विशेष रखे जाते है वह तोरण कहलाता है।

तोरणाचार्य—राष्ट्रकूटवंशी राजा गोविन्द तृ० के समयके अर्थात् शक सं० ७२४ व ७१६ के दो ताम्रपत्र उपलब्ध हुए है। उनके अनुसार आप कुन्दकुन्दान्वयमें-से थे। और पुष्पनन्दिके गुरु तथा प्रभाचन्द्रके दादागुरु थे। तदनुसार आपका समय श० सं० ६०० (ई० ६७८) के लगभग आता है। (प. प्रा/प्र. ४-५ प्रेमीजी) (स. सा/प्र K. B. *Pathak*)

तोरमाण—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार (-दे० इतिहास) यह हूणवंशका राजा था। इसने ई० ५०० में गुप्त साम्राज्य (भानुगुप्तकी) शक्तिको कमजोर पाकर समस्त पंजाब व मालवा प्रदेशपर अपना अधिकार कर लिया था। पीछे इसीका पुत्र मिहिरकुल हुआ। जिसने गुप्तवंशको प्राय नष्ट कर दिया था। यह राजा अत्यन्त अत्याचारी होनेके कारण कल्की नामसे प्रसिद्ध था। (—दे० कल्की)। समय—वी० नि० १०००-१०३३ (ई० ४७४-५०७) विशेष —दे० इतिहास/३/१।

त्यक्त शरीर—दे० निक्षेप/५।

त्याग—वीतराग श्रेयस्मार्गमें त्यागका बडा महत्त्व है इसीलिए इसका निर्देश गृहस्थोंके लिए दानके रूपमें तथा साधुओंके लिए परिग्रह त्यागव्रत व त्यागधर्मके रूपमें किया गया है। अपनी शक्तिको न छिपाकर इस धर्मकी भावना करनेवाला तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करता है।

१. त्याग सामान्यका लक्षण

निश्चय त्यागका लक्षण

बा.अ./७८ णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु। जो तस्स हवे च्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ।७८। =जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है कि, जो जीव सारे परद्रव्योंके मोह छोडकर ससार, देह और भोगोमे उदासीन रूप परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है।

स.सि /६/२६/४४३/१० व्युत्सर्जन व्युत्सर्गस्त्याग। =व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है। जिसका अर्थ त्याग होता है।

स मा./भापा/३४ प. जयचन्द—पर भावको पर जानना, और फिर परभावका ग्रहण न करना सो यही त्याग है।

२. व्यवहार त्यागका लक्षण

स.सि /९/६/४१३/१ संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्याग । =संयतके योग्य ज्ञानादिका दान करना त्याग कहलाता है (रा.वा./९/६/२०/५९८/१३), (त.सा /६/१९/३४५) ।

रा.वा./९/६/१८/५९८/५ परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते । =सचेतन और अचेतन परिग्रहकी निवृत्तिको त्याग कहते हैं ।

भ.आ /वि /४६/१५४/१६ संयतप्रायोग्याहारादिदानं त्यागः । =मुनियोके लिए योग्य ऐसे आहारादि चीजें देना सो त्यागधर्म है ।

पं.वि /१/१०१/४० व्याख्या यत् क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं, स्थान संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा । स त्यागो ।१०१। =सदाचारी पुरुषके द्वारा मुनिके लिए जो प्रेमपूर्वक आगमका व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक दी जाती है, तथा संयमकी साधनभूत पीछी आदि भी दी जाती है उसे त्यागधर्म कहा जाता है। (अन.ध /६/५२-५३/१०६) ।

का.अ /मू /४०१ जो चयदि मिट्ठ-भोज्ज उवयरणं राय-दोस-संजणयं । वसदिं ममत्तहेदुं चाय-गुणो सो हवे तस्स । =जो मिष्ट भोजनको, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाले उपकरणको, तथा ममत्वभावके उत्पन्न होनेमें निमित्त वसतिको छोड देता है उस मुनिके त्यागधर्म होता है ।

प्र.सा /ता.वृ./२३९/३३२/१३ निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्यागः । =निज शुद्धात्माको ग्रहण करके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहकी निवृत्ति सो त्याग है ।

२. त्यागके भेद

स. सि /९/२६/४४३/१० स द्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति । = त्याग दो प्रकारका है—बाह्यउपधिका त्याग और आभ्यन्तरउपधिका त्याग ।

रा.वा /९/२६/५/६२४/३५ स पुनर्द्विविधः-नियतकालो यावज्जीवं चेति । =आभ्यन्तर त्याग दो प्रकारका है—यावत् जीवन व नियत काल ।

पु. सि उ./७६ कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा । औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा । =उत्सर्ग रूप निवृत्ति त्याग कृत, कारित अनुमोदनारूप मन, वचन व काय करके नव प्रकारकी कही है और यह अपवाद रूप निवृत्ति तो अनेक रूप है ।

* बाह्याभ्यन्तर त्यागके लक्षण— दे० उपधि ।

* एकदेश व सकलदेश त्यागके लक्षण— दे० संयम/१/६ ।

३. शक्तितस्त्याग या साधुप्रासुक परित्यागताका लक्षण

रा.वा /६/२४/६/५२९/२७ परप्रीतिकरणातिसर्जनं त्यागः ।६। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनम्, सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तरणकारणम् । अत एतत्त्रिविधं यथाविधि प्रतिपद्यमानं त्यागव्यपदेशभाग्भवति । =परको प्रीतिके लिए अपनी वस्तुको देना त्याग है। आहार देनेसे पात्रको उस दिन प्रीति होती है। अभयदानसे उस भवका दुःख छूटता है, अतः पात्रको सन्तोष होता है। ज्ञानदान तो अनेक सहस्र भवोंके दुःखसे छुटकारा दिलानेवाला है। ये तीनो दान यथाविधि दिये गये त्याग कहलाते है (स सि /६/२४/३३८/११), (चा सा /५३/६) ।

ध.८/३,४१/८७/३ साहूणं पासुअपरिच्चागदाए-णाणतणाण-दंसण-वीरियविरइ-खइयसम्मत्तादीणं साहया साहू णाम । पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा तं पासुअं, अधवा जं णिरवज्जं तं पासुअं । किं । णाण-दंसण-चरित्तादि । तस्स परिच्चागो विसज्जणं, तस्स भावो पासुअपरिच्चागदा । दयाबुद्धिये साहूणं णाण-दंसण-चरित्तपरिच्चागो दाणं पासुअपरिच्चागदा णाम ।=साधुओंके द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्यज्ञान दर्शनादिकके त्यागसे तीर्थंकर नामकर्म बन्धता है—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, विरति और क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोके जो साधक है वे साधु कहलाते है। जिससे आस्रव दूर हो गये है उसका नाम प्रासुक है, अथवा जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है। वह ज्ञान, दर्शन व चारित्रादिक ही तो हो सकते है। उनके परित्याग अर्थात् विसर्जनको प्रासुकपरित्याग और इसके भावको प्रासुकपरित्यागता कहते है। अर्थात् दया बुद्धिसे साधुओंके द्वारा किये जानेवाले ज्ञान, दर्शन व चारित्रके परित्याग या दानका नाम प्रासुक परित्यागता है ।

भा पा /टी /७७/२२१/८ स्वशक्त्यनुरूपं दानं ।=अपनी शक्तिके अनुरूप दान देना सो शक्तितस्त्याग भावना है ।

४. यह भावना गृहस्थोंके सम्भव नहीं

ध.८/३,४१/८७/७ ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो । तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादिउवरिमसुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो तदो एदं कारणं महेसिणं चेव होदि । =[साधु प्रासुक परित्यागता] गृहस्थोमें सम्भव नहीं है, क्योकि, उनमें चारित्रका अभाव है । रत्नत्रयका उपदेश भी गृहस्थोमें सम्भव नही है, क्योकि, दृष्टिवादादिक उपरिमश्रुतके उपदेश देनेमे उनका अधिकार नही है । अतएव यह कारण महर्षियोके ही होता है।

५. एक त्याग भावनामें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध.८/३.४१/८७/१० ण च एत्थ सेसकारणाणमसंभवो । ण च अरहंतादिसु अभत्तिमंते णवपदत्थविसयसद्दहणेणुम्मुक्के सादिचारसीलव्वदे परिहीणवासए णिरवज्जो णाण-दंसण-चरित्तपरिच्चागो संभवदि, विरोहादो । तदो एदमट्ठं कारणं । =प्रश्न—[शक्तितस्त्यागमें शेष भावनाएँ कैसे सम्भव है ?] उत्तर—इसमें शेष कारणोकी असम्भावना नहीं है। क्योकि अरहतादिकोमें भक्तिसे रहित, नौ पदार्थ विषयक श्रद्धानसे उन्मुक्त, सातिचार शीलव्रतोसे सहित और आवश्यकोकी हीनतासे संयुक्त होनेपर निरवद्य ज्ञान, दर्शन व चारित्रका परित्याग विरोध होनेसे सम्भव ही नही है । इस कारण यह तीर्थंकर नामकर्मबन्धका आठवाँ कारण है ।

६. त्यागधर्म पालनार्थ विशेष भावनाएँ

रा.वा /९/६/२७/५९९/२५ उपधित्यागः पुरुषहितः । यतो यतः परिग्रहादपेतः ततस्ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति । निरवद्यं मनःप्रणिधानं पुण्यविधानं । परिग्रहाशा बलवती सर्वदोषप्रसवयोनिः । न तस्या उपधिभिः तृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेरिह वडवायाः । अपि च, कः पूरयति दुःपूरमाशागर्तम् । दिने दिने यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते । शरीरादिषु निर्ममत्वः परमनिवृत्तिमवाप्नोति । शरीरादिषु कृताभिष्वङ्गस्य सर्वकालमभिष्वङ्ग एव संसारे ।=परिग्रहका त्याग करना पुरुषके हितके लिए है । जैसे जैसे वह परिग्रहसे रहित होता है वैसे वैसे उसके खेदके कारण हटते जाते है। खेदरहित मनमें उपयोगकी एकाग्रता और पुण्यसचय होता है। परिग्रहकी आशा बडी बलवती है। वह समस्त दोषोकी उत्पत्तिका स्थान है। जैसे पानीसे समुद्रका बडवानल शान्त नहीं होता उसी तरह परिग्रहसे आशासमुद्रकी तृप्ति नही हो सकती। यह आशा का गड्डा दुष्पूर है। इसका भरना बहुत कठिन है। प्रतिदिन जो उसमें डाला जाता है वही समाकर मुँह बाने लगता है। शरीरादिसे ममत्वशून्यव्यक्ति परम सन्तोषको प्राप्त होता है। शरीर आदिमें राग करनेवालेके सदा संसार परिभ्रमण सुनिश्चित है (रा वा /हिं/९/६/६६५-६६६) ।

७. त्याग धर्मकी महिमा

कुरल/३५/१,६ मन्ये ज्ञानी प्रतिज्ञाय यत्त किञ्चित परिमुञ्चति। तदुत्पन्न-महादु खान्निजात्मा तेन रक्षित.।१। अहं ममेति संकल्पो गर्वस्वार्थित्व-संभृत'। जेतास्य याति तं लोक स्वर्गादुपपरिवर्तिनम् ।६। =मनुष्य-ने जो वस्तु छोड दी है उससे पैदा होनेवाले दु:खसे उसने अपनेको मुक्त कर लिया है।१। 'मै' और 'मेरे' के जो भाव हैं, वे घमण्ड और स्वार्थपूर्णताके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जो मनुष्य उनका दमन कर लेता है वह देवलोकसे भी उच्चलोकको प्राप्त होता है।६।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अकेले शक्तितस्त्याग भावनासे तीर्थंकरत्व प्रकृतिबन्धकी सम्भावना। —दे० भावना/१।
२. व्युत्सर्ग तप व त्याग धर्ममें अन्तर। —दे० व्युत्सर्ग/२।
३. त्याग व शौच धर्ममें अन्तर। —दे० शौच।
४. अन्तरंग व बाह्य त्याग समन्वय। —दे० परिग्रह/५/६-७।
५. दस धर्म सम्बन्धी विशेषताएँ। —दे० धर्म/८।

त्रटरेणु—क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम त्रसरेणु —दे० गणित/I/१।

त्रस—अपनी रक्षार्थ स्वयं चलने-फिरनेकी शक्तिवाले जीव त्रस कहलाते हैं। दो इन्द्रियसे लेकर संज्ञी पचेन्द्रिय तक अर्थात लट्, चींटी आदिसे लेकर मनुष्यदेव आदि सब त्रस हैं। ये जीव यद्यपि अपर्याप्त होने सम्भव है पर सूक्ष्म कभी नहीं होते। लोकके मध्यमें १ राजू विस्तृत और १४ राजू लम्बी जो त्रस नाली कल्पित की गयी है, उससे बाहरमें ये नही रहते, न ही जा सकते है।

१. त्रस जीव निर्देश

१. त्रस जीवका लक्षण

स.सि./२/१२/१७१/३ त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसा'। =जिनके त्रस नामकर्मका उदय है वे त्रस कहलाते हैं।

रा.वा./२/१२/१/१२६ जीवनामकर्मणो जीवविपाकिन उदयापादित वृत्ति-विशेषाः त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते। =जीवविपाकी त्रस नामकर्मके उदयसे उत्पन्न वृत्ति विशेषवाले जीव त्रस कहे जाते हैं। (ध.१/१,१,३९/२६५/८)

२. त्रस जीवोंके भेद

त.सू./२/१४ द्वीन्द्रियादयस्त्रसा.।१४। = दो इन्द्रिय आदिक जीव त्रस हैं।१४।

मू आ./२१८ दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलें दिया मुणेयव्वा। विति चउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा।२१८। =त्रसकाय दो प्रकार कहे है—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय। दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इन तीनोको विकलेन्द्रिय जानना और शेष पंचेन्द्रिय जीवोको सकलेन्द्रिय जानना।२१८। (ति.प./५/२८०); (रा.वा /३/३९/४/२०६), (का.अ /१२८)

प. सं./प्रा /१/८६ विहि तिहि चऊहिं पंचहिं सहिया जे इंदिएहि लोयम्हि। ते तस काया जीवा णेया वीरोवदेसेण।८६। =लोकमे जो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियसे सहित जीव दिखाई देते है उन्हे वीर भगवान्के उपदेशसे त्रसकायिक जानना चाहिए।८६। (ध.१/१,१,४६/गा.१५४/२७४) (पं.स /स /१/१६०); (गो जी./मू./१९८), (द्र.सं./मू./११)

न.च /१२३... १... चदु तसा तह य।१२३। =त्रस जीव चार प्रकारके है—दो, तीन व चार तथा पाँच इन्द्रिय।

३. सकलेन्द्रिय व विकलेन्द्रियके लक्षण

मू.आ./२१९ संखो गोभी भमरादिआ दु विकलिंदिया मुणेदव्वा। सकलिंदिया य जलथलखचरा सुरणारयणरा य।२१९। =शख आदि, गोपालिका चींटी आदि, भौरा आदि, जीव दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय विकलेन्द्रिय जानना। तथा सिंह आदि स्थलचर, मच्छ आदि जलचर, हंस आदि आकाशचर तिर्यंच और देव, नारकी, मनुष्य—ये सब पचेन्द्रिय हैं।२१९।

४. त्रस दो प्रकार हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त

प.खं./११/सू.४२/२७२ तसकाइया दुविहा, पज्जता अपज्जता ॥४२॥ =त्रस कायिक जीव दो प्रकार होते है पर्याप्त अपर्याप्त।

५. त्रस जीव बादर ही होते हैं

ध १/१,१,४२/२७२ किं त्रसा सूक्ष्मा उत बादरा इति। बादरा एव न सूक्ष्मा। कुत। तत्सौक्ष्म्यविधायकार्षाभावात्। =प्रश्न—त्रस जीव क्या सूक्ष्म होते है अथवा बादर? उत्तर—त्रस जीव बादर ही होते है, सूक्ष्म नहीं होते। प्रश्न—यह कैसे जाना जाये? उत्तर—क्योकि, त्रस जीव सूक्ष्म होते है, इस प्रकार कथन करनेवाला आगम प्रमाण नही पाया जाता है। (ध /६/४,१,७१/३४३/६); (का.अ./मू./१२५)

६. त्रस जीवोंमें कथंचित् सूक्ष्मत्व

ध.१०/४,२,४,१४/४७/८ सुहुमणामकम्मोदयजणिदसुहुमत्तेण विणा विग्गहगदीए वट्टमाणतसाण सुहुमत्तब्भुवगमादो। कध ते सुहुमा। अणंताणतविस्ससोवचएहि उवचियओरालियणोकम्मक्खधादो विणिग्गयदेहत्तादो। =यहाँपर, सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जो सूक्ष्मता उत्पन्न होती है, उसके बिना विग्रहगतिमें वर्तमान त्रसोको सूक्ष्मता स्वीकार की गयी है। प्रश्न—वे सूक्ष्म कैसे हैं? उत्तर—क्योंकि उनका शरीर अनन्तानन्त विस्रसोपचयोसे उपचित औदारिक नोकर्म-स्कन्धोसे रहित है, अत वे सूक्ष्म है।

७. त्रसोंमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

प खं./१/१,१/सू.३६-४४ एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिंदिया एक्कम्मि चेव मिच्छाइट्ठिट्ठाणे।३६। पंचिंदिया असण्णि पचिंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।३७। तसकाइया बीइंदिया-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।४४।=एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं।३६। असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवलि गुणस्थानतक पंचेन्द्रिय जीव होते है।३७। द्वीन्द्रियादिसे लेकर अयोगिकेवलीतक त्रसजीव होते है।४४।

रा.वा /९/७/११/६०५/२४ एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु एकमेव गुणस्थानमाद्यम्। पञ्चेन्द्रियेषु सज्ञिषु चतुर्दशापि सन्ति। =एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रियमें एक ही पहला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पचेन्द्रिय सज्ञियोमें चौदह ही गुणस्थान होते हैं।

गो.जी /जी.प्र /६९५/११३१/१३ सासादने बादरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंज्ञ्य-पर्याप्तसज्ञिपर्याप्ता सप्त। =सासादन विषै बादर एकेन्द्रिय, बेन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व संज्ञी और असज्ञी पर्याप्त ए सात पाइए। (गो.जी /जी.प्र /७०३/११३७/१४); (गो.क /जी.प्र./५५१/७५३/७)

८. त्रसके लक्षण सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा./२/१२/२/१२६/२७ स्यान्मतम्-त्रसेरुद्वेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति । तन्न; किं कारणम् । गर्भादिषु तदभावात् । अत्र सत्त्वप्रसङ्गात् । गर्भाण्डजमूर्च्छितसुषुप्तादीनां त्रसानां बाह्यभयनिमित्तोपनिपाते सति चलनाभावादत्र सत्त्वं स्यात् । कथं तर्ह्यस्य निष्पत्तिः 'त्रस्यन्तीति त्रसा' इति । व्युत्पत्तिमात्रमेव नार्थः प्राधान्येनाश्रीयते गोशब्दप्रवृत्तिवत् । =प्रश्न—भयभीत होकर गति करे सो त्रस ऐसा लक्षण क्यों नहीं करते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि ऐसा लक्षण करनेसे गर्भस्थ, अण्डस्थ, मूर्च्छित, सुषुप्त आदिमें अत्रसत्वका प्रसंग आ जायेगा। अर्थात् त्रस जीवोंमें बाह्यभयके निमित्त मिलनेपर भी हलन-चलन नहीं होता अतः इनमें अत्रसत्व प्राप्त हो जायेगा। प्रश्न—तो फिर भयभीत होकर गति करे सो त्रस, ऐसी निष्पत्ति क्यों की गयी। उत्तर—यह केवल रूढ़िवश ग्रहण की गयी है। 'जो चले सो गऊ,' ऐसी व्युत्पत्ति मात्र है। इसलिए चलन और अचलनकी अपेक्षा त्रस और स्थावर व्यवहार नहीं किया जा सकता। कर्मोदयकी अपेक्षासे ही किया गया है। यह बात सिद्ध है। (स.सि./२/१२/१७१/४); (ध १/१,१,४०/२६६/२)

९. अन्य सम्बन्धित विषय

१. त्रसजीवके भेद-प्रभेदोंका लोकमें अवस्थान । —दे० इन्द्रिय, काय, मनुष्यादि ।
२. वायु व अग्निकायिकोंमें कथंचित् त्रसपना । —दे० स्थावर/१ ।
३. त्रसजीवोंमें कर्मोंका बन्ध, उदय व सत्त्व । —दे० वह वह नाम ।
४ मार्गणा प्रकरणमें भावमार्गणाकी इष्टता और वहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम । —दे० मार्गणा ।
५. त्रसजीवोंके स्वामित्व सम्बन्धी गुणस्थान जीवसमास, मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ । —दे० सत् ।
६. त्रसजीवोंमें प्राणोंका स्वामित्व । —दे० प्राण/१ ।
७. त्रसजीवोंके सत् (अस्तित्व) संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्वरूप आठ प्ररूपणाएँ । —दे० वह वह नाम ।

२. त्रस नामकर्म व त्रसलोक

१. त्रस नामकर्मका लक्षण

स सि./८/११/३९१/१० यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम ।=जिसके उदयसे द्वीन्द्रियादिकमें जन्म होता है वह त्रस नामकर्म है। (रा वा/८/१२/२१/५७८/२७) (ध.६/१,९-१,२८/६१/४) (गो.क /जी.प्र / ३३/२९/३३)

ध.१३/५,५.१०१/३६५/३ जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं सचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणाम । =जिस कर्मके उदयसे जीवोंके गमनागमनभाव होता है वह त्रस नामकर्म है।

२. त्रसलोक निर्देश

ति.प /५/६ मंदरगिरिमूलादो इगिलक्खजोयणाणि बहलम्मि । रज्जूय पदरखेत्ते चिट्ठेदि तिरियतसलोओ ।६। =मन्दरपर्वतके मूलसे एक लाख योजन बाहल्यरूप राजुप्रतर अर्थात् एक राजू लम्बे-चौडे क्षेत्रमें तिर्यक् त्रसलोक स्थित है।

३. त्रसनाली निर्देश

ति.प./२/६ लोयबहुमज्झदेसे तरुम्मि सारं व रज्जुपदरजुदा । तेरसरज्जुच्छेहा किंचूणा होदि तसणाली ।६। =जिस प्रकार वृक्षके मध्यभागमें सार हुआ करता है, उसी प्रकार लोकके बहु मध्यभाग अर्थात् बीचमें एक राजू लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली (त्रस जीवोंका निवासक्षेत्र) है।

४. त्रसजीव त्रसनालीसे बाहर नहीं रहते

ध.४/१,३,४/१४९/६ तसजीवलोगणालीए अब्भंतरे चेव होंति, णो बहिद्धा । =त्रसजीव त्रसनालीके भीतर होते हैं बाहर नहीं । (रा. वा /मू./१२२)

गो.जी /मू /१९९ उववादमारणंतियपरिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा । तसणालिबाहिरम्हि य णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।१९९। =उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातके सिवाय शेष त्रसजीव त्रसनालीसे बाहर नहीं हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है।

५. कथंचित् सारा लोक त्रसनाली है

ति.प /२/८ उववादमारणंतियपरिणदतसलोयपूरणेण गदो । केवलिणो अवलंबिय सव्वजगो होदि तसणाली ।८। =उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातमें परिणत त्रस तथा लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवलीका आश्रय करके सारा लोक ही त्रसनाली है।८।

★ त्रस नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ —दे० वह वह नाम ।

★ त्रस नामकर्मके असंख्यातों भेद सम्भव हैं —दे० नामकर्म ।

त्रसरेणु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष । अपरनाम त्रटरेणु —दे० गणित/I/१ ।

त्रसित—प्रथम नरकका दसवाँ पटल —दे० नरक/५ ।

त्रस्त—१. प्रथम नरकका दसवाँ पटल —दे० नरक/५ । २. तृतीय नरकका दूसरा पटल —दे० नरक/५ ।

त्रायस्त्रिंश—१. त्रायस्त्रिंश देवका लक्षण

स.सि./४/४/२३९/३ मन्त्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः । त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशाः । =जो मन्त्री और पुरोहितके समान हैं वे त्रायस्त्रिंश कहलाते है। ये तेतीस ही होते हैं इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। (रा.वा./४/४/३/२१२), (म पु /२२/२५)

ति.प./३/६५ । पुत्तणिहा तेत्तीसत्तिदसा···।६५। =त्रायस्त्रिंश देव पुत्रके सदृश होते है। (त्रि.सा /२२४)

★ भवनवासी व स्वर्गवासी इन्द्रोंके परिवारोंमें त्रायस्त्रिंश देवोंका निर्देश —दे० भवनवासी आदि भेद ।

२. कल्पवासी इन्द्रोंके त्रायस्त्रिंशदेवोंका परिमाण

ति.प./८/२८६,३१९ पडिइदाणं सामाणियाण तेत्तीससुरवराण च । दसभेदा परिवारा णियइंदसमा य पत्तेक्कं ।२८६। पडिइंदादितियस्स य णियणियइंदेहिं सरिसदेवीओ । संखाए णामेहिं विक्किरियारिद्धि चत्तारि ।३१९। तप्परिवारा कमसो चउएक्कसहस्सयाणि पंचसया । अड्ढाइज्जसयाणि तद्दलतेसट्ठि बत्तीस ।३२०। =प्रतीन्द्र, सामानिक और त्रायस्त्रिंश देवोंमें से प्रत्येकके दश प्रकारके परिवार अपने इन्द्रके समान होते हैं।२८६। प्रतीन्द्रादिक तीनकी देवियाँ संख्या, नाम, विक्रिया और ऋद्धि, इन चारोंमें अपने-अपने इन्द्रोंके सदृश है।३१९। (दे०—स्वर्ग/३)। उनके परिवारका प्रमाण क्रमसे ४०००,२०००,१०००,५००,२५०,१२५,६३,३२ है।

त्रिकच्छेद—Number of times that a number can be divided by ३. (ध ५/प्र./२७) त्रिशेष—दे० गणित/II/५।

त्रिकरण—दे० करण/३।

त्रिकलिंग—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

त्रिकाल—श्रुतज्ञानादिकी त्रिकालज्ञता—दे० वह वह नाम।

त्रिकरण—१. भरतक्षेत्रका एक पर्वत —दे० मनुष्य/४। २ विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० मनुष्य/४। ३. पूर्व विदेहका एक वक्षार उसका एक कूट तथा रक्षकदेव —दे० लोक/७। ४. पूर्व विदेहस्थ आत्माञ्जन वक्षारका एक कूट व उसका रक्षकदेव —दे० लोक/७।

त्रिकृत्वा—ध १३/५,४,२८/८६/१ पदांहिणणमसणादिकिरियाणं तिण्णिवारकरणं तिक्खुत्तं णाम। अधवा एक्कम्मि चेव दिवसे जिण-गुरुरिसिवंदणाओ तिण्णिवारं किज्जंति त्ति तिक्खुत्तं णाम। =प्रदक्षिणा और नमस्कारादि क्रियाओंका तीन बार करना त्रिःकृत्वा है। अथवा एक ही दिनमें जिन, गुरु और ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है, इसलिए इसका नाम त्रि कृत्वा है।

त्रिखण्ड—भरतादि क्षेत्रोंमें छह-छह खण्ड है। विजयार्धके एक ओर तीन म्लेक्षखण्ड है और दूसरी ओर एक आर्यखण्ड व दो म्लेक्षखण्ड है। इन तीन म्लेक्षखण्डोंको ही त्रिखण्ड कहते है, जिसे अर्धचक्रवर्ती जीतता है।

त्रिगर्त—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४।

त्रिगुणसारव्रत— व्रतविधान स./५६ क्रमश' १,१,२,३,४ ५,४,४, ३,२,१ इस प्रकार ३० उपवास करे। बीचके १० स्थान व अन्तमें एक-एक पारणा करे। जाप—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य।

त्रिज्या—Radius (ध.५/प्र.२७)।

त्रिपर्वा—एक ओषधी विद्या —दे० विद्या।

त्रिपातिनी—एक ओषधी विद्या —दे० विद्या।

त्रिपुर—भरतक्षेत्र विन्ध्याचलका एक देश—दे० मनुष्य/४।

त्रिपृष्ठ—म पु /सर्ग/श्लोक=यह अपने पूर्वभवमें पुरुरवा नामक एक भील था। मुनिराजसे अणुव्रतोके ग्रहण पूर्वक सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। फिर भरत चक्रवर्तीके मरीचि नामक पुत्र हुआ, जिसने मिथ्या मार्गको चलाया था। तदनन्तर चिरकालतक भ्रमण कर (६२/८५-९०) राजगृह नगरके राजा विश्वभूतिका पुत्र विश्वनन्दि हुआ (५७/७२)। फिर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ (५७/८२) तत्पश्चात वर्तमान भवमें श्रेयासनाथ, भगवान्‌के समयमें प्रथम नारायण हुए (५७/८६); (८२/९०) विशेष परिचय - -दे० शलाका पुरुष/४। यह वर्धमान भगवान्‌का पूर्वका दसवाँ भव है। (७६/५३४-५४३); (७४/२४१-२६०) —दे० महावीर।

त्रिभंगी—आचार्य कनकनन्दि द्वारा रचित १४०० श्लोक प्रमाण (ई. श. ११) एक ग्रन्थ।

त्रिभुवन चूड़ामणि—भद्रशाल वनमें स्थित दो सिद्धायन कूट —दे० लोक/७।

त्रिमुख—संभवनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष। —दे० यक्ष।

त्रिराशि गणित—दे० गणित/II/४।

त्रिलक्षण कदर्थन—पात्रकेशरी न० १ (ई. श. ६-७) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ।

त्रिलोक तीज व्रत—व्रत विधान सं./१०६ तीन वर्षतक प्रतिवर्ष भाद्रपद शुक्ला तीजको उपवास। जाप—ओं ह्रीं त्रिलोक सम्बन्धी अकृत्रिमजिन चैत्यालयेभ्यो नम। इस मन्त्रका त्रिकाल जाप।

त्रिलोक बिन्दुसार—अंग श्रुतज्ञानका चौदहवाँ पूर्व।—दे० श्रुतज्ञान/III।

त्रिलोकमंडन—प. पु /सर्ग/श्लोक अपने पूर्वके मुनिभवमें अपनी झूठी प्रशंसाको चुपचाप सुननेके फलसे हाथी हुआ। रावणने इसको मदमस्त अवस्थामें पकडकर इसका त्रिलोकमण्डन नाम रखा (८/४३२) एक समय मुनियोसे अणुव्रत ग्रहणकर चार वर्षतक उग्र तप किया (८७-१-७)। अन्तमें सल्लेखना धारणकर ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें देव हुआ (८७/७)।

त्रिलोकसार—आ० नेमिचन्द्र (ई० श० ११ पूर्वार्ध) द्वारा रचित लोक प्ररूपक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। गाथा प्रमाण १०१८ है। इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ प्राप्त है—१. आ. माधवचन्द्र त्रिविद्यदेव-कृत संस्कृत टीका, २ पं० टोडरमलजी कृत भाषा टीका (ई० १७३६)

त्रिलोकसार व्रत—

ह पु./३४/५६-६१ क्रमश त्रिलोकाकार रचनाके अनुसार नीचेसे ऊपरकी ओर ५, ४, ३, २, १, २, ३, ४, ३, २, १. इस प्रकार ३० उपवास व बीचके स्थानोमें ११ पारणा।

↑ रचना त्रिलोकाकार

o
oo
ooo
oooo
ooo
oo
o
oo
ooo
oooo
ooooo

त्रिवर्ग—**१. निक्षेप आदि त्रिवर्ग निर्देश**

न. च वृ /१६८ णिक्खेवणयपमाणा छद्दव्वं सुद्ध एव जो अप्पा। तक्क पवयणणामा अज्झप्प होइ हु तिवग्गं ॥१६८॥ =निक्षेप नय प्रमाण तो तर्क या युक्ति रूप प्रथम वर्ग है। छह द्रव्योका निरूपण प्रवचन या आगम रूप दूसरा वर्ग है। और शुद्ध आत्मा अध्यात्मरूप तीसरा वर्ग है।

२. धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गका निर्देश

म. पु /२/३१-३२ पश्य धर्मतरोरर्थ' फलं कामस्तु तद्रस'। सत्रिवर्गत्रयस्यास्य मूलं पुण्यकथाश्रुति ॥३१॥ धर्मादर्थश्च कामश्च स्वर्गश्चेत्यविमानत। धर्म' कामार्थयो' सूतिरित्यायुष्मन्विनिश्चिनु ॥३२॥ =हे श्रेणिक। देखो, यह धर्म एक वृक्ष है। अर्थ उसका फल है और काम उसके फलोंका रस है। धर्म, अर्थ, और काम इन तीनोको त्रिवर्ग कहते है, इस त्रिवर्गकी प्राप्तिका मूलकारण धर्मका सुनना है ॥३१॥ तुम यह निश्चय करो कि धर्मसे ही अर्थ, काम-स्वर्गकी प्राप्ति होती है सचमुच यह धर्म ही अर्थ और कामका उत्पत्ति स्थान है ॥३२॥

त्रिवर्ग महेन्द्र मातलि जल्प—आ० सोमदेव (ई० ९४३-९६८) कृत न्याय विषयक ग्रन्थ है।

त्रिवर्गवाद—**त्रिवर्गवादका लक्षण**

ध./९/४, १, ४५/गा. ८०/२०८ एक्केक्क तिण्णि जणा दो द्दो यण इच्छदे तिवग्गम्मि। एक्को तिण्णि ण इच्छइ सत्तवि पावेंति मिच्छत्त ॥८०॥ =तीनजन त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काममें एक-एककी इच्छा करते है। दूसरे तीन जन उनमें दो-दोकी इच्छा करते है। कोई एक तीनकी इच्छा नहीं करता है। इस प्रकार ये सातोंजन मिथ्यात्वको प्राप्त होते है।

त्रिवर्णाचारदीपक— आ० ब्रह्मदेव (ई० १२९२-१३२३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित एक ग्रन्थ।

त्रिवलित—कायोत्सर्गका अतिचार। —दे० व्युत्सर्ग/१

त्रिशिरा—१. कुण्डल पर्वतस्थ वज्रकूटका स्वामी एक नागेन्द्रदेव। —दे० लोक/७। २. रुचक पर्वतके स्वयंप्रभकूटपर रहनेवाली विद्युत्-कुमारी देवी। —दे० लोक/७।

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र—चामुण्डराय द्वारा रचित संस्कृत भाषाबद्ध रचना है। समय—(ई० श० १०-११)

त्रींद्रिय—१. त्रीन्द्रिय जीव विषयक। —दे० इन्द्रिय/४। २. त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म। —दे० जाति/१।

त्रुटित—कालका एक प्रमाण विशेष। अपरनाम त्रुटचञ्च। —दे० गणित/I/१।

त्रुटचत्रुटचङ्ग—कालका एक प्रमाण विशेष। अपर नाम त्रुटित। —दे० गणित/I/१।

त्रेपन क्रियाव्रत—व्रत विधान स/९६ १ आठमूलगुणकी आठ अष्टमी, २ पाच अणुव्रतकी पाँच पंचमी, ३ तीन गुणव्रतकी तीन; तीज ४ चार शिक्षाव्रतकी चार चौथ, ५ बारह तपकी १२ द्वादशी; ६. समता भावकी १ पडिमा, ७. ग्यारह प्रतिमाकी ११ एकादशी, ८. चार दानकी चार चौथ, ९. जल गालनकी एक पडिमा, १०. रात्रि भोजन त्यागकी एक पडिमा, ११. तीन रत्नत्रयकी तीन तीज। इस प्रकार त्रेपन तिथियोके ५३ उपवास। जाप—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप।

त्रैकाल्य योगी—संघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (—दे० इतिहास) आप गोलाचार्यके शिष्य तथा आविद्धकरण पद्मनन्दि कौमारदेव सैद्धान्तिकके गुरु थे। समय—वि० ९५७-१०११), (ई० ९००-९९८), (ष. खं /२/प्र/८ H. L. Jain), (प. वि /प्र./२८ A N up) —दे० इतिहास/५/१४।

त्रैराशिक—Rule of three (ध /५/प्र २७) विशेष—दे० गणित/ II/४।

त्रैराशिकवाद—नन्दिसूत्र / २३९ गोशालप्रवर्तिता आजीविका पाखण्डिनस्त्रैराशिका उच्यन्ते। कस्मादिति चेदुच्यते, इह ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छन्ति। तद्यथा जीवोऽजीवो जीवाजीवाश्च, लोका अलोका लोकालोकाश्च, सदसत्सदसत्। नयचिन्तायामपि त्रिविधं नयमिच्छन्ति। तद्यथा, द्रव्यास्तिकं पर्यायास्तिकमुभयास्तिकं च। ततस्त्रिभी राशिभिश्चरन्तीति त्रैराशिका'। =गोशालके द्वारा प्रवर्तित पाखण्डी आजीवक और त्रैराशिक कहलाते है। ऐसा क्यों कहलाते है? क्योंकि वे सर्व ही वस्तुओंको त्र्यात्मक मानते है। इस प्रकार है जैसे कि—जीव, अजीव व जीवाजीव; लोक, अलोक व लोकालोक, सत् असत् व सदसत्। नयकी विचारणामें तीन प्रकारकी नय मानते है। वह इस प्रकार—द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक व उभयार्थिक। इस प्रकार तीन राशियों द्वारा चरण करते है, इसलिए त्रैराशिक कहलाते है।

ध./१/१, १, २/गा. ७६/११२ अट्ठासी-अहियारेसु चउण्हमहियाराण-मत्थि णिद्देसो। पढमा अबधयाणं विदियो तेरासियाणं बोद्धव्वो ॥७६॥ =(दृष्टिवाद अगके) सूत्र नामक अर्थाधिके अठासी अर्थाधिकारोंका नामनिर्देश मिलता है। उसमें दूसरा त्रैराशिक वादियोका।

त्रैलिंग—वर्तमान तैलंगदेश जो हैदराबाद दक्षिणके अन्तर्गत है। (म. पु /प्र /५० पं. पन्नालाल)

त्रैविध्यदेव—१. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) चार आचार्योंकी उपाधि त्रैविध्यदेव थी। १. माघनन्दि कोल्लापुरीयके शिष्य माघनन्दि की। २. देवकीर्ति पण्डित के शिष्य शुभचन्द्र की। ३. देवकीर्ति पण्डितके ही दूसरे शिष्य रामचन्द्र की। ४. श्रुतकीर्ति की। —दे० वह वह नाम (दे० इतिहास/५/१४)

२ आप पद्मनन्दि नं०७ के गुरु थे। पद्मनन्दि नं०७ का स्वर्गवास वि० १३७३ में हुआ था। तदनुसार आपका समय—वि० १३००-१३५० (ई० १२४३-१२९८) आता है।

त्वक्—दे० स्पर्श/१।

त्वचा—**१. त्वचा व नोत्वचाका लक्षण**

ध./१३/५, ३, २०/११/८ तयो णाम रुक्खाणं गच्छाणं कंधाणं वा वक्कलं। तस्सुवरि पप्पडक्खलाओ णोतयं। सूरणल्लयपलंडुहलिद्दादीणं वा बज्झ पप्पडकलाओ णोतय णाम। =वृक्ष, गच्छ या स्कन्धोंकी छालको त्वचा कहते हैं और उसके ऊपर जो पपड़ीका समूह होता है उसे नोत्वचा कहते हैं। अथवा सूरण, अदरख, प्याज और हल्दी आदिकी जो बाह्य पपड़ी समूह है उसे नोत्वचा कहते है।

* **औदारिक शरीरमें त्वचाओंका प्रमाण**—दे० औदारिक/२

[थ]

थिउक्क संक्रमण—दे० संक्रमण/१०।

[द]

दंड—१. चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२; २. क्षेत्रका प्रमाण विशेष—अपरनाम धनुष, मूसल, युग, नाली—दे० गणित/I/१।

दंड—**१. भेद व लक्षण**

चा सा /९६/५ दण्डस्त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन। तत्र रागद्वेषमोहविकल्पात्मानसो दण्डस्त्रिविधः। ...अनृतोपघातपैशुन्यपरुषाभिशंसनपरितापहिंसनभेदाद्वाग्दण्ड सप्तविध। प्राणिवधचौर्यमैथुनपरिग्रहारम्भताडनोग्रवेशविकल्पात्कायदण्डोऽपि च सप्तविध। =मन, वचन, कायके भेदसे दण्ड तीन प्रकारका है, और उसमें भी राग, द्वेष, मोहके मानसिक दण्ड भी तीन प्रकारका है।... झूठ बोलना, वचनसे कहकर किसीके ज्ञानका घात करना, चुगली करना, कठोर वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना, सताप उत्पन्न करनेवाला वचन कहना और हिंसाके वचन कहना, यह सात तरहका वचन दण्ड कहलाता है। प्राणियोंका वध करना, चोरी करना, मैथुन करना, परिग्रह रखना, आरम्भ करना, ताडन करना, और उग्रवेष (भयानक) धारण करना इस तरह कायदण्ड भी सात प्रकारका कहलाता है।

दंडभूत सहस्रक—विद्याधर विद्या है—दे० विद्या।

दंडसमुद्घात—दे० केवली/७।

दंडाध्यक्षगण—विद्याधर विद्या है—दे० विद्या।

दंडपति—त्रि. सा /भा.पा /६८३ दण्डपति कहिये समस्त सेनाका नायक।

दंतकर्म—दे० निक्षेप।

दंशमशक परीषह—**१. का लक्षण**

स सि /९/९/४२१/१० दंशमशकग्रहणमुपलक्षणम्। तेन दंशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकामत्कुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादयो गृह्यन्ते।

नरकृता बाधामप्रतीकारा सहमानस्य तेषा बाधा त्रिधाप्यकुर्वाणस्य निर्वाणप्राप्तिमात्रसंकल्पप्रवणस्य तद्वेदनासहनं दंशमशकपरिषहक्षमेत्युच्यते ।=सूत्रमें 'दंशमशक' पदका ग्रहण उपलक्षण है। ·दंशमशक पदसे दंशमशक, मक्खी, पिस्सू, छोटी मक्खी, खटमल, कीट, चींटी और बिच्छू आदिका ग्रहण होता है। जो इनके द्वारा की गयी बाधाको बिना प्रतिकार किये सहन करता है, मन, वचन और कायसे उन्हे बाधा नही पहुँचाता है ओर निर्वाणकी प्राप्ति मात्र सकल्प ही जिसका ओढना है उसके उनको वेदनाको सह लेना दंशमशक परीषहजय है। (रा. वा./६/६/८-६/६०८/१८), (चा सा /११३/३)।

२. दंश व मशक परीषहमें अन्तर

रा. वा./६/१७/४-६/६१६ दंशमशकस्य युगपत्प्रवृत्तेरेकान्नविंशतिविकल्प इति चेत्, न, प्रकारार्थत्वान्मशकशब्दस्य ।४। दंशग्रहणात्तुल्यजातीयसंप्रत्यय इति चेत, न, श्रुतिविरोधात ।५। अन्यतरेण परीषहस्य निरूपितत्वात ।६।=प्रश्न—दंश और मशकको जुदी-जुदी मानकर और प्रज्ञा व अज्ञानको एक मानकर, इस प्रकार एक जीवके युगपत १६ परीषह कही जा सकती है ? उत्तर—यह समाधान ठीक नही है। क्योकि 'दशमशक' एक ही परीषह है। मशक शब्द तो प्रकारवाची है। प्रश्न—दंश शब्दसे ही तुल्य जातियोका बोध हो जाता है ? अत मशक शब्द निरर्थक है ? उत्तर—ऐसा कहना उचित नही है। क्योकि इससे श्रुतिविरोध होता है। दंश शब्द प्रकारार्थक तो है नही। यद्यपि मशक शब्दका सीधा प्रकार अर्थ नहीं होता, पर जब दंश शब्द डास अर्थको कहकर परीषहका निरूपण कर देता है तब मशक शब्द प्रकार अर्थका ज्ञापन करा देता है।

दक्ष—ह पु /१७/श्लोक—मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌का पोता तथा सुव्रत राजाका पुत्र था (१-२)। अपनी पुत्रीपर मोहित होकर उससे व्यभिचार किया। (१५)।

दक्षिण प्रतिपत्ति—आगममे आचार्य परम्परागत उपदेशोको ऋजु व सरल होनेके कारण दक्षिणप्रतिपत्ति कहा गया है। धवलाकार श्रीवीरसेनस्वामी इसको प्रधानता देते है। (ध ५/१,६,३७/३२/६); (ध. १/प्र ५७), (ध. ३/प्र १५)।

दक्षिणाग्नि—दे० अग्नि।

दत्त—म पु./६६/१०३-१०६ पूर्वके दूसरे भवमें पिताका विशेष प्रेम न था। इस कारण युवराजपद प्राप्त न कर सके। इसलिए पितासे द्वेषपूर्वक दीक्षा धारणकर सौधर्म स्वर्गमे देव हुए। वहाँसे वर्तमान भवमे सप्तम नारायण हुए।—दे० शलाका पुरुष/४।

दत्ति—दे० दान।

दधिमुख—नन्दीश्वर द्वीपमे पूर्वादि चारो दिशाओमें स्थित चार-चार बावडियाँ है। प्रत्येक बावडीके मध्यमे एक-एक ढोलाकार (Cyclinderical) पर्वत है। धवलवर्ण होनेके कारण इनका नाम दधिमुख है। इस प्रकार कुल १६ दधिमुख है। जिनमेसे प्रत्येकके शीशपर एक-एक जिन मन्दिर है। विशेष—दे० लोक/४/५।

दमितारी—म पु /६२/श्लोक—पूर्व विदेहक्षेत्रमे शिवमन्दिरका राजा था (४३४)। नारदके कहनेपर दो सुन्दर नर्तकियोके लिए अनन्तवीर्य नारायणसे युद्ध किया (४३६)। उस युद्धमे चक्र द्वारा मारा गया (४८४)।

दया—दे० करुणा।

दयादत्ति—दे० दान।

दयासागरसूरि—कृति-धर्मदत्तचरित्र। समय—(वि. १४८६ ई० १४२६); (हि. जै. सा. इ /६६ कामताप्रसाद)।

दर्प—भ आ./वि./६१३/८१२/३ दर्पोऽनेकप्रकार·। क्रीडासंघर्षं, व्यायामकुहक, रसायनसेवा, हास्य, गीतशृङ्गारवचन, प्लवन-मित्यादिको दर्पः।=दर्पके अनेक प्रकार है—क्रीडामें स्पर्धा, व्यायाम, कपट, रसायन सेवा, हास्य, गीत और शृंगारवचन, दौडना और कूदना ये दर्पके प्रकार है।

दर्शन—१ दक्षिण धातकीखण्डका स्वामीदेव—दे० व्यन्तर/४। २. दर्शन (उपयोग)—दे० आगे।

दर्शन—(षड्दर्शन) **१. दर्शनका लक्षण**

षड्दर्शन समुच्चय/पृ २/१८ दर्शनं शासनं सामान्यावबोधलक्षणम् ।=दर्शन सामान्यावबोध लक्षणवाला शासन है। (दर्शन शब्द 'दृश' देखना) धातुसे करण अर्थमें 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाये। अर्थात् जीवन व जीवनविकासका ज्ञान प्राप्त किया जाये।

षड्दर्शन समुच्चय/३/१० देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभि· ।३।=वह दर्शन देवता ओर तत्त्वके भेदसे जाना जाता है। ऐसा ऋषियोने कहा है। और भी—दे० दर्शन/१/१)।

२. दर्शनके भेद

षड्दर्शनसमुच्चय/मू /२-३ दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया·· ।२। बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा। जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो ।३।=मूल भेदकी अपेक्षा दर्शन छह ही होते है। उनके नाम यह है—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय।

षड्दर्शनसमुच्चय/टी /२/३/१२ अत्र जगति प्रसिद्धानि षडेव दर्शनानि, एव शब्दोऽवधारणे, यद्यपि भेदप्रभेदतया बहूनि दर्शनानि प्रसिद्धानि। =जगत प्रसिद्ध छह ही दर्शन है। एव शब्द यहाँ अवधारण अर्थमे है। परन्तु भेद-प्रभेदसे बहुत प्रसिद्ध है।

३. वैदिक दर्शनका परिचय

वैदिक दर्शनोके मुख्य पाँच भेद हैं—वैशेषिक, सांख्य, योग व मीमासा। तहाँ वैशेषिक व नैयायिक एक है। इनमें केवल इतना ही अन्तर है कि वैशेषिक प्रमेयका प्ररूपण करता है जबकि नैयायिक उसकी युक्ति द्वारा जाननेका उपाय अर्थात प्रमाणका प्ररूपण करता है। सांख्य व योग एक है। इनमे केवल इतना ही अन्तर है कि सांख्य तो प्रमेय तत्त्वका प्ररूपण करता है और योग उसे साक्षात करनेका उपाय अर्थात समाधि व ध्यान आदिका उपाय बताता है। मीमासादर्शन तीन भेदरूप है—कर्ममीमासा या पूर्वमीमासा दैवीमीमासा या मध्यमीमासा तथा ज्ञानमीमासा या उत्तर-मीमासा। कर्म मीमासा ज्ञान व याज्ञिक क्रियाकाण्ड द्वारा बाह्य पदार्थोंके त्यागका प्ररूपण करता है। दैवीमीमासा भक्तिभाव द्वारा अहंकारके त्यागका प्ररूपण करता है। और ज्ञानमीमासा ज्ञाता ज्ञान, और ज्ञेयरूप भेद-भावके त्याग द्वारा चेतन्यकी अद्वैत दशाका प्ररूपण करता है। ज्ञान या उत्तरमीमासाको ही अद्वैत, बाह्याद्वैत या वेदान्तको अद्वैतदर्शन कहते है। ज्ञानमीमासा—दे० वेदान्त। शेष वैशेषिकादि चार दर्शन—दे० वह वह नाम।

९. वैदिक दर्शनोंका क्रमिक विकास क्रम

जगतके असाधारण जनोंको सहसा ही सूक्ष्म चित तत्त्वका परिचय दिया जाना असम्भव होनेसे उन्हे पहले स्थूलरूप तत्त्वका ज्ञान कराया जाता है। तत्पश्चात क्रमपूर्वक सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तत्त्वोका परिचय देते हुए अद्वैत दशातक पहुँचा दिया जाता है। पूर्वोक्त वैशेषिक आदि दर्शनका क्रम इसी प्रयोजनकी सिद्धि करता है। तहाँ वैशेषिक दर्शन बाह्य जड जगतका पृथिवी आदिके भेद द्वारा अथवा गुण-गुणी आदिके भेद द्वारा अत्यन्त स्थूलरूप तथा चेतन जगत या आत्माका सुख-दुःख आदिके संवेदन द्वारा अत्यन्त स्थूलरूप परिचय देता है। नैयायिक दर्शनको युक्ति आदिसे सिद्ध करके उसमे विश्वास उत्पन्न कराता है।

सांख्य दर्शन बाहरसे कुछ भीतरकी ओर प्रवेश करता है। अर्थात द्रव्यात्मक पदार्थ परसे भावात्मककी ओर ले जाता है। इसीलिए यह जड जगतका परिचय पृथिवी आदि रूपसे न देकर गन्ध तन्मात्रा आदि रूपसे तथा चेतन जगतका परिचय मन, अहकार व बुद्धिरूपसे देता है। इसमें भी सूक्ष्मता उत्पन्न करनेके लिए बुद्धि तत्त्वमें दो अश दर्शाता है—एक चेतनांश और दूसरा जडांश। चेतनांशका नाम पुरुष और जडाशका नाम प्रकृति है। दोनो साम्यावस्थामें रहनेसे शुद्ध और बन्धरूप अवस्थामें रहनेसे अशुद्ध होते हैं। इनकी शुद्धावस्थाका नाम मोक्ष और अशुद्धावस्थाका नाम संसार है।

विकल्पात्मक बुद्धिमें पुरुष व प्रकृतिको पृथक् करके देखनेका उपाय [illegible] दर्शन बताता है।

सांख्य व योगने यद्यपि चेतनतत्त्वका शुद्धरूप दिखानेका विशेष अवस्थामें प्रयास किया, पर अभी भी उसमें प्रदेशात्मक भेदके कारण व्यक्तिगत चेतनोके तथा जड जगत्में इष्ट पदार्थोंके भेद दिखाई देते रहे, जिससे कि शुद्ध व निर्विकल्प चैतन्यका साक्षात्कार न हो सका। मीमासा दर्शन इस कमीको पूरी करता है। यह बात सर्वसम्मत है कि शुद्धचैतन्य निर्विकल्प स्वसंवेदन गम्य ही होता है। जबतक उसमें मेरा-तेरा, अच्छा-बुरा, यह-वह तथा ज्ञान-ज्ञेय आदिके विकल्प विद्यमान है तबतक वह स्वसवेदन ही नही है। अत मीमांसा दर्शन साधकमेंसे इन विकल्पोको ही क्रमपूर्वक दूर करनेका उपाय सुझाता है।

सहसा ही निर्विकल्पताकी प्राप्ति असम्भव होनेके कारण वह क्रमपूर्वक उसे नीचेसे ऊपरकी ओर उठाता है। पहले तो दान व याज्ञिक क्रियाकाण्ड द्वारा धन आदि बाह्य पदार्थोंमेंसे ममत्वबुद्धि दूर कराता है। यही कर्म मीमासा है। तत्पश्चात अनेक देवताओकी कल्पना जागृत कराके उनमे आत्म समर्पण बुद्धि उत्पन्न कराता है जिससे कि साधकका अहकार भग हो जाये। तहाँ भी इच्छाओं व तृष्णाओसे ग्रसित जीवोको आधिभौतिक देवताओंकी मध्यम वृत्तिके व्यक्तियोके लिए आधिदैविक देवताओकी और अध्यात्मभावनावालोके लिए आध्यात्मिक देवताओकी कल्पनाएँ प्रदान करता है। पहली वृत्तिवाले कामना वश, दूसरी वृत्तिवाले निष्प्रयोजन और तीसरी वृत्तिवाले व्यापक तत्त्वके दर्शन करनेकी भावनासे उन-उनकी उपासना करते है। इसी कारण उनकी उपासनाके ढगमें भी अन्तर पडता जाता है। तीनो द्वारा ही भक्ति व प्रेम उत्पन्न कराके निमग्नताका अभ्यास कराया जाना इष्ट है। यहाँ अहंकार टूटकर विकल्पात्मकबुद्धि शेष रह जाती है।

अन्तिम ज्ञान मीमासा उस विकल्पात्मकबुद्धिका विकास करानेके लिए केवल समाधिस्थदशाको प्राप्त कराके अपनेमें ही अपने द्वारा अपना साक्षात्कार करना बताता है। यहाँ भी साधककी क्रमगत चार दशाएँ होती हैं। पहली दशा ज्ञान-ज्ञेयके रूपमें विकल्परूप है। यहाँ ऐसी बुद्धि रहती है कि "मैं—यह प्रदेशात्मक शरीर प्रमाण आत्मा हूँ अथवा यह अनन्त [illegible] विश्व हूँ।" दूसरी दशामें बुद्धि व्यापकता उत्पन्न होती है। यहाँ ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है कि 'यह विराट्‌रूप विश्वरूप ही मेरा रूप है।' तीसरी दशामें 'मैं' व 'यह' का विकल्प शमन हो जाता है यहाँ "मैं ज्ञान मात्र हूँ" इतना विकल्प रहता है। चौथी दशामें ज्ञान व ज्ञेयाकारका भेद मिटकर रूप अखण्ड एक तत्त्व प्रतिभासित हो जाता है। यहाँ न यह जानता है कि 'मैं जानता हूँ' न यह जानता है कि 'इसको जानता हूँ' न कुछ भीतर भासता है कि 'मैं क्या जानता हूँ।' इसके बाद अत्यन्त तन्मयताको प्राप्त हो जानेके कारण [illegible] जगत् मात्र [illegible] हो जाता है। यहाँ केवल एक सर्व प्रतिभासात्मक अखण्ड सामान्य प्रतिभासमात्र प्रतीत होता है। यही वह अद्वैत ब्रह्म है जिसका कि निरूपण ज्ञानमीमांसा या अद्वैत या वेदान्तदर्शन करता है। वैदिकदर्शनोंका अन्त होनेके कारण इसे वेदान्त कहते हैं।

* सर्व दर्शन किसी न किसी नयमें गर्भित हैं
—(दे० अनेकान्त/२।६)।
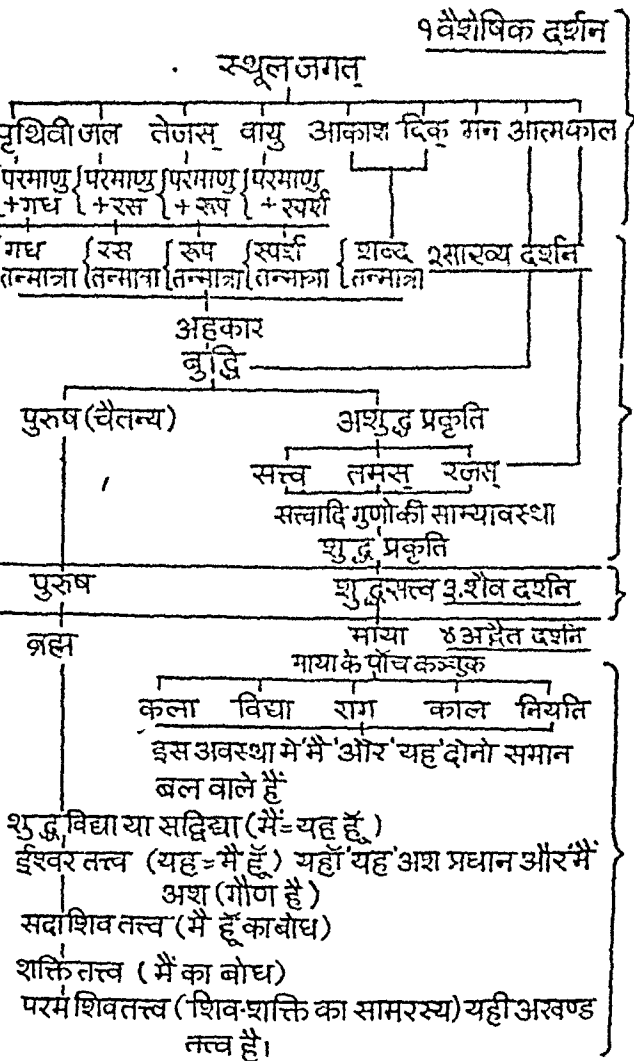
५. जैन दर्शन व वैदिक दर्शनोंका समन्वय

भले ही साम्प्रदायिकताके कारण सर्वदर्शन एक-दूसरेके तत्त्वोंका खण्डन करते हो। परन्तु साम्यवादी जैन दर्शन सबका खण्डन करके उनका समन्वय करता है। या यह कहिए कि उन सर्वदर्शनमयी ही जैन दर्शन है, अथवा वे सर्वदर्शन जैनदर्शनके ही अंग हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि जिस अद्वैत शुद्धतत्त्वका परिचय देनेके लिए वेद कर्ताओंको पाँच या सात दर्शनोंकी स्थापना करनी पडी, उसीका परिचय देनेके लिए जैनदर्शन नयोंका आश्रय लेता है। तहाँ वैशेषिक व नैयायिक दर्शनोंके स्थानपर असद्भूत व सद्भूत व्यवहार नय है। सांख्य व योगदर्शनके स्थानपर शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। अद्वैतदर्शनके स्थानपर शुद्ध संग्रहनय है। इनके मध्यके अनेक विकल्पोंके लिए भी अनेकों नय व उपनय हैं, जिनसे तत्त्वका सुन्दर व स्पष्ट परिचय मिलता है। प्ररूपणा करनेके ढंगमें अन्तर होते हुए भी, दोनों एक ही लक्ष्यको प्राप्त करते हैं। अद्वैतदर्शनकी जिस निर्विकल्प दशाका ऊपर वर्णन कर आये हैं वही जैनदर्शनकी कैवल्य अवस्था है। पूर्वमीमांसाके स्थानपर यहाँ दान व पूजा विधानादि, मध्य मीमांसाके स्थानपर यहाँ जिनेन्द्र भक्तिरूप व्यवहार धर्म तथा उत्तरमीमांसाके स्थानपर धर्म व शुक्लध्यान है। तहाँ भी धर्मध्यान तो उसकी पहली व दूसरी अवस्था है और शुक्लध्यान उसकी तीसरी व चौथी अवस्था है।

*** सब एकान्तदर्शन मिलकर एक जैनदर्शन है—** दे० अनेकांत/२।

दर्शन (उपयोग)—जीवकी चैतन्यशक्ति दर्पणकी स्वच्छत्व शक्तिवत् है। जैसे—बाह्य पदार्थोंके प्रतिबिम्बोंके बिनाका दर्पण पाषाण है, उसी प्रकार ज्ञेयाकारोंके बिनाकी चेतना जड है। तहाँ दर्पणकी निजी स्वच्छतावत् चेतनका निजी प्रतिभास दर्शन है, और दर्पणके प्रतिबिम्बोंवत् चेतनामें पडे ज्ञेयाकार ज्ञान है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब विशिष्ट स्वच्छता परिपूर्ण दर्पण है उसी प्रकार ज्ञान विशिष्ट दर्शन परिपूर्ण चेतना है। तहाँ दर्शनरूप अन्तर चित्प्रकाश तो सामान्य व निर्विकल्प है, और ज्ञानरूप बाह्य चित्प्रकाश विशेष व सविकल्प है। यद्यपि दर्शन सामान्य होनेके कारण एक है परन्तु साधारण जनोंको समझानेके लिए उसके चक्षु आदि भेद कर दिये गये है। जिस प्रकार दर्पणको देखनेपर तो दर्पण व प्रतिबिम्ब दोनों युगपत् दिखाई देते हैं, परन्तु पृथक्-पृथक् पदार्थोंको देखनेसे वे आगे-पीछे दिखाई देते है, इसी प्रकार आत्म समाधिमें लीन महायोगियोंको तो दर्शन व ज्ञान युगपत् प्रतिभासित होते हैं, परन्तु लौकिकजनोंको वे क्रमसे होते हैं। यद्यपि सभी संसारी जीवोंको इन्द्रियज्ञानसे पूर्व दर्शन अवश्य होता है, परन्तु क्षणिक व सूक्ष्म होनेके कारण उसकी पकड वे नहीं कर पाते। समाधिगत योगी उसका प्रत्यक्ष करते हैं। निज स्वरूपका परिचय या स्वसंवेदन क्योंकि दर्शनोपयोगसे ही होता है, इसलिए सम्यग्दर्शनमें श्रद्धा शब्दका प्रयोग न करके दर्शन शब्दका प्रयोग किया है। चेतना दर्शन व ज्ञान स्वरूप होनेके कारण ही सम्यग्दर्शनको सामान्य और सम्यग्ज्ञानको विशेष धर्म कहा है।

१. दर्शनोपयोग निर्देश

१. दर्शनका आध्यात्मिक अर्थ

द पा /मू. १४ दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु सजमो ठादि। णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दसण होई ।१४। =बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग होय, तीनो योगनिपै सयम होय, तीन करण जामें शुद्ध होय, ऐसा ज्ञान होय, बहुरि निर्दोष खडा पाणिपात्र आहार करै, ऐसे मूर्तिमत दर्शन होय ।

बो. पा./मू /१४ दसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तसयमं सुधम्मं च । णिग्गंथणाणमय जिणमग्गे दसणं भणिय ।१४।—जो मोक्षमार्गको दिखावे सो दर्शन है। वह मोक्षमार्ग सम्यक्त्व, सयम और उत्तमक्षमादि सुधर्म रूप है। तथा बाह्यमें निर्ग्रन्थ और अन्तरंगमें ज्ञानमयी ऐसे मुनिके रूपको जिनमार्गमें दर्शन कहा है।

द पा /पं. जयचन्द/१/३/१० दर्शन कहिये मत (द पा /प. जयचन्द/१४/२६/३)।

द पा /पं जयचन्द/२/५/२ दर्शन नाम देखनेका है। ऐसे (उपरोक्त प्रकार) धर्मकी मूर्ति (दिगम्बर मुनि) देखनेमें आवै सो दर्शन है, सो प्रसिद्धतामें जामें धर्मका ग्रहण होय ऐसा मतकू दर्शन ऐसा नाम है।

२. दर्शनका व्युत्पत्ति अर्थ

स. सि./१/१/६/१ पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम् =दर्शन शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाय अथवा देखनामात्र। (गो. जी /जी प्र /४८३/८८६/२)।

रा वा /१/१/ वार्तिक नं पृष्ठ नं./पक्ति नं पश्यति वा येन तद् दर्शन। (१/१/४/४/२४)। एवभूतनयवक्तव्यवशात्—दर्शनपर्यायपरिणत आत्मैव दर्शनम् (१/१/५/७/१) पश्यतीति दर्शनम्। (१/१/२४/-६/१)। दृष्टिर्दर्शनम्/ (१/१/२६/६/१२)।=जिसमे देखा जाये वह दर्शन है। एवम्भूतनयकी अपेक्षा दर्शनपर्यायसे परिणत आत्मा ही दर्शन है। जो देखता है सो दर्शन है। देखना मात्र ही दर्शन है।

ध. १/१.१.४/१४५/३ दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्। =जिसके द्वारा देखा जाय या अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते है।

३. दर्शनोपयोगके अनेकों लक्षण

१. विषयविषयी सन्निपात होनेपर 'कुछ है' इतना मात्र ग्रहण।

स सि /१/१५/१११/३ विषयविषयिसनिपाते सति दर्शनं भवति।= विषय और विषयीका सन्निपात होनेपर दर्शन होता है। (रा वा/ १/१५/१/६०/२), (तत्त्वार्थवृत्ति/१/१५)।

ध. १/१.१.४/१४६/२ विषयविषयिसपातात् पूर्वावस्था दर्शनमित्यर्थ'।

ध॰ ११/४,२,६,२०५/३३३/७ सा बज्झत्थग्गहणुम्मुहावत्था चेव दंसणं, किंतु बज्झत्थग्गहणुवसहरणपढमसमयप्पहुडि जाव बज्झत्थअग्गहणचरिमसमिओ त्ति दमणुवजोगो त्ति घेत्तव्व। =१ विषय और विषयीके योग्य देशमें होनेकी पूर्वावस्थाको दर्शन कहते है। बाह्य अर्थके ग्रहणके उन्मुख होनेरूप जो अवस्था होती है, वही दर्शन हो, ऐसी बात भी नही है, किन्तु बाह्यार्थग्रहणके उपसहारके प्रथम समयसे लेकर बाह्यार्थके अग्रहणके अन्तिम समय तक दर्शनोपयोग होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। (विशेष दे० दर्शन/२/६)।

स भ त /४७/६ दर्शनस्य किंस्विदित्यादिरूपेणाकारग्रहणम् स्वरूपम्। =विशेषण विशेष्यभावसे शून्य 'कुछ है' इत्यादि आकारका ग्रहण दर्शनका स्वरूप है।

२. सामान्य मात्रका ग्राही

पं स/मू /१/१३८ ज सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयार। अविसेसिऊण अत्थ दंसणमिदि भण्णदे समए। =सामान्य विशेषात्मक पदार्थोंके आकार विशेषको ग्रहण न करके जो केवल निर्विकल्प रूपसे अशका या स्वरूपमात्रका सामान्य ग्रहण होता है, उसे परमागममे दर्शन कहते है। (ध १/१.१४/गा. ९३/१४९), (ध. ७/५,५.५६/गा. ११/१००), (प. प्र /मू /२/३४); (गो. जी मू /४८२/८८८); (द्र. स / मू /४३)।

दे. दर्शन/४/३/ (यह अमुक पदार्थ है यह अमुक पदार्थ है, ऐसी व्यवस्था किये बिना जानना ही आकारका न ग्रहण करना है)।

गो जी./मू./४८३/८८९ भावाण सामण्णविसेसयाण सुरूवमेत्त जं। वण्णहीणग्गहण जीवेण य दंसण होदि।४८३। =सामान्य विशेषात्मक जे पदार्थ तिनिका स्वरूपमात्र भेद रहित जैसे है तैसे जीवकरि सहित जो स्वपर सत्ताका प्रकाशना सो दर्शन है।

द्र, स /टी./४३/१८६/१० अयमत्र,भाव —यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति, तदा यावत् विकल्प न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते। पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति। =तात्पर्य यह है कि—जब कोई भी किसी पदार्थको देखता है, तब जब तक वह देखनेवाला विकल्प न करे तबतक तो जो सत्तामात्रका ग्रहण है उसको दर्शन कहते है। और फिर जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण इत्यादि रूपसे विकल्प उत्पन्न होते हैं तब उसको ज्ञान कहते है।

स्या, म /१/१०/२२ सामान्यप्रधानमुपसर्जनीकृतविशेषमर्थग्रहणं दर्शनमुच्यते। तथा प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्य च ज्ञानमिति।= सामान्यकी मुख्यतापूर्वक विशेषको गौण करके पदार्थके जाननेको दर्शन कहते है और विशेषकी मुख्यतापूर्वक सामान्यको गौण करके पदार्थके जाननेको ज्ञान कहते है।

३. उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए व्यापार विशेष

ध १/१.१.४/१४६/१ प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका. प्रकाशो ज्ञानम्। तदर्थमात्मनो वृत्ति. प्रकाशवृत्तिस्तद्दर्शनमिति। =अथवा प्रकाश वृत्तिको दर्शन कहते है। इसका अर्थ इस प्रकार है, कि प्रकाश ज्ञानको कहते है, और उस ज्ञानके लिए जो आत्माका व्यापार होता है, उसे प्रकाश वृत्ति कहते है। और वही दर्शन है।

ध. ३/१.२.१६१/४५७/२ उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तप्रयत्नविशिष्टस्वसंवेदनस्य दर्शनत्वात्। =उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तभूत प्रयत्नविशिष्ट स्वसवेदनको दर्शन माना है। (द्र. सं /टी /४४/१८९/७)

ध ६/१.९-१, १६/३२/८ ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदो दर्शन आत्मविशेषोपयोग इत्यर्थ। नात्र ज्ञानोत्पादकप्रयत्नस्य तन्त्रता, प्रयत्नरहितक्षीणावरणान्तरङ्गोपयोगस्स अदर्शनत्वप्र गात्। =ज्ञानका उत्पादन करनेवाले प्रयत्नसे सम्बद्ध स्वसवेदन, अर्थात् आत्मविषयक उपयोगको दर्शन कहते है। इस दर्शनमे ज्ञानके उत्पादक प्रयत्नकी पराधीनता नही है। यदि ऐसा न माना जाय तो प्रयत्न रहित क्षीणावरण और अन्तरग उपयोगवाले केवलीके अदर्शनत्वका प्रसंग आता है।

४. आलोचन या स्वरूप सवेदन

रा वा./६/७/११/६०४/११ दर्शनावरणक्षयक्षयोपशमाविर्भूतवृत्तिरालोचनं दर्शनम्।=दर्शनावरणके क्षय और क्षयोपशमसे होनेवाला आलोचन दर्शन है।

ध १/१.१.४/१४८/६ आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका, आलोकत इत्यालोकनमात्मा, वर्तन वृत्ति, आलोकनस्य वृत्तिरालोकनवृत्ति स्वसवेदनं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देश।=आलोकन अर्थात् आत्माके व्यापारको दर्शन कहते है। इसका अर्थ यह है कि जो आलोकन करता है उसे आलोकन या आत्मा कहते है और वर्तन अर्थात् वृत्तिको आत्माकी वृत्ति कहते है। तथा आलोकन अर्थात् आत्माकी वृत्ति अर्थात् वेदनरूप व्यापारको आलोकन वृत्ति या स्वसंवेद कहते है। और उसीको दर्शन कहते है। यहाँपर दर्शन इस शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है।

ध ११/४,२,६,२०५/३३३/२ अतरगउवजोगो।· बज्झत्थगहणसंते विसिट्ठसगसरूवसंवयणं दंसणमिदि सिद्ध'। =अन्तरंग उपयोगको दर्शनोपयोग कहते है। बाह्य अर्थका ग्रहण होनेपर जो विशिष्ट आत्मस्वरूपका वेदन होता है वह दर्शन है। (ध. ६/१,९-१,६/९/३); (ध. १५/६/१)।

५ अन्तश्चित्प्रकाश

ध. १/१.१.४/१४५/४ अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शनज्ञानव्यपदेशभाजो"।=अन्तर्चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्चित्प्रकाशको ज्ञान माना है। नोट—(इस लक्षण सम्बन्धी विशेष विस्तारके लिए देखो आगे दर्शन/२।

२. ज्ञान व दर्शनमे अन्तर

१. दर्शनके लक्षणमें देखनेका अर्थ ज्ञान नहीं है

ध.१/१.१.४/१४५/३ दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्। नाक्ष्णालोकेन चातिप्रसङ्गयोरनात्मधर्मत्वात्। दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञान-

दर्शनयोरविशेष स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्दर्शन-ज्ञानव्यपदेशभाजोरेकत्वविरोधात् ।=प्रश्न—'जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् अवलोकन किया जाये उसे दर्शन कहते है', दर्शनका इस प्रकार लक्षण करनेसे, चक्षु इन्द्रिय व आलोक भी देखनेमें सहकारी होनेसे, उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिए अतिप्रसग दोष आता है ? उत्तर—नही आता, क्योकि इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नही है। यहाँ चक्षुसे द्रव्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न—जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते है। दर्शनका इस प्रकार लक्षण करने पर, ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नही रह जाती है, अर्थात् दोनो एक हो जाते है ? उत्तर—नही, क्योकि अन्तर्मुख चित्प्रकाशको दर्शन और बहिर्मुख-चित्काशको ज्ञान माना है, इसलिए इन दोनोके एक होनेमें विरोध आता है।

२. अन्तर्मुख व बहिर्मुख चित्प्रकाशका तात्पर्य—अनाकार व साकार ग्रहण

ध.१/१,१,४/१४५/६ स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थविगति. प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मान बाह्यार्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात् । =प्रश्न—अपनेसे 'भिन्न बाह्यपदार्थोके ज्ञानको प्रकाश कहते है, इसलिए अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थोको जानता है उसे ज्ञान कहते है। इस प्रकारकी व्याख्याके सिद्ध नही हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिए उनमे भेद सिद्ध हो सकता है ? उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि जिस तरह ज्ञानके द्वारा 'यह घट है', यह पट है' इत्यादि विशेष रूपसे प्रतिनियत व्यवस्था होती है उस तरह दर्शनके द्वारा नही होती है, इसलिए इन दोनोमें भेद है।

क.पा.१/१-१५/§३०६/३३७/२ अतरगविसयस्स उवजोगस्स दंसणत्तब्भुवगमादो। त कथ णव्वदे । अणायारत्तण्णहाणुववत्तीदो। =अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार किया है। प्रश्न—दर्शन उपयोगका विषय अन्तरग पदार्थ है यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—यदि दर्शनोपयोगका विषय अन्तरग पदार्थ न माना जाय तो वह अनाकार नही बन सकता।

दे० आकार/३ ('मै इस पदार्थको जानता हूँ' इस प्रकारका पृथग्भूत कर्ता कर्म नही पाये जानेसे अन्तरग व निराकार उपयोग विषयाकार नहीं होता)

द्र.सं /टी/४४/१८६/७ यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्प कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्त्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकन परिच्छेदन करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चय यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञान भण्यते। =जैसे कोई पुरुष पहिले घटके विषयका विकल्प (मै इस घटको जानता हूँ अथवा यह घट लाल है, इत्यादि) करता हुआ बैठा है। फिर उसी पुरुषका चित्त जब पटके जाननेके लिए होता है, तब वह पुरुष घटके विकल्पसे हटकर जो स्वरूपमें प्रयत्न अर्थात् अवलोकन करता है, उसको दर्शन कहते है। उसके अनन्तर 'यह पट है' इस प्रकारसे निश्चय रूप जो बाह्य विषय रूपसे पदार्थ-ग्रहणस्वरूप विकल्पको करता है वह विकल्प ज्ञान कहलाता है।

३. केवल सामान्य ग्राहक दर्शन और केवल विशेषग्राही ज्ञान—ऐसा नही है

ध.१/१,१,४/१४६/३ तर्ह्यस्त्वन्तर्बाह्यसामान्यग्रहणं दर्शनम्, विशेषग्रहण ज्ञानमिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात्। सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विरोध इति चेन्न, 'हंदि दुवे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह विरोधात्। अपि च न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्वं प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात्। न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपाभावात्। तत् एव न दर्शनमपि प्रमाणम्। =प्रश्न—यदि ऐसा है तो (यदि दर्शन द्वारा प्रतिनियत घट पट आदि पदार्थोंको नहीं जानता तो) अन्तरग सामान्य और बहिरग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है, और अन्तर्बाह्य विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिए ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योकि सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके बिना ही ग्रहण होता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो होने दो, क्योकि क्रमके बिना भी सामान्य व विशेषका ग्रहण माननेमें कोई विरोध नही है ? उत्तर—१. ऐसा नहीं है, क्योकि, 'छद्मस्थोके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते है' इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है। (इस सम्बन्धी विशेष देखो आगे 'दर्शन/३'), (ध.१३/५,५,१६/२०८/३); (ध ६/१,६-१,१६/३३/८) २. दूसरी बात यह है कि सामान्यको छोडकर केवल विशेष अर्थ क्रिया करनेमें असमर्थ है। और जो अर्थ क्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तु रूप पडता है। (क पा./१/§३२२/३५१/३) (ध.१/१,१,४/१४८/२), (ध ६/१,६-१,१६/३३/६), (दे० सामान्य) ३. उस (अवस्तु) का ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण नही हो सक्ता, और केवल विशेषका ग्रहण भी तो नही हो सकता है, क्योकि, सामान्य रहित केवल विशेषमें कर्ता कर्म रूप व्यवहार (मै इसको जानता हूँ ऐसा भेद) नही बन सकता है। इस तरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध नही होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करने वाले दर्शनको भी प्रमाण नही मान सकते है। (ध.६/१,६-१,१६/३३/१०), (द्र.सं /टी./४४/१६०/८) ४. और इस प्रकार दोनो उपयोगोका ही अभाव प्राप्त होता है। (दे० आगे शीर्षक नं. ४) ५. (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयके बिना वस्तुका ग्रहण होनेमे विरोध आता है) (ध.१३/५,५,१६/२०८/४)

ध ६/१,६-१,१६/३३/६ बाह्यार्थसामान्यग्रहणं दर्शनमिति केचिदाचक्षते, तन्न, सामान्यग्रहणास्तित्व प्रत्यविशेषत श्रुतमन पर्यययोरपि दर्शनस्यास्तित्वप्रसगात्। =६ बाह्य पदार्थको सामान्य रूपसे ग्रहण करना दर्शन है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है। किन्तु वह कथन समीचीन नही है, क्योकि सामान्य ग्रहणके अस्तित्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे, श्रुतज्ञान और मन पर्ययज्ञान, इन दोनोको भी दर्शनके अस्तित्वका प्रसग आता है। (तथा इन दोनोके दर्शन माने नहीं गये है (दे० आगे दर्शन/४)

४. ज्ञान व दर्शनको केवल सामान्य या विशेषग्राही माननेसे द्रव्यका जानना ही अशक्य है

ध ७/२,१,५६/६७/१ ण चासेसविसेसमेत्तग्गाही केवलणाण चेव जेण सयलत्थसामण्ण केवलदंसणस्स विसओ होज्ज, ससारावत्थाए आवरणवसेण कमेण पवट्टमाणणाणदसणाणं दव्वागमाभावप्पसगादो । कुदो। ण णाण दव्वपरिच्छेदय, सामण्णविदिरित्तविसेसेसु तस्स वावारादो। ण दसणं पि दव्वपरिच्छेदय, तस्स विसेसविदिरित्तसामण्णम्मि वावारादो। ण केवल संसारावत्थाए चेव दव्वग्गहणाभावो, किंतु ण केवलिम्हि वि दव्वग्गहणमत्थि, सामण्णविसेसेसु एयंत दुरंतपंचसठिएसु वावदाण केवलदसणणाणाणं दव्वम्मि, वावारविरोहादो। ण च एयत सामण्णविसेसा अत्थि जेण तेसि विसओ होज्ज। असंतस्स पमेयत्ते इच्छिज्जमाणे गद्दहसिगं पि पमेयत्तमल्लिएज्ज, अभावं पडिविसेसाभावादो। पमेयाभावे ण पमाण पि, तस्स तण्णिबंधणादो। =अशेष विशेषमात्रको ग्रहण करने वाला केवलज्ञान हो,

ऐसा नही है, जिससे कि सकल पदार्थोंका ज्ञान सामान्य धर्म केवल दर्शनका विषय हो जाय । क्योकि ऐसा माननेसे, ज्ञान दर्शनकी क्रमप्रवृत्ति वाली संसारावस्थामें द्रव्यके ज्ञानका अभाव होनेका प्रसग आता है। कैसे ?—ज्ञान तो द्रव्यको न जान सकेगा, क्योकि सामान्य रहित केवल विशेषमें ही उसका व्यापार परिमित हो गया है। दर्शन भी द्रव्यको नहीं जान सकता, क्योकि विशेषोसे रहित केवल सामान्यमे उसका व्यापार परिमित हो गया है। केवल संसारावस्थामें ही नही किन्तु केवलीमें भी द्रव्यका ग्रहण नही हो सकेगा, क्योकि, एकान्तरूपी दुरन्तपथमें स्थित सामान्य व विशेषमें प्रवृत्त हुए केवलदर्शन और केवलज्ञानका (उभयरूप) द्रव्यमात्रमें व्यापार माननेमें विरोध आता है। एकान्तत पृथक् सामान्य व विशेष तो होते नही है, जिससे कि वे क्रमश केवलदर्शन और केवलज्ञानके विषय हो सकें। और यदि असतको भी प्रमेय मानोगे तो गधेका सीग भी प्रमेय कोटिमें आ जायेगा, क्योंकि अभावकी अपेक्षा दोनोंमें कोई विशेषता नही रही। प्रमेयके न होने पर प्रमाण भी नहीं रहता, क्योकि प्रमाण तो प्रमेयमूलक ही होता है। (क.पा /-१/१-२०/§३२२/३५३/१; §३२४/३५६/१)

५. सामान्य विशेषात्मक उभयरूप ही अन्तरग ग्रहण दर्शन और बाह्यग्रहण ज्ञान है

ध.१/१,१,४/१४७/२ ततः सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहणं ज्ञानं तदात्मकस्वरूपग्रहणं दर्शनमिति सिद्धम्। =अत सामान्य विशेषात्मक बाह्यपदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक आत्मरूपको ग्रहण करनेवाला दर्शन है यह सिद्ध हो जाता है। (क पा./१/१-२०/§३२५/३५६/६)

ध.१/१,१,१३१/३८०/३ अन्तरङ्गार्थोऽपि सामान्यविशेषात्मक इति। तद्विधिप्रतिषेधसामान्ययोरुपयोगस्य क्रमेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरक्रमेण तत्रोपयोगस्य प्रवृत्तिरङ्गीकर्तव्या। तथा च नसोऽन्तरङ्गोपयोगोऽपि दर्शन तस्य सामान्यविशेषविषयत्वादिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्यात्मन सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात्। =अन्तरग पदार्थ भी सामान्य विशेषात्मक होता है, इसलिए विधि सामान्य और प्रतिषेध सामान्यमे उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नही बनती है, अत उनमें उपयोगकी अक्रमसे प्रवृत्ति स्वीकार करना चाहिए। अर्थात दोनोका युगपत् ही ग्रहण होता है। प्रश्न—इस कथनको मान लेने पर वह अन्तरग उपयोग दर्शन नही हो सकता है, क्योकि (यहाँ) उस अन्तरंग उपयोगको सामान्य विशेषात्मक पदार्थको विषय करनेवाला मान लिया गया है (जब कि उसका लक्षण केवल सामान्यको विषय करना है (दे०—दर्शन/१/३/२)। उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर सामान्य विशेषात्मक आत्माका सामान्य शब्दके वाच्यरूपसे ग्रहण किया है। (विशेष दे० आगे दर्शन/३)

६. दर्शन व ज्ञानकी स्व-पर ग्राहकताका समन्वय

नि.सा./मू./१६१-१७१ णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव। अप्पा सपरपयासो होदि त्ति हि मण्णदे जदि हि ।१६१। णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसण भिण्ण । ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।१६२। अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसण भिण्ण । ण हवदि परदव्वगय दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ।१६३। णाण परप्पयास ववहारणयएण दसणं तम्हा। अप्पा परप्पयासो ववहारणयएण दंसण तम्हा ।१६४। णाण अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा। अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ।१६५। =एकान्तसे ज्ञानको परप्रकाशक, दर्शनको स्वप्रकाशक तथा आत्माको स्वपरप्रकाशक यदि कोई माने तो वह ठीक नहीं है, क्योकि वैसा माननेमें विरोध आता है ।१६१। ज्ञानको एकान्तसे परप्रकाशक माननेपर वह दर्शनसे भिन्न ही एक पदार्थ बन बैठेगा, क्योकि दर्शनको वह सर्वथा परद्रव्यगत नहीं मानता ।१६२। इसी प्रकार ज्ञानकी अपेक्षा आत्माको एकान्तसे परप्रकाशक माननेपर भी वह दर्शनसे भिन्न हो जायेगा, क्योंकि दर्शनको वह सर्वथा परद्रव्यगत नहीं मानता ।१६३। (ऐसे ही दर्शनको या आत्माको एकान्तसे स्वप्रकाशक मानने पर वे ज्ञानसे भिन्न हो जाएँगे, क्योकि ज्ञानको वह सर्वथा स्वप्रकाशक न मान सकेगा। अत. इसका समन्वय अनेकान्त द्वारा इस प्रकार किया जाना चाहिए, कि –) क्योंकि व्यवहारनयसे अर्थात् भेद विवक्षासे ज्ञान व आत्मा दोनों परप्रकाशक है, इसलिए दर्शन भी पर प्रकाशक है। इसी प्रकार, क्योंकि निश्चयनयसे अर्थात् अभेद विवक्षामे ज्ञान व आत्मा दोनो स्वप्रकाशक है इसलिए दर्शन भी स्वप्रकाशक है ।१६५। (तात्पर्य यह कि दर्शन, ज्ञान व आत्मा ये तीनो कोई पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ तो हैं नहीं जो कि एकका धर्म दूसरेसे सर्वथा अस्पृष्ट रहे। तीनों एक पदार्थस्वरूप होनेके कारण एक रस है। अत ज्ञान ज्ञाता ज्ञेयकी अथवा दर्शन द्रष्टा दृश्यको भेद विवक्षा होनेपर तीनो ही परप्रकाशक है तथा उन्हींमें अभेद विवक्षा होने पर जो ज्ञान है, वही ज्ञाता है, वही ज्ञेय है, वही दर्शन है, वही द्रष्टा है और वही दृश्य है। अत ये तीनो ही स्वप्रकाशक है।) (अथवा—जब दर्शनके द्वारा आत्माका ग्रहण होता है, तब स्वत ज्ञानका तथा उसमें प्रतिबिम्बित पर पदार्थोंका भी ग्रहण कैसे न होगा, होगा ही।) (दे० आगे शीर्षक न० ७), (केवलज्ञान/६/६) (दे० अगले दोनो उद्धरण भी)

ध ६/१,६-१,१६/३४/४ तस्मादात्मा स्वपरावभासक इति निश्चेतव्यम्। तत्र स्वावभास केवलदर्शनम्, परावभासः केवलज्ञानम्। तथा सति कथं केवलज्ञानदर्शनयो साम्यमिति इति चेन्न, ज्ञेयप्रमाणज्ञानात्मकात्मानुभवस्य ज्ञानप्रमाणत्वाविरोधात। =इसलिए (उपरोक्त व्याख्याके अनुसार) आत्मा ही (वास्तवमे) स्व-पर अवभासक है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। उसमें स्वप्रतिभासको केवल दर्शन कहते है और पर प्रतिभासको केवलज्ञान कहते है। (क पा १/१-२०/§३२६/३५८/२), (ध ७/२,१,५६/९९/१०) प्रश्न—उक्त प्रकारकी व्यवस्था मानने पर केवलज्ञान और केवलदर्शनमें समानता कैसे रह सकेगी? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ज्ञेयप्रमाण ज्ञानात्मक आत्मानुभवके ज्ञानको प्रमाण होनेमें कोई विरोध नही है। (ध १/१,१,१३५/३८५/७)

द्र सं/टी/४४/१८/११ अत्राह शिष्यः—यद्यात्मग्राहकं दर्शनं, परग्राहकं ज्ञानं भण्यते, तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञानमात्मानं न जानाति; तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मानं न जानातीति दूषणं प्राप्नोति। अत्र परिहारः। नैयायिकमते ज्ञानं पृथग्दर्शनं पृथगिति गुणद्वयं नास्ति; तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषणं प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्यं जानाति, दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरिज्ञानाभावदूषणं न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत्—यथैकोऽप्यग्निर्दहतीति दाहक, पचतीति पाचको, विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। तथैवाभेदेनयेनैकमपि चैतन्यं भेदनयविवक्षायां यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तदा तस्य दर्शनमिति संज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्तं तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। =प्रश्न—यदि अपनेको ग्रहण करनेवाला दर्शन और पर पदार्थको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, तो नैयायिकोके मतमें जैसे ज्ञान अपनेको नही जानता है, वैसे ही जैनमतमें भी 'ज्ञान आत्माको नहीं जानता है' ऐसा दूषण आता है? उत्तर—नैयायिकमतमें ज्ञान और दर्शन दो अलग-अलग गुण नहीं माने गये है, इसलिए उनके यहाँ तो उपरोक्त दूषण प्राप्त हो सकता है, परन्तु जैनसिद्धान्तमें 'आत्मा' ज्ञान गुणसे तो पर पदार्थको जानता है, और दर्शन गुणसे आत्माको जानता है, इस कारण यहाँ वह दूषण प्राप्त नही होता। प्रश्न—यह दूषण क्यो नहीं होता? उत्तर—जैसे कि एक ही अग्नि दहनगुणसे जलाता होनेसे दाहक

कहलाता है, और पाचन गुणसे पकाता होनेसे पाचक कहलाता है। इस प्रकार विषय भेदसे वह एक भी दाहक व पाचक रूप दो प्रकार-का है। उसी प्रकार अभेदनयसे एक ही चैतन्य भेदनयकी विवक्षामें जब आत्मग्रहण रूपसे प्रवृत्त हुआ तब तो उसका नाम दर्शन हुआ; जब परपदार्थको ग्रहण करने रूप प्रवृत्त हुआ तब उस चैतन्यका नाम ज्ञान हुआ, इस प्रकार विषयभेदसे वह एक भी चैतन्य दो प्रकारका होता है।

७. दर्शनमें भी कथंचित् बाह्य पदार्थोंका ग्रहण होता है

द्र स./टी /४४/१९१/३ अथ मतं—यदि दर्शन बहिर्विषये न प्रवर्त्तते तदान्धवत् सर्वजनानामन्धत्वं प्राप्नोतीति। नैव वक्तव्यम्। बहिर्विषये दर्शनाभावेऽपि ज्ञानेन विशेषेण सर्वं परिच्छिनत्तीति। अयं तु विशेष — दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्मविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीतं भवति, ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं बहिर्वस्त्वपि गृहीतं भवतीति। =प्रश्न—यदि दर्शन बाह्य विषयको ग्रहण नहीं करता तो अन्धेकी तरह सब मनुष्योंके अन्धेपनेकी प्राप्ति होती है? उत्तर—ऐसा नही कहना चाहिए। क्योंकि यद्यपि बाह्य विषयमें दर्शनका अभाव है, तो भी आत्मज्ञान द्वारा विशेष रूपसे सब पदार्थोंको जनाता है। उसका विशेष खुलासा इस प्रकार है, कि—जब दर्शनसे आत्माका ग्रहण होता है, तब आत्मामे व्याप्त जो ज्ञान है, वह भी दर्शन द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है, और जब दर्शनसे ज्ञानको ग्रहण किया तो ज्ञान-का विषयभूत जो बाह्य वस्तु है उसका भी (स्वत) ग्रहण कर लिया (या हो गया)। (और भी—दे० दर्शन/५/८)

८. दर्शनका विषय ज्ञानकी अपेक्षा अधिक है

ध./१/१, १, १३५/३८५/८ स्वजीवस्थपर्यायैर्ज्ञानाद्दर्शनमधिकमिति चेन्न, इष्टत्वात्। कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वम्। न, अन्योन्यात्मकयोस्तदविरोधात्। =प्रश्न—(ज्ञान केवल बाह्य पदार्थोंको ही ग्रहण करता है, आत्माको नही, जबकि दर्शन आत्माको व कथंचित् बाह्य-पदार्थोंको भी ग्रहण करता है। तो) जीवमें रहनेवाली स्वकीय पर्यायोंकी अपेक्षा ज्ञानसे दर्शन अधिक है? उत्तर—नही, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है। प्रश्न—ज्ञानके साथ दर्शनकी समानता कैसे हो सकती है? उत्तर—समानता नही हो सकती यह बात नहीं है, क्योंकि एक दूसरेकी अपेक्षा करनेवाले उन दोनोंमें (कथंचित्) समानता मान लेनेमें कोई विरोध नही आता है।

९. दर्शन और अवग्रह ज्ञानमें अन्तर

रा. वा /१/१५/१३/६१/१३ कश्चिदाह—यदुक्तं भवता विषय-विषयिसंनिपाते दर्शनं भवति, तदनन्तरमवग्रह इति, तदयुक्तम्, अवैलक्षण्यात्। अत्रोच्यते—न, वैलक्षण्यात्। कथम्। इह चक्षुषा 'किंचिदेतद्वस्तु' -इत्यालोकनमनाकारं दर्शनमित्युच्यते, बालवत्। यथा जातमात्रस्य बालस्य प्राथमिक उन्मेषोऽसौ अविभावितरूपद्रव्यविशेषालोचना-दर्शनं विवक्षितं तथा सर्वेषाम्। ततो द्वित्रादिसमयभाविषून्मेषेषु 'रूपमिदम्' इति विभावितविशेषोऽवग्रहः। यत्र प्रथमसमयोन्मेषितस्य बालस्य दर्शनं तद् यदि अवग्रहजातीयत्वात् ज्ञानमिष्टम्, तन्मिथ्याज्ञानं वा स्यात्, सम्यग्ज्ञानं वा। मिथ्याज्ञानत्वेऽपि संशय-विपर्ययानध्यवसायात्मकं (वा) स्यात्। तत्र न तावत् संशयविपर्ययात्मकं वाऽचेष्टि, तस्य सम्यग्ज्ञानपूर्वकत्वात्। प्राथमिकत्वाच्च तत्रास्तीति। न वानध्यवसायरूपम्, जात्यन्धबधिरशब्दवत् वस्तुमात्र-प्रतिपत्तेः। न सम्यग्ज्ञानम्, अर्थाकारावलम्बनाभावात्। किं च— कारणनानात्वात् कार्यनानात्वसिद्धेः। यथा मृत्तन्तुकारणभेदात् घट-पटकार्यभेदः तथा दर्शनज्ञानावरणक्षयोपशमकारणभेदात् तत्कार्यदर्शन-ज्ञानभेद इति। =प्रश्न—विषय विषयीके सन्निपात होनेपर प्रथम क्षणमें दर्शन होता है और तदनन्तर अवग्रह, आपने जो ऐसा कहा है, सो युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोके लक्षणोमें कोई भेद नही है? उत्तर— १. नही, क्योंकि दोनोंके लक्षण भिन्न हैं। वह इस प्रकार कि— चक्षु इन्द्रियसे-'यह कुछ है' इतना मात्र आलोकन दर्शन कहा गया है। इसके बाद दूसरे आदि समयोंमें 'यह रूप है' 'यह पुरुष है' इत्यादि रूपसे विशेषांशका निश्चय अवग्रह कहलाता है। जैसे कि जातमात्र बालकका ज्ञान जातमात्र बालकके प्रथम समयमें होनेवाले सामान्यालोचनको यदि अवग्रह जातीय ज्ञान कहा जाये तो प्रश्न होता है कि कौन-सा ज्ञान है—मिथ्याज्ञान या सम्यग्ज्ञान? मिथ्या-ज्ञान है तो संशयरूप है, या विपर्ययरूप, या अनध्यवसाय रूप? तहाँ वह संशय और विपर्यय तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि ये दोनों ज्ञान सम्यग्ज्ञान पूर्वक होते हैं। अर्थात् जिसने पहले कभी स्थाणु, पुरुष आदिका निश्चय किया है उसे ही वर्तमानमें देखे गये पदार्थमें संशय या विपर्यय हो सकता है। परन्तु प्राथमिक होनेके कारण उस प्रकारका सम्यग्ज्ञान यहाँ होना सम्भव नहीं है। यह ज्ञान अनध्यव-सायरूप भी नहीं है; क्योंकि जन्मान्ध और जन्मबधिरकी तरह रूप-मात्र व शब्दमात्रका तो स्पष्ट बोध हो ही रहा है। इसे सम्यग्ज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसे किसी भी अर्थ विशेषके आकारका निश्चय नहीं हुआ है। (ध ९/४,१,४५/१४५/६)। २. जिस प्रकार मिट्टी और तन्तु ऐसे विभिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण घट व पट भिन्न है, उसी प्रकार दर्शनावरण और ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप विभिन्न कारणोसे उत्पन्न होनेके कारण दर्शन व ज्ञानमें भेद है। (और भी दे० दर्शन/५/५)।

१०. दर्शन व संग्रहनयमें अन्तर

श्लो वा ३/१/१५/१५/४४५/२५ न हि सन्मात्रग्राही संग्रहो नयो दर्शनं स्यादित्यतिव्याप्तिः शङ्कनीया तस्य श्रुतभेदत्वादस्पष्टावभासितया नयत्वोपपत्तेः श्रुतभेदा नया इति वचनात्। =सम्पूर्ण वस्तुओंकी संग्रहीत केवल सत्ताको ग्रहण करनेवाला संग्रहनय दर्शनोपयोग हो जायेगा, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह संग्रहनय तो श्रुतज्ञानका भेद है। अविशद प्रतिभासवाला होनेसे उसे नयपना बन रहा है। और ग्रन्थोंमें श्रुतज्ञानके भेदको नयज्ञान कहा गया है।

३. दर्शन व ज्ञानकी क्रम व अक्रम प्रवृत्ति

१. छद्मस्थोंके दर्शन व ज्ञान क्रम पूर्वक होते है और केवलीको अक्रम

नि सा./मू. १६० जुगवं वट्टइ णाणं केवलिणाणिस्स दंसणं च तहा। दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं।१६०। =केवलज्ञानीको ज्ञान तथा दर्शन युगपत् वर्तते है। सूर्यके प्रकाश व ताप जिस प्रकार वर्तते हो, उसी प्रकार जानना।

ध १३/५,५,८५/३५६/१ छदुमत्थणाणाणि दंसणपुव्वाणि केवलणाण पुण केवलदंसणसमकालभावी णिरावरणत्तादो। = छद्मस्थोंके ज्ञान दर्शन पूर्वक होते है परन्तु केवलज्ञान केवलदर्शनके समान कालमें होता है, क्योंकि, उनके ज्ञान और दर्शन ये दोनो निरावरण है। (रा वा /२/९/३/१२४/११); (प प्र /मू /२/३५), (ध ३/१,२,१६१/४५७/२); (द्र. स /मू. ४४)।

२. केवल दर्शन व केवलज्ञानकी युगपत् प्रवृत्तिमे हेतु

क पा. १/१-२०/ प्रकरण/पृष्ठ/पंक्ति—केवलणाणकेवलदंसणाणमुक्कस्स उवजोगकालो जेण 'अंतोमुहुत्तमेत्तो' त्ति भणिदो तेण णव्वदे जहा केवल-णाणदंसणाणमक्कमेण उत्ती ण होदि त्ति। (§ ३१९/३५१/२)। अथ

परिहारो उच्चदे। तं जहा केवलणाणदंसणावरणाणं किमक्कमणक्खओ, आहो कमेणेत्ति। ··अक्कमेण विणासे संते केवलणाणेण सह केवलदंसणेण वि उप्पज्जेयव्वं, अक्कमेण अविकलकारणे संते तेसिं कमुप्पत्तिविरोहादो। ··तम्हा अक्कमेण उप्पण्णत्तादो ण केवलणाणदंसणाणं कमउत्ती त्ति। (§ ३२०/३५१/६) होउ णाम केवलणाणदंसणाणमक्कमेणुप्पत्ती; अक्कमेण विणट्ठावरणत्तादो, किंतु केवलणाणं दसणुवजोगो कमेण चेव होंति, सामण्णविसेसयत्तेण अव्वत्त-वत्त-सरूवाणमक्कमेण पउत्तिविरोहादो त्ति। (§ ३२१/३५२/७)। होदि एसो दोसो जदि केवलणाणं विसेसविसयं चेव केवलदसणं पि सामण्णविसयं चेव। ण च एवं, दोण्हं पि विसयाभावेण अभावप्पसगादो। (§ ३२२/३५३/१)। तदो सामण्णविसेसविसयत्ते केवलणाण-दंसणाणमभावो होज्ज णिविसयत्तादो त्ति सिद्धं। उत्तं च—अद्दिट्ठं, अण्णादं केवलि एसो हु भासइ सया वि। एएयसमयम्मि हदि हु वयणविसेसो ण सभवइ।१४०। अण्णादं पासंतो अदिट्ठमरहा सया तो वियाणंतो। किं जाणइ किं पासइ कह सव्वणहो त्ति वा होइ।१४१। (§३२४/३५६/३)। ण च दोण्हमुवजोगाणमक्कमेण वुत्ती विरुद्धा; कम्मकयस्स कम्मस्स तदभावेण अभावमुवगयस्स तत्थ सत्तविरोहादो। (§३२५/३५६/१०)। एवं संते केवणणाणदंसणाणमुक्कस्सेण अतोमुहुत्तमेत्तकालो कथं जुज्जदे। सहि वग्घ-छवल्ल-सिव-सियालाईहि खज्जमाणेसु उप्पण्ण केवलणाण-दंसणुक्कस्सकालग्गहणादो जुज्जदे। (§३२६/३६०/६)।=प्रश्न—चूँकि केवलज्ञान और केवलदर्शनका उत्कृष्ट उपयोगकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है, इससे जाना जाता है कि केवलज्ञान और केवलदर्शनकी प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती? उत्तर—१. उक्त शंकाका समाधान करते हैं। हम पूछते हैं कि केवलज्ञानावरण व केवलदर्शनावरणका क्षय एक साथ होता है या क्रमसे होता है? (क्रमसे तो होता नहीं है, क्योंकि आगममें ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीनों कर्मोंकी सत्त्व व्युच्छित्ति १२ वें गुणस्थानके अन्तमें युगपत बतायी है (दे० सत्त्व)। यदि अक्रमसे क्षय माना जाये तो केवलज्ञानके साथ केवलदर्शन भी उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शनकी उत्पत्तिके सभी अविकल कारणोंके एक साथ मिल जानेपर उनकी क्रमसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। और क्योंकि वे अक्रमसे उत्पन्न होते है इसलिए उनकी प्रवृत्ति भी क्रमसे नहीं बन सकती। २ प्रश्न— केवलज्ञान व केवलदर्शनकी उत्पत्ति एक साथ रही आओ क्योंकि उनके आवरणोंका विनाश एक साथ होता है। किन्तु केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग क्रमसे ही होते हैं, क्योंकि केवलदर्शन सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे अव्यक्तरूप है और केवलज्ञान विशेषको विषय करनेवाला होनेसे व्यक्त रूप है, इसलिए उनकी एक साथ प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। उत्तर—यदि केवलज्ञान केवल विशेषको और केवलदर्शन केवल सामान्यको विषय करता, तो यह दोष सम्भव होता, पर ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप विषयका अभाव होनेसे उन दोनों (ज्ञान व दर्शन) के भी अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। अतः जब कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु है तो केवलदर्शनको केवल सामान्यको विषय करनेवाला और केवलज्ञानको केवल विशेषको विषय करनेवाला माननेपर दोनों उपयोगोंका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि केवल सामान्य और केवल विशेष रूप पदार्थ नहीं पाये जाते। कहा भी है—यदि दर्शनका विषय केवल सामान्य और ज्ञानका विषय केवल विशेष माना जाये तो जिनमें जो अदृष्ट है ऐसे ज्ञात पदार्थको तथा जो अज्ञात है ऐसे दृष्ट पदार्थको ही सदा कहते हैं, ऐसी आपत्ति प्राप्त होगी। और इसलिए 'एक समयमें ज्ञात और दृष्ट पदार्थको केवली जिन कहते हैं' यह वचन विशेष नहीं बन सकता है।१४०। अज्ञात पदार्थको देखते हुए और अदृष्ट पदार्थको जानते हुए अरहंत देव क्या जानते है और क्या देखते हैं? तथा उनके सर्वज्ञता भी कैसे बन सकती है? ।१४१। (और भी दे० दर्शन/२/३,४)। ३. दोनों उपयोगोंकी एक साथ प्रवृत्ति माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, उपयोगोंकी क्रमवृत्ति कर्मका कार्य है, और कर्मका अभाव हो जानेसे उपयोगोंकी क्रमवृत्तिका भी अभाव हो जाता है, इसलिए निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शनकी क्रमवृत्तिके माननेमें विरोध आता है। ४. प्रश्न—यदि ऐसा है तो इन दोनोंका उत्कृष्टरूपसे अन्तर्मुहूर्तकाल बन सकता है? उत्तर—चूँकि, यहाँपर सिंह, व्याघ्र, छव्वल, शिवा और स्याल आदिके द्वारा खाये जानेवाले जीवोंमें उत्पन्न हुए केवलज्ञान दर्शनके उत्कृष्टकालका ग्रहण किया है, इसलिए इनका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल बन जाता है।

३. छद्मस्थोंके दर्शनज्ञानकी क्रमवृत्तिमें हेतु

ध. १/१,१,१३३/३८४/३ भवतु छद्मस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयो प्रवृत्तिरिति चेन्न, आवरणाविरुद्धाक्रमयोरक्रमप्रवृत्तिविरोधात्। अस्वसंविद्रूपो न कदाचिदप्यात्मोपलभ्यत इति चेन्न, बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भात्।=प्रश्न—आवरण कर्मसे रहित जीवोंमें जिस प्रकार ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति पायी जाती है, उसी प्रकार छद्मस्थ अवस्थामें भी उन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होओ? उत्तर—१ नहीं क्योंकि आवरण कर्मके उदयसे जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करनेकी शक्ति रुक गयी है, ऐसे छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमें युगपत् प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—२ अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है? (अर्थात् निज सवेदन तो प्रत्येक जीवको हर समय रहता ही है)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंके उपयोगरूप अवस्थामें अन्तरंग पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है।

४. दर्शनोपयोग सिद्धि

१. आत्म ग्रहण अनध्यवसाय रूप नहीं है

ध १/१,१,४/१४८/३ सत्येवमनध्यवसायो दर्शनं स्यादिति चेन्न, स्वाध्यवसायस्थानध्यवसितबाह्यार्थस्य दर्शनत्वात्। दर्शनं प्रमाणमेव अविसंवादित्वात्, प्रभास' प्रमाण चाप्रमाणं च विसंवादाविसंवादोभयरूपस्य तत्रोपलम्भात्।=प्रश्न—दर्शनके लक्षणको इस प्रकारका (सामान्य आत्म पदार्थग्राहक) मान लेनेपर अनध्यवसायको दर्शन मानना पडेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थका निश्चय न करते हुए भी स्वरूपका निश्चय करनेवाला दर्शन है, इसलिए वह अनध्यवसायरूप नहीं है। ऐसा दर्शन अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण ही है। और अनध्यवसायरूप जो प्रतिभास है वह प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है, क्योंकि उसमें विसंवाद और अविसंवाद दोनों पाये जाते हैं। (कुछ है ऐसा अनध्यवसाय निश्चयात्मक या अविसंवादी है और 'क्या है' ऐसा अनध्यवसाय अनिश्चयात्मक या विसंवादी है)।

२. दर्शनके लक्षणमें 'सामान्य' पदका अर्थ आत्मा ही है

ध १/१,१,४/१४७/३ तथा च 'ज सामण्ण गहण तं दसणं' इति वचनेन विरोध' स्यादिति चेन्न, तत्रात्मन सकलबाह्यार्थसाधारणत्वत' सामान्यव्यपदेशभाजो ग्रहणात्।=प्रश्न—उक्त प्रकारसे दर्शन और ज्ञानका स्वरूप मान लेनेपर अन्तरंग सामान्य विशेषका ग्रहण दर्शन, बाह्य सामान्य विशेषका ग्रहण ज्ञान (दे० दर्शन/२/३ ४) 'वस्तुका जो सामान्य ग्रहण होता है-उसको दर्शन कहते है' परमागमके इस

वचनके साथ (दे० दर्शन/१/३/२) विरोध आता है ? उत्तर—ऐसा नही है, क्योंकि, आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारण रूपसे पाया जाता है (अर्थात् सर्व पदार्थ प्रतिभासात्मक है), इसलिए उक्त-वचनमें सामान्य संज्ञाको प्राप्त आत्माका ही सामान्य पदसे ग्रहण किया है। (ध १/१,१,१३१/३८०/५), (ध ७/२, १, ५६/१००/७); (ध १३/५,५,८५/३५४/११); (क पा १/१-२०/§३२१/३६०/३); (द्र सं./टी /४४/१९१/६)—(विशेष दे० दर्शन/२/३,४)।

३. सामान्य शब्दका अर्थ निर्विकल्प रूपसे सामान्य-विशेषात्मक ग्रहण है

ध. १/१,१,४/१४७/४ तदपि कथमवसीयत इति चेन्न, 'भावाणं णेव कट्टु आयारं' इति वचनात्। तद्यथा भावानां बाह्यार्थानामाकारं प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद्ग्रहणं तद्दर्शनम्। अस्यैवार्थस्य पुनरपि दृढीकरणार्थं, 'अविसेसिऊण अट्ठे' इति, अर्थानविशेष्य यद् ग्रहण तद्दर्शनमिति। न बाह्यार्थगतसामान्यग्रहणं दर्शनमित्याशङ्कनीयं तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात्। न च तदन्तरेण विशेषो ग्राह्यत्वमास्कन्दतीत्यतिप्रसङ्गात्। =प्रश्न—यह कैसे जाना जाये कि यहाँपर सामान्य पदसे आत्माका ही ग्रहण किया है ? उत्तर—ऐसी शका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, 'पदार्थोंके आकार अर्थात् भेदको नही करके' सूत्रमें कहे गये इस वचनसे उक्त कथनकी पुष्टि होती है। इसीको स्पष्ट करते हैं, भावोंके अर्थात् बाह्य पदार्थोंके, आकाररूप प्रति कर्म व्यवस्थाको नहीं करके, अर्थात् भेदरूपसे प्रत्येक पदार्थको ग्रहण नही करके, जो (सामान्य) ग्रहण होता है, उसको दर्शन कहते है। फिर भी इसी अर्थको दृढ करनेके लिए सूत्रकार कहते है (दे० दर्शन/१/३/२) कि 'यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है इत्यादि रूपसे पदार्थोंकी विशेषता न करके जो ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते है'। - इस कथनसे यदि कोई ऐसी आशंका करे कि बाह्य पदार्थोंमें रहनेवाले सामान्यको ग्रहण करना दर्शन है, तो उसकी ऐसा आशका करनी भी ठीक नही है, क्योंकि विशेषकी अपेक्षा रहित केवल सामान्य अवस्तुरूप है, इसलिए वह दर्शनके विषयभावको नही प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार सामान्यके बिना केवल विशेष भी ज्ञानके द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि, अवस्तुरूप केवल सामान्य अथवा केवल विशेषका ग्रहण मान लिया जाये तो अतिप्रसंग दोष आता है। (और भी दे० दर्शन/२/३)।

४. सामान्य विशेषात्मक आत्मा केवल सामान्य कैसे कहा जा सकता है

क पा १/१-२०/§३२१/३६०/४ सामण्णविसेसप्पओ जीवो कधं सामण्णं। ण असेसत्थपयासभावेण रायदोसाणमभावेण य तस्स समाणत्तदंसणादो। =प्रश्न—जीव सामान्य विशेषात्मक है, वह केवल सामान्य कैसे हो सकता है ? उत्तर—१ क्योंकि, जीव समस्त पदार्थोंको विना किसी भेद-भावके जानता है और उसमे राग-द्वेषका अभाव है, इसलिए जीवमे समानता देखी जाती है। (ध १३/५,५, ८५/३५५/१)।

द्र सं /टी /४४/१९१/८ आत्मा वस्तुपरिच्छित्ति कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपात न करोति, किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति, तेन कारणेन सामान्यशब्देन आत्मा भण्यते। =वस्तुका ज्ञान करता हुआ जो आत्मा है वह 'मै इसको जानता हूँ' और 'इसको नही जानता हूँ', इस प्रकार विशेष पक्षपातको नही करता है किन्तु सामान्य रूपसे पदार्थको जानता है। इस कारण 'सामान्य' इस शब्दसे आत्मा कहा जाता है।

ध. १/१,१,४/१४७/४ आत्मन सकलबाह्यार्थसाधारणत्वत' सामान्यव्यपदेशभाजा। =आत्मा सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंमें साधारण रूपसे पाया जाता है, इसलिए 'सामान्य' शब्दसे आत्माका व्यपदेश किया गया है।

ध ७/२,१,५६/१००/५ ण च जीवस्स सामण्णत्तमसिद्धं णियमेण विणा विसईकयत्तिकालगोयराणंतत्थवेंजणपज्जओवचियबज्झंतरंगाणं तत्थ सामणत्ताविरोहादो। =जीवका सामान्यत्व असिद्ध भी नहीं है, क्योकि नियमके विना ज्ञानके विषयभूत किये गये त्रिकाल गोचर अनन्त अर्थ और व्यंजन पर्यायोंसे संचित बहिरंग और अन्तरंग पदार्थोंका, जीवमें सामान्यत्व माननेमें विरोध नही आता।

५. दर्शन सामान्यके अस्तित्वकी सिद्धि

ध ७/२,१,५६/पृष्ठ/पंक्ति ण दंसणमत्थि विसयाभावादो। ण वज्झत्थसामण्णग्गहणं दंसणं, केवलदंसणस्साभावप्पसंगादो। कुदो। केवलणाणेण तिकालगोयराणंतत्थवेंजणपज्जयसरूवस्स सव्वदव्वेसु अवगएसु केवलदंसणस्स विसयाभावा (९६।८)। ण चासेसविसेसग्गाही केवलणाणं जेण सयलत्थसामण्णं केवलदंसणस्स विसओ होज्ज। (९७।१) तम्हा ण दंसणमत्थि त्ति सिद्धं (९७।१०)।

एत्थ परिहारो उच्चदे—अत्थि दंसणं, अट्ठकम्मणिद्देसादो।...ण चासते आवरणिज्जे आवयरमत्थि, अण्णत्थतहाणुवलंभादो।...ण चावरणिज्जं णत्थि, चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओहिदंसणी खवोसमियाए, केवलदंसणी खइयाए लद्धीए त्ति तदत्थित्तपदुप्पायणजिणवयणदंसणादो —(९८।१)।

एओ मे सस्सदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो ।१६। इच्चादि उवसंहारसुत्तदंसणादो च (९८।१०)।

आगमपमाणेण होदु णाम दंसणस्स अत्थित्तं, ण जुत्तीए च। ण, जुत्ती हि आमस्स बाहाभावादो। आगमेण वि जच्चा जुत्ती ण बाहिज्ज त्ति चे। सच्च ण बाहिज्जदि जच्चा जुत्ती, किंतु इमा बाहिज्जदि जच्चदाभावादो। तं जहा—ण णाणेण विसेसो चेव घेप्पदि सामण्णविसेसप्पयत्तणेण पत्तजच्चतरदव्वुवलंभादो (९८।१०)।

ण च एवं सते दसणस्स अभावो, वज्झत्थे मोत्तूण तस्स अंतरंगत्थे वावारादो। ण च केवलणाणमेव सत्तिदुवसंजुत्तत्तादो बहिरंतरंगत्थपरिच्छेदयं, तम्हा अंतरंगोवजोगादो बहिरंगुवजोगेण पुधभूदेण होदव्वमण्णहा सव्वण्हुत्ताणुववत्तीदो। अंतरंग बहिर गुवजोगसण्णिददुसत्तीजुत्तो अप्पा इच्छिदव्वो। 'ज सामण्णं ग्गहणं' ण च एदेण सुत्तेणेदं वक्खाणं विरुज्झदे, अप्पत्थम्मि पउत्तसामण्णसद्दग्गहणादो।(९९।७)।

होदु णाम सामण्णेण दंसणस्स सिद्धी, केवलदंसणस्स सिद्धी च, ण सेस दंसणाणं।(१००।६)।

=प्रश्न—दर्शन है ही नही, क्योंकि, उसका कोई विषय नहीं है। बाह्य पदार्थोंके सामान्यको ग्रहण करना दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा माननेपर केवलदर्शनके अभावका प्रसग आ जायेगा। इसका कारण यह है कि जब केवलज्ञानके द्वारा त्रिकाल गोचर अनन्त अर्थ और व्यंजन पर्याय स्वरूप समस्त द्रव्योंको जान लिया जाता है, तब केवल दर्शनके (जाननेके) लिए कोई विषय ही (शेष) नहीं रहता। यह भी नही हो सकता कि समस्त विशेषमात्रका ग्रहण करनेवाला ही केवलज्ञान हो, जिससे कि समस्त पदार्थोंका सामान्य धर्म दर्शनका विषय हो जाये (क्योंकि इसका पहले ही निराकरण कर दिया गया—दे० दर्शन/२/३) इसलिए दर्शनकी कोई पृथक् सत्ता है ही नही यह सिद्ध हुआ ? उत्तर—१. अब यहाँ उक्त शंकाका परिहार करते है। दर्शन है, क्योंकि सूत्रमें आठकर्मोंका निर्देश किया गया है। आवरणीयके अभावमें आवरण हो नही सकता, क्योंकि अन्यत्र वैसा

पाया नही जाता। (क पा १/१-२०/§३२७/३५६/१) (और भी —दे० अगला शीर्षक)। २ आवरणीय है ही नही, सो बात भी नहीं है, 'चक्षुदर्शनी', अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी क्षायोपशमिक लब्धिसे और केवलदर्शनी क्षायिक लब्धिसे होते है (ष.ख.७/२,१/सूत्र ५७-५९/१०२,१०३)। ऐसे आवरणीयके अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाले जिन भगवान्‌के वचन देखे जाते है। तथा—'ज्ञान और दर्शन लक्षणवाला मेरा एक आत्मा ही शाश्वत है' इस प्रकारके अनेक उपसंहारसूत्र देखनेसे भी यही सिद्ध होता है, कि दर्शन है। प्रश्न २—आगम-प्रमाणसे भले ही दर्शनका अस्तित्व हो, किन्तु युक्तिसे तो दर्शनका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता? उत्तर—होता है, क्योंकि युक्तियोंसे आगमको बाधा नहीं होती। प्रश्न—आगममे भी तो उत्तम युक्तिकी बाधा नही होनी चाहिए? उत्तर—सचमुच ही आगमसे उत्तम युक्तिकी बाधा नहीं होती, किन्तु प्रस्तुत युक्तिकी बाधा अवश्य होती है, क्योंकि वह (ऊपर दी गयी युक्ति) उत्तम युक्ति नहीं है। ३. वह इस प्रकार है—ज्ञान द्वारा केवल विशेषका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि सामान्य विशेषात्मक होनेसे ही द्रव्यका जात्यंतर स्वरूप पाया जाता है (विशेष दे० दर्शन/२/३,४)। ४. इस प्रकार आगम और युक्ति दोनो से दर्शनका अस्तित्व सिद्ध होनेपर उसका अभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि दर्शनका व्यापार बाह्य वस्तुको छोडकर अन्तरंग वस्तुमें होता है। (विशेष दे० दर्शन/२/२)। ५. यहाँ यह भी नहीं कह सकते कि केवलज्ञान ही दो शक्तियोसे सयुक्त होनेके कारण, बहिरंग और अतरग दोनों वस्तुओका परिच्छेदक है (क्योकि इसका निराकरण पहले ही कर दिया जा चुका है) (दे० दर्शन/५/६)। ६. इसलिए अन्तरंग उपयोगसे बहिरंग उपयोगको पृथक् ही होना चाहिए अन्यथा सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति नही बनती। अतएव आत्माको अतरग उपयोग और बहिरग उपयोग ऐसी दो शक्तियोसे युक्त मानना अभीष्ट सिद्ध होता है (विशेष दे० दर्शन/२/६)। ७. ऐसा माननेपर 'वस्तुसामान्यका ग्राहक दर्शन है' इस सूत्रसे प्रस्तुत व्याख्यान विरुद्ध भी नही पडता है, क्योकि उक्त सूत्रमें 'सामान्य' शब्दका प्रयोग आत्म पदार्थके लिए हो किया गया है (विशेष दे० दर्शन/४/२-४)। प्रश्न८—इस प्रकारसे सामान्यसे दर्शनकी सिद्धि और केवलदर्शनकी सिद्धि भले हो जाये, किन्तु उससे शेष दर्शनोकी सिद्धि नही होती, क्योंकि (सूत्रवचनोमे उनकी प्ररूपणा बाह्यार्थ विषयक रूपसे की गयी है)। उत्तर—(अन्य दर्शनोंकी सिद्धि भी अवश्य होती है, क्योकि वहाँ की गयी बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणा भी वास्तवमे अन्तरग विषयको ही बताती है—दे० दर्शन/५/३)।

६. दर्शनावरण प्रकृति भी स्वरूपसंवेदनको घातती है

ध ६/१,९-१,१६/३२/६ कधमेदेसि पंचण्हं दंसणावरणववएसो। ण, चेयणमवहरंतस्स सव्वदंसणविरोहिणो दंसणावरणत्तपडिविरोहाभावा। कि दर्शनम्? ज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धस्वसंवेदो दर्शन आत्मविषयोपयोग इत्यर्थः।=प्रश्न—इन पाँचो निद्राओंको दर्शनावरण संज्ञा कैसे है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, आत्माके चेतन गुणको अपहरण करनेवाले और सर्वदर्शनके विरोधी कर्मके दर्शनावरणत्वके प्रति कोई विरोध नही है।=प्रश्न—दर्शन किसे कहते है? उत्तर—ज्ञानको उत्पादन करनेवाले प्रयत्नसे सबद्ध स्व-सवदेन अर्थात् आत्म विषयक उपयोगको दर्शन कहते हैं।

ध ७/२,१,५६/३५५/२ एदासि पचण्णपयडीणं बहिरंतरंगत्थगहणपडिकूलाणं कध दंसणावरणसण्णा दोण्णमावारयाणमेगावारयत्तविरोहादो। ण, एदाओ पच वि पयडीओ दंसणावरणीय चेव, सगसंवेयणविणासणकारणादो। बहिरंगत्थगहणाभावो वि तत्तो चेव होदि त्ति ण वोत्तुं जुत्तं, दंसणाभावेण तव्विणासादो। किमट्ठं दंसणाभावेण णाणाभावो। णिद्दाए विणासिद बज्झत्थगहणजणणसत्तित्तादो। ण च तज्जणणसत्ती णाणं, तिस्से दंसणप्पयजीवत्तादो।=प्रश्न—ये पाँचों (निद्रादि) प्रकृतियाँ बहिरंग और अतरंग दोनो ही प्रकारके अर्थके ग्रहणमें बाधक है, इसलिए इनकी दर्शनावरण सज्ञा कैसे हो सकती है, क्योकि दोनोको आवरण करनेवालोको एकका आवरण करनेवाला माननेमे विरोध आता है? उत्तर—नहीं, ये पाँचो ही प्रकृतियाँ दर्शनावरणीय ही है, क्योकि वे स्वसवदेनका विनाश करती है (ध.६/१९/६/१) प्रश्न—बहिरग अर्थके ग्रहणका अभाव भी तो उन्हींसे होता है? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि उसका विनाश दर्शनके अभावसे होता है। प्रश्न—दर्शनका अभाव होनेसे ज्ञानका अभाव क्यो होता है? उत्तर—कारण कि निद्रा बाह्य अर्थके ग्रहणको उत्पन्न करनेवाली शक्ति (प्रयत्न विशेष) की विनाशक है। और यह शक्ति ज्ञान तो हो नहीं सकती, क्योकि, वह दर्शनात्मक जीव स्वरूप है (दे० दर्शन/१/३/3)।

७. सामान्य ग्रहण व आत्मग्रहणका समन्वय

द्र स./टी /४४/१९२/२ किं बहुना यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति। कथमिति चेत्—तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञान चेति गुणद्वय जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति। तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति। पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत्सामान्यपरिच्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शनसज्ञा स्थापिता, यच्च शुक्लमिदमित्यादिविशेषपरिच्छेदन तस्य ज्ञानसज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यान मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्यानं क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहक दर्शन व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति।=अधिक कहनेसे क्या—यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्तके अर्थको जानकर, एकान्त दुराग्रहको त्याग करके, नयोंके विभागसे मध्यस्थता धारण करके, व्याख्यान करता है तब तो सामान्य और आत्मा ये दोनो ही घटित होते है। सो कैसे?—तर्कमें मुख्यतासे अन्यमतको दृष्टिमे रखकर कथन किया जाता है। इसलिए उसमें यदि कोई अन्यमतावलम्बी पूछे कि जैन सिद्धान्तमे जीवके 'दर्शन और ज्ञान' ये जो दो गुण कहे जाते है, वे कैसे घटित होते है? तब इसके उत्तरमें यदि उसे कहा जाय कि 'आत्मग्राहक दर्शन है' तो वह समझेगा नहीं। तब आचार्योंने उनको प्रतीति करनेके लिए विस्तृत व्याख्यानसे 'जो बाह्य विषयमें सामान्य जानना है उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया और जो 'यह सफेद है' इत्यादि रूपमे बाह्य में विशेषका जानना है उसका नाम 'ज्ञान' ठहराया, अत दोष नहीं है। सिद्धान्तमें मुख्यतासे निजसमयका व्याख्यान होता है, इसलिए सिद्धान्तमें जब सूक्ष्म व्याख्यान किया गया तब आचार्योंने 'आत्मग्राहक दर्शन है' ऐसा कहा। अत इसमे भी दोष नहीं है।

५. दर्शनोपयोगके भेदोंका निर्देश

१. दर्शनके भेदोंके नाम निर्देश

ष. ख /१/१, १/सूत्र १३१/३७८ दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि। =दर्शनमार्गणाके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन धारण करनेवाले जीव होते है। (पं. का /मू /४२), (नि. सा /मू.१४/३४) स. सि /२/९/१६३/६), (रा. वा /२/९/3/१२४/१), (द्र. स /टी./१३/-३८/४), (प प्र./२/३४/१५५/२)

२. चक्षु आदि दर्शनोंके लक्षण

पं. सं./१/१३९-१४१ चक्खूण जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसण विंति। सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति ॥१३९॥ परमाणुआदियाइं अंतिमखंध त्ति मुत्तदव्वाइं। तं ओहिदसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥१४०॥ बहुविह बहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्हि खेत्तम्हि। लोयालोयवितिमिरो सो केवलदंसणुज्जोवो ॥१४१॥ =चक्षु इन्द्रियके द्वारा जो पदार्थका सामान्य अंश प्रकाशित होता है, अथवा दिखाई देता है, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन जानना चाहिए ॥१३९॥ सबलघु परमाणुसे आदि लेकर सर्वमहान् अन्तिम स्कन्ध तक जितने मूर्तद्रव्य हैं, उन्हें जो प्रत्यक्ष देखता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं ॥१४०॥ बहुत जातिके और बहुत प्रकारके चन्द्र सूर्य आदिके उद्योत तो परिमित क्षेत्रमें ही पाये जाते हैं। अर्थात् वे थोडेसे ही पदार्थोंको अल्प परिमाण प्रकाशित करते हैं। किन्तु जो केवल दर्शन उद्योत है, वह लोकको और अलोकको भी प्रकाशित करता है, अर्थात् सर्व चराचर जगत्को स्पष्ट देखता है ॥१४१॥ (ध.१/१,१,१३१/गा १९५-१९७/३८२), (ध ७/५,५,५६/गा.२०-२१/१००), (गो. जी./मू /४८४-४८६/४८९)।

पं. का./त प्र /४२ तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुरिन्द्रियवलम्बाच्च मूर्त्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तच्चक्षुर्दर्शनम्। यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम्। यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्य विकलं सामान्येनावबुध्यते तदवधिदर्शनम्। यत्सकलावरणात्यन्तक्षये केवल एव मूर्त्तामूर्त्तद्रव्य सकलं सामान्येनावबुध्यते तत्स्वाभाविकं केवलदर्शनमिति स्वरूपाभिधानम्। =अपने आवरणके क्षयोपशमसे और चक्षुइन्द्रियके आलम्बनसे मूर्त द्रव्यको विकलरूपसे (एकदेश) जो सामान्यतः अवबोध करता है वह चक्षुदर्शन है। उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे तथा चक्षुसे अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मनके अवलम्बनसे मूर्त अमूर्त द्रव्योंको विकलरूपसे (एकदेश) जो सामान्यतः अवबोध करता है, वह अचक्षुदर्शन है। उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे ही (बिना किसी इन्द्रियके अवलम्बनके) मूर्त द्रव्यको विकलरूपसे (एकदेश) जो सामान्यतः अवबोधन करता है, वह अवधिदर्शन है। समस्त आवरणके अत्यंत क्षयसे केवल (आत्मा) ही मूर्त अमूर्त द्रव्यको सकलरूपसे जो सामान्यतः अवबोध करता है वह स्वाभाविक केवलदर्शन है। इस प्रकार (दर्शनोपयोगोंके भेदोंका) स्वरूपकथन है। (नि सा./ता. वृ./१३, १४), (द्र सं/टी /४/१३/६)।

३. बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणा परमार्थसे अन्तरंग विषयको ही बताती है

ध.७/२, १, ५६/१००/१२ इदि बज्झत्थविसयदंसणपरूवणादो। ण एदाण गाहाणं परमत्थात्थाणुवगमादो। को सो परमत्थत्थो। वुच्चदे—यत् चक्षुषां प्रकाशते चक्षुषा दृश्यते वा तत् चक्षुर्दर्शनमिति ब्रुवते। चक्खिदियणाणादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए सामण्णए अणुहओ चक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं चक्खुदंसणमिदि उत्तं होदि। गाहाए जलभंजणमकाऊण उज्जुवत्थो किण्ण घेप्पदि। ण, तत्थ पुव्वुत्तासेसदोसप्पसंगादो।

शेषेन्द्रियैः प्रतिपन्नस्यार्थस्य यस्मात् अवगमनं ज्ञातव्य तत् अचक्षुर्दर्शनमिति। सेसिंदियणाणुप्पत्तीदो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए अप्पणो विसयम्मि पडिबद्धाए सामण्णेण संवेदो अचक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तमचक्खुदंसणमिदि उत्तं होदि।

परमाण्वादिकानि आ पश्चिमस्कन्धादिति मूर्तिद्रव्याणि यस्मात् पश्यति जानीते तानि साक्षात् तत् अवधिदर्शनमिति द्रष्टव्यम्। परमाणुमादिं कादूण जाव पच्छिमखंधो त्ति ट्ठिदपोग्गलदव्वाणमवगमादो पच्चक्खादो जो पुव्वमेव सुवसत्तीविसयउवजोगो ओहिणाणुप्पत्तिणिमित्तो तं ओहिदंसणमिदि घेतव्वं। अण्णहा णाणदंसणाणं भेदाभावादो। =प्रश्न—इन सूत्रवचनोंमें (दे० पहिलेवाला शीर्षक नं० २) दर्शनकी प्ररूपणा बाह्यार्थविषयक रूपसे की गयी है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, तुमने इन गाथाओंका परमार्थ नहीं समझा। प्रश्न—वह परमार्थ कौन-सा है? उत्तर—कहते हैं—१ (गाथाके पूर्वार्धका इस प्रकार है) 'जो चक्षुओंको प्रकाशित होता अर्थात् दिखता है, अथवा आँख द्वारा देखा जाता है, वह चक्षुदर्शन है'—इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि चक्षु इन्द्रियज्ञानसे जो पूर्व ही सामान्य स्वशक्तिका अनुभव होता है, जो कि चक्षु ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तरूप है, वह चक्षुदर्शन है। प्रश्न—गाथाका गला न घोटकर सीधा अर्थ क्यों नहीं करते? उत्तर—नहीं करते, क्योंकि वैसा करनेसे पूर्वोक्त समस्त दोषोंका प्रसंग आता है। २—गाथाके उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है—'जो देखा गया है, अर्थात् जो पदार्थ शेष इन्द्रियोंके द्वारा जाना गया है' उससे जो ज्ञान होता है, उसे अचक्षुदर्शन जानना चाहिए। (इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि—) चक्षु इन्द्रियको छोडकर शेष इन्द्रियज्ञानोंकी उत्पत्तिसे पूर्व ही अपने विषयमें प्रतिबद्ध स्वशक्तिका, अचक्षुज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत जो सामान्यसे संवेदन या अनुभव होता है, वह अचक्षुदर्शन है। ३—द्वितीय गाथाका अर्थ इस प्रकार है—'परमाणुसे लगाकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जितने मूर्त द्रव्य हैं, उन्हें जिसके द्वारा साक्षात् देखता है या जानता है, वह अवधिदर्शन है।' इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए, कि—परमाणुसे लेकर अन्तिम स्कन्ध पर्यन्त जो पुद्गलद्रव्य स्थित हैं, उनके प्रत्यक्ष ज्ञानसे पूर्व ही जो अवधिज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्तभूत स्वशक्ति विषयक उपयोग होता है, वही अवधिदर्शन है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा ज्ञान और दर्शनमें कोई भेद नहीं रहता। (ध. ६/१,९-१, १६/३३/२), (ध. १३/५, ५, ८५/३५५/७)।

४. बाह्यार्थाश्रित प्ररूपणाका कारण

ध. १५/६/११ पुव्वं सव्व पि दंसणमज्झत्थविसयमिदि परूविदं, संपहि चक्खुदंसणस्स बज्झत्थविसत्त परूविदं ति णेदं घडदे, पुव्वावरविरोहादो। ण एस दोसो, एवंविहेसु बज्झत्थेसु पडिबद्धसगसत्तिसंवेयणं चक्खुदंसणं ति जाणावणट्ठं बज्झत्थविसयपरूवणाकरणादो। =प्रश्न १—सभी दर्शन अध्यात्म अर्थको विषय करनेवाले हैं, ऐसी प्ररूपणा पहिले की जा चुकी है। किन्तु इस समय बाह्यार्थको चक्षुदर्शनका विषय कहा है, इस प्रकार यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि इससे पूर्वापर विरोध होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके बाह्यार्थमें प्रतिबद्ध आत्म शक्तिका संवेदन करनेको चक्षुदर्शन कहा जाता है, यह बतलानेके लिए उपर्युक्त बाह्यार्थ विषयताकी प्ररूपणा की गई है।

ध.७/२,१,५६/१०१/४ कधमंतरंगाए चक्खिदियविसयपडिबद्धाए सत्तीए चक्खिदियस्स पउत्ती। ण अंतरंगे बहिरंगत्थोवयारेण बालजणबोहणट्ठं चक्खूण जं दिस्सदि तं चक्खुदंसणमिदि परूवणादो।= प्रश्न २—उस चक्षु इन्द्रियसे प्रतिबद्ध अन्तरंग शक्तिमें चक्षु इन्द्रियकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, यथार्थमें तो चक्षु इन्द्रियकी अन्तरंगमें ही प्रवृत्ति होती है, किन्तु बालक जनोंके ज्ञान करानेके लिए अन्तरंगमें बाह्यार्थके उपचारसे 'चक्षुओंको जो दिखता है, वही चक्षुदर्शन है, ऐसा प्ररूपण किया गया है।

क.पा.१/१-२०/§३५५/३५७/३ इदि वज्झत्थणिद्देसादो ण दंसणमंतरंगत्थ-विसयमिदि णासंकणिज्ज, विसयणिद्देसदुवारेण विसयिणिद्देसादो अण्णेण पयारेण अंतरंगविसयणिरूवणाणुववत्तीदो। =प्रश्न ३—इसमें (पूर्वोक्त अवधिदर्शनकी व्याख्यामें) दर्शनका विषय बाह्य पदार्थ बतलाया है, अतः दर्शन अन्तरंग पदार्थको विषय करता है, यह कहना ठीक नहीं है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गाथामें विषयके निर्देश द्वारा विषयीका निर्देश किया गया है। क्योंकि अन्तरंग विषयका निरूपण अन्य प्रकारसे किया नहीं जा सकता है।

५. चक्षुदर्शन सिद्धि

ध.१/१,१,१३१/३७९/१ अथ स्याद्विषयविषयिसंपातसमनन्तरमाद्यग्रहणं अवग्रहः। न तेन बाह्यार्थगतविधिसामान्यं परिच्छिद्यते तस्यावस्तुनः कर्मत्वाभावात्।... तस्माद्विधिनिषेधात्मकबाह्यार्थग्रहणमवग्रहः। न स दर्शनं सामान्यग्रहणस्य दर्शनव्यपदेशात्। ततो न चक्षुर्दर्शनमिति। अत्र प्रतिविधीयते, नैते दोषाः दर्शनमाढौकन्ते तस्यान्तरङ्गार्थविषयत्वात्। ...सामान्यविशेषात्मकस्यात्मनः सामान्यशब्दवाच्यत्वेनोपादानात्। तस्य कथं सामान्यतेति चेदुच्यते। चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो हि नाम रूप एव नियमितस्ततो रूपविशिष्टस्यैवार्थग्रहणस्योपलम्भात्। तत्रापि रूपसामान्य एव नियमितस्ततो नीलादिष्वेकरूपेणैव विशिष्टवस्त्वनुपलम्भात्। तस्माच्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमो रूपविशिष्टार्थं प्रति समानः आत्मव्यतिरिक्तक्षयोपशमाभावादात्मापि तद्द्वारेण समानः। तस्य भावः सामान्यं तद्दर्शनस्य विषय इति स्थितम्।

अथ स्याच्चक्षुषा यत्प्रकाशते तद्दर्शनम्। न चात्मा चक्षुषा प्रकाशते तथानुपलम्भात्। प्रकाशते च रूपसामान्यविशेषविशिष्टार्थः। न स दर्शनमर्थस्योपयोगरूपत्वविरोधात्। न तस्योपयोगोऽपि दर्शनं तस्य ज्ञानरूपत्वात्। ततो न चक्षुर्दर्शनमिति, न, चक्षुर्दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेराधार्याभावे आधारकस्याप्यभावात्। तस्माच्चक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम्। =प्रश्न १—विषय और विषयीके योग्य सम्बन्धके अनन्तर प्रथम ग्रहणको जो अवग्रह कहा है। सो उस अवग्रहके द्वारा बाह्य अर्थमें रहनेवाले विधि-सामान्यका ज्ञान तो हो नहीं सकता है, क्योंकि, बाह्य अर्थमें रहनेवाला विधि सामान्य अवस्तु है। इसलिए वह कर्म अर्थात् ज्ञानका विषय नहीं हो सकता है। इसलिए विधिनिषेधात्मक बाह्यपदार्थको अवग्रह मानना चाहिए। परन्तु वह अवग्रह दर्शनरूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि जो सामान्यको ग्रहण करता है उसे दर्शन कहा है (दे० दर्शन/१/३/२) अतः चक्षुदर्शन नहीं बनता है? उत्तर—ऊपर दिये गये ये सब दोष (चक्षु) दर्शनको नहीं प्राप्त होते हैं, क्योंकि वह अन्तरंग पदार्थको विषय करता है। और अन्तरंग पदार्थ भी सामान्य विशेषात्मक होता है। ..(दे० दर्शन/२/४)। और वह उस सामान्यविशेषात्मक आत्माका ही 'सामान्य' शब्दके वाच्यरूपमे ग्रहण किया है। प्रश्न २—उस (आत्मा) को सामान्यपना कैसे है? उत्तर—चक्षुइन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपमें ही नियमित है। इसलिए उससे रूपविशिष्ट ही पदार्थका ग्रहण पाया जाता है। वहाँपर भी चक्षुदर्शनमें रूपसामान्य ही नियमित है, इसलिए उससे नीलादिकमें किसी एक रूपके द्वारा ही विशिष्ट वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती है। अतः चक्षुइन्द्रियावरणका क्षयोपशम रूपविशिष्ट अर्थके प्रति समान है। आत्माको छोड़कर क्षयोपशम पाया नहीं जाता है, इसलिए आत्मा भी क्षयोपशमकी अपेक्षा समान है। उस समानके भावको सामान्य कहते हैं। वह दर्शनका विषय है। प्रश्न ३—चक्षु इन्द्रियसे जो प्रकाशित होता है उसे दर्शन कहते हैं। परन्तु आत्मा तो चक्षु इन्द्रियसे प्रकाशित होता नहीं है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे आत्माकी उपलब्धि होती हुई नहीं देखी जाती है। ४. चक्षु इन्द्रियसे रूप सामान्य और रूपविशेषसे युक्त पदार्थ प्रकाशित होता है। परन्तु पदार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, पदार्थको उपयोगरूप माननेमें विरोध आता है। ५. पदार्थका उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि उपयोग ज्ञानरूप पड़ता है। इसलिए चक्षुदर्शनका अस्तित्व नहीं बनता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि चक्षुदर्शन नहीं हो तो चक्षुदर्शनावरण कर्म नहीं बन सकता है, क्योंकि, आधार्यके अभावमें आधारकका भी अभाव हो जाता है। इसलिए अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाला चक्षुदर्शन है, यह बात स्वीकार कर लेना चाहिए।

६. दृष्टकी स्मृतिका नाम अचक्षुदर्शन नहीं है

ध.१/१,१,१३३/३८३/८ दृष्टान्तस्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तन्न घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुरभावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावासंजननात्। दृष्टशब्द उपलंभवाचक इति चेन्न उपलब्धार्थविषयस्मृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः। ततः स्वरूपसंवेदनं दर्शनमित्यङ्गीकर्तव्यम्। =दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुदर्शन है, इस प्रकार कितने ही पुरुष कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर एकेन्द्रियजीवोंमें चक्षुइन्द्रियका अभाव होनेसे (पदार्थको पहिले देखना ही असम्भव होनेके कारण) उनके अचक्षुदर्शनके अभावका प्रसंग आ जायगा। प्रश्न—दृष्टान्तमें 'दृष्ट' शब्द उपलम्भवाचक ग्रहण करना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आ जाती है। इसलिए स्वरूपसंवेदन (अचक्षु) दर्शन है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

७. पाँच दर्शनोंके लिए एक अचक्षुदर्शन नाम क्यों

ध.१५/१०/२ पंचण्णं दंसणाणमचक्खुदंसणमिदि एगणिद्देसो किमट्ठं कदो। तेसिं पच्चासत्ती अत्थि त्ति जाणावणट्ठं कदो। का तेसिं पच्चासत्ती? विसईदो पुधभूदस्स अक्कमेण सग-परपच्चक्खस्स चक्खुदंसणविसयस्सेव तेसिं विसयस्स परेसिं जाणावणोवायाभावं पडिसमाणत्तादो। =प्रश्न—(चक्षु इन्द्रियसे अतिरिक्त चार इन्द्रिय व मन विषयक) पाँच दर्शनोंके लिए अचक्षुदर्शन ऐसा एक निर्देश किस लिए किया। (अर्थात् चक्षुदर्शनवत् रसना भी रसना दर्शन आदि रूपसे पृथक्-पृथक् व्यपदेश क्यों न किया)? उत्तर—उनकी परस्परमें प्रत्यासत्ति है, इस बातके जतलानेके लिए वैसा निर्देश किया गया है। प्रश्न—उनकी परस्परमें प्रत्यासत्ति कैसे है? उत्तर—विषयीसे पृथग्भूत अतएव युगपत् स्व और परको प्रत्यक्ष होनेवाले ऐसे चक्षुदर्शनके विषयके समान उन पाँचों दर्शनोंके विषयका दूसरोंके लिए ज्ञान करानेका कोई उपाय नहीं है। इसकी समानता पाँचों ही दर्शनोंमें है। यही उनमें प्रत्यासत्ति है।

८. केवल ज्ञान व दर्शन दोनों कथंचित् एक हैं

क.पा. १/१-२०/गा १४३/३५७ मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दंसणस्स य विसेसो। केवलियं णाणं पुण णाणं ति य दंसणं ति य समाणं ॥१४३॥ =मनःपर्यय ज्ञानपर्यन्त ज्ञान और दर्शन इन दोनोंमें विशेष अर्थात् भेद है, परन्तु केवलज्ञानकी अपेक्षासे तो ज्ञान और दर्शन दोनों समान हैं। नोट—यद्यपि अगले शीर्षक नं० ९ के अनुसार इनकी एकताको स्वीकार नहीं किया जाता है और उसमें उसका भी खण्डन किया गया है, परन्तु ध/१ में इसी बातकी पुष्टि की है। यथा—)।

ध. १/१,१,१३५/३८५/६ अनन्तत्रिकालगोचरबाह्येऽर्थे प्रवृत्तं केवलज्ञानं (स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं च दर्शनमिति) कथमनयोः समानतेति चेत्कथ्यते। ज्ञानप्रमाणमात्मा ज्ञान च त्रिकालगोचरानन्तद्रव्यपर्याय-परिमाण ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वमिति। =प्रश्न—त्रिकाल-गोचर अनन्त बाह्यपदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेवाला ज्ञान है और स्वरूप मात्रमें प्रवृत्ति करनेवाला दर्शन है, इसलिए इन दोनोंमें समानता कैसे हो सकती है? उत्तर—आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालके विषयभूत द्रव्योंकी अनन्त पर्यायोंको जाननेवाला होनेसे तत्परिमाण है, इसलिए ज्ञान और दर्शनमें समानता है। (ध. ७/२,१,५६/१०२/६) (ध. ६/१,९-१,१७/३४/६) (और भी दे० दर्शन/२/७)।

दे० दर्शन/२/८ (यद्यपि स्वकीय पर्यायोंकी अपेक्षा दर्शनका विषय ज्ञानसे अधिक है, फिर भी एक दूसरेकी अपेक्षा करनेके कारण उनमें समानता बन जाती है)।

९. केवलज्ञानसे भिन्न केवल दर्शनकी सिद्धि

क. पा. १/१-२०/प्रकरण/पृष्ठ/पंक्ति जेण केवलणाण सपरपयासयं, तेण केवलदंसण णत्थि त्ति के वि भणंति। एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ—"मणपज्जवणाणतो—"(§३२५/३५७/४)। एद पि ण घडदे; केवलणाणस्स पज्जायस्स पज्जायाभावादो। ण पज्जायस्स पज्जाया अत्थि अणवत्थाभावप्पसंगादो। ण केवलणाण जाणइ पस्सइ वा, तस्स कत्तारत्ताभावादो। तम्हा सपरप्पयासओ जीवो त्ति इच्छियव्व। ण च दोण्हं पयासाणमेयत्त, बज्झ तरंगत्थविसयाण सायार-अणायारणमेयत्तविरोहादो। (§३२६/३५७/८)। केवलणाणादो केवलदंसणमभिण्णमिदि केवलदंसणस्स केवलणाणत्त किण्ण होज्ज। ण एव सते विसेसाभावेण णाणस्स वि दंसणप्पसंगादो (§३२७/३५८/४)। =प्रश्न—चूंकि केवलज्ञान स्व और पर दोनोंका प्रकाशक है, इसलिए केवल दर्शन नहीं है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। और इस विषयकी उपयुक्त गाथा देते हैं—मन.पर्ययज्ञानपर्यन्त (दे० दर्शन/५/८) उत्तर—परन्तु उनका ऐसा कहना भी नहीं बनता है। १. क्योंकि केवलज्ञान-स्वयं पर्याय है, इसलिए उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है। पर्यायकी पर्याय नहीं होती, क्योंकि, ऐसा माननेपर अनवस्था दोष आता है। (ध ६/१,९-१,१७/३४/२)। (ध. ७/२,१,५६/९९/८)। २. केवलज्ञान स्वयं तो न जानता ही है और न देखता ही है, क्योंकि वह स्वय जानने व देखनेका कर्ता नहीं है (आत्मा ही उसके द्वारा जानता है)। इसलिए ज्ञानको अन्तरंग व बहिरंग दोनोंका प्रकाशक न मानकर जीव स्व व परका प्रकाशक है, ऐसा मानना चाहिए। (विशेष दे० दर्शन/२/६)। ३—केवल दर्शन व केवलज्ञान ये दोनों प्रकाश एक है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको विषय करनेवाले साकार उपयोग और अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले अनाकार उपयोगको एक माननेमें विरोध आता है। (ध १,१,१३३/३८३/११), (ध ७/२,१,५६/९९/९)। ४. प्रश्न—केवलज्ञानसे केवलदर्शन अभिन्न है, इसलिए केवलदर्शन केवलज्ञान क्यों नही हो जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा होनेपर ज्ञान और दर्शन इन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं रहती है, इसलिए ज्ञानको भी दर्शनपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। (विशेष दे० दर्शन/२)।

१०. आवरण कर्मके अभावसे केवलदर्शनका अभाव नहीं होता

क. पा १/१-२०/§ ३२८-३२९/३५९/२ मइणाणं व जेण दंसणमावरणणिबंधणं तेण खीणावरणिज्जे ण दंसणमिदि के वि भणंति। एत्थुवउज्जंती गाहा—'भण्णइ खीणावरणे •' (§३२८)। एदं पि ण घडदे, आवरणक्खयस्स मइणाणस्सेव होउ णाम आवरणक्खयचक्खुअचक्खु-ओहिदंसणाणमावरणाभावेण अभावो ण केवलदंसणस्स तस्स कम्मेण अजणिदत्तादो। ण कम्मजणिद केवलदंसणं, सगसरूवपयासेण विणा णिच्चेयणस्स जीवस्स णाणस्स वि अभावप्पसंगादो। =चूंकि दर्शन मतिज्ञानके समान आवरणके निमित्तसे होता है, इसलिए आवरणके नष्ट हो जानेपर दर्शन नहीं रहता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। इस विषयमें उपयुक्त गाथा इस प्रकार है—'जिस प्रकार ज्ञानावरणसे रहित जिनभगवान्‌मे…इत्यादि'…पर उनका ऐसा कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि जिस प्रकार मतिज्ञान आवरणका कार्य है, इसलिए आवरणके नष्ट हो जानेपर मतिज्ञानका अभाव हो जाता है। उसी प्रकार आवरणका अभाव होनेसे आवरणके कार्य चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शनका भी अभाव होता है तो होओ पर इससे केवल दर्शनका अभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि केवल दर्शन कर्मजनित नहीं है। उसे कर्मजनित मानना भी ठीक नहीं है, ऐसा माननेसे, दर्शनावरणका अभाव हो जानेसे भगवान्‌को केवलदर्शनकी उत्पत्ति नहीं होगी, और उसकी उत्पत्ति न होनेसे वे अपने स्वरूपको न जान सकेंगे, जिससे वे अचेतन हो जायेंगे और ऐसी अवस्थामें उनके ज्ञानका भी अभाव प्राप्त होगा।

६. श्रुत विभंग व मनःपर्ययके दर्शन सम्बन्धी

१. श्रुतदर्शनके अभावमें युक्ति

ध १/१,१,१३३/३८४/५ श्रुतदर्शनं किमिति नोच्यते इति चेन्न, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात्। यदि बहिरङ्गार्थसामान्यविषयं दर्शनमभविष्यत्तदा श्रुतज्ञानदर्शनमपि समभविष्यत्। =प्रश्न—श्रुतदर्शन क्यों नहीं कहा? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको दर्शनपूर्वक माननेमें विरोध आता है। (ध. ३/१,२,१६१/४५६/१०); (ध. १३/५,५,८५/३५६/२) (और भी दे० आगे दर्शन/६/४) २ दूसरे यदि बहिरंग पदार्थको सामान्य रूपसे विषय करनेवाला दर्शन होता तो श्रुतज्ञान सम्बन्धी दर्शन भी होता। परन्तु ऐसा नहीं (अर्थात् श्रुत ज्ञानका व्यापार बाह्य पदार्थ है अन्तरंग नहीं, जब कि दर्शनका विषय अन्तरंग पदार्थ है) इसलिए श्रुतज्ञानके पहिले दर्शन नहीं होता।

ध. ३/१,२,१६१/४५७/१ जदि सरूवसवेदणं दंसणं तो एदेसिं पि दंसणस्स अत्थित्तं पसज्जदे चेन्न, उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तप्रयत्नविशिष्टस्वसंवेदनस्य दर्शनत्वात्। ३. प्रश्न—यदि स्वरूपसंवेदन है, तो इन दोनों (श्रुत व मन·पर्यय) ज्ञानोके भी दर्शनके अस्तित्वकी प्राप्ति होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिके निमित्तभूत प्रयत्न-विशिष्ट स्वसंवेदनको दर्शन माना गया है। (यहाँ वह कार्य दर्शनकी अपेक्षा मतिज्ञानसे सिद्ध होता है।

२. विभंग दर्शनके अस्तित्वका कथंचित् विधि निषेध

दे सत प्ररूपणा' (विभंगज्ञानीको अवधि दर्शन नहीं होता)।

ध १/१,१,१३४/३८५/१ विभङ्गदर्शनं किमिति पृथग् नोपदिष्टमिति चेन्न, तस्यावधिदर्शनेऽन्तर्भावात्। =विभङ्ग दर्शनका पृथक्‌रूपसे उपदेश क्यों नहीं किया? उत्तर—नहीं, क्योंकि उसका अवधि दर्शनमें अन्तर्भाव हो जाता है। (ध. १३/५,५,८५/३५६।

ध. १३/५,५,८५/३५६/४ तथा सिद्धिविनिश्चयेऽप्युक्तम्—अवधिविभंगयोरवधिदर्शनम्' इति। =ऐसा ही सिद्धिविनिश्चयमें भी कहा है, —'अवधिज्ञान व विभंगज्ञानके अवधिदर्शन ही होता है'।

३. मनःपर्ययदर्शनके अभावमें युक्ति

रा.वा./६/१० वार्तिक/पृष्ठ/पंक्ति—यथा अवधिज्ञानं दर्शनपूर्वकं तथा मन.-पर्ययज्ञानेनापि दर्शनपुरस्सरेण भवितव्यमिति चेत्, तन्न; किं कारणम्। कारणाभावात्। न मन.पर्ययदर्शनावरणमस्ति। दर्शनावरणचतुष्टयोपदेशात्, तद्भावात् तत्क्षयोपशमाभावे तन्निमित्तमन'पर्ययदर्शनोपयोगाभाव.। (§१८/५१८/३२)। मन'पर्ययज्ञान स्वविषये अवधिज्ञानवत् न स्वमुखेन वर्तते। कथं तर्हि। परकीयमनःप्रणालिकथा। ततो यथा मनोऽतीतानागतार्थांश्चिन्तयति न तु पश्यति तथा मन.पर्ययज्ञान्यपि भूतभविष्यन्तौ वेत्ति न पश्यति। वर्तमानमतिमनोविषयविशेषाकारेणैव प्रतिपद्यते, तत' सामान्यपूर्वकवृत्त्यभावात् मनःपर्ययदर्शनाभाव. (§ १९/५१९/३)।=प्रश्न—जिस प्रकार अवधिज्ञान दर्शन पूर्वक होता है, उसी प्रकार मन'पर्ययज्ञानको भी दर्शन पूर्वक होना चाहिए? उत्तर—१. ऐसा नही है, क्योंकि, तहाँ कारणका अभाव है। मन पर्यय दर्शनावरण नही है, क्योंकि चक्षु आदि चार ही दर्शनावरणोका उपदेश उपलब्ध है। और उसके अभावके कारण उसके क्षयोपशमका भी अभाव है, और उसके अभावमें तन्निमित्तक मन'-पर्ययदर्शनोपयोगका भी अभाव है। २. मन पर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह स्वमुखसे विषयोको नही जानता, किन्तु परकीय मन-प्रणालीसे जानता है। अत. जिस प्रकार मन अतीत व अनागत अर्थोंका विचार चिन्तन तो करता है पर देखता नही, उसी तरह मन-पर्ययज्ञानी भी भूत और भविष्यतको जानता तो है, पर देखता नही। वह वर्तमान भी मनको विषयविशेषाकारसे जानता है, अत सामान्यावलोकन पूर्वक प्रवृत्ति न होनेसे मन पर्यय दर्शन नहीं बनता।

ध.१/१,१,१३४/३८५/२ मन पर्ययदर्शन तर्हि वक्तव्यमिति चेन्न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य दर्शनाभावात्। =प्रश्न—मनःपर्यय दर्शनको भिन्न रूपसे कहना चाहिए? उत्तर—३. नही, क्योकि, मन पर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए मन'पर्यय दर्शन नही होता। (ध ३/१,२,१६१/४५६/१०); (ध १३/५,५,८५/३१६/५), (ध.६/१,९-१,१४/२९/२); (ध. ९/४,१,६/५३/३)।

दे. ऊपर श्रुत दर्शन सम्बन्धी—(उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूत प्रयत्नरूप स्वसवेदनको दर्शन कहते हैं, परन्तु यहाँ उत्तर ज्ञानकी उत्पत्तिका कार्य मतिज्ञान ही सिद्ध कर देता है।)

४. मति ज्ञान ही श्रुत व मनःपर्ययका दर्शन है

द्र.सं./टी./४४/१८८/६ श्रुतज्ञानमन पर्ययज्ञानजनकं यदवग्रहेहादिरूप मतिज्ञान भणितम्, तदपि दर्शनपूर्वकत्वात्तदुपचारेण दर्शन भण्यते, यतस्तेन कारणेन श्रुतज्ञानमन'पर्ययज्ञानद्वयमपि दर्शनपूर्वक ज्ञातव्यमिति। =यहाँ श्रुतज्ञानको उत्पन्न करनेवाला जो अवग्रह और मन'-पर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेवाला ईहारूप मतिज्ञान कहा है; वह मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है इसलिए वह मतिज्ञान भी उपचारसे दर्शन कहलाता है। इस कारण श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन दोनोको भी दर्शन पूर्वक जानना चाहिए।

७. दर्शनोपयोग सम्बन्धी कुछ प्ररूपणाएँ

१. दर्शनोपयोग अन्तर्मुहूर्त अवस्थायी है

ध १३/५,५,२३/२१६/१३ ज्ञानोत्पत्ते' पूर्वावस्था विषयविषयिसपात. ज्ञानोत्पादनकारणपरिणामविशेषसंतत्युत्पत्त्युपलक्षित अन्तर्मुहूर्त-काल' दर्शनव्यपदेशभाक्। =ज्ञानोत्पत्तिकी पूर्वावस्था विषय व विषयीका सम्पात (सम्बन्ध) है, जो दर्शन नामसे कहा जाता है। यह दर्शन ज्ञानोत्पत्तिके कारणभूत परिणाम विशेषकी सन्ततिकी उत्पत्तिसे उपलक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है।)

दे दर्शन/३/२ (केवलदर्शनोपयोग भी तद्भवस्थ उपसर्ग केवलियोंकी अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है) नोट—(उपरोक्त अन्तर्मुहूर्त काल दर्शनोपयोगकी अपेक्षा है और काल प्ररूपणामें दिये गये काल क्षयोपशम सामान्यकी अपेक्षासे है, अत' दोनोमें विरोध नही है।

२. लब्ध्यपर्याप्त दशामें चक्षुदर्शनोपयोग संभव नहीं पर निवृत्त्यपर्याप्त दशामें संभव है

ध ४/१,३,६७/१२६/८ यदि एव, तो लद्धिअपज्जत्ताणं पि चक्खुदंसणित्तं पसज्जदे। तं च णत्थि, चक्खुदंसणिअवहारकालस्स पदरंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्तपमाणप्पसगादो। ण एस दोसो, णिव्वत्तिअपज्जत्ताणं चक्खुदंसणमत्थि, उत्तरकाले णिच्छएण चक्खुदंसणोवजोग-समुप्पत्तीए अविणाभाविचक्खुदंसणखओवसमदंसणादो। चउरिंदियपंचिदियलद्धिअपज्जत्ताणं चक्खुदंसणं णत्थि, तत्थ चक्खुदंसणोवओगसमुप्पत्तीए अविणाभाविचक्खुदंसणक्खओवसमाभावादो।=प्रश्न—यदि ऐसा है (अर्थात् अपर्याप्तककालमें भी क्षयोपशमकी अपेक्षा चक्षुदर्शन पाया जाता है) तो लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें भी चक्षुदर्शनीपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक जीवोके चक्षुदर्शन होता नही है। यदि लब्ध्यपर्याप्त जीवोके भी चक्षुदर्शनोपयोगका सद्भाव माना जायेगा, तो चक्षुदर्शनी जीवोके अवहारकालको प्रतरांगुलके असंख्यातवे भागमात्र प्रमाणपनेका प्रसग प्राप्त होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, निवृत्त्यपर्याप्त जीवोंके चक्षुदर्शन होता है। इसका कारण यह है, कि उत्तरकालमें, अर्थात् अपर्याप्त काल समाप्त होनेके पश्चात् निश्चयसे चक्षुदर्शनोपयोगकी समुत्पत्तिका अविनाभावी चक्षुदर्शनका क्षयोपशम देखा जाता है। हाँ चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त जीवोके चक्षुदर्शन नहीं होता, क्योकि, उनमें चक्षुदर्शनोपयोगकी समुत्पत्तिका अविनाभावी चक्षुदर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमका अभाव है। (ध. ४/१,५,२७८/४५४/६)।

३. मिश्र व कार्माणकाययोगियोंमें चक्षुदर्शनोपयोगका अभाव

प. स/प्रा/४/२७-२९ ओरालमिस्स-कम्मे मणपज्जविहंगचक्खुहीणा ते ।२७। तम्मिस्से केवलदुग मणपज्जविहंगचक्खूणा ।२८। केवलदुयमणपज्जव-अण्णाणेतिएहि होंति ते ऊणा। आहारजुयलजोए ।२९। =योगमार्गणाकी अपेक्षा औदारिक मिश्र व कार्माण काययोगमें मनःपर्ययज्ञान विभंगावधि और चक्षुदर्शन इन तीन रहित ९ उपयोग होते है।२७। वैक्रियक मिश्र काययोगमें केवलद्विक, मन पर्यय, विभगावधि और चक्षुदर्शन इन पाँचको छोडकर शेप ७ उपयोग होते है।२८। आहारक मिश्रकाय योगमे केवलद्विक, मन.पर्ययज्ञान और अज्ञानत्रिक, इन छहको छोडकर शेप छ' उपयोग होते हैं (अर्थात् आहारमिश्रमें चक्षुदर्शनोपयोग होता है)।

४. दर्शनमार्गणामें गुणस्थानोंका स्वामित्व

प. ख १/१,१/सू. १३२-१३५/३८२-३८५ चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्थात्ति ।१३२। अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयराय छदुमत्था त्ति ।१३३। ओधिदंसणी असंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछदुमत्थात्ति ।१३४। केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।१३५।=चक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रिय (मिथ्यादृष्टि) से लेकर (संज्ञी पचेन्द्रिय) क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते है।१३२। अचक्षुदर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रिय (मिथ्यादृष्टि) से लेकर (सज्ञी पंचेन्द्रिय) क्षीणकपाय वीतराग छद्मस्थ गुण-

स्थान तक होते हैं ।१३३। अवधिदर्शन वाले जीव (संज्ञी पंचेन्द्रिय ही) असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ।१३४। केवल दर्शनके धारक जीव (संज्ञी पंचेन्द्रिय व अनिन्द्रिय सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ।१३५।

दर्शनकथा—कवि भारामल (ई० १७५६) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

दर्शनक्रिया—दे० क्रिया/३।

दर्शनपाहुड़—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत सम्यग्दर्शन विषयक ३६ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इस पर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत संस्कृत टीका और प० जयचन्द छाबड़ा (ई० १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

दर्शनप्रतिमा—श्रावककी ११ भूमिकाओंमें-से पहलीका नाम दर्शन प्रतिमा है। इस भूमिकामें यद्यपि वह यमरूपसे १२ व्रतोंको धारण नहीं कर पाता पर अभ्यास रूपसे उनका पालन करता है। सम्यग्दर्शनमें अत्यन्त दृढ हो जाता है और अष्टमूलगुण आदि भी निरतिचार पालने लगता है।

१. दर्शन प्रतिमाका लक्षण

१. संसार शरीर भोगसे निर्विण्ण पंचगुरु भक्ति

चा सा/३/५ दार्शनिक संसारशरीरभोगनिर्विण्ण पञ्चगुरुचरणभक्त सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति। =दर्शन प्रतिमावाला संसार और शरीर भोगोंसे विरक्त पाँचों परमेष्ठियोंके चरणकमलोंका भक्त रहता है और सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध रहता है।

२. संवेगादि सहित साष्टांग सम्यग्दृष्टि

सुभाषितरत्नसन्दोह/८३३ शंकादिदोषनिर्मुक्तं संवेगादिगुणान्वितं। यो धत्ते दर्शनं सोऽत्र दर्शनी कथितो जिनैः ।८३३। =जो पुरुष शंकादि दोषोंसे निर्दोष संवेगादि गुणोंसे संयुक्त सम्यग्दर्शनको धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि (दर्शन प्रतिमावाला) कहा गया है ।८३३।

२. दर्शन प्रतिमाधारीके गुण व व्रतादि

१. निशि भोजनका त्यागी

वसु श्रा/३१४ एयारसेसु पढमं वि जदो णिसि भोयणं कुणंतस्स। ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसि भुत्तिं परिहरे णियमा ।३१४। =चूँकि रात्रिको भोजन करनेवाले मनुष्यके ग्यारह प्रतिमाओंमें-से पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियमसे रात्रि भोजनका परिहार करना चाहिए। (ला. सं./२/४५)।

२. सप्त व्यसन व पंचुदंबर फलका त्यागी

वसु. श्रा/२०५ पंचुंबरसहियाइं परिहरेइ इय जो सत्त विसणाइं। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ।२०५। =जो सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध बुद्धि जीव इन पाँच उदुम्बर सहित सातों व्यसनोंका परित्याग करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन श्रावक कहा गया है ।२०५। (वसु. श्रा/५६-५८) (गुणभद्र श्रा/११२) (गो जी/जी. प्र./४७७/८८४ में उद्धृत)

३. मद्य मांसादिका त्यागी

का अ/मू/३२८-३२९ बहु-तस-समण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं। जो ण य सेवदि णियदं सो दंसण-सावओ होदि ।३२८। जो दिढचित्तो कीरदि एवं पि वयणियाणपरिहीणो। वेरग्ग-भावियमणो सो वि य दंसण-गुणो होदि ।३२९। =बहुत त्रसजीवोंसे युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओंका जो नियमसे सेवन नहीं करता वह दार्शनिक श्रावक है ।३२८। वैराग्यसे जिसका मन भीगा हुआ है ऐसा जो श्रावक अपने चित्तको दृढ करके तथा निदानको छोड़कर उक्त व्रतोंका पालता है वह दार्शनिक श्रावक है ।३२९। (का. अ./मू./२०५)।

४. अष्टमूल गुणधारी, निष्प्रयोजन हिंसाका त्यागी

र. क. श्रा/मू/१३७ सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः। पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः। =जो संसार भोगोंसे विरक्त हो, जिसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध अर्थात् अतिचार रहित हो, जिसके पंचपरमेष्ठीके चरणोंकी शरण हो, तथा जो व्रतोंके मार्ग मद्यत्यागादि आठ मूलगुणोंका ग्रहण करनेवाला हो, वह दर्शन प्रतिमाधारी दर्शनिक है ।१३७।

द्र स/टी./४५/१९५/३ सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुत्यागोदुम्बरपञ्चकपरिहाररूपाष्टमूलगुणसहितः सन् संग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापर्द्ध्यादिभिर्निष्प्रयोजनजीवघातादेः निवृत्तः प्रथमो दार्शनिकश्रावको भण्यते। =सम्यग्दर्शन पूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागरूप आठ मूलगुणोंको पालता हुआ जो जीव युद्धादिमें प्रवृत्त होनेपर भी पापको बढ़ानेवाले शिकार आदिके समान बिना प्रयोजन जीव घात नहीं करता, उसको प्रथम दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

५. अष्टमूलगुण धारण व सप्त व्यसनका त्याग

ला. सं./२/९ अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः। नरो दार्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ।९। =जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला हो और फिर वह यदि आठों मूलगुणोंको धारण कर ले तथा जूआ, चोरी आदि सातों व्यसनोंका त्याग कर दे तो वह दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ।९।

६. निरतिचार अष्टगुणधारी

सा. ध./३/७-८ पाक्षिकाचारसंस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक्। भवाङ्गभोगनिर्विण्णः परमेष्ठिपदैकधीः ।७। निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः। न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै, तन्वन् दार्शनिको मतः ।८। =पाक्षिक श्रावकके आचरणोंके संस्कारसे निश्चल और निर्दोष हो गया है सम्यग्दर्शन जिसका ऐसा संसार शरीर और भोगोंसे अथवा संसारके कारण भूत भोगोंसे विरक्त पंचपरमेष्ठीके चरणोंका भक्त मूल गुणोंमें-से अतिचारोंको दूर करनेवाला व्रतिक आदि पदोंको धारण करनेमें उत्सुक तथा शरीरको स्थिर रखनेके लिए न्यायानुकूल आजीविकाको करनेवाला व्यक्ति दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक माना गया है।

७. सप्त व्यसन व विषय तृष्णाका त्यागी

क्रिया कोष/१०४२ पहिली पडिमा धर बुद्धा सम्यग्दर्शन शुद्धा। त्यागे जो सातों व्यसना छोडे विषयनिकी तृष्णा ।१०४२। =प्रथम प्रतिमाका धारी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध होता है, तथा सातों व्यसनोंका त्यागी तथा विषयोंकी तृष्णाको छोड़ता है।

८. स्थूल पंचाणुव्रतधारी

र. सा/८ उहयगुणवसणभयमलवेरग्गाइचार भत्तिविग्घं वा। एदे सत्तत्तरिया दंसणसावयगुणा भणिया ।८। =आठ मूलगुण और बारह उत्तरगुणों (बारह व्रत अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत) का प्रतिपालन, सात व्यसन और पच्चीस सम्यक्त्वके दोषोंका परित्याग, बारह वैराग्य भावनाका चिंतवन, सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचारोंका परित्याग, भक्ति भावना इस प्रकार दर्शनको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावकके सत्तर गुण हैं।

रा. वा. हिं /७/२०/५५८ प्रथम प्रतिमा विषै ही स्थूल त्याग रूप पांच अणुव्रतका ग्रहण है . तहाँ ऐसा समझना जो . पंच उदम्बर फलमें तो त्रसके मारनेका त्याग भया। ऐसा अहिंसा अणुव्रत भया। चोरी तथा परस्त्री त्यागमे दोऊ अचौर्य व ब्रह्मचर्य अणुव्रत भये। द्यूत कर्मादि अति तृष्णाके त्यागतैं असत्यका त्याग तथा परिग्रहकी अति चाह मिटी (सत्य व परिग्रह परिणाम अणुव्रत हुए)। मास, मद्य, शहदके त्यागतैं त्रस कूं मारकरि भक्षण करनेका त्याग भया (अहिंसा अणुव्रत हुआ) ऐसे पहिली प्रतिमामे पाच अणुव्रतकी प्रवृत्ति सम्भवे है। अर इनिके अतिचार दूर करि सके नाहीं तातै व्रत प्रतिमा नाम न पावै अतिचारके त्यागका अभ्यास यहाँ अवश्य करे। (चा. पा/भाषा/२३)।

३. अविरत सम्यग्दृष्टि व दर्शन प्रतिमामें अन्तर

प. पु./११९/१५-१६ इय श्रीधर ते नित्य दयिता मदिरोत्तमा। इमा तावद् पिब न्यस्ता चषके विकचोत्पले ॥१५॥ इत्युक्त्वा ता मुखे न्यस्य चकार सुमहादरं। कथं विशतु सा तत्र चार्वी संक्रान्तचेतने ॥१६॥ =हे लक्ष्मीधर! तुम्हें यह उत्तम मदिरा निरन्तर प्रिय रहती थी सो खिले हुए नील कमलसे सुशोभित पानपात्रमे रखी हुई इस मदिराको पिओ ॥१५॥ ऐसा कहकर उन्होने बडे आदरके साथ वह मदिरा उनके मुखमें रख दी पर वह सुन्दर मदिरा निश्चेतन मुखमें कैसे प्रवेश करती ॥१६॥

प प्र /टी./२/१३३ गृहस्थावस्थाया दानशीलपूजोपवासादिरूपसम्यक्त्व-पूर्वको गृहिधर्मो न कृतः, दार्शनिकव्रतिकाद्येकादशविधश्रावकधर्म-रूपो वा। =गृहस्थावस्थामें जिसने सम्यक्त्व पूर्वक दान, शील, पूजा, उपवासादिरूप गृहस्थका धर्म नही किया, दर्शन प्रतिमा व्रत प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमाके भेदरूप श्रावकका धर्म नही धारण किया।

वसु. श्रा /५६-५७ एरिसगुण अट्ठजुयं सम्मत जो धरेइ दिढचित्तो। सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थे य ॥५६॥ पंचुंबरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेइ। सम्मत्तविसुद्धमई सो दसणसावओ भणिओ ॥५७॥ =जो जीव दृढचित्त होकर जीवादिक पदार्थोका श्रद्धान करता हुआ उपर्युक्त इन आठ (निशंकितादि) गुणोंसे युक्त सम्यक्त्वको धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है ॥५६॥ और जो सम्यग्दर्शनमे विशुद्ध है बुद्धि जिसकी, ऐसा जो जीव पाच उदुम्बर फल सहित सातों ही व्यसनोका त्याग करता है वह दर्शन श्रावक कहा गया है ॥५७॥

ला.स /३/१३१ दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थान न पञ्चमम्। केवलपाक्षिकः स स्याद्गुणस्थानादसयत ।१३१। =जो मनुष्य मद्यादि तथा सप्त व्यसनोका सेवन नही करता परन्तु उनके सेवन न करनेका नियम भी नहीं लेता, उसके न तो दर्शन प्रतिमा है और न पाँचवाँ गुण-स्थान ही होता है। उसको केवल पाक्षिक श्रावक कहते है, उसके असयत नामा चौथा गुणस्थान होता है। भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि मद्य मासादिके त्यागका नियम नही लेता, परन्तु कुल क्रमसे चली आयी परिपाटीके अनुसार उनका सेवन भी नही करता उसके चौथा गुणस्थान होता है।

का.अ /भाषा प जयचन्द/३०७ पच्चीस दोषोंसे रहित निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक अविरत सम्यग्दृष्टि है तथा अष्टमूल गुण धारक तथा सप्त व्यसन त्यागी शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

४. दर्शन प्रतिमा व व्रत प्रतिमामें अन्तर

रा.वा /हि /७/२०/५५८ पहिली प्रतिमामें पाँच अणुव्रतोंकी प्रवृत्ति सम्भवै है अर इनके अतिचार दूर कर सके नाहीं तातै व्रत प्रतिमा नाम न पावै।

चा पा /प. जयचन्द/२३/६३ दर्शन प्रतिमाका धारक भी अणुव्रती ही है⋯याकैं अणुव्रत अतिचार सहित होय है तातै व्रती नाम न कह्या दूजी प्रतिमामे अणुव्रत अतिचार रहित पाले तातै व्रत नाम कह्या इहाँ सम्यक्त्वके अतीचार टाले है सम्यक्त्व ही प्रधान है तातै दर्शन प्रतिमा नाम है (क्रिया कोष/१०४२-१०४३)।

५. दर्शन प्रतिमाके अतिचार

चा पा /टी /२३/४३/१० (नोट—मूलके लिए दे० साकेतिक स्थान)। समस्त कन्दमूलका त्याग करता है, तथा पुष्प जातिका त्याग करता है। (दे० भक्ष्याभक्ष्य/७)। नमक तैल आदि अमर्यादित वस्तुओंका त्याग करता है (दे०—भक्ष्याभक्ष्य/३) तथा मासादिसे स्पर्शित वस्तुका त्याग (दे०—भक्ष्याभक्ष्य/४) एव द्विदलका दूधके सग त्याग करता है (भक्ष्याभक्ष्य/६) तथा रात्रिको ताम्बूल, औषधादि और जलका त्याग करता है। अन्तराय टालकर भोजन करता है। (दे० अन्तराय/२)। उपरोक्त त्यागमें यदि कोई दोष लगे तो वह दर्शन प्रतिमाका अतिचार कहलाता है। विशेष दे० भक्ष्याभक्ष्य।

सप्त व्यसनके अतिचार—दे० वह वह नाम।

*** दर्शन प्रतिमामे प्रासुक पदार्थोंके ग्रहणका निर्देश** —दे० सचित्त।

दर्शनमोह—दे० मोहनीय।

दर्शनवाद—दे० श्रद्धानवाद।

दर्शन विनय—दे० विनय/१।

दर्शनविशुद्धि— तीर्थंकरकी कारणभूत षोडश भावनाओंमें सर्व प्रथम व सर्व प्रधान भावना दर्शनविशुद्धि है। इसके बिना शेष १५ भावनाएँ निरर्थक है। क्योकि दर्शनविशुद्धि ही आत्मस्वरूप संवेदनके प्रति एक मात्र कारण है। सम्यग्दर्शनका अत्यन्त निर्मल व दृढ हो जाना ही दर्शनविशुद्धि है।

१. दर्शनविशुद्धि भावनाका लक्षण

१. तत्त्वार्थके श्रद्धान द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन

प्र सा /ता.वृ /८२/१०४/१९ निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धा पुरुषा। =निज शुद्धात्मकी रुचि रूप सम्यक्त्वका जो साधक है ऐसा तीन मूढताओं और २५ मलसे रहित तत्त्वार्थके श्रद्धान रूप लक्षणवाले दर्शनसे जो शुद्ध हैं वे पुरुष दर्शनशुद्ध कहे जाते है।

२ साष्टाग सम्यग्दर्शन

रा वा /६/२४/१/५/२९ जिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थे मोक्षवर्त्मनि रुचि नि शङ्कितत्वाद्यष्टाङ्गादर्शनविशुद्धि ।१। =जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में रुचि तथा निशंक्तितादि आठ अग सहित होना सो दर्शनविशुद्धि है (स सि /६/२४/३३८/५)।

भ. आ /वि./१६७/३८०/१० नि शंकितत्वादिगुणपरिणतिर्दर्शनविशुद्धिः तस्या सत्या शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादीना अशुभपरिणामाना परि-ग्रहाणा त्यागो भवति। =निशंकित वगैरह गुणोंकी आत्मामें परिणति होना यह दर्शनशुद्धि है। यह शुद्धि होनेसे कांक्षा, विचिकित्सा वगैरह अशुभ परिणामरूपी परिग्रहोंका त्याग होता है।

३. निर्दोष सम्यग्दर्शन

ध ८/३ ४१/७९/६ दसण सम्मद्दंसण, तस्स विसुज्झदा दसणविसुज्झदा, तीए दंसणविसुज्झदाए जीवा तित्थयरणामगोदं कम्म बधति। तिमूढावोढ-अट्ठ-मलवदिरित्तसम्मद्दसणभावो दसणविसुज्झदा णाम। ='दर्शन' का अर्थ सम्यग्दर्शन है। उसकी विशुद्धताका नाम दर्शनविशुद्धता है। उस दर्शनविशुद्धिसे जीव तीर्थंकर नामकर्मका

बन्ध करते हैं। तीन मूढ़ताओंसे रहित और आठ मलोंसे व्यतिरिक्त जो सम्यग्दर्शनभाव है उसे दर्शनविशुद्धता कहते हैं (चा सा./५१/६)।

४. अभक्ष्य भक्षणके त्याग सहित साष्टांग सम्यग्दर्शन

भा पा /टी /७७/२२१/२ एतैः (निशङ्कितत्वादि) अष्टभिर्गुणैर्युक्तत्वं चर्मजलतैलघृतभृतनाशनाप्रयोगत्वं मूलकगर्जरसूरणकन्दगृञ्जनपलाण्डुविशदौ...कलिङ्गफलपुष्पसधानकरोहिनपत्रशाकमांसादिभक्षकभाजनभोजनादिपरिहरणं च दर्शनविशुद्धिः। =सम्यग्दर्शनके आठ गुणोंसे युक्त होना। चर्मकी वस्तुमें रखे जल, तेल, घी आदि खानेकी वस्तुओंका प्रयोग न करना। कन्द, मूली, गाजर आदि जमीकन्द, आलू, बड़फलादि तरबूज, पत्र पुष्प, आचार, कीलभ पत्र और पत्तेके शाक तथा मांसादिके खानेवालोंके बर्तनोंमें रखे हुए भोजनको त्यागना यह दर्शनविशुद्धि है।

५. सम्यग्दर्शनकी और अविचल झुकाव

ध.८/३,४१/८०/१ ण तिमूढा वोलत्तट्ठमलवदिरेगेहि चेव दंसणविसुज्झदा सुद्धणयाहिप्पाएण होदि, किंतु पुव्विल्लगुणेहि सगसरूवमुवलद्धंसणस्स साहूणं पासुअपरिच्चागो... पयट्टावणं विसुज्झदा णाम। =शुद्ध नयके अभिप्रायसे तीन मूढ़ताओं और आठ मलोंसे रहित होनेपर ही दर्शनविशुद्धता नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त गुणोंसे अपने निज स्वरूपको प्राप्तकर स्थित सम्यग्दर्शनकी साधुओंको प्रासुक परित्याग आदि‥ की युक्ततामें प्रवर्तनेका नाम विशुद्धता है।

२. सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा दर्शनविशुद्धि निर्देशका कारण

चा.सा./५२/१ विशुद्धि बिना दर्शनमात्रादेव तीर्थकरनामकर्मबन्धो न भवति त्रिमूढापोढाष्टमदादिरहितत्वात् उपलब्धनिजस्वरूपस्य सम्यग्दर्शनस्य शेषभावनानां तत्रैवान्तर्भावादिति दर्शनविशुद्धता व्याख्याता। =प्रश्न—(सम्यग्दर्शनकी जगह दर्शनविशुद्धि निर्देश क्यों किया?) उत्तर—क्योंकि, सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके बिना केवल सम्यग्दर्शन होने मात्रसे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध नहीं होता। वह विशुद्ध सम्यग्दर्शनमें (चाहे तीनोंमेंसे कोई सा भी हो) तीन मूढ़ता और आठ मदोंसे रहित होनेके कारण अपने आत्माका निज-स्वरूप प्रत्यक्ष होना चाहिए बाकीकी पन्द्रह भावनाएँ भी उसी एक दर्शनविशुद्धिमें ही शामिल हो जाती हैं, इसलिए दर्शन-विशुद्धताका व्याख्यान किया।

३. सोलह भावनाओंमें दर्शनविशुद्धिकी प्रधानता

भ.आ /मू /७४० सुद्धे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणामं। जादो दु सेणिगो आगमेसि अरुहो अविरदो वि।७४०। =शंका, कांक्षा वगैरह अतिचारोंसे रहित अविरत सम्यग्दृष्टिको भी तीर्थंकर नाम-कर्मका बंध होता है। केवल सम्यग्दर्शनकी सहायतासे ही श्रेणिक राजा भविष्यत्कालमें अर्हत हुआ।

द्र.सं/टी /३८/१५९/४ षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया पञ्चविंशति-मलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्व-भावनैव मुख्येति विज्ञेयं। =इन सोलह भावनाओंमें, परमागम भाषासे २५ दोषोंसे रहित तथा अध्यात्म भाषासे निजशुद्ध आत्मामें उपादेय रूप रुचि ऐसी सम्यक्त्वकी भावना ही मुख्य है, ऐसा जानना चाहिए।

४. एक दर्शनविशुद्धिसे ही तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कैसे सम्भव है

ध ८/३,४१/८०/१ कधं ताए एक्काए चेव तित्थयरणामकम्मस्स बंधो, सव्वसम्माइट्ठीणं तित्थयरणामकम्मबंधप्पसंगादो त्ति। वुच्चदे—ण तिमूढावोलत्तट्ठमलवदिरेगेहि चेव दंसणविसुज्झदा सुद्धणयाहिप्पा-ण होदि, किंतु पुव्विल्लगुणेहि सगसरूवमुवलद्धंसणस्स साहूणं पासुअपरिच्चागो साहूणं समाहिसंधारणं साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदा अरहंतभत्ती बहुसुदभत्ती पवयणभत्ती पवयणवच्छलदाए पवयण-पहावणे अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए पयट्टावणं विसुज्झदा णाम। तीए दंसणविसुज्झदाए एक्काए वि तित्थयरकम्मं बंधंति।

ध ८/३,४१/८६/५ अरहंतवुत्ताणुट्ठाणाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा अरहंतभत्ती णाम। ण च एसा दंसणविसुज्झदादीहि विणा संभवदि, विरोहादो। =प्रश्न—केवल उस एक दर्शनविशुद्धतासे ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध कैसे सम्भव है, क्योंकि, ऐसा माननेसे सब सम्यग्दृष्टियोंके तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका प्रसंग आवेगा? उत्तर—इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि शुद्ध नयके अभिप्रायसे तीन मूढ़ताओं और आठ मलोंसे रहित होनेपर ही दर्शनविशुद्धता नहीं होती, किन्तु पूर्वोक्त गुणोंसे (तीन मूढ़ताओं व आठ मलों रहित) अपने निज स्वरूपको प्राप्त कर स्थित, सम्यग्दर्शनके साधुओंको प्रासुक परित्याग, साधुओंकी समाधि धारणा, साधुओंकी वैयावृत्तिका संयोग, अरहन्त भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, प्रवचन वत्सलता, प्रवचन प्रभावना, और अभीक्ष्णज्ञानोपयोग युक्ततामें प्रवर्तनेका नाम विशुद्धता है। उस एक ही दर्शनविशुद्धतासे ही तीर्थंकर कर्मको बाँधते हैं। (चा सा./५२/२) अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उस अनुष्ठानके स्पर्शको अर्हत भक्ति कहते हैं। और यह दर्शनविशुद्धतादिके बिना सम्भव नहीं है।

दर्शनविशुद्धि व्रत—दर्शनविशुद्धि (उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक) तीनों सम्यग्दर्शनोंके आठ अंगोंकी अपेक्षा २४ उप होते हैं। एक उपवास एक पारणा क्रमसे २४ उपवास पूरे करे। जाप—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप, (ह. पु/३४/९९)। (व्रत विधान संग्रह/१०३) (किशनसिंह क्रिया/)

दर्शनशुद्धि— आ० चन्द्रप्रभ सूरि (ई० ११०२) द्वारा रचित सम्यक्त्व विषयक ग्रन्थ।

दर्शनसार—आ० देवसेन (ई० ९३३) द्वारा रचित प्राकृत गाथा बद्ध ग्रन्थ है। इसमें मिथ्या मतों व जैनाभासोंका सक्षिप्त वर्णन किया गया है। गाथा प्रमाण ५१ है।

दर्शनाचार—दे० आचार।

दर्शनाराधना—दे० आराधना।

दर्शनावरण—१. दर्शनावरण सामान्यका लक्षण

स सि /८/३/३७८/१० दर्शनावरणस्य का प्रकृतिः। अर्थानालोकनम्।

स सि./८/४/३८०/३ आवृणोत्यावियतेऽनेनेति वा आवरणम्। =दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति है? अर्थका आलोकन नहीं होना। जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। (रा वा /८/३/४/५६७)।

ध. १/१,१,१३१/३८१/८ अन्तरङ्गार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धक दर्शनावरणीयम्। =अन्तरंग पदार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है।

ध. ६/१,९-१,७/१०/३ एदं दंसणमावारेदि त्ति दंसणावरणीयं। जो पोग्गलक्खंधो‥ जीवसमवेदो दंसणगुणपडिबंधओ सो दंसणावरणीय-मिदि घेत्तव्वो। =जो दर्शनगुणको आवरण करता है, वह दर्शना-वरणीय कर्म है। अर्थात् जो पुद्गल स्कन्ध‥ जीवके साथ समवाय सम्बन्धको प्राप्त है और दर्शनगुणका प्रतिबन्ध करनेवाला है, वह दर्शनावरणीय कर्म है।

गो. क /जी प्र /२०/१३/१२ दर्शनमावृणोतीति दर्शनावरणीयं तस्य का प्रकृतिः। दर्शनप्रच्छादनता। किंवत्। राजद्वारप्रतिनियुक्तप्रतीहार-वत्। =दर्शनको आवरे सो दर्शनावरणीय है। याकी यह प्रकृति है

जैसे राजद्वारविषै तिष्ठता राजपाल राजाकौ देखने दे नाहीं तैसे दर्शनावरण दर्शनको आच्छादै है। (द्र. सं./टी./३३/९१/१)

२. दर्शनावरणके ९ भेद

प. ख. ६/१,९-१/सू १६/३१ णिद्दाणिद्दा पयलापयला थीणगिद्धी णिद्दा पयला य, चक्खुदंसणावरणीयं अचक्खुदंसणावरणीयं ओहिदंसणावरणीय केवलदंसणावरणीय चेदि ।१६।=निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला, तथा चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, और केवलदर्शनावरणीय ये नौ दर्शनावरणीय कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ है।१६। (प ख १३/५,५/सू. ८४/३५३) (त सू/८/७) (मू आ/१२२८) (प स/प्रा/४/४५/८) (म. ब/प्र. १/§ ५/२८/१) (त. सा/३/२५-२६ ३२१) (गो. क/जी. प्र./३३/२७/६)।

३. दर्शनावरणके असंख्यात भेद

ध. १३/४ २,१४,४/४७६/३ णाणावरणीयस्स दसणावरणीयस्स च कम्मस्स पयडीओ सहावा सत्तीओ असखेज्जलोगमेत्ता। कुदो एत्तियाओ होंति त्ति णव्वदे। आवरणिज्जणाण-दसणाणमसखेज्जलोगमेत्तभेदुवलंभादो।=चूँकि आवरणके योग्य ज्ञान व दर्शनके असख्यात लोकमात्र भेद पाये जाते है। अतएव उनके आवरक उक्त कर्मोकी प्रकृतियाँ भी उतनी ही होनी चाहिए।

४. चक्षु अचक्षु दर्शनावरणके असंख्यात भेद हैं

ध. १३/४,२,१५,४/५०१/१३ चक्खु-अचक्खुदसणावरणीयपयडीओ च पुध-पुध असखेज्जलोगमेत्ताओ होदूण।=चक्षु व अचक्षु दर्शनावरणीयकी प्रकृतियाँ पृथक् पृथक् असख्यात लोक मात्र है।

५. अवधि दर्शनावरणके असंख्यात भेद

ध. १३/४,२,१५,४/५०१/११ ओहिदंसणावरणीयपयडीओ च पुध पुध असखेज्जलोगमेत्ता होदूण।=अवधिदर्शनावरणकी प्रकृतियाँ पृथक्-पृथक् असख्यात लोकमात्र है।

६. केवलदर्शनावरणकी केवल प्रकृति है

ध. १३/४,२,१५,४/५०२/६ केवलदसणस्स एक्का पयडी अत्थि।=केवलदर्शनावरणीयकी एक प्रकृति है।

७. चक्षुरादि दर्शनावरणके लक्षण

रा. वा/८/८/१२-१६/५७३ चक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणोदयात् चक्षुरादोन्द्रियालोचनविकल ।१२। पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्युपहतेन्द्रियालोचनसामर्थ्यश्च भवति। अवधिदर्शनावरणोदयादवधिदर्शनविप्रमुक्त ।१३। केवलदर्शनावरणोदयादाविर्भूतकेवलदर्शन. ।१४। निद्रा-निद्रानिद्रोदयात्तमोमहातमोऽवस्था ।१५। प्रचला-प्रचलोदयाच्चलनातिचलनभाव ।१६। =चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरणके उदयसे आत्माके चक्षुरादि इन्द्रियजन्य आलोचन नही हो पाता। इन इन्द्रियोसे होनेवाले ज्ञानके पहिले जो सामान्यालोचन होता है उसपर इन दर्शनावरणोका असर होता है। अवधिदर्शनावरणके उदयसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनावरणके उदयसे केवलदर्शन नही हो पाता। निद्राके उदयसे तम-अवस्था और निद्रा-निद्राके उदयसे महातम अवस्था होती है। प्रचलाके उदयसे बैठे-बैठे ही घूमने लगता है, नेत्र और शरीर चलने लगते है, देखते हुए भी देख नहीं पाता। प्रचलाके उदयसे अत्यन्त ऊँघता है,

८. चक्षुरादि दर्शनावरण व निद्रादि दर्शनावरणमें अन्तर

स. सि./८/७/३८३/४ चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानामिति दर्शनावरणापेक्षया भेदनिर्देश चक्षुर्दर्शनावरण निद्रादिभिर्दर्शनावरणं सामानाधिकरण्येनाभिसंबध्यते निद्रादर्शनावरणं निद्रानिद्रादर्शनावरणमित्यादि।=चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलका दर्शनावरणकी अपेक्षा भेदनिर्देश किया है। यथा चक्षुदर्शनावरण इत्यादि। यहाँ निद्रादि पदोंके साथ दर्शनावरण पदका समानाधिकरण रूपसे सम्बन्ध होता है। यथा निद्रादर्शनावरण, निद्रानिद्रादर्शनावरण इत्यादि।

९. निद्रानिद्रा आदिमें द्वित्वकी क्या आवश्यकता

रा वा./८/७/७/५७२/२२ वीप्साभावात् असति द्वित्वे निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलेति निर्देशो नोपपद्यत इति, तन्न, किं कारणम्। कालादिभेदात् भेदोपपत्ते' वीप्सा युज्यते। अथवा मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्ण्य तस्य विवक्षाया द्वित्व भवति यथा गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्त इति।=प्रश्न—वीप्सार्थक द्वित्वका अभाव होनेसे निद्रानिद्रादि निर्देश नही बनता है? उत्तर—ऐसा नही है; क्योकि कालभेदसे द्वित्व होकर वीप्सार्थक द्वित्व बन जायेगा। अथवा अभीक्ष्ण—सततप्रवृत्ति—बार-बार प्रवृत्ति अर्थमे द्वित्व होकर निद्रा-निद्रा प्रयोग बन जाता है जैसे कि घरमे घुस-घुसकर बैठा है अर्थात बार-बार घरमें घुस जाता है यहाँ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

* दर्शनावरणका उदाहरण—दे० प्रकृति बंध/३।
* दर्शनावरण कृतियोंका घातिया, सर्व घातिया व देश घातियापना। —दे० अनुभाग/१/४।
* दर्शनावरणके बंध योग्य परिणाम—दे० ज्ञानावरण/१।
* निद्रादि प्रकृतियों सम्बन्धी—दे० निद्रा।
* निद्रा आदि प्रकृतियोंको दर्शनावरण क्यों कहते है। —दे० दर्शन/४/६।
* दर्शनावरणकी बन्ध, उदय व सत्त्व प्ररूपणा—दे० वह वह नाम।

दल—आधा करना। दे० गणित।

दवप्रदा कर्म—दे० सावद्य/२।

दशकरण—दे० करण/२।

दशपर्वी—एक ओषधि विद्या—दे० विद्या।

दशपुर—वर्तमान मन्दोर (म पु/प्र ४९ प. पन्नालाल)

दशपूर्वित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/१।

दशपूर्वी—दे० श्रुतकेवली।

दशभक्ति—१. दे० भक्ति। २. दशभक्तिकी प्रयोगविधि। —दे० कृतिकर्म/४।

दशमभक्त—चोला —दे० प्रोषधोपवास/१।

दशमलव—Decimal (ज प्र./प्र. १०७)।

दशमान—१ Decimal Place Valye Notatinon (ध ५/प्र २७), २. Scaleagten (ध. ५/प्र २७)।

दशमिनिमानीव्रत—भादो सुदी दशमीको व्रत धारण करके और फिर आदर सहित दूसरेके घर आहार करें। (यह व्रत श्वेताम्बर व

स्थानकवाली आम्नायमें प्रचलित है) (व्रतविधान संग्रह/१२६) (नवलसाहकृत वर्द्धमान पुराण)।

दशरथ—१. पंचस्तूप संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप धनलाकार वीरसेन स्वामीके शिष्य थे। समय—ई० ८००-८४३ (म पु/प्र.३१ प० पन्नालाल)—दे० इतिहास/५/१७। २ म पु/६१/२-६ पूर्वधातकीखण्ड द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें वत्स नामक देशमें सुसीमा नगरका राजा था। महारथ नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा धारण की। तत्र ग्यारह अंगोका अध्ययन कर सोलह कारणभावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें समाधिमरण पूर्वक सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ। यह धर्मनाथ भगवान्‌का पूर्वका तीसरा भव है। (दे० धर्मनाथ) ३. प पु/सर्ग/श्लोक रघुवंशी राजा अनरण्यके पुत्र थे (२२/१६२)। नारद द्वारा यह जान कि 'रावण इनको मारनेको उद्यत है (२३/२६) देशसे बाहर भ्रमण करने लगे। वह केकयीको स्वयंवरमें जीता (२४/१०४)। तथा अन्य राजाओंका विरोध करनेपर केकयीकी सहायतासे विजय प्राप्त की, तथा प्रसन्न होकर केकयीको वरदान दिया (२४/१२०)। राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न यह इनके चार पुत्र थे (२५/२२-२६)। अन्तमें केकयीके वरके फलमें रामको वनवास मागनेपर दीक्षा धारण कर ली। (२५/८०)।

दशलक्षणव्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। उत्तम—१० वर्ष तक प्रतिवर्ष तीन बार माघ, चैत्र व भाद्रपदकी शु० ५ से शु० १४ तकके दश दिन दश लक्षण धर्मके दिन कहलाते हैं। इन दश दिनोंमें उपवास करना। मध्यम—वर्षमें तीन बार दश वर्ष तक ५, ८, ११, १४ इन तिथियोंको उपवास और शेष ६ दिन एकाशन। जघन्य—वर्षमें तीन बार दश वर्ष तक दशों दिन एकाशन करना। जाप्य—ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्भूतोत्तमक्षमादिदशलक्षणैकधर्माय नम का त्रिकाल जाप्य।

दशवैकालिक—द्वादशांग ज्ञानके चौदह पूर्वोमें-से सातवां अंग बाह्य। —दे० श्रुतज्ञान/III।

दशार्ण—१ मालवाका पूर्व भाग। इस देशमें वेत्रवती (वेतवा) नदी बहती है। कुछ स्थानोंमें दशार्ण (धसान) नदी भी बहती है और अन्तमें चलकर वेत्रवतीमें जा मिलती है। विदिशा (भेलसा) इसकी राजधानी है। २ भरतक्षेत्र आर्य खण्डका एक देश —दे० मनुष्य/४

दशार्णक—भरत क्षेत्र विन्ध्याचलका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

दशोक्त—भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

दही शुद्धि—दे० भक्ष्याभक्ष्य/३

दांडीक—भरत क्षेत्र दक्षिण आर्य खण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

दांत—१. दांतका लक्षण

दे० साधु/१ उत्तम चारित्रवाले मुनियोके ये नाम हैं—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दांत और यति। पंचेन्द्रियोंके रोकनेमें लीन वह दांत कहा जाता है।

* **औदारिक शरीरमें दांतो[illegible] प्रमाण**—दे० औदारिक/२।

दाता—आहार दानके योग्य [illegible] दे० आहार/II/५।

दातृ—वस्तिकाका एक दोष —[illegible]।

दान—शुद्ध धर्मका अवकाश न होनेसे [illegible] धर्ममें दानकी प्रधानता है। वह दान दो भागोंमें विभाजित कि[illegible] सकता है—अलौकिक व लौकिक। अलौकिक दान साधुओंको [illegible] जाता है जो चार प्रकारका है—आहार, औषध, ज्ञान व अभय तथा लौकिक दान साधारण व्यक्तियोंको दिया जाता है जैसे समदत्ति, करुणादत्ति, औषधालय, स्कूल, सदाव्रत, प्याऊ आदि खुलवाना इत्यादि।

निरपेक्ष बुद्धिसे सम्यक्त्व पूर्वक सत्पात्रको दिया गया अलौकिक दान दातारको परम्परा मोक्ष प्रदान करता है। पात्र, कुपात्र व अपात्रको दिये गये दानमें भावोंकी विचित्रताके कारण फलमें बड़ी विचित्रता पड़ती है।

जीवको जानकर अर्थात् देखकर शरीरके योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए ।२३६। जो आगम-शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रोको दिये जाते है, उसे शास्त्रदान जानना चाहिए तथा जिन-वचनोका अध्यापन कराना पढाना भी शास्त्रदान है ।२३७। मरणसे भयभीत जीवोका जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सब दानोका शिखामणिरूप अभयदान जानना चाहिए ।२३८।

चा सा /४३/६ दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्य प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदान । =जिस पर अनुग्रह करना आवश्यक है ऐसे दुखी प्राणियोको दयापूर्वक मन, वचन, कायकी शुद्धतासे अभयदान देना दयादत्ति है ।

प प्र./२/१२७/२४३/१० निश्चयेन वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनपरिणामरूपमभयप्रदानं स्वकीयजीवस्य व्यवहारेण प्राणरक्षारूपमभयप्रदानं परजीवाना । =निश्चयनयकर वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन परिणाम रूप जो निज भावोका अभयदान निज जीवकी रक्षा और व्यवहार नयकर परप्राणियोके प्राणोकी रक्षारूप अभयदान यह स्वदया परदयास्वरूप अभयदान है ।

५ सात्त्विक राजसादि दानोंके लक्षण

सा.ध./५/४७ में उद्धृत—आतिथेय हित यत्र यत्र पात्रपरीक्षण । गुणा श्रद्धादयो यत्र तद्दान सात्त्विक विदु । यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रम । परप्रत्ययसभूत दान तद्राजस मतं । पात्रापात्रसमावेक्षममत्कारमसस्तुत । दासभृत्यकृतोद्योग दान तामसमूचिरे । =जिस दानमें अतिथिका कल्याण हो, जिसमें पात्रकी परीक्षा वा निरीक्षण स्वय किया गया हो और जिसमें श्रद्धादि समस्त गुण हो उसे सात्त्विक दान कहते है । जो दान केवल अपने यशके लिए किया गया हो, जो थोडे समयके लिए ही सुन्दर और चकित करने वाला हो और दूसरेसे दिलाया गया हो उसको राजस दान कहते है । जिसमें पात्र अपात्रका कुछ खयाल न किया गया हो, अतिथिका सत्कार न किया गया हो, जो निन्द्य हो, और जिसके सब उद्योग दास और सेवकोंसे कराये गये हो, ऐसे दानको तामसदान कहते है ।

६. सात्त्विकादि दानोंमें परस्पर तरतमता

सा ध /५/४७ में उद्धृत—उत्तम सात्त्विक दान मध्यम राजसं भवेत् । दानानामेव सर्वेषा जघन्य तामस पुन । =सात्त्विक दान उत्तम है, राजस मध्यम है, और सब दानोंमें तामस दान जघन्य है ।

७. तिर्यंचोंके लिए भी दान देना सम्भव है

ध.७/२,२,१६/१२३/४ कध तिरिक्खेसु दाणस्स सभवो । ण, तिरिक्खसजदासजदाण सचित्तभंजणे गहिदपच्चक्खाणं सल्लइपल्लवादि देततिरिक्खाण तदविरोधादो । =प्रश्न—तिर्यंचोमें दान देना कैसे सम्भव हो सकता है ? उत्तर—नही, क्योकि जो तिर्यंच सयतासयत जीव सचित्त भंजनके प्रत्याख्यान अर्थात् व्रतको ग्रहण कर लेते है उनके लिए सल्लकीके पत्तो आदिका दान करने वाले तिर्यंचोके दान देना मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता ।

२. क्षायिक दान निर्देश

१. क्षायिक दानका लक्षण

स. सि./२/४/१५४/४ दानान्तरायस्यात्यन्तक्षयादनन्तप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानम् । =दानान्तरायकर्मके अत्यन्त क्षयसे अनन्त प्राणियोंके समुदायका उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है । (रा वा./२/४/२/१०५/२८)

२. क्षायिक दान सम्बन्धी शंका समाधान

ध.१४/५,६,१८/१७/१ अरहंता खीणदाणंतराइया सव्वेसि जीवाणमिच्छिदत्थे किण्ण देंति । ण, तेसिं जीवाणं लाहंतराइयभावादो । =प्रश्न—अरिहन्तोके दानान्तरायका तो क्षय हो गया है, फिर वे सब जीवोको इच्छित अर्थ क्यो नही देते ? उत्तर—नही, क्योकि उन जीवोके लाभान्तराय कर्मका सद्भाव पाया जाता है ।

३. सिद्धोंमें क्षायिक दान क्या है

स सि /२/४/१५५/१ यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि तत्प्रसङ्ग , नैप दोप., शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् । तेपा तदभावे तदप्रसङ्ग । कथ तर्हि तेपा सिद्धेषु वृत्ति. । परमानन्दाव्याबाधरूपेणैव तेपा तत्र वृत्ति. । केवलज्ञानरूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत् । =प्रश्न—यदि क्षायिक दानादि भावोके निमित्तसे अभय दानादि कार्य होते है तो सिद्धोंमें भी उनका प्रसग प्राप्त होता है ? उत्तर—यह कोई दोष नही, क्योकि इन अभयदानादिके होनेमें शरीर नामकर्म और तीर्थंकर नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रहती है । परन्तु सिद्धोके शरीरनामकर्म और तीर्थंकर नामकर्म नही होते अत उनके अभयदानादि नही प्राप्त होते । प्रश्न—तो सिद्धोमे क्षायिक दानादि भावोंका सद्भाव कैसे माना जाय ? उत्तर—जिस प्रकार सिद्धोके केवलज्ञान रूपसे अनन्त वीर्यका सद्भाव माना गया है उसी प्रकार परमानन्दके अव्याबाध रूपसे ही उनका सिद्धोंके सद्भाव है ।

३. गृहस्थोंके लिए दान-धर्मकी प्रधानता

१. सद्पात्रको दान देना ही गृहस्थका धर्म है

र.सा./मू./११ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेणविणा ।...।११। =सुपात्रमे चार प्रकारका दान देना और श्री देवशास्त्र गुरुकी पूजा करना श्रावकका मुख्य धर्म है । नित्य इन दोनोको जो अपना मुख्य कर्तव्य मानकर पालन करता है वही श्रावक है, धर्मात्मा व सम्यग्दृष्टि है । (र.सा./मू /१३) (पं.वि/७/७)

प. प्र./टी /२/१११/४/२३१/१४ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्म' । =गृहस्थोंके तो आहार दानादिक ही बडे धर्म है ।

२. दान देकर खाना ही योग्य है

र.सा./मू./२२ जो मुणिभुत्तवसेस भुजइसी भुजए जिणवद्दिट्ठ । ससारसारसोक्ख कमसो णिव्वाणवरसोक्खं । =जो 'भव्य जीव मुनीश्वरोको आहारदान देनेके पश्चात् अवशेष अन्नको प्रसाद समझ कर सेवन करता है वह ससारके सारभूत उत्तम सुखोको प्राप्त होता है और क्रमसे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ।

का अ /मू /१२-१३ ·लच्छी दिज्जउ दाणे दया-पहाणेण । जा जल-तरंग-चवला दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ ।१२। जो पुण लच्छि सचदि ण य· देदि पत्तेसु । सो अप्पाण वंचदि मणुयत्त णिप्फल तस्स ।१३। =यह लक्ष्मी पानीमें उठनेवाली लहरोके समान चचल है. दो तीन दिन ठहरने वाली है तब इसे दयालु होकर दान दो ।१२। जो मनुष्य लक्ष्मीका केवल सचय करता है ··न उसे जघन्य, मध्यम अथवा उत्तम पात्रोमें दान देता है, वह अपनी आत्माको ठगता है, और उसका मनुष्य पर्यायमें जन्म लेना वृथा है ।

३. दान दिये बिना खाना योग्य नहीं

कुरल/९/२ यदि दैवाद् गृहे वासो देवस्यातिथिरूपिण. । पीयूपस्यापि पान हि तं विना नैव शोभते ।२। =जब घरमें अतिथि हो तब चाहे अमृत ही क्यो न हो, अकेले नही पीना चाहिए ।

क्रिया कोष/१६८६ जानौ गृद्ध समान ताके सुतदारादिका। जो नही करे सुदान ताके धन आमिष समा।१६८६। =जो दान नही करता है उसका धन मासके समान है, और उसे खाने वाले पुत्र स्त्री आदिक गिद्ध मण्डलीके समान हैं।

४. दान देनेसे ही जीवन व धन सफल है

का अ/मू./१४,१६-२० जो सच्चिऊण लच्छिं धरणियले सठवेदि अइदूरे। सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण-सामाणियं कुणदि।१४। जो वड्ढमाण-लच्छिं अणवरय देदि धम्म-कज्जेसु। सो पंडिएहि थुव्वदि तस्स वि सयला हवे लच्छी।१६। एव जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताणं। णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीविय सहल।२०। =जो मनुष्य लक्ष्मीका संचय करके पृथिवीके गहरे तलमें उसे गाड देता है, वह मनुष्य उस लक्ष्मीको पत्थरके समान कर देता है।१४। जो मनुष्य अपनी बढती हुई लक्ष्मीको सर्वदा धर्मके कामोंमें देता है, उसकी लक्ष्मी सदा सफल है और पण्डित जन भी उसकी प्रशंसा करते है।१६। इस प्रकार लक्ष्मीको अनित्य जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियोंको देता है और बदलेमे प्रत्युपकारकी वाछा नही करता, उसीका जीवन सफल है।२०।

५. दानको परम धर्म कहनेका कारण

पं वि/२/१३ नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जै खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि। उच्चै. फलं विदधतीह यथैकदापि प्रीत्याति शुद्धमनसा कृतपात्रदानम्।१३। =लोकमें अत्यन्त विशुद्ध मन वाले गृहस्थके द्वारा प्रीति पूर्वक पात्रके लिए एक बार भी किया गया दान जैसे उन्नत फलको करता है वैसे फलको गृहकी अनेक झझटोसे उत्पन्न हुए पाप समूहोंके द्वारा कुबडे अर्थात् शक्तिहीन किये गये गृहस्थके व्रत नहीं करते है।१३।

प्र प्र/टी/२/१११,४/२३१/१५ कस्मात् स एव परमो धर्म इति चेत्, निरन्तरविषयकषायाधीनतया आर्तरौद्रध्यानरताना निश्चयरत्नत्रयलक्षणस्य शुद्धोपयोगपरमधर्मस्यावकाशो नास्तीति। =प्रश्न—श्रावकोंका दानादिक ही परम धर्म कैसे है? उत्तर—वह ऐसे है, कि ये गृहस्थ लोग हमेशा विषय कषायके अधीन है, इससे इनके आर्त, रौद्र ध्यान उत्पन्न होते रहते है, इस कारण निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परमधर्मका तो इनके ठिकाना ही नही है। अर्थात् अवकाश ही नही है।

४. दानका महत्त्व व फल

१. पात्र दान सामान्यका महत्त्व

र सा/१६-२१ दिण्णइ सुपत्तदाण विससतो होइ भोगसग्ग मही। णिव्वाणसुह कमसो णिद्दिट्ठ जिणवरिंदेहिं।१६। खेत्तविसमे काले ववियं सुवीय फलं जहा विउलं। होइ तहा त जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफल।१७। इह णियसुवित्तवीय जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु। सो तिहुवणरज्जफलं भुजदि कल्लाणपंचफल।१८। मादुपिदु पुत्तमित्तं कलत्त-धणधण्णवत्थु वाहणविसयं। ससारसारसोक्खं जाणउ सुपत्तदाणफल।१९। सत्तगरज्ज णवणिहिभंडार सडंगवलचउद्दहरयणं। छण्णवदिसहसिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं।२०। सुकलसुरूवसुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुसील सुगुण चारित्त। सुहलेस सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफल।२१। =सुपात्रको दान प्रदान करनेसे भोगभूमि तथा स्वर्गके सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है। और अनुक्रमसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है।१६। जो मनुष्य उत्तम खेतमें अच्छे बीजको बोता है तो उसका फल मनवांछित पूर्ण रूपसे प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्तम पात्रमें विधिपूर्वक दान देनेसे सर्वोत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति होती है।१७। जो भव्यात्मा अपने द्रव्यको सात क्षेत्रोंमें विभाजित करता है वह पंचकल्याणकसे सुशोभित त्रिभुवनके राज्यसुखको प्राप्त होता है।१८। माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि कुटुम्ब परिवारका सुख और धन-धान्य, वस्त्र-अलंकार, हाथी, रथ, महल तथा महाविभूति आदिका सुख एक सुपात्र दानका फल है।१९। सात प्रकार राज्यके अग, नवविधि, चौदह रत्न, माल खजाना, गाय, हाथी, घोडे, सात प्रकार की सेना, पट्खण्डका राज्य और छयानवे हजार रानी ये सर्व सुपात्र दानका ही फल है।२०। उत्तम कुल, सुन्दर स्वरूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षा, उत्तमशील, उत्तम उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक्चारित्र, उत्तम शुभ लेश्या, शुभ नाम और समस्त प्रकारके भोगोपभोगकी सामग्री आदि सर्व सुखके साधन सुपात्र दानके फलसे प्राप्त होते है।२१।

र क. श्रा/मू/११५-११६ उच्चैर्गोत्र प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा। भक्तेः सुन्दररूप स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिपु।११५। क्षितिगतमिव वटवीज पात्रगतं दानमल्पमपि काले। फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृतां।११६। =तपस्वी मुनियोको नमस्कार करनेसे उच्चगोत्र, दान देनेसे भोग, उपासना करनेसे प्रतिष्ठा, भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तवन करनेसे कीर्ति होती है।११५। जीवोको पात्रमें गया हुआ थोडा-सा भी दान समयपर पृथ्वीमें प्राप्त हुए वट बीजके छाया विभव वाले वृक्षकी तरह मनोवांछित बहुत फलको फलता है।११६। (प वि/२/८-११)

पु.सि.उ/१७४ कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्याग। अरतिविषादविमुक्त. शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव।१७४। =इस अतिथि सविभाग व्रतमे द्रव्य अहिंसा तो परजीवोका दु ख दूर करनेके निमित्त प्रत्यक्ष ही है, रही भावित अहिंसा वह भी लोभ कषायके त्यागकी अपेक्षा समझनी चाहिए।

पं वि/२/१५-४४ प्रायः कुतो गृहगते परमात्मवोध शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः। दानात्पुनर्ननु चतुर्विधत करस्था सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषगात्।१५। किं ते गुणा किमिह तत्सुखमस्ति लोके सा किं विभूतिरथ या न वश प्रयाति। दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्रा।१६। सौभाग्यशौर्यसुखरूपविवेक्तिताद्या विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म। सपद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात् तस्मात् किमत्र सतत क्रियते न यत्न।४४। =जगत्मे जिस आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शुद्ध आत्माके पुरुपार्थकी सिद्धि होती है, वह आत्मज्ञान गृहमें स्थित मनुष्योंके प्रायः कहाँसे होती है? अर्थात् नहीं हो सकती? किन्तु वह पुरुपार्थकी सिद्धि पात्र जनोमें किये गये चार प्रकारके दानसे अनायास ही हस्तगत हो जाती है।१५। यदि मनुष्यके पास तीनों लोकोंको वशीभूत करनेके लिए अद्वितीय वशीकरण मन्त्रके समान दान एवं व्रतादिसे उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौनसे गुण हैं जो उसके वशमें न हो सकें, तथा वह कौन-सी विभूति है जो उसके अधीन न हो अर्थात् धर्मात्मा मनुष्यके लिए सब प्रकारके गुण, उत्तम सुख और अनुपम विभूति भी स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं।१६। सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, सुन्दरता, विवेक, बुद्धि, आदि विद्या, शरीर, धन, और महल तथा उत्तम कुलमें जन्म होना यह सब निश्चयसे पात्रदानके द्वारा ही प्राप्त होता है। फिर हे भव्य जन। तुम इस पात्रदानके विषयमें क्यो नहीं यत्न करते हो।४४।

२. आहार दानका महत्त्व

र क श्रा/मू/११४ गृहकर्माणि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्ताना। अतिथीना प्रतिपूजा रुधिरमल धावते वारि।११४। =जैसे जल निश्चय करके रुधिरको धो देता है, तैसें ही गृहरहित अतिथियोका प्रतिपूजन करना अर्थात् नवधाभक्ति-पूर्वक आहारदान

करना भी निश्चय करके गृहकार्योंसे संचित हुए पापको नष्ट करता है ।१४। (पं.वि./७/१३)

कुरल./५/८ अतिथ्यर्चनं यस्य विना दानं न भोजनम् । कृषिस्तस्य निर्बीजो वप्रो नैव कदाचन ।८।

कुरल/३३/२ इदं हि धर्मसर्वस्वं शास्तृणां वचने द्वयम् । क्षुधार्तेन समं भुक्तिः प्राणिनां चैव रक्षणम् ।२। = जो बुराईसे डरता है और भोजन करनेसे पहले दूसरोंको दान देता है, उसका वंश कभी निर्बीज नहीं होता ।८। क्षुधाबाधितोंके साथ अपनी रोटी बाँटकर खाना और हिंसासे दूर रहना, यह सब धर्म उपदेष्टाओंके समस्त उपदेशोंमें श्रेष्ठतम उपदेश है ।२। (प.वि./६/३१)

पं.वि./७/८ सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटं । दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् । तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ।८। = सब प्राणी सुखकी इच्छा करते हैं, वह सुख स्पष्टतया मोक्षमें ही है, वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि स्वरूप रत्नत्रयके होनेपर ही सिद्ध होता है, वह रत्नत्रय साधुके होता है, उस साधुकी स्थिति शरीरके निमित्तसे होती है, उस शरीरकी स्थिति भोजनके निमित्तसे होती है, और वह भोजन श्रावकोंके द्वारा दिया जाता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त कालमें भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकोंके निमित्तसे ही हो रही है ।८।

का.अ./मू./३६३-३६४ भोयण दाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि । भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीणं ।३६३। भोयण-बलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्तिदिवसं पि । भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ।३६४। = भोजन दान देनेपर तीनों दान दिये होते हैं। क्योंकि प्राणियोंको भूख और प्यास रूपी व्याधि प्रतिदिन होती है। भोजनके बलसे ही साधु रात दिन शास्त्रका अभ्यास करता है और भोजन दान देनेपर प्राणोंकी भी रक्षा होती है ।३६३-३६४। भावार्थ—आहार दान देनेसे विद्या, धर्म, तप, ज्ञान, मोक्ष सभी नियमसे दिया हुआ समझना चाहिए।

अमि.श्रा./११/२५,३० केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखत: सुखम् । आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ।२५। बहुनात्र किमुक्तेन विना सर्ववेदिना । फलं नाहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ।३१। = केवलज्ञानतें दूजा उत्तम ज्ञान नहीं, और मोक्ष सुखतें और दूजा सुख नहीं और आहारदानतें और दूजा उत्तम दान नाहीं ।२५। जो किछु वस्तु तीन लोकविषै सुन्दर देखिये है सो सर्व वस्तु अन्नदान करता जो पुरुष ताकरि लीलामात्र करि शीघ्र पाइये है। (अमि.श्रा./११/१८-२१)।

सा.ध./पृ. २६१ पर फुट नोट—आहाराद्भोगवान् भवेत् । = आहार दानसे भोगोपभोग मिलता है।

३. औषध व ज्ञान दानका महत्त्व

अमि.श्रा./११/३७-४० आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः । किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मनः ।३७। निधानमेष कान्तीनां कीर्तीनां कुलमन्दिरम् । लावण्यानां नदीनाथो भैषज्यं येन दीयते ।३८। लभते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम् । अपरज्ञानलाभेषु दीयते तस्य कीदृशी ।३९। शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् । वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्याताशिक्षः प्रजायते ।४०। = जाकै जन्म तैं लगाय शरीरको ताप उपजावनेवाला रोग न होय है तिस सिद्धसमान महात्माका सुख कहिये। भावार्थ—इहाँ सिद्ध समान कह्या सो जैसे सिद्धनिकै रोग नाहीं तैसे याकै भी रोग नाहीं, ऐसी समानता देखी उपमा दीनि है ।३७। जो पुरुषकरि औषधु दीजिये है सो यहु पुरुष कान्ति कहिये दीप्तिनिका तौ भण्डार होय है, और कीर्तिनिका कुल मन्दिर होय है जामैं यशकीर्ति सदा बसै है, बहुरि सुन्दरतानिका समुद्र होय है ऐसा जानना ।३८। जिस शास्त्रदान करि पवित्र मुनि दीजिये है तातैं संसारकी लक्ष्मी देते कहा श्रम है ।३९। शास्त्रका देनेवाला पुरुष सतनिके पूजनीक होय है और पंडितनिके सेवनीक होय है, वादीनिके जीतनेवाला होय है, सभाको रंजायमान करनेवाला वक्ता होय है, नवीन ग्रन्थ रचनेवाला कवि होय है और मानने योग्य होय है और विख्यात है शिक्षा जाकी ऐसा होय है ।४०।

पं.वि./७/९-१० स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते । साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते । कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ।९। व्याख्याता पुस्तकदानमुन्नतधिया पाठाय भव्यात्मनां । भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः । सिद्धेऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सवश्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजो जनाः ।१०। = शरीर इच्छानुसार भोजन, गमन और सम्भाषणसे नीरोग रहता है। परन्तु इस प्रकारकी इच्छानुसार प्रवृत्ति साधुओंके सम्भव नहीं है। इसलिए उनका शरीर प्रायः अस्वस्थ हो जाता है। ऐसी अवस्थामें चूँकि श्रावक उस शरीरको औषध पथ्य भोजन और जलके द्वारा व्रतपरिपालनके योग्य करता है अतएव यहाँ उन मुनियोंका धर्म उत्तम श्रावकके निमित्तसे ही चलता है ।९। उन्नत बुद्धिके धारक भव्य जीवोंको जो भक्तिसे पुस्तकका दान किया जाता है अथवा उनके लिए तत्त्वका व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वज्जन श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते हैं। इस ज्ञानदानके सिद्ध हो जानेपर कुछ थोड़ेसे ही भवोंमें मनुष्य उस केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है। तथा जिसके प्रगट होनेपर तीनों लोकोंके प्राणी उत्सवकी शोभा करते हैं ।१०।

सा.ध./पृ.२६१ पर फुट नोट...। आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्यात् श्रुतकेवली । = औषध दानसे आरोग्य मिलता है तथा शास्त्रदान अर्थात् (विद्यादान) देनेसे श्रुतकेवली होता है।

४. अभयदानका महत्त्व

मू.आ./९३९ मरण भयभीरु आणं अभयं जो देदि सव्वजीवाणं । तं दाणाणवि तं दाणं पुण जोगेसु मूलजोगं पि ।९३९। = मरणभयसे भययुक्त सब जीवोंको जो अभय दान है वही दान सब दानोंमें उत्तम है और वह दान सब आचरणोंमें प्रधान आचरण है ।९३९।

ज्ञा./८/५४ किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना । वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम् ।५४। = जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिका आश्रय देकर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहीं किया और कौनसा दान नहीं दिया। अर्थात् उस महापुरुषने समस्त तप, दान किया। क्योंकि अभयदानमें सब तप, दान आ जाते हैं।

अमि.श्रा./१३ शरीरं ध्रियते येन शममेव महाव्रतम् । कस्तस्याभयदानस्य फलं शक्नोति भाषितुम् ।१३। = जिस अभयदान करि जीवनिका शरीर पोषिए है जैसे समभावकरि महाव्रत पोषिए तैसें सो, तिस अभयदानके फल कहनेको कौन समर्थ है ।१३।

प.वि./७/११ सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां, दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् । आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ।११। = दयालुपुरुषोंके द्वारा जो सब प्राणियोंको अभयदान दिया जाता है, वह अभयदान कहलाता है उससे रहित तीन प्रकारका दान व्यर्थ होता है। चूँकि आहार, औषध और शास्त्रके दानकी विधिसे क्रमसे क्षुधा, रोग और अज्ञानताका भय ही नष्ट होता है अतएव वह एक अभयदान ही श्रेष्ठ है ।११। भावार्थ—अभयदानका अर्थ प्राणियोंके सर्व प्रकारके भय दूर करना है, अतः आहारादि दान अभयदानके ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

५. सत्पात्रको देना सम्यग्दृष्टिको मोक्षका कारण है

अमि.श्रा./११/१०२,१२३ पात्राय विधिना दत्त्वा दानं मृत्वा समाधिना। अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः ।१०२। निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणीं प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम्। प्रदह्यते ध्यानकृशानुनाखिलं श्रयन्ति सिद्धिं विधुतापदं सदा ।१२३। =पात्रके अर्थि दान देकरि समाधि सहित मरकैं सम्यग्दृष्टि जीव है ते अच्युतपर्यंत स्वर्गनिविषै उपजै है ।१०२। (अमि. श्रा./१०२) या प्रकार सुखकी करनेवाली महान् लक्ष्मी कौ भोगके दोय तीन भवनिविषै समस्त कर्मनिकौ ध्यान अग्निकरि जरायके ते जीव आपदारहित मोक्ष अवस्थाकौ सदा सेवै है ।१२३। (प प्र./टी./२/१११-४/२३१/१६)।

वसु /श्रा./२४६-२६६ बद्धाउगा सुदिट्ठी अणुमोयणेण तिरिया वि। णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु।२४६। जे पुण सम्माइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स। जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा ।२६५। पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं संजमं च चित्तूण। उप्पाइऊण णाणं केई गच्छंति णिव्वाणं ।२६८। अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण। सत्तट्ठमवेहि तओ तरंति कम्मक्खयं णियमा ।२६९। =बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने मिथ्यात्व अवस्थामें पहिले मनुष्यायुको बाँध लिया है, और पीछे सम्यग्दर्शन उत्पन्न किया है, ऐसे मनुष्य पात्रदान देनेसे और उक्त प्रकारके ही तिर्यंच पात्र दानकी अनुमोदना करनेसे नियमसे वे उत्तम भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते है ।२४६। जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव हैं, वे तीनों प्रकारके पात्रोको दान देनेके फलसे स्वर्गोंमें महर्द्धिक देव होते है ।२६५। (उक्त प्रकारके सभी जीव मनुष्योंमें आकर चक्रवर्ती आदि होते हैं।) तब कोई वैराग्यका कारण देखकर प्रतिबुद्ध हो, राज्यलक्ष्मीको छोडकर और सयमको ग्रहण कर कितने ही केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त होते है। और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्वको पुन' पुन प्राप्त कर सात आठ भवमें नियमसे कर्मक्षयको करते है (२६८-२६९)।

६. सत्पात्र दान मिथ्यादृष्टिको सुभोगभूमिका कारण है

म.पु /९/८५ दानाद् दानानुमोदाद्वा यत्र पात्रसमाश्रितात्। प्राणिन' सुखमेधन्ते यावज्जीवमनामया' ।८५। =उत्तम पात्रके लिए दान देने अथवा उनके लिए दिये हुए दानकी अनुमोदनासे जीव जिस भोगभूमिमें उत्पन्न होते है उसमें जीवन पर्यन्त नीरोग रहकर सुखसे बढते रहते है ।८५।

अमि. श्रा /६२ पात्रेभ्यो य' प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टि' प्रयच्छति। स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदय' ॥६२॥ =जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्रनिके अर्थि दान देय है सो महान् है उदय जाका ऐसा उत्कृष्ट भोग भूमि कौ जाय है। (वसु श्रा /२४५)

वसु. श्रा./२४६-२४७ जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि। सो मज्झिमासु जीवो उप्पज्जइ भोयभूमीसु ॥२४६॥ जो पुण जहण्णपत्तम्मि देइ दाण तहाविहो विणरो। जायइ फलेण जहण्णसु भोयभूमीसु सो जीवो ॥२४७॥ =अर जो मिथ्यादृष्टि भी पुरुष मध्यमपात्रमें दान देता है वह जीव मध्यम भोगभूमिमें उत्पन्न होता है ॥२४६॥ और जो जीव तथाविध अर्थात् उक्त प्रकारका मिथ्यादृष्टि भी मनुष्य जघन्य पात्रमें दानको देता है, वह जीव उस दानके फलसे जघन्य भोग भूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥२४७॥

७. कुपात्र दान कुभोग भूमिका कारण है

प्र. सा /मू./२५६ छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो। ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ =जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओमें (देव, गुरु धर्मादिकमें) व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह मोक्षको प्राप्त नही होता, (किन्तु) सातात्मक भावको प्राप्त होता है ॥२५६॥

ह. पु./७/११५ कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिषु। संभुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा ॥११५॥ =कुपात्र दानके प्रभावसे मनुष्य, भोगभूमियोंमें तिर्यञ्च होते है अथवा कुमानुष कुलोंमें उत्पन्न होकर अन्तर द्वीपोंका उपभोग करते है ॥११५॥

अमि.श्रा./८४-८८ कुपात्रदानतो याति कुत्सिता भोगमेदिनीम्। उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ।८४॥ येऽन्तरद्वीपजा' सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजा। कुपात्रदानत: सर्वे ते भवन्ति यथायथम् ॥८५॥ वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यञ्च सन्ति भूमिषु। कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुञ्जते तेऽखिला फलम् ॥८६॥ दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये। कुपात्रदानतो भोगस्तेषा भोगवतां स्फुटम् ॥८७॥ दृश्यन्ते नीचजातीना ये भोगा भोगिनामिह। सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदया' ॥८८॥ =कुपात्रके दानतै जीव कुभोगभूमिकौं प्राप्त होय है, इहा दृष्टांत कहै है—खोटा क्षेत्रविषै बीज बोये सते सुक्षेत्रके फलकौं कौन प्राप्त होय, अपितु कोई न होय है ॥८४॥ (वसु. श्रा./२४८)। जे अन्तरद्वीप लवण समुद्रविषै वा कालोद समुद्र विषै छ्यानवैं कुभोग भूमिके टापू परे है, तिनविषै उपजे मनुष्य है अर म्लेच्छ खण्ड विषैं उपजै मनुष्य है ते सर्व कुपात्र दानतैं यथायोग होय है ॥८५॥ उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग भूमिन विषै जे तिर्यंच हैं ते सर्व कुपात्र दान रूप वृक्षतै उपज्या जो फल ताहि खाय है ॥८६॥ इहा आर्य खण्डमे जो दासी, दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ता आदि भोगवत जीव है तिनको जो भोग सो प्रगटपने कुपात्र दानतै है, ऐसा जानना ॥८७॥ इहा आर्य खण्ड विषै नीच जातिके भोगी जीवनिके जे भोग महाउदय रूप देखिये है ते सर्व कुपात्र दान करि दीजिये है ॥८८॥

८. अपात्र दानका फल अत्यन्त अनिष्ट है

प्र. सा./मू./२५७ अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु। जुट्ठं कदं व दत्त फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥२५७॥ =जिन्होंने परमार्थको नही जाना है, और जो विषय कषायमें अधिक हैं, ऐसे पुरुषोंके प्रति सेवा, उपकार या दान कुदेवरूपमें और कुमानुष रूपमें फलता है ॥२५७॥

ह पु /७/११८ अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं कोद्रवे मदकृद् यथा। विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा ॥११८॥ =जिस प्रकार नीमके वृक्षमें पडा हुआ पानी कडुवा हो जाता है, कोदोमें दिया पानी मदकारक हो जाता है, और सर्पके मुखमें पडा दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार अपात्रके लिये दिया हुआ दान विपरीत फलको करनेवाला हो जाता है ॥११८॥ (अमि. श्रा /८६-८९) (वसु श्रा /२४३)।

वसु. श्रा /२४२ जह उसरम्मि खित्ते पइण्णबीयं ण किं पि रुहेइ। फलवज्जियं वियाणइ अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४२॥ =जिस प्रकार ऊसर खेतमें बोया गया बीज कुछ भी नही उगता है, उसी प्रकार अपात्रमें दिया गया दान भी फल रहित जानना चाहिए ।२४२।

९. विधि, द्रव्य, दाता व पात्रके कारण दानके फलमें विशेषता आ जाती है

त सू./७/३९ विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष' ॥३९॥ =विधि, देयवस्तु, दाता और पात्रकी विशेषतासे दानकी विशेषता है ॥३९॥

कुरल./९/७ आतिथ्यपूर्णमाहात्म्यवर्णने न क्षमा वयम्। दातृपात्रविधिद्रव्यैस्तस्मिन्नस्ति विशेषता ।७। =हम किसी अतिथि सेवाके माहात्म्यका वर्णन नहीं कर सकते कि उसमें कितना पुण्य है। अतिथि सत्कार महत्त्व तो अतिथिकी योग्यता पर निर्भर है।

प्र. सा /मू /२५५ रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं। णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ =जैसे इस जगत्में

अनेक प्रकारकी भूमियोंमें पडे हुए बीज धान्य कालमें विपरीततया फलित होते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु भेदसे (पात्र भेदसे) विपरीततया फलता है ॥२५५॥

स. सि /७/३९/३७३/५ प्रतिग्रहादिक्रमो विधि'। प्रतिग्रहादिष्वादरानादरकृतो भेद । तप स्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष'। अनसूयाविषादादिर्दातृविशेष । मोक्षकारणगुणसंयोग पात्रविशेष । ततश्च पुण्यफलविशेष क्षित्यादिविशेषाद् बीजफलविशेषवत्। =प्रतिग्रह आदि करनेका जो क्रम है वह विधि है।…प्रतिग्रह आदिमें आदर और अनादर होनेसे जो भेद होता है वह विधि विशेष है। जिससे तप और स्वाध्याय आदिकी वृद्धि होती है वह द्रव्य विशेष है। अनसूया और विषाद आदिका न होना दाताकी विशेषता है। तथा मोक्षके कारणभूत गुणोसे युक्त रहना पात्रकी विशेषता है। जैसे पृथिवी आदिमें विशेषता होनेसे उससे उत्पन्न हुए बीजमे विशेषता आ जाती है वैसे ही विधि आदिक की विशेषतासे दानसे प्राप्त होनेवाले पुण्य फलमें विशेषता आ जाती है। (रा वा./७/३९/१-६/५५६) (अमि श्रा /१०/५०) (वसु. श्रा./२४०-२४१)।

१०. दानके प्रकृष्ट फलका कारण

र. क. श्रा./११६ नन्वेवंविध विशिष्टं फलं स्वल्पं दानं कथं सपादयतीत्याशङ्काऽपनोदार्थमाह —क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले। फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृता ॥११६॥ =प्रश्न—स्वल्प मात्र दानतै इतना विशिष्ट फल कैसे हो सकता है? उत्तर—जीवोंको पात्रमें गया हुआ अर्थात मुनि अर्जिका आदिके लिए दिया हुआ थोडा-सा भी दान समय पर पृथ्वीमे प्राप्त हुए वट बीजके छाया विभववाले वृक्षकी तरह मनोवाछित फलको फलता है ॥११६॥ (वसु. श्रा /२४०) (चा. सा /२६/१)।

पं. वि./२/३८ पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना लक्ष्मीरत' कुरुत सततपात्रदानम्। कूपे न पश्यत जल गृहिण समन्तादाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम् ॥३८॥ =सम्पत्ति पुण्यके क्षयसे क्षयको प्राप्त होती है. न कि दान करनेमे। अतएव हे श्रावको! आप निरन्तर पात्र दान करें। क्या आप यह नही देखते कि कुएँसे सब ओरसे निकाला जानेवाला भी जल नित्य बढता ही रहता है।

५. विधि द्रव्य दातृ पात्र आदि निर्देश

१. दान योग्य द्रव्य

र सा./२३-२४ सीदुण्ह वाउविउलं सिलेसियं तह परीसमव्वाहिं। कायकिलेसुव्वास जाणिज्जे दिण्णए दाण ॥२३॥ हियमियमण्णपाण णिरवज्जोसहिणिराउल ठाण। सयणासणमुवयरण जाणिज्जा देइ मोक्खरवो ॥२४॥ =मुनिराजकी प्रकृति, शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म या पित्त रूपमें-से कौन-सी है। कायोत्सर्ग वा गमनागमनसे कितना परिश्रम हुआ है, शरीरमें ज्वरादि पीडा तो नही है। उपवाससे कण्ठ शुष्क तो नही है इत्यादि बातोका विचार करके उसके उपचार स्वरूप दान देना चाहिए ॥२३॥ हित-मित प्रासुक शुद्ध अन्न, पान, निर्दोष हितकारी ओषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओको आवश्यक्ताके अनुसार सुपात्रमें देता है वह मोक्षमार्गमें अग्रगामी होता है ॥२४॥

पु. सि उ /१७० रागद्वेषासंयममददु खभयादिक न यत्कुरुते। द्रव्य तदेवं देय सुतप स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥ =दान देने योग्य पदार्थ-जिन वस्तुओके देनेसे राग द्वेष, मान, दु'ख, भय, आदिक पापोकी उत्पत्ति होती है, वह देने योग्य नहीं। जिन वस्तुओके देनेसे तपश्चरण, पठन, पाठन स्वाध्यायादि कार्योंमें वृद्धि होती है, वही देने योग्य हैं ॥१७०॥ (अमि श्रा./९/४४) (सा. ध./२/४५)।

चा. सा /२९/३ दीयमानेऽन्नादौ प्रतिगृहीतुस्तप'स्वाध्यायपरिवृद्धिकरणत्वाद्द्रव्यविशेष। =भिक्षामे जो अन्न दिया जाता है वह यदि आहार लेनेवाले साधुके तपश्चरण स्वाध्याय आदिको बढानेवाला हो तो वही द्रव्यकी विशेषता कहलाती है।

२. दान प्रति उपकारकी भावनासे निरपेक्ष देना चाहिए

का. अ /२० एवं जो जाणित्ता विहलिय-लोयाण धम्मजुत्ताणं। णिरवेक्खो तं देदि हु तस्स हवे जीविय सहलं ॥२०॥ =इस प्रकार लक्ष्मीको अनित्य जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियोको देता है और उसके बदलेमें उससे प्रत्युपकारकी वाञ्छा नही करता, उसीका जीवन सफल है ॥२०॥

३. गाय आदिका दान योग्य नहीं

पं. वि./२/५० नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥५०॥ =आहारादि चतुर्विध दानसे अतिरिक्त गाय, सुवर्ण, पृथिवी रथ और स्त्री आदिके दान, महान् फलको देनेवाले नही है ॥५०॥

सा ध /५/५३ हिसार्थत्वान्न भूगेह-लोहगोऽश्वादिनैष्ठिक। न दद्याद् ग्रहसक्रान्ति-श्राद्धादौ वा सुदृग्द्रुहि ॥५३॥ =नैष्ठिक श्रावक प्राणियोंकी हिंसाके निमित्त होनेसे भूमि, शस्त्र, गौ बैल, घोडा वगैरह है आदिमे जिनके ऐसे कन्या, सुवर्ण, और अन्न आदि पदार्थोंको दान नही देवे। (सा. ध /६/४६-५६)।

४. मिथ्यादृष्टिको दान देनेका निषेध

द. पा /टी /२/३/१ दर्शनहीन · तस्यान्नदानादिकमपि न देय। उक्तं च—मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धक'। =मिथ्यादृष्टिको अन्नादिक दान भी नही देना चाहिए। कहा भी है—मिथ्यादृष्टिको दिया गया दान दाताको मिथ्यात्वका बढानेवाला हे।

अमि० श्रा०/५० तद्यो नाष्टपदं यस्य दीयते हितकाम्यया। स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशान्तये।५०। =जैसे कोऊ जीवनेके अर्थ काहूकौ अष्टापद हिसक जीवकौ देय ता ताका मरन ही होय है तैसै धर्मके अर्थ मिथ्यादृष्टीनकौ दिया जो सुवर्ण तातै हिसादिक होने तैं परके वा आपके पाप ही होय है ऐसा जानना।५०।

सा ध./२/६४/१४९ फुट नोट—मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु। दोषायैव भवेद्दान पय पानमिवाहिषु। =चारित्राभासको धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोको दान देना सर्पको दूध पिलानेके समान केवल अशुभके लिए ही होता है।

६. कुपात्र व अपात्रको करुणा बुद्धिसे दान दिया जाता है

पं ध /उ /७३० कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्। पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्ध न कृपाधिया।७३०। कुपात्रके लिए और अपात्रके लिए भी यथायोग्य दान देना चाहिए क्योकि कुपात्र तथा अपात्रके लिए केवल पात्र बुद्धिसे दान देना निषिद्ध है, करुणा बुद्धि से दान देना निषिद्ध नही है।७३०। (ला स /३/१६१) (ला सं./६/२२५)।

७. दुखित भुखितको भी करुणाबुद्धिसे दान दिया जाता है

पं ध उ/७३१ शेषेभ्य क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्। दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्य करुणार्णवे।७३१। =दयालु श्रावकोको अशुभ कर्मके उदयसे क्षुधा, तृषा, आदिसे दुखी शेष दीन प्राणियोके लिए भी अभय दानादिक देना चाहिए।७३१। (ला स /३/१६२)।

५. ग्रहण व संक्रान्ति आदिके कारण दान देना योग्य नहीं

अमि. श्रा./६०-६१ य संक्रान्तौ ग्रहणे वारे वित्त ददाति मूढमति'। सम्यक्त्ववनं छित्त्वा मिथ्यात्ववन वपत्येष ।६०। ये ददते मृततृप्त्यै बहुधादानानि नूनमस्तधिय । पल्लवयितुं तरु ते भस्मीभूतं निषिञ्चन्ति ।६१। =जो मूढबुद्धि पुरुष सक्रान्तिविषैं आदित्यवारादि (ग्रहण) वार विषै धनको देय है सो सम्यक्त्व वनको छेदिके मिथ्यात्व वनको बोवै है ।६०। जे निर्बुद्धि पुरुष मरे जीवकी तृप्तिके अर्थ बहुत प्रकार दान देय है ते निश्चयकरि अग्निकरि भस्मरूप वृक्षकौ पत्र सहित करनेकौं सींचे है ।६१।

सा. ध /५/५३ हिंसार्थत्वान्न भूगेह-लोहगोऽश्वादिर्नैष्ठिक । न दद्याद् ग्रहसक्रान्ति-श्राद्धादौ वा सुदृग्द्रुहि ।५३। =नैष्ठिक श्रावक प्राणियोंकी हिंसामें निमित्त होनेसे भूमि आदि को दान नही देवे। और जिनको पर्व माननेमे सम्यक्त्वका घात होता है ऐसे ग्रहण, सक्रान्ति, तथा श्राद्ध वगैरहमें अपने द्रव्यका दान नही देवे ।५३।

६. दानार्थ धन संग्रहका विधि निषेध

१. दानके लिए धनकी इच्छा अज्ञान है

इ उ./मू /१६ त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्त संचिनोति य । स्वशरीर स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ।१६। =जो निर्धन मनुष्य पात्रदान, देवपूजा आदि प्रशस्त कार्योंके लिए अपूर्व पुण्य प्राप्ति और पाप विनाशकी आशासे सेवा, कृषि और वाणिज्य आदि कार्योंके द्वारा धन उपार्जन करता है वह मनुष्य अपने निर्मल शरीरमें नहा लूँगा' इस आशासे कीचड लपेटता है ।१६।

२ दान देनेकी अपेक्षा धनका ग्रहण ही न करे

आ. अनु./१०२ अधिम्प्रस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान् पाप तामवितर्पिणी विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान् । प्रागेव कुशला विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत् एते ते विदितोत्तरोत्तरवरा' सर्वोत्तमास्त्यागिन' ।१०२। =कोई विद्वान् मनुष्य विषयोको तृणके समान तुच्छ समझकर लक्ष्मी लक्ष्मीको याचकोके लिए दे देता है, कोई पाप रूप समझकर किसीको विना दिये ही त्याग देता है। सर्वोत्तम वह है जो पहिलेसे ही अकल्याणकारी जानकर ग्रहण नही करता ।१०२।

३. दानार्थ धन सग्रहकी कथचित् इष्टता

कुरल./२३/६ आर्तक्षुधाविनाशाय नियमोऽय शुभावह । कर्तव्यो धनिभिर्नित्यमालये वित्तसग्रह' ।६। =गरीबोके पेटकी ज्वालाको शान्त करनेका यही एक मार्ग है कि जिससे श्रीमानोको अपने पास विशेष करके धन सग्रह कर रखना चाहिए ।६।

४. आयका वर्गीकरण

पं. वि /२/३२ ग्रासस्तदर्धमपि देयमथार्धमेव तस्यापि सततमणुव्रतिना यथर्द्धि । इच्छानुरूपमिह कस्य कदात्र लोके द्रव्य भविष्यति सदुत्तमदानहेतु' ।३२। =अणुव्रती श्रावकको निरन्तर अपनी सम्पत्तिके अनुसार एक ग्रास, आधा ग्रास उसके भी आधे भाग अर्थात चतुर्थांशको भी देना चाहिए। कारण यह है कि यहाँ लोकमें इच्छानुसार द्रव्य किसके किस समय होगा जो कि उत्तम दानको दे सके, यह कुछ नहीं कहा जा सकता ।३२।

सा. ध /१/११/२२ पर फुट नोट—पादमायान्निधि कुर्यात्पाद वित्ताय खट्वयेत् । धर्मोपभोगयो' पाद पाद भर्तव्यपोषणे । अथवा—आयार्द्ध च नियुञ्जीत धर्मे समाधिक तत । शेषेण शेष कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिक । =गृहस्थ अपने कमाये हुए धनके चार भाग करे, उसमेंसे एक भाग तो जमा रखे, दूसरे भागसे बर्तन वस्त्रादि घरकी चीजें खरीदे, तीसरे भागसे धर्मकार्य और अपने भोग उपभोगमें खर्च करे और चौथे भागसे अपने कुटुम्बका पालन करे। अथवा अपने कमाये हुए धनका आधा अथवा कुछ अधिक धर्मकार्यमें खर्च करे और बचे' हुए द्रव्यसे यत्नपूर्वक कुटुम्ब आदिका पालन पोषण करे।

दानकथा—कवि भारामल (ई० १७५६) द्वारा हिन्दी भाषामे रचित कथा।

दानांतराय कर्म—दे० अन्तराय/१।

दामनन्दि—नन्दि सघके देशीयगण—दे० इतिहास/५/१४ के अनुसार आप रविचन्द्रके शिष्य और वीरनन्दिके गुरु थे। समय—वि. १०००-१०३० ई० ९४३-९७३। (ष ख. २/प्र १० H. L Jain) दे० इतिहास/५/१४।

दायक—१. आहारका एक दोष। दे० आहार/II/२; २. वस्तिकाका एक दोष। दे० वस्तिका।

दारुवेणी—आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

दासी—दासी पत्नी। दे० स्त्री।

दिक्—१. दिशाएँ—दे० दिशा। २ लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत दे० लोक/७।

दिक्कुमार—१ भवनवासी देवोका एक—भेद—दे० भवन/१। २. दिक्कुमार भवनवासी देवोका अवस्थान—दे० भवन/४।

दिक्कुमारी—१ आठ दिक्कुमारी देवियाँ नदन वनमें स्थित आठ कूटोंपर रहती है—सुमेधा, मेघमालिनी, तोयंधरा, विचित्रा, मणिमालिनी, (पुष्पमाला) आनन्दिता, मेघकरी। —दे० व्यन्तर/४ व, लोक/७ ।४४। दिक्कुमारी देवियाँ रुचक पर्वतके कूटोंपर निवास करती है। जो गर्भके समय भगवान्‌की माताकी सेवा करती है।—दे० व्यतर/४; लोक/७। कुछ अन्य देवियोंके नाम निर्देश—जया, विजया, अजिता, अपराजिता, जम्भा, मोहा, स्तम्भा, स्तम्भिनी। (प्रतिष्ठासारोद्धार/३/२१७-२४)। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, शान्ति व पुष्टि। (प्रतिष्ठासारोद्धार/४/२७)।

दिक्पालदेव—दे० लोकपाल।

दिक्स्वास—लवण समुद्रमे स्थित एक पर्वत—दे० लोक/७।

दिक्व्रत—दे० दिग्व्रत।

दिगंतरक्षित—१ एक लौकान्तिक देव—दे० लौकान्तिक। २. इनका लोकमें अवस्थान—दे० लोक/७।

दिगंबर—१ श्वेताम्बरियोकी अपेक्षा दिगम्बरियोंकी नवीन उत्पत्ति—दे० श्वेताम्बर, २. दिगम्बर साधुओंके सघ—दे० दिगम्बर/७।

दिगिंद्र—दे० इन्द्र।

दिग्गजेंद्र—१ विदेह क्षेत्रमें सुमेरु पर्वतके दोनो ओर भद्रशाल वनमें सीता व सीतोदा नदीके प्रत्येक तटपर दो-दो दिग्गजेन्द्र पर्वत है। इनके अजन शैल, कुमुद शैल, स्वस्तिक शैल, पलाशगिरि, रोचक, पद्मोत्तर, नील ये नाम है।—दे० लोक/३/७। २. उपरोक्त कूटोपर दिग्गजेन्द्र देव रहते है।—दे० व्यतर/४, लोक/७। इनके अतिरिक्त रुचक पर्वतके चार कूटोपर भी चार दिग्गजेन्द्र देव रहते है।—दे० व्यतर/४ व लोक/७।

दिग्नाग—एक बौद्ध विद्वान्। कृति—न्यायप्रवेश। समय—ई० स० ४२५ (सि. वि /२१ प० महेन्द्र)

दिग्पट चौरासी—श्वेताम्बराचार्य यशोविजय (ई० १६३८-१६८८) द्वारा भाषा छन्दोंमें रचित ग्रन्थ है। जिसमें दिगम्बर मतपर चौरासी आक्षेप किये गये हैं।

दिग्विजय—चक्रवर्ती व नारायणकी दिग्विजयका परिचय—दे० शलाका पुरुष/२, ४।

दिग्व्रत—१. दिग्व्रतका लक्षण

र. क. श्रा./६८-६९ दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि। इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै।६८। मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादा। प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि।६९। =मरण पर्यन्त सूक्ष्म पापोंकी विनिवृत्तिके लिए दशों दिशाओंका परिमाण करके इससे बाहर मैं नहीं जाऊँगा इस प्रकार संकल्प करना या निश्चय कर लेना सो दिग्व्रत है।६८। दशों दिशाओंके त्यागमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध, समुद्र, नदी, पर्वत, देश और योजन पर्यन्तकी मर्यादा कहते हैं।६९। (स. सि./७/२१/३५९/१०), (रा. वा./७/२१/१९/५४८/२६); (सा. ध./५/२); (का. अ./मू./३४२)

वसु. श्रा./२१४ पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं। परदो गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं।=पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओंमें योजनोंका प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओंमें गमन नहीं करना, यह प्रथम दिग्व्रत नामका गुणव्रत है।२१४।

२. दिग्व्रतके पाँच अतिचार

त. सू./७/३० ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि।३०। =ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्विरति व्रतके पाँच अतिचार हैं।३०।

र. क. श्रा./७३ ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनां। विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते।७३। =अज्ञान व प्रमादसे ऊपरकी, नीचेकी तथा विदिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना और की हुई मर्यादाओंको भूल जाना, ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार माने गये हैं।

३. परिग्रह परिमाण व्रत और क्षेत्रवृद्धि अतिचारमें अन्तर

रा. वा./७/३०/५-६/५५५/२१ अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसन्धिः क्षेत्रवृद्धिः।५। ... स्यादेतत्—इच्छापरिमाणे पञ्चमेऽणुव्रते अस्यान्तर्भावात् पुनर्ग्रहणं पुनरुक्तमिति, तन्न; किं कारणम्। तस्यान्याधिकरणत्वात्। इच्छापरिमाणं क्षेत्रवास्त्वादिविषयम् इदं पुनः दिग्विरमणमन्यार्थम्। अस्यां दिशि लाभे जीवितलाभे च मरणमतोऽन्यत्र लाभेऽपि न गमनमिति, न तु दिशि क्षेत्रादिष्विव परिग्रहबुद्ध्यात्मसात्करणात् परिणामकरणमस्ति. ततोऽर्थविशेषोऽस्यावसेयः।=लोभ आदिके कारण स्वीकृत मर्यादाका बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। प्रश्न—इच्छा परिमाण नामक पाँचवें अणुव्रतमें इसका अन्तर्भाव हो जानेके कारण इसका पुनः-पुनः ग्रहण करना पुनरुक्त है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, उसका अधिकरण अन्य है। इच्छाका परिमाण क्षेत्र वास्तु आदि विषयक है, परन्तु यह दिशा विरमण उससे अन्य है। इस दिशामें लाभ होगा अन्यत्र लाभ नहीं होगा और लाभालाभसे जीवन-मरणकी समस्या जुटी है फिर भी स्वीकृत दिशा मर्यादासे आगे लाभ होनेपर भी गमन नहीं करना दिग्विरति है। दिशाओंका क्षेत्र वास्तु आदिकी तरह परिग्रह बुद्धिसे अपने आधीन करके प्रमाण नहीं किया जाता। इसलिए इन दोनोंमें भेद जानने योग्य है।

* दिग्व्रत व देशव्रतमें अन्तर : —दे० देशव्रत।

४. दिग्व्रतका प्रयोजन व महत्त्व

र. क. श्रा./७०-७१ अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्। पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते।७०। प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः। सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यते।७१। =मर्यादासे बाहर सूक्ष्म पापोंकी निवृत्ति (त्याग) होनेसे दिग्व्रतधारियोंके अणुव्रत पंच महाव्रतोंकी सदृशताको प्राप्त होते हैं।७०। प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभके मन्द होनेसे अतिशय मन्द रूप चारित्र मोहनीय परिणाम महाव्रतकी कल्पनाको उत्पन्न करते हैं अर्थात् महाव्रत सरीखे प्रतीत होते हैं। और वे परिणाम बड़े कष्टसे जाननेमें आने योग्य हैं। अर्थात् वे कषाय परिणाम इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनका अस्तित्व भी कठिनतासे प्रतीत होता है।७१।

रा. वा./७/२१/१७-१९/५४८/२९ अगमनेऽपि तदन्तरावस्थितप्राणिवधाभ्यनुज्ञानं प्रसक्तम्, अन्यथा वा दिक्परिमाणमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्। निवृत्त्यर्थत्वात्। कात्स्न्येन निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवत शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणयात्रा भवतु वा मा वा भूत्। सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमितदिग्वधेर्बहिर्नास्किन्त्स्यामिति प्रणिधानान्न दोषः। प्रवृद्धेच्छस्य आत्मनस्तस्यां दिशि विना यत्नात् मणिरत्नादिलाभोऽस्तीत्येवम्। अन्येन प्रोत्साहितस्यापि मणिरत्नादिसंप्राप्तितृष्णाप्राकाम्यनिरोधः कथं तन्त्रितो भवेदिति दिग्विरतिः श्रेयसी। अहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिमिताद्दिग्वधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैः हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिरिति महाव्रतत्वमवसेयम्।=प्रश्न—(परिमाणित) दिशाओंके (बाहर) भागमें गमन न करने पर भी स्वीकृत क्षेत्र मर्यादाके कारण पापबध होता है। इसलिए दिशाओंका परिमाण अनर्थक हो जायेगा? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि दिग्विरतिका उद्देश्य निवृत्ति प्रधान होनेसे बाह्य क्षेत्रमें हिंसादिकी निवृत्ति करनेके कारण कोई दोष नहीं है। जो पूर्णरूपसे हिंसादिकी निवृत्ति करनेमें असमर्थ है पर उस सकलविरतिके प्रति आदरशील है वह श्रावक जीवन निर्वाह हो या न हो, अनेक प्रयोजन होनेपर भी स्वीकृत क्षेत्र मर्यादाको नहीं लाँघता अतः हिंसा निवृत्ति होनेसे वह व्रती है। किसी परिग्रही व्यक्तिको 'इस दिशामें अमुक जगह जानेपर बिना प्रयत्नके मणि-मोती आदि उपलब्ध होते हैं,' इस प्रकार प्रोत्साहित करनेपर भी दिग्व्रतके कारण बाहर जानेकी और मणि-मोती आदिकी सहज प्राप्तिकी लालसाका निरोध होनेसे दिग्व्रत श्रेयस्कर है। अहिंसाणुव्रती भी परिमित दिशाओंसे बाहर मन, वचन, काय व कृत, कारित, अनुमोदना सभी प्रकारोंके द्वारा हिंसादि सर्व सावद्योंसे विरक्त होता है। अतः वहाँ उसके महाव्रत ही माना जाता है।

स. सि./७/२१/३५९/१० ततो बहिस्त्रसस्थावरव्यपरोपणनिवृत्तेर्महाव्रतत्वमवसेयम्। तत्र लाभे सत्यपि परिणामस्य निवृत्तेर्लोभनिरासश्च कृतो भवति। =उस (दिग्व्रतमें की गयी) मर्यादाके बाहर त्रस और स्थावर हिंसाका त्याग हो जानेसे उतने अंशमें महाव्रत होता है। और मर्यादाके बाहर उसमें परिणाम न रहनेके कारण लोभका त्याग हो जाता है। (रा. वा./७/२१/१५-१६/५४८); (पु. सि. उ./१३८); (का. अ./मू./३४१)।

दिन—दिन-रात्रि प्रगट होनेका क्रम—दे० ज्योतिष/२/८।

दिवाकरनंदि— नन्दि संघके देशीय गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप चन्द्रकीर्तिके शिष्य तथा शुभचन्द्रके गुरु थे। समय—वि० ११२५-११५५ (ई० १०६८-१०९८); (ष. खं. २/प्र. १० H. L. Jain)—दे० इतिहास/५/१४।

दिवाकर सेन—सेन संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप इन्द्रसेनके शिष्य तथा अर्हत् सेनके गुरु थे। समय—वि. ६४०-६८० (ई ५८३-६२३), (म पु १२३/१६७ प्रशस्ति); (प पु./प्र. १९ पं. पन्नालाल); दे० इतिहास/५/२८।

दिव्य तिलक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

दिव्यध्वनि—केवलज्ञान होनेके पश्चात् अर्हत भगवान्‌के सर्वांगसे एक विचित्र गर्जना रूप ॐकारध्वनि खिरती है जिसे दिव्यध्वनि कहते हैं। भगवान्‌की इच्छा न होते हुए भी भव्य जीवोंके पुण्यसे सहज खिरती है पर गणधर देवकी अनुपस्थितिमें नहीं खिरती। इसके सम्बन्धमें अनेकों मतभेद हैं जैसे कि-यह मुखसे होती है, मुखसे नहीं होती, भाषात्मक होती है, भाषात्मक नहीं होती इत्यादि। उन सबका समन्वय यहाँ किया गया है।

१. दिव्यध्वनि सामान्य निर्देश

१. दिव्यध्वनि देवकृत नहीं होती—

ह पु./३/१६-३८ केवल भावार्थ—(यहा इसके दो भेद कर दिये गये हैं—एक दिव्यध्वनि दूसरी सर्वमागधी भाषा। उनमें से दिव्यध्वनिको प्रातिहार्योंमें और सर्वमागधी भाषाको देवकृत अतिशयोंमें गिनाया है। और भी देखो दिव्यध्वनि/२/१४।

* दिव्यध्वनि कथंचित् देवकृत है—दे० दिव्यध्वनि/२।

२. दिव्यध्वनि इच्छापूर्वक नहीं होती

प्र. सा /मू /४४ ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं। अरहंताण काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥४४॥ =उन अरहन्त भगवन्तोंके उस समय खडे रहना, बैठना, विहार और धर्मोपदेश स्त्रियोंके मायाचारकी भाँति स्वाभाविक ही प्रयत्नके बिना ही होता है। (स्व स्तो /मू./७४), (म. श /मू /२)।

म. पु /२४/८४ विवक्षामन्तरेणास्य विविक्तासीत् सरस्वती। =भगवान्‌की वह वाणी बोलनेकी इच्छाके बिना ही प्रकट हो रही थी। (म. पु /-१/१९६), (नि. सा /ता वृ /१७४)।

३. इच्छाके अभावमें भी दिव्यध्वनि कैसे सम्भव है

अष्टसहस्री/पृ ७३ निर्णयसागर बम्बई [इच्छामन्तरेण वाक् प्रवृत्तिर्न सभवति?] न च 'इच्छामन्तरेण वाक्प्रवृत्तिर्न सभवति' इति वाच्यं नियमाभावात्। नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्यवहारादिहेतुरिच्छास्ति। चैतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्। । (इच्छा वाग्प्रवृत्तिर्हेतुर्न) तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावात् बुद्धयादिवत्। न हि यथा बुद्धे. शक्तेश्चाप्रकर्षे वाण्या प्रकर्षोऽपकर्ष' प्रतीयते तथा दोषजाते (इच्छाया') अपि, तत्प्रकर्षे वाचोऽप्रकर्षात तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्। यतो वक्तुर्दोषजाति' (इच्छा) अनुमीयते। ...विज्ञान गुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा, तदुक्तम्—विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषत। वाञ्छन्तो न च वक्तार' शास्त्राणा मन्दबुद्धय ॥

न्यायविनिश्चय/३५४-३५५ विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते। वाञ्छन्तो न वक्तार' शास्त्राणा मन्दबुद्धय ॥३५४॥ प्रज्ञा येषु पटीयस्य प्रायो वचनहेतव। विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥३५५॥= 'इच्छाके विना वचन प्रवृत्ति नहीं होती' ऐसा नही कहना चाहिये क्योंकि इस प्रकारके नियमका अभाव है। यदि ऐसा नियम स्वीकार करते है तो सुषुप्ति आदिमें विना अभिप्रायके प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। सुषुप्तिमें या गोत्र स्खलन आदिमें वचन व्यवहारकी हेतु इच्छा नहीं हे। चेतन्य और इन्द्रियोंकी पटुता ही उसमें प्रमुख कारण है इच्छा वचन प्रवृत्तिका हेतु नहीं है। उसके प्रकर्ष और अपकर्षके साथ वचन प्रवृत्तिका प्रकर्ष और अप्रकर्ष नहीं देखा जाता जैसा बुद्धिके साथ देखा जाता है। जैसे बुद्धि और शक्तिका प्रकर्ष होनेपर वाणीका प्रकर्ष और अपकर्ष होने पर अपकर्ष देखा जाता है उस प्रकार दोष जातिका नहीं। दोष जातिका प्रकर्ष होनेपर वचनका अपकर्ष देखा जाता है दोष जातिका अपकर्ष होनेपर ही वचन प्रवृत्तिका प्रकर्ष देखा जाता है इसलिए वचन प्रवृत्तिसे दोष जातिका अनुमान नहीं किया जा सकता। विज्ञानके गुण और दोषोंसे ही वचन प्रवृत्तिकी गुण दोषता व्यवस्थित होती है, विवक्षा या दोष जातिसे नहीं। कहा है-विज्ञानके गुण और दोष द्वारा वचन प्रवृत्तिमें गुण और दोष होते हैं। इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धिवाले शास्त्रोंके वक्ता नहीं होते है। कभी विवक्षा (बोलनेकी इच्छा) के विना भी वचनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। इच्छा रखते हुए भी मन्दबुद्धिवाले शास्त्रोंके वक्ता नहीं होते हे। जिनमें वचनकी कारण कुशल प्रज्ञा होती है वे प्राय विवक्षा रहित होकर भी पुरुषार्थका उपदेश देते हैं।

प्र. सा./त. प्र /४४ अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणताना पुद्गलाना गमनमवस्थान गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते तथा केवलिना स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। =यह (प्रयत्नके बिना ही विहारादिकका होना) बादलके दृष्टान्तसे अविरुद्ध है। जैसे बादलके आकार रूप परिणमित पुद्गलोंका गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष प्रयत्नके बिना भी देखी जाती हैं उसी प्रकार केवली भगवान्‌के खडे रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही (इच्छाके बिना ही) देखा जाता हे।

४. केवलज्ञानियोंको ही होती है

ति. प./१/७४ जादे अणंतणाणे णट्ठे छदुमट्ठिदियम्मि णाणम्मि। णवविहपदत्थसारा दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थं ॥७४॥ =अनन्तज्ञान अर्थात् केवलज्ञानकी उत्पत्ति और छद्मस्थ अवस्थामे रहनेवाले मति, श्रुत, अवधि तथा मन पर्यय रूप चार ज्ञानोका अभाव होनेपर नौ प्रकारके पदार्थोंके सारको विषय करनेवाली दिव्यध्वनि सूत्रार्थको कहती हैं ॥७४॥ (ति प./१/१२), (ध./१/१, १, १/गा. ६०/६४)।

५. सामान्य केवलियोंके भी होनी सम्भव है

म. पु /३६/२०३ इत्थ स विश्वविद्विश्व प्रीणयन् स्ववचोऽमृतै। कैलासमचलं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरो ॥२०३॥ =इस प्रकार समस्त पदार्थोंको जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृतके द्वारा समस्त ससारको सन्तुष्ट करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्यसे पवित्र हुए कैलास पर्वतपर जा पहुँचे ॥२०३॥

म पु./४७/३९८ विहृत्य सुचिर विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो, मुहूर्तपरमास्थितौ विहितसत्क्रियौ विच्युतौ। ॥३९८॥ =चिरकाल तक विहार कर जिन्होने शिक्षा देने योग्य जनसमूहका भारी कल्याण किया है ऐसे भरत महाराजने अपनी आयुकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति रहनेपर योग निरोध किया। ॥३९८॥

* अन्य केवलियोंका उपदेश समवशरणसे बाहर होता है। —दे० समवशरण।

६. मनके अभावमें वचन कैसे सम्भव है

ध. १/१, १, ५०/२८५/२ असतो मनस कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतस्तयोस्तत समुत्पत्तिविधानात्। =प्रश्न—जबकि केवलीके यथार्थमें अर्थात् क्षायोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उससे सत्य और अनुभय इन दो वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा इन दोनो प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है।

ध. १/१, १, १२२/३६८/३ तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्। =प्रश्न—अरहंत परमेष्ठीमें मनका अभाव होनेपर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ज्ञानके कार्य है, मनके नहीं।

७. अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे सम्भव है

ध. १/१, १, १२२/३६८/४ अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयक्रमज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात्। =प्रश्न—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकार द्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसलिए अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

* सर्वज्ञत्वके साथ दिव्यध्वनिका विरोध नहीं है—

—दे० केवलज्ञान/५/५।

८. दिव्यध्वनि किस कारणसे होती है

पं. का./ता. वृ./१/६/१७ वीतरागसर्वज्ञदिव्यध्वनिशास्त्रे प्रवृत्ते किं कारणम्। भव्यपुण्यप्रेरणात्। =प्रश्न—वीतराग सर्वज्ञके दिव्यध्वनि रूप शास्त्रकी प्रवृत्ति किस कारणसे हुई ? उत्तर—भव्य जीवोंके पुण्यकी प्रेरणा से।

९. गणधरके बिना दिव्यध्वनि नहीं खिरती

ध. ९/४, १, ४४/१२०/१० दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती। =गणधरका अभाव होनेसे दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति नहीं (होती है)।

दे. निःशंकित/३ (गणधरके संशयको दूर करनेके लिए होती है)।

१० जिनपादमूलमें दीक्षित मुनिकी उपस्थितिमें भी होती है

क. पा. १/१-१/७६/३ सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वय मोत्तूण अण्णमुद्दिस्सिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे। साहावियादो। =प्रश्न—जिसने अपने पादमूलमें महाव्रत स्वीकार किया है, ऐसे पुरुषको छोड़कर अन्यके निमित्तसे दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती ? उत्तर—ऐसा ही स्वभाव है। (ध. ९/४, १, ४४/१२१/२)।

११. दिव्यध्वनिका समय, अवस्थान अन्तर व निमित्तादि

ति. प./४/९०३-९०४ पठादीए अक्खलिओ सञ्झत्तिदय णवमुहुत्ताणि। णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणयं ॥९०३॥ सेसेसुं समएसुं गणहरदेविदचक्कवट्टीण। पण्हाणुरुवमत्थं दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥९०४॥ =भगवान् जिनेन्द्रकी स्वभावतः अस्खलित और अनुपम दिव्यध्वनि तीनों सन्ध्याकालोंमें नव मुहूर्त तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है। इसके अतिरिक्त गणधर देव इन्द्र अथवा चक्रवर्तीके प्रश्नानुरूप अर्थके निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि शेष समयोंमें भी निकलती है ॥९०३-९०४॥ (क. पा. १/१, १/§६६/१२६/२)।

गो. जी./जी. प्र./३५६/७६१/१० तीर्थकरस्य पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णार्धरात्रेषु षट्षट्घटिकाकालपर्यन्तं द्वादशगणसभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनिरुद्गच्छति अन्यकालेऽपि गणधरशक्रचक्रधरप्रश्नानन्तरं यावद्भवति एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनिः। =तीर्थंकरके पूर्वाह्ण, मध्याह्न, अपराह्ण अर्धरात्रि कालमें छह-छह घड़ी पर्यन्त बारह सभाके मध्य सहज ही दिव्यध्वनि होय है। बहुरि गणधर इन्द्र चक्रवर्ति इनके प्रश्न करने तैं और काल विषै भी दिव्यध्वनि होय है।

* भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि खिरनेकी तिथि—

—दे० महावीर।

२. दिव्यध्वनिका भाषात्मक व अभाषात्मकपना

१. दिव्यध्वनि मुखसे नहीं होती है

ति. प./१/६२ एदाणि भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं। परिहरिय एककालं भव्वजणाणं दरभासो ॥६२॥ =तालु, दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठके हलन-चलन रूप व्यापारसे रहित होकर एक ही समयमें भव्यजनोंको आनन्द करनेवाली भाषा (दिव्यध्वनि) के स्वामी हैं ॥६२॥ (म. प्र./मू./२), (ति. प./४/९०२); (ह. पु./२/११३); (ह. पु./९/२२४); (ह. पु./५६/११६), (ह. पु./६/२२३); (म. पु./१/१८४); (म. पु./२४/८२); (पं. का./ता. वृ./१/४/६ पर उद्धृत); (पं. का./ता. वृ./२/८/५ पर उद्धृत)।

क. पा./१/१, १/§ ६७/१२६/१४ विशेषार्थ—जिस समय दिव्यध्वनि खिरती है उस समय भगवान्‌का मुख बन्द रहता है।

२. दिव्यध्वनि मुखसे होती है

रा. वा./२/१६/१०/१३२/७ सकलज्ञानावरणसंक्षयाविर्भूतातीन्द्रियकेवलज्ञानः रसनोपष्टम्भमात्रादेव वक्तृत्वेन परिणतः। सकलान् श्रुतविषयानर्थानुपदिशति। =सकल ज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न अतीन्द्रिय केवलज्ञान जिह्वा इन्द्रियके आश्रय मात्रसे वक्तृत्व रूप परिणत होकर सकलश्रुत विषयक अर्थोंका उपदेश करता है।

ह. पु./५८/२ ततस्तस्यान्तरं धातुश्चतुर्मुखविनिर्गता। चतुर्मुखफला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया ॥३॥ =गणधरके प्रश्नके अनन्तर दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान्‌की दिव्यध्वनि चारों दिशाओंमें दिखनेवाले चारमुखोंसे निकलती थी, चार पुरुषार्थरूप चार फलको देनेवाली थी, सार्थक थी।

म. पु./२३/६६ दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्। भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन् अद्युततदेष यथैव तमोरिः ॥६९॥

म. पु./२४/८३ स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुद्ध्वनिसंनिभः। प्रस्पष्टवर्णो निरगाद् ध्वनिः स्वायम्भुवान्मुखात् ॥८३॥ =भगवान्‌के मुखरूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली अतिशययुक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी और वह भव्य जीवोंके मनमें स्थित मोहरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सूर्यके समान सुशोभित हो रही थी ॥६९॥ जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि भगवान्‌के मुखसे इस प्रकार निकल रही थी जिस प्रकार पर्वतकी गुफाके अग्रभागसे प्रतिध्वनि निकलती है ॥८३॥

नि. सा./ता. वृ./१७४ केवलिमुखारविन्दविनिर्गतो दिव्यध्वनिः। =केवलीके मुखारविन्दसे निकलती हुई दिव्यध्वनि ••।

स्या. म./३०/३३५/२० उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः। तेषां च भगवता साक्षान्मातृकापदरूपतयाभिधानात्। =उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके वर्णनको समय कहते हैं, उनके स्वरूपको साक्षात भगवान्‌ने अपने मुखसे अक्षररूप कहा।

३. दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है

पं. का./ता. वृ./१/४/६ पर उद्धृत—यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं। =जो सबका हित करनेवाली तथा वर्ण विन्याससे रहित है (ऐसी दिव्यध्वनि)।

पं. का./ता. वृ./७९/१३५/९ भाषात्मको द्विविधोऽक्षरात्मकोऽनक्षरात्मकश्चेति। अक्षरात्मकः संस्कृत , अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च। =भाषात्मक शब्द दो प्रकारके होते हैं।—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शब्द संस्कृतादि भाषाके हेतु है। अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिके शब्द रूप और दिव्य ध्वनि रूप होते है।

४. दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक नहीं होती

ध.१/१,१,५०/२८३/८ तीर्थंकरवचनमनक्षरत्वाद्ध्वनिरूप तत एव तदेकम्। एकत्वान्न तस्य द्वैविध्य घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेरक्षरत्वासिद्धे। =प्रश्न—तीर्थंकरके वचन अनक्षर रूप होनेके कारण ध्वनिरूप है, और इसलिए वे एक रूप है, और एक रूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते? उत्तर—नही, क्योकि केवलीके वचनमें 'स्यात्' इत्यादि रूपसे अनुभय रूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिए केवलीकी ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

म पु /२३/७३ साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात्। =दिव्य ध्वनि अक्षररूप ही है, क्योंकि अक्षरोके समूहके बिना लोकमें अर्थका परिज्ञान नही हो सकता।७३।

म.पु./१/१६० यत्पृष्टमादितस्तेन तत्सर्वमनुपूर्वश। वाचस्पतिरनायासाद्भरतं प्रत्यबूबुधत्।१६०। =भरतने जो कुछ पूछा उसको भगवान् ऋषभदेव बिना किसी कष्टके क्रमपूर्वक कहने लगे।१६०।

५. दिव्यध्वनि सर्व भाषास्वभावी है

स्व.स्तो./मू /९७ तव वागमृतं श्रीमत्सर्व-भाषा-स्वभावकम्। प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि ससदि।९२। =सर्व भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए और समवशरण सभामे व्याप्त हुआ आपका श्री सम्पन्न वचनामृत प्राणियोंको उसी प्रकार तृप्त करता है जिस प्रकार कि अमृत पान।९२। (क.पा १/१,१/१२६/१) (ध.१/१,१,५०/२८४/२) (चन्द्रप्रभ चरित/१८/१), (अलकार चिन्तामणि/१/६६)

ध १/१,१,१/६१/१ योजनान्तरदूरसमोपस्थाष्टादशभाषासप्तशतकुभाषायुत-तिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनाधिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसंपन्न• • महावीरोऽर्थकर्ता। =एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बैठे हुए अठारह महाभाषा और सातसौ लघु भाषाओंसे युक्त ऐसे तिर्यंच, मनुष्य, देवकी भाषाके रूपमें परिणत होने वाली तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थंकर अर्थकर्ता है। (क पा.१/१,१/§५४/७२/३) (.का /ता वृ /१/४/६ पर उद्धृत)

ध.६/४,१,४/६२/३ एदेहिंतो सखेज्जगुणभासासभलिदतित्थयरवयणविणिग्गयज्झुणि ••। =इनसे (चार अक्षौहिणी अक्षर-अनक्षर भाषाओसे) संख्यातगुणी भाषाओंसे भरी हुई तीर्थंकरके मुखसे निकली दिव्यध्वनि। (पं.का /ता वृ /२/८/६ पर उद्धृत)

द.पा /टी /३५/२८/१२ अर्द्धं च सर्वभाषात्मक। =दिव्यध्वनि आधी सर्वभाषा रूप थी। (क्रि.क /३-१६/२४८/२)

६. दिव्यध्वनि एक भाषा स्वभावी है

म पु /२३/७० एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा•। =यद्यपि वह दिव्य-ध्वनि एक प्रकारकी (अर्थात् एक भाषा रूप) थी तथापि भगवान्‌के माहात्म्यसे सर्व मनुष्योंकी भाषा रूप हो रही थी।

७. दिव्यध्वनि आधी मागधी भाषा व आधी सर्वभाषा रूप है

द पा /टी./३५/२८/१२ अर्द्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मक। अर्द्धं च सर्वभाषात्मक। =तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि आधी मगध देशकी भाषा रूप और आधी सर्व भाषा रूप होती है। (चन्द्रप्रभचरित/१८/१) (क्रि क /३-१६/२४८/२)

८. दिव्यध्वनि बीजाक्षर रूप होती है

क पा १/१,१/§६६/१२६/२ अणंतत्थगब्भबीजपदघडियसरीरा"। =जो अनन्त पदार्थोंका वर्णन करती है, जिसका शरीर बीजपदोसे गढा गया है।

ध. ६/४,१,४४/१२७/१ संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसगयं बीजपद णाम। तेसिमणेयाणं बीजपदाण दुवालसंगप्पयाणमट्ठारससत्तसयभास-कुभाससरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारो णाम। =सक्षिप्त शब्द रचनासे सहित व अनन्त अर्थोके ज्ञानके हेतुभूत अनेक चिह्नोसे सहित बीजपद कहलाता है। अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशागात्मक उन अनेक बीजपदोका प्ररूपक अर्थकर्ता है। (ध ६/४,१,५४/२५६/७)

९. दिव्यध्वनि मेघ गर्जना रूप होती है

म पु./२३/६६ दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्। =भगवान्‌के मुख रूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाका अनुकरण करने वाली अतिशय युक्त महादिव्यध्वनि निकल रही थी।

१०. दिव्यध्वनि अक्षर अनक्षर उभयस्वरूप थी

क पा /१/१,१/§६६/१२६/२ अक्खराणक्खरप्पिया। =(दिव्यध्वनि) अक्षर-अनक्षरात्मक है।

११. दिव्यध्वनि अर्थ निरूपक है

ति प /४/९०५ छद्दव्वणवपयत्थे पचट्ठीकायसत्ततच्चाणि। णाणाविहहेदूहिं दिव्वझुणी भणइ भव्वाण।९०५। =यह दिव्यध्वनि भव्य जीवोको छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्वोका नाना प्रकारके हेतुओ द्वारा निरूपण करती है।९०५। (क. पा /१/१,१/§६६/१२६/२)

प.का /ता वृ./२/८/६ स्पष्ट तत्तदभीष्टवस्तुकथनम्। =जो दिव्यध्वनि उस उसकी अभीष्ट वस्तुका स्पष्ट कथन करनेवाली है।

१२. श्रोताओंकी भाषारूप परिणमन कर जाती है

ह पु /५८/१५ अनानात्मापि तद्वृत्त नानापात्रगुणाश्रयम्। सभाया दृश्यते नानादिव्यमम्बु यथावनौ।१५। =जिस प्रकार आकाशसे बरसा पानी एक रूप होता है, परन्तु पृथिवी पर पडते ही वह नाना रूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान्‌की वह वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सभामें सब जीव अपनी अपनी भाषामें उसका भाव पूर्णत• समझते थे। (म पु /१/१८७)

म पु /२३/७० एकतयोऽपि च सर्वनृभाषा• सोऽन्तरनेष्टबहूश्च कुभाषा। अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्व बोधयन्ति स्म जिनस्य महिम्ना।७०। =यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि भगवान्‌के माहात्म्यसे समस्त मनुष्योंकी भाषाओं और अनेक कुभाषाओंको अपने अन्तर्भूत कर रही थी अर्थात् सबकी अपनी-अपनी भाषारूप परिणमन कर रही थी, और लोगोका अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वोका बोध करा रही थी।७०। (क पा १/१,१/§५४/७२/४) (ध.१/१,१,५०/२८४/२) (प का /ता.वृ./१/४/६)

गो जी /जी प्र /२२७/४८८/१५ अनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृश्रोत्रप्रदेशप्राप्तिसमयपर्यत तदनन्तर च श्रोतृजनाऽभिप्रेतार्थेषु संशयादिनिराकरणेन सम्यग्ज्ञानजनकं। =केवलीकी दिव्य ध्वनि सुनने वालेके कर्ण प्रदेशकौं यावत् प्राप्त न होइ तावत् काल पर्यंत अनक्षर ही है• जब सुनने वालेके कर्ण विषै प्राप्त हो है तब अक्षर रूप होइ यथार्थ वचनका अभिप्राय रूप संशयादिककौं दूर करै है।

१३. देव उसे सर्व भाषा रूप परिणमाते हैं

द.पा /टी /३५/२८/१३ कथमेव देवोपनीतत्वमिति चेत्। मागधदेवसनिधाने तथा परिणामतया भाषया संस्कृतभाषया प्रवर्तते। =प्रश्न—यह देवोपनीत कैसे है? उत्तर—यह देवोपनीत इसलिए है कि मागध देवोंके निमित्तसे संस्कृत रूप परिणत हो जाती है। (क्रि.क /-टी./३-१६/२४८/३)

१४. यदि अक्षरात्मक है तो ध्वनि रूप क्यों कहते हैं

ध.१/१,१,५०/२८४/३ तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वत. तस्य ध्वनित्वसिद्धेः। =प्रश्न—जब कि वह अनेक भाषा रूप है तो उसे ध्वनि रूप कैसे माना जा सकता है? उत्तर—नहीं, केवलीके वचन इसी भाषा रूप ही है, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिए उनके वचन ध्वनिरूप है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

१५. अनक्षरात्मक है तो अर्थ प्ररूपक कैसे हो सकती है

ध ६/४,१,४४/१२६/८ वयणेण विणा अत्थपदुप्पायणं ण संभवइ, सुहुमअत्थाणं सण्णाए परूवणाणुववत्तीदो ण चाणक्खराए भुणीए अत्थपदुप्पायणं जुज्जदे, अणक्खरभासतिरिक्खे मोत्तूणण्णेसिं तत्तो अत्थावगमाभावादो। ण च दिव्वज्झुणी अणक्खरप्पिया चेव, अट्ठारस-सत्तसयभास-कुभासप्पियत्तादो। तेसिमणेयाणं बीजपदाणं दुवाल-सगप्पयाणमट्ठारस-सत्तसयभास-कुभासरूवाण परूवओ अत्थकत्तारणाम, बीजपदणिलीणत्थपरूवयाणं दुवाल-सगाणं कारओ गणहरभडारओ गथकत्तारओ त्ति अब्भुवगमादो। =प्रश्न—वचनके बिना अर्थका व्याख्यान सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थोंकी संज्ञा अर्थात् सकेत द्वारा प्ररूपणा नहीं बन सकती। यदि कहा जाय कि अनक्षरात्मक ध्वनि द्वारा अर्थकी प्ररूपणा हो सकती है, सो भी योग्य नहीं है, क्योंकि, अनक्षर भाषायुक्त तिर्यंचोको छोडकर अन्य जीवोको उससे अर्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। और दिव्य-ध्वनि अनक्षरात्मक ही हो सो भी बात नहीं है, क्योंकि वह अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप है। उत्तर—अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा स्वरूप द्वादशागात्मक उन अनेक बीज पदोंका प्ररूपक अर्थकर्ता है। तथा बीज पदोंमें लीन अर्थके प्ररूपक बारह अंगोके कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता हे, ऐसा स्वीकार किया गया है। अभिप्राय यह है कि बीजपदोंका जो व्याख्याता है वह ग्रन्थकर्ता कहलाता है। (और भी दे० वक्ता/३)

ध.६/४,१,७/५८/१० ण बीजबुद्धीये अभावो, ताए विणा अवगयतित्थयरवयणविणिग्गयअक्खराणक्खरप्पयबहुलिंगयबीजपदाणं गणहरदेवाण दुवालसगा भावप्पसगादो। =बीजबुद्धिका अभाव नही हो सकता क्योंकि उसके बिना गणधर देवोंका तीर्थंकरके मुखसे निकले हुए अक्षर और अनक्षर स्वरूप बीजपदोंका ज्ञान न होनेसे द्वादशागके अभावका प्रसंग आयेगा।

१६. एक ही भाषा सर्व श्रोताओंकी भाषा कैसे बन सकती है

ध. ६/४,१,४४/१२८/६ परोवदेसेण विणा अक्खरणक्खरसरूवासेसभासतरकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्तणेण अम्हम्हाणं भासाहि अम्हम्हाणं चेव कुहदि त्ति सव्वेसि पच्चउप्पायओ समवसरणजणसोदिंदिएसु सगमुहविणिग्गयाणेयभासाणं संकरेण पवेसस्स विणिवारओ गणहरदेवो गथकत्तारो। =प्रश्न—एक ही बीजपद रूप भाषा सर्व जीवोंको उन उनकी भाषा रूपसे ग्रहण होनी कैसे सम्भव है। उत्तर—परोपदेशके बिना अक्षर व अनक्षर रूप सब भाषाओमे कुशल समवसरणमे स्थित जन मात्ररूपके धारी होनेसे 'हमारी हमारी भाषासे हम-हमको ही कहते है' इस प्रकार सबको विश्वास करानेवाले, तथा समवशरणस्थ जनोके कर्ण इन्द्रियोंमें अपने मुहसे निकली हुई अनेक भाषाओके सम्मिश्रित प्रवेशके निवारक ऐसे गणधर देव ग्रन्थकर्ता है। (वास्तवमें गणधर देव ही जनताको उपदेश देते है।

* गणधर द्विभाषियेके रूपमें काम करते हैं

—दे० दिव्यध्वनि /२/१५

दिव्ययोजन—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

दिव्यलक्षण पंक्ति व्रत—दे० पक्ति व्रत।

दिव्यापध—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

दिश् संस्थित—एक ग्रह—दे० ग्रह।

दिशा—१. दिशाका लक्षण

भ. आ /वि /६८/१९६/३ दिसा परलोकदिगुपदर्शपर. सूरिणा स्थापितः भवता दिश मोक्षवर्त्न्याश्रयमुपदिशति य सूरि' स दिशा इत्युच्यते। =दिशा अर्थात् आचार्यने अपने स्थानपर स्थापित किया हुआ शिष्य जो परलोकका उपदेश करके मोक्षमार्गमें भव्योको स्थिर करता है। सघाधिपति आचार्यने यावज्जीव आचार्य पदवीका त्याग करके अपने पदपर स्थापा हुआ और आचार्यके समान जिसका गुणसमुदाय है ऐसा जो उनका शिष्य उनको दिशा अर्थात् बालाचार्य कहते है।

दिशा—१. दिशा व विदिशाका लक्षण

स सि./५/३/२६६/१० आदित्योदयाद्यपेक्ष्या आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु इत इदमिति व्यवहारोपपत्ते। =सूर्यके उदयादिककी अपेक्षा आकाशप्रदेश पक्तियोंमें यहाँसे यह दिशा है इस प्रकारके व्यवहारकी उत्पत्ति होती है।

ध ४/१,४,४३/२२६/४ सगट्ठाणादो कडुज्जुवा दिसा णाम। ताओ छच्चेव, अण्णेसिमसभवादो। · सगट्ठाणादो कण्णायारेण ट्ठिदखेत्तं विदिसा। —अपने स्थानसे बाणकी तरह सीधे क्षेत्रको दिशा कहते है। ये दिशाएँ छह ही होती है, क्योंकि अन्य दिशाओंका होना असम्भव है · अपने स्थानसे कर्णरेखाके आकारसे स्थित क्षेत्रको विदिश कहते है—

२. दिशा विदिशाओंके नाम व क्रम
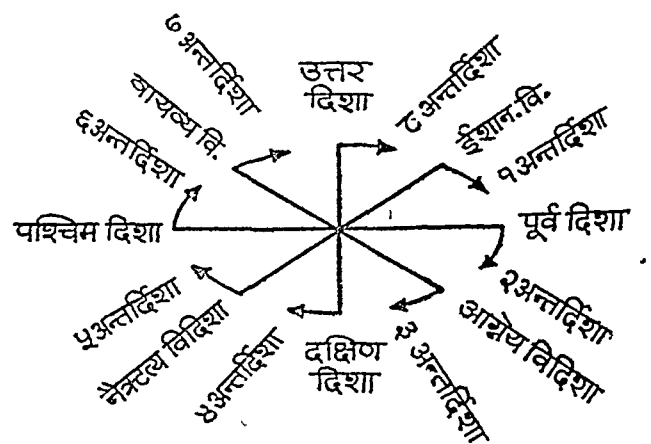
३. शुभ कार्योंमें पूर्व व उत्तर दिशाकी अप्रधानताका कारण

भ. आ./वि./५६०/७७१/३ तिमिरापसारणपरस्य घर्मरश्मेरुदयदिगिति उदयार्थी तद्वत्स्मत्कार्याभ्युदयो यथा स्यादिति लोकः प्राङ्मुखो भवति। · उदङ्मुखता तु स्वयंप्रभादितीर्थकृतो विदेहस्थान् चेतसि कृत्वा तदभिमुखतया कार्यसिद्धिरिति।=अन्धकारका नाश करनेवाले सूर्यका पूर्व दिशामे उदय होता है अत पूर्व दिशा प्रशस्त है। सूर्यके उदयके समान हमारे कार्यमें भी दिन प्रतिदिन उन्नति होवे ऐसी इच्छा करनेवाले लोक पूर्व दिशाकी तरफ अपना मुख करके अपना इष्ट कार्य करते है। ·विदेहक्षेत्रमे स्वयंप्रभादि तीर्थंकर हो गये है, विदेह क्षेत्र उत्तर दिशाकी तरफ है अत उन तीर्थंकरोको हृदयमें धारणकर उस दिशाकी तरफ आचार्य अपना मुख कार्य सिद्धिके लिए करते है।

दिशामन्त्य—
दिशामादि—
दिशापुत्तर— } सुमेरु पर्वतके अपर नाम—दे० सुमेरु

दीक्षा—दे० प्रव्रज्या।

दीति—ह पु/२२/५१-५५ यह धरणेन्द्रकी देवी है। इसने धरणेन्द्रकी आज्ञासे तपभ्रष्ट नमि तथा विनमिको विद्याएँ तथा औपधियॉ दी थीं।

दीपचंद शाह—सांगानेर (जयपुर) के निवासी एक पण्डित थे। कृति—चिद्विलास, व अनुभवप्रकाश। समय—वि. १७७९ ई० १७२२।
मो. मा. प्र/प्र. २ परमानन्द शास्त्री।

दीपदशमी व्रत—व्रतविधान संग्रह/१३० दीपदशमी दश दीप बनाय, जिनहिं चढाय आहार कराय॥=दश दीपक बनाकर भगवान्‌को चढाये फिर आहार करे। यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है।

दीपमालिका व्रत—व्रतविधान संग्रह/१०८ कार्तिक कृ० ३० को वीरनिर्वाणके दिन दीपावलि मनायी जाती है। उस दिन उपवास करे व सायंकाल दीप जलाये। जाप'—'ॐ ह्रीं श्रीमहावीरस्वामिने नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जप करें।

दीपसेन—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नन्दिसेनके शिष्य तथा धरसेन (श्रुतावतार वालेसे भिन्न) के गुरु थे।—दे० इतिहास /५/१८।

दीपांग—कल्पवृक्षोंका एक भेद—दे० वृक्ष/१।

दीप्ततप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

दीर्घस्वर—दे० अक्षर।

दु:ख—दु खसे सब डरते है। शारीरिक, मानसिक आदिके भेदसे दु'ख कई प्रकारका है। तहाँ शारीरिक दु खको ही लोकमें दु ख माना जाता है। पर वास्तवमे वह सबसे तुच्छ दु'ख है। उससे ऊपर मानसिक और सबसे बडा स्वाभाविक दु ख होता है, जो व्याकुलता रूप है। उसे न जाननेके कारण ही जीव नारक, तिर्यंचादि योनियोंके विविध दु'खोको भोगता रहता है। जो उसे जान लेता है वह दु'खसे छूट जाता है।

१. भेद व लक्षण

१. दु:ख सामान्य लक्षण

स. सि /५/२०/२८८/१२ सदसद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाकनिमित्तवशादुत्पद्यमान प्रीतिपरितापरूप' परिणाम: सुखदु'खमित्याख्यायते।

स. सि./६/११/३२८/१२ पीडालक्षणः परिणामो दु खम्।=साता और असाता रूप अन्तरंग हेतुके रहते हुए बाह्य द्रव्यादिके परिपाकके निमित्तसे प्रीति और परिताप रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे सुख और दु ख कहे जाते हैं। अथवा—पीडा रूप आत्माका परिणाम दु ख है। (रा वा /६/११/१/५१९), (रा वा /५/२०/२/४७४), (गो. जी./जी. प्र /६०६/१०६२/११)।

ध. १३/५.५,६३/३३४/५ अणिट्ठत्थसमागमो इट्ठत्थवियोगो च दु ख णाम। =अनिष्ट अर्थके समागम और इष्ट अर्थके वियोगका नाम दु ख है।

ध १५/६/६ सिरोवेयणादी दुक्खं णाम।=सिरकी वेदनादिका नाम दु'ख है।

२. दु.खके भेद

भा. पा./मू /११ आगतुक माणसियं सहजं सारीरियं चत्तारि। दुक्खाइ· ·११/=आगंतुक, मानसिक, स्वाभाविक तथा शारीरिक, इस प्रकार दु ख चार प्रकार का होता है।

न. च./८३ सहजं नैमित्तिकं · देहज मानसिकम्।८३।=दु ख चार प्रकारका होता है—सहज, नैमित्तिक, शारीरिक और मानसिक।

का. अ/मू/३५ असुरोदीरिय-दुक्खं-सारीरं-माणसं तहा तिविह खित्तुब्भवं च तिव्व अण्णोण्ण-कयं च पंचविह।३५।=पहला असुरकुमारोंके द्वारा दिया गया दु'ख, दूसरा शारीरिक दु'ख, तीसरा मानसिक दु ख, चौथा क्षेत्रसे उत्पन्न होनेवाला अनेक प्रकारका दु ख, पाँचवाँ परस्परमे दिया गया दु ख, ये दु खके पाँच प्रकार हैं।३५।

३. मानसिकादि दु'खोंके लक्षण

न. च./८३ सहजखुधाइजाद णयमित्तं सीदवादमादीहिं। रोगादिआ य देहज अणिट्ठजोगे तु माणसियं।८३।=क्षुधादिसे उत्पन्न होनेवाला दु ख स्वाभाविक, शीत, वायु आदिसे उत्पन्न होनेवाला दु ख नैमित्तिक, रोगादिसे उत्पन्न होनेवाला शारीरिक तथा अनिष्ट वस्तुके संयोग हो जानेपर उत्पन्न होनेवाला दु'ख मानसिक कहलाता है।

★ **पीडारूप दु.ख**—दे० वेदना।

२. दु:ख निर्देश

१. चतुर्गतिके दु:खका स्वरूप

भ. आ./मू /१५७९-१५९९ पगलंतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोट्टसिरो। पउलिदहिदओ जं फुडिदच्छो पडिचूरियगो च।१५७९। ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडण दमणं। कण्णच्छेदणणासावेहणणिल्लंछण चेव।१५८२। रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्च भयं च सव्वत्तो। तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिधादाओ।१५८५। दंडणमुंडणताडणधरिसणपरिमोससंकिलेसा य। धणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिधणनासं।१५९२। देवो माणी संतो पासिय देवे महढ्ढिए अण्णे। जं दुक्ख संपत्तो घोर भग्गेण माणेण।१५९९।=जिसके शरीरमेंसे रक्तकी धारा बह रही है, शरीरका चमडा नीचे लटक रहा है, जिसका पेट और मस्तक फूट गया है, जिसका हृदय तप्त हुआ है, आँखें फूट गयी है, तथा सब शरीर चूर्ण हुआ है, ऐसा तू नरकमें अनेक बार दु ख भोगता था।१५७९। लाठी वगैरहसे पीटना, भय दिखाना, डोरी वगैरहसे बाँधना, बोझा लादकर देशान्तरमें ले जाना,

दूरात्स्पर्श ऋद्धि—
दूराद्दर्शन ऋद्धि—
दूराद् घ्राण ऋद्धि—
दूराद् श्रवण ऋद्धि—
—दे० ऋद्धि/२/६।

दूरापकृष्टि—१. दूरापकृष्टि सामान्य व लक्षण

ल.सा./जी प्र./१२०/१६१/६ पल्ये उत्कृष्टसंख्यातेन भक्ते यल्लब्धं तस्मादेकैकहान्या जघन्यपरिमितासंख्यातेन भक्ते पल्ये यल्लब्धं तस्मादेकोत्तरवृद्ध्या यावन्तो विकल्पास्तावन्तो दूरापकृष्टिभेदाः। =पल्यको उत्कृष्ट असंख्यातका भाग दिये जो प्रमाण आवै तातै एक एक घटता क्रम करि पल्यको जघन्य परीतासंख्यातका भाग दिये जो प्रमाण आवै तहाँ पर्यन्त एक-एक वृद्धिके द्वारा जितने विकल्प हैं, ते सब दूरापकृष्टिके भेद हैं।

२. दूरापकृष्टि स्थिति बन्धका लक्षण

क्ष सा /भाषा/४१६/५००/१५ पल्य/अस॰मात्र स्थितिबन्धको दूरापकृष्टि नाम स्थितिबन्ध कहिये।

दूरार्थ—न्या. दी /२§२२/४१/६ दूरा (अर्थाः) देशविप्रकृष्टा मेर्वादयः। =दूर वे है जो देशमे विप्रकृष्ट हैं, जैसे मेरु आदि। अर्थात् जो पदार्थ क्षेत्रसे दूर हैं वे दूरार्थ कहलाते हैं।

पं.ध /उ./४८४ दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः। = भूत भविष्यत कालवर्ती राम, रावण, चक्रवर्ती आदि कालकी अपेक्षासे अत्यन्त दूर होनेसे दूरार्थ कहलाते हैं।

दूरास्वादन ऋद्धि—दे० ऋद्धि /२/६।

दूष्य क्षेत्र—Carical (ज.प्र./प्र /१०७)

दृढरथ—म पु /६३/श्लोक—पुष्कलावती देशमे पुण्डरीकिणी नगरीके राजा घनरथका पुत्र था (१४२–)। राज्य लेना अस्वीकार कर दीक्षा धारण कर ली (३०७–)। अन्तमें एक माहके उपवास सहित संन्यास मरणकर स्वर्गमे अहमिन्द्र हुआ (३३६–)। यह शान्तिनाथ भगवान्‌के प्रथम गणधर चक्रायुधका पूर्वका दूसरा भव है।—दे० चक्रायुध।

दृश्यक्रम—क्ष.सा./४८० अपूर्व स्पर्धक करण कालका प्रथमादि समयनिविषै दृश्य कहिये देखनेमें आवै ऐसा परमाणूनिका प्रमाण ताका अनुक्रम सो दृश्यक्रम कहिये। (तहाँ पूर्वमे जो नवीन देय द्रव्य मिलकर कुल द्रव्य होता है वह द्रव्य द्रव्य जानना।) प्रथम वर्गणासे गाय अन्तिम वर्गणा पर्यन्त एक एक चय या विशेष घटता दृश्य य होता है, तातै प्रथम वर्गणातै लगाय पूर्व स्पर्धकनिकी अन्तिम वर्गणा पर्यन्त एक गौपुच्छा भया।

दृश्यमान द्रव्य—क्ष सा./मू./५०५ का भावार्थ–किसी भी स्पर्धक या कृष्टि आदिमे पूर्वका द्रव्य या निषेक या वर्गणाएँ तथा नया मिलाया गया द्रव्य दोनो मिलकर दृश्यमान द्रव्य होता है। अर्थात् वर्तमान समयमें जितना द्रव्य दिखाई दे रहा है, वह दृश्यमान द्रव्य है।

दृष्ट—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

दृष्टान्त—हेतुकी सिद्धिमें साधनभूत कोई दृष्ट पदार्थ जिससे कि वादी व प्रतिवादी दोनो सम्मत हो, दृष्टान्त कहलाता है। और उसको बतानेके लिए जिन वचनोका प्रयोग किया जाता है वह उदाहरण कहलाता है। अनुमान ज्ञानमें इसका एक प्रमुख स्थान है।

१. दृष्टान्त व उदाहरणोके भेद व लक्षण

१. दृष्टान्त व उदाहरण सामान्यका लक्षण

न्या. सू /मू /१/१/२५/३० लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।२५। =लौकिक (शास्त्रसे अनभिज्ञ) और परीक्षक (जो प्रमाण द्वारा शास्त्रकी परीक्षा कर सकते हैं) इन दोनोंके ज्ञानकी समता जिसमें हो उसे दृष्टान्त कहते हैं।

न्या.वि./मू./२/२११/२४० सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः। स दृष्टान्तस्तदाभासाः साध्यादिविकलादयः।२११। =जहाँ या जिसमें साध्य व साधन इन दोनों धर्मोंके अविनाभावी सम्बन्धकी प्रतिपत्ति होती है वह दृष्टान्त है।

न्या. दी /३/§३२/७८/३ व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्।

न्या. दी./३/§६४-६५/१०४/१ उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्। कोऽयं दृष्टान्तो नाम? इति चेत्; उच्यते, व्याप्तिसंप्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः।··तस्याः संप्रतिपत्तिनामवादिनोर्बुद्धिसाम्यम्। सैषा यत्र संभवति स सम्प्रतिपत्तिप्रदेशो महानसादिर्ह्रदादिश्च तत्रैव धूमादौ सति नियमेनाऽग्न्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति संप्रतिपत्तिसंभवात्।…दृष्टान्तौ चैतौ दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः। उक्तलक्षणस्यास्य दृष्टान्तस्य यत्सम्यग्वचनं तदुदाहरणम्। न च वचनमात्रमयं दृष्टान्त इति। किन्तु दृष्टान्तत्वेन वचनम्। तद्यथा—यो यो धूमवानसावसावग्निमान् यथा महानस इति। यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रद इति च। एवंविधेनैव वचनेन दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वेन प्रतिपादनसंभवात्। =व्याप्तिको कहते हुए दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं। अथवा—यथार्थ दृष्टान्तके कहनेको उदाहरण कहते हैं। यह दृष्टान्त क्या है? जहाँ साध्य और साधनकी व्याप्ति दिखलायी जाती है उसे दृष्टान्त कहते हैं।·· वादी और प्रतिवादीकी बुद्धि साम्यताको व्याप्तिकी सम्प्रतिपत्ति कहते हैं। और सम्प्रतिपत्ति जहाँ सम्भव है वह सम्प्रतिपत्ति प्रदेश कहलाता है जैसे—रसोई घर आदि, अथवा तालाब आदि। क्योंकि 'वहीं धूमादि होनेपर नियमसे अग्नि आदि पाये जाते हैं, और अग्न्यादिके अभावमें नियमसे धूमादि नहीं पाये जाते' इस प्रकारकी बुद्धिसाम्यता सम्भव है।··ये दोनों ही दृष्टान्त हैं, क्योंकि साध्य और साधनरूप अन्त अर्थात् धर्म जहाँ देखे जाते हैं वह दृष्टान्त कहलाता है, ऐसा 'दृष्टान्त' शब्दका अर्थ उनमें पाया जाता है। इस उपर्युक्त दृष्टान्तका जो सम्यक् वचन है—प्रयोग है वह उदाहरण है। 'केवल' वचनका नाम उदाहरण नहीं है, किन्तु दृष्टान्त रूपसे जो वचन प्रयोग है वह उदाहरण है। जैसे—जो-जो धूमवाला होता है वह-वह अग्निवाला होता है, जैसे रसोईघर, और जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है जैसे--तालाब। इस प्रकारके वचनके साथ ही दृष्टान्तका दृष्टान्तरूपसे प्रतिपादन होता है।

२. दृष्टान्त व उदाहरणके भेद

न्या वि./वृ २/२११/२४०/२५ स च द्वेधा साधर्म्येण वैधर्म्येण च। =दृष्टान्तके दो भेद हैं, साधर्म्य और वैधर्म्य।

प मु /३/४७/२१ दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्।४७। =दृष्टान्तके दो भेद है—एक अन्वय दृष्टान्त दूसरा व्यतिरेक दृष्टान्त। (न्या. दी /३§३२/७८/७), (न्या. दी./३/§६४/१०४/८)।

३. साधर्म्य और वैधर्म्य सामान्यका लक्षण

न्या. सू /मू.व. टी /१/१/३६/३७/३१ साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।३६।·· शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवदि-

स्युदाह्रियते ॥टीका॥ तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ।३७।...अनित्य' शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि सोऽयमात्मादि-र्दृष्टान्त ।=साध्यके साथ तुल्य धर्मतासे साध्यका धर्म जिसमें हो ऐसे दृष्टान्तको (साधर्म्य) उदाहरण कहते हैं ।३६। शब्द अनित्य है, क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है, जो-जो उत्पत्ति धर्मवाला होता है वह-वह अनित्य होता है जैसे कि 'घट'। यह अन्वयी (साधर्म्य) उदाहरणका लक्षण कहा। साध्यके विरुद्ध धर्मसे विपरीत (वैधर्म्य) उदाहरण होता है, जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्यर्थवाला होनेपे, जो उत्पत्ति धर्मवाला नहीं होता है, वह नित्य देखा गया है, जैसे—आकाश, आत्मा, काल आदि।

न्या. वि./टी./२/२११/२४०/२० तत्र साधर्म्येण कृतकत्वादनित्यत्वे साध्ये घट', तत्रान्वयमुखेन तयो' संबन्धप्रतिपत्तेः। वैधर्म्येणाकाशं तत्रापि व्यतिरेकद्वारेण तयोस्तत्परिज्ञानात्।=कृतक होनेसे अनित्य है जैसे कि 'घट'। इस हेतुमें दिया गया दृष्टान्त साधर्म्य है। यहाँ अन्वयकी प्रधानतासे कृतकत्व और अनित्यत्व इन दोनोकी व्याप्ति दर्शायी गयी है। अकृतक होनेसे अनित्य नही है जैसे कि 'आकाश', यहाँ व्यतिरेक द्वारा कृतक व अनित्यत्व धर्मोंकी व्याप्ति दर्शायी गयी है। (न्या. दी./३§३२/७८/७।

प./मु./३/४८-४६/२१ साध्यं व्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय-दृष्टान्त ।४८। साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेक-दृष्टान्त ।४६।=जहाँ हेतुकी मौजूदगीमे साध्यकी मौजूदगी बतलायी जाये उसे अन्वय दृष्टान्त कहते है। और जहाँ साध्यके अभावमें साधनका अभाव कहा जाय उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते है ।४८-४६।

न्या दी /३/§३२/७८/३ यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति साधर्म्योदाहरणम्। यो योऽग्निमान्न भवति स स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रद इति वैधर्म्योदाहरणम्। पूर्वत्रोदाहरणभेदे हेतोरन्वयव्याप्ति' प्रदर्श्यते द्वितीये तु व्यतिरेकव्याप्ति.। तद्यथा—अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्त, व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्त ।

न्या. दी./३/§६४/१०४/७ धूमादौ सति नियमेनाग्न्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति तत्र महानसादिरन्वय-दृष्टान्त'। अत्र साध्यसाधनयोर्भावरूपान्वयसप्रतिपत्तिसभवात् ह्रदादिस्तु व्यतिरेकदृष्टान्त.। अत्र साध्यसाधनयोरभावरूप-व्यतिरेकसप्रतिपत्तिसभवात्। =जो जो धूमवाला है वह वह अग्नि वाला है जैसे—रसोईघर। यह साधर्म्य उदाहरण है। जो जो अग्निवाला नही होता वह वह धूम-वाला नहीं होता जैसे—तालाब। यह वैधर्म्य उदाहरण है। उदाहरण के पहले भेदमें हेतुकी अन्वय व्याप्ति (साध्यकी मौजूदगीमें साधन-की मौजूदगी) दिखायी जाती है और दूसरे भेदमें व्यतिरेकव्याप्ति (साध्यकी गैरमौजूदगीमें साधनकी गैरमौजूदगी) बतलायी जाती है। जहाँ अन्वय व्याप्ति प्रदर्शित की जाती है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते है. और जहाँ व्यतिरेक व्याप्ति दिखायी जाती है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते है। धूमादिके होनेपर नियमसे अग्नि आदि पाये जाते हैं, और अग्न्यादिके अभावमें नियमसे धूमादिक नही पाये जाते'। उनमें रसोईशाला आदि दृष्टान्त अन्वय है, क्योकि वह साध्य और साधनके सद्भावरूप अन्वय बुद्धि होती है। और तालाबादि व्यतिरेक दृष्टान्त है, क्योकि साध्य और साधनके अभाव-रूप व्यतिरेकका ज्ञान होता है।

४. उदाहरणाभास सामान्यका लक्षण व भेद

न्या दी./३/§६६/१०५/१० उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदाहरणाभास.। उदाहरणलक्षणराहित्यं द्वेधा संभवति, दृष्टान्त-स्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग् वचनेन वा। =जो उदाहरणके लक्षणसे रहित है किन्तु उदाहरण जैसा प्रतीत होता है वह उदा-हरणाभास है। उदाहरणके लक्षणकी रहितता (अभाव) दो तरहसे होता है—१. दृष्टान्तका सम्यग्वचन न होना और दूसरा जो दृष्टान्त नही है उसका सम्यग्वचन होना।

५. उदाहरणाभासके भेदोंके लक्षण

न्या दी /३/§६५/१०५/१२ तत्राद्य' यथा, यो योऽग्निमान् स स धूमवान्, यथा महानस इति, यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राग्निर्नास्ति, यथा महाह्रद इति च व्याप्यव्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम्।

न्या.दी./३/§६८/१०८/७ अदृष्टान्तवचनं तु, अन्वयव्याप्तो व्यतिरेक-दृष्टान्तवचनम्, व्यतिरेकव्याप्तावन्वयदृष्टान्तवचनं च, उदाहरणा-भासौ। स्पष्टमुदाहरणम्। =उनमें पहलेका उदाहरण इस प्रकार है—जो-जो अग्निवाला होता है वह-वह धूमवाला होता है, जैसे रसोईघर। जहाँ-जहाँ धूम नही है वहाँ-वहाँ अग्नि नही है जैसे—तालाब। इस तरह व्याप्य और व्यापकका विपरीत (उलटा) कथन करना दृष्टान्तका असम्यग्वचन है। 'अदृष्टान्त वचन' (जो दृष्टान्त नही है उसका सम्यग्वचन होना) नामका दूसरा उदाहरणाभास इस प्रकार है—अन्वय व्याप्तिमे व्यतिरेक दृष्टान्त कह देना, और व्यतिरेक व्याप्तिमें अन्वय दृष्टान्त बोलना, उदाहरणाभास है, इन दोनोके उदाहरण स्पष्ट हैं।

६. दृष्टान्ताभास सामान्यके लक्षण

न्या.वि /मू /२/२११/२४० सम्बन्धी यत्र निर्ज्ञात साध्यसाधनधर्मयोः। स दृष्टान्तस्तदाभासा साध्यादिविकलादय। =जो दृष्टान्त न होकर दृष्टान्तवत् प्रतीत होवें वे दृष्टान्ताभास है।

पं. ध /पू./४१० दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ता स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात्।... ।४१०।=इस प्रकार दिये हुए दृष्टान्त अपने इष्ट साध्यके द्वारा शून्य होनेसे अर्थात् अपने इष्ट साध्यके साधक न होनेसे दृष्टान्ताभास हैं ।४१०।

७. दृष्टान्ताभासके भेद

न्या वि /टी /२/२११/२४०/२६ भावार्थ—साधर्म्यदृष्टान्ताभास नौ प्रकार-का है—साध्य विकल, साधन विकल, उभय विकल, सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन, सन्दिग्धोभय, अन्वयासिद्ध, अप्रदर्शितान्वय और विपरीतान्वय।

इसी प्रकार वैधर्म्य दृष्टान्ताभास भी नौ प्रकारका होता है—साध्य विकल, साधन विकल, उभय-विकल सन्दिग्ध, साध्य, सन्दिग्धसाधन, सन्दिग्धोभय, अव्यतिरेक, अप्रदर्शित व्यतिरेक, विपरीत व्यतिरेक।

प. मु /६/४०,४४ दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभया' ।४०। व्यतिरेकसिद्धतद्व्यतिरेका. ।४५। =अन्वयदृष्टान्ता भास तीन प्रकार-का है—साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ।४०। व्यतिरेक-दृष्टान्ताभासके तीन भेद हैं—साध्यव्यतिरेकविकल, साधनव्यतिरेक-विकल एवं साध्यसाधन उभय व्यतिरेकविकल।

८. दृष्टान्ताभासके भेदोंके लक्षण

न्या.वि /वृ /२/२११/२४०/२८ तत्र नित्यशब्दोऽमूर्तत्वादिति सापने कर्म-वदिति साध्यविकलं निदर्शनम् अनित्यत्वात् कर्मण। परमाणु-वदिति साधनविकलं मूर्तत्वात् परमाणूनाम्। घटवदित्युभयविकलम् अनित्यत्वान्मूर्तत्वाच्च घटस्य। 'रागादिमान् सुगत' कृतकत्वात्' इत्यत्र रथ्यापुरुषवदिति सन्दिग्धसाध्य रथ्यापुरुष रागादिमत्त्वस्य निश्चेतुमशक्यत्वात् प्रत्यक्षस्याप्रवृत्ते व्यापारादेश्च रागादिप्रभवस्या-न्यत्रापि संभवात्, वीतरागाणामपि सरागवच्चेष्टोपपत्ते'। 'मरण-धर्मायं रागादिमत्त्वात् इत्यत्र संदिग्धसाधनं तत्र रागादिमत्त्वाऽ-

निश्चयस्योक्तत्वात । अतएव असर्वज्ञोऽय रागादिमत्त्वादित्यन्तसंदिग्धोभयम्। रागादिमत्त्वे वक्तृत्वादित्यनन्वयम्, रागादिमत्त्वस्यैव तत्रासिद्धौ तत्रान्वयस्यासिद्धे'। अप्रदर्शितान्वय यथा शब्दोऽनित्य' कृतकत्वात घटादिवदिति । न ह्यत्र 'यद्यत्कृतक तत्तदनित्यम्' इत्यन्वयदर्शनमस्ति। विपरीतान्वयं यथा यदनित्यं तत्कृतकमिति । तदेवं नव साधर्म्येण दृष्टान्ताभासा'। वैधर्म्येणापि नवैव । तद्यथा नित्य' शब्द' अमूर्तत्वात यदनित्यं न भवति तदमूर्तमपि न भवति परमाणुवदिति साध्यव्यावृत्तं परमाणुषु साधनव्यावृत्तावपि साध्यस्य नित्यत्वस्याव्यावृत्ते' । कर्मवदिति साधनाव्यावृत्तं तत्र साध्यव्यावृत्तावपि साधनस्य अमूर्तत्वस्याव्यावृत्ते' आकाशवदित्युभयावृत्तम् अमूर्तत्वनित्यत्वयोरुभयोरप्याकाशादव्यावृत्ते । संदिग्धसाध्यव्यतिरेकं यथा सुगत' सर्वज्ञोऽनुपदेशादिप्रमाणोपपन्नतत्त्ववचनात, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ तद्वचनो यथा वीथी पुरुष इति तत्र सर्वज्ञत्वव्यतिरेकस्यानिश्चयात् परचेतोवृत्तीनामित्थंभावेन दुरवबोधत्वात । संदिग्धसाधनव्यतिरेक यथा अनित्य' शब्द सत्त्वात यदनित्यं न भवति तत्सदपि न भवति यथा गगनमिति, गगने हि सत्त्वव्यावृत्तेरनुपलम्भात, तस्य च न गमकत्वमदृश्यविपक्षत्वात् । संदिग्धोभयव्यतिरेकं यथा य संसारी स न तद्वान् यथा बुद्ध इति, बुद्धात संसारित्वाविद्यादिमत्त्वव्यावृत्ते' अनवधारणात। तस्य च तृतीये प्रस्तावे निरूपणात। अव्यतिरेक यथा नित्य. शब्द अमूर्तत्वात् यन्न नित्यं न तदमूर्तं यथा घट इति घटे साध्यनिवृत्तेर्भावेऽपि हेतुव्यतिरेकस्य तत्प्रयुक्तत्वाभावात कर्मण्यनित्येऽप्यमूर्तत्वभावात। अप्रदर्शितव्यतिरेक यथा अनित्य' शब्द सत्त्वात् वैधर्म्येण आकाशवदिति। विपरीत व्यतिरेक यथा अत्रैव साध्ये यन्सन्न भवति तदनित्यमपि न भवति यथा व्योमेति साधनव्यावृत्त्या साध्यनिवृत्तेरुपदर्शनात । =१. अन्वयदृष्टान्ताभासके लक्षण—१ 'अमूर्त होनेसे शब्द अनित्य है' इस हेतुमें दिया गया 'कर्मवत्' ऐसा दृष्टान्त साध्यविकल है, क्योंकि कर्म अनित्य है, नित्यत्व रूप साध्यसे विपरीत है। २. 'परमाणुवत' ऐसा दृष्टान्त देना साधनविकल्प है, क्योंकि वह मूर्त है और अमूर्तत्व रूप साधनसे (हेतुसे) विपरीत है। ३. 'घटवत्' ऐसा दृष्टान्त देना उभय विकल है। क्योंकि घट मूर्त व अनित्य है। यह अमूर्तत्व-रूप साधन तथा अनित्यत्व रूप साध्यसे विपरीत है। ४ 'सुगत (बुद्धदेव) रागवाला है, क्योंकि वह कृतक है' इस हेतुमें दिया गया—'रथ्या पुरुषवत्' ऐसा दृष्टान्त सन्दिग्ध साध्य है, क्योंकि रथ्या-पुरुषमें रागादिमत्त्वका निश्चय होना अशक्य है। उसके व्यापार या चेष्टादि परसे भी उसके रागादिमत्त्वकी सिद्धि नही की जा सकती, क्योंकि वीतरागियोंमें भी शरीरवत् चेष्टा पायी जाती है। ५. तहाँ रागादिमत्त्वकी सिद्धिमे 'मरणधर्मापनेका' दृष्टान्त देना सन्दिग्ध साधन है, क्योंकि मरणधर्मा होते हुए भी रागादिधर्मापनेका निश्चय नही है। ६ 'असर्वज्ञपनेका' दृष्टान्त देना सन्दिग्धसाध्य व सन्दिग्ध साधन उभय रूप है। ७ वक्तृत्वपनेका दृष्टान्त देना अनन्वय है, क्योंकि रागादिमत्त्वके साथ वक्तृत्वका अन्वय नही है। ८ 'कृतक होनेसे शब्द अनित्य है' इस हेतुमें दिया गया 'घटवत्' यह दृष्टान्त अप्रदर्शितान्वय है। क्योंकि जो जो कृतक हो वह वह नियमसे अनित्य होता है, ऐसा अन्वय पद दर्शाया नही गया। ९ जो जो अनित्य होता है वह-वह कृतक होता है, यह विपरीतान्वय है। २. व्यतिरेक दृष्टान्ताभासके लक्षण—१ 'अमूर्त होनेसे शब्द अनित्य है, जो-जो नित्य नहीं होता वह-वह अमूर्त नही होता' इस हेतुमें दिया गया 'परमाणुवत' यह दृष्टान्त साध्य विकल है, क्योंकि परमाणुमें साधनरूप अमूर्तत्वकी व्यावृत्ति होनेपर भी साध्य रूप नित्यत्वकी व्यावृत्ति नही है। २ उपरोक्त हेतुमें दिया गया 'कर्मवत्' यह दृष्टान्त साधन विकल है, क्योंकि यहाँ साध्यरूप नित्यत्वकी व्यावृत्ति होनेपर भी साधन रूप अमूर्तत्वकी व्यावृत्ति नहीं है। ३. उपरोक्त हेतुमें ही दिया गया 'आकाशवत्' यह दृष्टान्त उभय विकल है, क्योंकि यहाँ न तो साध्यरूप नित्यत्वकी व्यावृत्ति है, और न साधन रूप नित्यत्वकी। ४. 'सुगत सर्वज्ञ है क्योंकि उसके वचन प्रमाण है, जो-जो सर्वज्ञ नहीं होता, उसके वचन भी प्रमाण नहीं होते, इस हेतुमें दिया गया 'वीथी पुरुषवत' यह दृष्टान्त सन्दिग्ध साध्य है, क्योंकि वीथी पुरुषमें साध्यरूप सर्वज्ञत्वके व्यतिरेकका निश्चय नहीं है, दूसरे अन्यके चित्तकी वृत्तियोंका निश्चय करना शक्य नहीं है। ५. 'सत्त्व होनेके कारण शब्द अनित्य है, जो जो अनित्य नहीं होता वह वह सत भी नहीं होता' इस हेतुमें दिया गया 'आकाशवत्' यह दृष्टान्त सन्दिग्ध साधन है, क्योंकि आकाशमें न तो साधन रूप सत्त्वकी व्यावृत्ति पायी जाती है, और अदृष्ट होनेके कारणसे न ही उसके सत्त्वका निश्चय हो पाता है। ६. 'अविद्यावत होनेके कारण हरि हर आदि संसारी हैं, जो जो संसारी नहीं होता वह वह अविद्यावत् भी नही होता। इस हेतुमें दिया गया 'बुद्धवत' यह दृष्टान्त सन्दिग्धोभय व्यतिरेकी है। क्योंकि बुद्धके साथ साध्यरूप संसारीपनेकी और साधन रूप 'अविद्यावत्पने' दोनों ही की व्यावृत्तिका कोई निश्चय नहीं है। ७. अमूर्त होनेके कारणसे शब्द नित्य है, जो जो नित्य नहीं होता वह वह अमूर्त भी नहीं होता, इस हेतुमें दिया गया 'घटवत' यह दृष्टान्त अव्यतिरेकी है, क्योंकि घटमें साध्यरूप नित्यत्वकी निवृत्तिका स्वभाव होते हुए भी साधन रूप अमूर्तत्वकी निवृत्तिका अभाव है। ८. 'सत् होनेके कारण शब्द अनित्य है, जो-जो अनित्य नहीं होता, वह-वह सत् भी नहीं होता' इस हेतुमे दिया गया 'आकाशपुष्पवत' यह दृष्टान्त अप्रदर्शित व्यतिरेकी है, क्योंकि आकाशमे साध्यरूप अनित्यत्वके साथ साधन रूप सत्त्वका विरोध दर्शाया नहीं गया है। ९. 'जो जो सत् नहीं होता, वह वह अनित्य नहीं होता, इस हेतुमें दिया गया आकाशपुष्पवत् यह दृष्टान्त विपरीत व्यतिरेकी है, क्योंकि यहाँ आकाशमें साधन रूप सत्की व्यावृत्तिके द्वारा साध्यरूप नित्यत्वकी निवृत्ति दिखायी गयी है न कि अनित्यत्वकी।

म.'मु /६/४१-४५ अपौरुषेय' शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।४१। विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेय तदमूर्तं । विद्युदादिनातिप्रसंगात ।४२-४३। व्यतिरेकसिद्धतद्व्यतिरेका' परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयं ।४४-४५।

१. अन्वयदृष्टान्ताभासके लक्षण—१. 'शब्द अपौरुषेय है क्योंकि वह अमूर्त है' इस हेतुमें दिया गया—'इन्द्रियसुखवत' यह दृष्टान्त साध्य विकल है क्योंकि इन्द्रिय सुख अपौरुषेय नही है किन्तु पुरुषकृत ही है। २. 'परमाणुवत' यह दृष्टान्त साधन विकल है क्योंकि परमाणुमें रूप, रस, गन्ध आदि रहते हैं इसलिए वह मूर्त है अमूर्त नही है। ३. 'घटवत्' यह दृष्टान्त उभय विकल है, क्योंकि घट पुरुषकृत् है, और मूर्त्त है, इसलिए इसमें अपौरुषेयत्व साध्य एव अमूर्तत्व हेतु दोनों ही नहीं रहते। ४ उपर्युक्त अनुमानमें जो जो अमूर्त होता है वह वह अपौरुषेय होता है, ऐसी व्याप्ति है, परन्तु जो जो अपौरुषेय होता है वह वह अमूर्त होता है ऐसी उलटी व्याप्ति दिखाना भी अन्वयदृष्टान्ताभास है, क्योंकि बिजली आदिसे व्यभिचार आता है, अर्थात् बिजली अपौरुषेय है परन्तु अमूर्त नही है ।४२-४३।

२. व्यतिरेक दृष्टान्ताभासके लक्षण—१. 'शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त है' इस हेतुमें दिया 'परमाणुवत' यह दृष्टान्त साध्य विकल है, क्योंकि अपौरुषेयत्व रूप साध्यका व्यतिरेक (अभाव) पौरुषेयत्व परमाणुमें नही पाया जाता। २. 'इन्द्रियसुखवत' यह दृष्टान्त साधन विकल है, क्योंकि अमूर्तत्व रूप साधनका व्यतिरेक इसमें नहीं पाया जाता। ३. 'आकाशवत्' यह दृष्टान्त उभय विकल है, क्योंकि इसमें पौरुषेयत्व मूर्तत्व दोनो ही नही रहते। ४. जो मूर्त नहीं है वह अपौरुषेय भी नहीं है इस प्रकार व्यतिरेकदृष्टान्ताभास है।

क्योंकि व्यतिरेकमें पहले साध्याभाव और पीछे साधनाभाव कहा जाता है परन्तु यहाँ पहले साधनाभाव और पीछे साध्याभाव कहा गया है इसलिए व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है ।४४-४५।

९. विषम दृष्टान्तका लक्षण

न्या. वि /मू./१/४२/२६२ विषमोऽयमुपन्यामस्तयोश्चेत्सदसत्त्वत · ।४२। =दृष्टान्तके सदृश न हो उसे विषम दृष्टान्त कहते है, और वह विषमता भी देश और कालके सत्त्व और असत्त्वकी अपेक्षासे दो प्रकारकी हो जाती है । ज्ञान वाले क्षेत्रमें असत् होते हुए भी ज्ञानके कालमें उसकी व्यक्तिका सद्भाव हो अथवा क्षेत्रकी भाँति ज्ञानके कालमें भी उसका सद्भाव न हो ऐसे दृष्टात विषम कहलाते है ।

२. दृष्टान्त-निर्देश

१. दृष्टान्त सर्वदेशी नही होता

ध.१३/५,५,१२०/३८०/६ ण, सव्वप्पणा सरिसदिट्ठंताभावादो । भावे वा चंदमुही कण्णे 'त्ति ण घडदे, चंदम्मि भूमुहचिख-णासादीणमभावादो । =दृष्टान्त सर्वात्मना सदृश नही पाया जाता । यदि कहो कि सर्वात्मना सदृश दृष्टान्त होता है तो 'चन्द्रमुखी कन्या' यह घटित नहीं हो सकता, क्योंकि चन्द्रमें भ्रू, मुख, आँख और नाक आदिक नहीं पाये जाते ।

२. अनिष्णातजनोंके लिए ही दृष्टान्तका प्रयोग होता है

प. मु./३/४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं—तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादे, अनुपयोगात् ।४६। =दृष्टान्तादिके स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ बालकोके समझानेके लिए यद्यपि दृष्टादि (उपनयनिगमन) कहना उपयोगी है, परन्तु शास्त्रमें ही उनका स्वरूप समझना चाहिए, बादमें नहीं, क्योंकि वाद व्युत्पन्नोंका ही होता है ।४६।

३ व्यतिरेक रूप ही दृष्टान्त नहीं होते

न्या.वि./मू /२/२१२/२४१ सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् । अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽय क्षणक्षय' ।२१२। =सर्वत्र व्यतिरेकको ही सिद्ध करने वाले दृष्टान्त नहीं होते, क्योंकि दूसरेके द्वारा अभिमत सर्व ही भावोंकी सिद्धि उससे नहीं होती, सपक्ष और विपक्ष इन दोनो धर्मियोका अभाव होने से ।

दृष्टि अमृतरस ऋद्धि—दे० ऋद्धि/८ ।

दृष्टि निर्विष औषध ऋद्धि—दे० ऋद्धि/७ ।

दृष्टि प्रवाद—ध ६/४,१,४५/२०१/६ दिट्ठिवादो त्ति गुणणामं, दिट्ठीओ वददि त्ति सद्दणिप्पत्तीदो । =दृष्टिवाद यह गुणनाम है, क्योंकि दृष्टियोंको जो कहता है, वह दृष्टिवाद है, इस प्रकार दृष्टिवाद शब्दकी सिद्धि है । यह द्वादशाग श्रुत ज्ञानका १२वाँ अग है । विशेष दे० श्रुतज्ञान/III ।

दृष्टिभेद— यद्यपि अनुभवगम्य आध्यात्मिक विषयमें आगममें कही भी पूर्वापर विरोध या दृष्टिभेद होना सम्भव नहीं है, परन्तु सूक्ष्म दूरस्थ व अन्तरित पदार्थोंके सम्बन्धमें कहीं-कहीं आचार्योंका मतभेद पाया जाता है । प्रत्यक्ष ज्ञानियोके अभावमें उनका निर्णय दुरन्त होनेके कारण धवलाकार श्री वीरसेन स्वामीका सर्वत्र यही आदेश है कि दोनों दृष्टियोंका यथायोग्य रूपमें ग्रहण कर लेना योग्य है । यहाँ कुछ दृष्टिभेदोंका निर्देश मात्र निम्न सारणी द्वारा किया जाता है । उनका विशेष कथन उस उस अधिकारमें ही दिया है ।

नं.	विषय	दृष्टि न० १	दृष्टि नं. २	दे०—
	मार्गणाओंकी अपेक्षा			
१	स्वर्गवासी इन्द्रोंकी सख्या	२४	२८	स्वर्ग/२
२	ज्योतिषी देवोंका अवस्थान	नक्षत्रादि ३ योजन की दूरी पर	४ योजनकी दूरीपर	ज्योतिषी
३	देवोकी विक्रिया	स्व अवधि क्षेत्र प्रमाण	घटित नहीं होता	देव/२
४	देवोंका मरण	मूल शरीरमें प्रवेश करके ही मरते है	नियम नहीं	मरण/५/५
५	सासादन सम्यग्दृष्टि देवोका जन्म	एकेन्द्रियोमें होता है	नही होता	जन्म
६	प्राप्यकारी इन्द्रियोका विषय	९ योजन तकके पुद्गलोसे संबध करके जान सकती है	नही	इन्द्रिय
७	बादर तेजस्कायिक जीवोका लोकमे अवस्थान	ढाई द्वीप व अर्ध-स्वयंभूरमण द्वीपमें ही होते है ।	सर्वद्वीप समुद्रोंमें सम्भव है	
८	लब्धि अपर्याप्तके 'परिणाम योग'	आयुबन्ध कालमें होता है	घटित नही होता	योग
९	चारों गतियोमें कषायोकी प्रधानता	एक एक कषाय प्रधान है	नियम नही	कषाय
१०	द्रव्य श्रुतके अध्ययनकी अपेक्षा भेद	सूत्र समादि अनेको भेद है	नही है	निक्षेप/५
११	द्रव्य श्रुतज्ञानमें षट्गुणहानि वृद्धि	अक्षर श्रुतज्ञान ६ वृद्धियोसे बढता है	नही	श्रुतज्ञान
१२	अक्षर श्रुतज्ञानसे आगेके श्रुतज्ञानोंमे वृद्धि क्रम	दुगुने-तिगुने आदि क्रमसे होती है	सर्वत्र षट्स्थान वृद्धि होती है	"
१३	सज्ञी सम्मूर्च्छनोमें अवधिज्ञान	होता है	नही होता	अवधिज्ञान
१४	क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञानका विषय	एक श्रेणी रूप ही जानता है	नही	"
१५	क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञानका विषय	सूक्ष्म निगोदियाकी अवगाहना प्रमाण आकाशकी अनेक श्रेणियोको जानता है	नहीं	"
१६	सर्वावधिका क्षेत्र	परमावधिसे अस० गुणित है	नही	"
१७	अवधिज्ञानके करण-चिह्न	करणचिह्नोंका स्थान अवस्थित है	नही है	"
१८	क्षेत्रकी अपेक्षा मन-पर्यय ज्ञानका विषय	एकाकाश श्रेणीमें ही जानता है	नहीं	मन पर्यय ज्ञान
१९	क्षेत्रकी अपेक्षा मन-पर्यय ज्ञानका विषय	मनुष्य क्षेत्रके भीतर भीतर ही जानता है	नहीं	"
२०	जन्मके पश्चात् तिर्यंचोमें संयमासंयम ग्रहणकी योग्यता	मुहूर्त पृथक्त्व अधिक दो माससे पहले सभव नहीं	तीन पक्ष तीन दिन और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात भी सभव है	सयम

नं.	विषय	दृष्टि नं० १	दृष्टि नं० २	दे०—
२१	जन्मके पश्चात् मनुष्योंमें संयम व संयमासंयम ग्रहण-की योग्यता	अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्षसे पहले सम्भव नहीं	आठ वर्ष पश्चात भी संभव है	संयम
२२	जन्मके पश्चात मनुष्योंमें संयम व संयमासंयम ग्रहण-की योग्यता	गर्भसे लेकर आठ वर्ष पश्चात बीत जानेके पश्चात संभव है	जन्मसे लेकर आठ वर्षके पश्चात् सम्भव है	,,
२३	केवलदर्शनका अस्तित्व	केवलज्ञान ही है दर्शन नहीं	दोनों है	दर्शन
२४	लेश्या	द्रव्यलेश्याके अनुसार ही भावलेश्या होती है	नियम नहीं	लेश्या
२५	लेश्या	बकुशादिकी अपेक्षा संयमियोंमें भी अशुभ लेश्या सम्भव है	नहीं	,,
२६	द्वितीयोपशमकी प्राप्ति	४-७ गुणस्थान तक सम्भव है	केवल ७वें गुणस्थानमें ही सम्भव है	सम्यग्दर्शन
२७	सासादन सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति	द्वितीयोपशम सम्य० से गिरकर प्राप्त होना सम्भव	नहीं	सासादन
२८	सासादन पूर्वक मरण करके जन्म सम्बन्धी	एके० विक०में उत्पन्न नहीं होता	हो सकता है	जन्म
२९	सर्वार्थसिद्धिके देवोंकी संख्या	पर्याप्त मनुष्यनीसे तिगुनी है	सात गुणी है	संख्या/२
३०	उपशामक जीवोंकी संख्या	८ समय अधिक वर्ष पृथक्त्वमें ३०० होते हैं	३०४ होते हैं या २९९ होते हैं	,,
३१	तेजसकायिक जीवोंकी संख्या	चौथी बार स्थापित शलाका राशिके अर्ध भागसे ऊपर होती है	नहीं	,,
३२	बादर निगोदकी एक श्रेणी वर्गणाओंका गुणकार	जगत श्रेणीके असं०वें भाग	असंख्यात प्रतरावली	,,
३३	विग्रहगतिमें जीवका गमन	उपपादस्थानको अतिक्रमण नहीं करता	कर जाता है	क्षेत्र/३/४
३४	कषायोंका जघन्य काल	एक समय है	अन्तर्मुहूर्त है	काल
३५	सिद्धोंका अल्पबहुत्व	सिद्ध कालकी अपेक्षा सिद्ध जीव असंख्यात गुणे है	विशेषाधिक है	अल्पबहुत्व/-१/४
३६	जघन्य व बादर निगोद वर्गणामें अल्पबहुत्वका गुणकार	जगत श्रेणीके असंख्यातवें भाग	आवलीके असंख्यातवें भाग	,,
३७	प्रत्येक शरीर वर्गणा व ध्रुव शून्य वर्गणामें अल्प-बहुत्वका गुणकार	घनावलीके असंख्यातवें भाग	अनन्तलोक	अल्पबहुत्व
३८	आहारक वर्गणाके अल्प-बहुत्वका गुणकार।	परस्पर अनंतगुणा	भागाहारोंसे अनन्तगुणा	अल्पबहुत्व -/१/५
३९	दर्शनमोह प्रकृतियोंका अल्प-बहुत्व	सम्य० मिथ्यात्वमें सम्यक् प्र० की अन्तिम फालि असंख्यात गुणी है	विशेषाधिक है	अल्पबहुत्व -/१/७
४०	प्रकृति बंध	नरकगतिके साथ उदय योग्य प्रकृ०-का बंध भी नरकगतिके साथ ही होता है	नियम नहीं	प्रकृति-बंध
४१	,,	बन्धयोग्य प्रकृति १२० है	१४८ है	,,
४२	अनिवृत्तिकरणमें बंध व्युच्छित्ति	मान व मायाकी बन्ध व्युच्छित्ति क्रमसे सं० भाग काल व्यतीत होनेपर होती है	नियम नहीं	,,
४३	आयुका अपवर्तन	उत्कृष्ट आयुका अपवर्तन नहीं होता	होता है	आयु ४/३
४४	आठ अपकर्षोंमें आयु न बंधे तो	आयुमें आवलीका असं० भाग शेष रहनेपर बंधती है	समयघात मुहूर्त शेष रहनेपर बंधती है	आयु/४/-३
४५	तीर्थंकर प्र० का स्थिति बंध	३३÷२ प्र० को + २ वर्ष है	घटित नहीं होता	स्थिति बन्ध
४६	परमाणुओंका परस्पर बंध	समगुणवर्ती विषम परमाणुओंका बन्ध नहीं होता	होता है	स्कन्ध
४७	परमाणुओंका परस्पर बंध	एक गुणके अन्तरसे बंध नहीं होता	विषम परमाणुओंमें होता है	,,
४८	उदय व्युच्छित्ति	एके० आदि प्रकृ०की उदय व्युच्छित्ति पहले गुणस्थानमें हो जाती है	दूसरे गुणस्थानमें होती है	उदय
४९	उदय योग्य प्रकृति	१२२ हैं	१४८ है	उदय १/७
५०	प्रकृतियोंकी सत्ता	सासादनमें आहारक चतुष्कका सत्त्व है	नहीं है	सत्त्व
५१	,,	८वें गुण०में ८ प्रकृ० का सत्त्व स्थान नहीं है	है	,,
५२	,,	मायाके सत्त्व रहित ४ स्थान ९वें गुण० तक है।	१० वें गुणस्थान तक है	,,

नं.	विषय	दृष्टि नं० १	दृष्टि नं० २	दे०—
		मिश्रगुणस्थानमें तीर्थंकरका सत्त्व नहीं	है	सत्त्व
५३	प्रकृतियोंकी सत्ता	९वें गुणस्थानमें पहले ८ कषायोकी व्युच्छित्ति होती है पीछे १६ प्रकृ० की	पहले १६ प्रकृ० की व्युच्छित्ति होती है पीछे ८ कषायोंकी	,,
५४	१४ वे गुणस्थानमें नामकर्मकी प्रकृ०की सत्त्व व्युच्छित्ति	उपान्त समयमें ७२ की चरम समयमें १३ की	उपान्त समयमें ७३ चरम समय में १२	,,
५५	उत्कर्पण विधानमें उत्कृष्ट निषेक सम्बन्धी	दो मत है।	—	उत्कर्पण
५६	अनिवृत्तिकरणमे सम्यक्त्व प्रकृतिकी क्षपणा	८ वर्षों को छोडकर शेष सर्व स्थिति सत्त्वका ग्रहण	संख्यात हजार वर्षोंको छोडकर शेष सर्व स्थिति सत्त्वका ग्रहण	क्षय/२/९
५७	महामत्स्यका शरीर	मुख और पूँछपर अतिसूक्ष्म है	घटित नहीं होता	संमूर्छन
५८	अवगाहना	दुखमाकालके आदिमें ३ हाथ होती है	३½ हाथ होती है	काल
५९	मरण	जिस गुणस्थानमे आयु बधी है उसी में मरण होता है	नियम नहीं है	मरण/३
६०	,,	मरण समय सभी देव अशुभ तीन लेश्याओंमे आ जाते है	केवल कापोत लेश्यामें आते हैं	मरण/३
६१	,,	द्वितीयोपशमसे प्राप्त सासादनमें मरण नहीं होता है	होता है	,,
६२	,,	कृतकृत्य वेदक जीव मरण नहीं करता	करता है	मरण
६३	,,	जघन्य आयुवाले जीवोका मरण नही होता	होता है	,,
६४	मारणान्तिक समु० गत महामत्स्यका जन्म	निगोद व नरक दो जगह सम्भव है	घटित नहीं होता	मरण/९
६५	तिर्यग्लोकका अन्त	वातवलयोके अतमें होता है	भीतर-भीतर ही रहत है	तिर्यंच
६६	वातवलयोका क्रम	घनोदधि घन व तनु	घन घनोदधि तनु	लोक/१
६७	देव व उत्तर कुरुमे स्थित द्रह व कांचन गिरि	सीता व सीतोदा नदीके दोनों किनारोपर पॉच द्रह हे, कुल २० द्रह हैं	सीता व सीतोदा नदीके मध्य पाँच द्रह हैं ऐसे १० द्रह है	लोक/९
६८	,,	प्रत्येक द्रहके दोनों तरफ ५,५ कांचन गिरि हैं, कुल १०० हैं	प्रत्येकके दोनो तरफ १०-१० कांचन गिरि हैं कुल १०० है	,,
६९	लवण समुद्रमें देवों की नगरियाँ	आकाशमे भी हैं और सागरके दोनों किनारोपर पृथ्वी पर भी	पृथ्वीपर नगरियाँ नहीं हैं	लोक/५
७०	नंदीश्वर द्वीपस्थ रतिकर पर्वत	प्रत्येक दिशामे आठ रतिकर हैं	१६ रतिकर हैं	लोक/५
७१	नंदीश्वर द्वीपकी विदिशाओंमें स्थित अजन शैल	है	नहीं है	लोक/५
७२	कुण्डलवर द्वीपस्थ जिनेन्द्र कूट	चार है	आठ हैं	लोक/५
७३	कुमानुष द्वीपोकी स्थिति	जम्बू द्वीपकी वेदिकासे इनका अन्तराल बताया जाता हे	विभिन्न प्रकार से बताया जाता हे	लोक/९
७४	पाण्डुशिलाका विस्तार	१००×५०×८ यो० है	५००×२५०×४ योजन है	लोक/६
७५	सौमनस वनमें स्थित बलभद्र नामा कूट	१००×१००×५० यो०	१०००×१००×५०० योजन	लोक/६
७६	गजदंतोका विस्तार	सर्वत्र ५०० योजन	मेरुके पास ५०० और कुलधरके पास २५० यो०	लोक/६
७७	लवण समुद्रका विस्तार	पृथ्वीसे ७०० यो० ऊँचे	११०० यो० ऊँचे	लोक/५
७८	शुक्ल व कृष्ण पक्ष में लवण समुद्रकी वृद्धि-हानि	२०० कोश बढता है	५००० यो० बढता है	लोक/५
७९	गंगा नदीका विस्तार	मुखपर २५ यो० है	६¼ यो० है	लोक/६
८०	चक्रवर्तीके रत्नोकी उत्पत्ति	आयुधशालादिमे उत्पन्न होते हैं	कोई नियम नहीं है	शलाका पुरुष
८१	बीज बुद्धि ऋद्धि	पहले बीजपदका अर्थ जानते है फिर उसका विस्तार जानते है	दोनो एक साथ जानते हे	ऋद्धि/२/२
८२	केवली समुद्घात	सभी केवलियोको होता है	किसी-किसीको होता है	केवली/७/२
८३	,,	६ माह आयु शेप रहनेपर समुद्घात होता हे	अन्तर्मुहूर्त शेप रहनेपर भी हो जाता है	केवली/७/६
८४	स्पर्शादि गुणोंके भग	परस्पर सयोगसे अनेक भग बन जाते हे	नही बँधते है	ध /पु १३/२५
८५	वीर निर्वाण पश्चात राजा शककी उत्पत्ति	४६१ वर्ष पश्चात	६०८५ वर्ष पश्चात	इतिहास /२/६
८६	,,	१४७९३ वर्ष पश्चात	६०५ वर्ष पश्चात	,,
८७	,,	७९९५ वर्ष पश्चात		,,
८८	कषाय पाहुड ग्रन्थ	१८० गाथाएँ नागहस्ती आचार्यने रची	कुल ग्रन्थ गुणधर आचार्यने रचा है	कषाय पाहुड
८९	सुग्रीवका भाई बाली	दीक्षा धारण कर ली	लक्ष्मणके हाथसे मारा गया	बाली

दृष्टि विष रस ऋद्धि—ऋद्धि/८।

दृष्टि शक्ति—स सा./आ./परि./शक्ति न. ३ अनाकारोपयोगमयी दृष्टिशक्ति.। =यह तीसरी दर्शन क्रिया रूप शक्ति है। कैसी है? जिसमें ज्ञेय रूप आकारका विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगमयी (सत्तामात्र पदार्थसे उपयुक्त होने स्वरूप) है।

देय—गणितकी विरलन देय विधि—दे० गणित/II/१/६।

देयक्रम—(क्ष.सा./भाषा/४७६/५६६/६) अपकर्षण कीया द्रव्यको जैसे दीया तैसे जो अनुक्रम सो देयक्रम है।

देयद्रव्य—जो द्रव्य निषेकों व कृष्टियो आदिमें जोडा जाता है उसे देय द्रव्य कहते है।

देव—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुत केवली) के पश्चात दसवें ११ अग व १० पूर्वके धारी हुए। आपका अपर नाम गगदेव था। समय—वी नि /३१५ ३२६ (ई.पू. २११-१९७) —दे० इतिहास/४/१।

देव—देव शब्दका प्रयोग वीतरागी भगवान् अर्थात अर्हंत सिद्धके लिए तथा देव गतिके ससारी जीवोंके लिए होता है। अत कथनके प्रसगको देखकर देव शब्दका अर्थ करना चाहिए। इनके अतिरिक्त पंच परमेष्ठी, चैत्य, चैत्यालय, शास्त्र तथा तीर्थक्षेत्र ये नौ देवता माने गये है। देवगतिके देव चार प्रकारके होते है—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी व स्वर्गवासी। इन सभीके इन्द्र सामानिक आदि दश श्रेणियाँ होती है। देवोंके चारों भेदोंका कथन तो उन उनके नामके अन्तर्गत किया गया है, यहाँ तो देव सामान्य तथा उनके सामान्य भेदोंका परिचय दिया जाता है।

I	**देव (भगवान्)**
१	**देव निर्देश**
१	देवका लक्षण।
२	देवके भेदोंका निर्देश।
३	नव देवता निर्देश।
४	आचार्य, उपाध्याय साधुमें भी कथचित् देवत्व।
५	आचार्यादिमें देवत्व सम्बन्धी शका समाधान।
२	**अन्य सम्बन्धित विषय**
*	सिद्ध भगवान् —दे० मोक्ष।
*	अर्हन्त भगवान् —दे० अर्हंत।
*	देव बाहरमें नहीं मनमें ह —दे० पूजा/३।
*	सुदेवके श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान —दे० सम्यग्दर्शन/II/१।
*	प्रतिमामें भी कथचिद् देवत्व —दे० पूजा/३।
II	**देव (गति)**
१	**भेद व लक्षण**
१	देवका लक्षण।
२	देवोंके भवनवासी आदि चार भेद।
*	व्यन्तर आदि देव विशेष —दे० वह वह नाम।
३	आकाशोपपन्न देवोंके भेद।
४	पर्याप्तापर्याप्तकी अपेक्षा भेद।
२	**देव निर्देश**
१	देवोंमें इन्द्रसामानिकादि १० विभाग।
*	इन्द्र सामानिकादि विशेष भेद —दे० वह वह नाम।
*	देवोंके सर्व भेद नामकर्म कृत है —दे०नामकर्म।
२	कन्दर्पादि देव नीच देव है
*	देवोंका दिव्य जन्म (उपपाद शय्यापर होता है) —दे० जन्म/२।
३	सभी देव नियमसे जिनेन्द्र पूजन करते है।
४	देवोंके शरीरकी दिव्यता
५	देवोंका दिव्य आहार।
६	देवोंके रोग नहीं होता।
७	देव गतिमें सुख व दुख निर्देश।
*	देवविशेष, उनके इन्द्र, वैभव व क्षेत्रादि —दे० वह वह नाम।
८	देवोंके गमनागमनमें उनके शरीर सम्बन्धी नियम
*	मारणातिक समुद्घातगत देवोंके मूल शरीरमें प्रवेश करके या विना किये ही मरण सम्बन्धी दो मत —दे० मरण/५।
*	मरण समय अशुभ तीन लेश्याओंमें या केवल कापोत लेश्यामें पतन सम्बन्धी दो मत —दे०मरण/३।
*	भाव मार्गणामें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा।
९	ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें सुख अधिक और विषय सामग्री हीन होती जाती है।
१०	ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें प्रविचार भी हीन-हीन होता है, और उसमें उनका वीर्य-क्षरण नहीं होता।
३	**देवायु व देवगति नामकर्म**
*	देवायु बन्ध योग्य परिणाम —दे० आयु/३।
*	देवायुकी बन्ध, उदय, सत्त्वादि प्ररूपणाऍ —दे० वह वह नाम।
*	बद्धायुष्कोंको देवायु बन्धमें ही व्रत होने सम्भव हैं —दे० आयु/६/७।
*	देवगतिकी बन्ध, उदय, सत्त्वादि प्ररूपणाऍ —दे० वह वह नाम।
*	देवगतिमें उद्योत कर्मका अभाव—दे० उदय/५।
४	**सम्यक्त्वादि सम्बन्धी निर्देश व शंका समाधान**
*	देवगतिके गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाऍ—दे० सत्।
*	देवगति सम्बन्धी सत् (अस्तित्व) सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाऍ—दे० वह वह नाम।
*	कौन देव मरकर कहा उत्पन्न हो और क्या गुण प्राप्त करे—दे० जन्म/६।

I देव (भगवान्)

१. देव निर्देश

१. देव का लक्षण

र.क./श्रा /मू./५ आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना । भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।५। =नियमसे वीतराग, सर्वज्ञ ओर आगमका ईश ही आप्त होता है निश्चय करके किसी अन्य प्रकार आप्तपना नहीं हो सकता ।५। (ज प /१३/८४/६८) ।

बो.पा /मू /२४-२५ सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च । सो देइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ।२४। देवो ववगय-मोहो उदययरो भव्वजीवाणं ।२५। =जो धन, धर्म, भोग ओर मोक्षका कारण ज्ञानको देवे सो देव है। तहाँ ऐसा न्याय है जो वाके वस्तु होय सो देवे अर जाकै जो वस्तु न होय सो कैसें दे, इस न्यायकरि अर्थ, धर्म, स्वर्गके भोग अर मोक्षका कारण जो प्रव्रज्या जाकै होय सो देव है ।२४। बहुरि देव है सो नष्ट भया है मोह जाका ऐसा है सो भव्य जीवनिकै उदयका करने वाला है ।

का अ./मू /३०२ जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं । लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ।३०२। =जो त्रिकालवर्ती गुण पर्यायोंसे संयुक्त समस्त लोक और अलोकको प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ देव है ।

का अ /टी./१/१/१५ दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देव', अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देव , वा दीव्यति कोटि-सूर्याधिकतेजसा द्योतत इति देव' अर्हन्. वा दीव्यति धर्मव्यवहार विदधाति देव , वा दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति वचनात्, इति देव, सिद्धपरमेष्ठी वा दीव्यति स्तौति स्वचिद्रूपमिति देव सूरिपाठकसाधुरूपस्तम् ।=देव शब्द 'दिव' धातुसे बना है, और 'दिव्' धातु के 'क्रीड़ा करना' जयकी इच्छा करना आदि अनेक अर्थ होते हैं । अत' जो परमसुखमें क्रीडा करता है सो देव है, या जो कर्मोंको जीतनेकी इच्छा करता है वह देव है, अथवा जो करोड़ों सूर्योंके भी अधिक तेजसे देदीप्यमान होता है वह देव है जैसे—अर्हन्त परमेष्ठी । अथवा जो धर्मयुक्त व्यव-हारका विधाता है, वह देव है । अथवा जो लोक अलोकको जानता है वह देव है जैसे सिद्ध परमेष्ठी । अथवा जो अपने आत्मस्वरूपका स्तवन करता है वह देव है जैसे—आचार्य, उपाध्याय, साधु ।

पं. ध /उ /६०३-६०४ दोषो रागादिसद्भाव स्यादावरणं च कर्म तत् । तयोरभावोऽस्ति नि शेषो यत्रासौ देव उच्यते ।६०३। अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् । वीर्यं चेति सुविख्यात स्यादनन्तचतुष्ट-यम् ।६०४। =रागादिकका सद्भाव रूप दोष प्रसिद्ध ज्ञानावरणादिकर्म, इन दोनोंका जिनमें सर्वथा अभाव पाया जाता है वह देव कहलाता है ।६०३। सच्चे देवमें केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य, इस प्रकार अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाता है ।६०४। (द पा / २/१२/२०) ।

२. देवके भेदोंका निर्देश

पं का./ता. वृ /१/५/८ त्रिधा देवता कथ्यते । केन । इष्टाधिकृताभिमत-भेदेन=तीन प्रकारके देवता कहे गये हैं । १ जो मुझको इष्ट हों, २ जिसका प्रकरण हो, ३. जो सबको मान्य हो ।

प.ध.उ /६०६ एको देवो स द्रव्यार्थात्सिद्ध शुद्धोपलब्धित । अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ।६०६। =वह देव शुद्धोपलब्धि रूप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे एक प्रकारका प्रसिद्ध है, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अर्हंत तथा सिद्ध दो प्रकारका माना गया है ।

३. नव देवता निर्देश

र. क श्रा /११६/१६८ पर उद्धृत—अरहंतसिद्धसाहूतिदयं जिणधम्मवयण पडिमाहू । जिण णिलया इदिराए णवदेवता दिंतु मे वोहि ।=पंच परमेष्ठी, जिनधर्म, वचन, प्रतिमा व मन्दिर, ये नव देवता मुझे रत्नत्रयकी पूर्णता देवो ।

४. आचार्य उपाध्याय साधुमें भी कथंचित् देवत्व

नि.सा /ता वृ /१४६/क २५३/२६६ सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिन' । न कामपि भिदा क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम् ।=सर्वज्ञ-वीतरागमें और इस स्ववश योगीमें कभी कुछ भी भेद नहीं है, तथापि अरेरे ! हम जड है कि उनमें भेद मानते हैं ।२५३।

दे.देव /१/१/बो.पा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा उनकी कारणभूत प्रव्रज्याको देनेवाले ऐसे आचार्यादि देव हैं ।

५. आचार्यादिमें देवत्व सम्बन्धी शंका समाधान

ध.१/१ १.१/५२/२ युक्त' प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कार , नाचार्यादीनामप्राप्तात्मस्वरूपत्वव्तस्तेषां देवत्वाभावादिति न देवो हि नाम त्रीणि रत्नानि स्वभेदतोऽनन्तभेदभिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देव अन्यथा शेषजीवानामपि देवत्वापत्ते. । तत आचार्यादयोऽपि देवा रत्नत्रयास्तित्वं प्रत्यविशेषात । नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्ध-स्थरत्नेभ्यो भेदो रत्नानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्ते । न कारण-कार्यत्वाद्भेद' सत्स्वेवाचार्यादिस्थरत्नत्रयेष्वन्यस्य तिरोहितस्य रत्नाभोगस्य स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भात् । न परोक्षा-परोक्षकृतो भेदो वस्तुपरिच्छित्तिं प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्या-वस्थाभेदतो भेदो निर्मलानिर्मलावस्थावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्ते । नावयवावयविकृतो भेद अवयवस्यावयविनोऽव्यतिरेकात । सम्पूर्ण-रत्नानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्ते' । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्न-कर्मक्षयकर्तृणि रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहकार्यस्य

पलालराशिदाहस्य तत्कणादप्युपलम्भात्। तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम्। =प्रश्न—जिन्होने आत्म स्वरूपको प्राप्त कर लिया है, ऐसे अरहन्त, सिद्ध, परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किन्तु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोंने आत्म स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है इसलिए उनमे देवपना नही आ सकता है, अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नही है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, १. क्योंकि अपने-अपने भेदोंसे अनन्त भेदरूप रत्नत्रय ही देव है, अतएव रत्नत्रयसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा सम्पूर्ण जीवोंको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायेगी, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी रत्नत्रयके यथायोग्य धारक होनेसे देव है, क्योंकि अरहन्तादिकसे आचार्यादिकमें रत्नत्रयके सद्भावकी अपेक्षा कोई अन्तर नही है, इसलिए आंशिक रत्नत्रयकी अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है। २ आचार्यादिकमें स्थित तीन रत्नोंका सिद्धपरमेष्ठीमे स्थित रत्नोसे भेद भी नही है, यदि दोनोंके रत्नत्रयमें सर्वथा भेद मान लिया जावे, तो आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अभावका प्रसंग आ जावेगा। ३ आचार्यादिक और सिद्धपरमेष्ठीके सम्यग्दर्शनादिक रत्नोमे कारण कार्यके भेदसे भी भेद नही माना जा सकता है, क्योंकि, आचार्यादिकमें स्थित रत्नोके अवयवोंके रहनेपर ही तिरोहित, दूसरे रत्नावयवोंका अपने आवरण कर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भाव पाया जाता है। इसलिए उनमें कार्य-कारणपना भी नही बन सकता है। ४. इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोमें परोक्ष और प्रत्यक्ष जन्य भेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वस्तुके ज्ञान सामान्यकी अपेक्षा दोनों एक है। ५ केवल एक ज्ञानके अवस्था भेदसे भेद नहीं माना जा सकता। यदि ज्ञानमें उपाधिकृत अवस्था भेदसे भेद माना जावे तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त दर्पणमे भी भेद मानना पडेगा। ६. इसी प्रकार आचार्यादिक और सिद्धोंके रत्नोमें अवयव और अवयवीजन्य भेद भी नही है, क्योंकि अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते है। प्रश्न—पूर्णताको प्राप्त रत्नोको ही देव माना जा सकता है, रत्नोंके एक देशको देव नही माना जा सकता ? उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि, रत्नोंके एक देशमें देवपनाका अभाव मान लेनेपर रत्नोकी समग्रता (पूर्णता) में भी देवपना नही बन सकता है। प्रश्न - आचार्यादिकमे स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके क्षय करनेमे समर्थ नही हो सकते है, क्योंकि उनके रत्न एकदेश है ? उत्तर—यह कहना ठीक नही है, क्योंकि जिस प्रकार पलाल राशिका अग्नि-समूहका कार्य एक कणसे भी देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए। इसलिए आचार्यादिक भी देव हैं, यह बात निश्चित हो जाती है। (ध ६/४,१,१/११/१)।

II. देव (गति)

१. भेद व लक्षण

१. देवका लक्षण

स सि /४/१/२३६/५ देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूतिविशेषै: द्वीपसमुद्रादिप्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवा:। =अभ्यन्तर कारण देवगति नामकर्मके उदय होनेपर नाना प्रकारकी बाह्य विभूतिसे द्वीप समुद्रादि अनेक स्थानोमें इच्छानुसार क्रीडा करते है वे देव कहलाते हैं। (रा वा ४/१/१/२०६/६)।

पं स /प्रा./१/६३ कीडंति जदो णिच्चं गुणेहि अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं। भासंतदिव्वकाया तम्हा ते वण्णिया देवा।६३। =जो दिव्यभाव-युक्त अणिमादि आठ गुणोसे नित्य क्रीडा करते रहते है, और जिनका प्रकाशमान दिव्य शरीर है, वे देव कहे गये है।६३। (ध १/१,१, २४/१३१/२०३), (गो जी /मू /१५१), (पं सं /सं /१/१४०); (ध. १३/५,५ १४१/३९२/१)।

२. देवोंके भवनवासी आदि ४ भेद

त सू.४/१ देवाश्चतुर्णिकाया:।१। के पुनस्ते। भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिकाश्चेति। (स.सि /४/१/२३७/१) =देव चार निकायवाले है।१। प्रश्न—इन चार निकायोंके क्या नाम हैं ? उत्तर—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। (पं.का./मू./११८); (रा.वा./४/१/३/२११/१८), (नि.सा /ता.वृ./१६-१७)।

रा.वा./४/२३/८/२४२/१३ षण्णिकाया: (अपि) संभवन्ति भवनपाताल-व्यन्तरज्योतिष्ककल्पोपपन्नविमानाधिष्ठानात्। ··अथवा सप्त देवनिकाया:। त एवाकाशोपपन्नै: सह। =देवोंके भवनवासी, पातालवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और विमानवासीके भेदसे छह प्रकार हैं। इन छहमें ही आकाशोपपन्न देवोंको और मिला देनेसे सात प्रकारके देव बन जाते हैं।

३. आकाशोपपन्न देवोंके भेद

रा.वा /४/२३/४/२४२/१७ आकाशोपपन्नाश्च द्वादशविधा। पांशुतापि-लवणतापि-तपनतापि - भवनतापि-सोमकायिक-यमकायिक-वरुण - कायिक - वैश्रवणकायिक-पितृकायिक-अनलकायिक - रिष्ट-अरिष्ट - संभवा इति। =आकाशोपपन्न देव बारह प्रकारके हैं:—पांशुतापि, लवणतापि, तपनतापि, भवनतापी, सोमकायिक, यमकायिक, वरुणकायिक, वैश्रवणकायिक, पितृकायिक, अनलकायिक, रिष्टक, अरिष्टक और सम्भव।

४. पर्याप्तापर्याप्तकी अपेक्षा भेद

का अ.मू./१३३ देवा वि ते दुविहा।१३३। पर्याप्ता निर्वृत्त्यपर्याप्ताश्चेति। टी०। =देव और नारकी निर्वृत्त्यपर्याप्तक और पर्याप्तकके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

२. देव निर्देश

१. देवोंमें इन्द्र सामानिकादि दश विभाग

त सू /४/४ इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकश:।४। =(चारों निकायके देव क्रमसे १०,८,५,१२ भेदवाले हैं—दे० वह वह नाम) इन उक्त दश आदि भेदोंमें प्रत्येकके इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिकरूप है।४। (ति.प /३/६२-६३)।

त्रि सा./२२३ इंदपडिंददिगिंदा तेत्तीससुरा समाणतणुरक्खा। परिसत्तयआणीया पइण्णगभियोगकिब्भिसिया।२२३। =इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगीन्द्र कहिये लोकपाल, त्रायस्त्रिंशद्देव, सामानिक, तनुरक्षक, तीन प्रकार पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक ऐसें भेद जानने।२२३।

२. कन्दर्प आदि देव नीच देव हैं

मू.आ /६३ कंदप्पमाभिजोग्गं किब्भिस संमोहमासुरत्तं च। ता देवदुग्गईओ मरणम्मि विराहिए होंति।६३। =मृत्युके समय सम्यक्त्वका विनाश होनेसे कंदर्प, आभियोग्य, कैल्विष, संमोह और आसुर—ये पाँच देव दुर्गतियाँ होती है।६३।

३. सर्व देव नियमसे जिनेन्द्र पूजन करते हैं

ति प./३/२२८-२२९ णिस्सेसकम्मक्खवणेक्कहेदुं मण्णंतया तत्थ जिणिंदपूजं। सम्मत्तविरया कुव्वंति णिच्चं देवा महाणंतविसोहिपुव्वं।२२८। कुलाहिदेवा इव मण्णमाणा पुराणदेवाण पबोधणेण। मिच्छाजुदा ते य जिणिंदपूजं भत्तीए णिच्चं णियमा कुणंति।२२९। =वहाँ पर अविरत सम्यग्दृष्टि देव जिनपूजाको समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें अद्वितीय

कारण समझकर नित्य ही महान् अनन्तगुणी विशुद्धि पूर्वक उसे करते हैं ।२२८। पुराने देवोंके उपदेशसे मिथ्यादृष्टि देव भी जिन प्रतिमाओंको कुलाधिदेवता मानकर नित्य ही नियमसे भक्ति पूर्वक जिनेन्द्रार्चन करते हैं ।२२९। (ति.प/८/५८८-५८९); (त्रि.सा./५५२-५५३)।

४. देवोंके शरीरकी दिव्यता

ति प./३/२०८ अट्ठिमिरारुहिरवसामुत्तपुरीसाणि केसलोमाइं। चम्मडमसप्पहुडी ण होइ देवाण संघडणे ।२०८। देवोंके शरीरमें हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मूत्र, मल, केश, रोम, चमडा और मांसादिक नहीं होता। (ति प./८/५६८)।

ध. १४/५,६,६१/८१/८ देव ··पत्तेयसरीरा वुच्चति एदेसिं णिगोदजीवेहिं सह सबंधाभावादो। =देव· प्रत्येक शरीरवाले होते हैं, क्योंकि इनका निगोद जीवोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता।

ज. प./११/२५४ अट्ठगुणमहिड्ढीओसुहविउरुव्वणविसससंजुत्तो। समचउरंससुसंठिय संघदणेसु य असंघदणो ।२५४। =अणिमा, महिमादि आठ गुणों व महा-ऋद्धिसे सहित, शुभ विक्रिया विशेषसे सयुक्त, समचतुरस्र शरीर संस्थानसे युक्त, छह संहननोंमें संहननसे रहित, (सौधर्मेन्द्रका शरीर) होता है।

बो.पा./टी./३२/९८/१५ पर उद्धृत—देवा· आहारो अत्थि णत्थि नीहारो ।१। निक्कुचिया होंति ।१। =देवोंके आहार होता है, परन्तु निहार नहीं होता, तथा देव मंछ-दाढीसे रहित होते हैं।

५. देवोंका दिव्य आहार

ति.प./८/५५१ उवहिउवमाणजीवीवरिससहस्सेण दिव्वअमयमयं। भुंजदि मणसाहारं निरूवमयं तुट्ठिपुट्ठिकरं ।५५१। (तेसु कवलासणं-णत्थि ॥ ति.प./६/८७)=देवोंके दिव्य, अमृतमय, अनुपम और तुष्टि एवं पुष्टिकारक मानसिक आहार होता है ।५५१। उनके कवलाहार नहीं होता। (ति.प./६/८७)।

६. देवोंके रोग नहीं होता

ति.प./३/२०९ वण्णरसगधफासे अइसयवेकुव्वदिव्वखदा हि। णेदेसु रोयवादिउवठिदी कम्माणुभावेण ।२०९। =चूँकि वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शके विषयमें अतिशयको प्राप्त वैक्रियक दिव्य स्कन्ध होते हैं इसलिए इन देवोंके कर्मके प्रभावसे रोग आदिकी उपस्थिति नहीं होती ।२०९। (ति प./८/५६६)।

७. देवगतिमें सुख व दुःख निर्देश

ति.प./३/१४१-२३८ चमरिंदो सोहम्मे ईसदि वइरोयणो य ईसाणे। भूदाणंदे वेणू धरणाणंदम्मि वेणुधारि त्ति ।१४१। एदे अट्ठ सुरिंदा अण्णोण्णं बहुविहाओ भूदीओ। दट्ठूण मच्छरेण ईसंति सहावदो केई ।१४२। विविहरतिकरणभाविदविसुद्धबुद्धीहि दिव्वरूवेहिं। णाणविकुव्वण बहुविलाससंपत्तिजुत्ताहिं ।२३१। मायाचारविवज्जिदपकिदिपसण्णाहिं अच्छाराहिं सम। णियणियविभूदिजोग्गं संकप्पवसंगदं सोक्खं ।२३२। पडुपडहप्पहुदीहिं सत्तसराभरणमहुरगीदेहिं। वरललितणच्चणेहिं देवा भुंजंति उवभोग्गं ।२३३। ओहिं पि विजाणंतो अण्णोण्णुप्पण्णपेम्ममूलमणा। कामंधा ते सव्वे गदं पि कालं ण याणंति ।२३४। वररयणकंचणाए विचित्तसयलुज्जलम्मि पासादे। कालागुरुगधड्ढे रागणिधाणे रमंति सुरा ।२३५। सयणाणि आसणाणि मउवाणि विचित्तरूवरइदाणि। तणुमणवयणाणंदगजणणाणि होंति देवाण ।२३६। फासरसरूवसद्दधुणिगंधेहिं वड्ढियाणि सोक्खाणि। उवभुंजंता देवा तिप्तिं ण लहंति णिमिसंपि ।२३७। दीवेसु णइंदेसु भोगखिदीए वि णंदणवणेसु। वरपोक्खरिणीपुलिणत्थलेसु कीडंति राएण ।२३८। =चमरेन्द्र सौधर्मसे ईर्षा करता है, वैरोचन ईशानसे, वेणु भूतानन्दसे और वेणुधारी धरणानन्दसे। इस प्रकार ये आठ सुरेन्द्र परस्पर नाना प्रकारकी विभूतियोंको देखकर मात्सर्यसे, व कितने ही स्वभावसे ईर्षा करते हैं ।१४१-१४२। (त्रि सा./२१२), (भ.आ./मू./१५९८-१६०१) वे देव विविध रतिके प्रकटीकरणमें चतुर, दिव्यरूपोंसे युक्त, नाना प्रकारकी विक्रिया व बहुत विलास सम्पत्तिसे सहित·· स्वभावसे प्रसन्न रहनेवाली ऐसी अप्सराओंके साथ अपनी-अपनी विभूतिके योग्य एव संकल्पमात्रसे प्राप्त होनेवाले उत्तम पटह आदि वादित्र एवं उत्कृष्ट सुन्दर नृत्यका उपभोग करते हैं ।२३१-२३३। · कामाध होकर बीते हुए समयको भी नहीं जानते हैं। सुगन्धसे व्याप्त रागके स्थान भूत प्रासादमें रमण करते हैं। ।२३४-२३५। देवोंके शयन और आसन मृदुल, विचित्र रूपसे रचित, शरीर एव मनको आनन्दोत्पादक होते हैं ।२३६। ये देव स्पर्श, रस, रूप, सुन्दर शब्द और गंधसे वृद्धिको प्राप्त हुए सुखोंको अनुभव करते हुए क्षणमात्र भी तृप्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ।२३७। ये कुमारदेव रागसे द्वीप, कुलाचल भोगभूमि, नन्दनवन और उत्तम बावडी अथवा नदियोंके तटस्थानोंमें भी क्रीडा करते हैं ।२३८।

त्रि सा./२११ अट्ठगुणिड्ढिविसिट्ठा णाणामणि भूसणेहिं दित्तंगा। भुंजंति भोगमिट्ठं सग्गपुव्वतवेण तत्थ सुरा ।२११।' (ति प./८/५९०-५९२)। =तहाँ जे देव हैं ते अणिमा, महिमादि आठ गुण ऋद्धि करि विशिष्ट हैं, अर नाना प्रकार मणिका आभूषणनि करि प्रकाशमान है अंग जिनका ऐसे हैं। ते अपना पूर्व कीया तपका फल करि इष्ट भोगनिकौं भोगवै हैं ।२११।

८. देवोंके गमनागमनमें उनके शरीर सम्बन्धी नियम

ति.प./८/५९५-५९६ गब्भावयारपहुदिसु उत्तरदेहासुराणगच्छंति। जम्मण ठाणेसु सुहं मूलसरीराणि चेट्ठंति ।५९५। णवरि विसेसो एसो सोहम्मीसाणजाददेवाण। वच्चंति मूलदेहा णियणियकप्पामराण पासम्मि ।५९६। =गर्भ और जन्मादि कल्याणकोंमे देवोंके उत्तर शरीर जाते हैं, उनके मूल शरीर सुख पूर्वक जन्म स्थानमें रहते हैं ।५९५। विशेष यह है कि सौधर्म और ईशान कल्पमें हुई देवियोंके मूलशरीर अपने अपने कल्पके देवोंके पासमें जाते हैं ।५९६।

ध ४/१,३,१५/७९/९ अप्पणो ओहिखेत्तमेत्त देवा विउव्वंति त्ति जं आइरियवयण तण्ण घडदे। =देव अपने अपने अवधिज्ञानके क्षेत्र प्रमाण विक्रिया करते हैं, इस प्रकार जो अन्य आचार्योंका वचन है, वह घटित नहीं होता।

९. ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें सुख अधिक और विषय सामग्री हीन होती जाती है

त सू./४/२०-२१ स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।२०। गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।२१। =स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रिय विषय और अवधि-विषयकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव अधिक हैं ।२०। गति, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा ऊपर-ऊपरके देव हीन हैं ।२१।

१०. ऊपर-ऊपरके स्वर्गोंमें प्रविचार भी हीन-हीन होता है और उसमें उनका वीर्यक्षरण नहीं

त.सू./४/७-९ कायप्रविचारा आ ऐशानात् ।७। शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः-प्रवीचाराः ।८। परेऽप्रवीचाराः ।९। =(भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष और) ऐशान तकके देव काम प्रवीचार अर्थात् शरीरसे विषयसुख भोगने वाले होते हैं ।७। शेष देव, स्पर्श, रूप, शब्द और मनसे विषय सुख भोगने वाले होते हैं ।८। बाकीके सब देव विषय सुखसे रहित होते हैं ।९। (मू.आ./११३६-११४४); (ध.१/१,१,६८/३३८/१), (ति.प./-३३६-३३७)

ति प /3/१३०-१३१ असुरादिभवणसुरा सव्वे ते होंति कायपविचारा। वेदस्सुदीरणाए अनुभवण माणुससमाण ।१३०। धाउविहीणत्तादो रेदविणिग्गमणमत्थि ण हु ताण। सकप्प सुह जायदि वेदस्स उदीरणाविगमे ।१३१। =वे सब असुरादि भवनवासी देव (अर्थात् काय प्रविचार वाले समस्त देव) कायप्रविचारसे युक्त होते हैं तथा वेद नोकषायकी उदीरणा होनेपर वे मनुष्योंके समान कामसुखका अनुभव करते हैं। परन्तु सप्त धातुओंसे रहित होनेके कारण निश्चय से उन देवोंके वीर्यका क्षरण नहीं होता। केवल वेद नोकषायकी उदीरणा शान्त होनेपर उन्हें सकल्प सुख होता है।

३. सम्यक्त्वादि सम्बन्धी निर्देश व शंका-समाधान

१. देवगतिमें सम्यक्त्वका स्वामित्व

ष ख १/१,१/सू १६६-१७१/४०५ देवा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असजदसम्माइट्ठि त्ति ।१६६। एव जाव उवरिम-गेवेज्ज-विमाण-वासिय-देवा त्ति ।१६७। देवा असजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठि त्ति ।१६८। भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-कप्पवासीय-देवीओ च असजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि ।१६९। सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम गेवज्ज-विमाण वासिय-देवा असजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ।१७०। अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयत-जयतावराजिदसव्वट्ठसिद्धि - विमाण - वासिय - देवा असजदसम्माइट्ठिट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ।१७१। = देव मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयत सम्यग्दृष्टि होते है ।१६६। इस प्रकार उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम पटल तक जानना चाहिए ।१६७। देव असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदगसम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते है ।१६८। भवनवासी, वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उनकी देवियाँ और सौधर्म तथा ईशान कल्पवासी देवियाँ असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं या नहीं होती है। शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते है या होती है ।१६९। सौधर्म और ऐशान कल्पसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तक रहने वाले देव असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदग सम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं ।१७०। नव अनुदिशोंमें और विजय, वैजयन्त, और जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तरोंमें रहने वाले देव असयत सम्यग्दृष्टिगुणस्थानमे क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदगसम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते है ।१७१।

२. देवगतिमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष ख /१/१,१/सू /पृष्ठ देवा चदुसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी असजदसम्माइट्ठि त्ति। (८८।३२५) देवा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठी असजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।९४। सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा अपज्जत्ता ।९५। भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तिओ सिया अपज्जत्तिओ ।९६। सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ।९७। सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम गेवज्ज ति विमाणवासिय-देवेसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।९८। सम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ।९९। अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसव्वट्ठसिद्धि-विमाण-वासिय-देवा असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।१००। (९४-१००/३३५) =मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें देव पाये जाते हैं ।८८। देव मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ।९४। देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे नियमसे अपर्याप्तक होते हैं ।९५। भवनवासी वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियाँ तथा सौधर्म और ईशान कल्पवासिनी देवियाँ ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पर्याप्त भी होते हैं, और अपर्याप्त भी ।९६। सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमे पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्तक होते हैं (गो जी /जी.प्र /७०३/-११३७/६) और पूर्वोक्त देवियाँ नियमसे पर्याप्त होती हैं ।९७। सौधर्म और ईशान स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग तक विमानवासी देवों सम्बन्धी मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ।९८। सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्त होते हैं ।९९। नव अनुदिशमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ।१००। [इन विमानोंमें केवल असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान ही होता है, शेष नहीं। ष 3/१,२,८७/२८२/१], (गो.जी./जी.प्र /७०३/-११३७/८)।

ध.४/१,५,२६३/४६३/६ अतोमुहूत्तूणड्ढाइज्जसागरोवमेसु उप्पण्णसम्मादिट्ठिस्स सोहम्मणिवासिस्स मिच्छत्तगमणे सभवाभावादो। =अन्तर्मुहूर्त कम अढाई सागरोपमकी स्थिति वाले देवोंमें उत्पन्न हुए सौधर्म निवासी सम्यग्दृष्टिदेवके मिथ्यात्वमें जानेकी सम्भावनाका अभाव है।

गो क /जी.प्र /५५१/७५३/१ का भावार्थ—सासादन गुणस्थानमें भवनत्रिकादि सहस्रार स्वर्ग पर्यन्तके देव पर्याप्त भी होते है, और अपर्याप्त भी होते हैं।

३. अपर्याप्त देवोंमें उपशम सम्यक्त्व कैसे सम्भव है

ध २/१,१/५५९/४ देवासजदसम्माइट्ठीण कधमपज्जत्तकाले उवसमसम्मत्तं लब्भदि। वुच्चदे—वेदगसम्मत्तमुवसामिय उवसमसेढिमारुहिय पुणो ओदरिय पमत्तापमत्तसजद-असजद-संजदासजद-उवसमसम्माइट्ठि-ट्ठाणेहिं मज्झिमतेउलेस्स परिणमिय काल काऊण सोधम्मीसाण-देवेसुप्पण्णाणं अपज्जत्तकाले उवसमसम्मत्त लब्भदि। अध ते चेव .. सणक्कुमारमाहिंदे बह्म-बह्मोत्तर-लातव-काविट्ठ-सुक्क-महासुक्क सदारसहस्सारदेवेसु उप्पज्जति। अध उवसमसेढि चढिय पुणो दिण्णा चेव मज्झिम-सुक्कलेस्साए परिणदा सता जदि काल करेंति तो उवसमसम्मत्तेण सह आणद-पाणद-आरणच्चुद-णवगेवज्जविमाणवासिय देवेसुप्पज्जंति। पुणो ते चेव उक्कस्स-सुक्कलेस्सं परिणमिय जदि काल करेंति तो उवसमसम्मत्तेण सह, णवाणुदिस-पचाणुत्तरविमाणदेवेसुप्पज्जंति। तेण सोधम्मादि-उवरिमसव्वदेवासजदसम्माइट्ठीणमपज्जत्तकाले उवसमसम्मत्त लब्भदि त्ति। =प्रश्न—असयत सम्यग्दृष्टि देवोंके अपर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व कैसे पाया जाता है? उत्तर—वेदक सम्यक्त्वको उपशमा करके और उपशम श्रेणीपर चढकर फिर वहाँसे उतरकर प्रमत्त संयत, अप्रमत्त सयत, असयत, सयतासयत, उपशम सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंसे मध्यम तेजोलेश्याको परिणत होकर और मरण करके सौधर्म ऐशान कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंके अपर्याप्त कालमें औपशमिकसम्यक्त्व पाया जाता है। तथा उपर्युक्त गुणस्थानवर्ती ही जीव (यथायोग्य उत्तरोत्तर विशुद्ध लेश्यासे मरण करें तो)

सनत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा उपशम श्रेणीपर चढ करके और पुन: उतर करके मध्य शुक्र लेश्यासे परिणत होते हुए यदि मरण करते है तो उपशम सम्यक्त्वके साथ आनत, प्राणत, आरण, अच्युत और नौ ग्रैवेयक विमानवासी देवोमें उत्पन्न होते हैं। तथा पूर्वोक्त उपशम सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्कृष्ट शुक्ल लेश्याको परिणत होकर यदि मरण करते है, तो उपशम सम्यक्त्वके साथ नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानवासी देवोमे उत्पन्न होते हैं। इस कारण सौधर्म स्वर्गसे लेकर ऊपरके सभी असयतसम्यग्दृष्टि देवोंके अपर्याप्त कालमे औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है (स सि /१/७/२३/७)।

४. अनुदिशादि विमानोंमें पर्याप्तावस्थामें भी उपशम सम्यक्त्व क्यों नहीं

ध.२/१,१/५६६/१ केण कारणेण (अनुदिशादिसु) उवसमसम्मत्त णत्थि। वुच्चदे—तत्थ ट्ठिदा देवा ण ताव उवसमसम्मत्तं पडिवज्जंति तत्थ मिच्छाइट्ठीणमभावादो। भवदु णाम मिच्छाइट्ठीणमभावो उवसमसम्मत्त पि तत्थ ट्ठिदा देवा पडिवज्जति को तत्थ विरोधो। इदि ण 'अणंतर पच्छदो य मिच्छत्त' इदि अणेण पाहुडसुत्तेण सह विरोहादो। ण तत्थ ट्ठिद-वेदगसम्माइट्ठिणो उवसमसम्मत्तं पडिवज्जति मणुसगदि-वदिरित्तण्णगदीसु वेदगसम्माइट्ठिजीवाणं दसणमोहुवसमणहेदु परिणामाभावादो। ण य वेदगसम्माइट्ठित्त पडि मणुस्सेहितो विसेसाभावादो मणुस्साण च दसणमोहुवसमणजोग-परिणामेहिं तत्थ णियमेण होदव्व मणुस्स-संजम-उवसमसेढिसमारूहणजोगत्तणेहिं भेददसणादो। उवसम-सेढिम्हि कालं काऊणुवसमसम्मत्तेण सह देवेसुप्पण्णजीवा ण उवसमसम्मत्तेण सह छ पज्जत्तीओ समाणेंति तत्थ तणुवसमसम्मत्तकालादो छे-पज्जत्तीणं समाणकालस्स बहुत्तुवलंभादो। तम्हा पज्जत्तकाले ण एदेसु देवेसु उवसमसम्मत्तमत्थि त्ति सिद्धं। =प्रश्न—नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानोके पर्याप्त कालमें औपशमिक सम्यक्त्व किस कारणसे नहीं होता? उत्तर—वहाँपर विद्यमान देव तो उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होते नही है, क्योकि वहाँपर मिथ्यादृष्टि जीवोंका अभाव है। प्रश्न—भले ही वहाँ मिथ्यादृष्टि जीवोंका अभाव रहा आवे, किन्तु यदि वहाँ रहनेवाले देव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त करें तो, इसमें क्या विरोध है? उत्तर—१. 'अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्वके पश्चात् मिथ्यात्वका उदय नियमसे होता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टिके भाज्य है' इस कषायप्राभृतके गाथासूत्रके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है। २ यदि कहा जाये कि वहाँ रहनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टि देव औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त होते है, सो भी बात नही है, क्योकि मनुष्यगतिके सिवाय अन्य तीन गतियोमें रहनेवाले वेदक सम्यग्दृष्टि जीवोंके दर्शनमोहनीयके उपशमन करनेके कारणभूत परिणामोका अभाव है। ३. यदि कहा जाये कि वेदक सम्यग्दृष्टिके प्रति मनुष्योंसे अनुदिशादि विमानवासी देवोके कोई विशेषता नहीं है, अतएव जो दर्शनमोहनीयके उपशमन योग्य परिणाम मनुष्योके पाये जाते है वे अनुदिशादि विमानवासी देवोके नियमसे होना चाहिए, सो भी कहना युक्ति सगत नही हैं, क्योंकि सयमको धारण करनेकी तथा उपशमश्रेणीके समारोहण आदिकी योग्यता मनुष्योमे होनेके कारण दोनोमें भेद देखा जाता है। ४ तथा उपशमश्रेणीमें मरण करके औपशमिक सम्यक्त्वके साथ देवोमें उत्पन्न होनेवाले जीव औपशमिक सम्यक्त्वके साथ छह पर्याप्तियोको समाप्त नही कर पाते हैं, क्योकि, अपर्याप्त अवस्थामे होनेवाले औपशमिक सम्यक्त्वके कालसे छहो पर्याप्तियोके समाप्त होनेका काल अधिक पाया जाता है, इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देवोके पर्याप्त कालमे औपशमिक सम्यक्त्व नहीं होता है।

५. फिर इन अनुदिशादि विमानोंमें उपशम सम्यक्त्वका निर्देश क्यों

ध १/१,१,१७१/४०७/७ कथं तत्रोपशमसम्यक्त्वस्य सत्त्वमिति चेत्कथं च तत्र तस्यासत्त्वं। तत्रोत्पन्नेभ्य. क्षायिकक्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनेभ्यस्तदनुत्पत्ते.। नापि मिथ्यादृष्टय उपात्तौपशमिकसम्यग्दर्शना: सन्तस्तत्रोत्पद्यन्ते तेषां तेन सह मरणाभावात्। न, उपशमश्रेण्यारूढानामारुह्यतीर्णाना च तत्रोत्पत्तितस्तत्र तत्सत्त्वाविरोधात्। =प्रश्न—अनुदिश और अनुत्तर विमानोमे उपशम सम्यग्दर्शन सद्भाव कैसे पाया जाता है? प्रतिशंका—वहाँपर उसका सद्भाव कैसे नहीं पाया जा सकता है? उत्तर—वहाँपर जो उत्पन्न होते है उनके क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पाया जाता है, इसलिए उनके उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नही हो सकती है। और मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके वहाँपर उत्पन्न नही होते है, क्योकि उपशम सम्यग्दृष्टियोका उपशम सम्यक्त्वके साथ मरण नही होता। उत्तर—नही, क्योकि उपशम श्रेणी चढनेवाले और चढकर उतरनेवाले जीवोकी अनुदिश और अनुत्तरोमे उत्पत्ति होती है, इसलिए वहाँपर उपशम सम्यक्त्वके सद्भाव रहनेमें कोई विरोध नही आता है। दे०-मरण/३ द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमे मरण सम्भव है परन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्वमे मरण नही होता है।

६. भवनवासी देव देवियों व कल्पवासी देवियोंमें सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते

ध.१/१,१,९७/३३६/५ भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिरतस्य तद्गुणेन मरणाभावात् किन्त्वेतन्न घटते यदसंयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात्। नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषूत्पद्यमानास्तत्र तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यन्त इति चेन्न, मिथ्यादृष्टीना प्राग्बद्धायुष्काणा पश्चादात्तसम्यग्दर्शनाना नारकायुरुत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात्। तद्वद्देवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात्। तथा च भवनवास्यादिष्वप्यसयतसम्यग्दृष्टेरुत्पत्तिरास्कन्देदिति चेन्न. सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषा प्राणिना तत्तद्गत्यायु सामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिविशेषोत्पत्तिविरोधित्वोपलम्भात्। तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिक उत्पत्त्या विरोधो असंयतसम्यग्दृष्टे सिद्धयेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते। =प्रश्न—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव देवियोमें उत्पत्ति मत होओ, क्योकि इस गुणस्थानमें मरण नही होता है। परन्तु यह बात नही घटती कि मरनेवाला असंयत सम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव-देवियोमे उत्पन्न नही होता है? उत्तर—नही क्योकि सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोमें उत्पत्ति नही होती। प्रश्न—जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोमे और तिर्यंचोमे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमे तथा कल्पवासिनी देवियोमें क्यो नही उत्पन्न होते है? उत्तर—नही, क्योकि, जो आयुकर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होने अनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है, ऐसे जीवोकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोकनेका सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नही है। प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवोकी जिस प्रकार नरकगति आदिमे उत्पत्ति होती है उसी प्रकार देवोमे क्यो नही होती है। उत्तर—यह कहना ठीक है, क्योकि यह बात इष्ट ही है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी असयत सम्यग्दृष्टि जीवोंकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—नही, क्योंकि, जिन्होने पहले आयु कर्मका बन्ध

कर लिया है ऐसे जीवोके सम्यग्दर्शनका उस गति सम्बन्धी आयु सामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस-उस गति सम्बन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया है। ऐसी अवस्थामे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है।

७. भवनत्रिक देव-देवी व कल्पवासी देवीमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता

ध. १/१ १,१६६/४०६/१ किमिति क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणाभावात्क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिना भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्तेरभावाच्च।=प्रश्न—क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव उक्त स्थानोमें (भवनत्रिक देव तथा सर्व देवियोंमें) क्यो नही उत्पन्न होते है? उत्तर—नही, क्योकि, एक तो वहाँपर दर्शनमोहनीयका क्षपण नही होता है। दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमें दर्शन मोहका क्षय कर दिया है उनकी भवनवासी आदि अधम देवोमे और सभी देवियोमें उत्पत्ति नही होती है।

८. फिर उपशमादि सम्यक्त्व भवनत्रिक देव व सर्व देवियोंमें कैसे सम्भव है

ध १/१,१, १६६/४०६/७ शेषसम्यक्त्वद्वयस्य तत्र कथ सम्भव इति चेन्न, तत्रोत्पन्नजीवाना पश्चात्पर्यायपरिणते सत्त्वात्।=प्रश्न—शेषके दो सम्यग्दर्शनोका उक्त स्थानोमें (भवनत्रिक देव तथा सर्व देवियोमें) सद्भाव कैसे सम्भव है। उत्तर—नही, क्योकि, वहाँपर उत्पन्न हुए जीवोके अनन्तर सम्यग्दर्शनरूप पर्याय हो जाती है, इसलिए शेषके दो सम्यग्दर्शनोका वहाँ सद्भाव पाया जाता है।

देव ऋद्धि—वल्लभीपुरमें श्वेताम्बराचार्य थे। कृति—श्वेताम्बरोके मूलसूत्र आचारागादि। समय—वी नि ९८०, वि ५१०, ई. ४५३। कल्पसूत्र—वल्लहिपुरम्मिह नयरे देवट्ठिपमुहसयलसंघेहिं। आगमपुत्थे लिम्हिओ णवसय असीआओ वरिओ। =वलभीपुर नगरमें देवऋद्धिका सकलसंघ सहित आगमन वीर निर्वाण ९८० मे हुआ था। (द सा /प्र ३१ प्रेमीजी)

देव ऋषि—दे० ऋषि।

देवकीर्ति— १. अनन्तवीर्यकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप श्रीपाल नं २ के शिष्य तथा वादिराजके गुरु थे। समय—ई ९७५–१०१५। (सि.वि /प्र.७५ पं महेन्द्र) —दे० इतिहास/५/४। २. नन्दिसघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप माघनन्दि कोल्लापुरीयके शिष्य तथा गण्ड, विमुक्त, वादि, चतुर्मुख आदि अनेक साधुओ व श्रावकोके गुरु थे। आपने कोल्लापुरकी रूपनारायण वसदिके आधीन केल्लगेरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था। तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। इनके शिष्य हुल्लराज मन्त्रीने इनके पश्चात् इनकी निषद्यका बनवायी थी। समय—वि ११९०–१२२० (ई ११३३–११६३), (प खं २/प्र ४ H L. Jain)—दे० इतिहास/५/४। ३. नन्दिसघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप गण्डविमुक्तदेवके शिष्य थे। समय—वि १२१५–१२४५ (ई ११५८–११८८), (प ख २/प्र.४ H. L Jain) —दे० इतिहास/५/४।

देवकुरु— १. विदेह क्षेत्रस्थ एक उत्तम भोगभूमि जिसके दक्षिणमें निषध, उत्तरमें सुमेरु, पूर्वमें सौमनस गजदन्त व पश्चिममें विद्युत्प्रभ गजदन्त है। २ इसका अवस्थान व विस्तार —दे० लोक/३,६। ३. इसमें काल परिवर्तन आदि विशेषताएँ —दे० भूमि।

देवकुरु— १ गन्धमादनके उत्तरकुरु कूटका स्वामी देव —दे० लोक/७। २. विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट —दे० लोक/७। ३. सौमनस गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/ ७। ४, सौमनस गजदन्तस्थ देवकुरु कूटका स्वामी देव—दे० लोक/७; ५. देवकुरुमें स्थित दोका नाम—दे० लोक/७।

देव कूट—१. अपर विदेहस्थ चन्द्रगिरि वक्षारका एक कूट —दे० लोक/७, २ उपरोक्त कूटका रक्षक एक देव—दे० लोक/७।

देवचंद्र—१. नन्दिसघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप माघनन्दि कोल्लापुरीयके शिष्य थे। भट्टारकोके आप अग्रणी थे। वेताल झोट्टिग आदि भूत-पिशाचोको वश करनेमें कुशल मन्त्र-तन्त्रवादी थे। समय—वि ११९०–१२२०, ई. ११३३–११६३ —दे० इतिहास/५/४। (प.खं.२/प्र ४ H.L. Jain) २ कृति—राजवलिकथे (कनडी ग्रन्थ)। समय—वि.सं.१८८६ (ई १८२९), (भ आ./प्र.४ प्रेमीजी)

देवजित—कृति—पंचास्तिकाय (पं.का /प्र ३—प. पन्नालाल बाकलीवाल), (पिटर्सन साहबकी रिपोर्ट चौथी नं. १४४२ का ग्रन्थ)

देव जी—कृति—सम्मेद शिखर विलास, परमात्म-प्रकाशकी भाषा टीका। समय—वि १७३४। (हि जै सा.इ /१६५ कामता)।

देवता—१ देवी-देवता —दे० देव/II। २ नव देवता निर्देश। —दे० देव/I।

देवनंदि—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप यशोनन्दिके शिष्य थे और जयनन्दिके गुरु थे। समय—वि श. २११–२५८ (ई.३३६–३८६), (स सि /प्र ८२), प. फूलचन्द्रजीके अनुसार सम्भवत यही पूज्यपाद स्वामी थे। पर यह बात कुछ लगती नही, क्योकि उनका समय—ई श ५ सर्व सम्मत है —दे० इतिहास/५/१३।

देवपाल — १ भावि कालीन तेईसवें तीर्थंकर है। अपरनाम दिव्यपाद। —दे० तीर्थंकर/५। २ ह पु /सर्ग/श्लोक, पूर्वके तीसरे भवमें भानुदत्त सेठका पुत्र भानुषेण था (३४/९७)। फिर दूसरे भवमें चित्रचूल विद्याधरका सेनकान्त नामक पुत्र हुआ (३४/१३२)। फिर गंगदेव राजाका पुत्र गंगदत्त हुआ (३४–१४२)। वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र था (३४/३)। सुदृष्टि नामक सेठके घर इनका पालन हुआ (३४/४–५)। नेमिनाथ भगवान्के समवशरणमें धर्म श्रवण कर, दीक्षा ले ली (तथा घोर तप किया), (५९/११५;६०/७), (अन्तमें मोक्ष प्राप्त की (६५/१६)। ३ भोजवंशी राजा था। भोजवश वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप राजा वर्मके पुत्र और जैतुगिदके पिता थे। मालवा (मागध) देशके राजा थे। धारी व उज्जैनी आपकी राजधानी थी। समय—ई १२१८–१२२८ (दे०सा /प्र.३६–३७ प्रेमी.जी)—दे० इतिहास/१/४।

देवमाल—अपर विदेहस्थ एक वक्षार। अपरनाम मेघमाल। —दे० लोक/७।

देवमूढता—दे० मूढता।

देवराय—विजयनगरका राजा था। समय—ई १४१८–१४४६।

देवलोक—१. देवलोक निर्देश—दे० स्वर्ग/५। २. देवलोकके नकशे —दे० लोक/७; ३. देवलोकमें पृथिवीकायिकादि जीवोकी सम्भावना —दे० नरक/५।

देववर—मध्यलोकके अन्तमें तृतीय सागर व द्वीप—दे० लोक/५।

देव विमान—१. देवोंके विमानोंका स्वरूप – दे० विमान। २. देव विमानोंमें चैत्य चैत्यालयका निर्देश—दे० चैत्य/२।

देवसुत—भाविकालीन छठे तीर्थंकर हैं। अपरनाम देवपुत्र व जयदेव—दे० तीर्थंकर/५।

देवसेन—१. पंचस्तूप सघकी गुर्वावलीके अनुसार—दे० इतिहास। आप वीरसेन (धवलाकार) के शिष्य थे। समय—ई ८००-८४३ (म. पु /प्र./३१ पं. पन्नालाल)—दे० इतिहास/५/१७। २. माथुर संघकी गुर्वावलीके अनुसार—दे० इतिहास। आप श्री विमलगणीके शिष्य तथा अमितगति प्रथमके पुत्र थे। आपने प्राकृत व संस्कृत भाषाओमे अनेक ग्रन्थ लिखे है। यथा—दर्शनसार (प्रा०); २. भावसंग्रह (प्रा०), ३ आराधनासार (प्रा०); ४. तत्त्वसार (प्रा०); ५. ज्ञानसार (प्रा०); ६. नयचक्र (प्रा०), ७ आलापपद्धति (स०); ८. धर्मसंग्रह (स० व प्रा०)। समय—वि. ६५०-१००० (ई. ८९३-९४३) द.सा / ५० के अनुसार वि. ९९० है सो ठीक है। (१ द सा./५ ल० ५०) (द. सा /प्र २१-२२,६३ पं. नाथूराम) (आराधनासार/प्रा.२ पं० गजाधरलाल) (हिं जै.सा इ./पृ २५ कामता) (न च /प्र. १२ प्रेमी) (सि.वि./प्र. २० प. महेन्द्र)–दे०। इतिहास ।५।२३।३. ह. पु।१८।१६ भोजकवृष्णिका पुत्र उग्रसेनका छोटा भाई था। ४. वरागचरित /सर्ग/ श्लोक ललितपुरके राजा थे, तथा वरागके मामा लगते थे (१६/१३)। वरागको युद्धमें विजय देख उसके लिए अपना आधा राज्य व कन्या प्रदान की (१६/३०)।

देवागम स्तोत्र—दे०—आप्तमीमांसा

देवारण्यक—उत्तर कुरु, देव कुरु व पूर्व विदेहके वनखण्ड—दे० लोक /३/१४

देवी—देवोंकी देवियाँ—दे० वह वह देव।

देवीदास—आप झाँसी निवासी एक प्रसिद्ध हिन्दी जैन कवि थे। कवि वृन्दावनके समकालीन थे। हिन्दीके ललित छन्दोंमें निबद्ध आपकी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हैं—१ प्रवचनसार; २ परमानन्द विलास, ३. चिद्विलास वचनिका; ४ चौबीसी पूजापाठ। समय—आपने प्रवचनसार ग्रन्थ वि. १८२४ में लिखा था। वि. १८१२-१८२४ (ई. १७५५-१७६७) (वृन्दावन विलास/प्र १४ प्रेमी जी) (हि जै.सा.इ./ २१८ कामता)।

देवेंद्र—आप नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावली (—दे० इतिहास) के अनुसार गुणनन्दिके शिष्य तथा वसुनन्दिके गुरु थे /श स /७८२ के ताम्रपत्रके अनुसार मान्यखेटके राजा अमोघवर्ष द्वारा एक देवेन्द्र आचार्यको दान देनेका उल्लेख मिलता है। सम्भवत. यह वही हो। समय—वि श.७८०-८२०, वि. ९१५-९५५; (ई ८५८-८९८) (म पु./प्र. ४१ प. पन्नालाल) (प खं २/प्र.१० H.L Jain)—दे० इतिहास/५/१४।

देवेंद्र कीर्ति—१ नंदिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (—दे० इतिहास) आप पद्मनंदि नं. १० के शिष्य और विद्यानंदि नं २ के गुरु थे। समय—वि. १४८०-१५३० (ई. १४२३-१४७३) (त. वृ /प्र.९८ पं महेन्द्र) (प.प्रा./प्र.६ प्रेमी) (यशस्तिलक चन्द्रिकाटीकाके तीसरे आश्वासकी प्रशस्ति) (जिनसहस्रनामटीकाकी प्रशस्ति) इतिहास/५/१३। २ आप सागानेरके भट्टारकोंमेंसे थे। विद्यानन्द भट्टारकके दीक्षा गुरु थे। कृति—कथाकोष आदि अनेक ग्रन्थ। समय—वि. १६४०-१६६२ (ई. १५८३-१६०५) (भद्रबाहु चरित्र/प्र.४ उदयलाल।

देश—१. देशका लक्षण

१. देश सामान्य

ध.१३/५,५,६३/३३५/३ अंग-बंग-कलिंग-मगधादओ देसो णाम। =अंग, बंग, कलिंग और मगध आदि देश कहलाते हैं।

२. देश द्रव्य

प.ध./पू /१४७ का भावार्थ—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव इन सबके समुदायका नाम देश है।

३. देश अवयव

रा. वा./७/२/१/५३५/१८ कुतश्चिदवयवाद् दिश्यत इति देश' प्रदेश', एकदेश इत्यर्थ। =कहींपर देश शब्द अवयव अर्थमें होता है। जैसे--देश अर्थात् एक भाग।

ध १३/५,३,१८/१८/६ एगस्स दव्वस्स देसं अवयवं। =देशद्रव्यका देश अर्थात् अवयव।

गो क./जी प्र /७८९/९५१/५ देशेन लेशेन एकमसंयमं दिशति परिहरतीति देशैकदेश' देशसयत'। =देश कहिए लेश किंचित् एक जु है असयम ताकौ परिहारे है ऐसा देशैकदेश कहिए देशसयत।

४. देशसम्यक्त्व

ध.१३/५,५,५६/३२३/७ देसं सम्मत्तं। =देशका अर्थ सम्यक्त्व है।

२. एकदेश त्यागका लक्षण

पं ध /पू./१ नामैकदेशेन नामग्रहणं। =नामके एकदेश ग्रहणसे पूर्ण देशका ग्रहण हो जाता है, उसे एकदेश न्याय कहते हैं।

देशक्रम—दे० क्रम/१।

देशघाती प्रकृति—अनुभाग/४।

देशघाती स्पर्धक—दे० स्पर्धक।

देशचारित्र—दे० सयतासंयत।

देशनालब्धि—दे० लब्धि/३।

देशप्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष/१।

देशभूषण—प पु /३९/श्लोकवशधर पर्वतपर ध्यानारूढ थे (३३)। पूर्व वैरसे अग्निप्रभ नाम देवने घोर उपसर्ग किया (१५), जो कि वनवासी रामके आनेपर दूर हुआ (७३)। तदनन्तर इनको केवलज्ञान हो गया (७५)।

देशविरत—दे० विरताविरत।

देशव्रत—१. देशव्रतका लक्षण

र क.श्रा./९२-९४ देशावकाशिक स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य। प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसहारो विशालस्य।९२। गृहहारिग्रामाणा क्षेत्रनदीदावयोजनाना च। देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्ना तपोवृद्धा' ।९३। संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्ष च। देशावकाशिकस्य प्राहु' कालावधि प्राज्ञा।९४। =दिग्व्रतमें प्रमाण किये हुए विशाल देशमें कालके विभागसे प्रतिदिन त्याग करना सो अणुव्रतधारियोंका देशावकाशिक व्रत होता है।९२। तपसे वृद्धरूप जे गणधरादिक है, वे देशावकाशिकव्रतके क्षेत्रकी मर्यादा अमुक घर, गली अथवा कटकछावनी ग्राम तथा खेत, नदी, वन और किसी योजन तककी स्मरण करते है अर्थात् कहते हे।९३। गणधरादिक ज्ञानी पुरुष देशावकाशिक व्रतकी एक वर्ष, दो मास, छह मास, एक मास, चार मास, एक पक्ष और नक्षत्र तक कालकी मर्यादा कहते हैं।९४। (सा.ध./५/२५) (ला स./६/१२२)

स.सि /७/२१/३५६/१२ ग्रामादीनामवधृतपरिमाण' प्रदेशो देश'। ततो-बहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम्। =ग्रामादिककी निश्चित मर्यादारूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जानेका त्याग कर देना देश-विरतिव्रत कहलाता है। (रा.वा./७/२१/३/५४७/२७), (पु.सि उ /१३६)

का.आ /मू /३६७–३६८ पुव्व-पमाण-कदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि सवरणं। इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं ।३६७। वासादिकयपमाण दिणे दिणे लोह-काम-समणट्ठं ।३६८। =जो श्रावक लोभ और कामको घटानेके लिए तथा पापको छोडनेके लिए वर्ष आदिकी अथवा प्रतिदिनकी मर्यादा करके, पहले दिग्व्रतमें किये हुए दिशाओंके प्रमाणको, भोगोपभोग परिमाणव्रतमें किये हुए इन्द्रियोंके विषयोंके परिमाणको और भी कम करता है वह देशावकाशिक नामका शिक्षाव्रत है।

वसु.श्रा /२१५ वयभंग-कारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण। कीरइ गमणणियत्ती त जाणा गुणव्वयं विदिय ।२१५। =जिस देशमें रहते हुए व्रत भंगका कारण उपस्थित हो, उस देशमें नियमसे जो गमन निवृत्ति की जाती है, उसे दूसरा देशव्रत नामका गुणव्रत जानना चाहिए ।२१५। (गुण श्रा /१४१)

ला.सं /६/१२३ तद्विषयो गतिस्त्यागस्तथा चाशनवर्जनम्। मैथुनस्य परित्यागो यद्वा मौनादिधारणम् ।१२३। =देशावकाशिक व्रतका *विषय गमन करनेका त्याग, भोजन करनेका त्याग, मैथुन करनेका त्याग*, अथवा मौन धारण करना आदि है।

जैनसिद्धान्त प्रवेशिका/२२४ श्रावकके व्रतोको देशचारित्र कहते है।

२. देशव्रतके पाँच अतिचारोंका निर्देश

त सू./७/३१ आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।३१। =आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशविरतिव्रतके पाँच अतिचार है ।३१। (र.क.श्रा /मू /९६)

३. दिग्व्रत व देशव्रतमें अन्तर

रा वा./७/२१/२०/३ अयमनयोर्विशेष —दिग्विरति सार्वकालिकी देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति। =दिग्विरति यावज्जीवन—सर्वकालके लिए होती है जबकि देशव्रत शक्त्यानुसार नियतकालके लिए होता है। (चा सा./१६/१)

४. देशव्रतका प्रयोजन व महत्त्व

स.सि /७/२१/३५६/१३ पूर्ववद्बहिर्महाव्रतत्वं व्यवस्थाप्यम्। =यहाँ भी पहलेके (दिग्व्रतके) समान मर्यादाके बाहर महाव्रत होता है। (रा.वा./७/२१/२०/५४६/२)

र.क.श्रा./९५ सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसत्यागात्। देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ।९५। =सीमाओंके परे स्थूल सूक्ष्मरूप पाँचों पापोका भले प्रकार त्याग हो जानेसे देशावकाशिकव्रतके द्वारा भी महाव्रत साधे जाते हैं ।९५। (पु सि.उ /१४०)

देशसंयत—दे० सयतासयत।

देशसत्य—दे० सत्य/१।

देशस्कंध—दे० स्कध/१।

देशस्पर्श—दे० स्पर्श/१।

देशातिचार—अतिचारका एक भेद—दे० अतिचार/१।

देशावधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१।

देशीनाममाला—दे० शब्दकोष।

देशीयगण—नन्दिसंघकी एक शाखा—दे० इतिहास/५।

देह—१. दे० शरीर; २. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० पिशाच।

दैव—दे० नियति/३।

दो—१. यह जघन्य संख्या समझी जाती है। २. दोकी संख्या अवक्तव्य कहलाती है। —दे० अवक्तव्य।

दोलायित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

दोष—१. सम्यक्त्वके २५ दोष निर्देश—दे० सम्यग्दर्शन/२। २ संसारियोंके अठारह दोष—दे० अर्हंत/१। ३. आप्तमेंसे सर्वदोषोंका अभाव सम्भव है।—दे० मोक्ष/६/४। ४. आहार सम्बन्धी ४६ दोष—दे० आहार/II/२। ५. न्याय सम्बन्धी दोष—दे० न्याय/१।

दोष—१. जीवके दोष रागादि है

स श /टी./५/२२५/३ दोषाश्च रागादयः। =रागादि दोष कहलाते है। (प.ध./उ./६०३)

द्र. सं /टी /१४/४६/११ निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः। निर्दोष परमात्मासे भिन्न रागादि दोष कहलाते है।

दोहा पाहुड़—आचार्य योगेन्दुदेव (ई.श ६) द्वारा विरचित प्राकृत दोहाबद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है।

दोहासार—दे० योगसार नं. ३।

दौलतराम—खण्डेलवाल जातिके काशलीवाल गोत्री आनन्दरायके घर 'वसवा' ग्राममें आपका जन्म हुआ था। पर आप रहते जयपुर थे। आप एक प्रसिद्ध पण्डित तथा राजाके प्रधान कर्मचारी हुए है। आपकी निम्न रचनाएँ है—१. क्रियाकोष (वि. १८२३); २. आदि पुराण हिन्दी (वि १८२४); ३. हरिवंश पुराण हिन्दी (वि १८२९), ४ श्रीपालचरित्र हिन्दी, ५. पुरुषार्थ सिद्ध्युपायकी प० टोडरमल कृत हिन्दी टीकाकी पूर्ति (वि. १८२७)। समय—वि श १८ का उत्तरार्ध; (ई १६९३-१७७३), (हिं. जै सा. इ /१८१ कामता), (प. प्र./प्र. १२५ A N.Up.)

द्यानतराय—आगरा निवासी गोयल गोत्री अग्रवाल श्रावक थे। पिता श्यामदास थे। जन्म १७३३ में हुआ था। कृति—धर्मविलास (१७८०)।

द्युति—स सि /४/२०/२५१/८ शरीरवसनाभरणादिदीप्ति द्युति। =शरीर, वस्त्र और आभूषण आदिकी कान्तिको द्युति कहते है। (रा वा /४/२०/४/२३५/१७)

द्यूतक्रीड़ा—१. द्यूतके अतिचार

सा ध /३/१९ दोषो होढाद्यपि मनो-विनोदार्थं पणोज्झिनः। हर्षोऽमर्षोदयाङ्गत्वात्, कषायो ह्यंहसेऽञ्जसा ।१९। =जूआके त्याग करनेवाले श्रावकके मनोविनोदके लिए भी हर्ष और विनोदकी उत्पत्तिका कारण होनेसे शर्त लगाकर दौडना, जूआ देखना आदि अतिचार होता है, क्योकि वास्तवमें कषायरूप परिणाम पापके लिए होता है ।१९।

ला.स./२/११४,१२० अक्षपाशादिनिक्षिप्तं वित्ताज्जयपराजयम्। क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ।११४। अन्योन्यस्येर्ष्यया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति। व्यवसायादृते कर्म द्यूतातीचार इष्यते ।१२०। =जिस क्रियामें खेलनेके पासे डालकर धनकी हार-जीत होती है, वह सब जूआ कहलाता है अर्थात् हार-जीतकी शर्त लगाकर ताश खेलना, चौपड खेलना, शतरंज खेलना, आदि सब जूआ कहलाता है ।११४। अपने-अपने व्यापारके कार्योंके अतिरिक्त कोई भी दो पुरुष परस्पर एक-दूसरेकी ईर्ष्यासे किसी भी कार्यमें एक-दूसरेको जीतना चाहते हो तो उन दोनोंके द्वारा उस कार्यका करना भी जूआ खेलनेका अतिचार कहलाता है ।१२०।

* रसायन सिद्धि शर्त लगाना आदि भी जूआ है —दे० द्यूत/१।

२. द्यूतका निषेध तथा उसका कारण

पु सि.उ./१४६ सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः। दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ।१४६। =सप्त व्यसनोंका प्रथम यानी सम्पूर्ण अनर्थोंका मुखिया, सन्तोषका नाश करनेवाला, मायाचारका घर, और चोरी तथा असत्यका स्थान जूआ दूर हीसे त्याग कर देना चाहिए ।१४६। (ला.सं./२/११८)

सा.ध./३/१७ द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजन्। क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ।१७। =जूआ खेलनेमें हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ और कपट आदि दोषोंकी अधिकता होती है। इसलिए जैसे वेश्या, परस्त्री सेवन और शिकार खेलनेसे यह जीव स्वयं नष्ट होता है तथा धर्म-भ्रष्ट होता है, इसी प्रकार जूआ खेलनेवाला अपनेको किस-किस आपत्तिमें नहीं डालता।

ला सं./२/११५ प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम्। यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ।११५। =जूआ खेलना ससार भरमें प्रसिद्ध है। उसी समय महा अशुभकर्मका बन्ध करनेवाला है, समस्त आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है, ऐसा जानकर धर्मानुरागियोंको इसे छोड देना चाहिए ।११५।

द्योतन—दे० उद्योत/१।

द्रमिल—दक्षिण भारतका वह भाग है, जो मद्रासरो सेरिंगपट्टम और कामोरिन तक फैला हुआ है। और जिसकी पुरानी राजधानी काचीपुर है। (ध.१/प्र.३२/H.L. Jain)

द्रविड़ देश—दक्षिण प्रान्तका एक देश है जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द हुए हैं।—दे० कुन्दकुन्द।

द्रविड़ संघ— दिगम्बर साधुओंका संघ। —दे० इतिहास/५।

द्रव्य—लोक द्रव्योंका समूह है और वे द्रव्य छह मुख्य जातियोंमें विभाजित हैं। गणनामें वे अनन्तानन्त हैं। परिणमन करते रहना उनका स्वभाव है, क्योंकि बिना परिणमनके अर्थक्रिया और अर्थक्रियाके बिना द्रव्यके लोपका प्रसंग आता है। यद्यपि द्रव्यमें एक समय एक ही पर्याय रहती है पर ज्ञानमें देखनेपर वह अनन्तों गुणों व उनकी त्रिकाली पर्यायोंका पिण्ड दिखाई देता है। द्रव्य, गुण व पर्यायमें यद्यपि कथन क्रमकी अपेक्षा भेद प्रतीत होता है पर वास्तवमें उनका स्वरूप एक रसात्मक है। द्रव्यकी यह उपरोक्त व्यवस्था स्वत. सिद्ध है, कृतक नहीं है।

१. द्रव्यके भेद व लक्षण

१. द्रव्यका निरुक्त्यर्थ

पं. का./मू./९ दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं। दवियं तं भण्णते अण्णभूदं तु सत्तादो।९। =उन उन सद्भाव पर्यायोंको जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहते हैं जो कि सत्तासे अनन्यभूत है। (रा. वा./१/३३/१/९५/४)।

स. सि./१/५/१७/५ गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्द्रोष्यते, गुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्।

स. सि./५/२/२६६/१० यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि। =जो गुणोंके द्वारा प्राप्त किया गया था अथवा गुणोंको प्राप्त हुआ था, अथवा जो गुणोंके द्वारा प्राप्त किया जायगा वा गुणोंको प्राप्त होगा उसे द्रव्य कहते हैं। जो यथायोग्य अपनी अपनी पर्यायोंके द्वारा प्राप्त होते हैं या पर्यायोंको प्राप्त होते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। (रा. वा./५/२/१/४३६/१४); (ध. १/१,१,१/१८३/११); (ध. ३/१,२, १/२/१); (ध. ९/४,१,४५/१६७/१०), (ध. १५/३३/६); (क. पा. १/१,१४/§१७७/२११/८); (न च. वृ./३६), (आ. प./६) (यो. सा./अ/२/५)।

रा. वा./५/२/२/४३६/२६ अथवा द्रव्यं भव्ये [जैनेन्द्र व्या. /४/१/१५८] इत्यनेन निपातितो द्रव्यशब्दो वेदितव्यः। द्रु इव भवतीति द्रव्यम्। क उपमार्थः। द्रु इति दारु नाम यथा अग्रन्थि अजिह्मं दारु तक्ष्णोपकल्प्यमानं तेन तेन अभिलषितेनाकारेण आविर्भवति, तथा द्रव्यमपि आत्मपरिणामगमनसमर्थं पाषाणखननोदकवदविभक्तकर्तृकरणमुभयनिमित्तवशोपनीतात्मना तेन तेन पर्यायेण द्रु इव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते। =अथवा द्रव्य शब्दको इवार्थक निपात मानना चाहिए। 'द्रव्य भव्य' इस जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो वह 'द्रव्य' यह समझ लेना चाहिए। जिस प्रकार बिना गाँठकी सीधी द्रु अर्थात् लकड़ी बढ़ई आदिके निमित्तसे टेबल कुर्सी आदि अनेक आकारोंको प्राप्त होती है, उसी तरह द्रव्य भी उभय (बाह्य व आभ्यन्तर) कारणोंसे उन उन पर्यायोंको प्राप्त होता रहता है। जैसे 'पाषाण खोदनेसे पानी निकलता है' यहाँ अविभक्त कर्तृकरण है उसी प्रकार द्रव्य और पर्यायमें भी समझना चाहिए।

२. द्रव्यका लक्षण सत् तथा उत्पादव्ययध्रौव्य

त. सू./५/२९ सत् द्रव्यलक्षणम्।२९। =द्रव्यका लक्षण सत् है।

प. का./मू./१० दव्वं सल्लक्खणयं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। =जो सत् लक्षणवाला तथा उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है उसे द्रव्य कहते हैं। (प्र. सा./मू./९५-९६) (न. च. वृ./३७) (आ. प./६) (यो.सा. अ/२/६) (पं. ध./पू./८, ८६) (दे. सत्)।

प्र. सा./त. प्र./९६ अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्य साधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वात्... द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। =अस्तित्व वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है, और वह अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनाद्यनन्त होनेसे तथा अहेतुक एकरूप वृत्तिसे सदा ही प्रवर्तता होनेके कारण द्रव्यके साथ एकत्वको धारण करता हुआ, द्रव्यका स्वभाव ही क्यों न हो?

३. द्रव्यका लक्षण गुण समुदाय

स. सि./५/२/२६७/४ गुणसमुदायो द्रव्यमिति। =गुणोंका समुदाय द्रव्य होता है।

पं. का./प्र./४४ द्रव्यं हि गुणानां समुदायः। =वास्तवमें द्रव्य गुणोंका समुदाय है। (पं. ध./पू./७३)।

४. द्रव्यका लक्षण गुणपर्यायवान्–

त. सू /५/३८ गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।३८। गुण और पर्यायोवाला द्रव्य है। (नि. सा. मू /९); (प्र. सा./मू./९५) (प. का /मू /१०) (न्या. वि./मू./१/११५/४२८) (न. च./वृ /३७) (आ. प./६), (का. अ./मू./२४२). (त. अनु./१००) (पं. ध./पू./४३८)।

स. सि /५/३८/३०९ पर उद्धृत—गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो। तेहि अणूण दव्वं अजुपदसिद्धं हवे णिच्च।= द्रव्यमें भेद करनेवाले धर्मको गुण और द्रव्यके विकारको पर्याय कहते है। द्रव्य इन दोनोसे युक्त होता है। तथा वह अयुतसिद्ध और नित्य होता है।

प्र. सा /त. प्र./२३ समगुणपर्यायं द्रव्यं इति वचनात्।='युगपत् सर्व-गुणपर्याये ही द्रव्य है' ऐसा वचन है। (पं. ध./पू. ७३)।

पं. ध /पू ७२, गुणपर्ययसमुदायो द्रव्य पुनरस्य भवति वाक्यार्थ।= =गुण और पर्यायोके समूहका नाम ही द्रव्य है और यही इस द्रव्यके लक्षणका वाक्यार्थ है।

पं.ध./पू /७३ गुणसमुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताऽप्युशन्ति बुधा। समगुणपर्यायो वा द्रव्य कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धै।=गुणोके समुदायको द्रव्य कहते है; केवल इतनेसे भी कोई आचार्य द्रव्यका लक्षण करते है, अथवा कोई कोई वृद्ध आचार्यो द्वारा युगपत सम्पूर्ण गुण और पर्याय ही द्रव्य कहा जाता है।

५. द्रव्यका लक्षण ऊर्ध्व व तिर्यगंश आदिका समूह

न्या.वि./मू /१/११५/४२८ गुणपर्ययवद्द्रव्यं ते सहक्रमप्रवृत्तय।=गुण और पर्यायोवाला द्रव्य होता है और वे गुण पर्याय क्रमसे सह प्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त होते है।

प्र.सा./त.प्र /१० वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेष-लक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्यय-ध्रौव्यमयास्तित्वेन निवर्तितनिर्वृत्तिमच्च।=वस्तु तो ऊर्ध्वता-सामान्यरूप द्रव्यमें, सहभावी विशेषस्वरूप गुणोमें तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायोमें रही हुई और उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्वसे बनी हुई है।

प्र.सा./त प्र /९३ इह खलु य कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ. स सर्व एव विस्तारायत-सामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमय। =इस विश्वमें जो कोई जाननेमें आनेवाला पदार्थ है, वह समस्त ही विस्तारसामान्य समुदायात्मक (गुणसमुदायात्मक) और आयतसामान्य समुदायात्मक (पर्यायसमुदायात्मक) द्रव्यसे रचित होनेसे द्रव्यमय है।

६. द्रव्यका लक्षण त्रिकाली पर्यायोंका पिंड

ध.१/१,१,१३६/गा.१९९/३८६ एय दवियम्मि जे अत्थपज्जया वयण पज्जया वावि। तीदाणागयभूदा तावदियं तं हवइ दव्व ।१९९। =एक द्रव्यमें अतीत अनागत और 'अपि' शब्दसे वर्तमान पर्यायरूप जितनी अर्थपर्याय ओर व्यंजनपर्याय है, तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है। (ध ३/१,२,१/गा ४/६) (ध.९/४,१,४५/गा ६७/१८३) (क.पा.१/१,१४/गा १०८/२५३) (गो.जी./मू./५८२/१०२३)।

आप्त मी./१०७ नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चय:। अविभ्राड्भावसंबन्धो द्रव्यमेकमनेकधा।१०७।=जो नैगमादिनय और उनकी शाखा उपशाखारूप उपनयोके विषयभूत त्रिकालवर्ती पर्यायोका अभिन्न सम्बन्धरूप समुदाय है उसे द्रव्य कहते है। (ध ३/१,२,१/गा. ३/५), (ध ९/४,१,४५/गा ६६/१८३) (ध.१३/५,५,५९/गा ३२/३१०)।

श्लो.वा २/१/५/६३/२६९/३ पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपरिणामाश्रियं द्रव्यमुक्तम्। =पर्यायवाला द्रव्य होता है इस प्रकार कहनेवाले सूत्रकारने तीनो कालोमें क्रमसे होनेवाली पर्यायोका आश्रय हो रहा द्रव्य कहा है।

प्र. सा /त.प्र /३६ ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरम्परा-प्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं। =ज्ञेय—वर्त चुकी, वर्तरही और वर्तनेवाली ऐसी विचित्र पर्यायोके परम्पराके प्रकारसे त्रिधा कालकोटिको स्पर्श करता होनेसे अनादि अनन्त द्रव्य है।

७. द्रव्यके अन्वय सामान्यादि अनेकों नाम

स सि /१/३३/१४०/९ द्रव्यं सामान्यमुत्सर्ग: अनुवृत्तिरित्यर्थ:। द्रव्यका अर्थ सामान्य उत्सर्ग और अनुवृत्ति है।

प ध /पू./१४३ सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु। अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दा.।=सत्ता, सत अथवा सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्य-रूपसे एक द्रव्यरूप अर्थके ही वाचक है।

८. द्रव्यके छह प्रधान भेद

नि सा /मू /९ जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयास। तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहि सजुत्ता।९। =जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये तत्त्वार्थ कहे है जो कि विविध गुण और पर्यायोसे सयुक्त है।

त सू./५/१-३,३९ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला:।१। द्रव्याणि।२। जीवाश्च।३। कालश्च।३९। =धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीवकाय है।१। ये चारो द्रव्य है।२। जीव भी द्रव्य है।३। काल भी द्रव्य है।३९। (यो सा /अ /२/१) (द्र.स./मू /१५/५०)।

९. द्रव्यके दो भेद संयोग व समवाय द्रव्य

ध १/१,१,१/१७/६ दव्व दुविह, संजोगदव्व समवायदव्वं चेदि। (नाम निक्षेपके प्रकरणमे) द्रव्य-निमित्तके दो भेद है—सयोगद्रव्य और समवायद्रव्य।

१०. संयोग व समवाय द्रव्यके लक्षण

ध.१/१,१,१/१७/६ तत्थ संजोयदव्व णाम पुध पुध पसिद्धाणं दव्वाणं संजोगेण णिप्पण्णं। समवायदव्वं णाम जं दव्वम्मि समवेदं।.. सजोगदव्वणिमित्त णाम दंडी छत्ती मौली इच्चेवमादि। समवाय-णिमित्त णाम गलगडो काणो कुडो इच्चेवमाइ। =अलग-अलग सत्ता रखनेवाले दव्योके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग द्रव्य कहते है। जो द्रव्यमे समवेत हो अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवायद्रव्य कहते है। दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि सयोगद्रव्य निमित्तक नाम है; क्योकि दण्डा, छत्री, मुकुट इत्यादि स्वतन्त्र सत्तावाले पदार्थ है और उनके सयोगसे दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि नाम व्यवहारमे आते है।•गलगण्ड, काना, कुबडा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम है, क्योकि जिसके लिए गलगण्ड इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्न सत्तावाला नही है। इसी प्रकार काना, कुबडा आदि नाम समझ लेना चाहिए।

११. स्व व पर द्रव्यके लक्षण

प्र सा./ता.वृ /११५/१६१/१० विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन तच्चतुष्टयं, शुद्धजीवविषये कथ्यते। शुद्धगुणपर्यायाधारभूत शुद्धात्म-द्रव्य द्रव्यं भण्यते।. यथा शुद्धात्मद्रव्ये दर्शित तथा यथासभवं सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति। =विवक्षितप्रकारसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव, ये चार बातें स्वचतुष्टय कहलाती है। तहाँ शुद्ध जीवके विषयमें कहते है। शुद्ध गुणपर्यायोका आधारभूत शुद्धात्म

द्रव्यको स्वद्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार शुद्धात्मद्रव्यमें दिखाया गया उसी प्रकार यथासम्भव सर्व पदार्थोंमें भी जानना चाहिए।

पं.ध./पू./७४,२६४ अयमत्राभिप्रायो ये देशा: सद्गुणास्तदंशाश्च। एकालापेन सम द्रव्य नाम्ना त एव नि:शेषम्।७४। एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च। पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोऽपि नानयोरेव।२६४। =देश सत्‌रूप अनुजीवीगुण और उसके अंश देशांश तथा गुणांश है। वे ही सब युगपत्एकालापके द्वारा नामसे द्रव्य कहे जाते है।७४। निश्चयसे एक महासत्ता तथा दूसरी अवान्तर नामकी सत्ता है। इन दोनों ही मे पृथक् प्रदेशपना नही है तथा स्वरूपभेद भी नही है।

२. द्रव्य निर्देश व शंका समाधान

१. एकान्त पक्षमें द्रव्यका लक्षण सम्भव नही

रा.वा./५/२/१२/४४१/१ द्रव्य भव्ये इत्ययमपि द्रव्यशब्द एकान्तवादिनां न संभवति, स्वतोऽसिद्धस्य द्रव्यस्य भव्यार्थासंभवात्। संसर्गवादिनस्तावत् गुणकर्म 'सामान्यविशेषेभ्यो द्रव्यस्यात्यन्तमन्यत्वे खरविषाणकल्पस्य स्वतोऽसिद्धत्वात् न भवनक्रियाया: कर्तृत्वं युज्यते।•• अनेकान्तवादिनस्तु गुणसन्द्रावो द्रव्यम्, द्रव्य भव्ये इति चोत्पद्यते, पर्यायिपर्याययो: कथंचिद्भेदोपपत्तेरित्युक्तं पुरस्तात्। =एकान्त अभेद वादियो अथवा गुण कर्म आदिसे द्रव्यको अत्यन्त भिन्न माननेवाले एकान्त संसर्गवादियोके हाँ द्रव्य ही सिद्ध नही हे जिसमें कि भवन क्रियाकी कल्पना की जा सके। अत उनके हाँ 'द्रव्य भव्ये' यह लक्षण भी नही बनता (इसी प्रकार 'गुणपर्ययवद् द्रव्य' या 'गुणसमुदायो द्रव्य' भी वे नही कह सकते—दे० द्रव्य/४) अनेकान्तवादियोंके मतमें तो द्रव्य और पर्यायमें कथंचित् भेद होनेसे 'गुणसन्द्रावो द्रव्य' और 'द्रव्यं भव्ये' (अथवा अन्य भी) लक्षण बन जाते है।

२. द्रव्यमें त्रिकाली पर्यायोंका सद्भाव कैसे सम्भव है

श्लो.वा.२/१/५/२६६/१ नन्वनागतपरिणामविशेष प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमयुक्तं, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति तस्य सूत्रितत्वात्, तदागमविरोधादिति कश्चित्, सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञ:। पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानन्तक्रमभाविपर्यायाश्रितं द्रव्यमुक्तम्। तच्च यदानागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायं च निश्चीयतेऽन्यथानागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्ते: खरविषाणादिवत्।—निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम्। =प्रश्न—'भविष्यमे आनेवाले विशेष परिणामोके प्रति अभिमुखपनेको ग्रहण करनेवाला द्रव्य है' इस प्रकार द्रव्यका लक्षण करनेसे 'गुणपर्ययवद्द्रव्य' इस सूत्रके साथ विरोध आता हे। उत्तर—आप सूत्रके अर्थसे अनभिज्ञ है। द्रव्यको गुणपर्यायवान् कहनेसे सूत्रकारने तीनो कालोमें क्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंका आश्रय हो रहा द्रव्य कहा है। वह द्रव्य जब भविष्यमें होनेवाले विशेष परिणामके प्रति अभिमुख है, तब वर्तमानकी पर्यायोसे तो घिरा हुआ है और भूतकालकी पर्यायको छोड चुका है, ऐसा निर्णीतरूपसे जाना जा रहा है। अन्यथा खरविषाणके समान भविष्य परिणामके प्रति अभिमुखपना न बन सकेगा। इस प्रकारका लक्षण यहाँ निक्षेपके प्रकरणमें किया गया है। (इसलिए) क्रमश —

ध. १३/५,५,७०/३७०/११ तीदाणागयपज्जायाणं सगसरूवेण जीवे सभवादो। =(जिसका भविष्यमें चिन्तवन करेगे उसे भी मन:पर्ययज्ञान जानता है) क्योकि, अतीत और अनागत पर्यायोका अपने स्वरूपसे जीवमें पाया जाना सम्भव है।

(दे० केवलज्ञान/५।२)—(पदार्थमे शक्तिरूपसे भूत और भविष्यत्की पर्याय भी विद्यमान ही रहती है, इसलिए, अतीतानागत पदार्थोंका ज्ञान भी सम्भव है। तथा ज्ञानमें भी ज्ञेयाकाररूपसे वे विद्यमान रहती हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं है)।

३. षट्द्रव्योंकी संख्याका निर्देश

गो.जी./मू./५८८/१०२७ जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु। धम्मतियं एक्केक्कं लोगपदेसप्पमा कालो।५८८। =द्रव्य प्रमाणकरि जीवद्रव्य अनन्त हे, बहुरि तिनितें पुद्गल परमाणु अनन्त हैं, बहुरि धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक ही हैं, जातें ये तीनों अखण्ड द्रव्य हैं। बहुरि जेते लोकाकाशके (असंख्यात) प्रदेश हैं तितने कालाणु हैं। (त. सू./५।६)।

४. षट्द्रव्योंको जाननेका प्रयोजन

प. प्र./मू./२/२७ दुक्खहँ कारणु मुणिवि जिय दव्वहँ एहु सहाउ। होयवि मोक्खहँ मग्गि लहु गम्मिज्जइ परलोउ।२७। =हे जीव षट्द्रव्योंके ये स्वभाव दु:खके कारण जानकर मोक्षके मार्गमें लगकर शीघ्र ही उत्कृष्टलोकरूप मोक्षमें जाना चाहिए।

न. च. वृ./२८४ में उद्धृत—णियदव्वजाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं। तम्हा परछद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं।

न. च. वृ./१० णायव्वं दवियाणं लक्खणसंसिद्धिहेउगुणणियरं। तह पज्जायसहावं एयंतविणासणट्ठा वि।१०। =निजद्रव्यके ज्ञापनार्थ ही जिनेन्द्र भगवान्‌ने षट्द्रव्योंका कथन किया है। इसलिए अपनेसे अतिरिक्त पर षट्द्रव्योंको जाननेसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। एकान्तके विनाशार्थ द्रव्योंके लक्षण और उनकी सिद्धिके हेतुभूत गुण व पर्याय स्वभाव हे, ऐसा जानना चाहिए।

का. अ. मू./२०४ उत्तमगुणाणधामं सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं। तच्चाण परमतच्चं जीवं जाणेह णिच्छयदो।२०४। =जीव ही उत्तमगुणोंका धाम है, सब द्रव्योंमें उत्तम द्रव्य है और सब तत्त्वोंमें परमतत्त्व है, यह निश्चयसे जानो।

पं. का./ता. वृ./१५/३३/१६ अत्र षट्द्रव्येषु मध्ये ••शुद्धजीवास्तिकायाभिधानं शुद्धात्मद्रव्यं ध्यातव्यमित्यभिप्राय:। =यह द्रव्योंमेंसे शुद्ध जीवास्तिकाय नामवाला शुद्धात्मद्रव्य ही ध्यान किया जाने योग्य है, ऐसा अभिप्राय हे।

द्र. सं./टी./अधिकार २ की चूलिका/पृ.७६/८ अत: ऊर्ध्वं पुनरपि षट्द्रव्याणां मध्ये हेयोपादेयस्वरूपं विशेषेण विचारयति। तत्र शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात्सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति। व्यक्तिरूपेण पुन: पञ्चपरमेष्ठिन एव। तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव। तत्रापि निश्चयेन सिद्ध एव। परमनिश्चयेन तु••परमसमाधिकाले सिद्धसदृश: स्वशुद्धात्मैवोपादेय: शेषद्रव्याणि हेयानीति तात्पर्यम्। =तदनन्तर छह द्रव्योमेंसे क्या हेय है और क्या उपादेय, इसका विशेष विचार करते है। वहाँ शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा शक्तिरूपसे शुद्धबुद्ध एक स्वभावके धारक सभी जीव उपादेय हैं, और व्यक्तिरूपसे पंचपरमेष्ठी ही उपादेय हे। उनमें भी अर्हन्त और सिद्ध ये दो ही उपादेय हे। इन दो मे भी निश्चयनय की अपेक्षा सिद्ध ही उपादेय है। परम निश्चयनयसे परम समाधिके कालमें सिद्ध समान निज शुद्धात्मा ही उपादेय है। अन्य द्रव्य हेय हैं ऐसा तात्पर्य है।

३. षट्द्रव्य विभाजन

१. चेतनाचेतन विभाग

प्र. सा./मू./१२७ दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ। पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं। =द्रव्य जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकार है। उसमें चेतनामय तथा उपयोगमय जीव है और

पुद्गलद्रव्यादिक अचेतन द्रव्य है। (ध. ३/१,२,१/२/२) (वसु.श्रा./२८) (प का/ता. वृ. ५६/१५) (द्र. स /टी./अधि २ की चूलिका/७६/८) (न्या. दी /३/§७६/१२२)।

पं. का /मू /१२४ आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा। तेसिं अचेदणत्थं भणिदं जीवस्स चेदणदा।१२४। =आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें जीवके गुण नही है, उन्हें अचेतनपना कहा है। जीवको चेतनता है। अर्थात् छह द्रव्योंमें पाँच अचेतन है और एक चेतन। (त. सू /५/१-४) (पं. का./त. प्र /९७)

२. मूर्तामूर्त विभाग

पं. का./मू./९७ आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा। मुत्त पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु। =आकाश, काल, जीव, धर्म, और अधर्म अमूर्त है। पुद्गलद्रव्य मूर्त है। (त सू /५/५), (वसु श्रा./२८) (द्र सं./टी /अधि २ की चूलिका/७७/२) (पं. का./ता. वृ /२७/५६/१८)।

ध. ३/१,२ १/२/ पक्ति नं.—तं च दव्वं दुविह, जीवदव्वं अजीवदव्व चेदि।२। जं तं अजीवदव्वं तं दुविहं, रूवि अजीवदव्वं अरूवि अजीवदव्व चेदि। तत्थ ज तं रूविअजीवदव्व···पुद्गला रूपि अजीवदव्व शब्दादि।६। ज त अरूवि अजीवदव्वं तं चउव्विह, धम्मदव्वं, अधम्मदव्वं, आगासदव्व कालदव्व चेदि।४। =वह द्रव्य दो प्रकारका है—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। उनमेंसे अजीवद्रव्य दो प्रकारका है—रूपी अजीवद्रव्य और अरूपी अजीवद्रव्य। तहाँ रूपी अजीवद्रव्य तो पुद्गल व शब्दादि है, तथा अरूपी अजीवद्रव्य चार प्रकारका है—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य। (गो. जी /मू /५६३-५६४/१००८)।

३. क्रियावान् व भाववान् विभाग

त. सू./५/७ निष्क्रियाणि च/७/

स सि./५/७/२७३/१२ •अधिकृताना धर्माधर्माकाशाना निष्क्रियत्वेऽभ्युपगमे जीवपुद्गलाना सक्रियत्वमर्यादापन्नम्। = धर्माधर्मादिक निष्क्रिय है। अधिकृत धर्म अधर्म और आकाशद्रव्यको निष्क्रिय मान लेनेपर जीव और पुद्गल सक्रिय है यह बात अर्थापत्तिसे प्राप्त हो जाती है। (वसु श्रा /३२) (द्र स /टी./अधि २ की चूलिका/७७) (पं का /ता वृ./२७/५७/८)।

प्र. सा /त प्र /१२९ क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेष। तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसघाताभ्या चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात। शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चय। तत्र परिणामलक्षणो भाव', परिस्पन्दलक्षणा क्रिया। तत्र सर्वद्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् 'भाववन्ति भवन्ति। पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात् • क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात् "क्रियावन्तश्च भवन्ति। =क्रिया व भाववान् तथा केवलभाववान्‌की अपेक्षा द्रव्योंके दो भेद है। तहाँ पुद्गल और जीव तो क्रिया व भाव दोनोवाले है, क्योकि परिणाम द्वारा तथा सघात व भेद द्वारा दोनों प्रकारसे उनके उत्पाद, व्यय व स्थिति होती है और शेष द्रव्य केवल भाववाले ही है क्योंकि केवल परिणाम द्वारा ही उनके उत्पादादि होते है। भावका लक्षण परिणाममात्र है और क्रियाका लक्षण परिस्पन्दन। समस्त ही द्रव्य भाववाले है, क्योंकि परिणाम स्वभावी है। पुद्गल क्रियावान् भी होते है, क्योकि परिस्पदन स्वभाववाले है। तथा जीव भी क्रियावान् भी होते है, क्योकि वे भी परिस्पन्दन स्वभाववाले है। (प ध./उ /२५)।

गो. जी./मू./५६६/१०१२ गदिठाणोग्गहकिरिया जीवाणं पुग्गलाणमेव हवे। धम्मतिये ण हि किरिया मुक्खा पुण साधगा होति।५६६। =गति स्थिति और अवगाहन ये तीन क्रिया जीव और पुद्गलके ही पाइये हैं। बहुरि धर्म अधर्म आकाशविषै ये क्रिया नाहीं है। बहुरि वे तीनो द्रव्य उन क्रियाओंके केवल साधक है।

पं. का./ता वृ /२७/५७/६ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि। =जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य क्रियावान् है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारो निष्क्रिय है। (प. ध./उ./१३३)।

दे. जीव/३/८ (असर्वगत होनेके कारण जीव क्रियावान् है, जैसे कि पृथिवी, जल आदि असर्वगत पदार्थ)।

४. एक अनेककी अपेक्षा विभाग

रा वा./५/६/६/४४५/२७ धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्य च द्रव्यत एकैकमेव। • एकमेवाकाशमिति न जीवपुद्गलवदेषा बहुत्वम्, नापि धर्मादिवद जीवपुद्गलानामेकद्रव्यत्वम्। ='धर्म' और 'अधर्म' द्रव्यकी अपेक्षा एक ही है, इसी प्रकार आकाश भी एक ही है। जीव व पुद्गलोंकी भाँति इनके बहुत्वपना नही है। और न ही धर्मादिकी भाँति जीव व पुद्गलोंके एक द्रव्यपना है। (द्र सं /टी /अधि २ की चूलिका/७७/६); (प का /ता.वृ /२७/५७/६)।

वसु.श्रा /३० धम्माधम्मागासा एगसरूवा पएसअविओगा। ववहारकालपुग्गल-जीवा हु अणेयरूवा ते।३०। =धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनो द्रव्य एक स्वरूप है अर्थात अपने स्वरूपको बदलते नहीं, क्योंकि इन तीनों द्रव्योके प्रदेश परस्पर अवियुक्त हैं अर्थात लोकाकाशमे व्याप्त है। व्यवहारकाल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनेक स्वरूप है, अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते है।

५. परिणामी व नित्यकी अपेक्षा विभाग

वसु.श्रा /२७,३३ वजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा। अत्थपरिणामभासिय सव्वे परिणामिणो अत्था।२७। मुत्ता जीवं कायं णिच्चा सेसा पयासिया समये। वंजणमपरिणामचुया इयरे तं परिणयपत्ता।३। =धर्म, अधर्म, आकाश और चार द्रव्य व्यजनपर्यायके अभावसे अपरिणामी कहलाते है। किन्तु अर्थपर्यायकी अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते है, क्योकि अर्थपर्याय सभी द्रव्योंमें होती है।२७। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंको छोडकर शेष चारो द्रव्योको परमागममें नित्य कहा गया है, क्योकि उनमें व्यजनपर्याय नही पायी जाती है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें व्यजनपर्याय पायी जाती है, इसलिए वे परिणामी व अनित्य है।३३। (द्र.सं /टी / अधि २ की चूलिका/७६-७, ७७-१०) (प.का /ता.वृ /२७/५७/९)।

६. सप्रदेशी व अप्रदेशीकी अपेक्षा विभाग

वसु श्रा./२९ सपएसपंचकाल मुत्तूण पएससंचया णेया। अपएसो खलु कालो पएसबन्धच्चुदो जम्हा।२९। =कालद्रव्यको छोडकर शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी जानना चाहिए, क्योंकि, उनमे प्रदेशोका सचय पाया जाता है। कालद्रव्य अप्रदेशी है, क्योंकि वह प्रदेशोंके बन्ध या समूहसे रहित है, अर्थात् कालद्रव्यके कालाणु भिन्न-भिन्न ही रहते हैं (द्र सं /टी /अधि, २ की चूलिका/७७/४), (प.का /ता.वृ./२७/५७/४)।

७. क्षेत्रवान् व अक्षेत्रवान्‌की अपेक्षा विभाग

वसु श्रा /३१ आगासमेव खित्तं अवगाहणलक्खण जदो भणियं। सेसाणि पुणोऽखित्त अवगाहणलक्खणाभावा। =एक आकाश द्रव्य ही

क्षेत्रवान् है क्योंकि उसका अवगाहन लक्षण कहा गया है। शेष पाँच द्रव्य क्षेत्रवान् नहीं है, क्योंकि उनमें अवगाहन लक्षण नहीं पाया जाता (प का /ता.वृ./२७/५७/७) (द्र स /टी /अधि २ की चूलिका/ ७७/७)।

८. सर्वगत व असर्वगतकी अपेक्षा विभाग

वसु श्रा./३६ सव्वगदत्ता सव्वगमायासं णेव सेसगं दव्व। =सर्वव्यापक होनेसे आकाशको सर्वगत कहते हैं। शेष कोई भी सर्वगत नहीं है।

द्र.स/टी./अधि २ की चूलिका/७८/११ सर्वगतं लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाश भण्यते। लोकव्याप्त्यपेक्षया धर्माधर्मौ च। जीवद्रव्य पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूर्णावस्थाया विहाय असर्वगत, नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति। पुद्गलद्रव्य पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगतं, शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगत न भवति। कालद्रव्य पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगतं न भवति, लोकप्रदेशप्रमाणनानाकालाणुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति। =लोकालोकव्यापक होनेकी अपेक्षा आकाश सर्वगत कहा जाता है। लोकमें व्यापक होनेकी अपेक्षा धर्म और अधर्म सर्वगत हैं। जीवद्रव्य एकजीवकी अपेक्षा लोकपूरण समुद्घातके सिवाय असर्वगत है। और नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वगत ही है। पुद्गलद्रव्य लोकव्यापक महास्कन्धकी अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलोंकी अपेक्षा असर्वगत है। एक कालाणुद्रव्यकी अपेक्षा तो कालद्रव्य सर्वगत नहीं है, किन्तु लोकप्रदेशके बराबर असख्यात कालाणुओंकी अपेक्षा कालद्रव्य लोकमें सर्वगत है (पं का /ता वृ./२७/ ५७/२१)।

९. कर्ता व भोक्ताकी अपेक्षा विभाग

वसु श्रा./३५ कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा। जीवो तप्फलभोया सेसा ण कत्तारा।३५।

द्र.स./टी /अधि• २ की चूलिका /७८/६ शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि घटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन पुण्यपापबन्धयो: कर्ता तत्फलभोक्ता च भवति। मोक्षस्यापि कर्ता तत्फलभोक्ता चेति। शुभाशुभशुद्धपरिणामाना परिणमनमेव कर्तृत्व सर्वत्र ज्ञातव्यमिति। पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणा च स्वकीय-स्वकीयपरिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम्। वस्तुवृत्त्या पुन: पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव। =१ जीव शुभ और अशुभ कर्मोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता है, किन्तु शेष द्रव्य न कर्मोंके कर्ता है न भोक्ता।३५। २ शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे यद्यपि जीव घटपट आदिका अकर्ता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनयसे पुण्य, पाप व बन्ध, मोक्ष तत्त्वोंका कर्ता तथा उनके फलका भोक्ता है। शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामोंका परिणमन ही सर्वत्र जीवका कर्तापना जानना चाहिए। पुद्गलादि पाँच द्रव्योंका स्वकीय-स्वकीय परिणामोंके द्वारा परिणमन करना ही कर्तापना है। वस्तुतः पुण्य पाप आदि रूपसे इनके अकर्तापना है। (प.का /ता वृ./२७/५७/१५)।

१०. द्रव्यके या वस्तुके एक दो आदि भेदोंकी अपेक्षा विभाग

विकल्प	द्रव्यकी अपेक्षा (क पा.१/१-१४/§२०७/२११-२१५)	वस्तुकी अपेक्षा (ध ६/४,१,४५/१६८-१६६)
१	सत्ता	सत
२	जीव, अजीव	जीवभाव-अजीवभाव। विधि-निषेध। मूर्त-अमूर्त। अस्तिकाय-अनस्तिकाय
३	भव्य, अभव्य, अनुभय	द्रव्य, गुण, पर्याय
४	(जीव)=संसारी, असंसारी (अजीव)=पुद्गल, अपुद्गल	बद्ध, मुक्त, बन्धकारण, मोक्षकारण
५	(जीव)=भव्य, अभव्य, अनुभय (अजीव)=मूर्त, अमूर्त	औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक
६	जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म काल व आकाश	द्रव्यवत्
७	जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष	बद्ध, मुक्त, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल व आकाश
८	जीवास्रव, अजीवास्रव, जीवसंवर, अजीवसंवर जीवनिर्जरा, अजीवनिर्जरा जीवमोक्ष, अजीवमोक्ष	भव्य संसारी, अभव्य संसारी, मुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल
९	जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष	द्रव्यवत्
१०	(जीव)=एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (अजीव)=पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल	द्रव्यवत्
११	(जीव)=पृथिवी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, व त्रस तथा (अजीव)=पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल	द्रव्यवत्
१२	(जीव)=पृथिवी, अप, तेज, वायु, वनस्पति, सज्ञी, असज्ञी, तथा (अजीव)=पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल	——
१३	(जीव)=भव्य, अभव्य, अनुभय, (पुद्गल)=बादर-बादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म, (अमूर्त अजीव)=धर्म, अधर्म, आकाश, काल	——

४. सत् व द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद

१. सत् या द्रव्यकी अपेक्षा द्वैत-अद्वैत

१. एकान्त अद्वैतपक्षका निरास

जगत्में एक ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं, ऐसा 'ब्रह्माद्वैत' माननेसे—प्रत्यक्ष गोचर कर्ता, कर्म आदिके भेद तथा शुभ-अशुभ कर्म, उनके सुख-दुःखरूप फल, सुख-दुःखके आश्रयभूत यह लोक व परलोक, विद्या व अविद्या तथा बन्ध व मोक्ष इन सब प्रकारके द्वैतोंका सर्वथा अभाव ठहरे। (आप्त मी./२४-२५)। बौद्धदर्शनका प्रतिभामाद्वैत तो किसी प्रकार सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। यदि ज्ञेयभूत वस्तुओंको प्रतिभासमें गर्भित करनेके लिए हेतु देते हो तो हेतु और साध्यरूप द्वैतकी स्वीकृति करनी पडती है और आगम प्रमाणसे मानते हो तो वचनमात्रसे ही द्वैतता आ जाती है। (आप्त. मी./२६) दूसरी बात यह भी तो है कि जेसे 'हेतु' के बिना 'अहेतु' शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती वैसे ही द्वैतके बिना अद्वैतकी प्रतिपत्ति कैसे होगी। (आप्त. मी./२७)।

२. एकान्त द्वैतपक्षका निरास

वैशेषिक लोग द्रव्य गुण, कर्म आदि पदार्थोंको सर्वथा भिन्न मानते हैं। परन्तु उनकी यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि जिस पृथक्त्व नामा गुणके द्वारा वे ये भेद करते है, वह स्वय ही बेचारा द्रव्यादिसे पृथक् होकर, निराश्रय हो जानेके कारण अपनी सत्ता खो बैठेगा, तब दूसरोंको पृथक् कैसे करेगा। और यदि उस पृथक्त्वको द्रव्यसे अभिन्न मानकर अपने प्रयोजनकी सिद्धि करना चाहते हो तो उन गुण, कर्म आदिको द्रव्यसे अभिन्न क्यों नहीं मान लेते। (आ. मी /२८) इसी प्रकार भेदवादी बौद्धोंके यहाँ भी सन्तान, समुदाय, व प्रेत्यभाव (परलोक) आदि पदार्थ नहीं बन सकेंगे। परन्तु ये सब बातें प्रमाण सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि भेद पक्षके कारण वे ज्ञेयको ज्ञानसे सर्वथा भिन्न मानते है। तब ज्ञान ही किसे कहोगे? ज्ञानके अभावमे ज्ञेयका भी अभाव हो जायेगा। (आ. मी./२९-३०)

३. कथंचित् द्वैत व अद्वैतका समन्वय

अत: दोनोंको सर्वथा निरपेक्ष न मानकर परस्पर सापेक्ष मानना चाहिए, क्योंकि, एकत्वके बिना पृथक्त्व और पृथक्त्वके बिना एकत्व प्रमाणताको प्राप्त नहीं होते। जिस प्रकार हेतु अन्वय व व्यतिरेक दोनो रूपोंको प्राप्त होकर ही साध्यकी सिद्धि करता है, इसी प्रकार एकत्व व पृथक्त्व दोनोंसे पदार्थकी सिद्धि होती है। (आप्त मी./३३) सत सामान्यकी अपेक्षा सर्वद्रव्य एक है और स्व स्व लक्षण व गुणों आदिको धारण करनेके कारण सब पृथक्-पृथक् है। (प्र. सा./मू व त प्र/९७-९८), (आप्त मी /३४); (का. अ /२३६) प्रमाणगोचर होनेसे उपरोक्त द्वैत व अद्वैत दोनों सत्स्वरूप है उपचार नहीं, इसलिए गौण मुख्य विवक्षासे उन दोनोंमें अविरोध है। (आप्त. मी./३६) (और भी देखो क्षेत्र, काल व भावकी अपेक्षा भेदाभेद)।

२. क्षेत्र या प्रदेशोंकी अपेक्षा द्रव्यमें भेद कथंचित् भेदाभेद

१. द्रव्यमें प्रदेशकल्पनाका निर्देश

जिस पदार्थमें न एक प्रदेश है और न बहुत वह शून्य मात्र है। (प्र. सा /मू./१४४-१४५) आगममें प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशोंका निर्देश किया है (दे० वह वह नाम)—आत्मा असंख्यात प्रदेशी है, उसके एक-एक प्रदेशपर अनन्तानन्त कर्मप्रदेश, एक-एक कर्मप्रदेशमें अनन्तानन्त औदारिक शरीर प्रदेश, एक-एक शरीरप्रदेशमें अनन्तानन्त विस्रसोपचय परमाणु है। इसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंमे भी प्रदेश भेद जान लेना चाहिए। (रा. वा./५/८/१५/४५१/७)।

२ आकाशके प्रदेशत्वमें हेतु

१ घटका क्षेत्र पटका नहीं हो जाता। तथा यदि प्रदेशभिन्नता न होती तो आकाश सर्वव्यापी न होता। (रा. वा./५/८/५/४५०/३); (पं, का./त प्र /५)। २. यदि आकाश अप्रदेशी होता तो पटना मथुरा आदि प्रतिनियत स्थानोंमें न होकर एक ही स्थानपर हो जाते। (रा. वा./५/८/१८/४५१/२१)। ३. यदि आकाशके प्रदेश न माने जायें तो सम्पूर्ण आकाश ही श्रोत्र बन जायेगा। उसके भीतर आये हुए प्रतिनियत प्रदेश नहीं। तब सभी शब्द सभीको सुनाई देने चाहिए। (रा वा./५/८/१९/४५१/२७)। ४. एक परमाणु यदि पूरे आकाशसे स्पर्श करता है तो आकाश अणुवत् बन जायेगा अथवा परमाणु विभु बन जायेगा, और यदि उसके एक देशसे स्पर्श करता है तो आकाशके प्रदेश मुख्य ही सिद्ध होते हैं, औपचारिक नहीं। (रा. वा./५/८/१९/४५१/२८)। ५. एक आश्रयसे हटाकर दूसरे आश्रयमें अपने आधारको ले जाना, यह वैशेषिक मान्य 'कर्म' पदार्थका स्वभाव है। आकाशमें प्रदेशभेदके बिना यह प्रदेशान्तर संक्रमण नहीं बन सकता। (रा. वा./५/८/२०/४५१/३१)। ६. आकाशमें दो उँगलियाँ फैलाकर इनका एक क्षेत्र कहनेपर—यदि आकाश अभिन्नांशवाला अविभागी एक द्रव्य है तो दोमें से एकवाले अंशका अभाव हो जायेगा, और इसी प्रकार अन्य अन्य अंशोंका भी अभाव हो जानेसे आकाश अणुमात्र रह जायेगा। यदि भिन्नांशवाला एक द्रव्य है तो फिर आकाशमें प्रदेशभेद सिद्ध हो गया।—यदि उँगलियोंका क्षेत्र भिन्न है तो आकाशको सविभागी एक द्रव्य माननेपर उसे अनन्तपना प्राप्त होता है और अविभागी एक द्रव्य माननेपर उसमें प्रदेश भेद सिद्ध होता है। (प्र सा /त प्र /१४०)।

३. जीव द्रव्यके प्रदेशत्वमें हेतु

१. आगममें जीवद्रव्य प्रदेशोंका निर्देश किया है। (दे० द्रव्य/४/१), (रा. वा /५/८/१५/४५१/७)। २ आगममें जीवके प्रदेशोंमें चल व अचल प्रदेशरूप विभाग किया है (दे० जीव/४)। ३. आगममें चक्षु आदि इन्द्रियोंमें प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंका अवस्थान कहा है। (दे० इन्द्रिय/३)। उनका परस्परमें स्थान संक्रमण भी नही होता। (रा वा /५/८/१७/४५१/१९)। ४ अनादि कर्मबन्धनबद्ध संसारी जीवमें सावयवपना प्रत्यक्ष है। (रा वा /५/८/२२/४५२/८)। ५. आत्माके किसी एक देशमें परिणमन होनेपर उसके सर्वदेशमें परिणमन पाया जाता है। (प ध /५६४)।

४. द्रव्योंका यह प्रदेशभेद उपचार नहीं है

१. मुख्यके अभावमें प्रयोजनवश अन्य प्रसिद्ध धर्मका अन्यमें आरोप करना उपचार है। यहाँ सिंह व माणवकवत् पुद्गलादिके प्रदेशवत्त्वमें मुख्यता और धर्मादि द्रव्योंके प्रदेशवत्त्वमें गौणता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों ही अवगाहकी अपेक्षा तुल्य हैं। (रा. वा./५/८/११/४५०/२६)। २ जैसे पुद्गल पदार्थोंमें 'घटके प्रदेश' ऐसा सोपपद व्यवहार होता है, वैसा ही धर्मादिमें भी 'धर्मद्रव्यके प्रदेश' ऐसा सोपपद व्यवहार होता है। 'सिंह' व 'माणवक सिंह'' ऐसा निरुपपद व सोपपदरूप भेद यहाँ नहीं है। (रा वा /५/८/११/४५०/२६)। ३. सिंहमें मुख्य क्रूरता आदि धर्मोंको देखकर उसके माणवकमें उपचार करना बन जाता है, परन्तु यहाँ पुद्गल और धर्मादि सभी द्रव्योंके मुख्य प्रदेश होनेके कारण, एकका दूसरेमें उपचार करना नहीं बनता। (रा. वा /५/८/१३/४५०/३२)। ४. पौद्गलिक घटादिक द्रव्य प्रत्यक्ष है। इसलिए उनमें ग्रीवा पैंदा आदि निज अवयवों द्वारा प्रदेशोंका व्यवहार बन जाता है, परन्तु धर्मादि द्रव्य परोक्ष होनेसे

वैसा व्यवहार सम्भव नहीं है। इसलिए उनमें मुख्य प्रदेश विद्यमान रहनेपर भी परमाणुके नामसे उनका व्यवहार किया जाता है।

५. प्रदेशभेद करनेसे द्रव्य खण्डित नहीं होता

१. घटादिकी भाँति धर्मादि द्रव्योंमें विभागी प्रदेश नहीं हैं। अत: अविभागी प्रदेश होनेसे वे निरवयव हैं। (रा. वा./५/८/६/४५०/८)।

२. प्रदेशको ही स्वतन्त्र द्रव्य मान लेनेसे द्रव्यके गुणोंका परिणमन भी सर्वदेशमें न होकर देशांशोंमें ही होगा। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, क्योंकि, देहके एकदेशमें स्पर्श होनेपर सर्व शरीरमें इन्द्रियजन्य ज्ञान पाया जाता है। एक सिरेपर हिलाया बाँस अपने सर्व पर्वोंमें बराबर हिलता है। (प.ध./पू./३१-३५)

३. यद्यपि परमाणु व कालाणु एकप्रदेशी भी द्रव्य है, परन्तु वे भी अखण्ड है। (पं.ध./पू./३६)

४. द्रव्यके प्रत्येक प्रदेशमें 'यह वही द्रव्य है' ऐसा प्रत्यय होता है। (पं.ध./पू./३६)

६. सावयव व निरवयवपनेका समन्वय

१. पुरुषकी दृष्टिसे एकत्व और हाथ-पाँव आदि अंगोंकी दृष्टिसे अनेकत्वकी भाँति आत्माके प्रदेशोंमें द्रव्य व पर्याय दृष्टिसे एकत्व अनेकत्वके प्रति अनेकान्त है। (रा. वा./५/८/२१/४५२/१) २. एक पुरुषमें लावक पाचक आदि रूप अनेकत्वकी भाँति धर्मादि द्रव्योंमें भी द्रव्यकी अपेक्षा और प्रतिनियत प्रदेशोंकी अपेक्षा अनेकत्व है। (रा वा/५/८/२१/४५२/३) ३ अखण्ड उपयोगस्वरूपकी दृष्टिसे एक होता हुआ भी व्यवहार दृष्टिसे आत्मा ससारावस्थामें सावयव व प्रदेशवान् है।

३. कालकी या पर्याय-पर्यायीकी अपेक्षा द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद

१ कथचित् अभेद पक्षमें युक्ति

१ पर्यायसे रहित द्रव्य (पर्यायी) और द्रव्यसे रहित पर्याय पायी नही जाती, अत दोनों अनन्य हैं। (पं का./मू./१२) २. गुणों व पर्यायोंकी सत्ता भिन्न नहीं है। (प्र सा./मू./१०७), (ध ८/३,४/६/४); (पं.ध /पू /११७)

२. कथचित् भेद पक्षमें युक्ति

१. जो द्रव्य है, सो गुण नहीं और जो गुण है सो पर्याय नहीं, ऐसा इनमें स्वरूप भेद पाया जाता है। (प्र सा /त प्र./१३०)

३ भेदाभेदका समन्वय

१. लक्षणकी अपेक्षा द्रव्य (पर्यायी) व पर्यायमें भेद है, तथा वह द्रव्यसे पृथ_ नहीं पायी जाती इसलिए अभेद है। (क.पा. १/१-१४/§२४३-२४४/२८८/१), (क.पा.१/१-२१/§३६४/३८३/३) २. धर्म-धर्मीरूप भेद होते हुए भी वस्तुत्वरूपसे पर्याय व पर्यायीमें भेद नहीं है। (पं का/त प्र /१२); (का अ /मू /२४५) ३. सर्व पर्यायोंमें अन्वयरूपसे पाया जानेके कारण द्रव्य एक है, तथा अपने गुण-पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक है। (ध.३/१,२,१/श्लो ५/६) ४. त्रिकाली पर्यायोंका पिण्ड होनेसे द्रव्य कथ चित् एक व अनेक है। (ध.३/१,२, १/श्लो.३/५), (ध.९/४,१,४५/श्लो.९६/१९३) ५. द्रव्यरूपसे एक तथा पर्याय रूपसे अनेक है। (रा वा /१/१/१६/७/२१), (न दी./३/§७६/१२३)

४. भावकी अर्थात् धर्म-धर्मीकी अपेक्षा द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद

१. कथंचित् अभेदपक्षमें युक्ति

१. द्रव्य, गुण व पर्याय ये तीनों ही धर्म प्रदेशोंसे पृथक्-पृथक् होकर युतसिद्ध नहीं हैं बल्कि तादात्म्य है। (पं.का/मू./५०); (स. सि./५/३८/३० पर उद्धृत गाथा), (प्र. सा./त. प्र /९८,१०६) २. अयुतसिद्ध पदार्थोंमें संयोग व समवाय आदि किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। (रा वा/५/२/१०/४३९/२५), (क.पा/ १/१-२०/§३२३/३५४/१) ३. गुण द्रव्यके आश्रय रहते है। धर्मीके बिना धर्म और धर्मके बिना धर्मी टिक नहीं सकता। (पं.का./ मू./१३); (आप्त.मी /७५); (ध /९/४,१,२/४०/६); (पं.ध /पू /७) ४. यदि द्रव्य स्वयं सत नहीं तो वह द्रव्य नहीं हो सकता। (प्र. सा./मू /१०५) ५. तादात्म्य होनेके कारण गुणोंको आत्मा या उनका शरीर ही द्रव्य है। (आप्त मी./७५), (पं ध./पू./३६,४३८) ६. यह कहना भी युक्त नहीं है कि अभेद होनेसे उनमें परस्पर लक्ष्य-लक्षण भाव न बन सकेगा, क्योंकि जैसे अभेद होनेपर भी दीपक और प्रकाशमें लक्ष्य-लक्षण भाव बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा व ज्ञानमें तथा अन्य द्रव्यों व उनके गुणोंमें भी अभेद होते हुए लक्ष्य-लक्षण भाव बन जाता है। (रा. वा./५/२/११/४४०/१) ७. द्रव्य व उसके गुणोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा अभेद है। (पं का./ता.वृ /४३/८५/८)।

२. कथंचित् भेदपक्षमें युक्ति

१ जो द्रव्य होता है सो गुण व पर्याय नहीं होता और जो गुण पर्याय है वे द्रव्य नहीं होते, इस प्रकार इनमें परस्पर स्वरूप भेद है। (प्र.सा /त प्र./१३०) २. यदि गुण-गुणी रूपसे भी भेद न करें तो दोनोंमें-से किसीके भी लक्षणका कथन सम्भव नहीं। (ध.३/१,२,१/९/३); (का.अ./मू./१८०)।

३. भेदाभेदका समन्वय

१. लक्ष्य-लक्षण रूप भेद होनेपर भी वस्तु स्वरूपसे गुण व गुणीमें अभिन्न हैं। (पं.का/त.प्र./६) २ विशेष्य-विशेषणरूप भेद होते हुए भी दोनों वस्तुत अपृथक् है। (क.पा १/१-१४/§२४२/ २८६/३) ३. द्रव्यमें गुण गुणी भेद प्रादेशिक नहीं बल्कि अतद्भाविक है अर्थात् उस उसके स्वरूपकी अपेक्षा है। (प्र.सा /त प्र / ९८) ४. सज्ञा आदिका भेद होनेपर भी दोनों लक्ष्य-लक्षण रूपसे अभिन्न है। (रा.वा.२/८/६/११९/२२) ५. संज्ञाकी अपेक्षा भेद होनेपर भी सत्ताकी अपेक्षा दोनोंमें अभेद है। (पं.का./त प्र /१३) ६ संज्ञा आदिका भेद होनेपर भी स्वभावसे भेद नहीं है। (पं. का./मू./५१-५२) ७ सज्ञा लक्षण प्रयोजनसे भेद होते हुए भी दोनोंमें प्रदेशोंसे अभेद है। (पं.का./मू /४५-४६), (आप्त.मी./७१-७२); (स.सि /५/२/२६७/७), (पं.का /त.प्र /५०-५२) ८. धर्मीके प्रत्येक धर्मका अन्य अन्य प्रयोजन होता है। उनमेंसे किसी एक धर्मके मुख्य होनेपर शेष गौण हो जाते है। (आप्त मी /२२); (ध ९/ ४,१,४५/श्लो.६८/१८३) ९. द्रव्यार्थिक दृष्टिसे द्रव्य एक व अखण्ड है, तथा पर्यायार्थिक दृष्टिसे उसमें प्रदेश, गुण व पर्याय आदिके भेद है। (प.ध./पू /८४)

५. एकान्त भेद या अभेद पक्षका निरास

१. एकान्त अभेद पक्षका निरास

१. गुण व गुणीमें सर्वथा अभेद हो जानेपर या तो गुण ही रहेंगे, या फिर गुणी ही रहेगा। तब दोनोका पृथक्-पृथक्

व्यपदेश भी सम्भव न हो सकेगा। (रा. वा/५/२/६/४३६/१२) २ अकेले गुणके या गुणीके रहनेपर—यदि गुणी रहता है तो गुणका अभाव होनेके कारण वह नि:स्वभावी होकर अपना भी विनाश कर बैठेगा। और यदि गुण रहता है तो निराश्रय होनेके कारण वह कहाँ टिकेगा। (रा.वा/५/२/६/४३६/१३), (रा.वा/५/२/१२/४४०/१०) ३. द्रव्यको सर्वथा गुण समुदाय मानने वालोंसे हम पूछते है, कि वह समुदाय द्रव्यसे भिन्न है या अभिन्न? दोनो ही पक्षोमें अभेद व भेदपक्षमे कहे गये दोष आते है। (रा.वा/५/२/१/४४०/१४)

२. एकान्त भेद पक्षका निरास

१. गुण व गुणी अविभक्त प्रदेशी है, इसलिए भिन्न नही है। (प.का./मू /४५) २ द्रव्यसे पृथक् गुण उपलब्ध नहीं होते। (रा.वा/५/३८/४/५०१/२०) ३. धर्म व धर्मीको सर्वथा भिन्न मान लेनेपर कारणकार्य, गुण-गुणी आदिमें परस्पर 'यह इसका कारण है और यह इसका गुण है' इस प्रकारकी वृत्ति सम्भव न हो सकेगी। या दण्ड दण्डीकी भाँति युतसिद्धरूप वृत्ति होगी। (आप्त. मी./६२-६३) ४ धर्म-धर्मीको सर्वथा भिन्न माननेसे विशेष्य-विशेषण भाव घटित नहीं हो सकते। (स.म /४/१७/१८) ५. द्रव्यसे पृथक् रहनेवाला गुण निराश्रय होनेसे असत् हो जायेगा और गुणसे पृथक् रहनेवाला द्रव्य नि:स्वरूप होनेसे कल्पना मात्र बनकर रह जायेगा। (पं.का/मू./४४-४५) (रा वा/५/२/६/४३६/१५) ६ क्योंकि नियमसे गुण द्रव्यके आश्रयसे रहते है, इसलिए जितने गुण होगे उतने ही द्रव्य हो जायेंगे। (प का/मू./४४) ७. आत्मा ज्ञानसे पृथक् हो जानेके कारण जड बनकर रह जायेगा। (रा.वा/१/६/११/४६/१५)

३. धर्म-धर्मीमें संयोग सम्बन्धका निरास

अब यदि भेद पक्षका स्वीकार करनेवाले वैशेषिक या बौद्ध दण्ड-दण्डीवत् गुणके संयोगसे द्रव्यको 'गुणवान्' कहते है तो उनके पक्षमें अनेको दूषण आते है—१. द्रव्यत्व या उष्णत्व आदि सामान्य धर्मोंके योगसे द्रव्य व अग्नि द्रव्यत्ववान् या उष्णत्ववान् बन सकते है पर द्रव्य या उष्ण नही। (रा वा./५/२/४/४३/३२), (रा. वा/१/१/१२/६/४)। २. जैसे 'घट', 'पट' को प्राप्त नही कर सकता अर्थात् उस रूप नही हो सकता, तब 'गुण', 'द्रव्य' को कैसे प्राप्त कर सकेगा (रा. वा./५/२/११/४३६/३१)। ३. जेसे कच्चे मिट्टीके घडेके अग्निमें पकनेके पश्चात् लाल रंग रूप पाकज धर्म उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार पहले न रहनेवाले धर्म भी पदार्थमे पीछेसे उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार 'पिठर पाक' सिद्धान्तको बतानेवाले वैशेषिकोंके प्रति, कहते है कि इस प्रकार गुणको द्रव्यसे पृथक् मानना होगा, और वैसा माननेसे पूर्वोक्त सर्व दूषण स्वत: प्राप्त हो जायेगे। (रा. वा./५/२/१०/४३६/२२)। ४ और गुण-गुणीमें दण्ड-दण्डीवत् युतसिद्धत्व दिखाई भी तो नही देता। (प्र. सा./ता वृ./९८)। ५. यदि युत सिद्धपना मान भी लिया जाये तो हम पूछते है, कि गुण जिसे निष्क्रिय स्वीकार किया गया है, सयोगको प्राप्त होनेके लिए चलकर द्रव्यके पास कैसे जायेगा। (रा वा/५/२/६/४३६/१६) ६. दूसरी बात यह भी है कि संयोग सम्बन्ध तो दो स्वतन्त्र सत्ताधारी पदार्थोंमें होता है, जैसे कि देवदत्त व फरसेका सम्बन्ध। परन्तु यहाँ तो द्रव्य व गुण भिन्न सत्ताधारी पदार्थ ही प्रसिद्ध नही है, जिनका कि संयोग होना सम्भव हो सके। (स सि./५/२/२६६/१०) (रा. वा./१/१/५/७/५/८), (रा. वा./१/६/११/४६/१६); (रा वा./५/२/१०/४३६/२०), (रा वा/५/२/३/४३६/३१), (क. पा. १/१-२०/§ ३२२/३५३/६)। ७ गुण व गुणीके सयोगसे पहले न गुणका लक्षण किया जा सकता है और न गुणीका। तथा न निराश्रय गुणकी सत्ता रह सकती है और न नि:स्वभावी गुणी की। (प. ध/पू/४१-४४)। ८. यदि उष्ण गुणके सयोगसे अग्नि उष्ण होती है तो वह उष्णगुण भी अन्य उष्णगुणके योगसे उष्ण होना चाहिए। इस प्रकार गुणके योगसे द्रव्यको गुणी माननेसे अनवस्थादोष आता है। (रा. वा/१/१/१०/५/२५); (रा वा/२/८/५/११६/१७)। ९. यदि जिनका अपना कोई भी लक्षण नहीं है ऐसे द्रव्य व गुण, इन दो पदार्थोंके मिलनेसे एक गुणवान् द्रव्य उत्पन्न हो सकता है तो दो अन्धोके मिलनेसे एक नेत्रवान् हो जाना चाहिए। (रा. वा/१/६/११/४६/२०), (रा. वा./५/२/३/४३७/५)। १०. जैसे दीपकका संयोग किसी जात्यंध व्यक्तिको दृष्टि प्रदान नही कर सकता उसी प्रकार गुण किसी निर्गुण पदार्थमें अनहुई शक्ति उत्पन्न नही कर सकता। (रा. वा./१/१०/६/५०/१५)।

४. धर्म व धर्मीमें समवाय सम्बन्धका निरास

यदि यह कहा जाये कि गुण व गुणीमें सयोग सम्बन्ध नहीं है बल्कि समवाय सम्बन्ध है जो कि समवाय नामक 'एक', 'विभु', व 'नित्य' पदार्थ द्वारा कराया जाता है, तो वह भी कहना नहीं बनता—क्योंकि, १. पहले तो वह समवाय नामका पदार्थ ही सिद्ध नहो है (दे० समवाय)। २. और यदि उसे मान भी लिया जाये तो, जो स्वयं ही द्रव्यसे पृथक् होकर रहता है ऐसा समवाय नामका पदार्थ भला गुण व द्रव्यका सम्बन्ध कैसे करा सकता है। (आप्त मी./६४, ६६); (रा वा/१/१/१४/६/१६)। ३. दूसरे एक समवाय पदार्थकी अनेकोमें वृत्ति कैसे सम्भव है। (आप्त. मी. ६५) (रा. वा./१/३३/५/९६/१७)। ४ गुणका सम्बन्ध होनेसे पहले वह द्रव्य गुणवान् है, या निर्गुण? यदि गुणवान् तो फिर समवाय द्वारा सम्बन्ध करानेकी कल्पना ही व्यर्थ है, और यदि वह निर्गुण है तो गुणके सम्बन्धसे भी वह गुणवान् कैसे बन सकेगा। क्योकि किसी भी पदार्थमें असत शक्तिका उत्पाद असम्भव है। यदि ऐसा होने लगे तो ज्ञानके सम्बन्धसे घट भी चेतन बन बैठेगा। (पं. का./मू./४८-४९), (रा. वा/१/१/६/५/२१); (रा. वा/१/३३/५/९६/३); (रा वा./५/२/३/४३७/७)। ५. ज्ञानका सम्बन्ध जीव से ही होगा घटसे नही यह नियम भी तो नही किया जा सकता। (रा वा/१/१/१३/६/८), (रा. वा/१/६/११/४६/१६)। ६. यदि कहा जाये कि समवाय सम्बन्ध अपने समवायिकारणमें ही गुणका सम्बन्ध कराता है, अन्यमें नही और इसलिए उपरोक्त दूषण नहीं आता तो हम पूछते है कि गुणका सम्बन्ध होनेसे पहले जब द्रव्यका अपना कोई स्वरूप ही नहीं है, तो समवायिकारण ही किमे कहोगे। (रा. वा/५/२/३/४३७/१७)।

५. द्रव्यकी स्वतन्त्रता

१. द्रव्य अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ता

पं. का/मू./७ अण्णोण्णं पविस्संता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स। मेलंता वि य णिच्च सगं सभावं ण विजहंति।—वे छहो द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते है, एक दूसरेको अवकाश देते है, परस्पर (क्षीरनीरवत्) मिल जाते है, तथापि सदा अपने-अपने स्वभावको नहीं छोडते। (प. प्र/मू/२/२५)। (सं सा/आ/३)।

प. का/त प्र/३७ द्रव्य स्वद्रव्येण सदाशून्यमिति। —द्रव्य स्वद्रव्यसे सदा अशून्य है।

२. एक द्रव्य अन्य रूप परिणमन नही करता

प. प्र./मू./१/६७ अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ। परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहि जोइ।—निजवस्तु आत्मा ही है, देहादि पदार्थ पर ही है। आत्मा तो परद्रव्य नहीं होता और परद्रव्य आत्मा नहीं होता, ऐसा निश्चय कर योगीश्वर कहते हैं।

न. च वृ /७ अवरोप्पर विमिस्सा तह अण्णोण्णावगासदो णिच्चं। संतो वि एयखेत्ते ण परसहावेहि गच्छंति ।७। =परस्परमें मिले हुए तथा एक दूसरेमे प्रवेश पाकर नित्य एकक्षेत्रमे रहते हुए भी इन छहों द्रव्योमेंसे कोई भी अन्य द्रव्यके स्वभावको प्राप्त नही होता। (स सा./आ /३)।

यो. सा /अ /६/४६ सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिता। न शक्यन्तेऽन्यथा कर्तुं ते परेण कदाचन। =समस्त पदार्थ स्वभावसे ही अपने स्वरूपमे स्थित है, वे कभी अन्य पदार्थोसे अन्यथा नही किये जा सकते।

प. ध./पू /४६१ न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां चास्ति। एकत्वमनेकत्व न हि तेषा तथापि तदयोगात ॥=यद्यपि ये सभी द्रव्य एक क्षेत्रावगाही है, तो भी उनमें एकत्व नही है, इसलिए द्रव्योमें क्षेत्रकृत एकत्व अनेकत्व मानना युक्त नहीं है। (पं. ध /पू /५६६)।

प का./त प्र /३७ द्रव्यमन्यद्रव्यै सदा शून्यमिति। =द्रव्य अन्य द्रव्योसे सदा शून्य है।

३. द्रव्य अनन्यशरण है

वा अ./११ जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा। तम्हा आदा सरण बधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ।११। =जन्म, जरा, मरण, रोग और भय आदिसे आत्मा ही अपनी रक्षा करता है, इसलिए वास्तवमें जो कर्मोकी बन्ध उदय और सत्ता अवस्थासे भिन्न है, वह आत्मा ही इस संसारमें शरण है।

पं. ध./पू /८, ५२८ तत्त्व सल्लक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्। तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ।८। अस्तमितसर्वसंकरदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा। अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणम् ।५२८। = तत्त्व सत् लक्षणवाला, स्वसहाय व निर्विकल्प होता है ।८। सम्पूर्ण सकर व शून्य दोषोसे रहित सम्पूर्ण वस्तु सद्भूत व्यवहारनयसे अणुकी तरह अनन्य शरण है, ऐसा ज्ञान होता है।

४. द्रव्य निश्चयसे अपनेमें ही स्थित है, आकाशस्थित कहना व्यवहार है

रा.वा/५/१२/५-६/४५४/२८ एवंभूतनयादेशात् सर्वद्रव्याणि परमार्थतया आत्मप्रतिष्ठानि ।५। अन्योन्याधारताव्याघात इति, चेन्न, व्यवहारतस्तत्सिद्धे ।६। =एवभूतनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही है, इनमें आधाराधेय भाव नही है, व्यवहारनयसे ही परस्पर आधार-आधेयभावकी कल्पना होती है। जैसे कि वायुके लिए आकाश, जलको वायु, पृथिवीको जल आधार माने जाते है।

द्रव्य आस्रव—दे० आस्रव/१।

द्रव्य इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

द्रव्य कर्म—दे० कर्म/२।

द्रव्यत्व—वैशे द /१/२/११/४६ अनेकद्रव्यवत्त्वे द्रव्यत्वमुक्तम्। =अनेक द्रव्योमे रहनेवाला एक तथा नित्य धर्म, जिसके द्वारा द्रव्यकी गुण व कर्म (पर्याय) से पृथक् पहचान होती है।

द्रव्य नय—दे० नय/I/४।

द्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५।

द्रव्य निर्जरा—दे० निर्जरा/१।

द्रव्य नैगम नय—दे० नय/III/२।

द्रव्य परमाणु—दे० परमाणु/१।

द्रव्य परिवर्तनरूप संसार—दे० संसार/२।

द्रव्य पर्याय—दे० पर्याय/१।

द्रव्य पूजा—दे० पूजा/४।

द्रव्य बंध—दे० बंध/२।

द्रव्य मूढ—दे० मूढ।

द्रव्य मोक्ष—दे० मोक्ष/१।

द्रव्य लिंग—दे० लिंग/३,५।

द्रव्य लेश्या—दे० लेश्या/३।

द्रव्यवाद—दे० सांख्यदर्शन।

द्रव्य शुद्धि—दे० शुद्धि।

द्रव्य श्रुतज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/III।

द्रव्य संग्रह—आ. नेमिचन्द्र- सिद्धान्तिकदेव (ई श. ११ पूर्वार्ध) द्वारा रचित प्राकृत गाथा-बद्ध ग्रन्थ है। केवल ५८ गाथाओ द्वारा षट्द्रव्य व सप्ततत्त्वोका सारगर्भित प्ररूपण करता है। इसपर निम्न टीकाएँ रची गयीं—नं. १—आ ब्रह्मदेव (ई. १२६०-१३२३) कृत संस्कृत टीका; नं २—पं. जयचन्द छाबडा (ई. १८०६) कृत भाषा टीका।

द्रव्य संवर—दे० संवर/१।

द्रव्यानुयोग—दे० अनुयोग/१।

द्रव्यार्थिकनय—१. द्रव्यार्थिकनयके भेद व लक्षण आदि—दे० नय IV/१-२। २. द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नय नही होती—दे० नय/I/१/५। ३ निक्षेपोका यथायोग्य द्रव्यार्थिकनयमें अन्तर्भाव—दे० निक्षेप/२।

द्रह—उत्तर कुरु व देव कुरुमे स्थित २० द्रह है जिनके दोनो तरफ काचनगिरि पर्वत है—दे० लोक/७।

द्रहवती—पूर्वविदेहकी एक विभगा नदी। —दे० लोक/७।

द्रुमसेन—दे० ध्रुवसेन।

द्रोण—तौलका एक प्रमाण। —दे० गणित/I/१।

द्रोणमुख—

ति.प./४/१४०० दोणमुहाभिधाणं सरिवइवेलाए वेढियं जाण। =समुद्रकी वेलासे वेष्टित द्रोणमुख होता है।

ध.१३/५.५,६३/३३५/१० समुद्रनिम्नगासमीपस्थमवतरन्नौ निवहं द्रोणमुख नाम। =जो समुद्र और नदीके समीपमे स्थित है, और जहाँ नौकाएँ आती जाती है, उसकी द्रोणमुख संज्ञा है।

म.पु /१६/१७३,१७५ भवेद् द्रोणमुखं नाम्ना निम्नगातटमाश्रितम्। ।१७३। शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया। राजधान्यास्तथा द्रोणमुखकर्वटयो क्रमात ।१७५। =जो किसी नदीके किनारेपर हो उसे द्रोणमुख कहते है ।१७३। एक द्रोणमुखमें ४०० गाँव होते है ।१७५।

त्रि सा /६७४-६७६ (नदी करि वेष्टित द्रोण है।)

द्रोणाचार्य—(पा पु /सर्ग./श्लो) कौरव तथा पाण्डवके गुरु थे। (८/२१०-२१२)। अश्वत्थामा इनका पुत्र था। (१०/१४६-१५२)। पाण्डवोका कौरवों द्वारा मायामहलमें जलाना सुनकर दु:खी हुए। (१२/१६७) कौरवोकी ओरसे अनेक बार पाण्डवोंसे लडे। (१६/६१)। अन्तमें स्वय शस्त्र छोड दिये। (२०/२२२-२३२)। धृष्टार्जुन द्वारा मारे गये (२०/२३३)।

द्रौपदी—१. (पां. पु./सर्ग/श्लो.)—दूरवर्ती पूर्वभवमे नागश्री ब्राह्मणी थी। (२३/८२)। फिर दृष्टिविष नामक सर्प हुई। (२४/२-६)। वहाँसे मर द्वितीय नरकमे गयी। (२४/६)। तत्पश्चात् त्रस, स्थावर योनियोमें कुछ कम दो सागर पर्यन्त भ्रमण किया। (२४/१०)। पूर्वके भव नं० ३ मे अज्ञानी 'मातंगी' हुई (२४/११)। पूर्वभव न० २ में 'दुर्गन्धा' नामकी कन्या हुई (२४/२४)। पूर्वभव नं० १ में अच्युत स्वर्गमें देवी हुई (२४/७१)। वर्तमान भवमें द्रौपदी हुई (२४/७८)। यह माकन्दी नगरीके राजा द्रुपदकी पुत्री थी। (१५/४३)। गाण्डीव धनुष चढाकर अर्जुनने इसे स्वयंवरमें जीता। अर्जुनके गलेमें डालते हुए द्रौपदीके हाथकी माला टूटकर उसके फूल पाँचो पाण्डवोंकी गोदमे जा गिरे, जिससे इसे पंचभर्तारीपनेका अपवाद सहना पडा। (१५/१०५,११२)। शीलमें अत्यन्त दृढ रही। (१५/२२५)। जूएमें युधिष्ठिर द्वारा हारी जाने पर दु:शासनने इसे घसीटा। (१६/१२६)। भीष्मने कहकर इसे छुडाया। (१६/१२६)। पाण्डव वनवासके समय जब वे विराट् नगरमें रहे तब राजा विराट-का साला कीचक इसपर मोहित हो गया। (१७/२४५)। भीमने कीचकको मारकर इसकी रक्षा की। (१७/२७८)। नारदने इससे क्रुद्ध होकर (२१/१४) धातकीखण्डमें पद्मनाभ राजासे जा इसके रूपकी चर्चा की (२१/३२)। विद्या सिद्धकर पद्मनाभने इसका हरण किया। (२१/५७-६४)। पाण्डव इसे पुन..वहाँसे छुडा लाये। (२१/१४०)। अन्तमें नेमिनाथके मुखसे अपने पूर्वभव सुनकर दीक्षा ले ली। (२५/१५)। स्त्री पर्यायका नाश कर १६वे स्वर्गमें देव हुई। (२५/२४१)।

द्वंद्व—मो.पा./टी./१२/३१२/१२ द्वन्द्व कलहयुग्मयो.। =द्वन्द्वका अर्थ कलह व युग्म (जोडा) होता है।

द्वात्रिंशतिका—१. श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई० ५५०) द्वारा विरचित अध्यात्म भावना पूर्ण ३२ श्लोक प्रमाण एक रचना। २. आ अमितगति (ई. ९९३-१०२१) द्वारा रचित समताभावोत्पादक ३२ श्लोक प्रमाण सामायिक पाठ। ३—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत अयोग व्यवच्छेद नामक न्यायविषयक ३२ श्लोक प्रमाण ग्रन्थ, जिसपर स्याद्वादमंजरी नामक टीका उपलब्ध है।

द्वयाश्रय महाकाव्य—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) की एक रचना।

द्वादशी व्रत—१२ वर्ष पर्यन्त प्रति वर्ष भाद्रपद शु. १२ को उपवास करे। "ॐ ह्रीं अर्हद्भ्यो नम" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ.१२२), (जैन व्रत कथा)

द्वारपाल—दे० लोकपाल।

द्वारवंग—वर्तमान दरभंगा जिला। (म.पु /प्र.५०/पं. पन्नालाल)

द्विकावली व्रत—इसकी तीन प्रकार विधि है बृहद्, मध्यम व जघन्य।—तहाँ एक वेला एक पारणाके क्रमसे ४८ वेले करना बृहद् विधि है। एक वर्ष पर्यन्त प्रतिमास शुक्ल १-२; ५-६; ८-९ व १४-१५ तथा कृष्ण ४-५; ८-९, १४-१५ इस प्रकार ७ वेले करे। १२ मासके ८४ वेले करना मध्यम विधि है। एक वेला, २ पारणा, १ एकाशनाका क्रम २४ बार दोहराये। इस प्रकार १२० दिनमें २४ वेले करना जघन्य विधि है। —सर्वत्र नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह पु./३४/६८—केवल बृहद् विधि); (व्रत-विधान संग्रह/पृ ७७-७८); (नवलसाह कृत वर्धमान पुराण)

द्विगुण क्रम—Operation of Duplication (ध.५/प्र.२७)

द्विचरम—दे० चरम।

द्विज—दे० ब्राह्मण।

द्वितीयस्थिति—दे० स्थिति/१।

द्वितीयावली—दे० आवली।

द्वितीयोपशम—द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका विधान—दे० उपशम/२; इस सम्बन्धी विषय—दे० सम्यग्दर्शन/IV/३।

द्विपर्वा—एक औषध विद्या—दे० विद्या।

द्विपृष्ठ—(म पु /५८/श्लोक नं०) पूर्व भव नं० २ मे भरतक्षेत्र स्थित कनकपुरका राजा 'सुषेण' था (६१)। पूर्वभव नं. २में प्राणत स्वर्गमें देव हुआ।(७९)। वर्तमानभवमे द्वितीय नारायण हुए।—दे० शलाका पुरुष/४।

द्विविस्तारात्मक—Two Dimensional, Superficial (ध ५/प्र./२७)।

द्वींद्रिय जाति—दे० जाति/१।

द्वींद्रिय जीव—दे० इन्द्रिय/४।

द्वीप—**१. लक्षण**—मध्य लोकमें स्थित तथा समुद्रोसे वेष्टित जम्बू द्वीपादि भूखण्डोंको द्वीप कहते है। एकके पश्चात् एकके क्रमसे ये असख्यात है। इनके अतिरिक्त सागरोमें स्थित छोटे-छोटे भूखण्ड अन्तर्द्वीप कहलाते है, जिनमें कुभोगभूमिकी रचना है। लवण सागरमें ये ४८ है। अन्य सागरोमें ये नही है।

२. द्वीपोंमे कालवर्तन आदि सम्बन्धी विशेषताएँ

असंख्यात द्वीपोंमेंसे मध्यके अढाई द्वीपोमें भरत ऐरावत आदि क्षेत्र व कुलाचल पर्वत आदि है। तहाँ सभी भरत व ऐरावत क्षेत्रोमें षट् काल वर्तन होता है (दे० भरतक्षेत्र)। हैमवत व हैरण्यवत क्षेत्रोमें जघन्य भोगभूमि; हरि व रम्यक क्षेत्रोमें मध्यम भोगभूमि तथा विदेह क्षेत्रके मध्य उत्तर व देवकुरुमें उत्तम भोगभूमियोंकी रचना है। विदेहके ३२, ३२ क्षेत्रोमे तथा सर्व विद्याधर श्रेणियोमें दुषमासुषमा नामक एक ही काल होता है। भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें एक-एक आर्य खण्ड और पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड है। तहाँ सर्व ही आर्य खण्डोंमें तो षट्-कालवर्तन है, परन्तु सभी म्लेच्छखण्डोमें केवल एक दुषमासुषमाकाल रहता है। (दे० वह वह नाम) सभी अन्तर्द्वीपोमें कुभोगभूमि अर्थात् जघन्य भोगभूमिकी रचना है (दे० भूमि/१) अढाई द्वीपोसे आगे नागेन्द्र पर्वत तकके असंख्यात द्वीपमें एकमात्र जघन्य भोगभूमिकी रचना है तथा नागेन्द्र पर्वतसे आगे अन्तिम स्वयम्भूरमण द्वीपमें एकमात्र दु:खमा काल अवस्थित रहता है (दे० भूमि/१)।

*** द्वीपोका अवस्थान व विस्तार आदि**—दे० लोक।

द्वीपकुमार—भवनवासी देवोका एक भेद व उनका लोकमे अवस्थान—दे० भवन/१, ४।

द्वीप सागर प्रज्ञप्ति—अंग श्रुतज्ञानका एक भेद—दे० श्रुतज्ञान/III।

द्वीपायन—दे० द्वैपायन।

द्वेष—**१. द्वेषका लक्षण**

स.सा./आ /५१ अप्रीतिरूपो द्वेष।

प्र.सा./त.प्र /८५ मोहम्—अनभीष्टविषयाप्रीत्याद्वेषमिति।

नि.सा./ता.वृ /६६ असह्यजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेष। =१. अनिष्ट विषयोमें अप्रीति रखना भी मोहका

ही एक भेद है। उसे द्वेष कहते हैं। २. असह्यजनोंमें तथा असह्य-पदार्थोंके समूहमें वैरके परिणाम रखना द्वेष कहलाता है। और भी दे० राग/१।

२. द्वेषके भेद

क.पा १/१-१४/चूर्ण सूत्र/§२२६/२७७ दोसो णिक्खिवियव्वो णामदोसो ट्ठवदोसो दव्वदोसो भावदोसो चेदि। =नामदोष, स्थापनादोष, द्रव्यदोष और भावदोष इस प्रकार दोष (द्वेष) का निक्षेप करना चाहिए। (इनके उत्तर भेदोंके लिए दे० निक्षेप)।

दे० कषाय/४ क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, व जुगुप्सा ये छह कषाय द्वेषरूप हैं।

३. द्वेषके भेदोंके लक्षण

क.पा १/१-१४/चूर्ण सूत्र/§२३०-२३३/२८०-२८३ णामट्ठवणा-आगमदव्व-णोआगमदव्वजाणुगसरीर-भविय-णिक्खेवा सुगमा त्ति कट्टु तेसिमत्थमभणिय तव्वदिरित्त-णोआगमदव्वदोससरूवपरूवणट्ठमुत्तरसुत्त भणदि। —णोआगमदव्वदोसो णाम ज दव्वं जेण उवघादेण उवभोग ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम।—तं जहा—सादियए अग्गिदद्धं वा मूसयभक्खियं वा एवमादि। =नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगम-द्रव्यनिक्षेपके दो भेद ज्ञायकशरीर और भावी ये सब निक्षेप सुगम हैं (दे० निक्षेप)। ऐसा समझकर इन सब निक्षेपोंके स्वरूपका कथन नहीं करके तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यदोषके स्वरूपका कथन करनेके लिए आगेका सूत्र कहते हैं—जो द्रव्य इस उपघातके निमित्तसे उपभोगको नहीं प्राप्त होता है, वह उपघात उस द्रव्यका दोष है। इसे ही तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोष समझना चाहिए। वह उपघात दोष कौन-सा है? साडीका अग्निसे जल जाना अथवा चूहोंके द्वारा खाया जाना तथा इसी प्रकार और दूसरे भी दोष हैं।

* **द्वेष सम्बन्धी अन्य विषय**—दे० राग।

* **द्वेषका स्वभाव विभावपना तथा सहेतुक अहेतुकपना** —दे० विभाव/२,३।

द्वैत—(पं वि/४/३३) बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मानौ शुभाशुभौ। इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते। =बन्ध और मोक्ष, राग और द्वेष, कर्म और आत्मा, तथा शुभ और अशुभ, इस प्रकार-की बुद्धि द्वैतके आश्रयसे होती है।

* **द्वैत व अद्वैतवादका विधि निषेध व समन्वय** —दे० द्रव्य/४।

द्वैताद्वैतवाद—दे० वेदान्त/III–V।

द्वैपायन—(ह.पु /६१/श्लो) रोहिणीका भाई बलदेवका मामा भगवान्से यह सुनकर कि उसके द्वारा द्वारिका जलेगी, तो वह विरक्त होकर मुनि हो गया (२८)। कठिन तपश्चरणके द्वारा तैजस ऋद्धि प्राप्त हो गयी, तब भ्रान्तिवश बारह वर्षसे कुछ पहले ही द्वारिका देखनेके लिए आये (४४)। मदिरा पीनेके द्वारा उन्मत्त हुए कृष्णके भाइयोंने उसको अपशब्द कहे तथा उसपर पत्थर मारे (५५)। जिसके कारण उसे क्रोध आ गया और तैजस समुद्घात द्वारा द्वारिकाको भस्म कर दिया। बडी अनुनय और विनय करनेके पश्चात् केवल कृष्ण व बलदेव दो ही बचने पाये (५६-८६)। यह भावि-कालकी चौबीसीमें स्वयम्भू नामके १६वें तीर्थंकर होंगे। —दे० तीर्थंकर/५।

२. द्वैपायनके उत्तरभव सम्बन्धी

ह.पु /६१/६६ मृत्वा क्रोधाग्निर्दग्धतपःसाग्धनश्च सः। बभूवाग्नि-कुमाराख्यो मिथ्यादृग्भवनामरः।६६। =क्रोधरूपी अग्निके द्वारा जिनका तपरूप श्रेष्ठ धन भस्म हो चुका था ऐसे द्वैपायन मुनि मरकर अग्निकुमार नामक मिथ्यादृष्टि भवनवासी देव हुए। (ध.१२/४,२,७,१६/२१/४)

[ध]

धनंजय—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. दिगम्बराम्नायके एक कवि थे। आपने द्विसन्धानकाव्य और नाममाला कोश लिखे हैं। समय—डॉ० के. बी. पाठकके अनुसार आपका समय ई. ११२३-११४० है। परन्तु प. महेन्द्र कुमार व पं. पन्नालालके अनुसार ई श. ८। (सि.वि/प्र.३७/पं. महेन्द्र), (ज्ञा/प्र. ६/पं. पन्नालाल)

धन—१. लक्षण

स सि./७/२९/३६८/६ धनं गवादि। =धनसे गाय आदिका ग्रहण होता है। (रा वा/७/२९/५५५/६), (चा पा./टी./४६/१११/८)

* **आयका वर्गीकरण**—दे० दान/६।

* **दानार्थ भी धन संग्रहका कथंचित् विधि निषेध** —दे० दान/६।

* **पदधन, सर्वधन आदि**—दे० गणित/II/५।

धनकुमार चरित्र—आ. गुणभद्र (ई. ८०३-८६१) द्वारा रचित संस्कृत श्लोकबद्ध एक चरित्र ग्रन्थ। पीछेसे अनेक कवियोंने इसका भाषामें रूपान्तर किया है।

धनद—दे० कुबेर।

धनद कलशव्रत—भाद्रपद कृ १ से शु १५ तक पूरे महीने प्रतिदिन चन्दनादि मंगलद्रव्ययुक्त कलशोंसे जिनभगवान्का अभिषेक व पूजन करे। णमोकार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ८८)

धनदेव—(म.पु /सर्ग/श्लोक) जम्बूद्वीपके पूर्व विदेहमें स्थित पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीके निवासी कुबेरदत्त नामक वणिक्का पुत्र था (११/१४)। चक्रवर्ती वज्रनाभिकी निधियोंमें गृहपति नामका तेजस्वी रत्न हुआ।११/५७। चक्रवर्तीके साथ-साथ इन्होंने भी दीक्षा धारण कर ली।११।६१-६२।

धनपति—(म. पु /६५/श्लोक) कच्छदेशमें क्षेमपुरीका राजा था।।२। पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण की।६-७। ग्यारह अंगोंका ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरण कर जयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुए।८-९। यह अरहनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० अरनाथ।

धनपाल—यक्ष जातिके व्यन्तरदेवोंका एक भेद—दे० यक्ष।

धनराशि—जिस राशिको मूलराशिमें जोडा जाये उसे धनराशि कहते हैं।—दे० गणित/II/१।

धनानन्द—नन्दवंशका अन्तिम राजा था, जिसे चन्द्रगुप्तमौर्यने परास्त करके मगध देशपर अधिकार किया था। समय—ई०पू० ३४२-३२२. दे०—इतिहास/३/१ (वर्तमानका भारतीय इतिहास)।

धनिष्ठा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र ।

धनुष—१. क्षेत्रका एक प्रमाण । अपर नाम दण्ड, युग, मूसल, नाली —दे० गणित/I/१ । २. arc (जं. पं./ प्र. १०६); (गणित/II/७) ।

धनुषपृष्ठ—धनुषपृष्ठ निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७ ।

धन्य—भगवान् महावीरके तीर्थके १० अनुत्तरोपपादकोंमेंसे एक—दे० अनुत्तरोपपादक ।

धम्मरसायण—आ० पद्मनन्दि (ई० ११६८-१२४३) की प्राकृत छन्दबद्ध एक रचना ।

धरण—तोलका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१ ।

धरणी—१

ध. १३/५,५/सूत्र ४०/२४३ धरणी धरणाट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा ।४०।= धरणी, धरणा, स्थापना, कोष्ठा, और प्रतिष्ठा ये एकार्थवाची नाम हैं। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

धरणीतिलक—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४ ।

धरणीधर—(प. पु /५/श्लोक) भगवान् ऋषभदेवका युग समाप्त हो जानेपर इक्ष्वाकुवंशमें अयोध्या नगरीका राजा ।५६-६०। तथा अजितनाथ भगवान्के पडबाबा थे ।६३।

धरणीवराह— राजा महीपालका अपरनाम—दे० महीपाल

धरणेन्द्र—१ एक लोकपाल—दे० लोकपाल । २. (प पु./३/ ३०७); (ह. पु /२२/५१-५५) । नमि और विनमि जब भगवान् ऋषभनाथसे राज्यकी प्रार्थना कर रहे थे तब इसने आकर उनको अपनी दिति व अदिति नामक देवियोसे विद्याकोष दिलवाकर सन्तुष्ट किया था। ३ (म. पु /७४/श्लोक) अपनी पूर्वपर्यायमें एक सर्प था । महिपाल (दे० कमठके जीवका आठवाँ भव) द्वारा पचाग्नि तपके लिए जिस लक्कडमें लगा रखी थी, उसीमें यह बैठा था । भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा बताया जानेपर जब उसने वह लक्कड काटा तो वह घायल होकर मर गया ।१०१-१०३। मरते समय भगवान् पार्श्वनाथने उसे जो उपदेश दिया उसके प्रभावसे वह भवनवासी देवोमें धरणेन्द्र हुआ ।११८-११९। जब कमठने भगवान् पार्श्वनाथपर उपसर्ग किया तो इसने आकर उनकी रक्षा की ।१३९-१४१।

धरसेन—भगवान् वीरकी मूल परम्परामें एक अगधारी महान् आचार्य—दे० इतिहास/४/१, ४/४/६ । २ पुन्नाटसघकी गुर्वावलीके अनुसार आप दीपसेनके शिष्य तथा सुधर्मसेनके गुरु थे —दे० इतिहास/५/१८ ।

धराधर—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

धर्म—१ (म. पु /५९/श्लोक नं०) पूर्वभव नं. २ में भरतक्षेत्रके कुणालदेशमे श्रावस्ती नगरीका राजा था ।७२। पूर्वभव नं० १ में लान्तव स्वर्गमे देव हुआ ।८५। और वहाँसे चयकर वर्तमानभवमें तृतीय बलभद्र हुए । —दे० शलाकापुरुष/३ । २ (म पु./१७/श्लोक नं.) यह एक देव था। कृत्याविद्या द्वारा पाण्डवोके भस्म किये जानेका षड्यन्त्र जानकर उनके रक्षणार्थ आया था ।१५६-१६२। उसने द्रौपदीका तो वहाँसे हरण कर लिया और पाण्डवोको सरोवरके जलसे मूर्च्छित कर दिया । कृत्याविद्याके आनेपर भीलका रूप बना पाण्डवोंके शरीरोको मृत बताकर उसे धोकेमें डाल दिया। विद्याने वहाँ से लौटकर क्रोधसे अपने साधकोंको ही मार दिया । अन्तमें वह देव पाण्डवोको सचेत करके अपने स्थानपर चला गया ।१६३-२२५।

धर्म—धर्म नाम स्वभाव का है । जीवका स्वभाव आनन्द है, ऐन्द्रिय सुख नही । अत. वह अतीन्द्रिय आनन्द ही जीवका धर्म है, या कारणमें कार्यका उपचार करके, जिस अनुष्ठान विशेषसे उस आनन्दकी प्राप्ति हो उसे भी धर्म कहते है । वह दो प्रकार का है—एक बाह्य दूसरा अन्तरग । बाह्य अनुष्ठान तो पूजा, दान, शील, संयम, व्रत, त्याग आदि करना है और अन्तरंग अनुष्ठान साम्यता व वीतरागभावमें स्थितिकी अधिकाधिक साधना करना है। तहाँ बाह्य अनुष्ठानको व्यवहारधर्म कहते है और अन्तरगको निश्चयधर्म । तहाँ निश्चयधर्म तो साक्षात समता स्वरूप होनेके कारण वास्तविक है और व्यवहार धर्म उसका कारण होनेसे औपचारिक । निश्चयधर्म तो सम्यक्त्व सहित ही होता है, पर व्यवहार धर्म सम्यक्त्व सहित भी होता है और उससे रहित भी । उनमेंसे पहला तो निश्चयधर्म बिलकुल अस्पष्ट रहता है और दूसरा निश्चयधर्म अश सहित होता है । पहला कृत्रिम है और दूसरा स्वाभाविक । पहला तो साम्यताके अभिप्रायसे न होकर पुण्य आदिके अभिप्रायोसे होता है और दूसरा केवल उपयोगको बाह्य विषयोसे रक्षाके लिए होता है । पहलेमें कृत्रिम उपायोसे बाह्य विषयोके प्रति अरुचि उत्पन्न कराना इष्ट है और दूसरेमें वह अरुचि स्वाभाविक होती है । इसलिए पहला धर्म बाह्यसे भीतरकी ओर जाता है जब कि दूसरा भीतरसे बाहरकी ओर निकलता है । इसलिए पहला तो आनन्द प्राप्तिके प्रति अकिंचित्कर रहता है और दूसरा उसका परम्परा साधन होता है, क्योकि वह साधकको धीरे-धीरे भूमिकानुसार साम्यताके प्रति अधिकाधिक झुकाता हुआ अन्तमें परम लक्ष्यके साथ घुल-मिलकर अपनी सत्ता खो देता है । पहला व्यवहार धर्म भी कदाचित निश्चयधर्मरूप साम्यताका साधक हो सकता है, परन्तु तभी जब कि अन्य सब प्रयोजनोंको छोडकर मात्र साम्यताकी प्राप्तिके लिए किया जाये तो । निश्चय सापेक्ष व्यवहारधर्म भी साधककी भूमिकानुसार दो प्रकारका होता है—एक सागार दूसरा अनगार । सागारधर्म गृहस्थ या श्रावकके लिए है और अनगारधर्म साधुके लिए । पहलेमें विकल्प अधिक होनेके कारण निश्चयका अंश अत्यन्त अल्प होता है और दूसरेमे साम्यताकी वृद्धि हो जानेके कारण वह अश अधिक होता है । अत पहलेमें निश्चय धर्म अप्रधान और दूसरेमें वह प्रधान होता है। निश्चयधर्म अथवा निश्चयसापेक्ष व्यवहार धर्म दोनोंमें ही यथायोग्य क्षमा, मार्दव आदि दस लक्षण प्रकट होते है, जिसके कारण कि धर्मको दसलक्षण धर्म अथवा दशविध धर्म कह दिया जाता है ।

१. धर्मके भेद व लक्षण

१. संसारसे रक्षा करे व स्वभावमें धारण करे सो धर्म

र.क.श्रा./२ देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्। संसारदुःखत. सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।२। =जो प्राणियोंको संसारके दुःखसे उठाकर उत्तम सुख (वीतराग सुख) में धारण करे उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म कर्मोंका विनाशक तथा समीचीन है। (म.पु./२/३७) (ज्ञा./२-१०/१५)

स.सि./९/२/४०९/११ इष्टस्थाने धत्ते इति धर्म। =जो इष्ट स्थान (स्वर्ग मोक्ष) में धारण करता है उसे धर्म कहते है। (रा.वा./९/२/३/५९१/३२)।

प.प्र./मू./२/६८ भाउ विसुद्धणु अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु। चउगइ दुक्खहँ जो धरइ जीउ पडतउ एहु।६८। =निजी शुद्धभावका नाम ही धर्म है। वह ससारमें पडे हुए जीवोंकी चतुर्गतिके दुःखोसे रक्षा करता है। (म पु./४७/३०२), (चा.सा./३/१)

प्र.सा./ता.वृ./७/९/९ मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्म.। =मिथ्यात्व व रागादिमें नित्य ससरण करने रूप भावसंसारसे प्राणिको को उठाकर जो निर्विकार शुद्ध चैतन्यमें धारण करदे, वह धर्म है।

द्र.सं./टी./३५/१०१/८ निश्चयेन ससारे पतन्तमात्मान धरतीति विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्म, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमादि - दशप्रकारो धर्म। =निश्चयसे संसारमें गिरते हुए आत्माको जो धारण करे यानी रक्षा करे सो विशुद्धज्ञानदर्शन लक्षणवाला निजशुद्धात्माकी भावनास्वरूप धर्म है। व्यवहारनयमे उसके साधनके लिए इन्द्र चक्रवर्ती आदिका जो वन्दने योग्य पद है उसमें पहुँचानेवाला उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारका धर्म है।

पं.ध./उ./७१५ धर्मो नीचैः पदादुच्चै. पदे धरति धार्मिकम्। तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदव्ययः।७१५। =जो धर्मात्मा पुरुषोंको नीचपदसे उच्चपदमें धारण करता है वह धर्म कहलाता है। तथा उनमें संसार नीचपद है और मोक्ष उच्चपद है।

२. धर्मका लक्षण अहिंसा व दया आदि

बो.पा./मू./२५ धम्मो दयाविसुद्धो। =धर्म दया करके विशुद्ध होता है। (नि सा./ता.वृ./६ में उद्धृत), (प वि./१/८), (द.पा./टी. २/२/२०)

स.सि./९/७/४१९/२ अय जिनोपदिष्टो धर्मोऽहिंसालक्षण· सत्याधिष्ठितो विनयमूल.। क्षमाबलो ब्रह्मचर्यगुप्त· उपशमप्रधानो नियतिलक्षणो निष्परिग्रहतावलम्बन। =जिनेन्द्रदेवने जो यह अहिंसा लक्षण धर्म कहा है—सत्य उसका आधार है, विनय उसकी जड है, क्षमा उसका बल है, ब्रह्मचर्यसे रक्षित है, उपशम उसकी प्रधानता है, नियति उसका लक्षण है, निष्परिग्रहता उसका अवलम्बन है।

रा.वा./६/१३/५/५२४/६ अहिंसादिलक्षणो धर्म.। =धर्म अहिंसा आदि लक्षण वाला है। (द्र सं/टी./३५/१४५/३)

का.अ./मू./४७८ जीवाण रक्खण धम्मो। =जीवोंकी रक्षा करनेको धर्म कहते है। (द.पा./टी./९/८/५)

३. धर्मका लक्षण रत्नत्रय

र.क.श्रा./३ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु। =गणधरादि आचार्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रको धर्म कहते हैं। (का.अ./मू./४७८), (त अनु/५१) (द्र.स./टी./१४५/३)

४. व्यवहार धर्मके लक्षण

प्र.सा./ता.वृ./८/९/१८ पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते। =पंचपरमेष्ठी आदिकी भक्तिपरिणामरूप व्यवहार धर्म होता है।

प.प्र./टी./२/३/११६/१६ धर्मशब्देनात्र पुण्य कथ्यते। =धर्मशब्दसे यहाँ (धर्म पुरुषार्थके प्रकरणमें) पुण्य कहा गया है।

प.प्र./टी./२/१११-४/२३१/१४ गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परपरया मोक्ष लभन्ते। =आहार दान आदिक ही गृहस्थोंका परम धर्म है। सम्यक्त्व पूर्वक किये गये उसी धर्मसे परम्परा मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

प.प्र./टी./२/१३४/२५१/२ व्यवहारधर्मे च पुन षडावश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रति कुरु। =साधुओंकी अपेक्षा षडावश्यक लक्षणवाले तथा गृहस्थोंकी अपेक्षा दान पूजादि लक्षणवाले शुभोपयोग स्वरूप व्यवहारधर्ममें रति करो।

५. निश्चयधर्मका लक्षण

१. साम्यता व मोहक्षोभ विहीन परिणाम

प्र.सा./मू./७ चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो। =चारित्र ही धर्म

है। जो धर्म है सो साम्य है और साम्य मोहक्षोभ रहित (रागद्वेष तथा मन, वचन, कायके योगों रहित) आत्माके परिणाम हैं। (मो.पा./मू./५०)

भा.पा./मू./८३ मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो। =मोह व क्षोभ रहित अर्थात् रागद्वेष व योगों रहित आत्माके परिणाम धर्म हैं। (स.म./३२/३४२/२२ पर उद्धृत), (प.प्र./मू./२/६८), (त.अनु./५२)

न.च.वृ./३५६ समदा तह मज्झत्थं सुद्धोभावो य वीयरायत्तं। तह चारित्तं धम्मो सहावाराहणा भणिया। =समता, माध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभावकी आराधना ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।

प.ध./उ./७५५ अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः। अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल। =वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा रागादि ही हिंसा, अधर्म व अव्रत है। और उनका त्याग ही अहिंसा, धर्म व व्रत है।

२. शुद्धात्म परिणति

भा.पा./मू./८५ अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो। संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो। =रागादि समस्त दोषोंसे रहित होकर आत्माका आत्मामें ही रत होना धर्म है।

प्र.सा./त.प्र./११ निरुपरागतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो। =निरुपरागतत्त्वकी उपलब्धि लक्षणवाला धर्म ...।

प्र.सा./त.प्र./७,८ वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः ॥७॥ ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवति। =वस्तुका स्वभाव धर्म है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। इसलिए धर्मसे परिणत आत्मा ही धर्म है।

प.का./ता.वृ./८५/१४३/११ रागादिदोषरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो। =रागादि दोषोंसे रहित तथा शुद्धात्माकी अनुभूति सहित निश्चयधर्म होता है। (प.वि./१/७), (पं.प्र./टी./२/१३४/२५१/१), (पं.ध./उ./४३२)

६. धर्मके भेद

बा.अ./७० उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्च च संजम चेव। तवतागमकिंचण्हं बम्हा इति दसविह होदि ॥७०॥ =उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दशभेद मुनिधर्मके है। (त.सू./९/६), (भ.आ./वि./४६/१५४/१० पर उद्धृत)

मू.आ./५५७ तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य। तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं। =धर्मके तीन भेद हैं—श्रुतधर्म, अस्तिकायधर्म, चारित्रधर्म। इन तीनोंमेंसे श्रुतधर्म तीर्थ कहा जाता है।

पं.वि./६/४ सपूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्। =सम्पूर्ण और एक देशके भेदसे वह धर्म दो प्रकार है। अर्थात् मुनि व गृहस्थ धर्म या अनगार व सागार धर्मके भेदसे दो प्रकारका है। (का.अ./६८) (का.अ./मू./३०४), (चा.सा./३/१), (प.ध./उ./७१७)

पं.वि./१/७ धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद् द्विधा च त्रयं। रत्नानां परम तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः। =दयास्वरूप धर्म, गृहस्थ और मुनिके भेदसे दो प्रकारका है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्ररूप उत्कृष्ट रत्नत्रयके भेदसे तीन प्रकारका है, तथा उत्तम क्षमादिके भेदसे दश प्रकारका है। (द्र.सं./टी./३५/१४५/३)

२. धर्ममें सम्यग्दर्शनका स्थान

१. सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल है

द.पा./मू./२ दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं। =सर्वज्ञदेवने अपने शिष्योंको 'दर्शन' धर्मका मूल है ऐसा उपदेश दिया है। (पं.ध./उ./७१६)

२. धर्म सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है

का.अ./६८ एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं। सागारणगारणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं ॥६८॥ =श्रावकों व मुनियोंका जो धर्म है वह सम्यक्त्व पूर्वक होता है। (पं.ध./उ./७१७)।

३. सम्यक्त्वयुक्त धर्म ही मोक्षका कारण है रहित नहीं

बा.अणु./४९ सण्णाणमय किरिया मोक्खणिमित्तं परंपरया। =जो क्रिया ज्ञानपूर्वक होती है वही परम्परा मोक्षका कारण होती है।

र.सा./१० दाणं पूजा सीलं उववासं बहुविहंपि खिवणं पि। सम्मजुदं मोक्खसुहं सम्म विणा दीहसंसारं ॥१०॥ =दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास, अनेक प्रकारके व्रत और मुनिलिंग धारण आदि सर्व एक सम्यग्दर्शन होनेपर मोक्षमार्गके कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शनके बिना संसारको बढ़ानेवाले हैं।

यो.सा./यो./१८ गिहि-वावार परिट्ठिया हेयाहेउ मुणंति। अणुदिणु झायहिं देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति। =जो गृहस्थीके धन्धेमें रहते हुए भी हेयाहेयको समझते हैं और जिनभगवान्‌का निरन्तर ध्यान करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाणको पाते हैं।

भावसंग्रह/४०४,६१० सम्यग्दृष्टेः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियमात्। मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं स न करोति ॥४०४॥ आवश्यकानि कर्म वैयावृत्यं च दानपूजादि। यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥६१०॥ =सम्यग्दृष्टिका पुण्य नियमसे संसारका कारण नहीं होता है। और यदि न निदान न करे तो मोक्षका कारण होता है ॥४०४॥ षडावश्यक क्रिया, वैयावृत्य, दान, पूजा आदि जो कुछ भी धार्मिक क्रिया सम्यग्दृष्टि करता है वह सब उसके लिए निर्जराके निमित्त है ॥६१०॥

प्र.सा./ता.वृ./२५५ की उत्थानिका/२०८/११ वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारणं। सम्यक्त्वसहितं पुनः परंपरया मुक्तिकारणं च भवति। =वीतरागसम्यक्त्वके बिना व्रत दानादिक पुण्यबन्धके कारण है, मुक्तिके नहीं। परन्तु सम्यक्त्व सहित वे ही पुण्य बन्धके साथ-साथ परम्परासे मोक्षके कारण भी हैं। (प्र.सा./ता.वृ./२५५/३४८/२०) (नि.सा./ता.वृ./१८/क.३२) (प्र.सा./ता.वृ./२५५/३४८/२)। (प.प्र./टी./६८/६३/४) (प.प्र./टी./१९१/२९७/१)।

४. सम्यक्त्वरहित क्रियाएँ वास्तविक व धर्मरूप नहीं हैं

यो.सा./यो./४७-४८ धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्थापिच्छियइँ। धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था लुँचियइँ ॥४७॥ राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ। सो धम्मु वि जिण उत्तियउ जो पंचम-गइ णेइ ॥४८॥ =पढ लेनेसे धर्म नहीं होता, पुस्तक और पीछीसे भी धर्म नहीं होता, किसी मठमें रहनेसे भी धर्म नहीं है, तथा केशलोंच करनेसे भी धर्म नहीं कहा जाता ॥४७॥ जो राग और द्वेष दोनोंको छोडकर निजात्मामें वास करना है, उसे ही जिनेन्द्रदेवने धर्म कहा है। वह धर्म पंचम गतिको ले जाता है।

ध.६/४,१,१/६/३ ण च सम्मत्तेण विरहियाणं णाणज्झाणाणमसंखेज्जगुणसेडिकम्मणिज्जराए अणिमित्ताणं णाणज्झाणववएसो परमत्थिओ

अत्थि। =सम्यक्त्वमे रहित ध्यानके असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्म-निर्जराके कारण न होनेसे 'ज्ञानध्यान' यह सज्ञा वास्तविक नही है।

स. सा./आ./२७५ भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव। =भोगके निमित्तभूत शुभकर्ममात्र जो कि अभूतार्थ है (उनकी ही अभव्य श्रद्धा करता है)।

अन. ध./१६/१०६ व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थ-विमुखजनमोहात्। केवलमुपयुञ्जानो व्यञ्जनवद्भ्रश्यति स्वार्थात्। =भूतार्थसे विमुख रहनेवाले व्यक्ति मोहवश अभूतार्थ व्यवहार क्रियाओंमे ही उपयुक्त रहते हुए, स्वर रहित व्यञ्जनके प्रयोगवत् स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाते है।

प. ध./उ./४४४ नापि धर्म क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थत। =मिथ्यादृष्टिके केवल क्रियारूप धर्मका पाया जाना भी धर्म नहीं हो सकता।

प. ध./उ./७१७ न धर्मस्तद्विना क्वचित्। =सम्यग्दर्शनके बिना कहीं भी वह (सागार या अनगार धर्म) धर्म नहीं कहलाता।

५. सम्यक्त्व रहित धर्म परमार्थसे अधर्म व पाप है

स. सा./आ./२००/क १३७ सम्यग्दृष्टि स्वयमहं जातु बंधो न मे स्यादित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु। आलम्बन्तां समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा, आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता ।१३७। =यह मै स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता, ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसे ऊँचा और पुलकित हो रहा है, ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादिका आचरण करें तथा समितियोंकी उत्कृष्टताका आलम्बन करें, तथापि वे पापी ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे सम्यक्त्व रहित है।

पं. ध/उ/४४४ नापि धर्म क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थत। नित्य रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव स ।४४४। =मिथ्यादृष्टिके सदा रागादि भावोका सद्भाव रहनेसे केवल क्रियारूप धर्मका पाया जाना भी वास्तवमें धर्म नहीं हो सकता, किन्तु व अधर्म ही है।

६. सम्यक्त्व रहित धर्म वृथा व अकिंचित्कर है

स. सा./मू./१५२ परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई। तं सव्वं बालतव बालवदं विंति सव्वण्हू ।१५२। =परमार्थमें अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब तप और व्रतको सर्वज्ञ देव बाल तप और बालव्रत कहते है।

मो. पा./मू./९९ किं काहिदि वहिकम्म किं काहिदि बहुविह च खवणं तु। किं काहिदि आदाव आदसहावस्स विवरीदो ।९९। =आत्मस्वभावसे विपरीत क्रिया क्या करेगी, अनेक प्रकारके उपवासादि तप भी क्या करेंगे, तथा आतापन योगादि कायक्लेश भी क्या करेगा।

भ. आ/मू./गा नं ३ जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति। ते तस्स कडुगदोद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ।५७। तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि। णासंति वतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति ।७३४। घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स। बहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स। ।१३४७। =अहिंसा आदि आत्माके गुण है, परन्तु मरण समय ये मिथ्यात्वसे युक्त हो जायँ तो कडवी तूम्बीमें रखे हुए दूधके समान व्यर्थ होते है ।५७। मिथ्यात्वके कारण विपरीत, श्रद्धानी बने हुए इस जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य ये गुण नष्ट होते हैं, और मिथ्यात्व रहित तप आदि मुक्तिके उपाय है ।७३४। घोडेकी लीद दुर्गन्धियुक्त रहती है परन्तु बाहरसे वह स्निग्ध कान्तिसे युक्त होती है। अन्दर भी वह वैसी नहीं होती। उपर्युक्त दृष्टान्तके समान किसी पुरुषका—मुनिका आचरण ऊपरसे अच्छा—निर्दोष दीख पडता है परन्तु उसके अन्दरके विचार कषायसे मलिन—अर्थात् गन्दे रहते है। यह बाह्याचरण उपवास, अवमोदर्यादिक तप उपकी कुछ उन्नति नही करता है क्योंकि इन्द्रिय कषायरूप, अन्तरंग मलिन परिणामोसे उसका अभ्यन्तर तप नष्ट हुआ है, जैसे बगुला ऊपरसे स्वच्छ और ध्यान धारण करता हुआ दीखता परन्तु अन्तरगमें मत्स्य मारनेके गन्दे विचारोंसे युक्त ही होता है ।१३४७।

यो. सा/यो./३१ वउतउसंजमुसीलु जिय ए सव्वइँ अकयत्थु। जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ।३१। =जब तक जीवको एक परमशुद्ध पवित्रभावका ज्ञान नही होता, तब तक व्रत, तप, संयम और शील ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

आ. अनु./१५ शमबोधवृत्ततपसा पाषाणस्येव गौरवं पुंस। पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।१५। =पुरुषके सम्यक्त्वसे रहित शान्ति, ज्ञान, चारित्र और तप इनका महत्त्व पत्थरके भारीपनके समान व्यर्थ है। परन्तु वही उनका महत्त्व यदि सम्यक्त्वसे सहित है तो मूल्यवान् मणिके महत्त्वके समान पूज्य है।

पं. वि/१/५० अभ्यस्यतान्तरदृश किमु लोकभक्त्या, मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन। एतद्द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगै, क्लेशैश्च किं किमपरै प्रचुरैस्तपोभि ।५०। =हे मुनिजन। सम्यग्ज्ञानरूप अभ्यन्तरनेत्रका अभ्यास कीजिए। आपको लोकभक्तिसे क्या प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त आप मोहको कृश करें। केवल शरीरको कृश करनेसे कुछ भी लाभ नहीं है। कारण कि यदि उक्त दोनों नहीं है तो फिर उनके बिना बहुतसे यम नियमोंसे, कायक्लेशोसे और दूसरे प्रचुर तपोसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नही होता।

द्र. स./टी/४१/१६६/७ एव सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणव्रतोपशमध्यानादिकं मिथ्यात्वरूपमपि सम्यग्भवति। तदभावे विषयुक्तदुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम्। =सम्यक्त्वके माहात्म्यसे मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम तथा ध्यान आदि है वे सम्यक् हो जाते हैं। और सम्यक्त्वके बिना विष मिले हुए दूधके समान ज्ञान तपश्चरणादि सब वृथा है, ऐसा जानना चाहिए।

३. निश्चयधर्मकी कथंचित् प्रधानता

१. निश्चय धर्म ही भूतार्थ है

स.सा./आ./२७५ ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धते। =अभव्य व्यक्ति ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्मकी श्रद्धा नहीं करता।

२. शुभ अशुभसे अतीत तीसरी भूमिका ही वास्तविक धर्म है

प्र सा/मू/१८१ सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु। परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये। =परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है। और दूसरेके प्रति प्रवर्तमान नही है ऐसा परिणाम, आगममें दुःख क्षयका कारण कहा है। (प प्र/२/७१)

स. श/८३ अपुण्यमव्रतैः पुण्य व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्यय। अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।८३। =हिंसादि अव्रतोंसे पाप तथा अहिंसादि व्रतोसे पुण्य होता है। पुण्य व पाप दोनो कर्मोंका विनाश मोक्ष है। अत मुमुक्षुको अव्रतोकी भाँति व्रतोको भी छोड देना चाहिए। (यो.सा/यो/३२) (आ.अनु./१८१) (ज्ञा./३२/८७)

यो.सा/अ/६/७२ सर्वत्र य सदोदारते न च द्वेष्टि न च रज्यते। प्रत्याख्यानादतिक्रान्तः स दोषाणामशेषत ।७२। =जो महानुभाव सर्वत्र उदासीनभाव रखता है, तथा न किसी पदार्थमें द्वेष करता है और न राग, वह महानुभाव प्रत्याख्यानके द्वारा समस्त दोषोसे रहित हो जाता है।

दे० चारित्र/४/१ (प्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यानसे अतीत अप्रत्याख्यानरूप तीसरी भूमिका ही अमृतकुम्भ है)

३. एक शुद्धोपयोगमें धर्मके सब लक्षण गर्भित हैं

प्र.सा./ता.वृ./११/१६ = पं.प्र./टी./२/६८/१९०/८ धर्मशब्देनात्र निश्चयेन जीवस्य शुद्धपरिणाम एव ग्राह्य । तस्य तु मध्ये वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन सर्वे धर्मा अन्तर्भूता लभ्यन्ते। तथा अहिंसालक्षणो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावं विना न सभवति। सागारानगारलक्षणो धर्मः सोऽपि तथैव। उत्तमक्षमादिदशविधो धर्मः सोऽपि जीवशुद्धभावमपेक्षते। 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदु' इत्युक्तं यद्धर्मलक्षणं तदपि तथैव। रागद्वेषमोहरहित परिणामो धर्म' सोऽपि जीवशुद्धस्वभाव एव। वस्तुस्वभावो धर्म. सोऽपि तथैव।...अत्राह शिष्य । पूर्वसूत्रे भणित शुद्धोपयोगमध्ये सयमादय सर्वे गुणा. लभ्यन्ते। अतएव तु भणितमात्मन' शुद्धपरिणाम एव धर्म', तत्र सर्वे धर्माश्च लभ्यन्ते। को विशेष । परिहारमाह। तत्र शुद्धोपयोगसज्ञा मुख्या, अत्र तु धर्मसज्ञा मुख्या एतावान् विशेष'। तात्पर्यं तदेव। =यहाँ धर्म शब्दसे निश्चयसे जीवके शुद्धपरिणाम ग्रहण करने चाहिए। उसमें ही नयविभागरूपसे वीतरागसर्वज्ञप्रणीत सर्व धर्म अन्तर्भूत हो जाते है। वह ऐसे कि—१. अहिंसा लक्षण धर्म है सो जीवके शुद्ध-भावके बिना सम्भव नही। (दे० अहिंसा/२/१)। २. सागार अनगार लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है' ३. उत्तमक्षमादि दशप्रकार-के लक्षणवाला धर्म भी जीवके शुद्धभावकी अपेक्षा करता है। ४ रत्नत्रय लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है। ५. रागद्वेषमोहके अभाव-रूप लक्षणवाला धर्म भी जीवका शुद्ध स्वभाव ही बताता है। और ६. वस्तुस्वभाव लक्षणवाला धर्म भी वैसा ही है। प्रश्न—पहले सूत्रमे तो शुद्धोपयोगमे सर्व गुण प्राप्त होते है, ऐसा बताया गया है, (दे० धर्म/३/७)। और यहाँ आत्माके शुद्ध परिणामको धर्म बताकर उसमे सर्व धर्मोंकी प्राप्ति कही गयी। इन दोनोमें क्या विशेष है? उत्तर—वहाँ शुद्धोपयोग संज्ञा मुख्य थी और यहाँ धर्म संज्ञा मुख्य है। इतना ही इन दोनोमें विशेष है। तात्पर्य एक ही है। (प्र.सा./ता वृ /११/१६) (और भी दे० आगे धर्म/३/७)

४ निश्चय धर्मकी व्याप्ति व्यवहार धमके साथ है पर व्यवहारकी निश्चयके साथ नहीं

भ आ./मू /१३४६/१३०६ अब्भतरसोधीए सुद्ध' णियमेण बहिरं करणं। अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बहिरगदोसं। =अभ्यन्तर शुद्धिपर नियमसे बाह्यशुद्धि अवलम्बित है। क्योकि अभ्यन्तर (मनके) परिणाम निर्मल होनेपर वचन व कायकी प्रवृत्ति भी निर्दोष होती है। और अभ्यन्तर (मनके) परिणाम मलिन होने पर वचन व काय-की प्रवृत्ति भी नियमसे सदोष होती है।

लि पा /मू /२ धम्मेण होइ लिंग ण लिगमत्तेण धम्मसंपत्ती। जाणेहि भावधम्म कि ने लिंगेण कायव्वो।२। =धर्मसे लिंग होता है, पर लिंगमात्रसे धर्मकी प्राप्ति नही होती। हे भव्य! तू भावरूप धर्म-को जान। केवल लिगसे तुझे क्या प्रयोजन है।

(दे० लिंग/२) (भावलिंग होनेपर द्रव्यलिंग अवश्य होता है पर द्रव्य-लिंग होने पर भावलिंग भजितव्य है)

प्र सा /मू /२४५ समणा सुद्धुवजुत्ता सहोवजुत्ता य होति समयम्मि।

प्र सा /त प्र /२४५ अस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवाय'। =शास्त्रोमें ऐसा कहा है कि जो शुद्धोपयोगी श्रमण होते है वे शुभो-पयोगी भी होते है। इसलिए शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थ समवाय है।

५. निश्चय रहित व्यवहार धर्म वृथा है

भा पा /मू /८६ बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो। सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं।८६। =भावरहित व्यक्तिके बाह्यपरिग्रहका त्याग, गिरि-नदी-गुफामे बसना, ध्यान, आसन, अध्ययन आदि सब निरर्थक है। (अन.ध./६/२६/८७१)

६. निश्चय रहित व्यवहार धर्मसे शुद्धात्माकी प्राप्ति नहीं होती

स. सा./मू./१५६ मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ। =निश्चयके विषयको छोडकर विद्वान् व्यवहार [शुभ कर्मो (त.प्र. टीका)] द्वारा प्रवर्तते है किन्तु परमार्थके आश्रित योगीश्वरोंके ही कर्मोका नाश आगममें कहा है।

स.सा./आ./२०४/क १४२ क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभि:, क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्। साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं सवेद्यमानं स्वयं, ज्ञानं ज्ञानगुण विना कथ-मपि प्राप्तु क्षम ते न हि। =कोई मोक्षसे पराङ्मुख हुए दुष्करतर कर्मोंके द्वारा स्वयमेव क्लेश पाते है तो पाओ और अन्य कोई जीव महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करो; जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय पद है और स्वयं संवेद्यमान है, ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके बिना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते।

ज्ञा./२२/१४ मन. शुद्ध्यैव शुद्धि' स्याद्देहिनां नात्र संशय'। वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्।१४। =नि'सन्देह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंकी शुद्धि होती है, मनकी शुद्धिके बिना केवल कायको क्षीण करना वृथा है।

७. निश्चयधर्मका माहात्म्य

प.प्र /मू./१/११४ जइ णिविसद्धु वि कुवि करइ परमप्पइ अणुराउ। अग्गिकणी जिम कट्ठगिरी डहइ असेसु वि पाउ।११४।

प.प्र /मू./२/६७ सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दसणु णाणु। सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु।६७। =जो आधे निमेषमात्र भी कोई परमात्मामें प्रीतिको करे, तो जैसे अग्निकी कणी काठके पहाड-को भस्म करती है, उसी तरह सब ही पापोंको भस्म कर डाले।११४। शुद्धोपयोगियोंके ही संयम, शील और तप होते है, शुद्धोके ही सम्य-ग्दर्शन और वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है, शुद्धोपयोगियोके ही कर्मोंका नाश होता है, इसलिए शुद्धोपयोग ही जगत्में मुख्य है।

यो.सा./यो./६५ सागारु वि णागारु कु वि जो अप्पाणि वसेइ। सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु जिणवरु एम भणेइ। =गृहस्थ हो या मुनि हो, जो कोई भी निज आत्मामें वास करता है, वह शीघ्र ही सिद्धिसुख-को पाता है, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है।

न. च. वृ /४१२-४१४ एदेण सयलदोसा जीवाणास तिरायमादीया। मोत्तूण विविहभावं एत्थे विय सठिया सिद्धा। =इस (परम चैतन्य तत्त्वको जानने) से जीव रागादिक सकल दोषोंका नाश कर देता है। और विविध विकल्पोंसे मुक्त होकर, यहाँ ही, इस संसार-मे ही सिद्धवत् रहता है।

ज्ञा /२२/२६ अनन्तजन्यजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा। भावशुद्धि प्रपन्नस्य मुने प्रक्षीयते क्षणात्। =जो अनन्त जन्मसे उत्पन्न हुई दृढ कर्मबन्ध-की स्थिति है सो भावशुद्धिको प्राप्त होनेवाले मुनिके क्षणभरमें नष्ट हो जाती है, क्योकि कर्मक्षय करनेमें भावोकी शुद्धता ही प्रधान कारण है।

४. व्यवहार धर्मकी कथंचित् गौणता

१. व्यवहार धर्म ज्ञानी व अज्ञानी दोनोंको सम्भव है

पं का./त.प्र /१३६ अर्हत्सिद्धादिषु भक्ति', धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधाना चेष्टा,.. अय हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्या-

ज्ञानिनो भवति । उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानराग-निषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति । =धर्ममें अर्थात् व्यवहारचारित्रके अनुष्ठानमें भावप्रधान चेष्टा। ... यह (प्रशस्त राग) वास्तवमें जो स्थूल लक्षवाले होनेसे मात्र भक्ति प्रधान है ऐसे अज्ञानीको होता है। उच्चभूमिकामें स्थिति प्राप्त न की हो तब, अस्थान (अस्थिति) का राग रोकनेके हेतु अथवा तीव्र राग ज्वर मिटानेके हेतु कदाचित् ज्ञानीको भी होता है। (नि सा /ता.वृ./१०५)

२. व्यवहाररत जीव परमार्थको नहीं जानते

स.सा./मू./४१३ पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुपयारेसु। कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ।४१३। =जो बहुत प्रकारके मुनि-लिंगोंमें अथवा गृहीलिंगोंमें ममता करते हैं, अर्थात् यह मानते है कि द्रव्य लिंग ही मोक्षका कारण है उन्होने समयसारको नहीं जाना।

३. व्यवहारधर्ममें रुचि करना मिथ्यात्व है

पं. का./ता वृ./१६५/२३८/१६ यदि पुनः शुद्धात्मभावनासमर्थोऽपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगादेव मोक्षो भवतीत्येकान्तेन मन्यते तदा स्थूलपर-समयपरिणामेनाज्ञानी मिथ्यादृष्टिर्भवति। =यदि शुद्धात्माकी भावना-में समर्थ होते हुए भी कोई उसे छोडकर शुभोपयोगसे ही मोक्ष होता है, ऐसा एकान्तसे मानता है, तब स्थूल परसमयरूप परिणामसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।

४. व्यवहार धर्म परमार्थसे अपराध अग्नि व दुःखस्व-रूप है

पु. सि उ /२२० रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य। आस्र-वति यत्तु पुण्य शुभोपयोगोऽयमपराध । =इस लोकमें रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाणका ही कारण है, अन्य गतिका नहीं। और जो रत्नत्रयमें पुण्यका आस्रव होता है, यह अपराध शुभोपयोगका है। (और भी देखो चारित्र /४/३)।

प्र. सा./त. प्र./७७,७६ यस्तु पुनः धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्त-चित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दु खमेवा-नुभवति ।७७। य खलु.. शुभोपयोगवृत्त्या वकाभिसारिकयेवाभिसार्य-माणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःख-सकट कथमात्मानमविप्लुतं लभते ।७६। =जो जीव (पुण्यरूप) धर्मा-नुरागपर अत्यन्त अवलम्बित है, वह जीव वास्तवमें चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे (उपाधिसे रंगी होनेसे) जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ संसार पर्यन्त शारीरिक दु ख-का ही अनुभव करता है।७७। जो जीव धूर्त अभिसारिका की भाँति शुभोपयोग परिणतिसे अभिसार (मिलन) को प्राप्त हुआ मोहकी सेनाकी वशवर्तिताको दूर नहीं कर डालता है, तो जिसके महादु ख-सकट निकट है वह, शुद्ध आत्माको कैसे प्राप्त कर सकता है।७६।

प. का /त प्र /१७२ अर्हदादिगतमपि राग चन्दनगसङ्गतमग्निमिव सुरलोकादिक्लेशप्राप्त्यात्यन्तमन्तर्दाहाय कल्पमानमाकलय्य ..। =अर्हन्तादिगत रागको भी, चन्दनवृक्षसंगत अग्निकी भाँति देवलो-कादिके क्लेश प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तर्दाहका कारण समझकर (प्र. सा /त. प्र /११) (यो. सा./अ./६/२५), (नि. सा /ता. वृ. /१४४)।

पं. का /त. प्र./१६८ रागकलिविलासमूल एवायमनर्थसंतान इति। =यह (भक्ति आदि रूप रागपरिणति) अनर्थसततिका मूल रागरूप क्लेशका विलास ही है।

५. व्यवहार धर्मसे मोह व पापरूप है

प्र. सा./मू./८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु। विस-एसु च पसगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि। =पदार्थका अयथाग्रहण, तिर्यंच मनुष्योंके प्रति करुणाभाव और विषयोंकी संगति, ये सब मोहके चिह्न है। (अर्थात् पहला तो दर्शन मोहका, दूसरा शुभरागरूप मोहका तथा तीसरा अशुभरागरूप मोहका चिह्न है।) (पं का. मू /१३५/१३६)।

पं. वि./७/२५ तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो सम्मत । यो भोगादिनिमित्तमेव स पुन पापं बुधैर्मन्यते। =जो धर्म पुरुषार्थ मोक्षपुरुषार्थका साधक होता है वह तो हमे अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादिका ही कारण होता है उसे विद्वज्जन पाप ही समझते है।

६. व्यवहारधर्म अकिंचित्कर है

स. सा./आ /१५३ अज्ञानमेव बन्धहेतु, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिना बहिर्व्रतनियमशीलतप प्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भा-वात्। =अज्ञान ही बन्धका कारण है, क्योंकि उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियोके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मोका असद्भाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है।

ज्ञा./२२/२७ यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम्। सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनै ।२७। जिस मुनिका चित्त स्थिरी-भूत है, प्रसन्न है, रागादिकी कलुषतासे रहित तथा ज्ञानकी वासनासे युक्त है, उसके सब कार्य सिद्ध है, इसलिए उस मुनिको कायदण्ड देनेसे क्या लाभ है।

७. व्यवहार धर्म कथचित् हेय है

स. सा /आ./२७१/क १७३ सर्वत्राध्यवसानमेवमखिल त्याज्य यदुक्तं जिनैस्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजित । =सर्व वस्तुओमें जो अध्यवसान होते हैं वे सब जिनेन्द्र भगवान्ने त्यागने योग्य कहे है, इसलिए हम यह मानते है कि पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुडाया है।

पं. सा./त. प्र./१६७ स्वसमयप्रसिद्ध्यर्थं पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्याय-मदिधतार्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति। =जीव-को स्वसमयकी प्रसिद्धिके अर्थ, धुनकीमें चिपकी हुई रूईके न्यायसे, अर्हंत आदि विषयक भी रागरेणु क्रमशः दूर करने योग्य है। (अन्यथा जैसे वह थोडी-सी भी रूई जिस प्रकार अधिकाधिक रुई-को अपने साथ चिपटाती जाती है और अन्तमें धुनकीको धुनने नहीं देती उसी प्रकार अल्पमात्र भी वह शुभ राग अधिकाधिक रागकी वृद्धिका कारण बनता हुआ जीवको संसारमें गिरा देता है।)

८. व्यवहार धर्म बहुत कर लिया अब कोई और मार्ग ढूँढ

अमृताशीति/५६ गिरिगहनगुहाद्यारण्यशून्यप्रदेश-स्थितिकरणनिरोध-ध्यानतीर्थोपसेवा। पठनजपनहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धि, मृगय तदपरं त्व भो प्रकार गुरुभ्य । =गिरि, गहन, गुफा, आदि तथा शून्यवन प्रदेशोमें स्थिति, इन्द्रियनिरोध, ध्यान, तीर्थसेवा, पाठ, जप, होम आदिकोसे ब्रह्म (व्यक्ति) को सिद्धि नहीं हो सकती। अत हे भव्य! गुरुओके द्वारा कोई अन्य ही उपाय खोज।

९. व्यवहारको धर्म कहना उपचार है

स सा./आ /४१४ य खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकार, स केवलं व्यवहार एव, न पर-मार्थ । =अनगार व सागार, ऐसे दो प्रकारके द्रव्य लिंगरूप मोक्षमार्ग-का प्ररूपण करना व्यवहार है परमार्थ नही।

मो मा. प्र /७/३६७-१५; ३६५-२२; ३७२-३ (व्रतादिको मोक्षमार्ग कहना उपचार है।)

मो. मा. प्र./७/३७६/८. नीचली दशाविषैं केई जीवनिके शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका युक्तपना पाइये है। तातैं उपचार करि व्रतादि शुभोपयोगकौं मोक्षमार्ग कह्या है।

मो. मा. प्र./८/३७७/११ मिथ्यादृष्टिका शुभोपयोग तौ शुद्धोपयोगको कारण है नाहीं, सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोग भए निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय है, ऐसा मुख्यकरि कहीं शुभोपयोगको शुद्धोपयोगका कारण भी कहिये है ऐसा जानना।

५. व्यवहार धर्मकी कथंचित् प्रधानता

१. व्यवहार धर्म निश्चयका साधन है

द्र.सं./टी./३५/१०२/६ तत्र निश्चयरत्नत्रयपरिणत शुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूतं पञ्चपरमेष्ठ्याराधनं च शरणम्। = निश्चय रत्नत्रयसे परिणत जो स्वशुद्धात्मद्रव्य है वह और उसका बहिरंगसहकारीकारणभूत पंचपरमेष्ठियोंका आराधन है।

२. व्यवहारकी कथंचित् इष्टता

प्र.सा./मू./२६० असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा। णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।२६०। = जो अशुभोपयोग रहित वर्तते हुए शुद्धोपयुक्त अथवा शुभोपयुक्त होते हैं वे (श्रमण) लोगोंको तार देते हैं (और) उनके प्रति भक्तिवान जीव प्रशस्त (पुण्य) को प्राप्त करता है।२६०।

दे. पुण्य/४/३ (भव्य जीवोंको सदा पुण्यरूप धर्म करते रहना चाहिए।)

कुरल काव्य/४/६ करिष्यामीति संकल्पं त्यक्त्वा धर्मो भवद्रुतम्। धर्म एव परं मित्रं यन्मृतौ सह गच्छति।६। = यह मत सोचो कि मैं धीरे-धीरे धर्म मार्गका अवलम्बन करूँगा। किन्तु अभी बिना विलम्ब किये ही शुभ कर्म करना प्रारम्भ कर दो, क्योंकि, धर्म ही वह वस्तु है, जो मृत्युके समय तुम्हारा साथ देनेवाला अमर मित्र होगा।

स्व. स्तो/५८ पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जिनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ। दोषायनाऽलं कणिका विषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।५८। = हे पूज्य जिन श्री वासुपूज्य स्वामी! आपकी पूजा करते हुए प्राणीके जो लेशमात्र सावद्य (पाप) होता है, वह (उस पूजासे उत्पन्न) बहुपुण्य राशिमें दोषका कारण नहीं है। जैसे कि विषकी एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको दूषित नहीं करती।

रा.वा./६/३/७/५०७/३२ उत्कृष्ट- शुभपरिणाम अशुभबन्धानुभागबन्धहेतुत्वेऽपि भूयसः शुभस्य हेतुरिति शुभः पुण्यस्येत्युच्यते, यथा अल्पकारहेतुरपि बहूपकारसद्भावदुपकार इत्युच्यते। = यद्यपि शुभ परिणाम अशुभके जघन्य अनुभागबन्धके भी कारण होते हैं, पर बहुत शुभके कारण होनेसे 'शुभः पुण्यस्य' यह सूत्र सार्थक है। जैसे कि थोड़ा अपकार करनेपर भी बहुत उपकार करनेवाला उपकारक ही माना जाता है।

प.प्र./टी./२/५५/१७७/१ अत्राह प्रभाकरभट्ट। तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्तीति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं···समाधिं लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा संमतमेव। यदि पुनस्तथाविधमवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्त्वोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम्। = प्रश्न—यदि कोई पुण्य व पाप दोनोंको समान समझकर व्यवहार धर्मको छोड़ तिष्ठे तो उसे क्या दूषण है? उत्तर—यदि शुद्धात्मानुभूतिरूप समाधिको प्राप्त करके ऐसा करता है, तब तो हमें सम्मत ही है। और यदि उस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त किये बिना ही गृहस्थावस्थामें दान पूजादिक तथा साधुकी अवस्थामें षडावश्यकादि छोड़ देता है तो उभय भ्रष्ट हो जानेसे उसे दूषण ही है।

प्र.सा./ता.वृ./२६०/३४७/१३ इदमत्र तात्पर्यम्। योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं मिथ्यादृष्टिलोकेन वा सावद्यं नेच्छति तस्येदं व्याख्यानं शोभते, यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति, वैयावृत्त्यादिस्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्ति। = यहाँ यह तात्पर्य समझना कि जो व्यक्ति स्वशरीर पोषणार्थ या मिथ्यादृष्टिके मोहवश सावद्यकी इच्छा नहीं करते उनको ही यह व्याख्यान (वैयावृत्ति आदिमें रत रहनेवाला साधु गृहस्थके समान है) शोभा देता है। किन्तु जो अन्यत्र तो सावद्यकी इच्छा करे और अपनी-अपनी भूमिकानुसार धर्मकार्योंकी इच्छा न करे तो उसको तो सम्यक्त्व ही नहीं है।

द.पा./टी./३/४/१३ इति ज्ञात्वा·· दानपूजादिसत्कर्म न निषेधनीयं, आस्तिकभावेन सदा स्थातव्यमित्यर्थः। (द.पा./टी./५/५/२२)

भा.पा.टी./८/१३३/१० एवमर्थं ज्ञात्वा ये जिनपूजनस्नपनस्तवननवजीर्णचैत्यचैत्यालयोद्धारणयात्राप्रतिष्ठादिकं महापुण्यं कर्म प्रभावनाङ्गं गृहस्थाः सन्तोऽपि निषेधन्ति ते पापात्मानो मिथ्यादृष्टयो···अनन्तसंसारिणो भवन्तीति··· । = १. ऐसा जानकर दान पूजादि सत्कर्म निषेध करने योग्य नहीं हैं, बल्कि आस्तिक भावसे स्थापित करने योग्य है। (द.पा./टी./५/५/२२) २. जिनपूजन, अभिषेक, स्तवन, नये या पुराने चैत्य चैत्यालयका जीर्णोद्धार, यात्रा प्रतिष्ठादिक महापुण्य कर्म रूप प्रभावना अंगको यदि गृहस्थ होते हुए भी निषेध करते हैं तो वे पापात्मा मिथ्यादृष्टि अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं। (पं.ध./७३६-७३९)

३. अन्यके प्रति व्यक्तिका कर्तव्य-अकर्तव्य

ज्ञा./२-१०/२१ यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्मभिः कार्यम्। स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम्।२१। = धर्मका मुख्य चिह्न यह है कि, जो जो क्रियाएँ अपनेको अनिष्ट लगती हों, सो सो अन्यके लिए मन वचन कायसे स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिए।

४. व्यवहार धर्मका महत्त्व

आ.अनु./२२४,२२६ विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः, शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः। नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता, भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।२२४। समाधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः, स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः। स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः, कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।२२६। = इन्द्रिय विषयोंसे विरक्ति, परिग्रहका त्याग, कषायोंका दमन, शम, यम, दम आदि तथा तत्त्वाभ्यास, तपश्चरणका उद्यम, मनकी प्रवृत्तिपर नियन्त्रण, जिनभगवान्में भक्ति, और दयालुता, ये सब गुण उसी पुण्यात्मा जीवके होते हैं, जिसके कि संसाररूप समुद्रका किनारा निकट आ चुका है।२२४। जो समस्त हेयोपादेय तत्त्वोंके जानकार, सर्वसावद्यसे दूर, आत्महितमें चित्तको लगाकर समस्त इन्द्रियव्यापारको शान्त करनेवाले हैं, स्व व परके हितकर वचनका प्रयोग करते हैं, तथा सब संकल्पोंसे रहित हो चुके हैं, ऐसे मुनि कैसे मुक्तिके पात्र न होंगे?।२२६।

का.अ./मू./४३१ उत्तमधम्मेण जुदो होदि तिरिक्खो वि उत्तमो देवो। चंडालो वि सुरिंदो उत्तमधम्मेण संभवदि।४३१। = उत्तम धर्मसे युक्त तिर्यंच भी देव होता है, तथा उत्तम धर्मसे युक्त चाण्डाल भी सुरेन्द्र हो जाता है।

ज्ञा./२-१०/४,११ चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः। धर्मस्यैते श्रिया सार्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः।४। धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः। अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं

विना । ११ । =लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्य नवनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्मके चिरकालसे किंकर है, ऐसा मै मानता हूँ ।४। धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बान्धव है, हितू है, और धर्म ही विना कारण अनाथोका प्रीतिपूर्वक रक्षा करनेवाला है। इसलिए प्राणीको धर्मके अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है ।११।

६. निश्चय व व्यवहारधर्म समन्वय

१. निश्चय धर्मकी प्रधानताका कारण

प.प्र./मू./२/६७ सुद्धह संजमु सीलु तउ सुद्धहँ दंसणु णाणु। सुद्धहँ कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ।६७। =वास्तवमें शुद्धोपयोगियोंको ही संयम, शील, तप, दर्शन, ज्ञान व कर्मका क्षय होता है इसलिए शुद्धोपयोग ही प्रधान है। (और भी दे० धर्म/३/३)

२. व्यवहारधर्म निषेधका कारण

मो पा /मू /३१,३२ जो सुत्तो ववहारे सो जोइ जग्गए सकज्जम्मि। जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।३१। इदि जाणिऊण जोई ववहार चयइ सव्वहा सव्वं। झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ।३२। =जो योगो व्यवहारमें सोता है सो अपने स्वरूपके कार्यमें जागता है और जो व्यवहारविषै जागता है, वह अपने आत्मकार्य विषै सोता है। ऐसा जानकर वह योगी सर्व व्यवहारको सर्व प्रकार छोडता है, और सर्वज्ञ देवके कहे अनुसार परमात्मस्वरूपको ध्याता है। (स.श./७८)

प.प्र./मू./२/१६४ जामु सुहासुह-भावडा णवि सयल वि तुट्टंति। परम समाहि ण तामु मुणि केवलि एमु भणंति। =जब तक सकल शुभाशुभ परिणाम दूर नही हो जाते, तब तक रागादि विकल्प रहित शुद्ध चित्तमें परम समाधि नही हो सक्ती, ऐसा केवली भगवान् कहते है। (यो.सा./यो./३७)

न च वृ /३८१ णिच्छयदो खलु मोक्खो बंधो ववहारचारिणो जम्हा। तम्हा णिव्वुदिकामो ववहार चयदु तिविहेण। =क्योकि व्यवहारचारीको बन्ध होता है और निश्चयसे मोक्ष होता है, इसलिए मोक्षकी इच्छा करनेवाला व्यवहारका मन वचन कायसे त्याग करता है।

प.वि /४/३२ निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम्। द्वितीयेन कृतं द्वैतं संसृतिर्व्यवहारत ।३२। =निश्चयसे जो वह एकत्व है वही अद्वैत है, जो कि उत्कृष्ट अमृत और मोक्ष स्वरूप है। किन्तु दूसरे (कर्म व शरीरादि) के निमित्तसे जो द्वैताभाव उदित होता है, वह व्यवहारकी अपेक्षा रखनेसे ससारका कारण होता है।

(दे० धर्म/४/नं०) व्यवहार धर्म कथंचित विरुद्ध कार्य अर्थात् बन्धका करनेवाला है।८। व्यवहार धर्मकी रुचि करना मिथ्यात्व है।३। व्यवहार धर्म परमार्थसे अपराध व दुःखस्वरूप है।४। परमार्थसे मोह व पाप है।५। इन उपरोक्त कारणोंसे व्यवहार त्यागने योग्य है।६।

३. व्यवहार धर्मके निषेधका प्रयोजन

का अ./मू /४०६ एदे दहप्पयारा पावं कम्मस्स णासया भणिया। पुण्णस्स य सजणया पर पुणत्थ ण कायव्वा। =ये धर्मके दश भेद पापकर्मका नाश करनेवाले तथा पुण्यकर्मका बन्ध करनेवाले कहे हैं। किन्तु इन्हे पुण्यके लिए नही करना चाहिए।

पं का /ता वृ /१७२/२४६/६ मोक्षाभिलाषी भव्योऽर्हदादिविषयेऽपि स्वसवित्तिलक्षणरागं मा करोतु। =मोक्षाभिलाषी भव्य अर्हन्तादि विषयोंमें स्वसवित्ति लक्षणवाला राग मत करो, अर्थात् उनके साथ तन्मय होकर अपने स्वरूपको न भूलो।

दे० मिथ्यादृष्टि/४ सम्यग्दृष्टि व्यवहार धर्मका पालन विषयकषाय वंचनार्थ करता है।

मो.मा.प्र./७/३७३/३ प्रश्न—तुम व्यवहारकौ असत्यार्थ हेय कहो हो तो हम व्रतशील संयमादिकका व्यवहार कार्य काहेकौ करैं—सर्व छोडि देवैंगे। उत्तर—किछू व्रत शील संयमादिकका नाम व्यवहार नाही है। इनकौ मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, सो छोडि दे।... व्रतादिकौ छोडने तैं तो व्यवहारका हेयपना होता है नाहीं। (चारित्र/७/६)

४. व्यवहारधर्मके त्यागका उपाय व क्रम

प्र.सा./मू /१५१,१५६ जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि। कम्मेहिं सो ण रंजदि किह त पाणा अणुचरंति ।१५१। असुहोवओगरहिओ सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि। होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पणं झाए ।१५६। =जो इन्द्रियादिका विजयी होकर उपयोग मात्र आत्माका ध्यान करता है कर्मोके द्वारा रंजित नही होता, उसे प्राण कैसे अनुसरण कर सकते है।१५१। अन्य द्रव्यमें मध्यस्थ होता हुआ मै अशुभोपभोग तथा शुभोपभोगसे युक्त न होकर ज्ञानात्मक आत्माको ध्याता हूँ। (इ.उ./२२)

न.च वृ./३४७ जह वि णिरुद्धं असुह सुहेण सुहमवि तहेव सुद्धेण। तम्हा एण कमेण य जोई ज्झाएउ णियआदं ।३४७। =जिस प्रकार शुभसे अशुभका निरोध होता है। उसी प्रकार शुद्धसे शुभका निरोध होता है। इसलिए इस क्रमसे ही योगी निजात्माको ध्याओ अर्थात् पहिले अशुभको छोडनेके लिए शुभका आचरण करना और पीछे उसे भी छोडकर शुद्धमें स्थित होना। (और भी दे० चारित्र/७/१०)

आ अनु /१२२ अशुभाच्छुभमायात शुद्ध. स्यादयमागमात्। रवेरप्राप्तसध्यस्य तमसो न समुद्गम ।१२२। =यह आराधक भव्य जीव आगमज्ञानके प्रभावसे अशुभसे शुभरूप होता हुआ शुद्ध हो जाता है, जैसे कि बिना सन्ध्या (प्रभात) को प्राप्त किये सूर्य अन्धकारका विनाश नही कर सकता।

प.का/ता.वृ./१६७/२४०/१५ पूर्वं विषयानुरागं त्यक्त्वा तदनन्तरं गुणस्थानसोपानक्रमेण रागादिरहितनिजशुद्धात्मनि स्थित्वा चार्हदादिविषयेऽपि रागस्त्याज्य इत्यभिप्राय'। =पहिले विषयोंके अनुरागको छोडकर, तदनन्तर गुणस्थान सोपानके क्रमसे रागादि रहित निजशुद्धात्मामें स्थित होता हुआ अर्हन्तादि विषयोमें भी रागको छोडना चाहिए ऐसा अभिप्राय है।

प. प्र /टी./२/३१/१५१/३ यद्यपि व्यवहारेण सविकल्पावस्थायो चित्तस्थिरीकरणार्थं देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिविभूतिविशेषकारणं परंपरया शुद्धात्मप्राप्तिहेतुभूतं पञ्चपरमेष्ठिरूपस्तववस्तुस्तवगुणस्तवादिक वचनेन स्तुत्यं भवति मनसा च तदक्षररूपादिकं प्राथमिकाना ध्येयं भवति, तथापि पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयपरिणतिकाले केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिणतः स्वशुद्धात्मैव ध्येय इति। =यद्यपि व्यवहारसे सविकल्पावस्थामें चित्तको स्थिर करनेके लिए, देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि विभूति विशेषको कारण तथा परम्परामे शुद्धात्माकी प्राप्तिका हेतुभूत पंचपरमेष्ठीका वचनो द्वारा रूप वस्तु व गुण स्तवनादिक तथा मन द्वारा उनके वाचक अक्षर व उनके रूपादिक प्राथमिक जनोके लिए ध्येय होते है, तथापि पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रयरूप परिणतिके कालमें केवलज्ञान आदि अनन्तगुणपरिणत स्वशुद्धात्मा ही ध्येय है।

५. व्यवहारको उपादेय कहनेका कारण

प्र.सा /त प्र /२५४ एवमेव शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णित शुभोपयोग तदयं ..गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन ..कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धा-

त्मनोऽनुभवात्क्रमत परमनिर्वाणकत्वाच्च मुख्य'। =इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त (अर्थात् सम्यग्दृष्टिकी) प्रशस्तचर्यारूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह शुभोपयोग (श्रमणोंके तो गौण होता है पर) गृहस्थोके तो, सर्वविरतिके अभावसे शुद्धात्मप्रकाशनका अभाव होनेसे कषायके सद्भावके कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है, क्योंकि जैसे ईन्धनको स्फटिकके सम्पर्कसे सूर्यके तेजका अनुभव होता है और वह क्रमश जल उठता है, उसी प्रकार गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और क्रमश परम निर्वाणसौख्यका कारण होता है। (प.प्र /टी./२/१११-४/२३१/१५)

पं. वि./१/३० चारित्रं यदभाणि केवलदृशा देव त्वया मुक्तये, पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम्। भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यै पुरोपार्जितै' 'सारार्णवतारणे जिन तत. सैवास्तु पोतो मम ।३०। =हे जिन देव केवलज्ञानी! आपने जो मुक्तिके लिए चारित्र बतलाया है, उसे निश्चयसे मुझ जैसा पुरुष इस विषम पचम कालमें धारण नही कर सकता है। इसलिए पूर्वोपार्जित महान् पुण्यसे यहाँ जो मेरी आपके विषयमें दृढभक्ति हुई है वही मुझे इस ससाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिए जहाजके समान होवे।

(और भी दे० मोक्षमार्ग/४/५-६ व्यवहार निश्चयका साधन है)

६. व्यवहार धर्म साधुको गौण व गृहस्थको मुख्य होता है

दे० वैयावृत्त्य/८ (बाल वृद्ध आदि साधुओंकी वैयावृत्त्य करना साधुओंके लिए गौण है और गृहस्थोके लिए प्रधान है।)

दे० साधु/३/५ [दान पूजा आदि गृहस्थोंके लिए प्रधान है और ध्यानाध्ययन मुनियोंके लिए।]

दे० सयम/१/६ [व्रत समिति गुप्ति आदि साधुका धर्म है और पूजा दया दान आदि गृहस्थोका।]

दे० धर्म/६/५ (गृहस्थोको व्यवहार धर्मकी मुख्यताका कारण यह है कि उनके रागकी प्रकर्षताके कारण निश्चय धर्मकी शक्तिका वर्तमानमें अभाव है।

७. उपरोक्त नियम चारित्रकी अपेक्षा है श्रद्धाकी अपेक्षा नहीं

प्र. सा /पं. जयचन्द/२५४ दर्शनापेक्षासे तो श्रमणका तथा सम्यग्दृष्टि गृहस्थको शुद्धात्माका ही आश्रय है। परन्तु चारित्रकी अपेक्षासे श्रमणके शुद्धात्मपरिणति मुख्य होनेसे शुभोपयोग गौण होता है और सम्यग्दृष्टि गृहस्थके मुनि योग्य शुद्धपरिणतिको प्राप्त न हो सकनेसे अशुभ वंचनार्थ शुभोपयोग मुख्य है।

मो मा प्र /७/३३२/१४ सो ऐसी (वीतराग) दशा न होई, तावत् प्रशस्त रागरूप प्रवर्त्तौ। परन्तु श्रद्धान तो ऐसा राखौ—यहू (प्रशस्तराग) भी बन्धका कारण है, हेय है। श्रद्धान विषै याकौ मोक्षमार्ग जानैं मिथ्यादृष्टि ही है।

८. निश्चय व व्यवहार परस्पर सापेक्ष ही धर्म है निरपेक्ष नहीं

प. वि /६/६० अन्तस्तत्त्वविशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु। द्वयो सन्मीलने मोक्षस्तस्माद्द्वितीयमाश्रयेत् ।६०। =अभ्यन्तर तत्त्व तो विशुद्धात्मा और बाह्य तत्त्व प्राणियोकी दया, इन दोनोके मिलने पर मोक्ष होता है। इसलिए उन दोनोंका आश्रय करना चाहिए।

प.प्र /टी./२/१३३/२५०/५ इदमत्र तात्पर्यम्। गृहस्थेनाभेदरत्नत्रयपरस्वरूपमुपादेयं कृत्वा भेदरत्नत्रयात्मक' श्रावकधर्मः कर्त्तव्य., यतिना तु निश्चयरत्नत्रये स्थित्वा व्यावहारिकरत्नत्रयबलेन विशिष्टतपश्चरणं कर्त्तव्य। =इसका यह तात्पर्य है कि गृहस्थ तो अभेद रत्नत्रयके स्वरूपको उपादेय मानकर भेदरत्नत्रयात्मक श्रावकधर्मको करे और साधु निश्चयरत्नत्रयमें स्थित होकर व्यावहारिक रत्नत्रयके बलसे विशिष्ट तपश्चरण करे।

पं.का./ता.वृ./१७२/२४७/१२ तच्च वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकम्। तद्यथा-'ये केचन…निश्चयमोक्षमार्गनिरपेक्षं केवलशुभानुष्ठानरूपं व्यवहारनयमेव मोक्षमार्गं मन्यन्ते तेन तु सुरलोकादिक्लेशपरपरया संसार परिभ्रमन्तीति. यदि पुन. शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गं मन्यन्ते निश्चयमोक्षमार्गानुष्ठानशक्त्यभावान्निश्चयसाधक शुभानुष्ठानं च कुर्वन्ति तर्हि·· परंपरया मोक्षं लभन्ते, इति व्यवहारैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। येऽपि केवलनिश्चयनयावलम्बिन' सन्तोऽपि…शुद्धात्मानमलभमाना अपि तपोधनाचरणयोग्यं षडावश्यकाद्यनुष्ठानं श्रावकाचरणयोग्यं दानपूजाद्यनुष्ठानं च दूषयन्ते तेऽप्युभयभ्रष्टा सन्तो…पापमेव बध्नन्ति। यदि पुन' शुद्धात्मानुष्ठानरूपं निश्चयमोक्षमार्गं तत्साधकं व्यवहारमोक्षमार्गं मन्यन्ते तर्हि चारित्रमोहोदयात् शक्त्यभावेन शुभाशुभानुष्ठानरहितापि यद्यपि शुद्धात्मभावनासापेक्षशुभानुष्ठानरतपुरुषसदृशा न भवन्ति तथापि…परंपरया मोक्षं च लभन्ते इति निश्चयैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन वाक्यद्वयं गतं। तत. स्थितमेतन्निश्चयव्यवहारपरस्परसाध्यसाधकभावेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनैव मोक्ष लभन्ते। =वह वीतरागता साध्यसाधकभावसे परस्पर सापेक्ष निश्चय व व्यवहार नयोके द्वारा ही साध्य है निरपेक्षके द्वारा नहीं। वह ऐसे कि—(नयोंकी अपेक्षा साधकोंको तीन कोटियोंमें विभाजित किया जा सकता है—केवल व्यवहारावलम्बी, केवल निश्चयावलम्बी और नयातीत। इनमें-से भी पहिलेके दो भेद है—निश्चय निरपेक्ष व्यवहार और निश्चय सापेक्ष व्यवहार। इसी प्रकार दूसरेके भी दो भेद है—व्यवहार निरपेक्ष निश्चय और व्यवहार सापेक्ष निश्चय। इन पाँच विकल्पोंका ही यहाँ स्वरूप दर्शाकर विषयका समन्वय किया गया है।) १. जो कोई निश्चय मोक्षमार्गसे निरपेक्ष केवल शुभानुष्ठानरूप व्यवहारनयको ही मोक्षमार्ग मानते हैं, वे उससे सुरलोकादिकी क्लेशपरम्पराके द्वारा संसारमें ही परिभ्रमण करते हैं। २ यदि वे ही श्रद्धामें शुद्धानुभूति लक्षणवाले मोक्षमार्गको मानते हुए, चारित्रमें निश्चयमोक्षमार्गके अनुष्ठान (निर्विकल्प समाधि) की शक्तिका अभाव होनेके कारण; निश्चयको सिद्ध करनेवाले ऐसे शुभानुष्ठानको करें तो परम्परासे मोक्ष प्राप्त करते है। इस प्रकार एकान्त व्यवहारके निराकरणकी मुख्यतासे दो विकल्प कहे। ३ जो कोई केवल निश्चयनयावलम्बी होकर, शुद्धात्माकी प्राप्ति न होते हुए भी, साधुओके योग्य षडावश्यकादि अनुष्ठानको और श्रावकोंके योग्य दान पूजादि अनुष्ठानको दूषण देते है, तो उभय भ्रष्ट हुए केवल पापका ही बन्ध करते है। ४. यदि वे ही श्रद्धामें शुद्धात्माके अनुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्गको तथा उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्गको मानते हुए; चारित्रमें चारित्रमोहोदयवश शुद्धचारित्रकी शक्तिका अभाव होनेके कारण, अन्य साधारण शुभ व अशुभ अनुष्ठानसे रहित वर्तते हुए भी; शुद्धात्मभावना सापेक्ष शुभानुष्ठानरत पुरुषके सदृश न होनेपर भी, परम्परासे मोक्षको प्राप्त करते है। इस प्रकार एकान्त निश्चयके निराकरणकी मुख्यतासे दो विकल्प कहे। ५. इसलिए यह सिद्ध होता है कि निश्चय व व्यवहारके साध्यसाधकभावसे प्राप्त निर्विकल्प समाधिके बलसे मोक्ष प्राप्त करते है।

(और भी दे० चारित्र/७/७) (और भी दे० मोक्षमार्ग/४/६)

७. निश्चय व्यवहारधर्ममें कथंचित् मोक्ष व बन्धका कारणपना

१. निश्चयधर्म साक्षात् मोक्षका कारण

स.सा./मू./१५६ मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥ =निश्चयके विषयको छोडकर विद्वान् लोग व्यवहार [व्रत तप आदि शुभकर्म—(टीका)] द्वारा प्रवर्तते है। परन्तु परमार्थके आश्रित यतीश्वरोके ही कर्मोंका नाश आगममें कहा है।

यो.सा./यो./१६,४८ अप्पा-दसणु एक्कु परु अण्णु ण कि पि वियाणि। मोक्खहँ कारण जोइया णिच्छइँ पहउ जाणि ।१६। रायरोस वे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ। सो धम्मु वि जिण उत्तियउ जो पचमगइ णेइ ।४८। =हे योगिन्! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका कारण नहीं, यह तू निश्चय समझ ।१६। जो राग और द्वेष दोनोको छोडकर निजात्मामें बसना है, उसे ही जिनेन्द्रदेवने धर्म कहा है। वह धर्म पंचम गतिको ले जानेवाला है। (नि.सा./ता.वृ./१८/क ३४)।

प.प्र./मू./२/३८/१५६ अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्प-सरूवि णिलीणु। सवरणिज्जर जाणि तुहुं सयल वियप्प विहीणु। =मुनिराज जबतक आत्मस्वरूपमे लीन हुआ रहता है, सकल विकल्पोसे रहित उस मुनिको ही तू सवर निर्जरा स्वरूप जान।

न.च.वृ./३६६ सुद्धसवेयणेण अप्पा मुचेइ कम्म णोकम्म। =शुद्ध सवेदनसे आत्मा कर्मों व नोकर्मोंसे मुक्त होता है (पं.वि./१/८१)।

२. केवल व्यवहार मोक्षका कारण नहीं

स.सा./मू./१५३ वदणियमाणि धरता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता। परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ।१५३। =व्रत और नियमोंको धारण करते हुए भी तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थसे बाहर है, वे निर्वाणको प्राप्त नही होते (सू पा./मू./१५), (यो.सा./यो./मू./१/१८); (यो सा./अ/१/४८)।

र.सा./७० ण हु दडइ कोहाइं देहं दडेइ कह खवइ कम्म। सप्पो किं मुवइ तहा वम्मिउ मारिउ लोए।७०। =हे बहिरात्मा! तू क्रोध, मान, मोह आदिका त्याग न करके जो व्रत तपश्चरणादिके द्वारा शरीरको दण्ड देता है, क्या इससे तेरे कर्म नष्ट हो जायेंगे। कदापि नहीं। इस जगतमें क्या कभी बिलको पीटनेसे भी सर्प मरता है। कदापि नही।

३. व्यवहारको मोक्षका कारण मानना अज्ञान है

पं.का./मू./१६५ अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो। हवदि त्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो। =शुद्धसप्रयोग अर्थात् शुभ भक्तिभावसे दु खमोक्ष होता है, ऐसा यदि अज्ञानके कारण ज्ञानी माने तो वह परसमयरत जीव है।

४. वास्तवमें व्यवहार मोक्षका नहीं संसारका कारण है

भा.पा./मू./८४ अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं णिरवसेसाणि। तह वि ण पावदि सिद्धिं ससारत्थो पुणो भमदि। =जो आत्माको तो प्राप्त करनेकी इच्छा नही करते और सर्व ही प्रकारके पुण्यकार्योंको करते है, वे भी मोक्षको प्राप्त न करके संसारमें ही भ्रमण करते है (स.सा./मू/१५४)।

बा.अणु./५६ पारपज्जएण दु आसवकिरियाए णत्थि णिव्वाण। ससार-गमणकारणमिदि णिंदं आसवो जाण। =कर्मोंका आस्रव करनेवाली (शुभ) क्रियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं हो सकता। इसलिए संसारमें भटकानेवाले आस्रवको बुरा समझना चाहिए।

न.च.वृ./२९९ असुह सुहं चिय कम्म दुविहं तं दव्वभावभेयगयं। तं पिय पडुच्च मोह ससारो तेण जीवस्स।२९९। =द्रव्य व भाव दोनो प्रकारके शुभ व अशुभ कर्मोंसे मोहके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण, संसार भ्रमण होता है (न.च.वृ./३७६)।

५. व्यवहारधर्म बन्धका कारण है

न.च.वृ./२८४ ण हु सुहमसुहं हु तं पिय बंधो हवे णियमा।

न.च.वृ./३६६ असुद्धसवेयणेण अप्पा बधेइ कम्म णोकम्म। =शुभ और अशुभ रूप अशुद्ध सवेदनसे जीवको नियमसे कर्म व नोकर्मका बन्ध होता है (पं.वि/१/८१)।

पं.ध/उ/५५८ सरागे वीतरागे वा नूनमोदयिकी क्रिया। अस्ति बन्ध-फलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात्। =मोहके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण, सरागकी या वीतरागकी जितनी भी औदयिक क्रियाएँ हैं वे अवश्य ही बन्ध करनेवाली है।

६. केवल व्यवहारधर्म मोक्षका नहीं बन्धका कारण है

पं.का/मू/१६६ अर्हंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो। बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि। =अरहत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन (शास्त्र) और ज्ञानके प्रति भक्तिसम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है परन्तु वास्तवमें कर्मोंका क्षय नही करता (प.प्र./मू./२/६१); (वसु श्रा./४०)।

स.सा./मू/२७५ सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि। धम्मं भोगणिमित्त न तु स कम्मक्खयणिमित्त। =अभव्य जीव भोगके निमित्तरूप धर्मकी (अर्थात् व्यवहारधर्मकी) ही श्रद्धा, प्रतीति व रुचि करता है, तथा उसे ही स्पर्श करता है, परन्तु कर्मक्षयके निमित्तरूप (निश्चय) धर्मको नही।

ध.१३/५,४,२८/८८/११ पराहीणभावेण किरिया कम्म किण्ण कीरदे। ण तहा किरियाकम्मं कुणमाणस्स कम्मक्खयाभावादो ॥ जिणिदादि-अच्चासणदुवारेण कम्मबंधसभवादो च। =प्रश्न—पराधीन भावसे क्रिया-कर्म क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उस प्रकार क्रियाकर्म करनेवालेके कर्मोंका क्षय नहीं होता और जिनेन्द्रदेव आदिकी आसादना होनेसे कर्मोंका बन्ध होता है।

७. व्यवहारधर्म पुण्यबन्धका कारण है

प्र.सा./मू/१५६ उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स सचयं जादि। असुहो वा तध पाव तेसिमभावे ण चयमत्थि। =उपयोग यदि शुभ हो तो जीवका पुण्य सचयको प्राप्त होता है, और यदि अशुभ हो तो पाप सचय होता है। दोनोके अभावमें सचय नहीं होता (प्र सा/मू./१८१)।

पं का/मू./१३५ रागो जस्स पसत्थो अणुकपासंसिदो य परिणामो। चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्ण जीवस्स आसवदि। =जिस जीवको प्रशस्त राग है, अनुकम्पा युक्त परिणाम है और चित्तमें कलुषताका अभाव है उस जीवको पुण्यका आस्रव होता है (यो.सा./अ./४/३७)।

का.अ./मू./४८ विरलो अज्जदि पुण्ण सम्मादिट्ठी वएहि संजुत्तो। उवसमभावे सहिदो णिंदण गरहाहिं संजुत्तो। =सम्यग्दृष्टि, व्रती, उपशमभावसे युक्त तथा अपनीनिन्दा और गर्हा करनेवाले विरले जन ही पुण्यकर्मका उपार्जन करते हैं।

पं.का/ता.वृ/२६४/२३७/११ स्वभावेन मुक्तिकारणान्यपि पञ्चपरमेष्ठ्या-दिप्रशस्तद्रव्याश्रितानि साक्षात्पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति। =सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय यद्यपि स्वभावसे मोक्षके कारण हैं, परन्तु यदि पंचपरमेष्ठी आदि प्रशस्त द्रव्योंके आश्रित हों तो साक्षात् पुण्य-बन्धके कारण होते है।

८. परन्तु सम्यक् व्यवहारधर्मसे उत्पन्न पुण्य विशिष्ट प्रकारका होता है

द्र.सं /टी./३६/१५२/५ तद्भवे तीर्थंकरप्रकृत्यादि विशिष्टपुण्यबन्धकारणं भवति। =(सम्यग्दृष्टिकी शुभ क्रियाएँ) उस भवमें तीर्थंकर प्रकृति आदि रूप विशिष्ट पुण्यबन्धकी कारण होती है (द्र.स/टी /३८/१६०/२); (प्र.सा./ता.वृ /६/८/१०), (प.प्र./टी /२/६/७१/१६६/६)।

प.प्रा./टी./२/६०/१८२/१ इदं पूर्वोक्तं पुण्य भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव ममकाराहकार जनयति, बुद्धिविनाश च करोति। न च पुन सम्यक्त्वादिगुणसहित भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत्। यदि पुन' सर्वेषां मदं जनयति तर्हि ते कथं पुण्यभाजना' सन्तो मदाहकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्ष गता इति भावार्थ.। =जो यह पुण्य पहले कहा गया है वह सर्वत्र समान नहीं होता। भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित तथा दृष्ट श्रुत व अनुभूत भोगोंकी आकाक्षारूप निदानबन्धवाले परिणामोंसे सहित ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोके द्वारा जो पूर्वभवमें उपार्जित किया गया पुण्य होता है, वह ही ममकार व अहकारको उत्पन्न करता है तथा बुद्धिका विनाश करता है। परन्तु सम्यक्त्व आदि गुणोके सहित उपार्जित पुण्य ऐसा नहीं करता, जैसे कि भरत, सगर, राम, पाण्डव आदिका पुण्य। यदि सभी जीवोका पुण्य मद उत्पन्न करता होता तो पुण्यके भाजन होकर भी वे मद अहकारादि विकल्पोंको छोडकर मोक्ष कैसे जाते?

(और भी—दे० मिथ्यादृष्टि/४), (मिथ्यादृष्टिका पुण्य पापानुबन्धी होता है पर सम्यग्दृष्टिका पुण्य पुण्यानुबन्धी होता है)।

९. सम्यक व्यवहारधर्म निर्जराका तथा परम्परा मोक्षका कारण है

प्र.सा./मू प्रक्षेपक/७६-२ त देवदेव जदिवरवसह गुरुं तिलोयस्स। पणमति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खय जंति। =जो त्रिलोकगुरु यतिवरवृषभ उस देवाधिदेवको नमस्कार करते हैं, वे मनुष्य अक्षय सुख प्राप्त करते है।

भाव संग्रह/४०४,६१० सम्यग्दृष्टे पुण्यं न भवति ससारकारणं नियमात्। मोक्षस्य भवति हेतु. यदि च निदान न करोति।४०४। आवश्यकादि कर्म वैयावृत्त्य च दानपूजादि। यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम्।६१०। =सम्यग्दृष्टिका पुण्य नियमसे] संसारका कारण नहीं होता, बल्कि यदि वह निदान न करे तो मोक्षका कारण है।४०४। आवश्यक आदि या वैयावृत्ति या दान पूजा आदि जो कुछ भी शुभक्रिया सम्यग्दृष्टि करता है, वह सबकी सब उसके लिए निर्जराकी निमित्त होती है।

पु.सि.उ/२११ असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य। सविपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय।२११। =भेदरत्नत्रयकी भावनासे जो पुण्य कर्मका बन्ध होता है वह यद्यपि रागकृत है, तो भी वे मिथ्यादृष्टिकी भाँति उसे ससारका कारण नहीं है बल्कि परम्परासे मोक्षका ही कारण है।

नि सा./ता.वृ./७६/क. १०७ शीलमपवर्गयोषिदनङ्गसुखस्यापि मूलमाचार्या। प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परम्पराहेतु।=आचार्योंने शीलको मुक्तिसुन्दरीके अनंगसुखका मूल कारण कहा। व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्परा कारण है।

द्र स /टी /३६/१५२/६ पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। =(वह विशिष्ट पुण्यबन्ध) परम्परासे मुक्तिका कारण है।

१०. परन्तु निश्चय सहित ही व्यवहार मोक्षका कारण है रहित नहीं

स.सा./मू/१५६ मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति। परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ। =निश्चयके विषयको छोड़कर विद्वान् व्यवहारके द्वारा प्रवर्तते है परन्तु परमार्थके आश्रित यतीश्वरोंके ही कर्मोका नाश आगममें कहा गया है।

स श./७१ मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचलाधृति.। तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृति'। =जिस पुरुषके चित्तमें आत्मस्वरूपकी निश्चल धारणा है, उसकी नियमसे मुक्ति होती है, और जिस पुरुषकी आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है, उसकी अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है (अर्थात् हो भी और न भी हो)।

प प्र /टी /२/१६१ यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूल तपश्चरण करोति, तत्परिज्ञानसाधक च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधक भवति, नो चेत् पुण्यबन्धकारण तमेवेति। = यदि 'निज शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसी श्रद्धा करके, उसके साधकरूपसे तदनुकूल तपश्चरण (चारित्र) करता है, और उसके ही विशेष परिज्ञानके लिए शास्त्रादि पढता है तो वह भेद रत्नत्रय परम्परासे मोक्षका साधक होता है। यदि ऐसा न करके केवल बाह्य क्रिया करता है तो वही पुण्यबन्धका कारण है। (प का / ता वृ./१७२/२४६/१); (प्र सा./ता वृ./२५५/३४६/१)।

११. यद्यपि मुख्यरूपसे पुण्यबन्ध ही होता पर परम्परासे मोक्षका कारण पड़ता है

प्र.सा /ता.वृ./२५५/३४८/२० यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परपरया निर्वाण च। =जब पूर्वसूत्रमें कहे अनुसार सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग होता है तब मुख्यरूपसे तो पुण्यबन्ध होता है, परन्तु परपरासे निर्वाण भी होता है।

१२. परम्परा मोक्षका कारण कहनेका तात्पर्य

पं.का /ता.वृ /१७०/२४३/११ तेन कारणेन यद्यप्यनन्तसंसारछेदं करोति कोऽप्यचरमदेहस्तद्भवे कर्मक्षयं न करोति तथापि भवान्तरे पुनर्देवेन्द्रादिपदं लभते। तत्र· पञ्चविदेहेषु गत्वा समवशरणे वीतरागसर्वज्ञान पश्यति· तदनन्तर विशेषेण दृढधर्मो भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यमात्मभावनामपरित्यजन् सन् देवलोके काल गमयति ततोऽपि जीवितान्ते स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्यादिविभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभवभावितशुद्धात्मभावनाबलेन मोह न करोति ततश्च विषयसुखं परिहृत्य जिनदीक्षां गृहीत्वा निर्विकल्पसमाधिविधानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं गच्छतीति भावार्थ। =उस पूजादि शुभानुष्ठानके कारणसे यद्यपि अनन्तसंसारकी स्थितिका छेद करता है, परन्तु कोई भी अचरमदेही उसी भवमें कर्मक्षय नहीं करता। तथापि भवान्तरमें देवेन्द्रादि पदोंको प्राप्त करता है। तहाँ पचविदेहोंमें जाकर समवशरणमें तीर्थंकर भगवान्के साक्षात् दर्शन करता है। तदनन्तर विशेष रूपसे दृढधर्मा होकर चतुर्थ गुणस्थानके योग्य आत्मभावनाको न छोडता हुआ देवलोकमें काल गँवाता है। जीवनके अन्तमें स्वर्गसे चयकर मनुष्य भवमें चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको प्राप्त करके भी पूर्वभवमें भावित शुद्धात्मभावनाके बलसे मोह नहीं करता। और विषयसुखको छोडकर जिनदीक्षा ग्रहण करके निर्विकल्पसमाधिकी विधिसे विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी निजशुद्धात्मामें स्थित होकर मोक्षको प्राप्त करता है। (द्र.स /टी /३८/१६०/१); (द्र.सं /टी /३५/१४५/६), (धर्मध्यान/६/२), (भा पा /टी /८१/२३३/६)।

८. दशधर्म निर्देश

१. धर्मका लक्षण उत्तम क्षमादि

ज्ञा./२-१०/२ दशलक्ष्मयुत: सोऽयं जिनैर्धर्म: प्रकीर्तितः। =जिनेन्द्र भगवान्ने धर्मको दश लक्षण युक्त कहा है (प वि /१/७); (का.अ./४७८), (द्र सं./टी./३५/१०१/८); (द्र.सं./टी./३५/१४५/३); (द.पा.टी./६/८/४)।

२. दशधर्मोंके साथ 'उत्तम' विशेषणकी सार्थकता

स.सि /६/६/४१३/५ दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्। =दृष्ट प्रयोजनकी निवृत्तिके अर्थ इनके साथ 'उत्तम' विशेषण दिया है। (रा.वा/६/६/२६/५६८/२६)।

चा.सा /५८/१ उत्तमग्रहणं ख्यातिपूजादिनिवृत्त्यर्थं। =ख्याति व पूजादिकी भावनाकी निवृत्तिके अर्थ उत्तम विशेषण दिया है। अर्थात् ख्याति पूजा आदिके अभिप्रायसे धारी गयी क्षमा आदि उत्तम नहीं है।

३. ये दशधर्म साधुओंके लिए कहे गये हैं

बा.अनु /६८ एयारस दसभेयं धम्मं सम्मत्त पुव्वयं भणियं। सागारणगाराण उत्तम सुहसंपजुत्तेहिं।६८। =उत्तम सुखसंयुक्त जिनेन्द्रदेवने सागर धर्मके ग्यारह भेद और अनगार धर्मके दश भेद कहे है। (का.अ /मू.३०४), (चा.सा./५८/१)।

४. परन्तु यथासम्भव मुनि व श्रावक दोनोंको ही होते हैं

पं.वि./६/५९ आद्योत्तमक्षमा यत्र सो धर्मो दशभेदभाक्। श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम्।५९। =उत्तम क्षमा है आदिमें जिसके तथा जो दश भेदोसे युक्त है, उस धर्मका श्रावकोको भी अपनी शक्ति और आगमके अनुसार सेवन करना चाहिए।

रा.वा/हिं/९/६/६६८ ये धर्म अविरत सम्यग्दृष्टि आदिके जैसे क्रोधादिकी निवृत्ति होय तैसे यथा सम्भव होय है, अर मुनिनिके प्रधानपने होय है।

५. इन दशोंको धर्म कहनेमें हेतु

रा.वा/९/६/२४/५९८/२२ तेषा संवरणधारणसामर्थ्याद्धर्म इत्येषा संज्ञा अन्वर्थेति। =इन धर्मोंमे चूँकि संवरको धारण करनेकी सामर्थ्य है, इसलिए 'धारण करनेसे धर्म' इस सार्थक सज्ञाको प्राप्त होते है।

धर्मकथा—दे० कथा।

धर्मकीर्ति—१ त्रिमलय देशमें उत्पन्न एक प्रकाण्ड बौद्ध नैयायिक थे। आप नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य तथा प्रज्ञागुप्तके गुरु थे। आपके पिताका नाम कोरुनन्द था। आपकी निम्न कृतियाँ न्यायक्षेत्रमें अतिप्रसिद्ध है—१ प्रमाण वार्तिक, २. प्रमाणविनिश्चय, ३ न्यायविन्दु, ४. सन्तानान्तर सिद्धि, ५ सम्बन्ध परीक्षा, ६, वादन्याय, ७. हेतु-विन्दु। समय—ई. सं ६२०-६६०, (सि वि/प्र २७/१. महेन्द्रकुमार)। २ आप एक जैन भट्टारक थे। आपने पद्मपुराण व हरिवंशपुराण ये दो ग्रन्थ रचे हैं। समय—वि. १६५६-१६७१ (ई. १५९९-१६१४), (म पु/प्र २०/पं. पन्नालाल)।

धर्मचंद्र—आप रत्नकीर्तिभट्टारकके गुरु थे। तदनुसार आपका समय वि १२७१ (ई. १२१४) आता है। (बाहुबलिचरित्र/प्र.७/उदयलाल)

धर्मचक्र—(म.पु /२२/२९२-२९३) ता पीठिकामलंचक्रु: अष्टमङ्गलसंपदः। धर्मचक्राणि चोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्धभि:।२९२। सहस्राणि तान्युद्यद्रत्नरश्मीनि रेजिरे। भानुबिम्बानिवोद्यन्ति पीठिकोदयपर्वतात।२९३। =उस (समवशरण स्थित) पीठिकाको अष्टमगलरूपी सम्पदाएँ और यक्षोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंपर रखे हुए धर्मचक्र अलकृत कर रहे थे।२९२। जिनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणें ऊपरकी ओर उठ रही है ऐसे, हजार-हजार आरोंवाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिकारूपी उदयाचलसे उदय होते हुए सूर्यके बिम्ब ही हो।२९३।

धर्मचक्रव्रत—इस व्रतकी तीन प्रकार विधि है—बृहद्, मध्यम व लघु—

१. बृहद् विधि—धर्मचक्रके १००० आरोंकी अपेक्षा एक उपवास एक पारणाके क्रमसे १००० उपवास करे। आदि अन्तमें एक एक बेला पृथक् करे। इस प्रकार कुछ २००४ दिनोंमें (५½ वर्षमें) यह व्रत पूरा होता है। त्रिकाल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे। (ह.पु /३४/१२४), २. मध्यम विधि—१०१० दिन तक प्रतिदिन एकाशना करे। त्रिकाल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे। (व्रतविधान सग्रह/पृ.१६३); (नवलसाह कृत वर्द्धमान पुराण) ३. लघु विधि—क्रमश: १ २,३,४,५,१ इस प्रकार कुल १६ उपवास करे। बीचके स्थानोंमें सर्वत्र एक-एक पारणा करे। त्रिकाल नमस्कार मन्त्रका जाप्य करे। (व्रतविधान सग्रह/पृष्ठ १६३); (किशन सिंह क्रियाकोश)।

धर्मदत्तचरित्र—आ. दयासागर सूरि (ई. १४२९) कृत एक चरित्र ग्रन्थ।

धर्मद्रव्य—दे० धर्माधर्म।

धर्मध्यान—मनको एकाग्र करना ध्यान है। वैसे तो किसी न किसी विषयमें हर समय ही मन अटका रहनेके कारण व्यक्तिको कोई न कोई ध्यान बना ही रहता है, परन्तु राग-द्वेषमूलक होनेसे श्रेयोमार्गमें वे सब अनिष्ट है। साधक साम्यताका अभ्यास करनेके लिए जिस ध्यानको ध्याता है, वह धर्मध्यान है। अभ्यास दशा समाप्त हो जाने पर पूर्ण ज्ञाताद्रष्टा भावरूप शुक्लध्यान हो जाता है। इसलिए किसी अपेक्षा धर्म व शुक्ल दोनो ध्यान समान है। धर्मध्यान दो प्रकारका है—बाह्य व आध्यात्मिक। वचन व कायपरसे सर्व प्रत्यक्ष होने वाला बाह्य और मानसिक चिन्तवनरूप आध्यात्मिक है। वह आध्यात्मिक भी आज्ञा, अपाय आदिके चिन्तवनके भेदसे दस भेदरूप है। ये दसों भेद जैसा कि उनके लक्षणोंपरसे प्रगट है, आज्ञा, अपाय, विपाक व संस्थान इन चारमें गर्भित हो जाते है—उपाय विचय तो अपायमें समा जाता है और जीव, अजीव, भव, विराग व हेतु विचय-सस्थान विचयमें समा जाते है। तहाँ इन सबको भी दोमें गर्भित किया जा सकता है—व्यवहार व निश्चय। आज्ञा, अपाय व विपाक तो परावलम्बी ही होनेसे व्यवहार ही है पर संस्थानविचय चार भेदरूप है—पिंडस्थ (शरीराकृतिका चिन्तवन); पदस्थ (मन्त्राक्षरोका चिन्तवन), रूपस्थ (पुरुषाकार आत्माका चिन्तवन) और रूपातीत अर्थात् मात्र ज्ञाता द्रष्टाभाव। यहाँ पहले तीन धर्मध्यानरूप हैं और अन्तिम शुक्लध्यानरूप। पहले तीनोंमें 'पिण्डस्थ' व 'पदस्थ' तो परावलम्बी होनेसे व्यवहार है और 'रूपस्थ' स्वावलम्बी होनेसे निश्चय है। निश्चयध्यान ही वास्तविक है पर व्यवहार भी उनका साधन होनेसे इष्ट है।

१. धर्मध्यान व उसके भेदोंका सामान्य निर्देश

१. धर्मध्यान सामान्यका लक्षण

१. धर्मसे युक्त ध्यान

भ. आ./मू /१७०६/१५४१ धम्मस्स लक्खणं से अज्जवलहुगत्तमद्दवोवसमा। उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ।१७०६। =जिससे धर्मका परिज्ञान होता है वह धर्मध्यानका लक्षण समझना चाहिए। आर्जव, लघुत्व, मार्दव और उपदेश ये इसके लक्षण है। (मू. आ./६७६)।

स. सि./९/२८/४४५/११ धर्मो व्याख्यात। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। =धर्मका व्याख्यान पहले कर आये हैं (उत्तम क्षमादि लक्षणवाला धर्म है) जो धर्मसे युक्त होता है वह धर्म्य है। (स सि./९/३६/४५०/४); (रा. वा./९/२८/३/६२७/३०), (रा.वा /९/३६/११/६३२/११); (म. पु /२१/१३३); (त.अनु /५४); (भा. पा./टी /७८/२२६/१७)।

नोट—यहाँ धर्मके अनेकों लक्षणोके लिए देखो धर्म/१) उन सभी प्रकारके धर्मोंसे युक्त प्रवृत्तिका नाम धर्मध्यान है, ऐसा समझना चाहिए। इस लक्षणकी सिद्धिके लिए—दे० (धर्मध्यान/४/५/२)।

२. शास्त्र, स्वाध्याय व तत्त्व चिन्तवन

र. सा./मू /९७ पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभपउत्तिकरणं पि। णाण धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ।९७। =पाप कार्यकी निवृत्ति और पुण्य कार्योमें प्रवृत्तिका मूलकारण एक सम्यग्ज्ञान है, इसलिए मुमुक्षु जीवोंके लिए सम्यग्ज्ञान (जिनागमाभ्यास-गा ९८) ही धर्मध्यान श्री जिनेन्द्रदेवने कहा है।

भ. आ./ मू./१७१० आलंबणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेहाओ। धम्मस्स तेण अविसुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ।१७१०। =वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और परिवर्तन ये स्वाध्यायके भेद है। ये भेद धर्मध्यानके आधार भी है। इस धर्मध्यानके साथ अनुप्रेक्षाओंका अविरोध है। (भ. आ /मू./१८७५/१६८०), (ध. १३/५,४,२६/गा २१/६७); (त. अनु /८१)।

ज्ञा. सा./१७ जीवादयो ये पदार्था ध्यातव्या ते यथास्थिता चैव। धर्मध्यानं भणितं रागद्वेषौ प्रमुच्य•••।१७। =रागद्वेषको त्यागकर अर्थात् साम्यभावसे जीवादि पदार्थोंका, वे जैसे-जैसे अपने स्वरूपमें स्थित हैं, वैसे-वैसे ध्यान या चिन्तवन करना धर्मध्यान कहा गया है।

ज्ञा./३/२९ पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात्। चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ।२९। =पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुद्धलेश्याके अवलम्बनसे और वस्तुके यथार्थ स्वरूप चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहलाता है। (ज्ञा./२५/१८)।

३. रत्नत्रय व संयम आदिमें चित्तको लगाना

मू आ /६७८-६८० दंसणणाणचरित्ते उवओगे संजमे विउस्सग्गो। पचक्खाणे करणे पणिधाणे तह य समिदीसु ।६७८। विज्जाचरणमहव्वदसमाधिगुणबंभचेरछक्काए। खमणिग्गह अज्जवमद्दवमुत्ती विणए च सद्दहणे ।६७९। एवंगुणो महत्थो मणसंकप्पो पसत्थ वीसत्थो। संकप्पोत्ति वियाणह जिणसासणसम्मदं सव्वं ।६८०। =दर्शन ज्ञान चारित्रमें, उपयोगमें, सयममें, कायोत्सर्गमें, शुभ योगमें, धर्मध्यानमें, समितिमें, द्वादशागमें, भिक्षाशुद्धिमें, महाव्रतोंमें, संन्यासमें, गुणमें, ब्रह्मचर्यमें, पृथिवी आदि छह काय जीवोंकी रक्षामें, क्षमामें, इन्द्रिय-निग्रहमें, आर्जवमें, मार्दवमें, सब परिग्रह त्यागमें, विनयमें, श्रद्धानमें; इन सबमें जो मनका परिणाम है, वह कर्मक्षयका कारण है, सबके विश्वास योग्य है। इस प्रकार जिनशासनमें माना गया सब संकल्प है; उसको तुम शुभ ध्यान जानो।

४. परमेष्ठी आदिकी भक्ति

द्र.स./टी /४८/२०५/३ पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति। =पंच परमेष्ठीकी भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभानुष्ठान (पूजा, दान, अभ्युत्थान, विनय आदि) बहिरंग धर्मध्यान होता है। (पं. का /ता. वृ /१५०/२१७/१६)।

२. धर्मध्यानके चिह्न

ध १३/५,४,२६/गा ५४-५५/७६ आगमउवदेसाणा णिसग्गदो जं जिणप्पणीयाण। भावाण सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तल्लिंगं ।५४। जिण-साहु-गुणक्कित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णा। सुद सीलसंजमरदा धम्मज्झाणे मुणेयव्वा ।५५। =आगम, उपदेश और जिनाज्ञाके अनुसार निसर्गसे जो जिन भगवान्के द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान होता है वह धर्मध्यानका लिंग है।५४। जिन और साधुके गुणोंका कीर्तन करना, प्रशसा करना, विनय-दानसम्पन्नता, श्रुत, शील और संयममें रत होना, ये सब बातें धर्मध्यानमें होती है।।५५।

म. पु /२१/१५९-१६१ प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेग शुभयोगता सुश्रुतत्वं समाधानं आज्ञाधिगमजा रुचि ।१५९। भवन्त्येतानि लिङ्गानि धर्म्यस्यान्तर्गतानि वै। सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधा शुभभावना ।१६०। बाह्यं च लिङ्गमङ्गाना संनिवेश पुरोदित। प्रसन्नवक्त्रता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यताम् ।१६१। =प्रसन्नचित्त रहना, धर्मसे प्रेम करना, शुभयोग रखना, उत्तम शास्त्रोंका अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और शास्त्राज्ञा तथा स्वकीय ज्ञानसे एक प्रकारकी विशेष रुचि (प्रतीति अथवा श्रद्धा) उत्पन्न होना, ये धर्मध्यानके बाह्य चिह्न हैं, और अनुप्रेक्षाएँ तथा पहले कही हुई अनेक प्रकारकी शुभ भावनाएँ उसके अन्तरंग चिह्न है।१५९-१६०। पहले कहा हुआ अगोंका सन्निवेश होना, अर्थात् पहले जिन पर्यंकादि आसनोंका वर्णन कर चुके है (दे० 'कृतिकर्म') उन आसनोंको धारण करना, मुखकी प्रसन्नता होना, और दृष्टिका सौम्य होना आदि सब भी धर्मध्यानके बाह्य चिह्न समझने चाहिए।

ज्ञा./४१/१५-१ में उद्धृत—अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्ध शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्। कान्ति प्रसाद स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्ते प्रथमं हि चिह्नम् ।१। =विषय लम्पटताका न होना, शरीर नीरोग होना, निष्ठुरताका न होना, शरीरमेंसे शुभ गन्ध आना, मलमूत्रका अल्प होना, शरीरकी कान्ति शक्तिहीन न होना, चित्तकी प्रसन्नता, शब्दोंका उच्चारण सौम्य होना—ये चिह्न योगकी प्रवृत्ति करनेवालेके अर्थात् ध्यान करनेवालेके प्रारम्भ दशामें होते है। (विशेष दे० ध्याता)।

३. धर्मध्यान योग्य सामग्री

द्र. स /टी /५७/२२९/३ में उद्धृत—'तथा चोक्त—'वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता। परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतव.। = सो ही कहा है कि—वैराग्य, तत्त्वोंका ज्ञान, परिग्रहत्याग, साम्यभाव और परीषहजय ये पाँच ध्यानके कारण हैं।

त अनु /७५, २१८ संगत्याग कषायाणा निग्रहो व्रतधारणम्। मनोऽक्षाणा जयश्चेति सामग्रीध्यानजन्मनि ।७५। ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्। गुरूपदेश श्रद्धान सदाभ्यास स्थिर मन ।२१८। =परिग्रह त्याग, कषायनिग्रह, व्रतधारण, इन्द्रिय व मनोविजय, ये सब ध्यानकी उत्पत्तिमें सहायभूत सामग्री है।७५। गुरूपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और मनकी स्थिरता, ये चार ध्यानकी सिद्धिके मुख्य कारण है। (ज्ञा /३/१५-२५)।

दे. ध्यान/३ (धर्मध्यानके योग्य उत्कृष्ट मध्यम व जघन्य द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप सामग्री विशेष)।

४. धर्मध्यानके भेद

१ आज्ञा, अपाय, विचय आदि ध्यान

त. सू./९/३६ आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।३६। =आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान, इनकी विचारणाके लिए मनको एकाग्र करना धर्म्यध्यान है। (भ. आ./मू./१७०८/१५३६), (मू. आ./३९८); (ज्ञा./३३/५), (ध.१३/५,४,२६/७०/१२), (म.पु./२१/१३४), (ज्ञा./३३/५), (त.अनु./९८); (द्र. स./टी./४८/२०२/३), (भा. पा./टी./११९/२६९/२४), (का.अ./टी./४८०/३६६/४)।

रा. वा./१/७/१४/४०/१६ धर्मध्यान दशविधम्।

चा. सा./१७२/४ स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकम्। तद्दशविध अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचयं, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय, हेतुविचयं चेति। =आध्यात्मिक धर्मध्यान दश प्रकारका है—अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय। (ह पु./५६।३८-५०), (भा. पा. टी. ११९/२७०/२)।

२. निश्चय व्यवहार या बाह्य व आध्यात्मिक आदि भेद

चा. सा./१७२/३ धर्म्यध्यान बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विप्रकारम्। =धर्म्यध्यान बाह्य और आध्यात्मिकके भेदसे दो प्रकारका है। (ह. पु./५६/३६)।

त. अनु./४७-४९,९६ मुख्योपचारभेदेन धर्म्यध्यानमिह द्विधा ।४७। ध्यानान्यपि त्रिधा ।४८। उत्तमम् जघन्य मध्यमम् ।४९। निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे। ।९६। =मुख्य और उपचारके भेदसे धर्म्यध्यान दो प्रकारका है।४७। अथवा उत्कृष्ट मध्यम व जघन्य के भेदसे तीन प्रकारका है।४९। अथवा निश्चय व व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है।९६।

५ आज्ञा विचय आदि ध्यानोंके लक्षण

१. अजीव विचय

ह पु./५६/४४ द्रव्याणामप्यजीवाना धर्माधर्मादिसंज्ञिनाम्। स्वभावचिन्तनं धर्म्यमजीवविचय मतम् ।४४। =धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्योंके स्वभावका चिन्तवन करना, सो अजीव विचय नामका धर्म्यध्यान है।४४।

२-३. अपाय व उपाय विचय

भ.आ./मू./१७१२/१५४४ कल्लाणपावगाण उपाये विचिणादि जिणमदमुवेच। विचिणादि व अवाए जीवाण सुभे य असुभे य ।१७१२। =जिनमतको प्राप्त कर कल्याण करनेवाले जो उपाय है उनका चिन्तवन करता है, अथवा जीवोंके जो शुभाशुभ भाव होते है, उनसे अपायका चिन्तवन करता है। (मू आ./४००), (ध १३/५,४,२६/गा.४०/७२)।

ध.१३/५,४,२६/गा ३९/७२ रागद्दोसकसायासवादिकिरियासु वट्टमाणाण। इहपरलोगावाए ज्झाएज्जो वज्जपरिवज्जी ।३९। =पापका त्याग करनेवाला साधु राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओंमें विद्यमान जीवोंके इहलोक और परलोकसे अपायका चिन्तवन करे।

स.सि./९/३६/४४९/११ जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टय सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखमोक्षार्थिन सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात् सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचय। अथवा—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्य कथ नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचय। =मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुषके समान सर्वज्ञ प्रणीत मार्गसे विमुख होते हे, उन्हें सन्मार्गका परिज्ञान न होनेसे वे मोक्षार्थी पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देते है, इस प्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तवन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। अथवा—ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे दूर होंगे इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान है। (रा.वा./९/३६/६-७/६३०/१६), (म.पु./२१/१४१-१४२); (भ आ /वि/१७०८/१५३६/१८), (त.सा./७/४१), (ज्ञा./३४/१-१७)।

ह. पु./५६/३९-४१ ससारहेतवः प्रायस्त्रियोगाना प्रवृत्तय। अपायो वर्जन तासां स मे स्यात्कथमित्यलम् ।३९। चिन्ताप्रबन्धसंबन्धः शुभलेश्यानुरञ्जित; । अपायविचयाख्यं तत्प्रथम धर्म्यमभीप्सितम् ।४०। उपायविचय तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया। उपाय स कथ मे स्यादिति सकल्पसंतति ।४१। =मन, वचन और काय इन तीन योगोंकी प्रवृत्ति ही, प्राय संसारका कारण है सो इन प्रवृत्तियोंका मेरे अपाय अर्थात् त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभलेश्यामे अनुरंजित जो चिन्ताका प्रबन्ध है वह अपायविचय नामका प्रथम धर्म्यध्यान माना गया है।३९-४०। पुण्य रूप योगप्रवृत्तियोंको अपने आधीन करना उपाय कहलाता है, वह उपाय मेरे किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकारके संकल्पोंकी जो सन्तति है वह उपाय विचय नामका दूसरा धर्म्यध्यान है।४१। (चा.सा./१७३/३), (भ.आ./वि/१७०८/१५३६/१७), (द्र.स./टी./४८/२०२/६)।

४. आज्ञाविचय

भ.आ./मू./१७११/१५४३ पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य। आणागज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि। =पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, काल, द्रव्य तथा इसी प्रकार आज्ञाग्राह्य अन्य जितने पदार्थ है, उनका यह आज्ञाविचय ध्यानके द्वारा चिन्तवन करता है। (मू.आ./३९९); (ध.१३/५,४,२६/गा.३८/७१) (म.पु./२१/१३५-१४०)।

ध.१३/५,४,२६/गा.३५-३७/७१ तत्थमइदुब्बलेण य। तव्विज्जाइरियविरहदो वा वि। णेयगहत्तणेण य णाणावरदिएणं च ।३५। हेदूदाहरणासंभवे य सरिसुट्ठुज्जाणवुज्झेज्जो। सव्वणुसयमवितत्थं तहाविह चितए मदिमं।३६। अणुवगहपराग्गहपरायणा ज जिणा जयप्पवरा। जियरायदोसमोहा ण अण्णहावाइणो तेण ।३७। = मतिकी दुर्बलता होनेसे, अध्यात्म विद्याके जानकार आचार्योंका विरह होनेसे, ज्ञेयकी गहनता होनेसे, ज्ञानको आवरण करनेवाले कर्मकी तीव्रता होनेसे, और हेतु तथा उदाहरण सम्भव न होनेसे, नदी और सुखोद्यान आदि चिन्तवन करने योग्य स्थानमें मतिमान् ध्याता 'सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है' ऐसा चिन्तवन करे।३५-३६। यत जगतमें श्रेष्ठ जिनभगवान्, जो उनको नहीं प्राप्त हुए ऐसे अन्य जीवोंका भी अनुग्रह करनेमें तत्पर रहते है, और उन्होने राग-द्वेष और मोहपर विजय प्राप्त कर ली है, इसलिए वे अन्यथा वादी नही हो सकते।३७।

स सि./९/३६/४४९/६ उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थाना हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेद 'नान्यथावादिनो जिना' इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचय। अथवा स्वय विदितपदार्थतत्त्वस्य सत पर प्रति पिपादयिषो स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपर स्मृतिसमन्वाहार सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते ।४४९। =उपदेष्टा आचार्योंका अभाव होनेसे, स्वय मन्दबुद्धि होनेसे, कर्मोका उदय होनेसे और पदार्थोंके सूक्ष्म होनेसे, तथा तत्त्वके समर्थनमें हेतु तथा दृष्टान्तका अभाव होनेसे, सर्वज्ञप्रणीत आगमको प्रमाण करके, 'यह इसी प्रकार है, क्योंकि जिन अन्यथावादी नही होते', इस प्रकार गहनपदार्थके श्रद्धान द्वारा अर्थका अवधारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। अथवा स्वय पदार्थोंके रहस्यको जानता है, और दूसरोंके प्रति उसका प्रतिपादन करना चाहता है, इसलिए स्वसिद्धान्तके अविरोध

द्वारा तत्त्वका समर्थन करनेके लिए, उसके जो तर्क नय और प्रमाण की योजनारूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रकाशित करनेवाला होनेसे आज्ञाविचय कहा जाता है। (रा.वा/६/३६/४-५/६३०/८); (ह पु./५६/४६); (चा.सा /२०१/५); (त.सा./७/४०); (ज्ञा /३३/६-२२), (द्र स./टी./४८/२०२/६)।

५. जीवविचय

ह.पु /५६/४२-४३ अनादिनिधना जीवा द्रव्यार्थादन्यथान्यथा। असंख्येयप्रदेशास्ते स्वोपयोगत्वलक्षणा' ।४२। अचेतनोपकरणा' स्वकृतोचितभोगिन'। इत्यादिचेतनाध्यानं यज्जीवविचय हि तत् ।=द्रव्यार्थिकनयसे जीव अनादि निधन है, और पर्यायार्थिक नयसे सादि-सनिधन हैं, असंख्यात प्रदेशी है, उपयोग लक्षणस्वरूप है, शरीर-रूप अचेतन उपकरणसे युक्त है, और अपने द्वारा किये गये कर्मके फलको भोगते है ··इत्यादि रूपसे जीवका जो ध्यान करना है वह जीवविचय नामका तीसरा धर्मध्यान है। (चा सा./१७३/५)

६. भवविचय

ह.पु./५६/४७ प्रेत्यभावो भवोऽमीषां चतुर्गतिषु देहिनाम्। दु खात्मेत्यादिचिन्ता तु भवादिविचय पुन ।४७। =चारो गतियोमें भ्रमण करनेवाले इन जीवोंको मरनेके बाद जो पर्याय होती है वह भव कहलाता है। यह भव दु खरूप है। इस प्रकार चिन्तवन करना सो भवविचय नामका सातवाँ धर्म्यध्यान है। (चा सा./१७६/१)

७. विपाकविचय्

भ. आ /मू /१७१३/१५४५ एयाणेयभवगद जीवाणं पुण्णपावकम्मफल। उदओदीरण सकमवन्धे मोक्खं च विचिणादि। =जीवोको जो एक और अनेक भवमें पुण्य और पापकर्मका फल प्राप्त होता है उसका तथा उदय, उदीरणा, सक्रम, बन्ध और मोक्षका चिन्तवन करता है। (मू.आ /४०१), (ध.१३/५,४,२६/गा.४२/७२); (स.सि /६/३६/-४५०/२), (रा वा /६/३६/८-६/६३०-६३२ में विस्तृत कथन), (भ आ / वि./१७०८/१५३६/२१), (म.पु /२१/१४३-१४७), (त सा./७/४२); (ज्ञा० /३५/१-३१); (द्र.स./टी /४८/२०२/१०)।

ह.पु /५६/४५ यच्चतुर्विधबन्धस्य कर्मणोऽष्टविधस्य तु विपाकचिंतन धर्म्यं विपाकविचय विदु. ।४५। =ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूप चार प्रकारके बन्धोके विपाकफलका विचार करना, सो विपाकविचय नामका पाँचवाँ धर्मध्यान है। (चा.सा /१७४/२)।

८, विराग विचय

ह.पु /५६/४६ शरीरमशुचिर्भोगा किंपाकफलपाकिन.। विरागबुद्धिरित्यादि विरागविचय स्मृतम् ।४६। =शरीर अपवित्र है और भोग किंपाकफलके समान तदात्व मनोहर है, इसलिए इनसे विरक्तबुद्धिका होना ही श्रेयस्कर है, इत्यादि चिन्तन करना विरागविचय नामका छठा धर्म्यध्यान है। (चा.सा./१७१/१)

९. सस्थान विचय

(देखो आगे पृथक् शीर्षक)

१० हेतु विचय

ह.पु./५६/५० तर्कानुसारिण' पुंस' स्याद्वादप्रक्रियाश्रयात्। सन्मार्गाश्रयणध्यान यद्धेतुविचयं हि तत् ।५०। =और तर्कका अनुसरण पुरुष स्याद्वादकी प्रक्रियाका आश्रय लेते हुए समीचीन मार्गका आश्रय करते हैं, इस प्रकार चिन्तवन करना सो हेतुविचय नामका दसवाँ धर्म्यध्यान है। (चा.सा /२०२/३)

६. संस्थानविचय धर्मध्यानका स्वरूप

ध १३/५,४,२६/गा. ४३-५०/७२/१३ तिण्णं लोगाणं संठाणपमाणाआउयादिचिंतणं संठाणविचय णाम चउत्थं धम्मज्झाण। एत्थ गाहाओ— जिणदेसियाइ लक्खणसंठाणासणविहाणमाणाइं। उप्पादट्ठिदिभगादिपज्जया जे य दव्वाण ।४३। पचत्थिकायमइयं लोयमणाइणिहणं जिणक्खाद। णामादिभेयविहियं तिविहमहोलोगभागादिं ।४४। खिदिवलयदीवसायरणयरविमाणभवणादिसंठाण। वोमादि पडिट्ठाण णियय लोगट्ठिदिविहाण ।४५। उवजोगलक्खणमणाइणिहणमत्थंतरं सरीरादो। जीवमरूविं कारिं भोइं स सयस्स कम्मस्स ।४६। तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायाल। वसणसयसावमीणं मोहावत्त महाभीम ।४७। णाणमयकण्णहार वरचारित्तमयमहापोयं। संसारसागरमणोरपारमसुह विचितेज्जो ।४८। सव्वणयसमूहमयं ज्झायज्जो समयसब्भावं ।४९। ज्झाणोवरमे वि मुणी णिच्चमणिच्चादि चितणापरमो। होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणे जिह व पुव्व ।५०।=१. तीन लोकोंके सस्थान, प्रमाण और आयु आदिका चिन्तवन करना सस्थान विचय नामका चौथा धर्म ध्यान है। (स.सि./६/३६/४५०/३) (रा.वा /६/३६/१०/६३२/६), (भ आ./वि / १७०८/१५३६/२३), (त.सा./७/४३),(ज्ञा'/३६/१८४.१८६),(द्र.स.टी./४८/२०३/२)। २ जिनदेवके द्वारा कहे गये छह द्रव्योके लक्षण, सस्थान, रहनेका स्थान, भेद, प्रमाण उनकी उत्पाद स्थिति और व्यय आदिरूप पर्यायोंका चिन्तवन करना ।४३। पचास्तिकायका चिन्तवन करना ।४४। (दे० पीछे जीव-अजीव विचयके लक्षण)। ३. अधोलोक आदि भागरूपसे तीन प्रकारके (अधो, मध्य व ऊर्ध्व) लोकका, तथा पृथिवी, वलय, द्वीप, सागर, नगर, विमान, भवन आदिके सस्थानों (आकारो) का एव उसका आकाशमें प्रतिष्ठान, नियत और लोक-स्थिति आदि भेदका चिन्तवन करे ।४४-४५। (भ आ /मू /१७१४/१५४५) (मू आ /४०२), (ह.पु /५६/४८०), (म.पु /२१/१४८-१५०), (ज्ञा / ३६/१-१०,८२-६०), (विशेष दे० लोक) ४. जीव उपयोग लक्षणवाला है, अनादिनिधन है, शरीरसे भिन्न है, अरूपी है, तथा अपने कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है ।४६। (म.पु /२१/१५१) (और दे० पीछे 'जीव विचय' का लक्षण) ५. उस जीवके कर्मसे उत्पन्न हुआ जन्म, मरण आदि यही जल है, कषाय यही पाताल है, सैकडो व्यसनरूपी छोटे मत्स्य है; मोहरूपी आवर्त है, और अत्यन्त भयकर है, ज्ञानरूपी कर्णधार है, उत्कृष्ट चारित्रमय महापोत है। ऐसे इस अशुभ और अनादि अनन्त (आध्यात्मिक) ससारका चिन्तवन करे ।४७-४८। (म.पु /२१/१५२-१५३) ६. बहुत कहनेसे क्या लाभ, यह जितना जीवादि पदार्थोंका विस्तार कहा है, उस सबसे युक्त और सर्वनय-समूहमय समयसद्भावका (द्वादशागमय सकल श्रुतका) ध्यान करे ।४६। (म पु./२१/१५४) ७ ऐसा ध्यान करके उसके अन्तमें मुनि निरन्तर अनित्यादि भावनाओंके चिन्तवनमें तत्पर होता है। जिससे वह पहलेकी भाँति धर्मध्यानमे सुभावितचित्त होता है ।५०। (भ, आ./मू १७१४/१५४५), (मू.आ /४०२), (चा.सा /१७७/१), (विराग विचयका लक्षणो) नोट—(अनुप्रेक्षाओके भेद व लक्षण—दे० अनुप्रेक्षा) ज्ञा /३६/ श्ल. न. ८ (नरकके दु खोका चिन्तवन करे) ।११-८१। (विशेष देखो नरक) (भव विचयका लक्षण) ६. (स्वर्गके सुख तथा देवेन्द्रोके वैभव आदिका चिन्तवन ।६०-१८२। (विशेष दे० स्वर्ग) १०. (सिद्धलोकका तथा सिद्धोंके स्वरूपका चिन्तवन करे ।१८३। ११. (अन्तमें कर्ममलसे रहित अपनी निर्मल आत्माका चिन्तवन करे) ।१८५।

७. संस्थान विचयके पिण्डस्थ आदि भेदोंका निर्देश

ज्ञा./३७/१ तथा भाषाकारकी उत्थानिका--पिण्डस्थ च पदस्थ च स्वरूपस्थं रूपवर्जितम्। चतुर्धा ध्यानमाम्नात भव्यराजीवभास्कर

होता है और दोनो श्रेणियोमे आदिके दो शुक्लध्यान होते हैं। (रा.वा./९/३७/२/६३३/३)।

ध.१३/५,४,२६/७४/१० असंजदसम्मादिट्ठि-संजदासजदपमत्तसंजद-अप्पमत्तसजद-अपुव्वसंजद-अणियट्टिसंजद-सुहुमसापराइयखवगोव - सामएसु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदि त्ति जिणोवएसादो। =३. असयतसम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसंयत, क्षपक व उपशामक अपूर्वकरणसयत, क्षपक व उपशामक अनिवृत्तिकरण-सयत, क्षपक व उपशामक सूक्ष्मसाम्परायसयत जीवोके धर्मध्यानकी प्रवृत्ति होती है; ऐसा जिनदेवका उपदेश है। (इससे जाना जाता है कि धर्मध्यान कषाय सहित जीवोके होता है और शुक्लध्यान उपशान्त या क्षीणकषाय जीवोके) (स सि /९/३७/४५३/४); (रा.वा/९/३७/२/६३२/३२)।

५. धर्मध्यानके स्वामित्व सम्बन्धी शंकाएँ

१. मिथ्यादृष्टियोंको भी तो धर्मध्यान देखा जाता है

रा.वा /हिं/९/३६/७४७ प्रश्न—मिथ्यादृष्टि अन्यमती तथा भद्रपरिणामी व्रत, शील, सयमादि तथा जीवनिकी दयाका अभिप्रायकरि तथा भगवान्की सामान्य भक्ति करि धर्मबुद्धितै चित्तकूं एकाग्रकरि चिन्तवन करे है, तिनिकै शुभ धर्मध्यान कहिये कि नाही? उत्तर—इहाँ मोक्षमार्गका प्रकरण है। तातै जिस ध्यान तै कर्मकी निर्जरा होय सो ही यहाँ गिणिये है। सो सम्यग्दृष्टि बिना कर्मको निर्जरा होय नाहीं। मिथ्यादृष्टिके शुभध्यान शुभबन्ध हीका कारण है। अनादि तै कई बार ऐसा ध्यानकरि शुभकर्म बान्धे है, परन्तु निर्जरा बिना मोक्षमार्ग नाही। तातै मिथ्यादृष्टिका ध्यान मोक्षमार्गमे सराह्य नाही। (र क श्रा /प सदासुखदास/पृ. ३१९)।

म पु /२१/१५५ का भाषाकारकृत भावार्थ—धर्मध्यानको धारण करनेके लिए कमसे कम सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए। मन्दकषायी मिथ्यादृष्टि जीवोके जो ध्यान होता है उसे शुभ भावना कहते है।

२. प्रमत्तजनोंको ध्यान कैसे सम्भव है

रा.वा./९/३६/१३/६३२/१७ कश्चिदाह—धर्म्यमप्रमत्तसयतस्यैवेति, तन्न; किं कारणम्। पूर्वेषा विनिवृत्तिप्रसङ्गात्। असंयतसम्यग्दृष्टिसंयता-सयत-प्रमत्तसयतानामपि धर्मध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात्। = प्रश्न—धर्मध्यान तो अप्रमत्तसयतोके ही होता है। उत्तर—नही, क्योकि, ऐसा माननेसे पहलेके गुणस्थानोमे धर्मध्यानका निषेध प्राप्त होता है। परन्तु सम्यक्त्वके प्रभावसे असयत सम्यग्दृष्टि, संयता-संयत और प्रमत्तसयतजनोमें भी धर्मध्यान होना इष्ट है।

३. कषाय रहित जीवोंमें ही ध्यान मानना चाहिए

रा.वा /९/३६/१४/६३२/२१ कश्चिदाह—उपशान्तक्षीणकषाययोश्च धर्म्यध्यान भवति न पूर्वेषामेवेति, तन्न, किं कारणम्। शुक्लाभाव-प्रसङ्गात्। उपशान्तक्षीणकषाययोर्हि शुक्लध्यानमिष्यते तस्याभाव. प्रसज्येत। =प्रश्न—उपशान्त व क्षीणकषाय इन दो गुणस्थानोमें धर्म्यध्यान होता, इसमे पहिले गुणस्थानोमे बिलकुल नही होता? उत्तर—नहीं, क्योकि, ऐसा माननेसे शुक्लध्यानके अभावका प्रसग प्राप्त होता है। उपशान्त व क्षीण कषायगुणस्थानमे शुक्लध्यान होना इष्ट है।

३ धर्मध्यान व अनुप्रेक्षादिमे अन्तर

१. ध्यान, अनुप्रेक्षा, भावना व चिन्तामें अन्तर

भ.आ /मू./१७१०/१५४३ (दे. धर्मध्यान/१/१/२)—धर्मध्यान आधेय है और अनुप्रेक्षा उसका आधार है। अर्थात् धर्मध्यान करते समय अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन किया जाता है। (भ.आ./मू /१७१४/१५४५)।

ध १३/५,४,२६/गा. १२/६४ जं थिरमज्झवसाणं तं ज्झाणं ज चलतयं चित्त। तं होइ भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिन्ता।१२। =जो परिणामोकी स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है, और जो चित्तका एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमे चलायमान होना है वह या तो भावना है, या अनुप्रेक्षा है या चिन्ता है।१२। (म. पु./२१/९)। (दे. शुक्ल-ध्यान/१/४)।

रा.वा./९/३६/१२/६३२/१४ स्यादेतत्–अनुप्रेक्षा अपि धर्मध्यानेऽन्तर्भ-वन्तीति पृथगासामुपदेशोऽनर्थक इति, तन्न; किं कारणम्। ज्ञान-प्रवृत्तिविकल्पत्वात्। अनित्यादिविषयचिन्तन यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षाव्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिन्तानिरोधस्तदा धर्म्यध्या-नम्। =प्रश्न—अनुप्रेक्षाओका भी ध्यानमें ही अन्तर्भाव हो जाता है, अत उनका पृथक् व्यपदेश करना निरर्थक है? उत्तर—नहीं, क्योकि, ध्यान व अनुप्रेक्षा ये दोनो ज्ञानप्रवृत्तिके विकल्प है। जब अनित्यादि विषयोमें बार-बार चिन्तनधारा चालू रहती है तब वे ज्ञानरूप है और जब उनमें एकाग्र चिन्तानिरोध होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है, तब वे ध्यान कहलाती है।

ज्ञा /२५/१९ एकाग्रचिन्तानिरोधो यस्तद्धयानभावनापरा। अनुप्रेक्षार्थ-चिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते।१९। =ज्ञानका एक ज्ञेयमें निश्चल ठहरना ध्यान है और उससे भिन्न भावना है, जिसे विज्ञजन अनुप्रेक्षा या अर्थचिन्ता भी कहते है।

भा.पा.टी./७८/२२९/१ एकस्मिन्निष्टे वस्तुनि निश्चला मतिर्ध्यानम्। आर्तरौद्रधर्मपेक्षया तु मतिश्चञ्चला अशुभा शुभा वा सा भावना कथ्यते, चित्तं चिन्तन अनेकनययुक्तानुप्रेक्षण ख्यापन श्रुतज्ञानपदा-लोचन वा कथ्यते न तु ध्यानम्। =किसी एक इष्ट वस्तुमें मतिका निश्चल होना ध्यान है। आर्त, रौद्र और धर्मध्यानकी अपेक्षा अर्थात् इन तीनो ध्यानोमें मति चंचल रहती है उसे वास्तवमें अशुभ या शुभ भावना कहना चाहिए। अनेक नययुक्त अर्थका पुन -पुन. चिन्तन करना अनुप्रेक्षा, ख्यापन श्रुतज्ञानके पदोकी आलोचना कहलाता है, ध्यान नहीं।

२. अथवा अनुप्रेक्षादिको अपायविचय धर्मध्यानमें गर्भित समझना चाहिए

म.पु./२१/१४२ तदपायप्रतिकारचिन्तोपायानुचिन्तनम्। अत्रैवान्तर्गत ध्येय अनुप्रेक्षादिलक्षणम्।१४२। =अथवा उन अपायो (दु खो) के दूर करनेकी चिन्तासे उन्हे दूर करनेवाले अनेक उपायोका चिन्तवन करना भी अपायविचय कहलाता है। बारह अनुप्रेक्षा तथा दशधर्म आदिका चिन्तवन करना इसी अपायविचय नामके धर्मध्यानमें शामिल समझना चाहिए।

३. ध्यान व कायोत्सर्गमें अन्तर

ध.१३/५,४,२७/८८/३ ट्ठियस्स णिसण्णस्स णिव्वण्णस्स वा साहुस्स कसाएहि सह देहपरिच्चागो काउसग्गो णाम। णेदं ज्झाणस्संतो णिवददि, बारहाणुवेक्खासु वावदचित्तस्स वि काओस्सग्गुववत्तीदो। एव तवोकम्म परूविदं। =स्थित या बैठे हुए कायोत्सर्ग करनेवाले साधुका कषायोके साथ शरीरका त्याग करना कायोत्सर्ग नामका तपः-कर्म है। इसका ध्यानमें अन्तर्भाव नही होता, क्योकि जिसका बारह अनुप्रेक्षाओके चिन्तवनमे चित्त लगा हुआ है, उसके भी कायोत्सर्गकी उत्पत्ति देखी जाती है। इस प्रकार तप·कर्मका कथन समाप्त हुआ।

५. माला जपना आदि ध्यान नहीं

रा वा./९/२७/२४/६२७/१० स्यान्मत मात्रकालपरिगणनं ध्यानमिति; तन्न, किं कारणम्। ध्यानातिक्रमात्। मात्राभिर्यदि कालगणनं क्रियते ध्यानमेव न स्याद्वैयग्र्यात्। =प्रश्न—समयमात्राओंका

गिनना ध्यान है? उत्तर—नही, क्योंकि, ऐसा माननेसे ध्यानके लक्षणका अतिक्रमण हो जाता है, क्योकि, इसमें एकाग्रता नही है। गिनती करनेमे व्यग्रता स्पष्ट ही है।

५. धर्मध्यान व शुक्लध्यानमें कथंचित् भेदाभेद

१. विषय व स्थिरता आदिकी अपेक्षा दोनों समान है

वा.अनु./६४ सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्क च होदि जीवस्स। तम्हा सवरहेदू झाणोत्ति विचितये णिच्चं।६४। =१. शुद्धोपयोगसे ही जीवको धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान होते है। इसलिए सवरका कारण ध्यान है, ऐसा निरन्तर विचारते रहना चाहिए। (दे० मोक्षमार्ग/२/४), (त.अनु /१८०)

ध.१३/५,४,२६/७४/१ जदि सव्वो समयसब्भावो धम्मज्झाणस्सेव विसओ होदि तो सुक्कज्झाणेण णिव्विसएण होदव्वमिदि? ण एस दोसो दोण्ण पि ज्झाणाणं विसय पडिभेदाभावादो। जदि एवं तो दोण्णं ज्झाणाणमेयत्त पसज्जदे। कुदो। ·खज्जंतो वि फाडिज्जतो वि ···कवलिज्जंतो वि· लालिज्जतओ वि जिस्से अवत्थाए ज्झेयादो ण चलदि सा जोवावत्था ज्झाण णाम। एसो वि त्थिरभावो उभयत्थ सरिसो, अण्णहाज्झाणभावाणुववत्तीदो त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे— सच्च एदेहि दोहि विसरूवेहि दोण्ण ज्झाणाणं भेदाभावादो। =प्रश्न—२ यदि समस्त समयसद्भाव (सस्थानविचय) धर्म्यध्यानका ही विषय है तो शुक्लध्यानका कोई विषय शेष नही रहता? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि दोनो ही ध्यानोमें विषयकी अपेक्षा कोई भेद नही है। (चा सा /२१०/३) प्रश्न—यदि ऐसा है तो दोनों ही ध्यानोमें अभेद प्राप्त होता है? क्योकि (व्याघ्रादि द्वारा) भक्षण किया गया भी, (करोतो द्वारा) फाडा गया भी, (दावानल द्वारा) ग्रसा गया भी, (अप्सराओ द्वारा) लालित किया गया भो, जो जिस अवस्थामें ध्येयसे चलायमान नहीं होता, वह जीवकी अवस्था ध्यान कहलाती है। इस प्रकारका यह भाव दोनो ध्यानोंमें समान है, अन्यथा ध्यानरूप परिणामकी उत्पत्ति नही हो सकती? उत्तर—यह बात सत्य है, कि इन दोनो प्रकारके स्वरूपोंकी अपेक्षा दोनो ही ध्यानोमें कोई भेद नही है।

म.पु /२१/१३१ साधारणमिद ध्येय ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयो। =विषयकी अपेक्षा तो अभीतक जिन ध्यान करने योग्य पदार्थोंका (दे० धर्मध्यान सामान्य व विशेषके लक्षण) वर्णन किया गया है, वे सब धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दोनो ही ध्यानोके साधारण ध्येय है। (त अनु./१८०)

२. स्वामी, स्थितिकाल, फल व विशुद्धिकी अपेक्षा भेद है

ध १३/५,४,२६/७५/८ तदो सकसायाकसायसामिभेदेण अचिरकालचिरकालावट्ठाणेण य दोण्ण ज्झाणाण सिद्धो भेओ।

ध.१३/५,४,२६/८०/१३ अट्ठावीसभेयभिण्णमोहणीयस्स सव्वुवसमावट्ठाणफल पुधत्तविदक्कवीचारसुक्कज्झाण। मोहसव्वुसमो पुण धम्मज्झाणफलं; सकसायत्तणेण धम्मज्झाणिणो सुहुमसापराइयस्स चरिमसमए मोहणीयस्स सव्वुवसमुवलंभादो। तिण्ण घादिकम्माण णिम्मूलविणासफलमेयत्तविदक्कअवीचारज्झाण। मोहणीय विणासो पुण धम्मज्झाणफल; सुहुसापरायचरिमसमए तस्स विणासुवलंभादो।=१. सकषाय और अकषायरूप स्वामीके भेदसे तथा—(चा सा /२१०/४)। २. अचिरकाल और चिरकाल तक अवस्थिति रहनेके कारण इन दोनो ध्यानोका भेद सिद्ध है। (चा सा /२१०/४)। ३. अट्ठाईस प्रकारके मोहनीय कर्मकी सर्वोपशमना हो जानेपर उसमें स्थित रखना पृथक्त्व-वितर्कवीचार नामक शुक्लध्यानका फल है, परन्तु मोहनीयका सर्वोपशमन करना धर्मध्यानका फल है। क्योकि, कषायसहित धर्मध्यानीके सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें मोहनीय कर्मकी सर्वोपशमना देखी जाती है। ४. तीन घातिकर्मोका समूलविनाश करना एकवितर्क अवीचार (शुक्ल) ध्यानका फल है, परन्तु मोहनीयका विनाश करना धर्मध्यानका फल है। क्योंकि, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें उसका विनाश देखा जाता है।

म पु /२१/१३१ विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यताम्। =५. इन दोनोमे स्वामी व विशुद्धिके भेदसे परस्पर विशेषता समझनी चाहिए। (त.अनु./१८०)

दे० धर्मध्यान/४/५/३ ६ धर्मध्यान शुक्लध्यानका कारण है।

दे० समयसार—धर्मध्यान कारण समयसार है और शुक्लध्यान कार्य समयसार है।

४. धर्मध्यानका फल पुण्य व मोक्ष तथा उनका समन्वय

१. धर्मध्यानका फल अतिशय पुण्य

ध १३/५,४,२६/५६/७७ होति सुहासव सवर णिज्जरामरसुहाइं विउलाइ। ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स। =उत्कृष्ट धर्मध्यानके शुभास्रव, सवर, निर्जरा, और देवोंका सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते है।

ज्ञा./४१/१६ अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गा। ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्या। =जो भव्य पुरुष इस पर्यायके अन्त समयमें समस्त परिग्रहोको छोडकर धर्मध्यानसे अपना शरीर छोडते है, वे पुरुष पुण्यके स्थानरूप ऐसे ग्रैवेयक व अनुत्तर विमानोंमे तथा सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते है।

२. धर्मध्यानका फल संवर निर्जरा व कर्मक्षय

ध. १३/५,४,२६/२६,५७/६८,७७ णवकम्माणादाणं, पोराणवि णिज्जरासुहादाण। चारित्तभावणाए ज्झाणमयत्तेण य समेइ।२६। जह वा घणसघाया खणेण पवणाहया विलिज्जति। ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जति।५७। =चारित्र भावनाके बलसे जो ध्यानमें लीन है, उसके नूतन कर्मोका ग्रहण नही होता, पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है और शुभ कर्मोका आस्रव होता है।२६। (ध/१३/५/४/२६/५६/७७–दे० ऊपरवाला शीर्षक) अथवा जैसे मेघपटल पवनसे ताडित होकर क्षणमात्रमें विलीन हो जाते है, वैसे ही (धर्म्य) ध्यानरूपी पवनसे उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते है।५७।

(दे० आगे धर्म्यध्यान/६/३ मे ति प.), (स्वभावसंसक्त मुनिका ध्यान निर्जराका हेतु है।)

(दे० पीछे/धर्म्यध्यान/३/५/२), (सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें कर्मोंकी सर्वोपशमना तथा मोहनीकर्मका क्षय धर्म्यध्यानका फल है।)

ज्ञा /२२/१२ ध्यानशुद्धि मन शुद्धि करोत्येव न केवलम्। विच्छिनत्त्यपि निःशङ्क कर्मजालानि देहिनाम्।१५।=मनकी शुद्धता केवल ध्यानकी शुद्धताको ही नही करती है, किन्तु जीवोके कर्मजालको भी निःसन्देह काटती है।

प.का /ता.वृ /१७३/२५३/२५ पर उद्धृत—एकाग्रचिन्तन ध्यान फल सवरनिर्जरे। =एकाग्र चिन्तवन करना तो (धर्म्य) ध्यान है और सवर निर्जरा उसका फल है।

३. धर्म्यध्यानका फल मोक्ष

त सू./९/२९ परे मोक्षहेतू ।२९। =अन्तके दो ध्यान (धर्म्य व शुक्ल-ध्यान) मोक्षके हेतु है।

चा. सा./१७२/२ ससारलतामूलोच्छेदनहेतुभूतं प्रशस्तध्यान । तद्द्वि-विधं, धर्म्यं शुक्लं चेति । =ससारलताके मूलोच्छेदका हेतुभूत प्रशस्त ध्यान है। वह दो प्रकारका है—धर्म्य व शुक्ल।

४. एक धर्मध्यानसे मोहनीयके उपशम व क्षय दोनों होनेका समन्वय

ध. १३/५.४,२६/८१/३ मोहणीयस्स उवसमो जदि धम्मज्झाणफलो तो ण क्खदो, एयादो दोण्णं कज्जाणमुप्पत्तिविरोहादो । ण धम्मज्झा-णादो अणेयभेयभिण्णादो अणेयकज्जाणमुप्पत्तीए विरोहाभावादो । = प्रश्न—मोहनीय कर्मका उपशम करना यदि धर्म्यध्यानका फल हो तो इसीसे मोहनीयकाक्ष य नही हो सकता । क्योकि एक कारणसे दो कार्योको उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है ? उत्तर=नहीं, क्योकि धर्म्यध्यानअनेक प्रकारका है। इसलिए उससे अनेक प्रकारके कार्योंकी उत्पत्ति माननेमें कोई विरोध नही आता।

५. धर्म्यध्यानसे पुण्यास्रव व मोक्ष दोनों होनेका समन्वय

१. साक्षात् नहीं परम्परा मोक्षका कारण है

ज्ञा./३/३२ शुभध्यानफलोद्भूता श्रिय त्रिदशम्भवाम् । निर्विशन्ति नरा नाके क्रमायान्ति पर पदम् ।३२। =मनुष्य शुभध्यानके फलसे उत्पन्न हुई स्वर्गकी लक्ष्मीको स्वर्गमें भोगते है और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होते है। (और भी दे० आगे धर्म्यध्यान/५/२)।

२. अचरम शरीरियोंको स्वर्ग और चरम शरीरियोंको मोक्षप्रदायक है

ध. १३/५,४,२६/७७/१ किंफलमेदं धम्मज्झाण । अक्खवएसु विउला-मरसुहफल गुणसेडीए कम्मणिज्जरा फल च । खवएसु पुण असंखेज्ज-गुणसेडीए कम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभागविहाण-फल च । अतएव धर्म्यादनपेत धर्म्यध्यानमिति सिद्धम् । =प्रश्न—इस धर्म्यध्यानका क्या फल है ? उत्तर—अक्षपक जीवोंको (या अच-रम शरीरियोको) देवपर्याय सम्बन्धी विपुलसुख मिलना उसका फल है, और गुणश्रेणीमें कर्मोंकी निर्जरा होना भी उसका फल है। तथा क्षपक जीवोके तो असख्यात गुणश्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोकी निर्जरा होना और शुभकर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागका होना उसका फल है। अतएव जो धर्मसे अनपेत है व धर्मध्यान है यह बात सिद्ध होती है।

त. अनु./१९७, २२४ ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये । तद्ध्या-नोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ।१९७। ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुटयन्मोहस्य योगिन । चरमाङ्गस्य मुक्ति' स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ।२२४। =अर्हद्रूप अथवा सिद्धरूपसे ध्यान किया गया (यह आत्मा) चरमशरीरी ध्याताके मुक्तिका और उससे भिन्न अन्य ध्याताके भुक्ति (भोग) का कारण बनता है, जिसने उस ध्यानसे विशिष्ट पुण्यका उपार्जन किया है।१९७। ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोह-को नाश करनेवाले चरमशरीरी योगीके तो उस भवमें मुक्ति होती है और जो चरम शरीरी नही है उनके क्रमसे मुक्ति होती है।२२४।

३. क्योंकि मोक्षका साक्षात् हेतुभूत शुक्लध्यान धर्म्यध्यान पूर्वक ही होता है।

ज्ञा./४२/३ अथ धर्म्यमतिक्रान्त शुद्धि चात्यन्तिकी श्रित' । ध्यातुमार-भते वीर' शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ।३। = इस धर्म्यध्यानके अनन्तर धर्म्यध्यानसे अतिक्रान्त होकर अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हुआ धीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यानके ध्यावनेका प्रारम्भ करता है। विशेष दे० धर्मध्यान/६/६ । (पं० का/१५०) —(दे० 'समयसार')— धर्मध्यान कारण समयसार है और शुक्लध्यान कार्यसमयसार।

६. परपदार्थोके चिन्तवनसे कर्मक्षय कैसे सम्भव है

ध १३/५,४,२६/७०/४ कध ते णिग्गुणा कम्मक्खयकारिणो । ण तेसिं रागादिणिरोहे णिमित्तकारणाणं तदविरोहादो । =प्रश्न—जब कि नौ पदार्थ निर्गुण होते है, अर्थात अतिशय रहित होते है, ऐसी हालतमें वे कर्मक्षयके कर्ता कैसे हो सकते है ? उत्तर—नही, क्योकि वे रागादि-के निरोध करनेमें निमित्तकारण है, इसलिए उन्हे कर्मक्षयका निमित्त माननेमें विरोध नहीं आता। (अर्थात् उन जीवादि नौ पदार्थोके स्वभावका चिन्तवन करनेसे साम्यभाव जागृत होता है।)

५. पंचमकालमे भी धर्मध्यानकी सफलता

१. यदि ध्यानसे मोक्ष होता है तो अब क्यों नहीं होता

प. प्र./टी /१/९७/९२/४ यद्यन्तर्मुहूर्तपरमात्मध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानी अस्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणाना कि न भवति । परिहारमाह—यादृश तेषा प्रथमसहननसहिताना शुक्लध्यान भवति तादृशमिदानी नास्तीति । =प्रश्न—यदि अन्तर्मुहूर्तमात्र परमात्मध्यानसे मोक्ष होता है तो ध्यान करनेवाले भी हमें आज वह क्यो नही होता ? उत्तर—जिस प्रकारका शुक्लध्यान प्रथम सहननवाले जीवोको होता है वैसा अब नही होता।

२. यदि इस कालमें मोक्ष नहीं तो ध्यान करनेसे क्या प्रयोजन

द्र• सं /टी /५७/२३३/११ अथ मतं—मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते, न चाद्यकाले मोक्षोऽस्ति, ध्यानेन कि प्रयोजनम् । नैव अद्यकालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति । कथमिति चेत्, स्वशुद्धात्मभावनाबलेन ससारस्थिर्ति स्तोकं कृत्वा देवलोक गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रय-भावना लब्ध्वा शीघ्र मोक्ष गच्छतीति । येऽपि भरतसगररामपाण्ड-वादयो मोक्ष गतास्तेऽपि पूर्वभवेऽभेदरत्नत्रयभावनया ससारस्थिर्ति स्तोक कृत्वा पश्चान्मोक्षं गता । तद्भवे सर्वेषा मोक्षो भवतीति नियमो नास्ति । =प्रश्न—मोक्षके लिए ध्यान किया जाता है, और मोक्ष इस पंचमकालमें होता नही है, इस कारण ध्यानके करनेसे क्या प्रयोजन ? उत्तर—इस पचमकालमें भी परम्परासे मोक्ष है। प्रश्न—सो कैसे है ? उत्तर—ध्यानी पुरुष निज शुद्धात्माकी भावनाके बलसे ससारकी स्थितिको अल्प करके स्वर्गमे जाता है। वहाँसे मनुष्यभवमें आकर रत्नत्रयकी भावनाको प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्षको चला जाता है। जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती, रामचन्द्र तथा पाण्डव युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम आदि मोक्षको गये है, उन्होंने भी पूर्वभवमें अभेद-रत्नत्रयकी भावनासे अपने ससारको स्थितिको घटा लिया था। इस कारण उसी भवमें मोक्ष गये। उसी भवमें सबको मोक्ष हो जाता हो, ऐसा नियम नही है। (और भी देखो/७/१२)।

३. पंचमकालमें अध्यात्मध्यानका कथंचित् सद्भाव व असद्भाव

न, च, वृ /३४३ मज्झिमजहणुक्कस्सा सराय इव वीयरायसामग्गी । तम्हा सुद्धचरित्ता पचमकाले वि देसदो अत्थि ।३४३। = सरागकी भाँति वीतरागताकी सामग्री जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट होती है। इसलिए पंचमकालमें भी शुद्धचरित्र कहा गया है। (और भी दे० अनु-भव/४/२)।

नि सा./ता वृ./१५४/क २६४ असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले, न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननयजिननाथस्य भवति । अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवन्निर्मलधियां, निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ।।२६४। =असार ससारमें, पापसे भरपूर कलिकालका विलास होनेपर, इस निर्दोष जिननाथके मार्गमे मुक्ति नही है । इसलिए इस कालमें अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है ? इसलिए निर्मल बुद्धिवाले भव-भयका नाश करनेवाली ऐसी इस निजात्मश्रद्धाको अंगीकृत करते है ।

४. परन्तु इस कालमें ध्यानका सर्वथा अभाव नही है

मो. पा /मू./७६ भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स । तं अप्पसहावट्ठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।७६। =इस भरतक्षेत्रमें दुःषमकाल अर्थात् पचमकालमें भी आत्मस्वभावस्थित साधुको धर्मध्यान होता है । जो ऐसा नहीं मानता वह अज्ञानी है । (र. सा./६०); (त. अनु./८२) ।

ज्ञा./४/३७ दुःषमत्वादय काल' कार्यसिद्धेर्न साधकम् । इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते ।३७। =कोई-कोई साधु ऐसा कहकर अपने तथा परके ध्यानका निषेध करते है कि इस दुःषमा पंचमकालमे ध्यानकी योग्यता किसीके भी नही है । (उन अज्ञानियोंके ध्यानकी सिद्धि कैसे हो सकती है ?) ।

५. पचमकालमें शुक्लध्यान नहीं पर धर्मध्यान अवश्य सम्भव है

त अनु./८३ अत्रेदानी निषेधन्ति शुक्लध्यान जिनोत्तमा' । धर्मध्यानं पुन' प्राहु' श्रेणिभ्या प्राग्विवर्तिनाम् ।८३। =यहाँ (भरत क्षेत्रमें) इस (पंचम) कालमें जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यानका निषेध करते है परन्तु श्रेणीसे पूर्ववर्तियोके धर्मध्यान बतलाते है । (द्र. स /टी./५७/२३१/११) (पं. का /ता. वृ./१४६/२११/१७) ।

६. निश्चय व्यवहार धर्मध्यान निर्देश

१. निश्चय धर्मध्यानका लक्षण

मो. पा /मू /८४ पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदसणसमग्गा । जो ज्झायदि,सो जोई,पावहरो भवदि णिद्द दो,।८४। =जो योगी शुद्धज्ञान-दर्शन समग्र पुरुषाकार आत्माको ध्याता है वह निर्द्वन्द्व तथा पापोका विनाश करनेवाला होता है ।

द्र स./मू /५५-५६ जं किंचिवि चितंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू । लद्धूण य एयत्त तदाहु त णिच्छय भाणं ।५५। मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो । अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव पर हवे भाण ।५६। =ध्येयमें एकाग्र चित्त होकर जिस-किसी भी पदार्थका ध्यान करता हुआ साधु जब निस्पृह वृत्ति होता है उस समय वह उसका ध्यान निश्चय होता है ।५५। हे भव्य पुरुषो ! तुम कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो, अर्थात् काय, वचन व मन तीनोकी प्रवृत्तिको रोको, जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आत्मामें स्थिर होवे । आत्मामें लीन होना परमध्यान है ।५६।

का अ /मू /४८२ वज्जिय-सयल-वियप्पो अप्पसरूवे मण णिरुंधंतो । ज चिंतदि साणदे त धम्म उत्तम ज्झाण ।४८२। =सकल विकल्पोको छोडकर और आत्मस्वरूपमें मनको रोककर आनन्दसहित जो चिन्तन होता है वही उत्तम धर्मध्यान है ।

त अनु./श्लो.न./ भावार्थ—निश्चयादधुना स्वात्मालम्बन तन्निरुच्यते ।१४१। पूर्व श्रुतेन सस्कार स्वात्मन्यारोपयेत्तत । तत्रैकाग्र्य समासाद्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ।१४४। =अत्र निश्चयनयसे स्वात्मलम्बन स्वरूप-ध्यानका निरूपण करते है ।१४१। श्रुतके द्वारा आत्मामें आत्मसंस्कारको आरोपित करके, तथा उसमे ही एकाग्रताको प्राप्त होकर अन्य कुछ भी चिन्तवन न करे ।१४४। शरीर और मै अन्य-अन्य है ।१४६। मै सदा सत्, चित, ज्ञाता, द्रष्टा, उदासीन, देह परिमाण व आकाशवत अमूर्तिक हूँ ।१५३। दृष्ट जगत् न इष्ट है न द्विष्ट किन्तु उपेक्ष्य है ।१५७। इस प्रकार अपने आत्माको अन्य शरीरादिकसे भिन्न करके अन्य कुछ भी चिन्तवन न करे ।१५९। यह चिन्ताभाव तुच्छाभाव रूप नही है, बल्कि समतारूप आत्माके स्वसंवेदनरूप है ।१६०। (ज्ञा./३१/२०-३७) ।

द्र.टी./४८/२०४/११ में अनन्त ज्ञानादिका धारक तथा अनन्त सुखरूप हूँ, इत्यादि भावना अन्तरग धर्मध्यान है। (पं.का./ता वृ /१५०-१५१/२१८/१) ।

२. व्यवहार धर्मध्यानका लक्षण

त अनु /१४१ व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्त पराश्रयम् । =इस प्रकार व्यवहार नयसे पराश्रित धर्मध्यानका लक्षण कहा है । (अर्थात् धर्म-ध्यान सामान्य व उसके आज्ञा अपाय विचय आदि भेद सब व्यवहार ध्यानमें गर्भित है ।)

३. निश्चय ही ध्यान सार्थक है व्यवहार नहीं

प्र.सा./१९३-१९४ देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाघसत्तुमित्तजणा । जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगअप्पगो अप्पा ।१९३। जो एव जाणित्ताज्झादि परं अप्पग विसुद्धप्पा । साकारोऽनाकार. क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ।१९४। =शरीर, धन, सुख, दु'ख अथवा शत्रु, मित्र-जन ये सब ही जीवके कुछ नहीं है, ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है ।१९३। जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्माका ध्यान करता है, वह साकार हो या अनाकार, मोहदुर्ग्रन्थिका क्षय करता है ।

ति.प./९/२१,४० दंसणणाणसमग्ग ज्झाणं णो अण्णदव्वससत्तं । जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साहुस्स ।२१। ज्झाणे जदि णियआदा णाणादो णावभासदे जस्स । ज्झाणं होदि ण तं पुण जाण पमादो, हु मोहमुच्छा वा ।४०। =शुद्ध स्वभावसे सहित साधुका दर्शन-ज्ञानसे परिपूर्ण ध्यान निर्जराका कारण होता है, अन्य द्रव्योसे संसक्त वह निर्जराका कारण नही होता ।२१। जिस जीवके ध्यानमें यदि ज्ञानसे निज आत्माका प्रतिभास नही होता है तो वह ध्यान नही है । उसे प्रमाद, मोह अथवा मूर्च्छा ही जानना चाहिए ।४०। (त.अनु./१६९)

आराधनासार/८३ यावद्विकल्प कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य । तावन्न शून्यं ध्यानं, चिन्ता वा भावनाथवा ।८३। =जब तक ध्यानयुक्त योगीको किसी प्रकारका भी विकल्प उत्पन्न होता रहता है, तब तक उसे शून्य ध्यान नहीं है, या तो चिन्ता है या भावना है । (और भी दे० धर्म्यध्यान/३/१)

ज्ञा./२८/१९ अविक्षिप्त यदा चेत' स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् । मनस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता ।१९। =जिस समय मुनिका चित्त क्षोभरहित हो आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है, उस काल ही ध्यानकी सिद्धि निर्विघ्न होती है ।

प्र.सा./त.प्र./१९४ अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्ते' शुद्धात्मत्व स्यात् । ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसचेतनलक्षणं ध्यान स्यात् । =इस यथोक्त विधिके द्वारा जो शुद्धात्माको ध्रुव जानता है, उसे उसीमें प्रवृत्तिके द्वारा शुद्धात्मत्व होता है, इसलिए अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्माका एकाग्रसचेतन लक्षण ध्यान होता है (प्र सा /त.प्र./१९६), (नि.सा /ता वृ /११९)

प्र.सा./त.प्र./२४३ यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्यं ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति। ···तथाभूतश्च बध्यत एव न तु मुच्यते। =जो वास्तवमें ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्रको नही भाता, वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय करता है और ऐसा होता हुआ बन्धको ही प्राप्त होता है, परन्तु मुक्त नही होता।

नि.सा./ता.वृ./१४४, यः खलु व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारणं स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तरूपं निश्चयधर्मध्यानं शुक्लध्यानं च न जानीते, अतः परद्रव्यगतत्वादन्यवश इत्युक्तः। =जो वास्तवमे व्यावहारिक धर्मध्यानमें परिणत रहता है, इसलिए चरणकरणप्रधान है; किन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्षके कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यककर्मको, निश्चयसे परमात्मतत्त्वमें विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यानको तथा शुक्लध्यानको नही जानता; इसलिए परद्रव्यमें परिणत होनेसे उसे अन्यवश कहा गया है।

४. व्यवहार ध्यान कथंचित् अज्ञान है

स.सा./आ./१९१ एतेन कर्मबन्धविषयचिन्ताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानान्धबुद्धयो बोध्यन्ते। =इस कथनसे कर्मबन्धमें चिन्ताप्रबन्धस्वरूप विशुद्ध धर्मध्यानसे जिनकी बुद्धि अन्धी है, उनको समझाया है।

५. व्यवहार ध्यान निश्चयका साधन है

द्र.सं./टी./४९/२०६/४ निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानम्। =निश्चयध्यानका परम्परासे कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षण व्यवहारध्यान है। (द्र.सं./टी./५३/२२१/२)

६. निश्चय व व्यवहार ध्यानमें साध्यसाधकपनेका समन्वय

ध. १३/५,४,२६/२२/६७ विसमं हि समारोहइ दव्वालंबणो जहा पुरिसो। सुत्तादिकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ।२२। =जिस प्रकार कोई पुरुष नसैनी (सीढी) आदि द्रव्यके आलम्बनसे विषम-भूमिपर भी आरोहण करता है, उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदिके आलम्बनसे उत्तम ध्यानको प्राप्त होता है। (भ.आ./वि./१८७७/१६८१/१२)

ज्ञा./३३/२,४ अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम्। योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ।२। अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत्। सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ।४। =आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानकर, अपनेमें जोडता हुआ भी अविद्याकी वासनासे विवश है आत्मा जिनका, उनका चित्त स्थिरताको नही धारण करता है ।२। तब लक्ष्यके सम्बन्धसे अलक्ष्यको अर्थात् इन्द्रियगोचरके सम्बन्धसे इन्द्रियातीत पदार्थोंको तथा स्थूलके आलम्बनसे सूक्ष्मको चिन्तवन करता है। इस प्रकार सालम्ब ध्यानसे निरालम्बके साथ तन्मय हो जाता है ।४। (और भी दे० चारित्र/७/१०)

प.का./ता.वृ./१५२/२२०/६ अयमत्र भावार्थ —प्राथमिकानां चित्तस्थिरीकरणार्थं विषयाभिलापरूपध्यानवञ्चनार्थं च परम्परया मुक्तिकारणं पञ्चपरमेष्ठ्यादिपरद्रव्यं ध्येयं भवति, दृढतरध्यानाभ्यासेन चित्ते स्थिरे जाते सति निजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयं। · इति परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकभावं ज्ञात्वा ध्येयविषये विवादो न कर्तव्यः। =प्राथमिक जनोंको चित्त स्थिर करनेके लिए तथा विषयाभिलापरूप दुर्ध्यानसे बचनेके लिए परम्परा मुक्तिके कारणभूत पंच परमेष्ठी आदि परद्रव्य ध्येय होते हैं। तथा दृढतर ध्यानके अभ्यास द्वारा चित्तके स्थिर हो जानेपर निजशुद्ध आत्मस्वरूप ही ध्येय होता है। ऐसा भावार्थ है। इस प्रकार परस्पर सापेक्ष निश्चय व्यवहारनयोंके द्वारा साध्यसाधक भावको जानकर ध्येयके विषयमें विवाद नही करना चाहिए। (द्र.सं./टी./५५/२२३/१२), (प.प्र./टी./२/३३/१५४/२)

प.का./ता.वृ./१५०/२१७/१४ यदायं जीवः···सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादिरूपेण पराश्रितधर्म्यध्यानबहिरङ्गसहकारित्वेनानन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावनास्वरूपमात्माश्रितं धर्म्यध्यानं प्राप्य आगमकथितक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टयमध्ये क्वापि गुणस्थाने दर्शनमोहक्षयेणक्षायिकं सम्यक्त्वं कृत्वा तदनन्तरमपूर्वकरणादिगुणस्थानेषु प्रकृतिपुरुषनिर्मलविवेकज्योतिरूपप्रथमशुक्लध्यानमनुभूय· ·मोहक्षपणं कृत्वा भावमोक्षं प्राप्नोति। = अनादिकालसे अशुद्ध हुआ यह जीव सरागसम्यग्दृष्टि होकर पंचपरमेष्ठी आदिकी भक्ति आदि रूपसे पराश्रित धर्म्यध्यानके बहिरंग सहकारीपनेसे 'मैं अनन्त ज्ञानादि स्वरूप हूँ' ऐसे आत्माश्रित धर्मध्यानको प्राप्त होता है, तत्पश्चात् आगम कथित क्रमसे असंयत सम्यग्दृष्टि आदि अप्रमत्तसंयत पर्यन्तके चार गुणस्थानोमेसे किसी एक गुणस्थानमें दर्शनमोहका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। तदनन्तर अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोमें प्रकृति व पुरुष (कर्म व जीव) सम्बन्धी निर्मल विवेक ज्योतिरूप प्रथम शुक्लध्यानका अनुभव करनेके द्वारा वीतराग चारित्रको प्राप्त करके मोहका क्षय करता है, और अन्तमें भावमोक्ष प्राप्त कर लेता है।

७. निश्चय व व्यवहार ध्यानमें निश्चय शब्दकी आंशिक प्रवृत्ति

द्र.सं./टी./५५-५६/२२४/६ निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्य। निष्पन्नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्य.। विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थः ।५५। 'मा चिट्ठह ··' इदमेवात्मसुखरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टध्यानं भवति। = 'निश्चय' शब्दसे अभ्यास करनेवाले पुरुषकी अपेक्षासे व्यवहार रत्नत्रयके अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिए और जिसके ध्यान सिद्ध हो गया है उस पुरुषकी अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षित एकदेशशुद्ध निश्चय ग्रहण करना चाहिए। विशेष निश्चय आगेके सूत्रमें कहा है, कि मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको रोककर आत्माके सुखरूपमें तन्मय हो जाना निश्चयसे परम उत्कृष्ट ध्यान है। (विशेष दे० अनुभव/५/७)

८. निरीहभावसे किया गया सभी उपयोग एक आत्म उपयोग ही है

पं.ध./उ./८६१-८६५ अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः। आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ।८६१। निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च। तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ।८६२। स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि। परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ।८६३। स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोऽपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः। उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ।८६४। तस्मात् स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया। मासीदसि महाप्राज्ञ' सार्थमर्थमवैहि भो ।८६५। = निजमहिमासे ही ज्ञान प्रदीपवत् स्व, पर व उभयका युगपत् अवभासक है ।८६१। वह किसी प्रकारका भी भेदभाव न करके अपनी तरह ही अपने विषयभूत मूर्त व अमूर्त धर्म अधर्मादि द्रव्योंको भी

जानता है ।८६२। अत: केवलनिजात्मोपयोगी अथवा परपदार्थोपयोगी ही न होकर निश्चयसे वह उभयविषयोपयोगी है ।८६३। उस सम्यग्दृष्टिको स्वमें उपयुक्त होनेसे कुछ उत्कर्ष (विशेष सवर निर्जरा) और परमें उपयुक्त होनेसे कुछ अपकर्ष (बन्ध) होता हो, ऐसा नही है ।८६४। इसलिए परपदार्थोंके साथ अभिन्नता देखकर तुम दु:खी मत होओ । प्रयोजनभूत अर्थको समझो । और भी दे. ध्यान/४/५ (अर्हंतका ध्यान वास्तवमें तद्गुणपूर्ण आत्माका ध्यान ही है) ।

धर्मनाथ—(म. पु /६१/श्लोक)—पूर्वभव नं० २ में पूर्व धातकीखण्डके पूर्वविदेहके वत्सदेशकी सुसीमा नगरीके राजा दशरथ थे । (२-३) । पूर्वभव न० १ में सर्वार्थ सिद्धिमे देव थे । (६) । वर्तमानभवमें १५ वें तीर्थंकर हुए ।१३-५५। (विशेष दे० तीर्थंकर/५) ।

धर्मपत्नी—दे० स्त्री ।

धर्मपरीक्षा—१ आ. अमितगति (ई० ९९३-१०२१) द्वारा रचित सस्कृत श्लोकबद्ध ग्रन्थ है । इसमें एक रोचक कथाके रूपमें वैदिक पुराणोको कुछ असंगत बातोका उपहास किया गया है । २ कवि वृत्तिविलास (ई० श० १२ का पूर्वार्ध) द्वारा कन्नड भाषामें रचित ग्रन्थ ।

धर्मपाल—नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य एक बौद्ध नैयायिक थे । समय—ई० ६००-६४५ । (सि वि./प्र २५/पं. महेन्द्र) ।

धर्मभूषण—१ इनके आदेशसे ही ब्र० केशव वर्णीने गोमट्टसारपर कर्णाटक भाषामें वृत्ति लिखी थी । **समय**—वि० १४१६ (ई० १३५९) । २ आप नन्दिसघके आचार्य थे । आपने १ न्याय दीपिका व २. प्रमाण विस्तार नामक ग्रन्थ रचे है । **समय**—सतीशचन्द विद्याभूषणके अनुसार ई० १६०० है, परन्तु पं० महेन्द्रकुमारके अनुसार ई० श० १४ है । (न. दी /प्र. ५० नाथूराम), (सि. वि /प्र ४३/प. महेन्द्र) ।

धर्ममूढ़ता—दे० मूढता ।

धर्मरत्नाकर—आ० जयसेन (ई० ९९८) कृत श्रावकाचार निरूपक एक संस्कृत श्लोकबद्ध ग्रन्थ ।

धर्म विलास—प० द्यानत राय (ई० १७३३) द्वारा रचित एक पदसग्रह ।

धर्मशर्माभ्युदय—कवि हरिचन्द (ई० १०७५-११७५) द्वारा रचित एक सस्कृत काव्य है । इसमें श्रीधर्मनाथ तीर्थंकरके जीवनका सरस वर्णन है । इसमें २१ सर्ग और कुल १७५४ श्लोक है ।

धर्मसंग्रह—आ० देवसेन (ई० ८९३-९४३) द्वारा सस्कृत व प्राकृत दोनो भाषाओमें रचित ग्रन्थ ।

धर्मसूरि—महेन्द्रसूरिके शिष्य थे । हिन्दी भाषामें 'जम्बूस्वामी' सरना' नामक ग्रन्थकी रचना की । समय—वि० १२६६ (ई० १२०९) । (हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास/पृ ५५ । कामताप्रसाद) ।

धर्मसेन—१. श्रुतावतारके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथमके पश्चात् ११ वे एकादशाग पूर्वधारी थे । **समय**—वी० नि० ३२६-३४५ (ई०पू० २९८-१८२)—दे० इतिहास/४/१ । २ श्रवणबेलगोलाके शिलालेख न० ७ के अनुसार आप श्रीबालचन्द्रके गुरु थे । **समय**—वि, ७३२ (ई, ६७५) (भ आ /प्र, १९/प्रेमीजी) । ३ लाडबागड सघकी गुर्वावलीके अनुसार आप श्रीशान्तिसेनके गुरु थे । **समय**—वि ९५५ (ई. ८९८)—दे० इतिहास/५/२५ ।

धर्मसेन—(वराग चरित/सर्ग/श्लोक) । उत्तमपुरके भोजवशीय राजा थे । (१/४९) । वरागकुमारके पिता थे । (२/२) । वरागको युवराजपद दे दिया तब दूसरे पुत्रने छलपूर्वक वरागको वहाँसे गायब कर दिया । इसपर आप बहुत दु खी हुए । (२०/७) ।

धर्माकरदत्त—अर्चट कविका अपर नाम ।

धर्मानुकंपा—दे० अनुकम्पा ।

धर्मानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा ।

धर्माधर्म—लोकमें छह द्रव्य स्वीकार किये गये है (दे० द्रव्य)। तहाँ धर्म व अधर्म नामके दो द्रव्य है । दोनो लोकाकाशप्रमाण व्यापक असंख्यात प्रदेशी अमूर्त द्रव्य है । ये जीव व पुद्गलके गमन व स्थितिमे उदासीन रूपसे सहकारी है, यही कारण है कि जीव व पुद्गल स्वय समर्थ होते हुए भी इनकी सीमासे बाहर नही जाते, जैसे मछली स्वयं चलनेमें समर्थ होते हुए भी जलसे बाहर नही जा सकती । इस प्रकार इन दोनोंके द्वारा ही एक अखण्ड आकाश लोक व अलोक रूप दो विभाग उत्पन्न हो गये है ।

१. धर्माधर्म द्रव्योका लोक व्यापक रूप

१. दोनों अमूर्तीक अजीव द्रव्य है

त सू./५/१,२,४ अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला ।१। द्रव्याणि ।२। नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।४। =धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चारो अजीवकाय हैं ।१। चारो ही द्रव्य है ।२। और नित्य अवस्थित व अरूपी है ।४। (नि.सा /मू /३७), (गो.जी /मू./५८३,५९२)

पं.का /मू./८३ धम्मत्थिकायमरस अवण्णगधं असद्दमप्फास । =धर्मास्तिकाय अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्ण और अशब्द है ।

२. दोनों असंख्यात प्रदेशी हैं

त सू./५/८ असंख्येया' प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानां ।८। =धर्म, अधर्म, और एक जीव इन तीनो के असंख्यात प्रदेश है । (प्र. सा /मू./१३५), (नि.सा./मू./३५), (पं.का./मू /८३); (प.प्र /मू./२/२४); (द्र.स./मू./२५), (गो जी./मू./५९१/१०२९)

* **द्रव्योंमें प्रदेश कल्पना व युक्ति**—दे० द्रव्य/४ ।

* **दोनों एक-एक व निष्क्रिय हैं**—दे० द्रव्य/३ ।

* **दोनो अस्तिकाय हैं**—दे० अस्तिकाय ।

* **दोनोकी संख्या**—दे० सख्या ।

३. दोनों एक एक व अखण्ड हैं

त.सू./५/६ आ आकाशादेकद्रव्याणि ।६। =धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनो एक-एक द्रव्य है । (गो जी /मू /५८८/१०२७)

गो जी./जी प्र /५८८/१०२७/१८ धर्माधर्माकाशा एकैक एव अखण्डद्रव्यत्वात् । =धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक है, क्योकि अखण्ड हैं । (पं.का /त प्र /८३)

४. दोनों लोकमे व्याप्तकर स्थित है

त. सू /५/१२,१३ लोकाकाशेऽवगाह ।१२। धर्माधर्मयो' कृत्स्ने ।१३। =इन धर्मादिक द्रव्योका अवगाह लोकाकाशमें है ।१२। धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाशमे व्याप्त है ।१३। (प.का /मू /८३), (प्र. सा /मू /१३६)

स.सि./५/८-१८/मू पृष्ठ-पंक्ति—धर्माधर्मौ निष्क्रियौ लोकाकाश व्याप्य स्थितौ । (८/२७४/६) । उक्ताना धर्मादीना द्रव्याणा लोकाकाशेऽवगाहो न बहिरित्यर्थ' । (१२/२७७/१) । कृत्स्नवचनमशेषव्याप्तिप्रदर्शनार्थम् । अगारे यथा घट इति यथा तथा धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाहो न भवति । कि तर्हि । कृत्स्ने तिलेपु तैलवदिति । (१३/२७८/१०) । धर्माधर्मावपि अवगाहक्रियाभावेऽपि सर्वत्रव्याप्तिदर्शनादवगाहिनावित्युपचर्यते । (१८/२८४/६) । =धर्म और अधर्म द्रव्य

निष्क्रिय है और लोकाकाश भरमें फैले हुए है ।८। धर्मादिक द्रव्यों-का लोकाकाशमे अवगाह है बाहर नहीं, यह इस सूत्रका तात्पर्य है ।१२। सब लोकाकाशके साथ व्याप्ति दिखलानेके लिए सूत्रमें कृत्स्न पद रखा है । घरमे जिस प्रकार घट अवस्थित रहता है, उस प्रकार लोकाकाशमें धर्म व अधर्म द्रव्योंका अवगाह नही है । किन्तु जिस प्रकार तिलमें तैल रहता है उस प्रकार सब लोकाकाशमें धर्म और अधर्मका अवगाह है ।१३। यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्यमें अवगाहन-रूप क्रिया नहीं पायी जाती, तो भी लोकाकाशमे सर्वत्र व्यापनेसे वे अवगाही है, ऐसा उपचार किया जाता है ।१८। (रा वा./५/१३/१/४५६/१४), (प का /त.प्र /८३), (प्र सा /त प्र /१३६), (गो जो. जी./प्र./५८३/१०२४/८)

५. व्याप्त होते हुए भी पृथक् सत्ताधारी है

पं.का /मू /९६ धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा । अवुधगुणलद्धिविसेसा करिंति एगत्तमण्णत्त ।९६। =धर्म, अधर्म और आकाश, समान परिमाणवाले तथा अपृथग्भूत होनेसे, तथा पृथक् उपलब्धि-विशेषवाले होनेसे एकत्व तथा अन्यत्वको करते है । (प का /मू./-व टो./८७)

स.सि /५/१३/२७८/११ अन्योऽन्यप्रदेशप्रवेशव्याघाताभाव अवगाहन-शक्तियोगाद्वेदितव्य । =यद्यपि ये एक जगह रहते है, तो भी अवगाहनशक्तिके योगसे, इनके प्रदेश परस्पर प्रविष्ट होकर व्याघात-को प्राप्त नही होते । (रा वा/५/१३/२-३/४५६/१८)

रा वा/५/१६/१०-११/४६०/१ न धर्मादीना नानात्वम्, कुत । देश-संस्थानकालदर्शनस्पर्शनावगाहनाद्यभेदात ।१०। न अतस्तत्सिद्धेः ।११। यत एव धर्मादीना देशादिभि अविशेषस्त्वया चोद्यते अत एव नानात्वसिद्धि , यतो नासति नानात्वेऽविशेषसिद्धि । न ह्येकस्याविशेषोऽस्ति । किं च, यथा रूपरसादीना तुल्यदेशादित्वे नैकत्वं तथा धर्मादीनामपि नानात्वमिति । =प्रश्न—जिस देशमें धर्म द्रव्य है उसी देशमे अधर्म और आकाशादि स्थित है, जो धर्मका आकार है वही अधर्मादिका भी है, और इसी प्रकार कालकी अपेक्षा, स्पर्शनकी अपेक्षा, केवलज्ञानका विषय होनेकी अपेक्षा और अरूपत्व-द्रव्यत्व तथा ज्ञेयत्व आदिकी अपेक्षा इनमे कोई विशेषता न होनेसे धर्मादि द्रव्योमें नानापना घटित नही होता ? उत्तर—जिस कारण तुमने धर्मादि द्रव्योमें एकत्वका प्रश्न किया है, उसी कारण उनकी भिन्नता स्वय सिद्ध है । जब वे भिन्न-भिन्न है, तभी तो उनमें अमुक दृष्टियोंसे एकत्वकी सम्भावना की गयी है । यदि ये एक होते तो यह प्रश्न ही नही उठता । तथा जिस तरह रूप, रस आदिमें तुल्य देशकालत्व आदि होनेपर भी अपने-अपने विशिष्ट लक्षणके होनेसे अनेकता है, उसी तरह धर्मादि द्रव्योमे भी लक्षणभेदसे अनेकता है । (दे० आगे धर्माधर्म/२/१)

६. लोकव्यापी माननेमें हेतु

रा वा/५/१७/ /४६०/१४ अणुस्कन्धभेदात पुद्गलानाम्, असख्येयदेशत्वाच्च आत्मनाम्, अवगाहिनाम्, एकप्रदेशादिषु पुद्गलानाम्, असख्येय-भागादिषु च जीवानामवस्थान युक्तमुक्तम् । तुल्ये पुनरसख्ये प्रदेशत्वे कृत्स्नलोकव्यापित्वमेव धर्माधर्मयो न पुनरसख्येयभागादिवृत्ति-रित्येतत्कथमनपदिष्टहेतुकमवसातु शक्यमिति ? अत्र ब्रूम — अव-सेयमसशयम् । यथा मत्स्यगमनस्य जलमुपग्रहकारणमिति नासति जले मत्स्यगमनं भवति, तथा जीवपुद्गलाना प्रयोगविस्रसा परि-णामनिमित्ताहितप्रकारा गतिस्थितिलक्षणा क्रिया स्वत एवाऽऽरभमा-णाना सर्वत्रभावात् तदुपग्रहकारणाभ्यामपि धर्माधर्माभ्यां सर्व-गताभ्यां भवितव्यम्, नासतोस्तयोर्गतिस्थितिवृत्तिरिति । =प्रश्न—अणु स्कन्ध भेदरूप पुद्गल तथा असख्यप्रदेशी जीव, ये तो अवगाही द्रव्य है । अत एक प्रदेशादिकमें पुद्गलोंका और लोकके असंख्या-तवें भाग आदिमें जीवोंका अवस्थान कहना तो युक्त है । परन्तु जो तुल्य असंख्यात प्रदेशी तथा लोकव्यापी है, ऐसे धर्म और अधर्म द्रव्योंकी लोकके असंख्येय भाग आदिमें वृत्ति कैसे हो सकती है ? उत्तर—नि सशय रूपसे हो सकती है । उत्तर=नि सशय रूपसे हो सकती है । जैसे जल मछलीके तैरनेमें उपकारक है, जलके अभावमें मछलीका तैरना सम्भव नहीं है, वैसे ही जीव और पुद्गलोंकी प्रायोगिक और स्वाभाविक गति और स्थिति रूप परिणमनमें धर्म और अधर्म सहायक होते है (दे० आगे धर्माधर्म/२) । क्योंकि स्वत ही गति-स्थिति लक्षणक्रियाको आरम्भ करनेवाले जीव व पुद्गल लोकमें सर्वत्र पाये जाते है, अत यह जाना जाता है कि उनके उपकारक कारणोंको भी सर्वगत ही होना चाहिए । क्योकि उनके सर्वगत न होनेपर उनकी सर्वत्र वृत्ति होना सम्भव नहीं है ।

प्र.सा./त प्र /१३६ धर्माधर्मौ सर्वत्रलोके तन्निमित्तगमनस्थानाना जीव-पुद्गलाना लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासभवात । =धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोकमें है, क्योंकि उनके निमित्तसे जिनकी गति और स्थिति होती है, ऐसे जीव और पुद्गलोकी गति या स्थिति लोकसे बाहर नहीं होती, और न लोकके एकदेशमे होती है ।

७. इन दोनोंसे ही लोक व अलोकके विभागकी व्यवस्था है

पं का./मू./८७ जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी ।= जीव व पुद्गलकी गति, स्थिति तथा अलोक और लोकका विभाग, उन दो द्रव्योंके सद्भावसे होता है ।

स.सि /५/१२/२७८/३ लोकालोकविभागश्च धर्माधर्मास्तिकायसद्भावा-सद्भावाद्विज्ञेय । असति हि तस्मिन्धर्मास्तिकाये जीवपुद्गलाना गतिनियमहेतुत्वभावाद्विभागो न स्यात् । असति चाधर्मास्तिकाये स्थितेराश्रयनिमित्ताभावात स्थितेरभावो लोकालोकविभागाभावो वा स्यात । तस्मादुभयसद्भावासद्भावाल्लोकालोकविभागसिद्धि । =यह लोकालोकका विभाग धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षासे जानना चाहिए । अर्थात् धर्मा-स्तिकाय और अधर्मास्तिकाय जहाँ तक पाये जाते है, वह लोका-काश है और इससे बाहर अलोकाकाश है, यदि धर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो जीव और पुद्गलोंकी गतिके नियमका हेतु न रहनेमे लोकालोकका विभाग नही बनता । इसी प्रकार यदि अधर्मास्तिकायका सद्भाव न माना जाये तो स्थितिका निमित्त न रहनेसे जीव और पुद्गलोकी स्थितिका अभाव होता है, जिससे लोकालोकका विभाग नहीं बनता । इसलिए इन दोनोंके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा लोकालोकके विभागकी सिद्धि होती है । (स सि /१०/८/४७१/४), (रा वा /५/१/२६/४३५/३), (न च वृ./१३५)

२. दोनोंके लक्षण व गुण गतिस्थितिहेतुत्व

१. दोनोंके लक्षण व विशेष गुण

प्र सा /मू./१३३ आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्त । धम्मेदर-दव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा । = धर्म द्रव्यका गमनहेतुत्व और अधर्म द्रव्यका गुण स्थान कारणता है । (नि.सा /मू /३०), (प.का /मू /८४ ८६), (त सू./५/१७), (ध./१५/३३/६), (गो जी /मू /६०५/१०६०), (नि सा /ता वृ./९)

आ. प./२ धर्मद्रव्ये गतिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमेते त्रयो गुणाः। अधर्मद्रव्ये स्थितिहेतुत्वममूर्तत्वमचेतनत्वमिति। =धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व, अमूर्तत्व व अचेतनत्व ये तीन गुण हैं और अधर्म द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व, अमूर्तत्व व अचेतनत्व ये तीन गुण हैं। नोट—इनके अतिरिक्त अस्तित्वादि १० सामान्य गुण या स्वभाव होते हैं। —(दे० गुण/३)

२. दोनोंका उदासीन निमित्तपना

पं.का./मू./८५-८६ उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए। तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि।८५। जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं। ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव।८६। =जिस प्रकार जगत्में पानी मछलियोंको गमनमें अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव पुद्गलोंको गमनमें अनुग्रह करता है ऐसा जानो।८५। जिस प्रकार धर्म द्रव्य है उसी प्रकारका अधर्म नामका द्रव्य भी है, परन्तु वह स्थिति क्रियायुक्त जीव पुद्गलोंको पृथिवीकी भाँति (उदासीन) कारणभूत है।

स.सि./५/१७/२८२/५ गतिपरिणामिना जीवपुद्गलाना गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकाय साधारणाश्रयो जलवन्मत्स्यगमने। तथा स्थितिपरिणामिना जीवपुद्गलाना स्थित्युपग्रहे कर्तव्ये अधर्मास्तिकायः साधारणाश्रयः पृथिवीधातुरिवाश्वादिस्थिताविति। =जिस प्रकार मछलीके गमनमें जल साधारण निमित्त है, उसी प्रकार गमन करते हुए जीव और पुद्गलोंके गमनमें धर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है। तथा जिस प्रकार घोड़ा आदिके ठहरनेमें पृथिवी साधारण निमित्त है (या पथिकको ठहरनेके लिए वृक्षकी छाया साधारण निमित्त है द्र.स.) उसी प्रकार ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें अधर्मास्तिकाय साधारण निमित्त है। (रा.वा./५/१/१९-२०/४३३/३०), (द्र.स./मू./१७-१८), (गो.जी./जी.प्र./६०५/१०६०/३), (विशेष दे० कारण/III/२/२)

३. धर्माधर्म दोनोंकी कथंचित् प्रधानता

भ.आ./मू./२१३४/१८३५ धम्माभावेण दु लोगग्गे पडिहम्मदे अलोगेण। गदिमुवकुणदि हु धम्मो जीवाणं पोग्गलाणं।२१३४। =धर्मास्तिकायका अभाव होनेके कारण सिद्धभगवान् लोकसे ऊपर नहीं जाते। इसलिए धर्मद्रव्य ही सर्वदा जीव पुद्गलकी गतिको करता है। (नि.सा./मू./१८४); (त.सू./१०/८)

भ.आ./मू./२१३६/१८३८ कालमणंतमधम्मोपग्गहिदो ठादि गयणमोगाढे। सो उवकारो इट्ठो अठिदि समावेण जीवाण।२१३६। =अधर्म द्रव्यके निमित्तसे ही सिद्धभगवान् लोकशिखरपर अनन्तकाल निश्चल ठहरते हैं। इसलिए अधर्म ही सर्वदा जीव व पुद्गलकी स्थितिके कर्ता है।

स.सि./१०/८/४७१/२ आह—यदि मुक्त ऊर्ध्वगतिस्वभावो लोकान्तादूर्ध्वमपि कस्मान्नोत्पततीत्यत्रोच्यते—गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते। =प्रश्न—यदि मुक्त जीव ऊर्ध्वगति स्वभाववाला है तो लोकान्तसे ऊपर भी किस कारणसे गमन नहीं करता है? उत्तर—गतिरूप उपकारका कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्तके ऊपर नहीं है, इसलिए अलोकमें गमन नहीं होता। और यदि अलोकमें गमन माना जाता है तो लोकालोकके विभागका अभाव प्राप्त होता है। (दे० धर्माधर्म/१/७), (रा.वा./१०/८/१/६४६/६); (ध.१३/५,५,२६/२२३/३); (त.सा./८/४४)

पं.का./त.प्र./८७ तत्र जीवपुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेताम्, तदा तयोर्निर्गलगतिस्थितिपरिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्यते। ततो न लोकालोकविभागः सिध्येत। =जीव व पुद्गल स्वभावसे ही गति परिणामको तथा गतिपूर्वक स्थिति परिणामको प्राप्त होते हैं। यदि गति परिणाम और गतिपूर्वक स्थिति परिणामका स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव पुद्गलको बहिरंगहेतु धर्म और अधर्म न हों, तो जीव पुद्गलको निर्गल गतिपरिणाम और स्थितिपरिणाम होनेसे, अलोकमें भी उनका होना किससे निवारा जा सकता है। इसलिए लोक और अलोकका विभाग सिद्ध नहीं होता। (पं.का./त.प्र./९२), (दे० धर्माधर्म/३/५)

३. धर्माधर्म द्रव्योंकी सिद्धि

१. दोनोंमें नित्य परिणमन होनेका निर्देश

पं.का./मू./८४,८६ अगुरुलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहि परिणदं णिच्चं। गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं।८४। जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।८६। =वह (धर्मास्तिकाय) अनन्त ऐसे जो अगुरुलघुगुण उन रूप सदैव परिणमित होता है। नित्य है। गतिक्रियायुक्त द्रव्योंकी क्रियामें निमित्तभूत है और स्वयं अकार्य है। जैसा धर्मद्रव्य होता है वैसा ही अधर्मद्रव्य होता है। (गो.जी./मू./५६६/१०१५)

२. परस्परमें विरोध विषयक शंकाका निरास

स.सि./५/१७/२८३/६ तुल्यबलत्वात्तयोर्गतिस्थितिप्रतिबन्ध इति चेत्; न, अप्रेरकत्वात्। =प्रश्न—धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य तुल्य बलवाले हैं, अतः गतिसे स्थितिका और स्थितिसे गतिका प्रतिबन्ध होना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ये अप्रेरक हैं। (विशेष दे० कारण/III/२/२)

३. प्रत्यक्ष न होने सम्बन्धी शंकाका निरास

स.सि./५/१७/२८३/६ अनुपलब्धेर्न तौ स्तः, खरविषाणवदिति चेत्; न; सर्वप्रतिवादिनः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षानर्थानभिवाञ्छति। अस्मान्प्रति हेतोरसिद्धेश्च। सर्वज्ञेन निरतिशयप्रत्यक्षज्ञानचक्षुषा धर्मादयः सर्वे उपलभ्यन्ते। तदुपदेशाच्च श्रुतज्ञानिभिरपि। =प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं हैं, क्योंकि, उनकी उपलब्धि नहीं होती, जैसे गधेके सींग? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इसमें सब वादियोंको विवाद नहीं है। जितने भी वादी हैं, वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके पदार्थोंको स्वीकार करते हैं। इसलिए इनका अभाव नहीं किया जा सकता। दूसरे हम जैनोंके प्रति 'अनुपलब्धि' हेतु असिद्ध है, क्योंकि जिनके सातिशय प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी नेत्र विद्यमान है, ऐसे सर्वज्ञ देव सब धर्मादिक द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानते हैं और उनके उपदेशसे श्रुतज्ञानी भी जानते हैं। (रा.वा./५/१७/२८-३०/४६४/१६)

४. दोनोंके अस्तित्वकी सिद्धिमें हेतु

स.सि./१०/८/४७१/४ तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते। =१. उनका अभाव माननेपर लोकालोकके विभागके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। —(विशेष दे० धर्माधर्म/१/७)

प्र.सा./त.प्र./१३३ तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातान्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलित्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवाद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वम्… अधर्ममधिगमयति। =२. एक ही कालमें गतिपरिणत समस्त जीवपुद्गलोंको लोकतक गमनका हेतुत्व धर्मको बतलाता है, क्योंकि काल

और पुद्गल अप्रदेशी है, इसलिए उनके वह सम्भव नहीं है; जीव द्रव्य समुद्घातको छोडकर अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिए उसके वह सम्भव नही है। लोक अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह सम्भव नही है और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे अधर्मके वह सम्भव नहीं है। इसी प्रकार एक ही कालमें स्थिति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलोको लोकतक स्थितिका हेतुत्व अधर्म द्रव्यको बतलाता है। (हेतु उपरोक्तवत् ही है) (विशेष दे० धर्मा-धर्म/१/६)

५. आकाशके गति हेतुत्वका निरास

पं.का./मू./९२-९५ आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि। उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठन्ति किध तत्थ ।९२। जम्हा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहि पण्णत्तं। तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थि त्ति ।९३। जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं। पसजदि अलोगहाणी लोगस्स च अंतपरिवड्ढी ।९४। तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं। इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ।९५। =१. यदि आकाश ही अवकाश हेतुकी भाँति गतिस्थिति हेतु भी हो तो ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध उसमें (लोकमें) क्यो स्थित हो। (आगे क्यो गमन न करें) ।९२। क्योकि जिनवरोने सिद्धोकी स्थिति लोक शिखरपर कही है, इसलिए गति स्थिति (हेतुत्व) आकाशमे नही होता, ऐसा जानो ।९३। २. यदि आकाश जीव व पुद्गलोको गतिहेतु और स्थितिहेतु हो तो अलोककी हानि-का और लोकके अन्तकी वृद्धिका प्रसंग आये ।९४। इसलिए गति और स्थितिके कारण धर्म और अधर्म है, आकाश नही है, ऐसा लोक-स्वभावके श्रोताओसे जिनवरोने कहा है। (और भी दे० धर्माधर्म/१/७) (रा वा./५/१७/२१/४६२/३१)

स.सि./५/१७/२८३/१ आह धर्माधर्मयोर्य उपकारः स आकाशस्य युक्त., सर्वगतत्वादिति चेत्। तदयुक्तम्; तस्यान्योपकारसद्भावात्। सर्वेषां धर्मादीना द्रव्याणामवगाहनं तत्प्रयोजनम्। एकस्यानेकप्रयोजन-कल्पनाया लोकालोकविभागाभाव.। =प्रश्न—३. धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार है, उसे आकाशका मान लेना युक्त है, क्योकि आकाश सर्वगत है? उत्तर—यह कहना युक्त नही है; क्योकि, आकाशका अन्य उपकार है। सब धर्मादिक द्रव्योको अवगाहन देना आकाशका प्रयोजन है। यदि एक द्रव्यके अनेक प्रयोजन माने जाते है तो लोकालोकके विभागका अभाव प्राप्त होता है। (रा.वा./५/१७/२०/४६२/२३)

रा. वा./५/१७/२०-२१/४६२/२६ न चान्यस्य धर्मोऽन्यस्य भवितुमर्हति। यदि स्यात्, अप्तेजोगुणा द्रवदहनादय' पृथिव्या एव कल्प्यन्ताम्। किं च· यथा अनिमिषस्य व्रज्या जलोपग्रहाद्भवति, जलाभावे च भुवि न भवति सत्यप्याकाशे। यथाकाशोपग्रहात् मीनस्य गतिर्भवेत् भुवि अपि भवेत्। तथा गतिस्थितिपरिणामिनाम् आत्मपुद्गलानां धर्मो-ऽधर्मोपग्रहात् गतिस्थिती भवतो नाकाशोपग्रहात्। =४. अन्य द्रव्य-का धर्म अन्य द्रव्यका नहीं हो सकता, क्योकि, ऐसा माननेसे तो जल और अग्निके द्रवता और उष्णतागुण पृथिवीके भी मान लेने चाहिए। (रा वा /५/१७/२३/४६३/६) (पं.का./ता. वृ /२४/५१/४)। ५. जिस प्रकार मछलीकी गति जलमें होती है, जलके अभावमें पृथिवीपर नही होती, यद्यपि आकाश विद्यमान है। इसी प्रकार आकाशके रहनेपर भी धर्माधर्मके होनेपर ही जीव व पुद्गलकी गति और स्थिति होती है। यदि आकाशको निमित्त माना जाये तो मछलोकी गति पृथिवी पर भी होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए धर्म व अधर्म ही गतिस्थितिमें निमित्त है आकाश नही।

६. भूमि जल आदिके गतिहेतुत्वका निरास

स. सि./५/१७/२८३/३ भूमिजलादीन्येव तत्प्रयोजनसमर्थानि नार्थो धर्माधर्माभ्यामिति चेत्। न; साधारणाश्रय इति विशिष्योक्तत्वात्। अनेक-कारणसाध्यत्वाच्चैकस्य कार्यस्य। =प्रश्न—१. धर्म अधर्म द्रव्यके जो प्रयोजन है, पृथिवी व जल आदिक ही उनके करनेमें समर्थ है, अत' धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना ठीक नही? उत्तर—नहीं, क्योंकि, धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिके साधारण कारण है, और यह (प्रश्न) विशेषरूपसे कहा है। (रा. वा /५/१७/२२/४६३/१)। २ तथा एक कार्य अनेक कारणोंसे होता है इसलिए धर्म अधर्म द्रव्य-को मानना युक्त है।

रा वा./५/१७/२७/४६४/८ यथा नायमेकान्तः—सर्वश्चक्षुष्मान् बाह्य-प्रकाशोपग्रहाद् रूपं गृह्णातीति। यस्माद् द्वीपमार्जारादय.·विनापि बाह्यप्रदीपाद्युपग्रहाद्रूपग्रहणसमर्था',·यथा वा नायमेकान्त' सर्व एव गतिमन्तो यष्ट्याद्युपग्रहात् गतिमारभन्ते न वेति,··तथा नायमे-कान्तः—सर्वेषामात्मपुद्गलानां सर्वे बाह्योपग्रहहेतव' सन्तीति, किन्तु केषाचित् पतत्त्रिप्रभृतीना धर्माधर्माविव, अपरेषा जलादयोऽपीत्यने-कान्त'। =३ जैसे यह कोई एकान्तिक नियम नही है कि सभी आँखवालोको रूप ग्रहण करनेके लिए बाह्य प्रकाशका आश्रय हो ही, क्योकि व्याघ्र बिल्लों आदिको बाह्य प्रकाशकी आवश्यकता नही भी रहती। जैसे यह कोई नियम नहीं कि सभी चलनेवाले लाठीका सहारा लेते ही हों। उसी प्रकार यह कोई नियम नहीं कि सभी जीव और पुद्गलोको सर्वबाह्य पदार्थ निमित्त ही हों, किन्तु पक्षी आदिकोको धर्म व अधर्म ही निमित्त हैं और किन्हीं अन्यको धर्म व अधर्मके साथ जल आदिक भी निमित्त है, ऐसा अनेकान्त है।

७ अमूर्तिकरूप हेतुका निरास

रा. वा /५/१७/४०-४१/४६६/३ अमूर्तत्वाद्गतिस्थितिनिमित्तत्वानुप-पत्तिरिति चेत्। न; दृष्टान्ताभावात्।·· न हि दृष्टान्तोऽस्ति येना-मूर्तत्वात् गतिस्थितिहेतुत्वं व्यावर्तेत। किं च—आकाशप्रधानविज्ञा-नादिवत्तत्सिद्धेः।· यथा वा अपूर्वाख्यो धर्म क्रियया अभिव्यक्तः सन्नमूर्त्तोऽपि पुरुषस्योपकारी वर्तते, तथा धर्माधर्मयोरपि गतिस्थित्यु-पग्रहोऽवसेय। —प्रश्न—अमूर्त होनेके कारण धर्म व अधर्ममें गति व स्थितिके निमित्तपनेकी उपपत्ति नहीं बनती? उत्तर—१. नहीं, क्योकि, ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं जिससे कि अमूर्तत्वके कारण गति-स्थितिका अभाव किया जा सके। २. जिस प्रकार अमूर्त भी आकाश सब द्रव्योको अवकाश देनेमें निमित्त होता है, जिस प्रकार अमूर्त भी साख्यमतका प्रधान तत्त्व पुरुषके भोगका निमित्त होता है, जिस प्रकार अमूर्त भी बौद्धोका विज्ञान नाम रूपकी उत्पत्तिका कारण है, जिस प्रकार अमूर्त भी मीमांसकोका अदृष्ट पुरुषके उपभोगका का साधन है, उसी प्रकार अमूर्त भी धर्म और अधर्म गति और स्थितिमे साधारण निमित्त हो जाओ।

* **निष्क्रिय होनेके हेतुका निरास**—दे० कारण/III/२।

* **स्वभावसे गति स्थिति होनेका निरास**

—दे० काल/२/११।

धर्मामृत—आ० नयसेन (ई. ११९२) द्वारा रचित एक ग्रन्थ।

धर्मास्तिकाय—दे० धर्माधर्म।

धर्मी—दे० पक्ष।

धर्मोत्तर—अर्चटका शिष्य एक बौद्ध-नैयायिक। समय—ई. श. ७ का अन्तिम भाग। कृतियाँ—१. न्यायबिन्दुकी टीका. २ प्रमाण-

परीक्षा, ३. अपोह प्रकरण, ४. परलोकसिद्धि, ५. क्षणभंगसिद्धि, ६. प्रमाणविनिश्चय टीका।

धवल—अपभ्रंश भाषाबद्ध हरिवंश पुराणके कर्ता एक कवि। समय—ई. श. १०। (हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास/२७। कामता प्रसाद)

धवल सेठ—कौशाम्बी नगरका एक सेठ था। सागरमें जहाज रुक गया तब एक मनुष्यको बलि देनेको तैयार हो गया। तब श्रीपालने जहाज चलाया। मार्गमें चोरोने उसे बाँध लिया। तब श्रीपालने उसे छुडाया। इतने उपकारी उसी श्रीपालकी स्त्री रैनमंजूषा पर मोहित होकर उसे सागरमें धक्का दे दिया। एक देवने रैन मजूषाकी रक्षा की और सेठको खूब मारा। पीछे श्रीपालका सयोग होनेपर उससे क्षमा माँगी। (श्रीपाल चरित्र)

धवला—आ. भूतबलि (ई. ६६–१५६) कृत षट्खण्डागम ग्रन्थके प्रथम ५ खण्डो पर ७२००० श्लोकप्रमाण एक विस्तृत टीका है, जिसे आ. वीरसेन स्वामीने ई ८१७ में लिखकर पूरी की।

धवलाचार्य—हरिवंशके कर्ता एक मुनि। समय—ई श ११। (वरांग चरित्र/प्र.२१–२२/पं खुशालचन्द)

धातकीखंड—मध्यलोकमें स्थित एक द्वीप है।

ति.प /४/२६०० उत्तरदेवकुरूसं खेत्तेसु तत्थ धादईरुक्खा। चेट्ठंति य गुणणामो तेण पुढ धादईखंडो।२६००। =धातकीखण्ड द्वीपके भीतर उत्तरकुरु और देवकुरु क्षेत्रोंमें धातकी वृक्ष स्थित हैं, इसी कारण इस द्वीपका 'धातकी खण्ड' यह सार्थक नाम है। (स.सि /३/३३/२२७/६), (रा वा /३/३३/६/१९६/३) **नोट**—इस द्वीप सम्बन्धी विशेष (दे० लोक/४/२) तथा इसका नकशा—दे० लोक/७।

धातु—शरीरमें धातु उपधातुओका निर्देश – दे० औदारिक/२।

धात्री—१. आहारका एक दोष – दे० आहार/II/४। २. वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

धान्य रस—दे० रस।

धारणा—१. मतिज्ञान विषयक धारणाका लक्षण

ष खं१३/५,५/सूत्र ४०/२४३ धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा। =धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम हैं।

स. सि./१/१५/१११/७ अवेतस्य कालान्तरेऽविस्मरणकारण धारणा। यथा—सेवेय बलाका पूर्वाह्णे यामहमद्राक्षमिति। =अवाय ज्ञानके द्वारा जानी गयी वस्तुका जिस (सस्कारके ध /१) कारणसे कालान्तरमें विस्मरण नही होता उसे धारणा कहते है। (रा.वा.१/१५/४/६०/८), (ध १/१,१,११५/३५४/४), (ध ६/१, ९-१,१४/१८/७), (ध ९/४, १,४५/१४४/७), (ध १३/५,५,३३/२३३/४), (गो. जी./मू.३०९/६६५), (न्या.दी /२/§११/३२/७)

२. धारणा ईहा व अवायरूप नहीं है

ध १३/५,५,३३/२३३/१ धारणापच्चओ किं ववसायसरूवो कि णिच्छयसरूवो त्ति। पढमपक्खे धारणेहापच्चयाणमेयत्तं, भेदाभावादो। विदिए धारणावायपच्चयाणमेयत्त, णिच्छयभावेण दोण्ण भेदाभावादो त्ति। ण एस दोसो, अवेदवत्थुलिंगग्गहणदुवारेण कालंतरे अविस्मरणहेदुसंस्कारजणण विण्णाण धारणेत्ति अब्भुवगमादो। =प्रश्न—धारणा ज्ञान क्या व्यवसायरूप है या क्या निश्चयस्वरूप है? प्रथमपक्षके स्वीकार करने पर धारणा और ईहा ज्ञान एक हो जाते है, क्योंकि उनमें कोई भेद नही रहता। दूसरे पक्षके स्वीकार करनेपर धारणा और अवाय ये दोनों ज्ञान एक हो जाते है, क्योकि निश्चयभावकी अपेक्षा दोनोमें कोई भेद नही है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योकि अवायके द्वारा वस्तुके लिंगको ग्रहण करके उसके द्वारा उसके द्वारा कालान्तरमें अविस्मरणके कारणभूत संस्कारको उत्पन्न करनेवाला विज्ञान धारणा है, ऐसा स्वीकार किया है।

३. धारणा अप्रमाण नहीं है

ध.१३/५,५,३३/२३३/५ ण चेदं गहिदग्गाहि त्ति अप्पमाणं, अविस्मरणहेदुलिंगग्गाहिस्स गहिदगहणत्ताभावादो। =यह गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण है, ऐसा नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अविस्मरणके हेतुभूत लिंगको ग्रहण करनेवाला होनेसे यह गृहीतग्राही नहीं हो सकता।

४. ध्यान विषयक धारणाका लक्षण

म पु./२१/२२७ धारणा श्रुतनिर्दिष्टबीजानामवधारणम्। =शास्त्रोंमें बतलाये हुए बीजाक्षरोंका अवधारण करना धारणा है।

स.सा /ता वृ./३०६/३८८/११ पञ्चनमस्कारप्रभृतिमन्त्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्यावलम्बनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा। =पंचनमस्कार आदि मन्त्र तथा प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्योंके आलम्बनसे चित्तको स्थिर करना धारणा है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. धारणाके ज्ञानपनेकी सिद्धि। —दे० ईहा/३।
२. धारणा व श्रुतज्ञानमें अन्तर। —दे० श्रुतज्ञान/I/३।
३. धारणाज्ञानको मतिज्ञान कहने सम्बन्धी शंका समाधान —दे० मतिज्ञान/३।
४. अवग्रह आदि तीनों ज्ञानोंकी उत्पत्तिका क्रम।
५ धारणा ज्ञानका जघन्य व उत्कृष्ट काल। —दे० ऋद्धि/२/३।
६. ध्यान योग्य पाँच धारणाओंका निर्देश। —दे० पिण्डस्थ।
७. आग्नेयी आदि धारणाओंका स्वरूप। —दे० वह वह नाम।

धारणी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

धारा—सर्व धारा, वर्गधारा आदि अनेकों विकल्प। —दे० गणित/II/५।

धारा चारण—एक ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४/७।

धारा नगरी— वर्तमान 'धार'–(म पु /प्र.४९/पं. पन्नालाल)

धारा वाहिक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/I/१।

धारिणी—एक औषध विद्या —दे० विद्या।

धीर—

नि.सा /ता वृ./७३ निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीरगुणगम्भीराः। =समस्त घोर उपसर्गोंपर विजय प्राप्त करते है, इसलिए धीर और गुणगम्भीर (वे आचार्य) होते हैं।

भा पा /टी /४३/१५६/१२ ध्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति धीर इति व्युपदिश्यते। =ध्येयोंके प्रति जिनकी बुद्धि गमन करती है या प्रेरणा करती है उन्हे धीर कहते हैं।

ध्रुवसेन—दे० ध्रुवसेन।

धूप दशमी व्रत—धूपदशमि व्रत धूप दशाग। खेवो जिन ढिग भाव अभग। (यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है।) (व्रत-विधान सग्रह/पृ १३०), (नवलसाहकृत वर्द्धमान पुराण)

धूमकेतु—१ एक ग्रह—दे० ग्रह। २ (ह.पु /४३/श्लोक) पूर्वभवमें वरपुरका राजा वीरसेन था।१६३। वर्तमान भवमें स्त्री वियोगके

कारण अज्ञानतप करके देव हुआ ।२२१। पूर्व वैरके कारण इसने प्रद्युम्नको चुराकर एक पर्वतकी शिलाके नीचे दवा दिया ।२२२।

धूम चारण—दे० ऋद्धि/४।

धूम दोष—१. आहारका एक दोप—दे० आहार/II/४। २. वस्तिकाका एक दोप—दे० वस्तिका।

धूमप्रभा—

स.सि./३/१/२०३/८ धूमप्रभा सहचरिता भूमिर्धूमप्रभा। =जिस पृथिवीकी प्रभा धूआँके समान हे वह भूमि धूमप्रभा है। (ति प /२/२१), (रा.वा./३/१/३/१५६/१६)

ज प./११/१२१ अवसेसा पुढवीओ बोद्धव्वा होंति पंकवहुलाओ। =रत्नप्रभाको छोडकर (नरककी) शेप छ पृथिवियोंको पक वहुल जानना चाहिए।

* **इस पृथिवीका अवस्थान व विस्तार**—दे० लोक ५।

* **इसके नकशे**—दे० लोक/७।

धूलिकलशाभिषेक—दे० प्रतिष्ठा विधान।

धूलिशाल—समवशरणका प्रथम कोट—दे० समवशरण।

धृतराष्ट्र—(पा.पु./सर्ग/श्लोक) भीष्मके सौतेले भाई व्यासका पुत्र था। (७/११७)। इसके दुर्योधन आदि सौ कौरव पुत्र थे। (८/१८३-२०५)। मुनियोसे भावी युद्धमें उन पुत्रोकी मृत्यु जानकर दीक्षित हो गया। (१०/१२-१६)

धृति—दे० सस्कार/२।

धृति (देवी)—१. निपध पर्वतपर स्थित तिगिंछ ह्रद व धृति कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७। २. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/७।

धृति भावना—दे० भावना/१।

धृतिषेण—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् सातवे ११ अग १० पूर्वधारी थे। समय—वी.नि. २६४-२८२; (ई पू २६३-२४५)—दे० इतिहास/४/१।

धैवत—दे० स्वर।

धैर्या—भरत क्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४।

ध्याता—धर्म व शुक्लध्यानोंको ध्यानेवाले योगीको ध्याता कहते है। उसीकी विशेपताओंका परिचय यहाँ दिया गया है।

१. प्रशस्त ध्यातामें ज्ञान सम्बन्धी नियम व स्पष्टीकरण

त सू /९/३७ शुक्ले चाद्ये पूर्वविद ।३७।

स.सि /९/३७/४५३/४ आद्ये शुक्लध्याने पूर्वविदो भवत श्रुतकेवलिन इत्यर्थ.। (नेतरस्य (रा.वा.)) चशब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। =शुक्लध्यानके भेदोमेसे आदिके दो शुक्लध्यान (पृथक्त्व व एकत्व वितर्कवीचार) पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवलीके होते है अन्यके नहीं। सूत्रमे दिये गये 'च' शब्दसे धर्म्यध्यानका भी समुच्चय होता है। (अर्थात् शुक्लध्यान तो पूर्वविद्को ही होता है परन्तु धर्मध्यान पूर्वविद्को भी होता है और अल्पश्रुतको भी।) (रा.वा /९/३७/१/६३२/३०)

ध.१३/५,४,२६/६४/६ चउदसपुव्वहरो वा [दस] णवपुव्वहरो वा, णाणेण विणा अणवगय-णवपयत्थस्स झाणाणुववत्तीदो। चोद्दस-दस-णवपुव्वेहि विणा थोवेण वि गथेण णवपयत्थावगमोवलभादो। ण, थोवेण गंथेण णिस्सेसमवगतु बीजबुद्धिमुणिणो मोत्तूण अण्णेसिमुवायाभावादो।...ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जडस्स णाणोवलिंगभूदस्स सुदत्तविरोहादो। थोवदव्वसुदेण अवगयासेस-णवपयत्थाणं सिवभूदिआदिबीजबुद्धीणं ज्झाणाभावेण मोक्खाभावप्पसंगादो। थोवेण णाणेण जदि ज्झाणं होदि तो खवगसेढिउवसमसेढिणमप्पाओग्गधम्मज्झाणं चेव होदि। चोद्दस-दस-णवपुव्वहरा पुण धम्मसुक्कज्झाणं दोण्णं पि सामित्तमुवणमंति, अविरोहादो। तेण तेसिं चेव एत्थ णिद्देसो कदो। =जो चौदह पूर्वोंको धारण करनेवाला होता है, वह ध्याता होता है, क्योकि इतना ज्ञान हुए बिना, जिसने नौ पदार्थोंको भली प्रकार नही जाना है, उसके ध्यानकी उत्पत्ति नही हो सकती है? प्रश्न—चौदह, दस और नौ पूर्वोके बिना स्तोकग्रन्थसे भी नौ पदार्थ विषयक ज्ञान देखा जाता है? उत्तर—नही, क्योकि स्तोक ग्रन्थसे बीजबुद्धि मुनि ही पूरा जान सकते है, उनके सिवा दूसरे मुनियोको जाननेका कोई साधन नहीं है। (अर्थात् जो बीजबुद्धि नही है वे बिना श्रुतके पदार्थोंका ज्ञान करनेको समर्थ नहीं है) और द्रव्यश्रुतका यहाँ अधिकार नहीं है। क्योंकि ज्ञानके उपलिगभूत पुद्गलके विकारस्वरूप जडवस्तुको श्रुत (ज्ञान) माननेमें विरोध आता हे। प्रश्न—स्तोक द्रव्यश्रुतसे नौ पदार्थोंको पूरी तरह जानकर शिवभूति आदि बीजबुद्धि मुनियोके ध्यान नही माननेसे मोक्षका अभाव प्राप्त होता है? उत्तर—स्तोक ज्ञानसे यदि ध्यान होता है तो वह क्षपक व उपशमश्रेणीके अयोग्य धर्मध्यान ही होता है (धवलाकार पृथक्त्व वितर्कवीचारको धर्मध्यान मानते है—दे० धर्मध्यान/२/४-५) परन्तु चौदह दस और नो पूर्वोंके धारी तो धर्म और शुक्ल दोनो ही ध्यानोंके स्वामी होते है। क्योंकि ऐसा माननेमें कोई विरोध नही आता। इसलिए उन्हींका यहाँ निर्देश किया गया है।

म पु /२१/१०१-१०२ स चतुर्दशपूर्वज्ञो दशपूर्वधरोऽपि वा। नवपूर्वधरो वा स्याद् ध्याता सम्पूर्णलक्षण ।१०१। श्रुतेन विकलेनापि स्याद् ध्याता सामग्री प्राप्य पुष्कलाम्। क्षपकोपशमश्रेण्यो उत्कृष्ट ध्यानमृच्छति।१०४। =यदि ध्यान करनेवाला मुनि चौदह पूर्वका, या दश पूर्वका, या नौ पूर्वका जाननेवाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणोंसे युक्त कहलाता है ।१०१। इसके सिवाय अल्पश्रुतज्ञानी अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणीके पहले पहले धर्मध्यान धारण करनेवाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है।१०२।

स.सा /ता वृ./१०/२२/११ ननु तर्हि स्वसवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेवली भवति। तन्न, यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसवेदनज्ञानं तादृशमिदानी नास्ति किन्तु धर्मध्यानयोग्यमस्तीति। =प्रश्न—स्वसंवेदनज्ञानके बलसे इस कालमे भी श्रुतकेवली होने चाहिए? उत्तर—नही, क्योकि जिस प्रकारका शुक्लध्यान रूप स्वसवेदन पूर्वपुरुषोंके होता था, उस प्रकारका इस कालमें नही होता। केवल धर्मध्यान योग्य होता है।

द्र स/टी /५७/२३२/६ यथोक्त दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनम्। अपवादव्याख्यानेन पुन' पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यान भवति। =तथा जो ऐसा कहा हे, कि 'दश तथा चौदह पूर्वतक श्रुतज्ञानसे ध्यान होता है, वह उत्सर्ग वचन है। अपवाद व्याख्यानसे तो पाँच समिति और तीन गुप्तिको प्रतिपादन करनेवाले सारभूतश्रुतज्ञानसे भी ध्यान होता है। (प.का./ता वृ /१४६/२१२/६), (और भी दे० श्रुतकेवली)

२. प्रशस्त ध्यानसामान्य योग्य ध्याता

ध १३/५,४,२६/६८/६ तत्थ उत्तमसघडणो ओघबलो ओघसूरो चोद्दसपुव्वहरो वा [दस] णवपुव्वहरो वा। =जो उत्तम सहननवाला, निसर्गसे बलशाली और शूर, तथा चौदह या दस या नौ पूर्वको धारण करनेवाला होता है वह ध्याता है। (म पु /२१/८५)

म पु /२१/८६-८९ दोरोत्सारितदुर्ध्यानो दुर्लेश्याः परिवर्जयन् । लेश्याविशुद्धिमालम्ब्य भावयन्नप्रमत्तताम् ।८६। प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद्धीबलान्वितः । सूत्रार्थालम्बनो धीरः सोढाशेषपरीषहः ।८७। अपि चोद्भूतसंवेगः प्राप्तनिर्वेदभावनः । वैराग्यभावनोत्कर्षात् पश्यन् भोगानतर्पकान् ।८८। सम्यग्ज्ञानभावनापास्तमिथ्याज्ञानतमोघनः । विशुद्धदर्शनापोढगाढमिथ्यात्वशल्यकः ।८९। =आर्त व रौद्र ध्यानोंसे दूर, अशुभ लेश्याओंसे रहित, लेश्याओंकी विशुद्धतासे अवलम्बित, अप्रमत्त अवस्थाकी भावना भानेवाला ।८६। बुद्धिके पारको प्राप्त, योगी, बुद्धिबलयुक्त, सूत्रार्थ अवलम्बी, धीर वीर, समस्त परीषहोंको सहनेवाला ।८७। संसारसे भयभीत, वैराग्य भावनाएँ भानेवाला, वैराग्यके कारण भोगोपभोगकी सामग्रीको अतृप्तिकर देखता हुआ ।८८। सम्यग्ज्ञानकी भावनासे मिथ्याज्ञानरूपी गाढ अन्धकारको नष्ट करनेवाला, तथा विशुद्ध सम्यग्दर्शन द्वारा मिथ्या शल्यको दूर भगानेवाला, मुनि ध्याता होता है ।८९। (दे० ध्याता/४ मोक्ष अनु.)

द्र.स./मू /५७ तवसुदवदवं चेदा झाणरह धुर धरो हवे जम्हा । तम्हा तत्तिय णिरदा तल्लद्धीए सदा होह । =क्योंकि तप व्रत और श्रुतज्ञानका धारक आत्मा ध्यानरूपी रथकी धुराको धारण करनेवाला होता है, इस कारण हे भव्य पुरुषो ! तुम उस ध्यानकी प्राप्तिके लिए निरन्तर तप श्रुत और व्रतमें तत्पर होओ ।

चा सा /१६७/२ ध्याता · गुप्तेन्द्रियश्च । =प्रशस्त ध्यानका ध्याता मन वचन कायको वशमें रखनेवाला होता है ।

ज्ञा /४/६ मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्ण शान्तचित्तो वशी स्थिर. । जिताक्ष संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ।६। =मुमुक्षु हो, संसारसे विरक्त हो, शान्तचित्त हो, मनको वश करनेवाला हो, शरीर व आसन जिसका स्थिर हो, जितेन्द्रिय हो, चित्त संवरयुक्त हो (विषयोमें विकल न हो), धीर हो, अर्थात् उपसर्ग आनेपर न डिगे, ऐसे ध्याताकी ही शास्त्रोमें प्रशसा की गयी है । (म पु /२१/९०-९५); (ज्ञा /२७/३)

३. ध्याता न होने योग्य व्यक्ति

ज्ञा./४/ श्लोक न केवल भावार्थ—जो मायाचारी हो ।३२। मुनि होकर भी जो परिग्रहधारी हो ।३३। ख्याति लाभ पूजाके व्यापारमें आसक्त हो ।३५। 'नो सौ चूहे खाके बिल्ली हजको चली' इस उपाख्यानको सत्य करनेवाला हो ।४२। इन्द्रियोंका दास हो ।४३। विरागताको प्राप्त न हुआ हो ।४४। ऐसे साधुओंको ध्यानकी प्राप्ति नही होती ।

ज्ञा /४/६२ एते पण्डितमानिनः शमदमस्वाध्यायचिन्तायुताः, रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसतृष्णाननाः । व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिताः शङ्काभिरङ्गीकृता, न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराका क्षमाः ।६२। =जो पण्डित तो नहीं है, परन्तु अपनेको पण्डित मानते है, और शम, दम, स्वाध्यायसे रहित तथा रागद्वेषादि पिशाचोसे वंचित है, एवं मुनिपनेके गुण नष्ट करके अपना मुँह काला करनेवाले हैं, विषयोसे आकर्षित, मदोसे प्रसन्न, और शंका सन्देह शल्यादिसे ग्रस्त हो, ऐसे रक पुरुष न ध्यान करनेको समर्थ है, न भेदज्ञान करनेको समर्थ हैं और न तप ही कर सकते है ।

दे० मंत्र—(मन्त्र यन्त्रादिकी सिद्धि द्वारा वशीकरण आदि कार्योंकी सिद्धि करनेवालोंको ध्यानकी सिद्धि नही होती)

दे० धर्मध्यान/२/३ (मिथ्यादृष्टियोंको पदार्थ धर्म व शुक्लध्यान होना सम्भव नहीं है)

दे० अनुभव/५/५ (साधुको हो निश्चयध्यान सम्भव है गृहस्थको नही, क्योंकि प्रपंचग्रस्त होनेके कारण उसका मन सदा चचल रहता है ।

४. धर्मध्यानके योग्य ध्याता

का अ /मू /४७६ धम्मे एयग्गमणो जो णवि वेदेदि पचहा विसयं । वेरग्गमओ णाणी धम्मज्झाणं हवे तस्स ।४७६। =जो ज्ञानी पुरुष धर्ममे एकाग्रमन रहता है, और इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव नहीं करता, उनसे सदा विरक्त रहता है, उसीके धर्मध्यान होता है । (दे० ध्याता/२ में ज्ञा./४/६)

त. अनु /४१-४५ तत्रासन्नीभवन्मुक्तिः किंचिदासाद्य कारणम् । विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्यक्त-सर्वपरिग्रहः ।४१। अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः । तपःसंयमसंपन्नः प्रमादरहिताशयः ।४२। सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः । आर्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः ।४३। मुक्तलोकद्वयापेक्षः सोढाऽशेषपरीषहः । अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ।४४। महासत्त्वः परित्यक्तदुर्लेश्याऽशुभभावनाः । इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य संमतः ।४५। =धर्मध्यानका ध्याता इस प्रकारके लक्षणोंवाला माना गया है—जिसकी मुक्ति निकट आ रही हो, जो कोई भी कारण पाकर काम-सेवा तथा इन्द्रियभोगोंसे विरक्त हो गया हो, जिसने समस्त परिग्रहका त्याग किया हो, जिसने आचार्यके पास जाकर भले प्रकार जैनेश्वरी दीक्षा धारण की हो, जो जैनधर्ममें दीक्षित होकर मुनि बना हो, जो तप और संयमसे सम्पन्न हो, जिसका आशय प्रमाद रहित हो, जिसने जीवादि ध्येय वस्तुकी व्यवस्थितिको भले प्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त्त और रौद्र ध्यानोंके त्यागसे जिसने चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त की हो, जो इस लोक और परलोक दोनोंकी अपेक्षासे रहित हो, जिसने सभी परिषहोंको सहन किया हो, जो क्रियायोगका अनुष्ठान किये हुए हो (सिद्धभक्ति आदि क्रियाओंके अनुष्ठानमें तत्पर हो ।) ध्यानयोगमें जिसने उद्यम किया हो (ध्यान लगानेका अभ्यास किया हो), जो महासामर्थ्यवान हो, और जिसने अशुभ लेश्याओं तथा बुरी भावनाओंका त्याग किया हो । (ध्याता/२/में म.पु.)

और भी दे० धर्म्यध्यान/१/२ जिनाज्ञापर श्रद्धान करनेवाला, साधुका गुण कीर्तन करनेवाला, दान, श्रुत, शील, संयममें तत्पर, प्रसन्न चित्त, प्रेमी, शुभ योगी, शास्त्राभ्यासी, स्थिरचित्त, वैराग्य भावनामें भानेवाला ये सब धर्मध्यानीके बाह्य व अन्तरंग चिह्न हैं । शरीरकी नीरोगता, विषय लम्पटता व निष्ठुरताका अभाव, शुभ गन्ध, मल-मूत्र अल्प होना, इत्यादि भी उसके बाह्य चिह्न हैं ।

दे० धर्मध्यान/१/३ वैराग्य, तत्त्वज्ञान, परिग्रह त्याग, परिषहजय, कषाय निग्रह आदि धर्मध्यानकी सामग्री है ।

५. शुक्लध्यान योग्य ध्याता

ध.१३/५,४,२६/गा.६७–७१/८२ अभयासमोहविवेगविसग्गा तस्स होंति लिंगाइं । लिंगिज्जइ जेहि मुणी सुक्कज्झाणेवगयचित्तो ।६७। चालिज्जइ बीहेइ व धीरो ण परीसहोवसग्गेहि । सुहुमेसु ण सम्मुज्झइ भावेसु ण देवमायासु ।६८। देह विचित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोए । देहोवहिवोसग्गं णिस्संगो सव्वदो कुणदि ।६९। ण कसायसमुत्थेहि वि बाहिज्जइ माणसेहि दुक्खेहि । ईसाविसायसोगादिएहि झाणोवगयचित्तो ।७०। सीयायवादिएहि मि सारीरेहिं बहुप्पयारेहिं । णो बाहिज्जइ साहू झेयम्मि सुणिच्चलो संता ।७१। =अभय, असमोह, विवेक और विसर्ग ये शुक्लध्यानके लिंग हैं, जिनके द्वारा शुक्लध्यानको प्राप्त हुआ चित्तवाला मुनि पहिचाना जाता है ।६७। वह धीर परिषहों और उपसर्गोसे न तो चलायमान होता है और न डरता है, तथा वह सूक्ष्म भावो व देवमायामें भी मुग्ध नहीं होता है ।६८। वह देहको अपनेसे भिन्न अनुभव करता है, इसी प्रकार सब तरहके संयोगोसे अपनी आत्माको भी भिन्न अनुभव करता है, तथा निःसंग हुआ वह सब प्रकारसे देह व उपाधिका उत्सर्ग करता है ।६९। ध्यानमें अपने चित्तको लीन करनेवाला, वह कषायोसे उत्पन्न हुए ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दुःखोसे भी नहीं बाँधा जाता है ।७०। ध्येयमें निश्चल हुआ वह साधु शीत व आतप आदि बहुत प्रकारकी बाधाओके द्वारा भी नही बाँधा जाता है ।७१।

त अनु./३५ वज्रसहननोपेता' पूर्वश्रुतसमन्विता'। दध्यु. शुक्लमिहातीता' श्रेण्यारोहणक्षमा' ।३५। =वज्रऋषभ सहननके धारक, पूर्वनामक श्रुतज्ञानसे सयुक्त और उपशम व क्षपक दोनो श्रेणियोके आरोहण-में समर्थ, ऐसे अतीत महापुरुषोने इस भूमण्डलपर शुक्लध्यानको ध्याया है।

६. ध्याताओंके उत्तम आदि भेद निर्देश

प.का./ता वृ /१७३/२५३/२६ तत्त्वानुशासनध्यानग्रन्थादौ, कथितमार्गेण जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिधा ध्यातारो ध्यानानि च भवन्ति। तदपि कस्मात्। तत्रैवोक्तमास्ते द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपा ध्यानसामग्री जघन्यादिभेदेन त्रिधेति वचनात्। अथवातिसक्षेपेण द्विधा ध्यातारो भवन्ति शुद्धात्मभावना प्रारम्भका पुरुषाः सूक्ष्मसविकल्पावस्थायां प्रारब्धयोगिनो भण्यन्ते, निर्विकल्पशुद्धात्मावस्थाया पुनर्निष्पन्न-योगिन इति सक्षेपेणाध्यात्मभाषया ध्यातृध्यानध्येयानि·· ज्ञातव्या.। =तत्त्वानुशासन नामक ध्यानविषयक ग्रन्थके आदिमें (दे० ध्यान/३/१) कहे अनुसार ध्याता व ध्यान जघन्य मध्यम व उत्कृष्टके भेदसे तीन-तीन प्रकारके हे क्योंकि वहाँ ही उनको द्रव्य क्षेत्र काल व भावरूप सामग्रीकी अपेक्षा तीन-तीन प्रकारका बताया गया है। अथवा अतिसक्षेपसे कहे तो ध्याता दो प्रकारका है—प्रारब्धयोगी और निष्पन्नयोगी। शुद्धात्मभावनाको प्रारम्भ करनेवाले पुरुष सूक्ष्म सविकल्पावस्थामें प्रारब्धयोगी कहे जाते है। और निर्विकल्प शुद्धात्मावस्थामें निष्पन्नयोगी कहे जाते है। इस प्रकार संक्षेपसे अध्यात्मभाषामें ध्याता ध्यान व ध्येय जानने चाहिए।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पृथक्त्व एकत्व वितर्क विचार आदि शुक्लध्यानोंके ध्याता। —दे० शुक्लध्यान।

२. धर्म व शुक्लध्यानके ध्याताओंमे सहनन सम्बन्धी चर्चा। —दे० सहनन।

३ चारों ध्यानोंके ध्याताओंमें भाव व लेश्या आदि। —दे० वह वह नाम।

४ चारों ध्यानोंका गुणस्थानोकी अपेक्षा स्वामित्व। —दे० वह वह नाम।

५ आर्त रौद्र ध्यानोंके बाह्य चिह्न। —दे० वह वह नाम।

ध्यान—

एकाग्रताका नाम ध्यान है। अर्थात् व्यक्ति जिस समय जिस भाव-का चिन्तवन करता हे, उस समय वह उस भावके साथ तन्मय होता है। इसलिए जिस किसी भी देवता या मन्त्र, या अर्हन्त आदिको ध्याता है, उस समय वह अपनेको वह ही प्रतीत होता है। इसीलिए अनेक प्रकारके देवताओको ध्याकर साधक जन अनेक प्रकारके ऐहिक फलोकी प्राप्ति कर लेते है। परन्तु वे सब ध्यान आर्त व रौद्र होनेके कारण अप्रशस्त है। धर्म शुक्ल ध्यान द्वारा शुद्धात्माका ध्यान करनेमे मोक्षकी प्राप्ति होती है, अत वे प्रशस्त है। ध्यानके प्रकरणमें चार अधिकार होते है—ध्यान, ध्याता, ध्येय व ध्यानफल। चारोका पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया हे। ध्यानके अनेकों भेद है, सबका पृथक्-पृथक् निर्देश किया है।

४	ध्यानकी तन्मयता सम्बन्धी सिद्धान्त
१	ध्याता अपने ध्यानभावसे तन्मय होता है ।
२	जैसा परिणमन करता है उस समय आत्मा वैसा ही होता है ।
३	आत्मा अपने ध्येयके साथ समरस हो जाता है ।
४	अर्हंतको ध्याता हुआ स्वयं अर्हंत होता है ।
५	गरुड आदि तत्त्वोंको ध्याता हुआ स्वय गरुट आदि रूप होता है ।
*	गरुड आदि तत्त्वोंका स्वरूप । —दे० वह वह नाम ।
*	जिस देव या शक्तिको ध्याता है उसी रूप हो जाता है । —दे० ध्यान/२,४,५ ।
६	अन्य ध्येय भी आत्मामें आलेखितवत् प्रतीत होते हैं ।

१. ध्यानके भेद व लक्षण

१. ध्यान सामान्यका लक्षण

१. ध्यानका लक्षण-एकाग्र चिन्ता निरोध

त सू /९/२७ उत्तमसहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमाऽन्तर्मुहूर्तात् ।२७। =उत्तम संहननवालेका एक विपयमें चित्तवृत्तिका रोकना ध्यान है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है। (म पु./२१/८), (चा सा./१६६/६), (प्र सा./त.प्र /१०२), (त अनु./५६)

स सि./९/२०/४३९/८ चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम् । =चित्तके विक्षेपका त्याग करना ध्यान है।

त अनु /५९ एकाग्रग्रहणं चात्र वैयग्र्यविनिवृत्तये। व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ।५९। =इस ध्यानके लक्षणमें जो 'एकाग्र'का ग्रहण है वह व्यग्रताकी विनिवृत्तिके लिए है। ज्ञान ही वस्तुत व्यग्र होता है, ध्यान नही। ध्यानको तो एकाग्र कहा जाता है।

पं ध /उ./८४२ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्। अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थत ।८४२। =किसी एक विषयमें निरन्तर रूपसे ज्ञानका रहना ध्यान है, और वह वास्तवमें क्रमरूप ही है अक्रम नही।

२. ध्यानका निश्चय लक्षण-आत्मस्थित आत्मा

पं.का /मू /१४६ जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो । तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी । =जिसे मोह और रागद्वेष नहीं है तथा मन वचन कायरूप योगोके प्रति उपेक्षा है, उसे शुभाशुभको जलानेवाली ध्यानमय अग्नि प्रगट होती है।

त.अनु./७४ स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यत. । षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ।७४। =चूँकि आत्मा अपने आत्माको, अपने आत्मामें, अपने आत्माके द्वारा, अपने आत्माके लिए, अपने-अपने आत्महेतुसे ध्याता है, इसलिए कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्कारकरूप परिणत आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानस्वरूप है।

अन. ध /१/११४/११७ इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेत' स्थिरं तत' । ध्यान रत्नत्रयं तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम् ।११४। =इष्टानिष्ट बुद्धिके मूल मोहका छेद हो जानेसे चित्त स्थिर हो जाता है। उस चित्तकी स्थितताको ध्यान कहते हैं।

२. एकाग्र चिन्ता निरोध लक्षणके विषयमें शंका

स. सि./९/२७/४४५/१ चिन्ताया निरोधो यदि ध्यानं, निरोधश्चाभाव, तेन ध्यानमसत्खरविषाणवत्स्यात् । नैष दोष' अन्यचिन्तानिवृत्त्यपेक्षयाऽसदिति चोच्यते, स्वविषयाकारप्रवृत्तेः सदिति च; अभावस्य भावान्तरत्वाद्धेत्वङ्गत्वादिभिरभावस्य वस्तुधर्मत्वसिद्धेश्च । अथवा नायं भावसाधन', निरोधनं निरोध इति । किं तर्हि। कर्मसाधन' 'निरुध्यत इति निरोधः'। चिन्ता चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोध इति। एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवापरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति। =प्रश्न—यदि चिन्ताके निरोधका नाम ध्यान है और निरोध अभावस्वरूप होता है, इसलिए गधेके सींगके समान ध्यान असत् ठहरता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अन्य चिन्ताकी निवृत्तिकी अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषयरूप प्रवृत्ति होनेके कारण वह सत् कहा जाता है। क्योंकि अभाव भावान्तर स्वभाव होता है (तुच्छाभाव नहीं)। अभाव वस्तुका धर्म है यह बात सपक्ष सत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति इत्यादि हेतुके अंग आदिके द्वारा सिद्ध होती है (दे० सप्तभंगी)। अथवा यह निरोध शब्द 'निरोधनं निरोधः' इस प्रकार भावसाधन नहीं है, तो क्या है? 'निरुध्यत निरोधः'—जो रोका जाता है, इस प्रकार कर्मसाधन है। चिन्ताका जो निरोध वह चिन्तानिरोध है। आशय यह है कि निश्चल अग्निशिखाके समान निश्चल रूपसे अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है। (रा.वा/९/२७/१६-१७/६२६/२४), (विशेष दे० एकाग्र चिन्ता निरोध)

दे० अनुभव/२/३ अन्य ध्येयोसे शून्य होता हुआ भी स्वसंवेदनकी अपेक्षा शून्य नहीं है।

३. ध्यानके भेद

१. प्रशस्त व अप्रशस्तकी अपेक्षा सामान्य भेद

चा सा /१६७/२ तदेतच्चतुरङ्गध्यानमप्रशस्त-प्रशस्तभेदेन द्विविधं । =वह (ध्याता, ध्यान, ध्येय व ध्यानफल रूप) चार अंगवाला ध्यान अप्रशस्त और प्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है। (म. पु /२१/२७), (ज्ञा /२५/१७)

ज्ञा./३/२७-२८ संक्षेपरुचिभि. सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् । त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ।२७। तत्र पुण्याशय' पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशय. । शुद्धोपयोगसंज्ञो य. स तृतीय' प्रकीर्तित. ।२८। =कितने ही संक्षेपरुचिवालोंने तीन प्रकारका ध्यान माना है, क्योंकि, जीवका आशय तीन प्रकारका ही होता है।२७। उन तीनोंमें प्रथम तो पुण्यरूप शुभ आशय है और दूसरा उसका विपक्षी पापरूप आशय है और तीसरा शुद्धोपयोग नामा आशय है।

२. आर्त रौद्रादि चार भेद तथा इनका अप्रशस्त व प्रशस्तमें अन्तर्भाव—

त. सू /९/२८ आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ।२८। =ध्यान चार प्रकारका है—आर्त रौद्र धर्म्य और शुक्ल। (भ आ मू /१६९९-१७००) (म पु./२१/२८); (ज्ञा. सा./१०); (त. अनु /३४), (अन. ध./७/१०३/७२७)।

मू. आ /३९४ अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णिवि झाणाणि अप्पसत्थाणि । धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि ।३९४। =आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो तो अप्रशस्त हैं और धर्म्यशुक्ल ये दो ध्यान प्रशस्त है। (रा. वा /९/२८/४/६२७/३३); (ध. १३/५,४,२६/७०/११ में केवल प्रशस्तध्यानके ही दो भेदोका निर्देश है); (म. पु./२१/२७), (चा. सा./१६७/३ तथा १७२/२) (ज्ञा सा./२१/२०) (ज्ञा./२५/२०)

४. अप्रशस्त प्रशस्त व शुद्ध ध्यानोंके लक्षण

मू. आ./६८१-६८२ परिवारइड्ढिसक्कारपूयणं असणपाण हेऊ वा। लयणसयणासणं भत्तपाणकामट्ठहेऊ वा ।६८१। आज्ञाणिद्देसमाणकित्तीवण्णणपहावणगुणट्ठं। झाणमिणघसत्थं मणसंकप्पो दु विसत्थो ।६८२।

ज्ञा./३/२९-३१ पुण्याशयवशाज्जात शुद्धलेश्यावलम्बनात्। चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ।२९। पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात्। कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ।३०। क्षीणे रागादिसताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि। यः स्वरूपोपलम्भः स्यात्स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः ।३१। =१. पुत्रशिष्यादिके लिए, हाथी घोडेके लिए, आदरपूजनके लिए, भोजनपानके लिए, खुदी हुई पर्वतकी जगहके लिए, शयन-आसन-भक्ति व प्राणोंके लिए, मैथुनकी इच्छाके लिए, आज्ञानिर्देश प्रामाणिकता-कीर्ति प्रभावना व गुणविस्तार के लिए—इन सभी अभिप्रायोंके लिए यदि कायोत्सर्ग करे तो मनका वह सकल्प अशुभ ध्यान है /मू. आ / जीवोके पापरूप आशयके वशसे तथा मोह मिथ्यात्वकषाय और तत्त्वोके अयथार्थरूप विभ्रमसे उत्पन्न हुआ ध्यान अप्रशस्त व असमीचीन है ।३०। (ज्ञा./२५/१९) (और भी दे० अपध्यान)। २. पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुद्धलेश्याके आलम्बनसे और वस्तुके यथार्थ स्वरूप चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त है ।२९। (विशेष दे० धर्मध्यान/१/१)। ३. रागादिकी सन्तानके क्षीण होनेपर, अन्तरग आत्माके प्रसन्न होनेसे जो अपने स्वरूपका अवलम्बन है, वह शुद्धध्यान है ।३१। (दे० अनुभव)।

२. ध्यान निर्देश

१. ध्यान व योगके अंगोंका नाम निर्देश

ध. १३/५,४,२६/६४/५ तत्थज्झाणे चत्तारि अहियारा होंति ध्याता, ध्येय, ध्यानं, ध्यानफलमिति। =ध्यानके विषयमें चार अधिकार है—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल। (चा. सा./१६७/१) (म. पु./२१/८४) (ज्ञा./४/५) (त. अनु /३७)।

म. पु /२१/२२३-२२४ षड्भेदं योगवादी यः सोऽनुयोज्यः समाहितैः। योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः ।२२३। का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः। किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृश ।२२४। =जो छह प्रकारसे योगोका वर्णन करता है, उस योगवादीसे विद्वान् पुरुषोंको पूछना चाहिए कि योग क्या है? समाधान क्या है? प्राणायाम कैसा है? धारणा क्या है? आध्यान (चिन्तवन) क्या है? ध्येय क्या है? स्मृति कैसी है? ध्यानका फल क्या है? ध्यानका बीज क्या है? और इसका प्रत्याहार कैसा है? ।२२३-२२४।

ज्ञा./२२/१ अथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि ।१। तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति षट् ।२। उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्संतोषात्तत्त्वदर्शनात्। मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योग प्रसिद्ध्यति ।१। =कई अन्यमती 'आठ अग योगके स्थान है' ऐसा कहते है—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७ ध्यान और ८. समाधि। किन्हीं अन्यमतियोंने यम नियमको छोडकर छह कहे हैं—१. आसन, २. प्राणायाम, ३. प्रत्याहार, ४. धारणा, ५. ध्यान, ६. समाधि। किसी अन्यने अन्य प्रकार कहा है—१. उत्साहसे, २. निश्चयसे, ३ धैर्यसे, ४. सन्तोषसे, ५. तत्त्वदर्शनसे, और देशके त्यागसे योगकी सिद्धि होती है।

२. ध्यान अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं टिक सकता

ध. १३/५,४,२६/५१/७६ अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाणमेगवत्थुम्हि। छदुमत्थाणं ज्झाणं जोगणिरोहो जिणाणं तु ।५१। =एक वस्तुमें अन्तर्मुहूर्तकालतक चिन्ताका अवस्थान होना छद्मस्थोका ध्यान है और योग निरोध जिन भगवान्‌का ध्यान है ।५१।

त. सू /९/२७ ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।२७।

स. सि./९/२७/४४५/१ इत्यनेन कालावधिः कृतः। ततः परं दुर्धरत्वादेकाग्रचिन्तायाः।

रा. वा./९/२७/२२/६२७/५ स्यादेतत् ध्यानोपयोगेन दिवसमासाद्यवस्थान नान्तर्मुहूर्तादिति; तन्न, किं कारणम्। इन्द्रियोपघातप्रसगात्। =ध्यान अन्तर्मुहूर्ततक होता है। इससे कालकी अवधि कर दी गयी। इससे ऊपर एकाग्रचिन्ता दुर्धर है। प्रश्न—एक दिन या महीने भर तक भी तो ध्यान रहनेकी बात सुनी जाती है? उत्तर—यह बात ठीक है, क्योकि, इतने कालतक एक ही ध्यान रहनेमें इन्द्रियोका उपघात ही हो जायेगा।

३. ध्यान व ज्ञान आदिमें कथंचित् भेदाभेद

म. पु /२१/१५-१६ यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचरः। तथाप्येकाग्रसदृष्टो धत्ते बोधादि वान्यताम् ।१५। हर्षामर्षादिवत् सोऽयं चिद्धर्मोऽप्यवबोधितः। प्रकाशते विभिन्नात्मा कथंचित् स्तिमितात्मक ।१६। =यद्यपि ध्यान ज्ञानकी ही पर्याय है और वह ध्येयको विषय करनेवाला होता है। तथापि सहवर्ती होनेके कारण वह ध्यान-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप व्यवहारको भी धारण कर लेता है ।१५। परन्तु जिस प्रकार चित धर्मरूपसे जाने गये हर्ष व क्रोधादि भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकाशित होते है, उसी प्रकार अन्त करणका संकोच करनेरूप ध्यान भी चैतन्यके धर्मोसे कथचित भिन्न है ।१६।

४. ध्यान द्वारा कार्य सिद्धिका सिद्धान्त

त. अनु /२०० यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमानस। ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्म वाञ्छितम् ।२००। =जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमें समर्थ देव है उसके ध्यानसे व्याप्त चित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपना वाछित अर्थ सिद्ध करता है।

दे० धर्मध्यान/६/७ (एकाग्रतारूप तन्मयताके कारण जिस-जिस पदार्थका चिन्तवन जीव करता है, उस समय वह अर्थात उसका ज्ञान तदाकार हो जाता है।—(दे० आगे ध्यान/४)।

५. ध्यानसे अनेकों लौकिक प्रयोजनोंकी सिद्धि

ज्ञा /३८/श्लो. सारार्थ—अष्टपत्र कमलपर स्थापित स्फुरायमान आत्मा व णमो अर्हंताणंके आठ अक्षरोको प्रत्येक दिशाके सम्मुख होकर क्रमसे आठ रात्रि पर्यन्त प्रतिदिन ११०० बार जपनेसे सिंह आदि क्रूर जन्तु भी अपना गर्व छोड़ देते है ।९६-९९। आठ रात्रियाँ व्यतीत हो जानेपर इस कमलके पत्रो पर वर्तनेवाले अक्षरोंको अनुक्रमसे निरूपण करके देखै। तत्पश्चात् यदि प्रणव सहित उसी मन्त्रको ध्यावै तो समस्त मनोवाञ्छित सिद्ध हों और यदि प्रणव (ॐ) से वर्जित ध्यावे तो मुक्ति प्राप्त करे ।१००-१०२। (इसी प्रकार अनेक प्रकारके मन्त्रोंका ध्यान करनेसे, रजादिका विनाश, पापका नाश, भोगोंकी प्राप्ति तथा मोक्ष प्राप्ति तक भी होती है ।१०३-११२।

ज्ञा /४०/२ मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैर्ध्यातुमुद्यत सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्यखिल क्षणात् ।२। =यदि ध्यानी मुनि मन्त्र मण्डल मुद्रादि प्रयोगोंसे ध्यान करनेमें उद्यत हो तो समस्त सुर असुर और मनुष्योंके समूहको क्षणमात्रमें क्षोभित कर सकता है।

त. अनु./श्लो. नं. का सारार्थ—महामन्त्र महामण्डल व महामुद्राका आश्रय लेकर धारणाओं द्वारा स्वयं पार्श्वनाथ होता हुआ ग्रहोंके विघ्न दूर करता है।२०२। इसी प्रकार स्वयं इन्द्र होकर (दे० ऊपर नं. ४ वाला शीर्षक) स्तम्भन कार्योंको करता है।२०३-२०४। गरुड होकर विषको दूर करता है, कामदेव होकर जगत्को वश करता है, अग्निरूप होकर शीतज्वरको हरता है, अमृतरूप होकर दाहज्वरको हरता है, क्षीरोदधि होकर जगको पुष्ट करता है।२०५-२०८।

त अनु /२०९ किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति। तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम्।२०९। =इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या, यह योगी जो भी काम करना चाहता है, उस उस कर्मके देवतारूप स्वयं होकर उस उस कार्यको सिद्ध कर लेता है।२०९।

त.अनु /श्लो.का सारार्थ–शान्तात्मा होकर शान्तिकर्मोंको और क्रूरात्मा होकर क्रूरकर्मोंको करता है।२१०। आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक प्रकारके चित्र विचित्र कार्य कर सकता है।२११-२१६।

६. परन्तु ऐहिक फलवाले ये सब ध्यान अप्रशस्त हैं

ज्ञा./४०/४ बहूनि कर्माणि मुनिप्रवीरैर्विद्यानुवादात्प्रकटीकृतानि। असंख्यभेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति।४। =ज्ञानी मुनियोंने विद्यानुवाद पूर्वसे असंख्य भेदवाले अनेक प्रकारके विद्वेषण उच्चाटन आदि कर्म कौतूहलके लिए प्रगट किये हैं, परन्तु वे सब कुमार्ग व कुध्यानके अन्तर्गत है।४।

त अनु /२२० तद्ध्यानं रौद्रमार्तं वा यदैहिकफलार्थिनाम्। =ऐहिक फलको चाहनेवालोंके जो ध्यान होता है, वह या तो आर्तध्यान है या रौद्रध्यान।

७. अप्रशस्त व प्रशस्त ध्यानोंमें हेयोपादेयताका विवेक

म पु /२१/२९ हेयमाद्यं द्वयं विद्धि दुर्ध्यानं भववर्धनम्। उत्तरं द्वितयं ध्यानम् उपादेयन्तु योगिनाम्।२९। =इन चारों ध्यानोंमेंसे पहलेके दो अर्थात् आर्त रौद्रध्यान छोडनेके योग्य है, क्योंकि वे खोटे ध्यान है और संसारको बढानेवाले हैं, तथा आगेके दो अर्थात् धर्म्य और शुक्लध्यान मुनियोंको ग्रहण करने योग्य है।२९। (भ आ./मू/१६९९-१७००/१५२०), (ज्ञा./२५/२१), (त.अनु /३४,२२०)

ज्ञा /४०/६ स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः। सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये।६। =योगी मुनियोंको चाहिए कि (उपरोक्त ऐहिक फलवाले) असमीचीन ध्यानोंको कौतुकसे स्वप्नमें भी न विचारें, क्योंकि वे सन्मार्गकी हानिके लिए बीजस्वरूप है।

८. ऐहिक ध्यानोंका निर्देश केवल ध्यानकी शक्ति दर्शानेके लिए किया गया है

ज्ञा /४०/४ प्रकटीकृतानि असंख्येयभेदानि कुतूहलार्थम्। =ध्यानके ये असंख्यात भेद कुतूहल मात्रके लिए मुनियोंने प्रगट किये है। (ज्ञा./२८/१००)।

त अनु /२१९ अत्रैव माग्रहं कार्षुर्यद्ध्यानफलमैहिकम्। इदं हि ध्यान-माहात्म्यख्यापनाय प्रदर्शितम्।२१९। =इस ध्यानफलके विषयमें किसीको यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि ध्यानका फल ऐहिक ही होता है, क्योंकि यह ऐहिक फल तो ध्यानके माहात्म्यकी प्रसिद्धिके लिए प्रदर्शित किया गया है।

९. पारमार्थिक ध्यानका माहात्म्य

भ.आ /मू./१८९१-१९०२ एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं झाणं। ।१८९२। रणभूमीए कवच होदि ज्झाणं कसायजुद्धम्मि/· · ।१८९३। वइर रदणेसु जहा गोसीस चंदणं व गंधेसु। वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स।१८९६। =कषायोंके साथ युद्ध करते समय ध्यान क्षपकके लिए आयुध व कवचके तुल्य है।१८९२-१८९३। जैसे रत्नोंमें वज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुगन्धि पदार्थोंमें गोशीर्ष चन्दन श्रेष्ठ है, मणियोंमें वैडूर्यमणि उत्तम है, वैसे ही ज्ञान दर्शन चारित्र और तपमें ध्यान ही सारभूत व सर्वोत्कृष्ट है।१८९६।

ज्ञा.सा /३६ पाषाणेस्वर्णं काष्ठेऽग्निः विनाप्रयोगं। न यथा दृश्यन्ते इमानि ध्यानेन विना तथात्मा।३६। =जिस प्रकार पाषाणमें स्वर्ण और काष्ठमें अग्नि बिना प्रयोगके दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार ध्यानके बिना आत्मा दिखाई नहीं देता।

अ.ग.श्रा /१५/९६ तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां, शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्। धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो, न सिध्यति ध्यानमृते तथाऽपि।९६। =निशदिन घोर तपश्चरण भले करो, नित्य ही सम्पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन भले करो, प्रमाद रहित होकर चारित्र भले धारण करो, परन्तु ध्यानके बिना सिद्धि नहीं।

ज्ञा./४०/३,५ क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि। अनेक-विक्रियासारध्यानमार्गावलम्बित.।३। असावनन्तप्रथितप्रभवः स्व-भावतो यद्यपि यन्त्रनाथ। नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम्।५। =अनेक प्रकारकी विक्रियारूप असार ध्यानमार्गको अवलम्बन करनेवाले क्रोधीके भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिसका देव भी चिन्तवन नहीं कर सकते।३। स्वभावसे ही अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभावका धारक यह आत्मा यदि समाधिमें जोडा जाये तो समस्त जगत्को अपने चरणोंमें लीन कर लेता है। (केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है)।५। (विशेष दे० धर्म्य-ध्यान/४)

१०. सर्व प्रकारके धर्म एक ध्यानमें अन्तर्भूत हैं

द्र सं./मू /४७ दुविहं पि मोक्खहेउं ज्झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा। तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह।४७। =मुनिध्यानके करनेसे जो नियमसे निश्चय व व्यवहार दोनों प्रकारके मोक्षमार्गको पाता है, इस कारण तुम चित्तको एकाग्र करके उस ध्यानका अभ्यास करो। (त अनु./३३)

(और भी दे० मोक्षमार्ग/२४/, धर्म/३/३)

नि.सा /ता.वृ./११९ अत पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिप्रत्या-ख्यानप्रायश्चित्तालोचनादिकं सर्वं ध्यानमेवेति। =अतः पंच महाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि सब ध्यान ही है।

३. ध्यानकी सामग्री व विधि

१. ध्यानकी द्रव्य क्षेत्रादि सामग्री व उसमें उत्कृष्टादि विकल्प

त.अनु /४८-४९ द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा। ध्यातार-स्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा।४८। सामग्रीत प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम्। स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम्।४९। =ध्यानकी उत्पत्तिके कारणभूत द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि सामग्री क्योंकि तीन प्रकार की है, इसलिए ध्याता व ध्यान भी तीन प्रकारके है।४८। उत्तम सामग्रीसे ध्यान उत्तम होता है, मध्यम- से मध्यम और जघन्यसे जघन्य।४९। (ध्याता/६)

२. ध्यानका कोई निश्चित काल नहीं है

ध.[१३/५,४,२६/६६/६७ व टीका पृ ६६/६ अणियदकालो—सव्वकालेसु सुहपरिणामसंभवादो। एत्थ गाहाओ—'कालो वि सो च्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ। ण हु दिवसणिसावेलादिणियमणं ज्झाइणो

समए ।१९। =उस (ध्याता) के ध्यान करनेका कोई नियत काल नहीं होता, क्योंकि सर्वदा शुभ परिणामोंका होना सम्भव है। इस विषय-में गाथा है "काल भी वही योग्य है जिसमें उत्तम रीतिसे योगका समाधान प्राप्त होता हो। ध्यान करनेवालोके लिए दिन रात्रि और वेला आदि रूपसे समयमे किसी प्रकारका नियमन नहीं किया जा सकता है। (म.पु./२१/८१)

और भी दे० कृतिकर्म/३/८ (देश काल आसन आदिका कोई अटल नियम नहीं है।)

३. उपयोगके आलम्बनभूत स्थान

रा.वा./९/४४/१/६३४/२४ इत्येवमादिकृतपरिकर्मा साधु', नाभेरूर्ध्वं हृदये मस्तकेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिधाय मुमुक्षुः प्रशस्त-ध्यानं ध्यायेत्। =इस प्रकार (आसन, मुद्रा, क्षेत्रादि द्वारा दे० कृतिकर्म/३) ध्यानकी तैयारी करनेवाला साधु नाभिके ऊपर, हृदयमें, मस्तकमें या और कहीं अभ्यासानुसार चित्त वृत्तिको स्थिर रखनेका प्रयत्न करता है। (म पु./२१/६३)

ज्ञा./३०/१३ नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे, वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते। ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ।१३। =निर्मल बुद्धि आचार्योंने ध्यान करनेके लिए—१. नेत्रयुगल, २. दोनों कान, ३ नासिकाका अग्रभाग, ४. ललाट, ५. मुख, ६. नाभि, ७. मस्तक, ८. हृदय, ९. तालु, १०. दोनों भौंहोंका मध्यभाग, इन दश स्थानोमेंसे किसी एक स्थानमें अपने मनको विषयोसे रहित करके आलम्बित करना कहा है। (वसु.श्रा./४६८); (गु.श्रा./२३६)

४. ध्यानकी विधि सामान्य

ध.१३/५,४,२६/२८–२९/६८ किंचिद्दिट्ठिमुपावत्तइत्तु ज्झेये णिरुद्ध-दिट्ठीओ। अप्पाणम्मि सदिं संधित्तुं संसारमोक्खट्ठं ।२८। पच्चाहरित्तु विसएहिं इंदियाणं मणं च तेहिंतो अप्पाणम्मि मणं तं जोग पणिधाय धारेदि ।२९। =१. जिसकी दृष्टि ध्येय (दे० ध्येय) में रुकी हुई है, वह बाह्य विषयसे अपनी दृष्टिको कुछ क्षणके लिए हटाकर संसारसे मुक्त होनेके लिए अपनी स्मृतिको अपनी आत्मामें लगावे ।२८। इन्द्रियोंको विषयोसे हटाकर और मनको भी विषयोसे दूरकर, समाधिपूर्वक उस मनको अपनी आत्मामें लगावे ।२९। (त.अनु./९४-९५)

ज्ञा./३०/५ प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम्। चेतः समत्वमा-पन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ।५। =२. प्रत्याहार (विषयोंसे हटाकर मनको ललाट आदि पर धारण करना—दे० 'प्रत्याहार') से ठहराया हुआ मन समस्त उपाधि अर्थात् रागादिकरूप विकल्पोंसे रहित सम-भावको प्राप्त होकर आत्मामें ही लयको प्राप्त होता है।

ज्ञा./३१/३७,३९ अनन्यशरणीभूय स तस्मिंल्लीयते तथा। ध्यातृध्यानो-भयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ।३७। अनन्यशरणस्तद्धि तत्संलीनैक-मानसः। तद्गुणस्तत्स्वभावात्मा स तादात्म्याच्च संवसन् ।३९।

ज्ञा./३३/२–३ अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम्। योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ।२। साक्षात्कर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम्। विशुद्धिं चात्मनः शश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरीभवेत् ।३। =३. वह ध्यान करनेवाला मुनि अन्य सबका शरण छोडकर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन होता है, कि ध्याता और ध्यान इन दोनोंके भेदका अभाव होकर ध्येयस्वरूपसे एकताको प्राप्त हो जाता है ।३७। जब आत्मा परमात्माके ध्यानमें लीन होता है, तब एकी-करण कहा है, सो यह एकीकरण अनन्यशरण है। वह तद्गुण है अर्थात् परमात्माके ही अनन्त ज्ञानादि गुणरूप है, और स्वभावसे आत्मा है। इस प्रकार तादात्म्यरूपसे स्थित होता है ।३९। ४ अपनेमें जोडता हुआ भी, अविद्यावासनासे विवश हुआ चित्त जब स्थिरताको धारणा नहीं करता ।२। तो साक्षात् वस्तुओंके स्वरूपका यथास्थित तत्काल साक्षात् करनेके लिए तथा आत्माकी विशुद्धि करनेके लिए निरन्तर वस्तुके धर्मका चिन्तवन करता हुआ उसे स्थिर करता है।

विशेष दे० ध्येय—अनेक प्रकारके ध्येयोंका चिन्तवन करता है, अनेक प्रकारकी भावनाएँ भाता है तथा धारणाएँ धारता है।

५. अर्हंतादिके चिन्तवन द्वारा ध्यानकी विधि

ज्ञा./४०/१७–२० वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम्। कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ।१७। विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च। अनन्तशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ।१८। तद्गुणग्रामसंपूर्णं तत्स्वभावैकभावितः। कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ।१९। द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्य-पेक्षया। विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ।२०। =प्रश्न—चित्तके क्षोभरहित होनेको ध्यान कहते है, तो कोई मुनि मोक्ष प्राप्त आत्माका स्मरण कैसे करे? ।१७। उत्तर—प्रथम तो उस पर-मात्माके गुण समूहोंको पृथक्-पृथक् विचारे और फिर उन गुणोंके समुदायरूप परमात्माको गुण गुणीका अभेद करके विचारे और फिर किसी अन्यकी शरणसे रहित होकर उसी परमात्मामें लीन हो जावे ।१८। परमात्माके स्वरूपसे भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानी मुनि उस परमात्माके गुण समूहोंसे पूर्णरूप अपने आत्माको करके फिर उसे परमात्मामें योजन करे ।१९। आगममें कर्म रहित व कर्म सहित दोनों आत्म-तत्त्वोंमें व्यक्ति व शक्तिकी अपेक्षा समानता मानी गयी है ।२०।

त. अनु./१८९–१९३ तत्र चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः। स चार्हद्ध्याननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ।१८९। अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मिकाः। आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ।१९२। ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा। भव्येष्वास्ते सतश्चास्य ध्याने को नाम विभ्रमः। १९३। =हमारी विवक्षा भाव अर्हंतसे है और अर्हतके ध्यानमें लीन आत्मा ही है, अतः अर्हद्-ध्यान लीन आत्मामें अर्हंतका ग्रहण है ।१८९। अथवा सर्वद्रव्योंमें भूत और भावी स्वपर्यायें तदात्मक हुई द्रव्यरूपसे सदा विद्यमान रहती है। अतः यह भावी अर्हंत पर्याय भव्य जीवोंमें सदा विद्यमान है, तब इस सत् रूपसे स्थिर अर्हत्पर्यायके ध्यानमें विभ्रमका क्या काम है ।१९२–१९३।

४. ध्यानकी तन्मयता सम्बन्धी सिद्धान्त

१. ध्याता अपने ध्यानभाव से तन्मय होता है

प्र.सा./मू./८ परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं...।८।= जिस समय जिस भावसे द्रव्य परिणमन करता है, उस समय वह उस भावके साथ तन्मय होता है) (त.अनु./१९१)

त.अनु./१९१ येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्। तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ।१९१। =आत्मज्ञानी आत्माको जिस भावसे जिस रूप ध्याता है, उसके साथ वह उसी प्रकार तन्मय हो जाता है। जिस प्रकार कि उपाधिके साथ स्फटिक ।१९१। (ज्ञा./३१/४३ मे उद्धृत)।

२. जैसा परिणमन करता है उस समय आत्मा वैसा ही होता है

प्र.सा./मू./८–९। तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ।८। जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो। सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ।९। =इस प्रकार वीतरागचारित्र

रूप धर्मसे परिणत आत्मा स्वयं धर्म होता है।८। जब वह जीव शुभ अथवा अशुभ परिणामोरूप परिणमता है तब स्वयं शुभ और अशुभ होता है और जब शुद्धरूप परिणमन करता है तब स्वय शुद्ध होता है।९।

३. आत्मा अपने ध्येयके साथ समरस हो जाता है

त अनु /१३७ सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्। एतदेव समाधि. स्याल्लोकद्वयफलप्रद' ।१३७। =उन दोनो ध्येय और ध्याताका जो यह एकीकरण है, वह समरसीभाव माना गया है, यही एकीकरण समाधिरूप ध्यान है, जो दोनो लोकोंके फलको प्रदान करनेवाला है। (ज्ञा /३१/३८)।

४. अर्हंतको ध्याता हुआ स्वयं अर्हंत होता है

ज्ञा /३९/४१-४३ तद्गुणग्रामसंलीनमानसस्तद्गताशय'। तद्भावभावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ।४१। यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते। तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूतमीक्षते ।४२। एष देव' स सर्वज्ञ सोऽहं तद्रूपता गत'। तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ।४३। =उस परमात्मामें मन लगानेसे उसके ही गुणोमें लीन होकर, उसमें ही चित्तको प्रवेश करके उसी भावसे भावित योगी उसीकी तन्मयताको प्राप्त होता है ।४१। जब अभ्यासके वशसे उस मुनिके उस सर्वज्ञके स्वरूपसे तन्मयता उत्पन्न होती है उस समय वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्माको सर्वज्ञ स्वरूप देखता है।४२। उस समय वह ऐसा मानता है, कि यह वही सर्वज्ञदेव है, वही तत्स्वरूपताको प्राप्त हुआ मैं हूँ, इस कारण वही विश्वदर्शी मै हूँ, अन्य मै नही हूँ।४३।

त, अनु./१९० परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति। अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात्स्वयं तस्मात्। =जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है, वह उस भावके साथ तन्मय होता है (और भी देखो शीर्षक नं. १), अतः अर्हद्ध्यानसे व्याप्त आत्मा स्वय भाव अर्हंत होता है ।१९०।

५. गरुड आदि तत्त्वोंको ध्याता हुआ आत्मा ही स्वयं उन रूप होता है

ज्ञा /२१/९-१७ शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तित.। अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मत ।९। उक्त च, ग्रन्थान्तरे—आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुख पुमान्। परमात्मा विप' कन्तुरहो माहात्म्यमात्मन' ।९। तदेवं यदिह जगति शरीर विशेष समवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति विनिश्चय'। आत्मप्रवृत्तिपरम्परोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्येति ।१७। =विद्वानोने इस आत्माको ही शिव, गरुड व काम कहा है, क्योकि यह आत्मा ही अणिमा महिमा आदि अमूल्य गुणरूपी रत्नोका समूह है।९। अन्य ग्रन्थमें भी कहा है—अहो। आत्माका माहात्म्य कैसा है, अविनश्वर स्वभावसे उत्पन्न अनन्त ज्ञान व सुखस्वरूप यह आत्मा ही शिव, गरुड व काम है।—(आत्मा ही निश्चयसे परमात्म (शिव) व्यपदेशका धारक होता है।१०। गारुडीविद्याको जाननेके कारण गारुडगी नामको अवगाहन करनेवाला यह आत्मा ही गरुड नाम पाता है।१५। आत्मा ही कामकी संज्ञाको धारण करनेवाला है।१६।) इस कारण शिव गरुड व कामरूपसे इस जगत्में शरीरके साथ मिली हुई जो कुछ सामर्थ्य हम देखते हैं, वह सब आत्माकी ही है। क्योंकि शरीरको ग्रहण करनेमें आत्माकी प्रवृत्ति ही परम्परा हेतु है।१७।

त. अनु /१३५-१३६ यदा ध्यानबलाद्ध्याता शून्यीकृतस्वविग्रहम्। ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् संपद्यते स्वयम् ।१३५। तदा तथाविधध्यानसंवित्ति'—ध्वस्तकल्पन। स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथ ।१३६। =जिस समय ध्याता पुरुष ध्यानके बलसे अपने शरीरको शून्य बनाकर ध्येयस्वरूपमे आविष्ट या प्रविष्ट हो जानेसे अपनेको तत्सदृश बना लेता है, उस समय उस प्रकारकी ध्यान संवित्तिसे भेद विकल्पको नष्ट करता हुआ वह ही परमात्मा (शिव) गरुड अथवा कामदेव है।

नोट—(तीनों तत्त्वोके लक्षण—देखो वह वह नाम।

६. अन्य ध्येय भी आत्मामें आलेखितवत् प्रतीत होते हैं

त. अनु./१३३ ध्याने हि बिभ्रति स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम्। आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासंनिधावपि ।१३३। ध्यानमें स्थिरताके परिपुष्ट हो जानेपर ध्येयका स्वरूप ध्येयके सन्निकट न होते हुए भी, स्पष्ट रूपसे आलेखित जैसा प्रतिभासित होता है।

ध्यानशुद्धि—दे० शुद्धि।

ध्येय—क्योकि पदार्थोंका चिन्तक ही जीवोंके प्रशस्त या अप्रशस्त भावोका कारण है, इसलिए ध्यानके प्रकरणमें यह विवेक रखना आवश्यक है, कि कौन व कैसे पदार्थ ध्यान किये जाने योग्य है और कौन नही।

१. ध्येय सामान्य निर्देश

१. ध्येयका लक्षण

चा. सा./१६७/२ ध्येयमप्रशस्तप्रशस्तपरिणामकारणं। =जो अशुभ तथा शुभ परिणामोंका कारण हो उसे ध्येय कहते हैं।

२. ध्येयके भेद

म. पु./२१/१११ श्रुतमर्थाभिधानं च प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा। =शब्द, अर्थ और ज्ञान इस तरह तीन प्रकारका ध्येय कहलाता है।

त. अनु./९८, ९९, १३१ आज्ञापायो विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च। यथागममविक्षिप्तचेतसा चिन्तयेन्मुनिः।९८। नाम च स्थापना द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम्। समस्तं व्यस्तमप्येतद् ध्येयमध्यात्मवेदिभिः।९९। एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधम्। अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम्।१३१। = मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोकसंस्थानका आगमके अनुसार चित्तकी एकाग्रताके साथ चिन्तवन करे।९८। अध्यात्मवेत्ताओंके द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप चार प्रकारका ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनों रूपसे ध्यानके योग्य माना गया है।९९। अथवा द्रव्य और भावके भेदसे वह दो प्रकारका ही अवस्थित है।

* आज्ञा अपाय आदि ध्येय निर्देश—दे० धर्मध्यान/१।

३. नाम व स्थापनारूप ध्येय निर्देश

त. अनु./१०० वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता। =वाच्यका जो वाचक शब्द वह नामरूप ध्येय है और प्रतिमा स्थापना मानी गयी है।

और भी दे० पदस्थ ध्यान (नामरूप ध्येय अर्थात् अनेक प्रकारके मन्त्रों व स्वर व्यंजन आदिका ध्यान)।

* चार धारणाओंका निर्देश—दे० पिण्डस्थ ध्यान
* आग्नेयी आदि धारणाओंका स्वरूप—दे० वह वह नाम।

२. द्रव्यरूप ध्येय निर्देश

१. प्रतिक्षण प्रवाहित वस्तु व विश्व ध्येय है

त. अनु./११०-११५ गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।१००। यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्। तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं विचिन्तयेत्।११०। अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्। उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले।११२। यद्विवृत्तं यथा पूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति। विवर्तते यदत्राद्य तदेवेदमिदं च तत्।११३। सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः। स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः।११४। एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकम्। प्रतिक्षणमनाद्यनन्तं सर्वं ध्येयं यथा स्थितम्।११५। =द्रव्यरूप ध्येय गुणपर्यायवान् होता है।१००। जिस प्रकार एकद्रव्य एकसमयमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होता है, उसी प्रकार सर्वद्रव्य सदा काल उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप होते रहते हैं।११०। द्रव्य जो कि अनादि निधन है, उसमें प्रतिक्षण स्व पर्यायें जलमें कल्लोलोंकी तरह उपजती तथा विनशती रहती हैं।११२। जो पूर्व क्रमानुसार विवर्तित हुआ है, होगा और हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही सब उन सबरूप है।११३। द्रव्यमें गुण सहवर्ती और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। द्रव्य इन गुणपर्यायात्मक है और गुणपर्याय द्रव्यात्मक है।११४। इस प्रकार यह द्रव्य नामकी वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्ययरूप है तथा अनादिनिधन है वह सब यथावस्थित रूपमें ध्येय है।११५। (ज्ञा./३१/१७)।

२. चेतनाचेतन पदार्थोंका यथावस्थितरूप ध्येय है

ज्ञा./३१/१८ अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षलाञ्छिता। तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः।१८। =जो जीवादिक षट्द्रव्य चेतन अचेतन लक्षणसे लक्षित है, अविरोधरूपसे उन यथार्थ स्वरूप ही बुद्धिमान् जनों द्वारा धर्मध्यानमें ध्येय होता है। (ज्ञा. सा./१७); (त. अनु./१११, १३२)।

३. सात तत्त्व व नौ पदार्थ ध्येय हैं

ध. १३/५,४,२६/३ जिणउवइट्ठणवपयत्था वा ज्झेयं होंति। =जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं।

म. पु./२०/१०८ अहं ममास्रवो बन्धः संवरो निर्जराक्षयः। कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा।१०८। = मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा कर्मोंका क्षय होनेरूप मोक्ष इस प्रकार ये सात तत्त्व या पुण्य पाप मिला देनेसे नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य है।

४. अनीहित वृत्तिसे समस्त वस्तुएँ ध्येय हैं

ध. १३/५,४,२६/३२/७० आलंबणेहि भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स। जं जं मणसा पेच्छइ तं तं आलंबणं होइ। = यह लोक ध्यानके आलम्बनोंसे भरा हुआ है। ध्यानमें मन लगानेवाला क्षपक मनसे जिस-जिस वस्तुको देखता है, वह वह वस्तु ध्यानका आलम्बन होती है।

म.पु./२१/१७ ध्यानस्यालम्बनं कृत्स्नं जगत्तत्त्वं यथास्थितम्। विनात्मात्मीयसङ्कल्पाद् औदासीन्ये निवेशितम्। =जगतके समस्त तत्त्व जो जिस रूपसे अवस्थित हैं और जिनमें मैं और मेरेपनका सकल्प न होनेसे जो उदासीनरूपसे विद्यमान हैं वे सब ध्यानके आलम्बन हैं।१७। म.पु./२१/१९-२१); (द्र.स./मू./५५), (त.अनु./१३८)।

पं. का./ता. वृ./१७३/२१३/२५ में उद्धृत—ध्येयं वस्तु यथास्थितम्। =अपने-अपने स्वरूपमें यथा स्थित वस्तु ध्येय है।

३. पंच परमेष्ठीरूप ध्येय निर्देश

१. सिद्धका स्वरूप ध्येय है

ध.१३/५,४,२६/६९/४ को ज्झाइज्जइ। जिणो वीयरायो केवलणाणेण अवगयतिकालगोयराणंतपज्जाओवचियछद्दव्वो णवकेवललद्धिप्पहुडिअणंतगुणेहि आरद्धदिव्वदेहधरो अजरो अमरो अजोणिसंभवो... सव्वलक्खणसंपुण्णदप्पणसंकंतमाणुसच्छायागारो संतो वि सयलमाणुसपहावुत्तिण्णो अव्वओ अक्खओ। • सगसरूवे दिण्णचित्तजीवाणमसेसपावपणासओ...ज्झेयं होदि। =प्रश्न—ध्यान करने योग्य कौन है? उत्तर—जो वीतराग है, केवलज्ञानके द्वारा जिसने त्रिकालगोचर अनन्त पर्यायोंसे उपचित छह द्रव्योंको जान लिया है, नव केवललब्धि आदि अनन्त गुणोंके साथ जो आरम्भ हुए दिव्य देहको धारण करता है, जो अजर है, अमर है, अयोनिसम्भव है, अदग्ध है, अछेद्य है • (तथा अन्य भी अनेकों) समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण है, अतएव दर्पणमें संक्रान्त हुई मनुष्यकी छायाके समान होकर भी समस्त मनुष्योंके प्रभावसे परे है, अव्यक्त है, अक्षय है। (तथा सिद्धोंके प्रसिद्ध आठ या बारह गुणोंसे समवेत है (दे० मोक्ष/३))। जिन जीवोंने अपने स्वरूपमें चित्त लगाया है उनके समस्त पापोंका नाश करनेवाला ऐसा जिनदेव ध्यान करने योग्य है। (म.पु./२१/१११-११६), (त.अनु./१२०-१२२)।

ज्ञा./३१/१७ शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वर. । सर्वज्ञ' सकल' शिव' स भगवान्सिद्ध' परो निष्कल' ।१७। =शुद्धध्यानसे नष्ट हुआ है कर्मरूप आवरण जिनका ऐसे मुक्तिके वर सर्वज्ञदेव सकल अर्थात् शरीर सहित तो अर्हंत भगवान् है अर्थात् निष्कल सिद्ध भगवान् है। (त.अनु /११६)

२. अर्हंतका स्वरूप ध्येय है

म. पु./२१/१२०–१३० अथवा स्नातकावस्था प्राप्तो घातिव्यपायत'। जिनोऽर्हन् केवली ध्येयो बिभ्रत्तेजोमय वपुः ।१२०। =घातिया कर्मोके नष्ट हो जानेसे जो स्नातक अवस्थाको प्राप्त हुए है, और जो तेजोमय परम औदारिक शरीरको धारण किये हुए है ऐसे केवलज्ञानी अर्हंत जिन ध्यान करने योग्य है।१२०। वे अर्हंत है, सिद्ध है, विश्वदर्शी व विश्वज्ञ है।१२१–१२२। अनन्तचतुष्टय जिनको प्रगट हुआ है।१२३। समवशरणमें विराजमान व अष्टप्रातिहार्यो युक्त है।१२४। शरीर सहित होते हुए भी ज्ञानसे विश्वरूप है।१२५। विश्वव्यापी, विश्वतोमुख, विश्वचक्षु, लोकशिखामणि है।१२६। सुखमय, निर्भय, नि स्पृह, निर्बाध, निराकुल, निरपेक्ष, नीरोग, नित्य, कर्मरहित ।१२७–१२८। नव केवललब्धियुक्त, अभेद्य, अच्छेद्य, निश्चल ।१२९। ऐसे लक्षणोंसे लक्षित, परमेष्ठी, परतत्त्व, परज्योति, व अक्षर] स्वरूप अर्हंत भगवान् ध्येय है।१३०। (त. अनु./१२३–१२६) ।

ज्ञा./३१/१७ शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वर । सर्वज्ञ' सकल. शिव स भगवान्सिद्ध परो निष्कल' । =शुद्धध्यानसे नष्ट हुआ है कर्मरूपी आवरण जिनका ऐसे मुक्तिके वर, सर्वज्ञ, देहसहित समस्त कल्याणके पूरक अर्हंतभगवान् ध्येय है।

३ अर्हंतका ध्यान पदस्थ पिंडस्थ व रूपस्थ तीनों ध्यानोंमें होता है

द्र.स /टी./५० की पातनिका/२०६/८ पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूप दर्शयामीति···। =पदस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ इन तीन ध्यानोंके ध्येयभूत जो श्री अर्हंत सर्वज्ञ है उनके स्वरूपको दिखलाता हूँ।

४. आचार्य उपाध्याय साधु भी ध्येय है

त अनु./१३० सम्यग्ज्ञानादिसपन्ना प्राप्तसप्तमहर्द्धय । यथोक्तलक्षणा ध्येया सूर्युपाध्यायसाधव ।१३०। =जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयसे सम्पन्न हैं, तथा जिन्हे सात महा ऋद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त हुई है, और जो यथोक्त लक्षणके धारक है ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यानके योग्य है।

५. पंचपरमेष्ठीरूप ध्येयकी प्रधानता

त.अनु /११६,१४० तत्रापि तत्त्वत पञ्च ध्यातव्या परमेष्ठिन ।११६। सक्षेपेण यदत्रोक्त विस्तारात्परमागमे । तत्सर्वं ध्यातमेव स्याद्ध्यातेपु परमेष्ठिषु ।१४०। =आत्माके ध्यानमें भी वस्तुत. पंच परमेष्ठी ध्यान किये जानेके योग्य है।११६। जो कुछ यहाँ सक्षेपरूपसे तथा परमागममें विस्ताररूपसे कहा गया है वह सब परमेष्ठियोके ध्याये जानेपर ध्यात हो जाता है। अथवा पचपरमेष्ठियोंका ध्यान कर लिया जानेपर सभी श्रेष्ठ व्यक्तियो व वस्तुओका ध्यान उसमें समाविष्ट हो जाता है।१४०।

* पंच परमेष्ठीका स्वरूप—दे० वह वह नाम।

४. निज शुद्धात्मारूप ध्येय निर्देश

१. निज शुद्धात्मा ध्येय है

ति.प./९/४१ गय सित्थमूसगब्भायारो रयणत्तयादिगुणजुत्तो। णियआदा ज्झायव्वो खयहिदो जीवघणदेसो ।४१। =मोमरहित मूपकके अभ्यन्तर आकाशके आकार, रत्नत्रयादि गुणोंयुक्त, अनश्वर और जीवघनदेशरूप निजात्माका ध्यान करना चाहिए ।४१।

रा.वा./९/२७/७/६२५/३४ एकस्मिन् द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वार्थे चिन्तानियमो इत्यर्थ'/··। =एक द्रव्यपरमाणु या भावपरमाणु (आत्माकी निर्विकल्प अवस्था) में चित्तवृत्तिको केन्द्रित करना ध्यान है। (दे० परमाणु)

म पु./२१/१८,२२८ अथवा ध्येयमध्यात्मतत्त्वं मुक्तेतरात्मकम्। तत्तत्त्वचिन्तनं ध्यात' उपयोगस्य शुद्धये ।१८। ध्येयं स्याद्द परमं तत्त्वमवाङ्मानसगोचरम् ।२२८। =संसारी व मुक्त ऐसे दो भेदवाले आत्म तत्त्वका चिन्तवन ध्याताके उपयोगकी विशुद्धिके लिए होता है।१८। मन वचनके अगोचर शुद्धात्म तत्त्व ध्येय है।२२८।

ज्ञा./३१/२०–२१ अथ लोकत्रयीनाममूर्त्तं परमेश्वरम्। ध्यातुं प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम् ।२०। त्रिकालविषयं साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया। सामान्येन नयेनैक परमात्मानमामनेत् ।२१। =तीन लोकके नाथ अमूर्तीक परमेश्वर परमात्मा अविनाशीका ही साक्षात् ध्यान करनेका प्रारम्भ करे।२०। शक्ति और व्यक्तिकी विवक्षासे तीन कालके गोचर साक्षात् सामान्य (द्रव्यार्थिक) नयसे एक परमात्माका ध्यान व अभ्यास करे।२१।

२. शुद्धपारिणामिक भाव ध्येय है

नि.सा./ता.वृ./४१ पञ्चानां भावाना मध्ये ·पूर्वोक्तभावचतुष्टयं सावरणसयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरंजननिजपरमपञ्चमभावभावनया पञ्चमगति मुमुक्षवो] यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति। =पाँच भावोमेंसे पूर्वोक्त चार भाव आवरण संयुक्त होनेसे मुक्तिके कारण नही है। निरुपाधि निजस्वरूप है, ऐसे निरंजन निज परमपंचमभावकी भावनासे पंचमगति (मोक्ष) में मुमुक्षु जाते है जायेगे और जाते थे।

द्र.सं./टी/५७/२३६/८ यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्ष स पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न। स एव रागादिविकल्परहिते मोक्षकारणभूते ध्यानभावनापर्याये ध्येयो भवति। =जो शुद्धद्रव्यकी शक्तिरूप शुद्धपरम पारिणामिकभावरूप परमनिश्चय मोक्ष है, वह तो जीवमें पहले ही विद्यमान है, अब प्रगट होगी ऐसा नही है। रागादि विकल्पोंसे रहित मोक्षका कारणभूत ध्यान भावनापर्यायमें वही मोक्ष (त्रिकाल निरुपाधि शुद्धात्मस्वरूप) ध्येय होता है। (द्र सं./टी./१३/३९/१०)

३. आत्मा रूप ध्येयकी प्रधानता

त.अनु./११७–११८ पुरुष' पुद्गल. कालो धर्माधर्मौ तथाम्बरम्। षडविधं द्रव्यमाख्यात तत्र ध्येयतम पुमान् ।११७। सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयता प्रतिपद्यते। ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतम स्मृत' ।११८। =पुरुष (जीव), पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसे छह भेदरूप द्रव्य कहा गया है। उन द्रव्यभेदोमें सबसे अधिक ध्यानके योग्य पुरुषरूप आत्मा है।११७। ज्ञाताके होनेपर ही, ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम है।११८।

५. भावरूप ध्येय निर्देश

१. भावरूप ध्येयका लक्षण

त.अनु /१००,१३२ भाव स्याद्गुणपर्यायौ ।१००। भावध्येय पुनर्ध्येय-सन्निभध्यानपर्यय ।१३२। =गुण व पर्याय दोनो भावरूप ध्येय है ।१००। ध्येयके सदृश्य ध्यानकी पर्याय भावध्येयरूपसे परिगृहीत है ।१३२।

२. सभी द्रव्योंके यथावस्थित गुणपर्याय ध्येय हैं

ध.१३/५,४,२६/७० बारसअणुपेक्खाओ उवसमसेडिखवगसेडिचडविहाणं तेवीसवग्गणाओ पंचपरियट्टाणि ट्ठिदिअणुभागपयडिपदेसादि सव्वं पि ज्झेयं होदि त्ति दट्ठव्व । =बारह अनुप्रेक्षाएँ, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणीपर आरोहणविधि, तेईस वर्गणाएँ, पाँच परिवर्तन, स्थिति अनुभाग प्रकृति और प्रदेश आदि ये सब ध्यान करने योग्य है ।

त.अनु./११६ अर्थव्यञ्जनपर्याया मूर्तामूर्ता गुणाश्च ये । यत्र द्रव्ये यथावस्थास्ताश्च तत्र तथा स्मरेत् ।११६। =जो अर्थ तथा व्यजन-पर्यायें और मूर्तीक तथा अमूर्तीक गुण जिस द्रव्यमें जैसे अवस्थित हैं, उनको वहाँ उसी रूपमें ध्याता चिन्तन करे ।

३. रत्नत्रय व वैराग्यकी भावनाएँ ध्येय हैं

ध.१३/५,४,२६/२३/६८ पुव्वकयब्भासो भावणाहि ज्झाणस्स जोग्गद-मुवेदि । ताओ य णाणदंसणचरित्तवेरग्गजणियाओ ।२३। —जिसने पहले उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है, वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान-की योग्यताको प्राप्त होता है । और वे भावनाएँ ज्ञान दर्शन चारित्र और वैराग्यसे उत्पन्न होती है । (म.पु /२१/६४-६५)

नोट—(सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रकी भावनाएँ—दे० वह वह नाम और वैराग्य भावनाएँ—दे० अनुप्रेक्षा)

४. ध्यानमें भाने योग्य कुछ भावनाएँ

मो.पा /मू /८१ उद्धद्धमज्झलोए केइ मज्झ ण अहमेगागी । इह भावणाए जोई पावंति हु सासय ठाण ।८१। =ऊर्ध्व मध्य और अधो इन तीनो लोकोंमें, मेरा कोई भी नहीं, मै एकाकी आत्मा हूँ। ऐसी भावना करनेसे योगी शाश्वत स्थानको प्राप्त करता है । (ति प./६/३५)

र.क.श्रा /१०४ अशरणमशुभमनित्य दु खमनात्मानमावसामि भवं । मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायं तु सामयिके ।१०४। =मै अशरणरूप, अशुभरूप, अनित्य, दु'खमय और पररूप ससारमें निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिकमे ध्यान करना चाहिए ।

इ उ /२७ एकोऽहं निर्मम शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचर । बाह्या' संयोगजा भावा मत्त' सर्वेऽपि सर्वथा ।२७। =मै एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, ज्ञानी योगीन्द्रोंके ज्ञानका विषय हूँ। इनके सिवाय जितने भी स्त्री धन आदि संयोगीभाव है वे सब मुझसे सर्वथा भिन्न है। (सामायिक पाठ/अ /२६), (स.सा./ता वृ /१८७/२५७/१४ पर उद्धृत)

ति.प /६/२४-५१ अहमेक्को खलु सुद्धो दसणणाणप्पगो सदारूवी णवि अत्थि मज्झि किंचिवि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ।२४। णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को । इदि जो झायदि झाणे सो मुच्चइ अट्ठकम्मेहिं ।२६। णाह देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं । एवं खलु जो भाओ सो पावइ सासयं ठाणं ।२८। णाह होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किं पि । एव खलु जो भावइ सो पावइ सव्व-कल्लाण ।३४। केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावो सुहमइओ । केवल-विरियसहाओ सो ह इदि चिंतए णाणी ।४६। =मै निश्चयसे सदा एक, शुद्ध, दर्शनज्ञानात्मक और अरूपी हूँ। मेरा परमाणुमात्र भी अन्य कुछ नही है ।२४। मै न परपदार्थोंका हूँ, और न परपदार्थ मेरे है, मैं तो ज्ञानस्वरूप अकेला ही हूँ ।२६। न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण ही हूँ ।२८। (प्र.सा /१६०); (आराधनासार/ १०१)। न मै परपदार्थोंका हूँ, और न परपदार्थ मेरे है। यहाँ मेरा कुछ भी नही है ।३४। जो केवलज्ञान व केवलदर्शन स्वभावसे युक्त, सुखस्वरूप और केवल वीर्यस्वभाव है वही मै हूँ, इस प्रकार ज्ञानी जीवको विचार करना चाहिए ।४६। (न.च वृ./३६१-३६७, ४०४-४०८); (सामायिक पाठ/अ./२४), (ज्ञा /१८/२६), (त.अनु./१४७-१५६)

ज्ञा./३१/१-१६ स्वविभ्रमसमुद्भूतै रागाद्यतुलबन्धनै' । बद्धो विडम्बित. कालमनन्त जन्मदुर्गमे ।२। परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येष्ठोऽपि वञ्चितः । आपातमात्ररम्यैस्तै विषयैरन्तनीरसै. ।८। मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिनः । एतावानावयोर्भेद' शक्तिव्यक्ति-स्वभावत. ।१०। अह न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुष. । न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रम' ।१२। अनन्तवीर्यविज्ञानदृगा-नन्दात्मकोऽप्यहम् । किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ।१३। =मैने अपने ही विभ्रमसे उत्पन्न हुए रागादिक अतुलबन्धनोसे बँधे हुए अनन्तकाल पर्यन्त संसाररूप दुर्गम मार्गमें विडम्बनारूप होकर विपरीताचरण किया ।२। यद्यपि मेरा आत्मा परमात्मा है, परंज्योति है, जगत्श्रेष्ठ है, महान् है, तो भी वर्तमान देखनेमात्रको रमणीक और अन्तमें नीरस ऐसे इन्द्रियोंके विषयोंसे ठगाया गया हूँ ।८। अनन्त चतुष्टयादि गुणसमूह मेरे तो शक्तिकी अपेक्षा विद्यमान है और अर्हंत सिद्धोमें वे ही व्यक्त है। इतना ही हम दोनोंमें भेद है ।१०। न तो मै नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ और न मनुष्य या देव ही हूँ किन्तु सिद्धस्वरूप हूँ। ये सब अवस्थाएँ तो कर्मविपाकसे उत्पन्न हुई है ।१२। मै अनन्तवीर्य, अनन्तविज्ञान, अनन्तदर्शन व अनन्त-आनन्दस्वरूप हूँ। इस कारण क्या विषवृक्षके समान इन कर्म-शत्रुओको जडमूलसे न उखाड' ।१३।

स.सा /ता.वृ./२८५/३६५/१३ बधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह—सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्म-कनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्ष-णेन स्वसंवेदनज्ञानेन सवेद्यो, गम्य., प्राप्यो, भरितावस्थोऽहं, रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभ-पञ्चेन्द्रियविषयव्यापार', मनोवचन-कायव्यापार-भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूत-भोगाकाङ्क्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादि सर्वविभावपरिणाम-रहित । शून्योऽह जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायै' कृतकारिता-नुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवा. इति निरन्तर भावना कर्तव्या । =बन्धका विनाश करनेके लिए विशेष भावना कहते है—मै तो सहजशुद्धज्ञानानन्दस्वभावी हूँ, निर्विकल्प तथा उदासीन हूँ। निरंजन निज शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न वीतरागसहजा-नन्दरूप सुखानुभूति ही है लक्षण जिसका, ऐसे स्वसवेदनज्ञानके गम्य हूँ। भरितावस्था वत् परिपूर्ण हूँ। राग द्वेष मोह क्रोध मान माया व लोभसे तथा पचेन्द्रियोंके विषयोंसे, मनोवचनकायके व्यापारसे, भाव-कर्म द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित हूँ। ख्याति पूजा लाभसे देखे सुने व अनुभव किये हुए भोगोंकी आकांक्षारूप निदान तथा माया मिथ्या इन तीन शल्योंको आदि लेकर सर्व विभाव परिणामोसे रहित हूँ। तिहुँलोक तिहुँकालमें मन वचन काय तथा कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा शुद्ध निश्चयसे मै शून्य हूँ। इसी प्रकार सब जीवोंको भावना करनी चाहिए। (स सा./ता वृ./परि का अन्त)

ध्रुव—१. उत्पाद व्यय ध्रुव विषयक दे० उत्पाद ।

ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबंध/२ ।

ध्रुव मतिज्ञान—दे० मतिज्ञान/४ ।

ध्रुवराज—(दक्षिणमें लाटदेशके नरेश कृष्णराज प्रथमका पुत्र था। राजा श्रीवल्लभका छोटा भाई था। इसने अवन्तीके राजा वत्सराजको युद्धमें हराकर उसका देश छीन लिया था। पीछे मदोन्मत्त हो जानेसे राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षके प्रति भी विद्रोह किया। फलस्वरूप अमोघवर्षने अपने चचा इन्द्रराजके पुत्र कर्कराजकी सहायतासे इसे हराकर इसका सब देश अपने राज्यमें मिला लिया। यह राजा प्रतिहारवंशी था। समय—श. ७०२-७५७ (ई० ७८०-८३५) दे० इतिहास/३/४ (ह पु /६६/५२-५३), (ह.पु /प्र /५/पं. पन्नालाल)।

ध्रुव वर्गणा—दे० वर्गणा।

ध्रुव शून्य वर्गणा—दे० वर्गणा।

ध्रुवसेन—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार महावीर भगवान्की मूल परम्परामें चौथे ११ अगधारी थे। आपके अपरनाम ध्रुवसेन तथा द्रुमसेन भी थे। समय—वी. नि./४२३-४३६ (ई.पू. १०५-९१) दे० इतिहास/४/१)

ध्वजभूमि—समवशरणकी पाँचवी भूमि—दे० समवशरण।

ध्वान—Rauge (ज.प /प्र./१०६)

[न]

नंद—आरा निवासी व गोयलगोत्री एक हिन्दी भाषाके कवि थे। आपने वि १६६३ (ई १३०६] में सुदर्शनचरित्र और वि० १६७० (ई० १६१३) में चौपाईबद्ध यशोधरचरित्र लिखा है।)1 (हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास।१२६। श्री कामता प्रसाद)।

नंदन—१ वर्द्धमान भगवान्का पूर्वका दूसरा भव। एक सज्जनके पुत्र थे—दे० महावीर २ भगवान्के तीर्थमें एक अनुत्तरोपपादिक—दे० अनुत्तरोपपादिक, ३ सौधर्म स्वर्गका सातवाँ पटल—दे० स्वर्ग/५; ४ मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट और उसपर निवासिनी एक सुपर्णकुमारी देवी। (दे० लोक/७) ५. सुमेरु पर्वतका द्वितीय वनके चारो दिशाओमें चार चैत्यालय है—दे० लोक/३/१४। ६ नन्दन वनका एक कूट—दे० लोक/७। ७. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

नंद वंश—मगध देशका एक प्रसिद्ध राज्यवश था। मगधदेशकी राज्यवंशावलीके इसका राज्य राजा पालकके पश्चात् प्रारम्भ हुआ और मौर्यवंशके प्रथम राजा चन्द्रगुप्त द्वारा इसके अन्तिम राजा धनानन्दके परास्त हो जानेपर इसका नाश हो गया। अवन्ती या उज्जैनी नगरी इसकी राजधानी थी, और मगधदेशमें इसकी सत्ता थी। समय—राजा विक्रमादित्यके अनुसार वी. नि. १५५। (ई० पू० ५२६-३७१), तथा इतिहासकारोके अनुसार (ई० पू० ५२६-३२२)—दे० इतिहास/३/१।

नंदसप्तमी व्रत—सात वर्ष तक प्रतिवर्ष भादों सुदी ७ को उपवास करे। नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (निर्दोष सप्तमी व्रतकी भी यही विधि है।), (व्रत-विधान सग्रह/पृ. १०५ तथा ८६). (किशन सिंह क्रियाकोश)।

नंदा—१. भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४। २. नन्दीश्वर द्वीपके पूर्व दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/७। ३. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक/७।

नंदावती—नन्दीश्वर द्वीपकी पूर्वदिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

नंदा व्याख्या—दे० वाचना।

नंदि—नन्दीश्वरद्वीपका तथा दक्षिण नन्दीश्वर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर/४। २. अपरनाम विष्णुनन्दि था—दे० विष्णुनन्दि।

नंदिघोषा—नन्दीश्वरद्वीपकी पूर्व दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

नंदिनी—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

नंदिप्रभ—उत्तर नन्दीश्वरद्वीपका रक्षकदेव—दे० व्यन्तर/४।

नंदिमित्र—१. श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप द्वितीय श्रुतकेवली थे। समय—वी. नि. ७६-९२ (ई. पू./४५१-४३५)—दे० इतिहास/४/१। २. (म. पु /६६/श्लोक)—पूर्व भव. नं. २ में पिता द्वारा इनके चाचाको युवराज पद दिया गया। इन्होंने इसमें मन्त्रीका हाथ समझ उससे वैर बाँध लिया और दीक्षा ले ली तथा मरकर सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुए।१०३-१०५। वर्तमान भवमें सप्तम बलभद्र हुए।१०६। (विशेष परिचयके लिए—दे० शलकापुरुष/३।

नंदिवर्धन—मगध देशका एक शिशुनागवंशी राजा। समय—ई. पू./४६०।

नंदिवर्द्धना—रुचक पर्वत निवासिनी दो दिक्कुमारी देवियाँ—दे० लोक/७।

नंदिषेण—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप जितदण्डके शिष्य और दीपसेनके गुरु थे—दे० इतिहास/५/१८। २ छठे बलभद्र थे (विशेष परिचयके लिए—दे० शलाकापुरुष/३), (म. पु./६५/१७४)। ३. (म. पु./५३/श्लोक) धातकीखण्डके पूर्व विदेहस्थ सुकच्छदेशकी क्षेमपुरी नगरीका राजा था। (२) धनपति नामक पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण कर ली। और अर्हन्नन्दन मुनिके शिष्य हो गये।१२-१३। तीर्थंकर प्रकृतिको बन्ध करके मध्यम ग्रैवेयकके मध्य विमानमें अहमिन्द्र हुए।१४-१५। यह भगवान् सुपार्श्वनाथके पूर्वका भव नं. २ है—दे० सुपार्श्व नाथ। ४. (ह पु /१८/१२७-१७४) एक ब्राह्मण पुत्र था। जन्मते ही माँ-बाप मर गये। मासीके पास गया तो वह भी मर गयी। मामाके यहाँ रहा तो इसे गन्दा देखकर उसकी लडकियोने इसे वहाँसे निकाल दिया। तब आत्महत्याके लिए पर्वतपर गया। वहाँ मुनिराजके उपदेशसे दीक्षा धर तप किया। निदानबन्ध सहित महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ। यह वसुदेव बलभद्रका पूर्वका दूसरा भव है।—दे० वसुदेव।

नंदिसंघ—दिगम्बर साधुओका एक सघ।—दे० इतिहास/५।

नंदीश्वर कथा—आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित सस्कृत छन्दबद्ध एक ग्रन्थ।

नंदीश्वर द्वीप—यह मध्यलोकका अष्टम द्वीप है (दे० लोक/४/५) इस द्वीपमे १६ वापियाँ, ४ अंजनगिरि, १६ दधिमुख और ३२ रतिकर नामके कुल ५२ पर्वत है। प्रत्येक पर्वतपर एक-एक चैत्यालय है। प्रत्येक अष्टाह्निक पर्वमें अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन व आषाढ मासके अन्तिम आठ-आठ दिनोमें देवलोग उस द्वीपमें जाकर तथा मनुष्य-लोग अपने मन्दिरो व चैत्यालयोमें उस द्वीपकी स्थापना करके, खूब भक्ति-भावसे इन ५२ चैत्यालयोकी पूजा करते है। इस द्वीपकी विशेष रचनाके लिए—दे० लोक/७।

नंदीश्वर पंक्तिव्रत— एक अजनगिरिका एक वेला, ४ दधिमुख-के ४ उपवास और आठ दधिमुखके ८ उपवास। इस प्रकार चारो दिशाओ सम्बन्धी ४ वेला व ४८ उपवास करे। बीचके ५२ स्थानोमे एक-एक पारणा करे। इस प्रकार यह व्रत कुल १०८ दिनमें पूरा होता है। 'ॐ ह्रीं नन्दीश्वरद्वीपस्य द्वापञ्चाशज्जिनालयेभ्यो नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह पु /३४/८४) (वसु. श्रा./३७३-३७५), (व्रतविधान सग्रह/पृ ११७); (किशनसिंह क्रियाकोश)।

नंदीश्वर सागर—नन्दीश्वरके आगेवाला आठवाँ सागर—दे० लोक/५।

नंदोत्तरा—१. नन्दीश्वरद्वीपकी पूर्वदिशामें स्थित एक वापी। —दे० लोक/७। २ मानुषोत्तर पर्वतके लोहिताक्षकूटका स्वामी एक सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७। ३ रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

नंद्यावर्त—१. सौधर्म स्वर्गका २६ वाँ पटल। २. रुचक पर्वतका एक कूट।—दे० लोक/७।

नकुल—(पा. पु /सर्ग / श्लोक)। मद्री रानीसे राजा पाण्डुका पुत्र था। (८/१७४-१७५)। ताऊ भीष्मसे तथा गुरु द्रोणाचार्यसे धनुप-विद्या प्राप्त की। (८/२०८-२१४)। (विशेष दे० पाण्डव)। अन्तमें अपना पूर्वभव सुन दीक्षा धारण कर ली। (२५/१२)। घोर तप किया (२५/१७-५१)। दुर्योधनके भानजे कुर्युधर द्वारा शत्रुंजयगिरि पर्वतपर घोर उपसर्ग सहा और सर्वार्थसिद्धि गये (२५/५२-१३६)। पूर्व भव नं. २ में यह धनश्री ब्राह्मणी था। (२३।८२)। और पूर्व भव नं. १ मे अच्युतस्वर्गमें देव। (२२/११४)। वर्तमान भवमें नकुल हुए। (२४/७७)।

नक्ररवा—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी।—दे० मनुष्य/४।

नक्षत्र—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप प्रथम ११ अगधारी थे। समय—वी. नि ३४५-३६३ (ई पू./१८२-१६४)।—दे० इति-हास/४/१।

नक्षत्र—१. नक्षत्र परिचय तालिका

नं०	नाम (ति.प./७/२६-२८) (त्रि. सा./४३२-३३)	अधिपति देवता (त्रि सा./४३४-३५)	आकार (ति.प /७/४६५-४६७) (त्रि सा /४४२-४४४)	मूल तारोंका प्रमाण (ति प./७/४६३-४६४) (त्रि सा /२४०-४४१)	परिवार तारोंका प्रमाण (ति. प./७/४६८-४६६) (त्रि सा./४४५)
१	कृत्तिका	अग्नि	बीजना	६	६६६६
२	रोहिणी	प्रजापति	गाडीकी उद्धि	५	५५५५
३	मृगशिरा	सोम	हिरणका शिर	३	३३३३
४	आर्द्रा	रुद्र	दीप	१	११११
५	पुनर्वसु	दिति	तोरण	६	६६६६
६	पुष्य	देवमन्त्री (बृहस्पति)	छत्र	३	३३३३
७	आश्लेषा	सर्प	चींटी आदि कृत मिट्टीका पुज	६	६६६६
८	मघा	पिता	गोमूत्र	४	४४४४
६	पूर्वाफाल्गुनी	भग	शर युगल	२	२२२२
१०	उत्तराफाल्गु.	अर्यमा	हाथ	२	२२२२
११	हस्त	दिनकर	कमल	५	५५५५
१२	चित्रा	त्वष्टा	दीप	१	११११
१३	स्वाति	अनिल	अधिकरण (अहिरिणी)	१	११११
१४	विशाखा	इन्द्राग्नि	हार	४	४४४४
१५	अनुराधा	मित्र	वीणा	६	६६६६
१६	ज्येष्ठा	इन्द्र	सीग	३	३३३३
१७	मूल	नैर्ऋ ति	बिच्छू	६	६६६६
१८	पूर्वाषाढा	जल	जीर्ण वापी	४	४४४४
१६	उत्तराषाढा	विश्व	सिंहका शिर	४	४४४४
२०	अभिजित	ब्रह्मा	हाथीका शिर	३	३३३३
२१	श्रवण	विष्णु	मृदंग	३	३३३३
२२	धनिष्ठा	वसु	पतित पक्षी	५	५५५५
२३	शतभिषा	वरुण	सेना	१११	१२३३२१
२४	पूर्वाभाद्रपदा	अज	हाथीका अगला शरीर	२	२२२२
२५	उत्तराभाद्रप.	अभिवृद्धि	हाथीका पिछला शरीर	२	२२२२
२६	रेवती	पूषा	नौका	३२	३५५५२
२७	अश्विनी	अश्व	घोडेका शिर	५	५५५५
२८	भरणी	यम	चूल्हा	३	३३३३

२. नक्षत्रोंके उदय व अस्तका क्रम

ति. प /७/४६३ एदि मघा मज्झण्हे कित्तियरिक्खस्य अत्थमणसमए। उदए अणुराहाओ एवं जाणेज्ज सेसाओ।४६३। =कृत्तिका नक्षत्रके अस्तमन कालमें मघा मध्याहको और अनुराधा उदयको प्राप्त होता है, इसी प्रकार शेष नक्षत्रोके भी उदयादिको जानना चाहिए (विशे-षार्थ—जिस समय किसी विवक्षित नक्षत्रका अस्तमन होता है, उस समय उससे आठवाँ नक्षत्र उदयको प्राप्त होता है। इस नियमके अनु-सार कृत्तिकादिकके अतिरिक्त शेष नक्षत्रोके भी अस्तमन मध्याह्न और उदयको स्वयं ही जान लेना चाहिए।)

त्रि. सा./४३६ कित्तियपडतिसमए अट्ठम मघरिक्खमेदि मज्झण्हं। अणुराहारिक्खुदओ एव सेसे वि भासिज्जो।४३६। =कृत्तिका नक्षत्रके अस्तके समय इससे आठवाँ मघा नक्षत्र मध्याह्नको प्राप्त होता है अर्थात् बीचमें होता है और उस मघासे आठवाँ नक्षत्र उदयको प्राप्त होता है। ऐसे ही रोहिणी आदि नक्षत्रोंमें-से जो विवक्षित नक्षत्र अस्तको प्राप्त होता है उससे आठवाँ नक्षत्र मध्याह्नको और उससे भी आठवाँ नक्षत्र उदयको प्राप्त होता है।

*** नक्षत्रोंकी कुल संख्या, उनका लोकमें अवस्थान व संचार विधि**—दे० ज्योतिषी /२/३,६,७।

नक्षत्रमाला व्रत—प्रथम अश्विनी नक्षत्रसे लेकर एकान्तरा क्रमसे ५४ दिनमें २७ उपवास पूरे करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान-सग्रह/पृ ५३); (किशन सिंह क्रियाकोश)।

नगर—(ति. प./४/१३६८)—णयर चउगोउरेहिं रमणिज्ज।=चार गोपुरो (व कोट) से रमणीय नगर होता है। (ध. १३/५,५,६३/३३४/१२), (त्रि सा./६७४-६७६)।

म. पु./१६/१६६-१७० परिखागोपुराट्टालवप्रप्राकारमण्डितम्। नानाभवनविन्यासं सोद्यानं सजलाशयम्।१६६। पुरमेवंविधं शस्तं उचितोद्देशसुस्थितम्। पूर्वोत्तर-प्लवाम्भस्कं प्रधानपुरुषोचितम्।१७०।=जो परिखा, गोपुर, अटारी, कोट और प्राकारसे सुशोभित हो, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जो बगीचे और तालाबोसे सहित हो, जो उत्तम रीतिसे अच्छे स्थानपर बसा हुआ हो, जिसमें पानीका प्रवाह ईशान दिशाकी ओर हो और जो प्रधान पुरुषोके रहनेके योग्य हो वह प्रशसनीय पुर अथवा नगर कहलाता है।१६६-१७०।

नग्नता—दे० अचेलत्व।

नघुष—(प पु /२२/श्लोक) हिरण्यगर्भका पुत्र तथा सुकौशलका पोता था।११३। शत्रुको वश करनेके कारण इसे सुदास भी कहते थे।।१३१। मासभक्षी बन गया। रसोइयेने मरे हुए बच्चेका मास खिला दिया।१३८। नरमास खानेका व्यसनी हो जानेसे अन्तमें रसोइयेको ही खा गया।१४६। प्रजाने विद्रोह करके देशसे निकाल दिया। तब अणुव्रत धारण किये।१४८। राजाका पटबन्ध हाथी उसे उठाकर ले गया, जिस कारण उसे पुन: राज्यपद मिला।१४९। फिर उसने अपने पुत्रको जीतकर, समस्त राज्य उसीको सौप स्वयं दीक्षा धारण कर ली।१५२।

नति—दे० नमस्कार।

नदी—१ लोक स्थित नदियोका निर्देश व विस्तार आदि—दे० लोक/६, २. नदियोका लोकमे अवस्थान—दे० लोक/७।

नदीस्रोत न्याय—

ध. १/१,१,१६/१८०/७ नदीस्रोतोन्यायेन सन्तीत्यनुवर्तमाने। =नदी स्रोतन्यास 'सन्ति' इस पदकी अनुवृत्ति चली आती है।

नन्नराज—आप वर्द्धमानपुरके राजा थे, इनके समयमें ही वर्द्धमानपुरके श्रीपार्श्वनाथके चैत्यालयमें श्रीमज्जिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणकी रचना प्रारम्भ की थी। **समय**—श ७००-७२५ (ई० ७७८-८०३), (ह पु./६६/५२-५३)।

नपुंसक—१. भाव नपुंसक निर्देश

पं. सं./प्रा /१/१०७ णेवित्थि ण वि पुरिसो णउंसओ उभयलिंगवदिरित्तो। इट्टावग्गिसमाणो वेदणगरुओ कलुसचित्तो। =जो भावसे न स्त्रीरूप है न पुरुषरूप, जो द्रव्यकी अपेक्षा जो स्त्रीलिंग व पुरुषलिंगसे रहित है। ईंटोंके पकानेवाली अग्निके समान वेदकी प्रबल वेदनासे युक्त है, और सदा कलुषचित्त है, उसे नपुंसकवेद जानना चाहिए। (ध. १/१,१,१०१/१७१/३४२); (गो. जी./मू./२७५/५९६)।

स. सि./२/५२/२००/७ नपुंसकवेदोदयात्तदुभयशक्तिविकलं नपुंसकम्। =नपुंसकवेदके उदयसे जो (स्त्री व पुरुष) दोनों शक्तियोंसे रहित है वह नपुंसक है। (ध. ६/१,९-१/२४/४६/६)।

ध. १/१,१,१०१/३४१/११ न स्त्री न पुमान्नपुंसकमुभयाभिलाष इति यावत्। =जो न स्त्री है और न पुरुष है, उसे नपुंसक कहते हैं, अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा रूप (मैथुन संज्ञा) पायी जाती है, उसे नपुंसक कहते है। (गो. जी./जी. प्र./२७१/५९१/१७)।

२. द्रव्य नपुंसक निर्देश

प. सं./प्रा./१/१०७ उभयलिंगवदिरित्तो। =स्त्री व पुरुष दोनों प्रकारके लिंगोसे रहित हो वह नपुंसक है। (ध. १/१,१,१०१/१७२/३४२); (गो. जी /मू /२७५/५९६)।

गो जी./जी. प्र /२७१/५९२/१ नपुंसकवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयेन उभयलिङ्गव्यतिरिक्तदेहाङ्कितो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसकं जीवो भवति।

गो. जी./जी./प्र./२७५/५९७/४ उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः श्मश्रुस्तनादिपुंस्त्रीद्रव्यलिंगरहितः जीवो नपुंसकमिति। = नपुंसकवेदके उदयसे तथा निर्माण नामकर्म सहित अंगोपाग नामकर्मके उदयसे स्त्री व पुरुष दोनो लिंगोसे रहित अर्थात् मूँछ, दाढी व स्तनादि, पुरुष व स्त्री योग्य द्रव्य लिंगसे रहित देहसे अंकित जीव, भवके प्रथम समयसे लेकर उस भवके चरम समय पर्यन्त द्रव्य नपुंसक होता है।

३. नपुंसक वेदकर्म निर्देश

स. सि./८/९/३८६/३ यदुदयान्नपुंसकान्भावानुपव्रजति स नपुंसकवेदः। =जिसके उदयसे नपुसक सम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है (दे० भाव नपुसक निर्देश), वह नपुंसक वेद है। (रा.वा /८/९/४/५७४/२१) (गो. क./जी प्र./३३/२८/१)।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्रव्य भाव नपुंसकवेद सम्बन्धी विषय। —दे० वेद।
२. नपुंसकवेदी भी 'मनुष्य' कहलाता है। —दे० वेद/२।
३. साधुओंको नपुंसककी संगति वर्जनीय है।—दे० संगति।
४. नपुंसकवेद प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम। —दे० मोहनीय/३/६।
५. नपुंसकको दीक्षा व मोक्षका निषेध।—दे० वेद/७।

नभःसेन—दे० नरवाहन।

नभ—एक ग्रह—दे० ग्रह।

नभस्तिलक—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका नगर —दे० विद्याधर।

नमस्कार—१. नमस्कार व प्रणाम सामान्य

मू आ./२५ अरहतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरूण रादीणं। किदिकम्मेणिदरेण य तियरणसकोचणं पणमो।२५। =अर्हंत व सिद्ध प्रतिमाको, तप व श्रुत व अन्य गुणोमें प्रधान जो तपगुरु, श्रुतगुरु और गुणगुरु उनको तथा दीक्षा व शिक्षा गुरुको, सिद्धभक्ति आदि कृतिकर्म द्वारा (दे० कृतिकर्म/४/३) अथवा बिना कृतिकर्मके, मन, वचन व काय तीनोका संकोचना या नमस्कार करना प्रणाम कहलाता है।

भ.आ./मू./७५४/९१८ मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासणं च पंचण्हं। काएण संपणामो एस पयत्थो णमोक्कारो। =मनके द्वारा अर्हंतादि पंचपरमेष्ठीके गुणोंका स्मरण करना, वचनके द्वारा उनके गुणोंका वर्णन करना, शरीरसे उनके चरणोंमें नमस्कार करना यह नमस्कार शब्दका अर्थ है। (भ आ./वि/५०६/७२८/१३)

ध.८/३/४२/९२/७ पंचहि मुट्ठीहि जिणिंदचलणेसु णिवदणं णमंसणं।= पाँच मुष्टियों अर्थात् पाँच अंगोसे जिनेन्द्रदेवके चरणोमें गिरनेको नमस्कार कहते है।

२. एकांगी आदि नमस्कार विशेष

अन.ध./८/९४-९५/८११ योगैः प्रणामस्त्रेधार्हज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः। कं करौ ककरं जानुकरं ककरजानु च।९४। नम्रमेकद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्गः कायिकैः क्रमात्। प्रणामः पञ्चधा वाचि यथास्थानं क्रियते स'।९५।

टीकामें उद्धृत—मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तनं मुनि'। ज्ञानादीनां जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मत'। एकाङ्गो नमने मूर्ध्नो द्व्यङ्गः स्यात् करयोरपि। त्र्यङ्ग' करशिरोनामे प्रणाम' कथितो जिनै'। करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनीषिभि। करजानुशिरोनामे पञ्चाङ्गः परिकीर्तित'। प्रणाम' कायिको ज्ञात्वा पञ्चधेति मुमुक्षुभि'। विधातव्यो यथास्थानं जिनसिद्धादिवन्दने॥ =जिनेन्द्रके ज्ञानादिकका कीर्तन करना, मन, वचन, कायकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। जिसमें कायिक प्रणाम पाँच तरहका है। केवल शिरके नमानेपर एकाग, दोनो हाथोको नमानेसे द्वयग, दोनो हाथ और शिरके नमानेपर त्र्यंग, दोनों हाथ और दोनों घुटने नमानेपर चतुरंग तथा दोनों हाथ, दोनो घुटने व मस्तक नमानेपर पंचांग प्रणाम या नमस्कार कहा जाता है। सो इन पाँचोंमें कैसा प्रणाम कहाँ करना चाहिए ऐसा जानकर यथास्थान यथायोग्य प्रणाम करना चाहिए।

३. अवनमन या नति

ध.१३/५,४,२८/८९/५ ओणदं अवनमनं भूमावासनमित्यर्थ'।=ओणदका अर्थ अवनमन अर्थात् भूमिमें बैठना है।

४. शिरोनति

ध./१३/५.४,२८/८९/१२ जं जिणिंदं पडि सीसणमण तमेगं सिरं।= जिनेन्द्रदेवको शिर नवाना एक सिर अर्थात् शिरोनति कहलाती है।

अन. ध/८/९०/८१७ प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नमद् क्रियते शिरः। यत्पाणिकुड्मलाङ्कं तत् क्रियायां स्याच्चतु'शिर.॥=प्रकृतमें शिर या शिरोनति शब्दका अर्थ भक्तिपूर्वक मुकुलित हुए दोनों हाथोंसे संयुक्त मस्तकका तीन-तीन आवर्तोंके अनन्तर नम्रीभूत होना समझना चाहिए।

५. कृतिकर्ममें नमस्कार व नति करनेकी विधि

ध.१३/५.४,२८/८९/१ तं च तिण्णिवारं कीरदे त्ति तियोणदमिदि भणिदं। तं जहा—सुद्धमणो धोदपादो जिणिंददंसणजणिदहरिसेण पुलइदंगो संतो जं जिणस्स अग्गे वइसदि तमेगमोणदं। जमुट्ठिऊण जिणिंदादीणं विण्णत्ति कादूण वइसणं तं विदियमोणदं। पुणो उट्ठिय सामाइयदंडएण अप्पसुद्धिं काऊण सकसायदेहुस्सग्गं करिय जिणाणंतगुणे ज्झाइय चउवीसतित्थयराणं वंदणं काऊण पुणो जिणजिणालयगुरवाण संथवं काऊण जं भूमीए वइसणं तं तदियमोणदं। एवं एक्केक्कम्हि किरियाकम्मे कीरमाणे तिण्णि चेव ओणमणाणि होंति। सव्वकिरियाकम्मं चदुसिरं होदि। तं जहा सामाइयस्स आदीए जं जिणिंदं पडि सीसणमणं तमेगं सिरं। तस्सेव अवसाणे जं सीसणमणं तं विदियं सीसं। थोस्सामिदंडयस्स आदीए जं सीसणमणं तं तदियं सिरं। तस्सेव अवसाणे जं णमणं तं चउत्थं सिरं। एवमेगं किरियाकम्मं चदुसिरं होदि। ...अधवा सव्वं पि किरियाकम्मं चदुसिरं चदुप्पहाणं होदि; अरहंतसिद्धसाहुधम्मे चेव पहाणभूदे कादूण सव्वकिरियाकम्माण पउत्ति दंसणादो। =वह (अवनमन या नमस्कार) तीन बार किया जाता है, इसलिए तीन बार अवनमन करना कहा है। यथा—शुद्धमन, धौतपाद और जिनेन्द्रके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकित वदन होकर जो जिनदेवके आगे बैठना (पंचांग नमस्कार करना), प्रथम अवनति है। तथा जो उठकर जिनेन्द्र आदिके सामने विज्ञप्ति (प्रतिज्ञा) कर बैठना यह दूसरी अवनति है। फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धि करके, कषायसहित देहका उत्सर्ग करके अर्थात् कायोत्सर्ग करके, जिनदेवके अनन्तगुणोका ध्यान करके, चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करके, फिर जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके जो भूमिमें बैठना (नमस्कार करना) वह तीसरी अवनति है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म करते समय तीन ही अवनति होती हैं। सब क्रियाकर्म चतु'शिर होता है। यथा सामायिक (दण्डक) के आदिमें जो जिनेन्द्रदेवको सिर नवाना वह एकसिर है। उसीके अन्तमें जो सिर नवाना वह दूसरा सिर है। त्थोस्सामि दण्डकके आदिमें जो सिर नवाना वह तीसरा सिर है। तथा उसीके अन्तमें जो नमस्कार करना वह चौथा सिर है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतु'शिर होता है। अथवा सभी क्रियाकर्म चतु शिर अर्थात् चतु.-प्रधान होता है, क्योंकि अर्हंत, सिद्ध, साधु और धर्मको प्रधान करके सब क्रियाकर्मोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। (अन. ध/८/९३/८१९)।

अन.ध./८/९१/८१७ प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकश्चरेत्। त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति। =चैत्यादिकी भक्ति करते समय प्रत्येक प्रदक्षिणामें पूर्वादि चारों दिशाओंकी तरफ प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिए।

विशेष टिप्पणी—दे० कृतिकर्म/२ तथा ४/२।

★ **अधिक बार करनेका निषेध नहीं**—दे० कृतिकर्म/२/६।

६. नमस्कारके आध्यात्मिक भेद

भ. आ/वि./७२२/८९७/२ नमस्कारो द्विविध' द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कारः।

भ. आ./वि/७५३/९१६/१ नमस्कारः नामस्थापनाद्रव्यभावविकल्पेन चतुर्धा व्यवस्थित। =नमस्कार दो प्रकारका है—द्रव्य नमस्कार व भाव नमस्कार। अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य व भावकी अपेक्षा नमस्कार चार प्रकारका है।

पं. का./ता.वृ./१/५/६ आशीर्वस्तुनमस्क्रियाभेदेन नमस्कारस्त्रिधा।= आशीर्वाद, वस्तु और नमस्क्रियाके भेदसे नमस्कार तीन प्रकारका होता है।

७. द्रव्य व भाव नमस्कार सामान्य निर्देश

भ.आ./वि/७२२/८९७/२ नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उत्तमाङ्गावनति., कृताञ्जलिता द्रव्यनमस्कार'। नमस्कर्तव्यानां गुणानुरागो भावनमस्कारस्तत्र रति.। =श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ऐसा मुखसे कहना, मस्तक नम्र करना और हाथ जोडना यह द्रव्य नमस्कार है और नमस्कार करने योग्य व्यक्तियोंके गुणोंमें अनुराग करना, यह भाव नमस्कार है। नोट—द्रव्य नमस्कार विशेषके लिए —दे० नमस्कार व नति निर्देश तथा भाव नमस्कार विशेषके लिए —दे० आगे नं० ८। नाम व स्थापनादि चार भेदोंके लक्षण—दे० निक्षेप।

८. भेद अभेद भावे नमस्कार निर्देश

प्र.सा./त.प्र./२०० स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य

स्यात्मनन्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ।

प्र.सा./त.प्र./२०८ मोक्षसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रत्यस्तमितस्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु । =इस प्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्तताके कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न व निश्चल) लीनता होनेसे, साधु होनेपर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्माको तथा सिद्धभूत परमात्माओंको, उसीमें एकपरायणता जिसका लक्षण है ऐसा भाव नमस्कार सदा ही स्वयमेव हो । अथवा मोक्षके साधन तत्त्वरूप 'शुद्ध' को जिसमें-से परस्पर अङ्ग-अङ्गीरूपसे परिणमित भाव्यभावकताके कारण स्व-परका विभाग अस्त हुआ है ऐसा भाव नमस्कार हो । (अर्थात् अभेद रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग परिणति ही भाव नमस्कार है ।)

प्र.सा./ता.वृ./५/६/१६ अहमाराधक, एते च अर्हदादय आराध्या इत्याराध्याराधकविकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिरहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधकभावः पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते । ="मैं आराधक हूँ और ये अर्हंत आदि आराध्य हैं," इस प्रकार आराध्य-आराधकके विकल्परूप द्वैत नमस्कार है, तथा रागादिरूप उपाधिके विकल्पसे रहित परमसमाधिके बलसे आत्मामें (तन्मयतारूप) आराध्य-आराधक भावका होना अद्वैत नमस्कार कहलाता है ।

द्र.सं./टी./१/८/१२ एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनलक्षणभावस्तवनेन, असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च 'वन्दे' नमस्करोमि । परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वन्द्यवन्दकभावो नास्ति । =एकदेश शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे निज शुद्धात्माका आराधन करनेरूप भावस्तवनसे और असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा उस निजशुद्धात्माका प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्यस्तवनसे नमस्कार करता हूँ । तथा परम शुद्धनिश्चयनयसे वन्द्य-वन्दक भाव नहीं है ।

पं.का./ता.वृ./१/८/२० अनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपभावनमस्कारोऽशुद्धनिश्चयनयेन, नमो जिनेभ्य इति वचनात्मकद्रव्यनमस्कारोऽप्यसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावः । =भगवान्‌के अनन्तज्ञानादि गुणोंके स्मरणरूप भावनमस्कार अशुद्ध निश्चयनयसे है । 'जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार हो' ऐसा वचनात्मक द्रव्यनमस्कार भी असद्भूत व्यवहारनयसे है । शुद्धनिश्चयनयसे तो अपनेमें ही आराध्य-आराधक भाव होता है । विशेषार्थ—वचन और कायसे किया गया द्रव्य नमस्कार व्यवहार नयसे नमस्कार है । मनसे किया गया भाव नमस्कार तीन प्रकारका है—भगवान्‌के गुण चिन्तवनरूप, निजात्माके गुण चिन्तवनरूप तथा शुद्धात्म संवेदन रूप । तहाँ पहला और दूसरा भेद या द्वैतरूप हैं और तीसरा अभेद व अद्वैत रूप । पहला अशुद्ध निश्चयनयसे नमस्कार है, दूसरा एकदेश शुद्धनिश्चयनयसे नमस्कार है और तीसरा साक्षात् शुद्ध निश्चय नयसे नमस्कार है ।

* साधुओं आदिको नमस्कार करने सम्बन्धी —दे० विनय ।

नमस्कार मन्त्र—दे० मन्त्र ।

नमि—१. (प.पु./३/३०६-३०८)—नमि और विनमि ये दो भगवान् आदिनाथके सालेके पुत्र थे । ध्यानस्थ अवस्थामें भगवान्‌से भक्ति पूर्वक राज्यकी याचना करनेपर धरणेन्द्रने प्रगट होकर इन्हें विजयार्धकी श्रेणियोंका राज्य दे दिया और साथ ही कुछ विद्याएँ भी प्रदान कीं । इन्हींसे ही विद्याधर वंशकी उत्पत्ति हुई । —दे० इतिहास/७/१२-म.पु./१८/९१-१४१ । २. भगवान् वीरके तीर्थमें एक अन्तकृत केवली —दे० अन्तकृत ।

नमिनाथ—(म.पु./६९/श्लोक)—पूर्वभव नं. २ में कौशाम्बी नगरीके राजा पार्थिवके पुत्र सिद्धार्थ थे ।२-४। पूर्वभव नं. १ में अपराजित विमानमें अहमिन्द्र हुए ।१६। वर्तमान भवमें २१वें तीर्थंकर हुए । (युगपत् सर्वभव दे० म.पु./६९/७१) । इनका विशेष परिचय —दे० तीर्थंकर/५ ।

नमिष—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

नमुचि—राजा पद्मका मन्त्री । विशेष—दे० बलि ।

नय—अनन्त धर्मात्मक होनेके कारण वस्तु बड़ी जटिल है (दे. अनेकान्त) । उसको जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता । उसे कहनेके लिए वस्तुका विश्लेषण करके एक-एक धर्म द्वारा क्रमपूर्वक उसका निरूपण करनेके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है । कौन धर्मको पहले और कौनको पीछे कहा जाये यह भी कोई नियम नहीं है । यथा अवसर ज्ञानी वक्ता स्वयं किसी एक धर्मको मुख्य करके उसका कथन करता है । उस समय उसकी दृष्टिमें अन्य धर्म गौण होते हैं पर निषिद्ध नहीं । कोई एक निष्पक्ष श्रोता उस प्ररूपणाको क्रम-पूर्वक सुनता हुआ अन्तमें वस्तुके यथार्थ अखण्ड व्यापकरूपको ग्रहण कर लेता है । अत. गुरु-शिष्यके मध्य यह न्याय अत्यन्त उपकारी है । अतः इस न्यायको सिद्धान्तरूपसे अपनाया जाना न्याय संगत है । यह न्याय श्रोताको वस्तुके निकट ले जानेके कारण 'नयतीति नयः' के अनुसार नय कहलाता है । अथवा वक्ताके अभिप्रायको या वस्तुके एकांश ग्राही ज्ञानको नय कहते हैं । सम्पूर्ण वस्तुके ज्ञानको प्रमाण तथा उसके अंशको नय कहते हैं ।

अनेक धर्मोंको युगपद् ग्रहण करनेके कारण प्रमाण अनेकान्तरूप व सकलादेशी है, तथा एक धर्मके ग्रहण करनेके कारण नय एकान्तरूप व विकलादेशी है । प्रमाण ज्ञानको अर्थात् अन्य धर्मोंकी अपेक्षाको बुद्धिमें सुरक्षित रखते हुए प्रयोग किया जानेवाला नय ज्ञान या नय वाक्य सम्यक् है और उनकी अपेक्षाको छोड़कर उतनी मात्र ही वस्तुको जाननेवाला नय ज्ञान या नय वाक्य मिथ्या है । वक्ता या श्रोताको इस प्रकारकी एकान्त हठ या पक्षपात करना योग्य नहीं, क्योंकि वस्तु उतनी मात्र है ही नहीं—दे० एकान्त ।

यद्यपि वस्तुका व्यापक यथार्थ रूप नयज्ञानका विषय न होनेके कारण नयज्ञानका ग्रहण ठीक नहीं, परन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें उसका आश्रय परमोपकारी होनेके कारण वह उपादेय है । फिर भी नयका पक्ष करके विवाद करना योग्य नहीं है । समन्वय दृष्टिसे काम लेना ही नयज्ञानकी उपयोगिता है—दे० स्याद्वाद ।

पदार्थ तीन कोटियोंमें विभाजित है—या तो वे अर्थात्मक अर्थात् वस्तुरूप हैं, या शब्दात्मक अर्थात् वाचकरूप हैं और या ज्ञानात्मक अर्थात् प्रतिभास रूप हैं । अतः उन-उनको विषय करनेके कारण नय ज्ञान व नय वाक्य भी तीन प्रकारके हैं—अर्थनय, शब्दनय व ज्ञाननय । मुख्य गौण विवक्षाके कारण वक्ताके अभिप्राय भी अनेक प्रकारके होते हैं, जिससे नय भी अनेक प्रकारके हैं । वस्तुके सामान्यांश अर्थात् द्रव्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक और उसके विशेषांश अर्थात् पर्यायको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक होता है । इन दो मूल भेदोंके भी आगे अनेकों उत्तर-भेद हो जाते हैं । इसी प्रकार वस्तुके अन्तरंगरूप या स्वभावको विषय करनेवाला निश्चय और उसके बाह्य या संयोगी रूपको विषय करनेवाला नय व्यवहार कहलाता है अथवा गुण-गुणीमें अभेदको विषय करनेवाला निश्चय और उनमें कथंचित् भेदको विषय करनेवाला व्यवहार कहलाता है । तथा इसी प्रकार अन्य भेद-प्रभेदोंका यह नयचक्र उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयभूत वस्तु । उस सबका परिचय इस अधिकारमें दिया जायेगा ।

I नय सामान्य

१. नय सामान्य निर्देश

१. नय सामान्यका लक्षण

१. निरुक्त्यर्थ—

ध. १/१,१,१/ ३,४/१० उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण। अत्थं णयंति पच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया।३। णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण-पज्जएहि ज दव्वं। परिणामखेत्तकालंतरेसु अविणट्ठसब्भावं।४। —उच्चारण किये अर्थ, पद और उसमें किये गये निक्षेपको देखकर अर्थात् समझकर पदार्थको ठीक निर्णय तक पहुँचा देता है, इसलिए वे नय कहलाते है।३। क पा. १/१३-१४/§ २१०/गा. ११८/२६१)। अनेक गुण और अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनके द्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अविनाशी स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं।३।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/३५ जीवादीन् पदार्थान् नयन्ति प्राप्नुवन्ति, कारयन्ति, साधयन्ति, निर्वर्तयन्ति, निर्भासयन्ति, उपलम्भयन्ति, व्यञ्जयन्ति इति नय। —जीवादि पदार्थोंको जो लाते है, प्राप्त कराते हैं, कराते है, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते है, प्रगट कराते हैं, वे नय हैं।

आ. प/६ नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः। —नाना स्वभावोंसे हटाकर वस्तुको एक स्वभावमें जो प्राप्त कराये उसे नय कहते है। (न. च. श्रुत/पृ. १) (न. च. वृत्ति/पृ.५२६) (नयचक्रवृत्ति/सूत्र ६) (न्यायावतार टीका/पृ. ८२), स्या. म./२८/३१०/१०)।

स्या. म./२७/३०५/२८ नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः। —जिस नीतिके द्वारा एकदेश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है अर्थात् प्रतीतिके विषयको प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहते हैं। (स्या. म./२८/३०७/१५)।

२. वक्ताका अभिप्राय

ति. प./१/८३ णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदियभावत्थो।८३। —सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और ज्ञाताके हृदयके अभिप्रायको नय कहते है। (सि. वि./मू/१०/२/६६३)।

ध. १/१,१,१/ ११/१७ ज्ञानं प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते। नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः।११। सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। लघीयस्त्रय/का ५२); (लघीयस्त्रय स्व वृत्ति/का. ३०); प्रमाण संग्रह/श्लो. ८६); (क. पा. १/१३-१४/§ १६८/ श्लो ७५/२००) (ध. ३/१,२,२/ १५/१८) (ध. ६/४,१,४५/१६२/७) (पं. का./ता. वृ/४३/८६/१२)।

आ. प./६ ज्ञातुरभिप्रायो वा नय। —ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। (न. च. वृ./१७४) (न्या दी./३/§८२/१२५)।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/पृ. ६७६ अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः। —प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी धर्मोंका निराकरण न करते हुए वस्तुके एक अंश या धर्मको ग्रहण करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय नय है।

प्रमाणनय तत्त्वालंकार/७/१ (स्या. म./२८/३१६/२१ पर उद्धृत) प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति। —वक्ताके अभिप्राय विशेषको नय कहते है। (स्या. म./२८/३१०/१२)।

३. एकदेश वस्तुग्राही

स. सि./१/३३/१४०/७ वस्तन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवण· प्रयोगो नयः। —अनेकान्तात्मक वस्तुमें विरोधके बिना हेतुकी मुख्यतासे साध्यविशेषकी यथार्थताको प्राप्त करानेमें समर्थ प्रयोगको नय कहते हैं। (ह. पु/५८/३६)।

सारसंग्रहसे उद्धृत (क. पा. १/१३-१४/२१०/१)—अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्युक्त्यपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय। —अनन्तपर्यायात्मक वस्तुकी किसी एक पर्यायका ज्ञान करते समय निर्दोष युक्तिकी अपेक्षासे जो दोषरहित प्रयोग किया जाता है वह नय है। (ध. ६/४,१,४५/१६७/२)।

श्लो. वा २/१/६/४/३२१ स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृत.।४। —अपनेको और अर्थको एकदेशरूपसे जानना नयका लक्षण माना गया है। (श्लो वा. २/१/६/१७/३६०/११)।

न. च. वृ/१७४ वत्थुअंससगहणं। तं इह णयं···।-)। —वस्तुके अंशको ग्रहण करनेवाला नय होता है। (न. च. वृ./१७२) (का. अ/मू./२६३)।

प्र. सा/ता. वृ./१८१/२४५/१२ वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं। —वस्तुकी एकदेश परीक्षा नयका लक्षण है। (पं. का./ता. वृ./४६/८६/१२)।

का. अ/मू/२६४ णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं। तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।२६४। —नाना धर्मोंसे युक्त भी पदार्थके एक धर्मको ही नय कहता है, क्योंकि उस समय उस ही धर्मकी विवक्षा है, शेष धर्मकी विवक्षा नहीं है।

पं. का./पू./५०४ इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे। तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः। —दो विरुद्धधर्मवाले तत्त्वमें किसी एक धर्मका वाचक नय होता है।

और भी देखो – पीछे निरुक्त्यर्थमें—'आ-प' तथा 'स्या म.'। तथा वन्तु' अभिप्रायमें 'प्रमेयकमलमार्तण्ड'।

४. प्रमाणगृहीत वस्तुका एकअंश ग्राही

आप्त मी /१०६ सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधत'। स्याद्वाद-प्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नय'।१०६। =साधर्मीका विरोध न करते हुए, साधर्म्यसे ही साध्यको सिद्ध करनेवाला तथा स्याद्वादमे प्रकाशित पदार्थोंकी पर्यायोको प्रगट करनेवाला नय है। (ध. ६/४,१,४५/गा ६६/१६७) (क. पा. १/१३-१४/§ १७७/८३/२१०—तत्त्वार्थ-भाष्यसे उद्धृत)।

स सि /१/६/२०/७ एवं ह्युक्तं प्रगृह्य प्रमाणत परिणतिविशेषादर्थावधारणं नय ।=आगममें ऐसा कहा है कि वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय है।

रा. वा /१/३३/१/९४/२१ प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।=प्रमाण द्वारा प्रकाशित किये गये पदार्थका विशेष प्ररूपण करनेवाला नय है। (श्लो० वा ४/१/३३/श्लो. ६/२१८)।

आ प /६ प्रमाणेन वस्तुसगृहीतार्थैकाशो नय ।=प्रमाणके द्वारा संगृहीत वस्तुके अर्थके एक अशको नय कहते हैं। (नयचक्र/श्रुत/-पृ २)। (न्या. दी./३/§८२/१२५/७)।

प्रमाणनयतत्त्वालंकार/७/१ से स्या. म /२८/३१६/२७ पर उद्धृत—नीयते येन श्रुताख्यानप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अंगस्तदितरांशौदासीन्यत स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय' इति।=श्रुतज्ञान प्रमाणसे जाने हुए पदार्थोंका एक अंश जानकर अन्य अंशोंके प्रति उदासीन रहते हुए वक्ताके अभिप्रायको नय कहते हैं। (नय रहस्य/पृ ७१), (जैन तर्क/भाषा/पृ. २१) (नय प्रदीप/यशोविजय/पृ ९७)।

ध १/१,१,१/८३/६ प्रमाणपरिगृहोतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नय'। =प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गयी वस्तुके एक अशमें वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं। (ध ६/४,१,४५/१६३/१) (क.पा. १/१३-१४/§१६८/१९९/४)।

ध ६/४,१,४५/६ तथा प्रभाचन्द्रभट्टारकैरप्यभाणि—प्रमाणव्यपाश्रयपरिणामविकल्पवशीकृतार्थविशेषप्ररूपणप्रवण' प्रणिधिर्य' स नय इति। प्रमाणव्यपाश्रयस्तत्परिणामविकल्पवशीकृताना अर्थ विशेषाणा प्ररूपणे प्रवण प्रणिधान प्रणिधि प्रयोगो व्यवहारात्मा प्रयोक्ता वा स नय ।, =प्रभाचन्द्र भट्टारकने भी कहा है—प्रमाणके आश्रित परिणामभेदोंसे वशीकृत पदार्थ विशेषोके प्ररूपणमें समर्थ जो प्रयोग हो है वह नय है। उसीको स्पष्ट करते हैं—जो प्रमाणके आश्रित है तथा उसके आश्रयमे होनेवाले ज्ञाताके भिन्न-भिन्न अभिप्रायोके अधीन हुए पदार्थ-विशेषोंके प्ररूपणमें समर्थ है, ऐसे प्रणिधान अर्थात् प्रयोग अथवा व्यवहार स्वरूप प्रयोक्ताका नाम नय है। (क. पा १/१३-१४/§-१७५/२१०)।

स्या म /२८/३१०/६ प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नय'। प्रमाण-प्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्श इत्यर्थ.। =प्रमाणसे निश्चित किये हुए पदार्थके एक अश ज्ञान करनेको नय कहते हैं। अर्थात् प्रमाण द्वारा निश्चय होने जानेपर उसके उत्तरकालभावी परामर्शको नय कहते है।

५ श्रुतज्ञानका विकल्प.—

श्लो वा २/१/६/श्लो. २७/३६७ श्रुतमूला नया सिद्धा ।=श्रुतज्ञानको मूलकारण मानकर ही नयज्ञानोंकी प्रवृत्ति होना सिद्ध माना गया है।

आ प./६ श्रुतविकल्पो वा (नयः)=श्रुतज्ञानके विकल्पको नय कहते है। (न. च. वृ /१७४) (का. अ /मू /२६३)।

२. उपरोक्त लक्षणोंका समीकरण

ध. ६/४,१,४५/१६२/७ को नयो नाम। ज्ञातुरभिप्रायो नय । अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थ'। प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसाय' अभि-प्राय'। युक्ति' प्रमाणात् अर्थपरिग्रह द्रव्यपर्याययोरन्यतरस्य अर्थ इति परिग्रहो वा नय । प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुन द्रव्ये पर्यये वा वस्त्वध्यवसायो नय इति यावत्।=प्रश्न—नय किसे कहते है? उत्तर—ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। प्रश्न—अभि-प्राय इसका क्या अर्थ है? उत्तर—प्रमाणसे गृहीत वस्तुके एक देशमें वस्तुका निश्चय ही अभिप्राय है। (स्पष्ट ज्ञान होनेमे पूर्व तो) युक्ति अर्थात् प्रमाणसे अर्थके ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायोमें-से किसी एकको ग्रहण करनेका नाम नय है। (और स्पष्ट ज्ञान होनेके पश्चात्) प्रमाणसे जानी हुई वस्तुके द्रव्य अथवा पर्यायमें अर्थात् सामान्य या विशेषमें वस्तुके निश्चयको नय कहते है, ऐसा अभि-प्राय है। और भी दे० नय III/२/२। (प्रमाण गृहीत वस्तुमें नय प्रवृत्ति सम्भव है)

३. नयके मूल भेदोंके नाम निर्देश

त सू /१/३३ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नया'।=नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय है। (ह पु /५८/४१), (ध.१/१,१,१/८०/५), (न च.वृ /१८५), (आ.प /५); (स्या.म./२८/३१०/१५); (इन सबके विशेष उत्तर भेद देखो नय/III)।

स सि./१/३३/१४०/८ स द्वेधा द्रव्यार्थिक' पर्यायार्थिकश्चेति ।=उस (नय) के दो भेद है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। (स सि / १/६/२०/६), (रा.वा/१/१/२/४/४), (रा.वा/१/३३/१/९४/२५), (ध.१/१, १.१/८३/१०); (ध.६/४,१.४५/१६७/१०), (क पा /१३-१४/§१७७/२११/-४), (आ.प /५/गा.४), (न च.वृ./१४८), (स.सा./आ /१३/क ८ की टीका), (प.का /त.प्र /४), (स्या म./२८/३१७/१), (इनके विशेष उत्तर भेद दे० नय/IV)।

आ.प./५/गा.४ णिच्छयववहारणया मूलभेयाण ताण सव्वाण। =सब नयोके मूल दो भेद है—निश्चय और व्यवहार (न च.वृ /१८३), (इनके विशेष उत्तर भेद दे० नय/V)।

का अ /मू./२६५ सो च्चिय एक्को धम्मो वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स। ज जाणदि त णाणं ते तिण्णि वि णय विसेसा य। =वस्तुका एक धर्म अर्थात् 'अर्थ' इस धर्मका वाचक शब्द और उस धर्मको जानने-वाला ज्ञान ये तीनों ही नयके भेद है। (इन नयों सम्बन्धी चर्चा दे० नय/I/४)।

प ध /पू /५०५ द्रव्यनयो भावनय' स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा। =द्रव्यनय और भावनयके भेदसे नय दो प्रकारका है। (इन सम्बन्धी लक्षण दे० नय/I/४)।

दे० नय/I/५ (वस्तुके एक-एक धर्मको आश्रय करके नयके सख्यात, असख्यात व अनन्त भेद है)।

४ नयोंके भेद प्रभेदोंका चार्ट:-
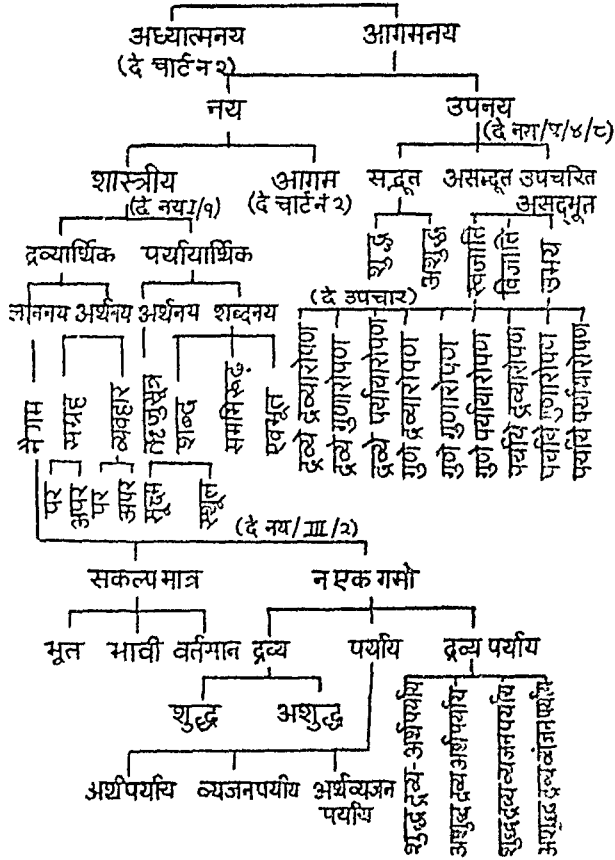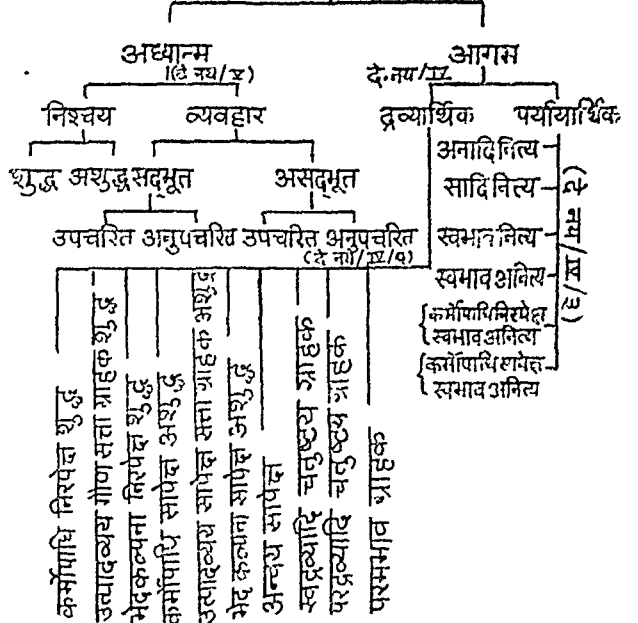
५. द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा निश्चय व्यवहार ही मूल भेद हैं

ध. १/१,१,१/गा.५/१२ तित्थयरवयणसंगहविसेसपत्थारमूलवायरणी । दव्वट्ठियो य पज्जयणयो य सेसा वियप्पा सिं ।५। =तीर्थंकरोंके वचनोंके सामान्य प्रस्तारका मूल व्याख्यान करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और उन्हीं वचनोके विशेष प्रस्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनो नयोंके विकल्प अर्थात् भेद हैं। (श्लो वा/४/१/३३/श्लो.३१२/२२३), (ह.पु./५८/४०)।

ध.५/१,६,१/3/१० दुविहो णिद्देसो दव्वट्ठिय पज्जवट्ठिय णयावलंबणेण। तिविहो णिद्देसो किण्ण ण होज। ण तइज्जस्स णयस्स अभावा। =दो प्रकारका निर्देश है, क्योकि वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन करनेवाला है। प्रश्न—तीन प्रकारका निर्देश क्यों नहीं होता है ? उत्तर—नहीं, क्योकि तीसरे प्रकारका कोई नय ही नहीं है।

आ प./५/गा.४ णिच्छयववहारणया मूलभेयाण ताण सव्वाणं । णिच्छयसाहणहेओ दव्वयपज्जत्थिया मुणह ।४। =सर्व नयोंके मूल निश्चय व व्यवहार ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक ये दोनो निश्चयनयके साधन या हेतु है। (न.च वृ./१८३)।

६. गुणार्थिक नयका निर्देश क्यों नहीं

रा.वा/५/३८/३/५०१/६ यदि गुणोऽपि विद्यते, ननु चोक्तम् तद्विषयस्तृतीयो मूलनय' प्राप्नोतीति, नैष दोष'; द्रव्यस्य द्वावात्मानौ सामान्यं विशेषश्चेति । तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वय' गुण इत्यनर्थान्तरम्। विशेषो भेद. पर्याय इति पर्यायशब्द । तत्र सामान्यविषयो नयः द्रव्यार्थिक' । विशेषविषय' पर्यायार्थिक । तदुभयं समुदितमयुतसिद्धरूप द्रव्यमित्युच्यते, न तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति, विकलादेशत्वान्नयानाम् । तत्समुदयोऽपि प्रमाणगोचर सकलादेशत्वात्प्रमाणस्य। =प्रश्न—(द्रव्य व पर्यायसे अतिरिक्त) यदि गुण नामका पदार्थ विद्यमान है तो उसको विषय करनेवाली एक तीसरी (गुणार्थिक नामकी) मूलनय भी होनी चाहिए ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योकि द्रव्यके सामान्य और विशेष ये दो स्वरूप है। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थ शब्द है। विशेष, भेद और पर्याय ये पर्यायवाची (एकार्थ) शब्द है। सामान्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और विशेषको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक। दोनोंसे समुदित अयुतसिद्धरूप द्रव्य है। अतः गुण जब द्रव्यका ही सामान्यरूप है तब उसके ग्रहणके लिए द्रव्यार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नयकी कोई आवश्यकता नही है; क्योकि, नय विकलादेशी है और समुदायरूप द्रव्य सकलादेशी प्रमाणका विषय होता है। (श्लो.वा. ४/१/३३/श्लो ८/२२०); (प्र.सा/त.प्र/११४)।

ध. ५/१,६,१,/३/११ तं पि कधं णव्वदे। सगहासंगहवदिरित्तत्तव्वि-सयाणुवलंभादो।=प्रश्न—यह कैसे जाना कि तीसरे प्रकारका कोई नय नहीं है? उत्तर—क्योंकि संग्रह और असग्रह अथवा सामान्य और विशेपको छोडकर किसी अन्य नयका विपयभूत कोई पदार्थ नहीं पाया जाता।

२. नय-प्रमाण सम्बन्ध

१. नय व प्रमाणमें कथंचित् अभेद

ध.९/४,१,४५/८०/६ कथं नयाना प्रामाण्यं। न प्रमाणकार्याणा नयानामुपचारत' प्रामाण्याविरोधात्। =प्रश्न—नयोमें प्रमाणता कैसे सम्भव है? उत्तर—नही, क्योंकि नय प्रमाणके कार्य है (दे० नय/II/२), इसलिए उपचारसे नयोमें प्रमाणताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता।

स्या म./२८/३०६/२१ मुख्यवृत्त्या च प्रमाणस्यैव प्रामाण्यम्। यच्च अत्र नयाना प्रमाणतुल्यकक्षताख्यापनं तत् तेषामनुयोगद्वारभूततया प्रज्ञापनाङ्गत्वज्ञापनार्थम्। =मुख्यतामे तो प्रमाणको ही प्रमाणता (सत्यपना) है, परन्तु अनुयोगद्वारसे प्रज्ञापना तक पहुँचनेके लिए नयोको प्रमाणके समान कहा गया है। (अर्थात् सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणभूत होनेसे नय भी उपचारसे प्रमाण है।)

पं ध./पू./६७६ ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेष. प्रमाणमिति नियमात्। उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो। =जिस प्रकार नय ज्ञान-विशेष है उसी प्रकार प्रमाण भी ज्ञान विशेष है, अतः दोनोमे वस्तुत' कोई भेद नही है।

२. नय व प्रमाणमें कथंचित् भेद

ध.६/४,१,४५/१६३/४ प्रमाणमेव नय' इति केचिदाचक्षते, तन्न घटते, नयानामभावप्रसगात्। अस्तु चेन्न नयाभावे एकान्तव्यवहारस्य दृश्यमानस्याभावप्रसङ्गात्। =प्रमाण ही नय है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते है। परन्तु यह घटित नही होता, क्योंकि ऐसा माननेपर नयोके अभावका प्रसंग आता है। यदि कहा जाये कि नयोंका अभाव हो जाने दो, सो भी ठीक नही है, क्योंकि ऐसे देखे जानेवाले (जगत्प्रसिद्ध) एकान्त व्यवहारके (एक धर्म द्वारा वस्तुका निरूपण करनेरूप व्यवहारके) लोपका प्रसंग आता है।

दे० सप्तभंगी/२ (स्यात्कारयुक्त प्रमाणवाक्य होता है और उससे रहित नय-वाक्य)।

प.ध./पू./५०७,६७९ ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेय प्रक्रियापि सयोज्या। ज्ञान ज्ञानं न नयो नयोऽपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात्।५०७। उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुत.।६७९। =ज्ञानके विकल्पको नय कहते है, इसलिए ज्ञान ज्ञान है और नय नय है। ज्ञान नय नहीं और नय ज्ञान नहीं। (इन दोनोमें विषयकी विशेषतासे ही भेद हे, वस्तुत' नहीं)।

३. श्रुत प्रमाणमें ही नय होती है अन्य ज्ञानोंमें नहीं

श्लो.वा २/१/६/श्लो.२४-२७/३६६ मतेरवधितो वापि मन पर्ययतोपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नाशोऽस्ति नयाना वर्तनं ननु।२४। नि'शेषदेशकालार्थगोचरत्वविनिश्चयात्। तस्येति भाषित कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितम्।२५। त्रिकालगोचराशेषपदार्थाशेषु वृत्तित'। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषा न युज्यते।२६। परोक्षाकारतावृत्ते स्पष्टत्वात् केवलस्य तु। श्रुतमूला नया सिद्धा वक्ष्यमाणा' प्रमाणवत्।२७। =प्रश्न—(नय I/१/१/४ में ऐसा कहा गया है कि प्रमाणमे जान ली गयी वस्तुके अशोमें नय ज्ञान प्रवर्तता है) किन्तु मति, अवधि व मन-पर्यय इन तीन ज्ञानोसे जान लिये गये अर्थके अशोमें तो नयोकी प्रवृत्ति नही हो रही है, क्योंकि वे तीनों सम्पूर्ण देश व कालके अर्थोंको विषय करनेको समर्थ नही है, ऐसा विशेषरूपसे निर्णीत हो चुका है। (और नयज्ञानकी प्रवृत्ति सम्पूर्ण देशकालवर्ती वस्तुका समीचीन ज्ञान होनेपर ही मानी गयी है—दे० नय/II/२)। उत्तर—आपकी बात युक्त है और वह हमें इष्ट है। प्रश्न—त्रिकालगोचर अशेष पदार्थोके अशोंमें वृत्ति होनेके कारण केवलज्ञानको नयका मूल मान ले तो? उत्तर—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि अपने विषयोकी परोक्षरूपसे विकल्पना करते हुए ही नयकी प्रवृत्ति होती है, प्रत्यक्ष करते हुए नही। किन्तु केवलज्ञानका प्रतिभास तो स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष होता है। अत. परिशेष न्यायसे श्रुतज्ञानको मूल मानकर ही नयज्ञानोकी प्रवृत्ति होना सिद्ध है।

४. प्रमाण व नयमें कथंचित् प्रधान व अप्रधानपना

स सि /१/६/२०/६ अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य पूर्वनिपात'। ··कुतोऽभ्यर्हितत्वम्। नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्। =सूत्रमें 'प्रमाण' शब्द पूज्य होनेके कारण पहले रखा गया है। नय प्ररूपणाका योनिभूत होनेके कारण प्रमाण श्रेष्ठ है। (रा.वा/१/६/१/३३/४)

न.च /श्रुत/३२ न ह्येवं, व्यवहारस्य पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात्। ननु प्रमाणलक्षणो योऽसौ व्यवहार' स व्यवहारंनिश्चयमनुभयं च गृह्णन्नप्यधिकविषयत्वात्कथं न पूज्यतमो। नैवं नयपक्षातीतमात्मानं कर्तुमशक्यत्वात्। तद्यथा। निश्चय गृह्णन्नपि अन्ययोगव्यवच्छेदनं न करोतीत्यन्ययोगव्यवच्छेदाभावे व्यवहारलक्षणभावक्रिया निरोद्धुमशक्त। अत एव ज्ञानचैतन्ये स्थापयितुमशक्य एवात्मानमिति। =व्यवहारनय पूज्यतर है और निश्चयनय पूज्यतम है। (दोनो नयोकी अपेक्षा प्रमाण पूज्य नहीं है)। प्रश्न—प्रमाण ज्ञान व्यवहारको, निश्चयको, उभयको तथा अनुभयको विषय करनेके कारण अधिक विषय वाला है। फिर भी उसको पूज्यतम क्यों नही कहते? उत्तर—नही, क्योंकि इसके द्वारा आत्माको नयपक्षसे अतीत नही किया जा सकता वह ऐसे कि—निश्चयको ग्रहण करते हुए भी वह अन्यके मतका निषेध नही करता है, और अन्यमत निराकरण न करनेपर वह व्यवहारलक्षण भाव व क्रियाको रोकनेमें असमर्थ होता है, इसीलिए यह आत्माको चैतन्यमें स्थापित करनेके लिए असमर्थ रहता है।

५. प्रमाणका विषय सामान्य विशेष दोनों है—

प. मु /४/१,२ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय'।१। अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारापरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च।२। =सामान्य विशेषस्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्यायस्वरूप पदार्थ प्रमाणका विषय है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थमें अनुवृत्तप्रत्यय (सामान्य) और व्यावृत्तप्रत्यय (विशेष) होते है। तथा पूर्व आकारका त्याग, उत्तर आकारकी प्राप्ति और स्वरूपकी स्थितिरूप परिणामोसे अर्थक्रिया होती है।

६. प्रमाण अनेकान्तग्राही है और नय एकान्तग्राही

स्व. स्तो /१०३ अनेकान्तोऽप्यनेकान्त प्रमाणनयसाधन। अनेकान्त' प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।१८।=आपके मतमे अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनोको लिये हुए अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाणकी दृष्टिमे अनेकान्त रूप सिद्ध होता है और विवक्षित नयकी अपेक्षामे एकान्तरूप सिद्ध होता है।

रा. वा /१६/७/३५/२८ सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्त' प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्। =सम्यगेकान्त

नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। नय विवक्षा वस्तुके एक धर्मका निश्चय करानेवाली होनेसे एकान्त है और प्रमाणविवक्षा वस्तुके अनेक धर्मोंकी निश्चय स्वरूप होनेके कारण अनेकान्त है। (न. दी./३/§ ८५/१२६/१)। (स. भ. त./७४/४) (प. ध./उ./३३४)।

ध. ९/४,१,४५/१६३/५ किं च न प्रमाणं नयः तस्यानेकान्तविषयत्वात्। न नयः प्रमाणम्, तस्यैकान्तविषयत्वात्। न च ज्ञानमेकान्तविषयमस्ति, एकान्तस्य नीरूपत्वतोऽवस्तुनः कर्मरूपत्वाभावात्। न चानेकान्तविषयो नयोऽस्ति, अवस्तुनि वस्त्वर्पणाभावात्। = प्रमाण नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय अनेक धर्मात्मक वस्तु है। न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि, उसका एकान्त विषय है। और ज्ञान एकान्तको विषय करनेवाला है नहीं, क्योंकि, एकान्त नीरूप होनेसे अवस्तुस्वरूप है, अतः वह कर्म (ज्ञानका विषय) नहीं हो सकता। तथा नय अनेकान्तको विषय करनेवाला नहीं है, क्योंकि, अवस्तुमें वस्तुका आरोप नहीं हो सकता।

प्र. सा./त. प्र./परि० का अन्त—प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणं अनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेणाशक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम्। युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाणं तु अनन्तधर्माणां वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यं। = एक एक धर्ममें एक एक नय, इस प्रकार अनन्त धर्मोंमें व्यापक अनन्त नयोंसे निरूपण किया जाय तो, अनन्तधर्मोंको परस्पर अतद्भावमात्रसे पृथक् करनेमें अशक्य होनेसे, आत्मद्रव्य अमेचकस्वभाववाला, एकधर्ममें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त एकान्तात्मक है। परन्तु युगपत् अनन्त धर्मोंमें व्यापक ऐसे अनन्त नयोंमें व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाणसे निरूपण किया जाय तो, अनन्तधर्मोंको वस्तुरूपसे पृथक् करना अशक्य होनेसे आत्मद्रव्य मेचकस्वभाववाला, अनन्त धर्मोंमें व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होनेसे यथोक्त अनेकान्तात्मक है।

७. प्रमाण सकलादेशी है और नय विकलादेशी

स. सि./१/६/२०/८ में उद्धृत—सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति। = सकलादेश प्रमाणका विषय है और विकलादेश नयका विषय है। (रा. वा./१/६/३/३३/९) (पं. का./ता. वृ./१४/३२/१९) (और भी दे. सप्तभंगी/२) (विशेष दे० सकलादेश व विकलादेश)।

८. प्रमाण सकल वस्तुग्राहक है और नय तदंशग्राहक

न. च. वृ./२४७ इदि तं पमाणविसयं सत्तारूवं खु जं हवे दव्वं। णयविसयं तस्सं सियभणितं तं पि पुव्वुत्तं।२४७। = केवल सत्तारूप द्रव्य अर्थात् सम्पूर्ण धर्मोंकी निर्विकल्प अखण्ड सत्ता प्रमाणका विषय है और जो उसके अंश अर्थात् अनेको धर्म कहे गये हैं वे नयके विषय हैं। (विशेष दे./नय/I/१/१/३)।

आ. प./९ सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणं। = सकल वस्तु अर्थात् अखण्ड वस्तु ग्राहक प्रमाण है।

ध. ९/४,१,४५/१६६/१ प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेशीत्यर्थः। तेन प्रकाशितानां प्रमाणपरिगृहीतानामित्यर्थः। तेषामर्थानामस्तित्वनास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्वाद्यनन्तात्मकानां जीवादीनां ये विशेषाः पर्यायाः तेषां प्रकर्षेण रूपकः प्ररूपकः निरुद्धदोषानुषङ्गद्वारेणेत्यर्थः। = प्रकर्षसे अर्थात् संशयादिसे रहित वस्तुका ज्ञान प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि जो समस्त धर्मोंको विषय करनेवाला हो वह प्रमाण है, उससे प्रकाशित उन अस्तित्वादि व नित्यत्व अनित्यत्वादि अनन्त धर्मात्मक जीवादिक पदार्थोंके जो विशेष अर्थात् पर्यायें हैं, उनका प्रकर्षसे अर्थात् संशय आदि दोषोंसे रहित होकर निरूपण करनेवाला नय है। (क. पा. १/१३-१४/§ १७४/२१०/३)।

पं. ध./पू./६६६ अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य। एकविकल्पो नयस्यादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः।६६६। तत्रोक्तलक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति। विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम्।६७६। = ज्ञान अर्थाकार होता है। वही प्रमाण है। उसमें केवल सामान्यात्मक या केवल विशेषात्मक विकल्प नय कहलाता है और उभयविकल्पात्मक प्रमाण है।६६६। वस्तुका सर्वस्व ग्रहण करना प्रमाणका लक्षण है। समस्त वस्तु उसका विषय है और निरंशदेश आदि 'भू' उसके उदाहरण हैं।६७६।

९. प्रमाण सब धर्मोंको युगपत् ग्रहण करता है तथा नय क्रमसे एक एकको

ध. ९/४,१,४५/१६३ किं च, न प्रमाणेन विधिमात्रमेव परिच्छिद्यते, परव्यावृत्तिमनादधानस्य तस्य प्रवृत्तेः सांकर्यप्रसङ्गादप्रतिपत्तिसमानताप्रसङ्गो वा। न प्रतिषेधमात्रम्, विधिमपरिच्छिन्दानस्य इदमस्माद् व्यावृत्तमिति गृहीतुमशक्यत्वात्। न च विधिप्रतिषेधौ मिथो भिन्नौ प्रतिभासेते, उभयदोषानुषङ्गात्। ततो विधिप्रतिषेधात्मकं वस्तु प्रमाणसमधिगम्यमिति नास्त्येकान्तविषयं विज्ञानम्। प्रमाणपरिगृहीतवस्तुनि यो व्यवहार एकान्तरूपः नयनिबन्धनः। ततः सकलो व्यवहारो नयाधीनः। = प्रमाण केवल विधि या केवल प्रतिषेधको नहीं जानता, क्योंकि, दूसरे पदार्थोंकी व्यावृत्ति किये बिना ज्ञानमें संकरताका या अज्ञानरूपताका प्रसंग आता है, और विधिको जाने बिना 'यह इससे भिन्न है' ऐसा ग्रहण करना अशक्य है। प्रमाणमें विधि व प्रतिषेध दोनों भिन्न-भिन्न भी भासित नहीं होते हैं, क्योंकि ऐसा होनेपर पूर्वोक्त दोनों दोषोंका प्रसंग आता है। इस कारण विधि प्रतिषेधरूप वस्तु प्रमाणका विषय है। अतएव ज्ञान एकान्त (एक धर्म) को विषय करनेवाला नहीं है। —प्रमाणसे गृहीत वस्तुमें जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नय निमित्तक है। (नय/V/९/४) (पं. ध./पू./६६५)।

न. च. वृ./७१ इत्थित्ताइसहावा सव्वा सब्भाविणो ससब्भावा। उहय जुगवपमाणं गहइ णओ गउणमुक्खभावेण।७१। = अस्तित्वादि जितने भी वस्तुके निज स्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मोंको युगपत् ग्रहण करनेवाला प्रमाण है, और उन्हें गौण मुख्य भावसे ग्रहण करनेवाला नय है।

न्या. दी./३/§ ८५/१२६/१ अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयत्वात्प्रमाणस्य, नियतैकधर्मवद्वस्तुविषयत्वाच्च नयस्य। = अनियत अनेक धर्म विशिष्ट वस्तुको विषय करनेवाला प्रमाण है और नियत एक धर्म विशिष्ट वस्तुको विषय करनेवाला नय है। (पं. ध./पू./६८०)। (और भी दे०—अनेकान्त/३/१)।

१०. प्रमाण स्यात्पद युक्त होनेसे सर्व नयात्मक होता है

स्व. स्तो./६५ नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः। भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः। = जिस प्रकार रसोंके संयोगसे लोहा अभीष्ट फलका देनेवाला बन जाता है, इसी तरह नयोंमें 'स्यात्' शब्द लगानेसे भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित नय इष्ट फलको देते हैं। (स्या. म./२८/३२१/३ पर उद्धृत)।

रा. वा./१/६/५/३८/१५ तदुभयसंग्रहः प्रमाणम्। = द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दोनों नयोंका संग्रह प्रमाण है। (पं. ध./पू./६६५)।

स्या. म./२८/३२१/१ प्रमाणं तु सम्यगर्थनिर्णयलक्षणं सर्वनयात्मकम्। स्याच्छब्दलाञ्छितानां नयानामेव प्रमाणव्यपदेशभाक्त्वात्। तथा

च श्रीविमलनाथस्तवे श्रीसमन्तभद्र' ।=सम्यक् प्रकारसे अर्थके निर्णय करनेको प्रमाण कहते हैं । प्रमाण सर्वनय रूप होता है । क्योंकि नय-वाक्योंमें 'स्यात्' शब्द लगाकर बोलनेको प्रमाण कहते है । श्रीसमन्त स्वामीने भी यही बात स्वयभू स्तोत्रमें विमलनाथ स्वामीको स्तुति करते हुए कही है । (दे० ऊपर प्रमाण न १) ।

११. प्रमाण व नयके उदाहरण

पं. ध /पू /७४७-७६७ तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतम् । गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ।७४७। यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् । गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ।७४८।='तत्त्व अनिर्वचनीय है' यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है और 'द्रव्य गुणपर्यायवान है' यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है ।७४७। जो यह अनिर्वचनीय है वही गुणपर्यायवान है, कोई अन्य नहीं, और जो यह गुणपर्यायवान है वही तत्त्व है, ऐसा प्रमाणका पक्ष है ।७४८।

१२. नयके एकान्तग्राही होनेमें शंका

ध.६/४,१,४७/२३६/५ एयंतो अवत्थू कधं ववहारकारणं । एयतो अवत्थूण सव्ववहारकारणं किंतु तक्कारणमणेयंतो पमाणविसईकओ, वत्थुत्तादो । कधं पुण णओ सव्वसववहाराण कारणमिदि । वुच्चदे—को एवं भणदि णओ सव्वसंववहाराण कारणमिदि । पमाण पमाणविसई-कयट्ठा च सयलसंववहाराणंरण । किंतु सव्वो सव्ववहारो पमाणणिबंधणो णयसरूवो त्ति पत्तवेमो, सव्वसंववहारेसु गुण-पहाणभावोवलंभादो । =प्रश्न—जब कि एकान्त अवस्तुस्वरूप है, तब वह व्यवहारका कारण कैसे हो सकता है ? उत्तर—अवस्तुस्वरूप एकान्त सव्यवहारका कारण नही है, किन्तु उसका कारण प्रमाणसे विषय किया गया अनेकान्त है, क्योंकि वह वस्तुस्वरूप है । प्रश्न—यदि ऐसा है तो फिर सब संव्यवहारोका कारण नय कैसे हो सकता है ? उत्तर—इसका उत्तर कहते है—कौन ऐसा कहता है कि नय सब संव्यवहारोका कारण है, या प्रमाण तथा प्रमाणसे विषय किये गये पदार्थ भी समस्त सव्यवहारोके कारण है ? किन्तु प्रमाण-निमित्तक सब सव्यवहार नय स्वरूप है, ऐसा हम कहते है, क्योंकि सब सव्यवहारोंमें गौणता प्रधानता पायी जाती है । विशेष—दे० नय/II/२ ।

३. नयकी कथंचित् हेयोपादेयता

१. तत्त्व नय पक्षोंसे अतीत है

स.सा /मू./१४२ कम्म बद्धमबद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्खं । पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।१४२। =जीवमें कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है इस प्रकार तो नयपक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रान्त कहलाता है वह समयसार है । (न.च /श्रुत/२६/१) ।

न.च./श्रुत/३२—प्रत्यक्षानुभूतिर्नयपक्षातीत' । =प्रत्यक्षानुभूति ही नय पक्षातीत है ।

२. नय पक्ष कथंचित् हेय है

स. सा./आ./परि/क.२७० चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा, सद्य प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमान । तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेकमेकान्तशान्तमचल चिदह महोस्मि ।२७०।=आत्मामें अनेक शक्तियाँ हैं, और एक-एक शक्तिका ग्राहक एक-एक नय है, इसलिए यदि नयोंकी एकान्त दृष्टिसे देखा जाये तो आत्माका खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाये । ऐसा होनेसे स्याद्वादी, नयोंका विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तुको अनेकशक्तिसमूहरूप सामान्यविशेषरूप सर्व शक्तिमय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है । ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है, इसमें कोई विरोध नही है । (विशेष दे० अनेकान्त/५), (प. ध./पू /५१०) ।

३. नय केवल ज्ञेय हैं पर उपादेय नहीं

स सा /मू./१४३ दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो । ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो । =नयपक्षसे रहित जीव समयसे प्रतिबद्ध होता हुआ, दोनों ही नयोंके कथनको मात्र जानता ही है, किन्तु नयपक्षको किंचितमात्र भी ग्रहण नहीं करता ।

४. नय पक्षको हेय कहनेका कारण व प्रयोजन

स. सा./आ./१४४/क. ९३-९५ आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना, सारो य' समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमान स्वयम् । विज्ञानैकरस' स एष भगवान्पुण्य पुराण पुमान्, ज्ञान दर्शनमप्ययं किम थवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ।९३। दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो, दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघ बलात् । विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्, आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्यय तोयवत् ।९४। विकल्पक: परं कर्ता विकल्प कर्म केवलम् । न जातु कर्तृकर्मत्व सविकल्पस्य नश्यति ।९५। =नयोंके पक्षोसे रहित अचल निर्विकल्प भावको प्राप्त होता हुआ, जो समयका सार प्रकाशित करता है, वह यह समयसार, जो कि आत्मलीन पुरुषोंके द्वारा स्वय आस्वाद्यमान है, वह विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान् है, पवित्र पुराण पुरुष है । उसे चाहे ज्ञान कहो या दर्शन वह तो यही (प्रत्यक्ष) ही है, अधिक क्या कहें ? जो कुछ है, सो यह एक ही है ।९३। जैसे पानी अपने समूहसे च्युत होता हुआ दूर गहन वनमें बह रहा हो, उसे दूरसे ही ढालवाले मार्गके द्वारा अपने समूहकी ओर बल पूर्वक मोड दिया जाये, तो फिर वह पानी, पानीको पानेके लिए समूहकी ओर खिंचता हुआ प्रवाह-रूप होकर अपने समूह में आ मिलता है । इसी प्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभावसे च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालोंके गहन वनमें दूर परिभ्रमण कर रहा था । उसे दूर से ही विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघनस्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड दिया गया । इसलिए केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषों को जो एक विज्ञान रसवाला ही अनुभवमें आता है ऐसा वह आत्मा, आत्माको आत्मामें खींचता हुआ, सदा विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है ।९४। (स मा./आ /१४४) । विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है, और विकल्प ही केवल कर्म हैं, जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता ।९५।

नि सा /ता वृ./४८/क. ७२ शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं, शुद्धं कारणकार्यतत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहं । इत्थं य' परमागमार्थमतुल जानाति सद्दृक् स्वयं, सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम् ।७२।=शुद्ध अशुद्धकी जो विकल्पना वह मिथ्यादृष्टिको सदैव होती है; सम्यग्दृष्टिको तो सदा कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनो शुद्ध है । इस प्रकार परमागमके अतुल अर्थको, सारासारके विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा, जो सम्यग्दृष्टि स्वय जानता है, उसे हम वन्दन करते है ।

स सा./ता वृ /१४४/२०२/१३ समस्तमतिज्ञानविकल्परहित सन् बद्धाबद्धादिनयपक्षपातरहित समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थै' पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा तत कारणात् नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशसंज्ञा लभते । न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति ।=समस्त मतिज्ञानके विकल्पोंसे रहित होकर बद्धाबद्ध आदि नयपक्षपातसे रहित समयसारका अनुभव करके ही, क्योंकि,

निर्विकल्प समाधिमें स्थित पुरुषों द्वारा आत्मा देखा जाता है, इसलिए वह केवलदर्शन ज्ञान संज्ञाको प्राप्त होता है, वह या अवक्तव्य आदि व्यपदेशको प्राप्त नहीं होता। (स. सा./ता. वृ./१३/३१/९)।

पं. ध./पू./५०६ यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोऽप्यपरमार्थः। न यतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किंतु तद्योगात् ।५०६। = अथवा ज्ञानके विकल्पका नाम नय है और वह विकल्प भी परमार्थभूत नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानके विकल्पस्वरूप नय न तो शुद्ध ज्ञानगुण ही है और न शुद्ध ज्ञेय ही, परन्तु ज्ञेयके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञानका विकल्प मात्र है।

स. सा./पं. जयचन्द/१२/क. ६ का भावार्थ—यदि सर्वथा नयोंका पक्षपात हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

५. परमार्थसे निश्चय व व्यवहार दोनों ही का पक्ष विकल्परूप होनेसे हेय है

स. सा./आ./१४२ यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन् न विकल्पमतिक्रामति। ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विन्दति।८। = 'जीवमें कर्म बन्धा है' जो ऐसा एक विकल्प करता है, वह यद्यपि 'जीवमें कर्म नहीं बन्धा है' ऐसे एक पक्षको छोड़ देता है, परन्तु विकल्पको नहीं छोड़ता। जो 'जीवमें कर्म नहीं बन्धा है' ऐसा विकल्प करता है, वह पहले 'जीव में कर्म बन्धा है' इस पक्षको यद्यपि छोड़ देता है, परन्तु विकल्पको नहीं छोड़ता। जो 'जीवमें कर्म कथंचित् बन्धा है और कथंचित् नहीं भी बन्धा है' ऐसा उभयरूप विकल्प करता है, वह तो दोनों ही पक्षोंको नहीं छोड़नेके कारण विकल्पको नहीं छोड़ता है। (अर्थात् व्यवहार या निश्चय इन दोनोंमेंसे किसी एक नयका अथवा उभय नयका विकल्प करनेवाला यद्यपि उस समय अन्य नयका पक्ष नहीं करता पर विकल्प तो करता ही है), समस्त नयपक्षको छोड़नेवाला ही विकल्पोंको छोड़ता है और वही समयसारका अनुभव करता है।

पं. ध./पू./६४५-६४८ ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलम्बी स्यात्। अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलम्बी यः।६४५। = प्रश्न—व्यवहार नयावलम्बी जैसे सामान्यरूपसे भी परसमय होता है, वैसे ही निश्चयनयावलम्बी परसमय कैसे हो सकता है।६४५। उत्तर—(उपरोक्त प्रकार यहाँ भी दोनों नयोंको विकल्पात्मक कहकर समाधान किया है) ।६४६-६४८।)

६. प्रत्यक्षानुभूतिके समय निश्चयव्यवहारके विकल्प नहीं रहते

न. च. वृ./२६६ तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण। णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा। = तत्त्वान्वेषण कालमें ही युक्तिमार्गसे अर्थात् निश्चय व्यवहार नयों द्वारा आत्मा जाना जाता है, परन्तु आत्माकी आराधनाके समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।

न. च./श्रुत/३२ एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्त्वानुभूतिः तावत्परोक्षानुभूतिः। प्रत्यक्षानुभूतिः नयपक्षातीता। = आत्मा जबतक व्यवहार व निश्चयके द्वारा तत्त्वका अनुभव करता है तबतक उसे परोक्ष अनुभूति होती है, प्रत्यक्षानुभूति तो नय पक्षोंसे अतीत है।

स. सा./आ./१४३ तथा किल यः व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः .. परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति न तु .. चिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कथंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः। = जो श्रुतज्ञानी, परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे, व्यवहार व निश्चय नयपक्षोंके स्वरूपको केवल जानता ही है, परन्तु चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके द्वारा, अनुभवके समय स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होनेसे, तथा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुआ होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।

पु. सि. उ./८ व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः। प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।८। = जो जीव व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा वस्तुस्वरूपको यथार्थरूप जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् उभय नयके पक्षसे अतिक्रान्त होता है, वही शिष्य उपदेशके सकल फलको प्राप्त होता है।

स. सा./ता. वृ./१४२ का अन्तिम वाक्य/१९८/११ समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका वर्तते, बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते, हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात्, त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतं। = तत्त्वके व्याख्यानकालमें जो बुद्धि निश्चय व व्यवहार इन दोनों रूप होती है, वही बुद्धि स्वमें स्थित उस पुरुषकी नहीं रहती जिसने वास्तविक तत्त्वका बोध प्राप्त कर लिया होता है; क्योंकि दोनों नयोंसे हेय व उपादेय तत्त्वका निर्णय करके हेयको छोड़ उपादेयमें अवस्थान पाना ही साधुसम्मत है।

७. परन्तु तत्त्व निर्णयार्थ नय कार्यकारी है

त. सू./१/६ प्रमाणनयैरधिगमः। = प्रमाण और नयसे पदार्थका ज्ञान होता है।

ध. १/१,१,१/गा. १०/१६ प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते। युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्।१०। = जिस पदार्थका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके द्वारा नयोंके द्वारा या निक्षेपोंके द्वारा सूक्ष्म दृष्टिसे विचार नहीं किया जाता है, वह पदार्थ कभी युक्त होते हुए भी अयुक्त और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्तकी तरह प्रतीत होता है।१०। (ध. ३/१,२,१५/गा. ६१/१२६), (ति. प./१/८२)

ध. १/१,१,१/गा. ६८-६९/९१ णत्थि णएहि विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि। तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति।६८। तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जइयव्वं। अत्थ गई वि य णयवादगहणलीणा दुरहियम्मा।६९। = जिनेन्द्र भगवान्‌के मतमें नयवादके बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सच्चे सिद्धान्तके ज्ञाता समझने चाहिए।६८। अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागमको भले प्रकार जान लिया है, उसे ही अर्थ संपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थका परिज्ञान करनेमें, प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य है।६९।

क. पा. १/१३-१४/§१९६/गा. ८५/२११ स एष याथात्म्योपलब्धिनिमित्तत्वाद्भावानां श्रेयोऽपदेशः।८५। = यह नय, पदार्थोंका जैसा स्वरूप है उस रूपसे उनके ग्रहण करनेमें निमित्त होनेसे मोक्षका कारण है। (ध. ९/४,१,४५/१६६/६)।

ध. १/१,१,१/८३/८ नयैर्विना लोकव्यवहारानुपपत्तेर्नया उच्यन्ते। = नयोंके बिना लोक व्यवहार नहीं चल सकता है। इसलिए यहाँपर नयोंका वर्णन करते हैं।

क. पा १/१३-१४/§ १७४/२०१/७ प्रमाणादिव नयवाक्याद्वस्त्ववगममवलोक्य प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगमः इति प्रतिपादितत्वात्। =जिस प्रकार प्रमाणसे वस्तुका बोध होता है, उसी प्रकार नयसे भी वस्तुका बोध होता है, यह देखकर तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण और नयोंसे वस्तुका बोध होता है, इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

न.च.वृ./गा नं. जम्हा णयेण ण विणा होइ णरस्स सियवायपडिवत्ती। तम्हा सो णायव्वो एयन्तं हंतुकामेण।१७५। झाणस्स भावणाविय ण हु सो आराहओ हवे णियमा। जो ण विजाणइ वत्थु पमाणणयणिच्छयं किच्चा।१७६। णिक्खेव णयपमाणं णादूणं भावयंति ते तच्चं। ते तत्थतच्चमग्गेलहंति लग्गा हु तत्थय तच्चं।२८१। =क्योंकि नय ज्ञानके बिना स्याद्वादकी प्रतिपत्ति नहीं होती, इसलिए एकान्त बुद्धिका विनाश करनेकी इच्छा रखनेवालोंको नय सिद्धान्त अवश्य जानना चाहिए।१७५। जो प्रमाण व नय द्वारा निश्चय करके वस्तुको नहीं जानता, वह ध्यानकी भावनासे भी आराधक कदापि नहीं हो सकता।१७६। जो निक्षेप नय और प्रमाणको जानकर तत्त्वको भाते हैं, वे तथ्य तत्त्वमार्गमे तत्थतत्त्व अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वको प्राप्त करते है।१८१।

न. च /श्रुत /३६/१० परस्परविरुद्धधर्माणामेकवस्तुन्यविरोधसिद्ध्यर्थं नय। =एक वस्तुके परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंमे अविरोध सिद्ध करनेके लिए नय होता है।

८. सम्यक् नय ही कार्यकारी है, मिथ्या नहीं

न. च./श्रुत /पृ.६३/११ दुर्नयैकान्तमारूढा भावा न स्वार्थिकाहिताः। स्वार्थिकास्तद्विपर्यस्ता निःकलङ्कास्तथा यत।१। =दुर्नयरूप एकान्तमें आरूढ भाव स्वार्थ क्रियाकारी नहीं है। उससे विपरीत अर्थात् सुनयके आश्रित निष्कलंक तथा शुद्धभाव ही कार्यकारी है।

का. अ./मू /२६६ सयलववहारसिद्धि सुणयादो होदि। =सुनयसे ही समस्त संव्यवहारोकी सिद्धि होती है। (विशेषके लिए दे० ध ६/४, १,४७/२३६/४)।

९. निरपेक्ष नय भी कथंचित् कार्यकारी है

स सि./१/३३/१४६/६ अथ तन्त्वादिषु पटादिकार्यं शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते। नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात्सम्यग्दर्शनहेतुत्वविपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य। =(परस्पर सापेक्ष रहकर ही नयज्ञान सम्यक् है, निरपेक्ष नहीं, जिस प्रकार परस्पर सापेक्ष रहकर ही तन्तु आदिक पटरूप कार्यका उत्पादन करते है। ऐसा दृष्टान्त दिया जानेपर शंकाकार कहता है।) प्रश्न—निरपेक्ष रहकर भी तन्तु आदिकमे तो शक्तिकी अपेक्षा पटादि कार्य विद्यमान है (पर निरपेक्ष नयमे ऐसा नही है, अत दृष्टान्त विषम है)। उत्तर—यही बात ज्ञान व शब्दरूप नयोके विषयमे भी जानना चाहिए। उनमें भी ऐसी शक्ति पायी जाती है, जिससे वे कारणवश सम्यग्दर्शनके हेतु रूपसे परिणमन करनेमे समर्थ है। इसलिए दृष्टान्तका दार्ष्टान्तिके साथ साम्य ही है। (रा वा./१/३३/१२/९९/२६)

१० नय पक्षकी हेयोपादेयताका समन्वय

पं.ध./पू./५०८ उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो हि यदा। न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः। =जिस समय विकल्प विवक्षित होता है, उस समय नयपक्ष उदयको प्राप्त होता है और जिस समय विकल्प विवक्षित नही होता उस समय वह (नय पक्ष) स्वय अस्तको प्राप्त हो जाता है।

और भी दे. नय/I/४/६ प्रत्यक्षानुभूतिके समय नय विकल्प नहीं होते।

४. शब्द, अर्थ व ज्ञाननय निर्देश

१. शब्द अर्थ व ज्ञानरूप तीन प्रकारके पदार्थ हैं

श्लो वा/२/१/५/६८/२७८/३३ मे उद्धृत समन्तभद्र स्वामीका वाक्य—बुद्धिशब्दार्थसञ्ज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः। =जगत्‌के व्यवहारमे कोई भी पदार्थ बुद्धि (ज्ञान) शब्द और अर्थ इन तीन भागोमे विभक्त हो सकता है।

रा. वा/४/४२/१५/२५६/२५ जीवार्थो जीवशब्दो जीवप्रत्यय इत्येतत्त्रितय लोके अविचारसिद्धम्। =जीव नामक पदार्थ, 'जीव' यह शब्द और जीव विषयक ज्ञान ये तीन इस लोकमें अविचार सिद्ध हैं अर्थात् इन्हें सिद्ध करनेके लिए कोई विचार विशेष करनेकी आवश्यकता नहीं। (श्लो.वा.२/१/५/६८/२७८/१६)।

प. का./ता.वृ./३/६/२४ शब्दज्ञानार्थरूपेण त्रिधाभिधेयता समयशब्दस्य। =शब्द, ज्ञान व अर्थ ऐसे तीन प्रकारमे भेदको प्राप्त समय अर्थात् आत्मा नामका अभिधेय या वाच्य है।

२. शब्दादि नय निर्देश व लक्षण

रा. वा./१/६/४/३३/११ अधिगमहेतुर्द्विविधः स्वाधिगमहेतुः पराधिगमहेतुश्च। स्वाधिगमहेतुर्ज्ञानात्मकः प्रमाणनयविकल्पः, पराधिगमहेतुः वचनात्मक। =पदार्थोंका ग्रहण दो प्रकारसे होता है—स्वाधिगम द्वारा और पराधिगम द्वारा। तहाँ स्वाधिगम हेतुरूप प्रमाण व नय तो ज्ञानात्मक है और पराधिगम हेतुरूप वचनात्मक है।

रा वा./१/३३/८/९८/१० शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्द।८। उच्चरित शब्द कृतसंगीते पुरुषस्य स्वाभिधेये प्रत्ययमादधाति इति शब्द इत्युच्यते। =जो पदार्थको बुलाता है अर्थात् उसे कहता है या उसका निश्चय कराता है, उसे शब्दनय कहते हैं। जिस व्यक्तिने संकेत ग्रहण किया है उसे अर्थबोध करानेवाला शब्द होता है। (स्या. म /२८/३१३/२६)।

ध. १/१,१,१/८६/६ शब्दपृष्ठतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनय। =शब्दको ग्रहण करनेके बाद अर्थके ग्रहण करनेमें समर्थ शब्दनय है।

ध. १/१,१,१/८६/१ तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहभेदैरभिन्न वर्तमानमात्र वस्त्वध्यवस्यन्तोऽर्थनयाः, न शब्दभेदनार्थभेद इत्यर्थ। व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः। =अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायसे भेदरूप और लिंग, संख्या, काल, कारक और उपग्रहके भेदसे अभेदरूप केवल वर्तमान समयवर्ती वस्तुके निश्चय करनेवाले नयोको अर्थनय कहते है, यहाँपर शब्दोके भेदसे अर्थमें भेदकी विवक्षा नही होती। व्यजनके भेदसे वस्तुमे भेदका निश्चय करनेवाले नयको व्यंजन नय कहते है।

नोट—(शब्दनय सम्बन्धी विशेष—दे नय /III/६-८)।

क. प्रा. १/१३-१४/§१८४/२२२/३ वस्तुन स्वरूपं स्वधर्मभेदेन भिन्दानो अर्थनयः, अभेदको वा। अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयर्ति एति गच्छति इत्यर्थनय। वाचकभेदेन भेदको व्यञ्जननयः। =वस्तुके स्वरूपमें वस्तुगत धर्मोंके भेदसे भेद करनेवाला अथवा अभेद रूपसे (उस अनन्त धर्मात्मक) वस्तुको ग्रहण करनेवाला अर्थनय है। इसका यह तात्पर्य है कि जो नय अभेद रूपसे समस्त वस्तुको ग्रहण करता है वह अर्थनय है, तथा वाचक शब्दके भेदसे भेद करनेवाला व्यजननय है।

न च. वृ./२१४ अहवा सिद्धे सद्दे कीरइ ज किंपि अत्थववहरणं। सो खलु सद्दे विसओ देवो सद्देण जह देवो।२१४। =व्याकरण आदि द्वारा सिद्ध किये गये शब्दसे जो अर्थका ग्रहण करता है सो शब्दनय है, जैसे—'देव' शब्द कहनेपर देवका ग्रहण करना।

३. वास्तवमें नय ज्ञानात्मक ही है, शब्दादिको नय कहना उपचार है ।

ध. ६/४,१,४५/१६४/५ प्रमाणनयाभ्यामुत्पन्नवाक्येऽप्युपचारत' प्रमाणनयौ, ताभ्यामुत्पन्नबोधौ विधिप्रतिषेधात्मकवस्तुविषयत्वात् प्रमाणतामदधानावपि कार्ये कारणोपचारत प्रमाणनयाविरयस्मिन् सूत्रे परिगृहीतौ । =प्रमाण और नयसे उत्पन्न वाक्य भी उपचारसे प्रमाण और नय है, उन दोनो (ज्ञान व वाक्य) से उत्पन्न अभय बोध विधि प्रतिषेधात्मक वस्तुको विषय करनेके कारण प्रमाणताको धारण करते हुए भी कार्यमें कारणका उपचार करनेसे नय है। (प ध./पू /५१३) ।

का. अ./टी /२६५ ते त्रयो नयविशेषा. ज्ञातव्या' । ते के । स एव एको धर्म नित्योऽनित्यो वा इत्याद्येकस्वभाव नय' । नयग्राह्यत्वात् इत्येकनय । तत्प्रतिपादकशब्दोऽपि नय कथ्यते । ज्ञानस्य करणे कार्ये च शब्दे नयोपचाराद इति द्वितीयो वाचकनय त नित्याद्येकधर्म जानाति तत् ज्ञानं तृतीयो नय' । सकलवस्तुग्राहक प्रमाणम्, तदेकदेशग्राहको नय', इति वचनात् ।=नयके तीन रूप है—अर्थरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तुका नित्य अनित्य आदि एकधर्म अर्थरूपनय है। उसका प्रतिपादक शब्द शब्दरूपनय है। यहाँ ज्ञानरूप कारणमें शब्दरूप कार्यका तथा ज्ञानरूप कार्यमें शब्दरूप कारणका उपचार किया गया है। उसी नित्यादि धर्मको जानता होनेसे तीसरा वह ज्ञान भी ज्ञाननय है। क्योकि 'सकल वस्तु ग्राहक ज्ञान प्रमाण है और एकदेश ग्राहक ज्ञान नय है, ऐसा आगमका वचन है।

४. तीनों नयोंमें परस्पर सम्बन्ध

श्लो वा /४/१/३३/श्लो. ९६-९७/२८८ सर्वे शब्दनयास्तेन परार्थप्रतिपादने । स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञाननया स्थिताः ।९६। वैधीयमानवस्त्वंशा कथ्यन्तेऽर्थ नयाश्च ते। त्रैविध्य व्यवतिष्ठन्ते प्रधानगुणभावत' ।९७। =श्रोताओके प्रति वाच्य अर्थका प्रतिपादन करनेपर तो सभी नय शब्दनय स्वरूप हैं, और स्वय अर्थका ज्ञान करनेपर सभी नय स्वार्थ प्रकाशी होनेसे ज्ञाननय है ।९६। 'नीयतेऽनेन इति नय'' ऐसी करण साधनरूप व्युत्पत्ति करनेपर सभी नय ज्ञाननय हो जाती है। और 'नीयते ये इति नय ' ऐसी कर्म साधनरूप व्युत्पत्ति करनेपर सभी नय अर्थनय हो जाते है, क्योकि नयोके द्वारा अर्थ ही जाने जाते है। इस प्रकार प्रधान और गौणरूपसे ये नय तीन प्रकारसे व्यवस्थित होते है। (और भी दे नय/III/१/४) ।

नोट—अर्थनयो व शब्दनयोमे उत्तरोत्तर सूक्ष्मता (दे नय/III/१/७) ।

५. शब्दनयका विषय

ध. ६/४,१,४५/१८६/७ पज्जवट्ठिए खणक्खएण सद्दत्थविसेसभावेण सकेतकरणाणुवत्तीए वाचियवाचयभेदाभावादो। कध सद्दणएसु तिसु वि सद्दववहारो। अणप्पिदअत्थगयभेयाणमप्पिदसद्दणिबधणभेयाण तेसि तदविरोहादो ।=पर्यायार्थिक नय क्योकि क्षणक्षयी होता है इसलिए उसमें शब्द और अर्थकी विशेषतासे सकेत करना न बन सकनके कारण वाच्यवाचक भेदका अभाव है। (विशेष दे. नय/IV/३/८/५) प्रश्न—तो फिर तीनो ही शब्दनयोमे शब्दका व्यवहार कैसे होता है ? उत्तर—अर्थगत भेदकी अप्रधानता और शब्द निमित्तक भेदकी प्रधानता रखनेवाले उक्त नयोके शब्दव्यवहारमें कोई विरोध नही है। (विशेष दे निक्षेप/३/६) ।

दे. नय/III/१/९ (शब्दनयोंमें दो अपेक्षासे शब्दोका प्रयोग ग्रहण किया जाता है—शब्दभेदसे अर्थमें भेद करनेकी अपेक्षा और अर्थ भेद होनेपर शब्दभेदकी अपेक्षा इस प्रकार भेदरूप शब्द व्यवहार, तथा दूसरा अनेक शब्दोका एक अर्थ और अनेक अर्थोंका वाचक एक शब्द इस प्रकार अभेदरूप शब्द व्यवहार) ।

दे. नय/III/६,७,८ (तहां शब्दनय केवल लिंगादि अपेक्षा भेद करता है पर समानलिंगी आदि एकार्थवाची शब्दोंमें अभेद करता है। समभिरूढनय समान लिंगादिवाले शब्दोंमें भी व्युत्पत्ति भेद करता है, परन्तु रूढि वश हर अवस्थामें पदार्थको एक ही नामसे पुकारकर अभेद करता है। और एवंभूतनय क्रियापरिणतिके अनुसार अर्थ भेद स्वीकार करता हुआ उसके वाचक शब्दमें भी सर्वथा भेद स्वीकार करता है। यहाँ तक कि पद समास या वर्णसमास तकको स्वीकार नही करता) ।

दे. आगम/४/४ (यद्यपि यहाँ पदसमास आदिकी सम्भावना न होनेसे शब्द व वाक्योका होना सम्भव नहीं, परन्तु क्रम पूर्वक उत्पन्न होनेवाले वर्णों व पदोसे उत्पन्न ज्ञान क्योंकि अक्रमसे रहता है, इसलिए, तहाँ वाच्यवाचक सम्बन्ध भी बन जाता है) ।

५. शब्दादि नयोंके उदाहरण

ध १/१,१,१११/३४८/१० शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय इति भवति तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवणत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्याच्छब्दोऽर्थस्य भेदाभावात् । =शब्दनयका आश्रय करनेपर 'क्रोध कषाय' इत्यादि प्रयोग बन जाते है, क्योंकि शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है। अर्थनयका आश्रय करनेपर 'क्रोध कषायी' इत्यादि प्रयोग होते है, क्योकि इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है ।

पं.ध /पू./५१४ अथ तद्यथा यथाऽग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य । उष्णोऽग्निरिति वागिह तज्ज्ञानं वा नयोपचार' स्याद् ।५१४। =जैसे अग्निके उष्णता धर्मरूप 'अर्थ' को देखकर 'अग्नि उष्ण है' इत्याकारक ज्ञान और उस ज्ञानका वाचक 'उष्णोऽग्नि' यह वचन दोनों ही उपचारसे नय कहलाते है।

६. द्रव्यनय व भावनय निर्देश

पं.ध./पू./५०५ द्रव्यनयो भावनय' स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा। पौद्गलिक किल शब्दो द्रव्य भावश्च चिदिति जीवगुण ।५०५। =द्रव्यनय और भावनयके भेदसे नय दो प्रकार है, जैसे कि निश्चयसे पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है, तथा जीवका ज्ञान गुण भावनय कहलाता है। अर्थात् उपरोक्त तीन भेदोमेंसे शब्दनय तो द्रव्यनय है और ज्ञाननय भावनय है।

५. अन्य अनेकों नयोंका निर्देश

१. भूत भावि आदि प्रज्ञापन नयोंका निर्देश

स. सि /५/३९/३१२/१० अणोरप्येकप्रदेशस्य पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयापेक्षयोपचारकल्पनया प्रदेशप्रचय उक्त ।

स सि./२/६/१६०/२ पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया योऽसौ योगप्रवृत्ति कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते ।

स.सि /१०/९/पृष्ठ/पंक्ति भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, सहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धि' ।(४७१/१२)। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्धयन् सिद्धो भवति। भूतप्रज्ञापननयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जात सिध्यति विशेषेणावसर्पिण्या सुषमादुषमाया अन्त्यभागे संहरणत सर्वस्मिन्काले । (४७२/१)। भूतपूर्वनयापेक्षया तु · क्षेत्रसिद्धा द्विविधा—जन्मत' सहरणतश्च ।(४७३/६)। =पूर्व और उत्तरभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे उपचार कल्पना द्वारा एकप्रदेशी भी अणुको प्रदेश प्रचय (बहु प्रदेशी) कहा

है। पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षासे उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानोंमें भी शुक्ललेश्याको औदयिकी कहा है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायके उदयसे अनुरंजित थी वही यह है। भूतग्राहिनयकी अपेक्षा जन्मसे १५ कर्मभूमियोमे और संहरणकी अपेक्षा सर्व मनुष्यक्षेत्रमे सिद्धि होती है। वर्तमानग्राही नयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होता है। भूत प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा जन्मसे सामान्यत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमे सिद्ध होता है, विशेषकी अपेक्षा सुषमादुषमाके अन्तिम भागमें और संहरणकी अपेक्षा सब कालोंमें सिद्ध होता है। भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे क्षेत्रसिद्ध दो प्रकार है—जन्मसे व संहरणसे। (रा.वा./१०/६), (त सा /८/४२)।

रा वा /१०/६/वार्तिक/पृष्ठ/पंक्ति (उपरोक्त नयोंका ही कुछ अन्य प्रकार निर्देश किया है)—वर्तमान विषय नय (५/६४६/३२), अतीतगोचरनय (५/६४६/३३); भूत विषय नय (७/६४७/१) प्रत्युत्पन्न भावप्रज्ञापन नय (१४/६४८/२३) ··

क.पा.१/१३-१४/§२१७/२७०/१ भूदपुव्वगईए आगमववएसुववत्तीदो। =जिसका आगमजनित संस्कार नष्ट हो गया है ऐसे जीवमें भी भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा आगम संज्ञा बन जाती है।

गो, जी./मू /५३२/९२९ अट्ठकसाये लेस्या उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया। =उपशान्त कषाय आदिक गुणस्थानोंमें भूतपूर्वन्यायसे लेश्या कही गयी है।

द्र.स /टी /१४/४८/१० अन्तरात्मावस्थाया तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत्। परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण, भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। =अन्तरात्माकी अवस्थामें अन्तरात्मा भूतपूर्व न्यायसे घृतके घटके समान और परमात्माका स्वरूप शक्तिरूपसे तथा भावीनैगम नयकी अपेक्षा व्यक्तिरूपसे भी जानना चाहिए।

नोट—कालकी अपेक्षा करनेपर नय तीन प्रकारकी है—भूतग्राही, वर्तमानग्राही और भावीकालग्राही। उपरोक्त निर्देशोंमें इनका विभिन्न नामोंमें प्रयोग किया गया है। यथा—१. पूर्वभाव प्रज्ञापन नय, भूतग्राही नय, भूत प्रज्ञापन नय, भूतपूर्व नय, अतीतगोचर नय, भूतविषय नय, भूतपूर्व प्रज्ञापननय, भूतपूर्व न्याय आदि। २. उत्तरभावप्रज्ञापननय, भाविनैगमनय, ३ प्रत्युत्पन्न या वर्तमानग्राहीनय, वर्तमानविषयनय, प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापन नय, इत्यादि। तहाँ ये तीनों काल विषयक नयें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोंमें गर्भित हो जाती हैं—भूत व भावि नयें तो द्रव्यार्थिकनयमें तथा वर्तमाननय पर्यायार्थिकमें। अथवा नैगमादि सात नयोंमें गर्भित हो जाती है—भूत व भावी नयें तो नैगमादि तीन नयोंमे और वर्तमान नय ऋजुसूत्रादि चार नयोमें। अथवा नैगम व ऋजुसूत्र इन दो में गर्भित हो जाती है—भूत व भावि नयें तो नैगमनयमें और वर्तमाननय ऋजुसूत्रमे। श्लोक वार्तिकमे कहा भी है—

श्लो वा ४/१/३३/३ ऋजुसूत्रनय' शब्दभेदाश्च त्रय. प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिण। शेषा नया उभयभावविषया'। =ऋजुसूत्र नयको तथा तीन शब्दनयोको प्रत्युत्पन्ननय कहते है। शेष तीन नयोंको प्रत्युत्पन्न भी कहते है और प्रज्ञापननय भी।

(भूत व भावि प्रज्ञापन नये तो स्पष्ट ही भूत भावी नैगम नय है। वर्तमानग्राही दो प्रकार की है—एक अर्ध निष्पन्नमें निष्पन्नका उपचार करनेवाली और दूसरी साक्षात् शुद्ध वर्तमानके एक समयमात्र को सत्‌रूपसे अंगीकार करनेवाली। तहाँ पहली तो वर्तमान नैगम नय है और दूसरी सूक्ष्म ऋजुसूत्र। विशेषके लिए देखो आगे नय/III मे नैगमादि नयोके लक्षण भेद व उदाहरण)।

२. अस्तित्वादि सप्तभंगी नयोंका निर्देश

प्र.सा /त.प्र /परि० नय नं० ३-९ अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावै रस्तित्ववत् ।३। नास्तित्वनयेनानयोनानयोमययागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ।४। अस्तित्वनास्तित्वनयेन प्राक्तनविशिखवत् क्रमत' स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ।५। अवक्तव्यनयेन·· प्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ।६। अस्तित्वावक्तव्यनयेन...प्राक्तनविशिखवत् · अस्तित्ववदवक्तव्यम् ।७। नास्तित्वावक्तव्यनयेन' ·· प्राक्तनविशिखवत् · · नास्तित्ववदवक्तव्यम् ।८। अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेन ··प्राक्तनविशिखवत् · अस्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् ।९। =१. आत्मद्रव्य अस्तित्वनयसे स्वद्रव्यक्षेत्र काल व भावसे अस्तित्ववाला है। जैसे कि द्रव्यकी अपेक्षा लोहमयी, क्षेत्रकी अपेक्षा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित, कालकी अपेक्षा सन्धान दशामें रहे हुए और भावकी अपेक्षा लक्ष्योन्मुख बाणका अस्तित्व है।३। (प.ध./पू./७५६) २. आत्मद्रव्य नास्तित्वनयसे परद्रव्य क्षेत्र काल व भावसे नास्तित्ववाला है। जैसे कि द्रव्यकी अपेक्षा अलोहमयी, क्षेत्रकी अपेक्षा प्रत्यंचा और धनुषके बीचमें अनिहित, कालकी अपेक्षा सन्धान दशामें न रहे हुए और भावकी अपेक्षा अलक्ष्योन्मुख पहलेवाले बाणका नास्तित्व है, अर्थात् ऐसे किसी बाणका अस्तित्व नहीं है।४। (प.ध./पू./७५७) ३ आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्व नयसे पूर्वके बाणकी भाँति ही क्रमश स्व व पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तित्व नास्तित्ववाला है।५। ४. आत्मद्रव्य अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणकी भाँति ही युगपत् स्व व पर द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे अवक्तव्य है।६। ५. आत्म द्रव्य अस्तित्व अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणकी भाँति (पहले अस्तित्व रूप और पीछे अवक्तव्य रूप देखनेपर) अस्तित्ववाला तथा अवक्तव्य है।७। ६. आत्मद्रव्य नास्तित्व अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणकी भाँति ही (पहले नास्तित्वरूप और पीछे अवक्तव्यरूप देखनेपर) नास्तित्ववाला तथा अवक्तव्य है।८। ७ आत्मद्रव्य अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य नयसे पूर्वके बाणकी भाँति ही (क्रमसे तथा युगपत् देखनेपर) अस्तित्व व नास्तित्ववाला अवक्तव्य है।९। (विशेष दे० सप्तभंगी)।

३. नामादि निक्षेपरूप नयोंका निर्देश

प्र. सा./ त. प्र /परि./नय नं १२-१५ नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि।१२। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलावलम्बि।१३। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि।१४। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि।१५। = आत्मद्रव्य नाम नयसे, नामवाले (किसी देवदत्त नामक व्यक्ति) की भाँति शब्दब्रह्मको स्पर्श करनेवाला है, अर्थात् पदार्थको शब्द द्वारा कहा जाता है।१२। आत्मद्रव्य स्थापनानय मूर्तित्वकी भाँति सर्व पुद्गलोंका अवलम्बन करनेवाला है, (अर्थात् आत्माकी मूर्ति या प्रतिमा काष्ठ पाषाण आदिमेंसे बनायी जाती है)।१३। आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे बालक सेठकी भाँति और श्रमण राजाकी भाँति अनागत व अतीत पर्यायसे प्रतिभासित होता है। (अर्थात् वर्तमानमें भूत या भावि पर्यायका उपचार किया जा सकता है।१४। आत्मद्रव्य भावनयसे पुरुषके समान प्रवर्तमान स्त्रीकी भाँति तत्कालकी (वर्तमानकी) पर्याय रूपसे प्रकाशित होता है।१५। (विशेष दे० निक्षेप)।

४. सामान्य विशेष आदि धर्मोंरूप नयोंका निर्देश

प्र. सा./त. प्र./ परि./नय नं० तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् ।१। पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् ।२। विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत्सविकल्पम् ।१०। अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ।११। सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि ।१६। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि ।१७। नित्यनयेन नटवदवस्थायि ।१८। अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि ।१९। सर्वगतनयेन विस्फुरिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति ।२०। असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति ।२१। शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि ।२२। अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि ।२३। ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् ।२४। ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् ।२५। नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि ।२६। अनियतिनयेन नित्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ।२७। स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि ।२८। अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि ।२९। कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धि ।३०। अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धि ।३१। पुरुषाकारनयेन पुरुषाकारोपलब्धमधुकुक्कुटोकपुरुषकारवादीवद्यत्नसाध्यसिद्धि ।३२। दैवनयेन पुरुषाकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ।३३। ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ।३४। अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ।३५। गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ।३६। अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ।३७। कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ।३८। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ।३९। भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ।४०। अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षी ।४१। क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धि ।४२। ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धि ।४३। व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ।४४। निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ।४५। अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ।४६। शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम् ।४७। = १. आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे, पटमात्रकी भाँति चिन्मात्र है। २. पर्यायनयसे वह तन्तुमात्रकी भाँति दर्शनज्ञानादि मात्र है। ३. विकल्पनयसे बालक, कुमार, और वृद्ध ऐसे एक पुरुषकी भाँति सविकल्प है। ४. अविकल्पनयसे एकपुरुषमात्रकी भाँति अविकल्प है। ५. सामान्यनयसे हार माला कण्ठीके डोरेकी भाँति व्यापक है। ६. विशेष नयसे उसके एक मोतीकी भाँति, अव्यापक है। ७. नित्यनयसे, नटकी भाँति अवस्थायी है। ८. अनित्यनयसे रामरावणकी भाँति अनवस्थायी है। (पं. ध./पू./७६०-७६१)। ९. सर्वगतनयसे खुली हुई आँखकी भाँति सर्ववर्ती है। १०. असर्वगतनयसे मिची हुई आँखकी भाँति आत्मवर्ती है। ११. शून्यनयसे शून्य घरकी भाँति एकाकी भासित होता है। १२. अशून्यनयसे लोगोंसे भरे हुए जहाजकी भाँति मिलित भासित होता है। १३. ज्ञानज्ञेय अद्वैतनयसे महान् ईन्धनसमूहरूप परिणत अग्निकी भाँति एक है। १४. ज्ञानज्ञेय द्वैतनयसे, परके प्रतिबिम्बोंसे संपृक्त दर्पणकी भाँति अनेक है। १५. आत्मद्रव्य नियतिनयसे नियतस्वभाव रूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित होती ऐसी अग्निकी भाँति। १६. अनियतनयसे अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित नहीं है ऐसे पानीकी भाँति। १७. स्वभावनयसे संस्कारको निरर्थक करनेवाला है, जिसकी किसीसे नोक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैने काँटेकी भाँति। १८. अस्वभावनयसे संस्कारको सार्थक करनेवाला है, जिसकी लुहारके द्वारा नोक निकाली गयी है, ऐसे पैने बाणकी भाँति। १९. कालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है, गर्मीके दिनोंके अनुसार पकनेवाले आम्र फलकी भाँति। २०. अकालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मीसे पकाये गये आम्रफलकी भाँति। २१. पुरुषाकारनयसे जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषाकारसे नींबूका वृक्ष प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषाकारवादीकी भाँति। २२. दैवनयसे जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है ऐसा है, पुरुषाकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबूके वृक्षके भीतरसे जिसे माणिक प्राप्त हो जाता है, ऐसे दैववादीकी भाँति। २३. ईश्वरनयसे परतंत्रता भोगनेवाला है, धायकी दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीरके बालककी भाँति। २४. अनीश्वरनयसे स्वतन्त्रता भोगनेवाला है, हिरनको स्वच्छन्दतापूर्वक फाडकर खा जानेवाले सिंहकी भाँति। २५. आत्मद्रव्य गुणीनयसे गुणग्राही है, शिक्षकके द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमारकी भाँति। २६. अगुणीनयसे केवल साक्षी ही है। २७. कर्तृनयसे रंगरेजकी भाँति रागादि परिणामोंका कर्ता है। २८. अकर्तृनयसे केवल साक्षी ही है, अपने कार्यमें प्रवृत्त रंगरेजको देखनेवाले पुरुषकी भाँति। २९. भोक्तृनयसे सुख-दुखादिका भोक्ता है, हितकारी-अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीकी भाँति। ३०. अभोक्तृनयसे केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीको देखनेवाले वैद्यकी भाँति। ३१. क्रियानयसे अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो ऐसा है, खम्भेसे सिर फूट जानेपर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय, ऐसे अन्धेकी भाँति। ३२. ज्ञाननयसे विवेककी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो ऐसा है, मुट्ठीभर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीदनेवाले घरके कोनेमें बैठे हुए व्यापारीकी भाँति। ३३. आत्मद्रव्य व्यवहारनयसे बन्ध और मोक्षमें द्वैतका अनुसरण करनेवाला है; बन्धक और मोचक अन्य परमाणुके साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणुकी भाँति। ३४. निश्चयनयसे बन्ध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है; अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्ध मोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणुकी भाँति। ३५. अशुद्धनयसे घट और रामपात्रसे विशिष्ट मिट्टी मात्रकी भाँति सोपाधि स्वभाववाला है। ३६. शुद्धनयसे, केवलमिट्टी मात्रकी भाँति, निरुपाधि स्वभाववाला है।

पं. ध./पू./श्लोक – अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्। व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वानेकसंज्ञको न्यायात् ।७५२। एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना। इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ।७५३। परिणममानेऽपि तथाभूतैर्भावैर्विनश्यमानेऽपि। नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ।७६५। अभिनवभावपरिणतेर्योऽयं वस्तुन्यपूर्वसमयो यः। इति यो वदति स कश्चित्पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ।७६४। अस्तित्वं नामगुणः स्यादिति साधारणः स तस्य। तत्पर्ययश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ।५६३। कर्तृत्वं जीवगुणोऽस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः। तत्पर्ययविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ।५६४। = ३७. व्यवहार नयसे द्रव्य, गुण, पर्याय अपने अपने स्वरूपसे परस्परमें पृथक्-पृथक् है, ऐसी अनेकनय है ।७५२। ३८. नामकी अपेक्षा पृथक्-पृथक् हुए

भी द्रव्य गुण पर्याय तीनों सामान्यरूपसे एक सत् है, इसलिए किसी एकके कहनेपर शेष अनुक्तका ग्रहण हो जाता है। यह एकनय है। ।७५३। ३६. परिणमन होते हुए पूर्व पूर्व परिणमनका विनाश होनेपर भी यह कोई अपूर्व भाव नहीं है, इस प्रकारका जो कथन है वह पर्यायार्थिक विशेषण विशिष्ट भावनय है।७६५। ४०. तथा नवीन पर्याय उत्पन्न होनेपर जो उसे अपूर्वभाव कहता ऐसा पर्यायार्थिक नय रूप अभाव नय है।७६४। ४१. अस्तित्वगुणके कारण द्रव्य सत् है, ऐसा कहनेवाला अस्तित्व नय है।५६३। ४२. जीवका वैभाविक गुण ही उसका कर्तृत्वगुण है। इसलिए जीवको कर्तृत्व गुणवाला कहना सो कर्तृत्व नय है।५६४।

५. अनन्तों नय होनी सम्भव है

ध.१/१,१,१/गा ६७/८० जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णय-वादा। =जितने भी वचनमार्ग है, उतने ही नयवाद अर्थात् नयके भेद हैं। (ध.१/४,१,४५/गा.६२/१८१). (क. पा १/१३-१४/§२०२/गा. ६३/२४५), (ध.१/१,१.६/गा.१०५/१६२). (ह पु./५८/५२), (गो क /मू./-८९४/१०७३), (प्र सा./त. प्र./परि. में उद्धृत); (स्या. म /२८/३१०/१३ में उद्धृत)।

स सि./१/३३/१४५/७ द्रव्यस्यानन्तशक्ते' प्रतिशक्ति विभिद्यमाना' बहु-' विकल्पा जायन्ते। =द्रव्यकी अनन्त शक्ति है। इसलिए प्रत्येक शक्तिकी अपेक्षा भेदको प्राप्त होकर ये नय अनेक (अनन्त) विकल्प रूप हो जाते हैं। (रा वा/१/३३/१२/९९/१८), (प्र. सा./त प्र./परि. का अन्त), (स्या.म./२८/३१०/११); (प ध./पू /५८६,५९५)।

श्लो वा.४/१/३३/श्लो. ३-४/२१५ सक्षेपाद्द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ ।३। विस्तरेणेति सप्तैते विज्ञेया नैगमादय'। तथातिविस्तरेणोक्तत-द्भेदा' सख्यातविग्रहा' ।४। =संक्षेपसे नय दो प्रकार है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।३। विस्तारसे नैगमादि सात प्रकार है और अति विस्तारसे संख्यात शरीरवाले इन नयोंके भेद हो जाते है। (स.म./२८/३१७/१)।

ध १/१,१,१/९१/१ एवमेते सक्षेपेण नया' सप्तविधा'। अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येया.। =इस तरह सक्षेपसे नय सात प्रकारके है और अवान्तर भेदोंसे असंख्यात प्रकारके समझना चाहिए।

II. सम्यक् व मिथ्या नय

१. नय सम्यक् भी है और मिथ्या भी

न.च.वृ/१८१ एयंतो एयणयो होइ अणेयंतमस्स सम्मूहो। तं खलु णाणवियप्पं सम्म मिच्छं च णायव्व ।१८१। =एक नय तो एकान्त है और उसका समूह अनेकान्त है। वह ज्ञानका विकल्प सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी। ऐसा जानना चाहिए। (पं. ध./पू./-५५८,५६०)।

२. सम्यक् व मिथ्या नयोंके लक्षण

स्या.म /७४/४ सम्यगेकान्तो नय. मिथ्येकान्तो नयाभास.। =सम्यगे-कान्तको नय कहते है और मिथ्या एकान्तको नयाभास या मिथ्या नय। (दे० एकान्त/१), (विशेष दे० अगले शीर्षक)।

स्या. म./मू व टीका/२८/३०७,१० सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयते दुर्नीतिनयप्रमाणै'। यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीति-पथ त्वमास्थ' ।२८। नीयते परिच्छिद्यते एकदेशविशिष्टोऽर्थ आभि-रिति नीतयो नया.। दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नया इत्यर्थ'। =पदार्थ 'सर्वथा सत् है', 'सत् है' और 'कथंचित् सत् है' इस प्रकार क्रमसे दुर्नय, नय और प्रमाणसे पदार्थोंका ज्ञान होता है। यथार्थ मार्गको देखनेवाले आपने ही नय और प्रमाणमार्गके द्वारा दुर्नय-वादका निराकरण किया है।२८। जिसके द्वारा पदार्थोंके एक अंशका ज्ञान हो उसे नय (सम्यक् नय) कहते है। खोटे नयोंको या दुर्नीतियोंको दुर्नय कहते हैं। (स्या.म /२७/३०५/२८)।

और भी दे० (नय/I/१/१), (पहिले जो नय सामान्यका लक्षण किया गया वह सम्यक् नयका है।)

और भी दे० अगले शीर्षक—(सम्यक् व मिथ्या नयके विशेष लक्षण अगले शीर्षकोंमें स्पष्ट किये गये हैं)।

३. अन्य पक्षका निषेध न करे तो कोई भी नय मिथ्या नहीं होता

क पा.१/१३-१४/§२०६/२५७/१ त चैकान्तेन नया. मिथ्यादृष्टय' एव; परपक्षानिकरिष्णूना सपक्षसत्त्वावधारणे व्यापृतानां स्यात्सम्यग्दृष्टि-त्वदर्शनात्। उक्त च—णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा। ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा।११७। =द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय सर्वथा मिथ्यादृष्टि ही है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो नय परपक्षका निराकरण नहीं करते हुए (विशेष दे० आगे नय/II/४) ही अपने पक्षका निश्चय करनेमें व्यापार करते है उनमें कथंचित् समीचीनता पायी जाती है। कहा भी है—ये सभी नय अपने विषयके कथन करनेमें समी-चीन है, और दूसरे नयोंके निराकरण करनेमें मूढ हैं। अनेकान्त रूप समयके ज्ञाता पुरुष *'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है'* इस प्रकारका विभाग नहीं करते है।११७।

न.च.वृ/२९२ ण दु णयपक्खो मिच्छा त पिय णेयंतदव्वसिद्धियरा। सियसद्दसमारूढ जिणवयणविणिग्गय सुद्धं। =नयपक्ष मिथ्या नहीं होता, क्योंकि वह अनेकान्त द्रव्यकी सिद्धि करता है। इसलिए 'स्यात्' शब्दसे चिह्नित तथा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट नय शुद्ध है।

४. अन्य पक्षका निषेध करनेसे ही मिथ्या हो जाता है

ध.९/४,१,४५/१८२/१ त एव दुरवधीरता मिथ्यादृष्टय' प्रतिपक्षनिराकरण-मुखेन प्रवृत्तत्वात्। =ये (नय) ही जब दुराग्रहपूर्वक वस्तुस्वरूपका अवधारण करनेवाले होते है, तब मिथ्या नय कहे जाते है, क्योंकि वे प्रतिपक्षका निराकरण करनेकी मुख्यतासे प्रवृत्त होते हैं। (विशेष दे०/एकान्त/१/२), (ध.९/४,१,४५/१८३/१०), (क.पा.१/२२/§५१३/-२९२/२)।

प्रमाणनयतत्त्वालंकार/७/१/ (स्या म./२८/३१६/२९ पर उद्धृत) स्वाभि-प्रेताद् अंशाद् इतरांशापलापी पुनर्दुर्नयाभास'। =अपने अभीष्ट धर्मके अतिरिक्त वस्तुके अन्य धर्मोंके निषेध करनेको नयाभास कहते है।

स्या म./२८/३०८/१ 'अस्त्येव घट' इति। अय वस्तुनि एकान्तास्तित्वमेव अभ्युपगच्छन् इतरधर्माणा तिरस्कारेण स्वाभिप्रेतमेव धर्मं व्यवस्थापयति। =किसी वस्तुमें अन्य धर्मोंका निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त अस्तित्वको सिद्ध करनेको दुर्नय कहते हैं, जैसे 'यह घट ही है'।

५. अन्य पक्षका संग्रह करनेपर वही नय सम्यक् हो जाते हैं

स्व.स्तो./६२ यथैकश' कारकमर्थसिद्धये, समीक्ष्य शेषं स्वसहायकार-कम्। तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पत ।६२। =जिस प्रकार एक-एक कारक शेष अन्यको अपना सहायक-रूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है, उसी प्रकार आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले

अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट हैं।

ध १/४ १,४५/१८२/१ ते सर्वेऽपि नयाः अनवधृतस्वरूपाः सम्यग्दृष्टयः प्रतिपक्षानिराकरणात्।

ध.१/४,१,४५/२३६/४ सुणया कधं सविसया। एयंतेण पडिवक्खणिसेहाकरणादो गुणपहाणभावेण ओसादिदपमाणबाहादो। =ये सभी नय वस्तुस्वरूपका अवधारण न करनेपर समीचीन नय होते हैं, क्योंकि वे प्रतिपक्ष धर्मका निराकरण नहीं करते। प्रश्न—सुनयोंके अपने विषयोंकी व्यवस्था कैसे सम्भव है? उत्तर—चूँकि सुनय सर्वथा प्रतिपक्षभूत विषयोंका निषेध नहीं करते, अतः उनके गौणता और प्रधानताकी अपेक्षा प्रमाणबाधाके दूर कर देनेसे उक्त विषय व्यवस्था भले प्रकार सम्भव है।

स्या म /२८/३०८/४ स हि 'अस्ति घटः' इति घटे स्वाभिमतमस्तित्वधर्मं प्रसाधयन् शेषधर्मेषु गजनिमिलिकामालम्बते। न चास्य दुर्नयत्वं धर्मान्तरातिरस्कारात्। =वस्तुमें इष्ट धर्मको सिद्ध करते हुए अन्य धर्मोंमें उदासीन होकर वस्तुके विवेचन करनेको नय कहते है। जैसे 'यह घट है'। नयमें दुर्नयकी तरह एक धर्मके अतिरिक्त अन्य धर्मोंका निषेध नही किया जाता, इसलिए उसे दुर्नय नहीं कहा जा सकता।

६. जो नय सर्वथाके कारण मिथ्या है वही कथंचित्के कारण सम्यक् है

स्व स्तो/१०१ सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः। सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते।१०१। =सत्, एक, नित्य, वक्तव्य तथा असत्, अनेक, अनित्य, व अवक्तव्य ये जो नय पक्ष हैं वे यहाँ सर्वथारूपमें तो अति दूषित हैं और स्यात्‌रूपमें पुष्टिको प्राप्त होते है।

गो. क /मू /८९४-८९५/१०७३ जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।८९४। परसमयाण वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा। जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिव वयणादो।८९५। =जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं। परसमयवालोंके वचन 'सर्वथा' शब्द सहित होनेसे मिथ्या होते हैं और जैनोंके वही वचन 'कथंचित्' शब्द सहित होनेसे सम्यक् होते हैं।

न च वृ/२६२ ण दु णयपक्खो मिच्छा तं पिय णेयंतदव्वसिद्धियरा। सियसद्दसमारूढं जिणवयणविणिग्गयं सुद्धं। =अनेकान्त द्रव्यकी सिद्धि करनेके कारण नयपक्ष मिथ्या नही होता। स्यात् पदसे अलंकृत होकर वह जिनवचनके अन्तर्गत आनेसे शुद्ध अर्थात् समीचीन हो जाता है। (न च.वृ./२४६)

स्या.म /३०/३३६/१३ ननु प्रत्येकं नयानां विरुद्धत्वे कथं समुदितानां निर्विरोधिता। उच्यते। यथा हि समीचीनं मध्यस्थं न्यायनिर्णेतारमासाद्य परस्परं विवदमाना अपि वादिनो विवादाद् विरमन्ति एवं नया अन्योऽन्यं वैरायमाणा अपि सर्वज्ञशासनमुपेत्य स्याच्छब्दप्रयोगोपशमितविप्रतिपत्तयः सन्तः परस्परमत्यन्तं सुहृद्भूयावतिष्ठन्ते। =प्रश्न—यदि प्रत्येक नय परस्पर विरुद्ध हैं, तो उन नयोंके एकत्र मिलानेसे उनका विरोध किस प्रकार नष्ट होता है? उत्तर—जैसे परस्पर विवाद करते हुए वादी लोग किसी मध्यस्थ न्यायीके द्वारा न्याय किये जानेपर विवाद करना बन्द करके आपसमें मिल जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरुद्ध नय सर्वज्ञ भगवान्‌के शासनकी शरण लेकर 'स्यात्' शब्दसे विरोधके शान्त हो जानेपर परस्पर मैत्री भावसे एकत्र रहने लगते है।

पं ध /पू./३३६-३३७ ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयं च तत्त्वं स्यात्। व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत्।३३६। सत्यं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वम्। स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्स्यात्पदाङ्कितं तु पदम्।३३७। =प्रश्न—तत्त्व नित्य है या अनित्य, उभय या अनुभय, व्यस्त या समस्त, क्रमसे या अक्रमसे? उत्तर—'सर्वथा' इस पद पूर्वक सब ही कथन स्वपर घातके लिए है, किन्तु स्यात् पदके द्वारा युक्त सब ही पद स्वपर उपकारके लिए है।

७. सापेक्षनय सम्यक् और निरपेक्षनय मिथ्या होती हैं

आ.मी./१०८ निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। =निरपेक्षनय मिथ्या हैं और सापेक्ष नय वस्तुस्वरूप हैं। (श्लो.वा ४/१/३३/श्लो.८०/२६८)।

स्व. स्तो./६१ य एव नित्यक्षणिकादयो नयाः मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः। त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः।६१। =जो ये नित्य व क्षणिकादि नय हैं वे परस्पर निरपेक्ष होनेसे स्वपर प्रणाशी हैं। हे प्रत्यक्षज्ञानी विमल जिन! आपके मतमें वे ही सब नय परस्पर सापेक्ष होनेसे स्व व परके उपकारके लिए हैं।

क. पा./१/१३-१४/§२०५/गा. १०२/२४६ तम्हा मिच्छादिट्ठी सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा। अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावं।१०२। =केवल अपने-अपने पक्षसे प्रतिबद्ध ये सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु यदि परस्पर सापेक्ष हों तो सभी नय समीचीनपनेको प्राप्त होते हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं।

स. सि./१/३३/१४५/६ ते एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः पुरुषार्थक्रियासाधनसामर्थ्यात्तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादिसंज्ञाः स्वतन्त्राश्चासमर्थाः। =ये सब नय गौण-मुख्यरूपसे एक दूसरेकी अपेक्षा करके ही सम्यग्दर्शनके हेतु हैं। जिस प्रकार पुरुषकी अर्थक्रिया और साधनोंकी सामर्थ्यवश यथायोग्य निवेशित किये गये तन्तु आदिक संज्ञाको प्राप्त होते हैं। (तथा पटरूपमें अर्थक्रिया करनेको समर्थ होते हैं। और स्वतन्त्र रहनेपर (पटरूपमें) कार्यकारी नहीं होते, वैसे ही ये नय भी समझने चाहिए। (त सा /१/५१)।

सि./वि./मू./१०/२७/६६१ सापेक्षा नयाः सिद्धाः दुर्नया अपि लोकतः। स्याद्वादिनां व्यवहारात् कुक्कुटग्रामवासित्वम्। =लोकमें प्रयोग की जानेवाली जो दुर्नय हैं वे भी स्याद्वादियोंके ही सापेक्ष हो जानेसे सुनय बन जाती हैं। यह बात आगमसे सिद्ध है। जैसे कि एक किसी घरमें रहनेवाले अनेक गृहवासी परस्पर मैत्री पूर्वक रहते हैं।

लघीयस्त्रय/३० भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः। ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः।३०। =भेदाभेदात्मक ज्ञेयमें भेद व अभेदपनेकी अभिसन्धि होनेके कारण, उनको बतलानेवाले नय भी सापेक्ष होनेसे नय और निरपेक्ष होनेसे दुर्नय कहलाते हैं। (पं ध /पू./५९०)।

न.च.वृ/२४९ सियसावेक्खा सम्मा मिच्छारूवा हु तेहि णिरवेक्खा। तम्हा सियसद्दादो विसय दोण्हं पि णायव्वं। =क्योंकि सापेक्ष नय सम्यक् और निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं, इसलिए प्रमाण व नय दोनो प्रकारके वाक्योंके साथ स्यात् शब्द युक्त करना चाहिए।

का.अ./मू./२६६ ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति। सयलववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण। =ये नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हो तो दुर्नय होते हैं। सुनयसे ही समस्त व्यवहारोंकी सिद्धि होती है।

८. मिथ्या नय निर्देशका कारण व प्रयोजन

स्या.म./२७/३०६/१ यद्व्यसनम् अत्यासक्तिः औचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम्। =दुर्नयवाद एक व्यसन है। व्यसनका अर्थ यहाँ अति आसक्ति अर्थात् अपने पक्षकी हठ है, जिसके कारण उचित और अनुचितके विचारसे निरपेक्ष प्रवृत्ति होती है।

पं.ध./पू./५६६ अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ता । अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्ध्यर्थम् । =उपचारके अनुकूल सञ्ज्ञा हेतु और दृष्टान्तवाली जो नयाभास है, उनमें-से कुछका कथन यहाँ त्याज्यपनेसे अथवा नय आदिकी शुद्धिके लिए कहते हैं।

९. सम्यग्दृष्टिकी नय सम्यक् है और मिथ्यादृष्टिकी मिथ्या

प. का./ता.वृ./४३ की प्रक्षेपक गाथा नं. ६/८७ मिच्छत्ता अण्णाणं अविरदिभावो य भावआवरणा। णेयं पडुच्चकाले तह दुण्ण दुप्पमाणं च ।६। =जिस प्रकार मिथ्यात्वके उदयमें ज्ञान अज्ञान हो जाता है, अविरतिभाव उदित होते है, और सम्यक्त्वरूप भाव ढक जाता है, वैसे ही सुनय दुर्नय हो जाती है और प्रमाण दुःप्रमाण हो जाता है।

न. च.वृ./२३७ भेदुवयारं णिच्छय मिच्छादिट्ठीण मिच्छरूवं खु। सम्मे सम्मा भणिया तेहि दु बंधो व मोक्खो वा।२३७। =मिथ्यादृष्टियोंके भेद या उपचारका ज्ञान नियमसे मिथ्या होता है। और सम्यक्त्व हो जानेपर वही सम्यक् कहा गया है। तहाँ उस मिथ्यारूप ज्ञानसे बन्ध और सम्यक्रूप ज्ञानसे मोक्ष होता है।

१०. प्रमाण ज्ञान होनेके पश्चात् ही नय प्रवृत्ति सम्यक् होती है, उसके बिना नहीं

स सि/१/६/२०/५ कुतोऽभ्यर्हितत्वम्। नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्। एवं ह्युक्तं 'प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः' इति। =प्रश्न—प्रमाण श्रेष्ठ क्यों है? उत्तर—क्योंकि प्रमाणसे ही नय प्ररूपणाकी उत्पत्ति हुई है, अतः प्रमाण श्रेष्ठ है। आगममें ऐसा कहा है कि वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय है।

दे० नय/I/१/१/४ (प्रमाण गृहीत वस्तुके एक देशको जानना नयका लक्षण है।)

रा वा./१/६/२/३३/६ यतः प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येषु अतोऽस्याभ्यर्हितत्वम्। =क्योंकि प्रमाणसे प्रकाशित पदार्थोंमें ही नयकी प्रवृत्तिका व्यवहार होता है, अन्य पदार्थोंमें नहीं, इसलिए प्रमाणको श्रेष्ठपना प्राप्त है।

श्लो.वा./२/१/६/श्लो २३/३६५ नाशेषवस्तुनिर्णीतिः प्रमाणादेव कस्यचित्। तादृक् सामर्थ्यशून्यत्वात् सन्नयस्यापि सर्वदा।२३। =किसी भी वस्तुका सम्पूर्णरूपसे निर्णय करना प्रमाण ज्ञानसे ही सम्भव है। समीचीनसे भी समीचीन किसी नयकी तिस प्रकार वस्तुका निर्णय करलेनेकी सर्वदा सामर्थ्य नहीं है।

ध.९/४,१,४७/२४०/२ पमाणादो णयाणमुप्पत्ती, अणवगयट्ठे गुणप्पहाणभावाहिप्पायाणुप्पत्तीदो। =प्रमाणसे नयोंकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि, वस्तुके अज्ञात होनेपर, उसमें गौणता और प्रधानताका अभिप्राय नहीं बनता है।

आ.प./८/गा. १० नानास्वभावसंयुक्तं द्रव्यं ज्ञात्वा प्रमाणतः। तच्च सापेक्षसिद्ध्यर्थं स्यान्नयमिश्रितं कुरु।१०। =प्रमाणके द्वारा नानास्वभावसंयुक्त द्रव्यको जानकर, उन स्वभावोंमें परस्परसापेक्षताकी सिद्धिके अर्थ (अथवा उनमें परस्पर निरपेक्षतारूप एकान्तके विनाशार्थ) (न च.वृ./१७३), उस ज्ञानको नयोंसे मिश्रित करना चाहिए। (न.च वृ./१७३)।

III नैगम आदि सात नय निर्देश

१. सातों नयोंका समुदित सामान्य निर्देश

१. सातोंमें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक विभाग

स. सि./१/३३/१४०/८ स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। तयोर्भेदा नैगमादयः। =नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इन दोनों नयोंके उत्तर भेद नैगमादि हैं। (रा वा/१/३३/१/९४/२५) (दे० नय/I/१/४)

ध ९/४,१,४५/पृष्ठ/पंक्ति—स एवंविधो नयो द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति।(१६७/१०)। तत्र योऽसौ द्रव्यार्थिकनयः स त्रिविधो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदेन।(१६८/४)। पर्यायार्थिको नयश्चतुर्विधः ऋजुसूत्रशब्द-समभिरूढैवंभूतभेदेन। (१७१/७)। =इस प्रकारकी वह नय दो प्रकार है—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक। तहाँ जो द्रव्यार्थिकनय है वह तीन प्रकार है—नैगम, संग्रह व व्यवहार। पर्यायार्थिकनय चार प्रकार है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ व एवंभूत (ध १/१,१,१/गा. ५-७/१२-१३), (क.पा १/१३-१४/§१८१-१८२/गा. ८७-८६/२१८-२२०), (श्लो.वा ४/१/३३/श्लो ३/२१५) (ह पु/५८/४२), (ध १/१.१.१/—८३/१०+८४/२+८५/२+८६/३+८६/६); (क. पा १/१३-१४—§१७७/२११/४+ §१८२/२१६/१ + §१८४/२२२/१ + §१६७/२३५/१), (न.च वृ/श्रुत/२१७) (न च/पृ.२०) (त.सा./१/४१-४२/३६), (स्या म./८२/३१७/१+३१८/२२)।

२. इनमें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक विभागका कारण

ध.१/१,१,१/८४/७ एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः स्वविषये पर्यायाभावतः सामान्यविशेषकालयोरभावात्। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः किंकृतो भेदश्चेदुच्यते ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। विच्छिद्यतेऽस्मिन्काल इति विच्छेदः। ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः। स कालो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः। ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकस्माद्वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति यावत्। =ये तीनों ही (नैगम, संग्रह और व्यवहार) नय नित्यवादी हैं, क्योंकि इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन तीनों नयोंके विषयमें सामान्य और विशेषकालका अभाव है। (अर्थात् इन तीनों नयोंमें कालकी विवक्षा नहीं होती।) प्रश्न—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकमें किस प्रकार भेद है? उत्तर—ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह (काल) जिन नयोंका मूल आधार है, वे पर्यायार्थिक नय हैं। विच्छेद अथवा अन्त जिस-कालमें होता है, उस कालको विच्छेद कहते हैं। वर्तमान वचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं और उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं। वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेदरूप काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं। अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेदरूप समयसे लेकर एकसमय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिक नय हैं। (भावार्थ—'देवदत्त' इस शब्दका अन्तिम अक्षर 'त' मुखसे निकल चुकनेके पश्चात्से लेकर एक समय आगे तक ही देवदत्त नामका व्यक्ति है, दूसरे समयमें वह कोई अन्य हो गया है। ऐसा पर्यायार्थिकनयका मन्तव्य है। (क.पा १/१३-१४/§१८५/२२३/३)

३. सातोंमें अर्थ शब्द व ज्ञाननय विभाग

रा.वा/४/४२/१७/२६१/२ संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रा अर्थनयाः। शेषाः शब्दनयाः। =संग्रह, व्यवहार, व ऋजुसूत्र ये अर्थनय हैं और शेष

(शब्द, समभिरूढ ओर एवंभूत) शब्द या व्यंजननय है। (ध ६/४,१,४५/१८१/१)।

श्लो.वा ४/१/३३/श्लो ८१/२६६ तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मता'। त्रय शब्दनया शेषा शब्दवाच्यार्थगोचरा ।८१। =इन सातोमेंसे नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय तो अर्थनय मानी गयी है, और शेष तीन (शब्द, समभिरूढ और एवभूत) वाचक शब्द द्वारा अर्थको विषय करनेवाले शब्दनय है। (ध.१/१,१,१/८६/३), (क.पा.१/§१८४/२२२/१+§१९७/१), (न.च वृ /२१७) (न.च /श्रुत/पृ. २०) (त सा /१/४३) (स्या प्र /२८/३१६/२६)।

नोट—(यद्यपि ऊपर कही भी ज्ञाननयका जिक्र नहीं किया गया है, परन्तु जैसा कि आगे नैगमनयके लक्षणो परसे विदित है, इनमेंसे नैगमनय ज्ञाननय व अर्थनय दोनो रूप है। अर्थको विषय करते समय यह अर्थनय है और सकल्प मात्रको ग्रहण करते समय ज्ञान-नय है। इसके भूत, भावी आदि भेद भी ज्ञान को ही आश्रय करके किये गये है, क्योकि वस्तुकी भूत भावी पर्याये वस्तुमें नही ज्ञानमें रहती है (दे० नय/III/३/६ मे श्लो वा)। इसके अतिरिक्त भी ऊपरके दो प्रमाणोमे प्रथम प्रमाणमे इस नयको अर्थनयरूपसे ग्रहण न करनेका भी यही कारण प्रतीत होता है। दूसरे प्रमाणमें इसे अर्थनय कहना भी विरोधको प्राप्त नही होता क्योंकि यह ज्ञाननय होनेके साथ-साथ अर्थनय भी अवश्य है।)

४. सातोंमें अर्थ, शब्दनय विभागका कारण

ध.१/१,१,१/८६/३ अर्थनय ऋजुसूत्र। कुत.। ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूत्रयतीति तत्सिद्धे। सन्त्वेतेऽर्थनया अर्थव्यापृतत्वात्। =(शब्द-भेदकी विवक्षा न करके केवल पदार्थके धर्मोंका निश्चय करनेवाला अर्थनय है, और शब्दभेदसे उसमें भेद करनेवाला व्यजननय है—दे० नय/I/४/२) यहाँ ऋजुसूत्रनयको अर्थनय समझना चाहिए। क्योकि ऋजु सरल अर्थात वर्तमान समयवर्ती पर्याय मात्रको जो ग्रहण करे उसे ऋजुसूत्रनय कहते है। इस तरह वर्तमान पर्यायरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण यह नय अर्थनय है, यह बात सिद्ध हो जाती है। अर्थको विषय करनेवाले होनेके कारण नैगम, संग्रह ओर व्यवहार भी अर्थनय है। (शब्दभेदकी अपेक्षा करके अर्थमें भेद डालनेवाले होनेके कारण शेष तीन नय व्यंजननय है।)

स्या.म./२८/३१०/१६ अभिप्रायस्तावद् अर्थद्वारेण शब्दद्वारेण वा प्रवर्तते, गत्यन्तराभावात्। तत्र ये केचनार्थनिरूपणप्रवणा प्रमात्राभिप्रायास्ते सर्वेऽपि आद्ये नयचतुष्टयेऽन्तर्भवन्ति। ये च शब्दविचारचतुरास्ते शब्दादिनयत्रये इति। =अभिप्राय प्रगट करनेके दो ही द्वार है—अर्थ या शब्द। क्योकि, इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है। तहाँ प्रमाताके जो अभिप्राय अर्थका प्ररूपण करनेमें प्रवीण है वे तो अर्थ-नय है जो नैगमादि चार नयोमें अन्तर्भूत हो जाते है और जो शब्द विचार करनेमें चतुर है वे शब्दादि तीन व्यजननय है। (स्या म./२८/३१६/२६)

दे० नय/I/४/५ शब्दनय केवल शब्दको विषय करता है अर्थको नही।

५. नौ भेद कहना भी विरुद्ध नही

ध ९/४,१,४५/१८१/४ नव नया क्वचिच्छ्रूयन्त इति चेन्न नयाना-मियत्तामख्यानियमाभावात्। =प्रश्न—कहीपर नौ नय सुने जाते है? उत्तर—नहीं, क्योकि 'नय इतने है' ऐसी सख्याके नियमका अभाव है। (विशेष दे० नय/I/५/५) (क.पा./१/१३-१४/§२०२/२४५/२)

६. पूर्व पूर्वका नय अगले अगलेका कारण है

स सि /१/३३/१४५/७ एषा क्रम पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च। =पूर्व पूर्वका नय अगले-अगले नयका हेतु है, इसलिए भी यह क्रम (नैगम, सग्रह, व्यवहार एवंभूत) कहा गया है। (रा.वा./१/33/१२/६६/१७) (श्लो.वा./पु. ४/१/३३/श्लो ८२/२६६)

७. सातोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता

स सि./१/३३/१४५/७ उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषा क्रम'... एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषयाः। =उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयवाले होनेके कारण इनका यह क्रम कहा है। इस प्रकार ये नय पूर्व पूर्व विरुद्ध महा विषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्प विषयवाले है (रा.वा /१/३३/१२/६६/१७), (श्लो.वा ४/१/३३/श्लो.८२/२६६), (ह पु /५८/५०), (त सा./१/४३)

श्लो• वा /४/१/३३/श्लो ९८,१००/२८६ यत्र प्रवर्तते स्वार्थे नियमादुत्तरो नय'। पूर्वपूर्वनयस्तत्र वर्तमानो न वार्यते ।९८। पूर्वत्र नोत्तरा संख्या यथायातानुवर्त्यते। तथोत्तरनय' पूर्वनयार्थसकले सदा ।१००। =जहाँ जिस अर्थको विषय करनेवाला उत्तरवर्ती नय नियमसे प्रवर्तता है, तिस तिसमें पूर्ववर्तीनयकी प्रवृत्ति नहीं रोकी जा सकती ।९८। परन्तु उत्तरवर्ती नयें पूर्ववर्ती नयोके पूर्ण विषयमें नही प्रवर्तती है। जेसे बडी सख्यामे छोटी संख्या समा जाती है पर छोटीमें बडी नही (पूर्व पूर्वका विरुद्ध विषय और उत्तर उत्तरका अनुकूल विषय होनेका भी यही अर्थ है (रा. वा./हि./१/३३/१२/४६४)

श्लो. वा /४/१/३३/श्लो. ८२-८९/२६६ पूर्व' पूर्वो नयो भूमविषय' कारणात्मक। पर' पर' पुन' सूक्ष्मगोचरो हेतुमानिह ।८२। सन्मात्र-विषयत्वेन सग्रहस्य न युज्यते। महाविषयताभावाभावार्थान्नैगमान्न-यात ।८३। यथा हि सति संकल्पस्यैवामति वेद्यते। तत्र प्रवर्तमानस्य नैगमस्य महार्थता ।८४। सग्रहाद्व्यवहारोऽपि सद्विशेषावबोधकः। न भूमविषयोऽशेषसत्समूहोपदर्शिन' ।८५। नर्जुसूत्र प्रभूतार्थो वर्तमा-नार्थगोचर'। कालात्रितयवृत्त्यर्थगोचराद्व्यवहारत' ।८६। कालादि-भेदतोऽप्यर्थमभिन्नमुपगच्छत। नर्जुसूत्रान्महार्थोऽत्र शब्दस्तद्विपरीत-वित ।८७। शब्दात्पर्यायभेदेनाभिन्नमर्थमभीप्सित। न स्यात्समभि-रूढोऽपि महार्थस्तद्विपर्यय ।८८। क्रियाभेदेऽपि चाभिन्नमर्थमभ्यु-पगच्छत'। नैवंभूत' प्रभूतार्थो नय समभिरूढत ।८९। =इन नयोमे पहले पहलेके नय अधिक विषयवाले है, और आगे आगेके नय सूक्ष्म विषयवाले है। १. सग्रहनय सन्मात्रको जानता है और नैगमनय सकल्प द्वारा विद्यमान व अविद्यमान दोनोको जानता है, इसलिए सग्रहनयकी अपेक्षा नैगमनयका अधिक विषय है। २. व्यवहारनय सग्रहसे जाने हुए पदार्थको विशेष रूपसे जानता है और सग्रह समस्त सामान्य पदार्थोको जानता है, इसलिए सग्रह नयका विषय व्यवहार-नयसे अधिक है। ३ व्यवहारनय तीनो कालोके पदार्थोको जानता है और ऋजुसूत्रसे केवल वर्तमान पदार्थोका ज्ञान होता है, अतएव व्यवहारनयका विषय ऋजुसूत्रसे अधिक है। ४. शब्दनय काल आदिके भेदसे वर्तमान पर्यायको जानता है (अर्थात वर्तमान पर्यायके वाचक अनेक पर्यायवाची शब्दोमेंसे काल, लिंग, सख्या, पुरुष आदि रूप व्याकरण सम्बन्धी विषमताओका निराकरण करके मात्र समान काल, लिग आदि वाले शब्दोंको ही एकार्थवाची स्वीकार करता है)। ऋजुसूत्रमें काल आदिका कोई भेद नही। इसलिए शब्दनयसे ऋजुसूत्रनयका विषय अधिक है। ५ समभिरूढनय इन्द्र शक्र आदि (समान काल, लिग आदि वाले) एकार्थवाची शब्दोको भी व्युत्पत्तिकी अपेक्षा भिन्नरूपसे जानता है, (अथवा उनमेसे किसी एक ही शब्दको वाचकरूपसे रूढ करता है), परन्तु शब्दनयमें यह सूक्ष्मता नहीं रहती, अतएव समभिरूढसे शब्दनयका विषय अधिक है। ६ समभिरूढनयमे जाने हुए पदार्थोमें क्रियाके भेदसे वस्तुमें भेद मानना (अर्थात् समभिरूढ द्वारा रूढ शब्दको उसी समय उसका वाचक मानना जबकि वह वस्तु तदनुकूल क्रियारूपसे परिणत हो)

एवंभूत है। जैसे कि समभिरूढकी अपेक्षा पुरन्दर और शचीपति (इन शब्दोंके अर्थ) में भेद होनेपर भी नगरोंका नाश न करनेके समय भी पुरन्दर शब्द इन्द्रके अर्थमें प्रयुक्त होता है, परन्तु एवंभूतकी अपेक्षा नगरोंका नाश करते समय ही इन्द्रको पुरन्दर नामसे कहा जा सकता है।) (अतएव एवंभूतसे समभिरूढनयका विषय अधिक है। ७. (और अन्तिम एवंभूतका विषय सर्वत स्तोक है; क्योंकि, इसके आगे वाचक शब्दमें किसी अपेक्षा भी भेद किया जाना सम्भव नहीं है।) (स्या म./२८/३१६/३०) (रा. वा.हि./१/३३/४६३) (और भी देखो आगे शीर्षक न० ६)।

ध. १/१,१,१/१३/११ (विशेषार्थ)—वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्रनय है, इसलिए जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है तबतक व्यवहारनय चलता है (दे० नय/V/४,४,५), और जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्रनयका प्रारम्भ होता है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमात्र है। परन्तु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यता है, इसलिए उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिंग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय है। शब्दनयसे स्वीकृत (समान) लिंग वचन आदि वाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाले समभिरूढनय है। और पर्यायशब्दको उस शब्दसे ध्वनित होनेवाला क्रियाकालमें ही वाचक मानने वाला एवंभूतनय समझना चाहिए। इस तरह ये शब्दादिनय उस ऋजुसूत्रकी शाखा उपशाखा हैं।

८. सातोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मताका उदाहरण

ध. ७/२,१,४/गा १-६/२८-२९ णयाणामभिप्पाओ एत्थ उच्चदे। तं जहा—कं पि णरं दट्‌ठूण य पावजणसमागमं करेमाणं। णेगमणएण भण्णई णेरइओ एस पुरिसो त्ति।१। ववहारस्स दु वयणं जइया कोदंडकंडगयहत्थो। भमइ मए मग्गंतो तइया सो होइ णेरइओ।२। उज्जुसुदस्स दु वयणं जइया इर ठाइदूण ठाणम्मि। आहणदि मए पावो तइया सो होइ णरइओ।३। सद्दणयस्स दु वयणं जइया पाणेहि मोइदो जन्तू। तइया सो णेरइओ हिंसाकम्मेण संजुत्तो।४। वयणं तु समभिरूढं णारयकम्मस्स बंधगो जइया। तइया सो णेरइओ णारयकम्मेण संजुत्तो।५। णिरयगइं संपत्तो जइया अणुहवइ णारयं दुक्खं। तइया सो णेरइओ एवंभूदो णओ भणदि।६। =यहाँ (नरक गतिके प्रकरणमें) नयोंका अभिप्राय बतलाते हैं। वह इस प्रकार है—१ किसी मनुष्यको पापी लोगोंका समागम करते हुए देखकर नैगमनयसे कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है।१। २. (जब वह मनुष्य प्राणिवध करनेका विचार कर सामग्री संग्रह करता है, तब वह संग्रहनयसे नारकी कहा जाता है)। ३. व्यवहारनयका वचन इस प्रकार है—जब कोई मनुष्य हाथमें धनुष और बाण लेकर मृगोंकी खोजमें भटकता फिरता है, तब वह नारकी कहलाता है।२। ४. ऋजुसूत्रनयका वचन इस प्रकार है—जब आखेटस्थानपर बैठकर पापी मृगोंपर आघात करता है तब वह नारकी कहलाता है।३। ५. शब्दनयका वचन इस प्रकार है—जब जन्तु प्राणोंसे विमुक्त कर दिया जाता है, तभी वह आघात करनेवाला हिंसा कर्मसे संयुक्त मनुष्य नारकी कहा जाता है।४। ६ समभिरूढनयका वचन इस प्रकार है—जब मनुष्य नारक (गति व आयु) कर्मका बन्धक होकर नारक कर्मसे संयुक्त हो जाये तभी वह नारकी कहा जाये।५। ७ जब वही मनुष्य नरकगतिको पहुँचकर नरकके दुःख अनुभव करने लगता है, तभी वह नारकी है, ऐसा एवंभूतनय कहता है।६। नोट—(इसी प्रकार अन्य किसी भी विषयपर यथा योग्य रीतिसे ये सातों नय लागू की जा सकती है)।

९. शब्दादि तीन नयोंमें अन्तर

रा. वा./४/४२/१७/२६१/११ व्यञ्जनपर्यायास्तु शब्दनया द्विविधं वचनं प्रकल्पयन्ति—अभेदेनाभिधानं भेदेन च। यथा शब्दे पर्यायशब्दान्तरप्रयोगेऽपि तस्यैवार्थस्याभिधानादभेद। समभिरूढे वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य अप्रवृत्तिनिमित्तस्य च घटस्याभिन्नस्य सामान्येनाभिधानात्। एवंभूतेषु प्रवृत्तिनिमित्तस्य भिन्नस्यैकस्यैवार्थस्याभिधानात् भेदेनाभिधानम्।

अथवा, अन्यथा द्वैविध्यम् – एकस्मिन्नर्थेऽनेकशब्दवृत्तिः, प्रत्यर्थं वा शब्दविनिवेश इति। यथा शब्दे अनेकपर्यायशब्दवाच्य एकः समभिरूढे वा नैमित्तिकत्वात् शब्दस्यैकशब्दवाच्य एकः। एवंभूते वर्तमाननिमित्तशब्द एकवाच्य एकः। =१. वाचक शब्दकी अपेक्षा—शब्दनय (वस्तुकी) व्यंजनपर्यायोंको विषय करते हैं (शब्दका विषय बनाते हैं) वे अभेद तथा भेद दो प्रकारके वचन प्रयोगको सामने लाते हैं (दो प्रकारके वाचक शब्दोंका प्रयोग करते हैं।) शब्दनयमें पर्यायवाची विभिन्न शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी उसी अर्थका कथन होता है अतः अभेद है। समभिरूढनयमें घटनाक्रियामें परिणत या अपरिणत, अभिन्न ही घटका निरूपण होता है। एवंभूतमें प्रवृत्तिनिमित्तसे भिन्न ही अर्थका निरूपण होता है। २. वाच्य पदार्थकी अपेक्षा—अथवा एक अर्थमें अनेक शब्दोंकी प्रवृत्ति या प्रत्येकमें स्वतन्त्र शब्दोंका प्रयोग, इस तरह भी दो प्रकार है। शब्दनयमें अनेक पर्यायवाची शब्दोंका वाच्य एक ही होता है। समभिरूढमें चूँकि शब्द नैमित्तिक है, अतः एक शब्दका वाच्य एक ही होता है। एवंभूत वर्तमान निमित्तको पकड़ता है। अतः उसके मतमें भी एक शब्दका वाच्य एक ही है।

२. नैगमनयके भेद व लक्षण

१. नैगमनय सामान्यके लक्षण

१. निगम अर्थात् संकल्पग्राही

स.सि /१/३३/१४१/२ अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। =अनिष्पन्न अर्थमें संकल्प मात्रको ग्रहण करनेवाला नय नैगम है। (रा वा/१/३३/२/९५/१३), (श्लो वा/४/१/३३/श्लो.१७/२३०); (ह.पु./५८/४३), (त.सा /१/४४)।

रा. वा/१/३३/२/९५/१२ निर्गच्छन्ति तस्मिन्निति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः। =उसमें अर्थात् आत्मामें जो उत्पन्न हो या अवतारमात्र निगम कहलाता है। उस निगममें जो कुशल हो अर्थात् निगम या संकल्पको जो विषय करे उसे नैगम कहते हैं।

श्लो.वा/४/१/३३/श्लो.१८/२३० संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजनः। =नैगम शब्दको भव अर्थ या प्रयोजन अर्थमें तद्धितका अण् प्रत्यय कर बनाया गया है। निगमका अर्थ संकल्प है, उस संकल्पमें जो उपजे अथवा वह संकल्प जिसका प्रयोजन हो वह नैगम नय है। (आ प /९), (नि सा /ता वृ /१९)।

का.अ./मू /२७१ जो साहेदि अदीदं वियप्परूवं भविस्समट्‌ठं च। संपडि कालाविट्‌ठं सो हु णओ णेगमो णेओ।२७१। =जो नय अतीत, अनागत और वर्तमानको विकल्परूपसे साधता है वह नैगम-नय है।

२. 'नैकं गमो' अर्थात् द्वैतग्राही

श्लो.वा/४/१/३३/श्लो २१/२३२ यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सता नैगमो मत । धर्मयोर्धर्मिणोर्वापि विवक्षा धर्मधर्मिणो'। =जो एकको विषय नहीं करता उसे नैगमनय कहते हैं। अर्थात् जो मुख्य गौण-रूपसे दो धर्मोंको, दो धर्मियोंको अथवा धर्म व धर्मी दोनोको विषय करता है वह नैगम नय है। (ध.९/४,१,४५/१८१/२); (ध.१३/५,५,७/१९९/१). (स्या.म./२८/–३११/३,३१७/२)।

स्या म /२८/३१५/१४ में उद्धृत=अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्। विशेषोऽप्यन्य एवेति मन्यते नैगमो नयः। =अभिन्न ज्ञानका कारण जो सामान्य है, वह अन्य है और विशेष अन्य है, ऐसा नैगमनय मानता है।

दे० आगे नय/*III*/३/२ (संग्रह व व्यवहार दोनोको विषय करता है।)

२. 'संकल्पग्राही' लक्षण विषयक उदाहरण

स.सि./१/३३/१४१/२ कंचित्पुरुषं परिगृहीतपरशुं गच्छन्तमवलोक्य कश्चित्पृच्छति किमर्थं भवान्गच्छतीति। स आह प्रस्थमानेतुमिति। नासौ तदा प्रस्थपर्याय संनिहित तदभिनिवृत्तये सकल्पमात्रे प्रस्थव्यवहार। तथा एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कश्चित्पृच्छति किं करोति भवानिति स आह ओदनं पचामीति। न तदौदनपर्याय संनिहित, तदर्थे व्यापारे स प्रयुज्यते। एवं प्रकारो लोकसंव्यवहारोऽनभिनिवृत्तार्थसंकल्पमात्रविषयो नैगमस्य गोचर'। =१. हाथमें फरसा लिये जाते हुए किसी पुरुषको देखकर कोई अन्य पुरुष पूछता है, 'आप किस कामके लिए जा रहे है।' वह कहता है कि प्रस्थ लेनेके लिए जा रहा हूँ। उस समय वह प्रस्थ पर्याय, सन्निहित नहीं है। केवल उसके बनानेका संकल्प होनेसे उसमें (जिस काठको लेने जा रहा है उस काठमें) प्रस्थ-व्यवहार किया गया है। २ इसी प्रकार ईंधन और जल आदिके लानेमें लगे हुए किसी पुरुषसे कोई पूछता है, कि 'आप क्या कर रहे है'। उसने कहा, भात पका रहा हूँ। उस समय भात पर्याय सन्निहित नहीं है, केवल भातके लिए किये गये व्यापारमें भातका प्रयोग किया गया है। इस प्रकारका जितना लोकव्यवहार है वह अनिष्पन्न अर्थके आलम्बनसे संकल्पमात्रको विषय करता है, वह सब नैगमनयका विषय है। (रा वा/१/३३/२/९५/१३), (श्लो वा/४/१/३३/श्लो.१८/२३०)।

३. 'द्वैतग्राही' लक्षण विषयक उदाहरण

ष.खं /१२/४,२,८/सू.२/२९५ १. णेगमववहाराणं णाणावरणीयवेयणा सिया जीवस्स वा।२। =नैगम और व्यवहार नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना कथंचित् जीवके होती है। (यहाँ जीव तथा उसका कर्मानुभव दोनोका ग्रहण किया है। वेदना प्रधान है और जीव गौण)।

ष.खं.१०/४,२,३/सू १/१३ २. णेगमववहाराणं णाणावरणीयवेयणा दंसणावरणीयवेयणा वेयणीयवेयणा • ।=नैगम व व्यवहारनयसे वेदना ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय • (आदि आठ भेदरूप है)। (यहाँ वेदना सामान्य गौण और ज्ञानावरणीय आदि भेद प्रधान—ऐसे दोनोंका ग्रहण किया है।)

क.पा १/१३-१४/§२५९/२९७/१ ३—ज मणुस्सं पडुच्च कोहो समुप्पणो सो तत्तो पुधभूदो सतो कधं कोहो। होत ऐसो दोसो जदि संगहादिणया अवलंबिदा, किन्तु णइगमणओ जयवसहाइरिएण जेणावलंबिदो तेण ण एस दोसो। तत्थ कथं ण दोसो। कारणम्मि णिलीणकज्जब्भुवगमादो। =प्रश्न—जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह मनुष्य उस क्रोधसे अलग होता हुआ भी क्रोध कैसे कहला सकता है? उत्तर—यदि यहाँ पर संग्रह आदि नयोंका अवलम्बन लिया होता, तो ऐसा होता, अर्थात् संग्रह आदि नयोकी अपेक्षा क्रोधसे भिन्न मनुष्य आदिक क्रोध नहीं कहलाये जा सकते है। किन्तु यतिवृषभाचार्यने चूँकि यहाँ नैगमनयका अवलम्बन लिया है, इसलिए यह कोई दोष नहीं है। प्रश्न—दोष कैसे नहीं है? उत्तर—क्योंकि नैगमनयकी अपेक्षा कारणमें कार्यका सद्भाव स्वीकार किया गया है। (और भी दे०—उपचार/५/३)

ध.९/४,१,४५/१७१/५ ४. परस्परविभिन्नोभयविषयालम्बनो नैगमनय'; शब्द-शील-कर्म-कार्य - कारणाधाराधेय-भूत-भावि-भविष्यद्वर्तमान-मेयोन्मेयादिकमाश्रित्य स्थितोपचारप्रभव इति यावत्। =परस्पर भिन्न (भेदाभेद) दो विषयोका अवलम्बन करनेवाला नैगमनय है। अभिप्राय यह कि जो शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण, आधार, आधेय, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, मेय व उन्मेयादिकका आश्रय-कर स्थित उपचारसे उत्पन्न होनेवाला है, वह नैगमनय कहा जाता है। (क.पा /१/१३-१४/§१८३/२२१/१)।

ध.१३/५,३,१२/१३/१ ५. धम्मदव्वं धम्मदव्वेण पुस्सज्जदि, असंगहियणेगमणयमस्सिदूण लोगागासपदेसमेत्तधम्मदव्वपदेसाणं पुध-पुध लद्धदव्वववएसाणमण्णोण्णं पासुवलंभादो। अधम्मदव्वमधम्मदव्वेण पुसिज्जदि, तक्खंध-देस-पदेस-परमाणूणमसगहियणेगमणएण पत्तदव्वभावाणमेयत्तदंसणादो। =धर्म द्रव्य धर्मद्रव्यके द्वारा स्पर्शको प्राप्त होता है, क्योकि असंग्राहिक नैगमनयकी अपेक्षा लोकाकाशके प्रदेशप्रमाण और पृथक्-पृथक् द्रव्य संज्ञाको प्राप्त हुए धर्मद्रव्यके प्रदेशोका परस्परमें स्पर्श देखा जाता है। अधर्मद्रव्य अधर्मद्रव्यके द्वारा स्पर्शको प्राप्त होता है, क्योकि असंग्राहिक नैगमनयकी अपेक्षा द्रव्यभावको प्राप्त हुए अधर्मद्रव्यके स्कन्ध, देश, प्रदेश, और परमाणुओंका एकत्व देखा जाता है।

स्या, म /२८/३१७/२ ६. धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगम । सत् चैतन्यमात्मनीति धर्मयो'। वस्तुपर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणो'। क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणो । =दो धर्म और दो धर्मी अथवा एक धर्म और एक धर्मीमें प्रधानता और गौणताकी विवक्षाको नैगमनय कहते है। जैसे (१) सत् और चैतन्य दोनो आत्माके धर्म हैं। यहाँ सत् और चैतन्य धर्मोमें चैतन्य विशेष्य होनेसे प्रधान धर्म है और सत् विशेषण होनेसे गौण धर्म है। (२) पर्यायवान् द्रव्यको वस्तु कहते है। यहाँ द्रव्य और वस्तु दो धर्मियोमें द्रव्य मुख्य और वस्तु गौण है। अथवा पर्यायवान् वस्तुको द्रव्य कहते है, यहाँ वस्तु मुख्य और द्रव्य गौण है। (३) विषयासक्तजीव क्षण भरके लिए सुखी हो जाता है। यहाँ विषयासक्त जीवरूप धर्मी मुख्य और सुखरूप धर्म गौण है।

स्या म./२८/३११/३ तत्र नैगम सत्तालक्षण महासामान्य, अवान्तरसामान्यानि च, द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि; तथान्त्यान् विशेषान् सकलासाधारणरूपलक्षणान्, अवान्तरविशेषाश्चापेक्षया पररूपव्यावृत्तनक्षमान् सामान्यान् अत्यन्तविनिर्लुठितस्वरूपानभिप्रैति। =नैगमनय सत्तारूप महासामान्यको, अवान्तरसामान्यको; द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदिको; सकल असाधारणरूप अन्त्य विशेषोंको; तथा पररूपसे व्यावृत और सामान्यसे भिन्न अवान्तर विशेषोको, अत्यन्त एकमेकरूपसे रहनेवाले सर्व धर्मोको (मुख्य गौण करके) जानता है।

४. नैगमनयके भेद

श्लो. वा /४/१/३३/४८/२३६/१८ त्रिविधस्तावन्नैगम । पर्यायनैगम द्रव्यनैगम., द्रव्यपर्यायनैगमश्चेति। तत्र प्रथमस्त्रेधा। अर्थपर्यायनैगमो व्यञ्जनपर्यायनैगमोऽर्थ व्यञ्जनपर्यायनैगमश्च इति। द्वितीयो द्विधा-शुद्धद्रव्यनैगम अशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति । तृतीयश्चतुर्धा।

शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगम', शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम', अशुद्धद्रव्यार्थ-पर्यायनैगम,. अशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगमश्चेति नवधा नैगम' साभास उदाहृत' परीक्षणीय'। =नैगमनय तीन प्रकारका है—पर्यायनैगम, द्रव्यनैगम, द्रव्यपर्यायनैगम। तहाँ पर्यायनैगम तीन प्रकारका है—अर्थपर्यायनैगम, व्यञ्जनपर्यायनैगम और अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगम। द्रव्यनैगमनय दो प्रकार का है—शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्धद्रव्यनैगम। द्रव्यपर्यायनैगम चार प्रकार है—शुद्ध द्रव्यार्थपर्याय नैगम, शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थपर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यव्यञ्जनपर्यायनैगम। ऐसे नौ प्रकारका नैगमनय और इन नौ ही प्रकारका नैगमाभास उदाहरण पूर्वक कहे गये है। (क. पा. १/१३-१४/§ २०२/२४४/१); (ध. ६/४,१,४५/१८१/३)।

आ प./५ नैगमस्त्रेधा भूतभाविवर्तमानकालभेदात्। =भूत, भावि और वर्तमानकालके भेदसे (सकल्पग्राही) नैगमनय तीन प्रकार का है। (नि सा/ता. वृ./१६)।

५. भूत भावी व वर्तमान नैगमनयके लक्षण

आ. प/५ अतीते वर्तमानारोपणं यत्र स भूतनैगमो। .. भाविनि भूतवत्कथनं यत्र स भाविनैगमो। कर्तुमारब्धमीपन्निष्पन्नमनिष्पन्नं वा वस्तु निष्पन्नवत्कथ्यते यत्र स वर्तमाननैगमो। = अतीत कार्यमे 'आज हुआ है' ऐसा वर्तमानका आरोप या उपचार करना भूत नैगमनय है। होनेवाले कार्यको 'हो चुका' ऐसा भूतवत् कथन करना भावी नैगमनय है। और जो कार्य करना प्रारम्भ कर दिया गया है, परन्तु अभी तक जो निष्पन्न नही हुआ है, कुछ निष्पन्न है और कुछ अनिष्पन्न उस कार्यको 'हो गया' ऐसा निष्पन्नवत् कथन करना वर्तमान नैगमनय है (न च. वृ/२०६-२०८); (न. च./श्रुत/पृ. १२)।

६. भूत भावी व वर्तमान नैगमनयके उदाहरण

१. भूत नैगम

आ. प/५ भूतनैगमो यथा, अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्द्धमानस्वामी मोक्षं गत। =आज दीपावलीके दिन भगवान् वर्द्धमान मोक्ष गये है, ऐसा कहना भूत नैगमनय है। (न. च. वृ/२०६), (न च./श्रुत/पृ १०)।

नि. सा/ता. वृ/१६ भूतनैगमनयापेक्षया भगवतां सिद्धानामपि व्यञ्जनपर्यायत्वमशुद्धत्व च सभवति। पूर्वकाले ते भगवन्त संसारिण इति व्यवहारात्। =भूत नैगमनयकी अपेक्षासे भगवन्त सिद्धोंको भी व्यञ्जनपर्यायवानपना और अशुद्धपना सम्भावित होता है, क्योकि पूर्वकालमें वे भगवन्त ससारी थे ऐसा व्यवहार है।

द्र. सं/टी./१४/४८/६ अन्तरात्मावस्थाया तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत् · परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वय भूतपूर्वनयेनेति। = अन्तरात्माकी अवस्थामें बहिरात्मा और परमात्माकी अवस्थामे अन्तरात्मा व बहिरात्मा दोनों घीके घडेवत् भूतपूर्व न्यायसे जानने चाहिए।

२. भावी नैगमनय

आ प/५ भावि नैगमो यथा—अर्हन् सिद्ध एव। = भावी नैगमनयकी अपेक्षा अर्हन्त भगवान् सिद्ध ही है।

न. च. वृ/२०७ णिप्पण्णमिव पजंपदि भाविपदत्थं णरो अणिप्पण्णं। अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भाविणइगमत्ति णओ।२०७। =जो पदार्थ अभी अनिष्पन्न है, और भावी कालमें निष्पन्न होनेवाला है, उसे निष्पन्नवत् कहना भावी नैगमनय है। जैसे—जो अभी प्रस्थ नहीं बना है ऐसे काठके टुकडेको ही प्रस्थ कह देना। (न च./श्रुत/पृ ११) (और भी—दे० पीछे सकल्पग्राही नैगमका उदाहरण)।

ध. १२/४,२,१०,२/३०३/५ उदीर्णस्य भवतु नाम प्रकृतिव्यपदेश'. फलदातृत्वेन परिणतत्वात्। न बध्यमानोपशान्तयो, तत्र तदभावादिति। न, त्रिष्वपि कालेषु प्रकृतिशब्दसिद्धे'। भूदभविस्सपज्जायाणं वट्टमाणत्तब्भुवगमादो वा णेगमणयम्मि एसा वुत्पत्ती घडदे। =प्रश्न—उदीर्ण कर्मपुद्गलस्कन्धकी प्रकृति सज्ञा भले ही हो, क्योंकि, वह फलदान स्वरूपसे परिणत है। बध्यमान और उपशान्त कर्म पुद्गलस्कन्धोकी यह सज्ञा नहीं बन सकती, क्योकि, उनमें फलदान स्वरूपका अभाव है। उत्तर—नही, क्योंकि, तीनो ही कालोंमें प्रकृति शब्दकी सिद्धि की गयी है। भूत व भविष्यत् पर्यायोको वर्तमान रूप स्वीकार कर लेनेसे नैगमनयमें व्युत्पत्ति बैठ जाती है।

दे० अपूर्वकरण/४ (भूत व भावी नैगमनयसे ८वें गुणस्थानमें उपशामक व क्षपक संज्ञा बन जाती है, भले ही वहाँ एक भी कर्मका उपशम या क्षय नहीं होता।

द्र सं/टी./१४/४८/८ बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थाया· परमात्मस्वरूप तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च। =बहिरात्माकी दशामें अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे तो रहते ही है, परन्तु भाविनैगमनयसे व्यक्तिरूपसे भी रहते है। इसी प्रकार अन्तरात्माकी दशामें परमात्मस्वरूप शक्तिरूपसे तो रहता ही है, परन्तु भाविनैगमनयसे व्यक्तिरूपसे भी रहता है।

पं. ध/उ./६२१ तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिण। गुरव' स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक्।६२१। =देव होनेसे पहले भी, छद्मस्थ रूपमें विद्यमान मुनिको देवरूपका धारी होने करि गुरु कह दिया जाता है। वास्तवमें तो देव ही गुरु है। ऐसा भावि नैगमनयसे ही कहा जा सकता है। अन्य अवस्था विशेषमें तो किसी भी प्रकार गुरु सज्ञा घटित होती नही।

३ वर्तमान नैगमनय

आ प./५ वर्तमाननैगमो यथा—ओदन' पच्यते। =वर्तमान नैगमनयसे अधपके चावलो को भी 'भात पकता है' ऐसा कह दिया जाता है। (न. च./श्रुत/पृ. ११)।

न. च वृ./२०८ परद्धा जा किरिया पयणविहाणादि कहइ जो सिद्धा। लोएसे पुच्छमाणे भण्णइ त वट्टमाणणयं।२०८। =पाकक्रियाके प्रारम्भ करनेपर ही किसीके पूछनेपर यह कह दिया जाता है, कि भात पक गया है या भात पकाता हूँ, ऐसा वर्तमान नैगमनय है। (और भी दे० पीछे सकल्पग्राही नैगमनयका उदाहरण)।

७. पर्याय, द्रव्य व उभयरूप नैगमसामान्यके लक्षण

ध ६/४,१,४५/१८१/२ न एकगमो नैगम इति न्यायात् शुद्धाशुद्धपर्यायार्थिकनयद्वयविषय' पर्यायार्थिकनैगम, द्रव्यार्थिकनयद्वयविषय, द्रव्यार्थिकनैगम'; द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयविषय नैगमो द्वन्द्वज। =जो एकको विषय न करे अर्थात् भेद व अभेद दोनोको विषय करे वह नैगमनय है' इस न्यायसे जो शुद्ध व अशुद्ध दोनों पर्यायार्थिकनयोके विषयको ग्रहण करनेवाला हो वह पर्यायार्थिकनैगमनय है। शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयोके विषयको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नैगमनय है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो नयोंके विषयको ग्रहण करनेवाला द्वद्वज अर्थात् द्रव्य पर्यायार्थिक नैगमनय है।

क पा १/१३-१४/§ २०२/२४४/३ युक्त्यवष्टम्भबलेन संग्रहव्यवहारनयविषय द्रव्यार्थिकनैगम। ऋजुसूत्रादिनयचतुष्टयविषयं युक्त्यवष्टम्भबलेन प्रतिपन्न' पर्यायार्थिकनैगम'। द्रव्यार्थिकनयविषय पर्यायार्थिकविषयं च प्रतिपन्न' द्रव्यपर्यायार्थिकनैगम। =युक्तिरूप आधारके बलसे सग्रह और व्यवहार इन दोनो (शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक) नयोंके विषयको स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिक नैगमनय है।

८. द्रव्य व पर्याय आदि नैगमनयके भेदोंके लक्षण व उदाहरण

१. अर्थ, व्यंजन व तदुभय पर्याय नैगम

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो. २८-३५/३४ अर्थपर्याययोस्तावद्गुणमुख्यस्वभावत'। क्वचिद्वस्तुन्यभिप्राय. प्रतिपत्तु' प्रजायते।२८। यथा प्रतिक्षण ध्वंसि सुखसंविच्छरीरिण.। इति सत्तार्थपर्यायो विशेषणतया गुण.।२६। सवेदनार्थपर्यायो विशेष्यत्वेन मुख्यताम्। प्रतिगच्छन्नभिप्रेतो नान्यथैवं वचो गति'।३०। कश्चिद्व्यञ्जनपर्यायौ विषयीकुरुतेऽञ्जसा। गुणप्रधानभावेन धर्मिण्येकत्र नैगम।३२। सच्चैतन्यं नरीत्येव सत्त्वस्य गुणभावत'। प्रधानभावतश्चापि चैतन्यस्याभिसिद्धित.।३३। अर्थव्यञ्जनपर्यायौ गोचरीकुरुते पर'। धार्मिके सुखजीवित्वमित्येवमनुरोधत'।३५। =एक वस्तुमें दो अर्थपर्यायोको गौण मुख्यरूपसे जाननेके लिए नयज्ञानीका जो अभिप्राय उत्पन्न होता है, उसे अर्थ पर्यायनैगम नय कहते हैं। जैसे कि शरीरधारी आत्माका सुखसवेदन प्रतिक्षणध्वंसी है। यहाँ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप सत्ता सामान्यकी अर्थपर्याय तो विशेषण हो जानेसे गौण है, और सवेदनरूप अर्थपर्याय विशेष्य होनेसे मुख्य है। अन्यथा किसी कथन द्वारा इस अभिप्रायकी ज्ञप्ति नही हो सकती।२८-३०। एक धर्मीमें दो व्यंजनपर्यायोको गौण मुख्यरूपसे विषय करनेवाला व्यंजनपर्यायनैगमनय है। जैसे 'आत्मामें सत्त्व और चैतन्य है'। यहाँ विशेषण होनेके कारण सत्ताकी गौणरूपसे और विशेष्य होनेके कारण चैतन्यकी प्रधानरूपसे ज्ञप्ति होती है।३२-३३। एक धर्मीमें अर्थ व व्यंजन दोनों पर्यायोको विषय करनेवाला अर्थव्यञ्जनपर्याय नैगमनय है, जैसे कि धर्मात्मा व्यक्तिमें सुखपूर्वक जोवन वर्त रहा है। (यहाँ धर्मात्मारूप धर्मीमें सुखरूप अर्थपर्याय तो विशेषण होनेके कारण गौण है और जोवीपनारूप व्यञ्जनपर्याय विशेष्य होनेके कारण मुख्य है।३५। (रा वा./हिं/१/३३/१९८-१९९)।

२. शुद्ध व अशुद्ध द्रव्य नैगम

श्लो.वा ४/१/३३/श्लो. ३७-३६/२३६ शुद्धद्रव्यमशुद्धं च तथाभिप्रैति यो नय'। स तु नैगम एवेह सग्रहव्यवहारत:।३७। सद्द्रव्यं सकलं वस्तु तथान्वयविनिश्चयात्। इत्येवमवगन्तव्य.'।३८। यस्तु पर्यायवद्द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णय'। व्यवहारनयाज्जात' सोऽशुद्धद्रव्यनैगमः।३६। =शुद्धद्रव्य या अशुद्धद्रव्यको विषय करनेवाले सग्रह व व्यवहार नयसे उत्पन्न होनेवाले अभिप्राय ही क्रमसे शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्धद्रव्यनैगमनय है। जैसे कि अन्वयका निश्चय हो जानेसे सम्पूर्ण वस्तुओको 'सत् द्रव्य' कहना शुद्धद्रव्य नैगमनय है।३७-३८। (यहाँ 'सत्' तो विशेषण होनेके कारण गौण है और 'द्रव्य' विशेष्य होनेके कारण मुख्य है।) जो नय 'पर्यायवान् द्रव्य है' अथवा 'गुणवान् द्रव्य है' इस प्रकार निर्णय करता है, वह व्यवहारनयसे उत्पन्न होनेवाला अशुद्धद्रव्यनैगमनय है। (यहाँ 'पर्यायवान्' तथा 'गुणवान्' ये तो विशेषण होनेके कारण गौण है और 'द्रव्य' विशेष्य होनेके कारण मुख्य है।) (रा वा./हि./१/३३/१९८) नोट—(संग्रह व्यवहारनय तथा शुद्ध, अशुद्ध द्रव्यनैगमनयमें अन्तरके लिए—दे० आगे नय/III/३)।

३. शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यपर्याय नैगम

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो ४१-४६/२३७ शुद्धद्रव्यार्थपर्यायनैगमोऽस्ति परो यथा। सत्सुखं क्षणिकं शुद्धं ससारेऽस्मिन्नितीरणम्।४१। क्षणमेकं सुखी जीवो विषयीति विनिश्चय.। विनिर्दिष्टोऽर्थपर्यायोऽशुद्धद्रव्यार्थनैगम।४३। गोचरीकुरुते शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्ययौ। नैगमोऽन्यो यथा सच्चित्सामान्यमिति निर्णय'।४५। विद्यते चापरो शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्ययी। अर्थीकरोति य' सोऽत्र ना गुणीति निगद्यते।४६। =(शुद्धद्रव्य व उसकी किसी एक अर्थपर्यायको गौण मुख्यरूपसे विषय करनेवाला शुद्धद्रव्य अर्थपर्याय-नैगमनय है) जैसे कि ससारमें सुख पदार्थ शुद्ध सत्स्वरूप होता हुआ क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है। (यहाँ उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सत्पना तो शुद्ध द्रव्य है और सुख अर्थपर्याय है। तहाँ विशेषण होनेके कारण सत् तो गौण है और विशेष्य होनेके कारण सुख मुख्य है।४१।) (अशुद्ध द्रव्य व उसकी किसी एक अर्थ पर्यायको गौण मुख्य रूपसे विषय करनेवाला अशुद्धद्रव्यअर्थपर्याय-नैगमनय है।) जैसे कि संसारी जीव क्षणमात्रको सुखी है। (यहाँ सुखरूप अर्थपर्याय तो विशेषण होनेके कारण गौण है और संसारी जीवरूप अशुद्धद्रव्य विशेष्य होनेके कारण मुख्य है)।४३। शुद्धद्रव्य व उसकी किसी एक व्यजनपर्यायको गौण मुख्य रूपसे विषय करनेवाला शुद्धद्रव्य-व्यंजनपर्याय-नैगमनय है। जैसे कि यह सत् सामान्य चैतन्यस्वरूप है। (यहाँ सत् सामान्यरूप शुद्धद्रव्य तो विशेषण होनेके कारण गौण है और उसकी चैतन्यपनेरूप व्यञ्जन पर्याय विशेष्य होनेके कारण मुख्य है)।४५। अशुद्धद्रव्य और उसकी किसी एक व्यञ्जन पर्यायको गौण मुख्यरूपसे विषय करनेवाला अशुद्धद्रव्य-व्यञ्जनपर्याय-नैगमनय है। जैसे 'मनुष्य गुणी है' ऐसा कहना। (यहाँ 'मनुष्य' रूप अशुद्धद्रव्य तो विशेष्य होनेके कारण मुख्य है और 'गुणी' रूप व्यंजनपर्याय विशेषण होनेके कारण मुख्य है।४६।) (रा.वा./हि/१/३३/१९९)

९. नैगमाभास सामान्यका लक्षण व उदाहरण

स्या.म./२८/३१७/५ धर्मद्वयादीनामेकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः। यथा आत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तपृथग्भूते इत्यादिः। =दो धर्म, दो धर्मी अथवा एक धर्म व एक धर्मीमें सर्वथा भिन्नता दिखानेको नैगमाभास कहते है। जैसे—आत्मामें सत् और चैतन्य परस्पर अत्यन्त भिन्न है ऐसा कहना। (विशेष देखो अगला शीर्षक)

१०. नैगमाभास विशेषोंके लक्षण व उदाहरण

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो. नं./पृष्ठ २३५-२३९ सर्वथा सुखसंवित्योर्नानात्वेऽभिमति पुनः। स्वाश्रयाच्चार्थपर्यायनैगमाभोऽप्रतीतित।३१। तयोरत्यन्तभेदोक्तिरन्योन्यं स्वाश्रयादपि। ज्ञेयो व्यञ्जनपर्यायनैगमाभो विरोधत'।३४। भिन्ने तु सुखजीवित्वे योऽभिमन्येत सर्वथा। सोऽर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमाभास एव न।३६। सद्द्रव्य सकल वस्तु तथान्वयविनिश्चयात्। इत्येवमवगन्तव्यस्तद्भेदोक्तिस्तु दुर्नय।३८। तद्भेदैकान्तवादस्तु तदाभासोऽनुमन्यते। तथोक्तेर्बहिरन्तश्च प्रत्यक्षादिविरोधत'।४०। सत्त्व सुखार्थपर्यायाद्भिन्नमेवेति समति। दुर्नीति' स्यात्सबाधत्वादिति नीतिविदो विदु.।४२। सुखजीवभिदोक्तिस्तु सर्वथा मानबाधिता। दुर्नीतिरेव बोद्धव्या शुद्धबोधैरसंशयात्।४४। भिदाभिदाभिरत्यन्त प्रतीतेरपलापत। पूर्ववन्नैगमाभासौ प्रत्येतव्यौ तयोरपि।४७। =१. नैगमाभासके सामान्य लक्षणवत् यहाँ भी धर्मधर्मी आदिमें सर्वथा भेद दर्शाकर पर्यायनैगम व द्रव्यनैगम आदिके आभासोका निरूपण किया गया है।) जैसे—२ शरीरधारी आत्मामें सुख व सवेदनका सर्वथा नानापनेका अभिप्राय रखना अर्थपर्यायनैगमाभास है। क्योकि द्रव्यके गुणोंका परस्परमें अथवा अपने आश्रयभूत द्रव्यके साथ ऐसा भेद प्रतीतिगोचर नहीं है।३१। ३. आत्मासे सत्ता और चैतन्यका अथवा सत्ता और चैतन्यका परस्परमें अत्यन्त भेद मानना व्यञ्जनपर्याय नैगमाभास है।३४। ४. धर्मात्मा पुरुषमें सुख व जीवनपनेका सर्वथा भेद मानना अर्थव्यञ्जनपर्याय-नैगमाभास है।३६। ५. सब द्रव्योमें अन्वयरूपसे रहनेका निश्चय किये बिना द्रव्यपने और सत्पनेको सर्वथा भेदरूप

कहना शुद्धद्रव्यनैगमाभास है ।३८। ६. पर्याय व पर्यायवान्‌में सर्वथा भेद मानना अशुद्ध-द्रव्यनैगमाभास है। क्योंकि घट पट आदि बहिरंग पदार्थोंमें तथा आत्मा ज्ञान आदि अन्तरंग पदार्थोंमें इस प्रकारका भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध है ।४०। ७ सुखस्वरूप अर्थपर्यायसे सत्त्व-स्वरूप शुद्धद्रव्यको सर्वथा भिन्न मानना शुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगमाभास है। क्योंकि इस प्रकारका भेद अनेक बाधाओं सहित है ।४२। ८. सुख और जीवको सर्वथा भेदरूपसे कहना अशुद्धद्रव्यार्थपर्याय नैगमाभास है। क्योंकि गुण व गुणीमें सर्वथा भेद प्रमाणोंसे बाधित है ।४४। ९. सत् व चैतन्यके सर्वथा भेद या अभेदका अभिप्राय रखना शुद्ध द्रव्य व्यञ्जनपर्याय-नैगमाभास है ।४७। १० मनुष्य व गुणीका सर्वथा भेद या अभेद मानना अशुद्ध द्रव्य व्यञ्जनपर्याय नैगमाभास है ।४७।

३. नैगमनय निर्देश

१. नैगम नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो. १७/२३० तत्र संकल्पमात्रो ग्राहको नैगमो नय.। सोपाधिरित्यशुद्धस्य द्रव्यार्थिकस्याभिधानात् ।१७। =सकल्पमात्र ग्राहो नैगमनय अशुद्ध द्रव्यका कथन करनेसे सोपाधि है। (क्योंकि सत्त्व. प्रस्थादि उपाधियाँ अशुद्धद्रव्यमें ही सम्भव है और अभेदमें भेद विवक्षा करनेसे भी उसमें अशुद्धता आती हैं।) (और भी दे० नय/III/१/१-२)।

२. शुद्ध व अशुद्ध सभी नय नैगमके पेटमें समा जाते हैं

ध. १/१.१,१/८४/६ यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तत इति नैकगमो नैगम', सग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम इति यावत् ।=जो है वह उक्त दोनो (सग्रह और व्यवहार नय) को छोडकर नही रहता है। इस तरह जो एकको ही प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते है। अर्थात् सग्रह और असग्रहरूप जो द्रव्यार्थिकनय है वही नैगम नय है। (क. पा. १/२१/§३५३/३७६/३)। (और भी दे० नय /III/४,७)।

ध ९/४,१,४५/१७१/४ यदस्ति न तद् द्वयमतिलङ्घ्य वर्तते इति संग्रह व्यवहारयो परस्परविभिन्नोभयविषयावलम्बनो नैगमनय'=जो है वह भेद व अभेद दोनोको उल्लघन कर नही रहता, इस प्रकार संग्रह और व्यवहार नयोके परस्पर भिन्न (भेदाभेद) दो विषयोंका अवलम्बन करनेवाला नैगमनय है। (ध.१२/४,२,१०,२/३०३/१), (क पा /१/१३-१४/§१८३/२३१/१), (और भी दे० नय /III/२/३)।

ध. १३/५.५,७/१९९/१ नैकगमो नैगम', द्रव्यपर्यायद्वयं मिथो विभिन्न-मिच्छन् नैगम इति यावत् ।=जो एकको नही प्राप्त होता अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है वह नैगमनय है। जो द्रव्य और पर्याय इन दोनोको आपसमें अलग-अलग स्वीकार करता है वह नैगम नय है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

ध. १३/५,३,७/४/६ णेगमणयस्स असगहियस्स एदे तेरसविफासा होंति त्ति वोद्धव्वा, परिग्गहिदसव्वणयविसयत्तादो ।=असग्राहिक नैगम-नयके ये तेरहके तेरह स्पर्श विषय होते है, ऐसा यहाँ जानना चाहिए; क्योंकि, यह नय सब नयोके विषयोको स्वीकार करता है)।

दे. निक्षेप—(यह नय सब निक्षेपोको स्वीकार करता है।)

३. नैगम तथा संग्रह व व्यवहार नयमें अन्तर

श्लो वा ४/१/३३/६०/२४५/१७ न चैवं व्यवहारस्य नैगमत्वप्रसक्ति सग्रहविषयप्रविभागपरत्वात्, सर्वस्य नैगमस्य तु गुणप्रधानोभय-विषयत्वात् ।=इस प्रकार वस्तुके उत्तरोत्तर भेदोंको ग्रहण करनेवाला होनेसे इस व्यवहारनयको नैगमपना प्राप्त नही हो जाता; क्योंकि, व्यवहारनय तो संग्रह गृहीत पदार्थका व्यवहारोपयोगी विभाग करनेमें तत्पर है, और नैगमनय सर्वदा गौण प्रधानरूपसे दोनोंको विषय करता है।

क. पा./१/२१/§३५४-३५५/३७६/८ ऐसो णेगमो संगमो मगहिओ असंगहिओ चेदि जइ दुविहो तो णत्थि णेगमो; विसयाभावादो। .. ण च संगहविसेसेहिंतो वदिरित्तो विसओ अत्थि, जेण णेगमणयस्स अत्थित्तं होज्ज। एत्थ परिहारो वुच्चदे—संगह-ववहारणयविसएसु अक्कमेण वट्टमाणो णेगमो। ण च एगविसएहिं दुविसओ सरिसो; विरोहादो। तो क्खहिं 'दुविहो णेगमो' त्ति ण घटदे, ण; एयम्मि वट्टमाणअहिप्पायस्स आलंबणभेएण दुब्भावं गयस्स आधारजीवस्स दुब्भावत्ताविरोहादो।=प्रश्न—यह नैगमनय सग्राहिक और असग्राहिकके भेदसे यदि दो प्रकारका है, तो नैगमनय कोई स्वतन्त्र नय नही रहता है। क्योंकि, संग्रहनयके विषयभूत सामान्य और व्यवहारनयके विषयभूत विशेषसे अतिरिक्त कोई विषय नही पाया जाता, जिसको विषय करनेके कारण नैगमनयका अस्तित्व सिद्ध होवे। उत्तर—अब इस शकाका समाधान कहते हैं—नैगमनय संग्रहनय और व्यवहारनयके विषयमें एक साथ प्रवृत्ति करता है, अत' वह उन दोनोंमें अन्तर्भूत नहीं होता है। केवल एक-एकको विषय करनेवाले उन नयोंके साथ दोनोको (युगपत्) विषय करनेवाले इस नयकी समानता नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा माननेपर विरोध आता है। (श्लो. वा./४/१/३३/श्लो २४/२३३)। प्रश्न—यदि ऐसा है, तो सग्रह और असग्रहरूप दो प्रकारका नैगमनय नहीं बन सकता? उत्तर—नही, क्योंकि एक जीवमें विद्यमान अभिप्राय आलम्बनके भेदसे दो प्रकारका हो जाता है, और उससे उसका आधारभूत जीव तथा यह नैगमनय भी दो प्रकारका हो जाता है।

४. नैगमनय व प्रमाणमें अन्तर

श्लो वा ४/१/३३/श्लो. २२-२३/२३२ प्रमाणात्मक एवायमुभयग्राहकत्वत' इत्ययुक्त इव ज्ञप्ते प्रधानगुणभावत' ।२। प्राधान्येनोभयात्मानमथ गृह्णद्धि वेदनम्। प्रमाण नान्यदित्येतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ।८३। =प्रश्न—धर्म व धर्मी दोनोंका (अक्रमरूपसे) ग्राहक होनेके कारण नैगमनय प्रमाणात्मक है? उत्तर—ऐसा कहना युक्त नही है; क्योंकि, यहाँ गौण मुख्य भावसे दोनोंकी ज्ञप्ति की जाती है। और धर्म व धर्मी दोनोंको प्रधानरूपसे ग्रहण करते हुए उभयात्मक वस्तुके जानने-को प्रमाण कहते हे। अन्य ज्ञान अर्थात् केवल धर्मीरूप सामान्यको जाननेवाला सग्रहनय या केवल धर्मरूप विशेषको जाननेवाला व्यवहारनय, या दोनोको गौणमुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नैगमनय, प्रमाणज्ञानरूप नही हो सकते।

श्लो. वा २/१/६/श्लो १९-२०/३६१ तत्राशिन्यापि नि शेषधर्माणा गुण-तागतौ। द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपत ।१९। धर्मिधर्म-समूहस्य प्राधान्यार्पणया विद । प्रमाणत्वेन निर्णीते प्रमाणादपरो नय ।२०।=जब सम्पूर्ण अशोको गौण रूपमे और अशीको प्रधान-रूपसे जानना इष्ट होता है, तब मुख्यरूपमे द्रव्यार्थिकनयका व्यापार होता है, प्रमाणका नहीं ।१९। और जब धर्म व धर्मी दोनोंके समूहको (उनके अखण्ड व निर्विकल्प एकरसात्मक रूपको) प्रधानपनेकी विवक्षासे जानना अभीष्ट हो, तब उस ज्ञानको प्रमाणपनेसे निर्णय किया जाता है ।२०। जैसे—(देखो अगला उद्धरण)।

प. ध./पू /७५४-७५५ न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात्। व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ।७५४। द्रव्यगुण-पर्यायाख्यैर्यदनेक सद्विभिद्यते हेतो । तदभेद्यमनशत्वादेक सदिति प्रमाणमतमेतत् ।७५५।=अखण्डरूप होनेसे वस्तु न द्रव्य है, न गुण है,

न पर्याय है, और न वह किसी अन्य विकल्पके द्वारा व्यक्त की जा सकती है, यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका मत है। युक्तिके वशसे जो सत् द्रव्य, गुण व पर्यायोंके नामसे अनेकरूपसे भेदा जाता है, वही सत् अंशरहित होनेसे अभेद्य एक है, इस प्रकार प्रमाणका पक्ष है।७५५।

५. भावी नैगम नय निश्चित अर्थमें ही लागू होता है

दे. अपूर्वकरण /४ (क्योंकि मरण यदि न हो तो अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती साधु निश्चितरूपसे कर्मोंका उपशम अथवा क्षय करता है, इसलिए ही उसको उपशामक व क्षपक संज्ञा दी गयी है, अन्यथा अतिप्रसंग दोष प्राप्त हो जाता)।

दे. पर्याप्ति/२ (शरीरकी निष्पत्ति न होनेपर भी निर्वृत्त्यपर्याप्त जीवको नैगमनयसे पर्याप्त कहा जा सकता है। क्योंकि वह नियमसे शरीरकी निष्पत्ति करनेवाला है)।

दे दर्शन/७/२ (लब्ध्यपर्याप्त जीवोंमें चक्षुदर्शन नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनमें उसकी निष्पत्ति सम्भव नहीं, परन्तु निर्वृत्यपर्याप्त जीवोंमें वह अवश्य माना गया है, क्योंकि उत्तरकालमें उसकी समुत्पत्ति वहाँ निश्चित है)।

द्र. स /टी./१४/४८/१ मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्माव्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव न च व्यक्तिरूपेण भाविनैगमनयेनेति। =मिथ्यादृष्टि भव्यजीवमें बहिरात्मा तो व्यक्तिरूपसे रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्तिरूपसे रहते हैं, एवं भावि नैगम नयकी अपेक्षा व्यक्तिरूपसे भी रहते है। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवमें बहिरात्मा व्यक्तिरूपसे और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे ही रहते हैं। वहाँ भाविनैगमनयकी अपेक्षा भी ये व्यक्तिरूपमें नहीं रहते।

पं. ध /पू /६२३ भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते। अवश्यंभावतो व्याप्ते सद्भावात्सिद्धिसाधनात्। =भाविनैगमनयकी अपेक्षा होनेवाला हो चुके हुएके समान माना जाता है, क्योंकि ऐसा कहना अवश्यम्भावी व्याप्तिके पाये जानेसे युक्तियुक्त है।

६. कल्पनामात्र होते हुए भी भावीनैगम व्यर्थ नहीं है

रा. वा १/३३/३/९७/२१ स्यादेतत् नैगमनयवक्तव्ये उपकारो नोपलभ्यते, भाविसंज्ञाविषये तु राजाद्युपलभ्यते ततो नायं युक्त इति। तन्न, किं कारणम्। अप्रतिज्ञानात्। नैतदस्माभि प्रतिज्ञातम्—'उपकारे सति भवितव्यम्' इति। किं तर्हि। अस्य नयस्य विषय प्रदर्श्यते। अपि च, उपकार प्रत्यभिमुखत्वादुपकारवानेव। =प्रश्न—भाविसंज्ञामें तो यह आशा है कि आगे उपकार आदि हो सकते हैं, पर नैगमनयमें तो केवल कल्पना ही कल्पना है, इसके वक्तव्यमें किसी भी उपकारकी उपलब्धि नहीं होती अत यह सद्व्यवहारके योग्य नहीं है? उत्तर—नयोंके विषयके प्रकरणमें यह आवश्यक नहीं है कि उपकार या उपयोगिताका विचार किया जाये। यहाँ तो केवल उनका विषय बताना है। इस नयसे सर्वथा कोई उपकार न हो ऐसा भी तो नहीं है, क्योंकि संकल्पके अनुसार निष्पन्न वस्तुसे, आगे जाकर उपकारादिककी भी सम्भावना है ही।

श्लो वा ४/१/३३/श्लो. १९-२०/२३१ तन्नयं भाविनीं संज्ञा समाश्रित्योपचर्यते। अप्रस्थादिषु तद्भावस्तण्डुलेष्वोदनादिवत्।१९। इत्यसद्बहिरर्थेषु तथानध्यवसानत। स्ववेद्यमानसंकल्पे सत्येवास्य प्रवृत्तित।२०। =प्रश्न—भावी संज्ञाका आश्रय कर वर्तमानमें भविष्यका उपचार करना नैगमनय माना गया है। प्रस्थादिके न होनेपर भी काठके टुकडेमें प्रस्थकी अथवा भातके न होनेपर भी चावलोंमें भातकी कल्पना मात्र कर ली गयी है? उत्तर—वास्तवमें बाह्य पदार्थोंमें उस प्रकार भावी संज्ञाका अध्यवसाय नहीं किया जा रहा है, परन्तु अपने द्वारा जाने गये संकल्पके होनेपर ही इस नयकी प्रवृत्ति मानी गयी है (अर्थात् इस नयमें अर्थकी नहीं ज्ञानकी प्रधानता है, और इसलिए यह नयज्ञान नय मानी गयी है।)

४. संग्रहनय निर्देश

१. संग्रह नयका लक्षण

स. सि /१/३३/१४१/८ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रह। =भेद सहित सब पर्यायों या विशेषोंको अपनी जातिके अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्यसे सबको ग्रहण करनेवाला नय संग्रहनय है। (रा.वा. १/३३/५/९५/२६); (श्लो.वा./४/१/३३/श्लो.४९/२४०); (ह.पु./५८/४४), (न च /श्रुत/पृ.१३), (त.सा /१/४५)।

श्लो. वा /४/१/३३/श्लो.५०/२४० सममेकीभावसम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते। निरुक्तया लक्षणं तस्य तथा सति विभाव्यते। =सम्पूर्ण पदार्थोंका एकीकरण और समीचीनपन इन दो अर्थोंमें 'सम' शब्द वर्तता है। उनपर-से ही 'संग्रह' शब्दका निरुक्त्यर्थ विचारा जाता है, कि समस्त पदार्थोंको सम्यक् प्रकार एकीकरण करके जो अभेद रूपसे ग्रहण करता है, वह संग्रहनय है।

ध १/४,१,४५/१७०/५ सत्तादिना य' सर्वस्य पर्यायकलङ्काभावेन अद्वैतमध्यवस्येति शुद्धद्रव्यार्थिक' स संग्रह। =जो सत्ता आदिकी अपेक्षासे पर्यायरूप कलंकका अभाव होनेके कारण सबकी एकताको विषय करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह है। (क पा १/१३-१४/§१८२/२१९/१)।

ध.१३/५,५,७/१९९/२ व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तुसंग्राहक' संग्रहनय.। =व्यवहारकी अपेक्षा न करके जो सत्तादिरूपसे सकल पदार्थोंका संग्रह करता है वह संग्रहनय है। (ध.१/१,१,१/८४/3)।

आ प /९ अभेदरूपतया वस्तुजातं संगृह्णातीति संग्रह.। =अभेद रूपसे समस्त वस्तुओंको जो संग्रह करके, जो कथन करता है, वह संग्रह नय है।

का.अ./मू./२७२ जो संगहेदि सव्वं देसं वा विविहदव्वपज्जायं। अणुगमलिंगविसिट्ठं सो वि णओ संगहो होदि।२७२। =जो नय समस्त वस्तुका अथवा उसके देशका अनेक द्रव्यपर्यायसहित अन्वयलिंगविशिष्ट संग्रह करता है, उसे संग्रहनय कहते है।

स्या.म./२८/३११/७ संग्रहस्तु अशेषविशेषतिरोधानद्वारेण सामान्यरूपतया विश्वमुपादत्ते। =विशेषोंकी अपेक्षा न करके वस्तुको सामान्यसे जाननेको संग्रह नय कहते है। (स्या.म /२८/३१९/६)।

२. संग्रह नयके उदाहरण

स सि /१/३३/१४१/९ सत्, द्रव्य, घट इत्यादि। सदित्युक्ते सदिति वाग्विज्ञानानुप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानामविशेषेण सर्वेषा संग्रह.। द्रव्यमित्युक्तेऽपि द्रवति गच्छति तांस्तान्पर्यायानित्युपलक्षिताना जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानां संग्रह। तथा 'घट' इत्युक्तेऽपि घटबुद्ध्यभिधानानुगमलिङ्गानुमितसकलार्थसंग्रह। एवंप्रकारोऽन्योऽपि संग्रहनयस्य विषय'। =यथा—सत्, द्रव्य और घट आदि। 'सत्' ऐसा कहनेपर 'सत्' इस प्रकारके वचन और विज्ञानकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित सत्ताके आधारभूत सब पदार्थोंका सामान्यरूपसे संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा कहनेपर भी 'उन-उन पर्यायोंको द्रवता है अर्थात् प्राप्त होता है' इस प्रकार इस व्युत्पत्तिसे युक्त जीव, अजीव और उनके सब भेद-प्रभेदोंका संग्रह हो जाता है। तथा 'घट' ऐसा कहनेपर भी 'घट' इस प्रकारकी बुद्धि और 'घट' इस प्रकारके शब्दकी अनुवृत्तिरूप लिंगसे अनुमित (मृद्घट सुवर्णघट आदि) सब घट पदार्थोंका संग्रह हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी संग्रहनयका विषय समझ लेना। (रा वा /१/३३/५/९५/३०)।

स्या.म./२८/३१५/में उद्धृत श्लोक न. २ सद्रूपतानतिक्रान्तं स्वस्वभावमिद जगत्। सत्तारूपतया सर्वं सगृह्णन् सग्रहो मतः।२। =अस्तित्व-धर्मको न छोडकर सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभावमें अवस्थित है। इसलिए सम्पूर्ण पदार्थोंके सामान्यरूपसे ज्ञान करनेको सग्रहनय कहते है। (रा.वा./४/४२/१७/२६१/४)।

३. संग्रहनयके भेद

श्लो.वा/४/१/३३/श्लो.५१,५५/२४० (दो प्रकारके सग्रह नयके लक्षण किये है—पर सग्रह और अपर संग्रह)। (स्या.म./२८/३१७/७)।

आ.प./५ सग्रहो द्विविध' । सामान्यसग्रहो ··विशेषसग्रहो। =सग्रह दो प्रकारका है—सामान्य संग्रह और विशेष सग्रह। (न. च./श्रुत/-पृ. १३)।

न. च. वृ/१८६,२०६ दुविह पुण सगह तत्थ ।१८६। सुद्धसगहेण ·· ।२०६। =सग्रहनय दो प्रकारका है—शुद्ध सग्रह और अशुद्धसंग्रह।

नोट—पर, सामान्य व शुद्ध संग्रह एकार्थवाची है और अपर, विशेष व अशुद्ध सग्रह एकार्थवाची है।

४. पर अपर तथा सामान्य व विशेष संग्रहनयके लक्षण व उदाहरण

श्लो. वा./४/१/३३/श्लो. ५१,५५,५६ शुद्धद्रव्यमभिप्रैति सन्मात्रं संग्रह पर'। स चाशेषविशेषेषु सदौदासीन्यभागिह ।५१। द्रव्यत्व सकलद्रव्यव्याप्यभिप्रैति चापर। पर्यायत्व च नि शेषपर्यायव्यापि-सग्रह ।५५। तथैवावान्तरान् भेदान् संगृह्यैकत्वतो बहु.। वर्ततेय नयः सम्यक् प्रतिपक्षानिराकृते' ।५६। =सम्पूर्ण जीवादि विशेष पदार्थोंमे उदासीनता धारण करके जो सबको 'सत् है' ऐसा एकपने रूपसे (अर्थात् महासत्ता मात्रको) ग्रहण करता है वह पर सग्रह (शुद्ध संग्रह) है।५१। अपनेसे प्रतिकूल पक्षका निराकरण न करते हुए जो परसग्रहके व्याप्य-भूत सर्व द्रव्यो व सर्व पर्यायोको द्रव्यत्व व पर्यायत्वरूप सामान्य धर्मों द्वारा, और इसी प्रकार उनके भी व्याप्यभूत अवान्तर भेदोका एकपनेसे सग्रह करता है वह अपर सग्रह नय है (जैसे नारक मनुष्यादिकोका एक 'जीव' शब्द द्वारा, और 'खट्टा', 'मीठा' आदिका एक 'रस' शब्द द्वारा ग्रहण करना—), (न च. वृ./२०६), (स्या म./२८/३१७/७)।

न च/श्रुत/पृ १३ परस्पराविरोधेन समस्तपदार्थसग्रहैकवचनप्रयोगचातुर्येण कथ्यमानं सर्वं सदित्येतत् सेना वनं नगरमित्येतत् प्रभृत्यनेक-जातिनिश्चयमेकवचनेन स्वीकृत्य कथन सामान्यसग्रहनय। जीव-निचयाजीवनिचयहस्तिनिचयतुरगनिचयरथनिचयपदातिनिचय इति निम्बुजबीरजम्बूमाकंदनालिकेरनिचय इति। द्विजवर, वणिग्वर, तलवराद्यष्टादशश्रेणीनिचय इत्यादि दृष्टान्तैः प्रत्येकजातिनिचयमेक-वचनेन स्वीकृत्य कथनं विशेषसंग्रहनय। तथा चोक्त—'यदन्योऽन्याविरोधेन सर्वं सर्वस्य वक्ति य.। सामान्यसग्रह प्रोक्तश्चैक-जातिविशेषक. ॥' =परस्पर अविरोधरूपसे सम्पूर्ण पदार्थोंके संग्रहरूप एकवचनके प्रयोगके चातुर्यसे कहा जानेवाला 'सब सत् स्वरूप है', इस प्रकार सेना-समूह, वन, नगर वगैरहको आदि लेकर अनेक जातिके समूहको एकवचनरूपसे स्वीकार करके, कथन करनेको सामान्य सग्रह नय कहते है। जीवसमूह, अजीवसमूह, हाथियोंका झुण्ड, घोडोका झुण्ड, रथोका समूह, पियादे सिपाहियोका समूह, निंबू, जामुन, आम, वा नारियलका समूह, इसी प्रकार द्विजवर, वणिक्श्रेष्ठ, कोटपाल वगैरह अठारह श्रेणिका समूह इत्यादिक दृष्टान्तोंके द्वारा प्रत्येक जातिके समूहको नियमसे एक-वचनके द्वारा स्वीकार करके कथन करनेको विशेष सग्रह नय कहते है। कहा भी है—

जो परस्पर अविरोधरूपसे सबके सबको कहता है वह सामान्य संग्रहनय बतलाया गया है, और जो एक जातिविशेषका ग्राहक अभिप्रायवाला है वह विशेष संग्रहनय है।

ध.१२/४,२,६,११/२९९-३०० संगहणयस्स णाणावरणीयवेयणा जीवस्स। (मूल सू. ११) ।···एद सुद्धसंगहणयवयणं, जीवाणं तेहिं सह णोजीवाणं च एयत्तब्भुवगमादो। ···सपहि असुद्धसंगहविसए सामित्तपरूवणट्ठमुत्तरसुत्त भणदि। 'जीवाणं' वा। (मू. सू. १२)। संगहिय णोजीव-जीवबहुत्तब्भुवगमादो। एदमसुद्धसंगहणयवयणं। ='सग्रहनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना जीवके होती है।सू. ११।" यह कथन शुद्ध सग्रहनयकी अपेक्षा है, क्योकि जीवोंके और उनके साथ नोजीवोंकी एकता स्वीकार की गयी है। ···अथवा जीवोंके होती है।सू १२। कारण कि संग्रह अपेक्षा नोजीव और जीव बहुत स्वीकार किये गये है। यह अशुद्ध सग्रह नयकी अपेक्षा कथन है।

प. का/ता वृ/७१/१२३/१६ सर्वजीवसाधारणकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणसमूहेन शुद्धजीवजातिरूपेण संग्रहनयेनैकश्चैव महात्मा। =सर्व जीवसामान्य, केवलज्ञानादि अनन्तगुणसमूहके द्वारा शुद्ध जीव जातिरूपसे देखे जायें तो सग्रहनयकी अपेक्षा एक महात्मा ही दिखाई देता है।

५. संग्रहाभासके लक्षण व उदाहरण

श्लो. वा.४/१/३३/श्लो. ५२-५७ निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायण'। तदाभास समाख्यात' सद्भिर्दृष्टेष्टबाधनात् ।५२। अभिन्नं व्यक्तिभेदेभ्य' सर्वथा बहुधानकम्। महासामान्यमित्युक्ति' केषाचिद्दुर्नयस्तथा ।५३। शब्दब्रह्मे ति चान्येषा पुरुषाद्वैतमित्यपि। सवेदनाद्वयं चेति प्रायशोऽन्यत्र दर्शितम् ।५४। स्वव्यक्त्यात्मकतैकान्तस्तदाभासोऽप्यनेकधा। प्रतीतिबाधितो बोध्यो नि'शेषोऽप्यनया दिशा ।५७। =सम्पूर्ण विशेषोका निराकरण करते हुए जो सत्ताद्वैतवादियोका 'केवल सत् है,' अन्य कुछ नहीं, ऐसा कहना, अथवा साख्य मतका 'अहंकार तन्मात्रा आदिसे सर्वथा अभिन्न प्रधान नामक महासामान्य है' ऐसा कहना; अथवा शब्दाद्वैतवादी वैयाकरणियोका 'केवल शब्द है', पुरुषाद्वैतवादियोका 'केवल ब्रह्म है', संविदाद्वैतवादी बौद्धोका 'केवल सवेदन है' ऐसा कहना, सब परसग्रहाभास है। (स्या.म /२८/३१६/६ तथा ३१७/६)। अपनी व्यक्ति व जातिसे सर्वथा एकात्मकपनेका एकान्त करना अपर सग्रहाभास है, क्योकि वह प्रतीतियोसे बाधित है।

स्या. म /२८/३१७/१२ तद्द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान्निह्नुवानस्तदाभास। =धर्म अधर्म आदिकोको केवल द्रव्यत्व रूपसे स्वीकार करके उनके विशेषोके निषेध करनेको अपर संग्रहाभास कहते है।

६. संग्रहनय शुद्धद्रव्यार्थिक नय है

ध १/१,१,१/गा ६/१२ दव्वट्ठिय-नय-पवई सुद्धा सगह परूवणा विसयो। =सग्रहनयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी शुद्ध प्रकृति है। (श्लो.वा४/१/३३/श्लो ३७/२३६); (क पा १/१३-१४/गा.८६/-२२०); (विशेष दे०/नय/IV/१)।

और भी. दे० नय/III/१/१-२ यह द्रव्यार्थिकनय है।

५. ऋजुसूत्रनय निर्देश

१. ऋजुसूत्र नयका लक्षण

१. निरुक्त्यर्थ

स.सि/१/३३/१४२/६ ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्र'। =ऋजुका अर्थ प्रगुण है। ऋजु अर्थात् सरलको सूत्रित करता है

अर्थात् स्वीकार करता है. वह ऋजुसूत्र नय है। (रा.वा./१/३३/७/९६/३०) (क पा.१/१३-१४/§१८५/२२३/३) (आ.प /६)

२. वर्तमानकालमात्र ग्राही

स. सि /१/३३/१४२/६ पूर्वापरास्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। =यह नय पहिले और पीछेवाले तीनो कालोके विषयोको ग्रहण न करके वर्तमान कालके विषयभूत पदार्थोंको ग्रहण करता है, क्योंकि अतीतके विनष्ट और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे उनमें व्यवहार नहीं हो सकता। (रा.वा /१/३३/७/९६/११), (रा वा./४/४२/१७/२६१/५), (ह पु./५८/४६), (ज ६/४,१,४५/१७१/७) (न्या दी./३/§८५/१२८)।
और भी दे० (नय/III/१/२) (नय/IV/३)

२. ऋजुसूत्र नयके भेद

ध.९/४,१,४५/२४४/२ उजुसुदो दुविहो सुद्धो असुद्धो चेदि। =ऋजुसूत्रनय शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है।

आ.प /५ ऋजुसूत्रो द्विविधः। सूक्ष्मर्जुसूत्रो स्थूलर्जुसूत्रो। =ऋजुसूत्रनय दो प्रकारका है—सूक्ष्म ऋजुसूत्र और स्थूल ऋजुसूत्र।

३. सूक्ष्म व स्थूल ऋजुसूत्रनयके लक्षण

ध ९/४,१,४५/२४४/२ तत्थ सुद्धो विसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाणासेसत्थो अप्पणो विसयादो ओसारिदसारिच्छ-तब्भावलक्खणसामण्णो। "तत्थ जो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासिय वेंजणपज्जयविसओ।" =अर्थ पर्यायको विषय करनेवाला शुद्ध ऋजुसूत्र नय है। वह प्रत्येक क्षणमे परिणमन करनेवाले समस्त पदार्थोंको विषय करता हुआ अपने विषयमे सादृश्यसामान्य व तद्भावरूप सामान्यको दूर करनेवाला है। जो अशुद्ध ऋजुसूत्र नय है, वह चक्षु इन्द्रियकी विषयभूत व्यंजन पर्यायोका विषय करनेवाला है।

आ.प /५ सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा—एकसमयावस्थायी पर्याय। स्थूलर्जुसूत्रो यथा—मनुष्यादिपर्यायास्तदायु प्रमाणकाल तिष्ठन्ति। =सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय एकसमय अवस्थायी पर्यायको विषय करता है। और स्थूल ऋजुसूत्रको अपेक्षा मनुष्यादि पर्यायें स्व स्व आयुप्रमाणकाल पर्यन्त ठहरती है। (न च वृ /२११-२१२) (न.च /श्रुत/पृ १६)

का अ /मू /२७४ जो वट्टमाणकाले अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं। संत साहदि सव्वं त पि णयं उज्जुय जाण।२७४। =वर्तमानकालमें अर्थ पर्यायरूप परिणत अर्थको जो सत रूप साधता है वह ऋजुसूत्र नय है। (यह लक्षण यद्यपि सामान्य ऋजुसूत्रके लिए किया गया है, परन्तु सूक्ष्मऋजुसूत्रपर घटित होता है)

४ ऋजुसूत्राभासका लक्षण

श्लो.वा.४/१/३३/श्लो ६२/२४८ निराकरोति यद्द्रव्य बहिरन्तश्च सर्वथा। स तदाभोऽभिमन्तव्य प्रतीतेरपलापत। एतेन चित्राद्वैतं, संवेदनाद्वैत क्षणिकमित्यपि मननमृजुसूत्राभासमायातीत्युक्त वेदितव्यं।(पृ २५३/४)। =बहिरंग व अन्तरंग दोनो द्रव्योंका सर्वथा अपलाप करनेवाले चित्राद्वैतवादी, विज्ञानाद्वैतवादी व क्षणिकवादी बौद्धोंकी मान्यतामें ऋजुसूत्रनयका आभास है, क्योकि उनकी सब मान्यताएँ प्रतीति व प्रमाणसे बाधित है। (विशेष दे० श्लो वा,४/१/३३/श्लो, ६३-६७/२४८-२५५), (स्या. म./२८/३१८/२४)

५. ऋजुसूत्रनय शुद्ध पर्यायार्थिक है

न्या दी./३/§८५/१२८/७ ऋजुसूत्रनयस्तु परमपर्यायार्थिक। =ऋजुसूत्रनय परम (शुद्ध) पर्यायार्थिक नय है। (सूक्ष्म ऋजुसूत्र शुद्ध पर्यायार्थिक नय है और स्थूल ऋजुसूत्र अशुद्ध पर्यायार्थिक—नय/IV/२) (और भी दे०/नय/II/१/१-२)

६. ऋजुसूत्रनयको द्रव्यार्थिक कहनेका कथंचित् विधि निषेध

१. कथंचित् निषेध

ध.१०/४,२,२,३/११/४ तब्भवसारिच्छसामण्णप्पयदव्वमिच्छतो उजुसुदो कधं ण दव्वट्ठियो। ण, घड-पडत्थभादिवंजणपज्जायपरिच्छिण्ण-सगपुव्वावरभावविरहियउजुवट्टविसयस्स दव्वट्ठियणयत्तविरोहादो। =प्रश्न—तद्भावसामान्य व सादृश्यसामान्यरूप द्रव्यको स्वीकार करनेवाला ऋजुसूत्रनय (दे० स्थूल ऋजुसूत्रनयका लक्षण) द्रव्यार्थिक कैसे नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योकि, ऋजुसूत्रनय घट, पट व स्तम्भादि स्वरूप व्यंजनपर्यायोंसे परिच्छिन्न ऐसे अपने पूर्वापर भावोंसे रहित वर्तमान मात्रको विषय करता है, अत उसे द्रव्यार्थिक नय माननेमें विरोध आता है (अर्थात् सूक्ष्म ऋजुसूत्र ही वास्तवमें ऋजुसूत्रनय है और वह केवल वर्तमानकाल ग्राही होनेसे पर्यायार्थिक है द्रव्यार्थिक नहीं।)

२. कथंचित् विधि

ध.१०/४,२,३,३/१५/६ उजुसुदस्स पज्जवट्ठियस्स कधं दव्वं विसओ। ण, वंजणपज्जायमहिट्ठियस्स दव्वस्स तव्विसयत्ताविरोहादो। ण च उप्पादविणासलक्खणत्त तव्विसयदव्वस्स विरुज्झदे, अप्पिदपज्जायभावाभावलक्खण-उप्पादविणासविदिरित्त अवट्ठाणाणुवलंभादो। ण च पढमसमए उप्पण्णस्स बिदियादिसमएसु अवट्ठाण, तत्थ पढम-बिदियादिसमयकप्पणए कारणाभावादो। ण च उप्पादो चेव अवट्ठाणं, विरोहादो उप्पादलक्खणभावविदिरित्तअवट्ठाणलक्खणाणुवलंभादो च। तदो अवट्ठाणाभावादो उप्पादविणासलक्खणं दव्वमिदि सिद्धं। =प्रश्न—ऋजुसूत्र चूँकि पर्यायार्थिक है, अत उसका द्रव्य विषय कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योकि, व्यंजन पर्यायको प्राप्त द्रव्य उसका विषय है, ऐसा माननेमे कोई विरोध नहीं आता। (अर्थात् अशुद्ध ऋजुसूत्रको द्रव्यार्थिक माननेमे कोई विरोध नहीं है—ध./९) (ध.९/४,१,५८/२६५/६), (ध १२/४,२,८,१४/२९०/१) (निक्षेप/३/४) प्रश्न—ऋजुसूत्रके विषयभूत द्रव्यको उत्पाद विनाश लक्षण माननेमें विरोध आता है? उत्तर—सो भी बात नहीं है, क्योकि, विवक्षित पर्यायका सद्भाव ही उत्पाद है और उसका अभाव ही व्यय है। इसके सिवा अवस्थान स्वतन्त्र रूपसे नहीं पाया जाता। प्रश्न—प्रथम समयमें पर्याय उत्पन्न होती है और द्वितीयादि समयोंमे उसका अवस्थान होता है? उत्तर—यह बात नही बनती, क्योकि उसमे प्रथम व द्वितीयादि समयोंकी कल्पनाका कोई कारण नहीं है। प्रश्न—फिर तो उत्पाद ही अवस्थान बन बैठेगा? उत्तर—सो भी बात नही है; क्योकि, एक तो ऐसा माननेमें विरोध आता है, दूसरे उत्पादस्वरूप भावको छोडकर अवस्थानका और कोई लक्षण पाया नहीं जाता। इस कारण अवस्थानका अभाव होनेसे उत्पाद व विनाश स्वरूप द्रव्य है, यह सिद्ध हुआ। (वही व्यंजन पर्यायरूप द्रव्य स्थूल ऋजुसूत्रका विषय है।

ध १२/४,२,१४/२९०/६ वट्टमाणकालविसयउजुसुदवत्थुस्स दवणाभावादो ण तत्थ दव्वमिदि णाणावरणीयवेयणा णत्थि त्ति वुत्ते—ण, वट्टमाणकालस्स वंजणपज्जाए पडुच्च अवट्ठियस्स सगासेसावयवाणं गदस्स दव्वत्त पडि विरोहाभावादो। अप्पिदपज्जाएण वट्टमाणत्तमावण्णस्स वत्थुस्स अणप्पिद पज्जाएसु दवणविरोहाभावादो वा अत्थि उजुसुदणयविसए दव्वमिदि। =प्रश्न—वर्तमानकाल विषयक ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत वस्तुका द्रवण नहीं होनेसे चूँकि उसका विषय, द्रव्य नही हो सकता है, अत ज्ञानावरणीय वेदना उसका विषय नहीं है? उत्तर—ऐसा पूछनेपर उत्तर देते है, कि ऐसा नही है, क्योकि वर्तमानकाल व्यंजन पर्यायोंका आलम्बन करके अवस्थित है (दे०

अगला शीर्षक), एवं अपने समस्त अवयवोंको प्राप्त है, अतः उसके द्रव्य होनेमें कोई विरोध नहीं है। अथवा विवक्षित पर्यायसे वर्तमानताको प्राप्त वस्तुकी अविवक्षित पर्यायोंमें द्रव्यका विरोध न होनेसे, ऋजुसूत्रके विषयमें द्रव्य सम्भव है ही।

क.पा.१/१,१३-१४/§२१३/२६३/६ वंजणपज्जायविसयस्स उजुसुदस्स बहुकालावट्ठाणं होदि त्ति णासंकणिज्जं; अप्पिदवंजणपज्जायअवट्ठाणकालस्स दव्वस्स वि वट्टमाणत्तणेण गहणादो। =यदि कहा जाय कि व्यंजन पर्यायको विषय करनेवाला ऋजुसूत्रनय बहुत कालतक अवस्थित रहता है; इसलिए, वह ऋजुसूत्र नहीं हो सकता है; क्योंकि उसका काल वर्तमानमात्र है। सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, विवक्षित पर्यायके अवस्थान कालरूप द्रव्यको भी ऋजुसूत्रनय वर्तमान रूपसे ही ग्रहण करता है।

७. सूक्ष्म व स्थूल ऋजुसूत्रकी अपेक्षा वर्तमान कालका प्रमाण

दे० नय/III/१/२ वर्तमान वचनको ऋजुसूत्र वचन कहते हैं। ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेद रूप समयसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिक नय हैं। (अर्थात् मुखद्वारसे पदार्थका नामोच्चारण हो चुकनेके पश्चात्से लेकर एक समय पर्यन्त ही उस पदार्थकी स्थितिका निश्चय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है।

ध. ६/४,१,४५/१७२/१ कोऽत्र वर्तमानकाल। आरम्भात्प्रभृत्या उपरमादेष वर्तमानकाल। एष चानेकप्रकार, अर्थव्यञ्जनपर्यायास्थितेरनेकविधत्वात्।

ध. ६/४,१,४६/२४४/२ तत्थ सुद्धो विसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाण·· जो सो असुद्धो·· तेसिं कालो जहण्णेण अंतोमुहुत्तमुक्कस्सेण छम्मासा सखेज्जा वासाणि वा। कुदो। चक्खिदियगेज्झवेंजणपज्जायाणमप्पहाणीभूदव्वाणमेत्तियं कालमवट्ठाणुवलभादो। जदि एरिसो वि पज्जवट्ठियणओ अत्थि तो—उप्पज्जंति वियंति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स। इच्चेएण सम्मइसुत्तेण सह विरोहो होदि त्ति उत्ते ण होदि, असुद्धउजुसुदेण विसईकयवेंजणपज्जाए अप्पहाणीकयसेसपज्जाए पुव्वावरकोटीणमभावेण उप्पत्तिविणासे मोत्तूण उवट्ठाणुवलंभादो। =प्रश्न—यहाँ वर्तमानकालका क्या स्वरूप है? उत्तर—विवक्षित पर्यायके प्रारम्भकालसे लेकर उसका अन्त होनेतक जो काल है वह वर्तमान काल है। अर्थ और व्यंजन पर्यायोंकी स्थितिके अनेक प्रकार होनेमें यह काल अनेक प्रकार है। तहाँ शुद्ध ऋजुसूत्र प्रत्येक क्षणमें परिणमन करनेवाले पदार्थोंको विषय करता है (अर्थात् शुद्ध ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा वर्तमानकालका प्रमाण एक समय मात्र है) और अशुद्ध ऋजुसूत्रके विषयभूत पदार्थोंका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे छ मास अथवा संख्यात वर्ष है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रियसे ग्राह्य व्यंजनपर्यायें द्रव्यकी प्रधानतासे रहित होती हुई इतने कालतक अवस्थित पायी जाती हैं। प्रश्न—यदि ऐसा भी पर्यायार्थिकनय है तो—पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, इस सन्मतिसूत्रके साथ विरोध होगा? उत्तर—नहीं होगा, क्योंकि, अशुद्ध ऋजुसूत्रके द्वारा व्यंजन पर्यायें ही विषय की जाती हैं, और शेष पर्यायें अप्रधान हैं। (किन्तु प्रस्तुत सूत्रमें शुद्धऋजुसूत्रकी विवक्षा होनेसे) पूर्वापर कोटियोंका अभाव होनेके कारण उत्पत्ति व विनाशको छोडकर अवस्थान पाया ही नहीं जाता।

६. शब्दनय निर्देश

१. शब्दनयका सामान्य लक्षण

आ. प./६ शब्दाद् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्ध शब्द. शब्दनय। =शब्द अर्थात् व्याकरणसे प्रकृति व प्रत्यय आदिके द्वारा सिद्ध कर लिये गये शब्दका यथा योग्य प्रयोग करना शब्दनय है।

दे. नय/I/४/२ (शब्द परसे अर्थका बोध करानेवाला शब्दनय है)।

२. अनेक शब्दोंका एक वाच्य मानता है।

रा. वा /४/४२/१७/२६१/१६ शब्दे अनेकपर्यायशब्दवाच्य. एक'। =शब्दनयमें अनेक पर्यायवाची शब्दोंका वाच्य एक होता है।

स्या. म /२८/३१३/२ शब्दस्तु रूढितो यावन्तो ध्वनय कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्तन्ते यथा इन्द्रशक्रपुरन्दरादय' सुरपतौ तेषा सर्वेषामप्येकमर्थमभिप्रैति किल प्रतीतिवशात्। =रूढिसे सम्पूर्ण शब्दोंके एक अर्थमें प्रयुक्त होनेको शब्दनय कहते हैं। जैसे इन्द्र शक्र पुरन्दर आदि शब्द एक अर्थके द्योतक हैं।

३. पर्यायवाची शब्दोंमें अभेद मानता है

रा. वा./४/४२/१७/२६१/११ शब्दे पर्यायशब्दान्तरप्रयोगेऽपि तस्यैवार्थस्याभिधानादभेद। =शब्दनयमें पर्यायवाची विभिन्न शब्दोंका प्रयोग होनेपर भी, उसी अर्थका कथन होता है, अत अभेद है।

स्या. म./२८/३१३/२६ न. च. इन्द्रशक्रपुरन्दरादय पर्यायशब्दा विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते। तेभ्य' सर्वदा एकाकारपरामर्शोत्पत्तेरस्खलितवृत्तितया तथैव व्यवहारदर्शनात्। तस्मादेक एव पर्यायशब्दानामर्थ इति। शब्द्यते आहूयतेऽनेनाभिप्रायेणार्थ इति निरुक्तात् एकार्थप्रतिपादनाभिप्रायेणैव पर्यायध्वनीना प्रयोगात्। =इन्द्र, शक्र और पुरन्दर आदि पर्यायवाची शब्द कभी भिन्न अर्थका प्रतिपादन नहीं करते, क्योंकि, उनसे सर्वदा अस्खलित वृत्तिसे एक ही अर्थके ज्ञान होनेका व्यवहार देखा जाता है। अत पर्यायवाची शब्दोंका एक ही अर्थ है। 'जिस अभिप्रायसे शब्द कहा जाय या बुलाया जाय उसे शब्द कहते हैं', इस निरुक्ति परसे भी उपरोक्त ही बात सिद्ध होती है, क्योंकि एकार्थ प्रतिपादनके अभिप्रायसे ही पर्यायवाची शब्द कहे जाते हैं।

दे. नय/III/७/४ (परन्तु यह एकार्थता समान काल व लिंग आदिवाले शब्दोंमें ही है, सब पर्यायवाचियोंमें नहीं)।

४. पर्यायवाची शब्दोंके प्रयोगमें लिंग आदिका व्यभिचार स्वीकार नहीं करता

स. सि /१/३३/१४३/४ लिङ्गसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपर. शब्दनय'। =लिंग, संख्या, साधन आदि (पुरुष, काल व उपग्रह) के व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवाला शब्दनय है। (रा. वा./१/३३/६/९८/१२), (ह. पु /५८/४७), (ध १/१,१,१/८७/१), (ध. ६/४,१,४५/१७६/५), (क. पा १/१३-१४/§ १९७/२३५), (त. सा./१/४८)।

रा. वा./१/३३/६/९८/२३ एवमादयो व्यभिचारा अयुक्ता'। कुतः। अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। यदि स्यात् घट पटो भवतु पटो वा प्रासाद इति। तस्माद्यथालिङ्गं यथासंख्य यथासाधनादि च न्याय्यमभिधानम्। =इत्यादि व्यभिचार (दे० आगे) अयुक्त हैं, क्योंकि अन्य अर्थका अन्य अर्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्यथा घट पट हो जायेगा और पट मकान बन बैठेगा। अत यथालिंग यथावचन और यथासाधन प्रयोग करना चाहिए। (स. सि /१/३३/१४४/१) (श्लो. वा. ४/१/३३/श्लो ७२/२५६) (ध. १/१,१,१/८९/१) (ध. ६/४,१,४५/१७८/३), (क पा १/१३-१४/§ १९७/२३७/३)।

श्लो. वा. ४/१/३३/श्लो. ६८/२५५ कालादिभेदतोऽर्थस्य भेद य' प्रतिपादयेत। सोऽत्र शब्दनय' शब्दप्रधानत्वादुदाहृत'। =जो नय काल कारक आदिके भेदसे अर्थके भेदको समझता है, वह शब्द प्रधान होनेके कारण शब्दनय कहा जाता है। (प्रमेय कमल मार्तण्ड/पृ. २०६) (का अ./मू. २७५)।

न. च. वृ /२१३ जो वहणं ण मण्णइ एयत्थे भिण्णलिंग आईणं । सो सद्दणओ भणिओ णेओ पुंसाइआण जहा ।२१३। =जो भिन्न लिंग आदिवाले शब्दोकी एक अर्थमें वृत्ति नहीं मानता वह शब्दनय है, जैसे पुरुष, स्त्री आदि ।

न. च /श्रुत/पृ. १७ शब्दप्रयोगस्यार्थं जानामीति कृत्वा तत्र एकार्थमेकशब्देन ज्ञाने सति पर्यायशब्दस्य अर्थक्रमो यथेति चेत् पुष्यतारका नक्षत्रमित्येकार्थो भवति। अथवा दारा' कलत्रं भार्या इति एकार्थो भवतीति कारणेन लिङ्गसख्यासाधनादिव्यभिचारं मुक्त्वा शब्दानुसारार्थं स्वीकर्तव्यमिति शब्दनयः। उक्तं च—लक्षणस्य प्रवृत्तौ वा स्वभावाविष्टालिङ्गत । शब्दो लिङ्गं स्वसंख्यां च न परित्यज्य वर्तते । ='शब्दप्रयोगके अर्थको मै जानता हूँ' इस प्रकारके अभिप्रायको धारण करके एक शब्दके द्वारा एक अर्थके जान लेनेपर पर्यायवाची शब्दोके अर्थक्रमको (भी भली भाँति जान लेता है)। जैसे पुष्य तारका और नक्षत्र, भिन्न लिंगवाले तीन शब्द (यद्यपि) एकार्थवाची है' अथवा दारा कलत्र भार्या ये तीनो भी (यद्यपि) एकार्थवाची है। परन्तु कारणवशात् लिंग संख्या साधन वगैरह व्यभिचारको छोडकर शब्दके अनुसार अर्थका स्वीकार करना चाहिए इस प्रकार शब्दनय है। कहा भी है—लक्षणकी प्रवृत्तिमें या स्वभावसे आविष्ट-युक्त लिंगसे शब्दनय, लिंग और स्वसख्याको न छोडते हुए रहता है। इस प्रकार शब्दनय बतलाया गया है।

भावार्थ—(यद्यपि 'भिन्न लिंग आदि वाले शब्द भी व्यवहारमें एकार्थवाची समझे जाते है,' ऐसा यह नय जानता है, और मानता भी है, परन्तु वाक्यमें उनका प्रयोग करते समय उनमें लिंगादिका व्यभिचार आने नहीं देता। अभिप्रायमें उन्हें एकार्थवाची समझते हुए भी वाक्यमें प्रयोग करते समय कारणवशात् लिंगादिके अनुसार ही उनमे अर्थभेद स्वीकार करता है।) (आ प /५)।

स्या. म /२८/३१३/३० यथा चायं पर्यायशब्दानामेकमर्थमभिप्रैति तथा तटस्तटी तटम् इति विरुद्धलिङ्गलक्षणधर्माभिसंबन्धाद्द वस्तुनो भेदं चाभिधत्ते। न हि विरुद्धधर्मकृत भेदमनुभवतो वस्तुनो विरुद्धधर्मायोगो युक्तः। एवं सख्याकालकारकपुरुषादिभेदाद् अपि भेदोऽभ्युपगन्तव्यः।

स्या॰ म./२८/३१६ पर उद्धृत श्लोक नं. ५ विरोधिलिङ्गसंख्यादिभेदाद् भिन्नस्वभावताम् । तस्यैव मन्यमानोऽय शब्द प्रत्यवतिष्ठते ।५। =जैसे इन्द्र शक्र पुरन्दर ये तीनो समान लिंगी शब्द एक अर्थको द्योतित करते है; वैसे तट', तटी, तटम् इन शब्दोसे विरुद्ध लिंगरूप धर्मसे सम्बन्ध होनेके कारण, वस्तुका भेद भी समझा जाता है। विरुद्ध धर्मकृत भेदका अनुभव करनेवाली वस्तुमें विरुद्ध धर्मका सम्बन्ध न मानना भी युक्त नही है। इस प्रकार सख्या काल कारक पुरुष आदिके भेदसे पर्यायवाची शब्दोके अर्थमें भेद भी समझना चाहिए।

ध. १/१,१,१/गा.७/१३ मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उजुसुदवयणविच्छेदो। तस्स दु सद्दादीया साह पसाहा सुहुमभेया। =ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमानकाल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और शब्दादि नय शाखा उपशाखा रूप उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद है।

श्लो वा ४/१/३३/६८/२५५/१७ कालकारकलिङ्गसख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः। यस्तु व्यवहारनय कालादिभेदेऽप्यभिन्नमर्थमभिप्रैति। =काल, कारक, लिंग, सख्या, साधन और उपग्रह आदिके भेदोंसे जो नय भिन्न अर्थको समझाता है वह नय शब्द प्रधान होनेसे शब्दनय कहा गया है, और इसके पूर्व जो व्यवहारनय कहा गया है वह तो (व्याकरण शास्त्रके अनुसार) काल आदिके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको समझानेका अभिप्राय रखता है। (नय/III/१/७ तथा निक्षेप/३/७)।

६. शब्दनयाभासका लक्षण

स्या. म /२८/३१८/२६ तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभास। यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकाला शब्दा भिन्नमेव अर्थमभिदधति भिन्नकालशब्दत्वात् तादृक्सिद्धान्यशब्दवत् इत्यादि'। =काल आदिके भेदसे शब्द और अर्थको सर्वथा अलग माननेको शब्दनयाभास कहते हैं। जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है, और सुमेरु होगा आदि भिन्न भिन्न कालके शब्द, भिन्न कालवाची होनेसे, अन्य भिन्नकालवाची शब्दोकी भाँति ही, भिन्न भिन्न अर्थोका ही प्रतिपादन करते है।

७. लिंगादि व्यभिचारका तात्पर्य

नोट—यद्यपि व्याकरण शास्त्र भी शब्द प्रयोगके दोषोंको स्वीकार नहीं करता, परन्तु कहीं-कहीं अपवादरूपसे भिन्न लिंग आदि वाले शब्दोंका भी सामानाधिकरण्य रूपसे प्रयोग कर देता है। तहाँ शब्दनय उन दोषोंका भी निराकरण करता है। वे दोष निम्न प्रकार हैं—

रा. वा./१/३३/६/६८/१४ तत्र लिङ्गव्यभिचारस्तावत्स्त्रीलिङ्गे पुंल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति। पुंल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानम् अवगमो विद्येति। स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानम् वीणा आतोद्यमिति। नपुंसके स्त्र्यभिधानम् आयुधं शक्तिरिति। पुंल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति। नपुंसके पुंल्लिङ्गाभिधानं द्रव्यं परशुरिति। संख्याव्यभिचारः—एकत्वे द्वित्वम्—गोदौ ग्राम इति। द्वित्वे बहुत्वम् पुनर्वसू पञ्चतारका इति। बहुत्वे एकत्वम्—आम्रा वनमिति। बहुत्वे द्वित्वम्—देवमनुष्या उभौ राशी इति। साधनव्यभिचारः—एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पितेति। आदिशब्देन कालादिव्यभिचारो गृह्यते। विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता, भावि कृत्यमासीदिति कालव्यभिचारः। संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति उपग्रहव्यभिचार। =१. स्त्रीलिंगके स्थानपर पुंलिंगका कथन करना और पुंलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करना आदि लिंगव्यभिचार है। जैसे—(१)—'तारका स्वाति' स्वाति नक्षत्र तारका है। यहाँपर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुंलिंग है। इसलिए स्त्रीलिंगके स्थानपर पुंलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। (२) 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहाँपर अवगम शब्द पुंलिंग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है। इसलिए पुंल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। इसी प्रकार (३) 'वीणा आतोद्यम्' वीणा बाजा आतोद्य कहा जाता है। यहाँ पर वीणा शब्द स्त्रीलिंग और आतोद्य शब्द, नपुंसकलिंग है। (४) 'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है। यहाँपर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। (५) 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है। यहाँपर पट शब्द पुंल्लिग और वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है। (६) 'आयुध परशु' फरसा आयुध है। यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और परशु शब्द पुलिंग है। २. एकवचनकी जगह द्विवचन आदिका कथन करना सख्या व्यभिचार है। जैसे (१) 'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है। यहाँपर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है। इसलिए एकवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे सख्या व्यभिचार है। इसी प्रकार—(२) 'नक्षत्र शतभिषज' शतभिषज नक्षत्र है। यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज् शब्द बहुवचनान्त है। (३) 'गोदौ ग्राम' गायोको देनेवाला ग्राम है। यहाँपर गोद शब्द द्विवचनान्त और ग्राम शब्द एकवचनान्त है। (४) 'पुनर्वसू पञ्चतारका' पुनर्वसू पाँच तारे है। यहाँपर पुनर्वसू द्विवचनान्त और पचतारका शब्द बहुवचनान्त है। (५) 'आम्रा· वनम्' आमोके वृक्ष वन हैं। यहाँपर आम्र शब्द बहुवचनान्त और वन शब्द एकवचनान्त है। (६) 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि है। यहाँपर देवमनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशि शब्द द्विवचनान्त है। ३ भविष्यत आदि कालके स्थानपर भूत आदि

कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है। जैसे—(१) विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' जिसने समस्त विश्वको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र उत्पन्न होगा। यहाँपर विश्वका देखना भविष्यत् कालका कार्य है, परन्तु उसका भूतकालके प्रयोग द्वारा कथन किया गया है। इसलिए भविष्यत् कालका कार्य भूत कालमें कहनेसे कालव्यभिचार है। इसी तरह (२) 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका। यहाँपर भूतकालके स्थानपर भविष्य कालका कथन किया गया है। ४. एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधन या कारक व्यभिचार कहते है। जैसे—'ग्राममधिशेते' वह ग्रामोमें शयन करता है। यहाँ पर सप्तमीके स्थानपर द्वितीया विभक्ति या कारकका प्रयोग किया गया है, इसलिए यह साधन व्यभिचार है। ५. उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके कथन करनेको पुरुषव्यभिचार कहते है। जैसे—'एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता' आओ, तुम समझते हो कि मै रथसे जाऊँगा परन्तु अब न जाओगे, क्योकि तुम्हारा पिता चला गया। यहाँ पर उपहास करनेके लिए 'मन्यसे' के स्थान पर 'मन्ये' ऐसा उत्तम पुरुषका और 'यास्यामि' के स्थानपर 'यास्यसि' ऐसा मध्यम पुरुषका प्रयोग हुआ है। इसलिए पुरुषव्यभिचार है। ६. उपसर्गके निमित्तसे परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर परस्मैपदका कथन कर देनेको उपग्रह व्यभिचार कहते है। जैसे 'रमते' के स्थानपर 'विरमति', 'तिष्ठति' के स्थानपर 'संतिष्ठते' और 'विशति' के स्थानपर 'निविशते' का प्रयोग व्याकरणमे किया जाना प्रसिद्ध है। (स सि /१/३३/१४३/४); (श्लो. वा ४/१/३३/श्लो. ६०-७१/२५५), (ध १/१,१,१/८१/१), (ध ६/४,१,४५/१७६/६); (क. पा. १/१३-१४/§१९७/२३५/३)।

८. उक्त व्यभिचारोंमें दोष प्रदर्शन

श्लो. वा./४/१/३३/७२/२५७/१६ यो हि वैयाकरणव्यवहारनयानुरोधेन 'धातुसबन्धे प्रत्यय' इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेऽप्येकपदार्थमादृता यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽस्य पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्याभेदोऽभिमत· तथा व्यवहारदर्शनादिति। तन्न श्रेय· परीक्षाया मूलक्षते कालभेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसङ्गात् रावणशङ्खचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्ते·। आसीद्रावणो राजा शङ्खचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थतेति चेत्, विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि मा भूत् तत एव। न हि विश्व दृष्टवानिति विश्वदृश्वेति शब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकाल·। पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात्। अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत्, तर्हि न परमार्थत कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था। तथा करोति क्रियते इति कारकयो· कर्तृकर्मणोर्भेदेऽप्यभिन्नमर्थत एवाद्रियते स एव करोति किंचित् स एव क्रियते केनचिदिति प्रतीतेरिति। तदपि न श्रेयः परीक्षाया। देवदत्त कटं करोतीत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसङ्गात्। तथा पुष्यस्तारकेत्यत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्कृतार्थमेकमाद्रियन्ते, लिङ्गमशिष्य लोकाश्रयत्वादि। तदपि न श्रेय·, पटकुटीत्यत्रापि कुटकुट्योरेकत्वप्रसङ्गात् तल्लिङ्गभेदाविशेषात्। तथापोऽम्भ इत्यत्र सख्याभेदेऽप्येकमर्थं जलाख्यमादृता· सख्याभेदस्याभेदकत्वात् गुर्वादिवदिति। तदपि न श्रेय. परीक्षायाम्। घस्तन्तव इत्यत्रापि तथाभावानुषङ्गात् सख्याभेदाविशेषात्। एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि स यातस्ते पिता इति साधनभेदेऽपि पदार्थमभिन्नमादृता. "प्रहसे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मादेकवच्च" इति वचनात्। तदपि न श्रेय परीक्षायां, अह पचामि त्वं पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेऽप्येकार्थत्वप्रसङ्गात्। तथा 'संतिष्ठते अवतिष्ठत' इत्यत्रोपसर्गभेदेऽप्यभिन्नमर्थमादृता उपसर्गस्य धात्वर्थमात्रद्योतकत्वादिति। तदपि न श्रेयः। तिष्ठति प्रतिष्ठत इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसङ्गात्। तत· कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थोऽन्यथातिप्रसङ्गादिति शब्दनय· प्रकाशयति। तद्भेदेऽप्यर्थभेदे दूषणान्तरं च दर्शयति—तथा कालादिनानात्वकल्पन निष्प्रयोजनम्। सिद्ध कालादिनैकेन कार्यस्येष्टस्य तत्त्वतः ।७३। कालाद्यन्यतमस्यैव कल्पनं तैर्विधीयताम्। येषां कालादिभेदेऽपि पदार्थैकत्वनिश्चय· ।७४। शब्दकालादिभिर्भिन्नाभिन्नार्थप्रतिपादक.। कालादिभिन्नशब्दत्वादृक्सिद्धान्यशब्दवत् ।७५। =१. काल व्यभिचार विषयक—वैयाकरणीजन व्यवहारनयके अनुरोधसे 'धातु सम्बन्धसे प्रत्यय बदल जाते है' इस सूत्रका आश्रय करके ऐसा प्रयोग करते है कि 'विश्वको देख चुकनेवाला पुत्र इसके उत्पन्न होवेगा' अथवा 'होनेवाला कार्य हो चुका'। इस प्रकार कालभेद होनेपर भी वे इनमें एक ही वाच्यार्थका आदर करते हैं। 'जो आगे जाकर विश्वको देखेगा ऐसा पुत्र इसके उत्पन्न होगा' ऐसा न कहकर उपरोक्त प्रकार भविष्यत कालके साथ अतीत कालका अभेद मान लेते है, केवल इसलिए कि लोकमें इस प्रकारके प्रयोगका व्यवहार देखा जाता है। परीक्षा करनेपर उनका यह मन्तव्य श्रेष्ठ नही है, क्योकि एक तो ऐसा माननेसे मूलसिद्धान्तकी क्षति होती है और दूसरे अतिप्रसग दोष प्राप्त होता है। क्योकि, ऐसा माननेपर भूतकालीन रावण और अनागत काल.न शख चक्रवर्तीमे भी एकपना प्राप्त हो जाना चाहिए। वे दोनो एक बन बैठेंगे। यदि तुम यह कहो कि रावण राजा हुआ था और शख चक्रवर्ती होगा, इस प्रकार इन शब्दोकी भिन्न विषयार्थता बन जाती है, तब तो विश्वदृश्वा और जनिता इन दोनो शब्दोकी भी एकार्थता न होओ। क्योकि 'जिसने विश्वको देख लिया है' ऐसे इस अतीतकालवाची विश्वदृश्वा शब्दका जो अर्थ है, वह 'उत्पन्न होवेगा' ऐसे इस भविष्यकालवाची जनिता शब्दका अर्थ नही है। कारण कि भविष्यत् कालमे होनेवाले पुत्रको अतीतकाल सम्बन्धीपनेका विरोध है। फिर भी यदि यह कहो कि भूतकालमें भविष्य कालका अध्यारोप करनेसे दोनो शब्दोका एक अर्थ इष्ट कर लिया गया है, तब तो काल-भेद होनेपर भी वास्तविकरूपसे अर्थोके अभेदकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी। और यही बात शब्दनय समझा रहा है। २. साधन या कारक व्यभिचार विषयक—तिस ही प्रकार वे वैयाकरणी जन कर्ताकारक वाले 'करोति' और कर्मकारक वाले 'क्रियते' इन दोनों शब्दोमें कारक भेद होनेपर भी, इनका अभिन्न अर्थ मानते है; कारण कि, 'देवदत्त कुछ करता है' और 'देवदत्तके द्वारा कुछ किया जाता है' इन दोनों वाक्योका एक अर्थ प्रतीत हो रहा है। परीक्षा करनेपर इस प्रकार मानना ठीक नही है, क्योकि ऐसा मानने पर तो 'देवदत्त चटाईको बनाता है' इस वाक्यमें प्रयुक्त कर्ताकारक रूप देवदत्त और कर्मकारक रूप चटाईमें भी अभेदका प्रसग आता है। ३ लिंग व्यभिचार विषयक—तिसी प्रकार वे वैयाकरणी जन 'पुष्यनक्षत्र तारा है' यहाँ लिग भेद होनेपर भी, उनके द्वारा किये गये एक ही अर्थका आदर करते है, क्योकि लोकमें कई तारकाओसे मिलकर बना एक पुष्य नक्षत्र माना गया है। उनका कहना है कि शब्दके लिगका नियत करना लोकके आश्रयसे होता है। उनका ऐसा कहना श्रेष्ठ नहीं है, क्योकि ऐसा माननेमे तो पुल्लिगी पट, और स्त्रीलिंगी झोपडी इन दोनो शब्दोंके भी एकार्थ हो जानेका प्रसंग प्राप्त होता है। ४. सख्या व्यभिचार विषयक—तिसी प्रकार वे वैयाकरणी जन 'आप' इस स्त्रीलिंगी बहुवचनान्त शब्दका और 'अम्भ' इस नपुसकलिंगी एकवचनान्त शब्दका, लिंग व सख्या भेद होनेपर भी, एक जल नामक अर्थ ग्रहण करते है। उनके यहाँ सख्याभेदसे अर्थमे भेद नहीं पडता जैसे कि गुरुत्व साधन आदि शब्द। उनका ऐसा मानना श्रेष्ठ नहीं है। क्योकि ऐसा मानने पर तो एक घट और अनेक तन्तु इन दोनोंका भी एक ही अर्थ होनेका प्रसग प्राप्त होता है। ५. पुरुष व्यभिचार विषयक—

"हे विदूषक, इधर आओ। तुम मनमें मान रहे होगे कि मैं रथ द्वारा मेलेमें जाऊँगा, किन्तु तुम नहीं जाओगे, क्योंकि तुम्हारा पिता भी गया था ?" इस प्रकार यहाँ साधन या पुरुषका भेद होनेपर भी वे वैयाकरणी जन एक ही अर्थका आदर करते हैं। उनका कहना है कि उपहासके प्रसंगमें 'मन्य' धातुके प्रकृतिभूत होनेपर दूसरी धातुओंके उत्तमपुरुषके बदले मध्यम पुरुष हो जाता है, और मन्यति धातुको उत्तमपुरुष हो जाता है, जो कि एक अर्थका वाचक है। किन्तु उनका यह कहना भी उत्तम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे तो 'मैं पका रहा हूँ', 'तू पकाता है' इत्यादि स्थलोंमें भी अस्मद् और युष्मद् साधनका अभेद होनेपर एकार्थपनेका प्रसंग होगा। ६. उपसर्ग व्यभिचार विषयक—तिसी प्रकार वैयाकरणीजन 'संस्थान करता है', 'अवस्थान करता है' इत्यादि प्रयोगोंमें उपसर्गके भेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको पकड बैठे हैं। उनका कहना है कि उपसर्ग केवल धातुके अर्थका द्योतन करनेवाले होते हैं। वे किसी नवीन अर्थके वाचक नहीं हैं। उनका यह कहना भी प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो 'तिष्ठति' अर्थात् ठहरता है और 'प्रतिष्ठते' अर्थात् गमन करता है, इन दोनों प्रयोगोंमें भी एकार्थताका प्रसंग आता है।
७. इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक दूषण आते हैं। (१) लकार या कृदन्तमें अथवा लौकिक वाक्य प्रयोगोंमें कालादिके नानापनेकी कल्पना व्यर्थ हो जायेगी, क्योंकि एक ही काल या उपसर्ग आदिसे वास्तविक रूपसे इष्टकार्यकी सिद्धि हो जायेगी।७३। काल आदिके भेदसे अर्थभेद न माननेवालोंको कोई सा एक काल या कारक आदि ही मान लेना चाहिए।७४। काल आदिका भिन्न-भिन्न स्वीकार किया जाना ही उनकी भिन्नार्थताका द्योतक है।७५।

९. सर्व प्रयोगोंको दूषित बतानेसे तो व्याकरणशास्त्रके साथ विरोध आता है?

स. सि./१/३३/१४४/१ एवं प्रकारं व्यवहारमन्याय्यं मन्यते; अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। लोकसमयविरोध इति चेत्। विरुध्यताम्। तत्त्वमिह मीमास्यते, न भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ति। =यद्यपि व्यवहारमें ऐसे प्रयोग होते हैं, तथापि इस प्रकारके व्यवहारको शब्दनय अनुचित मानता है, क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता। प्रश्न—इससे लोक समयका (व्याकरण शास्त्रका) विरोध होता है? उत्तर—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं है, क्योंकि यहाँ तत्त्वकी मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ रोगीकी इच्छाका अनुकरण करनेवाली नहीं होती। (रा. वा./१/३३/६/९८/२५)।

७. समभिरूढ नय निर्देश

१. समभिरूढ नयके लक्षण

१. अर्थ भेदसे शब्द भेद (रूढ शब्द प्रयोग)

स.सि./१/३३/१४४/४ नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। यतो नानार्थान्समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रूढः समभिरूढः। गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु वर्तमानः पशावभिरूढः। =नाना अर्थोंका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ नय कहलाता है। चूँकि जो नाना अर्थोंको 'सम' अर्थात् छोडकर प्रधानतासे एक अर्थमें रूढ होता है वह समभिरूढ नय है। उदाहरणार्थ—'गो' इस शब्दकी वचन, पृथिवी आदि ११ अर्थोंमें प्रवृत्ति मानी जाती है, तो भी इस नयकी अपेक्षा वह एक पशु विशेषके अर्थमें रूढ है। (रा वा./१/३३/१०/९८/२६); (आ.प./५); (न.च.वृ./२१५); (न.च./श्रुत/पृ.१८); (त.सा./१/४६); (का.अ./मू./२७६)।

रा.वा./४/४२/१७/२६१/१२ समभिरूढे वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य च घटस्याभिन्नस्य सामान्येनाभिधानात् (अभेदः)। =समभिरूढ नयमें घटनक्रियासे परिणत या अपरिणत, अभिन्न ही घटका निरूपण होता है। अर्थात् जो शब्द जिस पदार्थके लिए रूढ कर दिया गया है, वह शब्द हर अवस्थामें उस पदार्थका वाचक होता है।

न. च./श्रुत/पृ. १८ एकवारमष्टोपवासं कृत्वा मुक्तेऽपि तपोधनं रूढिप्रधानतया यावज्जीवमष्टोपवासीति व्यवहरन्ति स तु समभिरूढनयः। =एक बार आठ उपवास करके मुक्त हो जानेपर भी तपोधनको रूढिकी प्रधानतासे यावज्जीव अष्टोपवासी कहना समभिरूढ नय है।

२. शब्दभेदसे अर्थभेद

स.सि./१/३३/१४४/५ अथवा अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति। नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दर इत्येवं सर्वत्र। =अथवा अर्थका ज्ञान करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। ऐसी हालतमें एक अर्थका एक शब्दसे ज्ञान हो जाता है। इसलिए पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार नाना अर्थोंका समभिरोहण करनेवाला होनेसे समभिरूढ नय कहलाता है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन शब्द होनेसे इनके अर्थ भी तीन हैं। क्योंकि व्युत्पत्तिकी अपेक्षा ऐश्वर्यवान् होनेसे इन्द्र, समर्थ होनेसे शक्र और नगरोंका दारण करनेसे पुरन्दर होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। (रा.वा./१/३३/१०/९८/30), (श्लो.वा ४/१/३३/श्लो ७६-७७/२६३); (ह.पु./५८/४८); (ध.१/१,१,१/९/४), (ध ९/४,१,४५/१७९/१); (क पा.१/१३-१४/§२००/२३९/६); (न.च.वृ./२१५); (न.च./श्रुत/पृ.१८); (स्या.म./२८/३१४/१५, ३१६/३; ३१८/२८)।

रा.वा./४/४२/१७/२६१/१६ समभिरूढे वा नैमित्तिकत्वात् शब्दस्यैकशब्दवाच्य एकः। =समभिरूढ नय चूँकि शब्दनैमित्तिक है अतः एक शब्दका वाच्य एक ही होता है।

३. वस्तुका निजस्वरूपमें रूढ रहना

स.सि./१/३३/१४४/८ अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्समभिरूढः। यथा क्व भवानास्ते। आत्मनीति। कुतः। वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात्। यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात्, ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात्। =अथवा जो जहाँ अभिरूढ है वह वहाँ 'सम्' अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ होनेके कारण समभिरूढ नय कहलाता है? यथा—आप कहाँ रहते हैं? अपनेमें, क्योंकि अन्य वस्तुकी अन्य वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती। यदि अन्यकी अन्यमें वृत्ति होती है, ऐसा माना जाये तो ज्ञानादिककी और रूपादिककी आकाशमें वृत्ति होने लगे। (रा वा./१/३३/१०/९९/२)।

२. यद्यपि रूढिगत अनेक शब्द एकार्थवाची हो जाते हैं

आ.प./९ परस्परेणाभिरूढाः समभिरूढाः। शब्दभेदेऽप्यर्थभेदो नास्ति। शक्र इन्द्र पुरन्दर इत्यादयः समभिरूढाः। =जो शब्द परस्परमें अभिरूढ या प्रसिद्ध हैं वे समभिरूढ हैं। उन शब्दोंमें भेद होते हुए भी अर्थभेद नहीं होता। जैसे—शक्र, इन्द्र व पुरन्दर ये तीनों शब्द एक देवराजके लिए अभिरूढ या प्रसिद्ध हैं। (विशेष दे० मतिज्ञान/३/४)।

३. परन्तु यहाँ पर्यायवाची शब्द नहीं हो सकते

स. सि./१/३३/१४४/६ तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्य भवितव्यमिति। =जब एक अर्थका एक शब्दसे ज्ञान हो जाता है तो पर्यायवाची शब्दोका प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दोंमें भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए। (रा.वा./१/३३/१०/९८/३०)।

क. पा १/१३-१४/§२००/२४०/१ अस्मिन्नये न सन्ति पर्यायशब्दाः प्रतिपदमर्थभेदाभ्युपगमात्। न च द्वौ शब्दावेकस्मिन्नर्थे वर्तेते; भिन्नयोरेकार्थवृत्तिविरोधात्। न च समानशक्तित्वात्तत्र वर्तेते; समानशक्त्यो. शब्दयोरेकत्वापत्ते। ततो वाचकभेदादवश्य वाच्यभेदेन भाव्यमिति। =इस नयमें पर्यायवाची शब्द नही पाये जाते है, क्योकि यह नय प्रत्येक पदका भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। दो शब्द एक अर्थमें रहते है, ऐसा मानना भी ठीक नही है, क्योकि भिन्न दो शब्दोका एक अर्थमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है। यदि कहा जाये कि उन दोनो शब्दोंमें समान शक्ति पायी जाती है, इसलिए वे एक अर्थमे रहते है, सो ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि दो शब्दोंमें सर्वथा समान शक्ति माननेसे वे वास्तवमें दो न रहकर एक हो जायेंगे। इसलिए जब वाचक शब्दोंमें भेद पाया जाता है तो उनके वाच्यभूत अर्थमें भी भेद होना ही चाहिए। (ध.१/१,१,१/८९/५)।

ध.६/४,१,४५/१८०/१ न स्वतो व्यतिरिक्ताशेषार्थव्यवच्छेदक शब्दः अयोग्यत्वात्। योग्यः शब्दो योग्यार्थस्य व्यवच्छेदक इति···न च शब्दद्वयोर्द्विविध्ये तत्सामर्थ्ययोरेकत्वं न्यायम्, भिन्नकालोत्पन्नद्रव्योपादानभिन्नाधारयोरेकत्वविरोधात्। न च सादृश्यमपि तयोरेकत्वापत्तेः। ततो वाचकभेदादवश्य वाच्यभेदेनापि भवितव्यमिति। =शब्द अपनेसे भिन्न समस्त पदार्थोंका व्यवच्छेदक नही हो सकता, क्योकि उसमें वैसी योग्यता नही है, किन्तु योग्य शब्द योग्य अर्थका व्यवच्छेदक होता है। दूसरे, शब्दोके दो प्रकार होनेपर उनकी शक्तियोको एक मानना भी उचित नही है; क्योकि भिन्न कालमे उत्पन्न व उपादान एवं भिन्न आधारवाली शब्दशक्तियोके अभिन्न होनेका विरोध है। इनमे सादृश्य भी नही हो सकता, क्योकि ऐसा होनेपर एकताकी आपत्ति आती है। इस कारण वाचकके भेदसे वाच्य भेद अवश्य होना चाहिए।

नोट—शब्द व अर्थमे वाच्य-वाचक सम्बन्ध व उसकी सिद्धिके लिए दे० आगम।

४. शब्द व समभिरूढ नयमें अन्तर

श्लो. वा./४/१/३३/७६/२६३/२१ विश्वदृश्वा सर्वदृश्वेति पर्यायभेदेऽपि शब्दोऽभिन्नार्थमभिप्रैति भविता भविष्यतीति च कालभेदाभिमननात्। क्रियते विधीयते करोति विदधाति पुष्यस्तिष्य तारकोडु आपो वा अम्भ. सलिलमित्यादिपर्यायभेदेऽपि चाभिन्नमर्थं शब्दो मन्यते कारकादिभेदादेवार्थभेदाभिमननात्। समभिरूढ पुन पर्यायभेदेऽपि भिन्नार्थानामभिप्रैति। कथं-इन्द्र पुरन्दरः शक्र इत्याद्याभिन्नगोचर। यद्वा विभिन्नशब्दत्वाद्वाजिवारणशब्दवत् ।७७। =जो विश्वको देख चुका है या जो सबको देख चुका है इन शब्दोंमें पर्यायभेद होनेपर भी शब्द नय इनके अर्थको अभिन्न मानता है। भविता (लुट्) और भविष्यति (लट्) इस प्रकार पर्यायभेद होनेपर भी, कालभेद न होनेके कारण शब्दनय दोनोका एक अर्थ मानता है। तथा किया जाता है, विधान किया जाता है इन शब्दोका तथा इसी प्रकार; पुष्य व तिष्य इन दोनो पुल्लिगी शब्दोका; तारका व उडुका इन दोनों स्त्रीलिंगी शब्दोका, स्त्रीलिंगी 'अप' व वार्' शब्दो का नपुंसकलिंगी अम्भस् और सलिल शब्दोका, इत्यादि समानकाल कारक लिंग आदि वाले पर्यायवाची शब्दोका वह एक ही अर्थ मानता है। वह केवल कारक आदिका भेद हो जानेसे ही पर्यायवाची शब्दोमें अर्थभेद मानता है, परन्तु कारकादिका भेद न होनेपर अर्थात समान कारकादिवाले पर्यायवाची शब्दोंमे अभिन्न अर्थ स्वीकार करता है। किन्तु समभिरूढ नय तो पर्यायभेद होनेपर भी उन शब्दोंमें अर्थभेद मानता है। जैसे—कि इन्द्र, पुरन्दर व शक्र इत्यादि पर्यायवाची शब्द उसी प्रकार भिन्नार्थ गोचर हैं, जैसे कि बाजी (घोडा) व वारण (हाथी) ये शब्द।

५. समभिरूढ नयाभासका लक्षण

स्या.म./२८/३१८/३० पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कुक्षीकुर्वाणस्तदाभासः। यथेन्द्र शक्र पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव भिन्नशब्दत्वात् करिकुरङ्गतुरङ्गशब्दवत् इत्यादि.। =पर्यायवाची शब्दोके वाच्यमें सर्वथा नानापना मानना समभिरूढाभास है। जैसे कि इन्द्र, शक्र, पुरन्दर इत्यादि शब्दोंका अर्थ, भिन्न शब्द होनेके कारण उसी प्रकारसे भिन्न मानना जैसे कि हाथी, हिरण, घोडा इन शब्दोका अर्थ।

८. एवंभूतनय निर्देश

१. तत्क्रियापरिणत द्रव्य ही शब्दका वाच्य है

स. सि./१/३३/१४५/३ येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसायतीति एवंभूत.। स्वाभिप्रेतक्रियापरिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यथेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदैव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो न शयित इति। =जो वस्तु जिस पर्यायको प्राप्त हुई है उसी रूप निश्चय करनेवाले (नाम देनेवाले) नयको एवंभूत नय कहते है। आशय यह है कि जिस शब्दका जो वाच्य है उस रूप क्रियाके परिणमनके समय ही उस शब्दका प्रयोग करना युक्त है, अन्य समयोमें नहीं। जैसे—जिस समय आज्ञा व ऐश्वर्यवान् हो उस समय ही इन्द्र है, अभिषेक या पूजा करनेवाला नहीं। जब गमन करती हो तभी गाय है, बैठी या सोती हुई नहीं। (रा वा./१/३३/११/९९/५); (श्लो.वा ४/१/३३/श्लो ७८-७९/२६२), (ह पु /५८/४९), (आ प /५ व ९), (न.च./श्रुत/पृ १९पर उद्धृत श्लोक), (त सा /१/५०), (का अ /मू./२७७), (स्या.म /२८/३१५/३)।

ध १/१,१,१/९०/३ एवं भेदे भवनादेवंभूतः। =एवंभेद अर्थात् जिस शब्दका जो वाच्य है वह तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही पाया जाता है। उसे जो विषय करता है उसे एवंभूतनय कहते है। (क पा.१/१३-१४/§२०१/२४२/१)।

न. च.वृ./२१६ ज ज करेइ कम्म देही मणवयणकायचेट्ठादो। तं तं खु णामजुत्तो एवंभूदो हवे स णओ ।२१६।

न. च./श्रुत/पृ.१९ यः कश्चित्पुरुष रागपरिणतो परिणमनकाले रागीति भवति। द्वेषपरिणतो परिणमनकाले द्वेषीति कथ्यते। शेषकाले तथा न कथ्यते। इति तप्तायःपिण्डवत् तत्काले यदाकृतिस्तद्विशेषे वस्तुपरिणमनं तदा काले 'तक्काले तम्मयत्तादो' इति वचनमस्तीति क्रियाविशेषाभिदान स्वीकरोति अथवा अभिदान न स्वीकरोतीति व्यवहरणमेवंभूतनयो भवति। =१ यह जीव मन वचन कायसे जब जो-जो चेष्टा करता है, तब उस-उस नामसे युक्त हो जाता है, ऐसा एवंभूत नय कहता है। २. जैसे रागसे परिणत जीव रागपरिणतिके कालमें ही रागी होता है और द्वेष परिणत जीव द्वेषपरिणतिके कालमें ही द्वेषी कहलाता है। अन्य समयोमें वह वैसा नहीं कहा जाता। इस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेवत्, उस-उस कालमें जिस-जिस आकृति विशेषमें वस्तुका परिणमन होता है, उस

८. एवंभूतनयाभासका लक्षण

स्या. म./२८/३११/३ क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः। यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यम्, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तक्रियाशून्यत्वात् पटवद् इत्यादि'। =क्रिया-परिणतिके समयसे अतिरिक्त अन्य समयमें पदार्थको उस शब्दका वाच्य सर्वथा न समझना एवंभूतनयाभास है। जैसे—जल लाने आदिकी क्रियारहित खाली रखा हुआ घडा बिलकुल भी 'घट' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पटकी भाँति वह भी घटन क्रियासे शून्य है।

IV द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक

१. द्रव्यार्थिकनय सामान्य निर्देश

१. द्रव्यार्थिकनयका लक्षण

१. द्रव्य ही प्रयोजन जिसका

स. सि./१/६/२१/१ द्रव्यमर्थ' प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिक'। =द्रव्य जिसका प्रयोजन है, सो द्रव्यार्थिक है। (रा. वा./१/३३/१/९५/८); (ध. १/१,१,१/८३/११) (ध. ९/४,१,४५/१७०/१) (क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/६) (आ. प./९) (नि. सा./ता. वृ /१९)।

२. पर्यायको गौण करके द्रव्यका ग्रहण

श्लो. वा. २/१/६/श्लो. १६/३६१ तत्रांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ। द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपत.।१६। = जब सब अंशोको गौणरूपसे तथा अंशीको मुख्यरूपसे जानना इष्ट हो, तब द्रव्यार्थिकनयका व्यापार होता है।

न. च. वृ /१९० पज्जयगउणं किच्चा दव्वंपि य जो हु गिहणए लोए। सो दव्वत्थिय भणिओ ।१९०। =पर्यायको गौण करके जो इस लोकमें द्रव्यको ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है।

स. सा./आ./१३ द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिक। =द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुमें जो द्रव्यको मुख्यरूपसे अनुभव करावे सो द्रव्यार्थिकनय है।

न. दी./३/§ ८२/१२५ तत्र द्रव्यार्थिकनयः द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकमनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्यनुजानन् स्वविषयं द्रव्यमभेदमेव व्यवहारयति, नयान्तरविषयसापेक्ष सन्नय' इत्यभिधानात्। यथा सुवर्णमानयेति। अत्र द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णद्रव्यानयनचोदनाया कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, सुवर्णरूपेण कटकादीना भेदाभावात्। =द्रव्यार्थिकनय प्रमाणके विषयभूत द्रव्यपर्यायात्मक तथा एकानेकात्मक अनेकान्तस्वरूप अर्थका विभाग करके पर्यायार्थिकनयके विषयभूत भेदको गौण करता हुआ, उसकी स्थितिमात्रको स्वीकार कर अपने विषयभूत द्रव्यको अभेदरूप व्यवहार कराता है, अन्य नयके विषयका निषेध नही करता। इसलिए दूसरे नयके विषयकी अपेक्षा रखनेवाले नयको सद्नय कहा है। जैसे—यह कहना कि 'सोना लाओ'। यहाँ द्रव्यार्थिकनयके अभिप्रायसे 'सोना लाओ' के कहनेपर लानेवाला कडा, कुण्डल, केयूर (या सोनेकी डली) इनमेंसे किसीको भी ले आनेसे कृतार्थ हो जाता है, क्योकि सोनारूपसे कडा आदिमें कोई भेद नहीं है।

२. द्रव्यार्थिकनय वस्तुके सामान्यांशको अद्वैतरूप विषय करता है

स. सि./१/३३/१४०/६ द्रव्य सामान्यमुत्सर्ग' अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिक'। =द्रव्यका अर्थ सामान्य, उत्सर्ग और अनुवृत्ति है। और इसको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिकनय है। (त. सा./१/३९)।

क. पा. १/१३-१४/गा. १०७/§ २०१/२५२ पज्जवणयवोक्कतं वत्थू[त्थ] दव्वट्ठियस्स वयणिज्ज। जाव दवियोपजोगो अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो।१०७। =जिस के पश्चात् विकल्पज्ञान व वचन व्यवहार नहीं है ऐसा द्रव्योपयोग अर्थात् सामान्यज्ञान जहाँ तक होता है, वहाँ तक वह वस्तु द्रव्यार्थिकनयका विषय है। तथा वह पर्यायार्थिकनयसे आक्रान्त है। अथवा जो वस्तु पर्यायार्थिकनयके द्वारा ग्रहण करके छोड दी गयी है, वह द्रव्यार्थिकनयका विषय है। (स. सि./१/६/२०/१०), (ह. पु./५८/४२)।

श्लो. वा. ४/१/३३/३/२१५/१० द्रव्यविषयो द्रव्यार्थ'। =द्रव्यको विषय करनेवाला द्रव्यार्थ है। (न. च. वृ./१८९)।

क. पा.१/१३-१४/§ १८०/२१६/७ तद्भावलक्षणसामान्येनाभिन्न सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च वस्त्वभ्युपगच्छन् द्रव्यार्थिक इति यावत्। =तद्भावलक्षणवाले सामान्यसे अर्थात् पूर्वोत्तर पर्यायोमें रहनेवाले ऊर्ध्वता सामान्यसे जो अभिन्न है, और सादृश्य लक्षण सामान्यसे अर्थात् अनेक समान जातीय पदार्थोमें पाये जानेवाले तिर्यग्सामान्यसे जो कथंचित् अभिन्न है, ऐसी वस्तुको स्वीकार करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है। (ध. ९/४,१,४५/१६७/११)।

प्र. सा /त. प्र./११४ पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणा तत्सर्वजीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। =पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व—पर्यायस्वरूप विशेषोमें रहनेवाले एक जीव सामान्यको देखनेवाले और विशेषोको न देखनेवाले जीवोको 'यह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है।

का अ./मू./२६९ जो साहदि सामण्णं अविणाभूदं विसेसरूवेहिं। णाणाजुत्तिबलादो दव्वत्थो सो णओ होदि। =जो नय वस्तुके विशेषरूपोसे अविनाभूत सामान्यरूपको नाना युक्तियोके बलसे साधता है, वह द्रव्यार्थिकनय है।

३. द्रव्यकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता

१. द्रव्यसे भिन्न पर्याय नामकी कोई वस्तु नहीं

रा. वा./१/३३/१/९४/२५ द्रव्यमस्तीति मतिरस्य द्रव्यभवनमेव नातोऽन्ये भावविकारा, नाप्यभाव तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति द्रव्यास्तिक। ·· अथवा, द्रव्यमेवार्थोऽस्य न गुणकर्मणी तदवस्थारूपत्वादिति द्रव्यार्थिकः।· =द्रव्यका होना ही द्रव्यका अस्तित्व है उससे अन्य भावविकार या पर्याय नही है, ऐसी जिसकी मान्यता है वह द्रव्यास्तिकनय है। अथवा द्रव्य ही जिसका अर्थ या विषय है, गुण व कर्म (क्रिया या पर्याय) नही, क्योकि वे भी तदवस्थारूप अर्थात् द्रव्यरूप ही है, ऐसी जिसकी मान्यता है वह द्रव्यार्थिक नय है।

क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/१ द्रव्यात् पृथग्भूतपर्यायाणामसत्त्वात्। न पर्यायस्तेभ्य. पृथगुत्पद्यते; सत्तादिव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भात्। न चोत्पत्तिरप्यस्ति; असत खरविषाणस्योत्पत्तिविरोधात्।·· एतद्द्रव्यमर्थ' प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिक। =द्रव्यसे सर्वथा पृथग्भूत पर्यायोकी सत्ता नही पायी जाती है। पर्याय द्रव्यसे पृथक् उत्पन्न होती है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योकि सत्तादिरूप द्रव्यसे पृथक् पर्यायें नहीं पायी जाती है। तथा सत्तादिरूप द्रव्यसे उनको पृथक् माननेपर वे असत्‌रूप हो जाती है, अतः उनकी उत्पत्ति भी नहीं बन सकती है, क्योंकि खरविषाणकी तरह असतकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। ऐसा द्रव्य जिस नयका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिकनय है।

३. वस्तुके सब धर्म अभिन्न व एकरस हैं

दे. सप्तभंगी/५ (द्रव्यार्थिक नयसे काल, आत्मस्वरूप आदि ८ अपेक्षाओं-से द्रव्यके सर्व धर्मोंमें अभेद वृत्ति है)। और भी देखो—(नय/IV/२/३/१) (नय/IV/२/६/३)।

४. क्षेत्रकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता है।

प. का./ता. वृ./२७/५७/६ द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति, जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि। = द्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं और जीव पुद्गल व काल ये तीन द्रव्य अनेक अनेक हैं। (दे० द्रव्य/३/४)।

और भी देखो नय/IV/२/६/३ भेद निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म, आकाश व जीव इन चारोंमें एक प्रदेशीपना है।

दे. नय/IV/२/३/२ प्रत्येक द्रव्य अपने अपनेमें स्थित हैं।

५. कालकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता

ध. १/१,१,१/गा. ८/१३ दव्वट्ठियस्स सव्वं सदा अणुप्पण्णमविणट्ठं।८। = द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा पदार्थ सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। (ध. ४/१,५,४/गा. २९/३३७) (ध. ६/४,१,४९/गा.६४/२४४) (क. पा. १/१३-१४/गा ९५/§ २०४/२४८) (पं का./मू./११) (पं ध./पू. २४७)।

क. पा. १/१३-१४/§ १८०/२१६/१ अयं सर्वोऽपि द्रव्यप्रस्तारः सदादि परमाणुपर्यन्तो नित्यः, द्रव्यात् पृथग्भूतपर्यायाणामसत्त्वात्।...सतः आविर्भाव एव उत्पादः तस्यैव तिरोभाव एव विनाशः, इति द्रव्यार्थिकस्य सर्वस्य वस्तुनित्यत्वान्नोत्पद्यते न विनश्यति चेति स्थितम्। एतद्द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। = सत्से लेकर परमाणु पर्यन्त ये सब द्रव्यप्रस्तार नित्य हैं, क्योंकि द्रव्यसे सर्वथा पृथग्भूत पर्यायोंकी सत्ता नहीं पायी जाती है। सत्का आविर्भाव ही उत्पाद है और उसका तिरोभाव ही विनाश है ऐसा समझना चाहिए। इसलिए द्रव्यार्थिकनयसे समस्त वस्तुएँ नित्य हैं। इसलिए न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। यह निश्चय हो जाता है। इस प्रकारका द्रव्य जिस नयका प्रयोजन या विषय है, वह द्रव्यार्थिकनय है। (ध. १/१,१,१/८४/७)।

और भी देखो—(नय/IV/२/३/३) (नय/IV/२/६/२)।

६. भावकी अपेक्षा विषयकी अद्वैतता

रा. वा./१/३३/१/९५/४ अथवा अर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम्। द्रवति गच्छतीति द्रव्यं कारणम्। द्रव्यमेवार्थोऽस्य कारणमेव कार्यं नार्थान्तरत्वम्, न कार्यकारणयोः कश्चिद्रूपभेदः तदुभयमेकाकारमेव पर्वाङ्गुलिद्रव्यवदिति द्रव्यार्थिकः।...अथवा अर्थनमर्थः प्रयोजनम्, द्रव्यमेवार्थोऽस्य प्रत्ययाभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गदर्शनस्य निह्नोतुमशक्यत्वादिति द्रव्यार्थिकः। = अथवा जो प्राप्त होता है या निष्पन्न होता है, ऐसा कार्य ही अर्थ है। और परिणमन करता है या प्राप्त करता है ऐसा द्रव्य कारण है। द्रव्य ही उस कारणका अर्थ या कार्य है। अर्थात् कारण ही कार्य है, जो कार्य से भिन्न नहीं है। कारण व कार्यमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। उंगली व उसकी पोरीकी भाँति दोनों एकाकार हैं। ऐसा द्रव्यार्थिकनय कहता है। अथवा अर्थन या अर्थका अर्थ प्रयोजन है। द्रव्य ही जिसका अर्थ या प्रयोजन है सो द्रव्यार्थिक नय है। इसके विचारमें अन्वय विज्ञान, अनुगताकार वचन और अनुगत धर्मोंका अर्थात् ज्ञान, शब्द व अर्थ तीनोंका लोप नहीं किया जा सकता। तीनों एकरूप हैं।

क पा १/१३-१४/§ १८०/२१६/२ न पर्यायस्तेभ्यः पृथगुत्पद्यते असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् कारणाभावाच्च।..एतद्द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। = द्रव्यसे पृथग्भूत पर्यायोंकी उत्पत्ति नहीं बन सकती, क्योंकि असत् पदार्थ किया नहीं जा सकता; कार्यको उत्पन्न करनेके लिए उपादान-कारणका ग्रहण किया जाता है; सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं पायी जाती; समर्थ कारण भी शक्य कार्यको ही करते हैं; तथा पदार्थोंमें कार्यकारणभाव पाया जाता है। ऐसा द्रव्य जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है।

और भी दे०—(नय/IV/२/३/४); (नय/IV/२/६/७/१०)।

७. इसीसे यह नय वास्तवमें एक, अवक्तव्य व निर्विकल्प है

क. पा. १/१३-१४/गा १०७/§ २०५ जाव दवियोपजोगो अपच्छिमवियप्पणिव्वयणो।१०७। = जिसके पीछे विकल्पज्ञान व वचन व्यवहार नहीं है ऐसे अन्तिमविशेष तक द्रव्योपयोगकी प्रवृत्ति होती है।

प. ध./पू./५१९ भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः। = वह अपने धात्वर्थके अनुसार संज्ञावाला द्रव्यार्थिक नय एक है।

और भी देखो—(नय/V/२)

२. शुद्ध व अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय निर्देश

१. द्रव्यार्थिक नयके दो भेद—शुद्ध व अशुद्ध

ध. ९/४,१,४५/१७०/५ शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः... अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहारनयः। = संग्रहनय शुद्धद्रव्यार्थिक है और व्यवहारनय अशुद्ध-द्रव्यार्थिक। (क पा १/१३-१४/§ १८२/२१६/१) (त सा /१/४१)।

आ. प./९ शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ। = शुद्ध निश्चय व अशुद्ध निश्चय दोनों द्रव्यार्थिकनयके भेद हैं।

२. शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका लक्षण

१ शुद्ध, एक व वचनातीत तत्त्वका प्रयोजक

आ प./९ शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः। = शुद्ध द्रव्य ही है अर्थ और प्रयोजन जिसका सो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

न. च /श्रुत/पृ. ४३ शुद्धद्रव्यार्थेन चरतीति शुद्धद्रव्यार्थिकः। = जो शुद्ध-द्रव्यके अर्थरूपसे आचरण करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।

पं. वि. /१/१५७ शुद्धं वागतिवर्तितत्त्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं शुद्धादेश इति...। = शुद्ध तत्त्व वचनके अगोचर है, ऐसे शुद्ध तत्त्वको ग्रहण करनेवाला नय शुद्धादेश है। (पं. ध./पू./७४७)।

पं. ध./उ./३३,१३३ अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोऽपि यः। = शुद्ध नयकी अपेक्षासे जीव एक तथा शुद्ध है।

और भी दे० नय/III/४—(सत्मात्र है अन्य कुछ नहीं)।

३. शुद्धद्रव्यार्थिक नयका विषय

१ द्रव्यकी अपेक्षा भेद उपचार रहित द्रव्य

स. सा /मू./१४ जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं। अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।१४। = जो नय आत्माको बन्ध-रहित और परके स्पर्शसे रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलता रहित, विशेष रहित, अन्यके संयोगसे रहित ऐसे पाँच भावरूपसे देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान।१४। (पं. वि./११/१७)।

ध. ९/४,१,४५/१७०/५ सत्तादिना यः सर्वस्य पर्यायकलङ्काभावेन अद्वैतत्वमध्यवस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः स संग्रहः। = जो सत्ता आदिकी अपेक्षासे पर्यायरूप कलंकका अभाव होनेके कारण सबकी अद्वैतताको विषय करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह है। (विशेष दे० नय/III/४) (क. पा / १/१३-१४/§ १८२/२१६/१) (न्या दी. /३/§ ८४/१२८)।

प्र. स./त. प्र./१२५ शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तः प्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते। =शुद्धद्रव्यके निरूपणमें परद्रव्यके सम्पर्कका असंभव होनेसे और पर्यायें द्रव्यके भीतर मलीन हो जानेसे आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है।

और भी देखो नय/V/१/२ (निश्चयमें न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है (आत्मा तो एक ज्ञायक मात्र है))।

और भी देखो नय/IV/१/३ (द्रव्यार्थिक नय सामान्यमें द्रव्यका अद्वैत)।

और भी देखो नय/IV/२/६/३ (भेद निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय)।

२. क्षेत्रकी अपेक्षा स्वमें स्थिति

प. प्र./मू./१/२९/३२ देहादेहि जो वसइ भेयाभेयणएण। सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णें बहुएण।२९।

प. प्र./टी./२ शुद्धनिश्चयनयेन तु अभेदनयेन स्वदेहाद्भिन्ने स्वात्मनि वसति यः तमात्मानं मन्यस्व। =जो व्यवहार नयसे देहमें तथा निश्चयनयसे आत्मामें बसता है उसे ही हे जीव तू आत्मा जान।२९। शुद्ध निश्चयनय अर्थात् अभेदनयसे अपनी देहसे भिन्न रहता हुआ वह निजात्मामें बसता है।

द्र. स./टी./१९/५८/२ सर्वद्रव्याणि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति। =सभी द्रव्य निश्चयनयसे निज निज प्रदेशों में रहते है।

और भी देखो—(नय/IV/१/४), (नय/IV/२/६/३)।

३. कालकी अपेक्षा उत्पादव्यय रहित है

प. का./ता. वृ./११/२७/१६ शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नरनारकादिविभावपरिणामोत्पत्तिविनाशरहितम्। =शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे नर नारकादि विभाव परिणामोंकी उत्पत्ति तथा विनाशसे रहित है।

प. ध./पू./२१६ यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम्। केवल सदिति।२१६। =शुद्धनयकी अपेक्षा न उत्पाद है, न व्यय है और न ध्रौव्य है, केवल सत् है।

और भी देखो—(नय/IV/१/५) (नय/IV/२/६/२)।

४ भावकी अपेक्षा एक व शुद्ध स्वभावी है

आ. प./८ शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः। =(पुद्गलका भी) शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे शुद्धस्वभाव है।

प्र. सा./त. प्र./परि./नय न. ४७ शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम्। =शुद्धनयसे आत्मा केवल मिट्टीमात्रकी भाँति शुद्धस्वभाववाला है। (घट, रामपात्र आदिकी भाँति पर्यायगत स्वभाववाला नहीं)।

प. का./ता. वृ. १/८/२१ शुद्धनिश्चयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभाव इति। =शुद्ध निश्चयनयसे अपनेमें ही आराध्य आराधक भाव होता है।

और भी दे नय/V/१/५/१ (जीव तो बन्ध व मोक्षसे अतीत है)।

और भी देखो आगे (नय/IV/२/६/१०)।

४. अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयका लक्षण

ध. ९/४,१,४५/१७१/३ पर्यायकलङ्काङ्किततया अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहारनयः। =(अनेक भेदों रूप) पर्यायकलंकसे युक्त होनेके कारण व्यवहारनय अशुद्धद्रव्यार्थिक है। (विशेष दे० नय/V/४) (क. पा. १/१३-१४/§ १८२/२१९/२)।

आ. प./८ अशुद्धद्रव्यार्थिकेन अशुद्धस्वभावः। =अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे (पुद्गल द्रव्यका) अशुद्ध स्वभाव है।

आ. प./९ अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धद्रव्यार्थिकः। =अशुद्ध द्रव्य ही है अर्थ या प्रयोजन जिसका सो अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। (न च./श्रुत/पृ ४३)।

प्र. सा./त. प्र./परि./नय. न. ४६ अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधि स्वभावम्। =अशुद्ध नयसे आत्मा घट शराव आदि विशिष्ट (अर्थात् पर्यायकृत भेदोंसे विशिष्ट) मिट्टी मात्रकी भाँति सोपाधिस्वभाव वाला है।

पं. वि./१/१७,२७ इतरद्वाच्य च तद्वाचकं। प्रभेदजनकं शुद्धेतररूपितम्। =अशुद्ध तत्त्व वचनगोचर है। उसका वाचक तथा भेदको प्रगट करनेवाला अशुद्ध नय है।

स. सा./पं. जयचन्द/६ अन्य परसंयोगजनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषय हैं।

और भी देखो नय/V/४ (व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय होनेसे, उसके ही सर्व विकल्प अशुद्धद्रव्यार्थिकनयके विकल्प हैं।

और भी देखो नय/IV/२/६ (अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयका पाँच विकल्पों द्वारा लक्षण किया गया है)।

और भी देखो नय/I/१—(अशुद्ध निश्चय नयका लक्षण)।

५. द्रव्यार्थिकके दश भेदोंका निर्देश

आ.प./५ द्रव्यार्थिकस्य दश भेदा.। कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिको, .. उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिकः,.. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धो द्रव्यार्थिकः,.. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धो द्रव्यार्थिको, .. उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धो द्रव्यार्थिको, .. भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धो द्रव्यार्थिको,...अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको,.. स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको, परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको,.. परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको। =द्रव्यार्थिकनयके १० भेद है—१ कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक, २. उत्पादव्यय गौण सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक, ३. भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक, ४ कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक; ५. उत्पादव्यय सापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिक, ६. भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक, ७ अन्वय द्रव्यार्थिक, ८. स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक, ९. परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक; १०. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक। (न.च./श्रुत/पृ. ३६-३७)

६. द्रव्यार्थिक नयदशकके लक्षण

१. कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक

आ.प./५ कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिको यथा संसारी जीवो सिद्धसदृक् शुद्धात्मा। ='संसारी जीव सिद्धके समान शुद्धात्मा है' ऐसा कहना कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

न च.वृ./१९१ कम्माण मज्झगदं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं। भण्णइ सो सुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो। =कर्मोंसे बँधे हुए जीवको जो सिद्धोंके सदृश शुद्ध बताता है, वह कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय है। (न च/श्रुत/पृ. ४०/श्लो.३)

न च/श्रुत/पृ. ३ मिथ्यात्वादिगुणस्थाने सिद्धत्वं वदति स्फुटं। कर्मभिनिरपेक्षो य शुद्धद्रव्यार्थिको हि स.।१। =मिथ्यात्वादि गुणस्थानोंमें अर्थात् अशुद्ध भावोंमे स्थित जीवका जो सिद्धत्व कहता है वह कर्मनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय है।

नि सा/ता.वृ./१०७ कर्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकशुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नो कर्मभिर्द्रव्यकर्मभिश्च निर्मुक्तम्। =कर्मोपाधि निरपेक्ष सत्ताग्राहक शुद्धनिश्चयरूप द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा इन द्रव्य व भाव कर्मोंसे निर्मुक्त है।

२. सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक

आ.प./५ उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिको यथा, द्रव्य नित्यम्। =उत्पादव्ययगौण सत्ताग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे द्रव्य नित्य या नित्यस्वभावी है। (आ प/८), (न च/श्रुत/पृ ४/श्लो.२)

न च वृ/१९२ उप्पादवयं गउणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता। भण्णइ सो सुद्धणओ इह सत्तागाहिओ समये।१९२। =उत्पाद और व्ययको

गौण करके मुख्य रूपसे जो केवल सत्ताको ग्रहण करता है, वह सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहा गया है। (न च /श्रुत/४०/श्लो.४)

नि सा /ता वृ /१६ सत्ताग्राहकशुद्धद्रव्यार्थिकनयबलेन पूर्वोक्तव्यञ्जनपर्यायेभ्य सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्तजीवराशय' सर्वथा व्यतिरिक्ता एव ।=सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनयके बलसे, युक्त तथा अयुक्त सभी जीव पूर्वोक्त (नर नारक आदि) व्यंजन पर्यायोसे सर्वथा व्यतिरिक्त ही है।

३. भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक

आ प./५ भेदकल्पनानिरपेक्ष' शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निजगुणपर्यायस्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम्।

आ.प /८ भेदकल्पनानिरपेक्षेणैकस्वभाव.। =भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य निज गुणपर्यायोके स्वभावसे अभिन्न है तथा एक स्वभावी है। (न च /श्रुत/पृ ४/श्लो ३)

न.च.वृ /१९३ गुणगुणिआइचउक्के अत्थे जो णो करइ खलु भेयं। सुद्धो सो दव्वत्थो भेयवियप्पेण णिरवेक्खो ।१९३।=गुण-गुणी और पर्याय-पर्यायी रूप ऐसे चार प्रकारके अर्थमें जो भेद नही करता है अर्थात् उन्हे एकरूप ही कहता है, वह भेदविकल्पोसे निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय है। (और भी दे० नय/पृ /१/२) (न.च./श्रुत/४१/श्लो.५)

आ.प /८ भेदकल्पनानिरपेक्षेणेतरेषा धर्माधर्माकाशजीवानां चाखण्डत्वादेकप्रदेशत्वम्। =भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे धर्म, अधर्म, आकाश और जीव इन चारो बहुप्रदेशी द्रव्योंके अखण्डता होनेके कारण एकप्रदेशपना है।

४ कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक

आ प./५ कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा। =कर्मजनित क्रोधादि भाव ही आत्मा है ऐसा कहना कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

न च.वृ /१९४ भावे सरायमादी सव्वे जीवम्मि जो दु जंपदि। सो हु असुद्धो उत्तो कम्माणोवाहिसावेक्खो ।१९४। =जो सर्व रागादि भावोंको जीवमें कहता है अर्थात् जीवको रागादिस्वरूप कहता है वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। (न.च./श्रुत/४१/श्लो.१)

न.च /श्रुत/पृ.४/श्लो ४ औदयिकादित्रिभावात् यो ब्रूते सर्वात्मसत्तया। कर्मोपाधिविशिष्टात्मा स्यादशुद्धस्तु निश्चय ।४।=जो नय औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक इन तीन भावोंको आत्मसत्तासे युक्त बतलाता है, वह कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

५ उत्पादव्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक

आ प./५ उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन्समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। =उत्पादव्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य एक समयमें ही उत्पाद व्यय व ध्रौव्य रूप इस प्रकार त्रयात्मक है। (न.च वृ /१९५), (न.च./श्रुत/पृ ४/श्लो.५) (न च./श्रुत/४१/श्लो. २)

६ भेद कल्पना सापेक्ष'अशुद्ध द्रव्यार्थिक

आ प./५ भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथात्मनो ज्ञानदर्शनज्ञानादयो गुणा.।

आ प /८ भेदकल्पनासापेक्षेण चतुर्णामपि नानाप्रदेशस्वभावत्वम्। =भेद कल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान दर्शन आदि आत्माके गुण है, (ऐसा गुण गुणी भेद होता है)—तथा धर्म, अधर्म, आकाश व जीव ये चारो द्रव्य अनेक प्रदेश स्वभाववाले है।

न.च.वृ /१९६ भेए सदि सबन्ध गुणगुणियाईहि कुणदि जो दव्वे। सो वि असुद्धो दिट्ठो सहिओ सो भेदकप्पेण। =जो द्रव्यमें गुण-गुणी भेद करके उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है (जैसे द्रव्य गुण व पर्यायवाला है अथवा जीव ज्ञानवान् है) वह भेदकल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। (न.च./श्रुत/५/श्लो.६ तथा/४१/श्लो.३) (विशेष दे० नय/V/४)

७. अन्वय द्रव्यार्थिक

आ.प /५ अन्वयसापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा, गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम्।

आ.प./८ अन्वयद्रव्यार्थिकत्वेनैकस्याप्यनेकस्वभावत्वम्। =अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा गुणपर्याय स्वरूप ही द्रव्य है और इसी लिए इस नयकी अपेक्षा एक द्रव्यके भी अनेक स्वभावीपना है। (जैसे—जीव ज्ञानस्वरूप है, जीव दर्शनस्वरूप है इत्यादि)

न.च वृ /१९७ णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण सव्वदव्वेहिं। विवहावणाहि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिदो ।१९७। =निःशेष स्वभावोको जो सर्व द्रव्योके साथ अन्वय या अनुस्यूत रूपसे कहता है वह अन्वय द्रव्यार्थिकनय है (न. च./श्रुत/४१/श्लो. ४)

न. च /श्रुत/पृ. ५/श्लो ७ नि.शेषगुणपर्यायान् प्रत्येक द्रव्यमब्रवीत्। सोऽन्वयो निश्चयो हेम यथा सत्कटकादिषु ।७। =जो सम्पूर्ण गुणों और पर्यायोंमेंसे प्रत्येकको द्रव्य बतलाता है, वह विद्यमान कड़े वगैरहमें अनुबद्ध रहनेवाले स्वर्णकी भाँति अन्वयद्रव्यार्थिक नय है।

प्र. सा. /ता. वृ /१०१/१४०/११ पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसंवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूत तदन्वयद्रव्य भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनय। =जो पूर्वोक्त उत्पाद आदि तीनका तथा स्वसंवेदनज्ञान दर्शन चारित्र इन तीन गुणोका (उपलक्षणसे सम्पूर्ण गुण व पर्यायोंका) आधार है वह अन्वय द्रव्य कहलाता है। वह जिसका विषय है वह अन्वय द्रव्यार्थिक' नय है।

८ स्वद्रव्यादि ग्राहक

आ. प./५ स्वद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति। =स्व द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव इस स्वचतुष्टयसे ही द्रव्यका अस्तित्व है या इन चारों रूप ही द्रव्यका अस्तित्व स्वभाव है। (आ. प./८); (न. च वृ./१९८);(न. च /श्रुत/पृ. ३ व पृ. ४१/श्लो. ५), (नय/I/५/२)

९ परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक

आ. प./५ परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा—परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्य नास्ति। =परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव इस परचतुष्टयसे द्रव्यका नास्तित्व है। अर्थात् परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्यका नास्तित्व स्वभाव है। (आ. प./८), (न. च. वृ /१९८), न. च./श्रुत/पृ. ३ तथा ४१/श्लो. ६), (नय/I/५/२)

१०. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक

आ. प /५ परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा—ज्ञानस्वरूप आत्मा। =परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा ज्ञानस्वभावमें स्थित है।

आ प./८ परमभावग्राहकेण भव्याभव्यपारिणामिकस्वभावः। · कर्मनोकर्मणोरचेतनस्वभाव। · · कर्मनोकर्मणोर्मूर्तस्वभाव'। ·· पुद्गलं विहाय इतरेषाममूर्त्तस्वभाव'। · कालपरमाणूनामेकप्रदेशस्वभावम्। =परमभावग्राहक नयसे भव्य व अभव्य पारिणामिक स्वभावी है, कर्म व नोकर्म अचेतनस्वभावी है; कर्म व नोकर्म मूर्तस्वभावी है, पुद्गलके अतिरिक्त शेष द्रव्य अमूर्तस्वभावी है, काल व परमाणु एकप्रदेशस्वभावी है।

न. च. वृ./१९९ गेह्णइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोवयारपरिचत्तं । सो परम-भावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ।१९९। =जो औदयिकादि अशुद्ध-भावोंसे तथा शुद्ध क्षायिकभावके उपचारसे रहित केवल द्रव्यके त्रिकाली परिणामाभावरूप स्वभावको ग्रहण करता है उसे परमभाव-ग्राही नय जानना चाहिए। (न. च. वृ /११६)

न. च /श्रुत/पृ./३ ससारयुक्तपर्यायाणामाधारं भूत्वाप्यात्मद्रव्यकर्मबन्ध-मोक्षाणां कारणं न भवतीति परमभावग्राहकद्रव्यार्थिकनयं.। =परमभाव ग्राहकनयकी अपेक्षा आत्मा संसार व मुक्त पर्यायोका आधार होकर भी कर्मोंके बन्ध व मोक्षका कारण नही होता है।

स. सा./ता. वृ./३२०/४०८/५ सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व-भोक्तृत्वमोक्षादि-कारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचित । =सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक, शुद्ध उपादानभूत शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे, जीव कर्ता, भोक्ता व मोक्ष आदिके कारणरूप परिणामोसे शून्य है।

द्र. सं/टी./५७/२३६ यस्तु शुद्धशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकपरमभाव-लक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यती-त्येव न। =जो शुद्धद्रव्यकी शक्तिरूप शुद्ध-पारिणामिक परमभाव-रूप परम निश्चय मोक्ष है वह तो जीवमें पहिले ही विद्यमान है। वह अब प्रकट होगी, ऐसा नहीं है।

और भी दे० (नय/V/१/५ शुद्धनिश्चय नय बन्ध मोक्षसे अतीत शुद्ध जीवको विषय करता है)।

३. पर्यायार्थिक नय सामान्य निर्देश

१. पर्यायार्थिक नयका लक्षण

१. पर्याय ही है प्रयोजन जिसका

स. सि./१/६/२१/१ पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः। =पर्याय ही है अर्थ या प्रयोजन जिसका सो पर्यायार्थिक नय। (रा. वा./१/ ३३/१/९५/१), (ध. १/१,१,१/८४/१), (ध.९/४,१,४५/१७०/३), (क. पा.१/१३-१४/§१८१/२१७/१), (आ. प /९), (नि. सा./ता. वृ./१९), (प. ध /पू /५१९)।

२. द्रव्यको गौण करके पर्यायका ग्रहण

न. च वृ /१९० पज्जय गउण किच्चा दव्वं पि य जो हु गिहणए लोए। सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिओ। =पर्यायको गौण करके जो द्रव्यको ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिकनय है। और उससे विपरीत पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् द्रव्यको गौण करके जो पर्याय-को ग्रहण करता है सो पर्यायार्थिकनय है।

स. सा /आ./१३ द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि पर्याय मुख्यतयानुभवतीति पर्यायार्थिक । =द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुमे पर्यायको ही मुख्यरूपसे जो अनुभव करता है, सो पर्यायार्थिक नय है।

न्या दी./३/§८२/१२६ द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानपर्याया-र्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्त्तते, कटकादि-पर्यायात् कुण्डलपर्यायस्य भिन्नत्वात्। =जब पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा होती है तब द्रव्यार्थिकनयको गौण करके प्रवृत्त होनेवाले पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे 'कुण्डल लाओ' यह कहनेपर लानेवाला कडा आदिकें लानेमें प्रवृत्त नही होता, क्योकि कडा आदि पर्यायसे कुण्डलपर्याय भिन्न है।

२. पर्यायार्थिक नय वस्तुके विशेष अंशको एकत्व रूपसे विषय करता है

स.सि /१/३३/१४१/१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थ.। तद्विषय. पर्यायार्थिकः। =पर्यायका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति (भेद) है, और इसको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिकनय है (त. सा./१/४०)।

श्लो. वा. ४/१/३३/३/२१५/१० पर्यायविषय पर्यायार्थ.। =पर्यायको विषय करनेवाला पर्यायार्थ नय है। (न. च. वृ./१८९)

ह. पु /५८/४२ स्यु' पर्यायार्थिकस्यान्मे विशेषविषया' नया' ।४२। =ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायार्थिक नयके भेद है। वे सब वस्तुके विशेष अशको विषय करते है।

प्र. सा./त. प्र./११४ द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं केवलोन्मीलितेन पर्या-यार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यङ्मनुष्यदेव-सिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनलोकितसामान्या-नामन्यत्प्रतिभाति। द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्म-यत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। =जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब जीवद्रव्यमें रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषोंको देखनेवाले और सामान्यको न देखनेवाले जीवोको (वह जीवद्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है क्योकि द्रव्य उन-उन विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उन-उन विशेषोसे अनन्य है—कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भाँति।

का. अ./मू /२७० जो साहेदि विसेसे बहुविहसामण्णसजुदे सव्वे। साहण-लिंग-वसादो पज्जयविसओ णओ होदि। =जो अनेक प्रकारके सामान्य सहित सब विशेषोंको साधक लिंगके बलसे साधता है, वह पर्यायार्थिकनय है।

३. द्रव्यकी अपेक्षा विषयकी एकत्वता

१. पर्यायसे पृथक् द्रव्य कुछ नहीं है

रा. वा./१/३३/१/९५/३ पर्याय एवार्थोऽस्य रूपाद्युत्क्षेपणादिलक्षणो, न ततोऽन्यद् द्रव्यमिति पर्यायार्थिक। =रूपादि गुण तथा उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि कर्म या क्रिया लक्षणवाली ही पर्याय होती है। वे पर्याय ही जिसका अर्थ है, उससे अतिरिक्त द्रव्य कुछ नही है, ऐसा पर्यायार्थिक नय है। (ध. १२/४,२,८,१५/२९२/१२)।

श्लो वा /२/२/२/४/१५/६ अभिधेयस्य शब्दनयोपकल्पितत्वाद्विशेषस्य ऋजुसूत्रोपकल्पितत्वादभावस्य। =शब्दका वाच्यभूत अभिधेय तो शब्दनयके द्वारा और सामान्य द्रव्यसे रहित माना गया कोरा विशेष ऋजुसूत्रनयसे कल्पित कर लिया जाता है।

क. पा १/१३-१४/§२७८/३१४/४ ण च सामण्णमत्थि, विसेसेसु अणुगम-अतुट्टसरूवसामण्णाणुवलम्भादो। =इस (ऋजुसूत्र) नयकी दृष्टिमें सामान्य है भी नही, क्योकि विशेषोमें अनुगत और जिसकी सन्तान नही टूटी है, ऐसा सामान्य नही पाया जाता। (ध १३/५,५,७/१९९/६)

क. पा. १/१३-१४/§२७९/३१६/६ तस्स विसए दव्वाभावादो। =शब्द-नयके विषयमे द्रव्य नही पाया जाता। (क पा १/१३-१४/§२८५/३२०/४)

प्र. सा /त. प्र./परि /नय नं. २ तत् तु. पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शन-ज्ञानादिमात्रम्। =इस आत्माको यदि पर्यायार्थिक नयसे देखे तो तन्तुमात्रकी भाँति ज्ञान दर्शन मात्र है। अर्थात् जैसे तन्तुओं से भिन्न वस्त्र नामकी कोई वस्तु नहीं है. वैसे ही ज्ञानदर्शन से पृथक् आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है।

२. गुण गुणीमें सामानाधिकरण्य नहीं है

रा वा./१/३३/७/९७/२० न सामानाधिकरण्यम्—एकस्य पर्यायेभ्योऽन-न्यत्वात् पर्याया एव विविक्तशक्तयो द्रव्य नाम न किंचिदस्तीति। =(ऋजुसूत्र नयमें गुण व गुणीमें) सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता क्योकि भिन्न शक्तिवाली पर्यायें ही यहाँ अपना अस्तित्व रखती

६. द्रव्य नामकी कोई वस्तु नहीं है। (ध. ९/४,१,४५/१७४/७); (क. पा. १/१३-१४/§१८६/२२६/५)

दे० आगे शीर्षक नं. ४ ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें विशेष्य-विशेषण, ज्ञेय-ज्ञायक, वाच्य-वाचक, बन्ध्य-बन्धक आदि किसी प्रकारका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

३. काक कृष्ण नहीं हो सकता

रा. वा./१/३३/७/९८/१७ न कृष्ण. काक उभयोरपि स्वात्मकत्वात्—कृष्ण' कृष्णात्मको न काकात्मक । यदि काकात्मक स्यात्; भ्रमरादीनामपि काकत्वप्रसङ्ग.। काकश्च काकात्मको न कृष्णात्मक., यदि कृष्णात्मक., शुक्लकाकाभावः स्यात्। पञ्चवर्णत्वाच्च, पित्तास्थिरुधिरादीना पीतशुक्लादिवर्णत्वात्, तद्व्यतिरेकेण काकाभावाच्च। =इसकी दृष्टिमें काक कृष्ण नहीं होता, दोनों अपने-अपने स्वभावरूप हैं। जो कृष्ण है वह कृष्णात्मक ही है काकात्मक नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर भ्रमर आदिकोंके भी काक होनेका प्रसंग आता है। इसी प्रकार काक भी काकात्मक ही कृष्णात्मक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर सफेद काकके अभावका प्रसंग आता है। तथा उसके पित्त अस्थि व रुधिर आदिको भी कृष्णताका प्रसंग आता है, परन्तु वे तो पीत शुक्ल व रक्त वर्ण वाले हैं और उनसे अतिरिक्त काक नहीं। (ध ९/४,१,४५/१७४/३), (क. पा. १/१३-१४/§१८८/२२६/२)

४. सभी पदार्थ एक संख्यासे युक्त हैं

ष. ख. १२/४,२,९/सू. १४/३०० सद्दुजुसुदाणं णाणावरणीयवेयणा जीवस्स ।१४।

ध. १२/४, २, ९, १४/३००/१० किमट्ठं जीव-वेयणाणं सद्दुजुसुदा बहुवयणं णेच्छंति। ण एस दोसो, बहुत्ताभावादो। तं जहासव्व पि वत्थु एगसंखाविसिट्ठं, अण्णहा तस्साभावप्पसंगादो। ण च एगत्तपडिग्गहिए वत्थुम्हि दुब्भावादीणं संभवो अत्थि, सीदुण्हाणं व तेसु सहाणवट्ठाणलक्खणविरोहदंसणादो। =शब्द और ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना जीवके होती है।१४। प्रश्न—ये नय बहुवचनको क्यों नहीं स्वीकार करते? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, यहाँ बहुत्वकी सम्भावना नहीं है। वह इस प्रकार कि—सभी वस्तु एक संख्यासे संयुक्त हैं क्योंकि, इसके बिना उसके अभावका प्रसंग आता है। एकत्वको स्वीकार करनेवाली वस्तुमें द्वित्वादिकी सम्भावना भी नहीं है, क्योंकि उनमें शीत व उष्णके समान सहानवस्थानरूप विरोध देखा जाता है। (और भी देखो आगे शीर्षक नं. ४/२ तथा ६)।

ध. ९/४,१,४९/२९९/१ उजुसुदे किमिदि अणेयसंखा णत्थि। एयसद्दस्स एयपमाणस्स य एगत्थं मोत्तूण अणेगत्थेसु एक्ककाले पवुत्तिविरोहादो। ण च सद्द-पमाणाणि बहुसत्तिजुत्ताणि अत्थि, एक्कम्हि विरुद्धाणेयसत्तीणं संभवविरोहादो एयसंखं मोत्तूण अणेयसंखाभावादो वा। =प्रश्न—ऋजुसूत्रनयमें अनेक संख्या क्यों संभव नहीं? उत्तर—चूँकि इस नयकी अपेक्षा एक शब्द और एक प्रमाणकी एक अर्थको छोड़कर अनेक अर्थोंमें एक कालमें प्रवृत्तिका विरोध है, अतः उसमें एक संख्या संभव नहीं है। और शब्द व प्रमाण बहुत शक्तियोंसे युक्त हैं नहीं, क्योंकि, एकमें विरुद्ध अनेक शक्तियोंके होनेका विरोध है। अथवा एक संख्याको छोड़कर अनेक संख्याओंका यहाँ (इन नयोंमें) अभाव है (क. पा. १/१३-१४/§२०२/२४३/४; २४४/१)।

५. क्षेत्रकी अपेक्षा विषयकी एकत्वता

१. प्रत्येक पदार्थका अवस्थान अपनेमें ही है

रा. वा./१/३३/१०/९९/६ अथवा यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात्समभिरूढः। यथा क्व भवानास्ते। आत्मनीति। कुतः। वस्त्वन्तरे वृत्त्यभावात्। यद्यन्यस्यान्यत्र वृत्तिः स्यात्, ज्ञानादीनां रूपादीना चाकाशे वृत्ति' स्यात्। =अथवा जो जहाँ अभिरूढ है वह वहाँ सम् अर्थात् प्राप्त होकर प्रमुखतासे रूढ होनेके कारण समभिरूढ-नय कहलाता है। यथा—आप कहाँ रहते हैं? अपनेमें, क्योंकि अन्य वस्तुकी अन्य वस्तुमें वृत्ति नहीं हो सकती। यदि अन्यकी अन्यमें वृत्ति मानी जाये तो ज्ञानादि व रूपादिकी भी आकाशमें वृत्ति होने लगे। (रा. वा /१/३३/१०/९९/२)।

रा वा /१/३३/७/९७/१६ यमेवाकाशदेशमवगाढुं समर्थ आत्मपरिणामं वा तत्रैवास्य वसति'। = जितने आकाश प्रदेशोंमें कोई ठहरा है, उतने ही प्रदेशोंमें उसका निवास है अथवा स्वात्मामें, अतः ग्रामनिवास गृहनिवास आदि व्यवहार नहीं हो सकते। (ध. ९/४,१,४५/१७४/२); (क पा १/१३-१४/§ १८७/२२६/१)।

२. वस्तु अखण्ड व निरवयव होती है

ध.१२/४,२,९,१५/३०१/१ ण च एगत्तविसिट्ठं वत्थु अत्थि जेण अणेगत्तस्स तदाहारो होज्ज। एक्कम्मि खंभम्मि मूलग्गमज्झभेएण अणेयत्तं दिस्सदि त्ति भणिदे ण तत्थ एयत्तं मोत्तूण अणेयत्तस्स अणुवलंभादो। ण ताव थंभगयमणेयत्त, तत्थ एयत्तुवलंभादो। ण मूलगयमग्गगयं मज्झगयं वा, तत्थ वि एयत्तं मोत्तूण अणेयत्ताणुवलंभादो। ण तिण्णिमेगेगवत्थूणं समूहो अणेयत्तस्स आहारो, तव्वदिरेगेण तस्समूहाणुवलंभादो। तम्हा णत्थि बहुत्तं। =एकत्वसे अतिरिक्त वस्तु है भी नहीं, जिससे कि वह अनेकत्वका आधार हो सके। प्रश्न—एक खम्भेमें मूल अग्र व मध्यके भेदसे अनेकता देखी जाती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसमें एकत्वको छोड़कर अनेकत्व पाया नहीं जाता। कारण कि स्तम्भमें तो अनेकत्वकी सम्भावना है नहीं, क्योंकि उसमें एकता पायी जाती है। मूलगत, अग्रगत अथवा मध्यगत अनेकता भी सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें भी एकत्वको छोड़कर अनेकता नहीं पायी जाती। यदि कहा जाय कि तीन एक-एक वस्तुओंका समूह अनेकताका आधार है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे भिन्न उनका समूह पाया नहीं जाता। इस कारण इन नयोंकी अपेक्षा बहुत्व सम्भव नहीं है। (स्तम्भादि स्कन्धोंका ज्ञान भ्रान्त है। वास्तवमें शुद्ध परमाणु ही सत् है (दे० शीर्षक न. ४/२)।

क. पा १/१३-१४/§ १९३/२३०/४ ते च परमाणवो निरवयवा' ऊर्ध्वाधोमध्यभागाद्यवयवेषु सत्सु अनवस्थापत्ते', परमाणोर्वापरमाणुत्वप्रसङ्गाच्च। =(इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें सजातीय और विजातीय उपाधियोंसे रहित) वे परमाणु निरवयव हैं, क्योंकि उनके ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग आदि अवयवोंके माननेपर अनवस्था दोषकी आपत्ति प्राप्त होती है, और परमाणुको अपरमाणुपनेका प्रसंग प्राप्त होता है। (और भी दे० नय/IV/३/७ में स. म.)।

३. पलालदाह सम्भव नहीं

रा. वा./१/३३/७/९७/२९ न पलालादिदाहाभाव'..... यत्पलालं तद्दहतीति चेद्, न, सावशेषात्। ...अवयवानेकत्वे यद्यवयवदाहात् सर्वत्र दाहोऽवयवान्तरादाहात् ननु सर्वदाहाभाव। अथ दाहः सर्वत्र कस्मान्नादाह। अतो न दाह। एवं पानभोजनादिव्यवहाराभावः। = इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता। जो पलाल है वह जलता है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि, बहुत पलाल बिना जला भी शेष है। यदि अनेक अवयव होनेसे कुछ अवयवोंमें दाहकी अपेक्षा लेकर सर्वत्र दाह माना जाता है, तो कुछ अवयवोंमें अदाहकी अपेक्षा लेकर सर्वत्र अदाह क्यों नहीं माना जायेगा? अतः पान-भोजनादि व्यवहारका अभाव है।

ध. ९/४,१,४५/१७५/९ न पलालावयवी दह्यते, तस्यासत्त्वात्। नावयवा दह्यन्ते, निरवयवत्वतस्तेषामप्यसत्त्वात्। =पलाल अवयवीका दाह नहीं होता, क्योंकि, अवयवीकी (इस नयमें) सत्ता ही नहीं है। न

अवयव जलते हैं, क्योंकि स्वयं निरवयव होनेसे उनका भी असत्त्व है।

४. कुम्भकार संज्ञा नहीं हो सकती

क. पा १/१३-१४/§१८६/२२५/१ न कुम्भकारोऽस्ति। तद्यथा—न शिवकादिकरणेन तस्य स व्यपदेशः, शिवकादिषु कुम्भभावानुपलम्भात्। न कुम्भं करोति; स्वावयवेभ्य एव तन्निष्पत्त्युपलम्भात्। न बहुभ्य एक. घटः उत्पद्यते; तत्र यौगपद्येन भूयो धर्माणा सत्त्वविरोधात्। अविरोधे वा न तदेकं कार्यम्; विरुद्धधर्माध्यासत प्राप्तानेकरूपत्वात्। न चैकेन कृतकार्य एव शेषसहकारिकारणानि व्याप्रियन्ते; तद्व्यापारवैफल्यप्रसङ्गात्। न चान्यत्र व्याप्रियन्ते; कार्यबहुत्वप्रसङ्गात्। न चैतदपि एकस्य घटस्य बहुत्वाभावात्। =इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें कुम्भकार संज्ञा भी नहीं बन सकती है। वह इस प्रकार कि—शिवकादि पर्यायोंको करनेसे उसे कुम्भकार कह नहीं सकते, क्योंकि शिवकादिमें कुम्भपना पाया नहीं जाता और कुम्भको वह बनाता नहीं है; क्योंकि, अपने शिवकादि अवयवोंसे ही उसकी उत्पत्ति होती है। अनेक कारणोंसे उसकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि घटमें युगपत् अनेक धर्मोंका अस्तित्व माननेमें विरोध आता है। उसमें अनेक धर्मोका यदि अविरोध माना जायेगा तो वह घट एक कार्य नहीं रह जायेगा, बल्कि विरुद्ध अनेक धर्मोंका आधार होनेसे अनेक रूप हो जायेगा। यदि कहा जाय कि एक उपादान कारणसे उत्पन्न होनेवाले उस घटमें अन्य अनेको सहकारी कारण भी सहायता करते है, तो उनके व्यापारकी विफलता प्राप्त होती है। यदि कहा जाये कि [उसी घटमें वे सहकारीकारण उपादानके कार्यसे भिन्न ही किसी अन्य कार्यको करते है, तो एक घटमें कार्य बहुत्वका प्रसग आता है, और ऐसा माना नही जा सकता, क्योंकि एक घट अनेक कार्यरूप नहीं हो सकता। (रा. वा./१/३३/७/९७/१२); (ध. ६/४,१,४५/१७३/७)।

५. कालकी अपेक्षा विषयकी एकत्वता

१. केवल वर्तमान क्षणमात्र ही वस्तु है

क. पा १/१३-१४/§१८१/२१७/१ परि भेदं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदं एति गच्छतीति पर्याय., स पर्याय' अर्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिक। सादृश्यलक्षणसामान्येन भिन्नमभिन्नं च द्रव्यार्थिकाशेपविषयं ऋजुसूत्रवचनविच्छेदेन पारयन् पर्यायार्थिक इत्यवगन्तव्य.। अत्रोपयोगिन्यौ गाथे—'मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुद्दवयणविच्छेदो। तस्स उ सद्दादीया साहपसाहा सुहुमभेया।८८। ='परि' का अर्थ भेद है। ऋजुसूत्रके वचनके विच्छेदरूप वर्तमान समयमात्र (दे० नय/III/१/२) कालको जो प्राप्त होती है, वह पर्याय है। वह पर्याय ही जिस नयका प्रयोजन है सो पर्यायार्थिकनय है। सादृश्यलक्षण सामान्यसे भिन्न और अभिन्न जो द्रव्यार्थिकनयका समस्त विषय है (दे० नय/IV/१/२) ऋजुसूत्रवचनके विच्छेदरूप कालके द्वारा उसका विभाग करनेवाला पर्यायार्थिकनय है, ऐसा उक्त कथनका तात्पर्य है। इस विषयमें यह उपयोगी गाथा है—ऋजुसूत्र वचन अर्थात् वचनका विच्छेद जिस कालमें होता है वह काल पर्यायार्थिकनयका मूल आधार है, और उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेदरूप शब्दादि नय उसी ऋजुसूत्रकी शाखा उपशाखा है।८८।

दे० नय/III/५/१/२ (अतीत व अनागत कालको छोडकर जो केवल वर्तमानको ग्रहण करे सो ऋजुसूत्र अर्थात् पर्यायार्थिक नय है।)

दे० नय/III/५/७ (सूक्ष्म व स्थूल ऋजुसूत्रकी अपेक्षा वह काल भी दो प्रकारका है। सूक्ष्म एक समय मात्र है और स्थूल अन्तर्मुहूर्त या संख्यात वर्ष।)

रा. वा./१/३३/१/९५/६ पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम् अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्।' 'पर्यायोऽर्थ. प्रयोजनमस्य वाग्विज्ञानव्यावृत्तिनिबन्धनव्यवहारप्रसिद्धेरिति। =वर्तमान पर्याय ही अर्थ या कार्य है, द्रव्य नहीं, क्योंकि अतीत विनष्ट हो जानेके कारण और अनागत अभी उत्पन्न न होनेके कारण (खरविषाण की तरह (म. म) उनमें किसी प्रकारका भी व्यवहार सम्भव नहीं। [तथा अर्थ क्रियाशून्य होनेके कारण वे अवस्तुरूप हैं (न. म.)] वचन व ज्ञानके व्यवहारकी प्रसिद्धिके अर्थ वह पर्याय ही नयका प्रयोजन है।

२. क्षणस्थायी अर्थ ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है

ध.१/१,१,१/गा. ८/१३ उप्पज्जंति वियेति य भावा णियमेण पज्जवणयस्स।८। =पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। (ध.४/१,५,४/गा. २९/३३७), (ध. ६/४, १,४९/गा. ९४/२४४), (क. पा. १/१३-१४/गा. ९५/§२०४/२४८), (प.का./मू./११), (पं. ध./पू./२४७)।

दे० आगे नय/IV/३/७—(पदार्थका जन्म ही उसके नाशमें हेतु है।)

क. पा १/१३-१४/§१९०/गा. ९१/२२८ प्रत्येकं जायते चित्तं जातं जातं प्रणश्यति। नष्टं नावर्तते भूयो जायते च नवं नवम्।९१। =प्रत्येक चित्त (ज्ञान) उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त हो जाता है। तथा जो नष्ट हो जाता है, वह पुन' उत्पन्न नहीं होता, किन्तु प्रति समय नया नया चित्त ही उत्पन्न होता है। (ध.६/१, ९-९,५/४२०/५)।

रा. वा/१/३३/१/९५/१ पर्याय एवास्ति इति मतिरस्य जन्मादिभावविकारमात्रमेव भवन, न ततोऽन्यद् द्रव्यमस्ति तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धिरिति पर्यायास्तिक.। =जन्म आदि भावविकार मात्रका होना ही पर्याय है। उस पर्यायका ही अस्तित्व है, उससे अतिरिक्त द्रव्य कुछ नही है, क्योंकि उस पर्यायसे पृथक् उसकी उपलब्धि नहीं होती है। ऐसी जिसकी मान्यता है, सो पर्यायास्तिक नय है।

६. काल एकत्व विषयक उदाहरण

रा. वा /१/३३/७/पंक्ति—कषायो भैषज्यम् इत्यत्र च सञ्जातरस' कषायो भैषज्यं न प्राथमिककषायोऽल्पोऽनभिव्यक्तरसत्वादस्य विषय। (१)। "..." तथा प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थ', यदैव मिमीते. अतीतानागतधान्यमानासंभवात्।(११) "' " स्थितप्रश्ने च 'कुतोऽद्यागच्छसि' इति। 'न कुतश्चित्' इत्यर्थं मन्यते, तत्कालक्रियापरिणामाभावात्। (१४)। =१. 'कषायो भैषज्यम्' में वर्तमानकालीन वह कषाय भैषज हो सकती है जिसमें रसका परिपाक हुआ है, न कि प्राथमिक अल्प रसवाला कच्चा कषाय। २. जिस समय प्रस्थसे धान्य आदि मापा जाता है उसी समय उसे प्रस्थ कह सकते हैं, क्योंकि वर्तमानमें अतीत और अनागतवाले धान्यका माप नहीं होता है। (ध ६/४,१,४५/१८०/५). (क पा १/१३-१४/§१८६/२२५/८) ३ जिस समय जो बैठा है उससे यदि पूछा जाय कि आप अब कहाँसे आ रहे हैं. तो वह यही कहेगा कि 'कहींसे भी नहीं आ रहा हूँ' क्योंकि, उस समय आगमन क्रिया नहीं हो रही है। (ध. ६/४,१,४५/१७४/१), (क. पा. १/१३-१४/§१८७/२२५/७)

रा. वा./१/३३/७/९८/७ न शुक्ल कृष्णीभवति, उभयोर्भिन्नकालावस्थत्वात्, प्रत्युत्पन्नविषये निवृत्तपर्यायानभिसम्बन्धात्। =४. ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिसे सफेद चीज काली नहीं बन सकती, क्योंकि दोनोंका समय भिन्न-भिन्न है। वर्तमानके साथ अतीतका कोई सम्बन्ध नहीं है। (ध. ६/४,१,४५/१७६/३). (क. पा. १/१३-१४/§१९१/२३०/६)

३. कोई किसीके समान नहीं है

क. पा./१/१३-१४/§१९३/२३०/३ नास्य नयस्य समानमस्ति; सर्वथा द्वयो' समानत्वे एकत्वापत्ते'। न कथंचित्समानतापि; विरोधात्। =इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें कोई किसीके समान नहीं है, क्योंकि दोको सर्वथा समान मान लेनेपर, उन दोनोमें एकत्वकी आपत्ति प्राप्त होती है। कथंचित् समानता भी नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है।

४. ग्राह्यग्राहकभाव सम्भव नहीं

क.पा /१/१३-१४/§१९५/२३०/८ नास्य नयस्य ग्राह्यग्राहकभावोऽप्यस्ति। तद्यथा—नासवद्धोऽर्थो गृह्यते; अव्यवस्थापत्ते । न सवद्ध, तस्यातीतत्वात्, चक्षुषा व्यभिचाराच्च। न समानो गृह्यते, तस्यासत्त्वात् मनस्कारेण व्यभिचारात्। =इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमें ग्राह्यग्राहक भाव भी नहीं बनता। वह ऐसे कि—असम्बद्ध अर्थके ग्रहण माननेमें अव्यवस्थाकी आपत्ति और सम्बद्धका ग्रहण माननेमें विरोध आता है, क्योंकि वह पदार्थ ग्रहणकालमें रहता ही नहीं है, तथा चक्षु इन्द्रियके साथ व्यभिचार भी आता है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय अपनेको नहीं जान सकती। समान अर्थका भी ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि एक तो समान पदार्थ है ही नहीं (दे० ऊपर) और दूसरे ऐसा माननेसे मनस्कारके साथ व्यभिचार आता है अर्थात् समान होते हुए भी पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञानके द्वारा गृहीत नहीं होता है।

५. वाच्यवाचकभाव सम्भव नहीं

क. पा /१/१३-१४/§१९६/२३१/३ नास्य शुद्धस्य (नयस्य) वाच्यवाचकभावोऽस्ति। तद्यथा—न संवद्धार्थ' शब्दवाच्य, तस्यातीतत्वात्। नासवद्ध अव्यवस्थापत्ते। नार्थेन शब्द उत्पाद्यते; ताल्वादिभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्। न शब्दादर्थ उत्पद्यते, शब्दोत्पत्ते' प्रागपि अर्थसत्त्वोपलम्भात्। न शब्दार्थयोस्तादात्म्यलक्षण' प्रतिबन्ध -करणाधिकरणभेदेन प्रतिपन्नभेदयोरेकत्वविरोधात्, क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणप्रसङ्गाच्च। न विकल्पः शब्दवाच्य' अत्रापि बाह्यार्थोक्तदोषप्रसङ्गात्। ततो न वाच्यवाचकभाव इति। =१ इस ऋजुसूत्र नयकी दृष्टिमे वाच्यवाचक भाव भी नहीं होता। वह ऐसे कि—शब्दप्रयोग कालमें उसके वाच्यभूत अर्थका अभाव हो जानेसे सम्बद्ध अर्थ उसका वाच्य नहीं हो सकता। असम्बद्ध अर्थ भी वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे अव्यवस्थादोषकी आपत्ति आती है। २. अर्थसे शब्दकी उत्पत्ति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तालु आदिसे उसकी उत्पत्ति पायी जाती है, तथा उसी प्रकार शब्दसे भी अर्थकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि शब्दोत्पत्तिसे पहिले भी अर्थका सद्भाव पाया जाता है। ३ शब्द व अर्थमे तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि दोनोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ तथा दोनोका आधारभूत प्रदेश या क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। अथवा ऐसा माननेपर 'छुरा' और 'मोदक' शब्दोको उच्चारण करनेसे मुख कटनेका तथा पूर्ण होनेका प्रसग आता है। ४. अर्थकी भाँति विकल्प अर्थात् ज्ञान भी शब्दका वाच्य नहीं है, क्योंकि यहाँ भी ऊपर दिये गये सर्व दोषोका प्रसग आता है। अत वाच्यवाचक भाव नहीं है।

दे० नय/III/८/४-६ (वाक्य, पदसमास व वर्णसमास तक सम्भव नहीं)।

दे० नय/I/४/५ (वाच्यवाचक भावका अभाव है तो यहाँ शब्दव्यवहार कैसे सम्भव है)।

आगम/४/४ उपरोक्त सभी तर्कोंको पूर्व पक्षकी कोटिमें रखकर उत्तर पक्षमें कथंचित् वाच्यवाचक भाव स्वीकार किया गया है।

६. वध्यवन्धक आदि अन्य भी कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं

क पा.१/१३-१४/§१९१/२२८/३ ततोऽस्य नयस्य न बन्ध्यबन्धक-वध्यघातक-दाह्यदाहक-ससारादय' सन्ति। =इसलिए इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमे बन्ध्यबन्धकभाव, बध्यघातकभाव, दाह्यदाहकभाव और संसारादि कुछ भी नही बन सकते है।

९. कारण कार्यभाव संभव नहीं

१. कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है

रा.वा/१/१/२४/८/३२ नेमौ ज्ञानदर्शनशब्दौ करणसाधनौ। किं तर्हि। कर्तृसाधनौ। तथा चारित्रशब्दोऽपि न कर्मसाधन'। किं तर्हि। कर्तृसाधन'। कथम्। एवंभूतनयवशात्। =एवभूत नयकी दृष्टिसे ज्ञान, दर्शन व चारित्र ये तीनों (तथा उपलक्षणसे अन्य सभी) शब्द कर्म साधन नहीं होते, कर्तासाधन ही होते है।

क.पा.१/१३-१४/§२८४/३१९/३ कर्तृसाधनः कषायः। एदं णेगमसगहववहारउजुसुदाण, तत्थ कज्जकरणभावसंभवादो। तिण्हं सद्दणयाणं ण केण वि कसाओ, तत्थ कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो। ='कषाय शब्द कर्तृसाधन है', ऐसी बात नैगम (अशुद्ध) संग्रह, व्यवहार व (स्थूल) ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा समझनी चाहिए, क्योंकि, इन नयोंमें कार्य कारणभाव सम्भव है। परन्तु (सूक्ष्म ऋजुसूत्र) शब्द, समभिरूढ व एवभूत इन तीनो शब्द नयोकी अपेक्षा कषाय किसी भी साधनसे उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि इन नयोकी दृष्टिमें कारण के बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है।

ध. १२/४,२,८,१५/२९२/६ तिण्णं सद्दणयाणं णाणावरणीयपोग्गलक्खदोदयजणिदण्णाण वेयणा। ण सा जोगकसाएहितो उप्पज्जदे णिस्सत्तीदो सत्तिविसेसस्स उप्पत्तिविरोहादो। णोदयगदकम्मदव्वक्खंधादो, पज्जयवदिरित्तदव्वाभावादो। =तीनों शब्दनयोकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय सम्बन्धी पौद्गलिक स्कन्धोके उदयसे उत्पन्न अज्ञानको ज्ञानावरणीय वेदना कहा जाता है। परन्तु वह (ज्ञानावरणीय वेदना) योग व कषायसे उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि जिसमें जो शक्ति नहीं है, उससे उस शक्ति विशेषकी उत्पत्ति माननेमे विरोध आता है। तथा वह उदयगत कर्मस्कन्धसे भी उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि, (इन नयोमे) पर्यायोसे भिन्न द्रव्यका अभाव है।

२. विनाश निर्हेतुक होता है

क. पा. १/१३-१४/§१९०/२२६/८ अस्य नयस्य निर्हेतुको विनाश'। तद्यथा—न तावत्प्रसज्यरूप' परत उत्पद्यते, कारकप्रतिषेधे व्यापृतात्परस्माद् घटाभावविरोधात्। न पर्युदासो व्यतिरिक्त उत्पद्यते; ततो व्यतिरिक्तघटोत्पत्तावर्पितघटस्य विनाशविरोधात्। नाव्यतिरिक्त'; उत्पन्नस्योत्पत्तिविरोधात्। ततो निर्हेतुको विनाश इति सिद्धम्। =इस ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें विनाश निर्हेतुक है। वह इस प्रकार कि—प्रसज्यरूप अभाव तो परसे उत्पन्न हो नहीं सकता, क्योंकि, तहाँ क्रियाके साथ निषेध वाचक 'नञ्'का सम्बन्ध होता है। अत. क्रियाका निषेध करनेवाले उसके द्वारा घटका अभाव माननेमे विरोध आता है। अर्थात् जब वह क्रियाका ही निषेध करता रहेगा तो विनाशरूप अभावका भी कर्ता न हो सकेगा। पर्युदासरूप अभाव भी परसे उत्पन्न नहीं होता है। पर्युदाससे व्यतिरिक्त घटकी उत्पत्ति माननेपर विवक्षित घटके विनाशके साथ विरोध आता है। घटसे अभिन्न पर्युदासकी उत्पत्ति माननेपर दोनो की उत्पत्ति एकरूप हो जाती है, तब उसकी घटसे उत्पत्ति हुई नहीं कही जा सकती। और घट तो उस अभावसे पहिले ही उत्पन्न हो चुका है, अत. उत्पन्नकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। इसलिए विनाश निर्हेतुक है यह सिद्ध होता है। (ध.९/४,१,४५/१७५/२)।

स्वरूप माननेवाला सत्तानिरपेक्ष या सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक स्वभाव अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय है। ४ (व्याख्याकी अपेक्षा यह नं० ३)—अगुरुलघु आदि गुण स्वभावसे ही षट्गुण हानि वृद्धिरूप क्षणभंग अर्थात् एकसमयवर्ती पर्यायसे परिणत हो रहे है। तो भी सत् द्रव्यके अनन्तों गुण और पर्यायें परस्पर संक्रमण न करके अपरिणत अर्थात् अपने-अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। द्रव्यको इस प्रकारका ग्रहण करनेवाला नय सत्तासापेक्ष स्वभावनित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय है। ५. चराचर पर्याय परिणत ससारी जीवधारियोके समूहमें शुद्ध सिद्धपर्यायकी विवक्षासे कर्मोपाधिसे निरपेक्ष विभावनित्य शुद्धपर्यायार्थिक नय है। (यहाँ पर संसाररूप विभावमें यह नय नित्य शुद्ध सिद्धपर्यायको जाननेकी विवक्षा रखते हुए संसारी जीवोको भी सिद्ध सदृश बताता है। इसीको आ. प. में कर्मोपाधि निरपेक्षस्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहा गया है। ६. जो शुद्ध पर्यायकी विवक्षा न करके कर्मोपाधिसे उत्पन्न हुई नारकादि विभावपर्यायोंको जीवस्वरूप बताता है वह कर्मोपाधिसापेक्ष विभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है। (इसीको आ. प में कर्मोपाधिसापेक्षविभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहा गया है।) (आ. प./५): (न. च. वृ/२००-२०५) (न. च./श्रुत/ पृ. ६ पर उद्धृत श्लोक नं. १–६ तथा पृ. ४१/श्लोक ७–१२)।

V निश्चय व्यवहार नय

१. निश्चयनय निर्देश

१. निश्चयका लक्षण निश्चित व सत्यार्थ ग्रहण

नि॰सा./मू./१५९ केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण।= निश्चयसे केवलज्ञानी आत्माको देखता है।

श्लो वा॰/१/७/२८/५८५/१ निश्चनय एवंभूत.।=निश्चय नय एवंभूत है।

स. सा./ता. वृ./३४/६६/२० ज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मन्तव्यं। =नियमसे, निश्चयसे ज्ञानको ही प्रत्याख्यान मानना चाहिए।

प्र. सा./ ता. वृ./६३/से पहिले प्रक्षेपक गाथा नं १/११८/३० परमार्थस्य विशेषेण सशयादिरहितत्वेन निश्चय। =परमार्थके विशेषणसे संशयादि रहित निश्चय अर्थका ग्रहण किया गया है।

द्र.स /टी./४१/१६४/११श्रद्धान रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धि सम्यग्दर्शनम्।=श्रद्धान यानी रुचि या निश्चय अर्थात् 'तत्त्वका स्वरूप यह ही है, ऐसे ही है' ऐसी निश्चयबुद्धि सो सम्यग्दर्शन है।

स. सा./पं. जयचन्द/२४१ जहाँ निर्बाध हेतुसे सिद्धि होय वही निश्चय है।

मो मा. प्र /७/३६६/२ साँचा निरूपण सो निश्चय।

मो. मा. प्र /९/४८९/१६ सत्यार्थका नाम निश्चय है।

२. निश्चय नयका लक्षण अभेद व अनुपचार ग्रहण

१. लक्षण

आ. प./१० निश्चयनयोऽभेदविषयो। =निश्चय नयका विषय अभेद द्रव्य है। (न. च /श्रुत/ २५)।

आ. प./९. अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चय।= जो अभेद व अनुपचारसे वस्तुका निश्चय करता है वह निश्चय नय है। (न. च. वृ./२६२) (न. च./श्रुत/पृ ३१) (पं. ध./पू./६१४)।

प. ध /पू./६६३ अपि निश्चयस्य नियत हेतु' सामान्यमिह वस्तु।= सामान्य वस्तु ही निश्चयनयका नियत हेतु है।

औरु भी दे. नय/*IV*/१/२-५, *IV*/२/३,

२. उदाहरण

दे. मोक्षमार्ग/३/१ दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीन भेद व्यवहारसे ही कहे जाते है निश्चय से तीनों एक आत्मा ही है।

स. सा./आ./१६/क. १८ परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैक्क'। सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचक'।१८। = परमार्थसे देखनेपर ज्ञायक ज्योति मात्र आत्मा एकस्वरूप है, क्योंकि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे सभी अन्य द्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे हुए विभावोंको दूर करने रूप स्वभाव है। अत' यह अमेचक है अर्थात् एकाकार है।

पं. ध./पू./५९९ व्यवहार' स यथा स्यात्सद् द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा। नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः।='सत् द्रव्य है' या 'ज्ञानवान् जीव है' ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है। और 'द्रव्य या जीव सत् या ज्ञान मात्र ही नहीं है' ऐसा निश्चयनयका पक्ष है।

और भी दे. नय/*IV*/५/२-द्रव्य क्षेत्र काल व भाव चारों अपेक्षासे अभेद।

३. निश्चयनयका लक्षण स्वाश्रय कथन

१. लक्षण

स सा /आ /२७२ आत्माश्रितो निश्चयनयः। =निश्चय नय आत्माके आश्रित है। (नि. सा./ता. वृ /१५९)।

त. अनु /५९ अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नय'। =निश्चयनयमें कर्ता कर्म आदि भाव एक दूसरेसे भिन्न नहीं होते। (अन. ध./ १/१०२/१०८)।

२. उदाहरण

रा. वा./१/७/३८/२२ पारिणामिकभावसाधनो निश्चयत'। =निश्चयसे जीवकी सिद्धि पारिणामिकभावसे होती है।

स. सा/आ./५६ निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविक भावमवलम्ब्योत्प्लवमान' परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति।=निश्चयनय द्रव्यके आश्रित होनेसे केवल एक जीवके स्वाभाविक भावको अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, वह सब परभावोंको परका बताकर उनका निषेध करता है।

प्र सा /त. प्र /१८९ रागादिपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपदाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनय। =शुद्धद्रव्यका निरूपण करनेवाले निश्चयनयकी अपेक्षा आत्मा अपने रागादि परिणामोका ही कर्ता उपदाता या हाता (ग्रहण व त्याग करनेवाला) है। (द्र. स /मू. व टी./८)।

प्र सा /त. प्र /परि /नय नं ४५ निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति।=आत्मद्रव्य निश्चयनयसे बन्ध व मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है। अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बन्धमोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्व गुण रूप परिणत परमाणुकी भाँति।

नि. सा./ता. वृ./९ निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीव। =निश्चयनयसे भावप्राण धारण करनेके कारण जीव है। (द्र सं./टी /३/११/८)।

द्र. स./टी /१४/५७/९ स्वकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति।=निश्चयनयसे सिद्ध भगवान् स्वकीय शुद्ध प्रदेशोंमें ही रहते है।

द्र स /टी./८/२२/२ किन्तु शुद्धाशुद्धभावाना परिणममानानामेव कर्तृत्व ज्ञातव्यम्, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति।=निश्चयनयसे जीवको अपने शुद्ध या अशुद्ध भावरूप परिणामोका ही कर्तापना जानना चाहिए, हस्तादि व्यापाररूप कार्योंका नहीं।

प का /ता. वृ॰/१/४/२१ शुद्धनिश्चयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभाव इति।=शुद्ध निश्चयनयसे अपनेमें ही आराध्य आराधक भाव है।

४. निश्चयनयके भेद—शुद्ध व अशुद्ध

आ. प/१० तत्र निश्चयो द्विविध' शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च ।=निश्चयनय दो प्रकारका है—शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय।

५. शुद्धनिश्चयनयके लक्षण व उदाहरण

१. परमभावग्राहीकी अपेक्षा

नोट—(परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय ही परम शुद्ध निश्चयनय है। अत. दे० नय/IV/२/६/१०)

नि सा./मू./४२ चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोयसोका य। कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो सति ।४२। =(शुद्ध निश्चयनयसे - ता. वृ. टीका) जीवको चार गतिके भवोंमें परिभ्रमण, जाति, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणा स्थान नहीं है। (स. सा./मू /५०-५५), (वा अ /३७) (प. प्र /मू./१/१६-२१,६८)

स.सा /मू /५६ ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया। गुण ठाणंता भावा ण दु केइ णिच्छयणयस्स ।५६। =ये जो (पहिले गाथा नं० ५०-५५ में) वर्णको आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव कहे गये हैं वे व्यवहार नयसे ही जीवके होते है परन्तु (शुद्ध) निश्चयनयसे तो इनमेसे कोई भी जीवके नही है।

स. सा /मू /६८ मोहणकम्मसुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा। ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ।६८।

स. सा /आ /६८ एव रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्म · संयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातं। =जो मोह कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेसे अचेतन कहे गये है, ऐसे गुणस्थान जीव कैसे हो सकते है। और इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म आदि आदि तथा संयमलब्धि स्थान ये सब १६ बातें पुद्गलकर्म जनित होनेसे नित्य अचेतन स्वरूप है और इसलिए पुद्गल है जीव नही, यह बात स्वत प्राप्त होती है। (द्र स /टी /१६/५३/३)

वा अनु /८२ णिच्छयणयेण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो। =निश्चयनयसे जीव सागार व अनगार दोनो धर्मोंसे भिन्न है।

प. प्र /मू./१/६५ बधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ। अप्पा किं पि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ।६५। =बन्धको या मोक्षको करनेवाला तो कर्म है। निश्चयसे आत्मा तो कुछ भी नही करता। (प. ध /पु /४५६)

न. च. वृ /११५ सुद्धो जीवसहावो जो रहिओ दव्वभावकम्मेहिं। सो सुद्धणिच्छयादो समासिओ सुद्धणाणीहि ।११५। =शुद्धनिश्चय नयसे जीवस्वभाव द्रव्य व भावकर्मोंसे रहित कहा गया है।

नि. सा./ता. वृ /१५९ शुद्धनिश्चयत' स भगवान् त्रिकालनिरूपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्या निजकारणपरमात्मान स्वय कार्यपरमात्मादि जानाति पश्यति च। =शुद्ध निश्चयनयसे भगवान् त्रिकाल निरुपाधि निरवधि नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहज दर्शन द्वारा निज कारणपरमात्माको स्वय कार्यपरमात्मा होनेपर भी जानते और देखते है।

द्र. सं /टी /४८/२०६/४ साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन स्त्रीपुरुषसयोगरहितपुत्रस्येव सुधाहरिद्रासयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तर पृच्छाम इति। =साक्षात् शुद्ध निश्चयनयसे तो, जैसे स्त्री व पुरुषसयोगके बिना पुत्रकी तथा चूना व हल्दीके सयोग बिना लालरगकी उत्पत्ति नही होती, उसी प्रकार रागद्वेषकी उत्पत्ति ही नही होती, फिर इस प्रश्नका उत्तर ही क्या? (स. सा /ता. वृ /१११/१७१/२३)

द्र स./टी /५७/२३५/७ में उद्धृत मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बन्धो मोचनं कथम्। अवन्धे मोचन नैव मुञ्चेरर्थो निरर्थक। बन्धश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति, तथा बन्धपूर्वकमोक्षोऽपि। =जिसके बन्ध होता है उसको ही मोक्ष होती है। शुद्ध निश्चयनय जीवको बन्ध ही नहीं है, फिर उसको मोक्ष कैसा। अतः इस नयमें मुञ्च धातुका प्रयोग ही निरर्थक है। शुद्ध निश्चय नयसे जीवके बन्ध ही नहीं है, तथा बन्ध पूर्वक होनेसे मोक्ष भी नहीं है। (प. प्र./टी./१/६८/६९/१)

द्र. सं./टी./५७/२३६/८ यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्ष स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न। =जो शुद्धद्रव्यकी शक्तिरूप शुद्धपारिणामिक भावरूप परम निश्चय मोक्ष है, वह तो जीवमें पहिले ही विद्यमान है, अब प्रगट होगी, ऐसा नहीं है।

पं. का./ता. वृ./२७/६०/१३ आत्मा हि शुद्धनिश्चयेन सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्धप्राणैर्जीवति··· शुद्धज्ञानचेतनया ··· युक्तत्वाच्चेतयिता···। =शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा सत्ता, चैतन्य व ज्ञानादि शुद्ध प्राणोंसे जीता है और शुद्ध ज्ञानचेतनासे युक्त होनेके कारण चेतयिता है (नि. सा./ता. वृ /९); (द्र. सं./टी./३/११)

और भी दे० नय/IV/२/३ (शुद्धद्रव्यार्थिकनय द्रव्यक्षेत्रादि चारों अपेक्षासे तत्त्वको ग्रहण करता है।

२. क्षायिकभावग्राहीकी अपेक्षा

आ. प./१० निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयक शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति। (स्फटिकवत्) =निरुपाधिक गुण व गुणीमें अभेद दर्शानेवाला शुद्ध निश्चयनय है, जैसे केवलज्ञानादि ही जीव है अर्थात् जीव का स्वभावभूत लक्षण है।

(न च./श्रुत/२५); (प्र सा /ता. वृ./परि./३६८/१२), (पं. का./ता.वृ./६१/११३/१२); (द्र. सं./टी /६/१८/८)

प. का /ता. वृ./२७/६०/१७ (शुद्ध) निश्चयेन केवलज्ञानदर्शनरूपशुद्धोपयोगेन···युक्तत्वादुपयोगविशेषता; ''मोक्षमोक्षकारणरूपशुद्धपरिणामपरिणमनसमर्थत्वात्···प्रभुर्भवति, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां परिणामानां···कर्तृत्वात्कर्ता भवति;···शुद्धात्मोत्थवीतरागपरमानन्दरूपसुखस्य भोक्तृत्वात् भोक्ता भवति। =यह आत्मा शुद्ध निश्चय नयसे केवलज्ञान व केवलदर्शनरूप शुद्धोपयोगसे युक्त होनेके कारण उपयोगविशेषतावाला है; मोक्ष व मोक्षके कारणरूप शुद्ध परिणामों द्वारा परिणमन करनेमें समर्थ होनेसे प्रभु है, शुद्ध भावोंका या शुद्ध भावोंको करता होनेसे कर्ता है और शुद्धात्मासे उत्पन्न वीतराग परम आनन्दको भोगता होनेसे भोक्ता है।

द्र.स./टी /६/२३/६ शुद्धनिश्चयनयेन परमात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणं सुखामृत भुक्त इति। =शुद्धनिश्चयनयसे परमात्मस्वभावके सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे उत्पन्न अविनाशी आनन्दरूप लक्षणका धारक जो सुखामृत है, उसको (आत्मा) भोगता है।

६. एकदेश शुद्धनिश्चय नयका लक्षण व उदाहरण

नोट—(एकदेश शुद्धभावको जीवका स्वरूप कहना एकदेश शुद्ध निश्चयनय है। यथा—)

द्र सं/टी./४८/२०५ अत्राह शिष्य'—रागद्वेषादय किं कर्मजनिता किं जीवजनिता इति। तत्रोत्तरं स्त्रीपुरुषसयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभयसयोगजनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। =प्रश्न—रागद्वेषादि भाव कर्मोंसे उत्पन्न होते है या जीवसे? उत्तर—स्त्री व पुरुष इन दोनोंके सयोगसे उत्पन्न हुए पुत्रके समान और चूना तथा हल्दी इन दोनोंके मेलसे उत्पन्न हुए लालरंगके समान ये रागद्वेषादि कषाय जीव और कर्म इन दोनोंके सयोगसे उत्पन्न होते है। जब नयकी विवक्षा होती है तो विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनयसे ये कषाय कर्मसे उत्पन्न हुए कहे जाते है। (अशुद्धनिश्चयसे

जीवजनित कहे जाते है और साक्षात् शुद्धनिश्चय नयसे ये है ही नही, तब किसके कहे ?

द्र. स /टी./५७/२३६/७ विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन पूर्वं मोक्षमार्गो व्याख्यातस्तथा पर्यायरूपो मोक्षोऽपि। न च शुद्धनिश्चयेनेति। =पहिले जो मोक्षमार्ग या पर्यायमोक्ष कहा गया है, वह विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनयसे कहा गया है, शुद्ध निश्चयनयसे नही (क्योंकि उसमें तो मोक्ष या मोक्षमार्गका विकल्प ही नहीं है)

७. शुद्ध, एकदेश शुद्ध, व निश्चय सामान्यमें अन्तर व इनकी प्रयोग विधि

प. प्र./टी./६४/६५/१ सांसारिकं सुखदु खं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापि शुद्धनिश्चयेन कर्मजनितं भवति। =सासारिक सुख दुख यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयसे जीव जनित है, फिर भी शुद्ध निश्चयनयसे वे कर्मजनित है। (यहाँ एकदेश शुद्धको भी शुद्ध-निश्चयनय ही कह दिया है) ऐसा ही सर्वत्र यथा योग्य जानना चाहिए)

द्र. सं./टी /८/२१/११ शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावाना छद्मस्थावस्थाया भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्ता, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति। =शुभाशुभ मन वचन कायके व्यापारसे रहित जब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभावसे परिणमन करता है, तब अनन्वज्ञान अनन्तसुख आदि शुद्धभावोंका छद्मस्थ अवस्थामें ही भावना रूपसे, एकदेशशुद्ध-निश्चयनयकी अपेक्षा कर्ता होता है, परन्तु मुक्तावस्थामें उन्ही भावोंका कर्ता शुद्ध निश्चयनयसे होता है। (इस परसे एकदेश शुद्ध व शुद्ध इन दोनों निश्चय नयोंमें क्या अन्तर है यह जाना जा सकता है।)

द्र. सं./टी./५५/२२४/६ निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्न-त्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्य। निष्पन्नयोगनिश्चलपुरुषापेक्षया व्यवहार-रत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्य.। निष्पन्नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धो-पयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्य'। विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थ। ..'मा चिट्ठह मा जंपह '।=निश्चय शब्दसे—अभ्यास करनेवाले प्राथमिक, जघन्य पुरुषकी अपेक्षा तो व्यवहार रत्नत्रयके अनुकूल निश्चय ग्रहण करना चाहिए। निष्पन्न योगमें निश्चल पुरुषकी अपेक्षा अर्थात् मध्यम धर्मध्यानकी अपेक्षा व्यवहाररत्नत्रयके अनुकूल निश्चय करना चाहिए। निष्पन्नयोग अर्थात् उत्कृष्ट धर्मध्यानी पुरुषकी अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय ग्रहण करना चाहिए। विशेष अर्थात् शुद्ध निश्चय आगे कहते हैं।—मन वचन कायसे कुछ भी व्यापार न करो केवल आत्मामें रत हो जाओ। (यह कथन शुक्लध्यानीकी अपेक्षा समझना)।

८. अशुद्ध निश्चयनय का लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० सोपाधिकविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा मतिज्ञानादिजीव इति। =सोपाधिक गुण व गुणीमें अभेद दर्शानेवाला अशुद्धनिश्चय-नय है। जैसे—मतिज्ञानादि ही जीव अर्थात् उसके स्वभावभूत लक्षण है। (न. च /श्रुत./पृ. २१) (प. प्र /टी./७/१३/३)।

न च. वृ /११४ ते चेव भावरूवा जीवे भूदा खओवसमदो य। ते हुंति भावपाणा अशुद्धणिच्छयणयेण णायव्वा।११४। =जीवमें कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले जितने भाव है, वे जीवके भावप्राण होते है, ऐसा अशुद्धनिश्चयनयसे जानना चाहिए। (प. का./ता. वृ./२७/६०/१४) (द्र. सं./टी /३/११/७);

नि. सा./ता. वृ./१८ अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादिभाव-कर्मणां कर्ता भोक्ता च। =अशुद्ध निश्चयनयसे जीव सकल मोह, राग, द्वेषादि रूप भावकर्मोंका कर्ता है तथा (उनके फलस्वरूप उत्पन्न हर्ष विषादादिरूप सुख दु खका भोक्ता है। (द्र. स./ टी /८/२१/६; तथा ६/२३/५)।

प. प्र /टी /६४/६५/१ सांसारिकसुखदु'ख यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीव-जनितं। =अशुद्ध निश्चयनयसे सासारिक सुख दुख जीव जनित हैं।

प्र. सा./ता. वृ./परि./३६८/१३ अशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्स-मस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्। =अशुद्ध निश्चयनयसे सोपाधिक स्फटिककी भाँति समस्तरागादि विकल्पोंकी उपाधिसे सहित है। (द्र. सं/टी./१६/५३/३); (अन. ध./१/१०३/१०८)

प्र. सा /ता. वृ./८/१०/१३ अशुद्धात्मा तु रागादिना अशुद्धनिश्चयेना-शुद्धोपादानकारणं भवति। =अशुद्ध निश्चय नयसे अशुद्ध आत्मा रागादिकका अशुद्ध उपादान कारण होता है।

प. का /ता. वृ /६१/११३/१३ कर्मकर्तृत्वप्रस्तावादशुद्धनिश्चयेन रागाद-योऽपि स्वभावा भण्यन्ते। =कर्मोंका कर्तापना होनेके कारण अशुद्ध निश्चयनयसे रागादिक भी जीवके स्वभाव कहे जाते है।

द्र. सं./टी./८/२१/६ अशुद्धनिश्चयस्यार्थ' कथ्यते—कर्मोपाधिसमुत्पन्न-त्वादशुद्ध, तत्काले तप्ताय.पिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चय। इत्युभय-मेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते। ='अशुद्ध निश्चय' इसका अर्थ कहते है—कर्मोपाधिसे उत्पन्न होनेसे अशुद्ध कहलाता है और अपने कालमें (अर्थात् रागादिके कालमें जीव उनके साथ) अग्निमें तपे हुए लोहेके गोलेके समान तन्मय होनेसे निश्चय कहा जाता है। इस रीतिसे अशुद्ध और निश्चय इन दोनोको मिलाकर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है।

द्र सं./टी./४५/१९७/१ यच्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहार स पुनरशुद्ध-निश्चयेनेति। =जो अन्तरगमें रागादिका त्याग करना कहा जाता है, वह अशुद्ध निश्चयनयसे चारित्र है।

प. प्र./टी./१/१/६/६ भावकर्मदहनं पुनरशुद्धनिश्चयेन। =भावकर्मोंका दहन करना अशुद्ध निश्चय नयसे कहा जाता है।

प. प्र /टी /१/१/६/१०/५ केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्मरणरूपो भावनमस्कार' पुनरशुद्धनिश्चयेनेति। =भगवान्के केवलज्ञानादि अनन्तगुणोका स्मरण करना रूप जो भाव नमस्कार है वह भी अशुद्ध निश्चयनयसे कही जाती है।

२. निश्चयनयकी निर्विकल्पता

१. शुद्ध व अशुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिकके भेद है

आ. प./६ शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ। =शुद्ध और अशुद्ध ये दोनों निश्चयनय द्रव्यार्थिकनयके भेद है। (पं ध /पू /६६०)

२. निश्चयनय एक निर्विकल्प व वचनातीत है

पं. वि/१/१५७ शुद्धं वागतिवर्तितत्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं शुद्धा-देश इति प्रभेदजनकं शुद्धेतरं कल्पितम्। =शुद्धतत्त्व वचनके अगोचर है, इसके विपरीत अशुद्ध तत्त्व वचनके गोचर है। शुद्धतत्त्वको प्रगट करनेवाला शुद्धादेश अर्थात् शुद्धनिश्चयनय है और अशुद्ध व भेदको प्रगट करनेवाला अशुद्ध निश्चय नय है। (पं ध /पू./७४७) (पं. ध /उ./१३४)

पं. ध./पू./६२६ स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्य-क्त्वम्। अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थ।६२६। =स्वयं ही यथार्थ अर्थको विषय करनेवाला होनेसे निश्चय करके वह निश्चयनय सम्यक्त्व है, और निर्विकल्प व वचनागोचर होनेसे उसका वाच्यार्थ एक अनुभवगम्य ही होता है।

पं. ध./उ /१३४ एकः शुद्धनय सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पक। व्यवहार-नयोऽनेक' सद्वन्द्वः सविकल्पक'।१३४। =सम्पूर्ण शुद्ध अर्थात् निश्चय

नय एक निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प है, तथा व्यवहारनय अनेक सद्वन्द्व और सविकल्प है। (पं. ध./पू./६५७)

और भी देखो नय/IV/१/७ द्रव्यार्थिक नय अवक्तव्य व निर्विकल्प है।

३. निश्चयनयके भेद नहीं हो सकते

पं. ध./पू./६६१ इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते। स हि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञाज्ञावमानितो नियमात् ।६६१। =(शुद्ध और अशुद्धको) आदि लेकर निश्चयनयके भी बहुतसे भेद हैं, ऐसा जिसका मत है, वह निश्चय करके मिथ्यादृष्टि होनेसे नियमसे सर्वज्ञ की आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला है।

४. शुद्धनिश्चय ही वास्तवमें निश्चयनय है, अशुद्ध निश्चय तो व्यवहार है

स. सा./ता. वृ./५७/९७/१३ द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूत-व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः ।५७।

स.सा./ता.वृ./६८/१०८/११ अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्य कर्मा-पेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहार-नयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं। =द्रव्यकर्म-बन्धकी अपेक्षासे जो यह असद्भूत व्यवहार कहा जाता है उसकी अपेक्षा तारतम्यता दर्शानेके लिए ही रागादिकोंको अशुद्धनिश्चयनयका विषय बनाया गया है। वस्तुत तो शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार ही है। अथवा द्रव्य कर्मोंकी अपेक्षा रागादिक अभ्यन्तर हैं और इसलिए चेतनात्मक हैं, ऐसा मानकर भले उन्हें निश्चय संज्ञा दे दी गयी हो परन्तु शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा तो वह व्यवहार ही है। निश्चय व व्यवहारनयका विचार करते समय सर्वत्र यह व्याख्यान जानना चाहिए। (स सा./ता. वृ/११५/१७४/२१), (द्र. स./टी./४८/२०६/३)

प्र.सा/ता वृ/१८९/२५४/११ परम्परया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽ-प्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते निश्चयनयो न। =परम्परासे शुद्धात्मा-का साधक होनेके कारण (दे०/V/८/१ में प्र. सा./ता वृ./१८९) यह अशुद्धनय उपचारसे शुद्धनय कहा गया है परन्तु निश्चय नय नहीं कहा गया है।

दे० नय/V/४/८, ९ अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय वास्तवमे पर्यायार्थिक होनेके कारण व्यवहार नय है।

५. उदाहरण सहित व सविकल्प सभी नयें व्यवहार हैं

पं. ध/५९६, ६१५-६२१, ६४७ सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात्। व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ।५९६। अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोऽथ निश्चयो वदति। व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ।६१५। एव सदुदाहरणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति। लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ।६१६। अथवा चिदेव जीवो यदुदाहियतेऽप्यभेदबुद्धिमता। उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ।६१७। ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्ष। भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ।६१८। अपि चैवं प्रतिनियतं व्यवहारस्यावकाश एव यथा। सदनेकं च सदेकं जीवाश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ।६२०। न यत सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च। तत्तद्धर्मविशिष्टस्तत्तदानु-पचर्यते स यथा ।६२१। इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च। सर्वोऽपि नयो यावान् परसमय स च नयावलम्बी च ।६४७। =उदाहरण सहित विशेषण विशेष्यरूप जितना भी नय है वह सब 'व्यवहार' नामवाला पर्यायार्थिक नय है। परन्तु द्रव्यार्थिक नहीं ।५९६। प्रश्न—'सत् एक है' अथवा 'चित् ही जीव है' ऐसा कहनेवाले नय निश्चयनय कहे गये हैं और एक सत्‌को ही दो आदि भेदोंमें विभाग करनेवाला व्यवहार नय कहा गया है ।६१५। उत्तर—नहीं, क्योंकि, इस उदाहरणमें 'सत् एक' ऐसा कहनेमें 'सत्' लक्ष्य है और 'एक' उसका लक्षण है। और यह लक्ष्यलक्षण विभाग व्यवहारनयमें होता है, निश्चयमें नहीं ।६१६। और दूसरा जो 'चित् ही जीव है', ऐसा कहनेमें भी उपरोक्तवत् लक्ष्य-लक्षण भावसे व्यवहारनय सिद्ध होता है, निश्चयनय नहीं ।६१७। प्रश्न—विशेष निरपेक्ष केवल 'सत् ही' अथवा 'जीव ही' ऐसा कहना तो अभेद होनेके कारण निश्चय नयके उदाहरण बन जायेंगे ।६१८। और ऐसा कहनेसे कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि यहाँ 'सत एक है' या 'जीव चित् द्रव्य है' ऐसा कहनेका अवकाश होनेसे व्यवहारनयको भी अवकाश रह जाता है ।६२०। उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'सत्' और 'जीव' यह दो शब्द कहनेरूप दोनों विकल्प भी काल्पनिक हैं। कारण कि जो उस उस धर्मसे युक्त होता है वह उस उस धर्मवाला उपचार-से कहा जाता है ।६२१। और आगम प्रमाण (दे० नय/I/३/१) से भी यही सिद्ध होता है कि सविकल्प होनेके कारण जितने भी नय हैं वे सब तथा उनका अवलम्बन करनेवाले पर समय हैं ।६४७।

६. निर्विकल्प होनेसे निश्चयनयमें नयपना कैसे सम्भव है?

पं. ध./पू./६००-६१० ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोऽस्ति सर्वोऽपि किल विकल्पात्मा। तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ।६००। तन्न यतोऽस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्। पक्षग्राही च नय पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ।६०१। प्रतिषेध्यो विधि-रूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात्। प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा न स्वयं निषेधात्मा ।६०२। एवमन्यदपि तथा न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः। वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तद-विशेषशक्तित्वात् ।६१०। =प्रश्न—जब नयका लक्षण ही यह है कि 'सब नय विकल्पात्मक होती हैं (दे० नय/I/१/१/५; तथा नय/I/२) तो फिर यहाँपर विकल्पका अभाव होनेसे इस निश्चयनयको नय-पना कैसे प्राप्त होगा' ।६००। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निश्चयनयमें भी निषेधसूचक 'न' इस शब्दके द्वारा लक्षित अर्थको भी पक्षपना प्राप्त है और वही इस नयका नयपना है; कारण कि, पक्ष भी विकल्पात्मक होनेसे नयके द्वारा ग्राह्य है ।६०१। जिस प्रकार प्रतिषेध्य होनेके कारण 'विधि' एक विकल्प है; उसी प्रकार प्रतिषेधक होनेके कारण निषेधात्मक 'न' भी एक विकल्प है ।६००। 'न' इत्याकारको विषय करनेवाले उस निश्चयनयमें एकांगपना (विकलादेशीपना) असिद्ध नहीं है; क्योंकि, जैसे वस्तुमें 'विशेष' यह शक्ति एक अंग है, वैसे ही 'सामान्य' यह शक्ति भी उसका एक अंग है ।६१०।

३. निश्चयनयकी प्रधानता

१. निश्चयनय ही सत्यार्थ है

स. सा./मू./११ भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणयो। =शुद्धनय भूतार्थ है।

न.च./श्रुत/३२ निश्चयनय परमार्थप्रतिपादकत्वाद्भूतार्थो। =परमार्थ-का प्रतिपादक होनेके कारण निश्चयनय भूतार्थ है। (स.सा./आ./११)।

और भी दे० नय/V/१/१ (एवंभूत या सत्यार्थ ग्रहण ही निश्चयनयका लक्षण है।)

स. सा./पं. जयचन्द/६ द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है।

२. निश्चयनय साधकतम व नयाधिपति है

न. च./श्रुत/३२ निश्चयनयः…पूज्यतमः। =निश्चयनय पूज्यतम है।

प्र. सा./त. प्र./१८९ साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो। =साध्य वस्तु क्योंकि शुद्ध है अर्थात् पर संपर्कसे रहित तथा अभेद है, इसलिए निश्चयनय ही द्रव्यके शुद्धत्वका द्योतक होनेसे साधक है। (दे० नय/V/१/२)।

पं. ध./पू./५९९ निश्चयनयो नयाधिपतिः। =निश्चयनय नयाधिपति है।

३. निश्चयनय ही सम्यक्त्वका कारण है

स. सा./मू./भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो। =जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह निश्चयनयसे सम्यग्दृष्टि होता है।

न. च./श्रुत/३२ अत्रैवाविश्रान्तान्तर्दृष्टिर्भवत्यात्मा। =इस नयका सहारा लेनेसे ही आत्मा अन्तर्दृष्टि होता है।

स. सा./आ./११,४१४ ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यत सम्यग्दृष्टयो भवन्ति न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य।११। य एव परमार्थं परमार्थबुद्धया चेतयन्ते त एव समयसारं चेतयन्ते। =यहाँ शुद्धनय कतक फलके स्थानपर है (अर्थात् परसंयोगको दूर करनेवाला है), इसलिए जो शुद्धनयका आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, अन्य नहीं।११। जो परमार्थको परमार्थबुद्धिसे अनुभव करते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं।४१४।

पं. वि/१/८० निरूप्य तत्त्वं स्थिरतामुपागता, मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी। अखण्डमेकं विशदं चिदात्मकं, निरन्तरं पश्यति तत्परं महः।८०। =शुद्धनयका आश्रय लेनेवाली साधुजनोंकी बुद्धि तत्त्वका निरूपण करके स्थिरताको प्राप्त होती हुई निरन्तर, अखण्ड, एक, निर्मल एवं चेतनस्वरूप उस उत्कृष्ट ज्योतिका ही अवलोकन करती है।

प्र. सा./ता. वृ./१९१/२५६/१८ ततो ज्ञायते शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभ एव। =इससे जाना जाता है कि शुद्धनयके अवलम्बनसे आत्मलाभ अवश्य होता है।

पं. ध./पू./६२९ स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्। =स्वयं ही भूतार्थको विषय करनेवाला होनेसे निश्चय करके, यह निश्चयनय सम्यक्त्व है।

मो. मा. प्र./१७/३६६/१० निश्चयनय तिनि ही कौं यथावत् निरूपै है, काहूकौ काहूविषै न मिलावै है। ऐसे ही श्रद्धानतैं सम्यक्त्व हो है।

४. निश्चयनय ही उपादेय है

न. च./श्रुत/६७ तस्माद्द्वावपि नाराध्यावाराध्यः पारमार्थिकः। =इसलिए व्यवहार व निश्चय दोनों ही नयें आराध्य नहीं है, केवल एक पारमार्थिक नय ही आराध्य है।

प्र. सा./त. प्र./१८९ निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः। =निश्चयनय साधकतम होनेके कारण उपात्त है अर्थात् ग्रहण किया गया है।

स. सा./आ./४१४/क. २४४ अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यता नित्यमेक. । स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति। =बहुत कथनसे और बहुत दुर्विकल्पोंसे बस होओ, बस होओ। यहाँ मात्र इतना ही कहना है, कि इस एकमात्र परमार्थका ही नित्य अनुभव करो, क्योंकि निज रसके प्रसारसे पूर्ण जो ज्ञान, उससे स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार; उससे उच्च वास्तवमें दूसरा कुछ भी नहीं है।

पं. वि/१/१५७ तत्राद्यं श्रयणीयमेव सुदृशा शेषद्वयोपायत। =सम्यग्दृष्टिको शेष दो उपायोंसे प्रथम शुद्ध तत्त्व (जो कि निश्चयनयका वाच्य बताया गया है) का आश्रय लेना चाहिए।

पं. का./ता. वृ./५४/१०४/१८ अत्र यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन सादि सनिधनं जीवद्रव्य व्याख्यातं तथापि शुद्धनिश्चयेन यदेवानादिनिधनं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव निर्विकारसदानन्दैकस्वरूपं च तदेवोपादेयमित्यभिप्राय.। =यहाँ यद्यपि पर्यायार्थिकनयसे सादिसनिधन जीव द्रव्यका व्याख्यान किया गया है, परन्तु शुद्ध निश्चयनयसे जो अनादि निधन टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभावी निर्विकार सदानन्द एकस्वरूप परमात्म तत्त्व है, वही उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है। (पं.का/ता.वृ./२७/६१/१६)।

पं.ध./पू./६३० यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टि कार्यकारी स्यात्। तस्मात् स उपादेयो नोपादेयस्तदन्यनयवादः।६३०। =क्योंकि निश्चयनयपर दृष्टि रखनेवाला ही सम्यग्दृष्टि व कार्यकारी है, इसलिए वह निश्चय ही ग्रहण करनेयोग्य है व्यवहार नहीं।

विशेष दे० नय/V/८/१ (निश्चयनयकी उपादेयताके कारण व प्रयोजन। यह जीवको नयपक्षातीत बना देता है।)

४. व्यवहारनय सामान्य निर्देश

१. व्यवहारनय सामान्यके लक्षण

१. संग्रहनय ग्रहीत अर्थमें विधिपूर्वक भेद

ध.१/१.१.१/गा६/१२ पडिरूवं पुण वयणत्थणिच्छयो तस्स ववहारो। =वस्तुके प्रत्येक भेदके प्रति शब्दका निश्चय करना (संग्रहनयका) व्यवहार है। (क.पा./१/१३-१४/§१८२/८६/२२०)।

स. सि./१/३३/१४२/२ सग्रहनयाक्षिप्तानामर्थाना विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार। =सग्रहनयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंका विधिपूर्वक अवहरण अर्थात् भेद करना व्यवहारनय है। (रा.वा/१/३३/६/९६/२०), (श्लो.वा./४/१/३३/श्लो.५८/२४४), (ह.पु./५८/४५), (ध.१/१,१,१/८४/४) (त. सा./१/४६), (स्या. म./२८/३१७/१४ तथा ३१६ पृ. उद्धृत श्लो. नं. ३)।

आ.प./९ संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवह्रियते इति व्यवहारः। =संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थके भेदरूपसे जो वस्तुमें भेद करता है, वह व्यवहारनय है। (न. च. वृ./२१०), (का. अ./मू./२७३)।

२. अभेद वस्तुमें गुण-गुणी आदि रूप भेदोपचार

न.च.वृ./२६२ जो सियभेदुवयार धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स। =सो ववहारो भणियो··।२६२। =एक अभेद वस्तुमें जो धर्मोंका अर्थात् गुण पर्यायोंका भेदरूप उपचार करता है वह व्यवहारनय कहा जाता है। (विशेष दे० आगे नय/V/५/१-३), (पं. ध./पू./६१४), (आ. प./९)।

पं ध./पू./५२२ व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः। स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरण स्यात्। =विधिपूर्वक भेद करनेका नाम व्यवहार है। यह इस निरुक्ति द्वारा किया गया शब्दार्थ है, परमार्थ नहीं। जैसा कि यहाँपर गुण और गुणीमें सत् रूपसे अभेद होनेपर भी जो भेद करना है वह व्यवहार नय कहलाता है।

३. भिन्न पदार्थोंमें कारकादि रूपसे अभेदोपचार

स सा./आ./२७२ पराश्रितो व्यवहारः। =परपदार्थके आश्रित कथन करना व्यवहार है। (विशेष देखो आगे असद्भूत व्यवहारनय—नय/V/५/४-६)।

त अनु /२६ व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचर' । =व्यवहारनय भिन्न कर्ता कर्मादि विषयक है। (अन॰ध./१/१०२/१०८) ।

४. लोकव्यवहारगत-वस्तुविषयक

ध.१३/५,५,७/१९९/१ लोकव्यवहारनिबन्धनं द्रव्यमिच्छन् व्यवहारनयः। =लोकव्यवहारके कारणभूत द्रव्यको स्वीकार करनेवाला पुरुष व्यवहारनय है।

२. व्यवहारनय सामान्यके उदाहरण

१ सग्रह ग्रहीत अर्थमें भेद करने सम्बन्धी

स सि./१/३३/१४२/२ को विधि । य' सगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणेव व्यवहार' प्रवर्तत इत्यय विधि । तद्यथा—सर्वसंग्रहेण यत्सत्त्वं गृहीत तच्चानपेक्षितविशेषं नाल सव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते। यत्सत्तद् द्रव्य गुणो वेति। द्रव्येणापि सग्रहाक्षिप्तेन जीवाजीवविशेषानपेक्षेण न शक्य. सव्यवहार इति जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति वा व्यवहार आश्रीयते। जीवाजीवावपि च सग्रहाक्षिप्तौ नाल सव्यवहारायेति प्रत्येकं देवनारकादिर्घटादिश्च व्यवहारेणाश्रीयते। =प्रश्न—भेद करनेकी विधि क्या है? उत्तर—जो संग्रहनयके द्वारा गृहीत अर्थ है उसीके आनुपूर्वीक्रमसे व्यवहार प्रवृत्त होता है, यह विधि है। यथा—सर्व सग्रहनयके द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है, वह अपने उत्तरभेदोंके बिना व्यवहार करानेमें असमर्थ है, इसलिए व्यवहारनयका आश्रय लिया जाता है। यथा—जो सत् है वह या तो द्रव्य है या गुण। इसी प्रकार संग्रहनयका विषय जो द्रव्य है वह भी जीव अजीवकी अपेक्षा किये बिना व्यवहार करानेमें असमर्थ है, इसलिए जीव द्रव्य है और अजीव द्रव्य है, इस प्रकारके व्यवहारका आश्रय लिया जाता है। जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी जबतक संग्रहनयके विषय रहते हैं, तब तक वे व्यवहार करानेमें असमर्थ हैं, इसलिए जीवद्रव्यके देव नारकी आदि रूप और अजीव द्रव्यके घटादि रूप भेदोका आश्रय लिया जाता है। (रा.वा/१/३३/६/९/९९/२३), (श्लो. वा ४/१/३३/६०/२४४/२५), (स्या म./२८/३१७/१५)।

श्लो. वा ४/१/३३/६०/२४५/१ व्यवहारस्तद्विभज्यते यद्द्रव्यं तज्जीवादिषड्विध, य पर्याय' स द्विविध. क्रमभावी सहभावी चेति। पुनरपि संग्रहः सर्वानजीवादीन् संगृह्णाति ।· व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति यो जीव स मुक्त ससारी च, यदाकाशं तल्लोकाकाशमलोकाकाशं ·· य' क्रमभावी पर्याय स क्रियारूपोऽक्रियारूपश्च विशेष', य. सहभावी पर्याय स गुण सदृशपरिणामश्च सामान्यमिति अपरापरसग्रहव्यवहारप्रपञ्च । =(उपरोक्तसे आगे)—व्यवहारनय उसका विभाग करते हुए कहता है कि जो द्रव्य है वह जीवादिके भेदसे छ' प्रकारका है, और जो पर्याय है वह क्रमभावी व सहभावीके भेदसे दो प्रकारकी है। पुन' सग्रहनय इन उपरोक्त जीवादिकोंका सग्रह कर लेता है, तब व्यवहारनय पुनः इनका विभाग करता है कि जीव मुक्त व संसारीके भेदसे दो प्रकारका है, आकाश लोक व अलोकके भेदसे दो प्रकारका है। (इसी प्रकार पुद्गल व काल आदिका भी विभाग करता है)। जो क्रमभावी पर्याय है वह क्रिया रूप व अक्रिया (भाव) रूप है, सो विशेष है। और जो सहभावी पर्याय है वह गुण तथा सदृशपरिणामरूप होती हुई सामान्यरूप है। इसी प्रकार अपर व पर सग्रह तथा व्यवहारनयका प्रपंच समझ लेना चाहिए।

२. अभेद वस्तुमें गुणगुणीरूप भेदोपचार सम्बन्धी

स सा /मू /७ ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दसण णाणं। =ज्ञानीके चारित्र दर्शन व ज्ञान ये तीन भाव व्यवहारसे कहे गये हैं। (द्र.स/मू./६/१७), (स सा/आ./१६/क.१७)।

का./ता.वृ./१११/१७५/१३ पनतानिनकायिका' तेषु पञ्चस्थावरेषु मध्ये चलनक्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसाः भण्यन्ते। =पाँच स्थावरोंमें-से तेज वायुकायिक जीवोंमें चलनक्रिया देखकर व्यवहारसे उन्हें त्रस कहा जाता है।

पं. ध./पू./५९९ व्यवहार' स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा। =जैसे 'सत् द्रव्य है' अथवा 'ज्ञानवान् जीव है' इस प्रकारका जो कथन है, वह व्यवहारनय है। और भी देखो—(नय/IV/२/६/६), (नय/V/५/१-२)।

३. भिन्न पदार्थोंमें कारकरूपसे अभेदोपचार सम्बन्धी

स.सा./मू./५९-६० तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं। जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।५९। गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य। सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।६०। =जीवमें कर्मों व नोकर्मोंका वर्ण देखकर, जीवका यह वर्ण है, ऐसा जिनदेवने व्यवहारसे कहा है।५९। इसी प्रकार गन्ध, रस और स्पर्शरूप देह संस्थान आदिक, सभी व्यवहारसे हैं, ऐसा निश्चयनयके देखनेवाले कहते हैं।६०। (द्र.स./मू./७), (विशेष दे० नय/V/५/५)।

द्र. सं /मू./३,९ तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य। ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।३। पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो।८। ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मफलं पभुंजेदि।९। =भूत भविष्यत् व वर्तमान तीनों कालोंमें जो इन्द्रिय बल, आयु व श्वासोच्छ्वासरूप द्रव्यप्राणोंसे जीता है, उसे व्यवहारसे जीव कहते हैं।३। व्यवहारसे जीव पुद्गलकर्मोंका कर्ता है।८। और व्यवहारसे पुद्गलकर्मोंके फलका भोक्ता है।९। (विशेष देखो नय/V/५/५)।

प्र सा./त.प्र./परि/नय न० ४४ व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ती ।४४। =आत्मद्रव्य व्यवहारनयसे बन्ध और मोक्षमें द्वैतका अनुसरण करनेवाला है। बन्धक और मोचक अन्य परमाणुके साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणुकी भाँति।

प्र.सा /त.प्र./१८९ यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मन' कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपदाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यार्थिकनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। =जो 'पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म है वही पुण्य पापरूप द्वैत है; आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है, यह अशुद्धद्रव्यका निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है।

प. प्र./१/५५/५४/४ य एव ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापको भणित' । =व्यवहारनयसे ज्ञानकी अपेक्षा आत्मा लोकालोकव्यापी है।

मो मा.प्र./७/१७/३६९/८ व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यकौ वा तिनिके भावनिकौ वा कारणकार्यादिककौ काहूको काहूविषै मिलाय निरूपण करै है।

और भी दे० (नय/III/२/३), (नय/IV/३/६/९), (नय/V/५/४-६)।

४. लोक व्यवहारगत वस्तु सम्बन्धी

स्या म./२८/३११/२३ व्यवहारस्त्वेवमाह। यथा लोकग्राहकमेव वस्तु, अस्तु, किमनया अदृष्टाव्यवह्रियमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया। —यदेव च लोकव्यवहारपथमवतरति तस्यैवानुग्राहक प्रमाणमुपलभ्यते नेतरस्य। न हि सामान्यमनादिनिधनमेकं सग्रहाभिमत प्रमाणभूमि', तथानुभवाभावात्। सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसङ्गाच्च। नापि विशेषा परमाणुलक्षणा क्षणक्षयिण प्रमाणगोचरा, तथा प्रवृत्तेरभावात्। तस्माद् इदमेव निखिललोकाबाधित प्रमाणसिद्ध कियत्कालभाविस्थूलतामाबिभ्राणमुदकाद्याहरणाद्यर्थक्रियानिर्वर्तनक्षमं

घटादिकं वस्तुरूपं पारमार्थिकम् । पूर्वोत्तरकालभावितत्पर्यायपर्यालोचना पुनरज्यायसी तत्र प्रमाणप्रसाराभावात् । प्रमाणमन्तरेण विचारस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अवस्तुत्वाच्च तेषा किं तद्गोचरपर्यायालोचनेन । तथाहि । पूर्वोत्तरकालभाविनो द्रव्यविवर्त्ताः क्षणक्षयिपरमाणुलक्षणा वा विशेषा न कथंचन लोकव्यवहारमुपरचयन्ति । तन्न ते वस्तुरूपा' । लोकव्यवहारोपयोगिनामेव वस्तुत्वात् । अत एव पन्था गच्छति, कुण्डिका स्रवति, गिरिर्दह्यते, मञ्चा' क्रोशन्ति इत्यादि व्यवहाराणा प्रामाण्यम् । तथा च वाचकमुख्य. 'लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार' । =व्यवहारनय ऐसा कहता है कि—लोकव्यवहारमें आनेवाली वस्तु ही मान्य है। अदृष्ट तथा अव्यवहार्य वस्तुओंकी कल्पना करनेसे क्या लाभ? लोकव्यवहार पथपर चलनेवाली वस्तु ही अनुग्राहक है और प्रमाणताको प्राप्त होती है, अन्य नहीं। संग्रहनय द्वारा मान्य अनादि निधनरूप सामान्य प्रमाणभूमिको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि सर्वसाधारणको उसका अनुभव नहीं होता। तथा उसे मानने पर सबको ही सर्वदर्शीपनेका प्रसंग आता है। इसी प्रकार ऋजुसूत्रनय द्वारा मान्य क्षणक्षयी परमाणुरूप विशेष भी प्रमाण बाह्य होनेसे हमारी व्यवहार प्रवृत्तिके विषय नहीं हो सकते। इसलिए लोक अबाधित, कियत्काल स्थायी व जलधारण आदि अर्थक्रिया करनेमें समर्थ ऐसी घट आदि वस्तुएँ ही पारमार्थिक व प्रमाण सिद्ध हैं। इसी प्रकार घट ज्ञान करते समय, नैगमनय मान्य उसकी पूर्वोत्तर अवस्थाओंका भी विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रमाणगोचर न होनेसे वे अवस्तु हैं। और प्रमाणभूत हुए बिना विचार करना अशक्य है। पूर्वोत्तरकालवर्ती द्रव्यकी पर्याय अथवा क्षणक्षयी परमाणुरूप विशेष दोनों ही लोकव्यवहारमें उपयोगी न होनेसे अवस्तु हैं, क्योंकि लोक व्यवहारमें उपयोगी ही वस्तु है। अतएव 'रास्ता जाता है, कुण्ड बहता है, पहाड जलता है, मंच रोते हैं' आदि व्यवहार भी लोकोपयोगी होनेसे प्रमाण हैं। वाचक मुख्य श्री उमास्वामीने भी तत्त्वार्थाधिगम भाष्य/१/३५ में कहा है कि "लोक व्यवहारके अनुसार उपचरित अर्थ (दे० उपचार व आगे असद्भूत व्यवहार) को बतानेवाले विस्तृत अर्थको व्यवहार कहते हैं।

३. व्यवहारनयकी भेद-प्रवृत्तिकी सीमा

स. सि./१/३३/१४२/८ एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभाग.। =संग्रह गृहीत अर्थको विधिपूर्वक भेद करते हुए (दे० पीछे शीर्षक नं. ३/१) इस नयकी प्रवृत्ति वहाँ तक होती है, जहाँ तक कि वस्तुमें अन्य कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता। (रा. वा./१/३३/६/९६/२१)।

श्लो. वा. ४/१/३३/६०/२४५/१५ इति अपरापरसंग्रहव्यवहारप्रपञ्चः प्रागृजुसूत्रात्परसंग्रहादुत्तर' प्रतिपत्तव्य., सर्वस्य वस्तुनः कथंचित्सामान्यविशेषात्मकत्वात् । =इस प्रकार उत्तरोत्तर हो रहा संग्रह और व्यवहारनयका प्रपंच ऋजुसूत्रनयसे पहले-पहले और परसंग्रहनयसे उत्तर उत्तर अंशोंकी विवक्षा करनेपर समझ लेना चाहिए; क्योंकि, जगत्‌की सब वस्तुएँ कथंचित् सामान्यविशेषात्मक है। (श्लो. वा. ४/१,३३/श्लो. ५९/२४४)

का. अ./मू /२७३ जं संगहेण गहिदं विसेसरहिदं पि भेददे सददं । परमाणूपज्जंतं ववहारणओ हवे सो हु ।२७३। =जो नय संग्रहनयके द्वारा अभेद रूपसे गृहीत वस्तुओंका परमाणुपर्यंत भेद करता है वह व्यवहार नय है।

ध. १/१,१,१/१३/११ (विशेषार्थ) वर्तमान पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र है। इस लिए जबतक द्रव्यगत (दे० इससे पहले शीर्षकमें नं ४) भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तबतक व्यवहारनय चलता है और जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाता है तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है।

४. व्यवहारनयके भेद व लक्षणादि

१. पृथक्त्व व एकत्व व्यवहार

पं. का /मू. व भाषा/४७ णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं । भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू । =धन पुरुषको धनवान् करता है, और ज्ञान आत्माको ज्ञानी करता है। तैसे ही तत्त्वज्ञ पुरुष पृथक्त्व व एकत्वके भेदसे सम्बन्ध दो प्रकारका कहते हैं। व्यवहार दो प्रकारका है—एक पृथक्त्व और एक एकत्व। जहाँपर भिन्न द्रव्योंमें एकताका सम्बन्ध दिखाया जाता है उसका नाम पृथक्त्व व्यवहार कहा जाता है। और एक वस्तुमें भेद दिखाया जाय उसका नाम एकत्व व्यवहार कहा जाता है।

न.च./श्रुत/पृ २९ प्रमाणनयनिक्षेपात्मक. भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहार. । =प्रमाण नय व निक्षेपात्मक वस्तुको जो भेद द्वारा या उपचार द्वारा भेद या अभेदरूप करता है, वह व्यवहार है। (विशेष दे० आगे शीर्षक नं./१०/२)

२. सद्भूत व असद्भूत व्यवहार

न. च./श्रुत/पृ. २५ व्यवहारो द्विविध.—सद्भूतव्यवहारो असद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहार. । भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार । =व्यवहार दो प्रकारका है—सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार। तहाँ सद्भूतव्यवहार एक वस्तुविषयक होता है और असद्भूत व्यवहार भिन्न वस्तु विषयक। (अर्थात् एक वस्तुमें गुण-गुणी भेद करना सद्भूत या एकत्व व्यवहार है और भिन्न वस्तुओंमें परस्पर कर्ता कर्म व स्वामित्व आदि सम्बन्धों द्वारा अभेद करना असद्भूत या पृथक्त्व व्यवहार है।) (पं. ध /पू /५२५) (विशेष दे० आगे नय/V/५)

३. सामान्य व विशेष संग्रह भेदक व्यवहार

न. च. वृ./२१० जो संगहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा । सो ववहारो दुविहो असुद्धसुद्धत्थभेदकरो ।२१०। =जो संग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये गये शुद्ध या अशुद्ध पदार्थका भेद करता है वह व्यवहार नय दो प्रकार का है—शुद्धार्थ भेदक और अशुद्धार्थभेदक। (शुद्धसंग्रहके विषयका भेद करनेवाला शुद्धार्थ भेदक व्यवहार है और अशुद्धसंग्रहके विषयका भेद करनेवाला अशुद्धार्थभेदक व्यवहार है।)

आ. प./५ व्यवहारोऽपि द्वेधा । सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा—द्रव्याणि जीवाजीवा. । विशेषसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा—जीवा. संसारिणो मुक्ताश्च । =व्यवहार भी दो प्रकारका है—समान्यसंग्रहभेदक और विशेष संग्रहभेदक। तहाँ सामान्य संग्रहभेदक तो ऐसा है जैसे कि 'द्रव्य जीव व अजीवके भेदसे दो प्रकारका है'। और विशेषसंग्रहभेदक ऐसा है जैसे कि 'जीव संसारी व मुक्तके भेदसे दो प्रकारका है। (सामान्य संग्रहनयके विषयका भेद करनेवाला सामान्य संग्रह भेदक और विशेष संग्रहनयका भेद करनेवाला विशेष संग्रहभेदक व्यवहार है।)

न. च /श्रुत/१४ अनेन सामान्यसंग्रहनयेन स्वीकृतसत्तासामान्यरूपार्थं भित्त्वा जीवपुद्गलादिकथनं, सेनाशब्देन स्वीकृतार्थं भित्त्वा हस्त्यश्वरथपदातिकथन· इति सामान्यसंग्रहभेदकव्यवहारनयो भवति । विशेषसंग्रहनयेन स्वीकृतार्थान् जीवपुद्गलनिचयान् भित्त्वा देवनारकादिकथनं, घटपटादिकथनम् । हस्त्यश्वरथपदातीन् भित्त्वा भद्रगज - जात्यश्व - महारथ - शतभटसहस्रभटादिकथनं·· इत्याद्यनेकविषयान् भित्त्वा कथनं विशेषसंग्रहभेदकव्यवहारनयो भवति । =सामान्य संग्रहनयके द्वारा स्वीकृत सत्ता सामान्यरूप अर्थका भेद करके जीव पुद्गलादि कहना अथवा सेना शब्दका भेद करके हाथी, घोडा, रथ, पियादे कहना, ऐसा सामान्य संग्रहभेदक व्यवहार होता है। और विशेषसंग्रहनय द्वारा स्वीकृत जीव व पुद्गलसमूहका भेद

करके देवनारकादि तथा घट पट आदि कहना, अथवा हाथी, घोड़ा, पदातिका भेद करके भद्र हाथी, जातिवाला घोडा, महारथ, शतभट, सहस्रभट आदि कहना, इत्यादि अनेक विषयोको भेद करके कहना विशेषसंग्रहभेदक व्यवहारनय है।

५. व्यवहार-नयाभासका लक्षण

श्लो. वा. ४/१/३३/श्लो./६०/२४४ कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्। प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ।६०। =द्रव्य और पर्यायोके आरोपित किये गये कल्पित विभागोको जो वास्तविक मान लेता है वह प्रमाणबाधित होनेसे व्यववहारनयाभास है। (स्या. म के अनुसार जैसे चार्वाक दर्शन)। (स्या. म./२८/३१७/१५ में प्रमाणतत्त्वालोकालंकार/७/१-५३ से उद्धृत)

६. व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है

श्लो. वा. २/१/७/२८/५८५/१ व्यवहारनयोऽशुद्धद्रव्यार्थिक. ।=व्यवहारनय अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है।

ध. ९/४,१,४५/१७१/३ पर्यायकलङ्कितया अशुद्धद्रव्यार्थिकः व्यवहारनय'। =व्यवहारनय पर्याय (भेद) रूप कलंकसे युक्त होनेसे अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। (क. पा. १/१३-१४/§१८२/२१६/२); (प्र सा./त.प्र /१८९)।

(और भी दे०/नय/IV/१)।

७. पर्यायार्थिक नय भी कथंचित् व्यवहार है

गो. जी./मू./५७२/१०१६ ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति-एयट्ठो। =व्यवहार, विकल्प, भेद व पर्याय ये एकार्थवाची शब्द है।

पं. ध./पू/५२१ पर्यायार्थिकनय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति। एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्र स्यात। =पर्यायार्थिक और व्यवहार ये दोनो एकार्थवाची हैं, क्योकि सब ही व्यवहार केवल उपचाररूप होता है।

स. सा./पं. जयचन्द/६ परसयोगजनित भेद सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिक नयके विषय है। शुद्ध (अभेद) द्रव्यकी दृष्टिमें यह भी पर्यायार्थिक ही है। इसलिए व्यवहार नय ही है ऐसा आशय जानना। (स सा./प. जयचन्द/१२/क. ४)

दे० नय/V/२/४ (अशुद्धनिश्चय भी वास्तवमें व्यवहार है।)

८. उपनय निर्देश

१. उपनयका लक्षण व इसके भेद

आ. प./५ नयाना समीपा उपनया'। सद्भूतव्यवहार. असद्भूतव्यवहार उपचरितासद्भूतव्यवहारश्चेत्युपनयस्त्रेधा। =जो नयोंके समीप हो अर्थात नयकी भाँति ही ज्ञाताके अभिप्राय स्वरूप हों उन्हे उपनय कहते है, और वह उपनय, सद्भूत, असद्भूत व उपचरित असद्भूतके भेदसे तीन प्रकारका है।

न. च /श्रुत/१८७-१८८ उवणयभेया वि पभणामो ।१८७। सब्भूदमसब्भूदं उपचरियं चेव दुविहं सब्भूव। तिविहं पि असब्भूवं उवयरियं जाण तिविह पि ।१८८। =उपनयके भेद कहते है। वह सद्भूत, असद्भूत और उपचरित असद्भूतके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमें भी असद्भूत दो प्रकारका है—शुद्ध व अशुद्ध—दे० आगे नय/V/५), असद्भूत व उपचरित असद्भूत दोनों ही तीन-तीन प्रकारके हैं—(स्वजाति, विजाति और स्वजाति-विजाति।—दे० उपचार/१/२/, (न. च /श्रुत/पृ २२)।

२. उपनय भी व्यवहारनय है

न. च /श्रुत/२९/१७ उपनयोपजनितो व्यवहार। प्रमाणनयनिक्षेपात्मक' भेदोपचाराभ्या वस्तु व्यवहरतीति व्यवहार। कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत, सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तूपचारोत्पादकत्वात। =उपनयसे व्यवहारनय उत्पन्न होता है। और प्रमाणनय व निक्षेपात्मक वस्तुका भेद व उपचार द्वारा भेद व अभेद करनेको व्यवहार कहते है। प्रश्न—व्यवहार नय उपनयसे कैसे उत्पन्न होता है, उत्तर—क्योंकि सद्भूतरूप उपनय तो अभेदरूप वस्तुमें भेद उत्पन्न करता है और असद्भूत रूप उपनय भिन्न वस्तुओंमें अभेदका उपचार करता है।

५. सद्भूत असद्भूत व्यवहारनय निर्देश

१. सद्भूत व्यवहारनय सामान्य निर्देश

१. लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० एकवस्तुविषयसद्भूतव्यवहार'। =एक वस्तुको विषय करनेवाला सद्भूतव्यवहार है। (न. च./श्रुत/२१)।

न. च वृ./२२० गुणगुणिपज्जायदव्वे कारकसब्भावदो य दव्वेसु। तो णाऊणं भेयं कुणय सब्भूयसद्धियरो ।२२०।=गुण व गुणीमें अथवा पर्याय व द्रव्यमें कर्ता कर्म करण व सम्बन्ध आदि कारकोंका कथंचित् सद्भाव होता है। उसे जानकर जो द्रव्योंमें भेद करता है वह सद्भूत व्यवहारनय है। (न. च. वृ./४६)।

न. च. वृ /२२१ दव्वाणां खु पएसा बहुआ ववहारदो य एक्केण। अण्ण य णिच्छयदो भणिया कायत्थ खलु हवे जुत्ती। =व्यवहार अर्थात् सद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्योंके बहुत प्रदेश है। और निश्चयनसे वही द्रव्य अनन्य है। (न. च. वृ./२२२)।

और भी दे. नय/V/४/१,२ में (गुणगुणी भेदकारी व्यवहार नय सामान्यके लक्षण व उदाहरण)।

२. कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५२५-५२८ सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वाव। ।५२५। अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धि' स्याव। इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः।५२७। अस्तमितसर्वसंकरदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा। अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञान भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ।५२८। = विवक्षित उस वस्तुके गुणोंका नाम सद्भूत है और उन गुणोकी उस वस्तुमें भेदरूप प्रवृत्तिमात्रका नाम व्यवहार है ।५२५। इस नयका प्रयोजन यह है कि इसके अनुसार ज्ञान होनेपर इतर वस्तुओंमें निषेध बुद्धि हो जाती है, क्योंकि विकल्पवश दूसरेसे भिन्न होना नय है। नय कुछ भेदका अभिव्यंजक नही है। ।५२७ सम्पूर्ण सकर व शून्य दोषोंसे रहित यह वस्तु इस नयके कारण ही अनन्य शरण सिद्ध होती है। क्योकि इससे ऐसा ही ज्ञान होता है ।५२८।

३. व्यवहार सामान्य व सद्भूत व्यवहारमें अन्तर

पं. ध /पू./५२३/५२६ साधारणगुण इति वा यदि वासाधारण' सतस्तस्य। भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ।५२३। अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्य' स्याव। अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतराव ।५२६।=सत्के साधारण व असाधारण इन दोनो प्रकारके गुणोंमेंसे किसीकी भी विवक्षा होनेपर व्यवहारनय श्रेय होता है ।५२३। और सद्भूत व्यवहारनयमें सत्के साधारण व असाधारण गुणोमें परस्पर मुख्य गौण विवक्षा होती है। मुख्य गौण विवक्षाको छोडकर इस नयकी प्रवृत्ति नही होती ।५२६।

४. सद्भूत व्यवहारनयके भेद

आ. प /१० त[illegible] सद्भूतव्यवहारो द्विविध —उपचरितानुपचरितभेदाव्। =सद्भूत व्यव[illegible]हारनय दो प्रकारका है—उपचरित व अनुपचरित। (न. च /श्रुत/पृ. २५[illegible]); (पं. ध./पू./५३४)।

आ.प./५ सद्भूतव्यवहारो द्विधा—शुद्धसद्भूतव्यवहारो…अशुद्धसद्भूत-व्यवहारो। =सद्भूत व्यवहारनय दो प्रकारकी है—शुद्ध सद्भूत और अशुद्ध सद्भूत। (न. च./श्रुत/२१)।

२. अनुपचरित या शुद्धसद्भूत निर्देश

१. क्षायिक शुद्धकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ. प./१० निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा—जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा.। =निरुपाधि गुण व गुणीमें भेदको विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—केवलज्ञानादि जीवके गुण है। (न. च./श्रुत/२५)।

आ. प./५ शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा—शुद्धगुणशुद्धगुणिनो, शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्। =शुद्धगुण व शुद्धगुणीमें अथवा शुद्धपर्याय व शुद्धपर्यायीमें भेदका कथन करना शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है (न. च./श्रुत/२१)।

नि.सा./ता.वृ./१३, अन्या कार्यदृष्टिः…. क्षायिकजीवस्य सकलविमल-केवलावबोधबुद्धभुवनत्रयस्य … साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्ध-सद्भूतव्यवहारनयात्मकस्य…तीर्थकरपरमदेवस्य केवलज्ञानादिय-मपि युगपल्लोकालोकव्यापिनी। =दूसरी कार्य शुद्धदृष्टि…क्षायिक जीवको जिसने कि सकल विमल केवलज्ञान द्वारा तीनभुवनको जाना है, जो सादि अनिधन अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहार नयात्मक है, ऐसे तीर्थंकर परमदेवको केवलज्ञानकी भाँति यह भी युगपत लोकालोकमें व्याप्त होनेवाली है। (नि. सा./ता. वृ./४३)।

नि. सा./ता. वृ./६ शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादि शुद्धगुणानामा-धारभूतत्वात्कार्यशुद्धजीव'। =शुद्धसद्भूत व्यवहारसे केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोका आधार होनेके कारण 'कार्यशुद्ध जीव' है। (प्र. सा./ता. वृ /परि/३६८/१४)।

२. पारिणामिक शुद्धकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

नि. सा./ता. वृ./२८ परमाणुपर्याय' पुद्गलस्य शुद्धपर्याय' परमपारि-णामिकभावलक्षण' वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूप' अतिसूक्ष्म. अर्थ-पर्यायात्मक' सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूत-व्यवहारनयात्मक'। =परमाणुपर्याय पुद्गलकी शुद्ध पर्याय है। जो कि परमपारिणामिकभाव स्वरूप है, वस्तुमें होनेवाली छह प्रकारकी हानिवृद्धि रूप है, अति सूक्ष्म है, अर्थ पर्यायात्मक है, और सादि सान्त होनेपर भी परद्रव्यसे निरपेक्ष होनेके कारण शुद्धसद्भूत व्यव-हारनयात्मक है।

प. ध./५३५-५३६ स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सत'। तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेपनिरपेक्षम् ।५३५। इदमत्रो-दाहरणं ज्ञान जीवोपजीवि जीवगुणः। ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ।५३६। =जिस पदार्थकी जो अन्तर्लीन (त्रिकाली) शक्ति है, उसके सामान्यपनेसे यदि उस पदार्थ विशेषकी अपेक्षा न करके निरूपण किया जाता है तो वह अनुपचरित—सद्भूत व्यवहार-नय कहलाता है ।५३५। जैसे कि ज्ञान जीवका जीवोपजीवी गुण है। घट पट आदि ज्ञेयोके अवलम्बन कालमें भी वह ज्ञेयोपजीवी नहीं हो जाता। (अर्थात ज्ञानको ज्ञान कहना ही इस नयको स्वीकार है, घटज्ञान कहना नहीं ।५३६।

३. अनुपचरित व शुद्ध सद्भूत की एकार्थता

द्र सं./टी./६/१८/५ केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्यो-ऽनुपचरितसद्भूतव्यवहार'। =यहाँ जीवका लक्षण कहते समय केवलज्ञान व केवलदर्शनके प्रति शुद्धसद्भूत शब्दसे वाच्य अनुपचरित सद्भूत व्यवहार है।

४. इस नयके कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५३९ फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात्। भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात्। =सत्‌रूप द्रव्यमें आस्तिक्य पूर्वक यथार्थ प्रतीतिका होना ही इस नयका फल है, क्योकि इस नयके द्वारा, विना किसी परिश्रमके क्षणिकादि मतोंमें उपेक्षा हो जाती है।

३. उपचरित या अशुद्ध सद्भूत निर्देश

१. क्षायोपशमिक भावकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ. प./५ अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथाशुद्धगुणाशुद्धगुणिनारशुद्धपर्याया-शुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्। = अशुद्धगुण व अशुद्धगुणीमें अथवा अशुद्धपर्याय व अशुद्धपर्यायीमे भेदका कथन करना अशुद्धसद्भूत व्यवहार नय है (न. च./श्रुत/२१)।

आ. प./१० सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा—जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। =उपाधिसहित गुण व गुणीमें भेदको विषय करनेवाला उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। जैसे—मतिज्ञानादि जीवके गुण है। (न. च /श्रुत/२५)।

नि. सा /ता वृ./६ अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणा-नामाधारभूतत्वादशुद्धजीव'। =अशुद्धसद्भूत व्यवहारसे मतिज्ञानादि विभावगुणोका आधार होनेके कारण 'अशुद्ध जीव' है। (प्र.सा./ता वृ /परि./३६६/१)

२. पारिणामिक भावमें उपचार करनेकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

पं. ध./पू./५४०-५४१ उपचरितो सद्भूतो व्यवहार' स्यान्नयो यथा नाम। अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यत स्वागुण ।५४०। अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा। अर्थः स्वपर-निकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ।५४१। =किसी हेतुके वश-से अपने गुणका भी अविरोधपूर्वक दूसरेमे उपचार किया जाये, तहाँ उपचरित सद्भूत व्यवहारनय होता है ।५४०। जैसे—अर्थविकल्पात्मक ज्ञानको प्रमाण कहना। यहाँ पर स्व व परके समुदायको अर्थ ज्ञानके उस स्व व परमें व्यवसायको विकल्प कहते है। (अर्थात् ज्ञान गुण तो वास्तवमें निर्विकल्प तेजमात्र है, फिर भी यहाँ बाह्य अर्थोंका अवलम्बन लेकर उसे अर्थ विकल्पात्मक कहना उपचार है, परमार्थ नहीं ।५४१।

३. उपचरित व अशुद्ध सद्भूतकी एकार्थता

द्र. सं./टी./६/१८/६ छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूत-शब्दवाच्य उपचरितासद्भूतव्यवहार। =छद्मस्थ जीवके ज्ञान-दर्शनकी अपेक्षासे अशुद्धसद्भूत शब्दसे वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहार है।

४ इस नयके कारण व प्रयोजन

पं. ध /पू./५४४-५४५ हेतु. स्वरूपसिद्धि विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात्। तदपि च शक्तिविशेषाद्द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ।५४४। अर्थो ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषभ्रमक्षयो यदि वा। अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेष. स्यात ।५४५। =स्वरूप सिद्धिके विना पर-की सिद्धि नही हो सकती, क्योंकि वह स्व निरपेक्षपर अप्रमाणभूत है। तथा प्रमाण स्वयं भी स्वपर व्यवसायात्मक शक्तिविशेषके कारण द्रव्य विशेषके विषयमें प्रवृत्त होता है, यही इस नयकी प्रवृत्तिमें हेतु है ।५४४। ज्ञेय ज्ञायक भाव द्वारा सम्भव संकरदोषके भ्रमको दूर करना, तथा अविनाभावरूपसे स्थित वस्तुके सामान्य व विशेष अंशोंमें परस्पर साध्य साधनपनेकी सिद्धि करना इसका प्रयोजन है ।५४५।

४. असद्‌भूत व्यवहार सामान्य निर्देश

१. लक्षण व उदाहरण

आ. प/१० भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहार । =भिन्न वस्तुको विषय करनेवाला असद्भूत व्यवहारनय है। (न. च./श्रुत/२५); (और भी दे० नय/५/४/१ व २)

न. च. वृ./२२३-२२५ अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद तिविह ते दोवि। सज्जाइ इयर मिस्सो णायव्वो तिविहभेयजुदो ।२२३। =अन्य द्रव्यके अन्य गुण कहना असद्भूत व्यवहारनय है। वह तीन प्रकारका है—स्वजाति, विजाति, और मिश्र। ये तीनो भी द्रव्य गुण व पर्यायमें परस्पर उपचार होनेसे तीन तीन प्रकारके हो जाते है। (विशेष दे० उपचार/५)।

न. च. वृ./११३,३२० मण वयण काय इंदिय आणप्पाणाउगं च जं जीवे। तमसब्भूओ भणदि हु ववहारो लोयमज्झम्मि ।११३। णेयं खु जत्थ णाणं सद्धेयं जं दसण भणियं। चरियं खलु चारित्तं णायव्वं त असब्भूवं ।३२०। =मन, वचन, काय, इन्द्रिय, आनप्राण और आयु ये जो दश प्रकारके प्राण जीवके है, ऐसा असद्भूत व्यवहारनय कहता है ।११३। ज्ञेयको ज्ञान कहना जैसे घटज्ञान, श्रद्धेयको दर्शन कहना, जैसे देव गुरु शास्त्रकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, आचरण करने योग्यको चारित्र कहते है जैसे हिंसा आदिका त्याग चारित्र है; यह सब कथन असद्भूतव्यवहार जानना चाहिए ।३२०।

आ. प./८ असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभाव. ।...जीवस्याप्यसद्भूतव्यवहारेण मूर्तस्वभाव · असद्भूतव्यवहारेणाप्युपचारेणामूर्तत्वं ।...असद्भूतव्यवहारेण उपचरितस्वभाव. ।=असद्भूत व्यवहारसे कर्म व नोकर्म भी चेतनस्वभावी है, जीवका भी मूर्त स्वभाव है, और पुद्गलका स्वभाव अमूर्त व उपचरित है।

पं. का /ता. वृ./१/४/२१ नमो जिनेभ्य' इति वचनात्मकद्रव्यनमस्कारोऽप्यसद्भूतव्यवहारनयेन ।='जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो' ऐसा वचनात्मक द्रव्य नमस्कार भी असद्भूतव्यवहारनयसे होता है।

प्र. सा /ता. वृ./१८९/२५३/११ द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते। =आत्मा द्रव्यकर्मको करता है और उनको भोगता है, ऐसा जो अशुद्ध द्रव्यका निरूपण, उसरूप असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है। (विशेष दे० आगे उपचरित व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयके उदाहरण)

पं. ध./पू./५२९-५३० अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा। अन्यद्रव्यस्य गुणा' संजायन्ते बलात्तदन्यत्र ।५२९। स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम्। तत्संयोगत्वादिह मूर्ता. क्रोधादयोऽपि जीवभवा' ।५३०। =जिसके कारण अन्य द्रव्यके गुण बलपूर्वक अर्थात् उपचारसे अन्य द्रव्यके कहे जाते है, वह असद्भूत व्यवहारनय है ।५२९। जैसे कि वर्णादिमान मूर्तद्रव्यके जो मूर्तकर्म है, उनके संयोगको देखकर, जीवमें उत्पन्न होनेवाले क्रोधादि भाव भी मूर्त कह दिये जाते हैं ।५३०।

२. इस नयके कारण व प्रयोजन

पं. ध./पू./५३१-५३२ कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्ति' स्यात्। सा भवति सहज-सिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयो' ।५३१। फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह। शेषस्तच्छुद्धगुण स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ।५३२। =इस नयमें कारण वह वैभाविकी शक्ति है, जो जीव पुद्गलद्रव्यमें अन्तर्लीन रहती है (और जिसके कारण वे परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हुए संयोगी द्रव्योका निर्माण करते है।) ।५३१। और इस नयको माननेका फल यह है कि क्रोधादि विकारी भावोको परका जानकर, उपाधि मात्रको छोडकर, शेष जीवके शुद्धगुणोको स्वीकार करता हुआ कोई जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है ।५३२। (और भी दे० उपचार/४/६)

३. असद्भूत व्यवहारनयके भेद

आ. प./१० असद्भूतव्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरितभेदात्। =असद्भूत व्यवहारनय दो प्रकार हैं—उपचरित असद्भूत और अनुपचरित असद्भूत। (न. च./श्रुत/२५); (पं. ध./पू./५३४)।

दे० उपचार—(असद्भूत नामके उपनयके स्वजाति, विजाति आदि २७ भेद)

५. अनुपचरित असद्‌भूत निर्देश

१. भिन्न द्रव्योंमें अभेदकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ- प./१० संश्लेषसहितवस्तुसंबन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति। =संश्लेष सहित वस्तुओंके सम्बन्धको विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—'जीवका शरीर है' ऐसा कहना। (न. च./श्रुत/पृ. २९)

नि. सा./ता. वृ./१८ आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च...अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता। =आत्मा निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे द्रव्यकर्मोका कर्ता और उसके फलरूप सुख-दुःखका भोक्ता है तथा नोकर्म अर्थात् शरीरका भी कर्ता है। (स. सा./ता वृ /२२ की प्रक्षेपक गाथाकी टीका/४६/२१); (पं. का/ता. वृ /२७/६०/२१); (द्र. सं./टी./८/२१/४; ९/२३/४)।

पं. का./ता वृ./२७/६०/१५ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यप्राणैश्च यथासंभव जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वश्चेति जीवो। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे यथा सम्भव द्रव्यप्राणोंके द्वारा जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, इसलिए आत्मा जीव कहलाता है। (द्र. सं./टी./३/११/५); (न. च वृ./११३)

पं. का /ता. वृ /५८/१०९/१४ जीवस्यौदयिकादिभावचतुष्टयमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मकृतमिति। =जीवके औदयिक आदि चार भाव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कर्मकृत हैं।

प्र. सा./ता. वृ./परि./३६९/११ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धसंश्लेषसंबन्धस्थितपरमाणुवदौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विविक्षितैकदेहस्थितम्। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे, द्वि अणुक आदि स्कन्धोंमें संश्लेषसम्बन्धरूपसे स्थित परमाणुकी भाँति अथवा वीतराग सर्वज्ञकी भाँति, यह आत्मा औदारिक आदि शरीरोमेंसे किसी एक विवक्षित शरीरमें स्थित है। (प. प्र./टी /१/२९/३३/१)।

द्र. स./टी./७/२०/१ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्त्तो। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे यह जीव मूर्त है। (पं.का /ता.वृ /२७/५७/३)।

प. प्र./टी /७/१३/२ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसबन्ध' द्रव्यकर्मनोकर्मरहितम्।

प. प्र./टी./१/१/६/८ द्रव्यकर्मदहनमनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन।

प. प्र /टी /१/१४/२१/१७ अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहादभिन्नं। =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे जीव द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित है, द्रव्यकर्मोका दहन करनेवाला है, देहसे अभिन्न है।

और भी देखो नय/V/४/२/३—(व्यवहार सामान्यके उदाहरण)।

२. विभाव भावकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

पं. ध./पू /५४६ अपि वासद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा। क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवा' । =अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय, अबुद्धि पूर्वक होनेवाले क्रोधादिक विभावभावोको जीवका कहता है।

३. इस नयका कारण व प्रयोजन

पं. ध /पू /५४७-५४८ कारणमिह यस्य सतो या शक्ति स्याद्विभावभावमयी। उपयोगदशाविष्टा सा शक्ति. स्यात्तदाप्यनन्यमयी ।५४७।

फलमागन्तुकभावा: स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्त । क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धि: स्यादनात्मधर्मत्वात् ।५४८। =इस नयकी प्रवृत्तिमें कारण यह है कि उपयोगात्मक दशामे जीवकी वैभाविक शक्ति उसके साथ अनन्यमयरूपसे प्रतीत होती है ।५४७ और इसका फल यह है कि क्षणिक होनेके कारण स्व-परनिमित्तक सर्व ही आगन्तुक भावोमें जीवकी हेय बुद्धि हो जाती है ।५४८।

६. उपचरित असद्भूत व्यवहार निर्देश

१. भिन्न द्रव्योंमें अभेदकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

आ॰ प./१० संश्लेषरहितवस्तुसंबन्धविषय उपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा—देवदत्तस्य धनमिति ।=संश्लेष रहित वस्तुओंके सम्बन्धको विषय करनेवाला उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे—देवदत्त-का धन ऐसा कहना। (न. च./श्रुत/२५)।

आ प./५ असद्भूतव्यवहार एवोपचार: । उपचारादप्युपचारं य: करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहार: ।=असद्भूत व्यवहार ही उपचार है। उपचारका भी जो उपचार करता है वह उपचरित असद्भूत व्यवहार-नय है। (न. च./श्रुत/२६) (विशेष दे. उपचार)।

नि सा /ता. वृ/१८/उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीना कर्ता ।=उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्मा घट, पट, रथ आदिका कर्ता है। (द्र. सं./टी./८/२१/५।

प्र. सा /ता. वृ./परि /३६६/१३ उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम् । =उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे यह आत्मा, काष्ठ, आसन आदिपर बैठे हुए देवदत्तकी भाँति, अथवा समवशरणमें स्थित वीतराग सर्वज्ञकी भाँति, विवक्षित किसी एक ग्राम या घर आदिमें स्थित है।

द्र सं /टी /१६/५७/१० उपचरितासद्भूतव्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते।

द्र स./टी./६/२३/३ उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदु:ख भुङ्क्ते।

द्र.स./टी./४५/१६६/११ योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्याग: स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण ।=उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे सिद्ध जीव मोक्षशिलापर तिष्ठते है। जीव इष्टानिष्ट पंचेन्द्रियोके विषयोंसे उत्पन्न सुखदुखको भोगता है। बाह्यविषयो—पंचेन्द्रियके विषयोका त्याग कहना भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे है।

२. विभाव भावोंकी अपेक्षा लक्षण व उदाहरण

पं. ध /पू./५४६ उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नय. स भवति यथा। क्रोधाद्या: औदयिकाश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्या: स्यु: ।५४६। = उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे बुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादि विभावभाव भी जीवके कहे जाते है।

३. इस नयका कारण व प्रयोजन

पं ध /पू /५५०-५५१ बीजं विभावभावा: स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्। सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना भवन्ति यत: ।५५०। तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावा: । तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावा: ।५५१। = उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमे कारण यह है कि उक्त क्रोधादिकरूप विभावभाव नियमसे स्व व पर दोनोंके निमित्तसे होते है; क्योंकि शक्तिविशेषके रहनेपर भी वे विना निमित्तके नहीं हो सकते ।५५०। और इस नयका फल यह है कि बुद्धिपूर्वकके क्रोधादि भावोंके साधनसे अबुद्धिपूर्वकके क्रोधादिभावोंकी सत्ता भी साध्य हो जाती है, अर्थात् सिद्ध हो जाती है।

६. व्यवहार नयकी कथंचित् गौणता

१. व्यवहारनय असत्यार्थ है तथा इसका हेतु

स. सा /मू /११ ववहारोऽभूयत्थो।=व्यवहारनय अभूतार्थ है। (न. च/श्रुत/३०)।

आप्त मी./४६ संवृत्तिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ।४६। =संवृत्ति अर्थात् व्यवहार प्रवृत्तिरूप उपचार मिथ्या है। क्योकि यह परमार्थ-से विपरीत है।

ध. १/१,१,३७/२६३/८ अथवा नेदं व्याख्यानं समीचीनं । =(द्रव्येन्द्रियोंके सद्भावकी अपेक्षा केवलीको पंचेन्द्रिय कहने रूप व्यवहार-नयके) उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना।

न च /श्रुत/२६-३० योऽसौ भेदोपचारलक्षणोऽर्थ: सोऽपरमार्थ: । अभेदानुपचारस्यार्थस्यापरमार्थत्वात् । व्यवहारोऽपरमार्थप्रतिपादकत्वादभूतार्थ: ।=जो यह भेद और उपचार लक्षणवाला पदार्थ है, सो अपरमार्थ है; क्योकि, अभेद व अनुपचाररूप पदार्थको ही परमार्थपना है। व्यवहार नय उस अपरमार्थ पदार्थका प्रतिपादक होनेसे अभूतार्थ है। (प. ध./पू./५२२)।

पं. ध /पू /६३१,६३५ ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोऽपि कथमभूतार्थ.। गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ।६३१। तदसद् गुणोऽस्ति यतो न द्रव्यं नोभय न तद्योग: । केवलमद्वैतं सद् भवतु गुणो वा तदेव सद्द्रव्यम् ।६३५।=प्रश्न—सब ही व्यवहारनयको अभूतार्थ क्यो कहते हो, क्यो द्रव्य जैसे व्यवहारोपदेशसे गुणपर्यायवाला कहा जाता है, वैसा ही अनुभवसे ही गुणपर्यायवाला प्रतीत होता है। ।६३१। उत्तर—निश्चय करके वह 'सत्' न गुण, न द्रव्य है, न उभय है और न उन दोनोका योग है किन्तु केवल अद्वैत सत् है। उसी सत्को चाहे गुण मान लो अथवा द्रव्य मान लो, परन्तु वह भिन्न नही है।६३५।

पं. का./प. हेमराज/४५ लोक व्यवहारसे कुछ वस्तुका स्वरूप सधता नहीं।

मो मा प्र /७/३६६/८ व्यवहारनय स्वद्रव्य परद्रव्यकौ वा तिनके भावनिकौ वा कारणकार्यादिककौ काहूकौ काहूविषै मिलाय निरूपण करै है। सो ऐसे श्रद्धानतै मिथ्यात्व है। तातै याका त्याग करना।

मो. मा. प्र./७/४०७/२ करणानुयोगविषै भी कहीं उपदेशकी मुख्यता लिये उपदेश हो है, ताकौ सर्वथा तैसै ही न मानना।

२. व्यवहारनय उपचार मात्र है

स सा./मू /१५ जीवम्हि हेदुभूदबधस्स दु पस्सिदूण परिणाय। जीवेण कद कम्म भण्णदि उवयारमत्तेण ।=जीवको निमित्तरूप होनेसे कर्म-बन्धका परिणाम होता है। उसे देखकर, 'जीवने कर्म किये है' वह उपचार मात्रसे कहा जाता है। (स. सा/आ./१०७)।

स्या म./२८/३१२/८ पर उद्धृत—"तथा च वाचकमुख्य:" लौकिक समउपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार: । =वाचकमुख श्री उमास्वामीने (तत्त्वार्थाधिगमभाष्य/१/३५ में) कहा है, कि लोक व्यवहारके अनुसार तथा उपचारप्राय विस्तृत व्याख्यानको उपचार कहते है।

न. दी /१/§१४/१२ चक्षुषा प्रमीयत इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचार: शरणम् ।='आँखोसे जानते है' इत्यादि व्यवहार तो उपचारसे प्रवृत्त होता है।

पं ध./पू /५२१ पर्यायार्थिक नय इति वा व्यवहार एव नामेति। एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्र: स्यात् ।५२१। =पर्यायार्थिक नय और व्यवहारनय दोनो ही एकार्थवाची है, क्योकि सकल व्यवहार उपचार मात्र होता है।

पं. ध./उ /११३ तत्राद्वैतेऽपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम् । तत्राद्य: स्वांशसकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् । =अद्वैतमें दो प्रकारसे द्वैत

किया जाता है—पहिला तो अभेद द्रव्यमें गुण गुणी रूप अंश या भेद कल्पनाके द्वारा तथा दूसरा सोपाधिक अर्थात् भिन्न द्रव्योंमें अभेद-रूप। ये दोनों ही द्वैत औपचारिक है।

और भी देखो उपचार/५ (उपचार कोई पृथक् नय नहीं है। व्यवहारका नाम ही उपचार है)।

मो मा. प्र./७/३६६/३ उपचार निरूपण सो व्यवहार। (मो. मा. प्र/७/३६६/११);

३. व्यवहारनय व्यभिचारी है

स. सा/पं. जयचन्द/१२/क. ६ व्यवहारनय जहाँ आत्माको अनेक भेद-रूप कहकर सम्यग्दर्शनको अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार दोष आता है, नियम नहीं रहता।

और भी देखो नय/V/८ व्यभिचारी होनेके कारण व्यवहारनय निषिद्ध है।

४. व्यवहारनय लौकिक रूढ़ि है

स. सा/आ./८४ कुलाल' कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादि-रूढोऽस्ति तावद्व्यवहार'। =कुम्हार कलशको बनाता है तथा भोगता है ऐसा लोगोका अनादिसे प्रसिद्ध व्यवहार है।

पं ध/पू/५६७ अस्ति व्यवहार' किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात्। योऽय मनुजादिवपुर्भवति सजीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात्। =अलब्धबुद्धि होनेके कारण लोगोंका यह व्यवहार होता है, कि जो ये मनुष्यादिका शरीर है, वह जीव है। (पं. ध./उ/५६३)।

और भी देखो नय/V/२ में स. म—(व्यवहार लोकानुसार प्रवर्तता है)।

५. व्यवहारनय अध्यवसान है

स सा/आ./२७२ निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बन्धहेतुत्वे मुमुक्षो' प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्ध', तस्यापि परा-श्रितत्वाविशेषात्। =बन्धका हेतु होनेके कारण, मुमुक्षु जनोंको जो निश्चयनयके द्वारा पराश्रित समस्त अध्यवसानका त्याग करनेको कहा गया है, सो उससे वास्तवमें व्यवहारनयका ही निषेध कराया है; क्योंकि, (अध्यवसान की भाँति) व्यवहारनयके भी पराश्रितता समान ही है।

६. व्यवहारनय कथन मात्र है

स.सा/मू./गा. ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं। णवि णाण ण चरित्त ण दंसणं जाणगो सुद्धो।७। पथे मुस्सतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी। मुस्सदि एसो पथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।५८। तह जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो।५६। =ज्ञानीके चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है, ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है। निश्चय-से तो न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है।७। मार्गमें जाते हुए पथिकको लुटता देखकर ही व्यवहारी जन ऐसा कहते है कि यह मार्ग लुटता है। वास्तवमें मार्ग तो कोई लुटता नहीं है।५८। (इसी प्रकार जीवमें कर्म नोकर्मोके वर्णादिका संयोग देखकर) जिनेन्द्र भगवान्ने व्यवहारनयसे ऐसा कह दिया है कि यह वर्ण (तथा देहके संस्थान आदि) जीवके है।५६।

स. सा/आ./४१४ द्विविध द्रव्यलिङ्गं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपण-प्रकार', स केवलं व्यवहार एव न परमार्थ'। =श्रावक व श्रमणके लिंग-के भेदसे दो प्रकारका मोक्षमार्ग होता है, यह केवल प्ररूपण करनेका प्रकार या विधि है। वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं।

७. व्यवहारनय साधकतम नहीं है

प्र. सा/त. प्र./१८६ निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धद्योतको व्यवहारनय.। =निश्चयनय ही साधकतम है, अशुद्धका द्योतन करनेवाला व्यवहारनय नहीं।

देखो नय/V/८ (व्यवहारनयसे परमार्थवस्तुकी सिद्धि नहीं होती)।

८. व्यवहारनय सिद्धान्त विरुद्ध है तथा नयाभास है

प. ध./पू/श्लोक नं० ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोप'। दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विति चेत् ।५५२। तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति। स्वयमप्यतद्गुण-त्वादव्यवहाराविशेषतो न्यायात् ।५५३। नोऽयं व्यवहार' स्याद-व्यवहारो यथापसिद्धान्तात्। अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेक-धर्मित्वात् ।५६८। अथ चेद्घटकर्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽ-यम्। दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदा नयाभास '।५७६। =प्रश्न—दूसरी वस्तुके गुणोंको दूसरी वस्तुमें आरोपित करनेको असद्भूत व्यवहारनय कहते है (दे० नय/V/५/४-६)। जैसे कि जीवको वर्णादिमान कहना ।५५२। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं अतद्गुण होनेसे, न्यायानुसार अव्यवहारके साथ कोई भी विशेषता न रखनेके कारण, वे नय नहीं है, किन्तु नयाभास संज्ञक है।५५३। ऐसा व्यवहार क्योंकि सिद्धान्त विरुद्ध है, इसलिए अव्यव-हार है। इसका अपसिद्धान्तपना भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि यहाँ उपरोक्त दृष्टान्तमें जीव व शरीर ये दो भिन्न-भिन्न धर्मी है पर इन्हें एक कहा जा रहा है।५६८। प्रश्न—कुम्भकार घड़ेका कर्ता है, ऐसा जो लोकव्यवहार है वह दुर्निवार हो जायेगा अर्थात् उसका लोप हो जायेगा।५७६। उत्तर—दुर्निवार होता है तो होओ, इसमे हमारी क्या हानि है; क्योंकि यह लोकव्यवहार तो नया-भास है। (५७६)

९. व्यवहारनयका विषय सदा गौण होता है

स.सि/५/२२/२६२/४ अध्यारोप्यमाण' कालव्यपदेशस्तद्व्यपदेशनिमि-त्तस्य कालस्यास्तित्व गमयति। कुत, गौणस्य मुख्यापेक्षत्वात्। =(ओदनपाक काल इत्यादि रूपसे) जो काल संज्ञाका अध्यारोप होता है, वह उस संज्ञाके निमित्तभूत मुख्यकालके अस्तित्वका ज्ञान कराता है; क्योंकि गौण व्यवहार मुख्यकी अपेक्षा रखता है।

ध ४/१,५,१४५/४०३/३ के वि आइरिया कज्जे कारणोवयारमवलंबिय बादरट्ठिदीए चेय कम्मट्ठिदिसण्णमिच्छंति, तन्न घटते, 'गौणमुख्य-योर्मुख्ये संप्रत्यय' इति न्यायात्। =कितने ही आचार्य कार्यमें कारणका उपचारका अवलम्बन करके बादरस्थितिकी ही 'कर्म-स्थिति' यह संज्ञा मानते है; किन्तु यह कथन घटित नहीं होता है; क्योकि, 'गौण और मुख्यमें विवाद होनेपर मुख्यमें ही संप्रत्यय होता है' ऐसा न्याय है।

न. दी./२/§१२/३४ इदं चामुख्यप्रत्यक्षम् उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु परोक्षमेव मतिज्ञानत्वात्। =यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य अर्थात् गौण प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचारसे ही इसके प्रत्यक्षपनेकी सिद्धि है। वस्तुत तो यह परोक्ष ही है, क्योंकि यह मतिज्ञानरूप है। (जिसे इन्द्रिय व बाह्यपदार्थ सापेक्ष होनेके कारण परोक्ष कहा गया है।)

न.दी./३/§३०/७५ परोपदेशवाक्यमेव परार्थानुमानमिति केचित्; त एवं प्रष्टव्या; तत्किं मुख्यानुमानम्। अथ गौणानुमानम्। इति, न तावन्मुख्यानुमानम् वाक्यस्याज्ञानरूपत्वात्। गौणानुमान तद्वाक्य-मिति त्वनुमन्यामहे, तत्कारणे तद्व्यपदेशोपपत्तेरायुर्घृतमित्यादि-वत्। ='(पंचावयव समवेत) परोपदेश वाक्य ही परार्थानुमान है', ऐसा किन्हीं (नैयायिकों) का कहना है। पर उनका यह कहना ठीक नहीं है। हम उनसे यह पूछते है वह वाक्य मुख्य अनुमान है या कि गौण अनुमान है? मुख्य तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि वाक्य अज्ञानरूप है। यदि उसे गौण कहते हो तो, हमें स्वीकार है, क्योंकि ज्ञानरूप मुख्य अनुमानके कारण ही उसमें (उपचार या व्यवहारसे) यह व्यपदेश हो सकता है। जैसे 'घी आयु है' ऐसा व्यपदेश होता है। प्रमाणमीमासा (सिंघी ग्रन्थमाला कलकत्ता/२/१/६)।

और भी दे० नय/V/६/१/३ (निश्चय मुख्य है और व्यवहार गौण)।

१०. शुद्ध दृष्टिमें व्यवहारको स्थान नहीं

नि.सा./ता वृ /४७/क ७१ प्रागेव शुद्धता येषा सुधियां कुधियामपि। नयेन केनचित्तेषा भिदा कामपि वेद्म्यहम् ।७१। =सुबुद्धि हो या कुबुद्धि अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि, सबमें ही जब शुद्धता पहले हो से विद्यमान है, तब उनमें कुछ भी भेद मैं किस नयसे करूँ।

११. व्यवहारनयका विषय निष्फल है

स.सा./आ./२६६ यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूप केवलमात्मनोऽनर्थायैव। =(मै पर जीवोंको सुखी दुखी करता हूँ) इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सभी मिथ्या है, क्योकि परभावका परमें व्यापार न होनेसे स्वार्थक्रियाकारीपन नहीं है, परभाव परमें प्रवेश नहीं करता। जिस प्रकार कि 'मै आकाशके फूल तोडता हूँ' ऐसा कहना मिथ्या है तथा अपने अनर्थके लिए है, परका कुछ भी करनेवाला नहीं।

पं. ध /उ./५६३-५६४ तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात्। निःसारैराश्रिता पुम्भिरथानिष्टफलप्रदा ।५६३। अफलानिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी। दुस्त्याज्या लौकिकी रूढि केश्चिद्दुष्कर्मपाकतः।५६४। =अनेक विकल्पोवाली यह लौकिक रूढि है और वह निस्सार पुरुषो द्वारा आश्रित है तथा अनिष्ट फलको देनेवाली है।५६३। यह लौकिकी रूढि निष्फल है, दुष्फल है, युक्तिरहित है, अन्वर्थ अर्थसे असम्बद्ध है, मिथ्याकर्मके उदयसे होती है तथा किन्हींके द्वारा दुस्त्याज्य है।५६४। (प.ध./पू /५६३)।।

१२. व्यवहारनयका आश्रय मिथ्यात्व है

स सा /आ./४१४ ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्धया चेतयन्ते ते समयसारमेव न सचेतयन्ते। =जो व्यवहारको ही,परमार्थ बुद्धिसे अनुभव करते हैं, वे समयसारका ही अनुभव नहीं करते। (पु सि.उ./६)।

प्र. सा./त प्र /९४ ते खल्चच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा सङ्गतत्वात्परसमया जायन्ते। =वे जिनकी निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है, ऐसे, 'यह मै मनुष्य ही हूँ', ऐसे मनुष्य-व्यवहारका आश्रय करके रागी द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्मके साथ सगतताके कारण वास्तवमें परसमय होते है।

प्र. सा./त. प्र /१९० यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयोपजनितमोह' सन् परद्रव्ये ममत्व न जहाति स खलु' उन्मार्गमेव प्रतिपद्यते। =जो आत्मा शुद्ध द्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयसे निरपेक्ष रहकर अशुद्ध द्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयसे जिसे मोह उत्पन्न हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ, परद्रव्यमें ममत्व नहीं छोड़ता है वह आत्मा वास्तवमें उन्मार्गका ही आश्रय लेता है।

प. ध./पू./६२८ व्यवहार' किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यत'। प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च। =स्वयमेव मिथ्या अर्थका उपदेश करनेवाला होनेके कारण व्यवहारनय निश्चय करके मिथ्या है। तथा इसके अर्थपर दृष्टि रखनेवाला मिथ्यादृष्टि है। इसलिए यह नय हेय है।

दे० कर्ता/३ (एक द्रव्यको दूसरेका कर्ता कहना मिथ्या है)।

कारक/४ (एक द्रव्यको दूसरेका बताना मिथ्या है)।

कारण/III/२/१२ (कार्यको सर्वथा निमित्ताधीन कहना मिथ्या है)।

दे० नय/V/३/३ (निश्चयनयका आश्रय करनेवाले ही सम्यग्दृष्टि होते है, व्यवहारका आश्रय करनेवाले नही।)

१३. व्यवहारनय हेय है

मो. पा./मू./३२ इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं। =(जो व्यवहारमें जागता है सो आत्माके कार्यमें सोता है। गा ३१) ऐसा जानकर योगी व्यवहारको सर्व प्रकार छोडता है।३२।

प्र. सा./त प्र./१४५ प्राणचतुष्काभिसबन्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति। =इस व्यवहार जीवत्वकी कारणरूप जो चार प्राणोंकी सयुक्तता है, उससे जीवको भिन्न करना चाहिए।

स. सा /आ./११ अत प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्य। =अत कर्मोंसे भिन्न शुद्धात्माको देखनेवालोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

प्र. सा./ता. वृ /१८९/२५३/१२ इद नयद्वय तावदस्ति। किन्त्वत्र निश्चयनय उपादेय; न चासद्भूतव्यवहार.। =यद्यपि नय दो है, किन्तु यहाँ निश्चयनय उपादेय है, असद्भूत व्यवहारनय नहीं। (पं ध./पू /६३०)

और भी दे० आगे नय/V/९ (दोनों नयोंके समन्वयमें इस नयका कथचित् हेयपना)।

और भी दे० आगे नय/V/८ (इस नयको हेय कहनेका कारण व प्रयोजन)

७. व्यवहारनयकी कथंचित् प्रधानता

१. व्यवहारनय सर्वथा निषिद्ध नहीं है

ध १/१,१,३०/२३०/४ प्रमाणाभावे वचनाभावत सकलव्यवहारोच्छित्तिप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, वस्तुविषयविधिप्रतिषेधयोरप्यभावप्रसङ्गात्। अस्तु चेन्न, तथानुपलम्भात्। =प्रमाणका अभाव होनेपर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, और उसके बिना सम्पूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है। प्रश्न—यदि लोकव्यवहारका विनाश होता है तो हो जाओ। उत्तर—नहीं, क्योकि ऐसा माननेपर वस्तु विषयक विधिप्रतिषेधका भी अभाव हो जाता है। प्रश्न—वह भी हो जाओ। उत्तर—नही, क्योंकि वस्तुका विधि प्रतिषेध रूप व्यवहार देखा जाता है। (और भी दे० नय/V/९/३)

स. सा./ता. वृ./३५६-३६५/४४७/१५ ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञ.; तस्य किमिति दूषण दीयते भवद्भिरिति। तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्ग। एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्य जानाति पश्यति निश्चयेन पुन स्वद्रव्यमेवेति। =प्रश्न-सोगत मतवाले (बौद्ध जन) भी सर्वज्ञपना व्यवहारसे मानते हे, तब आप उनको दूषण क्यो देते है (क्योंकि, जैन मतमे भी परपदार्थोका जानना व्यवहारनयसे कहा जाता है)। उत्तर—इसका परिहार करते है—सौगत आदि मतोंमें, जिस प्रकार निश्चयकी अपेक्षा व्यवहार झूठ है, उसी प्रकार व्यवहाररूपसे भी वह सत्य नहीं हैं। परन्तु जैन मतमें व्यवहारनय यद्यपि निश्चयकी अपेक्षा मृषा (झूठ) है, तथापि व्यवहार रूपसे वह सत्य है। यदि लोकव्यवहाररूपसे भी उसे सत्य न माना जाये तो सभी लोकव्यवहार मिथ्या हो जायेगा; और ऐसा होनेपर अतिप्रसंग दोष आयेगा। इसलिए आत्मा व्यवहारसे परद्रव्यको जानता देखता है, पर निश्चयनयसे केवल आत्माको ही। (विशेष दे०—केवलज्ञान/६, ज्ञान/३/४, दर्शन/२)

स. सा./प. जयचन्द/६ शुद्धता अशुद्धता दोनो वस्तुके धर्म हैं। अशुद्धनयको सर्वथा असत्यार्थ ही न मानना।·· अशुद्धनयको असत्यार्थ कहनेसे ऐसा तो न समझना कि यह वस्तुधर्म सर्वथा ही

नहीं, आकाशके फूलकी तरह असत् है। ऐसे सर्वथा एकान्त माननेसे मिथ्यात्व आता है। (स. सा./पं. जयचन्द/१४)

स. सा./पं. जयचन्द/१२ व्यवहारनयको कथंचित् असत्यार्थ कहा है, यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड दे तो शुभोपयोगरूप व्यवहार छोड दे, और चूँकि शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई, इसलिए उलटा अशुभोपयोगमें ही आकर भ्रष्ट हुआ। यथा कथंचित् स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादिगति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा।

२. निचली भूमिकामें व्यवहार प्रयोजनीय है

स. सा./मू./१२ सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं। ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे। =परमभावदर्शियोंको (अर्थात् शुद्धात्मध्यानरत पुरुषोंको) शुद्धतत्त्वका उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है। और जो जीव अपरमभावमें स्थित है (अर्थात् बाह्य क्रियाओंका अवलम्बन लेनेवाले है) वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य है।

स. सा./ता. वृ./१२/२६/६ व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः पुन अधस्तनवार्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति। केषां। ये पुरुषा पुन. अशुद्धे असयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिता, कस्मिन् स्थिता। जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः। =व्यवहारका उपदेश करनेपर व्यवहारनय प्रथम द्वितीयादि बार पके हुए सुवर्णकी भाँति किनको? जो पुरुष अशुद्ध अवस्थामें स्थित अर्थात् भेदरत्नत्रय लक्षणवाले १-७ गुणस्थानोमें स्थित है, उनको व्यवहारनय प्रयोजनवान् है। (मो. मा प्र./१७/३७२/८)

३. मन्दबुद्धियोंके लिए उपकारी है

ध.१/१,१,३७/२६३/७ सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहारनय किमित्यवलम्व्यते इति चेन्नैष दोष, मन्दमेधसामनुग्रहार्थत्वात्। =प्रश्न—सब जगह निश्चयनयका आश्रय लेकर वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करनेके पश्चात् फिर यहाँपर व्यवहारनयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योंकि मन्दबुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिए उक्त प्रकारसे वस्तुस्वरूपका विचार किया है। (ध ४/१,३,५५/१२०/१) (पं.वि./११/८)

ध. १३/४,२,८,३/२८१/२ एवंविहववहारो किमट्ठं कीरदे। सुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिबोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहट्ठं च। =प्रश्न—इस प्रकारका व्यवहार किस लिए किया जाता है? उत्तर—सुखपूर्वक ज्ञानावरणीयके प्रत्ययोंका प्रतिबोध करानेके लिए तथा कार्यके प्रतिषेध द्वारा कारणका प्रतिषेध करनेके लिए भी उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है।

स सा./आ./७ यतोऽनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभि. कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासता सूरिणा धर्मधर्मिणो स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शन, ज्ञान चारित्रमित्युपदेशः। =क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मीमें जो निष्णात नहीं है, ऐसे निकटवर्ती शिष्योंको, धर्मीको बतलानेवाले कितने ही धर्मोंके द्वारा उपदेश करते हुए आचार्योंका—यद्यपि धर्म और धर्मीका स्वभावसे अभेद है, तथापि नामसे भेद करके, व्यवहार मात्रसे ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। (पु. सि उ./६), (पं. वि /११/८) (मो. मा. प्र /७/३७२/१५)

४. व्यवहार पूर्वक ही निश्चय तत्त्वका ज्ञान सम्भव है

प वि./११/११ मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यत सन्त.। ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृति पूज्या। =चूँकि सज्जन पुरुष व्यवहारनयके आश्रयसे ही मुख्य और उपचारभूत कथनको जानकर शुद्धस्वरूपका आश्रय लेते हैं, अतएव व्यवहारनय पूज्य है।

स. सा./ता. वृ./६/२०/१४ व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते। =व्यवहारनयसे परमार्थ जाना जाता है।

५. व्यवहारके बिना निश्चयका प्रतिपादन शक्य नहीं

स. सा./मू./८ तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्। (उत्थानिका)—जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं। तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।८। =प्रश्न—तब तो एक परमार्थका ही उपदेश देना चाहिए था, व्यवहारका उपदेश किसलिए दिया जाता है? उत्तर—जैसे अनार्यजनको अनार्य भाषाके बिना किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिए कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश देना अशक्य है। (पं. ध./पू./६४१), (मो. मा. प्र./७/३७०/४)

स. सि./१/३३/१४२/३ सर्वसंग्रहेण यत्सत्त्वं गृहीतं तच्चानपेक्षितविशेषं नालं संव्यवहारायेति व्यवहारनय आश्रीयते। =सर्व संग्रहनयके द्वारा जो वस्तु ग्रहण की गयी है, वह अपने उत्तर भेदोंके बिना व्यवहार करानेमें असमर्थ है, इसलिए व्यवहारनयका आश्रय लिया जाता है। (रा. वा./१/३३/६/९६/२२)

६. वस्तुमें आस्तिक्य बुद्धि कराना इसका प्रयोजन है

स्या. म./२८/३१५/२८ पर उद्धृत श्लोक नं. ३ व्यवहारस्तु तामेव प्रतिवस्तु व्यवस्थिताम्। तथैव दृश्यमानत्वाद् व्यापारयति देहिन.। =संग्रहनयसे जानी हुई सत्ताको प्रत्येक पदार्थमें भिन्न रूपसे मानकर व्यवहार करनेको व्यवहारनय कहते हैं। यह नय जीवोंका उन भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें व्यापार कराता है, क्योंकि जगत्‌में वैसे भिन्न-भिन्न पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे है।

पं. ध./पू./५२४ फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य। गुणसद्भावे ध्रुवस्माद्द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात्। =अनन्तधर्मवाले धर्मीके विषयमें आस्तिक्य बुद्धिका होना ही उसका फल है, क्योंकि गुणोंका अस्तित्व माननेपर ही नियमसे द्रव्यका अस्तित्व प्रतीत होता है।

७. वस्तुकी निश्चित प्रतिपत्तिके अर्थ यही प्रधान है

पं. ध./पू./६३७-६३९ ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थ.। किमकिंचित्कारित्वाद्व्यवहारेण तथाविधेन यत।६३७। नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ। वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बितज्ज्ञानम्।६३८। तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नयः प्रसङ्गत्वात्। ।६३९। =प्रश्न—जब निश्चयनय ही वास्तवमें आदरणीय है तब फिर अकिंचित्कारी और अपरमार्थभूत व्यवहारनयसे क्या प्रयोजन है? ।६३७। उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तत्त्वके सम्बन्धमें विप्रतिपत्ति (विपर्यय) होने पर अथवा संशय आ पडनेपर, वस्तुका विचार करनेमें वह व्यवहारनय बलपूर्वक प्रवृत्त होता है। अथवा जो ज्ञान निश्चय व व्यवहार दोनो नयोंका अवलम्बन करनेवाला है वही प्रमाण कहलाता है।६३८। इसलिए प्रसंगवश वह किन्हींके लिए आश्रय करने योग्य है।६३९।

८. व्यवहार शून्य निश्चयनय कल्पनामात्र है

अन. ध./१/१००/१०७ व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति। बीजादिना विना मूढ. स सस्यानि सिसृक्षति।१००। =वह मनुष्य बीज खेत जल खाद आदिके बिना ही धान्य उत्पन्न करना चाहता है, जो व्यवहारसे पराङ्मुख होकर केवल निश्चयनयसे ही कार्य सिद्ध करना चाहता है।

८. व्यवहार व निश्चयकी हेयोपादेयताका समन्वय

१. निश्चयनयकी उपादेयताका कारण व प्रयोजन

स. सा./मू./२७२ णिच्छयणयासिदा मुणिणो पावंति णिव्वाणं। =निश्चयनयके आश्रित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

नय/V/३/३ (निश्चयनयके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन होता है।)

प. प्र./१/७१ देहहँ पेक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि। जो अजरामरु बंभपरु सो अप्पाणु मुणेउ ।७१। =हे जीव! तू इस देहके बुढापे व मरणको देखकर भय मत कर। जो वह अजर व अमर परमब्रह्म तत्त्व है उसही को आत्मा मान।

न. च./श्रुत/३२ निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानन्दं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रान्तं करोति तमिति पूज्यतम'। =निश्चयनय एकत्वको प्राप्त कराके ज्ञानरूपी चैतन्यमें स्थापित करता है। परमानन्दको उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वत' निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीवको नयपक्षसे अतीत कर देता है। इस कारण वह पूज्यतम है।

न. च./श्रुत/६६-७० यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारो निवर्तते तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्त्तते। यथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसितभावेनैकविकल्पोऽपि निवर्तते। एव हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभाव स एव नयपक्षातीत'। =जिस प्रकार सम्यक्व्यवहारसे मिथ्या व्यवहारकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार निश्चयनयसे व्यवहारके विकल्पोंकी भी निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार निश्चयनयसे व्यवहारके विकल्पोकी निवृत्ति होती है उसी प्रकार स्वमें स्थित स्वभावसे निश्चयनयकी एकताका विकल्प भी निवृत्त हो जाता है। इसलिए स्वस्थित स्वभाव ही नयपक्षातीत है। (सू पा./टी./६/५६/६)।

स. सा./आ./१८०/क.१२२ इदमेवात्र तात्पर्यं हेय शुद्धनयो न हि। नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बन्ध एव हि। =यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; क्योकि, उसके अत्यागसे बन्ध नही होता है और उसके त्यागसे बन्ध होता है।

प्र. सा./त. प्र./१९१ निश्चयनयापहस्तितमोह' 'आत्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येकस्मिन्नग्रे चिन्ता निरुणद्धि खलु...निरोधसमये शुद्धात्मा स्यात्। अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभ। =निश्चयनयके द्वारा जिसने मोहको दूर किया है, वह पुरुष आत्माको ही आत्मरूपसे ग्रहण करता है, और परद्रव्यसे भिन्नत्वके कारण आत्मारूप एक अग्रमें ही चिन्ताको रोकता है (अर्थात् निर्विकल्प समाधिको प्राप्त होता है)। उस एकाग्रचिन्तानिरोधके समय वास्तवमें वह शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। (स.सा./ता. वृ./४१/८९/१६), (प.ध./पू./६६३)।

प्र. सा./ता वृ./१८६/२५३/१३ ननु रागादीनात्मा करोति भुङ्क्ते चेत्येवं लक्षणो निश्चयनयो व्याख्यात', स कथमुपादेयो भवति। परिहारमाह—रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्म, रागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मानं भावयति। ततश्च रागादिविनाशो भवति। रागादिविनाशे च आत्मा शुद्धो भवति। ...तथैवोपादेयो भण्यते इत्यभिप्राय। =प्रश्न—रागादिकको आत्मा करता है और भोगता है ऐसा (अशुद्ध) निश्चयका लक्षण कहा गया है। वह कैसे उपादेय हो सकता है? उत्तर—इस शकाका परिहार करते है—रागादिकको ही आत्मा करता (व भोगता है) द्रव्यकर्मोंको नही। इसलिए रागादिक ही बन्धके कारण है (द्रव्यकर्म नहीं)। ऐसा यह जीव जब जान जाता है तब रागादि विकल्पजालका त्याग करके रागादिकके विनाशार्थ शुद्धात्माकी भावना भाता है। उससे रागादिकका विनाश होता है। और रागादिकका विनाश होनेपर आत्मा शुद्ध हो जाती है। इसलिए इस (अशुद्ध निश्चयनयको भी) उपादेय कहा जाता है।

२. व्यवहारनयके निषेधका कारण

१. अभूतार्थ प्रतिपादक होनेके कारण निषिद्ध है

पं. ध./पू./६२७-२८ न यतो विकल्पमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु। प्रतिषेधस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य।६२७। व्यवहार' किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यत:। प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ।६२८। =वस्तुके अनुसार केवल विकल्परूप अर्थाकार परिणत होना प्रतिषेध्यका कारण नहीं है, किन्तु वास्तविक न होनेके कारण इसका प्रतिषेध होता है।६२७। निश्चय करके व्यवहारनय स्वयं ही मिथ्या अर्थका उपदेश करनेवाला है, अत' मिथ्या है। इसलिए यहाँपर प्रतिषेध्य है। और इसके अर्थपर दृष्टि रखनेवाला मिथ्यादृष्टि है।६२८। (विशेष दे० नय/V/६/१)।

२. अनिष्ट फलप्रदायी होनेके कारण निषिद्ध है

प्र सा./त. प्र./१८९ अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव। =इससे जाना जाता है कि अशुद्धनयसे अशुद्धआत्माका लाभ होता है।

पं. ध./पू./५६३ तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोप। इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीव'। =इसी कारण, अतद्गुणमें तदारोप करनेवाला व्यवहारनय इष्ट फलके अभावसे उपादेय नहीं है। जैसे कि यहाँ पर जीवको वर्णादिमान् कहना नय नहीं है (नयाभास है), (विशेष दे० नय/V/६/११)।

३. व्यभिचारी होनेके कारण निषिद्ध है

स. सा./आ./२७७ तत्राचारादीना ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद्व्यवहारनय' प्रतिषेध्य। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वात्तत्प्रतिषेधक। =व्यवहारनय प्रतिषेध्य है; क्योंकि (इसके विषयभूत परद्रव्यस्वरूप) आचारांगादि (द्वादशांग श्रुतज्ञान, व्यवहारसम्यग्दर्शन व व्यवहारसम्यग्चारित्र) का आश्रयत्व अनैकान्तिक है, व्यभिचारी है (अर्थात् व्यवहारावलम्बीको निश्चय रत्नत्रय हो अथवा न भी हो) और निश्चयनय व्यवहारका निषेधक है; क्योकि (उसके विषयभूत) शुद्धात्माके ज्ञानादि (निश्चयरत्नत्रयका) आश्रय एकान्तिक है अर्थात् निश्चित है। (नय/V/६/३) और व्यवहारके प्रतिषेधक हैं।

३. व्यवहारनय निषेधका प्रयोजन

पु. सि. उ./६,७ अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्। व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति।६। माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य। व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य।७। =अज्ञानीको समझानेके लिए ही मुनिजन अभूतार्थ जो व्यवहारनय, उसका उपदेश देते है। जो केवल व्यवहार ही को सत्य मानते हे, उनके लिए उपदेश नहीं है।६। जो सच्चे सिंहको नहीं जानते है उनको यदि 'बिलाव जैसा सिंह होता है' यह कहा जाये तो बिलावको ही सिंह मान बैठेंगे। इसी प्रकार जो निश्चयको नहीं जानते उनको यदि व्यवहारका उपदेश दिया जाये तो वे उसीको निश्चय मान लेंगे।७। (मो. मा. प्र./७/३७२/८)।

स. सा./आ./११ प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्य। =अन्य पदार्थोंसे भिन्न आत्माको देखनेवालोंको व्यवहारनयका अनुसरण नहीं करना चाहिए।

पं./वि /११/८ व्यवहतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।= अबोधजनोंको समझानेके लिए ही व्यवहारनय है, परन्तु शुद्धनय कर्मोंके क्षयका कारण है।

स. सा /ता. वृ./३२४-३२७/४१४/६ ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीय वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत्। व्यवहारो हि म्लेच्छाना म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्य। प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्च्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीय करोतीति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति।=प्रश्न—ज्ञानी होकर व्यवहारनयसे परद्रव्यको अपना कहनेसे वह अज्ञानी कैसे हो जाता है? उत्तर—म्लेच्छोंको समझानेके लिए म्लेच्छ भाषाकी भाँति प्राथमिक जनोंको समझानेके समय ही व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य है। प्राथमिकजनोंके सम्बोधनकालको छोडकर अन्य समयोंमें नहीं। अर्थात् कतकफलकी भाँति जो आत्माकी शुद्धि करनेवाला है, ऐसे शुद्धनयसे च्युत होकर यदि परद्रव्यको अपना कहता है तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है। (अर्थात् निश्चयनय निरपेक्ष व्यवहार दृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि ही सर्वदा सर्वप्रकार व्यवहारका अनुसरण करता है, सम्यग्दृष्टि नहीं।

४. व्यवहार नयकी उपादेयताका कारण व प्रयोजन

दे. नय/V/७ निचली भूमिकावालोंके लिए तथा मन्दबुद्धिजनोंके लिए यह नय उपकारी है। व्यवहारसे ही निश्चय तत्त्वज्ञानकी सिद्धि होती है तथा व्यवहारके बिना निश्चयका प्रतिपादन भी शक्य नहीं है। इसके अतिरिक्त इस नय द्वारा वस्तुमें आस्तिक्य बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

श्लो. वा. ४/१/३३/६०/२४६/२८ तदुक्तं—व्यवहारानुकूल्येन प्रमाणाना प्रमाणता। नान्यथा बाध्यमानाना, तेषां च तत्प्रसङ्गतः। =लौकिक व्यवहारोंकी अनुकूलता करके ही प्रमाणोंका प्रमाणपना व्यवस्थित हो रहा है, दूसरे प्रकारोंसे नहीं। क्योंकि, वैसा माननेपर तो बाध्यमान जो स्वप्न, भ्रान्ति व संशय ज्ञान है, उन्हें भी प्रमाणता प्राप्त हो जायेगी।

न. च /श्रुत/३१ किमर्थं व्यवहारोऽसत्कल्पनानिवृत्त्यर्थं सद्रत्नत्रयसिद्ध्यर्थं च।=प्रश्न—अर्थका व्यवहार किसलिए किया जाता है? उत्तर—असत् कल्पनाकी निवृत्तिके अर्थ तथा सम्यक् रत्नत्रयकी प्राप्तिके अर्थ।

स.सा /आ./१२ अथ च केषाचित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवान्। (उत्थानिका)।… ये तु अपरम भावमनुभवन्ति तेषा · व्यवहारनयो … परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च—'जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह। एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।

स. सा./आ /४६ व्यवहारो हि व्यवहारिणा म्लेच्छभाषेव म्लेच्छाना परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितु न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणा भस्मन इव नि शङ्कमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बन्धस्याभाव। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषविमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव। =१. व्यवहारनय भी किसी किसीको किसी काल प्रयोजनवान् है।—जो पुरुष अपरमभावमें स्थित है [अर्थात् अनुत्कृष्ट या मध्यमभूमिका अनुभव करते है अर्थात् ४-७ गुणस्थान तकके जीवोंको (दे नय V/८/२)] उनको व्यवहारनय जाननेमें आता हुआ उस समय प्रयोजनवान् है, क्योकि तीर्थ व तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है। अन्यत्र भी कहा है—हे भव्य जीवो! यदि तुम जिनमतका प्रवर्तना कराना चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको मत छोडो; क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थका नाश हो जायेगा और निश्चयनयके बिना तत्त्वका नाश हो जायेगा। २. जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छभाषा वस्तुका स्वरूप बतलाती है (नय/V/७/५) उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहने वाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसगत ही है। परन्तु यदि व्यवहारनय न बतलाया जाय तो, क्योंकि परमार्थसे जीवको शरीरसे भिन्न बताया गया है, इसलिए जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है, उसी प्रकार त्रसस्थावर जीवोंको नि:शकतया मसल देनेसे भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्धका ही अभाव सिद्ध होगा। तथा परमार्थसे जीव क्योंकि रागद्वेष मोहसे भिन्न बताया गया है, इसलिए 'रागी द्वेषी मोही जीव कर्मसे बन्धता है, उसे छुडाना'—इस प्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा। इस प्रकार मोक्षके उपायका अभाव होनेसे मोक्षका ही अभाव हो जायेगा।

९. निश्चय व्यवहारके विषयोंका समन्वय

१. दोनों नयोंमें विषय विरोध निर्देश

श्लो. वा. ४/१/७/२८/५८५/२ निश्चयनयादनादिपारिणामिकचैतन्यलक्षणजीवत्वपरिणतो जीव व्यवहारादौपशमिकादिभावचतुष्टयस्वभाव', निश्चयतः स्वपरिणामस्य, व्यवहारत सर्वेषा; निश्चयनयो जीवत्वसाधन., व्यवहारादौपशमिकादिभावसाधनश्च, निश्चयत' स्वप्रदेशाधिकरणो, व्यवहारत शरीराद्यधिकरण', निश्चयतो जीवनसमयस्थिति' व्यवहारतो द्विसमयादिस्थितिरनाद्यवसानस्थितिर्वा; निश्चयतोऽनन्तविधान एव व्यवहारतो नारकादिसंख्येयासंख्येयानन्तविधानश्च।=निश्चयनयसे तो अनादि पारिणामिक चैतन्यलक्षण जो जीवत्व भाव, उससे परिणत जीव है, तथा व्यवहारनयसे औदयिक औपशमिक आदि जो चार भाव उन स्वभाव वाला जीव है (नय/V/१/३,५,८)। निश्चयसे स्वपरिणामोंका स्वामी व कर्ता भोक्ता है, तथा व्यवहारनयसे सब पदार्थोंका स्वामी व कर्ता भोक्ता है (नय/V/१/३,५,८ तथा नय/V/५) निश्चयसे पारिणामिक भावरूप जीवत्वका साधन है तथा व्यवहारनयसे औदयिक औपशमिकादि भावोंका साधन है। (नय/V/१/५,८) निश्चयसे जीव स्वप्रदेशोंमें अधिष्ठित है (नय/V/१/३), और व्यवहारसे शरीरादिमें अधिष्ठित है (नय/V/५/५)। निश्चयसे जीवनकी स्थिति एक समयमात्र है और व्यवहार नयसे दो समय आदि अथवा अनादि अनन्त स्थिति है। (नय/III/५/७) (नय/IV/३)। निश्चयनयसे जितने जीव है उतने ही अनन्त उसके प्रकार है, और व्यवहारनयसे नरक तिर्यंच आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकारका है। (इसी प्रकार अन्य भी इन नयोंके अनेको उदाहरण यथा योग्य समझ लेना)। (विशेष देखो पृथक्-पृथक् उस उस नयके उदाहरण) (पं. का /ता. वृ./२७/५६-६०)।

दे. अनेकान्त/५/४ (वस्तु एक अपेक्षासे जैसी है दूसरी अपेक्षासे वैसी नहीं है।)

२. दोनों नयोंमें स्वरूप विरोध निर्देश

१. इस प्रकार दोनों नय परस्पर विरोधी हैं

मो मा प्र /७/३६६/६ निश्चय व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोध लिये हैं। जातै समयसार विषै ऐसा कहा है—व्यवहार अभूतार्थ है—और निश्चय है सो भूतार्थ है (नय/V/३/१ तथा नय/V/६/१)।

नोट—(इसी प्रकार निश्चयनय साधकतम है, व्यवहारनय साधकतम नहीं है। निश्चयनय सम्यक्त्वका कारण है तथा व्यवहारनयके विषयका आश्रय करना मिथ्यात्व है। निश्चयनय उपादेय है और व्यवहारनय हेय है। (नय/V/३ व ६)। निश्चयनय अभेद विषयक है और व्यवहारनय भेद विषयक, निश्चयनय स्वाश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित; (नय/V/१ व ४) निश्चयनय निर्विकल्प, एक वचनातीत, व उदाहरण रहित है तथा व्यवहारनय सविकल्प, अनेकों, वचनगोचर व उदाहरण सहित है (नय/V/२/२,५)।

२. निश्चय मुख्य है और व्यवहार गौण

न. च /श्रुत./३२ तर्ह्येव द्वावपि सामान्येन पूज्यता गतौ। नह्येवं, व्यवहारस्य पूज्यतरत्वान्निश्चयस्य तु पूज्यतमत्वात्। =प्रश्न—(यदि दोनों ही नयोंके अवलम्बनसे परोक्षानुभूति तथा नयातिक्रान्त होनेपर प्रत्यक्षानुभूति होती है) तो दोनों नय समानरूपसे पूज्यताको प्राप्त हो जायेंगे? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वास्तवमें व्यवहारनय पूज्यतर है और निश्चयनय पूज्यतम।

पं ध/उ./८०६ तद् द्विधाथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्। प्रधानं स्वात्मसंबन्धि गुणो यावत परात्मनि।८०६। =वह वात्सल्य अंग भी स्व और परके विषयके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो स्वात्मा सम्बन्धी अर्थात् निश्चय वात्सल्य है वह प्रधान है और जो परात्मा सम्बन्धी अर्थात् व्यवहार वात्सल्य है वह गौण है।८०६।

३. निश्चयनय साध्य है और व्यवहारनय साधक

द्र. स./टी./१३/३३/६ निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्... परद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते। =परमात्मद्रव्य उपादेय है और परद्रव्य त्याज्य है, इस तरह सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय व्यवहारनयको साध्यसाधक भावसे मानता है। (दे. नय/V/७/४)।

४. व्यवहार प्रतिषेध्य है और निश्चय प्रतिषेधक

स. सा/मू./२७२ एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण। =इस प्रकार व्यवहारनयको निश्चयनयके द्वारा प्रतिषिद्ध जान। (स.पं.ध./पू./५९८,६२५,६४३)।

दे. स. सा/आ/१४२/क,७०–८९ का सारार्थ (एक नयकी अपेक्षा जीव बद्ध है तो दूसरेकी अपेक्षा वह अबद्ध है, इत्यादि २० उदाहरणों द्वारा दोनों नयोंका परस्पर विरोध दर्शाया गया है)।

६. दोनोंमें मुख्य गौण व्यवस्थाका प्रयोजन

प्र सा./त प्र/१९१ यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थ: शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयापहस्तितमोह: सन्...स खलु...शुद्धात्मा स्यात्। =जो आत्मा मात्र अपने विषयमें प्रवर्तमान ऐसे अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयमें अविरोधरूपसे मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयके द्वारा, जिसने मोहको दूर किया है, ऐसा होता हुआ (एकमात्र आत्मामें चित्तको एकाग्र करता है) वह वास्तवमें शुद्धात्मा होता है।

दे० नय/V/८/३ (निश्चय निरपेक्ष व्यवहारका अनुसरण मिथ्यात्व है।)

मो. मा प्र/७/पृष्ठ/पंक्ति जिनमार्गविषै कहीं तौ निश्चयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, ताकौं तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' ऐसा जानना। बहुरि कहीं व्यवहार नयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, ताकौं, 'ऐसे है नाहीं, निमित्तादि अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनिके व्याख्यानकों सत्यार्थ जानि 'ऐसे भी है और ऐसे भी है' ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तनेकरि तौ दोऊ नयनिका ग्रहण करना कह्या नाहीं। (पृ. ३६९/१४)। नीचली दशाविषै आपकौं भी व्यवहारनय कार्यकारी है, परन्तु व्यवहारकौं उपचारमात्र मानि वाके द्वारै वस्तुका श्रद्धान ठीक करै तौ कार्यकारी होय। बहुरि जो निश्चयवत् व्यवहार भी सत्यभूत मानि 'वस्तु ऐसे ही है' ऐसा श्रद्धान करै तौ उलटा अकार्यकारी हो जाय। (पृ.३७२/६) तथा (और भी दे० नय/V/८/३)।

का. अ/पं. जयचन्द/४६४ निश्चयके लिए तो व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चयके व्यवहार सारहीन है। (का. अ/पं. जयचन्द/४६७)।

दे० ज्ञान/IV/३/१ (निश्चय व व्यवहार ज्ञान द्वारा हेयोपादेयका निर्णय करके, शुद्धात्मस्वभावकी ओर झुकना ही प्रयोजनीय है।)

(और भी दे० जीव, अजीव, आस्रव आदि तत्त्व व विषय) (सर्वत्र यही कहा गया है कि व्यवहारनय द्वारा बताये गये भेदों या संयोगोंको हेय करके मात्र शुद्धात्मतत्त्वमें स्थित होना ही उस तत्त्वको जाननेका भावार्थ है।)

४. दोनोंमें साध्य-साधनभावका प्रयोजन दोनोंकी परस्पर सापेक्षता

न च./श्रुत/५३ वस्तुत: स्याद्भेद: कस्मान्न कृत इति नाशङ्कनीयम्। यतो न तेन साध्यसाधकयोरविनाभावित्वं। तद्यथा—निश्चयाविरोधेन व्यवहारस्य सम्यग्व्यवहारेण सिद्धस्य निश्चयस्य च परमार्थत्वादिति। परमार्थमुग्धानां व्यवहारिणां व्यवहारमुग्धानां निश्चयवादिनां उभयमुग्धानामुभयवादिनामनुभयमुग्धानामनुभयवादिनां मोहनिरासार्थं निश्चयव्यवहाराभ्यामालिङ्गितं कृत्वा वस्तु निर्णेयं। एवं हि कथंचिद्भेदपरस्पराविनाभावित्वेन निश्चयव्यवहारयोरनाकुला सिद्धि:। अन्यथाभास एव स्यात्। तस्माद्व्यवहारप्रसिद्ध्यैव निश्चयप्रसिद्धिर्नान्यथेति, सम्यग्द्रव्यागमप्रसाधिततत्त्वसेवया व्यवहाररत्नत्रयस्य सम्यग्रूपेण सिद्धत्वात्। =प्रश्न—वस्तुत: ही इन दोनों नयोंका कथंचित् भेद क्यों नहीं किया गया? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसा करनेसे उनमें परस्पर साध्यसाधक भाव नहीं रहता। वह ऐसे कि—निश्चयसे अविरोधी व्यवहारको तथा समीचीन व्यवहार द्वारा सिद्ध किये गये निश्चयको ही परमार्थपना है। इस प्रकार परमार्थसे मूढ केवल व्यवहारावलम्बियोंके, अथवा व्यवहारसे मूढ केवल निश्चयावलम्बियोंके, अथवा दोनोंकी परस्पर सापेक्षतारूप उभयसे मूढ निश्चयव्यवहारावलम्बियोंके, अथवा दोनों नयोंका सर्वथा निषेध करनेरूप अनुभयमूढ अनुभयावलम्बियोंके मोहको दूर करनेके लिए, निश्चय व व्यवहार दोनों नयोंसे आलिंगित करके ही वस्तुका निर्णय करना चाहिए।

इस प्रकार कथंचित् भेद रहते हुए भी परस्पर अविनाभावरूपसे निश्चय और व्यवहारकी अनाकुल सिद्धि होती है। अन्यथा अर्थात् एक दूसरेसे निरपेक्ष वे दोनों ही नयाभास होकर रह जायेंगे। इसलिए व्यवहारकी प्रसिद्धिसे ही निश्चयकी प्रसिद्धि है, अन्यथा नहीं। क्योंकि समीचीन द्रव्यागमके द्वारा तत्त्वका सेवन करके ही समीचीन रत्नत्रयकी सिद्धि होती है। (पं. ध./पू./६६२)।

न. च वृ/२८८–२९२ णो ववहारो मग्गो मोत्तूणं इयरं सुहासुहमिदि वयणं। उक्तं चान्यत्र, णियदव्वजाणणट्ठं इयरं कहियं जिणेहिं छद्दव्वं। तम्हा परछद्दव्वे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं।–ण हु ऐसा सुंदरा जुत्ती। णियसमयं पि य मिच्छा अह जइ सुण्णो य तस्स सो चेदा जाणगभावो मिच्छा उवयरिओ तेण सो भणई।२८९। जं चिय जीवसहावं उवयारं भणियं तं पि ववहारो। तम्हा णहु

तं मिच्छा विसेसदो भणइ सब्भावं ।२८६। ज्झेओ जीवसहाओ सो इह सपरावभासगो भणिओ। तस्स य साहणहेऊ उवयारो भणिय अत्थेसु ।२८७। जह सब्भूओ भणिदो साहणहेऊ अभेदपरमट्ठो। तह उवयारो जाणह साहणहेऊ अणुवयारे ।२८८। जो इह सुदेण भणिओ जाणदि अप्पाणमिणं तु केवल सुद्धं। त सुयकेवलिरिसिणो भणंति लोयप्पदीपयरा ।२८९। उवयारेण विजाणइ सम्मगुरूवेण जेण परदव्वं। सम्मगणिच्छय तेण वि सइय सहावं तु जाणंतो ।२९०। ण दु णय पक्खो मिच्छा तं पिय णेयतदव्वसिद्धियरा। सियसद्दसमारूढं जिणवयणविग्गियं सुद्धं ।२९२। =प्रश्न—व्यवहारमार्ग कोई मार्ग नही है, क्योकि शुभाशुभरूप वह व्यवहार वास्तवमें मोह है, ऐसा आगमका वचन है। अन्य ग्रन्थोमें कहा भी है कि 'निज द्रव्यके जाननेके लिए ही जिनेन्द्र भगवान्‌ने छह द्रव्योका कथन किया है, इसलिए केवल पररूप उन छह द्रव्योका जानना सम्यग्ज्ञान नही है। (दे० द्रव्य/२/४)। उत्तर—आपकी युक्ति सुन्दर नही है, क्योकि परद्रव्योको जाने बिना उसका स्वसमयपना मिथ्या है, उसकी चेतना शून्य है, और उसका ज्ञायकभाव भी मिथ्या है। इसीलिए अर्थात् परको जाननेके कारण ही उस जीवस्वभावको उपचरित भी कहा गया है (दे० स्वभाव) ।२८५। क्योकि कहा गया वह जीवका उपचरित स्वभाव व्यवहार है, इसीलिए वह मिथ्या नही है, बल्कि उसी स्वभावकी विशेषताको दर्शानेवाला है (दे० नय/V/७/१) ।२८६। जीवका शुद्ध स्वभाव ध्येय है और वह स्व-पर प्रकाशक कहा गया है। (दे० केवलज्ञान/६; ज्ञान/-I/३; दर्शन/२)। उसका कारण व हेतु भी वास्तवमें परपदार्थोंमें किया गया ज्ञेयज्ञायक रूप उपचार ही है ।२८७। जिस प्रकार अभेद व परमार्थ पदार्थमे गुण गुणीका भेद करना सद्भूत है, उसी प्रकार अनुपचार अर्थात् अबद्ध व अस्पृष्ट तत्त्वमें परपदार्थोंको जाननेका उपचार करना भी सद्भूत है ।२८८। आगममें भी ऐसा कहा गया है कि जो श्रुतके द्वारा केवल शुद्ध आत्माको जानते है वे श्रुतकेवली है, ऐसा लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषि अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् कहते है। (दे० श्रुतकेवली/३) ।२८९। सम्यक् निश्चयके द्वारा स्वकीय स्वभावको जानता हुआ वह आत्मा सम्यक् रूप उपचारसे परद्रव्योको भी जानता है ।२९०। इसलिए अनेकान्त पक्षको सिद्ध करनेवाला नय पक्ष मिथ्या नहीं है, क्योकि जिनवचनसे उत्पन्न 'स्यात्' शब्दसे आलिंगित होकर वह शुद्ध हो जाता है। (दे० नय/II/१/३-७) ।२९२।

५. दोनोंकी सापेक्षताका कारण व प्रयोजन

न. च /श्रुत/५२ यद्यपि मोक्षकार्ये भूतार्थेन परिच्छिन्न आत्माद्युपादानकारण भवति तथापि सहकारिकारणेन विना न सेत्स्यतीति सहकारिकारणप्रसिद्धयर्थं निश्चयव्यवहारयोरविनाभावित्वमाह। =यद्यपि मोक्षरूप कार्यमें भूतार्थ निश्चय नयसे जाना हुआ आत्मा आदि उपादान कारण तो सबके पास है, तो भी वह आत्मा सहकारी कारणके बिना मुक्त नही होता है। अत सहकारी कारणकी प्रसिद्धिके लिए, निश्चय व व्यवहारका अविनाभाव सम्बन्ध बतलाते है।

प्र. सा /त. प्र /११४ सर्वस्य हि वस्तुन' सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यता यथाक्रम सामान्यविशेषौ परिच्छन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलित द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा · तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं। पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा ··अन्यदन्यत्प्रतिभाति ··यदा तु ते उभे अपि' तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा ··जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता विशेषाश्च तुल्यकालमेवालोक्यन्ते। तत्र एकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। तत' सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते। =वस्त सभी वस्तु सामान्य विशेषात्मक होनेसे, वस्तुका स्वरूप देख वालोके क्रमशः सामान्य और विशेषको जाननेवाली दो आँ है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक (या निश्चय व व्यवहार) इनमें से पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके, जब केवल द्रव्य र्थिक (निश्चय) चक्षुके द्वारा देखा जाता है, तब 'वह सब जी द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षु सर्वथा बन्द करके, केवल पर्यायार्थिक (व्यवहार) चक्षुके द्वा देखा जाता है तब वह जीव द्रव्य (नारक तिर्यक् आदि रूप) अ अन्य प्रतिभासित होता है। और जब उन दोनों आँखोंको एक साथ खोलकर देखा जाता है तब जीव सामान्य तथा उसमें व्य स्थित (नारक तिर्यक् आदि) विशेष भी तुल्यकालमें ही दिख देते है।

वहाँ एक आँखसे देखना एकदेशावलोकन है और दोन आँखोंसे देखना सर्वावलोकन है। इसलिए सर्वावलोकनमें द्रव्य अन्यत्व व अनन्यत्व विरोधको प्राप्त नही होते। (विशेष दे० नय/I/ (स सा./ता वृ./११४/१७४/११)।

नि. सा./ता. वृ /१८७ ये खलु निश्चयव्यवहारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान्त' समस्तशास्त्रहृदयवेदिन. परमानन्दवीतरागसुखाभिलाषिण: · शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति। =इस भागव शास्त्रको जो निश्चय और व्यवहार नयके अविरोधसे जानते वे महापुरुष, समस्त अध्यात्म शास्त्रोंके हृदयको जाननेवाले औ परमानन्दरूप वीतराग सुखके अभिलाषी, शाश्वत सुखके भोक्त होते है।

और भी देखो नय/II—(अन्य नयका निषेध करनेवाले सभी नय मिथ्या है।)

६. दोनोंकी सापेक्षताके उदाहरण

दे० उपयोग/३ तथा अनुभव/५/८ सम्यग्दृष्टि जीवोको अल्पभूमिकाओं में अशुद्धोपयोग (व्यवहार रूप शुभोपयोग) के साथ-साथ शुद्धोपयोगका अंश विद्यमान रहता है।

दे० संवर/४ साधक दशामें जीवकी प्रवृत्तिके साथ निवृत्तिका अंश भी विद्यमान रहता है, इसलिए उसे आस्रव व संवर दोनों एक साथ होते है।

दे० छेदोपस्थापना/२ संयम यद्यपि एक ही प्रकारका है, पर समता व व्रतादिरूप अन्तरंग व बाह्य चारित्रकी युगपतताके कारण सामायिक व छेदोपस्थापना ऐसे दो भेदरूप कहा जाता है।

दे० मोक्षमार्ग/३/१ आत्मा यद्यपि एक शुद्ध-बुद्ध ज्ञायकभाव मात्र है, पर वही आत्मा व्यवहारकी विवक्षासे दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप कहा जाता है।

दे० मोक्षमार्ग/४ मोक्षमार्ग यद्यपि एक व अभेद ही है, फिर भी विवक्षावश उसे निश्चय व व्यवहार ऐसे दो भेदरूप कहा जाता है।

नोट—(इसी प्रकार अन्य भी अनेक विषयोंमें जहाँ-जहाँ निश्चय व्यवहारका विकल्प सम्भव है वहाँ-वहाँ यही समाधान है।)

७. इसलिए दोनों ही नय उपादेय है

दे० नय/V/८/४ दोनो ही नय प्रयोजनीय है, क्योकि व्यवहार नयके बिना तीर्थका नाश हो जाता है और निश्चयके बिना तत्त्वके स्वरूपका नाश हो जाता है।

दे० नय/V/८/१ जिस प्रकार सम्यक् व्यवहारसे मिथ्या व्यवहारकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार सम्यक् निश्चयसे उस व्यवहारकी भी निवृत्ति हो जाती है।

दे० मोक्षमार्ग/४/६ साधक पहले सविकल्प दशामें व्यवहार मार्गी होता है और पीछे निर्विकल्प दशामें निश्चयमार्गी हो जाता है।

दे० धर्म/६/४ अशुभ प्रवृत्तिको रोकनेके लिए पहले व्यवहार धर्मका ग्रहण होता है। पीछे निश्चय धर्ममें स्थित होकर मोक्षलाभ करता है।

नयकीर्ति— आप पद्मनन्दि नं० ६ के गुरु थे। उन पद्मनन्दिका उल्लेख वि. १२३८,१२४२,१२६३ के शिलालेखोमें मिलता है। तदनुसार आपका समय—वि. १२२५-१२५० (ई.११६८-११६३), (पं वि./प्र.२८/A.N.Up.)।

नयचक्र— नयचक्र नामके कई ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है। सभी नय व प्रमाणके विषयका निरूपण करते है। १, प्रथम नयचक्र आ. मल्लवादी नं. १ (ई. ३५७) द्वारा संस्कृत छन्दोमें रचा गया था, जो श्लोक वार्तिकको रचना करते समय आ. विद्यानन्दिको प्राप्त था। पर अब वह उपलब्ध नही है। २. द्वितीय नयचक्र आ. देवसेन (ई. ८६३-६४३) द्वारा प्राकृत गाथाओमें रचा गया है। इसमें कुल ४२३ गाथाएँ है। ३. द्वितीय नयचक्रपर पं हेमचन्द जीने (ई. १६६७) एक भाषा वचनिका लिखी है।

नयनंदि— १. आप माणिक्यनन्दि (परीक्षामुखके कर्ता) के शिष्य थे। समय—ई. ६५०-१०४८ (वसु. श्रा./प्र. ११/H.L. Jain)। २ माघनन्दिकी गुर्वावलीके अनुसार आप श्रीनन्दि (रामनन्दि) के शिष्य तथा नेमिचन्द्र नं. ३ के गुरु थे। कृति—सकल विधि विधान, सुदर्शन चरित। समय—वि. १०५०-११०० (ई. ६६३-१०४३), (इतिहास/५/२२)।

नय विवरण—आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) द्वारा सस्कृत भाषामे रचित न्याय विषयक ग्रन्थ है, जिसमे नय व प्रमाणका विस्तृत विवेचन है।

नयनसुख—सुन्दर आध्यात्मिक अनेक हिन्दी पदोके रचयिता। समय—वि. श. १६ मध्य (हिं. जैन साहित्य इतिहास/कामताप्रसाद)।

नयसेन—धर्मामृत नामक ग्रन्थके रचयिता। समय—ई ११११। (वराग चरित्र/प्र.२२/प. खुशालचन्द)।

नर—(रा.वा/२/५०/१/१५६/११) धर्मार्थकाममोक्षलक्षणानि कार्याणि नृणन्ति नयन्तीति नराः। =धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थका नयन करनेवाले 'नर' होते है।

नरक—प्रचुररूपसे पापकर्मोके फलस्वरूप अनेको प्रकारके असह्य दु खोको भोगनेवाले जीव विशेष नारकी कहलाते हैं। उनकी गतिको नरकगति कहते हैं, और उनके रहनेका स्थान नरक कहलाता है, जो शीत, उष्ण, दुर्गन्धि आदि असख्य दु खोंकी तीव्रताका केन्द्र होता है। वहाँपर जीव बिलों अर्थात् सुरंगोमें उत्पन्न होते व रहते है और परस्परमे एक दूसरेको मारने-काटने आदिके द्वारा दुःख भोगते रहते है।

१. नरकगति सामान्य निर्देश

१. नरक सामान्यका लक्षण

रा. वा./२/५०/२-३/१५६/१३ शीतोष्णासद्वेद्याद्यनादितवेदनया नरान् कायन्तीति शब्दायन्त इति नारका। अथवा पापकृत प्राणिन आत्यन्तिकं दुःखं नृणन्ति नयन्तीति नारकाणि। औणादिकः कर्तर्यक्। = जो नरोंको शीत, उष्ण आदि वेदनाओंसे शब्दाकुलित कर दे वह नरक है। अथवा पापी जीवोंको आत्यन्तिक दुःखोंको प्राप्त करानेवाले नरक हैं।

ध. १४/५,६,६४१/४९५/८ णिरयसेढिबद्धाणि णिरयाणि णाम। = नरकके श्रेणीबद्ध बिल नरक कहलाते हैं।

२. नरकगति या नारकीका लक्षण

ति. प./२/६० ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल भावे य। अण्णोण्णेहि य णिच्चं तम्हा ते णारया भणिया।६०। = यतः तत्स्थानवर्ती द्रव्यमें, क्षेत्रमें, कालमें, और भावमें जो जीव रमते नहीं हैं, तथा परस्परमें भी जो कभी भी प्रीतिको प्राप्त नहीं होते हैं, अतएव वे नारक या नारकी कहे जाते हैं। (ध. १/१,१,२४/गा. १२८/२०२) (गो. जी./मू./१४७/३६९)।

रा. वा./२/५०/३/१५६/१७ नरकेषु भवा नारकाः। = नरकोंमें जन्म लेनेवाले जीव नारक हैं। (गो. जी./जी. प्र./१४७/३६९/१८)।

ध. १/१,१,२४/२०१/६ हिंसादिष्वसदनुष्ठानेषु व्यापृताः निरतास्तेषां गतिर्निरतगतिः। अथवा नरान् प्राणिनः कायति पातयति खलीकरोति इति नरकं कर्म, तस्य नरकस्यापत्यानि नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः। अथवा यस्या उदयः सकलाशुभकर्मणामुदयस्य सहकारिकारणं भवति सा नरकगतिः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावेष्वन्योन्येषु च विरताः नरताः, तेषां गतिः नरतगतिः। = १. जो हिंसादि असमीचीन कार्योंमें व्यापृत हैं उन्हें निरत कहते हैं और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं। २. अथवा जो नर अर्थात् प्राणियोंको काता है अर्थात् गिराता है, पीसता है, उसे नरक कहते हैं। नरक यह एक कर्म है। इससे जिनकी उत्पत्ति होती है उनको नारक कहते हैं, और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं। ३. अथवा जिस गतिका उदय सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंके उदयका सहकारीकारण है उसे नरकगति कहते हैं। ४. अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें तथा परस्परमें रत नहीं हैं, अर्थात् प्रीति नहीं रखते हैं, उन्हें नरत कहते हैं और उनकी गतिको नरतगति कहते हैं। (गो. जी./जी. प्र./१४७/३६९/१९)।

ध. १३/५,५,१४०/३९२/२ न रमन्त इति नारकाः। = जो रमते नहीं हैं वे नारक कहलाते हैं।

गो. जी./जी. प्र./१४७/३६९/१६ यस्मात्कारणात् ये जीवाः नरकगतिसंबन्ध्यन्नपानादिद्रव्ये, तद्भूतलरूपक्षेत्रे, समयादिस्वायुरवसानकाले चित्पर्यायरूपभावे भवान्तरवैरोद्भवतज्जनितक्रोधादिभ्योऽन्योन्यैः सह नूतनपुरातननारकाः परस्परं च न रमन्ते तस्मात्कारणात् ते जीवा नरता इति भणिताः। नरता एव नारताः।...अथवा निर्गतोऽयः पुण्यं एभ्यः ते निरयाः तेषां गतिः निरयगतिः इति व्युत्पत्तिभिरपि नारकगतिलक्षणं कथितं। = क्योंकि जो जीव नरक सम्बन्धी अन्नपान आदि द्रव्यमें, वहाँकी पृथिवीरूप क्षेत्रमें, तिस गति सम्बन्धी प्रथम समयसे लगाकर अपना आयुपर्यन्त कालमें तथा जीवोंके चैतन्यरूप भावोंमें कभी भी रति नहीं मानते। ५. और पूर्वके अन्य भवों सम्बन्धी वैरके कारण इस भवमें उपजे क्रोधादिकके द्वारा नये व पुराने नारकी कभी भी परस्परमें नहीं रमते, इसलिए उनको कभी भी प्रीति नहीं होनेसे वे 'नरत' कहलाते हैं। नरत को ही नारत जानना। तिनकी गतिको नारतगति जानना। ६. अथवा 'निर्गत' कहिये गया है 'अय' कहिये पुण्यकर्म जिनसे ऐसे जो निरय, तिनकी

गति सो निरय गति जानना। इस प्रकार निरुक्ति द्वारा नारकगतिका लक्षण कहा।

३. नारकियोंके भेद

पं. का./मू./११८ णेरइया पुढविभेयगदा।=रत्नप्रभा आदि सात पृथिवियोंके भेदसे (दे० नरक/५) नारकी भी सात प्रकारके हैं। (नि. सा./मू./१६)।

ध. ७/२,१,४/२९/१३ अधवा णामट्ठवणदव्वभावभेएण णेरइया चउव्विहा होंति। =अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे नारकी चार प्रकारके होते है (विशेष दे० निक्षेप/१)।

४. नारकीके भेदोंके लक्षण

दे. नय/III/१/८ (नैगम नय आदि सात नयोकी अपेक्षा नारकी कहनेकी विवक्षा)।

ध. ७/२,१ ४/३०/४ कम्मणेरइओ णाम णिरयगदिसहगदकम्मदव्वसमूहो। पासपंजरजंतादीणि णोकम्मदव्वाणि णेरइयभावकारणाणि णोकम्मदव्वणेरइओ णाम।=नरकगतिके साथ आये हुए कर्मद्रव्यसमूहको कर्मनारकी कहते है। पाश, पंजर, यन्त्र आदि नोकर्मद्रव्य जो नारकभावकी उत्पत्तिमें कारणभूत होते है, नोकर्म द्रव्यनारकी हैं। (शेष दे० निक्षेप)।

२. नरक गतिके दुःखोंका निर्देश

१. नरकमें दुःखोंके सामान्य भेद

त. सू /३/४-५ परस्परोदीरितदु'खा' ।४। संक्लिष्टासुरोदीरितदु'खाश्च प्राक् चतुर्थ्या ।५। =वे परस्पर उत्पन्न किये गये दु खवाले होते है। ।४। और चौथी भूमिसे पहले तक अर्थात् पहिले दूसरे व तीसरे नरकमें संक्लिष्ट असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये दु'खवाले होते है ।५।

त्रि. सा./१९७ खेत्तजणिदं असादं सारीरं माणसं च असुरकयं। भुंजति जहावसरं भवट्ठिदी चरिमसमयो त्ति ।१९७। =क्षेत्र, जनित, शारीरिक, मानसिक और असुरकृत ऐसी चार प्रकारकी असाता यथा अवसर अपनी पर्यायके अन्तसमयपर्यन्त भोगता है। (का. अ /मू./ ३५)।

२. शारीरिक दुःख निर्देश

१. नरकमें उत्पन्न होकर उछलने सम्बन्धी दुःख

ति. प./२/३१४-३१५ भीदीए कंपमाणो चलिदुं दुक्खेण पट्ठिओ संतो। छत्तीसाउहमज्झे पडिदूणं तत्थ उप्पलइ ।३१४। उच्छेहजोयणाणि सत्त धणू छस्सहस्सपंचसया। उप्पलइ पढमखेत्ते दुगुणं दुगुणं कमेण सेसेसु ।३१५। =वह नारकी जीव (पर्याप्ति पूर्ण करते ही) भयसे काँपता हुआ बडे कष्टसे चलनेके लिए प्रस्तुत होकर, छत्तीस आयुधोंके मध्यमें गिरकर वहाँसे उछलता है ।३१४। प्रथम पृथिवी सात योजन ६५०० धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है। इससे आगे शेष छ पृथिवियोमें उछलनेका प्रमाण क्रमसे उत्तरोत्तर दूना दूना है ।३१५। (ह. पु./४/३५५-३६१) (म. पु /१०/३५-३७) (त्रि, सा./१८१-१८२) (ज्ञा./३६/१८-१९)।

२. परस्पर कृत दु.ख निर्देश

ति. प./२/३१६-३४२ का भावार्थ – उसको वहाँ उछलता देखकर पहले नारकी उसकी ओर दौडते है ।३१६। शस्त्रो, भयकर पशुओ व वृक्ष नदियो आदिका रूप धरकर (दे० नरक/३) ।३१७। उसे मारते है व खाते हैं ।३२२। हजारों यन्त्रोंमें पेलते है ।३२३। साकलोसे बँधते है व अग्निमें फेंकते है ।३२४। करोंतसे चीरते हैं व भालोंसे बींधते है ।३२५। पकते तेलमें फेंकते है ।३२६। शीतल जल समझकर यदि वह वैतरणी नदीमें प्रवेश करता है तो भी वे उसे छेदते है ।३२७-३२८। कछुओं आदिका रूप धरकर उसे भक्षण करते है ।३२९। जब आश्रय ढूँढनेके लिए बिलोंमें प्रवेश करता है तो वहाँ अग्निकी ज्वालाओंका सामना करना पडता है ।३३०। शीतल छायाके भ्रमसे असिपत्र वनमें जाते हैं ।३३१। वहाँ उन वृक्षोंके तलवारके समान पत्तोंसे अथवा अन्य शस्त्रास्त्रोसे छेदे जाते हैं ।३३२-३३३। गृद्ध आदि पक्षी बनकर नारकी उसे चूँट-चूँट कर खाते है ।३३४-३३५। अगोपाग चूर्ण कर उसमें क्षार जल डालते है ।३३६। फिर खण्ड-खण्ड करके चूल्होंमें डालते हैं ।३३७। तप्त लोहेकी पुतलियोंसे आलिंगन कराते हैं ।३३८। उसीके मांसको काटकर उसीके मुखमें देते है ।३३९। गलाया हुआ लोहा व ताँबा उसे पिलाते है ।३४०। पर फिर भी वे मरणको प्राप्त नहीं होते है (दे० नरक/३) ।३४१। अनेक प्रकारके शस्त्रों आदि रूपसे परिणत होकर वे नारकी एक दूसरेको इस प्रकार दुख देते हैं ।३४२। (भ. आ./मू /१५६५-१५८०), (स. सि /२/५/२०९/७), (रा. वा./३/५/८/ ३१), (ह. पु./४/३६३-३६५), (म. पु./१०/३८-६३), (त्रि. सा./१८३-१९०), (ज. प./११/१५७-१७७), (का. अ /३६-३९), (ज्ञा./३६/६१-७६) (वसु. श्रा /१६६-१६९)

स. सि./३/४/२०८/३ नारका' भवप्रत्ययेनावधिना दूरादेव दु'खहेतूनवगम्योत्पन्नदु'खा' प्रत्यासत्तौ परस्परालोकनाच्च प्रज्वलितकोपाग्नय' पूर्वभवानुस्मरणाच्चातितीव्रानुबद्धवैराश्च श्वशृगालादिवत्स्वाभिघाते प्रवर्तमान; स्वविक्रियाकृत···आयुधै स्वकरचरणदशनैश्च छेदनभेदनतक्षणदंशनादिभि. परस्परस्यातितीव्रं दु'खमुत्पादयन्ति।=नारकियोके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। उसके कारण दूरसे ही दु खके कारणोंको जानकर उनको दु'ख उत्पन्न हो जाता है और समीपमें आनेपर एक दूसरेको देखनेसे उनकी कोपाग्नि भभक उठती है। तथा पूर्वभवका स्मरण होनेसे उनकी वैरकी गाँठ और दृढतर हो जाती है, जिससे वे कुत्ता और गीदडके समान एक दूसरेका घात करनेके लिए प्रवृत्त होते है। वे अपनी विक्रियासे अस्त्रशस्त्र बना कर (दे० नरक/३) उनसे तथा अपने हाथ पाँव और दाँतोंसे छेदना, भेदना, छीलना और काटना आदिके द्वारा परस्पर अति तीव्र दु'खको उत्पन्न करते है। (रा. वा./३/४/१/१६५/४), (म. पु /१०/४०,१०३)

३. आहार सम्बन्धी दुःख निर्देश

ति. प./२/३४३-३४६ का भावार्थ—अत्यन्त तीखी व कडवी थोड़ी सी मिट्टीको चिरकालमें खाते है ।३४३। अत्यन्त दुर्गन्धवाला व ग्लानि युक्त आहार करते है ।३४४-३४६।

दे० नरक/५/६ (सातों पृथिवियोमें मिट्टीकी दुर्गन्धीका प्रमाण)

ह. पु./४/३६६ का भावार्थ—अत्यन्त तीक्ष्ण खारा व गरम वैतरणी नदीका जल पीते है और दुर्गन्धी युक्त मिट्टीका आहार करते है।

त्रि. सा./१९२ सादिकुहिदातिगंधं सणिमण्णं मट्टियं विभुजंति। घम्मभवा वसादिसु असंखगुणिदासह तत्तो। १९२। =कुत्ते आदि जीवोकी विष्टासे भी अधिक दुर्गन्धित मिट्टीका भोजन करते हैं। और वह भी उनको अत्यन्त अल्प मिलती है, जब कि उनकी भूख बहुत अधिक होती है।

४. भूख प्यास सम्बन्धी दुःख निर्देश

ज्ञा./३६/७७-७८ बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम्। यां न शामयितुं शक्त' पुद्गलप्रचयोऽखिल ।७७। तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्वणा। न सा शाम्यति नि'शेषपीतैरप्यम्बुराशिभि' ।७८। =नरकमें नारकी जीवोको भूख ऐसी लगती है, कि समस्त पुद्गलोंका समूह भी उसको शमन करनेमें समर्थ नहीं ।७७। तथा वहाँपर तृष्णा बडवाग्निके समान इतनी उत्कट होती है कि समस्त समुद्रोका जल भी पी लें तो नहीं मिटती ।७८।

५. रोगों सम्बन्धी दुःख निर्देश

ज्ञा./३६/२० दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगा सन्ति केचन। साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते।२०। =दुस्सह तथा निष्प्रतिकार जितने भी रोग इस संसारमें हैं वे सबके सब नारकियोंके शरीरमें रोमरोममें होते हैं।

* शीत व उष्ण सम्बन्धी दुःख निर्देश

दे० नरक/५/७ (नारक पृथिवीमें अत्यन्त शीत व उष्ण होती है।)

३. क्षेत्रकृत दुःख निर्देश

दे० नरक/५/६-८ नरक बिल, वहाँकी मिट्टी तथा नारकियोंके शरीर अत्यन्त दुर्गन्धी युक्त होते हैं।६। वहाँके बिल अत्यन्त अन्धकार पूर्ण तथा शीत या उष्ण होते हैं।७-८।

४. असुर देवोंकृत दुःख निर्देश

ति. प./२/३४८-३५० सिकतानन ·/···।३४८। ··वेतरणिपहुदि असुरसुरा। गंतूण बालुकंतं णारइयाणं पकोपंति।३४९। इह खेत्ते जह मणुवा पेच्छंते मेसमहिसजुद्धादिं। तह णिरये असुरसुरा णारयकलहं पतुट्ठमणा।३५०। =सिकतानन··वैतरणी आदिक (दे० असुर/२) असुरकुमार जातिके देव तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवी तक जाकर नारकियोंको क्रोधित कराते हैं।३४८-३४९। इस क्षेत्रमें जिस प्रकार मनुष्य, मेंढे और भैंसे आदिके युद्धको देखते हैं, उसी प्रकार असुरकुमार जातिके देव नारकियोंके युद्धको देखते हैं और मनमें सन्तुष्ट होते हैं। (म पु./१०/६४)

स. सि./३/५/२०९/७ सुतप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन··· निष्पीडनादिभिर्नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। =खूब तपाया हुआ लोहेका रस पिलाना, अत्यन्त तपाये गये लोहस्तम्भका आलिंगन कराना, यन्त्रमें पेलना आदिके द्वारा नारकियोंको परस्पर दुःख उत्पन्न कराते हैं। (विशेष दे० पहिले परस्परकृत दुःख) (भ. आ./मू./१५६८-१५७०), (रा. वा./३/५/८/३६१/३१), (ज. प./११/१६८-१६९)

म. पु./१०/४१ चोदयन्त्यसुराश्चैनान् यूयं युध्यध्वमित्यरम्। संस्मार्य पूर्ववैराणि प्राक्चतुर्थ्याः सुदारुणाः।४१। =पहलेकी तीन पृथिवियों तक अतिशय भयंकर असुरकुमार जातिके देव जाकर वहाँके नारकियोंको उनके पूर्वभव वैरका स्मरण कराकर परस्परमें लडनेके लिए प्रेरणा करते रहते हैं। (वसु. श्रा./१७०)

दे० असुर/३ (अम्बरीष आदि कुछ ही प्रकारके असुर देव नरकोंमें जाते हैं, सब नहीं)

५. मानसिक दुःख निर्देश

म. पु./१०/६७-८६ का भावार्थ—अहो। अग्निके फुलिंगोंके समान यह वायु, तप्त धूलिकी वर्षा।६७-६८। विष सरीखा असिपत्र वन।६९। जबरदस्ती आलिंगन करनेवाली ये लोहेकी गरम पुतलियाँ।७०। हमको परस्परमें लडानेवाले ये दुष्ट यमराजतुल्य असुर देव।७१। हमारा भक्षण करनेके लिए यह सामनेसे आ रहे जो भयंकर पशु।७२। तीक्ष्ण शस्त्रोंसे युक्त ये भयानक नारकी।७३-७५। यह सन्ताप जनक करुण क्रन्दनकी आवाज।७६। शृगालोंकी हृदयविदारक ध्वनियाँ।७७। असिपत्रवनमें गिरनेवाले पत्तोंका कठोर शब्द।७८। काँटोंवाले सेमर वृक्ष।७९। भयानक वैतरणी नदी।८०। अग्निकी ज्वालाओं युक्त ये बिलें।८१। कितने दुस्सह व भयंकर हैं। प्राण भी आयु पूर्ण हुए बिना छूटते नहीं।८२। अरे-अरे! अब हम कहाँ जावें।८३। इन दुःखोंसे हम कब तिरेंगे।८४। इस प्रकार प्रतिक्षण चिन्तवन करते रहनेसे उन्हें दुःसह मानसिक सन्ताप उत्पन्न होता है, तथा हर समय उन्हें मरनेका संशय बना रहता है।८५।

ज्ञा./३६/२७-६० का भावार्थ—हाय हाय! पापकर्मके उदयसे हम इस (उपरोक्तवत्) भयानक नरकमें पडे हैं।२७। ऐसा विचारते हुए वज्राग्निके समान सन्तापकारी पश्चात्ताप करते हैं।२८। हाय हाय! हमने सत्पुरुषों व वीतरागी साधुओंके कल्याणकारी उपदेशोंका तिरस्कार किया है।२९-३३। मिथ्यात्व व अविद्याके कारण विषयान्ध होकर मैंने पाँचों पाप किये।३४-३७। पूर्व भवोंमें मैंने जिनको सताया है वे यहाँ मुझको सिंहके समान मारनेको उद्यत है।३८-४०। मनुष्य भवमें मैंने हिताहितका विचार न किया, अब यहाँ क्या कर सकता हूँ।४१-४४। अब किसकी शरणमें जाऊँ।४५। यह दुःख अब मैं कैसे सहूँगा।४६। जिनके लिए मैंने वे पाप कार्य किये वे कुटुम्बीजन अब क्यों आकर मेरी सहायता नहीं करते।४७-५१। इस संसारमें धर्मके अतिरिक्त अन्य कोई सहायक नहीं।५२-५९। इस प्रकार निरन्तर अपने पूर्वकृत पापों आदिका सोच करता रहता है।६०।

३. नारकियोंके शरीरकी विशेषताएँ

१. जन्मने व पर्याप्त होने सम्बन्धी

ति. प./२/३१३ पावेण णिरयबिले जादूणं ता मुहुत्तगं मेत्ते। छप्पज्जत्ती पाविय आकस्मियभयजुदो होदि।३१३। =नारकी जीव पापसे नरक बिलमें उत्पन्न होकर और एक मुहूर्त मात्रमें छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर आकस्मिक भयसे युक्त होता है। (म. पु./१०/३४)

म. पु./१०/३३ तत्र बीभत्सुनि स्थाने जाले मधुकृतामिव। तेऽधोमुखा प्रजायन्ते पापिनामुन्नतिः कुतः।३३। =उन पृथिवियोंमें वे जीव मधुमक्खियोंके छत्तेके समान लटकते हुए घृणित स्थानोंमें नीचेकी ओर मुख करके पैदा होते हैं।

२. शरीरकी अशुभ आकृति

स. सि./३/३/२०७/४ देहाश्च तेषामशुभनामकर्मोदयादत्यन्ताशुभतरा विकृताकृतयो हुण्डसंस्थाना दुर्दर्शनाः। =नारकियोंके शरीर अशुभ नामकर्मके उदयसे होनेके कारण उत्तरोत्तर (आगे-आगेकी पृथिवियोंमें) अशुभ हैं। उनकी विकृत आकृति है, हुंडक संस्थान है, और देखनेमें बुरे लगते हैं। (रा. वा./३/३/४/१६४/१२), (ह. पु./४/३६८), (म. पु./१०/३४,९१), (विशेष दे० उदय/६/३)

३. वैक्रियक भी वह मांसादि युक्त होता है

रा. वा./३/३/४/१६४/१४ यथेह श्लेष्ममूत्रपुरीषमलरुधिरवसामेदःपूयवमनपूतिमांसकेशास्थिचर्माद्यशुभमौदारिकगतं ततोऽप्यतीवाशुभत्वं नारकाणां वैक्रियकशरीरत्वेऽपि। =जिस प्रकारके श्लेष्म, मूत्र, पुरीष, मल, रुधिर, वसा, मेद, पीप, वमन, पूति, मांस, केश, अस्थि, चर्म अशुभ सामग्री युक्त औदारिक शरीर होता है, उससे भी अतीव अशुभ इस सामग्री युक्त नारकियोंका वैक्रियक भी शरीर होता है। अर्थात् वैक्रियक होते हुए भी उनका शरीर उपरोक्त बीभत्स सामग्रीयुक्त होता है।

४. इनके मूँछ दाढ़ी नहीं होती

बो. पा./टी./३२ में उद्धृत-देवा वि य नेरइया हलहर चक्की य तह य तित्थयरा। सव्वे केसव रामा कामा निक्कुचिया होंति।१। —सभी देव, नारकी, हलधर, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर, प्रतिनारायण, नारायण व कामदेव ये सब बिना मूँछ दाढीवाले होते हैं।

५. इनके शरीरमें निगोद राशि नहीं होती

ध. १४/५,६,९१/८१/८ पुढवि-आउ-तेउ-वाउक्काइया देव-णेरइया आहारसरीरा पमत्तसंजदा सजोगिअजोगिकेवलिणो च पत्तेयसरीरा वुच्चंति;

एदेसिं णिगोदजीवेहि सह संबंधाभावादो। = पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारकशरीर, प्रमत्तसयत, सयोगकेवली और अयोगिकेवली ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं; क्योंकि, इनका निगोद जीवोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता।

६. छिन्न-भिन्न होनेपर वह स्वतः पुनः पुनः मिल जाता है

ति प./२/३४१ करवालपहरभिण्ण कूवजलं जह पुणो वि सघडदि। तह णारयाण अगं छिज्जतं विविहसत्थेहि।३४१। = जिस प्रकार तलवारके प्रहारसे भिन्न हुआ कुएँका जल फिरसे भी मिल जाता है, इसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रोंसे छेदा गया नारकियोंका शरीर भी फिरसे मिल जाता है।; (ह पु./४/३६४); (म.पु /१०/३९), (त्रि.सा /१९४) (ज्ञा./३६/८०)।

७. आयु पूर्ण होनेपर वह काफूरवत् उड़ जाता है

ति. प /२/३५३ कदलीघादेण विणा णारयगत्ताणि आउअवसाणे। मारुदपहदब्भाइ व णिस्सेसाणि विलीयते।३५३। = नारकियोंके शरीर कदलीघातके बिना (दे० मरण/६) आयुके अन्तमें वायुसे ताडित मेघोंके समान निःशेष विलीन हो जाते हैं। (त्रि सा /१९६)।

८. नरकमें प्राप्त आयुध पशु आदि नारकियोंके ही शरीरकी विक्रिया है

ति. प./२/३१८-३२१ चक्कसरसूलतोमरमोग्गरकरवत्तकोंतसूईणं। मुसलासिप्पहुदीणं वणणगदावाणलादीणं।३१८। वयवग्घतरच्छसिगालसाणमज्जालसीहपहुदीण। अण्णोण्ण चसदा ते णियणियदेह विगुव्वंति।३१९। गहिरबिलधूममारुदअइतत्तकहल्लिजंतचुल्लीणं। कडणिपीसणिदव्वीण रूवमण्णे विकुव्वंति।३२०। सूवरवणग्गिसोणिदकिमिसरिदहकूववाइपहुदीण। पुहुपुहुरूवविहीणा णियणियदेह पकुव्वंति।३२१। = वे नारकी जीव चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोत, भाला, सूई, मूसल, और तलवार इत्यादिक शस्त्रास्त्र, वन एवं पर्वतकी आग, तथा भेडिया, व्याघ्र, तरक्ष, शृगाल, कुत्ता, बिलाव, और सिंह, इन पशुओंके अनुरूप परस्परमें सदैव अपने अपने शरीरकी विक्रिया किया करते हैं।३१८-३१९। अन्य नारकी जीव गहरा बिल, धुआँ, वायु, अत्यन्त तपा हुआ खप्पर, यन्त्र, चूल्हा, कण्डनी, (एक प्रकारका कूटनेका उपकरण), चक्की और दर्वी (बर्छी), इनके आकाररूप अपने-अपने शरीरकी विक्रिया करते हैं।३२०। उपर्युक्त नारकी शूकर, दावानल, तथा शोणित और कीडोंसे युक्त सरित, द्रह, कूप, और वापी आदिरूप पृथक्-पृथक् रूपसे रहित अपने-अपने शरीरकी विक्रिया किया करते हैं। (तात्पर्य यह कि नारकियोंके अपृथक् विक्रिया होती है। देवोंके समान उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती।३२१। (स सि / ३/४/२०८/६), (रा वा /३/४/१/१६५/४); (ह पु./४/३६३); (ज्ञा./३६/६७), (वसु. श्रा /१६६), (और भी दे० अगला शीर्षक)।

९. छह पृथिवियोंमें आयुधों रूप विक्रिया होती है और सातवीमें कीड़ों रूप

रा. वा./२/४७/४/१५२/११ नारकाणा त्रिशूलचक्रासिमुद्गरपरशुभिण्डिपालाद्यनेकायुधैकत्वविक्रिया—आ षष्ठ्याः। सप्तम्या महागोकीटकप्रमाणलोहितकुन्थुरूपैकत्वविक्रिया। = छठे नरक तकके नारकियोंके त्रिशूल, चक्र, तलवार, मुद्गर, परशु भिण्डिपाल आदि अनेक आयुधरूप एकत्व विक्रिया होती है (दे० वैक्रियक/१)। सातवें नरकमें गाय बराबर कीडे लोहू, चींटी आदि रूपसे एकत्व विक्रिया होती है।

४. नारकियोंमें सम्भव भाव व गुणस्थान आदि

१. सदा अशुभ परिणामोंसे युक्त रहते हैं

त. सू./३/३ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया। = नारकी निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना व विक्रियावाले हैं। (विशेष दे० लेश्या/४)।

२. नरकगतिमें सम्यक्त्वोंका स्वामित्व

प ख. १/१.१/सूत्र १५१-१५५/३९९-४०१ णेरइया अत्थि मिच्छाइट्ठी सासण-सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि त्ति।१५१। एवं जाव सत्तसु पुढवीसु।१५२। णेरइया असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदगसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि।१५३। एव पढमाए पुढवीए णेरइआ।१५४। विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असजदसम्माइट्ठिट्ठाणे खइयसम्माइट्ठी णत्थि, अवसेसा अत्थि।१५५। = नारकी जीव मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती होते हैं।१५१। इस प्रकार सातों पृथिवियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान होते हैं।१५२। नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि होते हैं।१५३। इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी जीव होते हैं।१५४। दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक नारकी जीव असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। शेष दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं।१५५।

३. नरकगतिमें गुणस्थानोंका स्वामित्व

प. ख. १/१.१/सू २५/२०४ णेरइया चउट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असजदसम्माइट्ठि त्ति।२५।

प. ख. १/१.१/सू.७९-८३/३१९-३२३ णेरइया मिच्छाइट्ठिअसंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता।७९। सासणसम्माइट्ठिसम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।८०। एव पढमाए पुढवीए णेरइया।८१। विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया मिच्छाइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अप्पज्जत्ता।८२। सासणसम्माइट्ठि-सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठिट्ठाणे णियमा पज्जत्ता।८३। = मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं।२५। नारकी जीव मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं।७९। नारकी जीव सासादनसम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं।८०। इसी प्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी होते हैं।८१। दूसरी पृथिवीसे लेकर सातवीं पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं।८२। पर वे (२-७ पृथिवीके नारकी) सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं।८३।

४. मिथ्यादृष्टिसे अन्य गुणस्थान वहाँ कैसे सम्भव है

ध. १/१.१.२५/२०५/३ अस्तु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्व मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमिथ्यात्वस्य सत्त्वात्। नेतरेषु तेषां सत्त्वं तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वाविरतिकषायाणां तत्रोत्पादनसामर्थ्याभावात्। न च बद्धस्यायुषः सम्यक्त्वान्निरन्वयविनाशः आर्षविरोधात्। न हि बद्धायुषः सम्यक्त्वं संयममिव न प्रतिपद्यन्ते सूत्रविरोधात्। = प्रश्न—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा आवे, क्योंकि, वहाँपर (अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें) नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्तकारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है। किन्तु दूसरे गुणस्थानोंमें नारकियोंका

सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिए; क्योकि, अन्य गुणस्थान सहित नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यात्व नही पाया जाता है। (अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे ही नरकायुका बन्ध सम्भव है, अन्य गुणस्थानोमे नही) ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योकि, नरकायुके बन्ध बिना मिथ्यादर्शन, अविरत और कषायकी नरकमें उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नही है। (अर्थात् नरकायु ही नरकमें उत्पत्तिका कारण है, मिथ्या, अविरति व कषाय नहीं)। और पहले बँधी हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन द्वारा निरन्वय नाश भी नहीं होता है, क्योकि, ऐसा मान लेनेपर आर्षसे विरोध आता है। जिन्होने नरकायुका बन्ध कर लिया है, ऐसे जीव जिस प्रकार संयमको प्राप्त नही हो सकते है, उसी प्रकार सम्यक्त्वको भी प्राप्त नहीं होते, यह बात भी नही है; क्योकि, ऐसा मान लेनेपर भी सूत्रसे विरोध आता है (दे० आयु/६/७)।

५. वहाँ सासादनकी सम्भावना कैसे है

ध. १/१,१,२५/२०५/८ सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टय', न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिस्तद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात। तर्हि कथ तद्वतां तत्र सत्त्वमिति चेन्न. पर्याप्तनरकगत्या सहापर्याप्तया इव तस्य विरोधाभावात्। किमित्यपर्याप्तया विरोधश्चेत्स्वभावोऽयं, न हि स्वभावा' परपर्यनुयोगार्हाः।··कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिसिद्धे·। =जिन जीवोने पहले नरकायुका बन्ध किया है और जिन्हे पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है, ऐसे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टियोकी नरकमें उत्पत्ति है, इसलिए नरकमें असंयत सम्यग्दृष्टि भले ही पाये जावें, परन्तु सासादन गुणस्थानवालोंकी मरकर नरकमें उत्पत्ति नहीं हो सकती (दे० जन्म/६) क्योकि सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है। प्रश्न—तो फिर, सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ? उत्तर—नहीं, क्योकि, जिस प्रकार नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है उसी प्रकार पर्याप्तावस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है। प्रश्न—अपर्याप्त अवस्थाके साथ उसका विरोध क्यो है ? उत्तर—यह नारकियोका स्वभाव है ओर स्वभाव दूसरोके प्रश्नके योग्य नहीं होते है। (अन्य गतियोंमें इसका अपर्याप्त कालके साथ विरोध नही है, परन्तु मिश्र गुणस्थानका तो सभी गतियोमें अपर्याप्त कालके साथ विरोध है।) (ध१/१,१,८०/३२०/८)। प्रश्न—तो फिर सासादन और मिश्र इन दोनो गुणस्थानोंका नरक गतिमें सत्त्व कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योकि, परिणामोके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थामें उनकी उत्पत्ति बन जाती है।

६. मर-मरकर पुनः-पुनः जी उठनेवाले नारकियोंकी अपर्याप्तावस्थामें भी सासादन व मिश्र मान लेने चाहिए ?

ध. १/१,१,८०/३२१/१ नारकाणामग्निसंबन्धाद्भस्मसाद्भावमुपगताना पुनर्भस्मनि समुत्पद्यमानानामपर्याप्ताद्धाया गुणद्वयस्य सत्त्वाविरोधान्नियमेन पर्याप्ता इति न घटत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात्। भावे वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते।··आयुषोऽवसाने म्रियमाणानामेव नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरसत्त्वात्। भस्मसाद्भावमुपगतानां तेषां कथं पुनर्मरणमिति चेन्न, देहविकारस्यायुर्विच्छित्त्यनिमित्तत्वात्। =प्रश्न—अग्निके सम्बन्धसे भस्मीभावको प्राप्त होनेवाले नारकियोके अपर्याप्त कालमें इन दो गुणस्थानोके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिए, इन गुणस्थानोंमें नारकी नियमसे पर्याप्त होते है, यह नियम नहीं बनता है ? उत्तर—नही, क्योकि, अग्नि आदि निमित्तोंसे नारकियोंका मरण नहीं होता है (दे० नरक/३/६)। यदि नारकियोका मरण हो जावे तो पुन' वे वहींपर उत्पन्न नहीं होते हैं (दे० जन्म/६/६)। प्रश्न—आयुके अन्तमें मरनेवालोंके लिए ही यह सूत्रोक्त (नारकी मरकर नरक व देवगतिमें नहीं जाता, मनुष्य या तिर्यंचगतिमें जाता है) नियम लागू होना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता (दे० मरण/६) अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होता है, बीचमें नहीं। प्रश्न—यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त हो गया है, ऐसे नारकियोंका, (आयुके अन्तमें) पुनर्मरण कैसे बनेगा ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुकर्मके विनाशका निमित्त नही है। (विशेष दे० मरण/२)।

७. वहाँ सम्यग्दर्शन कैसे सम्भव हैं

ध. १/१,१,२६/२०६/७ तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न, इष्टत्वात्। सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेरपि तत्रोत्पत्तिर्मा भूदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात्। प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिषु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्ताद्धया सह विरोधात्। =प्रश्न—तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसी प्रकार होते हैं ऐसा मानना चाहिए। अर्थात् सासादनकी भाँति सम्यग्दर्शनकी भी वहाँ उत्पत्ति मानना चाहिए ? उत्तर—नहीं; क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोका सद्भाव माना गया है। प्रश्न—जिस प्रकार सासादन सम्यग्दृष्टि नरकमें उत्पन्न नहीं होते है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी भी मरकर वहाँ उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए ? उत्तर—सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आगममें निषेध नहीं है। प्रश्न—जिस प्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते है, उसी प्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमें भी सम्यग्दृष्टि क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ? उत्तर—नहीं; क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंकी अपर्याप्तावस्थाके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है।

८. सासादन मिश्र व सम्यग्दृष्टि मरकर नरकमें उत्पन्न नहीं होते। इसका हेतु—

ध. १/१,१,८३/३२३/६ भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः। सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाममधिष्ठितस्य मरणाभावात्।·· किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति। न तावत् सासादनस्तत्रोत्पद्यते तस्य नरकायुषो बन्धाभावात्। नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात्। नासंयतसम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते तत्रोत्पत्तिर्निमित्ताभावात्। न तावत्कर्मस्कन्धबहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्ते' कारणं क्षपितकर्मांशानामपि जीवानां तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। नापि कर्मस्कन्धाणुत्व तत्रोत्पत्तेः कारण गुणितकर्मांशानामपि तत्रोत्पत्तिदर्शनात्। नापि नरकगतिकर्मण. सत्त्व तस्य तत्रोत्पत्ते. कारण तत्सत्त्वं प्रत्यविशेषत' सकलपञ्चेन्द्रियाणामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात्। नित्यनिगोदानामपि विद्यमानत्रसकर्मणां त्रसेषूत्पत्तिप्रसङ्गात्। नाशुभलेश्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं मरणावस्थायामसंयतसम्यग्दृष्टे' षट्सु पृथिविषूत्पत्तिनिमित्ताशुभलेश्याभावात्। न नरकायुष. सत्त्वं तस्य तत्रोत्पत्ते कारणं सम्यग्दर्शनासिना छिन्नषट्पृथिव्यायुष्कत्वात्। न च तच्छेदोऽसिद्ध आर्षात्तत्सिद्ध्युपलम्भात्। ततः स्थितमेतत् न सम्यग्दृष्टिः षट्सु पृथिवीषूत्पद्यत इति। =प्रश्न—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी मरकर शेष छह पृथिवियोमें भी उत्पत्ति नहीं होती है, क्योकि सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण नहीं होता है (दे० मरण/३)। किन्तु शेष (सासादन व असंयत सम्यग्दृष्टि) गुणस्थान वाले प्राणी (भी) मरकर वहाँपर उत्पन्न नहीं होते, यह कहना नहीं बनता है ? उत्तर—
१. सासादन गुणस्थानवाले तो नरकमें उत्पन्न ही नहीं होते है; क्योकि, सासादन गुणस्थानवालोंके नरकायुका बन्ध ही नहीं होता है

(दे० प्रकृति बंध/७)। २ जिसने पहले नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोमें उत्पन्न नही होते है; क्योंकि, नरकायुका बन्ध करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमें मरण ही नहीं होता है। ३. असंयत सम्यग्दृष्टि जीव भी द्वितीयादि पृथिवियोमें उत्पन्न नही होते है; क्योकि, सम्यग्दृष्टियोके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते है। ४. कर्मस्कन्धोंकी बहुलताको उसके लिए वहाँ उत्पन्न होनेका निमित्त नही कहा जा सकता; क्योकि, क्षपितकर्मांशिकोकी भी नरकमें उत्पत्ति देखी जाती है। ५. कर्मस्कन्धोंकी अल्पता भी उसके लिए वहाँ उत्पन्न होनेका निमित्त नहीं है, क्योकि, गुणितकर्मांशिकोंकी भी वहाँ उत्पत्ति देखी जाती है। ६. नरक गति नामकर्मका सत्त्व भी उसके लिए वहाँ उत्पत्तिका निमित्त नहीं है, क्योंकि नरकगतिके सत्त्वके प्रति कोई विशेषता न होनेसे सभी पंचेन्द्रिय जीवोंको नरकगतिकी प्राप्तिका प्रसंग आ जायेगा। तथा नित्य निगोदिया जीवोके भी त्रसकर्म की सत्ता रहनेके कारण उनकी त्रसोमें उत्पत्ति होने लगेगी। ७. अशुभ लेश्याका सत्त्व भी उसके लिए वहाँ उत्पन्न होनेका निमित्त नहीं कहा जा सकता; क्योकि, मरण समय असयत सम्यग्दृष्टि जीवके नीचेकी छह पृथिवियोमें उत्पत्तिकी कारण रूप अशुभ लेश्याएँ नही पायी जातीं। ८. नरकायुका सत्त्व भी उसके लिए वहाँ उत्पत्तिका कारण नही है; क्योकि, सम्यग्दर्शन रूपी खड्गसे नीचेकी छह पृथिवी सम्बन्धी आयु काट दी जाती है। और वह आयुका कटना असिद्ध भी नही है; क्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि नीचेकी छह पृथिवियोमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नही होता।

९. ऊपरके गुणस्थान यहाँ क्यों नहीं होते

ति. प./२/२७४-२७५ ताण य पच्चक्खाणावरणोदयसहिदसव्वजीवाणं। हिंसाणंदजुदाणं णाणाविहसंकिलेसपउराणं ।२७४। देसविरदादिउवरिमदसगुणठाणाण हेदुभूदाओ। जाओ विसोधियाओ कइया वि ण ताओ जायति ।२७५। =अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे सहित, हिंसामें आनन्द माननेवाले और नाना प्रकारके प्रचुर दु.खोंसे सयुक्त उन सब नारकी जीवोके देशविरत आदिक उपरितन दश गुणस्थानोंके हेतुभूत जो विशुद्ध परिणाम है, वे कदाचित भी नही होते है ।२७४-२७५।

ध.१/१,१,२५/२०७/३ नोपरिमगुणाना तत्र संभवस्तेषा संयमासंयमसंयमपर्यायेण सह विरोधात्। =इन चार गुणस्थानो (१-४ तक) के अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोका नरकमें सद्भाव नहीं है; क्योकि, सयमासंयम, और संयम पर्यायके साथ नरकगतिमें उत्पत्ति होनेका विरोध है।

५. नरक लोक निर्देश

१. नरककी सात पृथिवियोंके नाम निर्देश

त. सू./३/१ रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातम.प्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा' सप्ताधोऽध' ।१। =रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम'प्रभा, और महातम प्रभा, ये सात भूमियाँ घनाम्बुवात अर्थात् घनोदधि वात और आकाशके सहारे स्थित है तथा क्रमसे नीचे है। (ति. प /१/१५२)' (ह. पु./४/४३-४५); (म. पु /१०/३१); (त्रि. सा./१४४); (ज. प./११/११३)।

ति. प./१/१५३ घम्मावंसामेघाअंजणरिट्ठाणउब्भमघवीओ। माघविया इय ताणं पुढवीण गोत्तणामाणि ।१५३। =इन पृथिवियोके अपर रूढि नाम क्रमसे घर्मा, वंशा, मेघा, अजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी भी है ।४६। (ह पु./४/४६); (म. पु./१०/३२), (ज. प./११/१११-११२); (त्रि सा./१४५)।

२. अधोलोक सामान्य परिचय

ति. प./२/६,२१,२४-२५ खरपंकप्पबहुलाभागा रयणप्पहाए पुढवीए ।६। सत्त चियभूमीओ णवदिसभाएण घणोवहि विलग्गा। अट्ठमभूमी दसदिसभागेसु घणोवहिं छिवदि ।२४। पुव्वापरदिब्भाए वेत्तासणसंणिहाओ संठाओ। उत्तर दक्खिणदीहा अणादिणिहणा य पुढवीओ ।२५।

ति. प./१/१६४ सेढीए सत्तसो हेट्ठिम लोयस्स होदि मुहवासो। भूमीवासो सेढीमेत्ताअवसाण उच्छेहो ।१६४। =अधोलोकमें सबसे पहले रत्नप्रभा पृथिवी है, उसके तीन भाग है—खरभाग, पंकभाग और अप्पबहुलभाग। (रत्नप्रभाके नीचे क्रमसे शर्कराप्रभा आदि छः पृथिवियाँ है।)।६। सातो पृथिवियोमें ऊर्ध्व दिशाको छोड शेष नौ दिशाओंमें घनोदधिवातवलयसे लगी हुई है, परन्तु आठवीं पृथिवी दशो-दिशाओमें ही घनोदधि वातवलयको छूती है ।२४। उपर्युक्त पृथिवियाँ पूर्व और पश्चिम दिशाके अन्तरालमें वेत्रासनके सदृश आकारवाली है। तथा उत्तर और दक्षिणमें समानरूपसे दीर्घ एवं अनादिनिधन है ।२५। (रा. वा./३/१/१४/१६१/१६); (ह. पु./४/६,४८); (त्रि सा./१४४,१४६); (ज प./११/१०६,११५)। अधोलोकके मुखका विस्तार जगश्रेणीका सातवाँ भाग (१ राजू), भूमिका विस्तार जगश्रेणी प्रमाण (७ राजू) और अधोलोकके अन्ततक ऊँचाई भी जगश्रेणीप्रमाण (७ राजू) ही है ।१६४। (ह. पु./४/६). (ज. प./११/१०८)

ध ४/१,३,१/६/३ मदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो।

ध. ४/१,३,३/४२/२ चत्तारि-तिण्णि-रज्जुवाहल्लजगपदरपमाणा अधउड्ढलोगा। =मदराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है। चार राजू मोटा और जगत्प्रतरप्रमाण लम्बा चौडा अधोलोक है।

३. पटलों व बिलोंका सामान्य परिचय

ति. प./२/२८,३६ सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणि सेसेसु अप्पबहुलं तं। उवरिं हेट्ठे जोयणसहस्समुज्झिय हवंति पडलकमे ।२८। इंदयसेढीबद्धा पइण्णया य हवंति तिवियप्पा। ते सव्वे णिरयबिला दारुण दुक्खाण संजणणा ।३६। =सातवीं पृथिवीके तो ठीक मध्यभागमें ही नारकियोंके बिल है। परन्तु ऊपर अब्बहुलभाग पर्यन्त शेष छह पृथिवियोमें नीचे व ऊपर एक-एक हजार योजन छोडकर पटलोके क्रमसे नारकियोके बिल हैं ।२८। वे नारकियोके बिल, इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारके है। ये सब ही बिल नारकियोको भयानक दु ख दिया करते हैं ।३६। (रा. वा./३/२/२/१६२/१०), (ह. पु./४/७१-७२), (त्रि. सा./१५०), (ज. प./११/१४२)।

ध. १४/५,६,६४१/४९५/८ णिरयसेडिबद्धाणि णिरयाणि णाम। सेडिबद्धाणं मज्झिमणिरयावासा णिरइंदयाणि णाम। तत्थतणपइण्णया णिरयपत्थडाणि णाम। =नरकके श्रेणीबद्ध नरक कहलाते है, श्रेणीबद्धोंके मध्यमें जो नरकवास है वे नरकेन्द्रक कहलाते है। तथा वहाँके प्रकीर्णक नरक प्रस्तर कहलाते है।

ति. प./२/६५, १०४ सखेज्जमिंदयाणं रुंदं सेढिगदाण जोयणया। तं होदि असंखेज्ज पइण्णयाणुभयमिस्स च ।६५। संखेज्जवासजुत्ते णिरय-बिले होति णारया जीवा। संखेज्जा णियमेणं इदरम्मि तहा असंखेज्जा ।१०४। =इन्द्रक बिलोका विस्तार संख्यात योजन, श्रेणीबद्ध बिलोका असख्यात योजन और प्रकीर्णक बिलोंका विस्तार उभयमिश्र है, अर्थात् कुछका सख्यात और कुछका असंख्यात योजन है ।६५। संख्यात योजनवाले नरक बिलोमें नियमसे सख्यात नारकी जीव तथा असख्यात योजन विस्तारवाले बिलोमें असंख्यात ही नारकी जीव होते है ।१०४। (रा. वा./३/२/२/१६३/११); (ह. पु./४/१६९-१७०)' (त्रि. सा /१६७-१६८)।

त्रि. सा /१७७ वज्जघणभित्तिभागा वट्टतिचउरसबहुविहायारा। णिरया सयावि भरिया सव्विदियदुक्खदाईहिं। =वज्र सदृश भीतसे युक्त

और गोल, तिकोने अथवा चौकोर आदि विविध आकारवाले, वे नरक बिल, सब इन्द्रियोंको दुःखदायक, ऐसी सामग्रीसे पूर्ण हैं।

४. बिलोंमें स्थित जन्मभूमियोंका परिचय

ति. प./२/३०२-३१२ का सारार्थ—१. इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलोंके ऊपर अनेक प्रकारकी तलवारोंसे युक्त, अर्धवृत्त और अधोमुखवाली जन्मभूमियाँ हैं। वे जन्मभूमियाँ घर्मा (प्रथम) को आदि लेकर तीसरी पृथिवी तक उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग, और नालिके सदृश हैं।३०२-३०३। चतुर्थ व पंचम पृथिवीमें जन्मभूमियोंका आकार गाय, हाथी, घोडा, भस्त्रा, अब्जपुट, अम्बरीष और द्रोणी जैसा है।३०४। छठी और सातवी पृथिवीकी जन्मभूमियाँ झालर (वाद्यविशेष), भल्लक (पात्रविशेष), पात्री, केयूर, मसूर, शानक, किलिंज (तृणकी बनी बडी टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाक, शृगाल, अज, खर, करभ, सदोलक (झूला), और रीछके सदृश हैं। ये जन्मभूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एवं महा भयानक हैं।३०५-३०६। उपर्युक्त नारकियोंकी जन्मभूमियाँ अन्तमें करोतके सदृश, चारों तरफसे गोल, मज्जवमयी (?) और भयंकर है।३०७। (रा वा./३/२/२/१६३/१६), (ह पु./४/३४७-३४६), (त्रि.सा./१८०)।

२. उपर्युक्त जन्मभूमियोंका विस्तार जघन्य रूपसे ५ कोस, उत्कृष्ट रूपसे ४०० कोस, और मध्यम रूपसे १०-१५ कोस है।३०८। जन्मभूमियोंकी ऊँचाई अपने-अपने विस्तारकी अपेक्षा पाँचगुणी है।।३१०। (ह. पु./४/३५१)। (और भी दे० नीचे ह पु व त्रि. सा.)।

३. ये जन्मभूमियाँ ७,३,२ १ और ५ कोणवाली है।३१०। जन्मभूमियोंमें १,२,३,५ और ७ द्वार—कोण और इतने ही दरवाजे होते हैं। इस प्रकारकी व्यवस्था केवल श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलोंमें ही है।३११। इन्द्रक बिलोंमें ये जन्मभूमियाँ तीन द्वार और तीन कोनोंसे युक्त हैं। (ह. पु./४/३५२)

ह. पु./४/३५० एकद्वित्रिकगव्यूतियोजनव्याससङ्गता शतयोजनविस्तीर्णास्तेषूत्कृष्टास्तु वर्णिता'।३५०। =वे जन्मस्थान एक कोश, दो कोश तीन कोश और एक योजन विस्तारसे सहित हैं। उनमें जो उत्कृष्ट स्थान है, वे सौ योजन तक चौडे कहे गये है।३५०।

त्रि.सा./१८० इगिबितिकोसो वासो जोयणमिव जोयणं सयं जेट्ठं। उट्ठादीणं बहलं सगवित्थारेहिं पंचगुणं।१८०। =एक कोश, दो कोश, तीन कोश, एक योजन, दो योजन, तीन योजन और १०० योजन, इतना घर्मादि सात पृथिवियोंमें स्थित उष्ट्रादि आकारवाले उपपादस्थानोंकी क्रमसे चौडाईका प्रमाण है।१८०। और बाहल्य अपने विस्तारसे पाँच गुणा है।

५. नरक भूमियोंमें दुर्गन्धि निर्देश

१. बिलोंमें दुर्गन्धि

ति प./२/३४ अजगजमहिसतुरंगमखरोट्ठमज्जारअहिणरादीणं। कुथिदाणं गधेहिं णिरयबिला ते अणंतगुणा।३४। =बकरी, हाथी, भैंस, घोडा, गधा, ऊँट, बिल्ली, सर्प और मनुष्यादिकके सडे हुए शरीरोके गन्धकी अपेक्षा वे नारकियोंके बिल अनन्तगुणी दुर्गन्धसे युक्त होते हैं।३४। (ति.प /२/३०८); (त्रि.सा./१७८)।

२. आहार या मिट्टीकी दुर्गन्धि

ति. प./२/३४४-३४६ अजगजमहिसतुरंगमखरोट्ठमज्जारमेसपहुदीण। कुथिताणं गधादो अणंतगधो हुवेदि आहारो।३४४। घम्माए आहारो कोसस्सब्भंतरम्मि ठिदजीवे। इह मारदि गधेणं सेसे कोसद्धवड्ढिया सत्ति।३४६। =नरकोंमें बकरी, हाथी, भैंस, घोडा, गधा, ऊँट, बिल्ली और मेंढे आदिके सडे हुए शरीरकी गन्धसे अनन्तगुणी दुर्गन्धवाली (मिट्टीका) आहार होता है।३४४। घर्मा पृथिवीमें जो आहार (मिट्टी) है, उसकी गन्धसे यहाँपर एक कोसके भीतर स्थित जीव मर सकते हैं। इसके आगे शेष द्वितीयादि पृथिवियोंमें इसकी घातक शक्ति, आधा-आधा कोस और भी बढती गयी है।३४६। (ह पु./४/-३४२), (त्रि.सा /१६२-१६३)।

३. नारकियोंके शरीरकी दुर्गन्धि

म. पु /१०/१०० श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां समाहृतौ। यद्दौर्गन्ध्यं तदप्येषां देहगन्धस्य नोपमा।१००। =कुत्ता, बिलाव, गधा, ऊँट, आदि जीवोंके मृत कलेवरोंको इकट्ठा करनेसे जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है, वह भी इन नारकियोंके शरीरकी दुर्गन्धकी बराबरी नहीं कर सकती।१००।

६. नरक बिलोंमें अन्धकार व भयंकरता

ति. प /२/गा. नं करवत्तकच्छुरीदो खइरिंगालातितिक्खसूईए। कुंजरचिक्कारादो णिरयाबिला दारुणा तमसहावा।३५। होंति तिमिरजुत्ता।१०२। दुक्खणिज्जामहाघोरा।३०६। णारयजम्मणभूमीओ भीमा य।३०७। णिच्चंधयारबहुला कत्थुरिहिंतो अणंतगुणो।३१२। =स्वभावतः अन्धकारसे परिपूर्ण ये नारकियोंके बिल क्रकच (करौंत), कृपाण, छुरिका, खदिर (खैर) की आग, अति तीक्ष्ण सूई और हाथियोंकी चिक्कारसे अत्यन्त भयानक हैं।३५। ये सब बिल अहोरात्र अन्धकारसे व्याप्त हैं।१०२। उक्त सभी जन्मभूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एवं महा भयानक हैं और भयंकर हैं।३०६-३०७। ये सभी जन्मभूमियाँ नित्य ही कस्तूरीसे अनन्तगुणित काले अन्धकारसे व्याप्त हैं।३१२।

त्रि.सा /१८६-१८७,१६१ वेदालगिरि भीमा जंतसयकडगुहा य पडिमाओ। लोहणिहग्गिकणड्ढा परसूछुरिगासिपत्तवणं।१८६। कूडासामलिरुक्खा वइदरणिणदीउ खारजलपुण्णा। पूहरुहिरा दुगंधा हदा य किमिकोडिकुलकलिदा।१८७। विच्छियसहस्सवेयणसमधियदुक्खं धरित्तिफासादो।१६१। =वेताल सदृश आकृतिवाले महाभयानक तो वहाँ पर्वत हैं और सैकडों दुःखदायक यन्त्रोंसे उत्कट ऐसी गुफाएँ हैं। प्रतिमाएँ अर्थात् स्त्रीकी आकृतियाँ व पुतलियाँ अग्निकणिकासे संयुक्त लोहमयी हैं। असिपत्र वन हैं, सो फरसी, छुरी, खड्ग इत्यादि शस्त्र समान यन्त्रोंकर युक्त हैं।१८६। वहाँ झूठे (मायामयी) शाल्मली वृक्ष हैं जो महादुःखदायक हैं। वैतरणी नामा नदी है सो खारा जलकर सम्पूर्ण भरी है। घिनावने रुधिरवाले महा दुर्गन्धित द्रह हैं जो कोटों, कृमिकुलसे व्याप्त हैं।१८७। हजारों बिच्छू काटनेसे जैसी यहाँ वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना वहाँकी भूमिके स्पर्श मात्रसे होती है।१६१।

७. नरकोंमें शीत-उष्णताका निर्देश

१. पृथिवियोंमें शीत-उष्ण विभाग

ति. प /२/२६-३१ पढमादिबितिचउक्के पंचमपुढवीए तिचउक्कभागतं। अदिउण्हा णिरयबिला तट्ठियजीवाण तिव्वदाघकरा।२६। पंचमिखिदिए तुरिमे भागे छट्ठीय सत्तमे महिए। अदिसीदा णिरयबिला तट्ठिदजीवाण घोरसीदयरा।३०। बासीदि लक्खाणं उण्हबिला पंचवीसिदिसहस्सा। पणहत्तरिं सहस्सा अदिसीदबिलाणि इगिलक्खं।३१। =पहली पृथिवीसे लेकर पाँचवी पृथिवीके तीन चौथाई भागमें स्थित नारकियोंके बिल, अत्यन्त उष्ण होनेसे वहाँ रहनेवाले जीवोंको तीव्र गर्मीकी पीड़ा पहुँचानेवाले हैं।२६। पाँचवीं पृथिवीके अवशिष्ट चतुर्थ भागमें तथा छठीं, सातवीं पृथिवीमें स्थित नारकियोंके बिल, अत्यन्त शीत होनेसे वहाँ रहनेवाले जीवोंको भयानक शीतकी वेदना करनेवाले हैं।३०। नारकियोंके उपर्युक्त चौरासी लाख बिलोंमें-से बयासी लाख पच्चीस हजार बिल उष्ण और एक लाख पचहत्तर हजार बिल अत्यन्त शीत हैं।३१। (ध ७/२,७,७८/गा.१/

४०५), (ह. पु /४/३४६), (म. पु./१०/६०), (त्रि. सा./१५२), (ज्ञा./३६/११) ।

२ नरकोंमें शीत-उष्णकी तीव्रता

ति प./२/३२-३३ मेरुसमलोहपिंडं सीद उण्हे बिलम्मि पक्खित्तं । ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे मयणखंड व ।३२। मेरुसमलोहपिंडं उण्हं सीदे बिलम्मि पक्खित्तं । ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे लवणखंड व ।३३। =यदि उष्ण बिलमें मेरुके बराबर लोहेका शीतल पिण्ड डाल दिया जाये, तो वह तलप्रदेश तक न पहुँचकर बीचमें ही मैन (मोम) के टुकडेके समान पिघलकर नष्ट हो जायेगा ।३२। इसी प्रकार यदि मेरु पर्वतके बराबर लोहेका उष्ण पिण्ड शीत बिलमें डाल दिया जाय तो वह भी तलप्रदेश तक नहीं पहुँचकर बीचमें ही नमकके टुकडेके समान विलीन हो जायेगा ।३३। (भ.आ./मू./१५६३-१५६४), (ज्ञा /३६/१२-१३) ।

८. सातों पृथिवियोंकी मोटाई व बिलोंका प्रमाण

प्रत्येक कोष्ठकके अंकानुक्रमसे प्रमाण—

नं. १-२ (दे० नरक/५/१) ।

नं. ३—(ति.प./२/६,२२), (रा वा./३/१/८/१६०/११), (ह पु /४/४८,५७-५८), (त्रि सा./१४६,१४७), (ज.प./११/११४,१२१-१२२) ।

नं. ४—(ति प./२/३७), (रा वा./३/२/२/१६२/११), (ह पु /४/७५), (त्रि. सा /१५३), (ज प./११/१४५) ।

नं. ५,६—(ति.प./२/७७-७९,८२), (रा.वा/३/२/२/१६२/२५), (ह.पु./४/१०४,११७,१२८,१३७,१४४,१४९,१५०), (त्रि.सा /१६३-१६६) ।

नं. ७—(ति.प./२/२६-२७), (रा.वा/३/२/२/१६२/५), (ह पु./४/७३-७४), (म.पु /१०/९१), (त्रि.सा./१५१), (ज.प./११/१४३-१४४) ।

नं.	नाम	अपर नाम	मोटाई	बिलोंका प्रमाण			
				इन्द्रक	श्रेणीबद्ध	प्रकीर्णक	कुल बिल
	१	२	३	४	५	६	७
			योजन				
१	रत्नप्रभा	धर्मा	१८०,०००	१३	४४२०	२९९५५६७	३० लाख
	खर भाग		१६,०००				
	पंक भाग		८४,०००				
	अब्बहुल		८०,०००				
२	शर्करा	वंशा	३२,०००	११	२६८४	२४७९३०५	२५ लाख
३	बालुका	मेघा	२८,०००	९	१४७६	१४९८५१५	१५ लाख
४	पंक प्र.	अंजना	२४,०००	७	७००	९९९२९३	१० लाख
५	धूम प्र	अरिष्टा	२०,०००	५	२६०	२९९७३५	३ लाख
६	तम प्र.	मघवी	१६,०००	३	६०	९९९३२	९९९९५
७	महातम	माघवी	८,०००	१	४	×	५
				४९	९६०४	८३९०३४७	८४ लाख

९. सातों पृथिवियोंके बिलोंका विस्तार

दे० नरक/५/४ (सर्व इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तारवाले हैं। सर्व श्रेणी बद्ध असख्यात योजन विस्तारवाले है। प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन विस्तारवाले भी हैं और असंख्यात योजन विस्तार वाले भी ।

कोष्ठक नं. १=(दे० ऊपर कोष्ठक न ७) ।

कोष्ठक न. २-५—(ति.प /२/९६-९९,१०३), (रा वा/३/२/२/१६२/१३), (ह पु /४/१६१-१७०); (त्रि.सा /१६७-१६८) ।

कोष्ठक नं. ६-८—(ति.प /२/१५७), (रा वा/३/२/२/१६३/१५); (ह पु./४/२१८-२२४); (त्रि सा /१७०-१७१) ।

पृथिवीका नं.	कुल बिल	विस्तारकी अपेक्षा बिलोंका विभाग				बिलोका बाहुल्य या गहराई		
		संख्यात यो.		असंख्यात यो.				
		इन्द्रक	प्रकीर्णक	श्रेणीबद्ध	प्रकीर्णक	इं.	श्रे.	प्र
	१	२	३	४	५	६	७	८
						कोस	कोस	कोस
१	३० लाख	१३	५९९९८७	४४२०	२३९५५८०	१	४/३	७/३
२	२५ लाख	११	४९९९८९	२६८४	१९९७३१६	$\frac{३}{२}$	२	$\frac{७}{२}$
३	१५ लाख	९	२९९९९१	१४७६	११९८५२४	२	$\frac{८}{३}$	$\frac{१४}{३}$
४	१० लाख	७	१९९९९३	७००	७९९३००	$\frac{५}{२}$	$\frac{१०}{३}$	$\frac{३५}{६}$
५	३ लाख	५	५९९९५	२६०	२३९७४०	३	४	$\frac{७}{६}$
६	९९९९५	३	१९९९६	६०	७९९३६	$\frac{७}{२}$	$\frac{१४}{३}$	$\frac{४९}{६}$
७	५	१	×	४	×	४	$\frac{१६}{३}$	$\frac{२८}{३}$

१०. बिलोंमें परस्पर अन्तराल

१. तिर्यक् अन्तराल

(ति प./२/१००), (ह.पु /४/३५४), (त्रि सा./१७५-१७६) ।

नं	बिल निर्देश	जघन्य	उत्कृष्ट
		योजन	योजन
१	संख्यात योजनवाले प्रकीर्णक	१$\frac{१}{२}$ यो०	३ यो०
२	असंख्यात योजनवाले श्रेणीबद्ध व प्र०	७००० यो.	अस. यो.

२. स्वस्थान ऊर्ध्व अन्तराल

(प्रत्येक पृथिवीके स्व-स्व पटलोंके मध्य बिलोंका अन्तराल) ।

(ति प /२/१६७-१९४), (ह.पु /४/२२५-२४८), (त्रि.सा /१७२) ।

न	पृथिवीका नाम	स्वस्थान अन्तराल		
		इन्द्रकोंका	श्रेणीबद्धोंका	प्रकीर्णकोंका
१	रत्नप्रभा	६४९९योर२$\frac{११}{१२}$को	६४९९योर२$\frac{५}{१२}$ को	६४९९यो१$\frac{१७}{३६}$को
२	शर्कराप्रभा	२९९९ ,, ४७००ध	२९९९ ,, ३६००ध.	२९९९ ,, ३०००ध.
३	बालुकाप्रभा	३२४९ ,, ३५०० ,,	३२४९ ,, २००० ,,	३२४८ ,, ५५०० ,,
४	पंकप्रभा	३६६५ ,, ७५०० ,,	३६६५ ,,५५५५$\frac{५}{९}$,,	३६६४ ,,७७२२$\frac{२}{९}$,,
५	धूमप्रभा	४४९९ ,, ५०० ,,	४४९८ ,, ६००० ,,	४४९७ ,, ६५०० ,,
६	तम प्रभा	६९९८ ,, ५५०० ,,	६९९८ ,, २००० ,,	६९९६ ,, ७५०० ,,
७	महातम'प्रभा	बिलोंके ऊपर तले पृथिवीतलकी मोटाई		
		३९९९योर२$\frac{५}{९}$ को	३९९९ यो $\frac{१}{३}$ को	×

३. परस्थान ऊर्ध्व अन्तराल

(ऊपरकी पृथिवीके अन्तिम पटल व नीचेकी पृथिवीके प्रथम पटल के बिलोंके मध्य अन्तराल), (रा वा/३/१/८/१६०/२८), (ति प./२/गा. नं), (त्रि सा./१७३–१७४) ।

नं.	ति.प./ गा.	ऊपर नीचेकी पृथिवियोंके नाम	इन्द्रक	श्रेणी-बद्ध	प्रकीर्णक
१	१६८	रत्न.प्र-शर्करा	२०,९०००यो. कम १ राजू	इन्द्रकोंवत्(ति प/२/१८७–१८८)	इन्द्रकोंवत् (ति.प./२/१९४)
२	१७०	शर्करा-बालुका	२६००० ,, ,, ,, ,,		
३	१७२	बालुका-पंक	२२००० ,, ,, ,, ,,		
४	१७४	पंक-धूम	१८००० ,, ,, ,, ,,		
५	१७६	धूम-तम	१४००० ,, ,, ,, ,,		
६	१७८	तम-महातम	३००० ,, ,, ,, ,,		
७	×	महातम-	×		

११. सातों पृथिवियोंमें पटलोंके नाम व उनमें स्थित बिलोंका परिचय

दे० नरक/५/११/३ सातों पृथिवियाँ लगभग एक राजूके अन्तरालमें नीचे स्थित हैं।

दे० नरक/५/३ प्रत्येक पृथिवी नरक प्रस्तर या पटल हैं, जो एक-एक हज़ार योजन अन्तरालसे ऊपर-नीचे स्थित हैं।

रा वा/3/२/२/१६०/११ तत्र त्रयोदश नरकप्रस्तारा' त्रयोदशैव इन्द्रकनरकाणि सीमन्तकनिरय · ।=तहाँ (रत्नप्रभा पृथिवीके अब्बहुल भागमें तेरह प्रस्तर हैं और तेरह ही नरक हैं, जिनके नाम सीमन्तक निरय आदि हैं। (अर्थात् पटलोंके भी वही नाम हैं जो कि इन्द्रकोंके हैं। इन्हीं पटलों व इन्द्रकोंके नाम विस्तार आदिका विशेष परिचय आगे कोष्ठकोंमें दिया गया है।

कोष्ठक नं १–४—(ति प./२/४/४५), (रा वा/३/२/२/१६२/११); (ह.पु /४/७६–८५), (त्रि सा./१५४–१५६), (ज.प./११/१४६–१५५)।

कोष्ठक न. ५–८—(ति.प./२/३८,५५–५८), (ह पु /४/८६–१५०), (त्रि. सा./१६३–१६५)।

कोष्ठक नं. ९—(ति. प /२/१०८–१५६); (ह पु./४/१७१–२१७), (त्रि. सा./१६६)।

नं	प्रत्येक पृथिवीके पटलों या इन्द्रकोंके नाम				प्रत्येक पटलमें इन्द्रक	प्रत्येक पटलकी दिशा व विदिशा में श्रेणीबद्ध बिल			प्रत्येक इन्द्रकका विस्तार
	ति.प.	रा.वा.	ह. पु.	त्रि सा.		दिशा	विदिशा	कुल योग	
	१	२	३	४	५	६	७	८	९ योजन
१ रत्नप्रभा पृथिवी					१३			४४२०	
१	सीमंतक	सीमंतक	सीमंतक	सीमंतक	१	४९	४८	३८८	४५ लाख
२	निरय	निरय	नारक	निरय	१	४८	४७	३८०	४४०८३३३ 1/3
३	रौरुक	रौरुक	रौरुक	रौरव	१	४७	४६	३७२	४३१६६६६ 2/3
४	भ्रान्त	भ्रान्त	भ्रान्त	भ्रान्त	१	४६	४५	३६४	४२२५०००
५	उद्भ्रांत	उद्भ्रांत	उद्भ्रान्त	उद्भ्रान्त	१	४५	४४	३५६	४१३३३३३ 1/3
६	संभ्रान्त	संभ्रान्त	संभ्रान्त	संभ्रान्त	१	४४	४३	३४८	४०४१६६६ 2/3
७	असंभ्रांत	असंभ्रांत	असंभ्रांत	असंभ्रांत	१	४३	४२	३४०	३९५००००
८	विभ्रान्त	विभ्रान्त	विभ्रान्त	विभ्रान्त	१	४२	४१	३३२	३८५८३३३ 1/3
९	तप्त	तप्त	त्रस्त	त्रस्त	१	४१	४०	३२४	३७६६६६६ 2/3
१०	त्रसित	त्रस्त	त्रसित	त्रसित	१	४०	३९	३१६	३६७५०००
११	वक्रान्त	व्युत्क्रांत	वक्रान्त	वक्रान्त	१	३९	३८	३०८	३५८३३३३ 1/3
१२	अवक्रांत	अवक्रांत	अवक्रांत	अवक्रांत	१	३८	३७	३००	३४९१६६६ 2/3
१३	विक्रांत	विक्रांत	विक्रांत	विक्रांत	१	३७	३६	२९२	३४०००००
२ शर्करा प्रभा					११			२६८४	
१	स्तनक	स्तनक	तरक	तरक	१	३६	३५	२८४	३३०८३३३ 1/3
२	तनक	संस्तनक	स्तनक	स्तनक	१	३५	३४	२७६	३२१६६६६ 2/3
३	मनक	वनक	मनक	वनक	१	३४	३३	२६८	३१२५०००
४	वनक	मनक	वनक	मनक	१	३३	३२	२६०	३०३३३३३ 1/3
५	घात	घाट	घाट	खडा	१	३२	३१	२५२	२९४१६६६ 2/3
६	संघात	संघाट	संघाट	खडिका	१	३१	३०	२४४	२८५००००
७	जिह्वा	जिह्व	जिह्वा	जिह्वा	१	३०	२९	२३६	२७५८३३३ 1/3
८	जिह्वक	उज्जिह्वि	जिह्वक	जिह्विक	१	२९	२८	२२८	२६६६६६६ 2/3
९	लोल	कालोल	लोल	लोलिक	१	२८	२७	२२०	२५७५०००
१०	लोलक	लोलुक	लोलुप	लोलवत्स	१	२७	२६	२१२	२४८३३३३ 1/3
११	स्तन-लोलुक	स्तन-लोलुक	स्तन-लोलुप	स्तन-लोला	१	२६	२५	२०४	२३९१६६६ 2/3
३ बालुका प्रभा					९			१४७६	
१	तप्त	तप्त	तप्त	तप्त	१	२५	२४	१९६	२३०००००
२	शीत	त्रस्त	तपित	तपित	१	२४	२३	१८८	२२०८३३३ 1/3
३	तपन	तपन	तपन	तपन	१	२३	२२	१८०	२११६६६६ 2/3
४	तापन	आतपन	तापन	तापन	१	२२	२१	१७२	२०२५०००
५	निदाघ	निदाघ	निदाघ	निदाघ	१	२१	२०	१६४	१९३३३३३ 1/3
६	प्रज्व-लित	प्रज्व-लित	प्रज्व-लित	उज्ज्व-लित	१	२०	१९	१५६	१८४१६६६ 2/3

नं०	पटलों या इन्द्रकोंके नाम — ति प.	रा वा.	ह पु.	त्रि, सा	प्रत्येक पटलमें इन्द्रक	श्रेणी बद्ध — दिशा	विदिशा	कुल योग	इन्द्रकोंका विस्तार
	१	२	३	४	५	६	७	८	योजन
७	उज्ज्वलित	उज्ज्वलित	उज्ज्वलित	प्रज्वलित	१	१६	१८	१४८	१७५००००
८	सज्वलित	संज्वलित	संज्वलित	सज्वलित	१	१८	१७	१४०	१६५८३३३$\frac{1}{3}$
९	संप्रज्वलित	सप्रज्वलित	सप्रज्वलित	संप्रज्वलित	१	१७	१६	१३२	१५६६६६६$\frac{2}{3}$
४ पंक प्रभा—					७			७००	
१	आर	आर	आर	आरा	१	१६	१५	१२४	१४७५०००
२	मार	मार	तार	मारा	१	१५	१४	११६	१३८३३३३$\frac{1}{3}$
३	तार	तार	मार	तारा	१	१४	१३	१०८	१२९१६६६$\frac{2}{3}$
४	तत्त्व	वर्चस्क	वर्चस्क	चर्चा	१	१३	१२	१००	१२०००००
५	तमक	वैमनस्क	तमक	तमकी	१	१२	११	९२	११०८३३३$\frac{1}{3}$
६	वाद	खड	खड	घाटा	१	११	१०	८४	१०१६६६६$\frac{2}{3}$
७	खडखड	अखड	खडखड	घटा	१	१०	९	७६	९२५०००
५ धूमप्रभा—					५			२६०	
१	तमक	तमो	तम	तमका	१	९	८	६८	८३३३३३$\frac{1}{3}$
२	भ्रमक	भ्रम	भ्रम	भ्रमका	१	८	७	६०	७४१६६६$\frac{2}{3}$
३	झपक	झप	झप	झपका	१	७	६	५२	६५००००
४	वाविल	अन्ध	अन्त	अर्धेंद्रा	१	६	५	४४	५५८३३३$\frac{1}{3}$
५	तिमिश्र	तमिस्र	तमिस्र	तिमिश्रका	१	५	४	३६	४६६६६६$\frac{2}{3}$
६ तमःप्रभा					३			६०	
१	हिम	हिम	हिम	हिम	१	४	३	२८	३७५०००
२	वर्दल	वर्दल	वर्दल	वार्द्दल	१	३	२	२०	२८३३३३$\frac{1}{3}$
३	लल्लक	लल्लक	लल्लक	लल्लक	१	२	१	१२	१९१६६६$\frac{2}{3}$
७ महातमःप्रभा—					१			४	
१	अवधिस्थान	अप्रतिष्ठान	अप्रतिष्ठित	अवधिस्थान	१	१	×	४	१००,०००

नरकमुख—अष्टम नारद थे। अपर नाम नरवक्त्र। विशेष दे० शलाका पुरुष/६।

नरकांता कूट—नील पर्वतस्थ एक कूट —दे० श्लोक/७।

नरकांता देवी—नरकान्ता कुण्ड निवासिनी एक देवी।—दे० लोक/७।

नरकांता नदी—रम्यक क्षेत्रकी प्रधान नदी।—दे० लोक ३।

नरकायु—दे० आयु/३।

नरगीत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

नरपति—(म. पु./६१/८९–९०) मघवान चक्रवर्तीका पूर्वका दूसरा भव है। यह उत्कृष्ट तपश्चरणके कारण मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ था।

नरमद—भरतक्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

नरवर्मा—एक भोजवंशी राजा। भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार यह उदयादित्यका पुत्र और यशोवर्माका पिता था। मालवा देशमें राज्य करता था। धारा या उज्जैनी इसकी राजधानी थी। समय—वि. ११५०-१२०० (ई० १०९३-११४३)—दे० इतिहास/३/१।

नरवाहन—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका एक सरदार था, जो राजा विक्रमादित्यके कालमें मगधदेशके किसी भागपर अपना अधिकार जमाये बैठा था। इसका दूसरा नाम नभ.सेन था। इतिहासमें इसका नाम नहपान प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार मालवादेशकी राज्य वंशावलीमें भी नभ सेनकी बजाय नरवाहन ही नाम दिया है। भृत्यवंशके गोतमीपुत्र सातकर्णी (शालिवाहन) ने वी नि. ६०५ में इसे परास्त करके इसका देश भी मगध राज्यमें मिला लिया (क पा. १/प्र ५३/ प. महेन्द्र) और इसी-के उपलक्ष्यमें उसने शक संवत् प्रचलित किया था। समय—वी. नि. ४४५-४८५ (ई. पू. ८१-४१) नोट—शालिवाहन द्वारा वी. नि. ६०५ में इसके परास्त होनेकी सगति बैठानेके लिए —दे० इतिहास/३/३।

नरवृषभ—(म. पु/६१/६६-६८) वीतशोकापुरी नगरीका राजा था। दीक्षा पूर्वक मरणकर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। यह 'सुदर्शन' नामक बलभद्रके पूर्वका दूसरा भव है—दे० सुदर्शन।

नरसेन—एक अपभ्रंश कवि थे। इन्होंने सिद्धचक्र व श्रीपाल ये दो ग्रन्थ रचे है। समय—वि. श. १५। (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास।३४। कामता प्रसाद)।

नरेन्द्रसेन—लाडबागड संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुणसेनके शिष्य, उदयसेनके सधर्मा, और गुणसेन द्वि, जयसेन व उदयसेन द्वि. के गुरु थे। कृति—सिद्धान्तसारसंग्रह। समय—वि. ११५५ (ई० १०९८)—दे० इतिहास/५/२५।

नर्मदा—पूर्वदक्षिणी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

नल—(प पु/९/१३ व ११९/३९) सुग्रीवके चचा ऋक्षरजका पुत्र था।१३। अन्तमें दीक्षित हो गया था।३९।

नलकूबर—(प. पु./१२/७९) राजा इन्द्रका एक लोकपाल जिसने रावणके साथ युद्ध किया।

नलदियार—तामिल भाषाका ८००० पद्य प्रमाण एक ग्रन्थ था, जिसे ई० पू० ३६५-३५५ में विशाखाचार्य तथा उनके ८००० शिष्योंने एक रातमें रचा था। इसके लिए यह दन्तकथा प्रसिद्ध है कि—बारह वर्षीय दुर्भिक्षमे जब आ. भद्रबाहुका सघ दक्षिण देशमें चला गया तो पाण्ड्यनरेशका उन साधुओके गुणोंसे बहुत स्नेह हो गया। दुर्भिक्ष समाप्त होनेपर जब विशाखाचार्य पुन उज्जैनीकी ओर लौटने लगे तो पाण्ड्यनरेशने उन्हे स्नेहवश रोकना चाहा। तब आचार्यप्रवरने अपने दस दस शिष्योंको दस दस श्लोकोमें अपने जीवनके अनुभव निबद्ध करनेकी आज्ञा दी। उनके ८००० शिष्य थे, जिन्होने एक रातमें ही अपने अनुभव गाथाओंमें गूँथ दिये और सवेरा होते तक ८००० श्लोक प्रमाण एक ग्रन्थ तैयार हो गया। आचार्य इस ग्रन्थको नदी किनारे छोडकर विहार कर गये। राजा उनके विहारका समाचार जानकर बहुत बिगडा और क्रोधवश वे सब

गाथाएँ नदीमें फिकवा दी। परन्तु नदीका प्रवाह उलटा हो जानेके कारण उनमेसे ४०० पत्र किनारेपर आ लगे। क्रोध शान्त होनेपर राजाने वे पत्र इकट्ठे करा लिये, और इस प्रकार वह ग्रन्थ ८००० श्लोकसे केवल ४०० श्लोक प्रमाण रह गया। इसी ग्रन्थका नाम पीछे नलदियार पडा।

नलिन—१. पूर्व विदेहस्थ एक वक्षार गिरि। २. उपरोक्त वक्षारका एक कूट। ३. इस कूटका स्वामी देव। ४. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र। ५. आशीविष वक्षारका एक कूट। ६. इस कूटका रक्षक देव। ७. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। ८. सौधर्म स्वर्गका आठवाँ पटल—दे० स्वर्ग/५। ९. कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१

नलिनप्रभ—(म पु /५७/श्लोक न०) पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व विदेहमें सुकच्छा देशका राजा था।२-३। सुपुत्र नामक पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण कर ली और ग्यारह अंगोका अध्ययन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरण पूर्वक देह त्यागकर सोलहवे अच्युत स्वर्गमें अच्युतेन्द्र हुआ।१२-१४।

नलिनांग—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

नलिना—सुमेरुपर्वतके नन्दन आदि वनोमे स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

नलिनावर्त—पूर्व विदेहस्थ नलिनकूट वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

नलिनोत्पल—सुमेरुके नन्दन आदि वनोमे स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

नवक समय प्रवद्ध—दे० समय प्रवद्ध।

नवकार मन्त्र—दे० मन्त्र।

नवकार व्रत—लगातार ७० दिन एकाशना करे। नमोकार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ४७) (वर्द्धमान पुराण नवलसाहकृत)।

नवधा—

पु सि. उ./७६ कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा। =कृत कारित अनुमोदनारूप मन वचन काय करके नव प्रकार (का त्याग औत्सर्गिक है)।

नवधाभक्ति—दे० भक्ति/२।

नवविधि व्रत—किसी भी मासकी चतुर्दशीसे प्रारम्भ करके—चौदह रत्नोकी १४ चतुर्दशी, नवनिधिकी ९ नवमी, रत्नत्रयकी ३ तीज, पाँच ज्ञानोकी ५ पचमी, इस प्रकार ३१ उपवास करे। नमोकार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान सग्रह/पृ. ९२) (किशनसिंह क्रियाकोश)।

नवनीत—

★नवनीतकी अभक्ष्यताका निर्देश
—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

१. नवनीतके निषेधका कारण

दे. मास/२. नवनीत, मदिरा, मास, मधु ये चार- महाविकृतियाँ है, जो काम, मद (अभिमान व नशा) और हिंसाको उत्पन्न करते है।

र. क श्रा /८५ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणिशृङ्गवेराणि। नवनीत निम्बकुसुम कैतकमित्येवमवहेयम्। ८५। =फल थोडा परन्तु त्रस हिंसा अधिक होनेसे नवनीत आदि वस्तुएँ छोडने योग्य है।

पु. सि उ /१६३ नवनीतं च त्याज्य योनिस्थान प्रभूतजीवानाम्। =[उसी वर्ण व जातिके (पु सि. उ./८१)] बहुतसे जीवोंका उत्पत्तिस्थानभूत नवनीत त्यागने योग्य है।

सा. ध /२/१२ मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिश.। द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यङ्गिराशय.।१२।...

सा ध /२/१२ में उद्धृत—अन्तर्मुहूर्तात्परत. सुसूक्ष्मा जन्तुराशय.। यत्र मूर्च्छन्ति नाद्यं तन्नवनीत विवेकिभि।१। =१ मधुके समान नवनीत भी त्याग देना चाहिए; क्योंकि, उसमें भी दो मुहूर्तके पश्चात निरन्तर अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते है।१२। २. और किन्ही आचार्योंके मतमे तो अन्तर्मुहूर्त पश्चात ही उसमे अनेक सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए वह नवनीत विवेकी जनों द्वारा खाने योग्य नही है।१।

नवमिका—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/७।

नवराष्ट्र—भरतक्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

नष्ट—अक्षसंचार गणितमें संख्याके आधारपर अक्ष या भंगका नाम बताना 'नष्ट' विधि कहलाती है—दे० गणित/II।

नहपान—दे० नरवाहन।

नहुष—कलिंग देशके सोमवंशी राजा। समय—ई० ६१९-६४४ (सि. वि./प्र./१५/पं महेन्द्र)।

नाग—सनत्कुमार स्वर्गका तृतीय पटल—दे० स्वर्ग/५।

नागकुमार—१ (ध. १३/५.५.१४०/३९१/८ फणोपलक्षिता' नागा.। =फणसे उपलक्षित (भवनवासी देव) नाग कहलाते है। २. भवनवासी देवोंका एक भेद है—दे० भवन/१। ३ इन देवोंका लोकमें अवस्थान —दे० भवन/४।

नागकुमार—आ मल्लिषेण (ई० १०४७) द्वारा संस्कृत छन्दोमें रचित एक महाकाव्य ग्रन्थ।

नागगिरि—१. अपर विदेहस्थ एक वक्षार। २. सूर्यगिरि वक्षारका एक कूट। ३ इस कूटका रक्षक देव।—दे० लोक/७। ४. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक पर्वत—दे० मनुष्य/४।

नागचंद—मल्लिनाथ पुराणके कर्ता एक कन्नड कवि।

नागदत्त—यह एक साधु थे, जिनको सर्प द्वारा डसा जानेके कारण वैराग्य आया था। (बृहत् कथाकोश/कथा नं २७)

नागदेव—आप 'मयण पराजय' के कर्ता हरिदेव सूरिके ही वंशमें उनकी छठी पीढी में हुए थे। 'कन्नड भाषामे रचित उपरोक्त ग्रन्थके आधारपर आपने 'मदन पराजय' नामक सस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थकी रचना की थी। समय—ई० श० १२-१५ (मयण पराजय/प्र. ६१/A N up।

नागनंदि—कवि अरुणके गुरु थे। समय—वि० श० ११, (ई० श० ११ का अन्त) (भ आ /प्र २०/प्रेमी जी)

नागपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

नागवर—मध्यलोकके अन्तमे पष्ठ सागर व द्वीप—दे० लोक/५।

नागश्री—(पा पु /सर्ग/श्लोक न) अग्निभूति ब्राह्मणकी पुत्री थी। सोमभूतिके साथ विवाही गयी (२३/७६-८२)। मिथ्यात्वकी तीव्रता वश।(२३/८८) एक बार मुनियोको विष मिश्रित आहार कराया।(२३/१०३)। फलस्वरूप कुष्ठरोग हो गया और मरकर नरकमे गयी।(२४/२-६)। यह द्रपोदीका दूरवर्ती पूर्वभव है।—दे० द्रौपदी।

नागसेन—१. श्रुतावतारके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथमके पश्चात् पाँचवें ११ अंग व १० पूर्वधारी हुए। समय—वी. नि २२६-२४७ (ई० पू० २६८-२८०)—दे० इतिहास/४/१। २. आप श्री विजयसेनके प्रशिष्य थे। आपके शिक्षागुरु श्री वीरचन्द्र, शुभचन्द्र और महेन्द्रदेव थे। आपने 'तत्त्वानुशासन' नामक ध्यान विषयक ग्रन्थ लिखा हैं। समय—वि. श. १३ से पूर्व (ई० श० १२ का पूर्व) (त. अनु./प्र/२ व्र श्री लाल)

नागहस्ती—१ दिगम्बराम्नायमे इनका स्थान पुष्पदन्त व भूतबलीके समान है, क्योंकि उन ही की भाँति इन्होंने भी गुणधर आचार्य द्वारा परम्परागत ज्ञानको कषाय-प्राभृतसूत्रके रूपमें गूँथा था। आप आर्य मक्षुके शिष्य तथा यतिवृषभाचार्यके गुरु थे। समय--वि, ५२७-६१७ (ई० ४७०-५६०) (दे० इतिहास/४/४/७, ५/३)। २. पुन्नाटसघकी गुर्वावलीके अनुसार आप व्याघ्रहस्तिके शिष्य तथा जितदण्डके गुरु थे। (दे० इतिहास/५/१८)

नागार्जुन—१ एक बौद्ध विद्वान्। इनके सिद्धान्तोका समन्तभद्र स्वामी (वि श २-३) ने बहुत खण्डन किया है, अत आप उनसे भी पहले हुए हैं। (र. क श्रा./प्र. ८/प. परमानन्द) २ आप आ-पूज्यपादकी कमलनी नामक छोटी बहन जो गुणभट्ट नामक ब्राह्मणके साथ परणी थी, उसके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। आ पूज्यपाद स्वामीने इनको पद्मावती देवीका एक मंत्र दिया था, जिसे सिद्ध करके इन्होंने स्वर्ण बनानेकी विद्या प्राप्त की थी। पद्मावती देवीके कहनेसे इसने एक जिनमन्दिर भी बनवाया था। समय—पूज्यपादसे मिलान करनेपर इनका समय लगभग वि, ४८१ (ई० ४२४) आता है। (स सि./प्र. ८४/ पं. नाथूराम प्रेमीके लेखसे उद्धृत)

नागभट्ट—१ स्वर्गीय चिन्तामणिके अनुसार यह वत्सराजके पुत्र थे। इन्होंने चक्रायुधका राज्य छीनकर कन्नौजपर कब्जा किया था। समय—वि. ८५७-८८२ (ई० ८००-८२५)।

नाग्न्य—दे० अचेलकत्व।

नाटक समयसार—दे० समयसार नाटक।

नाड़ी—१ नाड़ी संचालन सम्बन्धी नियम—दे० उच्छ्वास। २. औदारिक शरीरमें नाडियोका प्रमाण —दे० औदारिक/२।

नाथ वंश—दे० इतिहास/७/७।

नाभांत—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

नाभिगिरि—दे० लोक/३/७।

नाभिराज—(म पु/३/श्लोक न.) आप वर्तमान कल्पके १४ वें कुलकर थे।१५२। इनके समय बालककी नाभिमें नाल दिखाई देने लगी थी। इन्होंने उसे काटनेका उपाय सुझाया जिससे नाभिराय नाम प्रसिद्ध हो गया।१६४। —दे० शलाका पुरुष/९।

नाम—१. नामका लक्षण

रा. वा./१/५/—/२८/८ नीयते गम्यतेऽनेनार्थः, नमति वार्थमभिमुखीकरोतीति नाम। =जिसके द्वारा अर्थ जाना जाये अथवा अर्थको अभिमुख करे वह नाम कहलाता है।

ध. १५/२/२ जस्स णामस्स वाचगभावेण पवुत्तीए जो अत्थो आलंबणं होदि सो णामणिबंधणं णाम, तेण विणा णामपवुत्तीए अभावादो। =जिस नामकी वाचकरूपसे प्रवृत्तिमें जो अर्थ अवलम्बन होता है वह नाम निबन्धन है, क्योंकि, उसके बिना नामकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

ध. ९/४१/५४/२ नाना मिनोतीति नाम। =नानारूपसे जो जानता है, उसे नाम कहते हैं।

त अनु./१०० वाच्यवाचक नाम। =वाच्यके वाचक शब्दको नाम कहते हैं —दे० आगम/८।

२. नामके भेद

ध १/१,१,१/१७/५ तत्थ णिमित्तं चउव्विहं, जाइ-दव्व-गुण-किरिया चेदि। दव्वं दुविहं, संजोगदव्वं समवायदव्वं चेदि। ण च चउण्ह णिमित्तंतरमत्थि। =नाम या संज्ञाके चार निमित्त होते हैं—जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया। (उसमें भी) द्रव्य निमित्तके दो भेद हैं—संयोग द्रव्य और समवाय द्रव्य। (अर्थात् नाम या शब्द चार प्रकारके हैं —जातिवाचक, द्रव्यवाचक, गुणवाचक और क्रियावाचक) इन चारके अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त नहीं है। (श्लो. वा २/१/५/श्लो. २-१०/१६६)

ध. १५/२/३ तं च णामं णिबंधणमत्थाहिहाणपच्चयभेएण तिविहं। =वह नाम निबन्धन अर्थ, अभिधान और प्रत्ययके भेदसे तीन प्रकारका है।

३. नामके भेदोंके लक्षण

दे. जाति (सामान्य) (गौ मनुष्य आदि जाति वाचक नाम हैं)।

दे द्रव्य/१/१० (दण्डी छत्री आदि संयोग द्रव्य निमित्तक नाम हैं और गलगण्ड काना आदि समवाय द्रव्य निमित्तक नाम हैं।)

ध. १/१,१,१/१८/२,५ गुणो णाम पज्जायादिपरोप्परविरुद्धो अविरुद्धो वा। किरिया णाम परिप्फंदणरूवा। तत्थ गुणणिमित्तं णाम किण्हो रुहिरो इच्चेवमाइ। किरियाणिमित्तं णाम गायणो णच्चणो इच्चेवमाइ। =जो पर्याय आदिकसे परस्पर विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं। परिस्पन्दन अर्थात् हलनचलन रूप अवस्थाको क्रिया कहते हैं। तहाँ कृष्ण, रुधिर इत्यादि गुणनिमित्तक नाम हैं, क्योंकि, कृष्ण आदि गुणोके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्यवहारमें आते हैं। गायक, नर्तक आदि क्रिया निमित्तक नाम हैं, क्योंकि, गाना नाचना आदि क्रियाओंके निमित्तसे वे नाम व्यवहारमें आते है।

ध १५/२/४ तत्थ अत्थो अट्ठविहो एगबहुजीवाजीवजणिदपादेक्कसंजोगभंगभेएण। एदेसु अट्ठसु अत्थेसुप्पण्णणाणं पच्चयणिबंधणं। जा णामसद्दो पवुत्तो संतो अप्पाणं चेव जाणावेदि तमभिहाणणामणिबंधणं णाम। =एक व बहुत जीव तथा अजीवसे उत्पन्न प्रत्येक व संयोगी भंगोके भेदसे अर्थ निबन्धन नाम आठ प्रकारका है (विशेष देखो आगे नाम निक्षेप) इन आठ अर्थोमें उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यय निबन्धन नाम कहलाता है। जो संज्ञा शब्द प्रवृत्त होकर अपने आपको जतलाता है, वह अभिधान निबन्धन कहा जाता है।

४ सर्व शब्द वास्तवमें क्रियावाची हैं

श्लो वा /४/१/३३/७६/२६७/६ न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति गौरश्व इति जातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात् आशुगाम्यश्व इति, शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमता अपि क्रियाशब्द एव। शुचिभवनाच्छुक्ल, नीलान्नील इति। देवदत्त इति यदृच्छा शब्दाभिमता अपि क्रियाशब्दा एव देव एव (एन) देयादिति देवदत्त' यज्ञदत्त इति। सयोगिद्रव्यशब्दा समवायिद्रव्यशब्दाभिमता क्रियाशब्द एव। दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यादि। पञ्चतयो तु शब्दानां प्रवृत्ति व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्ययं मन्यते। =जगतमें कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो कि क्रियाका वाचक न हो। जातिवाचक अश्वादि शब्द भी क्रियावाचक है; क्योंकि, आशु अर्थात् शीघ्र गमन करनेवाला अश्व कहा जाता है। गुणवाचक शुक्ल नील आदि शब्द भी क्रियावाचक है, क्योंकि, शुचि अर्थात् पवित्र होना रूप क्रियासे शुक्ल तथा नील रंगने रूप क्रियासे नील कहा

जाता है। देवदत्त आदि यदृच्छा शब्द भी क्रियावाची है, क्योंकि, देव ही जिस पुरुषको देवे, ऐसे क्रियारूप अर्थको धारता हुआ देवदत्त है। इसी प्रकार यज्ञदत्त भी क्रियावाची है। दण्डी विषाणी आदि सयोगद्रव्यवाची या समवायद्रव्यवाची शब्द भी क्रियावाची ही है, क्योंकि, दण्ड जिसके पास वर्त रहा है वह दण्डी और सींग जिसके वर्त रहे हैं वह विषाणी कहा जाता है। जातिशब्द आदि रूप पाँच प्रकारके शब्दोंकी प्रवृत्ति तो व्यवहार मात्रसे होती है। निश्चयसे नहीं है। ऐसा एवभूत नय मानता है।

*** गोण्यपद आदि नाम**—दे० पद।

*** भगवान्‌के १००८ नाम**—दे० अर्हन्त।

*** नाम निक्षेप**—दे० आगे पृथक् शब्द।

नामकर्म—१. नामकर्मका लक्षण

प्र. सा./मू./११७ कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण। अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि। =नाम सज्ञावाला कर्म जीवके शुद्ध स्वभावको आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव रूप करता है। (गो. क./मू./१२/९)

स. सि./८/३/३७९/२ नाम्नो नरकादिनामकरणम्।

स. सि./८/४/३८१/१ नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम। =(आत्मा का) नारक आदि रूप नामकरण करना नामकर्मकी प्रकृति (स्वभाव) है। जो आत्माको नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है वह नामकर्म है। (रा. वा./८/३/४/३६७/१ तथा ८/४/२/५६८/४), (प्र सा./ता. वृ.)।

ध. ६/१,९,१,१०/१३/३ नाना मिनोति निर्वर्त्तयतीति नाम। जे पोग्गला सरीरसंठाणसंघडणवण्णगंधादिकज्जकारया जीवणिविट्ठा ते णामसण्णिदा होंति त्ति उत्तं होदि। =जो नाना प्रकारकी रचना निर्वृत्त करता है, वह नामकर्म है। शरीर, सस्थान, सहनन, वर्ण, गन्ध आदि कार्योंके करनेवाले जो पुद्गल जीवमें निविष्ट हैं, वे 'नाम' इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है। (गो. क./मू./१२/९); (गो क./जी. प्र./२०/१३/१६), (द्र स./टी./३३/९२/१२)।

२. नामकर्मके भेद

१. मूलभेद रूप ४२ प्रकृतियाँ

प. ख. ६/१,९-१/सूत्र २८/५० गदिणामं जादिणामं सरीरणामं सरीरबंधणणामं सरीरसंघादणामं सरीरसंठाणणामं सरीरअंगोवंगणामं सरीरसंघडणणामं वण्णणामं गंधणामं रसणामं फासणामं आणुपुव्वीणामं अगुरुलहुवणामं उवघादणामं परघादणामं उस्सासणामं आदावणामं उज्जोवणामं विहायगदिणामं तसणामं थावरणामं बादरणामं सुहुमणामं पज्जत्तणामं अपज्जत्तणामं पत्तेयसरीरणामं साधारणसरीरणामं थिरणामं अथिरणामं सुहणामं असुहणामं सुभगणामं दूभगणामं सुस्सरणामं दुस्सरणामं आदेज्जणामं अणादेज्जणामं जसकित्तिणामं अजसकित्तिणामं णिमिणामं तित्थयरणामं चेदि ।२८। =१ गति, २ जाति, ३ शरीर, ४ शरीरबन्धन, ५ शरीरसघात, ६ शरीरसस्थान, ७ शरीर अगोपाग, ८, शरीरसहनन, ९ वर्ण, १० गन्ध, ११, रस, १२, स्पर्श, १३ आनुपूर्वी, १४, अगुरुलघु, १५, उपघात, १६, परघात, १७ उच्छ्वास, १८, आतप, १९, उद्योत, २० विहायोगति, २१ त्रस, २२ स्थावर, २३, बादर, २४, सूक्ष्म, २५ पर्याप्त, २६, अपर्याप्त, २७, प्रत्येक शरीर, २८ साधारण शरीर, २९ स्थिर, ३० अस्थिर, ३१, शुभ, ३२, अशुभ, ३३ सुभग, ३४, दुर्भग, ३५ सुस्वर, ३६ दुस्वर, ३७ आदेय, ३८ अनादेय, ३९ यश कीर्ति, ४० अयश कीर्ति; ४१ निर्माण और ४२, तीर्थंकर, ये नाम कर्मकी ४२ पिंड प्रकृतियाँ हैं ।२८। (प ख. १३/५,५/सू. १०१/३६३), (त सू./८/११); (मू. आ./१२३०-१२३३); (पं. सं./प्रा./२/४); (म ब. १/§५/२८/३); (गो. क./जी. प्र./२६/१९/७).

२. उत्तर भेदरूप ९३ प्रकृतियाँ

दे० वह वह नाम—(गति चार हैं—नरकादि जाति पाँच हैं—एकेन्द्रिय आदि। शरीर पाँच हैं—औदारिकादि। बन्धन पाँच हैं—औदारिकादि शरीर बन्धन। सघात पाँच हैं—औदारिकादि शरीर सघात। संस्थान छह हैं—समचतुरस्र आदि। अगोपांग तीन हैं—औदारिक आदि। सहनन छह हैं—वज्रऋषभनाराच आदि। वर्ण पाँच हैं—शुक्ल आदि। गन्ध दो हैं—सुगन्ध, दुर्गन्ध। रस पाँच हैं—तिक्त आदि। स्पर्श आठ हैं—कर्कश आदि। आनुपूर्वी चार हैं—नरकगत्यानुपूर्वी आदि। विहायोगति दो हैं—प्रशस्त अप्रशस्त।—इस प्रकार इन १४ प्रकृतियों के उत्तर भेद ६५ हैं। मूल ४२को बजाय उनके ६५ उत्तर भेद गिननेपर नाम कर्मकी कुल प्रकृतियाँ ९३ (४२+६५—१४=९३) हो जाती हैं।)

३. नामकर्मकी असंख्यात प्रकृतियाँ

प. ख. १२/४,२,१४/सूत्र १६/४८३ णामस्स कम्मस्स असंखेज्जलोगमेत्तपयडीओ ।१६। =नामकर्मकी असख्यात लोकमात्र प्रकृतियाँ हैं। (रा. वा./८/१३/३/५८१/५)

प. ख. १३/५,५/सूत्र/पृष्ठ—णिरयगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ अंगुलस्स असंखेज्जदिभागमेत्तबाहल्लाणि तिरियपदराणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ ।(११६/३७१)। तिरिक्खगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ लोओ सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ ।(११८-३७६)। मणुसगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ पणदालीसजोयणसदसहस्सबाहल्लाणि तिरियपदराणि उड्ढकवाडछेदणणिप्फण्णाणि सेडीए असखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ ।(१२०/३७७)। देवगइपाओग्गाणुपुव्विणामाए पयडीओ णवजोयणसदबाहल्लाणि तिरियपदराणि सेडीए असखेज्जदिभागमेत्तेहि ओगाहणवियप्पेहि गुणिदाओ। एवडियाओ पयडीओ ।(१२२/३७८)। =नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ अंगुलके असंख्यातवें भागमात्र तिर्यक्प्रतररूप बाहल्यको श्रेणिके असख्यातवें भागमात्र अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी हैं। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं ।११६। तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ लोकको जगश्रेणीके असख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी है। उसकी इतनी मात्र प्रकृतियाँ होती हैं ।११८। मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ ऊर्ध्वकपाटछेदनसे निष्पन्न पैंतालीस लाख योजन बाहल्यवाले तिर्यक् प्रतरोंको जगश्रेणीके असख्यातवें भागमात्र अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी है। उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ होती हैं।१२०। देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्मकी प्रकृतियाँ नौ सौ योजन बाहल्यरूप तिर्यक्प्रतरोंको जगश्रेणीके असख्यातवें भागमात्र अवगाहनाविकल्पोंसे गुणित करनेपर जो लब्ध आवे उतनी होती है। उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ है ।१२२।

ध. ३/१,२,८७/३३०/२ पुढविकाइयणामकम्मोदयवंतो जीवा पुढविकाइया त्ति वुच्चंति। पुढविकाइयणामकम्मं ण कहिं वि वुत्तमिदि चे ण, तस्स एइंदियजादिणामकम्मंतब्भूदत्तादो। एवं संदि कम्माणं सखाणियमो सुत्तसिद्धो ण घडदि त्ति वुच्चदे। ण सुत्ते कम्माणि अट्ठेव अट्ठेदालसयमेवेत्ति सखतरपडिसेहविधाययएवकाराभावदो। पुणो कत्तियाणि कम्माणि होंति। हय-गय-विय-फुल्ल-धुव-सलहमक्कुणुद्देहि-गोमिदादीणि जेत्तियाणि कम्मफलाणि लोगे उवलब्भंते

कम्माणि वि तत्तियाणि चेव। एवं सेसकाइयाणं वि वत्तव्वं। =पृथिवीकाय नामकर्मसे युक्त जीवोंको पृथिवीकायिक कहते है। प्रश्न—पृथिवीकाय नामकर्म कही भी (कर्मके भेदोंमें) नही कहा गया है? उत्तर—नही, क्योंकि, पृथिवीकाय नामका कर्म एकेन्द्रिय नामक नामकर्मके भीतर अन्तर्भूत है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो सूत्र प्रसिद्ध कर्मोंकी संख्याका नियम नही रह सकता है? उत्तर—सूत्रमें, कर्म आठ ही अथवा १४८ ही नहीं कहे गये है, क्योंकि आठ या १४८ संख्या-को छोडकर दूसरी संख्याओंका प्रतिषेध करनेवाला एवकार पद सूत्रमें नहीं पाया जाता है। प्रश्न—तो फिर कर्म कितने है? उत्तर—लोकमें घोडा, हाथी, वृक (भेडिया), भ्रमर, शलभ, मत्कुण, उद्देहिका (दीमक), गोमी और इन्द्र आदि रूपसे जितने कर्मोंके फल पाये जाते है, कर्म भी उतने ही है। (ध. ७/२,१,१६/७०/७) इसी प्रकार शेष कायिक जीवोंके विषयमें भी कथन करना चाहिए।

ध. ७/२,१०,३२/१०५/५ सुहुमकम्मोदएण जहा जीवाणं वणप्फदिकाइया-दीणं सुहुमत्तं होदि तहा णिगोदणामकम्मोदएण णिगोदत्तं होदि। =सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जिस प्रकार वनस्पतिकायिकादि जीवों-के सूक्ष्मपना होता है उसी प्रकार निगोद नामकर्मके उदयसे निगोदत्व होता है।

ध. १३/५,५,१०१/३६६/६ को पिंडो णाम। बहूणं पयडीणं समोहो पिंडो। तसादि पयडीणं बहुत्तं णत्थि त्ति ताओ अपिंडपयडीओ त्ति ण घेत्तव्व, तत्थ वि बहूणं पयडीणमुवलंभादो। कुदो तदुवलद्धी। जुत्तीदो। का जुत्ती। कारणबहुत्तेण विणा भमर-पयग-मायंग-तुरगा-दीणं बहुत्ताणुववत्तीदो।

ध १३/५,५,१३३/३८७/११ ण च एदासिमुत्तरोत्तरपयडीओ णत्थि, पत्तेयसरीराणं धव-धम्मणादीण साहारणसरीराणं मूलयथूहल्लयादीणं बहुविहसर-गमणादीणमुवलंभादो। =१. प्रश्न—पिंड (प्रकृति) का अर्थ क्या है? उत्तर—बहुत प्रकृतियोंका समुदाय पिण्ड कहा जाता है। प्रश्न—त्रस आदि प्रकृतियाँ तो बहुत नहीं है, इसलिए क्या वे अपिण्ड प्रकृतियाँ है? उत्तर—ऐसा ग्रहण नही करना चाहिए, क्योकि, वहाँ भी युक्तिसे बहुत प्रकृतियाँ उपलब्ध होती है। और वह युक्ति यह है कि—क्योकि, कारणके बहुत हुए बिना भ्रमर, पतंग, हाथी, और घोडा आदिक नाना भेद नही बन सकते है, इसलिए जाना जाता है, कि त्रसादि प्रकृतियाँ बहुत है। २. यह कहना भी ठीक नही है कि अगुरुलघु नामकर्म आदिकी उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ नही है, क्योकि, धव और धम्ममन आदि प्रत्येक शरीर, मूली और थूहर आदि साधारणशरीर, तथा नाना प्रकारके स्वर और नाना प्रकारके गमन आदि उपलब्ध होते है।

और भी दे० नीचे शीर्षक नं० ५ (भवनवासी आदि सर्व भेद नामकर्म-कृत है।)

४. तीर्थंकरत्ववत् गणधरत्व आदि प्रकृतियोंका निर्देश क्यों नहीं

रा वा./८/११/४१/५८०/३ यथा तीर्थकरत्वं नामकर्मोच्यते तथा गण-धरत्वादीनामुपसंख्यानं कर्तव्यम्, गणधरचक्रधरवासुदेवबलदेवा अपि विशिष्टर्द्धियुक्ता इति चेत्, तन्न, किं कारणम्। अन्यनिमित्तत्वात्। गणधरत्वं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम्, चक्रधरत्वादीनि उच्चैर्गोत्रविशेषहेतुकानि। =प्रश्न—जिस प्रकार तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते हो उसी प्रकार गणधरत्व आदि नामकर्मोंका उल्लेख करना चाहिए था; क्योकि गणधर, चक्रधर, वासुदेव, और बलदेव भी विशिष्ट ऋद्धिसे युक्त होते है? उत्तर—नही, क्योकि, वे दूसरे निमित्तोंसे उत्पन्न होते हैं। गणधरत्वमें तो श्रुतज्ञानावरणका प्रकर्ष क्षयोपशम निमित्त है और चक्रधरत्व आदिकोंमें उच्चगोत्र विशेष हेतु है।

५. देवगतिमें भवनवासी आदि सर्व भेद नाम कर्मकृत हैं

रा.वा./४/१०/३/२१६/६ सर्वे ते नामकर्मोदयापादितविशेषा वेदितव्या।
रा वा /४/११/३/२१७/१८ नामकर्मोदयविशेषतस्तद्विशेषसंज्ञा। किन्नर-नामकर्मोदयात्किन्नरा, किंपुरुषनामकर्मोदयात् किंपुरुषा इत्यादि।
रा. वा./४/१२/५/२१८/१७ तेषा संज्ञाविशेषाणां पूर्ववन्निर्वृत्तिर्वेदितव्या—देवगतिनामकर्मविशेषोदयादिति। =वे सब (असुर नाग आदि भवनवासी देवोंके भेद) नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए भेद जानने चाहिए। नामकर्मोदयकी विशेषतासे ही वे (व्यन्तर देवोंके किन्नर आदि) नाम होते है। जैसे—किन्नर नामकर्मके उदयसे किन्नर और किंपुरुष नामकर्मके उदयसे किंपुरुष, इत्यादि। उन ज्योतिषी देवोंकी भी पूर्ववत् ही निर्वृत्ति जाननी चाहिए। अर्थात् (सूर्य चन्द्र आदि भी) देवगति नामकर्म विशेषके उदयसे होते है।

६. नामकर्मके अस्तित्वकी सिद्धि

ध. ६/१,९-१,१०/१३/४ तस्स णामकम्मस्स अत्थित्तं कुदोवगम्मदे। सरीरसंठाणवण्णादिकज्जभेदण्णहाणुववत्तीदो। =प्रश्न—उस नाम-कर्मका अस्तित्व कैसे जाना जाता है? उत्तर—शरीर, संस्थान, वर्ण आदि कार्योंके भेद अन्यथा हो नहीं सकते है।

ध. ७/२,१,१६/७०/६ ण च कारणेण विणा कज्जाणमुप्पत्ती अत्थि। दीसंति च पुढविआउ-तेउ-वाउ-वणप्फदितसकाइयादिसु अणेगाणि कज्जाणि। तदो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि त्ति णिच्छओ कायव्वो। =कारणके बिना तो कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं है। और पृथिवी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, और त्रसकायिक आदि जीवोंमें उनकी उक्त पर्यायोंरूप अनेक कार्य देखे जाते है। इसलिए जितने कार्य है उतने उनके कारणरूप कर्म भी है, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए।

७. अन्य सम्बन्धित विषय

१. नामकर्मके उदाहरण। —दे० प्रकृतिबंध/३।
२. नामकर्म प्रकृतियोंमें शुभ-अशुभ विभाग। —दे० प्रकृतिबंध/२।
३. शुभ-अशुभ नामकर्मके बन्धयोग्य परिणाम। —दे० पुण्य पाप।
४ नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ। - दे० वह वह नाम।
५. जीव विपाकी भी नामकर्मको अघाती कहनेका कारण। —दे० अनुभाग/३।
६ गतिनाम कर्म जन्मका कारण नहीं आयु है। —दे० आयु/२।

नामकर्म क्रिया—दे० संस्कार/२।

नाम नय—(दे० नय/I/५/३)।

नाम निक्षेप—१. नाम निक्षेपका लक्षण

स. सि /१/५/१७/४ अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्य-मानं संज्ञाकर्म नाम। =संज्ञाके अनुसार जिसमें गुण नहीं है ऐसी वस्तुमें व्यवहारके लिए अपनी इच्छासे की गयी संज्ञाको नाम (नाम निक्षेप) कहते है। (स. सा /आ./१३/क. ८ की टीका), (प. ध / पू./७४२)।

रा वा./१/५/१/२८/१४ निमित्तादन्यन्निमित्तं निमित्तान्तरम्, तदनपेक्ष्य क्रियमाणा संज्ञा नामेत्युच्यते। यथा परमैश्वर्यलक्षणेन्दनक्रिया-निमित्तान्तरानपेक्ष कस्यचित् इन्द्र इति नाम। =निमित्तसे जो अन्य निमित्त होता है उसे निमित्तान्तर कहते है। उस निमित्तान्तरकी अपेक्षा न करके [अर्थात् शब्द प्रयोगके जाति, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा न करके लोक व्यवहारार्थ (श्लो. वा)] की जानेवाली संज्ञा नाम है। जैसे—परम ऐश्वर्यरूप इन्दन क्रियाकी

अपेक्षा न करके किसीका भी 'इन्द्र' नाम रख देना नाम निक्षेप है। (श्लो वा. २/१/५/श्लो. १-१०/१६६), (गो.क./मू /५२/५२); (त.सा/१/१०)

२. नाम निक्षेपके भेद

ष ख. १३/५,३/सूत्र ९/८ जो सो णामफासो णाम सो जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाणं वा जीवस्स च अजीवस्स च जीवस्स च अजीवाण च जीवाण च अजीवस्स च जीवाणं च अजीवाणं च जस्स णाम कीरदि फासे त्ति सो सव्वो णामफासो णाम। =जो वह नाम स्पर्श है वह—एक जीव, एक अजीव, नाना जीव, नाना अजीव, एक जीव एक अजीव, एक जीव नाना अजीव, नाना जीव एक अजीव, तथा नाना जीव नाना अजीव; इनमेंसे जिसका 'स्पर्श' ऐसा नाम किया जाता है वह सब नाम स्पर्श है। नोट—(यहाँ स्पर्शका प्रकरण होनेसे 'स्पर्श' पर लागू कर नाम निक्षेपके भेद किये गये हैं। पु. ९ में 'कृति' पर लागू करके भेद किये गये है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना। धवलामे सर्वत्र प्रत्येक विषयमे इस प्रकार निक्षेप किये गये हैं।) (ष. ख ९/४,१/सू. ५१/२४६), (ध. १५/२/४)।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. नाम निक्षेप शब्दस्पर्शी है। —दे० नय/I/५/३।
२. नाम निक्षेपका नयोंमें अन्तर्भाव। —दे० निक्षेप/२,३।
३. नाम निक्षेप व स्थापना निक्षेपमें अन्तर। —दे० निक्षेप/४।

नाममाला—अर्थात् शब्दकोश—दे० 'शब्दकोश'।

नाम सत्य—दे० सत्य।

नाम सम—दे० निक्षेप/५/८।

नारकी—दे० नरक/१।

नारद—१ प्रत्येक कल्पकालके नो नारदोका निर्देश व नारदकी उत्पत्ति स्वभाव आदि—(दे० शलाकापुरुष/७)। २. भावी कालीन २१ वें 'जय' तथा २२ वें 'विमल' नामक तीर्थंकरोके पूर्व भवोके नाम—दे० तीर्थंकर।

नारसिंह—जैनधर्मके अतिश्रद्धालु एक यादव व होयसलवंशीय राजा थे। इनके मन्त्रीका नाम हुल्लराज था। ये विष्णुवर्द्धन प्रथमके उत्तराधिकारी थे और इनका भी उत्तराधिकारी बल्लाल देव था। समय—श स. १०५०-१०८५ (ई० ११२८—११६३)

नाराच—दे० संहनन।

नारायण—१. नव नारायण परिचय—दे० शलाकापुरुष/४। २ लक्ष्मणका अपर नाम—दे० लक्ष्मण।

नारायणमत—दे० अज्ञानवाद।

नारी—१. स्त्रीके अर्थमें—दे० स्त्री। २—आर्य खण्ड भरत क्षेत्रकी एक नदी—दे० मनुष्य/४। ३. रम्यकक्षेत्रकी एक प्रधान नदी—दे० लोक/३/१०। ४. रम्यक क्षेत्रस्थ एक कुण्ड जिसमें-से नारी नदी निकलती है—दे० लोक/३। ५ उपरोक्त कुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

नारीकूट—रा. वा. की अपेक्षा रुक्मि पर्वतका कूट है और ति. प. की अपेक्षा नील पर्वतका कूट है।—दे० लोक/७।

नालिका—पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

नाली—क्षेत्र व कालका प्रमाण विशेष।—दे० गणित/I/१।

नासारिक—भरतक्षेत्र पश्चिमी 'आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

नास्तिक्य—

सि. वि./मू./४/१२/२७१ तत्रेति द्वेधा नास्तिक्यं प्रज्ञामत् प्रज्ञप्तिसत्। तथादृष्टमदृष्ट वा तत्त्वमित्यात्मविद्विषाम्। =नास्तिक्य दो प्रकारका है—प्रज्ञासत् व प्रज्ञप्तिसत्, अर्थात् बाह्य व आध्यात्मिक। बाहरमें दृष्ट घट स्तम्भादि ही सत् है, इनसे अतिरिक्त जीव अजीवादि तत्त्व कुछ नहीं है, ऐसी मान्यतावाले चार्वाक प्रज्ञासत् नास्तिक है। अन्तरंगमें प्रतिभासित संवित्ति या ज्ञानप्रकाश ही सत् है, उससे अतिरिक्त बाह्यके घट स्तम्भ आदि पदार्थ अथवा जीव अजीव आदि तत्त्व कुछ नहीं है, ऐसी मान्यतावाले सौगत (बौद्ध) प्रज्ञप्ति सत् नास्तिक है।

नास्तिक वाद—दे० चार्वाक व बौद्ध।

नास्तित्व नय—दे० नय/I/५।

नास्तित्व स्वभाव—

आ. प/६ परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभाव। =पर स्वरूपसे अभाव होना सो नास्तित्व स्वभाव है। जैसे—घट पटस्वभावी नहीं है।

न. च वृ/६१ असतत्तच्चा हु अण्णमण्णेण। =अन्यका अन्यरूपमे न होना ही असत् स्वभाव है।

नास्तित्व भंग—दे० सप्तभंगी/४।

निःकषाय—भावीकालीन १४ वे तीर्थंकर। अपर नाम विमलप्रभ—दे० तीर्थंकर/५।

निःकांक्षित—१. निःकांक्षित गुणका लक्षण—

१. व्यवहार लक्षण—

स. सा/मू./२३० जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु सव्वधम्मेसु। सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।२३०। =जो चेतयिता कर्मोके फलोके प्रति तथा (बौद्ध, चार्वाक, परिव्राजक आदि अन्य (दे० नीचेके उद्धरण) सर्व धर्मोके प्रति कांक्षा नहीं करता है, उसको निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि कहते है।

मू. आ/२४९-२५१ तिविहा य होइ कंखा इह परलोए तथा कुधम्मे य। तिविहं पि जो ण कुज्जा दंसणसुद्धीमुपगदो सो।२४९। बलदेवचक्कवट्टीसेट्ठीरायत्तणादि। अहि परलोगे देवत्तपत्थणा दंसणाभिघादी सो।२५०। रत्तवडचरगतावसपरिवत्तादीणमण्णतित्थीणं। धम्मम्हि य अहिलासो कुधम्मकंखा हवदि एसा।२५१। =अभिलाषा तीन प्रकारकी होती है—इस लोक सम्बन्धी, परलोक सम्बन्धी, और कुधर्मो सम्बन्धी। जो ये तीनों ही अभिलाषा नहीं करता वह सम्यग्दर्शनकी शुद्धिको पाता है।२४९। इस लोकमे बलदेव, चक्रवर्ती, सेठ आदि बनने या राज्य पानेकी अभिलाषा इस लोक सम्बन्धी अभिलाषा है। परलोकमे देव आदि होनेकी प्रार्थना करना परलोक सम्बन्धी अभिलाषा है। ये दोनो ही दर्शनको घातनेवाली है।२५०। रक्तपट अर्थात् बौद्ध, चार्वाक, तापस, परिव्राजक, आदि अन्य धर्मवालोके धर्ममे अभिलाषा करना, सो कुधर्मकांक्षा है।२५१। (र क श्रा./१२) (रा. वा./६/२४/१/५२९/१) (चा. सा./४/५) (पु. सि. उ./२४) (प ध/उ/५४७)।

का अ/मू/४१६ जो सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं। मोक्खं समीहमाणो णिक्कंखा जायदे तस्स।४१६। =दुर्धर तपके द्वारा मोक्षकी इच्छा करता हुआ जो प्राणी स्वर्गसुखके लिए धर्मका आचरण नहीं करता है उसके नि कांक्षित गुण होता है। (अर्थात् सम्यग्दृष्टि मोक्षकी इच्छासे तपादि अनुष्ठान करता है न कि इन्द्रियोके भोगोकी इच्छासे।) (प ध./उ/५४७)।

द्र.सं. टी./४१/१७१/४ इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकाङ्क्षानिदानत्यागेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं ज्ञानपूजातपश्चरणादिकरणं निष्काङ्क्षागुण' कथ्यते। इति व्यवहारनिष्काङ्क्षितगुणो विज्ञातव्य'। =इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी आशारूप भोगाकाक्षा-निदानके त्यागके द्वारा केवलज्ञानादि अनन्तगुणोकी प्रगटतारूप मोक्षके लिए ज्ञान, पूजा, तपश्चरण इत्यादि अनुष्ठानोका जो करना है, वही निष्काक्षित गुण है। इस प्रकार व्यवहार निष्काक्षित गुणका स्वरूप जानना चाहिए।

२. निश्चय लक्षण

द्र. सं./टी./४१/१७२/६ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्काङ्क्षा-गुणस्य सहकारित्वेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगत्यागेन निश्चय-रत्नत्रयभावनोत्पन्नपारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसंतोष स एव निष्काङ्क्षागुण इति। =निश्चयसे उसी व्यवहार निष्काक्षा गुणकी सहायतासे देखे सुने तथा अनुभव किये हुए जो पाँचो इन्द्रियों सम्बन्धी भोग है इनके त्यागसे तथा निश्चयरत्नत्रयकी भावनासे उत्पन्न जो पारमार्थिक निजात्मोत्थ सुखरूपी अमृत रस है, उसमें चित्तको सतोष होना निष्कांक्षागुण है।

२. क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि सर्वथा निष्कांक्ष नहीं होता

दे. अनुभाग/४/६/३ (सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय वश वेदक सम्यग्दृष्टिकी स्थिरता व निष्काक्षता गुणका घात होता है।)

*** भोगाकांक्षाके बिना भी सम्यग्दृष्टि व्रतादि क्यों करता है— दे० राग/६।**

निःशंकित—१. निःशकितगुणका लक्षण

१. निश्चय लक्षण—सप्तभय रहितता

स. सा./मू./२२८ सम्मदिट्ठी जीवा णिस्सका होंति णिब्भया। सत्तभय-विप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।२२८। = सम्यग्दृष्टि जीव नि शंक होते है, इसलिए निर्भय होते है। क्योकि वे सप्तभयोसे रहित होते है, इसलिए निःशक होते है। (रा. वा./६/२४/१/५२९/८) (चा सा/४/३) (प. ध/उ./४८१)।

स.सा/आ/२२७/क १५४ सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते पर, यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि। सर्वमेव निसर्गनिर्भयतया शङ्का विहाय स्वय, जानन्त स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्तो न हि।१५४। =जिसके भयसे चलायमान होते हुए, तीनो लोक अपने मार्गको छोड देते है—ऐसा वज्रपात होनेपर भी, ये सम्यग्दृष्टि-जीव स्वभावत' निर्भय होनेसे, समस्त शंकाको छोडकर, स्वयं अपने-अवध्य ज्ञानशरीरी जानते हुए, ज्ञानसे च्युत नही होते। ऐसा परम साहस करनेके लिए मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ है। (विशेष दे० स. सा/आ/२२८/क. १५५-१६०)।

द्र. स./४१/१७१/१ निश्चयनयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिशङ्कितगुणस्य सहकारित्वेनेहलोकात्राणगुप्तिव्याधिवेदनाकस्मिकाभिधानभयसप्तक मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रय-भावेनैव निःशङ्कगुणो ज्ञातव्य इति। =निश्चय नयसे उस व्यवहार निशका गुणकी (देखो आगे) सहायतासे इस लोकका भय, आदि सात भयों (दे० भय) को छोडकर घोर उपसर्ग तथा परिषहोंके आनेपर भी शुद्ध उपयोगरूप जो निश्चय रत्नत्रय है उसकी भावनाको ही निःशंका गुण जानना चाहिए।

२. व्यवहार लक्षण—अर्हद्वचन व तत्त्वादिमें शंकाका अभाव

मू. आ./२४८ णव य पदत्था एदे जिणदिट्ठा वण्णिदा मए तच्चा। तत्थ भवे जा संका दसणघादी हवदि एसो।२४८। =जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट ये नौ पदार्थ, यथार्थ स्वरूपसे मैंने (आ. वट्टकेर स्वामीने) वर्णन किये है। इनमें जो शंकाका होना वह दर्शनको घातनेवाला पहिला दोष है।

र. क श्रा/११ इदमेवेदृशमेव तत्त्व नान्यन्न चान्यथा। इत्यकं पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसशया रुचि'।११। =वस्तुका स्वरूप यही है और नही है, इसी प्रकारका है अन्य प्रकारका नही है, इस प्रकारसे जैन-मार्गमें तलवारके पानी (आब) के समान निश्चल श्रद्धान निःशंकित अंग कहा जाता है। (का. अ./मू/४१५)।

रा वा/६/२४/१/५२९/६ अर्हदुपदिष्टे वा प्रवचने किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम्। =अर्हन्त उपदिष्ट प्रवचनमें 'क्या ऐसा ही है या नही है' इस प्रकारकी शंकाका निरास करना निःशंकितपना है। (चा सा/४/४), (पु. सि उ/२३) (का. अ/मू/४१४) (अन ध./२/७२/२००)।

द्र सं/टी./४१/१६६/१० रागादिदोषा अज्ञानं वासत्यवचनकारणं तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञाना नास्ति तत कारणात्तत्प्रणीते हेयो-पादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यै सशयः संदेहो न कर्त्तव्य।·· इदं व्यवहारेण सम्यक्त्वस्य व्याख्यानम्। =राग आदि दोष तथा अज्ञान ये दोनों असत्य बोलनेके कारण है और ये दोनो ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देवमें नहीं है, इस कारण उनके द्वारा निरूपित हेयो-पादेय तत्त्वमें मोक्षमे और मोक्षमार्गमें भव्य जीवोंको सशय नही करना चाहिए। यह व्यवहारनयसे सम्यक्त्वका व्याख्यान किया गया।

पं. ध/उ./४८२ अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम्। सूक्ष्मान्तरितदूरार्था. स्युस्तदास्तिक्यगोचरा.। =सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ सम्यग्दृष्टिको आस्तिक्यगोचर है, इसलिए उसको, इनके अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाले आगममें किसी प्रयोजनवश कभी भी शंका नहीं होती है।

२. निःशंकित अंगकी प्रधानता

अन.ध./२/७३/२०१ सुरुचि' कृतनिश्चयोऽपि हन्तुं द्विषत. प्रत्ययमाश्रित' स्पृशन्तम्। उभयी जिनवाचि कोटिमाजौ तुरगं वीर इव प्रतीर्यते तै.।७३। =मोहादिकके रुचिपूर्वक हननका निश्चय करनेपर भी यदि जिन वचनके विषयमे दोनो ही कोटियोके सशयरूप ज्ञानपर आरूढ रहे, (अर्थात् वस्तु अंगोके सम्बन्धमें 'ऐसा ही है अथवा अन्यथा है' ऐसा संशय बना रहे) तो इधर उधर भागनेवाले घोडेपर आरूढ योद्धावत् वैरियों द्वारा मारा जाता है अर्थात् मिथ्यात्वको प्राप्त होता है।

३. क्षयोपशम सम्यग्दृष्टिको कदाचित् तत्त्वोंमें सन्देह होना सम्भव है

क. पा. १/१,१/१२६/३ ससयविवज्जासाणज्झवसायभावगयगणहरदेवं पडि पट्टमाणसहावा। =गणधरदेवके संशय विपर्यय और अनध्यवसाय भावको प्राप्त होनेपर (उसको दूर करनेके लिए) उनके प्रति प्रवृत्ति करना (दिव्यध्वनिका) स्वभाव है।

दे० मोहनीय/२ सम्यग्दर्शनका घात नही करनेवाला सदेह सम्यग्प्रकृति-के उदयसे होता और सर्व मिथ्यात्वके उदयसे होता है।

*** सम्यग्दृष्टिको कदाचित् अन्ध श्रद्धान भी होता है —दे० श्रद्धान/२।**

*** भयके भेद व लक्षण**

४. सम्यग्दृष्टिको भय न होनेका कारण व प्रयोजन

स.सा/आ/२२८/क १५५ लोक शाश्वत एक एप सकलव्यक्तो विविक्तात्मनश्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येकक'। लोकोऽय न

तत्रापरस्तवपरस्तस्यास्ति तद्भी' कुतो, निश्शङ्क सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।१५५। =यह चित्स्वरूप ही इस विविक्त आत्माका शाश्वत, एक और सकलव्यक्त लोक है, क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोकको यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है—अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, उससे भिन्न दूसरा कोई लोक—यह लोक या परलोक—तेरा नहीं है, ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है। इसलिए ज्ञानीको इस लोकका तथा परलोकका भय कहाँसे हो? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है। (कलश १५६-१६० में इसी प्रकार अन्य भी छहों भयोंके लिए कहा गया है।) (पं. ध./उ./ ५१४,५२२,५२७,५३५,५४२,५४६)।

५. सम्यग्दृष्टिको भय भय नहीं होता

पं. ध./उ. श्लोक नं. परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी। भीतिः पर्यायमूढाना नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ।४९५। ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित्। अर्वाक् च तत्र परि (स्थिति) च्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ।४९८। तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि। अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ।४९९। सत्यं भीकोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः। रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ।५०१। सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव। यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ।५१२। शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा। अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ।५१३। = निश्चय करके परपदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिके बिना भय कैसे हो सकता है, अतः पर्यायोंमें मोह करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंको ही भय होता है, केवल शुद्ध आत्माका अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको भय नहीं होता।४९५। प्रश्न—किसी सम्यग्दृष्टिके भी आहार भय मैथुन व परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ होती हैं, क्योंकि जिस गुणस्थानतक जिस जिस संज्ञाकी व्युच्छित्ति नहीं होती है (दे० संज्ञा/२) उस गुणस्थान तक या उससे पहिलेके गुणस्थानोंमें वे वे संज्ञाएँ पायी जाती हैं।४९८। इसलिए सम्यग्दृष्टि सर्वथा निर्भीक कैसे हो सकता है। और वह प्रत्यक्षमें भी अनिष्ट पदार्थके संयोगके होनेसे उसकी निवृत्तिके लिए प्रयत्नवान् देखा जाता है? उत्तर—ठीक है; किन्तु सम्यग्दृष्टिके परपदार्थोंमें स्वामित्व नहीं होता है, अतः वह भयवान् होकरके भी निर्भीक है। जैसे कि—चक्षु इन्द्रिय रूपी द्रव्यको देखनेपर भी यदि उधर उपयुक्त न हो तो देख नहीं पाता।५००। सम्यग्दृष्टि जीव सम्पूर्ण कर्मोंसे भिन्न होनेके कारण अपने केवल सत्स्वरूप एकत्वको प्राप्त करता हुआ ही मानो, उसको शुद्ध चिन्मय रूपसे अनुभव करता है ।५१२। और वह कर्मोंके फलरूप शरीर सुख दुःख आदि तथा पुत्र पौत्र आदिको अनित्य तथा आत्मस्वरूपसे भिन्न समझता है ।५१३। [इसलिए उसे भय कैसे हो सकता है—(दे० इससे पहलेवाला शीर्षक)] (द. पा./पं. जयचन्द/२/११/३)।

द. पा./पं. जयचन्द/२/११/१० भय होतैं ताका इलाज भागना इत्यादि करै है, तहाँ वर्तमानकी पीड़ा नहीं सही जाय तातैं इलाज करै है। यह निर्बलाईका दोष है।

* संशय अतिचार व संशय मिथ्यात्वमें अन्तर

—दे० संशय/५।

निःशल्य अष्टमी व्रत—१६ वर्ष पर्यन्त प्रति भाद्रपद शुक्ला ८ को उपवास करे। तीन बार देव पूजा करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. १०१) (किशनसिंह क्रियाकोश)।

निःश्रेयस—

र. क. श्रा./१३१ जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्। निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यं ।१३१। = जन्म जरा मरण रोग व शोकसे दुःखोंसे और सप्त भयोंसे रहित अविनाशी तथा कल्याणमय शुद्ध सुख निःश्रेयस कहा जाता है।

ति. प./१/४९ सोक्खं तित्थयराणं कप्पातीदाण तह य इंदियादीदं। अतिसयमादसमुत्थं णिस्सेयसमणुवमं परमं ।४९। तीर्थंकर (अर्हन्त) और कल्पातीत अर्थात् सिद्ध, इनके अतीन्द्रिय, अतिशयरूप, आत्मोत्पन्न, अनुपम और श्रेष्ठ सुखको निःश्रेयस सुख कहते हैं।

निःश्वास—१. श्वासके अर्थमें निःश्वास—दे० अपान। २. कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

निःसंगत्व—निःसंगत्वात्म भावना क्रिया—दे० संस्कार/२।

निःसृणात्मक—तैजस शरीर—दे० तैजस/१।

निःसृत—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

निंदन—दे० निन्दा।

निंदा—

१. निन्दा व निन्दनका लक्षण

स. सि./६/२५/३३९/१२ तथ्यस्य वातथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा। =सच्चे या झूठे दोषोंको प्रगट करनेकी इच्छा निन्दा है। (रा. वा./६/२५/१/५३०/२८)।

स. सा./ता. वृ./३०६/३८८/१२ आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निन्दा। =आत्म साक्षी पूर्वक अर्थात् स्वयं अपने किये दोषोंको प्रगट करना या उन सम्बन्धी पश्चात्ताप करना निन्दा कहलाती है। (का. अ./टी./४८/ २२/१५)।

न्या. द./भाष्य/२/१/६४/१०१/ अनिष्टफलवादो निन्दा। =अनिष्ट फलके कहनेको निन्दा कहते हैं।

पं. ध./उ./४७३ निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि। पश्चात्तापकरो बन्धो ना [नो] पेक्ष्यो नाप्यु (प्य) पेक्षितः ।४७३। =दुर्वार रागादिरूप दुष्ट कर्मोंका पश्चात्ताप कारक बन्ध अनिष्ट होकर भी उपेक्षित नहीं होता। अर्थात् अपने दोषोंका पश्चात्ताप करना निन्दन है।

२. पर निन्दा व आत्म प्रशंसाका निषेध

भ. आ./मू./गा. नं. अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा। अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि ।३५९। ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स। धन्ति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव ।३६२। सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह। अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ।३६९। दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ। रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजपणभएण ।३७२। =हे मुनि! तुम सदाके लिए अपनी प्रशंसा करना छोड दो, क्योंकि, अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करनेसे तुम्हारा यश नष्ट हो जायेगा। जो मनुष्य अपनी प्रशंसा आप करता है वह जगत्में तृणके समान हलका होता है।३५९। अपनी स्तुति आप करनेसे पुरुषके जो गुण नहीं है वे उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे कि कोई नपुंसक स्त्रीवत् हावभाव दिखानेपर भी स्त्री नहीं हो जाता नपुंसक ही रहता है।३६२। हे मुनि! अपने गणमें या परगणमें तुम्हें अन्य मुनियोंकी निन्दा करना कदापि योग्य नहीं है। परकी विराधनासे विरक्त होकर सदा पापोंसे विरक्त होना चाहिए।३६९। सत्पुरुष दूसरोंका दोष देखकर उसको प्रगट नहीं करते हैं, प्रत्युत लोकनिन्दाके भयसे उनके दोषोंको अपने दोषोंके समान छिपाते हैं। दूसरोंका दोष देखकर वे स्वयं लज्जित हो जाते हैं।३७२।

र. सा./११४ ण सहंति इयरदप्पं थुवंति अप्पाण अप्पमाहप्पं। जिब्भणिमित्तं कुणंति ते साहू सम्मउम्मुक्का।११४। =जो साधु दूसरेके बडप्पनको

सहन नही कर सकता और स्वादिष्ट भोजन मिलनेके निमित्त अपनी महिमाका स्वयं बखान करता है, उसे सम्यक्त्वरहित जानो।

कुरल काव्य/१९/२ शुभादशुभससक्तो नून निन्द्यस्ततोऽधिक । पुर' प्रियंवद' किंतु पृष्ठे निन्दापरायण' ।२। =सत्कर्मसे विमुख हो जाना और कुकर्म करना निस्सन्देह बुरा है। परन्तु किसीके मुखपर तो हँसकर बोलना और पीठ-पीछे उसकी निन्दा करना उससे भी बुरा है।

त. सू./६/२५ परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।२५। =परनिन्दा, आत्मप्रशसा, सद्गुणोका आच्छादन या ढँकना और असद्गुणोका प्रगट करना ये नीच गोत्रके आस्रव है।

स. सि./६/२२/३३७/४ एतदुभयमशुभनामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यं । च शब्देन…परनिन्दात्मप्रशंसादि' समुच्चीयते। =ये दोनो (योगवक्रता और विसंवाद) अशुभ नामकर्मके आस्रवके कारण जानने चाहिए। सूत्रमें आये हुए 'च' पदसे दूसरेकी निन्दा और अपनी प्रशसा करने आदिका समुच्चय होता है। अर्थात् इनसे भी अशुभ नामकर्मका आस्रव होता हे। (रा.वा./६/२२/४/५२८/२१)।

आ.अनु /२४९ स्वान् दोषान् हन्तुमुद्युक्तस्तपोभिरतिदुर्धरै. । तानेव पोषयत्यज्ञ' परदोषकथाशनै: ।२४९। =जो साधु अतिशय दुष्कर तपोके द्वारा अपने निज दोषोंके नष्ट करनेमें उद्यत है, वह अज्ञानतावश दूसरोके दोषोके कथनरूप भोजनोके द्वारा उन्ही दोषोंको पुष्ट करता है।

दे० कषाय/१/७ (परनिन्दा व आत्मप्रशसा करना तीव्र कषायीके चिह्न है।)

३. स्वनिन्दा और परप्रशंसाकी इष्टता

त. सू /६/२६ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।२६।

स. सि./६/२६/३४०/७ क. पुनरसौ विपर्ययः। आत्मनिन्दा परप्रशसा सद्गुणोद्भावनमसद्गुणोच्छादनं च। =उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशसा आत्मनिन्दा सद्गुणोका उद्भावन और असद्गुणोका उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक ये उच्चगोत्रके आस्रव है। (रा.वा /६/२६/२/५३१/१७)।

का अ./मू./११२ अप्पाणं जो णिंदइ गुणवंताणं करेइ बहुमाणं। मण इंदियाण विजई स सरूवपरायणो होउ ।११२। =जो मुनि अपने स्वरूपमें तत्पर होकर मन और इन्द्रियोको वशमें करता है, अपनी निन्दा करता है और सम्यक्त्व व्रतादि गुणवन्तोकी प्रशंसा करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

भा. पा./टी./६९/२१३ पर उद्धृत—मा भवतु तस्य पाप परहितनिरतस्य पुरुषसिहस्य। यस्य परदोषकथने जिह्वा मौनव्रत चरति। =जो परहितमे निरत है और परके दोष कहनेमें जिसकी जिह्वा मौन व्रतका आचरण करती है, उस पुरुष सिंहके पाप नहीं होता।

दे० उपगूहन (अन्यके दोषोका ढाँकना सम्यग्दर्शनका अंग है।)

*** सम्यग्दृष्टि सदा अपनी निन्दा गर्हा करता है**

—दे० सम्यग्दृष्टि/५।

४. अन्य मतावलम्बियोंका घृणास्पद अपमान

द. पा /मू /१२ जे दंसणेसु भट्टा पाए पाडति दंसणधराण। ते होंति लल्लमूआ बोहि पुण दुल्लहा तेसिं ।१२। =स्वय दर्शन भ्रष्ट होकर भी जो अन्य दर्शनधारियोंको अपने पाँवमे पडाते हैं अर्थात् उनसे नमस्कारादि कराते है, ते परभवविषै लूले व गूगे होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय पर्यायको प्राप्त होते हे। तिनको रत्नत्रयरूप बोधि दुर्लभ है।

मो. पा./मू./७९ जे पचचेलसत्ता ग्रथग्गाही य जायणासीला। आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ।७९। =जो अडज, रोमज आदि पाँच प्रकारके वस्त्रोंमें आसक्त है, अर्थात् उनमें से किसी प्रकारका वस्त्र ग्रहण करते है और परिग्रहके ग्रहण करने वाले हैं (अर्थात् श्वेताम्बर साधु), जो याचनाशील है, और अध कर्मयुक्त आहार करते है वे मोक्षमार्गसे च्युत हे।

आप्त. मी /७ त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्। आप्ताभिमानदग्धाना स्वेष्ट दृष्टेन बाध्यते।७। =आपके अनेकान्तमत रूप अमृतसे बाह्य सर्वथा एकान्तवादी तथा आप्तपनेके अभिमानसे दग्ध हुए (साख्यादि मत) अन्य मतावलम्बियोंके द्वारा मान्य तत्त्व प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है।

द. पा./टी./२/३/१२ मिथ्यादृष्टय' किल वदन्ति व्रतै. किं प्रयोजनं,… मयूरपिच्छं किल रुचिर न भवति, सूत्रपिच्छं रुचिरं,… शासनदेवता न पूजनीया इत्यादि ये उत्सूत्र मन्वते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते। ' यदि कदाग्रह न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भि गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीया'· तत्र पाप नास्ति।

भा पा /टी /१४१/२८७/३ लौकास्तु पापिष्टा मिथ्यादृष्टयो जिनस्नपनपूजनप्रतिबन्धकत्वात् तेषा सभाषण न कर्तव्यं तत्संभाषण महापापमुत्पद्यते।

मो. पा./टी./२/३०५/१२ ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वय ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिनधर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या'। ' ते लौका', तन्नामग्रहणं तन्मुखदर्शनं प्रभातकाले न कर्तव्यं इष्टवस्तुभोजनादिविघ्नहेतुत्वात्। =१. मिथ्यादृष्टि (श्वेताम्बर व स्थानकवासी) ऐसा कहते है कि—व्रतोंसे क्या प्रयोजन, आत्मा ही साध्य है। मयूरपिच्छी रखना ठीक नहीं, सूतकी पिच्छी ही ठीक है, शासनदेवता पूजनीय नहीं हैं, आत्मा है। देव है। इत्यादि सूत्रविरुद्ध कहते हे। वे मिथ्यादृष्टि तथा चार्वाक मतावलम्बी नास्तिक है। यदि समझानेपर भी वे अपने कदाग्रहको न छोडे तो समर्थ जो आस्तिक जन हैं वे विष्ठासे लिप्त जूता उनके मुखपर देकर मारे। इसमें उनको कोई भी पापका दोष नहीं है। २. लौका अर्थात् स्थानकवासी पापिष्ठ मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्के अभिषेक व पूजनका निषेध करते है। उनके साथ सम्भाषण करना योग्य नहीं है। क्योंकि उनके साथ सभाषण करनेसे महापाप उत्पन्न होता हे। ३. जो गृहस्थ अर्थात् गृहस्थवत् वस्त्रादि धारी होते हुए भी किंचित् मात्र आत्मभावनाको प्राप्त करके 'हम ध्यानी हैं' ऐसा कहते हैं, उन्हें जिनधर्मविराधक मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। वे स्थानकवासी या ढूंढियापथी हैं। सवेरे-सवेरे उनका नाम लेना तथा उनका मुँह देखना नहीं चाहिए, क्योकि ऐसा करनेसे इष्ट वस्तु भोजन आदिकी भी प्राप्तिमें विघ्न पड जाता है।

५. अन्यमत मान्य देवी देवताओंकी निन्दा

अ ग.श्रा./४/६९-७३ हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्मकाङ्क्षिभि। वृकोपदेशवन्नूनं प्रमाणीक्रियते बुधै' ।६९। न विरागा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा। रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादियोगत ।७१। यारिलष्टास्ते ऽखिलैर्दोषै' कामकोपभयादिभि। आयुधप्रमदाभूषाकमण्डल्वादियोगत' ।७३। =धर्मके वाछक पण्डितोको, ग्यारपटके उपदेशके समान, हिंसादिका उपदेश देनेवाले वेदको प्रमाण नहीं करना चाहिए।६९। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर न विरागी हैं और न सर्वज्ञ, क्योंकि वे राग-द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि सहित है।७१। ब्रह्मादि देव काम क्रोध भय इत्यादि समस्त दोषोंसे युक्त हैं, क्योंकि उनके पास आयुध स्त्री आभूषण कमण्डलु इत्यादि पाये जाते हैं।७३।

दे० विनय/४ (कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रकी पूजा भक्ति आदिका निषेध।)

६. मिथ्यादृष्टियोंके लिए अपमानजनक शब्दोंका प्रयोग

नं	प्रमाण	व्यक्ति	उपाधि
१	मू आ./६५१	एकल विहारी साधु	पाप श्रमण
२	र. सा./१०८	स्वच्छन्द साधु	राज्य सेवक
३	चा.पा./मू./१०	सम्यक्त्वचरसे भ्रष्ट साधु	ज्ञानमूढ
४	भा.पा./मू '७१	मिथ्यादृष्टि नग्न साधु	इक्षु पुष्पसम नट श्रमण
५	भा.पा /मू./७४	भावविहीन साधु	पाप व तिर्यगालय भाजन
	भा.पा./मू./१४३	मिथ्यादृष्टि साधु	चल शव
६	मो पा./मू /७६	श्वेताम्बर साधु	मोक्षमार्ग भ्रष्ट
७	मो.पा /मू /१००	मिथ्यादृष्टिका ज्ञान व चारित्र	बाल श्रुत बाल चरण
८	लिंग पा /मू /३ ४	द्रव्य लिंगी नग्न साधु	पापमोहितमति नारद, तिर्यंच
९	लिंग.पा /मू /४-१८	"	तिर्यग्योनि
१०	प्र.सा./मू /२६९	मन्त्रोपजीवि नग्न साधु	लौकिक
११	दे० भव्य	मिथ्यादृष्टि सामान्य	अभव्य
१२	दे० मिथ्यादर्शन	बाह्य क्रियावलम्बी साधु	पाप जीव
१३	स सा./आ /३२१	आत्माको कर्मों आदिका कर्ता माननेवाले	लौकिक
१४	स. सा /आ./८५	"	सर्वज्ञ मतसे बाहर
१५	नि.सा /ता वृ./१४३/क २४४	अन्यवश साधु	राजवल्लभ नौकर
१६	यो. सा./८/१८-१९	लोक दिखावेको धर्म करनेवाले	मूढ, लोभी, क्रूर, डरपोक, मूर्ख, भवाभिनन्दी

निंवदेव—शिलाहारके नरेश गण्डरादित्यके सामन्त थे। उक्त नरेशका उल्लेख श सं. १०३०-१०५८ तकके शिलालेखोंमें पाया जाता है। अत इनका समय—श. स. १०३०-१०५८ (ई ११०८-११३६) होता है।

निंबार्क वेदांत—दे० वेदात/V।

निकल—निकल परमात्मा—दे० परमात्मा/१।

निकाचित व निधत्त—१. लक्षण

गो. क/मू व जी. प्र /४४०/५९३ उदये संकममुदये चउसु वि दादुं कमेण णो सक्कं। उवसतं च णिधत्ति णिकाचिदं होदि ज कम्म। यत्कर्म उदयावल्या निक्षेप्तुं सक्रामयितुं चाशक्य तन्निधत्तिर्नाम। उदयावल्यां निक्षेप्तु सक्रामयितुमुत्कर्षयितुमपकर्षयितु चाशक्यं तन्निकाचित्त नाम भवति। =जो कर्म उदयावलीविषै प्राप्त करनेकौ वा अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण करनेकौ समर्थ न हूजे सो निधत्त कहिये। बहुरि जो कर्म उदयावली विषै प्राप्त करनेकौ, वा अन्य प्रकृतिरूप सक्रमण करनेकौ, वा उत्कर्षण करनेकौ समर्थ न हूजे सो निकाचित कहिए।

२. निकाचित व निधत्त सम्बन्धी नियम

गो क./मू. व जी. प्र /४५०/५९९ उवसत च णिधत्ति णिकाचिदं तं अपुव्वोत्ति।४५०। तद् अपूर्वकरणगुणस्थानपर्यन्तमेव स्यात्। तदुपरि गुणस्थानेषु यथासंभवं शक्यमित्यर्थः। =उपशान्त, निधत्त व निकाचित ये तीनो प्रकारके कर्म अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यंत ही है। ऊपरके गुणस्थानोमें यथासम्भव शक्य अर्थात् जो उदयावली विषै प्राप्त करनेकू समर्थ हूजै ऐसे ही कर्मपरमाणु पाइए है।

३. निधत्त व निकाचित कर्मोंका भंजन भी सम्भव है

ध. ६/१,९-९,२२/४२७/९ जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। =जिनबिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय होता देखा जाता है।

निकाय—(स. सि./४/१/२३९/८) देवगतिनामकर्मोदयस्य स्वकर्मविशेषापादितभेदस्य सामर्थ्यान्निचीयन्त इति निकायाः संघाता इत्यर्थ। =अपने अवान्तर कर्मोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले देवगति नामकर्मके उदयकी सामर्थ्यसे जो सग्रह किये जाते हैं वे निकाय कहलाते है। (रा. वा/४/१/३/२११/१३)।

निकुन्दरी—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४)।

निकृति—मायाका एक भेद (दे० माया/२)

निकृति वचन—दे० वचन।

निखोदिम—दे० निक्षेप/५।

निक्षिप्त—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४।

निक्षेप—उत्कर्षण अपकर्षण विधानमें जघन्य उत्कृष्ट निक्षेप। —दे० वह वह नाम।

निक्षेप—जिसके द्वारा वस्तुका ज्ञानमें क्षेपण किया जाय या उपचारमे वस्तुका जिन प्रकारोसे आक्षेप किया जाय उसे निक्षेप कहते है। सो चार प्रकारसे किया जाना सम्भव है—किसी वस्तुके नाममे उस वस्तुका उपचार या ज्ञान, उस वस्तुकी मूर्ति या प्रतिमामें उस वस्तुका उपचार या ज्ञान, वस्तुकी पूर्वापर पर्यायोंमें-से किसी भी एक पर्यायमें सम्पूर्ण वस्तुका उपचार या ज्ञान, तथा वस्तुके वर्तमान रूपमें सम्पूर्ण वस्तुका उपचार या ज्ञान। इनके भी यथासम्भव उत्तरभेद करके वस्तुको जानने व जनानेका व्यवहार प्रचलित है। वास्तवमें ये सभी भेद वक्ताका अभिप्राय विशेष होनेके कारण किसी न किसी नयमें गर्भित है। निक्षेप विषय है और नय विषयी यही दोनोमे अन्तर है।

१. निक्षेप सामान्य निर्देश

१. निक्षेप सामान्यका लक्षण

रा. वा./१/५/–/२८/१२ न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः। सौंपना या धरोहर रखना निक्षेप कहलाता है। अर्थात् नामादिकोंमें वस्तुको रखनेका निक्षेप है।

ध. १/१,१,१/गा. ११/१७ उपायो न्यास उच्यते।११। =नामादिके द्वारा वस्तुमें भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते है। (ति.प./१/८३)

ध. ४/१,३,१/२/६ संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितं तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः। अथवा बाह्यार्थविकल्पो निक्षेपः। अप्रकृतनिराकरणद्वारेण प्रकृतप्ररूपको वा।=१. संशय, विपर्यय और

अनध्यवसायमें अवस्थित वस्तुको उनमें निकालकर जो निश्चयमें क्षेपण करता है उसे निक्षेप कहते हैं। अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तुका नामादिक द्वारा निर्णय करावे, उसे निक्षेप कहते है। (क.पा. २/१ २/§ ४७५/४२५/७); (ध. १/१,१,१/१०/४); (ध. १३/५,३,५/३/११); (ध. १३/५,५,३/१९८/४). (और भी दे० निक्षेप/१/३)। २ अथवा बाहरी पदार्थके विकल्पको निक्षेप कहते हैं। (ध १३/५,५,३/१९८/८)। ३. अथवा अप्रकृतका निराकरण करके प्रकृतका निरूपण करनेवाला निक्षेप है। (और भी दे० निक्षेप/१/३); (ध ९/४,१,४५/१४१/१); (ध. १३/५,५,३/१९८/४)।

आ. प./९ प्रमाणनययोर्निक्षेप आरोपणं स नामस्थापनादिभेदचतुर्विधं इति निक्षेपस्य व्युत्पत्तिः। =प्रमाण या नयका आरोपण या निक्षेप नाम स्थापना आदिरूप चार प्रकारोंसे होता है। यही निक्षेपकी व्युत्पत्ति है।

न. च /श्रुत/४८ वस्तु नामादिषु क्षिपतीति निक्षेप'। =वस्तुका नामादिकमें क्षेप करने या धरोहर रखनेको निक्षेप कहते है।

न. च. वृ /२६९ जुत्तीसुजुत्तमग्गे ज चउभेयेण होइ खलु ठवणं। वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेव हवे समये।२६९। =युक्तिमार्गमें प्रयोजनवश जो वस्तुको नाम आदि चार भेदोंमें क्षेपण करे उसे आगममें निक्षेप कहा जाता है।

२. निक्षेपके भेद

१. चार भेद

त. सू./१/५ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास'। =नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूपसे उनका अर्थात् सम्यग्दर्शनादिका और जीव आदिका न्यास अर्थात् निक्षेप होता है। (ष. खं. १३/५,५/सू. ४/१९८), (ध. १/१,१,१/८३/१), (ध ४/१,३,१/गा. २/३); (आ. प./९), (न. च. वृ./२७१), (न. च./श्रुत/४८), (गो क /मू ५२/५२); (पं. ध /पू./७४१)।

२. छह भेद

ष खं. १४/५,६/सूत्र ७१/५१ वग्गणणिक्खेवे त्ति छव्विहे वग्गणणिक्खेवे—णामवग्गणा ठवणवग्गणा दव्ववग्गणा खेत्तवग्गणा कालवग्गणा भाववग्गणा चेदि। =वर्गणानिक्षेपका प्रकरण है। वर्गणा निक्षेप छह प्रकारका है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्रवर्गणा, कालवर्गणा और भाववर्गणा। (ध. १/१,१,१/१०/४)।

नोट—षट्खण्डागम व धवलामें सर्वत्र प्राय इन छह निक्षेपोके आश्रयसे ही प्रत्येक प्रकरणकी व्याख्या की गयी है।

३. अनन्त भेद

श्लो. वा /२/१/५/श्लो. ७१/२८२ नन्वनन्त. पदार्थाना निक्षेपो वाच्य इत्यसन्। नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात्संक्षेपरूपत ।७१। =प्रश्न—पदार्थोंके निक्षेप अनन्त कहने चाहिए? उत्तर—उन अनन्त निक्षेपोका संक्षेपरूपसे चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् संक्षेपसे निक्षेप चार हैं और विस्तारसे अनन्त। (ध. १४/५,६,७१/५१/१४)

४. निक्षेपके भेद प्रभेदोंकी तालिका
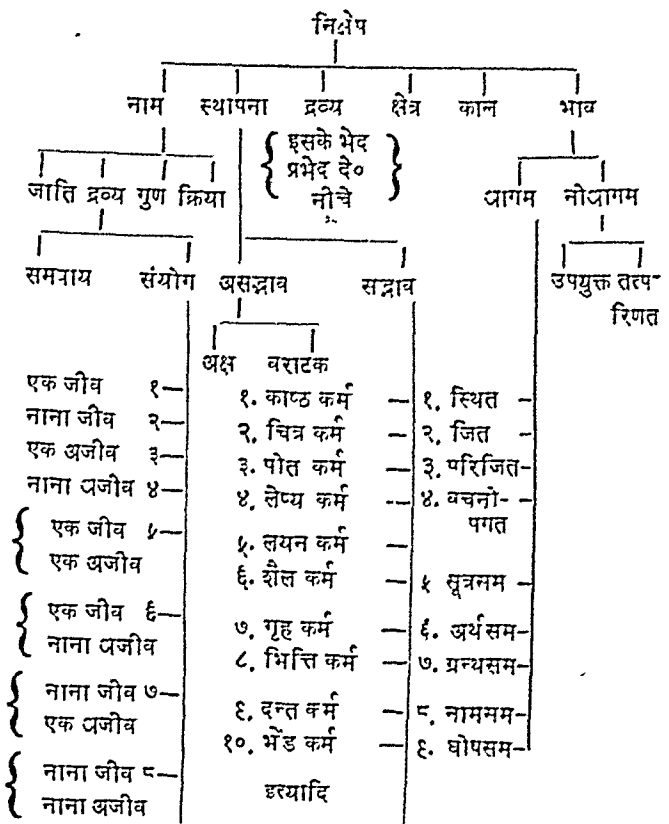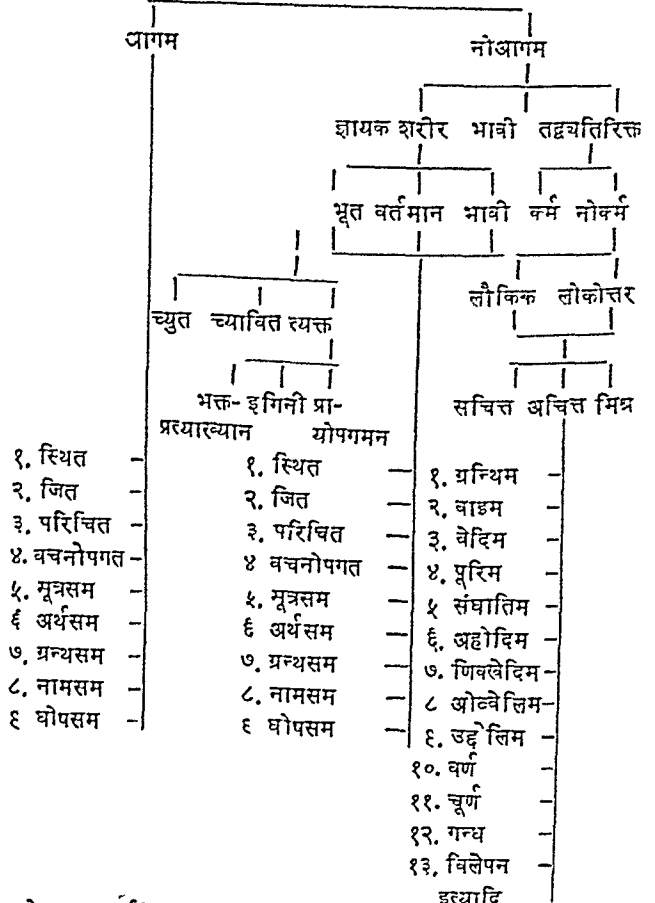
३. प्रमाण नय व निक्षेपमें अन्तर

ति. प./१/८३ णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदियभावत्थो। णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिग्गहणं ।८३। =सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और ज्ञाताके हृदयके अभिप्रायको नय कहते है। निक्षेप उपाय-स्वरूप है। अर्थात् नामादिके द्वारा वस्तुके भेद करनेके उपायको निक्षेप कहते है। युक्तिसे अर्थात् नय व निक्षेपसे अर्थका प्रतिग्रहण करना चाहिए ।८३। (ध. १/१,१,१/गा. ११/१७);

न च. वृ /१७२ वत्थू पमाणविसयं णयविसयं हवइ वत्थुएयंसं । जं दोहि णिण्णयट्ठं त णिक्खेवे हवे विसयं।१७२। =सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण-का विषय है और उसका एक अंश नयका विषय है। इन दोनोसे निर्णय किया गया पदार्थ निक्षेपमें विषय होता है।

पं. ध /पू./७३९-७४० ननु निक्षेपो न नयो न च प्रमाणं न चाशक तस्य। पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादिति चेत ।७३९। सत्य गुणसापेक्षो सविपक्ष स च नयः स्वयं क्षिपति। य इह गुणाक्षेप' स्यादुपचरित' केवल स निक्षेप ।७४०।=**प्रश्न**—निक्षेप न तो नय है और न प्रमाण है तथा न प्रमाण व नयका अंश है, किन्तु अपने लक्षण-से वह पृथक् ही लक्षित होता है, क्योंकि उसका उद्देश पृथक् है ? **उत्तर**—ठीक है, किन्तु गुणोकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाला और विपक्षकी अपेक्षा रखनेवाला जो नय है, वह स्वयं जिसका आक्षेप करता है, ऐसा केवल उपचरित गुणाक्षेप ही निक्षेप कहलाता है। (नय और निक्षेपमें विषय-विषयी भाव है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूपसे जो नयोके द्वारा पदार्थोंमें एक प्रकारका आरोप किया जाता है' उसे निक्षेप कहते है। जैसे—शब्द नयसे 'घट' शब्द ही मानो घट पदार्थ है।)

४. निक्षेप निर्देशका कारण व प्रयोजन

ति.प./१/८२ जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं। तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ।८२। =जो प्रमाण तथा निक्षेपसे अर्थ-का निरीक्षण नही करता है उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है ।८२। (ध. १/१,१,१/ गा. १०/१६) (ध. ३/१,२,१५/गा. ६१/१२६)।

ध १/१,१,१/गा ११/३१ अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणा णिमित्तं च। संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ।११।

ध. १/१,१,१/३०-३१ त्रिविधा' श्रोतार', अव्युत्पन्नः अवगताशेपविवक्षितपदार्थ' एकदेशतोऽवगतविवक्षितपदार्थ इति ।'''तत्र यद्यव्युत्पन्न' पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेप क्रियते अव्युत्पादनमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय। अथ द्रव्यार्थिक' तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेपनिक्षेपा उच्यन्ते। · द्वितीयतृतीययो संशयितयो संशयविनाशायाशेपनिक्षेपकथनम्। तयोरेव विपर्यस्यतो प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेप. क्रियते। = अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिए, प्रकृत विषयके प्ररूपणके लिए, सशय का विनाश करनेके लिए और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिए निक्षेपोका कथन करना चाहिए। (ध. ३/१,२,२/गा. १२/१७), (ध. ४/१,३,१/गा १/२), (ध. १४/५,६,७१/गा. १/५१) (स. सि /१/५/८/११) (इसका खुलासा इस प्रकार है कि—) श्रोता तीन प्रकारके होते है—अव्युत्पन्न श्रोता, सम्पूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला श्रोता, एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला श्रोता (विशेप दे० श्रोता)। तहाँ अव्युत्पन्न श्रोता यदि पर्याय (विशेष) का अर्थी है तो उसे प्रकृत विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिए निक्षेपका कथन करना चाहिए। यदि वह श्रोता द्रव्य (सामान्य) का अर्थी है तो भी प्रकृत पदार्थके प्ररूपणके लिए सम्पूर्ण निक्षेप कहे जाते है। दूसरी व तीसरी जातिके श्रोताओको यदि सन्देह हो तो उनके सन्देहको दूर करनेके लिए अथवा यदि उन्हे विपर्यय ज्ञान हो तो प्रकृत वस्तुके निर्णयके लिए सम्पूर्ण निक्षेपोका कथन किया जाता है। (और भी दे० आगे निक्षेप/१/४)।

स. सि./१/५/१९/१ निक्षेपविधिना शब्दार्थ' प्रस्तीर्यते। =किस शब्दका क्या अर्थ है, यह निक्षेपविधिके द्वारा विस्तारसे बताया जाता है।

रा. वा./१/५/२०/३०/२१ लोके हि सर्वैर्नामादिभिर्दृष्ट सव्यवहारः।—एक ही वस्तुमें लोक व्यवहारमे नामादि चारों व्यवहार देखे जाते हैं। (जैसे—'इन्द्र' शब्दको भी इन्द्र कहते है, इन्द्रकी मूर्तिको भी इन्द्र कहते है, इन्द्रपदसे च्युत होकर मनुष्य होनेवालेको भी इन्द्र कहते है और शचीपतिको भी इन्द्र कहते है)।

ध. १/१,१,१/३१/६ निक्षेपविस्पृष्ट सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तु. श्रोतुश्चोत्थान कुर्यादिति वा। =अथवा निक्षेपोको छोडकर वर्णन किया गया सिद्धान्त सम्भव है, कि वक्ता और श्रोता दोनोको कुमार्गमें ले जावे, इसलिए भी निक्षेपोका कथन करना चाहिए। (ध. ३/१,२,१५/१२६/६)।

न. च. वृ./२७०,२८१,२८२ दव्वं विविहसहावं जेण सहावेण होइ तं ज्झेय। तस्स णिमित्तं कीरइ एक्क पिय दव्वं चउभेयं।२७०। णिक्खेव-णयपमाण णादूणं भावयंत्ति जे तच्च। ते तत्थतच्चमग्गे लहंति लग्गा हु तत्थयं तच्च ।२८१। गुणपज्जयाण लक्खण सहाव णिक्खेवणयपमाणं वा। जाणदि जदि सवियप्प दव्वसहाव खु बुज्झेदि ।२८२। = द्रव्य विविध स्वभाववाला है। उनमेंसे जिस जिस स्वभावरूपसे वह ध्येय होता है, उस उसके निमित्त ही एक द्रव्यको नामादि चार भेद रूप कर दिया जाता है ।२७०। जो निक्षेप नय व प्रमाणको जानकर तत्त्व-को भाते है वे तथ्यतत्त्वमार्गमें संलग्न होकर तथ्य तत्त्वको प्राप्त करते है ।२८१। जो व्यक्ति गुण व पर्यायोंके लक्षण, उनके स्वभाव, निक्षेप, नय व प्रमाणको जानता है वही सर्व विशेषोसे युक्त द्रव्यस्वभावको जानता है ।२८२।

५. नयोंसे पृथक् निक्षेपोका निर्देश क्यों

रा. वा./१/५/३२-३३/३२/१० द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकान्तर्भावान्नामादीना तयोश्च नयशब्दाभिधेयत्वात् पौनुरुक्त्यप्रसङ्ग ।३२। न वा एप दोष । ·· ये सुमेधसो विनेयास्तेषा द्वाभ्यामेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यां सर्वनयवक्तव्यार्थप्रतिपत्ति' तदन्तर्भावात्। ये त्वतो मन्दमेधसः तेषां त्र्यादिनयविकल्पनिरूपणम्। अतो विशेषोपपत्तेर्नामादीनामपुनरुक्तत्वम्।=**प्रश्न**—द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोमें अन्तर्भाव हो जानेके कारण—दे० निक्षेप/२, और उन नयोको पृथक्से कथन किया जानेके कारण, इन नामादि निक्षेपोका पृथक् कथन करनेसे पुनरुक्ति होती है। **उत्तर**—यह कोई दोष नही है, क्योकि, जो विद्वान् शिष्य है वे दो नयोके द्वारा ही सभी नयोके वक्तव्य प्रतिपाद्य अर्थोको जान लेते है, पर जो मन्दबुद्धि शिष्य है, उनके लिए पृथक् नय और निक्षेपका कथन करना ही चाहिए। अत विशेष ज्ञान करानेके कारण नामादि निक्षेपोका कथन पुनरुक्त नहीं है।

६. चारों निक्षेपोंका सार्थक्य व विरोधका निरास

रा. वा /१/५/१९-३०/३०/१६ अत्राह नामादिचतुष्टयस्याभाव'। कुत'। विरोधात्। एकस्य शब्दार्थस्य नामादिचतुष्टय विरुध्यते। यथा नामैकं नामैव न स्थापना। अथ नाम स्थापना इष्यते न नामेदं नाम। स्थापना तर्हि, न चेय स्थापना, नामेदम्। अतो नामार्थ एको विरोधान्न स्थापना। तथैकस्य जीवादेरर्थस्य सम्यग्दर्शनादेर्वा विरोधान्नामाद्यभाव इति ।१९। न वैष दोप'। किं कारणम्। सर्वेषां संव्यवहार प्रत्यविरोधात्। लोके हि सर्वैर्नामादिभिर्दृष्ट सव्यवहार'। इन्द्रो देवदत्त' इति नाम। प्रतिमादिपु चेन्द्र इति स्थापना। इन्द्रार्थे च काष्ठे द्रव्ये इन्द्रसंव्यवहारः 'इन्द्र आनीत' इति वचनात्। अनागतपरिणामे चार्थे द्रव्यसंव्यवहारो लोके दृष्ट —द्रव्यमयं माणवक, आचार्य' श्रेष्ठी

वैयाकरणो राजा वा भविष्यतीति व्यवहारदर्शनात्। शचीपतौ च भावे इन्द्र इति। न च विरोधः। किंच, ।२०। यथा नामैकं नामैवेष्यते न स्थापना इत्याचक्षाणेन त्वया अभिहितानवबोधः प्रकटीक्रियते। यतो नैवमाचक्ष्महे—'नामैव स्थापना' इति, किन्तु एकस्यार्थस्य नामस्थापनाद्रव्यभावैर्न्यासः इत्याचक्ष्महे।२१। नैतदेकान्तेन प्रतिजानीमहे—नामैव स्थापना भवतीति न वा, स्थापना वा नाम भवति नेति च।२२। • यत एव नामादिचतुष्टयस्य विरोधं भवानाचष्टे अतएव नाभावः। कथम्। इह योऽय सहानवस्थानलक्षणो विरोधो बध्यघातकवत्, स सतामर्थानां भवति नासतां काकोलूकच्छायातपवत्, न काकदन्तखरविषाणयोर्विरोधोऽसत्त्वात्। किंच ।२४। अथ अर्थान्तरभावेऽपि विरोधकत्वमिष्यते; सर्वेषां पदार्थानां परस्परतो नित्यं विरोधः स्यात्। न चासावस्तीति। अतो विरोधाभावः ।२५। स्यादेतत् ताद्गुण्याद्भाव एव प्रमाणं न नामादिः। तन्न, किं कारणम्।• एवं हि सति नामाद्याश्रयो व्यवहारो निवर्तेत। स चास्तीति। अतो न भावस्यैव प्रामाण्यम् ।२६। यद्यपि भावस्यैव प्रामाण्यं तथापि नामादिव्यवहारो न निवर्तते। कुतः। उपचारात्।•• तत्र, किं कारणम्। तद्गुणाभावात्। युज्यते माणवके सिंहशब्दव्यवहारः क्रौर्यशौर्यादिगुणैकदेशयोगात्, इह तु नामादिषु जीवनादिगुणैकदेशो न कश्चिदप्यस्तीत्युपचाराभावाद् व्यवहारनिवृत्तिः स्यादेव ।२७। •• यद्युपचारान्नामादिव्यवहारः स्यात् 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः' इति मुख्यस्यैव संप्रत्ययः स्यान्न नामादीनाम्। यतस्त्वर्थप्रकरणादिविशेषलिङ्गाभावे सर्वत्र संप्रत्ययः अविशिष्टः कृतसंगतेर्भवति, अतो न नामादिषूपचाराद् व्यवहारः ।२८। • 'स्यादेतत्—कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति लोके। तन्न, किं कारणम्। उभयगतिदर्शनात्। लोके ह्यर्थात् प्रकरणाद्वा कृत्रिमे संप्रत्ययः स्यात् अर्थी वास्यैवसज्ञकेन भवति ।२९। ...... नामसामान्यापेक्षया स्यादकृत्रिमं विशेषापेक्षया कृत्रिमम्। एवं स्थापनादयश्चेति ।३०।=**प्रश्न**—विरोध होनेके कारण एक जीवादि अर्थके नामादि चार निक्षेप नहीं हो सकते। जैसे—नाम नाम ही है, स्थापना नहीं। यदि उसे स्थापना माना जाता है तो उसे नाम नहीं कह सकते, यदि नाम कहते है तो स्थापना नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें विरोध है.। ।१९। **उत्तर**—१—एक ही वस्तुमें लोकव्यवहारमे नामादि चारो व्यवहार देखे जाते है, अत; उनमें कोई विरोध नहीं है। उदाहरणार्थ इन्द्र नामका व्यक्ति है (नाम निक्षेप) मूर्तिमें इन्द्रकी स्थापना होती है। इन्द्रके लिए लाये गये काष्ठको भी लोग इन्द्र कह देते है (सद्भाव व असद्भाव स्थापना)। आगेको पर्यायकी योग्यतासे भी इन्द्र, राजा, सेठ आदि व्यवहार होते है (द्रव्य निक्षेप)। तथा शचीपतिको इन्द्र कहना प्रसिद्ध ही है (भाव निक्षेप) ।२०। (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ७९-८२/२८८) २. 'नाम नाम ही है स्थापना नहीं' यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि नाम स्थापना है, किन्तु नाम स्थापना द्रव्य और भावसे एक वस्तुमें चार प्रकारसे व्यवहार करनेकी बात है ।२१। ३. (पदार्थ व उसके नामादिमें सर्वथा अभेद या भेद हो ऐसा भी नही है क्योंकि अनेकान्तवादियोंके हाँ सज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथचित् भेद और द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कथंचित अभेद स्वीकार किया जाता है। (श्लो वा. २/१/५/७३-८७/२८४-३१३), ४. 'नाम स्थापना ही है या स्थापना नहीं है' ऐसा एकान्त नहीं है, क्योकि स्थापनामें नाम अवश्य होता है पर नाममें स्थापना हो या न भी हो (दे० निक्षेप/४/६) इसी प्रकार द्रव्यमें भाव अवश्य होता है, पर भाव निक्षेपमे द्रव्य विवक्षित हो अथवा न भी हों। (दे० निक्षेप/७/८) / ।२२। ५. छाया और प्रकाश तथा कौआ और उल्लूमें पाया जानेवाला सहानवस्थान और बध्यघातक विरोध विद्यमान ही पदार्थोंमें होता है, अविद्यमान खरविषाण आदिमे नही। अत' विरोधकी सम्भावनासे ही नामादि चतुष्टयका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है ।२४। ६. यदि अर्थान्तररूप होनेके कारण इनमें विरोध मानते हो, तब तो सभी पदार्थ परस्पर एक दूसरेके विरोधक हो जायेंगे ।२५। ७. **प्रश्न**—भावनिक्षेपमें वे गुण आदि पाये जाते है अत इसे ही सत्य कहा जा सकता है नामादिको नहीं? **उत्तर**—ऐसा माननेपर तो नाम स्थापना और द्रव्यसे होनेवाले यावत् लोक व्यवहारोका लोप हो जायेगा। लोक व्यवहारमे बहुभाग तो नामादि तीनका ही है ।२६। ८. यदि कहो कि व्यवहार तो उपचारसे है, अत' उनका लोप नहीं होता है, तो यह भी ठीक नही है, क्योकि बच्चेमें क्रूरता शूरता आदि गुणोका एकदेश देखकर, उपचारसे सिंह-व्यवहार तो उचित है, पर नामादिमे तो उन गुणोका एकदेश भी नही पाया जाता अत नामाद्याश्रित व्यवहार औपचारिक भी नहीं कहे जा सकते ।२७। यदि फिर भी उसे औपचारिक ही मानते हो तो 'गौण और मुख्यमे मुख्यका ही ज्ञान होता है' इस नियमके अनुसार मुख्यरूप 'भाव' का ही संप्रत्यय होगा नामादिका नही। परन्तु अर्थ प्रकरण और संकेत आदिके अनुसार नामादिका मुख्य प्रत्यय भी देखा जाता है ।२८। ९. 'कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थोंमें कृत्रिमका ही बोध होता है' यह नियम भी सर्वथा एक रूप नही है। क्योकि इस नियम की उभयरूपसे प्रवृत्ति देखी जाती है। लोकमें अर्थ और प्रकरणसे कृत्रिममें प्रत्यय होता है, परन्तु अर्थ व प्रकरणसे अनभिज्ञ व्यक्तिमें तो कृत्रिम व अकृत्रिम दोनोका ज्ञान हो जाता है जैसे किसी गँवार व्यक्तिको 'गोपालको लाओ' कहनेपर वह गोपाल नामक व्यक्ति तथा ग्वाला दोनोको ला सकता है ।२९। फिर सामान्य दृष्टिसे नामादि भी तो अकृत्रिम ही है। अत इनमें कृत्रिमत्व और अकृत्रिमत्वका अनेकान्त है ।३०।

श्लो. वा. २/१/५/८७/३१२/२४ काचिदप्यर्थक्रिया न नामादयः कुर्वन्तीत्ययुक्तं तेषामवस्तुत्वप्रसङ्गात्। न चैतदुपपन्नं भाववन्नामादीनामबाधितप्रतीत्या वस्तुत्वसिद्धेः। १० ये चारों कोई भी अर्थक्रिया नहीं करते, यह कहना भी ठीक नही है; क्योंकि, ऐसा माननेसे उनमें अवस्तुपनेका प्रसग आता है। परन्तु भाववत् नाम आदिकमें भी वस्तुत्व सिद्ध है। जैसे—नाम निक्षेप सज्ञा-संज्ञेय व्यवहारको कराता है, इत्यादि।

२. निक्षेपोंका द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयोंमे अन्तर्भाव—

१. भाव पर्यायार्थिक है और शेष तीन द्रव्यार्थिक

स. सि /१/६/२०/९ नयो द्विविधो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन भावतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां त्रयाणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। =नय दो है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिकनयका विषय भाव निक्षेप है, और शेष तीनको द्रव्यार्थिकनय ग्रहण करता है, क्योकि वह सामान्यरूप है। (ध १/१, १.१/गा ९ सन्मतितर्कसे उद्धृत/१५) (ध ४/१,३,१/गा. २/३) (ध. ९/४,१,४५/गा ६९/१८५) (क. पा १/१,१३-१४/§२११/गा ११९/२६०) (रा वा १/५/३१/३२/६) (सि वि /मू /१२/३/७४१) (श्लो वा २/१/५/श्लो. ६९/२७९).।

२. भावमें कथंचित् द्रव्यार्थिकपना तथा नाम व द्रव्यमें पर्यायार्थिकपना

दे निक्षेप/३/१ (नैगम सग्रह और व्यवहार इन तीन द्रव्यार्थिक नयोंमें चारो निक्षेप सभव है, तथा ऋजुसूत्र नयमें स्थापनासे अतिरिक्त तीन निक्षेप सम्भव है। तीनो शब्दनयोंमें नाम व भाव ये दो ही निक्षेप होते है।)

३. नामको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

श्लो॰ वा. २/१/५/६६/२७६/२४ नन्वस्तु द्रव्यं शुद्धमशुद्धं च द्रव्यार्थिक-नयादेशात्, नाम-स्थापने तु कथं तयोः प्रवृत्तिमारभ्य प्रागुपरमादन्व-यित्वादिति ब्रूमः। न च तदसिद्धं देवदत्तं इत्यादि नाम्नः क्वचिद्बा-लाद्यवस्थाभेदाद्भिन्नेऽपि विच्छेदानुपपत्तेरन्वयित्वसिद्धेः। क्षेत्र-पालादिस्थापनायाश्च कालभेदेऽपि तथात्वाविच्छेदः इत्यन्वयित्व-मन्वयप्रत्ययविषयत्वात्। यदि पुनरनाद्यनन्तान्वयासत्त्वान्नामस्थापन-योरनन्वयित्वं तदा घटादेरपि न स्यात्। तथा च कुतो द्रव्यत्वम्। व्यवहारनयात्तस्यावान्तरद्रव्यत्वे तत एव नामस्थापनयोस्तदस्तु विशेषाभावात्। = प्रश्न--शुद्ध व अशुद्ध द्रव्य तो भले ही द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे मिल जायें, किन्तु नाम स्थापना द्रव्यार्थिकनयके विषय कैसे हो सकते हैं? उत्तर--तहाँ भी प्रवृत्तिके समयसे लेकर विराम या विसर्जन करनेके समय तक, अन्वयपना विद्यमान है। और वह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि देवदत्त नामके व्यक्तिमें बालक कुमार युवा आदि अवस्था भेद होते हुए भी उस नामका विच्छेद नहीं बनता है। (ध ४/१,३,१/३/६)। इसी प्रकार क्षेत्रपाल आदिकी स्थापनामें काल भेद होते हुए भी, तिस प्रकारकी स्थापना-पनेका अन्तराल नहीं पड़ता है। 'यह वह है' इस प्रकारके अन्वय ज्ञानका विषय होते रहनेसे तहाँ भी अन्वयीपना बहुत काल तक बना रहता है। प्रश्न--परन्तु नाम व स्थापनामें अनादिसे अनन्त काल तक तो अन्वय नहीं पाया जाता? उत्तर--इस प्रकार तो घट, मनुष्यादिको भी अन्वयपना न हो सकनेसे उनमें भी द्रव्यपना न बन सकेगा। प्रश्न--तहाँ तो व्यवहार नयकी अपेक्षा करके अवान्तर द्रव्य स्वीकार कर लेनेमें द्रव्यपना बन जाता है? उत्तर--तब तो नाम व स्थापनामें भी उसी व्यवहारनयकी प्रधानतासे द्रव्यपना हो जाओ, क्योंकि इस अपेक्षा इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है।

ध. ४/१,३ १/३/७ वाच्यवाचकशक्तिद्वयात्मकैकशब्दस्य पर्यायार्थिकनये असंभवाद्वा दव्वट्ठियणयस्सेत्ति वुच्चदे। = वाच्यवाचक दो शक्तियों-वाला एक शब्द पर्यायार्थिक नयमें असम्भव है, इसलिए नाम द्रव्यार्थिक नयका विषय है, ऐसा कहा जाता है। (ध.६/४,१,४५/१८६/६) (विशेष दे० नय/IV/3/८/५)।

ध. १०/४,२,२,२/१०/२ णामणिक्खेवो दव्वट्ठियणए कुदो संभवदि। एक्कम्हि चेव दव्वम्हि वट्टमाणाणं णामाणं तब्भवसामाणम्मि तीदाणा-गय-वट्टमाणपज्जाएसु संचरणं पडुच्च अत्तदव्ववएसम्मि अप्पहाणीक-यपज्जायम्मि पउत्तिदंसणादो, जाइ-गुण-कम्मेसु वट्टमाणाणं सारिच्छ-सामण्णम्मि वत्तिविसेसाणुवुत्तीदो लद्धदव्ववएसम्मि अप्पहाणीकय-वत्तिभावम्मि पउत्तिदंसणादो, सारिच्छसामण्णप्पयणामेण विणा सद्दव्ववहाराणुववत्तीदो च। = प्रश्न--नाम निक्षेप द्रव्यार्थिकनयमें कैसे सम्भव है? उत्तर--चूँकि एक ही द्रव्यमें रहनेवाले द्रव्यवाची शब्दोंकी, जिसने अतीत, अनागत व वर्तमान पर्यायोंमें संचार करनेकी अपेक्षा 'द्रव्य' व्यपदेशको प्राप्त किया है और जो पर्यायकी प्रधानतासे रहित है ऐसे तद्भावसामान्यमें, प्रवृत्ति देखी जाती है (अर्थात् द्रव्यसे रहित केवल पर्यायमें द्रव्यवाची शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है)।

(इसी प्रकार) जाति, गुण व क्रियावाची शब्दोंकी, जिसने व्यक्ति विशेषोंमें अनुवृत्ति होनेसे 'द्रव्य' व्यपदेशको प्राप्त किया है, और जो व्यक्ति भावकी प्रधानतासे रहित है, ऐसे सादृश्य-सामान्यमें, प्रवृत्ति देखी जाती है। तथा सादृश्यसामान्यात्मक नामके बिना शब्द व्यवहार भी घटित नहीं होता है, अतः नाम निक्षेप द्रव्यार्थिक नयमें सम्भव है। (ध ४/१,३,१/३/६)।

और भी दे० निक्षेप/३ (नाम निक्षेपको नैगम संग्रह व व्यवहार नयो-का विषय बतानेमें हेतु। तथा द्रव्यार्थिक होते हुए भी शब्दनयोंका विषय बननेमें हेतु।

४. स्थापनाको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

दे० पहला शीर्षक न. 3 ('यह वही है' इस प्रकार अन्वयज्ञानका विषय होनेसे स्थापना निक्षेप द्रव्यार्थिक है)।

ध. ४/१,३ १/४/२ सब्भावासब्भावसरूवेण सव्वदव्वावि त्ति वा, पधाणा-पधाणदव्वाणमेगत्तणिबंधणेत्ति वा ट्ठवणणिक्खेवो दव्वट्ठियणय-वुल्लीणो। = स्थापना निक्षेप तदाकार और अतदाकार रूपसे सर्व-द्रव्योंमें व्याप्त होनेके कारण; अथवा प्रधान और अप्रधान द्रव्योंकी एकताका कारण होनेसे द्रव्यार्थिकनयके अन्तर्गत है।

ध १०/४,२,२,२/१०/८ कध दव्वट्ठियणए ट्ठवणणामसभवो। पडि-णिहिज्जमाणस्स पडिणिहिणा सह एयत्तवज्झवसायादो सब्भावासब्भा-वट्ठवणभेएण सव्वत्थेसु अण्णयदंसणादो च। = प्रश्न--द्रव्यार्थिक नयमें स्थापना निक्षेप कैसे सम्भव है? उत्तर--एक तो स्थापनामें प्रतिनिधीयमानकी प्रतिनिधिके साथ एकताका निश्चय होता है, और दूसरे सद्भावस्थापना व असद्भावस्थापनाके भेद रूपसे सब पदार्थोंमें अन्वय देखा जाता है, इसलिए द्रव्यार्थिक नयमें स्थापना-निक्षेप सम्भव है।

ध ६/४,१,४५/१८६/६ कध ट्ठवणा दव्वट्ठियविसओ। ण, अतम्हि तग्गहे संते ठवणुववत्तीदो। = नहीं; क्योंकि जो वस्तु अतद्रूप है उसका तद्रूपसे ग्रहण होनेपर स्थापना बन सकता है।

और भी दे० निक्षेप/३ (स्थापना निक्षेपको नैगम, संग्रह व व्यवहार नयोंका विषय बतानेमें हेतु।)

५. द्रव्यनिक्षेपको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

ध.६/४,१,४५/१८७/१ दव्वसुदणाण पि दव्वट्ठियणयविसओ, आहारा-हेयाणमेयत्तकप्पणाए दव्वसुदग्गहणादो। = द्रव्य श्रुतज्ञान (श्रुतज्ञान-के प्रकरणमें) भी द्रव्यार्थिकनयका विषय है; क्योंकि आधार और आधेयके एकत्वकी कल्पनासे द्रव्यश्रुतका ग्रहण किया गया है। (विशेष दे० निक्षेप/३ में नैगम, संग्रह व व्यवहारनयके हेतु।)

६. भावनिक्षेपको पर्यायार्थिक कहनेमें हेतु

ध ६/४,१,४५/१८७/२ भावणिक्खेवो पज्जवट्ठियणयविसओ, वट्टमाण-पज्जाएणुवलक्खियदव्वग्गहणादो। = भाव निक्षेप पर्यायार्थिकनयका विषय है, क्योंकि वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यका यहाँ भाव रूपसे ग्रहण किया गया है। (विशेष दे० निक्षेप/३ में ऋजुसूत्र नय-में हेतु।)

७. भाव निक्षेपको द्रव्यार्थिक कहनेमें हेतु

क पा /१/१,१३-१४/२६०/१ णाम-ट्ठवणा-दव्व-णिक्खेवाण तिण्हं पि तिण्णि वि दव्वट्ठियणया सामिया होतु णाम ण भावणिक्खेवस्स, तस्स पज्जवट्ठियणयमवलंबिय(पवट्टमाणत्तादो) ण एस दोसो; वट्टमाणपज्जाएण उवलक्खियं दव्वं भावो णाम। अप्पट्टाणीक्य-परिणामेसु सुद्धदव्वट्ठिएसु णएसु णादीदाणागयवट्टमाणकालविभागो अत्थि, तस्स पट्टाणीक्यपरिणामपरिणम(णय)त्तादो। ण तदो एदेसु ताव अत्थि भावणिक्खेवो, वट्टमाणकालेण विणा अण्णकाला-भावादो। वंजणपज्जाएण पादिदव्वेसु सुट्ठु असुद्धदव्वट्ठिएसु वि अत्थि भावणिक्खेवो, तत्थ वि तिकालसंभवादो। अथवा, सव्व-दव्वट्ठियणएसु तिण्णि काला संभवंति, सुणएसु तव्विराहादो। ण च दुण्णएहिं ववहारो, तेसिं विसयाभावादो। ण च सम्मइसुत्तेण सह विरोहो, उज्जुसुदणयविसयभावणिक्खेवमस्सिदूण तप्पउत्तीदो। तम्हा णेगम-संगह-ववहारणएसु सव्वणिक्खेवा संभवंति त्ति सिद्धं। प्रश्न--(तद्भावसामान्य व सादृश्यसामान्यको अवलम्बन करके प्रवृत्त होनेके कारण) नाम, स्थापना व द्रव्य इन तीनों निक्षेपोंके नैगमादि तीनों ही द्रव्यार्थिकनय स्वामी होओ, परन्तु भावनिक्षेप-के वे स्वामी नहीं हो सकते है, क्योंकि, भावनिक्षेप पर्यायार्थिक

नयके आश्रयसे होता है (दे० निक्षेप/२/१)। उत्तर—१. यह दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि वर्तमानपर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयमें तो क्योंकि, भूत भविष्यत और वर्तमानरूपसे कालका विभाग नहीं पाया जाता है, कारण कि वह पर्यायोंकी प्रधानतासे होता है; इसलिए शुद्ध द्रव्यार्थिक नयोंमें तो भावनिक्षेप नहीं बन सकता है, क्योंकि भावनिक्षेपमें वर्तमानकालको छोडकर अन्य काल नहीं पाये जाते है। परन्तु जब व्यंजनपर्यायोंकी अपेक्षा भावमें द्रव्यका सद्भाव स्वीकार कर दिया जाता है, तब अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयोंमें भाव निक्षेप बन जाता है, क्योंकि, व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा भावमें भी तीनों काल सम्भव हैं। (ध ६/४,१,४८/२४२/८), (ध १०/४,२,२,३/११/१), (ध.१४/५,६,४/३/७)। २. अथवा सभी समीचीन नयोंमे भी क्योंकि तीनों ही कालोंको स्वीकार करनेमें कोई विरोध नहीं है; इसलिए सभी द्रव्यार्थिक नयोंमें भावनिक्षेप बन जाता है। और व्यवहार मिथ्या नयोंके द्वारा किया नही जाता है, क्योंकि, उनका कोई विषय नहीं है। ३ यदि कहा जाय कि भाव निक्षेपका स्वामी द्रव्यार्थिक नयोंको भी मान लेनेपर सन्मति तर्कके 'णाम ठवणा' इत्यादि (दे० निक्षेप/२/१) सूत्रके साथ विरोध आता है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो भावनिक्षेप ऋजुसूत्र नयका विषय है, उसकी अपेक्षासे सन्मतिके उक्त सूत्रकी प्रवृत्ति हुई है। (ध.१/१,१,१/१५/६), (ध ६/४,१,४६/२४४/१०)। अतएव नैगम संग्रह और व्यवहारनयोंमें सभी निक्षेप सभव है, यह सिद्ध होता है।

ध.१/१,१,१/१४/२ कध दव्वट्ठिय-णये भाव-णिक्खेवस्स संभवो। ण, वट्टमाण-पज्जायोवलक्खियं दव्वं भावो इदि दव्वट्ठिय-णयस्स वट्टमाणमवि आरभप्पहुडि आ उवरमादो। सगहे सुद्धदव्वट्ठिए वि भावणिक्खेवस्स अत्थित्तं ण विरुज्झदे सुकुक्खि-णिक्खित्तासेस-विसेस-सत्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भावब्भुवगमादो त्ति। =प्रश्न—द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप कैसे सम्भव है? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्त तककी पर्यायोंमें आ ही जाती है। (ध.१०/५,५,६/३६/७)। २. इसी प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिक रूप सग्रहनयमें भी भाव निक्षेपका सद्भाव विरोधको प्राप्त नही होता है, क्योंकि अपनी कुक्षिमे समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट करनेवाली और सदा काल एक रूपसे अवस्थित रहनेवाली महासत्तामें ही 'भाव' अर्थात पर्यायका सद्भाव माना गया है।

३. निक्षेपोका नैगमादि नयोंमें अन्तर्भाव

१. नयोंके विषयरूपसे निक्षेपोंका निर्देश

प ख /१३/५,४/सूत्र ६/३६ णेगम-ववहार-संगहा सव्वाणि।६। =नैगम, व्यवहार और सग्रहनय सब कर्मोंको (नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि कर्मोंको) स्वीकार करते है। (प.ख./१०/४,२,२/सूत्र २/१०), (प ख./१३/५,५/सू ६/१९८); (प.ख /१४/५,६,६/सूत्र४/३), (प.ख.१४/५,६/सूत्र ७२/५२), (क. पा./१/१,१३–१४/§२११/चूर्ण सूत्र/२५६), (ध.१/१,१ १/१४/१)।

प ख १३/५,४/सू ७/३६ उजुसुदो ट्ठवणकम्मं णेच्छदि।७। =ऋजुसूत्र नय स्थापना कर्मको स्वीकार नहीं करता। अर्थात अन्य तीन निक्षेपोंको स्वीकार करता है। (प ख.१०/४,२,२/सूत्र ३/११), (प.ख.१३/५,५/सू.७/१९९), (प.ख १४/५,६/सूत्र ५/३), (प ख.१४/५,६/सूत्र/७२/५३), (क पा १/१,१३–१४/§२१२/चूर्ण सूत्र/२६२), (ध १/१,१.१/१६/१)।

प खं.१३/५,४/सू.८/४० सद्दणओ णामकम्मं भावकम्मं च इच्छदि। =शब्दनय नामकर्म और भावकर्मको स्वीकार करता है। (प.ख. १०/४,२,२/सूत्र ४/११), (प.ख.१३/५,५/सूत्र ८/२००), (प खं.१४/५,६/सू.६/३); (प ख १४/५,६/सूत्र७४/५३), (क.पा.१/१,१३–१४/§२१५/चूर्णसूत्र/२६४)।

ध १/१,१,१/१६/५ सद्द-समभिरूढ-एवंभूद-णएसु वि णाम-भाव-णिक्खेवा हवंति तेसिं चेय तत्थ संभवादो। =शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते है, क्योंकि ये दो ही निक्षेप वहाँपर सम्भव है, अन्य नही। (क.पा.१/१,१३–१४/§२४०/चूर्ण सूत्र/२८५)।

२. तीनों द्रव्यार्थिक नयोंके सभी निक्षेप विषय कैसे?

ध.१/१,१,१/१४/१ तत्थ णेगम-संगह-ववहारणएसु सव्वे एदे णिक्खेवा हवंति तव्विसयम्मि तब्भव-सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्वणिक्खेवसंभवादो। =नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीनों नयोंमे सभी निक्षेप होते है; क्योंकि इन नयोंके विषयभूत तद्भवसामान्य और सादृश्यसामान्यमें सभी निक्षेप सम्भव है। (क पा.१/१,१३–१४/§ २११/२५६/८)।

क.पा १/१,१३–१४/§२३६/२८३/६ णेगमो सव्वे कसाए उच्छदि॥ कुदो। सगहासंगहसरूवणेगम्मि विसयीकयसगललोगववहारम्मि सव्व-कसायसभवादो। =नैगमनय सभी (नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव) कषायोंको स्वीकार करता है; क्योंकि वह भेदाभेदरूप है और समस्त लोकव्यवहारको विषय करता है।

दे० निक्षेप/२/३–७ (इन द्रव्यार्थिक नयोंमें भावनिक्षेप सहित चारों निक्षेपोंके अन्तर्भावमें हेतु),

३. ऋजुसूत्रका विषय नाम निक्षेप कैसे

ध.१/१,१,१/१६/४ ण तत्थ णामणिक्खेवाभावो वि सद्दोवलद्धि काले णियत्तवाचयत्तुवलभादो। =(जिस प्रकार ऋजुसूत्रमें द्रव्य निक्षेप घटित होता है) उसी प्रकार वहाँ नामनिक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि जिस समय शब्दका ग्रहण होता है, उसी समय उसकी नियत वाच्यता अर्थात् उसके विषयभूत अर्थका भी ग्रहण हो जाता है।

ध.६/४,१,४६/२४३/१० सुदणओ णाम पज्जवट्ठियो, कध तस्स णाम-दव्व-गणणगथकदी होंति त्ति, विरोहादो। एत्थ परिहारो वुच्चदे—उजुसुदो दुविहो सुद्धो असुद्धो चेदि। तत्थ सुद्धो विसईकय अत्थपज्जाओ। एदस्स भावं मोत्तूण अण्ण कदीओ ण सभवंति, विरोहादो। तत्थ जो सो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजणपज्जयविसओ। तम्हा उजुसुदे ठवणं मोत्तूण सव्वणिक्खेवा सभवति त्ति वुत्तं। =प्रश्न—ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है, अतः वह नामकृति, द्रव्यकृति, गणनकृति और ग्रन्थकृतिको कैसे विषय कर सकता है, क्योंकि इसमें विरोध है? उत्तर—यहाँ इस शंकाका परिहार करते है—ऋजुसूत्रनय शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें अर्थपर्यायको विषय करनेवाले शुद्ध ऋजुसूत्रमें तो भावकृतिको छोडकर अन्य कृतियाँ विषय होनी सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमे विरोध है। परन्तु अशुद्ध ऋजुसूत्रनय चक्षु इन्द्रियकी विषयभूत व्यंजन पर्यायोंको विषय करनेवाला है। इस कारण उसमें स्थापनाको छोडकर सब निक्षेप सम्भव है ऐसा कहा गया है। (विशेष दे० नय/III/५/६)।

क. पा /१/१,१३–१४/§२२८/२७८/३ दव्वट्ठियणयमस्सिदूण ट्ठिदणाम कथमुजुसुदे पज्जवट्ठिए सभवइ। ण, अत्थणएसु सद्दस्स अत्थाणुसारित्ताभावादो। सद्दववहारेचप्पलए सते लोगववहारो सयलो वि उच्छिज्जदि त्ति चे, होदि तदुच्छेदो, किन्तु णयस्स विसओ अम्मेहि परूविदो। =प्रश्न—नामनिक्षेप द्रव्यार्थिकनयका आश्रय

लेकर होता है और ऋजुसूत्र पर्यायार्थिक है, इसलिए उसमें नाम-निक्षेप कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अर्थ नयमें शब्द अपने अर्थका अनुसरण नहीं करता है (अर्थ शब्दादि नयोंकी भाँति ऋजुसूत्रनय शब्दभेदसे अर्थभेद नहीं करता है, केवल उस शब्दके सकेतसे प्रयोजन रखता है) और नाम निक्षेपमें भी यही बात है। अत ऋजुसूत्रनयमे नामनिक्षेप सम्भव है। प्रश्न—यदि अर्थनयोंमें शब्द अर्थका अनुसरण नही करते हैं तो शब्द व्यवहारको असत्य मानना पडेगा, और इस प्रकार समस्त लोकव्यवहारका व्युच्छेद हो जायेगा ? उत्तर—यदि इससे लोकव्यवहारका उच्छेद होता है तो होओ, किन्तु यहाँ हमने नयके विषयका प्रतिपादन किया है।

और भी दे० निक्षेप/३/६ (नामके बिना इच्छित पदार्थका कथन न हो सकनेसे इस नयमें नामनिक्षेप सम्भव है।)

४. ऋजुसूत्रका विषय द्रव्यनिक्षेप कैसे

ध. १/१,१,१/१६/३ कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्वणिक्खेवो त्ति। ण, तत्थ वट्टमाणसमयाणंतगुणण्णिद-एगदव्व-सभवादो। =प्रश्न—ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिकनय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है ? उत्तर—ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि ऋजुसूत्र नयमे वर्तमान समयवर्ती पर्यायसे अनन्तगुणित एक द्रव्य ही तो विषय रूपसे सम्भव है। (अर्थात् वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्य ही तो विषय होता है, न कि द्रव्य-विहीन केवल पर्याय।)

ध १३/५ ५,७/१९९/८ कध उजुसुदे पज्जवट्ठिए दव्वणिक्खेवसंभवो। ण असुद्धपज्जवट्ठिए वजणपरजायपरतते सुहुमपज्जायभेदेहि णाणत्तमुवगए तदविरोहादो। =प्रश्न—ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है, उसका विषय द्रव्य निक्षेप होना कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो व्यजन पर्यायोंके आधीन है और जो सूक्ष्मपर्यायोके भेदोंके आलम्बनसे नानात्वको प्राप्त है, ऐसे अशुद्ध पर्यायार्थिकनयका विषय द्रव्यनिक्षेप है, ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं आता है। (ध १३/५,४,७/४०/२)।

क. पा./१/१,१३-१४/§२१३/२६३/४ ण च उजुसुदो (सुद्धे) [पज्जवट्ठिए] णए दव्वणिक्खेवो ण सभवइ, [वंजणपज्जायरूवेण] अवट्ठियस्स वत्थुस्स अणेगेसु अत्थविंजणपज्जाएसु संचरतस्स दव्वभावुवलभादो। सव्वे (सुद्धे) पुण उजुसुदे णत्थि दव्वं य पज्जायप्पणाये तदसभवादो। =यदि कहा जाय कि ऋजुसूत्रनय तो पर्यायार्थिक है, इसलिए उसमें द्रव्य निक्षेप सम्भव नहीं है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ अर्पित (विवक्षित) व्यजन पर्यायकी अपेक्षा अवस्थित है और अनेक अर्थपर्याय तथा अवान्तर व्यजनपर्यायोंमें सचार करता है (जैसे मनुष्य रूप व्यजनपर्याय बाल, युवा, वृद्धादि अवान्तर पर्यायोंमें) उसमें द्रव्यपनेकी उपलब्धि होती ही है, अत ऋजुसूत्रमे द्रव्य निक्षेप बन जाता है। परन्तु शुद्ध ऋजुसूत्रनयमें द्रव्य निक्षेप नही पाया जाता है, क्योंकि उसमे अर्थपर्यायकी प्रधानता रहती है। (क. पा.१/१,१३-१४/§२२८/२७९/३)। (और भी दे० निक्षेप/३/३ तथा नय/III/५/६)।

५. ऋजुसूत्रमें स्थापना निक्षेप क्यों नहीं

ध ९/४,१,४९/२४५/२ कध ट्ठवणणिक्खेवो णत्थि। सकप्पवसेण अण्णस्स दव्वस्स अण्णसरूवेण परिणामाणुवलभादो सरिसत्तणेण दव्वाणमेगत्ताणुवलभादो। सारिच्छेण एगत्ताणब्भुवगमे कध णाम-गणण-गंधकदीण सभवो। ण तब्भाव-सारिच्छसामण्णेहि विणा वि वट्टमाणकालविसेसप्पणाए वि तासिमत्थित्त पडि विरोहाभावादो। =प्रश्न—स्थापना निक्षेप ऋजुसूत्रनयका विषय कैसे नहीं ? उत्तर—क्योंकि एक तो संकल्पके वशसे अर्थात् कल्पनामात्रसे एक द्रव्यका अन्यस्वरूपमे परिणमन नही पाया जाता (इसलिए तद्भव सामान्य रूप एकताका अभाव है), दूसरे सादृश्य रूपसे भी द्रव्योंके यहाँ एकता नहीं पायी जाती, अत स्थापना निक्षेप यहाँ सम्भव नहीं है। (ध. १३/५,५,७/१९९/६)। प्रश्न—सादृश्य सामान्यसे एकताके स्वीकार न करनेपर इस नयमें नामकृति गणनाकृति और ग्रन्थकृतिकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तद्भावसामान्य और सादृश्य सामान्यके बिना भी वर्तमानकाल विशेषकी विवक्षासे भी उनके अस्तित्वके प्रति कोई विरोध नहीं है।

क पा. १/१,१३-१४/§ २१२/२६२/२ उजुसुदविसए किमिदि ठवणा ण त्थि (णत्थि)। तत्थ सारिच्छलक्खणसामण्णाभावादो। ण च दोण्हं लक्खणसंताणम्मि वट्टमाणाणं सारिच्छविरहिएण एगत्त संभवइ; विरोहादो। असुद्धेसु उजुसुदेसु बहुएसु घडादिअत्थेसु एगसण्णिमिच्छंतेसु सारिच्छलक्खणसामण्णमत्थि त्ति ठवणाए संभवो किण्ण जायदे। होदु णाम सारित्त, तेण पुण [णियत्त], दव्व-खेत्त-कालभावेहि भिण्णाणमेयत्तविरोहादो। ण च बुद्धीए भिण्णत्थाणमेयत्तं सक्किज्जदे [काउ तहा] अणुवलभादो। ण च एयत्तेण विणा ठवणा सभवदि, विरोहादो। =प्रश्न—ऋजुसूत्रके विषयमे स्थापना निक्षेप क्यों नहीं पाया जाता है ? उत्तर—क्योंकि, ऋजुसूत्रनयके विषयमें सादृश्य सामान्य नहीं पाया जाता है। प्रश्न—क्षणसन्तानमें विद्यमान दो क्षणोंमें सादृश्यके बिना भी स्थापनाका प्रयोजक एकत्व बन जायेगा ? उत्तर—नहीं; क्योंकि, सादृश्यके बिना एकत्वके माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—'घट' इत्याकारक एक संज्ञाके विषयभूत व्यजनपर्यायरूप अनेक घटादि पदार्थोंमें सादृश्यसामान्य पाया जाता है, इसलिए अशुद्ध ऋजुसूत्र नयोंमे स्थापना निक्षेप क्यों सम्भव नहीं ? उत्तर—नहीं; क्योंकि, इस प्रकार उनमें सादृश्यता भले ही रही आओ, पर इससे उनमें एकत्व नहीं स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि, जो पदार्थ (इस नयकी दृष्टिमें) द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा भिन्न हैं (दे० नय/IV/३) उनमें एकत्व माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—भिन्न पदार्थोंको बुद्धि अर्थात् कल्पनासे एक मान लेंगे ? उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, भिन्न पदार्थोंमें एकत्व नहीं पाया जाता है, और एकत्वके बिना स्थापनाकी सभावना नहीं है; क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है। (क. पा. १/१,१३-१४/§ २२८/२७८/१), (ध १३/५,५,७/१९९/६)।

६. शब्दनयोंका विषय नामनिक्षेप कैसे

ध. ९/४,१,५०/२४५/९ होदु भावकदी सद्दणयाण विसओ, तेसिं विसए दव्वादीणमभावादो। किंतु ण तेसि णामकदी जुज्जदे, दव्वट्ठियणयं मोत्तूण अण्णत्थ सण्णासण्णिसबधाणुववत्तीदो ? खणक्खइभावमिच्छताण सण्णासबधा माघडतु णाम। किंतु जेण सद्दणया सद्दजणिदभेदपहाणा तेण सण्णासण्णिसंबधाणमवडणाए अणत्थिणो। सगब्भुवगमम्हि सण्णासण्णिसबंधो अत्थि चेवे त्ति अज्झवसायं काऊण ववहरणसहावा सद्दणया, तेसिमण्णहा सद्दण्यात्ताणुववत्तीदो। तेण तिसु सद्दणएसु णामकदी वि जुज्जदे। – प्रश्न—भावकृति शब्दनयोंकी विषय भले ही हो, क्योंकि, उनके विषयमें द्रव्यादिक कृतियोंका अभाव है। परन्तु नामकृति उनकी विषय नहीं हो सकती, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयको छोडकर अन्य (शब्दादि पर्यायार्थिक) नयोंमें सज्ञा-सज्ञी सम्बन्ध बन नहीं सकता। (विशेष दे० नय/IV/३/८/५) उत्तर—पदार्थको क्षणक्षयी स्वीकार करनेवालोंके यहाँ (अर्थात् पर्यायार्थिक नयोंमे) सज्ञा-संज्ञी सबध भले ही घटित न हो; किन्तु चूँकि शब्द नये शब्द जनित भेदकी प्रधानता स्वीकार करते है (दे० नय/I/४/५) अत वे सज्ञा-सज्ञी सम्बन्धोंके (सर्वथा) अघटनको स्वीकार नहीं कर सकते। इसीलिए (उनके) स्वमतमें सज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध है ही, ऐसा निश्चय करके शब्दनय भेद करने रूप स्वभाववाले हैं, क्योंकि, इसके बिना उनके शब्दनयत्व ही नहीं बन सकता। अतएव तीनो शब्दनयोंमें नामकृति भी उचित है।

ध. १४/५ ६,९/४/१ कध णामबंधस्स तत्थ संभवो। ण, णामेण विणा इच्छिदत्थपरूवणाए अणुववत्तीदो। =प्रश्न—इन दोनों (ऋजुसूत्र व शब्द) नयोंमें नामबन्ध कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, नामके बिना इच्छित पदार्थका कथन नहीं किया जा सकता, इस अपेक्षा नामबन्धको इन दोनों (पर्यायार्थिक) नयोंका विषय स्वीकार किया है। (ध १३/५,४,८/४०/५)।

क. पा /१/१,१३-१४/§ २२६/२७६/७ अणेगेसु घडत्थेसु दव्व-खेत्त-काल-भावेहि पुधभूदेसु एक्को घडसद्दो वट्टमाणो उवलब्भदे, एवमुवलब्भमाणे कध सद्दणए पज्जवट्ठिए णामणिक्खेवस्स संभवो त्ति। ण, एदम्मि णए तेसिं घडसद्दाणं दव्व-खेत्त-काल-भाववाचयभावेण भिण्णाणमण्णयाभावादो। तत्थ संकेयग्गहणं दुग्घडं त्ति चे। होदु णाम, किंतु णयस्स विसओ परूविज्जदे, ण च सुणएसु किं पि दुग्घडमत्थि। प्रश्न—द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न अनेक घटरूप पदार्थोंमें (सादृश्य सामान्य रूप) एक घट शब्द प्रवृत्त होता हुआ पाया जाता है। जब कि 'घट' शब्द इस प्रकार उपलब्ध होता है तब पर्यायार्थिक शब्दनयमें नाम निक्षेप कैसे सम्भव है, (क्योंकि पर्यायार्थिक नयोंमें सामान्यका ग्रहण नहीं होता दे० नय/IV/३)। उत्तर—नहीं, क्योंकि, इस नयमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावरूप वाच्यसे भेदको प्राप्त हुए उन अनेक घट शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं पाया जाता है, अर्थात् वह नय द्रव्य क्षेत्रादिके भेदसे प्रवृत्त होनेवाले घट शब्दोंको भिन्न मानता है और इसलिए उसमें नामनिक्षेप बन जाता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो शब्दनयमें संकेतका ग्रहण करना कठिन हो जायेगा? उत्तर—ऐसा होता है तो होओ, किन्तु यहाँ तो शब्दनयके विषयका कथन किया है।

दूसरे सुनयोंकी प्रवृत्ति, क्योंकि, सापेक्ष होती है, इसलिए उनमें कुछ भी कठिनाई नहीं है। (विशेष दे० आगम/४/४)।

७. शब्दनयोंमें द्रव्य निक्षेप क्यों नहीं

ध १०/४,२,२,४/१२/१ किमिदि दव्वं णेच्छदि। पज्जायतरसंकंति-विरोहादो सद्दभेएण अत्थपदणवावदम्मि वत्थुविसेसाणं णाम-भावं मोत्तूण पहाणत्ताभावादो। =प्रश्न—शब्दनय द्रव्य निक्षेपको स्वीकार क्यों नहीं करता? उत्तर—एक तो शब्दनयकी अपेक्षा दूसरी पर्यायका संक्रमण माननेमें विरोध आता है। दूसरे, वह शब्दभेदसे अर्थके कथन करनेमें व्यापृत रहता है (दे० नय/I/४/५), अतः उसमें नाम और भावकी ही प्रधानता रहती है, पदार्थोंके भेदोंकी प्रधानता नहीं रहती, इसलिए शब्दनय द्रव्य निक्षेपको स्वीकार नहीं करता।

ध १३/५,५,८/२००/३ णामे दव्वाविणाभावे संते वि तत्थ दव्वम्हि तस्स सद्दणयस्स अत्थित्ताभावादो। सद्ददुवारेण पज्जयदुवारेण च अत्थभेदमिच्छंतए सद्दणए दो चेव णिक्खेवा संभवंति त्ति भणिदं होदि। =यद्यपि नाम द्रव्यका अविनाभावी है (और वह शब्दनयका विषय भी है) तो भी द्रव्यमें शब्दनयका अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया है। अतः शब्द द्वारा और पर्याय द्वारा अर्थभेदको स्वीकार करनेवाले (शब्दभेदसे अर्थभेद और अर्थभेदसे शब्दभेदको स्वीकार करनेवाले) शब्द निक्षेपमें दो ही निक्षेप सम्भव हैं।

क पा. १/१,१३-१४/§ २१४/२६४/४ दव्वणिक्खेवो णत्थि, कुदो। लिंगादे (?) सद्दवाचियाणमेयत्ताभावे दव्वाभावादो। वंजणपज्जाए पडुच्च सुद्धे वि उजुसुदे अत्थि दव्वं, लिंगसंखाकालकारयपुरिसोवग्गहाणं पादेक्कमेयत्तब्भुवगमादो। =शब्द नयमें द्रव्यनिक्षेप भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें लिंगादिकी अपेक्षा शब्दोंके वाच्यभूत पदार्थोंमें एकत्व नहीं पाया जाता है। किन्तु व्यंजनपर्यायकी अपेक्षा शुद्धसूत्रनयमें भी द्रव्यनिक्षेप पाया जाता है, क्योंकि, ऋजुसूत्रनय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहमेंसे प्रत्येकका अभेद स्वीकार करता है। (अर्थात् ऋजुसूत्रमें द्रव्य निक्षेप बन जाता है परन्तु शब्द नयमें नहीं)।

४. स्थापना निक्षेप निर्देश

१. स्थापना निक्षेप सामान्यका लक्षण

स. सि /१/५/१७/४ काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयं इति स्थाप्यमाना स्थापना। =काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदिमें 'यह वह है' इस प्रकार स्थापित करनेको स्थापना कहते हैं। (रा. वा./१/५/२/२८/१८)।

रा. वा /१/५/२/२८/१८ सोऽयमित्यभिसबन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्र स्थापना। ='यह वही है' इस प्रकार अन्य वस्तुमें बुद्धिके द्वारा अन्यका आरोपण करना स्थापना है। (ध ४/१,५,१/३१४/१), (गो क./मू. ५३/५३), (त सा /१/११), (प. ध./पू /७४२)।

श्लो. वा./२/१/५/श्लो. ५४/२६३ वस्तुन कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना मता। =कर लिया गया है नाम निक्षेप या संज्ञाकरण जिसका ऐसी वस्तुकी उन वास्तविक धर्मोके अध्यारोपसे 'यह वही है' ऐसी प्रतिष्ठा करना स्थापनानिक्षेप माना गया है।

२. स्थापना निक्षेपके भेद

१. सद्भाव व असद्भाव स्थापना रूप दो भेद

श्लो वा. २/१/५/श्लो ५४/२६३ सद्भावेतरभेदेन द्विधा तत्त्वाधिरोपत। =वह सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापनाके भेदसे दो प्रकारका है। (ध. १/१,१,१/२०/१)।

न. च. वृ./२७३ सायार इयर ठवणा। =साकार व अनाकारके भेदसे स्थापना दो प्रकार है।

२. काष्ठ कर्म आदि रूप अनेक भेद

प. ख. १/४,१/सूत्र ५२/२४८ जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा पोत्तकम्मेसु वा लेप्पकम्मेसु वा लेणकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जति कदि त्ति सा सव्वा ठवण कदी णाम।५२। =जो वह स्थापनाकृति है वह काष्ठकर्मोंमें, अथवा चित्रकर्मोंमें, अथवा पोतकर्मोंमें, अथवा लेप्यकर्मोंमें, अथवा लयनकर्मोंमें, अथवा शैलकर्मोंमें, अथवा गृहकर्मोंमें, अथवा भित्तिकर्मोंमें, अथवा दन्तकर्मोंमें, अथवा भेंडकर्मोंमें, अथवा अक्ष या वराटक (कौडी व शतरंजका पासा), तथा इनको आदि लेकर अन्य भी जो 'कृति' इस प्रकार स्थापनामें स्थापित किये जाते हैं, वह सब स्थापना कृति कही जाती है।

नोट—(धवलामें सर्वत्र प्रत्येक विषयमें इसी प्रकार निक्षेप किये गये हैं।) (प ख. १३/५.३/सूत्र १०/९), (प. ख, १४/५,६/सू. ६/५)

३. सद्भाव असद्भाव स्थापनाके लक्षण

श्लो वा. २/१/५/५४/२६३/१७ तत्राध्यारोप्यमाणेन भावेन्द्रादिना समाना प्रतिमा सद्भावस्थापना मुख्यदर्शिन स्वयं तस्यास्तद्बुद्धिसंभवात्। कथञ्चित्‌सादृश्यसद्भावात्। मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति सप्रत्ययात्। =भाव निक्षेपके द्वारा कहे गये अर्थात् वास्तविक पर्यायसे परिणत इन्द्र आदिके समान बनी हुई काष्ठ आदिकी प्रतिमामें आरोपे हुए उन इन्द्रादिकी स्थापना करना सद्भावस्थापना है, क्योंकि, किसी अपेक्षासे इन्द्र-आदिका सादृश्य यहाँ विद्यमान है, तभी तो मुख्य पदार्थको जीवकी तिस प्रतिमाके अनुसार सादृश्यसे स्वय 'यह वही है' ऐसी बुद्धि हो जाती है। मुख्य आकारोंसे शून्य केवल वस्तुमें 'यह वही है' ऐसी स्थापना कर लेना असद्भाव स्थापना है, क्योंकि मुख्य पदार्थको देखनेवाले भी जीवको दूसरोंके उपदेशसे ही 'यह वही है' ऐसा समीचीन

ज्ञान होता है, परोपदेशके बिना नहीं। (ध. १/१,१,१/२०/१), (न च वृ./२७३)

४. सद्भाव असद्भाव स्थापनाके भेद

ध. १३/५,४,१२/४२/१ कट्ठकम्मप्पहुडि जाव भेंडकम्मे त्ति ताव एदेहि सब्भावट्ठवणा परूविदा। उवरिमेहि असब्भावट्ठवणा समुद्दिट्ठा। =(स्थापनाके उपरोक्त काष्ठकर्म आदि भेदोंमेंसे) काष्ठकर्मसे लेकर भेंडकर्म तक जितने कर्म निर्दिष्ट है उनके द्वारा सद्भाव स्थापना कही गयी है, और आगे जितने अक्ष वराटक आदि कहे गए है, उनके द्वारा असद्भावस्थापना निर्दिष्ट की गयी है। (ध ६/४,१,५२/२५०/३)

ध.६/४,१,५२/२५०/३ एदे सब्भावट्ठवणा। एदे देसामासया दस परूविदा। संपहि असब्भावट्ठवणाविसयस्सुवलक्खणट्ठं भणदि— जे च अण्णे एवमादिया त्ति वयणं दोण्ण अवहारणपडिसेहणफलं। तेण तंभतुला-हल-मूसलमम्मादीण गहण। =ये (काष्ठ कर्म आदि) सद्भाव स्थापनाके उदाहरण हैं। ये दस भेद देशामर्षक कहे गये है, अर्थात इनके अतिरिक्त भी अनेको हो सकते है। अब असद्भावस्थापनासम्बन्धी विषयके उपलक्षणार्थ कहते है—इस प्रकार 'इन (अक्ष व वराटक) को आदि लेकर और भी जो अन्य है' इस वचनका प्रयोजन दोनो भेदो-के अवधारणका निषेध करना है, अर्थात् 'दो ही है' ऐसे ग्रहणका निषेध करना है। इसलिए स्तम्भकम, तुलाकर्म, हलकर्म, मूसलकर्म आदिकोका भी ग्रहण हो जाता है।

५. काष्ठकर्म आदि भेदोंके लक्षण

ध ६/४,१,५२/२४९/३ देव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्साण णच्चण-हसण-गायण-तूर-वीणादिवायणकिरियावावदाण कट्ठघडिदपाडमाआ कट्ठकम्मं त्ति भण त्ति। पड-कुड्ड-फलहियादीसु णच्चणादिकिरिया-वावददेव-णेरइय-तिरिक्खमणुस्साण पडिमाओ चित्तकम्म, चित्रेण क्रियन्त इति व्युत्पत्ते। पोत्त वस्त्रम्, तेण कदाओ पडिमाओ पोत्त-कम्म। कड-सक्खर-मट्टियादीणं लेवो लेप्प, तेण घडिदपडिमाओ लेप्पकम्म। लेण पव्वओ, तम्हि घडिदपडिमाओ लेणकम्म। सेलो पत्थरो, तम्हि घडिदपडिमाओ सेलकम्म। गिहाणि जिणवरादीणि, तेसु कदपडिमाओ गिहकम्म, हय-हत्थि-णर-वराहादिसरूवेण घडिद-घराणि गिहकम्ममिदि वुत्तं होदि। घरकुड्डेसु तदो अभेदेण चिद-पडिमाओ भित्तिकम्म। हत्थिदंतेसु किण्णपडिमाओ दंतकम्म। भेंडो सुप्पसिद्धो, तेण घडिदपडिमाओ भेंडकम्मं। अक्खे त्ति वत्ते जूवक्खो सयडक्खो वा घेत्तव्वो। वराडओ त्ति वुत्ते कवड्डिया घेत्तव्वा। =नाचना, हँसना, गाना तथा तुरई एवं वीणा आदि वाद्योंके बजानेरूप क्रियाओमे प्रवृत्त हुए देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्योंकी काष्ठसे निर्मित प्रतिमाओंको काष्ठकर्म कहते है। पट, कुड्य (भित्ति) एवं फलहिका (काष्ठ आदिका तख्ता) आदि-में नाचने आदि क्रियामें प्रवृत्त देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्योकी प्रतिमाओंको चित्रकर्म कहते है, क्योकि, चित्रसे जो किये जाते है वे चित्रकर्म है' ऐसी व्युत्पत्ति है। पोत्तका अर्थ वस्त्र है, उससे की गयी प्रतिमाओंका नाम पोत्तकर्म है। कूट (तृण), शर्करा (बालू) व मृत्तिका आदिके लेपका नाम लेप्य है। उससे निर्मित प्रतिमायें लेप्यकर्म कही जाती है। लयनका अर्थ पर्वत है, उसमें निर्मित प्रतिमाओंका नाम लयनकर्म है। शैलका अर्थ पत्थर है, उसमे निर्मित प्रतिमाओंका नाम शलकर्म है। गृहोसे अभिप्राय जिनगृह आदिकोसे है, उनमें की गयी प्रतिमाओंका नाम गृहकर्म है। घोडा, हाथी, मनुष्य एवं वराह (शूकर) आदिके स्वरूपसे निर्मित घर गृहकर्म कहलाते है, यह अभिप्राय है। घरकी दीवालोंमे उनसे अभिन्न रची गयी प्रतिमाओंका नाम भित्तिकर्म है। हाथी दाँतोपर खोदी हुई प्रतिमाओंका नाम भेंडकर्म है। अक्ष ऐसा कहनेपर द्यूताक्ष अथवा शकटाक्षका ग्रहण करना चाहिए (अर्थात् हार जीतके अभिप्रायमे ग्रहण किये गये जूआ खेलनेके अथवा शतरंज व चौसर आदिके पासे अक्ष है) वराटक ऐसा कहनेपर कपर्दिका (कौडियो) का ग्रहण करना चाहिए। (ध. १३/५,३,१०/६/८), (ध. १४/५,६,६/५/१०)

६. नाम व स्थापनामें अन्तर

रा. वा./१/५/१३/२९/२५ नामस्थापनयोरेकत्व संज्ञाकर्माविशेषादिति चेद्; न, आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्वात् स्थापनायाम्। ...यथा अर्हदिन्द्र-स्कन्देश्वरादिप्रतिमासु आदरानुग्रहाकाङ्क्षित्व जनस्य, न तथा परि-भाषते वर्तते। ततोऽन्यत्वमनयो.।

रा. वा./१/५/२३/३०/३१ यथा ब्राह्मण स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्य-जात्यात्मकत्वात्। मनुष्यस्तु ब्राह्मण स्यान्न वा, मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्। तथा स्थापना स्यान्नाम, अकृतनाम्न स्थापनानुपपत्ते.। नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्। =१. यद्यपि नाम और स्थापना दोनो निक्षेपोमें सज्ञा रखी जाती है, बिना नाम रखे स्थापना हो ही नहीं सकती, तो भी स्थापित अर्हन्त, इन्द्र, स्कन्द और ईश्वर आदिकी प्रतिमाओंमें मनुष्यको जिस प्रकारकी पूजा, आदर और अनुग्रहकी अभिलाषा होती है, उस प्रकार केवल नाममें नहीं होती, अत इन दोनोंमें अन्तर है। (ध. ५/१,७,१/गा. १/१८६), (श्लो. वा. २/१/५/श्लो, ५५/२६४) २. जैसे ब्राह्मण मनुष्य अवश्य होता है; क्योकि, ब्राह्मणमें मनुष्य जातिरूप सामान्य अवश्य पाया जाता है; पर मनुष्य ब्राह्मण हो न भी हो, क्योकि मनुष्यके ब्राह्मण जाति आदि पर्यायात्मकपना नहीं देखा जाता। इसी प्रकार स्थापना तो नाम अवश्य होगी, क्योकि बिना नामकरणके स्थापना नहीं होती, परन्तु जिसका नाम रखा है उसकी स्थापना हो भी न भी हो, क्योकि नामवाले पदार्थोंमें स्थापनायुक्त-पना व स्थापनारहितपना दोनो देखे जाते है।

ध ५/१,७,१/गा. २/१८६ णामिणि धम्मुवयारो णामं ट्ठवणा य जस्स तं थविद। तद्धम्मे ण वि जादो सुणाम ठवणाणमविसेस। =नाममें धर्मका उपचार करना नामनिक्षेप है, और जहाँ उस धर्मकी स्थापना की जाती है, वह स्थापना निक्षेप है। इस प्रकार धर्मके विषयमे भी नाम और स्थापनाकी अविशेषता अर्थात् एकता सिद्ध नहीं होती।

७. सद्भाव व असद्भाव स्थापनामें अन्तर

दे. निक्षेप/४/३ (सद्भाव स्थापनामें बिना किसीके उपदेशके 'यह वही है' ऐसी बुद्धि हो जाती है, पर असद्भाव स्थापनामें बिना अन्यके उपदेशके ऐसी बुद्धि होनी सम्भव नहीं।)

ध. १३/५,४,१२/४२/२ सब्भावासब्भावट्ठवणाण को विसेसो। बुद्धीए ठविज्जमाणं वण्णाकारादीहि जमणुहरड दव्वं तस्स सब्भावसण्णा। दव्व-खेत्त-वेयणावेयणादिभेदेहि भिण्णाण पडिणिभि-पडिणिभेयाण कध सरिसत्तमिदि चेण, पाएण सरित्तुवलभादो। जमसरिस दव्वं तमसब्भावट्ठवणा। सव्वदव्वाणं सत्त-पमेयत्तादीहि सरिसत्तमुवल-ब्भदि त्ति चे—होदु णाम एदेहि सरिसत्त, किंतु अप्पिदेहि वण्ण-कर-चरणादीहि सरिसत्ताभाव पेक्खिय असरिसत्तं उच्चदे। =प्रश्न—सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापनामें क्या भेद है? उत्तर—बुद्धि-द्वारा स्थापित किया जानेवाला जो पदार्थ वर्ण और आकार आदिके द्वारा अन्य पदार्थका अनुकरण करता है उसकी सद्भावस्थापना सज्ञा है। प्रश्न—द्रव्य, क्षेत्र, वेदना, और अवेदना आदिके भेदसे भेदको प्राप्त हुए प्रतिनिभ और प्रतिनिभेय अर्थात सदृश और सादृश्यके मूलभूत पदार्थोंमें सदृशता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्राय' कुछ बातोंमें इनमें सदृशता देखी जाती है। जो

असदृश द्रव्य है वह असद्भावस्थापना है। प्रश्न—सन द्रव्योंमें सत्त्व और प्रमेयत्व आदिके द्वारा समानता पायी जाती है? उत्तर—द्रव्योंमें इन धर्मोंकी अपेक्षा समानता भले ही रहे, किन्तु विवक्षित वर्ण हाथ और पैर आदिकी अपेक्षा समानता न देखकर असमानता कही जाती है।

ध. १३/५,३,१०/१०/१२ कथमत्र स्पृश्यस्पर्शकभाव। ण, बुद्धीए एयत्तमावण्णेसु तदविरोहादो सत्त-पमेयत्तादीहि सव्वस्स सव्वविसयफोसणुवलभादो वा।=प्रश्न—यहाँ (असद्भाव स्थापनामें) स्पर्श्य-स्पर्शक भाव कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बुद्धिसे एकत्वको प्राप्त हुए उनमें स्पर्श्य-स्पर्शक भावके होनेमें कोई विरोध नहीं आता। अथवा सत्त्व और प्रमेयत्व आदिकी अपेक्षा सबका सर्वविषयक स्पर्शन पाया जाता है।

५. द्रव्य निक्षेपके भेद व लक्षण

१. द्रव्य निक्षेप सामान्यका लक्षण

रा वा. १/५/३-४/२८/२१ यद् भाविपरिणामप्राप्तिं प्रति योग्यतामादधान तद् द्रव्यमित्युच्यते। अथवा अतद्भाव वा द्रव्यमित्युच्यते। यथेन्द्रमानीतं काष्ठमिन्द्रप्रतिमापर्यायप्राप्तिं प्रत्यभिमुखम् इन्द्र इत्युच्यते। =आगामी पर्यायकी योग्यतावाले उस पदार्थको द्रव्य कहते हैं, जो उस समय उस पर्यायके अभिमुख हो, अथवा अतद्भावको द्रव्य कहते हैं। जैसे—इन्द्रप्रतिमाके लिए लाये गये काष्ठको भी इन्द्र कहना। (क्योंकि, जो अपने गुणों व पर्यायोंको प्राप्त होता है, हुआ था और होगा उसको द्रव्य कहते हैं दे० द्रव्य/१/१) (श्लो वा २/१/५/श्लो ६०/२६६); (ध.१/१,१,१/२०/६), (त सा./१/१२)।

प. ध./पू./७४३ ऋजुसूत्रनिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः। छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम्। =ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा न करके और भाविनैगमादिक नयोंकी अपेक्षासे जो कहा जाता है, वह द्रव्य निक्षेप है। जैसे कि छद्मस्थ अवस्थामें वर्तमान जिन भगवान्‌के जीवको जिन कहना।

नय/I/५/३ जैसे—आगे सेठ बननेवाले बालकको अभीसे सेठ कहना अथवा जो राजा दीक्षित होकर श्रमण अवस्थामें विद्यमान है उसे भी राजा कहना)।

२. द्रव्य निक्षेपके भेद-प्रभेद

१ द्रव्य निक्षेपके दो भेद है—आगम व नोआगम (प खं ६/४,१/सू. ५३/२५०), (ष ख १४/५,६/सूत्र ११/७), (स.सि /१/५/१८/१), (रा वा /१/५/५/२९/३), (श्लो.वा.२/१/५/श्लो. ६०/२६६), (ध. १/१,१,१/२०/७), (ध. ३/१,२,२/१२/३), (ध ४/१,३,१/५/१), (गो क./मू /५४/५३), (न. च.वृ /२७४)।

२. नो आगम द्रव्यनिक्षेप तीन प्रकारका है—ज्ञायक शरीर, भावी व तद्व्यतिरिक्त। (प ख ६/४,१/सूत्र ६१/२६७), (स सि /१/५/१८/३), (रा वा./१/५/७/२९/८), (श्लो.वा. २/१/५/श्लो ६२/२६७), (ध १/१,१,१/२१/२), (ध ३/१,२,२/१३/२), (ध ४/१,३,१/६/१), (गो. क. मू. ५५/५४), (न.च. वृ /२७५)।

३. ज्ञायक शरीर तीन प्रकारका है—भूत, वर्तमान, व भावी।—(श्लो. वा २/१/५/श्लो ६२/२६९), (ध १/१,१,१/२१/३), (ध. ४/१,३,१/-६/२), (गो.क /मू /५५/५४)।

४. भूत ज्ञायक शरीर तीन प्रकारका है—च्युत, च्यावित व त्यक्त।—(ष. ख. ६/४,१/ मू ६३/२६९), (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६२/२६७), (ध १/१,१,१/२२/३), (ध ४/१/३,१/६/3), (गो.क /मू /५६/५४)।

५. त्यक्त ज्ञायकशरीर तीन प्रकारका है—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी व प्रायोपगमन। —(ध १/१,१,१/२३/३), (गो क /मू /५८/५६)।

६ तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्यनिक्षेप दो प्रकार है—कर्म व नोकर्म।—(स. सि./१/५/१८/७); (रा वा./१/५/७/२९/११); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो ६३/२६८), (ध.१/१,१,१/२६/४), (ध ३/१,२,२/१५/१); (ध. ४/१,३ १/६/६); (गो.क /मू /६३/६४)।

७. नोकर्म तद्व्यतिरिक्त दो प्रकारका है—लौकिक व लोकोत्तर।—(ध. १/१,१,१/२६/६), (ध. ४/१,३,१/७/१)।

८. लौकिक व लोकोत्तर दोनों ही तद्व्यतिरिक्त तीन तीन प्रकारके है—सचित्त, अचित्त व मिश्र।—(ध १/१,१,१/२७/१ व्र. २८/१), (ध ५/१,७,१/१८४/७)।

९. आगम द्रव्य निक्षेपके ९ भेद हैं—स्थित, जित, परिचित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रथसम, नामसम और घोषसम।—(प ख. ९/४,१ सू. ५४/२५१), (ष. खं १४/५,६/सू. २५/२७)।

१०. ज्ञायक शरीरके भी उपरोक्त प्रकार स्थित जित आदि ९ भेद हैं—(ष ख. ९/४,१/सू. ६२/२६८)।

११ तद्व्यतिरिक्त नो आगमके अनेक भेद हैं—१. ग्रन्थिम, २. वाइम, ३ वेदिम, ४. पूरिम, ५. संघातिम, ६. अहोदिम, ७ णिक्खेदिम, ८. ओव्वेलिम, ९. उद्वेलिम, १० वर्ण, ११. चूर्ण, १२ गन्ध, १३ विलेपन, इत्यादि। (ष. ख ९/४,१/सू. ६५/२७२)।

नोट—(इन सब भेद प्रभेदोंकी तालिक, दे० निक्षेप/१/२)।

३. आगम द्रव्य निक्षेपका लक्षण

स सि /१/५/१८/२ जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीव। =जो जीवविषयक या मनुष्य जीव विषयक शास्त्रको जानता है, किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित है वह आगम द्रव्यजीव है। (इसी प्रकार अन्य भी जिस जिस विषय सम्बन्धी शास्त्रको जानता हुआ उसके उपयोगसे रहित रहनेवाला आत्मा उस उस नामवाला ही आगम द्रव्य है। जैसे मंगल विषयक शास्त्रको जाननेवाला आत्मा आगम द्रव्य मंगल है।) (रा वा /१/५/५/२९/३), (श्लो. वा २/१/५/श्लो. ६१/२६७), (ध.३/१,२, २/१२/११), (ध. ४/१,३,१/५/२), (ध. १/१,१,१/८३/३); (गो.क /-मू /५४/५३), (न. च. वृ./२७४)।

ध. १/१,१ १/२१/१ तत्थ आगमदो दव्वमंगलं णाम मंगलपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो, मंगल-पाहुड-सद्द-रयणा वा, तस्सत्थ-ट्ठवणक्खर-रयणा वा। =मंगल प्राभृत अर्थात् मंगल विषयका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाला, किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगम द्रव्यमंगल कहते है। अथवा मंगलविषयके प्रतिपादक शास्त्रकी शब्द रचनाको आगम द्रव्यमंगल कहते हैं। अथवा मंगलविषयके प्रतिपादक शास्त्रकी स्थापनारूप अक्षरोंकी रचनाको भी आगम द्रव्य मंगल कहते हैं। (ध ५/१,६,१/२/३)।

४. नोआगम द्रव्यनिक्षेपका लक्षण

(पूर्वोक्त आगमद्रव्यकी आत्माका आरोप उसके शरीरमें करके उस जीवके शरीरको ही नोआगम द्रव्य जीव या नोआगम द्रव्य मंगल आदि कह दिया जाता है। और वह शरीर ही तीन प्रकारका है भूत, भावि व वर्तमान। अथवा उसके शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य जो कर्म या नोकर्म रूप पदार्थ हैं उनको भी नोआगम द्रव्य कह दिया जाता है। इसीका नाम तद्व्यतिरिक्त है। इनके पृथक्-पृथक् लक्षण आगे दिये जाते है।)

५ ज्ञायक शरीर सामान्य व विशेषके लक्षण

१. ज्ञायक शरीर सामान्य

स.सि./१/५/१८/४ तत्र ज्ञातुर्यच्छरीरं त्रिकालगोचरं तज्ज्ञायकशरीरम्। =ज्ञाताका जो त्रिकाल गोचर शरीर है वह ज्ञायकशरीर नोआगम

द्रव्य जीव है। (रा. वा/१/५/७/२६/६), (श्लो. वा/२/१/५/श्लो.६२/२६७). (ध १/१.१.१/२१/३), (गो.क./मू./५५/५४)।

२. च्युत च्यावित व त्यक्त अतीत ज्ञायक शरीर

ध.१/१.१.१/२२/३ तत्थ चुदं णाम कयलीघादेण विणा पक्कं पि फलं व कम्मोदएण उझीयमाणायुक्खयपदिद । चइदं णाम कयलीघादेण छिण्णायुक्खयपदिसरीरं। चत्तसरीर तिविहं, पाओगमण-विहाणेण, इंगिणीविहाणेण, भत्तपच्चक्खाणविहाणेण चत्तमिदि। =कदली-घात मरणके विना कर्मके उदयसे झडनेवाले आयुकर्मके क्षयसे, पके हुए फलके समान, अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते है। कदलीघातके द्वारा आयुके छिन्न हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावित शरीर कहते है। (कदलीघातका लक्षण दे० मरण/६)। त्यक्त शरीर तीन प्रकारका है—प्रायोपगमन विधानसे छोडा गया, इंगिनी विधानसे छोडा गया और भक्त प्रत्याख्यान विधानसे छोडा गया। (इन तीनोका स्वरूप दे० सल्लेखना/३), (गो. क/मू/५६, ५८/५४)।

ध. १/१.१.१/२५/६ कयलीघादेण मरणकंखाए जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा पदिदं सरीरं चइद। जीवियासाए मरणासाए जीवियमरणासाहि विणा वा कयलीघादेण अचत्तभावेण पदिदं सरीरं चुदं णाम। जीविदमरणासाहि विणा सरूवोवलद्धि णिमित्तं व चत्तबज्झतरङ्गपरिग्गहस्स क्यलीघादेणियरेण वा पदिदसरीरं चत्तदेहमिदि। =मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोकी आशाके विना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यावित कहते है। जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोकी आशाके विना ही कदलीघात व समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते है। आत्म स्वरूपकी प्राप्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अन्तरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है, ऐसे साधुके जीवन और मरणकी आशाके विना ही, कदलीघातसे अथवा इतर कारणोसे छूटे हुए शरीरको त्यक्त शरीर कहते है।

३. भूत वर्तमान व भावी ज्ञायक शरीर

(वर्तमान प्राभृतका ज्ञातापर अनुपयुक्त आत्माका वर्तमानवाला शरीर, उस ही आत्माका भूतकालीन च्युत, च्यावित या त्यक्त शरीर, तथा उस ही आत्माका आगामी भवमें होनेवाला शरीर, क्रमसे वर्त-मान, भूत व भावी ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्य जीव या मगल आदि कहे जाते है।)

६. भावि नोआगमका लक्षण

स. सि./१/५/१८/५ सामान्यापेक्षया नोआगम-भाविजीवो नास्ति, जीवनसामान्यसदापि विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया त्वस्ति। गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्तिं प्रत्यभिमुखो मनुष्यभावि-जीव। =जीव सामान्यकी अपेक्षा 'नोआगम भावी जीव' यह भेद नहीं बनता है; क्योंकि जीवमें जीवत्व सदा पाया जाता है। हाँ, पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा 'नोआगम भावी जीव' यह भेद बन जाता है, क्योकि जो जीव अभी दूसरी गतिमें विद्यमान है, वह (अज्ञायक जीव) जब मनुष्य भवको प्राप्त करनेके प्रति अभिमुख होता है, तब वह मनुष्य भावी जीव कहलाता है।

रा वा/१/५/७/२६/६ जीवन-सम्यग्दर्शनपरिणामप्राप्तिं प्रत्यभिमुख द्रव्यं भावीत्युच्यते। =जीवन या सम्यग्दर्शन आदि पर्यायोकी प्राप्तिके अभिमुख अज्ञायक जीवको जीवन या सम्यग्दर्शन आदि कहना भावी नोआगम द्रव्य जीव या भावी नोआगम सम्यग्-दर्शन है।

श्लो.वा/२/१/५/श्लो.६३/२६८ भाविनोआगमद्रव्यमेष्यत् पर्यायमेव तत्। =जो आत्मा भविष्यत्में आनेवाली पर्यायोके अभिमुख है, उन पर्यायोमे आक्रान्त हो रहा वह आत्मा भावीनोआगम द्रव्य है।

ध १/१.१.१/२६/३ भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मंगलप्राभृतज्ञायको जीव मंगलपर्यायं परिणंस्यतीति वा। =जो जीव भविष्यकालमें मंगल शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मगल पर्यायमे परिणत होगा उसे भव्य नोआगम द्रव्यमगल कहते है। (ध.४/१.३.१/६/६), (गो क /मू /६२/५८)।

७. तद्व्यतिरिक्त सामान्य व विशेषके लक्षण

१. तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य सामान्य

स. सि /१/५/१८/७ तद्व्यतिरिक्त कर्मनोकर्मविकल्प। =तद्व्यतिरिक्तके दो भेद है—कर्म व नोकर्म। (रा वा/१/५/७/२६/११), (श्लो. वा/२/१/५/श्लो ६३/२६८)।

ध.१/१.१.१/८३/५ तव्वदिरित्त जीवट्ठाणाहार-भूदागास-दव्वं। =जीव-स्थानोके अथवा जीवस्थान विषयक शास्त्रके आधारभूत आकाश-द्रव्यको तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य जीवस्थान कहते है। (अथवा उस-उस पर्यायके या शास्त्रज्ञानसे परिणत जीवके निमित्तभूत कर्म वर्गणाओ या अन्य बाह्य द्रव्योको उस-उस नामसे कहना तद्व्यति-रिक्त नोआगम द्रव्यनिक्षेप है।

२. कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य

श्लो वा/२/१/५/श्लो ६४/२६८ ज्ञानावृत्त्यादिभेदेन कर्मानेकविधंमतम्। =ज्ञानावरण आदि भेदसे कर्म अनेक प्रकार माने गये हैं। (ध.४/१, ३,१/६/१०)।

ध.१/१ १.१/२६/४ तत्र कर्ममगलं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशधाप्रविभक्त-तीर्थंकर-नामकर्म - कारणैर्जीव - प्रदेश - निबद्ध - तीर्थंकरनामकर्म-माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम्। =दर्शन विशुद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थंकर-नामकर्मके कारणोसे जीवप्रदेशोंके साथ बँधे हुए तीर्थंकर नामकर्मको, कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य मंगल कहते है; क्योंकि वह भी मंगलपनेका सहकारी कारण है।

गो क /मू /६३/५८ कम्मसरूवेणागयकम्मं दव्वं हवे णियमा। =ज्ञाना-वरणादि प्रकृतिरूपसे परिणमे पुद्गलद्रव्य कर्म तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्य कर्म जानना। (यहाँ 'कर्म'का प्रकरण होनेसे कर्मपर लागू करके दिखाया है।

३ नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य सामान्य

श्लो वा/२/१/५/श्लो ६४-६५ नोकर्म च शरीरत्वपरिणामनिरुत्सुकम्।६४। पुद्गलद्रव्यमाहारप्रभृत्युपचयात्मकम्।६५। =वर्तमानमें शरीरपना-रूप परिणतिके लिए उत्साहरहित जो आहारवर्गणा, भाषावर्गणा आदि रूप एकत्रित हुआ पुद्गलद्रव्य है वह नोकर्म समझ लेना चाहिए।

ध. ३/१.२.२/१५/३ आगममधिगम्य विस्मृत व्वान्तर्भवतीति चेत्तद्-व्यतिरिक्तद्रव्यानन्ते। =प्रश्न—जो आगमका अध्ययन करके भूल गया है उसका द्रव्यनिक्षेपके किस भेदमें अन्तर्भाव होता है? उत्तर—ऐसे जीवका नोकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्यानन्तमें अन्तर्भाव होता है (यहाँ 'अनन्त'का प्रकरण है)।

गो क /मू /६४ ६७/५६.६१ कम्मद्दव्वादण्णं णोकम्मदव्वमिदि होदि।६४। पडपडिहारसिमज्जा आहारं देह उच्चणीचङ्गम्। भंडारी मूलाणं णोकम्मं दवियकम्मं तु।६६। =कर्मस्वरूपसे अन्य जो कार्य होते है उनके बाह्यकारणभूत वस्तुको नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य-कर्म जानना (यहाँ 'कर्म'का प्रकरण है।६४। जैसे—ज्ञानावरणका नोकर्म वस्तुके सपीठ वस्त्र है, दर्शनावरणका नोकर्म द्वारनियें तिष्ठता द्वार-पाल है। वेदनीयका नोकर्म मधुलिप्त खड्ग है। मोहनीयका नो-

कर्म, मदिरा, आयुका नोकर्म चार प्रकार आहार, नामकर्मका नोकर्म औदारिकादि शरीर और गोत्रकर्मका नोकर्म ऊँचा-नीचा शरीर है।

४. लौकिक व लोकोत्तर सामान्य नोकर्म तद्व्यतिरिक्त

ध. ४/१,३,१/७/१ णोकम्मदव्वखेत्तं तं दुविहं, ओवयारिय परमत्थियं चेदि। तत्थ ओवयारियं णोकम्मदव्वखेत्तं लोगपसिद्धं सालिखेत्त वीहिखेत्तमेवमादि। पारमत्थिय णोकम्मदव्वखेत्तं आगासदव्वं। =नोकर्म द्रव्यक्षेत्र (यहाँ क्षेत्रका प्रकरण है) औपचारिक और पारमार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें-से लोकमें प्रसिद्ध शालिक्षेत्र, व्रीहिक्षेत्र, इत्यादि औपचारिक नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यक्षेत्र कहलाता है। आकाश द्रव्य पारमार्थिक नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यक्षेत्र है।

नोट—(अन्य भी देखो वह-वह विषय)।

५ सचित्त अचित्त मिश्र सामान्य नोकर्म तद्व्यतिरिक्त

ध. ५/१,७,१/१८४/७ तव्वदिरित्तणोआगमदव्वभावो तिविहो सचित्ताचित्तमिस्सभेएण। तत्थ सचित्तो जीवदव्वं। अचित्तो पोग्गल-धम्माधम्म-कालागासदव्वाणि। पोग्गलजीवदव्वाणं संजोगो कधंचिज्जच्चंतरत्तमावण्णो णोआगममिस्सदव्वभावो णाम। =तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यभावनिक्षेप (यहाँ भावका प्रकरण है) सचित्त अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमें जीव द्रव्य सचित्त भाव है, पुद्गल धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय काल और आकाशद्रव्य अचित्त-भाव है। कथंचित् जात्यंतर भावको प्राप्त पुद्गल और जीव द्रव्योंका संयोग अर्थात् शरीरधारी जीव नोआगम मिश्रद्रव्य भावनिक्षेप है। (ध ५/१,६,१/३/१—यहाँ 'अन्तर' के प्रकरणमें तीनों भेद दर्शाये हैं। नोट—(अन्य भी देखो वह वह विषय)।

६. लौकिक व लोकोत्तर सचितादि नोकर्म तद्व्यतिरिक्त

ध. १/१,१,१/२७/१ तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति। तत्राचित्तमङ्गलम्—'सिद्धत्थ-पुण्ण-कुंभो वंदणमाला य मङ्गलं छत्तं। सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो।१३। सचित्तमङ्गलम्। मिश्रमङ्गलं सालंकारकन्यादि'। लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति। सचित्तमर्हदादीनामनाद्यनिधन-जीवद्रव्यम्। न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायविशिष्टार्हदादीनाम् जीवद्रव्यस्यैव ग्रहणं तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव-इति भावनिक्षेपान्तर्भावात्। न केवलज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणं तेषामपि भावरूपत्वात्। अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयादि, तत्स्थप्रतिमास्तु सस्थापनान्तर्भावात्। अकृत्रिमाणां कथं स्थापना-व्यपदेशः। इति चेन्न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापयितमुख्योप-लम्भात्। यथा अग्निरिव माणवकोऽग्निः तथा स्थापनेव स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा। तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम्। =लौकिक मंगल (यहाँ मंगलका प्रकरण है) सचित्त-अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। इनमें सिद्धार्थ अर्थात् श्वेत सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेतवर्ण और दर्पण आदि अचित्त मंगल है। और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल है।१३। अलंकार सहित कन्या आदि मिश्रमंगल समझना चाहिए। (दे० मंगल/१/४)। लोकोत्तर मंगल भी सचित्त अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। अर्हंतादिका अनादि अनिधन जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नोआगम तद्व्यतिरिक्तद्रव्य मंगल है। यहाँ पर केवलज्ञानादि मंगलपर्याययुक्त अर्हंत आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु उनके सामान्य जीव द्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वर्तमानपर्याय सहित द्रव्यका भाव निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है। उसी प्रकार केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इसमें ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वे सब पर्यायें भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भाव निक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा। कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नोआगम तद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगल है। उनमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है। प्रश्न—अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे सम्भव है? उत्तर—इस प्रकारकी शंका उचित नहीं है; क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें भी बुद्धिके द्वारा प्रतिनिधित्व मान लेनेपर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं' इस प्रकारके मुख्य व्यवहारकी उपलब्धि होती है। अथवा अग्नि तुल्य तेजस्वी बालकको भी जिस प्रकार अग्नि कहा जाता है उसी प्रकार अकृत्रिम प्रतिमाओंमें की गयी स्थापनाके समान यह भी स्थापना है। इसलिए अकृत्रिम जिन प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है। उन दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त मंगलको मिश्रमंगल कहते हैं (जैसे—साधु संघ सहित चैत्यालय)।

८. स्थित जित आदि भेदोंके लक्षण

ध ९/४,१,५४/२५१/१० अवधृतमात्रं स्थितम्. जो पुरिसो भावागमम्मि वुड्ढओ गिलाणो व्व सणि सणि संचरदि सो तारिससंसकारजुत्तो पुरिसो तब्भावागमो च स्थित्वा वृत्तेः ट्ठिदं णाम। नैसंग्यवृत्तिर्जितम्, जेण संसकारेण पुरिसो भावागमम्मि अक्खलिओ संचरइ तेण संजुत्तो पुरिसो तब्भावागमो च जिदमिदि भण्णदे। यत्र यत्र प्रश्नः क्रियते तत्र तत्र आशुतमवृत्तिः परिचितम्. क्रमेणोत्क्रमेणानुभयेन च भावागमाम्भोधौ मत्स्यवच्चटुलतमवृत्तिर्जीवो भावागमश्च परिचितम्। शिष्याध्यापनं वाचना। सा चतुर्विधा नंदा भद्रा जया सौम्या चेति। ·· एतासां वाचनानामुपगतं वाचनोपगतं परप्रत्यायनसमर्थम् इति यावत्।

ध ९/४,१,५४/२६१/७ तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदं सुत्तं। तेण सुत्तेण समं वट्टदि उप्पज्जदि त्ति गणहरदेवम्मिट्ठिदसुदणाणं सुत्तसमं। अर्यते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वादशाङ्गविषयः, तेण अत्थेण समं सह वट्टदि त्ति अत्थसमं। दव्वसुदाइरिए अणवेक्खिय संजमजणिदसुदणाणावरणक्खओवसमसमुप्पण्णबारहंगसुदं सयंबुद्धाधारमत्थसममिदि वुत्तं होदि। गणहरदेवविरइददव्वसुदं गंथो, तेण सह वट्टदि उप्पज्जदि त्ति बोहियबुद्धाइरिएसु ट्ठिदबारहंगसुदणाणं गंथसमं। नाना मिनोतीति नाम। अणेगेहि, पयारेहि अत्थपरिच्छित्ति णामभेदेण कुणदि त्ति एगादिअक्खराणं बारसंगाणिओगाणं मज्झट्ठिददव्वसुदणाणवियप्पा णाममिदि वुत्तं होदि। तेण नामेण दव्वसुदेण समं सट्टवट्टदि उप्पज्जदि त्ति सेसाइरिएसु ट्ठिदसुदणाणं णामसमं। · सुई मुद्दा · पचैते·· अणिओगस्स घोससण्णो णामेगदेसेण अणिओगो वुच्चदे। सच्चभामापदेण अवगम्ममाणत्थस्स तदेगदेसभामासद्दादो वि अवगमादो। घोसेण दव्वाणिओगद्दारेण समं सह वट्टदि उप्पज्जदि त्ति घोससमं णाम अणियोगसुदणाणं।

१ अवधारण किये हुए मात्रका नाम स्थितआगम है। अर्थात् जो पुरुष भावआगममें वृद्ध व व्याधिपीडित मनुष्यके समान धीरे-धीरे संचार करता है वह उस प्रकारके संस्कारसे युक्त पुरुष और वह भावागम भी स्थित होकर प्रवृत्ति करनेसे अर्थात् रुक-रुककर चलनेसे स्थित कहलाता है। २. नैसर्ग्यवृत्तिका नाम जित है। अर्थात् जिस संस्कारसे पुरुष भावागममें अस्खलितरूपसे संचार करता है, उससे युक्त पुरुष और भावागम भी 'जित' इस प्रकारका कहा जाता है। ३ जिस जिस विषयमें प्रश्न किया जाता है, उस-उसमें शीघ्रतापूर्ण प्रवृत्तिका नाम परिचित है। अर्थात् क्रमसे, अक्रमसे और अनुभयरूपसे भावागमरूपी समुद्रमें मछलीके समान अत्यन्त

चंचलतापूर्ण प्रवृत्ति करनेवाला जीव और वह भावागम भी परिचित कहा जाता है। ४. शिष्योंको पढ़ानेका नाम वाचना है। वह चार प्रकार है—नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या। (विशेष दे० वाचना)। इन चार प्रकारकी वाचनाओंको प्राप्त वाचनोपगत कहलाता है। अर्थात् जो दूसरोंको ज्ञान करानेमें समर्थ है वह वाचनोपगत है। ५. तीर्थंकरके मुखसे निकला बीजपद सूत्र कहलाता है। (विशेष देखो आगम ७) उस सूत्रके साथ चूँकि रहता अर्थात् उत्पन्न होता है, अत गणधरदेवमें स्थित श्रुतज्ञान सूत्रसम कहा गया है। ६. जो 'अर्यते' अर्थात् जाना जाता है वह द्वादशागका विषयभूत अर्थ है, उस अर्थके साथ रहनेके कारण अर्थसम कहलाता है। द्रव्यश्रुत आचार्योंकी अपेक्षा न करके सयमसे उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जन्य स्वयबुद्धोंमें रहनेवाला द्वादशागश्रुत अर्थसम है यह अभिप्राय है। ७. गणधरदेवसे रचा गया द्रव्यश्रुत ग्रन्थ कहा जाता है। उसके साथ रहने अर्थात् उत्पन्न होनेके कारण बोधितबुद्ध आचार्योंमें स्थित द्वादशांग श्रुतज्ञान ग्रन्थसम कहलाता है। ८. 'नाना मिनोति' अर्थात् नानारूपसे जो जानता है उसे नाम कहते है। अर्थात् अनेक प्रकारोंसे अर्थज्ञानको नामभेद द्वारा भेद करनेके कारण एक आदि अक्षरो स्वरूप बारह अगोके अनुयोगोके मध्यमे स्थित द्रव्यश्रुत ज्ञानके भेद नाम है, यह अभिप्राय है। उस नामके अर्थात् द्रव्यश्रुतके साथ रहने अर्थात उत्पन्न होनेके कारण शेष आचार्योंमे स्थित श्रुतज्ञान नामसम कहलाता है। ९ सूची; मुद्रा आदि पाँच दृष्टान्तोंके वचनसे (दे० अनुयोग/२/१) 'घोष सज्ञावाला अनुयोगका अनुयोग (घोपानुयोग) नामका एकदेश होनेसे अनुयोग कहा जाता है, क्योकि, सत्यभामा पदसे अवगम्यमान अर्थ उक्तपदके एकदेशभूत भामा शब्दसे भी जाना ही जाता है। ..घोष अर्थात् द्रव्यानुयोगद्वारके सम अर्थात् साथ रहता है, अर्थात उत्पन्न होता है, इस कारण अनुयोग श्रुतज्ञान घोषसम कहलाता है।

नोट—ये उपरोक्त नौके नौ भेदोंके लक्षण यहाँ भी दिये है—(ध ६/४, १,६२/६२/२६८/५) (ध. १४/५,६,१२/७-६)।

९. ग्रन्थिम आदि भेदोंके लक्षण

ध. ६/४,१,६५/२७२/१३ तत्थ गंथणकिरियाणिप्फण्णं फुल्लमादिदव्वं गथिम णाम। वायणकिरियाणिप्फण्ण सुप्प-पच्छिगाच गेरि-किदय-चालणि-कबल-वत्थादिदव्व वाइम णाम। सुत्तिधुवकोसपल्लादिदव्वं वेदणकिरियाणिप्फण्ण वेदिमं णाम। तलावलि-जिणहराहिट्ठाणादिदव्व पूरणकिरियाणिप्फण्णं पूरिमं णाम। कट्टिमजिणभवण-घर-पायार-थूहादिदव्वं कट्टिट्ठय पत्थरादिसघादणकिरियाणिप्पण्णं सघादिमं णाम। णिवबजबुजवीरादिदव्वं अहोदिमकिरियाणिप्फण्ण-महोदिम णाम। अहोदिमकिरियासचित्त-अचित्तदव्वाण रोवण-किरिएत्ति वुत्तं होदि। पोक्खरिणी-वावी-कूव-तलाय-लेण-सुरुंगादिदव्व णिक्खोदणकिरियाणिप्फण्ण णिक्खोदिम णाम। णिक्खोदणं-खणणमिदि वुत्त होदि। एक्क-दु-तिउणसुत्त-डोरावेढ्ढादिदव्वमोवेल्लण-किरियाणिप्पण्णमोवेल्लिम णाम। गथिम-वाइमादिदव्वाणमुव्वेल्लणेण जाददव्वमुव्वेल्लिम णाम। चित्तारयाणमण्णेसि च वण्णुप्पायणकुसलाणं किरियाणिप्पण्णदव्व णर-तुरयादिबहुसठाणं णाम। पिट्ठ-पिट्ठिया-कणिकादिदव्वं चुण्णणकिरियाणिप्फण्ण चुण्णं णाम। बहूणं दव्वाणं संजोगेणुप्पाइदगधपहाण दव्वं गंधं णाम। घुट्ठ-पिट्ठ-चंदण-कुंकुमादिदव्व विलेवण णाम। =१. गून्थनेरूप क्रियासे सिद्ध हुए फूल आदि द्रव्यको ग्रन्थिम कहते है। २. बुनना क्रियासे सिद्ध हुए सूप, पिटारी, चगेर, कृतक, चालनी, कम्बल और वस्त्र आदि द्रव्य वाइम कहलाते है। ३. वेधन क्रियासे सिद्ध हुए सूति (सोम निकालनेका स्थान) इधुव (भट्ठी) कोश और पल्य आदि द्रव्य वेधिम कहे जाते है। ४ पूरण क्रियासे सिद्ध हुए तालावका बाँध व जिनग्रहका चबूतरा आदि द्रव्यका नाम पूरिम है। ५. काष्ठ, ईंट और पत्थर आदिकी संघातन क्रियासे सिद्ध हुए कृत्रिम जिनभवन, गृह, प्राकार और स्तूप आदि द्रव्य संघातिम कहलाते हैं। ६. नीम, आम, जामुन और जंबीर आदि अधोधिम क्रियासे सिद्ध हुए द्रव्यको अधोधिम कहते है। अधोधिम क्रियाका अर्थ सचित्त और अचित्त द्रव्योंकी रोपन क्रिया है। यह तात्पर्य है। ७. पुष्करिणी, बापी, कूप, तडाग, लयन और सुरग आदि निष्खनन क्रियासे सिद्ध हुए द्रव्य णिक्खोदिम कहलाते है। णिक्खोदिमसे अभिप्राय खोदना क्रियासे है।) ८. उपवेल्लन क्रियासे सिद्ध हुए एकगुणे, दुगुणे एवं तिगुणे सूत्र, डोरा, व वेष्ट आदि द्रव्य उपवेल्लन कहलाते है। ९ ग्रन्थिम व वाइम आदि द्रव्योंके उद्वेल्लनसे उत्पन्न हुए द्रव्य उद्वेल्लिम कहलाते है। १०. चित्रकार एवं वर्णोंके उत्पादनमें निपुण दूसरोकी क्रियासे सिद्ध मनुष्य, तुरग आदि अनेक आकाररूप द्रव्य वर्ण कहे जाते है। ११. चूर्णन क्रियासे सिद्ध हुए पिष्ट, पिष्टिका, और कणिका आदि द्रव्यको चूर्ण कहते है। १२. बहुत द्रव्योंके संयोगसे उत्पादित गन्धकी प्रधानता रखनेवाले द्रव्यका नाम गन्ध है। १३. घिसे व पीसे गये चन्दन और कुकुम आदि द्रव्य विलेपन कहे जाते है।

६. द्रव्यनिक्षेप निर्देश व शंकाएँ

१. द्रव्य निक्षेपके लक्षण सम्बन्धी शंका

दे. द्रव्य/२/२ (भविष्य पर्यायके प्रति अभिमुखपने रूप लक्षण 'गुणपर्ययवान द्रव्य' इस लक्षणके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होता)।

रा वा/१/५/४/२८/२५ युक्तं तावत् सम्यग्दर्शनप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यमिति, अतत्परिणामस्य जीवस्य संभवात. इदं त्वयुक्तम्—जीवनपर्यायप्राप्तिं प्रति गृहीताभिमुख्यमिति। कुत'। सदा तत्परिणामात्। यदि न स्यात, प्रागजीव. प्राप्नोतीति। नैष दोप, मनुष्यजीवादिविशेपापेक्षया सव्यपदेशो वेदितव्य.।=प्रश्न—सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके प्रति अभिमुख कहना तो युक्त है; क्योंकि, पहले जो पर्याय नही है, उसका आगे होना सम्भव है; परन्तु जीवनपर्यायके प्रति अभिमुख कहना तो युक्त नहीं है, क्योकि, उस पर्यायरूप तो वह सदा ही रहता है। यदि न रहता तो उससे पहले उसे अजीवपनेका प्रसंग प्राप्त होता? उत्तर—यह कोई दोप नही है, क्योकि, यहाँ जीवन सामान्यकी अपेक्षा उपरोक्त बात नहीं कही गयी है, बल्कि मनुष्यादिपने रूप जीवत्व विशेपकी अपेक्षा बात कही है।

नोट—यह लक्षण नोआगम तथा भावी नोआगम द्रव्य निक्षेपमें घटित होता है—(दे० निक्षेप/६/३/१,२)।

२. आगम द्रव्य निक्षेप विषयक शंका

१. आगम-द्रव्य-निक्षेपमें द्रव्यनिक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो. वा २/१/५/६६/२७०/१ तदेवेदमित्येकत्वप्रत्यभिज्ञानमन्वयप्रत्ययः। स तावज्जीवादिप्राभृतज्ञायिन्यात्मन्यनुपयुक्ते जीवाद्यागमद्रव्येऽस्ति। स एवाहं जीवादिप्राभृतज्ञाने स्वयमुपयुक्त प्रागासम् स एवेदानीं तत्रानुपयुक्तो वर्ते पुनरुपयुक्तो भविष्यामीति संप्रत्ययात्।='यह वही है' इस प्रकारका एकत्व प्रत्यभिज्ञान अन्वयज्ञान कहलाता है। जीवादि विषयक शास्त्रको जाननेवाले वर्तमान अनुपयुक्त आत्मामें वह अवश्य विद्यमान है। क्योकि, 'जो ही मै जीवादि शास्त्रोंको जाननेमें पहले उपयोग सहित था, वही मै इस समय उस शास्त्रज्ञानमें उपयोग रहित होकर वर्त रहा हूँ, और पीछे फिर शास्त्रज्ञानमें उपयुक्त हो जाऊँगा। इस प्रकार द्रव्यपनेकी लडीको लिये हुए भले प्रकार ज्ञान हो रहा है।

७. उपयोगरहितको भी आगम संज्ञा कैसे है

ध. ४/१,३,१/५/२ कधमेदस्स जीवदवियस्स सुदणाणावरणीयक्खओव-नमविसिट्ठस्स दव्वभावखेत्तागमवदिरित्तस्स आगमदव्वखेत्तवव-एसो। ण एसदोसो, आधारे आधेयोवयारेण कारणे कज्जुवयारेणलद्धा-गमववएसखओवसमविसिट्ठजीवदव्वावलंवणेण वा तस्स तद-विरोहा। =प्रश्न—श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे विशिष्ट, तथा द्रव्य और भावरूप क्षेत्रागमसे रहित इस जीवद्रव्यके आगमद्रव्यक्षेत्र-रूप संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है (यहाँ 'क्षेत्र' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, आधाररूप आत्मामें आधेय-भूतक्षयोपशम-स्वरूप आगमके उपचारसे, अथवा कारणरूप आत्मामें कार्यरूप क्षयोपशमके उपचारसे, अथवा प्राप्त हुई है आगमसज्ञा जिसको ऐसे क्षयोपशमसे युक्त जीवद्रव्यके अवलम्बनसे जीवके आगमद्रव्य-क्षेत्ररूप संज्ञाके होनेमें कोई विरोध नहीं है।

ध. ७/२,१,१/४/२ कधमागमेण विप्पमुक्कस्स जीवदव्वस्स आगमवव-एसो। ण एस दोसो, आगमाभावे वि आगमसंसकारसहियस्स पुव्व लद्धागमववएसस्स जीवदव्वस्स आगमववएसुवलंभा। एदेण भट्टसंस-कारजीवदव्वस्स वि गहणं कायव्व, तत्थ वि आगमववएसुवलंभा। = प्रश्न—जो आगमके उपयोगसे रहित है, उस जीवद्रव्यको 'आगम' कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, आगमके अभाव होनेपर भी आगमके सस्कार सहित एवं पूर्वकालमें आगम संज्ञाको प्राप्त जीवद्रव्यको आगम कहना पाया जाता है। इसी प्रकार जिस जीवका आगमसस्कार भ्रष्ट हो गया है उसका भी ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि, उसके भी (भूतपूर्व प्रज्ञापननयकी अपेक्षा—क. पा.) आगमसंज्ञा पायी जाती है। (क. पा. १/१,१३-१४/§ २१७/२६६/८)।

३. नोआगम द्रव्यनिक्षेप विषयक शंका

१. नोआगममें द्रव्य निक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७४/१ एतेन जीवादिनोआगमद्रव्यसिद्धिरुक्ता। य एवाहं मनुष्यजीव' प्रागास स एवाधुना वर्ते पुनर्मनुष्यो भविष्या-मीत्यन्वयप्रत्ययस्य सर्वथाप्यबाध्यमानस्य सद्भावात्। ननु च जीवा-दिनोआगमद्रव्यमसभाव्य जीवादित्वस्य सार्वकालिकत्वेनानागतत्वा-सिद्धेस्तदभिमुख्यस्य कस्यचिदभावादिति चेत्, सत्यमेतत्। तत एव जीवादिविशेषापेक्षयोदाहृतो जीवादिद्रव्यनिक्षेपो। =इस कथनसे, जीव, सम्यग्दर्शन आदिके नोआगम द्रव्यकी सिद्धि भी कह दी गयी है। क्योकि 'जो ही मै पहले मनुष्य जीव था, सो ही मै इस समय देव होकर वर्त रहा हूँ तथा भविष्यमें फिर मै मनुष्य हो जाऊँगा', ऐसा सर्वत' अबाधित अन्वयज्ञान विद्यमान है। प्रश्न—जीव, पुद्गल आदि सामान्य द्रव्योका नोआगमद्रव्य तो असम्भव है, क्योंकि, जीवपना पुद्गलपना आदि धर्म तो उन द्रव्योमें सर्वकाल रहते हैं। अत' भविष्यत्‌में उन धर्मोंकी प्राप्ति असिद्ध होनेके कारण उनके प्रति अभिमुख होनेवाले पदार्थोंका अभाव है? उत्तर—आपकी बात सत्य है, सामान्यरूपसे जीव पुद्गल आदिका नोआगम द्रव्यपना नहीं बनता। परन्तु जीवादि विशेषकी अपेक्षा वन जाता है, इसीलिए मनुष्य देव आदि रूप जीव विशेषोके ही यहाँ उदाहरण दिये गये है। (और भी दे० निक्षेप/६/१ तथा निक्षेप/६/३/२)।

२. भावी नोआगममें द्रव्यनिक्षेपपनेकी सिद्धि

न.सि./१/५/१८/५ सामान्यापेक्षया नोआगमभाविजीवो नास्ति, जीवन-सामान्यसदापि विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया त्वस्ति। गत्यन्तरे जीवो व्यवस्थितो मनुष्यभवप्राप्तिं प्रत्यभिमुखो मनुष्यभाविजीव। =जीवसामान्यकी अपेक्षा 'नोआगमभावी जीव' यह भेद नहीं बनता; क्योंकि, जीवमें जीवत्व सदा पाया जाता है। यहाँ पर्याया-र्थिक नयकी अपेक्षा 'नोआगमभावी जीव' यह भेद वन जाता है, क्योकि, जो जीव दूसरी गतिमें विद्यमान है, वह जब मनुष्यभवको प्राप्त करनेके लिए सन्मुख होता है तब वह मनुष्यभावी जीव कहलाता है। (यहाँ 'जीव' विषयक प्रकरण है। (और भी दे० निक्षेप/६/१; ६/३/१) (क. पा १/१,१३-१४/§ २१७/२७०/६)।

ध. ४/१,३,१/६/६ भवियं खेत्तपाहुडजाणगभावी जीवो णिद्दिस्सदे। कधं जीवस्स खेत्तागमखओवसमरहिदत्तादो। अणागमस्स खेत्तववएसो। न, क्षेष्यत्यस्मिन् भावक्षेत्रागम इति जीवद्रव्यस्य पुरैव क्षेत्रत्वसिद्धे'। =नोआगमद्रव्यके तीन भेदोमेंसे जो आगामी कालमें क्षेत्रविषयक शास्त्रको जानेगा ऐसे जीवको भावी-नोआगम-द्रव्य कहते है। (क्षेत्र विषयक प्रकरण है। प्रश्न—जो जीव क्षेत्रागमरूप क्षयोपशमसे रहित होनेके कारण अनागम है, उस जीवके क्षेत्र संज्ञा कैसे बन सकती है। उत्तर—नही, क्योंकि, 'भावक्षेत्ररूप आगम जिसमें निवास करेगा' इस प्रकारकी निरुक्तिके बलसे जीवद्रव्यके क्षेत्रागमरूप क्षयोपशम होनेके पूर्व ही क्षेत्रपना सिद्ध है।

३. कर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगममें द्रव्यनिक्षेपपना

ध. ४/१,३,१/६/१ तत्थ कम्मदव्वक्खेत्त णाणावरणादिअट्ठविहकम्म-दव्व। कधं कम्मस्स खेत्तववएसो। न, क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् जीवा इति कर्मणा क्षेत्रत्वसिद्धे'। = ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मद्रव्यको कर्म (तद्व्यतिरिक्त नोआगम) द्रव्यक्षेत्र कहते है। प्रश्न—कर्मद्रव्यको क्षेत्रसज्ञा कैसे प्राप्त हुई? उत्तर—नहीं; क्योकि, जिसमें जीव 'क्षियन्ति' अर्थात् निवास करते है, इस प्रकारकी निरुक्तिके बलसे कर्मोंके क्षेत्रपना सिद्ध है।

४. नोकर्मतद्व्यतिरिक्ति नोआगममें द्रव्यनिक्षेपपना

ध. ६/४,१,६७/३२२/३ जा सा तव्वदिरित्तदव्वगंथकदी सा गंथिम-वाइम-वेदिम-पूरिमादिभेएण अणेयविहा। कधमेदेसिं गंथसण्णा। ण, एदे जीवो बुद्धीए अप्पाणम्मि गुथदि त्ति तेसिं गथत्तसिद्धी। =जो तद्व्यतिरिक्त द्रव्यग्रन्थकृति है वह गूँथना, बुनना, वेष्टित करना और पूरना आदिके भेदसे अनेक प्रकार की है। =प्रश्न—इनकी ग्रन्थ संज्ञा कैसे सम्भव है? उत्तर—नही; क्योकि, जीव इन्हे बुद्धिसे आत्मामें गूँथता है। अत उनके ग्रन्थपना सिद्ध है।

४. ज्ञायकशरीर विषयक शंकाएँ

१. त्रिकाल ज्ञायकशरीरोंमें द्रव्यनिक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७४/२७ नन्वेवमागमद्रव्यं वा बाधितात्तदन्वय-प्रत्ययान्मुख्य सिद्ध्यतु ज्ञायकशरीरं तु त्रिकालगोचर तद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मविकल्पमनेकविध कथ तथा सिद्ध्येत् प्रतीत्यभावादिति चेन्न, तत्रापि तथाविधान्वयप्रत्ययस्य धान्वयप्रत्ययस्य सद्भावात्। यदेव मे शरीर ज्ञातुमारभमाणस्य तत्त्व तदेवेदानी परिसमाप्ततत्त्व-ज्ञानस्य वर्तत इति वर्तमानज्ञायकशरीरे तावदन्वयप्रत्यय। यदेवोप-युक्ततत्त्वज्ञानस्य मे शरीरमासीत्तदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्येत्यतीत-ज्ञायकशरीरे प्रत्यवमर्श। यदेवाधुनानुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य शरीरं तदे-वोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य भविष्यतीत्यनागतज्ञायकशरीरे प्रत्यय। =प्रश्न—अन्वयज्ञानसे मुख्य आगमद्रव्य तो भले ही निर्बाधरूपसे सिद्ध हो जाओ परन्तु त्रिकालवर्ती ज्ञायक शरीर और कर्म नोकर्मके भेदोसे अनेक प्रकारका तद्व्यतिरिक्त भला कैसे मुख्य सिद्ध हो सकता है; क्योकि, उसकी प्रतीति नही होती है? उत्तर—नही, वहाँ भी तिस प्रकार अनेक भेदोको लिये हुए अन्वयज्ञान विद्यमान है। वह इस प्रकार कि तत्त्वोको जाननेके लिए आरम्भ करनेवाले मेरा जो ही शरीर पहले था, वही तो इस समय तत्त्वज्ञानकी भली भाँति समाप्त कर लेनेवाले मेरा यह शरीर वर्त रहा है, इस प्रकार वर्तमानके ज्ञायकशरीर

अन्वय प्रत्यय विद्यमान है। तत्त्वज्ञानमे उपयोग लगाये हुए मेरा जो ही शरीर पहले था वही इस भोजन करते समय तत्त्वज्ञानमें नही उपयोग लगाये हुए मेरा यह शरीर है, इस प्रकार भूतकालके ज्ञायक-शरीरमें प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। तथा इस वाणिज्य करते समय तत्त्वज्ञानमें नही उपयोग लगा रहे मेरा जो भी शरीर है, पीछे तत्त्वज्ञानमे उपयुक्त हो जानेपर वही शरीर रहा आवेगा, इस प्रकार भविष्यत्के ज्ञायक शरीरमें अन्वयज्ञान हो रहा है।

२. ज्ञायक शरीरोंको नोआगम संज्ञा क्यों ?

ध ९/४,१,१/७/१ कधमेदेसि तिण्णं सरीराणं णिच्चेयणाण जिणव्ववएसो। ण, धणुहसहचारपज्जाएण तीदाणागयवट्टमाणमणुआणं धणुहववएसो व्व जिणाहारपज्जाएण तीदाणागय-वट्टमाणसरीराणं दव्वजिणत्तं पडि विरोहाभावादो। =प्रश्न—इन अचेतन तीन शरीरोके (नोआगम) 'जिन' संज्ञा कैसे सम्भव है (यहाँ 'जिन' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार धनुष-सहचार रूप पर्यायसे अतीत, अनागत और वर्तमान मनुष्योंकी 'धनुष' संज्ञा होती है, उसी प्रकार (आधारमें आधेयका आरोप करके) जिनाधार रूप पर्यायसे अतीत, अनागत और वर्तमान शरीरोके द्रव्य जिनत्वके प्रति कोई विरोध नही है।

ध ९/४,१ ६३/२७०/१ कधं सरीराणं णोआगमदव्वकदिव्ववएसो। आधारे आधेओवयारादो। =प्रश्न—शरीरोको नोआगम-द्रव्यकृति संज्ञा कैसे सम्भव है (यहाँ 'कृति' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—चूँकि शरीर नोआगम द्रव्यकृतिके आधार हैं, अत आधारमें आधेयका उपचार करनेसे उक्त सज्ञा सम्भव है। (ध ४/१,३,१/६/६)।

३. भूत व भावी शरीरोंको नोआगमपना कैसे है

क. पा. १/१,१३-१४/२७०/३ होदु णाम वट्टमाणसरीरस्स पेज्जागमववएसो; पेज्जागमेण सह एयत्तुवलंभादो, ण भविय-समुज्झादाणमेसा सण्णा, पेज्जपाहुडेण संबंधाभावादो त्ति; ण एस दोसो; दव्वट्ठियप्पणाए सरीरम्मि तिसरीरभावेण एयत्तमुवगयम्मि तदविरोहादो। =प्रश्न—वर्तमान शरीरको नोआगम द्रव्यपेज्ज सज्ञा होओ, क्योंकि वर्तमान शरीरका पेज्जविषयक शास्त्रको जाननेवाले जीवके साथ एकत्व पाया जाता है। परन्तु भाविशरीर और अतीत शरीरको नोआगम-द्रव्य-पेज्ज सज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इन दोनों शरीरोका पेज्जके साथ सम्बन्ध नही पाया जाता है। (यहाँ 'पेज्ज' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—यह दोष उचित नही है, क्योंकि द्रव्यार्थिक-नयकी दृष्टिसे भूत, भविष्यत और वर्तमान ये तीनों शरीर शरीरत्वकी अपेक्षा एकरूप है, अत. एकत्वको प्राप्त हुए शरीरमें नोआगम द्रव्यपेज्ज सज्ञाके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

ध. १/१,१,१/२१/५ आहारस्साहेयोवयारादो भवदुधरिदमंगलपज्जाय-परिणद-जीवसरीरस्स मंगलववएसो ण अण्णेसिं, तेसु ट्ठिदमंगल-पज्जायाभावा। ण रायपज्जायाहारत्तणेण अणागदादीदजीवे वि राय-ववहारोवलंभा। =प्रश्न—आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्माके उपचारसे धारण की हुई मंगल पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नोआगम-ज्ञायकशरीर-द्रव्यमंगल कहना तो उचित भी है, परन्तु भावी और भूतकालके शरीरकी अवस्थाको मगल सज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमें मगलरूप पर्यायका अभाव है। (यहाँ 'मगल' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—ऐसा नही है, क्योंकि, राजपर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिस प्रकार राजारूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार मगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमे भी मगलरूप व्यवहार हो सकता है। (ध. ५/१,६,१/२/६)।

ध. ४/१,३,१/६/३ भवदु पुव्विल्लस्स दव्वखेत्तागमत्तादो खेत्तववएसो, एदस्स पुण सरीरस्स अणागमस्स खेत्तववएसो ण घडदि त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे। त जधा—क्षियत्यक्षैषीत्क्षेप्यत्यस्मिन् द्रव्यागमो भावागमो वेति त्रिविधमपि शरीरं क्षेत्रम्, आधारे आधेयोपचाराद्वा। =प्रश्न—द्रव्य क्षेत्रागमके निमित्तसे पूर्वके (भूत) शरीरको क्षेत्र सज्ञा भले ही रही आओ, किन्तु इस अनागम (भावी) शरीरके क्षेत्र सज्ञा घटित नहीं होती। (यहाँ 'क्षेत्र' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—उक्त शंकाका यहाँ परिहार करते हैं। वह इस प्रकार है—जिसमें द्रव्यरूप आगम अथवा भावरूप आगम वर्तमान कालमें निवास करता है, भूतकालमें निवास करता था और आगामी कालमें निवास करेगा; इस अपेक्षा तीनो ही प्रकारके शरीर क्षेत्र कहलाते हैं। अथवा, आधार-रूप शरीरमें आधेयरूप क्षेत्रागमका उपचार करनेसे भी क्षेत्र संज्ञा बन जाती है।

५. द्रव्यनिक्षेपके भेदोंमें परस्पर अन्तर

१. आगम व नोआगममें अन्तर

श्लो. वा /२/१/५/२७५/१८ तस्यागमद्रव्यादन्यत्व सुप्रतीतमेवानात्मत्वात्। =वह ज्ञायक शरीर नोआगमद्रव्य आगमद्रव्यसे तो भिन्न भले प्रकार जाना ही जा रहा है, क्योंकि आगमज्ञानके उपयोग रहित आत्माको आगमद्रव्य माना है, और जीवके जड शरीरको नोआगम माना है।

ध. ९/४,१,६३/२७०/२ जदि एवं तो सरीराणमागमत्तमुवयारेण किण्ण वुच्चदे। आगमणोआगमाणं भेदपदुप्पायणट्ठं ण वुच्चदे पओजणाभावादो च। =प्रश्न—यदि ऐसा है अर्थात् आधारमें आधेयका उपचार करके शरीरको नोआगम कहते हो तो शरीरोको उपचारसे आगम क्यों नहीं कहते? उत्तर—आगम और नोआगमका भेद बतलानेके लिए: अथवा कोई प्रयोजन न होनेसे भी शरीरोंको आगम नहीं कहते।

ध ९/४,१,१/७/३ आगममण्णा अणुवजुत्तजीवदव्वस्से एत्थ किण्ण कदा, उवजोगाभावं पडि विसेसाभावादो। ण, एत्थ आगमसस्काराभावेण तदभावादो ·भविस्सकाले जिणपाहुडजाणयस्स भूदकाले णादूण विस्सरिदस्स य णोआगमभवियदव्वजिणत्तं किण्ण इच्छिज्जदे। ण, आगमदव्वस्स आगमससकारपज्जायस्स आहारत्तणेण तीदाणागदवट्टमाण णोआगमदव्वत्तविरोहादो। =प्रश्न—अनुपयुक्त जीवद्रव्यके समान यहाँ (त्रिकाल गोचर ज्ञायक शरीरोंकी भी) आगम सज्ञा क्यो नहीं की, क्योकि दोनोंमें उपयोगाभावकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है? उत्तर—नही की, क्योंकि, यहाँ आगम सस्कारका अभाव होनेसे उक्त संज्ञाका अभाव है। प्रश्न—भविष्यकालमें जिनप्राभृतको जाननेवाले व भूतकालमें जानकर विस्मरणको प्राप्त हुए जीवद्रव्यके नोआगम-भावी-जिनत्व क्यों नही स्वीकार करते (यहाँ 'जिन' विषयक प्रकरण है)? उत्तर—नहीं क्योकि आगम संस्कार पर्यायका आधार होनेसे अतीत, अनागत व वर्तमान आगमद्रव्यके नोआगम द्रव्यत्वका विरोध है। (भावार्थ—आगमद्रव्यमें जीवद्रव्यका ग्रहण होता है और नोआगममें उसके आधारभूत शरीरका। जीवमें आगमसस्कार होना सम्भव है, पर शरीरमें वह सम्भव नहीं है। इसीलिए ज्ञायकके शरीरको आगम अथवा जीवद्रव्यको नोआगम नहीं कह सकते हैं।)

२ भावी ज्ञायकशरीर व भावी नोआगममें अन्तर

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७५/१७ तर्हि ज्ञायकशरीर भाविनो आगमद्रव्यादनन्यदेवेति चेन्न, ज्ञायकविशिष्टस्य ततोऽन्यत्वात्। =प्रश्न—तब तो (भावी) ज्ञायकशरीर भाविनोआगमसे अभिन्न ही हुआ? उत्तर—नही, क्योकि, उस ज्ञायकशरीरसे। ज्ञायकआत्मा करके विशिष्ट भावी नोआगमद्रव्य भिन्न है।

क. पा. १/१,१३-१४/§ २१७/२७०/२४-भाषाकार—जिस प्रकार भावी और भूत शरीरने शरीरसामान्यकी अपेक्षा वर्तमान शरीरोसे एकत्व मानकर (उन भूत व भावी शरीरमें) नोआगम द्रव्यपेज्ज सज्ञाका

व्यवहार किया है (दे० निक्षेप/६/४/३), उसी प्रकार वर्तमान जीव ही भविष्यत्में पेज्जविषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा, अत जीव सामान्यकी अपेक्षा एकत्व मानकर वर्तमान जीव (के शरीरको) भाविनोआगम द्रव्यपेज्ज कहा है। (ध. १/१,१,१/२६/२१ पर विशेषार्थ)।

स. सि./प जगरूप सहाय/१/५/पृ. ४६ भावी ज्ञायकशरीरमे जीवके (जीव विषयक) शास्त्रको जाननेवाला शरीर है। परन्तु भावी नोआगमद्रव्यमें जो शरीर आगे जाकर मनुष्यादि जीवन प्राप्त करेगा। उन्हे उनके (मनुष्यादि विषयोके) शास्त्र जाननेकी आवश्यकता नहीं। अज्ञायक होकर ही (शरीर) प्राप्त कर सकेगा। ऐसा ज्ञायकपना और अज्ञायकपनाका दोनोंमे भेद व अन्तर है।

३. ज्ञायक शरीर और तद्व्यतिरिक्तमें अन्तर

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७५/२५ कर्म नोकर्म वान्वयप्रत्ययपरिच्छिन्नं ज्ञायकशरीरादनन्यदिति चेद् न, कार्मणस्य शरीरस्य तैजसस्य च शरीरस्य शरीरभावमापन्नस्याहारादिपुद्गलस्य वा ज्ञायकशरीरत्वासिद्धे , औदारिकवैक्रियकाहारकशरीरत्रयस्यैव ज्ञायकशरीरत्वोपत्तेरन्यथा विग्रहगतावपि जीवस्योपयुक्तज्ञानत्वप्रसङ्गात् तैजसकार्मण शरीरयो. सद्भावात्।=प्रश्न—तद्व्यतिरिक्तके कर्म नोकर्म भेद भी अन्वय ज्ञानसे जाने जाते है, अत ये दोनो ज्ञायकशरीर नोआगमसे भिन्न हो जावेंगे ? उत्तर—नही, क्योकि, कार्माण वर्गणाओसे बने हुए कार्मणशरीर और तैजस वर्गणाओसे बने हुए तैजसशरीर इन दानों शरीररूपसे शरीरपनेको प्राप्त हो गये पुद्गलस्कन्धोको ज्ञायक शरीरपना सिद्ध नही है। अथवा आहार आदि वर्गणाओको भी ज्ञायकशरीरपना असिद्ध है । वस्तुत बन चुके औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरोको ही ज्ञायकशरीरपना कहना युक्त है। अन्यथा विग्रहगतिमें भी जीवके उपयोगात्मक ज्ञान हो जानेका प्रसग आवेगा, क्योकि कार्मण और तैजस दोनो ही शरीर वहाँ विद्यमान है।

४. भाविनोआगम व तद्व्यतिरिक्तमे अन्तर

श्लो. वा २/१/५/६६/२७६/६ कर्मनोकर्म नोआगमद्रव्य भाविनोआगमद्रव्यादनर्थान्तरमिति चेन्न, जीवादिप्राभृतज्ञायिपुरुषकर्मनोकर्मभावमापन्नस्यैव तथाभिधानात्, ततोऽन्यस्य भाविनोआगमद्रव्यत्वोपगमात् ।=प्रश्न—कर्म और नोकर्मरूप नोआगम द्रव्य भावि-नोआगमद्रव्यसे अभिन्न हो जावेगा ? उत्तर—नही, क्योकि, जीवादि विषयक शास्त्रको जाननेवाले ज्ञायक पुरुषके ही कर्म व नोकर्मोको तैसा अर्थात् तद्व्यतिरिक्त नोआगम कहा गया है। परन्तु उससे भिन्न पडे हुए और आगे जाकर उस उस पर्यायरूप परिणत होनेवाले ऐसे कर्म व नोकर्मोसे युक्त जीवको भाविनोआगम माना गया है।

७. भाव निक्षेप निर्देश व शंका आदि

१. भावनिक्षेप सामान्यका लक्षण

स. सि /१/५/१७/६ वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षित द्रव्य भाव ।=वर्तमानपर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते है। (रा वा./१/५/८/२६/१२), (श्लो वा. २/१/५/श्लो ६७/२७६), (ध. १/१,१,१/१४/३ व २६/७), (ध. ६/४,१, ४८/२४२/७) (त. सा./१/१३)।

ध. ५/१,७,१/१८७/६ दव्वपरिणामो पुव्वावरकोडिवदिरित्तवट्टमाणपरिणामुवलक्खियदव्वं वा।=द्रव्यके परिणामको अथवा पूर्वापर कोटिसे व्यतिरिक्त वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते है।

दे नय/I/५/३ (भाव निक्षेपसे आत्मा पुरुषके समान प्रवर्तती स्त्रीकी भाँति पर्यायोल्लासी है)।

२. भावनिक्षेपके भेद

स.सि./१/५/१८/७ भावजीवो द्विविधः—आगमभावजीवो नोआगमभावजीवश्चेति। =भाव जीवके दो भेद हैं—आगम-भावजीव और नोआगम-भावजीव। (रा. वा /१/५/६/२६/१५); (श्लो. वा २/१/५/श्लो. ६७); (ध १/१,१,१/२६/७,८३/६); (ध. ४/१,३,१/७/६), (गो. क /मू./६४/५६), (न च. वृ./२७६)।

ध. १/१,१,१/२६/६ णो-आगमदो भावमंगलं दुविहं, उपयुक्तस्तत्परिणत इति। =नोआगम भाव मगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है।

३. आगम व नोआगम भावके भेद व उदाहरण

प. खं. १३/५,५/सू. १३६-१४०/३६०-३६१ जा सा आगमदो भावपयडी णाम तिस्से इमो णिद्देसो—ठिद जिद परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गथसमं णामसमं घोससमं। जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेहणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जेचामण्णे एवमादिया उवजोगा भावे त्ति कट्टु जावदिया उवजुत्ता भावा सा सव्वा आगमदो भावपयडी णाम।१३६। जा सा णोआगमदो भावपयडी णाम सा अणेयविहा। त जहा—सुर-असुर-णाग-सुवण्ण-किण्णर-किंपुरिस-गरुड-गधव्व-जक्खरक्ख-मणुअ-महोरग-मिय-पसु-पक्खि-दुवय-चउप्पय-जलचर-थलचर-खगचर-देव-मणुस्स-तिरिक्ख-णेरइय-णियगुणा पयडी सा सव्वा णोआगमदो भावपयडी णाम।१४०। =जो आगम भावप्रकृति है, उसका यह निर्देश है—स्थित, जित, परिचित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम, और घोपसम। तथा इनमें जो वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा तथा इनको आदि लेकर और जो उपयोग हैं वे सब भाव हैं, ऐसा समझकर जितने उपयुक्त भाव है वह सब आगम भाव कृति हैं।१३६।

जो नोआगम भावप्रकृति हैं वह अनेक प्रकार की है। यथा—सुर असुर, नाग, सुपर्ण, किंनर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुज, महोरग, मृग, पशु, पक्षी, द्विपद, चतुष्पद, जलचर, स्थलचर, खगचर, देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी, इन जीवोंकी जो अपनी-अपनी प्रकृति है वह सब नोआगमभावप्रकृति है। (यही 'कर्मप्रकृति' विषयक प्रकरण है।

४. आगम व नोआगम भावके लक्षण

स सि /१/५/१८/८ तत्र जीवप्राभृतविषयोपयोगविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वा आत्मा आगमभावजीव । जीवनपर्यायेण मनुष्य जीवत्वपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीव । =जो आत्मा जीव विषयक शास्त्रको जानता है और उसके उपयोगसे युक्त है वह आगम-भाव-जीव कहलाता है। तथा जीवनपर्याय या मनुष्य जीवनपर्यायसे युक्त आत्मा नोआगम भाव जीव कहलाता है। (यहाँ 'जीव' विषयक प्रकरण है) (रा. वा./१/५/१०-११/२६); (श्लो. वा. २/१/५/श्लो. ६७-६८/२७६), (ध. १/१,१,१/८३/६); (ध. ५/१,६,१/३/५) (गो. क./मू ६५-६६/५६)।

ध १/१,१,१/२६/८ आगमदो मगलपाहुडजाणओ उवजुत्तो। णोआगमदो भावमगलं दुविहं, उपयुक्तस्तत्परिणत इति। आगममन्तरेण अर्थोपयुक्त उपयुक्त । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति।=जो मंगलविषयक शास्त्रका ज्ञाता होते हुए वर्तमानमे उसमे उपयुक्त है उसे आगमभाव मगल कहते है। नोआगम-भाव-मगल उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकार का है। जो आगमके बिना ही मगलके अर्थमें उपयुक्त है, उसे उपयुक्त नोआगम भाव मगल कहते है, और मगलरूप अर्थात् जिनेन्द्रदेव आदिकी वन्दना भावस्तुति आदिमें

परिणत जीवको तत्परिणत नोआगमभाव मंगल कहते हैं। (ध. ४/१,३,१/७/८)।

न च.वृ./२७६-२७७ अरहंतसत्थजाणो आगमभावो हु अरहंतो।२७६। तग्गुणए य परिणदो णोआगमभाव होइ अरहंतो। तग्गुणएई झादा केवलणाणी हु परिणदो भणिओ।२७७। =अर्हन्त विषयक शास्त्रका ज्ञायक (और उसके उपयोग युक्त आत्मा) आगमभाव अर्हन्त है।।२७६। उसके गुणोंसे परिणत अर्थात् केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप परिणत आत्मा नोआगम-भाव अर्हन्त है। अथवा उनके गुणोंको ध्यानेवाला आत्मा नोआगमभाव अर्हन्त है।२७७।

५. भावनिक्षेपके लक्षणकी सिद्धि

श्लो वा. २/१/५/६६/२७८/१० नन्वेवमतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य भावरूपताविरोधाद्वर्तमानस्यापि सा न स्यात्तस्य पूर्वापेक्षयानागतत्वात् उत्तरापेक्षयातीतत्वादतो भावलक्षणस्याव्याप्तिरसंभवो वा स्यादिति चेन्न। अतीतस्यानागतस्य च पर्यायस्य स्वकालापेक्षया साम्प्रतिकत्वाद्भावरूपतोपपत्तेरननुयायिनः परिणामस्य साम्प्रतिकत्वोपगमादुक्तदोषाभावात्। =प्रश्न—भूत और भविष्य पर्यायोंको, इस लक्षणके अनुसार, भाव निक्षेपपनेका विरोध हो जानेके कारण वर्तमानकालकी पर्यायको भी वह भावरूपपना न हो सकेगा। क्योंकि वर्तमानकालकी पर्याय भूतकालकी पर्यायकी अपेक्षासे भविष्यत्कालमें है और उत्तरकालकी अपेक्षा वही पर्याय भूतकाल की है। अतः भावनिक्षेपके कथित लक्षणमें अव्याप्ति या असम्भव दोष आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भूत व भविष्यत् कालकी पर्यायें भी अपने अपने कालकी अपेक्षा वर्तमान की ही हैं; अतः भावरूपता बन जाती है। जो पर्याय आगे पीछेकी पर्यायोंमें अनुगम नहीं करती हुई केवल वर्तमान कालमें ही रहती है, वह वर्तमान कालकी पर्याय भावनिक्षेपका विषय मानी गयी है। अतः पूर्वोक्त लक्षणमें कोई दोष नहीं है।

६. आगमभावनिक्षेपमें भावनिक्षेपपनेकी सिद्धि

श्लो. वा. २/१/५/६६/२७८/१६ कथ पुनरागमो जीवादिभाव इति चेत्, प्रत्ययजीवादिवस्तुनः साम्प्रतिकपर्यायत्वात्। प्रत्ययात्मका हि जीवादयः प्रसिद्धा एवार्थाभिधानात्मकजीवादिवत्। =प्रश्न—ज्ञानरूप आगमको जीवादिभाव निक्षेपपना कैसे है? उत्तर—ज्ञानस्वरूप जीवादि वस्तुओंको वर्तमानकालकी पर्यायपना है, जिस कारणसे कि जीवादिपदार्थ ज्ञानस्वरूप होते हुए प्रसिद्ध हो ही रहे हैं, जैसे कि अर्थ और शब्द रूप जीव आदि हैं (दे० नय/I/४/१)।

७. आगम व नोआगमभावमें अन्तर

श्लो. वा २/१/५/६६/२७८/१७ तत्र जीवादिविषयोपयोगाख्येन तत्प्रत्ययेनाविष्टः पुमानेव तदागम इति न विरोधः, ततोऽन्यस्य जीवादिपर्यायाविष्टस्यार्थादेर्नोआगमभावजीवत्वेन व्यवस्थापनात्। =जीवादि विषयोंके उपयोग नामक ज्ञानोंसे सहित आत्मा तो उस उस जीवादि आगमभावरूप कहा जाता है; और उससे भिन्न नोआगम भाव है जो कि जीव आदि पर्यायोंसे आविष्ट सहकारी पदार्थ आदि स्वरूप व्यवस्थित हो रहा है।

८. द्रव्य व भावनिक्षेपमें अन्तर

रा. वा./१/५/१३/२६/२५ द्रव्यभावयोरेकत्वम् अव्यतिरेकादिति चेत्, न, कथ चित् संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात् तद्भेदसिद्धेः।

रा. वा./१/५/२३/३१/१ तथा द्रव्यं स्याद्भाव भावद्रव्यार्थादेशात् न भावपर्यायार्थादेशाद् द्रव्यम्। भावस्तु द्रव्यं स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्। =प्रश्न—द्रव्य व भावनिक्षेपमें अभेद है, क्योंकि इनकी पृथक् सत्ता नहीं पायी जाती? उत्तर—नहीं, संज्ञा लक्षण आदिकी दृष्टिसे इनमें भेद है। अथवा—द्रव्य तो भाव अवश्य होगा क्योंकि उसको उस योग्यताका विकास अवश्य होगा, परन्तु भावद्रव्य हो भी और न भी हो, क्योंकि उस पर्यायमें आगे अमुक योग्यता रहे भी न भी रहे।

श्लो. वा./२/१/५/६६/२७८/६ नापि द्रव्यादनर्थान्तरमेव तस्याबाधितभेदप्रत्ययविषयत्वात्, अन्यथान्वयविषयत्वानुषङ्गाद् द्रव्यवद्। =वर्तमानकी विशेषपर्यायको ही विषय करनेवाला वह भावनिक्षेप निर्बाध भेदज्ञानका विषय हो रहा है, अन्यथा द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षेपको भी तीनों कालके पदार्थोंका ज्ञान करनेवाले अन्वयज्ञानकी विषयताका प्रसंग होवेगा। भावार्थ—अन्वयज्ञानका विषय द्रव्यनिक्षेप है और विशेषरूप भेदके ज्ञानका विषय भावनिक्षेप है। भूतभविष्यत् पर्यायोंका संकलन द्रव्यनिक्षेपसे होता है, और केवल वर्तमान पर्यायोंका भावनिक्षेपसे आकलन होता है।

निक्षेपाधिकरण—दे० अधिकरण।

निगमन—१. निगमनका लक्षण

न्या सू./मू./१/१/३६ हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।

न्या. सू./भाष्य/१/१/३९/३८/१२ उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम्। =हेतु पूर्वक पुनः प्रतिज्ञा या पक्षका वचन कहना निगमन है। (न्या. दी./३/§३२/७६/१)। साधनभूतका साध्यधर्मके साथ समान अधिकरण (एक आश्रय) होनेका प्रतिपादन करना उपनय है। उदाहरणमें जो दो धर्म हैं उनके साध्य साधनभाव सिद्ध होनेमें विपरीत प्रसंगके खण्डनके लिए निगमन होता है।

प. मु./३/५१ प्रतिज्ञास्तु निगमनं।५१। =प्रतिज्ञाका उपसंहार करना निगमन है।

न्या दी./३/§ ७२/१११ साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्। तस्मादग्निमानेवेति। =साधनको दुहराते हुए साध्यके निश्चयरूप वचनको निगमन कहते हैं। जैसे—धूमवाला होनेसे यह अग्निवाला ही है।

२. निगमनाभासका लक्षण

न्या दी./३/§७२/११२ अनयोर्व्यत्ययेन कथनमनयोराभासः। =उपनयकी जगह निगमन और निगमनकी जगह उपनयका कथन करना उपनयाभास तथा निगमनाभास है।

निगूढतर्क—*Abstract reasoning* ध. ५/प्र. २८।

निगोद—दे० वनस्पति/२।

निग्रह—

स सि/६/४/४११/३ स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनं निग्रहः। =स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोकना निग्रह है। (रा वा./६/४/२/५६३/१३)।

निग्रहस्थान—१. निग्रहस्थानका लक्षण

न्या. सू./मू./१/२/११६ विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। =विप्रतिपत्ति अर्थात् पक्षको स्वयं ठीक न समझकर उलटा समझना; तथा अप्रतिपत्ति और दूसरेके द्वारा सिद्ध किये गये पक्षको समझकर भी उसकी परवाह न करते हुए उसका खण्डन न करना, अथवा प्रतिवादी द्वारा अपनेपर दिये गये दोषोंका निराकरण न करना, ये निग्रहस्थान हैं। अर्थात् इनसे वादीकी पराजय होती है।

श्लो वा ४/१/३३/न्या./श्लो ९९-१००/३४३ तूष्णींभावोऽथवा दोषानासक्तिः सत्यसाधने। वादिनोक्ते परस्येष्टा पक्षसिद्धिर्न चान्यथा।९९। कस्यचित्तत्त्वसंसिद्धिप्रतिक्षेपो निराकृतेः। कीर्तिः पराजयोऽवश्यमकीर्तिकृदिति स्थितम्।१००। =वादीके द्वारा कहे गये सत्य हेतुमें प्रतिवादीका चुप रह जाना, अथवा सत्य हेतुमें दोषोंका प्रसंग न उठाना ही, वादीके पक्षकी सिद्धि है, अन्य प्रकार नहीं।९९। दूसरेके

पक्षका निराकरण करनेसे एकको यश'कीर्ति होती हे और दूसरेका पराजय होता है, जो कि अवश्य ही अपकीर्तिको करनेवाला है। अत' स्वपक्षकी सिद्धि और परपक्षका निराकरण करना ही जयका कारण है। इस कर्तव्यको नही करनेवाले वादी या प्रतिवादीका निग्रहस्थान हो जाता है।

दे. न्याय/२ वास्तवमे तो स्वपक्षकी सिद्धि ही प्रतिवादीका निग्रहस्थान है।

२. निग्रहस्थानके भेद

न्या.सू./मू.५/२/१ प्रतिज्ञाहानि' प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोध' प्रतिज्ञासन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञापर्यनुयोज्योपेक्षणनिरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि। = निग्रहस्थान २२ है—१, प्रतिज्ञाहानि, २, प्रतिज्ञान्तर, ३ प्रतिज्ञाविरोध, ४ प्रतिज्ञासन्यास, ५ हेत्वन्तर, ६, अर्थान्तर, ७, निरर्थक, ८, अविज्ञातार्थ, ९, अपार्थक, १०, अप्राप्तकाल, ११, न्यून, १२, अधिक, १३ पुनरुक्त, १४, अननुभाषण, १५, अज्ञान, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेप, १८ मतानुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्यानुपेक्षण, २०, निरनुयोज्यानुयोग, २१, अपसिद्धान्त और २२, हेत्वाभास।

सि. वि /मू /५/१०/३३४ असाधनाङ्ग वचनमदोषोद्भावन द्वयो । निग्रहस्थानमिष्ट चेत् कि पुन साध्यसाधनै ।१०। =(बौद्धोंके अनुसार) असाधनाङ्ग वचन अर्थात् असिद्ध व अनैकान्तिक आदि दूपणो सहित प्रतिज्ञा आदिके वचनोका कहना और अदोषोद्भावन अर्थात् प्रतिवादीके साधनोमे दोषोका न उठाना ये दो निग्रहस्थान स्वीकार किये गये है, फिर साध्यके अन्य साधनोसे क्या प्रयोजन है।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. जय पराजय व्यवस्था। —दे० न्याय/२।
२ नैयायिकों द्वारा निग्रहस्थानोंके प्रयोगका समर्थन – दे० वितडा।
३. नैयायिक व बौद्धमान्य निग्रहस्थानोंका व उनके प्रयोगका निषेध। —दे० न्याय/२।
४. निग्रहस्थानके भेदोंके लक्षण —दे० वह वह नाम।

निघंटु—१ १३०० श्लोक प्रमाण सस्कृत भाषामे लिखा गया एक पौराणिक ग्रन्थ। २ श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरि (ई० १०८८-११४३) को 'निघटुशेष' नामको रचना। ३ आ. पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत 'निघंटु वैद्यक' नामका आयुर्वेदिक ग्रन्थ—(यशस्तिलकचम्पू/प्र, पं० सुन्दरलाल)।

निज गुणानुस्थान— दे० परिहार प्रायश्चित्त।

निजात्माष्टक—आ योगेन्दुदेव (ई० श० ६) द्वारा रचित प्राकृत छन्द बद्ध, सिद्ध परमेष्ठीके स्वरूपका वर्णन करनेवाला एक ग्रन्थ।

निजाष्टक—आ० योगेन्दुदेव (ई० श०/६) द्वारा रचित आठ प्राकृत दोहे, जिनमें आध्यात्मिक भावना कूट-कूटकर भरी है।

नित्य—वैशे. सू./मू./४/१/१ सदकारणवन्नित्यम्। =सत और कारण रहित नित्य कहलाता है। (आप्त प/टी /२/§६/८/३)।

त. सू /५/३१ तद्भावाव्यय नित्य ।३१। =सतके भावसे या स्वभावसे अर्थात् अपनी जातिसे च्युत न होना नित्य है।

स. सि /५/४/२७०/३ नित्य ध्रुवमित्यर्थ'। 'नेर्ध्रुव' त्यः' इति निष्पादित्वात्।

स सि /५/३१/३०२/५ येनात्मना प्राग्दृष्ट वस्तु तेनेवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। यद्यत्यन्तनिरोधोऽभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव वा स्यात्तत स्मरणानुपपत्ति । तदधीनलोकसंव्यवहारो विरुध्यते। ततस्तद्भावेनाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते। =१. नित्य शब्दका अर्थ ध्रुव है ('नेर्ध्रुवेत्य.' इस वार्तिकके अनुसार 'नि' शब्दसे ध्रुवार्थमें 'त्य' प्रत्यय लगकर नित्य शब्द बना है। २, पहले जिस रूप वस्तुको देखा है उसी रूप उसके पुन' होनेसे 'वही यह है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। यदि पूर्ववस्तुका सर्वथा नाश हो जाये या सर्वथा नयी वस्तुका उत्पाद माना जाये तो इससे स्मरणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और स्मरणकी उत्पत्ति न हो सकनेसे स्मरणके आधीन जितना लोक सव्यवहार चालू है, वह सब विरोधको प्राप्त होता है। इसलिए जिस वस्तुका जो भाव है उसरूपसे च्युत न होना तद्भावाव्यय अर्थात् नित्य है, ऐसा निश्चित होता है। (रा. वा./५/४/१-२/४४३/६), (रा. वा./५/३१/१/४९६/२२)।

न. च. वृ./६१ सोऽयं इति तं णिच्चा। ='यह वह है' इस प्रकारका प्रत्यय जहाँ पाया जाता है, वह नित्य है।

* **द्रव्यमें नित्य अनित्य धर्म**—दे० अनेकान्त/२।

* **द्रव्य व गुणोंमें कथंचित् नित्यानित्यात्मकता** —दे० उत्पाद/३।

* **पर्यायमें कथंचित् नित्यत्व**—दे० उत्पाद/४।

* **षट् द्रव्योंमें नित्य अनित्य विभाग**—दे० द्रव्य/३।

नित्य नय—दे० नय/I/५।

नित्य निगोद—दे० वनस्पति/२।

नित्य पूजा—दे० पूजा।

नित्य मरण—दे० मरण/१।

नित्य महोद्योत—पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) की एक सस्कृत छन्दबद्ध भक्तिरसपूर्ण ग्रन्थ है, जिस पर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) ने महाभिषेक नामकी टीका रची है।

नित्यरसी व्रत—वर्षमें एक बार आता है। ज्येष्ठ कृ० १ से ज्येष्ठ पूर्णिमा तक कृ० १ को उपवास तथा २-१५ तक एकाशना करें। फिर शु. १ को उपवास और २-१५ तक एकाशना करें। जघन्य १ वर्ष, मध्यम १२ वर्ष और उत्कृष्ट २४ वर्ष तक करना पडता है। 'ॐ ह्रीं श्री वृषभजिनाय नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान सग्रह/पृ. १०२)।

नित्य वाहिनी—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

नित्य अनित्य समा जाति—

न्या. सू /मू./५/१/३२,३५/३०२ साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्ते सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसम ।३२। नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसम ।३५।

न्या. सू /वृ /५/१/३२,३५/३०२ अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्य' शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावाना साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्ट सपद्यते सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम इति।३२। अनित्य शब्द इति प्रतिज्ञायते तदनित्यत्व कि शब्दे नित्यमथानित्य यदि तावत्सर्वदा भवति धर्मस्य सदा भावाद्धर्मिणोऽपि सदाभाव इति। नित्य शब्द इति। अथ न सर्वदा भवति अनित्यत्वस्याभावान्नित्य शब्द'। एवं नित्यत्वेन प्रत्यवस्थानान्नित्यसम अस्योत्तरम्। =साधर्म्यमात्रसे तुल्यधर्मसहितपना सिद्ध हो जानेसे सभी पदार्थोंमे अनित्यत्वका प्रसंग उठाना अनित्यसम जाति है। जैसे—घटके साथ कृतकत्व आदि करके साधर्म्य हो जानेसे यदि शब्दका अनित्यपना साधा जावेगा, तब तो यो घटके सत्त्व, प्रमेयत्व आदि रूप साधर्म्य सम्भवनेसे सब पदार्थोंके अनित्यपनेका प्रसंग हो

जावेगा। इस प्रकार प्रत्यवस्थान देना अनित्यसमा जाति है। अनित्य भी स्वयं नित्य है इस प्रकार अनित्यमें भी नित्यत्वका प्रसंग उठाना नित्यसमा जाति है। जैसे—'शब्द अनित्य है' इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करनेवाले वादीपर प्रतिवादी प्रश्न उठाता है, कि वह शब्दके आधार-पर ठहरनेवाला अनित्यधर्म क्या नित्य है अथवा अनित्य। प्रथमपक्ष-के अनुसार धर्मको तीनोकालो तक नित्य ठहरनेवाला धर्मी नित्य ही होना चाहिए। द्वितीय विकल्पके अनुसार अनित्यपन धर्मका नाश हो जानेपर शब्दके नित्यपनका सद्भाव हो जानेसे शब्द नित्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार नित्यत्वका प्रत्यवस्थान उठाना नित्यसमा जाति है।

(श्लो. वा. ४/१/३३/न्या./श्लो. ४२६-४२८/५३; श्लो ४३७-४४०/५३६ में इसपर चर्चा की गयी है)।

नित्यालोक—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

नित्योद्योत—१ रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

निदर्शन—दृष्टान्त।

निदाघ—तीसरे नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५।

निदान—१. निदान सामान्यका लक्षण—

स. सि./७/३७/३७२/७ भोगाकाङ्क्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानम्। =भोगाकांक्षासे जिसमें या जिसके कारण चित्त नियमसे दिया जाता है वह निदान है। (रा. वा./७/३७/६/५५९/६), (द्र. सं./टी /४२/१८४/१)।

स. सि /७/१८/३५६/६ निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा। = भोगोकी लालसा निदान शल्य है। (रा वा./७/१८/२/५४५/३४); (१२/४,२, ८,९/२८४/६)।

२. निदानके भेद

भ. आ /मू./१२१५/१२१५ तत्थ णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थ-भोगकद।१२१५। =निदान शल्यके तीन भेद है—प्रशस्त, अप्रशस्त-व भोगकृत। (अ. ग. श्रा./७/२०)।

३. प्रशस्तादि निदानोंके लक्षण

भ आ./मू /१२१६-१२१९/१२१५ संजमहेदुं पुरिसत्तसत्तबलविरियसघदणवुद्धी (सावअबधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थ।१२१६। माणेण जाइकुलरूवमादि आइरियगणधरजिणत्तं। सोभग्गाणादेय पत्थंतो अप्पसत्थ तु।१२१७। कुद्धो वि अप्पसत्थ मरणे पच्चेइ परवधादीयं। जह उग्गसेणघादे णिदाणं वसिट्ठेण।१२१८। देविगमणिसभोगो णारिस्सरसिट्ठिसत्थवाहत्तं। केसवचक्कधरत्त पच्छंतो होदि भोगकद।१२१९।=पौरुष, शारीरिकबल, वीर्यान्तिरायकर्मका क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होनेवाला दृढ परिणाम, वज्रवृषभनाराचादिकसहनन, ये सब सयमसाधक सामग्री मेरेको प्राप्त हो ऐसी मनकी एकाग्रता होती है, उसको प्रशस्त निदान कहते है। धनिककुलमें, बधुओके कुलमें उत्पन्न होनेका निदान करना प्रशस्त निदान है।१२१६। अभिमानके वश होकर उत्तम मातृवश, उत्तम पितृवशकी अभिलाषा करना, आचार्य पदवी, गणधरपद, तीर्थंकरपद, सौभाग्य, आज्ञा और सुन्दरपना इनकी प्रार्थना करना सब अप्रशस्त निदान है। क्योकि, मानकषायसे दूषित होकर उपर्युक्त अवस्थाकी अभिलाषा की जाती है।१२१७। क्रुद्ध होकर मरणसमयमें शत्रुवधादिककी इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निदान है।१२१८। देव मनुष्योमे प्राप्त होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना भोगकृत निदान है। स्त्रीपना, धनिकपना, श्रेष्ठिपद, सार्थवाहपना, केशवपद, सकलचक्रवर्तीपना, इनकी भोगोके लिए अभिलाषा करना यह भोगनिदान है।१२१९। (ज्ञा./२५/३४-३६); (अ. ग. श्रा./७/२१-२५)।

४. प्रशस्ताप्रशस्त निदानकी इष्टता अनिष्टता

भ. आ /मू./१२२३-१२२६ कोढी सतो लद्धूण डहइ उच्छुं रसायणं एसो। सो सामण्णं णासेइ भोगहेदु णिदाणेण।१२२३। पुरिसत्तादि णिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति। जं पुरिसत्ताइमओ भावो भवमओ य ससारो।१२२४। दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरणं च बोहिलाहो य। एय पत्थेयव्वं ण पच्छणीयं तओ अण्णं।१२२५। पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलाभो य होइ परलोए। आराधयस्स णियमा तत्थमकदे णिदाणे वि।१२२६। =जैसे कोई कुष्ठरोगी मनुष्य कुष्ठरोगका नाशक रसायन पाकर उसको जलाता है, वैसे ही निदान करनेवाला मनुष्य सर्व दु खरूपी रोगके नाशक संयमका भोगकृत निदान-से नाश करता है।१२२३। सयमके कारणभूत पुरुषत्व, सहनन आदि-रूप (प्रशस्त) निदान भी मुमुक्षु मुनि नहीं करते क्योकि पुरुषत्वादि पर्याय भी भव ही है और भव ससार है।१२२४। मेरे दुःखोका नाश हो, मेरे कर्मोका नाश हो, मेरे समाधिमरण हो, मुझे रत्नत्रयरूप बोधिकी प्राप्ति हो इन बातोकी प्रार्थना करनी चाहिए। (क्योकि ये मोक्षके कारणभूत प्रशस्त निदान है)।१२२५। जिसने रत्नत्रयकी आराधना की है उसको निदान न करनेपर भी अन्य जन्ममें निश्चय से पुरुषत्व आदि व संयम आदिकी प्राप्ति होती है।१२२६। (अ. ग.श्रा./२३-२१)।

निद्रा—१. निद्रा व निद्राप्रकृति निर्देश

१. पाँच प्रकारकी निद्राओंके लक्षण

स सि./८/७/३८३/५ मदखेदक्लमविनोदनार्थं स्वापो निद्रा। तस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। या क्रियात्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकश्रममदादिप्रभवा आसीनस्यापि नेत्रगात्रविक्रियासूचिका। सैव पुनपुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचला। स्वप्ने यथा वीर्यविशेषाविर्भाव' सा स्त्यानगृद्धि। स्त्यायतेरनेकार्थत्वात्स्वप्नार्थ इह गृह्यते गृद्धेरपि दीप्ति। स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्र बहुकर्म करोति सा स्त्यानगृद्धि। =मद, खेद और परिश्रमजन्य थकावटको दूर करनेके लिए नींद लेना निद्रा है। उसकी उत्तरोत्तर अर्थात् पुन' पुन प्रवृत्ति होना निद्रानिद्रा है। जो शोकश्रम और मद आदि-के कारण उत्पन्न हुई है और जो बैठे हुए प्राणीके भी नेत्र-गात्रकी विक्रियाकी सूचक है, ऐसी जो क्रिया आत्माको चलायमान करती है, वह प्रचला है। तथा उसीकी पुन पुन प्रवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है। जिसके निमित्तसे स्वप्नमें वीर्यविशेषका आविर्भाव होता है वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्यायति धातुके अनेक अर्थ है। उनमेंसे यहाँ स्वप्न अर्थ लिया गया है और 'गृद्धि' दीप्यते जो स्वप्नमें प्रदीप्त होती है 'स्त्यानगृद्धि' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—स्त्याने स्वप्ने गृद्धयति धातु-का दीप्ति अर्थ लिया गया है। अर्थात् जिसके उदयमे आत्मा रौद्र बहुकर्म करता है वह स्त्यानगृद्धि है। (रा. वा /८/७/२-६/५७२/६); (गो. क /जी. प्र /३३/२७/१०)।

२. पाँचों निद्राओंके चिह्न

१. निद्राके चिह्न

ध ६/१,९-१,१६/३२/३,६ णिद्दाए तिव्वोदएण अप्पकाल सुवइ, उट्ठाविज्जतो लहु उट्ठेदि, अप्पसद्देण वि चेअइ। णिद्दाभरेण पडंतो लहु अप्पाण साहारेदि, मणा मणा कपदि, सचेयणो सुवदि।=निद्रा प्रकृतिके तीव्र उदयसे जीव अल्पकाल सोता है, उठाये जानेपर जल्दी

उठ बैठता है और अल्प शब्दके द्वारा भी सचेत हो जाता है। निद्रा प्रकृतिके उदयसे गिरता हुआ जीव जल्दी अपने आपको सँभाल लेता है, थोडा थोडा काँपता रहता है और सावधान सोता है।

ध. १३/५,५,८५/८ जिस्से पयडीए उदएण अद्धजगंतओ सोवदि, धूलीए भरिया इव लोयणा होंति गुरुवभारेणोट्ठद्ध व सिरमइभारियं होइ सा णिद्दा णाम। =जिस प्रकृतिके उदयसे आधा जागता हुआ सोता है, धूलिसे भरे हुएके समान नेत्र हो जाते है, और गुरुभारको उठाये हुएके समान शिर अति भारी हो जाता है, वह निद्रा प्रकृति है।

गो क./मू /२४/१६ णिद्दुदये गच्छतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई। =निद्राके उदयसे मनुष्य चलता चलता खडा रह जाता है, और खडा खडा बैठ जाता है अथवा गिर पडता है।

२. निद्रानिद्राके चिह्न

ध. ६/१,९-१:१६/३१/६ तत्थ णिद्दाणिद्दाए तिव्वोदएण रुक्खग्गे विसमभूमीए जत्थ वा तत्थ वा देसे घोरंतो अघोरंतो वा णिब्भरं सुवदि। =निद्रानिद्रा प्रकृतिके तीव्र उदयसे जीव वृक्षके शिखरपर, विषम भूमिपर, अथवा जिस किसी प्रदेशपर घुरघुराता हुआ या नही घुरघुराता हुआ निर्भर अर्थात् गाढ निदामे सोता है।

ध. १३/५,५,८५/३५४/२ जिस्से पयडीए उदएण अइणिब्भर सोवदि, अण्णेहि अट्ठाविज्जंतो वि ण उट्ठइ सा णिद्दाणिद्दा णाम। =जिस प्रकृतिके उदयसे अतिनिर्भर होकर सोता है, और दूसरोके द्वारा उठाये जानेपर भी नही उठता है, वह निद्रानिद्रा प्रकृति है।

गो. क/मू /२३/१६ णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्धादिदु सक्को। =निद्रानिद्राके उदयसे जीव यद्यपि सोनेमे बहुत प्रकार सावधानी करता है परन्तु नेत्र खोलनेको समर्थ नही होता।

३. प्रचलाके चिह्न

ध. ६/१,९-१,१६/३२/४ पयलाए तिव्वोदएण वालुवाए भरियाइं व लोयणाइं होंति, गुरुवभारोड्ढव्व व सीम होदि, पुणो पुणो लोयणाइ उम्मिल्ल-णिमिल्लण कुणंति। =प्रचला प्रकृतिके तीव्र उदयसे लोचन बालुकासे भरे हुएके समान हो जाते है, सिर गुरुभारको उठाये हुएके समान हो जाता है और नेत्र पुन' पुन' उन्मीलन एवं निमीलन करने लगते है।

ध. १३/५,५,८५/३५४/६ जिस्से पयडीए उदएण अद्धसुत्तस्स सीस मणा मणा चलदि सा पयला णाम। =जिस प्रकृतिके उदयसे आधे सोते हुएका शिर थोडा-थोडा हिलता रहना है, वह प्रचला प्रकृति है।

गो. क./मू./२५/१७ प्रचलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तोवि। ईसं ईस जाणदि मुहु मुहुं सोवदे मदं।२५। प्रचलाके उदयसे जीव किंचित् नेत्रको खोलकर सोता है। सोता हुआ कुछ जानता रहता है। बार बार मन्द मन्द सोता है। अर्थात् बारबार सोता व जागता रहता है।

४. प्रचला-प्रचलाके चिह्न

ध./६/१,९-१,१६/३१/१० पयलापयलाए तिव्वोदएण वइट्ठओ वा उब्भवो वा मुहेण गलमाणलालो पुणो पुणो कपमाणसरीर-सिरो णिब्भर सुवदि। =प्रचलाप्रचला प्रकृतिके तीव्र उदयसे बैठा या खडा हुआ मुँहसे गिरती हुई लार सहित तथा बार-बार कपते हुए शरीर और शिर-युक्त होता हुआ जीव निर्भर सोता है।

ध. १३/५,५,८५/३५४/४ जिस्से उदएण ट्ठियो णिसण्णो वि सोवदि गहगहियो व सीस धुणदि वायाहयलया व चदुसु वि दिसासु लोट्टदि सा पयलापयला णाम। =जिसके उदयसे स्थित व निषण्ण अर्थात् बैठा हुआ भी सो जाता है, भूतसे गृहीत हुएके समान शिर धुनता है, तथा वायुसे आहत लताके समान चारो ही दिशाओमें लोटता है, वह प्रचला-प्रचला प्रकृति है।

गो क/मू./२४/१६ पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं। =प्रचलाप्रचलाके उदयमे पुरुष मुखसे लार बहाता है और उसके हस्त पादादि चलायमान हो जाते है।

५. स्त्यानगृद्धिके चिह्न

ध ६/१,९-१,१६/३२/१ थीणगिद्धीए तिव्वोदएण उट्ठाविदो वि पुणो सोवदि, सुत्तो वि कम्मं कुणदि, सुत्तो वि झंखइ, दंते कडकडावेइ। =स्त्यानगृद्धिके तीव्र उदयसे उठाया गया भी जीव पुन' सो जाता है, सोता हुआ भी कुछ क्रिया करता रहता है, तथा सोते हुए भी बडबडाता है और दाँतोको कडकडाता है।

ध. १३/५,५,८५/५ जिस्से णिद्दाए उदएण जंतो वि थंभियो व णिच्चलो चिट्ठदि, ट्ठियो वि वइसदि, वइट्ठओ वि णिवज्जदि, णिवण्णओ वि उट्ठाविदो वि ण उट्ठदि, सुत्तओ चेव पंथे ह्वदि, कसदि, लणदि, परिवादि कुणदि सा थीणगिद्धी णाम। =जिस निद्राके उदयसे चलता चलता स्तम्भित किये गयेके समान निश्चल खडा रहता है, खडा खडा भी बैठ जाता है, बैठकर भी पड जाता है, पडा हुआ भी उठानेपर भी नही उठता है, सोता हुआ भी मार्गमें चलता है, मारता है, काटता है और बडबडाता है वह स्त्यानगृद्धि प्रकृति है।

गो क./मू /२३/१६ थीणुदयेणुट्ठविदे सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य। =स्त्यानगृद्धिके उदयसे उठाया हुआ सोता रहता है तथा नींद हीमें अनेक कार्य करता है, बोलता है, पर उसे कुछ भी चेत नहीं हो पाता।

३. निद्राओंका जघन्य व उत्कृष्ट काल व अन्तर

ध. १५/पृ./पंक्ति णिद्दाणिद्दा-पयलापयला-थीणगिद्धीणमुदीरणाए कालो जहण्णेण एगसमओ। कुदो। अद्धुवोदयादो। उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। एव णिद्दापयलाण पि वत्तव्वं। (६१/१४)। णिद्दा पयलाणमतरं जहण्णमुक्कस्स पि अंतोमुहुत्तं। णिद्दाणिद्दा-पयलापयला-थीणगिद्धीणमंतर जहण्णेण अंतोमुहुत्त, उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि साहियाणि अतोमुहुत्तेण।(६८/४)। =निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धिकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय है; क्योंकि, ये अध्रुवोदयी प्रकृतियाँ है। उनकी उदीरणाका काल उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसी प्रकारसे निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोके उदीरणाकालका कथन करना चाहिए।(६१/१४)। निद्रा और प्रचलाकी उदीरणाका अन्तरकाल जघन्य व उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धिका वह अन्तरकाल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

२. साधुओंके लिए निद्राका निर्देश

१. क्षितिशयन मूलगुणका लक्षण

मू. आ./३२ फासुयभूमिपएसे अप्पमसथारिदम्हि पच्छण्णे। दंडंधणुव्व सेज्ज खिदिसयण एयपासेण।३२। =जीवबाधारहित, अल्पसंस्तर रहित, असयमीके गमनरहित गुप्तभूमिके प्रदेशमें दण्डके समान अथवा धनुषके समान एक कर्वटसे सोना क्षितिशयन मूलगुण है।

अन. ध /९/९१/९२१ अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद्भूदेशेऽसस्तृते स्वयम्। स्वमात्रे सस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेऽपि वा। =तृणादि रहित केवल भूमिदेशमे अथवा तृणादि संस्तरपर, ऊर्ध्व व अधोमुख न होकर किसी एक ही कर्वटपर शयन करना क्षितिशयन है।

२. प्रमार्जन पूर्वक कर्वट लेते हैं

भ. आ /मू /९६/२३४ इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे। उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उटणायरसे।९६। =शरीरके मल मूत्रादि-

को फेंकते समय, बैठते-खड़े होते व सोते समय, हाथ-पाँव पसारते या सिकोडते समय, उत्तानशयन करते समय या करवट बदलते समय, साधुजन अपना शरीर पिच्छिकासे साफ करते है।

३. योग निद्रा विधि

मू• आ./७६४ सज्झायज्झाणजुत्ता रत्ति ण सुवंति ते पयाम तु। सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाय वसं ण गच्छंति ।७६४। =स्वाध्याय व ध्यानसे युक्त साधु सूत्रार्थका चिन्तवन करते हुए रात्रिको निद्राके वश नहीं होते हैं। यदि सोवें तो पहला व पिछला पहर छोडकर कुछ निद्रा ले लेते है ।७६४।

अन. ध./६/७/८५१ क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके। स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ।७। =मनको शुद्ध चिद्रूपमें रोकना योग कहलाता है। 'रात्रिको मैं इस वस्तिकामें ही रहूँगा' ऐसी प्रतिज्ञाको योग-निद्रा कहते है। अर्धरात्रिसे दो घड़ी पहले और दो घडी पीछेका, ये चार घडी काल स्वाध्यायके अयोग्य माना गया है। इस अल्पकाल-में साधुजन शरीरश्रमको दूर करनेके लिए जो निद्रा लेते है उसे क्षण-योगनिद्रा समझना चाहिए।

दे. कृतिकर्म/४/३/१—(योगनिद्रा प्रतिष्ठापन व निष्ठापनके समय साधुको योगिभक्ति पढनी चाहिए)।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१ पाँच निद्राओंको दर्शनावरण कहनेका कारण। —दे० दर्शनावरण।

२. पाँचों निद्राओं व चक्षु आदि दर्शनावरणमें अन्तर। —दे० दर्शनावरण।

३. निद्रा प्रकृतियोंका सर्वघातीपना। —दे० अनुभाग/४।

४. निद्रा प्रकृतियोंकी बन्ध, उदय सत्त्वादि प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।

५. अति संक्लेश व विशुद्ध परिणाम सुप्तावस्थामें नहीं होते। —दे० विशुद्धि/२।

६. निद्राओंके नामोंमें द्वित्वका कारण। —दे० दर्शनावरण।

७. जो निजपदमें जागता है वह परपदमें सोता है। —दे० सम्यग्दृष्टि/४।

निधत्त—दे० निकाचित।

निधि—चक्रवर्तीकी ६ निधि—दे० शलाका पुरुष/२।

निधुरा—भरत क्षेत्र पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

निह्नव—

मू. आ./२८४ कुलवयसीलविहूणे सुत्तत्थं सम्मगागमित्ताणं। कुलवय-सीलमहल्ले णिण्हवदोसो दु जप्पतो।२८४। =कुल, व्रत, शील विहीन मठ आदिका सेवन करनेके कारण, कुल, व्रत व शीलसे महान् गुरुके पास अच्छी तरह पढकर भी 'मैने ऐसे व्रती गुरुसे कुछ भी नही पढा' ऐसा कहकर गुरु व शास्त्रका नाम छिपाना निह्नव है।

स. सि /६/१०/३२७/११ कुतश्चित्कारणान्नास्ति न वेद्मीत्यादि ज्ञानस्य व्यपलपन निह्नव। =किसी कारणसे, 'ऐसा नहीं है, मै नहीं जानता' ऐसा कहकर ज्ञानका अपलाप करना निह्नव है। (रा. वा./६/१०/२/५१७/१३); (गो. क/जी. प्र. ८००/९७६/१०)।

भ आ./वि /११३/२६१/४ निह्नवोऽपलाप। कस्यचित्सकाशे श्रुतमधी-त्यन्यो गुरुरित्यभिधानमपलाप। =अपलाप करना निह्नव है। एक आचार्यके पास अध्ययन करके 'मेरा गुरु तो अन्य है' ऐसा कहना अपलाप है।

निबन्धन— स. सि./१/२६/१३३/७—निबन्धनं निबन्ध'। = निब-न्धन शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जोड़ना, सम्बन्ध करना। (रा. वा./१/२६../८७/८)।

ध. १५/१/१० निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम्, जं दव्वं जम्हि णिबद्धं तं णिबधण ति भणिदं होदि। ='निबध्यते तदस्मिन्निति निबन्धनम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो द्रव्य जिसमें सम्बद्ध है उसे निबन्धन कहा जाता है।

२. द्रव्य क्षेत्रादि निबन्धन

ध. १५/२/१० ज दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वतरपडिबद्धो त दव्वणिबंधणं। खेत्तणिबंधणं णाम गामणयरादीणि, पडिणियदखेत्ते तेसिं पडिबद्धत्तुवलंभादो। जो जम्हि काले पडिबद्धो अत्थो तक्कालणिबधणं। त जहा—चुअफु-ल्लाणि चेत्तमासणिबद्धाणि· तत्थेव तेसिमुवलंभादो। पचरत्तियाओ णिबंधो त्ति वा। जं दव्वं भावस्स आलंबणमाहारो होदि तं भावणिबंधणं। जहा लोहस्स हिरण्णसुवण्णादीणि णिबधणं, ताणि अस्सिऊण तदुप्पत्तिदंसणादो, उप्पण्णस्स वि लोहस्स तदावलंबण-दसणादो। =जो द्रव्य जिन द्रव्योंका आश्रय करके परिणमन करता है, अथवा जिस द्रव्यका स्वभाव द्रव्यान्तरसे प्रतिबद्ध है वह द्रव्यनिबन्धन कहलाता है। ग्राम व नगर आदि क्षेत्रनिबन्धन है, क्योकि, प्रतिनियत क्षेत्रमें उनका सम्बन्ध पाया जाता है। जो अर्थ जिस कालमें प्रतिबद्ध है वह काल निबन्धन कहा जाता है। यथा—आम्र वृक्षके फूल चैत्र माससे सम्बद्ध है क्योंकि वे इन्हीं मासोंमें पाये जाते है। अथवा पंचरात्रिक निबन्धन कालनिबन्धन है (?)। जो द्रव्य भावका अवलबन अर्थात् आधार होता है, वह भाव निबन्धन होता है। जैसे—लोभके चाँदी, सोना आदिक है; क्योंकि, उनका आश्रय करके लोभकी उत्पत्ति देखी जाती है, तथा उत्पन्न हुआ लोभ भी उनका आलम्बन देखा जाता है।

निबद्ध मंगल—दे० मगल।

निमंत्रण—दे० समाचार।

निमग्ना—

ति. प /४/२३६ णियजलभरउवरिगदं दव्वं लहुग पि णेदि हेट्ठम्मि। जेण तेण भण्णइ एसा सरिया णिमग्गा त्ति।२३६। =(विजयार्धकी पश्चिमी गुफाकी एक नदी है—दे० लोक/३।) क्योकि यह नदी अपने जलप्रवाहके ऊपर आयी हुई हलकीसे हलकी वस्तुको भी नीचे ले जाती है, इसीलिए यह नदी निमग्ना कही जाती है।२३६। (त्रि सा. ।५९३।)

निमित्त—आहारका एक दोष। दे० आहार/II/४।

निमित्त—१. निमित्तकारण निर्देश

१. निमित्त कारणका लक्षण

स. सि /१/२१/१२५/७ प्रत्यय कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्।= प्रत्यय, कारण व निमित्त ये एकार्थवाची नाम है। (ध. १२/४,२,८, २/२७६/२); (और भी दे० प्रत्यय)।

स. सि /१/२०/१२०/७ पूरयतीति पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम्। ='जो पूरता है' अर्थात् उत्पन्न करता है इस व्युत्पत्तिके अनुसार पूर्व निमित्त कारण ये एकार्थवाची नाम है। (रा वा./१/२०/२/७०/२६)।

श्लो. वा. २/१/२/११/२८/१३—भाषाकार—कार्यकालमें एक क्षण पहलेसे रहते हुए कार्योत्पत्तिमें सहायता करनेवाले अर्थको निमित्तकारण कहते है।

२. निमित्तके एकार्थवाची शब्द

१. निमित्त—(दे० निमित्तका लक्षण; स. सि./८/११; रा. वा./८/११; प्र. सा /त. प्र. ९५), २ कारण (दे० निमित्तका लक्षण, स. सि./८/११; रा. वा./८/११; प्र सा /त. प्र./९५); ३, प्रत्यय (दे० निमित्त-का लक्षण), ४, हेतु (स सा./मू./८०; स. सि./८/११; रा. वा./८/११; प्र सा./त. प्र./९५) । ५, साधन (रा./१/७/··/३८/२; स. सि./१/७/२९/१), ६, सहकारी (द्र. स./मू./१७; न्या दी / १/§ १४/१३/१, का. अ./मू /२१८); ७ उपकारी (पं. ध./उ /४१, १०९); ८, उपग्राहक (त. सू /५/१७); ९, आश्रय (स. सि./५/१७/ २८२/६); १०. आलम्बन (स. सि./१/२३/१२९/९), ११ अनुग्राहक (स सि /६/११/३२८/११), १२ उत्पादक (स. सा./मू./१००), १३. कर्ता (स. सा./मू./१०९, स. सा./आ./१००); १४. हेतुकर्ता (स सि / ५/२२/२९१/८; पं का./त प्र /८८); १५. प्रेरक (स. सि./५/१९/२८६/ ९); १६ हेतुमत (प. ध /उ /१०१), १७. अभिव्यजक (पं ध / उ./३९०) ।

३. करणका लक्षण

जैनेन्द्र व्याकरण/१/२/११३ साधकतम करणं । =साधकतम कारणको करण कहते है । (पाणिनि व्या./१/४/४२); (न्या. वि./वृ /१३/ ५८/५) ।

स सा./आ./परि./शक्ति नं. ४३ भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करण-शक्ति । =होते हुए भावके होनेमें अतिशयवान् साधकतमपनेमयी करण शक्ति है ।

४. करण व कारणके तुलनात्मक प्रयोग

स. सि./१/१४/१०८/५ यथा इह धूमोऽग्ने' । एवमिदं स्पर्शनादिकरणं नासति कर्तर्यात्मनि भवितुमर्हतीति ज्ञातुरस्तित्वं गम्यते । =जैसे लोकमें धूम अग्निका ज्ञान करानेमें करण होता है, उसी प्रकार ये स्पर्शनादिक करण (इन्द्रियाँ) कर्ता आत्माके अभावमें नही हो सकते, अत' उनसे ज्ञाताका अस्तित्व जाना जाता है ।

श्लो. वा /२/१/६/श्लो ४०-४१/३९४ चक्षुरादिप्रमाणं चेदचेतनमपीष्यते । न साधकतमत्वस्याभावात्तस्याचित. सदा ।४०। चितस्तु भावनेत्रादे' प्रमाणत्वं न वार्यते । तत्साधकतमत्वस्य कथंचिदुपपत्तित ।४१। = =नैयायिक लोग चक्षु आदि इन्द्रियोंमें, ज्ञानका सहायक होनेसे, उपचारसे करणपना मानकर, 'चक्षुषा प्रमीयते' ऐसी तृतीया विभक्ति अर्थात् करण कारकका प्रयोग कर देते है । परन्तु उनका ऐसा करना ठीक नहीं है, क्योंकि, उन अचेतन नेत्र आदिको प्रमितिका साधक-तमपना सर्वदा नही है ।४०। हाँ यदि भावइन्द्रिय (ज्ञानके क्षयो-पशम) स्वरूप नेत्र कान आदिको करण कहते हो तो हमें इष्ट है; क्योंकि, चेतन होनेके कारण प्रमाण है । उनकी किसी अपेक्षासे ज्ञप्ति-क्रियाका साधकतमपना या करणपना सिद्ध हो जाता है । (स्या. म./ १०/१०९/१४), (न्या. दी./१/§ १४/१२) ।

भ. आ /वि./२०/७१/४ क्रियते रूपादिगोचरा विज्ञप्तय एभिरिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यन्ते क्वचित्करणशब्देन । अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यदतिशयितं साधकं तत्करणमिति साधकतममात्रमुच्यते । क्वचित्तु क्रिया-सामान्यवचन यथा 'डुकृञ्' करणे इति । =करण शब्दके अनेक अर्थ है—रूपादि विषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञान जिनसे किये जाते है अर्थात् उत्पन्न होते है वे इन्द्रियाँ करण हे । कार्य उत्पन्न करनेमे जो कर्ताको अतिशय सहायक होता है उसको भी करण या साधकतम मात्र कहते है । जैसे—देवदत्त कुल्हाडीसे लकडी काटता है । कही-कही करण शब्दका अर्थ सामान्य क्रिया भी माना गया है । जैसे—'डुकृञ् करणे' प्रस्तुत प्रकरणमें करण शब्दका क्रिया ऐसा अर्थ है ।

स. सा./आ /९५-९६ निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपात्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् । =निश्चयनयसे कर्म और करणमें अभेद भाव है, इस न्यायसे जो जिससे किया जाये वह वही है । जैसे—सुवर्णसे किया हुआ सुवर्णका पात्र सुवर्ण ही है अन्य कुछ नहीं । (और भी दे० कारक/ १/२), (प्र. सा./त. प्र./१६,३०,३५,९६,९८,११७,१२६) ।

५. करण व कारणके भेदोका निर्देश

स्या. म./८/७९/५ मे उद्धृत—न चैवं करणस्य द्वैविध्यमप्रसिद्धम् । यदाहुर्लाक्षणिका.—'करणं द्विविधं ज्ञेयं बाह्याभ्यन्तर बुधै. ।' =करण दो प्रकारका न होता हो ऐसा भी नही । वैयाकरणियोने भी कहा है—१ बाह्य और २, अभ्यन्तरके भेदसे करण दो प्रकारका जानना चाहिए । (और भी दे० कारण/१/२) । ३, स्व निमित्त, ४ पर निमित्त (उत्पादव्ययध्रौव्य/१/२) । ५ बलाधान निमित्त (स. सि./५/८/२९८/११), (रा. वा /५/७/४/४४६/१८); ६, प्रतिबन्ध कारण (स. सि /५/२४/ २९६/८), (रा वा./५/२४/१५/४८९/९); ७. कारक हेतु, ८, ज्ञापक हेतु, ९, व्यजक हेतु (दे० हेतु) ।

६. निमित्तके भेदोंके लक्षण व उदाहरण

रा वा /१/मू /वार्तिक/पृष्ठ/प. इन्द्रियानिन्द्रियबलाधानात् पूर्वमुपलब्धेऽर्थे नोइन्द्रियप्राधान्यात् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् श्रुतम् । (रा. वा./ १/९/२७/४८/२९) । यत सत्यपि सम्यग्दृष्टे. श्रोत्रेन्द्रियबलाधाने बाह्याचार्यपदार्थोपदेशसंनिधाने च श्रुतज्ञानावरणोदयवशीकृतस्यात्मन श्रुतभवननिरुत्सुकत्वादात्मनो न श्रुतं भवति. अत बाह्यमतिज्ञानादिनिमित्तापेक्ष आत्मैव आभ्यन्तर·· श्रुतभवनपरिणामाभिमुख्यात् श्रुतीभवति, न मतिज्ञानस्य श्रुतीभवनमस्ति, तस्य निमित्तमात्रत्वात् ।(रा.वा /१/२०/४/७९/७)। चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापार । · ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते ।(रा. वा /२/१५/४/१२९/२०)। श्रोत्रबलाधानादुपदेश श्रुत्वा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थमाद्रियन्ते । अत श्रोत्रं बहूपकारीति । (रा. वा./२/१९/७/१३१/३०) । युज्यते धर्मास्तिकायस्य जीवपुद्गलगति प्रत्यप्रेरकत्वम्, निष्क्रियस्यापि बलाधानमात्रत्व॰ दर्शनात्, आत्मगुणस्तु अपरत्र क्रियारम्भे प्रेरको हेतुरिष्यते तद्वादिभि । न च निष्क्रियो द्रव्यगुण प्रेरको भवितुमर्हति···। किंच, धर्मास्तिकायाख्यद्रव्यमाश्रयकारणं भवतु न तु निष्क्रियात्मद्रव्यगुणस्य ततो व्यतिरेकेणाऽनुपलभ्यमानस्य क्रियाया आश्रयकारणत्व युक्तम् । (रा. वा /५/७/१३/४४७/३३) । उपकारो बलाधानम् अवलम्बनम् इत्यनर्थान्तरम् । तेन धर्माधर्मयो' गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं भवति । यथा अन्धस्येतरस्य वा स्वजङ्घाबलाद्गच्छत. यष्ट्याद्युपकारक भवति न तु प्रेरकं तथा जीवपुद्गलानां स्वशक्त्यैव गच्छतां तिष्ठता च धर्माधर्मौ उपकारको न प्रेरकौ इत्युक्त भवति । (रा वा./५/१७/१६/७) । =इन्द्रिय व मनके बलाधान निमित्तसे पूर्व उपलब्ध पदार्थमें मनकी प्रधानतासे जो ज्ञान उत्पन्न होता हे वह श्रुत है । क्योकि सम्यग्दृष्टि जीवको श्रोत्रेन्द्रियका बलाधाननिमित्त होते हुए भी तथा बाह्यमे आचार्य, पदार्थ व उपदेश-का सांनिध्य होनेपर भी, श्रुतज्ञानावरणसे वशीकृत आत्माका स्वयं श्रुतभवनके प्रति निरुत्सुक होनेके कारण, श्रुतज्ञान नही होता है, इसलिए बाह्य जो मतिज्ञान आदि उनको निमित्त करके आत्मा ही 'अभ्यन्तरमें श्रुतरूप होनेके परिणामकी अभिमुख्यताके कारण श्रुत-रूप होता है । मतिज्ञान श्रुतरूप नही होता, क्योंकि वह तो श्रुत-ज्ञानका निमित्तमात्र है । चक्षु आदि इन्द्रियोके द्वारा ज्ञान होनेसे पहले ही मनका व्यापार होता है । उसको बलाधान करके चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोमें व्यापार करती है । श्रोत्र इन्द्रियके बलाधानसे उपदेशको सुनकर हितकी प्राप्ति और अहितके

परिहारमें प्रवृत्ति होती है, इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय बहुत उपकारी है। धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलकी गतिमें अप्रेरक कारण है अत वह निष्क्रिय होकर भी बलाधायक हो सकता है। परन्तु आप तो आत्माके गुणको परकी क्रियामे प्रेरक निमित्त मानते हो, अत धर्मास्तिकायका दृष्टान्त विषम है। कोई भी निष्क्रिय द्रव्य या उसका गुण प्रेरक निमित्त नही हो सकता। धर्मास्तिकाय द्रव्य तो अन्यत्र आश्रयकारण हो सक्ता है, पर निष्क्रिय आत्माका गुण जो कि पृथक् उपलब्ध नही होता, क्रियाका आश्रयकारण भी सम्भव नहीं है। उपकार, बलाधान, अवलम्बन ये एकार्थवाची शब्द है। ऐसा कहनेसे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यका जीव पुद्गलकी गतिस्थिति-के प्रति प्रधान कर्तापनेका निराकरण कर दिया गया। जेसे लाठी चलते हुए अन्धेकी उपकारक है, उसे प्रेरणा नही करती उसी तरह धर्मादिको भी उपकारक कहनेसे उनमें प्रेरकपना नही आ सक्ता है।

प. का/त. प्र./८७-८८ धर्मोऽपि स्वयमगच्छन् अगमयश्च स्वयमेव गच्छता जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन गमन-मनुगृह्णाति इति ।८७। तथा अधर्मोऽपि स्वय पूर्वमेव तिष्ठन् परम-स्थापयश्च स्वयमेव तिष्ठता जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूत-सहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनुगृह्णातीति ।८६। यथा हि गतिपरिणत' प्रभञ्जनो वैजयन्तीना अतिपरिणामस्य हेतुकर्तावलोक्यते न तथा धर्म' ।८८।

प का/ता वृ /८४/१४२/११ यथा सिद्धो भगवानुदासीनोऽपि सिद्धगुणा-नुरागपरिणताना भव्याना सिद्धगते सहकारिकारणं भवति तथा धर्मोऽपि स्वभावेनैव गतिपरिणतजीवपुद्गलानामुदासीनोऽपि गति-सहकारिकारण भवति। =१ धर्म द्रव्य स्वय गमन न करता हुआ और अधर्म द्रव्य स्वय पहलेसे ही स्थिति रूप वर्तता हुआ, तथा ये दोनो ही परको गमन व स्थिति न कराते हुए जीव व पुद्गलोको अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूपसे गमन व स्थितिमे अनुग्रह करते है ।८७-८६। जिस प्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओके गति-परिणामका हेतुकर्ता दिखाई देता है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य नही है ।८८। २ जिस प्रकार सिद्ध भगवान् स्वय उदासीन रहते हुए भी, सिद्धोके गुणानुराग रूपसे परिणत भव्योकी सिद्धगतिमे, सहकारी कारण होते है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य भी स्वभावसे ही गतिपरिणत जीवोको, उदासीन रहते हुए भी, गतिमें सहकारी कारण हो जाता है। नोट—(उपरोक्त उदाहरणोपरसे निमित्तकारण व उसके भेदोका स्पष्ट परिचय मिल जाता है। यथा—स्वयं कार्यरूप परिणमे वह उपादान कारण है तथा उसमें सहायक होनेवाले परद्रव्य व गुण निमित्त कारण है। वह निमित्त दो प्रकारका होता है—बलाधान व प्रेरक। बलाधान निमित्तको उदासीन निमित्त भी कहते है, क्योकि, अन्य द्रव्यको प्रेरणा किये बिना, वह उसके कार्यमे सहायक मात्र होता है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नही कि वह बिलकुल व्यर्थ ही है, क्योकि, उसके बिना कार्यकी निष्पत्ति असम्भव होनेसे उसको अविनाभावी सहायक माना गया है। प्रेरक निमित्त क्रियावान द्रव्य ही हो सक्ता है। निष्क्रिय द्रव्य या वस्तुका गुण प्रेरक नहीं हो सकते। वस्तुकी सहायता व अनुग्रह करनेके कारण वह निमित्त उपकार, सहायक, सहकारी, अनुग्राहक आदि नामोसे पुकारा जाता है। प्रेरक निमित्त किसी द्रव्यकी क्रियामे हेतुकर्ता कहा जा सक्ता है, पर उदासीन निमित्तको नहीं। कार्य क्षणसे पूर्व क्षणमें वर्तनेवाला अन्य द्रव्य सहकारी कारण कहलाता है (दे० कारण/I/३/१)। स्व व पर निमित्तक उत्पादके लिए —दे० उत्पादव्ययध्रौव्य/१

★ निमित्तकारणकी मुख्यता गोणता—दे० कारण/III।

२. निमित्तज्ञान निर्देश

१. निमित्तज्ञान सामान्यका लक्षण

रा. वा./३/३६/३/२०२/२१ एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टाङ्गमहानिमित्त-ज्ञता। = इन (निम्न) आठ महानिमित्तोमें कुशलता अष्टाग महा-निमित्तज्ञता है।

२. निमित्तज्ञानके भेद

ति. प./४/१००२, १०१५ णइमित्तिका य रिद्धी णभभउमंगंसराइ वेंज-णय। लक्खणचिण्ह सउण अट्ठवियप्पेहिं वित्थरिदं ।१००२। तं चिय सउणणिमित्त चिण्हो मालो त्ति दोभेदं ।१०१५। =नैमित्तिक ऋद्धि नभ (अन्तरिक्ष, भौम, अग, स्वर, व्यजन, लक्षण, चिह्न (छिन्न); और स्वप्न इन आठ भेदोसे विस्तृत है ।१००२। तहाँ स्वप्न निमित्त-ज्ञानके चिह्न और मालारूपसे दो भेद है ।१०१५। (रा वा /१/२०/१२/ ७६/८), (रा वा./३/३६/३/२०२/१०), (ध ६/४,१,१४/गा १६/७२), (ध ६/४,१,१४/७२/२; ७३/६), (चा. सा./२१४/३)।

३. निमित्तज्ञान विशेषोंके लक्षण

ति. प./४/१००३-१०१६ रविससिगहपहुदीणं उदयत्थमणादि आइं दट्ठूणं। खोणत्तं दुक्खसुह ज जाणइ त हि णहणिमित्त ।१००३। घणसुसिरणिद्धलुक्खप्पहुदिगुणे भाविदूण भूमीए। ज जाणइ खय-वड्ढि तम्मयसकणयरजदपमुहाणं ।१००४। दिसिविदिसिअतरेसु चउ-रगबल ठिदं च दट्ठूण। जं जाणइ जयमजय त भउमणिमित्त-मुद्दिट्ठ ।१००५। वातादिप्पणिदीओ रुहिरप्पहुदिस्सहावसत्ताइ। णिण्णाण उण्णयाणं अगोवगाण दंसणा पासा ।१००६। णरतिरियाण दट्ठु ज जाणइ दुक्खसोक्खमरणाइ। कालत्तयणिप्पण्णं अगणिमित्त पसिद्धं तु ।१००७। णरतिरियाणणिचित्त सद्द सोदूण दुक्खसोक्खाइं। कालत्तयणिप्पण्ण ज जाणइ त सरणिमित्त ।१००८। सिरमुहकधप्पहु-दिसु तिलमसयप्पहुदिआइ दट्ठूण। ज तियकालसुहाइ जाणइ तं वेंजणणिमित्त ।१००६। करचरणतलप्पहुदिसु पक्यकुलिसादिमाणि दट्ठूणं। जं तियकालसुहाइं लक्खइ त लक्खणणिमित्त ।१०१०। सुरदाणवरक्खसणरतिरिएहिं छिण्णमत्थवत्थाणि। पासादणयर-देसादियाणि चिण्हाणि दट्ठूण ।१०११। कालत्तयसभूद सुहासुह मरणविविहदव्व च। सुहदुक्खाइ लक्खइ चिण्हणिमित्त ति तं जाणइ ।१०१२। वातादिदोसचत्तो पच्छिमरत्ते मुयकरवियहुदि। णियमुह-कमलपविट्ठ देक्खिय सउणम्मि सुहसउण ।१०१३। घडतेल्लब्भगादि रासहकरभादिएसु आरुहणं। परदेसगमणसव्वं ज देक्खइ असुहसउण त ।१०१४। जं भासइ दुक्खसुहप्पमुह कालत्तए वि सजादं। त चिय सउणणिमित्त चिण्हो मालो त्ति दो भेदं ।१०१५। करिकेसरिपहुदीण दंसणमेत्तादि चिण्हसउण त। पुव्वावरसबध सउण त मालसउणो त्ति ।१०१६। =सूर्य चन्द्र और ग्रह इत्यादिके उदय व अस्तमन आदिकोको देखकर जो क्षीणता और दु ख-सुख (अथवा जन्म-मरण) का जानना है, वह नभ या अन्तरिक्ष निमित्तज्ञान है ।१००३। पृथिवी-के घन, सुपिर (पोलापन), स्निग्धता और रूक्षताप्रभृति गुणोको विचारकर जो ताँबा, लोहा, सुवर्ण और चाँदी आदि धातुओंकी हानि वृद्धिको तथा दिशा विदिशाओंके अन्तरालमें स्थित चतुरगबलको देखकर जो जय-पराजयको भी जानना है उसे भौम निमित्तज्ञान कहा गया है ।१००४-१००५। मनुष्य और तिर्यंचोके निम्न व उन्नत अगोपागोके दर्शन व स्पर्शसे वात, पित्त, कफ रूप तीन प्रकृतियो और रुधिरादि सात धातुओंको देखकर तीनो कालोमें उत्पन्न होनेवाले सुख-दु:ख या मरणादिको जानना, यह अगनिमित्त नामसे प्रसिद्ध है ।१००६-१००७। मनुष्य और तिर्यंचोंके विचित्र शब्दोको सुनकर कालत्रयमें होनेवाले दुख-सु खको जानना, यह स्वर निमित्तज्ञान है। ।१००८। सिर मुख और कन्धे आदिपर तिल एव मशे आदिको देख-

कर तीनों कालके सुखादिकको जानना, यह व्यञ्जन निमित्तज्ञान है।१००६। हाथ, पाँवके नीचेकी रेखाएँ, तिल आदि देखकर त्रिकाल सम्बन्धी सुख-दुःखादिको जानना सो लक्षण निमित्त है।१०१०। देव, दानव, राक्षस, मनुष्य और तिर्यंचोंके द्वारा छेदे गये शस्त्र एवं वस्त्रादिक तथा प्रासाद, नगर और देशादिक चिन्होंको देखकर त्रिकालभावी शुभ, अशुभ, मरण विविध प्रकारके द्रव्य और सुख-दुःखको जानना, यह चिन्ह या छिन्न निमित्तज्ञान है।१०११-१०१२। वात-पित्तादि दोषोंसे रहित व्यक्ति, सोते हुए रात्रिके पश्चिम भागमें अपने मुखकमलमें प्रविष्ट चन्द्र-सूर्यादिरूप शुभस्वप्नको और घृत व तेलकी मालिश आदि, गर्दभ व ऊँट आदि पर चढना, तथा परदेश गमन आदि रूप जो अशुभ स्वप्नको देखता है, इसके फलस्वरूप तीन कालमें होनेवाले दुःख-सुखादिकको बतलाना यह स्वप्न-निमित्त है। इसके चिन्ह और मालारूप दो भेद हैं। इनमेंसे स्वप्नमें हाथी, सिंहादिकके दर्शनमात्र आदिकको चिन्हस्वप्न और पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाले स्वप्नको माला स्वप्न कहते हैं।१०१३-१०१६। (रा. वा./३/३६/३/२०२/११), (ध ६/४,१,१४/७२/६); (चा. सा /२१४/३)।

निमित्त कारण—दे० निमित्त/१।

निमित्त ज्ञान—दे० निमित्त/२।

निमित्त वाद—दे० परतंत्रवाद।

निमेष—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

नियत प्रदेशत्व—स सा /आ /परि./शक्ति नं. २४—आससारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः।२४। =जो अनादि ससारसे लेकर सकोच-विस्तारसे लक्षित है और जो चरम शरीरके परिमाणसे कुछ न्यून परिमाणमें अवस्थित होता है, ऐसा लोकाकाश-प्रमाण आत्म अवयवत्व जिसका लक्षण है, ऐसी (जीव द्रव्यकी) नियत प्रदेशत्व शक्ति है।

नियत वृत्ति—न्या वि /वृ /२/२८/५४/१६ नियतवृत्तय नियता सकरव्यतिकरविकला वृत्तिरात्मलाभो येषा ते तथोक्ता'। = नियत अर्थात् संकर व्यतिकर दोषोंसे रहित वृत्ति अर्थात् आत्मलाभ। सकर व्यतिकर रहित अपने स्वरूपमें अवस्थित रहना वस्तुकी नियतवृत्ति है। (जैसे अग्नि नियत उष्णस्वभावी है)। (और भी दे० नय/I/५/४ में नय न. १५ नियत नय)।

नियति—जो कार्य या पर्याय जिस निमित्तके द्वारा जिस द्रव्यमें जिस क्षेत्र व कालमें जिस प्रकारसे होना होता है, वह कार्य उसी निमित्तके द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र व कालमें उसी प्रकारसे होता है। ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावरूप चतुष्टयसे समुदित नियत कार्यव्यवस्थाको 'नियति' कहते है। नियत कर्मोदय रूप निमित्तकी अपेक्षा इसे ही 'दैव', नियत कालकी अपेक्षा इसे ही 'काल लब्धि' और होने योग्य नियत भाव या कार्यकी अपेक्षा इसे ही 'भवितव्य' कहते है। अपने-अपने समयोंमें क्रम पूर्वक नम्बरवार पर्यायोंके प्रगट होनेकी अपेक्षा श्री कानजी स्वामीजीने इसके लिए 'क्रमबद्ध पर्याय' शब्दका प्रयोग किया है। यद्यपि करने-धरनेके विकल्पोंपूर्ण रागी बुद्धिमें सब कुछ अनियत प्रतीत होता है, परन्तु निर्विकल्प समाधिके साक्षीमात्र भावमें विश्वकी समस्त कार्य व्यवस्था उपरोक्त प्रकार नियत प्रतीत होती है। अत रागी जीवों वस्तुस्वभाव, निमित्त (दैव), पुरुषार्थ, काललब्धि व भवितव्य इन पाँचों समवायोंसे समवेत तो उपरोक्त व्यवस्था सम्यक् है; और इनसे निरपेक्ष वहीं मिथ्या है। निरुद्यमी पुरुष मिथ्या नियतिके आश्रयसे पुरुषार्थका तिरस्कार करते हैं, पर अनेकान्त बुद्धि इस सिद्धान्तको जानकर सर्व बाह्य व्यापारसे विरक्त हो एक ज्ञाता-द्रष्टा भावमें स्थिति पाती है।

१. नियतिवाद निर्देश

१. मिथ्या नियतिवाद निर्देश

गो. क./मू./८८२/१०६६ जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा। तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदि वादो दु।८८२। =जो जब जिसके द्वारा जिस प्रकारसे जिसका नियमसे होना होता है, वह तब ही तिसके द्वारा तिस प्रकारसे तिसका होता है, ऐसा मानना मिथ्या नियतिवाद है।

अभिधान राजेन्द्रकोश – ये तु नियतिवादिनस्ते ह्येवमाहु, नियति नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावा सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा। तथाहि—यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यभावव्यवस्था प्रतिनियतव्यवस्था च न भवेत् नियामकाभावात्। तत एवं कार्यनैयत्यत प्रतीयमानामेना नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो बाधितु क्षमते। मा प्रापदन्यत्रापि प्रमाणपथव्याघातप्रसङ्ग। =जो नियतिवादी हैं, वे ऐसा कहते हैं कि नियति नामका एक पृथक् स्वतन्त्र तत्त्व है, जिसके वशमे ये सर्व ही भाव नियत ही रूपसे प्रादुर्भावको प्राप्त करते है, अन्यथा नहीं। वह इस प्रकार कि—जो जब जो कुछ होता है, वह सब वह ही नियतरूपसे होता हुआ उपलब्ध होता है, अन्यथा कार्यभाव व्यवस्था और प्रतिनियत व्यवस्था न बन सकेगी, क्योंकि उसके नियामकका अभाव है। अर्थात् नियति नामक स्वतन्त्र तत्त्वको न माननेपर नियामकका अभाव होनेके कारण वस्तुकी नियत कार्यव्यवस्थाकी सिद्धि न हो सकेगी। परन्तु वह तो प्रतीतिमें आ रही है, इसलिए कौन प्रमाणपथमें कुशल ऐसा व्यक्ति है जो इस नियति तत्त्वको बाधित करनेमें समर्थ हो। ऐसा माननेसे अन्यत्र भी कहीं प्रमाणपथका व्याघात नहीं होता है।

२. सम्यक् नियतिवाद निर्देश

प. पु /११०/४० प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यथा यत । तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा तत.।४०। =जिसे जहाँ जिस प्रकार जिस कारणसे जो वस्तु पहले ही प्राप्त करने योग्य होती है उसे वहाँ उसी प्रकार उसी कारणसे वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है। (प पु /२३/६२, २९/८३)।

का अ /मू /३२१-३२३ ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि। णादं जिणेण णियद जम्मं वा अहव मरणं वा।३२१। तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि। को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिदो वा।३२२। एव जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए। सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी।३२३। =जिस जीवके, जिस देशमें, जिस कालमें, जिस विधानसे, जो जन्म अथवा मरण जिनदेवने नियत रूपसे जाना है; उस जीवके उसी देशमें, उसी कालमें उसी विधानसे वह अवश्य होता है। उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकनेमें समर्थ है।३२१-३२२। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्योंको और सब पर्यायोंको जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उनके अस्तित्वमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है।३२३। (यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतानेका प्रकरण है)। नोट—(नियत व अनियत नयका सम्बन्ध नियतवृत्तिसे है, इस नियति सिद्धान्तसे नहीं। दे० नियत वृत्ति।)

३. नियतिकी सिद्धि

दे० निमित्त/२ (अष्टांग महानिमित्तज्ञान जो कि श्रुतज्ञानका एक भेद है अनुमानके आधारपर कुछ मात्र क्षेत्र व कालकी सीमा सहित अशुद्ध अनागत पर्यायोंको ठीक-ठीक परोक्ष जाननेमें समर्थ है।)

दे० अवधिज्ञान/८ (अवधिज्ञान क्षेत्र व कालकी सीमाको लिये हुए अशुद्ध अनागत पर्यायोंको ठीक-ठीक प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ है।

दे० मन:पर्यय ज्ञान/५ (मन:पर्ययज्ञान भी क्षेत्र व कालकी सीमाको लिये हुए अशुद्ध पर्यायरूप जीवके अनागत भावों व विचारोंको ठीक-ठीक प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ है।)

दे० केवलज्ञान/३ (केवलज्ञान तो क्षेत्र व कालकी सीमासे अतीत शुद्ध व अशुद्ध सभी प्रकार की अनागत पर्यायोंको ठीक-ठीक प्रत्यक्ष जाननेमें समर्थ है।)

और भी इनके अतिरिक्त सूर्य ग्रहण आदि बहुतसे प्राकृतिक कार्य नियत कालपर होते हुए सर्व प्रत्यक्ष हो रहे हैं। सम्यक् ज्योतिष ज्ञान आज भी किसी-किसी ज्योतिषीमें पाया जाता है और वह नि:संशय रूपसे पूरी दृढताके साथ आगामी घटनाओंको बतानेमें समर्थ है।)

२. काललब्धि निर्देश

१. काललब्धि सामान्य व विशेष निर्देश

स. सि./२/३/१० अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति कुतस्तदुपशम । काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्। तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्य कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धि । अपरा कर्मस्थितिका काललब्धि । उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु च प्रथमसम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति। अन्त:कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात्सत्कर्मसु च तत संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया। भव्य' पञ्चेन्द्रिय' संज्ञी पर्याप्तक' सर्वविशुद्ध प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। =प्रश्न—अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके कर्मोके उदयसे प्राप्त कलुषताके रहते हुए इन (कर्म प्रकृतियोंका) उपशम कैसे होता है? उत्तर—काललब्धि आदिके निमित्तसे इनका उपशम होता है। अब यहाँ काललब्धिको बतलाते है—कर्मयुक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्धपुद्गलपरिवर्तन नामके कालके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके योग्य होता है, इससे अधिक कालके शेष रहनेपर नहीं होता, (संसारस्थिति सम्बन्धी) यह एक काललब्धि है। (का. अ./टी /१८८/१२५/७) दूसरी काललब्धिका सम्बन्ध कर्मस्थितिसे है। उत्कृष्ट स्थितिवाले कर्मोके शेष रहनेपर या जघन्य स्थितिवाले कर्मोके शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वका लाभ नहीं होता। प्रश्न—तो फिर किस अवस्थामें होता है? उत्तर—जब बँधनेवाले कर्मोकी स्थिति अन्त कोडाकोडी सागर पडती है, और विशुद्ध परिणामोके वशसे सत्तामें स्थित कर्मोकी स्थिति संख्यात हजार सागर कम अन्त कोडाकोडी सागर प्राप्त होती है। तब (अर्थात् प्रायोग्यलब्धिके होनेपर) यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके योग्य होता है। एक काललब्धि भवकी अपेक्षा होती है—जो भव्य है, संज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है, वह प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। (रा. वा./२/३/२/१०४/१६), (और भी दे० नियति/२/३/२)

दे० नय/I/५/४/ नय नं ११ कालनयसे आत्म द्रव्यकी सिद्धि समयपर आधारित है, जैसे कि गर्मीके दिनोमें आम्रफल अपने समयपर स्वय पक जाता है।

२. एक काललब्धिमें सर्व लब्धियोंका अन्तर्भाव

ष, खं./६/१,९-८/सूत्र ३/२०३ एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जावे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं बंधदि तावे पढमसम्मत्तं लभदि।३।

ध. ६/१,९-८,३/२०४/२ एदेण खओवसमलद्धी विसोहिलद्धी देसणलद्धी पाओग्गलद्धि त्ति चत्तारि लद्धीओ परूविदाओ।

ध ६/१,९-८,३/२०५/१ सुत्ते काललद्धी चेव परूविदा, तम्हि एदासिं लद्धीण कधं संभवो। ण, पडिसमयमणंतगुणहीणअणुभागुदीरणाए

अणतगुणकमेण वड्ढमाण विसोहीए आइरियोवदेसोवलंभस्स य तत्थेव सभवादो। =इन ही सब कर्मोको जब अन्त कोडाकोडी स्थितिको बाँधता है, तब यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। २ इस सूत्रके द्वारा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि ये चारो लब्धियाँ प्ररूपण की गयी है। प्रश्न—सूत्रमे केवल एक काललब्धि ही प्ररूपणा की गयी है, उसमे इन शेष लब्धियोका होना कैसे सम्भव है? उत्तर—नही, क्योकि, प्रति समय अनन्तगुणहीन अनुभागकी उदीरणाका (अर्थात् क्षयोपशमलब्धिका), अनन्तगुणित क्रम द्वारा वर्द्धमान विशुद्धिका (अर्थात् विशुद्धि लब्धिका), और आचार्यके उपदेशकी प्राप्तिका (अर्थात् देशनालब्धिका) एक काललब्धि (अर्थात् प्रायोग्यलब्धि)मे होना सम्भव है।

३. काललब्धिकी कथंचित् प्रधानताके उदाहरण

१. मोक्ष प्राप्तिमें काललब्धि

मो. पा /मू /२४ अइसोहणजोएण सुद्ध हेम हवेइ जह तह य। कालाई-लद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि।२४। = जिस प्रकार स्वर्णपाषाण शोधनेकी सामग्रीके सयोगसे शुद्ध स्वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार काल आदि लब्धिकी प्राप्तिसे आत्मा परमात्मा बन जाता है।

आ. अनु /२४१ मिथ्यात्वोपचितात्स एव समल कालादिलब्धौ क्वचित् सम्यक्त्वव्रतदक्षताकलुषतायोगै क्रमान्मुच्यते।२४१। = =मिथ्यात्वसे पुष्ट तथा कर्ममल सहित आत्मा कभी कालादि लब्धिके प्राप्त होनेपर क्रमसे सम्यग्दर्शन, व्रतदक्षता, कषायोका विनाश और योगनिरोधके द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

का. अ /मू /१८८ जीवो हवेइ कत्ता सव्वं कम्माणि कुव्वदे जम्हा। कालाइ-लद्धिजुत्तो ससार कुणइ मोक्ख च।१८८। =सर्व कर्मोको करनेके कारण जीव कर्ता होता है। वह स्वय ही ससारका कर्ता है और कालादिलब्धिके मिलनेपर मोक्षका कर्ता है।

प्र. सा /ता वृ /२४४/२०५/१२ अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजन जाता, भाविकाले विशिष्टसिद्धसुखस्य भाजनं भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव। =अतीत अनन्तकालमें जो कोई भी सिद्धसुखके भाजन हुए है, या भावीकालमें होगे वे सब काललब्धिके वशमे ही हुए है। (प. का./ता. वृ./१००/१६०/१२), (द्र. सं. टी./६३/३)।

प. का./ ता./वृ /२०/४२/१८ कालादिलब्धिवशाद्भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं लभते। = काल आदि लब्धिके वशसे भेदाभेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्गको प्राप्त करते है।

पं. का /ता. वृ /२१/६५/६ स एव चेतयितात्मा निश्चयनयेन स्वयमेव कालादिलब्धिवशात्सर्वज्ञो जात सर्वदर्शी च जात। =वह चेतयिता आत्मा निश्चयनयसे स्वयम् ही कालादि लब्धिके वशसे सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हुआ है।

दे. नियति/५/६ (काललब्धि माने तदनुसार बुद्धि व निमित्तादि भी स्वत प्राप्त हो जाते है।)

२. सम्यक्त्व प्राप्तिमें काललब्धि—

म. पु./६२/३१४-३१५ अतीतानादिकालेऽत्र कश्चित्कालादिलब्धित। ।३१४। करणत्रयसशान्तसप्तप्रकृतिसचय। प्राप्तविच्छिन्नससार रागसभूतदर्शन.।३१५। =अनादि कालसे चला आया कोई जीव काल आदि लब्धियोका निमित्त पाकर तीनो करणरूप परिणामो मिथ्यादि सात प्रकृतियोका उपशम करता है, तथा ससारकी परिपाटीका विच्छेद कर उपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। (स. सा./ता वृ./३७३/४५६/११)।

ज्ञा /६/७ में उद्धृत श्लो न १ भव्य' पर्याप्तक सज्ञी जीव पञ्चेन्द्रियान्वितः। काललब्ध्यादिना युक्त सम्यक्त्व प्रतिपद्यत।१। =जो भव्य हो, पर्याप्त हो, सज्ञी पंचेन्द्रिय हो और काललब्धि आदि सामग्री सहित हो वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। (दे. नियति/२/१); (अन ध /२/४६/१७१), (ल. सा./ता. वृ./१७१/२३८/१६)।

स. सा./ता. वृ./३२१/४०८/२० यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीव सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति। =जब कालादि लब्धिके वशसे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होती है तब यह जीव सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्र रूप पर्यायसे परिणमन करता है।

३ सभी पर्यायोमें काललब्धि

का. अ /मू./२४४ सव्वाण पज्जायाणं अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती। कालाई-लद्धीए अणाइ-णिहणम्मि दव्वम्मि। =अनादिनिधन द्रव्यमें काललब्धि आदिके मिलनेपर अविद्यमान पर्यायोकी ही उत्पत्ति होती है। (और भी दे० आगे शीर्षक नं. ६)।

४. काकतालीय न्यायसे कार्यकी उत्पत्ति

ज्ञा. ३/२ काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया। तत्तर्हि सफल कार्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम्।२। =हे आत्मन्! यदि तूने काकतालीय न्यायसे यह मनुष्यजन्म पाया है, तो तुझे अपनेमे ही अपनेको निश्चय करके अपना कर्त्तव्य करना तथा जन्म सफल करना चाहिए।

प. प्र /टी./१/८५/८१/१६ एकेन्द्रियविकलेन्द्रिय·· आत्मोपदेशादीनुत्तरोत्तरदुर्लभक्रमेण दु प्राप्ता काललब्धि, कथंचित्काकतालीयकन्यायेन तां लब्ध्वा · यथा यथा मोहो विगलयति तथा तथा सम्यक्त्व लभते। =एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियसे लेकर आत्मोपदेश आदि जो उत्तरोत्तर दुर्लभ बाते है, काकतालीय न्यायसे काललब्धिको पाकर वे सब मिलनेपर भी जैसे-जैसे मोह गलता जाता है, तैसे-तैसे सम्यक्त्वका लाभ होता है। (द्र स /टी /३५/१४३/११)।

५. काललब्धिके बिना कुछ नहीं होता

ध. ६/४,१,४४/१२०/१० दिव्वज्झुणीए किमट्ठ तत्थापउत्ती। गणिंदाभावादो। सोहम्मिदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो। काललद्धीए विणा असहायस्स देविदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। =प्रश्न—इन (छयासठ) दिनोमे दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई? उत्तर—गणधरका अभाव होनेके कारण। प्रश्न-सौधर्म इन्द्रने उसी समय गणधरको उपस्थित क्यो नहीं किया? उत्तर—नही किया, क्योकि, काललब्धिके बिना असहाय सौधर्म इन्द्रके उनको उपस्थित करनेकी शक्तिका उस समय अभाव था। (क पा. १/१,१/§ ५७/७६/१)।

म. पु /६/११५ तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते। काललब्ध्या विना नार्य तदुत्पत्तिरिहाङ्गिनाम्।११५।

म. पु /४७/३८६ भव्यस्यापि भवोऽभवद्भ भवगत' कालादिलब्धेर्विना। ।३८६। =१. (प्रीतिकर और प्रीतिदेव नामक दो मुनि वज्रजघके पास आकर कहते है) हे आर्य! आज सम्यग्दर्शन ग्रहण कर। उसके ग्रहण करनेका यह समय है (ऐसा उन्होने अवधिज्ञानसे जान लिया था), क्योकि काललब्धिके बिना ससारमे इस जीवको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नही होती। (म पु./४८/८४)।११५। २. कालादि लब्धियोके बिना भव्य जीवोको भी ससारमें रहना पडता है।३८६।

का. अ /मू /४०८ इदि एसो जिणधम्मो अलद्धपुव्वो अणाइकाले वि। मिच्छत्तसंजुदाण जीवाण लद्धिहीणाण।४०८। = इस प्रकार यह जिनधर्म कालादि लब्धिसे हीन मिथ्यादृष्टि जीवोको अनादिकाल बीत जानेपर भी प्राप्त नही हुआ।

६. काललब्धि अनिवार्य है

का अ./मू /२१६ कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था। परि-

णममाणा हि नय ण सक्कदे को वि वारेदु ।२११। =काल आदि लब्धियोंसे युक्त तथा नाना शक्तियोंवाले पदार्थको स्वयं परिणमन करते हुए कौन रोक सकता है।

७. काललब्धि मिलना दुर्लभ है

भ आ./वि /१५८/३७०/१४ उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्लभा' प्राणिनो सुहृदो विद्वांस इव। =जैसे विद्वान् मित्रकी प्राप्ति दुर्लभ है, वैसे ही उपशम, काल व करण इन लब्धियोंकी प्राप्ति दुर्लभ है।

८. काललब्धिकी कथंचित् गौणता

रा. वा /१/३/७-९/२३/२० भव्यस्य कालेन नि'श्रेयसोपपत्ते अधिगमसम्यक्त्वाभाव ।७। न, विवक्षितापरिज्ञानात्।.. यदि सम्यग्दर्शनादेव केवलान्निसर्गजादधिगमजाद्वा ज्ञानचारित्ररहितान्मोक्ष इष्ट स्यात्, तत् इद युक्तं स्यात् 'भव्यस्य कालेन नि श्रेयसोपपत्ते' इति। नायमर्थोऽत्र विवक्षित ।८। यतो न भव्याना कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्या' संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनन्तेन, अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्ति। ततश्च न युक्तम्—'भवस्य कालेन नि श्रेयसोपपत्ते' इति। =प्रश्न—भव्य जीव अपने समयके अनुसार ही मोक्ष जायेगा, इसलिए अधिगम सम्यक्त्वका अभाव है, क्योंकि उसके द्वारा समयसे पहले सिद्धि असम्भव है ? ।७। उत्तर—नहीं, तुम विवक्षाको नहीं समझे। यदि ज्ञान व चारित्रसे शून्य केवल निसर्गज या अधिगमज सम्यग्दर्शन ही से मोक्ष होना हमें इष्ट होता तो आपका यह कहना युक्त हो जाता कि भव्य जीवको समयके अनुसार मोक्ष होती है, परन्तु यह अर्थ तो यहाँ विवक्षित नही है। (यहाँ मोक्षका प्रश्न ही नहीं है। यहाँ तो केवल सम्यक्त्वकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है यह बताना इष्ट है—दे० अधिगम) ।८। दूसरी बात यह भी है कि भव्योंकी कर्मनिर्जराका कोई समय निश्चित नहीं है और न मोक्षका ही। कोई भव्य संख्यात कालमें सिद्ध होंगे, कोई असंख्यातमें और कोई अनन्त कालमें। कुछ ऐसे भी है जो अनन्तानन्त कालमें भी सिद्ध नहीं होंगे। अत' भव्यके मोक्षके कालनियमकी बात उचित नहीं है ।९। (श्लो. वा. २/१/३/४/७५/८)।

म. पु /७४/३८६-४१३ का भावार्थ—श्रेणिकके पूर्वभवके जीव खदिरसारने समाधिगुप्त मुनिसे कौवेका मास न खानेका व्रत लिया। बीमार होनेपर वैद्यों द्वारा कौवोका मास खानेके लिए आग्रह किये जानेपर भी उसने वह स्वीकार न किया। तब उसके साले शूरवीरने उसे बताया कि जब वह उसको देखनेके लिए अपने गाँवसे आ रहा था तो मार्गमें एक यक्षिणी रोती हुई मिली। पूछनेपर उसने अपने रोनेका कारण यह बताया, कि खदिरसार जो कि अब उस व्रतके प्रभावसे मेरा पति होनेवाला है, तेरी प्रेरणासे यदि कौवेका मास खा लेगा तो नरकके दु ख भोगेगा। यह सुनकर खदिरसार तुरत श्रावकके व्रत धारण कर लिये और प्राण त्याग दिये। मार्गमें शूरवीरको पुन वही यक्षिणी मिली। जब उसने उससे पूछा कि क्या वह तेरा पति हुआ तो उसने उत्तर दिया कि अब तो श्रावकव्रतके प्रभावसे वह व्यन्तर होनेकी बजाय सौधर्म स्वर्गमें देव उत्पन्न हो गया, अत मेरा पति नहीं हो सकता।

म. पु /७६/१-३० भगवान् महावीरके दर्शनार्थ जानेवाले राजा श्रेणिकने मार्गमें ध्यान निमग्न परन्तु कुछ विकृत मुखवाले धर्मरुचिकी वन्दना की। समवशरणमें पहुँचकर गणधरदेवसे प्रश्न करनेपर उन्होंने बताया कि अपने छोटेसे पुत्रको ही राज्यभार सौंपकर यह दीक्षित हुए है। आज भोजनार्थ नगरमें गये तो किन्हीं मनुष्योंकी परस्पर बातचीतको सुनकर इन्हे यह भान हुआ कि मन्त्रियोंने उनके पुत्रको बाँध रखा और स्वय राज्य बाँटनेकी तैयारी कर रहे हैं। वे निराहार ही लौट आये और अब ध्यानमें बैठे हुए क्रोधके वशीभूत हो संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यानमें स्थित है। यदि आगे अन्तर्मुहूर्त तक इनकी यही अवस्था रही तो अवश्य ही नरकायुका बन्ध करेंगे। अत तू शीघ्र ही जाकर उन्हे सम्बोध। राजा श्रेणिकने तुरत जाकर मुनिको सावधान किया और वह चेत होकर रौद्रध्यानको छोड शुक्लध्यानमें प्रविष्ट हुआ। जिसके कारण उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

मो. मा प्र./९/४५६/३ काललब्धि वा होनहार तौ कछु वस्तु नाहीं। जिस कालविषै कार्य बनैं, सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार।

दे. नय/I/५/४/नय नं. २० कृत्रिम गर्मकि द्वारा पकाये गये आम्र फलकी भाँति अकालनयसे आत्मद्रव्य समयपर आधारित नहीं। (और भी दे. उदीरणा/१/१)।

३. दैव निर्देश

१. दैवका लक्षण

अष्टशती/- योग्यता कर्मपूर्व वा देवम्। =योग्यता या पूर्वकर्म दैव कहलाता है।

म. पु./४/३७ विधि' स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्। ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेया' कर्मवेधस. ।३७। =विधि स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ईश्वरके पर्यायवाचक शब्द है, इनके सिवाय और कोई लोकका बनानेवाला ईश्वर नहीं है।

आ अनु /२६२ यत्प्राग्जन्मनि सचित तनुभृता कर्माशुभ वा शुभं। तद्दैव' ।२६२। =प्राणीने पूर्व भवमें जिस पाप या पुण्य कर्मका सचय किया है, वह दैव कहा जाता है।

२. मिथ्या दैववाद निर्देश

आप्त मी./८८ दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैव पौरुषत कथ। दैवतश्चेदनिर्मोक्ष पौरुषं निष्फलं भवेत् ।८८। =दैवसे ही सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धि होती है। वह दैव अर्थात् पाप कर्मस्वरूप व्यापार भी पूर्वके दैवसे होता है। ऐसा माननेसे मोक्षका व पुरुषार्थका अभाव ठहरता है। अत ऐसा एकान्त दैववाद मिथ्या है।

गो. क /मू./८९१/१०७२ दइवमेव परं मण्णे धिप्पउरुसमणत्थयं। एसो सालसमुत्तगो कण्णो हण्णइ संगरे ।८९१।—दैव ही परमार्थ है। निरर्थक पुरुषार्थको धिक्कार है। देखो पर्वत सरीखा उत्तग राजा कर्ण भी संग्राममें मारा गया।

३. सम्यग्दैववाद निर्देश

सुभाषित रत्नसन्दोह/३५६ यदनीतिमता लक्ष्मीर्यदपथ्यनिषेविणा च कल्पत्वम्। अनुमीयते विधातु स्वेच्छाकारित्वमेतेन ।३५६। =दैव बडा ही स्वेच्छाचारी है, यह मनमानी करता है। नीति तथा पथ्यसेवियोंको तो यह निर्धन व रोगी बनाता है और अनीति व अपथ्यसेवियोंको धनवान् व नीरोग बनाता है।

दे. नय/I/५/४/ नय नं. २२ नींबूके वृक्षके नीचेसे रत्न पानेकी भाँति, दैव नयसे आत्मा अयत्नसाध्य है।

पं. ध./उ./३७४ देवात्कस्तं गते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम्। दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ।३७४। =दैवसे अर्थात् काललब्धिसे उस दर्शन मोहनीयके उपशमादि होते ही उसी समय सम्यग्दर्शन होता है, और दैवसे यदि उस दर्शन मोहनीयका अभाव न हो तो नहीं होता, इसलिए यह उपयोग न सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कारण है और दर्शनमोहके अभावमें। (पं. ध./उ /३७८)।

प. ध./उ /श्लो न सारार्थ—इसी प्रकार दैवयोगसे अपने-अपने कारणोंका या कर्मोदयादिका सन्निधान होनेपर—पचेन्द्रिय व मन अगोपाग नामकर्मके बन्धकी प्राप्ति होती है ।२९५। इन्द्रियों आदिकी पूर्णता होती है ।२९८। सम्यग्दृष्टिको भी कदाचित् आरम्भ आदि

क्रियाएँ होती है ।४२६। कदाचित् दरिद्रताकी प्राप्ति होती है ।५०७। मृत्यु होती है ।५४०। कर्मोदय तथा उनके फलभूत तीव्र मन्द संक्लेश विशुद्ध परिणाम होते हैं।६८३। आँखमें पीडा होती है ।६६१। ज्ञान व रागादिमें हीनता होती है ।८८६। नामकर्मके उदयवश उस-उस गतिमें यथायोग्य शरीरकी प्राप्ति होती है ।६७७।—ये सब उदाहरण दैवयोगसे होनेवाले कार्योंकी अपेक्षा निर्दिष्ट हैं।

४. कर्मोदयकी प्रधानताके उदाहरण

स. सा /आ./२५६/क १६८ सर्वं सदैव नियत भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदु'खसौख्यम्। अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य, कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु,खसौख्यम् ।१६८। =इस जगतमें जीवोंके मरण, जीवित, दु ख, सुख—सब सदैव नियमसे अपने कर्मोदयसे होता है। यह मानना अज्ञान है कि—दूसरा पुरुष दूसरेके मरण, जीवन, दु'ख सुखको करता है।

पं. वि./३/१८ यैव स्वकर्मकृतकालात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरण न पुरो न पश्चात्। मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदु'खभुजो भवन्ति ।१८। =इस संसारमें अपने कर्मके द्वारा जो मरणका समय नियमित किया गया है, उसी समयमें ही प्राणी मरणको प्राप्त होता है, वह उससे न तो पहले मरता है और न पीछे भी। फिर भी मूर्खजन अपने किसी सम्बन्धीके मरणको प्राप्त होनेपर अतिशय शोक करके बहुत दु ख भोगते है ।१८। (पं. वि./३/१०)।

५. दैवके सामने पुरुषार्थका तिरस्कार

कुरल काव्य/३८/६,१० यत्नेनापि न तद् रक्ष्यं भाग्यं नैव यदिच्छति। भाग्येन रक्षित वस्तु प्रक्षिप्तं नापि नश्यति ।६। दैवस्य प्रबला शक्तिर्यतस्तद्ग्रस्तमानव'। यदैव यतते जेतु तदैवाशु स पात्यते ।१०। =भाग्य जिस बातको नहीं चाहता उसे तुम अत्यन्त चेष्टा करनेपर भी नहीं रख सकते, और जो वस्तुएँ भाग्यमें बदी है उन्हे फेंक देनेपर भी वे नष्ट नही होती ।६। (भ आ /मू /१७३१/१५६२), (पं. वि/१.१८८) दैवसे बढकर बलवान् और कौन है, क्योंकि जब ही मनुष्य उसके फन्देसे छूटनेका यत्न करता है, तब ही वह आगे बढकर उसको पछाड देता है ।१०।

आ. मी./८८ पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्पौरुष दैवत' कथम्। पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषम् ।८८। =यदि पुरुषार्थसे ही अर्थकी सिद्धि मानते हो तो हम पूछते है कि दैवसिद्ध जितने भी कार्य है, उनकी सिद्धि कैसे करोगे। यदि कहो कि उनकी सिद्धि भी पुरुषार्थ द्वारा ही होती है, तो यह बताइए, कि पुरुषार्थ तो सभी व्यक्ति करते है, उनको उसका समान फल क्यो नहीं मिलता? अर्थात कोई सुखी व कोई दु'खी क्यो है?

आ. अनु /३२ नेता यत्र बृहस्पति' प्रहरणं वज्र' सुरा' सैनिका., स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावतो वारण'। इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलिभिद्भग्न. परै सगरे:, तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ।३२। =जिसका मन्त्री बृहस्पति था, शस्त्र वज्र था, सैनिक देव थे, दुर्ग स्वर्ग था, हाथी ऐरावत था, तथा जिसके ऊपर विष्णुका अनुग्रह था, इस प्रकार अद्भुत बलसे सयुक्त भी वह इन्द्र युद्धमें दैत्यो (अथवा रावण आदि) द्वारा पराजित हुआ है। इसीलिए यह स्पष्ट है कि निश्चयसे दैव ही प्राणोका रक्षक है, पुरुषार्थ व्यर्थ है, उसके लिए बार बार धिक्कार हो।

पं. वि /३/४२ राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चित, सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोऽप्याशु क्षयं गच्छति। अन्यै' किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयो., ससारे स्थितिरीदृशीति विदुषा कान्यत्र कार्यो मद ।४२। =भाग्यवश राजा भी निश्चयसे क्षणभरमें रकके समान हो जाता है, तथा समस्त रोगोंसे रहित युवा पुरुष भी शीघ्र ही मरणको प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्य पदार्थोंके विषयमें तो क्या कहा जाय, किन्तु जो लक्ष्मी और जीवित दोनो ही संसारमें श्रेष्ठ समझे जाते है, उनकी भी जब ऐसी (उपर्युक्त) स्थिति है तब विद्वान् मनुष्यको अन्य किसके विषयमें अभिमान करना चाहिए?

पं ध./उ./५७१ पौरुषो न यथाकामं पुंस कर्मोदितं प्रति। न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुष' ।५७१। =दैव अर्थात कर्मोदयके प्रति जीवका इच्छानुकूल पुरुषार्थ कारण नही है, क्योकि, पुरुषार्थ केवल पौरुषको अपेक्षा नही रखता है, किन्तु दैवकी अपेक्षा रखता है।

और भी. दे. पुण्य/४/२ (पुण्य साथ रहनेपर बिना प्रयत्न भी समस्त इष्ट सामग्री प्राप्त होती है, और वह साथ न रहनेपर अनेक कष्ट उठाते हुए भी वह प्राप्त नही होती)।

६. दैवकी अनिवार्यता

पद्म पु /४१/६-७सस्पन्दं दक्षिणं चक्षुरवधार्य व्यचिन्तयत्। प्राप्तव्यं विधियोगेन कर्म कर्त्तुं न शक्यते ।६। क्षुद्रशक्तिसमासक्ता मानुपास्तावदासताम्। न सुरैरपि कर्माणि शक्यन्ते कर्तुमन्यथा ।७। =दक्षिण नेत्रको फडकते देख उसने विचार किया कि दैवयोगसे जो कार्य जैसा होना होता है, उसे अन्यथा नही किया जा सकता ।६। हीन शक्तिवालोकी तो बात ही क्या, देवोके द्वारा भी कर्म अन्यथा नहीं किये जा सकते ।७।

म. पु./४४/२६६ स प्रतापः प्रभा सास्य सा हि सर्वैकपूज्यता। प्रातः प्रत्यहमर्कस्याप्यतर्क्य' कर्कशो विधि.। =सूर्यका प्रताप व कान्ति असाधारण है और असाधारण रूपसे ही सब उसकी पूजा करते है, इससे जाना जाता है कि निष्ठुर दैव तर्कका विषय नही है।

४. भवितव्य निर्देश

१. भवितव्यका लक्षण

मो मा. प्र./६/४५६/४ जिस काल विषे जो कार्य भया सोई होनहार (भवितव्य) है।

जैन तत्त्व मीमासा/पृ ६/पं फूलचन्द—भवितं योग्यं भवितव्यं, तस्य भाव भवितव्यता। =जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते है। और उसका भाव भवितव्यता कहलाता है।

२. भवितव्यकी कथंचित् प्रधानता

पं. वि /३/५३ लोकश्चेतसि चिन्तयन्ननुदिनं कल्याणमेवात्मन., कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती तत्तत्र यद्रोचते। =मनुष्य प्रतिदिन अपने कल्याणका ही विचार करते है, किन्तु आयी हुई भवितव्यता वही करती है जो कि उसको रुचता है।

का अ./पं. जयचन्द/३११-३१२ जो भवितव्य है वही होता है।

मो मा प्र./२/पृष्ठ/पक्ति—क्रोधकरि (दूसरेका) बुरा चाहनेकी इच्छा तौ होय, बुरा होना भवितव्याधीन है ।५६/८। अपनी महंतताकी इच्छा तौ होय, महतता होनी भवितव्य आधीन है ।५६/१८। मायाकरि इष्ट सिद्धिके अर्थि छल तौ करै, अर इष्ट सिद्धि होना भवितव्य आधीन है ।५७/३।

मो. मा प्र /३/८०/११ इनकी सिद्धि होय (अर्थात कषायोके प्रयोजनोकी सिद्धि होय) तौ कषाय उपशमनेतैं दु ख दूर होय जाय सुखी होय, परन्तु इनकी सिद्धि इनके लिए (किये गये) उपायनिके आधीन नाही, भवितव्यके आधीन है। जातै अनेक उपाय करते देखिये है अर सिद्धि न हो है। बहुरि उपाय बनना भी अपने आधीन नाही, भवितव्यके आधीन है। जातै अनेक उपाय करना विचारै और एक भी उपाय न होता देखिये है। बहुरि काकताली न्यायकरि भवितव्य ऐसा ही होय जैसा आपका प्रयोजन होय तैसा ही उपाय होय अर तातैं कार्यकी सिद्धि भी होय जाय।

३. भवितव्य अलंघ्य व अनिवार्य है

स्व. स्तो/३३ अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा। अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ।३३। = अन्तरंग और बाह्य दोनो कारणोके अनिवार्य संयोग द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी इस भवितव्यताकी शक्ति अलंघ्य है। अहंकारसे पीडित हुआ संसारी प्राणी मन्त्र-तन्त्रादि अनेक सहकारी कारणोको मिलाकर भी सुखादि कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नही होता है। (पं. वि /३/८)

प पु /४१/१०२ पक्षिणं संयतोऽगादीन्मा भैषीरधुना द्विज। मा रोदीर्यद्यथा भाव्य क करोति तदन्यथा ।१०२। = रामसे इतना कहकर मुनिराजने गृद्धसे कहा कि हे द्विज। अब भयभीत मत होओ, रोओ मत, जो भवितव्य है अर्थात् जो बात जैसी होनेवाली है, उसे अन्यथा कौन कर सकता है।

५. नियति व पुरुषार्थका समन्वय

१. दैव व पुरुषार्थ दोनोंके मेलसे ही अर्थ सिद्धि होती है

अष्टशती/ योग्यता कर्मपूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्, पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थसिद्धि, तदन्यतरापायेऽघटनात्। पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात्। दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसंगात्। =(संसारी जीवोमें दैव व पुरुषार्थ सम्बन्धी प्रकरण है।)—पदार्थकी योग्यता अर्थात् भवितव्य और पूर्वकर्म ये दोनो दैव कहलाते है। ये दोनों ही अदृष्ट है। तथा व्यक्तिकी अपनी चेष्टाको पुरुषार्थ कहते हैं जो दृष्ट है। इन दोनोसे ही अर्थसिद्धि होती है, क्योकि, इनमेसे किसी एकके अभावमें अर्थसिद्धि घटित नहीं हो सकती। केवल पुरुषार्थसे तो अर्थसिद्धि होती दिखाई नही देती (दे० नियति/३/५)। तथा केवल दैवके माननेपर इच्छा करना व्यर्थ हुआ जाता है। (दे० नियति/३/२)।

प. पु /४६/२३१ कृत्यं किंचिद्विशदमनसामाप्तवाक्यानपेक्षं, नाप्तैरुक्तं फलति पुरुषस्योज्झितं पौरुषेण। दैवापेतं पुरुषकरणं कारणं नेष्टसङ्गे तस्माद्भव्याः कुरुत यतनं सर्वहेतुप्रसादे ।२३१। = हे राजन्! निर्मल चित्तके धारक मनुष्योका कोई भी कार्य आप्त वचनोसे निरपेक्ष नही होता, और आप्त भगवान्‌ने मनुष्योके लिए जो कर्म बतलाये है वे पुरुषार्थके बिना सफल नही होते। और पुरुषार्थ दैवके बिना इष्ट सिद्धिका कारण नही होता। इसलिए हे भव्यजीवो! जो सबका कारण है उसके (अर्थात् आत्माके) प्रसन्न करनेमें यत्न करो ।२३१।

२. अबुद्धिपूर्वकके कार्योंमें दैव तथा बुद्धिपूर्वकके कार्योंमें पुरुषार्थ प्रधान है

आप्त मी./९१ अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वविपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ।९१। = [केवल दैव ही से यदि अर्थसिद्धि मानते हो तो पुरुषार्थ करना व्यर्थ हो जाता है (दे० नियति/३/२ में आप्त. मी /८८)। केवल पुरुषार्थसे हो यदि अर्थसिद्धि मानी जाय तो पुरुषार्थ तो सभी करते है फिर सबको समान फलकी प्राप्ति होती हुई क्यो नही देखी जाती (दे० नियति/३/५ में आप्त मी /८९)। परस्पर विरोधी होनेके कारण एकान्त उभयपक्ष भी योग्य नही। एकान्त अनुभय मानकर सर्वथा अवक्तव्य कह देनेसे भी काम नहीं चलता, क्योकि, सर्वत्र उनकी चर्चा होती सुनी जाती है। (आप्त. मी./९०)। इसलिए अनेकान्त पक्षको स्वीकार करके दोनोंसे ही कथंचित् कार्यसिद्धि मानना योग्य है। वह ऐसे कि—कार्य व कारण दो प्रकारके देखे जाते है—अबुद्धि पूर्वक स्वत. हो जानेवाले या मिल जानेवाले तथा बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले या मिलाये जानेवाले (दे० इससे अगला सन्दर्भ/मो. मा. प्र.)] तहाँ अबुद्धिपूर्वक होनेवाले व मिलनेवाले कार्य व कारण तो अपने दैवसे ही होते है; और बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले व मिलाये जानेवाले इष्टानिष्ट कार्य व कारण अपने पुरुषार्थसे होते है। अर्थात् अबुद्धिपूर्वके कार्य कारणोंमें दैव प्रधान है और बुद्धिपूर्वकवालोंमें पुरुषार्थ प्रधान है।

मो. मा. प्र./७/२८६/११ प्रश्न—जो कर्मका निमित्ततैं हो है (अर्थात् रागादि मिटै हैं), तौ कर्मका उदय रहै तावत् विभाव दूर कैसै होय? तातैं याका उद्यम करना तौ निरर्थक है? उत्तर—एक कार्य होने विषै अनेक कारण चाहिए है। तिनविषैं जे कारण बुद्धिपूर्वक होय तिनकौ तौ उद्यम करि मिलावै, और अबुद्धिपूर्वक कारण स्वयमेव मिलै तब कार्यसिद्धि होय। जैसे पुत्र होनेका कारण बुद्धिपूर्वक तौ विवाहादिक करना है और अबुद्धिपूर्वक भवितव्य है। तहाँ पुत्रका अर्थी विवाह आदिका तौ उद्यम करै, अर भवितव्य स्वयमेव होय, तब पुत्र होय। तैसे विभाव दूर करनेके कारण बुद्धिपूर्वक तौ तत्त्वविचारादि है अर अबुद्धिपूर्वक मोह कर्मका उपशमादि हैं। सो ताका अर्थी तत्त्वविचारादिका तौ उद्यम करै, अर मोहकर्मका उपशमादि स्वयमेव होय, तब रागादि दूर होय।

३. अत: रागदशामें पुरुषार्थ करनेका ही उपदेश है

दे० नय/I/५/४-नय नं० २१ जिस प्रकार पुरुषार्थ द्वारा ही अर्थात् चलकर उसके निकट जानेसे ही पथिकको वृक्षकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषाकारनयसे आत्मा यत्नसाध्य है।

द्र. सं./टी /२१/६३/३ यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि ··· सम्यक् श्रद्धानज्ञानानुष्ठान तपश्चरणरूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यं न कालस्तेन स हेय इति। = यद्यपि यह जीव काललब्धिके वशसे अनन्तसुखका भाजन होता है तो भी सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, आचरण व तपश्चरणरूप जो चार प्रकारकी निश्चय आराधना है, वह ही उसकी प्राप्तिमें उपादानकारण जाननी चाहिए, उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिए वह कालद्रव्य त्याज्य है।

मो मा प्र./७/२९०/१ प्रश्न—जैसे विवाहादिक भी भवितव्य आधीन है, तैसे तत्त्वविचारादिक भी कर्मका क्षयोपशमादिक कै आधीन है, तातै उद्यम करना निरर्थक है? उत्तर—ज्ञानावरणका तौ क्षयोपशम तत्त्वविचारादि करने योग्य तेरै भया है। याहीतै उपयोग कौं यहाँ लगावनेका उद्यम कराइए हैं। असंज्ञी जीवनिकैं क्षयोपशम नाही है, तौ उनकौ काहे कौ उपदेश दीजिए है। (अर्थात् अबुद्धिपूर्वक मिलनेवाला दैवाधीन कारण तौ तुझे दैवसे मिल ही चुका है, अब बुद्धिपूर्वक किया जानेवाला कार्य करना शेष है। वह तेरे पुरुषार्थके आधीन है। उसे करना तेरा कर्त्तव्य है।)

मो. मा प्र./९/४५५/१७ प्रश्न—जो मोक्षका उपाय काललब्धि आए भवितव्यानुसारि बनै है कि, मोहादिका उपशमादि भए बनै है, अथवा अपने पुरुषार्थ तैं उद्यम किए बनै, सो कहौ। जो पहिले दोय कारण मिले बनै है, तौ हमकौ उपदेश काहेकौ दीजिए है। अर पुरुषार्थतैं बनैं है, तौ उपदेश सर्व सुनै, तिनिविषै कोई उपाय कर सकै, कोई न करि सकै, सो कारण कहा? उत्तर—एक कार्य होनेविषैं अनेक कारण मिलै है। सो मोक्षका उपाय बनै है तहा तौ पूर्वोक्त तीनौ (काललब्धि, भवितव्य व कर्मोंका उपशमादि) ही कारण मिलै है। पूर्वोक्त तीन कारण कहे, तिनिविषै काललब्धि वा होनहार (भवितव्य) तौ कछू वस्तु नाही। जिसकालविषैं कार्य बनै, सोई काललब्धि और जो कार्य बना सोई होनहार। बहुरि जो कर्मका उपशमादि है; सो पुद्गलकी शक्ति है। ताका कर्ता हर्ता आत्मा नाहीं। बहुरि पुरुषार्थतै उद्यम करिए है, सो यह आत्माका कार्य है, तातैं आत्माको पुरुषार्थ करि उद्यम करनेका उपदेश दीजिये है।

४. नियति सिद्धान्तमें स्वच्छन्दाचारको अवकाश नहीं

मो. मा. प्र./७/२६८ प्रश्न—होनहार होय, तौ तहाँ (तत्त्वविचारादिके उद्यममें) उपयोग लागे, बिना होनहार कैसे लागे, (अत उद्यम करना निरर्थक है) ? उत्तर—जो ऐसा श्रद्धान है, तौ सर्वत्र कोई ही कार्यका उद्यम मति करै। तू खान-पान-व्यापारादिकका तौ उद्यम करै, और यहाँ (मोक्षमार्गमें) होनहार बतावै। सो जानिए है, तेरा अनुराग (रुचि) यहाँ नाहीं। मानादिककरि ऐसी झूठी बातें बनावै है। या प्रकार जे रागादिक होतै (निश्चयनयका आश्रय लेकर) तिनिकरि रहित आत्म काकौ मानै हैं, ते मिथ्यादृष्टि है।

प्र.सा./प. जयचन्द/२०२ इस विभावपरिणतिको पृथक् होती न देखकर वह (सम्यग्दृष्टि) आकुलव्याकुल भी नहीं होता (क्योंकि जानता है कि समयसे पहिले अक्रमरूपसे इसका अभाव होना सम्भव नहीं है), और वह सकल विभाव परिणतिको दूर करनेका पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता।

दे० नियति/५/७ (नियतिनिर्देशका प्रयोजन धर्म लाभ करना है।)

५. वास्तवमें पाँच समवाय समवेत ही कार्य व्यवस्था सिद्ध है

प. पु /३१/२१२-२१३ भरतस्य किमाकूतं कृतं दशरथेन किम्। रामलक्ष्मणयोरेषा का मनीषा व्यवस्थिता।२१२। काल कर्मेश्वरो दैव स्वभावः पुरुष क्रिया। नियतिर्वा करोत्येवं विचित्र क' समीहितम्।२१३—(दशरथने रामको वनवास और भरतको राज्य दे दिया। इस अवसरपर जनसमूहमें यह बातें चल रही है।)—भरतका क्या अभिप्राय था? और राजा दशरथने यह क्या कर दिया? राम लक्ष्मणके भी यह कौनसी बुद्धि उत्पन्न हुई है? ।२१२। यह सब काल, कर्म, ईश्वर, दैव, स्वभाव, पुरुष, क्रिया अथवा नियति ही कर सकती है। ऐसी विचित्र चेष्टाको और दूसरा कौन कर सकता है।२१३। (कालको नियतिमें, कर्म व ईश्वरको निमित्तमें और दैव व क्रियाको भवितव्यमें गर्भित कर देनेपर पाँच बाते रह जाती हैं। स्वभाव, निमित्त, नियति, पुरुषार्थ व भवितव्य इन पाँच समवायोंसे समवेत ही कार्य व्यवस्थाकी सिद्धि है, ऐसा प्रयोजन है।)

पं. का /ता वृ./२०/४२/१८ यदा कालादिलब्धिवशाद्भेदाभेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गं लभते तदा तेषा ज्ञानावरणादिभावानां द्रव्यभावकर्मरूपपर्यायाणामभावं विनाश कृत्वा पर्यायार्थिकनयेनाभूतपूर्वसिद्धो भवति। द्रव्यार्थिकनयेन पूर्वमेव सिद्धरूप इति वार्तिक। =जब जीव कालादि लब्धिके वशमे भेदाभेद रत्नत्रयात्मक व्यवहार व निश्चय मोक्षमार्गको प्राप्त करता है, तब उन ज्ञानावरणादिक भावोंका तथा द्रव्य भावकर्मरूप पर्यायोंका अभाव या विनाश करके सिद्धपर्यायको प्रगट करता है। वह सिद्धपर्याय पर्यायार्थिकनयसे तो अभूतपूर्व अर्थात् पहले नहीं थी ऐसी है। द्रव्यार्थिकनयसे वह जीव पहिलेसे ही सिद्ध रूप था। (इस वाक्यमें आचार्यने सिद्धपर्यायप्राप्तिरूप कार्यमें पाँचों समवायोका निर्देश कर दिया है। द्रव्यार्थिकनयसे जीवका त्रिकाली सिद्ध सदृश शुद्ध स्वभाव, ज्ञानावरणादि कर्मोंका अभावरूप निमित्त, कालादिलब्धि रूप नियति, मोक्षमार्गरूप पुरुषार्थ और सिद्ध पर्यायरूप भवितव्य।)

मो. मा. प्र./३/७३/१७ प्रश्न—काहू कालविषै शरीरकी वा पुत्रादिककी इस जीवके आधीन भी तौ क्रिया होती देखिये है, तब तौ सुखी हो है। (अर्थात् सुख दुःख भवितव्याधीन ही तो नहीं है, अपने आधीन भी तो होते ही है)। उत्तर—शरीरादिककी, भवितव्यकी और जीवकी इच्छाकी विधि मिलै, कोई एक प्रकार जैसे वह चाहै तैसे परिणमै तातैं काहू कालविषै वाहीका विचार होतै सुखकी सी आभासा होय है, परन्तु सर्व ही तौ सर्व प्रकार यह चाहै तैसे न परिणमै। (यहाँ भी पाँचो समवायोंके मिलनेसे ही कार्यकी सिद्धि होना बताया गया है, केवल इच्छा या पुरुषार्थसे नहीं। तहाँ सुखप्राप्ति रूप कार्यमें 'परिणमन' द्वारा जीवका स्वभाव, 'शरीरादि' द्वारा निमित्त, 'काहू कालविषै' द्वारा नियति, 'इच्छा' द्वारा पुरुषार्थ और भवितव्य द्वारा भवितव्यका निर्देश किया गया है।)

६. नियति व पुरुषार्थादि सहवर्ती हैं

१. काललब्धि होनेपर शेष कारण स्वतः प्राप्त होते हैं

प पु./४३/२४१ प्राप्ते विनाशकालेऽपि बुद्धिर्जन्तोर्विनश्यति। विधिना प्रेरितस्तेन कर्मपाकं विचेष्टते।२४१। =विनाशका अवसर प्राप्त होनेपर जीवकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। सो ठीक है; क्योंकि, भवितव्यताके द्वारा प्रेरित हुआ यह जीव कर्मोदयके अनुसार चेष्टा करता है।

अष्टसहस्री/पृ २५७ तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहायास्तादृशा सन्ति यादृशी भवितव्यता। =जिस जीवकी जैसी भवितव्यता होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसे सहायक भी उसीके अनुसार मिल जाते है।

म. पु /४७/१७७-१७८ कदाचित् काललब्ध्यादिचोदितोऽभ्यर्णनिर्वृत्तिः। विलोकयन्नभोभागं अकस्मादन्धकारितम्।१७७। चन्द्रग्रहणमालोक्य धिगैतस्यापि चेदियम्। अवस्था संसृतौ पापग्रस्तस्यान्यस्य का गति'।१७८। =किसी समय जब उसका मोक्ष होना अत्यन्त निकट रह गया तब गुणपाल काललब्धि आदिसे प्रेरित होकर आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमें उसकी दृष्टि अकस्मात् अन्धकारसे भरे हुए चन्द्रग्रहणकी ओर पडी। उसे देखकर वह संसारके पापग्रस्त जीवोंकी दशाको धिक्कारने लगा। और इस प्रकार उसे वैराग्य आ गया।१७७-१७८।

प. का./पं. हेमराज/१६१/२३३ प्रश्न—जो आप ही से निश्चय मोक्षमार्ग होय तो व्यवहारसाधन किसलिए कहा? उत्तर—आत्मा—अनादि अविद्यासे युक्त है। जब काललब्धि पानेसे उसका नाश होय उस समय व्यवहार मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है। (तभी) सम्यक् रत्नत्रयके ग्रहण करनेका विचार होता है, इस विचारके होनेपर जो अनादिका ग्रहण था, उसका तो त्याग होता है, और जिसका त्याग था उसका ग्रहण होता है।

२. कालादि लब्धि बहिरंग कारण है और पुरुषार्थ अन्तरंग कारण है—

म. पु./९/११६ देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसंपदि। अन्त करणसामग्र्या भव्यात्मा स्याद् विशुद्धकृत् (दृक्)।११६। =जब देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण तथा करण लब्धिरूप अन्तरंग कारण सामग्रीकी प्राप्ति होती है, तभी यह भव्य प्राणी विशुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक हो सकता है।

द्र. सं./टी./३६/१५१/४ केन कारणभूतेन गलति 'जहकालेण' स्वकालपच्यमानाम्रफलवत्सविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिपरिणामस्य बहिरंगसहकारिकारणभूतेन काललब्धिसञ्ज्ञेन यथाकालेन, न कवलं यथाकालेन 'तवेण' अकालपच्यमानानामाम्रादिफलवदविपाकनिर्जरापेक्षया ··चेति 'तस्स' कर्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। =प्रश्न—कर्म किस कारण गलता है? —'जहकालेण' अपने समयपर पकनेवाले आमके फलके समान तो सविपाक निर्जराकी अपेक्षा, और अन्तरंगमें निजशुद्धात्माके अनुभवरूप परिणामको बहिरंग सहकारीकारणभूत काललब्धिसे यथा समय, और 'तवेणय' बिना समय पकते हुए आम आदि फलोंके समान अविपाक निर्जराकी अपेक्षा उस कर्मका गलना द्रव्यनिर्जरा है।

दे. पद्धति/२/३ (आगम भाषामें जिसे कालादि लब्धि कहते है अध्यात्म भाषामें उसे ही शुद्धात्माभिमुख स्वसंवेदन ज्ञान कहते है।)

३. एक पुरुषार्थमें सर्वकारण समाविष्ट हैं

मो मा. प्र./६/४५६/८ यहु आत्मा जिस कारणतैं कार्यसिद्धि अवश्य होय, तिस कारणरूप उद्यम करै, तहाँ तो अन्य कारण मिलै ही मिलै, अर कार्यकी भी सिद्धि होय ही होय। बहुरि जिस कारणतैं कार्यसिद्धि होय, अथवा नाहीं भी होय, तिस कारणरूप उद्यम करै तहाँ अन्य कारण मिलै तौ कार्य सिद्धि होय न मिलै तौ सिद्धि न होय। जैसे— • जो जीव पुरुषार्थ करि जिनेश्वरका उपदेश अनुसार मोक्षका उपाय करे है, ताकै काललब्धि व होनहार भी भया। अर कर्मका उपशमादि भया है, तौ यहु ऐसा उपाय करै है। तातैं जो पुरुषार्थ करि मोक्षका उपाय करै है, ताकै सर्व कारण मिलै हैं, ऐसा निश्चय करना। बहुरि जो जीव पुरुषार्थ करि मोक्षका उपाय न करै, ताकै काललब्धि वा होनहार भी नाहीं। अर कर्मका उपशमादि न भया है, तौ यहु उपाय न करै है। तातैं जो पुरुषार्थकरि मोक्षका उपाय न करै है, ताकै कोई कारण मिलै नाहीं, ऐसा निश्चय करना।

७. नियति निर्देशका प्रयोजन

पं वि /३/८,१०,५३ भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नून पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत्। कुलेषु तद्वत्पुरुषाः किमत्र हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम्।८। पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं यस्यावसान यदा, तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम्। शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादराव, सर्वे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराहन्यते। ।१०। मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान् बहून्, रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भि सुख स्थीयताम्।५३। =जिस प्रकार वृक्षोंमें पत्र, पुष्प एवं फल उत्पन्न होते हैं और वे समयानुसार निश्चयसे गिरते भी हैं उसी प्रकार कुटुम्बमें जो पुरुष उत्पन्न होते हैं वे मरते भी हैं। फिर बुद्धिमान् मनुष्योंको उनके उत्पन्न होनेपर हर्ष और मरनेपर शोक क्यों होना चाहिए।८। पूर्वोपार्जित कर्मके द्वारा जिस प्राणीका अन्त जिस समय लिखा है उसी समय होता है, यह निश्चित जानकर किसी प्रिय मनुष्यका मरण हो जानेपर भी शोकको छोडो और विनयपूर्वक धर्मका आराधन करो। ठीक है—सर्पके निकल जानेपर उसकी लकीरको कौन लाठीसे पीटता है।१०। (भवितव्यता वही करती है जो कि उसको रुचता है) इसलिए सज्जन पुरुष राग-द्वेषरूपी विषसे रहित होते हुए मोहके प्रभावसे अतिशय विस्तारको प्राप्त होनेवाले बहुतसे विकल्पोको छोडकर सदा सुखपूर्वक स्थित रहे अर्थात साम्यभावका आश्रय करें।५३।

मो. पा /पं. जयचन्द/८६ सम्यग्दृष्टिकै ऐसा विचार होय है—जो वस्तुका स्वरूप सर्वज्ञने जैसा जान्या है, तैसा निरन्तर परिणमै है, सो होय है। इष्ट-अनिष्ट मान दुखी सुखी होना निष्फल है। ऐसे विचारतैं दुख मिटै है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। जातैं सम्यक्त्वका ध्यान करना कह्या है।

नियम—१. रत्नत्रयके अर्थमें

नि सा./मू./३,१२० णियमेण य जं कज्ज तण्णियमं णाणदसणचरित्तम्। ।३। सुहअसुहवयणरयण रायादिभाववारणं किच्चा। अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियम हवे णियमा।१२०। =नियम अर्थात् नियमसे जो करणे योग्य हो वह अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र।३। शुभाशुभ-वचनरचनाका और रागादि भावोका निवारण करके, जो आत्माको ध्याता है, उसको निश्चित रूपसे नियम है।१२०।

नि सा /ता वृ /गा. नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते।१। य • स्वभावानन्तचतुष्टयात्मक' शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम स नियम। नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजनस्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्रम्।३। नियमेन स्वात्माराधनातत्परता।१२३। =नियम शब्द सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमें वर्तता है। जो स्वभावानन्तचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञान चेतनापरिणाम है वह नियम है। नियमसे अर्थात् निश्चय जो किया जाने योग्य है अर्थात् प्रयोजनस्वरूप है ऐसा ज्ञानदर्शन-चारित्र नियम है। निज आत्माकी आराधनामें तत्परता सो नियम है।

२. वचनरूप नियम स्वाध्याय है

नि. सा /मू./१५३ वयणमय पडिकमण वयणमयं पच्चक्खाणं णियमं च। आलोयणवयणमय त सव्व जाण सज्झाउं। =वचनमयी प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना ये सब स्वाध्याय जानो।

३. सावधि त्यागके अर्थमें

र. क. श्रा./८७-८९ नियम' परिमितकालो।८७। भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु। ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु।८८। अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथार्तुरयन वा। इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यान भवेन्नियम'।८९। =जिस त्यागमें कालकी मर्यादा है वह नियम कहलाता है।८७। भोजन, सवारी, शयन, स्नान, ककुमादिलेपन, पुष्पमाला, ताम्बूल, वस्त्र, अलकार, काम-भोग, सगीत और गीत इन विषयोंमें—आज, एकदिन, एकरात, एकपक्ष, एकमास तथा दो मास, अथवा छहमास इस प्रकार कालके विभागसे त्याग करना सो नियम है। (सा. ध./५/१४)।

रा. वा./१/७/३/५३३/१५ इदमेवेत्थमेव वा कर्तव्यमित्यन्यनिवृत्ति' नियम। ='यह ही तथा ऐसा ही करना है' इस प्रकार अन्य पदार्थकी निवृत्तिको नियम कहते है।

प. पु./१४/२०२ मधुतो मद्यतो मांसात् द्यूततो रात्रिभोजनात्। वेश्यासगमनाच्चास्य विरतिर्नियम स्मृत।२०२ =गृहस्थ मधु, मद्य, मास, जूआ, रात्रिभोजन और वेश्यासमागमसे जो रिक्त होता है, उसे नियम कहा है।

नियमसार—१. नियमसारका लक्षण

नि. सा./मू./३ णियमेण य ज कज्जं तण्णियम णाणदसणचरित्त। विवरीयपरिहरत्थ भणिदं खलु सारमिदि वयणम्। =नियमसे जो करने योग्य हो अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्रको नियम कहते हैं। इस रत्नत्रयसे विरुद्ध भावोका त्याग करनेके लिए वास्तवमें 'सार' ऐसा वचन कहा है।

नि. सा /ता. वृ /१ नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्। ='नियमसार' ऐसा कहकर शुद्धरत्नत्रयका स्वरूप कहा है।

२. नियमसार नामक ग्रन्थ

आ. कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत, अध्यात्म विषयक, १८७ प्राकृत-गाथा बद्ध शुद्धात्मस्वरूप प्रदर्शक, एक ग्रन्थ। इसपर केवल एक टीका-उपलब्ध है—मुनि पद्मप्रभ मल्लधारीदेव (११४०-११८५) कृत संस्कृत टीका।

नियमित सान्द्र— Regular Solid (ज प./प्र १०७)।

नियुत—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

नियुतांग—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

निरंतर—१. निरन्तर बँधी प्रकृति—दे० प्रकृतिबंध/२। २. निरन्तर सान्तर वर्गणा—दे० वर्गणा। ३. निरन्तर स्थिति - दे० स्थिति/१।

निरतिचार—निरतिचार शीलव्रत भावना—दे० शील।

निरनुयोज्यानुपेक्षण

न्या. सू /मू./५/२/२२ अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोग ।२२। =निग्रहस्थान नही उठानेके अवसरपर निग्रहस्थानका उठा देना वक्ताका 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान है।

नोट–(श्लो. वा. ४/१/३३/न्या. श्लो. २६२-२६३)–में इसका निराकरण किया है।

निरन्वय–(न्या वि /वृ./२/६१/११८/२४)–निरन्वयम् अन्वयान्निष्क्रान्तं तत्त्वं स्वरूपम्। =अन्वय अर्थात् अनुगमन या संगतिसे निष्क्रान्त तत्त्व या स्वरूप।

निरपेक्ष–दे० स्याद्वाद/२।

निरय–प्रथम नरकका द्वितीय पटल–दे० नरक/५।

निरर्थक–(न्या. सू /म व वृ /५/२/८) वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ।८। यथा नित्य शब्द' कचटतपा जबडदशत्वात् झभञघढधपवदिति एवप्रकारनिरर्थकम्। अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभावाद्वर्णा क्रमेण निर्दिश्यन्त इति ।८। =वर्णोके क्रमका नाममात्र कथन करनेके समान निरर्थक निग्रहस्थान होता है। जैसे–क, च, ट, त, प ये शब्द नित्य है। ज, ब, ग, ड, द, श, त्व, होनेके कारण, झ. भ, ञ, घ, ढ, ध, ष की नाई। वाच्यवाचक भावके नही बननेपर अर्थका ज्ञान नहीं होनेसे वर्ण ही क्रमसे किसीने कह दिये है, इसलिए यह निरर्थक है।

नोट–(श्लो. वा ४/१/३३/न्या /श्लो. १६७-२००/३८२)–में इसका निराकरण किया गया है।

निराकांक्ष–१. निराकांक्ष अनशन–दे० अनशन २. निराकाक्ष गुण–दे० नि.काक्षित।

निराकार–दे० आकार।

निराकुलता–दे० सुख।

निरूपणा–(रा वा./१/१६/११/५५/१८) तस्य नामादिभि प्रकल्पना प्ररूपणम्। =नाम जाति आदिकी दृष्टिसे शब्दयोजना करना निरूपण कहलाता है।

निरोध–(रा वा./६/२७/५/६२५/२६) गमनभोजनशयनाध्ययनादिषु क्रियाविशेषेषु अनियमेन वर्तमानस्य एकस्या क्रियाया' कर्तृत्वेनावस्थान निरोध इत्यवगम्यते। =गमन, भोजन, शयन, और अध्ययन आदि विविध क्रियाओमें भटकनेवाली चित्तवृत्तिका एक क्रियामें रोक देना (चिन्ता) निरोध है।

निर्गमन–किस गतिसे निकलकर किस गति व गुणस्थान आदिमें जन्मे। इस सम्बन्धी गति अगति तालिका–दे० जन्म/६।

निर्ग्रन्थ–**१. निष्परिग्रहके अर्थमें**

ध. ६/४,१,६७/३२३/७ ववहारणय पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भतरंग कारणत्तादो। एदस्स परिहरण णिग्गथ। णिच्छयणय पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसि परिच्चागो णिग्गथ। णइगमणएण तिरयणाणुवजोगी बज्झब्भतरपरिग्गहपरिच्चाओ णिग्गथं। =व्यवहारनयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक (बाह्य) ग्रन्थ है, क्योकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थ (मिथ्यात्वादि) के कारण है, और इनका त्याग निर्ग्रन्थता है। निश्चयनयकी अपेक्षा मिथ्यात्वादिक (अभ्यन्तर) ग्रन्थ है, क्योकि, वे कर्मबन्धके कारण है और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। नैगमनयकी अपेक्षा तो रत्नत्रयमें उपयोगी पडनेवाला जो भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रह (ग्रन्थ) का परित्याग है उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए।–(बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रहके भेदोका निर्देश–दे० ग्रन्थ), (नि. सा./ता. वृ./४४)।

भ. आ /वि /४३/१४२/२ तत् त्रितयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते। =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयको यहाँ निर्ग्रन्थ शब्द द्वारा कहा गया है।

प्र. सा /ता. वृ /२०४/२७८/११ व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूप निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधर' निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थ'। =व्यवहारनयसे नग्नत्वको यथाजातरूप कहते है और निश्चयनयसे स्वात्मरूपको। इस प्रकारके व्यवहार व निश्चय यथाजातरूपको धारण करनेवाला यथाजातरूपधर कहलाता है। 'निर्ग्रन्थ होना' इसका ऐसा अर्थ है।

२. निर्ग्रन्थ साधु विशेषके अर्थमें

स. सि./६/४६/४६०/१० उदकदण्डराजिवदनभिव्यक्तोदयकर्माण. ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्था.। =जिस प्रकार जलमें लकडीसे की गयी रेखा अप्रगट रहती है, इसी प्रकार जिनके कर्मोका उदय अप्रगट हो, और अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् ही जिन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रगट होनेवाला है, वे निर्ग्रन्थ कहलाते है। (रा. वा /६/४६/४/६३६/२८); (चा. सा./१०२/१)

नोट–निर्ग्रन्थसाधुकी विशेषताएँ–दे० साधु/५।

निर्जर पंचमी व्रत–प्रतिवर्ष आषाढ शु० ५ से लेकर कार्तिक शु० ५ तक की कुल ६ पचमियोंके उपवास ५ वर्ष पर्यन्त करे। नमोकारमन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ० ६७)

निर्जरा–कर्मोके झडनेका नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है– सविपाक व अविपाक। अपने समय स्वयं कर्मोका उदयमें आ आकर झडते रहना सविपाक तथा तप द्वारा समयसे पहले ही उनका झडना अविपाक निर्जरा है। तिनमें सविपाक सभी जीवोंको सदा निरन्तर होती रहती है, पर अविपाक निर्जरा केवल तपस्वियोंको ही होती है। वह भी मिथ्या व सम्यक् दो प्रकारकी है। इच्छा निरोधके बिना केवल बाह्य तप द्वारा की गयी मिथ्या व साम्यताकी वृद्धि सहित कायक्लेशादि द्वारा की गयी सम्यक् है। पहलीमें नवीन कर्मोका आगमन रूप सवर नहीं रुक पाता और दूसरीमें रुक जाता है। इसलिए मोक्षमार्गमें केवल यह अन्तिम सम्यक् अविपाक निर्जराका ही निर्देश होता है पहली सविपाक या मिथ्या अविपाक का नही।

१. निर्जराके भेद व लक्षण

१. निर्जरा सामान्यका लक्षण

भ. आ./मू./१८४७/१६५६ पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा। =पूर्वबद्ध कर्मोका झडना निर्जरा है।

वा. अ./६६ बधपदेसग्गलणं णिज्जरणं। =आत्मप्रदेशोंके साथ कर्मप्रदेशोंका उस आत्माके प्रदेशोसे झडना निर्जरा है। (न च. वृ./१५७), (भ. आ./वि./१८४७/१६५६/६)।

स. सि./१/४/१४/५ एकदेशकर्मसक्षयलक्षणा निर्जरा। =एकदेश रूपसे कर्मोका जुदा होना निर्जरा है। (रा. वा./१/४/१६/२७/७); (भ.आ / वि /१८४७/१६५६/१०), (द्र. सं/टी./२८/८५/१३), (पं.का /ता.वृ./१४४/२०६/१७)।

स. सि./८/२३/३६६/६ पीडानुग्रहावात्मने प्रदायाभ्यवहृतौदनादिविकारवत्पूर्वस्थितिक्षयादवस्थानाभावात्कर्मणो निवृत्तिर्निर्जरा। =जिस प्रकार भात आदिका मल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार आत्माका भला बुरा करके पूर्व प्राप्त स्थितिका नाश हो जानेके कारण कर्मकी निवृत्तिका होना निर्जरा है। (रा. वा./८/२३/१/५८३/३०)।

रा. वा /१/सूत्र/वार्तिक/पृष्ठ/पक्ति–निर्जीर्यते निरस्यते यथा निरसनमात्र वा निर्जरा।(४/१२/२७)। निर्जरेव निर्जरा। क' उपमार्थ'।

यथा मन्त्रौषधबलान्निर्जीर्णवीर्यविपाकं विष न दोषप्रदं तथा • तपोविशेषेण निर्जीणरस कर्म न ससारफलप्रदम् ।(४/१६/२७/८)। यथाविपाकात्तपसो वा उपभुक्तवीर्यं कर्म निर्जरा ।(७/१४/४०/१७)। =१. जिनसे कर्म झडें (ऐसे जीवके परिणाम) अथवा जो कर्म झडें वे निर्जरा है। (भ. आ /वि /३८/१३४/१६) २. निर्जराकी भाँति निर्जरा है। जिम प्रकार मन्त्र या औषध आदिसे नि.शक्ति किया हुआ विष, दोष उत्पन्न नहीं करता; उसी प्रकार तप आदिसे नीरस किये गये और नि शक्ति हुए कर्म ससारचक्रको नहीं चला सकते। ३. यथाकाल या तपोविशेषमे कर्मोंकी फलदानशक्तिको नष्ट कर उन्हे झड़ा देना निर्जरा है। (द्र. सं/मू /३६/१५०)।

का. अ/मू./१०३ सव्वेसिं कम्माणं सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ। तदणंतरं तु सडणं कम्माणं णिज्जरा जाण ।१०३। =सब कर्मोंकी शक्तिके उदय होनेको अनुभाग कहते है। उसके पश्चात कर्मोंके खिरनेको निर्जरा कहते है।

२. निर्जराके भेद

भ. आ./मू./१८४७-१८४८/१६५६ सा पुणो हवेइ दुविहा। पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ।१८४७। तहकालेण तवेण य पच्चंति कदाणि कम्माणि ।१८४८। =१ वह दो प्रकारकी होती है—विपाकज व अविपाकज। (स. सि /८/२३/३९९/८); (रा. वा /१/४/१६/२७/६, १/७/१४/४०/१८; ८/२३/२/५८४/१); (न. च. वृ./१५७), (त.सा /७/२) २. अथवा वह दो प्रकारकी है—स्वकालपक्व और तपद्वारा कर्मोंको पकाकर की गयी। (बा. अ./६७), (त सू./८/२१-२३+९/३); (द्र.सं /मू./३६/१५०); (का. अ./मू./१०४)।

रा. वा /१/७/१४/४०/१६ सामान्यादेका निर्जरा, द्विविधा यथाकालौपक्रमिकभेदात्, अष्टधा मूलकर्मप्रकृतिभेदात्। एवं सख्येयासख्येयानन्तविकल्पा भवति कर्मरसनिर्हरणभेदात्। =सामान्यसे निर्जरा एक प्रकारकी है। यथाकाल व औपक्रमिकके भेदसे दो प्रकारकी है। मूल कर्मप्रकृतियोकी दृष्टिसे आठ प्रकारकी है। इसी प्रकार कर्मोंके रसको क्षीण करनेके विभिन्न प्रकारोकी अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

द्र. सं./टी./३६/१५०,१५१ भाव निर्जरा द्रव्यनिर्जरा। =भाव निर्जरा व द्रव्यनिर्जराके भेदसे दो प्रकार है।

३. सविपाक व अविपाक निर्जराके लक्षण

स. सि /८/२३/३९९/६ क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्ति. सा विपाकजा निर्जरा। यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्णोदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा। चशब्दो निमित्तान्तरसमुच्चयार्थ । =क्रमसे परिपाककालको प्राप्त हुए और अनुभवरूपी उदयावलीके स्रोतमें प्रविष्ट हुए ऐसे शुभाशुभ कर्मकी फल देकर जो निवृत्ति होती है वह विपाकजा निर्जरा है। तथा आम और पनस(कटहल)को औपक्रमिक क्रिया विशेषके द्वारा जिस प्रकार अकालमे पका लेते है; उसी प्रकार जिसका विपाककाल अभी नहीं प्राप्त हुआ है तथा जो उदयावलीसे बाहर स्थित है, ऐसे कर्मको (तपादि) औपक्रमिक क्रिया विशेषकी सामर्थ्यसे उदयावलीमें प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाता है। वह अविपाकजा निर्जरा है। सूत्रमें च शब्द अन्य निमित्तका समुच्चय करानेके लिए दिया है। अर्थात विपाक द्वारा भी निर्जरा होती है और तप द्वारा भी(रा.वा./८/२३/२/५८४/३), (भ. आ /वि./१८४६/१६६०/२०), (न च• वृ /१५८) (त. सा./७/३-५), (द्र स/टी./३६/१५१/३)।

स. सि./६/७/३१७/६ निर्जरा वेदनाविपाक इत्युक्तम्। सा द्वेधा—अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजा अबुद्धिपूर्वा सा अकुशलानुबन्धा। परिषहजये कृते कुशलमूला। सा शुभानुबन्धा निरनुबन्धा चेति। =वेदना विपाकका नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियोंमें कर्मफलके विपाकसे जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है। तथा परिषहके जीतनेपर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह भी शुभानुबन्धा और निरनुबन्धाके भेदसे दो प्रकारकी होती है।

४. द्रव्य भाव निर्जराके लक्षण

द्र. सं./टी /३६/१५०/१० भावनिर्जरा। सा का।' येन भावेन जीवपरिणामेन। किं भवति 'सडदि' विशीर्यते पतति गलति वि यति। किं कर्तृ 'कम्मपुग्गलं'· कर्मणो गलन यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। =जीवके जिन शुद्ध परिणामोसे पुद्गल कर्म झडते हैं वे जीवके परिणाम भाव निर्जरा हैं और जो कर्म झडते हैं वह द्रव्य निर्जरा है।

पं. का /ता. वृ./१४४/२०९/१६ कर्मशक्तिनिर्मूलनसमर्थ. शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा तस्य शुद्धोपयोगेन सामर्थ्येन नीरसीभूतानां पूर्वोपार्जितकर्मपुद्गलाना संवरपूर्वकभावेनैकदेशसक्षयो द्रव्यनिर्जरेति सूत्रार्थ. ।१४४। =कर्मशक्तिके निर्मूलनमें समर्थ जीवका शुद्धोपयोग तो भाव निर्जरा है। उस शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे नीरसीभूत पूर्वोपार्जित कर्मपुद्गलोका संवरपूर्वकभावसे एकदेश क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है।

५. अकाम निर्जराका लक्षण

स. सि./६/२०/३३५/१० अकामनिर्जरा अकामश्चारकनिरोधबन्धनबद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्यामलधारणपरितापादि । अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा। =चारकमें रोक रखनेपर या रस्सी आदिसे बाँध रखनेपर जो भूख-प्यास सहनी पडती है, ब्रह्मचर्य पालना पडता है, भूमिपर सोना पडता है, मल-मूत्रको रोकना पडता है और सन्ताप आदि होता है, ये सब अकाम है और इससे जो निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है। (रा वा /६/२०/१/५२७/१६)

रा. वा./६/१२/७/५२२/२८ विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वत पारतन्त्र्याद्भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा। =अपने अभिप्रायसे न किया गया भी विषयोकी निवृत्ति या त्याग तथा परतन्त्रताके कारण भोग-उपभोगका निरोध होनेपर उसे शान्तिसे सह जाना अकाम निर्जरा है। (गो. क./जी. प्र /५४८/७१७/२३)

* **गुणश्रेणी निर्जरा**—दे० संक्रमण/८।

* **काण्डक घात**—दे० अपकर्षण/४।

२. निर्जरा निर्देश

१. सविपाक व अविपाकमें अन्तर

भ आ /मू./१८४९/१६६० सव्वेसिं उदयसमागदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ। कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्स वि णिज्जरा होइ। =१. सविपाक निर्जरा तो केवल सर्व उदयगत कर्मोंकी ही होती है, परन्तु तपके द्वारा अर्थात अविपाक निर्जरा सर्व कर्मकी अर्थात् पक्व व अपक्व सभी कर्मोंकी होती है। (गो. मा /अ /६/२-३); (दे० निर्जरा/१/३)।

बा अ /६७ चादुगदीणं पढमा वयजुत्ताणं हवे विदिया।६७। =२ चतुर्गतिके सर्व ही जीवोंको पहिली अर्थात् सविपाक निर्जरा होती है, और सम्यग्दृष्टि व्रतधारियोंको दूसरी अर्थात् अविपाक निर्जरा होती है। (त सा /७/६); (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/४ निर्जरा/३/१)

दे० निर्जरा/१/३ ३ सविपाक निर्जरा अकुशलानुबन्धा है और अविपाक निर्जरा कुशलमूला है। तहाँ भी मिथ्यादृष्टियोंकी अविपाक निर्जरा इच्छा निरोध न होनेके कारण शुभानुबन्धा है और सम्यग्दृष्टियों-

की अविपाक निर्जरा इच्छा निरोध होनेके कारण निरवद्यानुबन्धा है।

दे० निर्जरा/३/१/४. अविपाक निर्जरा ही मोक्षकी कारण है सविपाक निर्जरा नहीं।

* निश्चय धर्म व चारित्र आदिमें निर्जराका कारणपना
—दे० वह वह नाम।

* व्यवहार धर्म आदिमें कथंचित् निर्जराका कारणपना
—दे० धर्म/८।

* व्यवहार धर्ममें बन्धके साथ निर्जराका अंश
—दे० संवर/२।

* व्यवहार समिति आदिसे केवल पापकी निर्जरा होती है पुण्यकी नहीं
—दे० संवर/२।

२. कर्मोंकी निर्जरा क्रमपूर्वक ही होती है

ध. १३/५,४,२४/५२/५ जदि तिणमतकम्म पदमाणं तो अक्कमेण णिवददे। ण, दोत्तडीण व उज्झकम्मक्खंधपदणमवेक्खिय णिवदंताण-मक्कमेण पदणविरोहादो। =प्रश्न—यदि जिन भगवान्‌के सत्कर्मका पतन हो रहा है, तो उसका युगपत् पतन क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पुष्ट नदियोंके समान बँधे हुए कर्मस्कन्धोंके पतनको देखते हुए पतनको प्राप्त होनेवाले उनका अक्रमसे पतन माननेमें विरोध आता है।

३. निर्जरामें तपकी प्रधानता

भ. आ./मू./१८४६/१६५८ तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स। उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुत्तं।१८४६। =तपके विना, केवल कर्मके संवरसे मोक्ष नहीं होता है। जिस धनका संरक्षण किया है वह धन यदि उपभोगमें नहीं लिया तो समाप्त नहीं होगा। इसलिए कर्मकी निर्जरा होनेके लिए तप करना चाहिए।

मू. आ./२४२ जमजोगे जुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेगविधं। सो कम्म-णिज्जराए विउलाए वट्टदे जीवो।२४२। =इन्द्रियादि संयम व योगसे सहित भी जो मनुष्य अनेक भेदरूप तपमें वर्तता है, वह जीव बहुत-से कर्मोंकी निर्जरा करता है।

रा. वा./८/२३/७/५८४/२५ पर उद्धृत—कायमणोवचिगुत्तो जो तवसा चेट्ठदे अणेयविहं। सो कम्मणिज्जराए विपुलए वट्टदे मणुस्सो त्ति। =काय, मन और वचन गुप्तिसे युक्त होकर जो अनेक प्रकारके तप करता है वह मनुष्य विपुल कर्म निर्जराको करता है।

नोट—निश्चय व चारित्रादि द्वारा कर्मोंकी निर्जराका निर्देश—(दे० चारित्र/२/२, धर्म/७/२, धर्मध्यान/६/३)।

४. निर्जरा व संवरका सामानाधिकरण्य

त. सू./९/३ तपसा निर्जरा च।३। =तपके द्वारा संवर व निर्जरा दोनों होते हैं।

बा. अ./६६ जेण हवे संवरणं तेण दु णिज्जरणमिदि जाणे।६६। =जिन परिणामोंसे संवर होता है, उनसे ही निर्जरा भी होती है।

स. सि./९/३/४१०/८ तपो धर्मेऽन्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्व-ख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्यप्रतिपादनार्थं च। =तपका धर्ममें (१० धर्मोंमें) अन्तर्भाव होता है, फिर भी संवर और निर्जरा इन दोनोंका कारण है, और संवरका प्रमुख कारण है, यह बतानेके लिए इसका अलगसे कथन किया है। (रा. वा./९/३/१-२/५९२/२७)।

प. प्र./मू./२/३८ अच्छइ जित्तिउ कालु मुणि अप्पसरूवि णिलीणु। संवर णिज्जर जाणि तुहुं सयल वियप्प विहीणु।३८। =मुनिराज जब-तक आत्मस्वरूपमें लीन हुआ ठहरता है, तबतक सकल विकल्प समूह-से रहित उसको तू संवर व निर्जरा स्वरूप जान। (और भी दे० चारित्र/२/२; धर्म/७/२; धर्मध्याना० ६/३ आदि)।

५. संवर सहित ही यथार्थ निर्जरा होती है उससे रहित नहीं

पं. का./मू./१४५ जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं। मुणि-ऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं। =संवरसे युक्त ऐसा जो जीव, वास्तवमें आत्मप्रसाधक वर्तता हुआ, आत्माका अनुभव करके ज्ञानको निश्चल रूपसे ध्याता है, वह कर्मरजको खिरा देता है।

भ. आ./मू./१८५४/१६६४ तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे। ण हु सोत्ते पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं।१८५४। =जो मुनि संवर रहित है, केवल तपश्चरणसे ही उसके कर्मका नाश नहीं हो सकता है, ऐसा जिनवचनमें कहा है। यदि जलप्रवाह आता ही रहेगा तो तालाब कब सूखेगा? (यो. सा./६/६); विशेष—दे० निर्जरा/३/१।

* मोक्षमार्गमें संवरयुक्त अविपाक निर्जरा ही इष्ट है, सविपाक नहीं—दे० निर्जरा/३/१।

* सम्यग्दृष्टिको ही यथार्थ निर्जरा होती है
—दे० निर्जरा/२/१।

३. निर्जरा सम्बन्धी नियम व शंकाएँ

१. ज्ञानीको ही निर्जरा होती है, ऐसा क्यों

द्र. स./टी./३६/१५२/१ अत्राह शिष्य—सविपाकनिर्जरा नरकादि-गतिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते संज्ञानिनामेवेति नियमो नास्ति। तत्रो-त्तरम्—अत्रैव मोक्षकारणं या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या। या पुनरज्ञानिनां निर्जरा सा गजस्नानवन्निष्फला। यतः स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतरं बध्नाति तेन कारणेन सा न ग्राह्या। या तु सराग-सद्दृष्टीनां निर्जरा सा यद्यप्यशुभकर्मविनाशं करोति तथापि संसार-स्थितिं स्तोकं कुरुते। तद्भवे तीर्थंकरप्रकृत्यादि विशिष्टपुण्यबन्ध-कारणं भवति पारम्पर्येण मुक्तिकारणं चेति। वीतरागसद्दृष्टीनां पुनः पुण्यपापद्वयविनाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति। =प्रश्न—जो सवि-पाक निर्जरा है वह तो नरक आदि गतियोंमें अज्ञानियोंके भी होती हुई देखी जाती है। इसलिए सम्यग्ज्ञानियोंके ही निर्जरा होती है, ऐसा नियम क्यों? उत्तर—यहाँ जो संवर पूर्वक निर्जरा है उसीको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, वही मोक्षका कारण है। और जो अज्ञानियोंके निर्जरा होती है वह तो गजस्नानके समान निष्फल है। क्योंकि अज्ञानी जीव थोड़े कर्मोंकी तो निर्जरा करता है और बहुतसे कर्मोंको बाँधता है। इस कारण अज्ञानियोंकी सविपाक निर्जराका यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा (ज्ञानी जीवोंमें भी) जो सरागसम्यग्दृष्टियोंके निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभ कर्मोंका नाश करती है, शुभ कर्मोंका नाश नहीं करती है, (दे० संवर/४) फिर भी संसारकी स्थितिको थोड़ा करती है, और उसी भवमें तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्यबन्धका कारण हो जाती है। वह परम्परा मोक्षका कारण है। वीतराग सम्यग्दृष्टियोंके पुण्य तथा पाप दोनोंका नाश होनेपर उसी भवमें वह अविपाक निर्जरा मोक्षका कारण हो जाती है।

२. प्रदेश गलनासे स्थिति व अनुभाग नहीं गलते

ध. १२/४,२,१३,१६२/४३१/१२ खवगसेडीए पत्तवादस्स भावस्स कधमणंतगुणत्तं। ण, आउअस्स खवगसेडीए पदेसस्स गुणसेडिणिज्जराभावो व ट्ठिदि-अणुभागाणं घादाभावादो। =प्रश्न—क्षपक श्रेणीमें घातको

प्राप्त हुआ (कर्मका) अनुभाग अनन्तगुणा कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, क्षपकश्रेणीमें आयुकर्मके प्रदेशकी गुणश्रेणी निर्जराके अभावके समान स्थिति व अनुभागके घातका अभाव है।

क. पा /५/४-२२/§ ५७२/३३७/११ ट्ठिदीए इव पदेसगलणाए अणुभाग-घादो णत्थि त्ति। =प्रदेशोके गलनेसे, जैसे स्थितिघात होता है वैसे अनुभागका घात नहीं होता। (और भी दे० अनुभाग/२/५)।

३. अन्य सम्बन्धित विषय

१. ज्ञानी व अज्ञानीकी कर्म क्षपणामें अन्तर—दे० मिथ्यादृष्टि/४।

२. अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें निर्जराका अल्पबहुत्व तथा तद्गत शंकाएँ। —दे० अल्पबहुत्व।

३. सयतासंयतकी अपेक्षा संयतकी निर्जरा अधिक क्यों? —दे० अल्पबहुत्व १/३/।

४. पाँचों शरीरोंके स्कन्धोंकी निर्जराके जघन्योत्कृष्ट स्वामित्व सम्बन्धी प्ररूपणा। —दे० ष. खं. ६/४,१/सूत्र ६६-७१/३२६-३५४।

५ पाँचों शरीरोंकी जघन्योत्कृष्ट परिशातन कृति सम्बन्धी प्ररूपणाएँ। —दे० ध० ६/४,१,७१/३२६-४३८।

६. कर्मोंकी निर्जरा अवधि व मनःपर्यय ज्ञानियोंके प्रत्यक्ष है। —दे० स्वाध्याय/१।

निर्जरानुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

निर्णय—(रा. वा./१/१३/३/५८/६)—न हि यत एव सशयस्तत एव निर्णय'। =संशयका न होना ही निर्णय या निश्चय है।

न्या. सू /१/१/४१ विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय. ।४१। =तर्क आदि द्वारा पक्ष व प्रतिपक्षमेंसे किसी एककी निवृत्ति होनेपर, दूसरेकी स्थिति अवश्य ही होगी। जिसकी स्थिति होगी उसका निश्चय होगा। उसीको निर्णय कहते है।

निर्दण्ड—नि. सा./ता वृ./४३ मनोदण्डो वचनदण्ड' कायदण्डश्चे-त्येतेषां योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निर्दण्डः। =मनदण्ड अर्थात् मनोयोग, वचनदण्ड और कायदण्डके योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मो-का अभाव होनेसे आत्मा निर्दण्ड है।

निर्दुख—एक ग्रह—दे० ग्रह।

निर्देश—**१. निर्देशका लक्षण**

स. सि./१/७/२२/३ निर्देशः स्वरूपाभिधानम्। =किसी वस्तुके स्वरूपका कथन करना निर्देश है।

रा वा./१/७/ /३८/२ निर्देशोऽर्थावधारणम्। =पदार्थके स्वरूपका निश्चय करना निर्देश है।

ध. १/१,१,८/१६०/१ निर्देश. प्ररूपण विवरणं व्याख्यानमिति यावत्।

ध. ३/१,२,१/८/६ सोदाराणं जहा णिच्छयो होदि तहा देसो णिद्देसो। कुतीर्थपाखण्डिन' अतिशय्य कथनं वा निर्देश.। =१. निर्देश, प्ररू-पण, विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची शब्द है। २ जिस प्रकारके कथन करनेसे श्रोताओंको पदार्थके विषयमें निश्चय होता है, उस प्रकारके कथन करनेको निर्देश कहते है। अथवा कुतीर्थ अर्थात् सर्वथा एकान्तवादके प्रस्थापक पाखण्डियोंको उल्लंघन करके अति-शय रूप कथन करनेको निर्देश कहते है।

२. निर्देशके भेद

ध. १/१,१,८/१६०/२ स द्विविधो द्विप्रकार, ओघेन आदेशेन च। =वह निर्देश ओघ व आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है। [ओघ व आदेशके लक्षण (दे० वह वह नाम)]।

निर्दोष—नि. सा./ता वृ./४३ निश्चयेन निखिलदुरितमलकलङ्क-पङ्कनिर्निक्तसमर्थसहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसह - जावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोप.। =निश्चयसे समस्त-पापमल कलंकरूपी कीचडको धो डालनेमें समर्थ, सहज-परमवीतराग-सुख समुद्रमें मग्न प्रगट सहजावस्थास्वरूप जो सहजज्ञानशरीर उनके द्वारा पवित्र होनेके कारण आत्मा निर्दोष है।

निर्दोष सप्तमी व्रत—दे० नदसप्तमो व्रत।

निर्द्वन्द—मो. पा /टी./१२/३१२/१० निर्द्वन्दो निष्कलह' केनापि सह कलहरहित। अथवा निर्द्वन्दो निर्युग्म' स्त्रीभोगरहित। 'द्वन्द्वं कलह-युग्मयो'' इति वचनात्। =क्योंकि द्वन्द कलह व युग्म इन दो अर्थों-में वर्तता है, इसलिए निर्द्वन्द शब्दके भी दो अर्थ होते है—निष्कलह अर्थात् किसीके साथ भी कलहसे रहित; तथा निर्युग्म अर्थात् भोगसे रहित।

निर्नामिक—(ह. पु./३३/श्लोक नं.) राजा गंगदेवका पुत्र था। पूर्व. भवके वैरके कारण जन्मते ही माताने त्याग दिया। रेवती नामक धायने पाला।१४४। एक दिन अपने भाइयोंके साथ भोजन करनेको बैठा तो माताने लात मारी।१४७। मुनि दीक्षा ले घोर तप किया। अगले भवमें कृष्ण नामक नवाँ नारायण हुआ।—दे० कृष्ण।

निर्मम—

नि. सा./ता. वृ /४३ प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्निर्ममः। =प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त प्रकारके मोह राग व द्वेषका अभाव होने-से आत्मा निर्मम है।

मो पा./टी./१२/३१२/१२ निर्ममो ममत्वरहित', ममेति अदन्तोऽव्यय-शब्द.। निर्गतं ममेति परिणामो यस्येति निर्मम। =निर्मम अर्थात् ममत्वरहित। 'मम' यह एक अदन्त अव्यय शब्द है। 'मम' जिसमेंसे निकल गया है ऐसा परिणाम जिसके वर्तता है, वह निर्मम है।

निर्मल—भावी कालीन १६ वें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

निर्माण—**१. निर्माण नामकर्म सामान्य**

स. सि./८/११/३९१/१० यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणम्। निर्मी-यतेऽनेनेति निर्माणम्। =जिसके निमित्तसे शरीरके अंगोपागोकी रचना होती है, वह निर्माण नामकर्म है। निर्माण शब्दका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्माण है। (रा. वा./८/११/५/५७६/२१); (गो. क /जी. प्र /३३/३०/११)।

ध. ६/१,९-१,२८/३ नियतं मान निमान। =नियत मानको निर्माण कहते है।

२. निर्माण नामकर्मके भेद व उनके लक्षण

स. सि./८/११/३९१/११ तद् द्विविध—स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति। तज्जाति नामोदयापेक्षं चक्षुरादीना स्थान प्रमाणं च निर्वर्त-यति। =वह दो प्रकारका है—स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण। उस उस जाति नामकर्मके अनुसार चक्षु आदि अवयवों या अगो-पागोके स्थान व प्रमाणकी रचना करनेवाला स्थान व प्रमाण नामकर्म है। (रा. वा./८/११/५/५७६/२२); (ध. १३/५,५,१०१/३६६/६); (गो क./जी. प्र /३३/३०/१६)।

ध. ६/१,९-१,२८/६६/३ त दुविहं पमाणणिमिणं संठाणणिमिणमिदि। जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं दो वि णिमिणाणि होंति, तस्स-कम्मस्स णिमिणमिदि सण्णा। जदि पमाणणिमिणणामकम्मं ण होज्ज, तो जघा-बाहु-सिर-णासियादीणं वित्थारायामा लोयत-विसप्पिणो होज्ज। ण चेवं, अणुवलभा। तदो कालमस्सिदूण जाइं च जीवाणं पमाणणिव्वत्तयं कम्म पमाणणिमिण णाम। जदि संठाण-णिमिणकम्म णाम ण होज्ज, तो अंगोवंग-पच्चंगाणि संकर-वदियर-सरूवेण होज्ज। ण च एवं, अणुवलंभा। तदो कण्ण-णयण-णासिया-

दोणं सजादि अणुरूवेण अप्पप्पणो ट्ठाणे जं णियामयं तं संठाण-णिमिणमिदि। =वह दो प्रकारका है—प्रमाणनिर्माण और संस्थान-निर्माण। जिस कर्मके उदयसे जीवोंके दोनों ही प्रकारके निर्माण होते हैं, उस कर्मकी 'निर्माण' यह संज्ञा है। यह प्रमाणनिर्माण नामकर्म न हो, तो जंघा, बाहु, शिर और नासिका आदिका विस्तार और आयाम लोकके अन्ततक फैलनेवाले हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा पाया नहीं जाता है। इसलिए कालको और जातिको आश्रय करके जीवोंके प्रमाणको निर्माण करनेवाला प्रमाण-निर्माण नामकर्म है। यदि संस्थाननिर्माण नामकर्म न हो तो, अंग, उपंग और प्रत्यंग संकर और व्यतिकर स्वरूप हो जावेंगे अर्थात् नाकके स्थानपर ही आँख आदि भी बन जायेंगी अथवा नाकके स्थानपर आँख और मस्तकपर मुँह लग जायेगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, ऐसा पाया नहीं जाता है। इसलिए कान, आँख, नाक आदि अंगोंका अपनी जातिके अनुरूप अपने स्थानपर रचनेवाला जो नियामक कर्म है, वह संस्थाननिर्माण नामकर्म कहलाता है।

*** निर्माण प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ**

दे० वह वह नाम

निर्माणरज—एक लौकान्तिक देव—दे० लौकान्तिक, इनका लोकमें अवस्थान—दे० लोक/७।

निर्माल्य—पूजाका अवशेष द्रव्य—दे० पूजा/४।

निर्मूढ—नि सा/ता. वृ./४३ सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञान-सहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेदनसमर्थत्वान्निर्मूढ', अथवा साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थत्वान्निर्मूढश्च। =सहज निश्चयनयसे सहजज्ञान-दर्शन-चारित्र और परमवीतराग सुख आदि अनेक धर्मोंके आधारभूत निज परमतत्त्वको जाननेमें समर्थ होनेसे आत्मा निर्मूढ है। अथवा सादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले शुद्धसद्भूत व्यवहारनयसे तीन काल और तीन लोकके स्थावर जंगमस्वरूप समस्त द्रव्यगुण-पर्यायको एक समयमें जाननेमें समर्थ सकल विमल केवलज्ञानरूपसे अवस्थित होनेसे आत्मा निर्मूढ है।

निर्यापक—१. सल्लेखनाकी अपेक्षा निर्यापकका स्वरूप

भ. आ./मू./गा संविग्गवज्जभीरुस्स पादमूलम्मि तस्स विहरंतो। जिणवयणसव्वसारस्स होदि आराधओ तादी।४००। पंचच्छसत्तजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं। णिज्जावगण्णेसदि समाधिकामो अणुण्णादं।४०१। आयारत्थो पुण से दोसे सव्वे वि ते विवज्जेदि। तम्हा आयारत्थो णिज्जवओ होदि आयरिओ।४२७। जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रदणभरिदं समुद्दम्मि। णिज्जवओ धारेदि हु जिदकरणो बुद्धिसंपण्णो।५०३। तह संजमगुणभरिदं परिस्सहुम्मीहिं खुभिदमाइद्धं। णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवदेसेहिं।५०४। इय णिव्वओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदाचरिओ।५०६। इय अट्ठगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि।५०७। एदारिसमि थेरे असदि गणत्थे तहा उवज्झाए। होदि पवत्ती थेरो गणधरवसहो य जदणाए।६२१। जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु। ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया।६७१। =साधु संघमें उत्कृष्ट निर्यापकाचार्यका स्वरूप जो संसारसे भय युक्त है, जो पापकर्मभीरु है, और जिसको जिनागमका सर्वस्वरूप मालूम है, ऐसे आचार्यके चरणमूलमें वह यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है।४००। जिसको समाधिमरणकी इच्छा है ऐसा मुनि ५००,६००,७०० योजन अथवा उससे भी अधिक योजन तक विहार कर शास्त्रोक्त निर्यापकका शोध करे।४०१। आचारवत्त्व गुणको धारण करनेवाले आचार्य सर्व दोषोंका त्याग करते हैं। इसलिए गुणोंमें प्रवृत्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्यापक होने लायक जानने चाहिए।४२७। (विशेष दे० आचार्य/२ में आचार्यके ३६ गुण) जिस प्रकार नौका चलानेमें अभ्यस्त बुद्धिमान् नाविक, तरंगो द्वारा अत्यन्त क्षुभित समुद्रमें रत्नोंसे भरी हुई नौकाको डूबनेसे रक्षा करता है।५०३। उसी प्रकार संयम गुणोंसे पूर्ण यह क्षपकनौका प्यास आदिरूप तरंगोंसे क्षुब्ध होकर तिरछी हो रही है। ऐसे समयमें निर्यापकाचार्य मधुर हितोपदेशके द्वारा उसको धारण करते हैं, अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं।५०४। इस प्रकारसे क्षपकका मन आह्लादित करनेवाले आचार्य निर्यापक हो सकते हैं। अर्थात् निर्यापकत्व गुणधारक आचार्य क्षपकका समाधिमरण साध सकते हैं।५०६। इस प्रकार आचारवत्त्व आदि आठ गुणोंसे पूर्ण आचार्यका (दे० आचार्य/२) आश्रय करनेसे क्षपकको चार प्रकारकी आराधना प्राप्त होती है।५०७। अल्प गुणधारी भी निर्यापक सम्भव है—उपरोक्त सर्व आचारवत्त्व आदि गुणोंके धारक यदि आचार्य या उपाध्याय प्राप्त न हो तो प्रवर्तक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि या बालाचार्य यत्नसे व्रतोंमें प्रवृत्ति करते हुए क्षपक समाधिमरण साधनेके लिए निर्यापकाचार्य हो सकते हैं।६२१। जैसे गुण ऊपर वर्णन कर आये हैं ऐसे ही मुनि निर्यापक होते हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें विचित्र कालका परावर्तन हुआ करता है इसलिए कालानुसार प्राणियोंके गुणोंमें भी जघन्य मध्यमता व उत्कृष्टता आती है। जिस समय जैसे शोभन गुणोंका सम्भव रहता है, उस समय वैसे गुणधारक मुनि निर्यापक व परिचारक समझकर ग्रहण करना चाहिए।६७१।

*** सल्लेखनामें निर्यापकका स्थान** —(दे० सल्लेखना/५)।

२. छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा निर्यापक निर्देश

प्र. सा./त. प्र./२१० यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः, यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव। ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति। =जो आचार्य लिंगग्रहणके समय निर्विकल्प सामायिकसंयमके प्रतिपादक होनेसे प्रव्रज्यादायक हैं वे गुरु हैं, और तत्पश्चात् तत्काल ही जो (आचार्य) सविकल्प छेदोपस्थापना संयमके प्रतिपादक होनेसे छेदके प्रति उपस्थापक (भेदमें स्थापन करनेवाले) हैं वे निर्यापक हैं। उसी प्रकार जो छिन्न संयमके प्रतिसन्धानकी विधिके प्रतिपादक होनेसे छेद होनेपर उपस्थापक (पुनः स्थापित करनेवाले) हैं, वे भी निर्यापक हैं। इसलिए छेदोपस्थापकपर भी होते हैं। (यो. सा./अ./८/६)

निर्लांछन कर्म—दे० सावद्य/२।

निर्लेपन—ध १४/५,६,६५२/५०७/१ आहारसरीरिंदियआणपाण-अपज्जत्तीण णिव्वत्ती णिल्लेवण णाम। =आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास अपर्याप्तियोंकी निवृत्तिको निर्लेपन कहते हैं।

निर्वर्ग—गो. क./जी. प्र./६६०/११८७/११ निर्वर्गं सर्वथा असदृशं। =जो सर्वथा असदृश हो उसे निर्वर्ग कहते हैं।

निर्वर्गण—(ल. सा./जी प्र./४३/७७/५) अनुकृष्टय. प्रतिसमयपरिणामखण्डानि तासामद्धा आयाम तत्सङ्ख्येत्यर्थः। तदेव तत्परिणाममेव निर्वर्गणकाण्डकमित्युच्यते। वर्गणा समयसादृश्यं ततो निष्क्रान्ता उपर्युपरि समयवर्तिपरिणामखण्डा तेषा काण्डक पर्व

निर्वर्गणकाण्डकं। =प्रति समयके परिणाम खण्डोंको अनुकृष्टि कहते हैं। उस अनुकृष्टिका काल आयाम कहलाता है। वह ऊर्ध्वगच्छसे संख्यात गुणे होते है। उन परिणामोंको ही निर्वर्गणा काण्डक कहते हैं। समयोंकी समानताका नाम वर्गणा है, उस समान समयोंसे रहित जो ऊपरके समयवर्ती परिणाम खण्ड है उनके काण्डक या पर्वका नाम निर्वर्गणा काण्डक है। विशेष—दे० करण/४/३।

निर्वज्ञशांवला—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

निर्वर्तना—दे० अधिकरण।

निर्वहण—भ. आ./वि./२/१४/२० निराकुलं वहन धारणं निर्वहणं, परीषहाद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्तिः। =सम्यग्दर्शनादि गुणोको निराकुलतासे धारण करना, अर्थात् परीषहादिक प्राप्त हो जानेपर भी व्याकुल चित्त न होकर सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप परिणतिमें तत्पर रहना, उससे च्युत न होना, यह निर्वहण शब्दका अर्थ है। (अन. ध./१/६६/१०४)

निर्वाण—

नि. सा./मू./१७९-१८१ णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा। णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं।१७९। णवि इंदिय उवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य। ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं।१८०। णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि। णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं।१८१। =जहाँ दु:ख नहीं है, सुख नहीं है, पीडा, बाधा, मरण, जन्म कुछ नहीं है वहीं निर्वाण है।१७९। जहाँ इन्द्रियाँ, मोह, विस्मय, निद्रा, तृषा, क्षुधा, कुछ नहीं है वहीं निर्वाण है।१८०। जहाँ कर्म और नोकर्म, चिन्ता, आर्त व रौद्रध्यान अथवा धर्म व शुक्लध्यान कुछ नही हे, वही निर्वाण है।१८१।

भ. आ./वि./११/५३/२० निर्वाणं विनाश:, तथा प्रयोग. निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत्। विनाशसामान्यमुपादाय वर्तमानोऽपि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्जतिकर्मशातनसामर्थ्याभिधायिनः प्रयोगात्कर्मविनाशगोचरो भवति। स च कर्मणां विनाशो द्विप्रकार:, कतिपयः प्रलय. सकलप्रलयश्च। तत्र द्वितीयपरिग्रहमाचष्टे। =निर्वाण शब्दका 'विनाश' ऐसा अर्थ है। जैसे—प्रदीपका निर्वाण हुआ अर्थात् प्रदीप नष्ट हो गया। परन्तु यहाँ चारित्रमें जो कर्म नाश करनेका सामर्थ्य है उसका प्रयोग यहाँ (प्रकृतमें) निर्वाण शब्दसे किया गया है। वह कर्मका नाश दो प्रकारसे होता है—थोड़े कर्मोंका नाश और सकल कर्मोंका नाश। उनमेंसे दूसरा अर्थात् सर्व कर्मोका विनाश ही यहाँ अभीष्ट है।

प्र. सा./ता. वृ./६/८/६ स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षणं निर्वाणम्। =१. स्वाधीन, अतीन्द्रियरूप परमज्ञान व सुख लक्षण निर्वाण है। २. भूतकालीन प्रथम तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

*** भगवान् महावीरका निर्वाण दिवस**—दे० इतिहास/२।

निर्वाण कल्याणक वेला—दे० कल्याणकव्रत।

निर्वाह—दे० निर्वहण।

निर्विध्या—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

निर्विकृति—सा. ध./टीका/५/३५ विक्रियते जिह्वामनसि येनेति विकृतिर्गोरसेक्षुरसफलरसधान्यरसभेदाच्चतुर्विधा। तत्र गोरस. क्षीरघृतादि, इक्षुरसः खण्डगुडादि, फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यंन्द., धान्यरसस्तैलमण्डादिः। अथवा यद्येन सह भुंज्यमानं स्वदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते। विकृतिर्निष्क्रान्तं भोजनं निर्विकृति। =१. जिसके आहारसे जिह्वा और मनमें विकार पैदा होता है उसे विकृति कहते हे। जैसे—दूध, घी आदि गोरस, खाण्ड, गुड आदि इक्षुरस, दाख, आम आदि फलरस और तेल माण्ड आदि धान्य रस। ऐसे चार प्रकारके रस विकृति हैं। ये जिस आहारमें न हों वह निर्विकृति है। २. अथवा जिसको मिलाकर भोजन करनेसे भोजनमें विशेष स्वाद आता है उसको विकृति कहते है। (जैसे—साग, चटनी आदि पदार्थ।) इस विकृति रहित भोजन अर्थात् व्यंजनादिकसे रहित भात आदिका भोजन निर्विकृति है। (भ. आ./मूलाराधना टीका/२५४/४७५/१६)

निर्विचिकित्सा—१. दो प्रकारकी विचिकित्सा

मू. आ./२५२ विदिगिंच्छा वि य दुविहा दव्वे भावे य होइ णायव्वा। =विचिकित्सा दो प्रकार है—द्रव्य व भाव।

२. द्रव्य निर्विचिकित्साका लक्षण

१. साधु व धर्मात्माओंके शरीरोंकी अपेक्षा

मू. आ./२५३ उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयं च चम्मट्ठी। पूयं च मससोणिदवंतं जल्लादि साधूणं।२५३। =साधुओंके शरीरके विष्ठामल, मूत्र, कफ, नाकका मल, चाम, हाड, राधि, मांस, लोही, वमन, सर्व अंगोंका मल, लार इत्यादि मलोंको देखकर ग्लानि करना द्रव्य विचिकित्सा है (तथा ग्लानि न करना द्रव्य निर्विचिकित्सा है।) (अन. ध./२/८०/२०७)

र. क. श्रा./१३ स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते। निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता।१३। =स्वभावसे अपवित्र और रत्नत्रयसे पवित्र ऐसे धर्मात्माओंके शरीरमें ग्लानि न करना और उनके गुणोंमें प्रीति करना सम्यग्दर्शनका निर्विचिकित्सा अंग माना गया है। (का. अ./मू./४१७)।

द्र. सं./टी./४१/१७२/६ भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवानां दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्य विचिकित्सापरिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते। =भेदाभेद रत्नत्रयके आराधक भव्यजीवोकी दुर्गन्धी तथा आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धिसे अथवा करुणाभावसे यथायोग्य विचिकित्सा (ग्लानि) को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है।

२. जीव सामान्यके शरीरों व सर्वपदार्थोंकी अपेक्षा

मू. आ./२५२ उच्चारादिसु दव्वे।२५२। =विष्टा आदि पदार्थोंमें ग्लानिका होना द्रव्य विचिकित्सा है। (वह नहीं करनी चाहिए पु. सि. उ.) (पु सि. उ./२५)।

स. सा./मू./२३१ जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं। सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।२३१। =जो चेतयिता सभी धर्मों या वस्तुस्वभावोंके प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नही करता है, उसको निश्चयसे निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

स. सा./ता. वृ./२३१/३१३/१२ यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्वभावनाबलेन जुगुप्सां निन्दा दोषं द्वेषं विचिकित्सां न करोति, केषां संबन्धित्वेन। सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां स्वभावानां, दुर्गन्धादिविषये वा स सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्सः खलु स्फुट मन्तव्यो। =जो आत्मा परमात्म तत्त्वकी भावनाके बलसे सभी वस्तुधर्मों या स्वभावोंमें अथवा दुर्गन्ध आदि विषयोंमें ग्लानि या जुगुप्सा नहीं करता, न ही उनकी निन्दा करता है, न उनसे द्वेष करता है, वह निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि है, ऐसा मानना चाहिए।

पं. ध./उ./५८० दुर्दैवाद् दु:खिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे। यन्नासूयापरं चेत: स्मृतो निर्विचिकित्सक.।५८०। =दुर्दैव वश तीव्र असाताके उदयसे किसी पुरुषके दु खित हो जानेपर; उससे घृणा नहीं करना निर्विचिकित्सा गुण है। (ला. सं./४/१०२)।

३. भाव निर्विचिकित्साका लक्षण

१. परीषहोंमें ग्लानि न करना

मू. आ./२५२ खुदादिए भावविदिगिंछा। =क्षुधादि २२ परीषहोंमें संक्लेश परिणाम करना भावविचिकित्सा है। (उसका न होना सो निर्विचिकित्सा गुण है–पु. सि. उ.); (पु. सि. उ./२५)।

२. असत् व दूषित संकल्प विकल्पोंका निरास

रा. वा./६/२४/१/५२६/१० शरीराद्यशुचिस्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्या-संकल्पापनयः, अर्हत्प्रवचने वा इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्व-मुपपन्नमित्यशुभभावनाविरहः निर्विचिकित्सता। =शरीरको अत्यन्त अशुचि मानकर उसमें शुचित्वके मिथ्या संकल्पको छोड देना, अथवा अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनमें यह अयुक्त है, घोर कष्ट है, यह सब नहीं बनता' आदि प्रकारकी अशुभ भावनाओंसे चित्त विचिकित्सा नहीं करना अर्थात् ऐसे भावोंका विरह: निर्विचिकित्सा है। (म. पु./६३/३१५-३१६); (चा. सा./४/५)।

द्र. सं./टी./४१/१७२/११ यत्पुनर्जैनसमये सर्वं समीचीनं परं किन्तु वस्त्राप्रवरणं जलस्नानादिकं च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादि-कुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा निर्विचिकित्सा भण्यते। ='जैनमतमें सब अच्छी बातें हैं, परन्तु वस्त्रके आवरणसे रहितता अर्थात् नग्नपना और जलस्नान आदिका न करना यही एक दूषण है' इत्यादि बुरे भावोंको विशेष ज्ञानके बलसे दूर करना, वह निर्विचिकित्सा कहलाती है।

३. ऊँच-नीचके अथवा प्रशंसा निन्दा आदिके भावोंका निरास

पं. ध./उ./५७८-५८४ आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धया स्वात्मप्रशंसनात्। परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता स्मृता ।५७८। नैतत्तन्मनस्यज्ञान-मस्म्यहं संपदा पदम्। नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम्। ।५८१। प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः। प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ।५८२। =अपनेमें अपनी प्रशंसा द्वारा अपने गुणोंकी उत्कर्षताके साथ-साथ जो अन्यके गुणोंके अपकर्षमें बुद्धि होती है उसको विचिकित्सा कहते है। ऐसी बुद्धि न होना सो निर्विचिकित्सा है।५७८। सम्यग्दृष्टिके मनमें यह अज्ञान नहीं होता है कि मैं सम्पत्तियोंका आस्पद हूँ और यह दीन गरीब विपत्तियोंका आस्पद है, इसलिए हमारे समान नहीं है।५८१। बल्कि उस निर्विचिकित्सकके तो ऐसा ज्ञान होता है कि कर्मोंके उदयसे उत्पन्न त्रस और स्थावर योनिवाले सब जीव सदृश है।५८२। (ला. स./४/१००-१०५)।

४. निश्चय निर्विचिकित्सा निर्देश

द्र. सं./टी./४१/१७३/२ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सा-गुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्मला-त्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सा गुण इति। =निश्चयसे तो इसी (पूर्वोक्त) निर्विचिकित्सा गुणके बलसे जो समस्त राग-द्वेष आदि विकल्परूप तरंगोका त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निज शुद्धात्मामें स्थिति करना निर्विचिकित्सा गुण है।

५. इसे सम्यक्त्वका अतिचार कहनेका कारण

भ. आ./वि./४४/१४४/१ विचिकित्सा जुगुप्सा मिथ्यात्वासयमादिषु जुगुप्सायाः प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया जुगुप्सेति मतातिचारत्वेन। रत्नत्रयाणामन्यतमे तद्वति वा कोपादि-निमित्ता जुगुप्सा इह गृहीता। ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं, वाशोभनमिति। यस्य हि इदं भद्र इति श्रद्धानं स तस्य जुगुप्सां करोति। ततो रत्नत्रयमाहात्म्यारुचिर्युज्यते अतिचारः। =प्रश्न–विचिकित्सा या जुगुप्साको यदि अतिचार कहोगे तो मिथ्यात्व असंयम इत्यादिकोंमें जो जुगुप्सा होती है, उसे भी सम्यग्दर्शनका अतिचार मानना पड़ेगा। उत्तर–यहाँपर जुगुप्साका विषय नियत समझना चाहिए। रत्नत्रयमेंसे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयाराधकोंमें कोपादि वश जुगुप्सा होना ही सम्यग्दर्शनका अतिचार है। क्योंकि, इसके वशीभूत मनुष्य अन्य सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञान, दर्शन व आचरणका तिरस्कार करता है। तथा निरतिचार सम्यग्दृष्टिका तिरस्कार करता है। अतः ऐसी जुगुप्सासे रत्नत्रयके माहात्म्यमें अरुचि होनेसे इसको अतिचार समझना चाहिए। (अन. ध./२/७६/२०७)।

निर्विष ऋद्धि—दे० ऋद्धि/१।

निर्वृत्ति—स.सि./२/१७/१७५/४ निर्वर्त्यते इति निर्वृत्तिः। =रचनाका नाम निर्वृत्ति है।

रा. वा./२/१०/१/१३०/७ कर्मणा या निर्वर्त्यते निष्पाद्यते सा निर्वृत्ति-रित्युपदिश्यते। =नाम कर्मसे जिसकी रचना हो उसे (इन्द्रियको) निर्वृत्ति कहते हैं।

* **पर्याप्त अपर्याप्त निर्वृत्ति**—दे० पर्याप्ति/१।

निर्वृति अक्षर—दे० अक्षर।

निर्वृति इंद्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

निर्वृति विद्या—दे० विद्या।

निर्वृत्य कर्म—दे० कर्ता/१।

निर्वेगनी कथा—दे० कथा।

निर्वेचनी कथा—दे० कथा।

निर्वेद—पं. ध./उ./४४२-४४३ संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च (स्तु) निषेधनात्। स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयो ।४४२। त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा। स संवेगोऽथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ।४४३। =संवेग विधिरूप होता है और निषेधको विषय करनेके कारण निर्वेद निषेधात्मक होता है। उन संवेग व निर्वेदमें विवक्षा वश ही भेद है, वास्तवमें कोई भेद नहीं है।४४२। सब अभिलाषाओंका त्याग निर्वेद कहलाता है और धर्म तथा धर्मके फलमें अनुराग होना संवेग कहलाता है। वह संवेग भी सर्व अभिलाषाओंके त्यागरूप पड़ता है; क्योंकि, सम्यग्दृष्टि अभिलाषावान् नहीं होता।४४३।

निलय—एक ग्रह—दे० ग्रह।

निवृत्ति—स. सा./ता. वृ./३०६/३८८/११ बहिरङ्गविषयकषायादीहा-गतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः। =बहिरंग विषय कषाय आदि रूप अभिलाषाको प्राप्त चित्तका त्याग करना अर्थात् अभिलाषाओंका त्याग करना निवृत्ति है।

* **प्रवृत्तिमें भी निवृत्तिका अंश**

* **प्रवृत्ति व निवृत्तिसे अतीत**—दे० संवर/२।

तीसरी भूमिका ही श्रेय है—दे० धर्म/३/२।

निशि कथा—कवि भारामल (ई० १७५६) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

निशि भोजन त्याग—दे० रात्रि भोजन त्याग।

निशुंभ—म. पु./अधि./श्लोक–दूरवर्ती पूर्व भवमें राजसिंह नामका बड़ा मल्ल था।(६१/५९-६०)। अपर नाम मधुक्रीड़ था। पूर्व भवमें पुण्डरीक नामक नारायणके जीवका शत्रु था।(६५/१८०)। वर्तमान भवमें पाँचवाँ प्रतिनारायण हुआ—दे० शलाका पुरुष/५।

निश्चय—प्र. सा./ता. वृ./६३/११८/३१ परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चयः। =परमार्थका विशेष रूपसे तथा संशयादिरहित अवधारण निश्चय है।

द्र सं./टी./४१/१६४/११ श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः सम्यग्दर्शनम्। =श्रद्धान, रुचि, निश्चय अर्थात् यह इस प्रकार ही है ऐसी निश्चय बुद्धि सम्यग्दर्शन है।

निश्चय नय—१. सर्व नयोंके मूल निश्चय व्यवहार—(दे० नय/I/१) २. निश्चय व्यवहार नय—दे० नय/V)

निश्चयावलंबी—दे० साधु/३।

निश्चल—एक ग्रह – दे० ग्रह।

निश्चित विपक्ष वृत्ति—दे० व्यभिचार।

निषद्यका—दे० समाचार।

निषद्या—दे० निषिद्धिका।

निषद्या क्रिया—दे० संस्कार/२।

निषद्या परीषह—

स. सि./९/९/४२३/७ श्मशानोद्यानशून्यायतनगिरिगुहागहरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु निवसत आदित्यप्रकाशस्वेन्द्रियज्ञानपरीक्षितप्रदेशे कृतनियमक्रियस्य निषद्या नियमितकालामास्थितवत. सिंहव्याघ्रादिविविधभीषणध्वनिश्रवणान्निवृत्तभयस्य चतुर्विधोपसर्गसहनादप्रच्युतमोक्षमार्गस्य वीरासनोत्कुटिकाद्यासनादविचलितविग्रहस्य तत्कृतबाधासहनं निषद्या परिषहविजय इति निश्चीयते।—जिनमे पहले रहनेका अभ्यास नही किया है ऐसे श्मशान, उद्यान, शून्यघर, गिरिगुफा, और गहर आदिमें जो निवास करता है, आदित्यके प्रकाश और स्वेन्द्रिय ज्ञानसे परीक्षित प्रदेशमें जिसने नियम क्रिया की है, जो नियत काल निषद्या लगाकर बैठता है, सिंह और व्याघ्र आदिकी नाना प्रकारकी भीषण ध्वनिके सुननेसे जिसे किसी प्रकारका भय नहीं होता, चार प्रकारके उपसर्गके सहन करनेसे जो मोक्षमार्गसे च्युत नही हुआ है, तथा वीरासन और उत्कटिका आदि आसनके लगानेसे जिसका शरीर चलायमान नही हुआ है, उसके निषद्या कृत बाधाका सहन करना निषद्या परीषहजय निश्चित होता है। (रा. वा./९/९/१५/६१०/२२); (चा. सा./११८/३)।

निषध—रा. वा./३/११/५-६/१८३/८—यस्मिन् देवा देव्यश्च क्रीडार्थं निषीधन्ति स निषध, पृथोदरादिपाठात् सिद्ध। अन्यत्रापि तत्तुल्यकारणत्वात्तत्प्रसङ्ग' इति चेन्न, रूढिविशेषबललाभात्। क्व पुनरसौ। हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः।६। =जिसपर देव और देवियाँ क्रीडा करें वह निषध है। क्योंकि यह संज्ञा रूढ है, इसलिए अन्य ऐसे देवक्रीडाकी तुल्यता रखनेवाले स्थानोमें नहीं जाती है। यह वर्षधर पर्वत हरि और विदेहक्षेत्रकी सीमापर है। विशेष—दे० लोक/३/४।

ज दी. प /प्र /१४१ A.N. U.P व H.L. Jain इस पर्वतसे हिन्दूकुश शृंखलाका तात्पर्य है। हिन्दूकुशका विस्तार वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीर प्रदेशसे, जहाँसे इसका मूल है, काबुलके पश्चिममें कोहेबाबा तक माना जाता है। "कोहे-बाबा और बन्दे-बाबाकी परम्पराने पहाडोकी उस ऊँची शृंखलाको हेरात तक पहुँचा दिया है। पामीरसे हेरात तक मानो एक ही शृंखला है।" अपने प्रारम्भसे ही यह दक्षिण दावे हुए पश्चिमकी ओर बढता है। यही पहाड ग्रीकोका परोपानिसस है। और इसका पार्श्ववर्ती प्रदेश काबुल उनका परोपानिसदाय है। ये दोनो ही शब्द स्पष्टत 'पर्वत निषध' के ग्रीक रूप है, जेसा कि जायसवालने प्रतिपादित किया है। 'गिर निसा (गिरि निसा)' भी गिरि निषधका ही रूप है। इसमें गिरि शब्द एक अर्थ रखता है। वायु पुराण/४६/१३२ में पहाडीकी शृंखलाको पर्वत और एक पहाडीको गिरि कहा गया है—"अपवर्णास्तु गिरय. पर्वभि. पर्वताः स्मृताः।"

निषधकूट—निषध पर्वतका एक कूट तथा सुमेरु पर्वतके नन्दनवनमे स्थित एक कूट—दे० लोक/७।

निषध देव—निषध पर्वतके निषधकूटकार क्षक देव—दे० लोक/७।

निषध ह्रद—देवकुरुके १० ह्रदोमेंसे एक—दे० लोक/७।

निषाद—एक स्वरका नाम – दे० स्वर।

निषिक्त—ध. १४/५,६,२४६/३३२/९ पढमसमए पदेसग्गं णिसित्त पढमसमयबद्धपदेसग्गं त्ति भणिद होदि। =प्रथम समयमें प्रदेशाग्र निषिक्त किया है। अर्थात् प्रथमसमय जो प्रदेशाग्र बाँधा गया है, यह तात्पर्य है।

निषिद्धिका—श्रुतज्ञानमें अंगबाह्यका १४वाँ विकल्प—दे० श्रुतज्ञान/III।

निषीधिका—

भ. आ./मू./१९६७-१९७०/१७३५ समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे। पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं।१९६७। एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा। वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा।१९६८। अभिसुआ असुसिरा अघसा अज्जोवा बहुसमा य असिणिद्धा। णिज्जतुगा अहरिदा अविला य तहा अणाबाधा।१९६९। जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए। वसधीदो वण्णिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति।१९७०।

भ. आ /वि /१४३/३२९/१ णिसिहीओ निषिधीर्योगिवृत्तिर्यस्या भूमौ सा निषिधी इत्युच्यते। =अर्हदादिकोके व मुनिराजके समाधिस्थानको निषिद्धिका या निषीधिका कहते हैं (भ. आ./वि.)। चातुर्मासिकयोगके प्रारम्भकालमें तथा ऋतु प्रारम्भमें निषीधिकाकी प्रतिलेखना सर्व साधुओको नियमसे करने चाहिए, अर्थात् उस स्थानका दर्शन करना तथा उसे पीछीसे साफ करना चाहिए। ऐसा यह मुनियोका स्थित कल्प है।१९६७। वह निषीधिका एकान्तप्रदेशमें, अन्य जनोको दीख न पडे ऐसे प्रदेशमें हो। प्रकाश सहित हो। वह नगर आदिकोसे अतिदूर न हो। न अति समीप भी हो। वह टूटी हुई, विध्वस्त की गयी ऐसी न हो। वह विस्तीर्ण प्रासुक और दृढ होनी चाहिए।१९६८। वह निषीधिका चीटियोसे रहित हो, छिद्रोसे रहित हो, घिसी हुई न हो, प्रकाश सहित हो, समान भूमिमें स्थित हो, निर्जन्तुक व बाधारहित हो, गीली तथा इधर-उधर हिलनेवाली न हो। वह निषीधिका क्षपकको वसतिकासे नैरृत दिशामें, दक्षिण दिशामे अथवा पश्चिम दिशामें होनी चाहिए। इन्हीं दिशाओमें निषीधिकाकी रचना करना पूर्व आचार्योंने प्रशस्त माना है।१९६९-१९७०।

★ **निषीधिकाकी दिशाओंपरसे शुभाशुभ फल विचार** —दे० सल्लेखना/६/३।

निषेक—१. लक्षण

ष ख/६/१, ९-६/सू ६/१५० आबाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ।६। =(ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय व अन्तराय) इन कर्मोंका आबाधाकालसे हीन कर्मस्थिति प्रमाण कर्मनिषेक होता है। (ष खं. ६/१,९-६/सू. ९,१२,१५,१८,२१/पृ. १६९-१९५ में अन्य तीन कर्मोंके सम्बन्धमें उपरोक्त ही बात कही है)।

ध. ११/४,२,६,१०१/२३७/१६ निषेचनं निषेक., कम्मपरमाणुक्खधणिक्खेवो णिसेगो णाम। ='निषेचन निषेक.' इस निरुक्तिके अनुसार कर्म परमाणुओके स्कन्धोके निक्षेपण करनेका नाम निषेक है।

गो. क/मू./१६०/१६५ आवाहूणियकम्मट्ठिदी णिसेगो दुसत्तकम्माणं। आउस्स णिसेगो पुण सगट्ठिदी होदि णियमेण।१६१। =आयु वर्जित सात कर्मोंकी अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमेंसे उन-उनका आबाधा काल घटाकर जो शेष रहता है, उतने कालके जितने समय होते हैं; उतने ही उस उस कर्मके निषेक जानना। और आयु कर्मकी स्थिति प्रमाण कालके समयों जितने उसके निषेक है। क्योंकि आयुकी आबाधा पूर्व भवकी आयुमें व्यतीत हो चुकी है। (गो.क./मू./६१६/११०२)।

गो. जी./भाषा/६७/१७३/१४ एक एक समय (उदय आने) सम्बन्धी जेता द्रव्यका प्रमाण ताका नाम निषेक जानना। (विशेष दे० उदय/३ में कर्मोंकी निषेक रचना)।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. उदय प्रकरणमें कर्म प्रदेशोंकी निषेक रचना —दे० उदय/३।
२. स्थितिप्रकरणमें कर्मप्रदेशोंकी निषेक रचना —दे० स्थिति/३।
३. निषेकोंमें अनुभागरूप-स्पर्धक रचना —दे० स्पर्धक।
४. निक्षेप व अतिस्थापनारूप निषेक —दे० अपकर्षण/२।

निषेकहार—गो. क/मू./९२८/११११—दोगुणहाणिपमाणं णिसेयहारो दु होइ। =गुणहानिके प्रमाणका दुगुना करनेसे दो गुणहानि होती है, उसीको निषेकहार कहते है। (विशेष दे० गणित/II/५)

निषेध—प ध/पू./२७५-२७६ सामान्यविधिरूप प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च। उभयोरन्यतरस्योन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति।२७५। तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदिति। तदिह विभज्य विभागै. प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य।२७६। =विधिरूप वर्तना सामान्य काल (स्व काल) है और निषेधस्वरूप विशेषकाल कहलाता है। तथा इनमेंसे किसी एककी मुख्य विवक्षा होनेसे अस्ति नास्ति रूप विकल्प होते है।२७५। उनमे अंश कल्पनाका न होना ही विधि है; क्योकि स्वय सब सत् रूप है। और उसमें अंश कल्पना द्वारा विभाग करना प्रतिषेध है। (विशेष दे० सप्तभंगी/४)।

* **प्रतिषेधके भेद**—पर्युदास व प्रसज्य—दे० अभाव।

निषेध साधक हेतु—दे० हेतु।

निषेधिक—दे० समाचार।

निष्कुट—दे० क्षेत्र।

निष्क्रांत क्रिया—दे० क्रिया।

निष्क्रियत्व शक्ति—

स. सा./आ./परि/शक्ति नं. २३ सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः। =समस्त कर्मोंके अभावसे प्रवृत्त आत्मप्रदेशोंकी निस्पन्दता स्वरूप निष्क्रियत्व शक्ति है।

निष्ठापक—दे० प्रस्थापक।

निष्पत्ति—Ratio (ज. प/प्र. १०७)।

निष्पिच्छ—दिगम्बर साधुओंका एक संघ (दे० इतिहास/५/१६)।

निसर्ग—

स सि./१/३/१२/३ निसर्गः स्वभाव इत्यर्थः।

स. सि /६/९/३२६/९ निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्तनम्। =निसर्गका अर्थ स्वभाव है अथवा निसर्गका अर्थ प्रवर्तन है। (रा. वा/१/३/-/२२/१६ तथा ६/९/२/५१६/२)।

निसर्ग क्रिया—दे० क्रिया/३।

निसर्गज—१. निसर्गज सम्यग्दर्शन—दे० अधिगमज। २. ज्ञानदर्शन चारित्रादिमें निसर्गज व अधिगमजपना व उनका परस्परमें सम्बन्ध—दे० अधिगमज।

निसर्गाधिकरण—दे० अधिकरण।

निसही—दे० असही।

निस्तरण—भ. आ./वि./२/१४/२१ भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम्। =अन्य भवमें सम्यग्दर्शनादिकोंको पहुँचाना अर्थात् आमरण निर्दोष पालन करना, जिससे कि वे अन्य जन्ममें भी अपने साथ आ सकें।

अन. ध./१/९६/१०४ निस्तीर्णस्तु स्थिरमपि तटप्रापणं कृच्छ्रपाते। =परीषह तथा उपसर्गोंके उपस्थित रहनेपर भी उनसे चलायमान न होकर इनके अंततक पहुँचा देनेको अर्थात् क्षोभ रहित होकर मरणान्त पहुँचा देनेको निस्तरण कहते है।

निस्तारक मन्त्र—दे० मन्त्र/१/६।

निस्तीर्ण—दे० निस्तरण।

नीच—नीच गोत्र व नीच कुल आदि —दे० वर्ण व्यवस्था।

नीचैर्वृत्ति—स. सि /६/२६/३४०/८ गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः। =जो गुणोंमें उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनयसे नम्र रहना नीचैर्वृत्ति है।

नीतिवाक्यामृत—आ. सोमदेव (ई० ९४३-९६८) द्वारा रचित, यह संस्कृत श्लोकबद्ध राजनीति विषयक ग्रन्थ है।

नीतिसार—आ. इन्द्रनन्दि (ई. श. १०-११) की नीति विषयक रचना।

नील—रा. वा./३/११/७-८/१८३/२१—नीलेन वर्णेन योगात् पर्वतो नील इति व्यपदिश्यते। संज्ञा चास्य वासुदेवस्य कृष्णव्यपदेशवत्। क्व पुनरसौ। विदेहरम्यकविनिवेशविभागी।८। =नील वर्ण होनेके कारण इस पर्वतको नील कहते है। वासुदेवकी कृष्ण संज्ञाकी तरह यह संज्ञा है। यह विदेह और रम्यक क्षेत्रकी सीमापर स्थित है। विशेष दे० लोक/३/४।

नील—१. नील पर्वतपर स्थित एक कूट तथा उसका रक्षकदेव—दे० लोक/७, २ एक ग्रह—दे० ग्रह; ३. भद्रशाल वनमें स्थित एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७; ४ रुचक पर्वतके श्रीवृक्ष कूटपर रहनेवाला एक दिग्गजेन्द्र देव—दे० लोक/७, ५. उत्तरकुरुमें स्थित १० द्रहोंमें से एक—दे० लोक/७; ६. नील नामक एक लेश्या—दे० लेश्या; ७ प.पु./अधि/श्लो. नं.—सुग्रीवके चचा किष्कुपुरके राजा ऋक्षराजका पुत्र था। (९/१३)। अन्तमे दीक्षित हो मोक्ष पधारे। (११९/३९)।

नीलाभास—एक ग्रह—दे० ग्रह।

नृत्य माल्य—विजयार्ध पर्वतके खण्डप्रपात कूटका स्वामी देव—दे० लोक/७।

नृपतुंग—अपरनाम अमोघवर्ष था—दे० अमोघवर्ष।

नृपदत्त—(ह. पु /अधि./श्लोक नं.)—पूर्व भव नं. ३ मे भानु सेठका पुत्र भानुकीर्ति था। (३४/९७-९८)। दूसरे भवमें चित्रचूल विद्याधरका पुत्र गरुडकान्त था। (३४/१३२-१३३)। पूर्वके भवमें राजा गङ्गदेवका पुत्र गङ्ग था। (३४/१४२-१४३)। वर्तमान भवमें वसुदेवका पुत्र हुआ। (३५/३)। जन्मते ही एक देवने उठाकर इसे सुदृष्टि सेठके यहाँ पहुँचा दिया। (३५/४-५)। वही पोषण हुआ। दीक्षा धारण कर घोर तप किया। (५९/११५-१२०), (६०/७)। अन्तमें मोक्ष सिधारे। (६५/१६-१७)।

नृपनंदि—राजा भोजके समकालीन थे। तदनुसार इनका समय वि० १०७८-१११२ (ई० १०२१-१०२५), आता है। (वसु. श्रा./प्र. १६/H. L. Jain)।

नेत्रोन्मीलन—प्रतिष्ठा विधानमें भगवान्‌की नेत्रोन्मीलन क्रिया —दे० प्रतिष्ठा विधान।

नेमिचंद्र—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप प्रभाचन्द्र नं. १ के शिष्य तथा भानुचन्द्रके गुरु थे। समय—विक्रम शक स. ४७८-४८७ (ई. ५५६-५६५)—दे० इतिहास/५/१३। २ अभयनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे। आचार्य इन्द्रनन्दि व वीरनन्दिको अपने ज्येष्ठ गुरुभाई होनेके नाते आप गुरुवत् मानते थे। आपने आ० कनकनन्दिका भी विनय सहित उल्लेख किया है। मन्त्री चामुण्डरायके निमित्त आपने गोमट्टसार नाम ग्रन्थराजकी रचना की थी। गो. क/मू/९६६-९७० में आपने चामुण्डरायकी काफी प्रशंसा की है।—राजा भोजके सम्बन्धी राजा श्रीपालके निमित्त आपने ही द्रव्यसग्रह नामक ग्रन्थकी रचना की। (द्र. सं./टी./१/१/६)। कुछ विद्वानोंके मतानुसार द्रव्यसग्रहके कर्ता नेमिचन्द्र गोमट्टसारके कर्तासे भिन्न थे, परन्तु यह बात कुछ निश्चित नहीं है। कृतियाँ—गोमट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, द्रव्यसंग्रह। समय—चामुण्डराय व अभयनन्दिके अनुसार इनका समय ई. श. ११ का पूर्वार्ध आता है, और राजा श्रीपाल (ई. १०४३-१०८३) के अनुसार भी इतना ही आता है। (जैन साहित्य इतिहास/पृ. २७०/ प्रेमीजी); (प. प्र./प्र १२१/A. N. Up); (प सं/प्र ७/A. N. Up); (ज. दी. प/प्र. १४/A N. Up), (का. अ/प्र. ६६/A. N. Up); (वसु. श्री/प्र. १६/H L Jain); (द्र स/प्र. ८/पं अजित प्रसाद), द्र सं./प्र. ७-९/प. जवाहरलाल) ३. माघनन्दिकी गुर्वावलीके अनुसार आप नयनन्दिके शिष्य तथा वसुनन्दिके गुरु थे। समय—वि० १०७५-११२५ (ई० १०१८-१०६८); (दे० इतिहास/५/२२) ।४. आप मूलसघके शारदागण बलात्कार गच्छमें श्री ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे। आपने गोमट्टसार ग्रन्थकी आ० अभयचन्द्र कृत मन्दप्रबोधिनी टीकाके तथा ब्र केशव वर्णी कृत कर्णाटकीय टीकाके आधारपर उसकी सस्कृत भाषामें जीवप्रबोधिनी टीकाकी रचना की है। समय—वि. श. १६ का उत्तरार्ध (ई. श. १६ का पूर्वार्ध), (मो. मा. प्र/प्र. २३/पं. परमानन्द शास्त्री)।

नेमिचन्द्रिका—प. मनरंगलाल (ई० १७९३-१८४३) द्वारा रचित भाषा छन्दबद्ध कथा ग्रन्थ।

नेमिदत्त—नन्दिगण बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप आ. मल्लिभूषणके शिष्य एक ब्रह्मचारी थे। कृतियाँ—आ प्रभाचन्द्रके कथाकोशका भाषानुवाद रूप आराधना कथाकोश, नेमिपुराण। (इनका रचित कथाकोश प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि, उसमें ऐतिहासिक दृष्टिको कोई स्थान नहीं दिया गया है। केवल जिनधर्मकी श्रद्धाकी प्रधानतासे लिखा गया है)। समय—वि० १५७५ (ई० १५१८)—(सि. वि/प्र. ११/पं. महेन्द्रकुमार)।

नेमिदेव—आप यशस्तिलक चम्पूके कर्ता सोमदेवके गुरु थे। अनेको वादोंमें विजय प्राप्त की। सोमदेव सूरिके अनुसार इनका समय—वि श. १० का उत्तरार्ध (ई० ९१८-९४३) आता है। (योगमार्गकी प्रस्तावना/ब्र. श्रीलाल)।

नेमिनाथ—(म पु/७०/श्लो. न. पूर्व भव न. ६ मे पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम मेरुके पास गन्धिल देश, विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें सूर्यप्रभ नगरके राजा सूर्यप्रभके पुत्र चिन्तागति थे ।२६-२८। पूर्वभव न. ५ में चतुर्थ स्वर्गमें सामानिक देव हुए ।३६-३७। पूर्वभव नं. ४में सुगन्धिला देशके सिंहपुर नगरके राजा अर्हद्दासके पुत्र अपराजित हुए ।४१। पूर्वभव न० ३ में अच्युत स्वर्गमे इन्द्र हुए ।५०। पूर्वभव न. २ मे हस्तिनापुरके राजा श्रीचन्द्रके पुत्र सुप्रतिष्ठ हुए ।५१। और पूर्वभवमें जयन्त नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुए ।५६। (ह. पु./३४/१७-४३); (म. पु./७२/२७७ मे युगपत् सर्व भव दिये है। वर्तमान भवमें २२वें तीर्थंकर हुए—दे० तीर्थंकर/५।

नेमिषेण—माथुर संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अमितगति प्र के शिष्य तथा श्री माधवसेनके गुरु थे। समय—वि. १०००-१०५० (ई० ९४३-९९३) —दे० इतिहास/५/२३)।

नैऋत्य—१. पश्चिम दक्षिणी कोणवाली विदिशा। २. लोकपाल देवोंका एक भेद—दे० लोकपाल।

नैगमनय—दे० नय/III/२-३।

नैपाल—भरतक्षेत्रके विन्ध्याचल पर्वतपर स्थित एक देश—दे० मनुष्य/४।

नैमित्तिक कार्य—दे० कारण/III।

नैमित्तिक सुख—दे० सुख।

नैमिष—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

नैयायिक दर्शन—दे० न्याय/१।

नैषध—भरतक्षेत्रके विन्ध्याचल पर्वतपर स्थित एक देश —दे० मनुष्य/४।

नैष्ठिक ब्रह्मचारी—दे० ब्रह्मचारी।

नैष्ठिक श्रावक—१ श्रावक सामान्य (दे० श्रावक/१)। २. नैष्ठिक श्रावककी ११ प्रतिमाएँ—दे० वह वह नाम।

नैसर्प—चक्रवर्तीकी नवनिधिमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२।

नो—ध ६/१,९-१,२३/गा ८-९, ४४,४६ प्रतिषेधयति समस्तप्रसक्तमर्थं तु जगति नोशब्द । स पुनस्तदवयवे वा तस्मादर्थान्तरे वा स्यात् ।८। नो तद्देशविषयप्रतिषेधोऽन्य स्वपरयोगात् ।९। =जगमें 'न' यह शब्द प्रसक्त समस्त अर्थका तो प्रतिषेध करता ही है, किन्तु वह प्रसक्त अर्थके अवयव अर्थात् एक देशमें अथवा उससे भिन्न अर्थमें रहता है, अर्थात् उसका बोध कराता हे ।८। 'नो' यह शब्द स्व और परके योगसे विवक्षित वस्तुके एकदेशका प्रतिषेधक और विधायक होता है ।९।

ध. १५/४/८ णोसद्दो सव्वपडिसेहओ त्ति किण्ण घेप्पदे। [ण] णाणावरणस्साभावस्स पसगादो, सु [व] वयणविरोहादो च। तम्हा णोसद्दो देसपडिसेहओ त्ति घेत्तव्वं। =प्रश्न—'नो' शब्दको सबके प्रतिषेधक रूपसे क्यो नहीं ग्रहण किया जाता ? उत्तर—नहीं, क्योंकि वैसा स्वीकार करनेपर एक तो ज्ञानावरणके अभावका प्रसग आता है दूसरे स्ववचनका विरोध भी होता है, इसलिए 'नो' शब्दको देश प्रतिषेधक ही ग्रहण करना चाहिए।

नोआगम—१. नोआगम—दे० आगम/१। २. नोआगम द्रव्य-निक्षेप/५। ३. नोआगमभाव निक्षेप—दे० निक्षेप/७।

नो इंद्रिय—दे० मन/३।

नो ओम—दे० ओम।

नोकर्म—दे० कर्म/२।

नोकर्माहार—दे० आहार/I/१।

नो कषाय—१ नोकषाय—दे० कषाय/१। २ नोकषाय वेदनी—दे० मोहनीय/१।

नो कृति—दे० कृति।

नो क्षेत्र—दे० क्षेत्र/१।

नोजीव—दे० जीव/१।

नो त्वचा—दे० त्वचा।

नो संसार—दे० संसार।

नौकार श्रावकाचार—आ० योगेन्दुदेव (ई० श० ६) द्वारा रचित प्राकृत दोहाबद्ध एक ग्रन्थ।

न्यग्रोध-परिमंडल—दे० संस्थान।

न्याय—तर्क व युक्ति द्वारा परोक्ष पदार्थोंकी सिद्धि व निर्णयके अर्थ न्यायशास्त्रका उद्गम हुआ। यद्यपि न्यायशास्त्रका मूल आधार नैयायिक दर्शन है, जिसने कि वैशेषिक मान्य तत्त्वोंकी युक्ति पूर्वक सिद्धि की है, परन्तु वीतरागताके उपासक जैन व बौद्ध दर्शनोंको भी अपने सिद्धान्तकी रक्षाके लिए न्यायशास्त्रका आश्रय लेना पडा। जैनाचार्योंमें स्वामी समन्तभद्र (वि० श० २-३), अकलक भट्ट (ई० ६४०-६८०) और विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) को विशेषत वैशेषिक, साख्य, मीमासक व बौद्ध मतोंसे टक्कर लेनी पडी। तभी-से जैनन्याय शास्त्रका विकास हुआ। बौद्धन्याय शास्त्र भी लगभग उसी समय प्रगट हुआ। तीनों ही न्यायशास्त्रोंके तत्त्वोंमें अपने-अपने सिद्धान्तानुसार मतभेद पाया जाता है। जैसे कि न्याय दर्शन जहाँ वितडा, जाति व निग्रहस्थान जैसे अनुचित हथकण्डोंका प्रयोग करके भी वादमें जीत लेना न्याय मानता है, वहाँ जैन दर्शन केवल सद्हेतुओंके आधारपर अपने पक्षकी सिद्धि कर देना मात्र ही सच्ची विजय समझता है। अथवा न्याय दर्शन विस्तार रुचिवाला होनेके कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व आगम इस प्रकार चार प्रमाण, १६ तत्त्व, उनके अनेको भेद-प्रभेदोंका जाल फैला देता है, जब कि जैनदर्शन सक्षेप रुचिवाला होनेके कारण प्रत्यक्ष व परोक्ष दो प्रमाण तथा इनके अगभूत नय इन दो तत्त्वोंसे ही अपना सारा प्रयोजन सिद्ध कर लेता है।

१. न्याय दर्शन निर्देश

१. न्यायका लक्षण

ध. १३/५,५,५०/२८६/६ न्यायादनपेत न्याय्य श्रुतज्ञानम्। अथवा, ज्ञेयानुसारित्वान्न्यायरूपत्वाद्वा न्याय. सिद्धान्त'।=न्यायसे युक्त है इसलिए श्रुतज्ञान न्याय कहलाता है। अथवा ज्ञेयका अनुसरण करनेवाला होनेसे या न्यायरूप होनेसे सिद्धान्तको न्याय कहते हैं।

न्या. वि/वृ/१/३/५८/१ नीयतेऽनेनेति हि नीतिक्रियाकरणं न्याय उच्यते। =जिसके द्वारा निश्चय किया जाये ऐसी नीतिक्रियाका करना न्याय कहा जाता है।

न्या. द/भाष्य/१/१/१/पृ. ३/१८ प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय। प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं सान्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। =प्रमाणसे वस्तुकी परीक्षा करनेका नाम न्याय है। प्रत्यक्ष और आगमके आश्रित अनुमानको अन्वीक्षा कहते हैं, इसीका नाम आन्वीक्षिकी या न्यायविद्या व न्यायशास्त्र है।

२. न्यायाभासका लक्षण

न्या. द./भाष्य/१/१/१/पृ. ३/२० यत्पुनरनुमानप्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति। =जो अनुमान प्रत्यक्ष और आगमके विरुद्ध हो उसे न्यायाभास कहते हैं।

३. जैन न्याय निर्देश

त. सू./१/६, ६-१२,३३ प्रमाणनयैरधिगम.।६। मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम।९। तत्प्रमाणे।१०। आद्ये परोक्षम्।११। प्रत्यक्षमन्यत्।१२। नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नया.।३३। =प्रमाण और नयसे पदार्थोंका निश्चय होता है।६। मति, श्रुत, अवधि, मन'पर्यय व केवल ये पाँच ज्ञान है।९। वह ज्ञान ही प्रमाण है वह प्रमाण, प्रत्यक्ष व परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है।१०। इनमें पहले दो मति व श्रुत परोक्ष प्रमाण है। (पाँचों इन्द्रियों व छटे मनके द्वारा होनेवाला ज्ञान मतिज्ञान है और अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति व आगम ये सब श्रुतज्ञानके अवयव है)।११। शेष तीन अवधि, मन-पर्यय व केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है (इनमे भी अवधि व मन पर्यय देश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। उपचारसे इन्द्रिय ज्ञान अर्थात मतिज्ञानको भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लिया जाता है)।१२। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय है। (इनमें भी नैगम, संग्रह व व्यवहार द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यांशग्राही है और शेष ४ पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषांशग्राही है)।३३। (विशेष देखो प्रमाण, नय, निक्षेप, अनुमान, प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि विषय)

प. मु/१/१ प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्यय। =प्रमाणसे पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान होता है प्रमाणाभाससे नहीं होता।

न्या. दी./१/§१/३/४ 'प्रमाणनयैरधिगम'' इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम्। तत्खलु परमपुरुषार्थनि श्रेयससाधनसम्यग्दर्शनादिविषयभूतजीवादितत्त्वाधिगमोपनयनिरूपणपरम्। प्रमाणनयाभ्या हि विवेचिता जीवादय' सम्यगधिगम्यन्ते। तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासभवात्।… ततस्तेषां सुखोपायेन प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकारसंपत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते।§६-१। = 'प्रमाणनयैरधिगम'' यह उपरोक्त महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रका वाक्य है। जो परमपुरुषार्थरूप, मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयके विषयभूत, जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान करानेवाले उपायोंका प्रमाण और नय रूपसे निरूपण करता है, क्योंकि प्रमाण और नयके द्वारा ही जीवादि पदार्थोंका विश्लेषण पूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है। प्रमाण और नयको छोडकर जीवादि तत्त्वोंके जाननेमें अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिए सरलतासे प्रमाण और नयरूप न्यायके स्वरूपका बोध करानेवाले जो सिद्धिविनिश्चय आदि बड़े-बड़े शास्त्र है, उनमें प्रवेश पानेके लिए यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

दे० नय/I/३/७ (प्रमाण, नय व निक्षेपसे यदि वस्तुको न जाना जाये तो युक्त भी अयुक्त और अयुक्त भी युक्त दिखाई देता है।)

४. जैन न्यायके अवयव

चार्ट नं० १

- वस्तु विवेक (न्या दी./1/§2/5)
  - उद्देश्य (वस्तु का नाम निर्देश)
  - लक्षण निर्देश
    - सम्यक् (लक्षण)
      - आत्मभूत
      - अनात्मभूत
    - मिथ्या (लक्षणाभास)
      - अतिव्याप्त
      - अव्याप्त
      - असम्भव
  - परीक्षा
    - प्रमाण
      - सम्यक् (प्रमाण)
        - प्रत्यक्ष
          - सम्यक् (प्रत्यक्ष)
            - सांव्यवहारिक (मतिज्ञान)
              - अवग्रह
              - ईहा
              - अवाय
              - धारणा
            - पारमार्थिक
              - सकल (केवलज्ञान)
              - देश
                - अवधि
                - मनःपर्यय
          - मिथ्या (प्रत्यक्षाभास)
            - बौद्ध मान्य कल्पनापोढ निर्विकल्प ज्ञान
            - न्यायमान्य इन्द्रियार्थसन्निकर्ष
        - परोक्ष
          - स्मृति
          - प्रत्यभिज्ञान
            - एकत्व
            - सादृश्य
            - विसादृश्य
            - तत्प्रतियोगी
          - तर्क (व्याप्तिज्ञान)
            - सहभावी
            - क्रमभावी
          - अनुमान (श्रुतज्ञान)
            - स्वार्थानुमान
              - धर्मी (पर्वत)
                - प्रमाण सिद्ध
                - विकल्प सिद्ध
                - उभय सिद्ध
              - साधन (धूम)
            - परार्थानुमान
              - प्रतिज्ञा
              - हेतु (दे. चार्ट 2)
              - उदाहरण
                - अन्वयी
                - व्यतिरेकी
              - उपनय
              - निगमन
          - आगम
      - मिथ्या (प्रमाणाभास)
    - नय (दे. नय)

५. नैयायिक दर्शन निर्देश

न्या. सू./मू./१/१/१-२ प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।१। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।२। =१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४ प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७ अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान—इन १६ पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है ।१। तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानका नाश होता है, उससे दोषोंका अभाव होता है, दोष न रहनेपर प्रवृत्तिकी निवृत्ति होती है, फिर उससे जन्म दूर होता है, जन्मके अभावसे सब दुःखोंका अभाव होता है। दुःखके अत्यन्त नाशका ही नाम मोक्ष है ।२।

षट् दर्शन समुच्चय/श्लो. १७-३३/पृ. १४-३१ का सार—मन व इन्द्रियों द्वारा वस्तुके यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। वह चार प्रकारका है (दे० अगला शीर्षक)। प्रमाण द्वारा जिन पदार्थोंका ज्ञान होता है वे प्रमेय हैं। वे १२ माने गये हैं (दे० अगला शीर्षक)। स्थाणुमें पुरुषका ज्ञान होनेकी भाँति संशय होता है (दे० संशय)। जिससे प्रेरित होकर लोग कार्य करते हैं वह प्रयोजन है। जिस बातमें पक्ष व विपक्ष एक मत हो उसे दृष्टान्त कहते हैं (दे० दृष्टान्त)। प्रमाण द्वारा किसी बातको स्वीकार कर लेना सिद्धान्त है। अनुमानकी प्रक्रियामें प्रयुक्त वाक्योंको अवयव कहते हैं। वे पाँच हैं (दे० अगला शीर्षक)। प्रमाणका सहायक तर्क होता है। पक्ष व विपक्ष दोनोंका विचार जिस विषयपर स्थिर हो जाये उसे निर्णय कहते हैं। तत्त्व जिज्ञासासे किया गया विचार-विमर्श वाद है। स्वपक्षका साधन और परपक्षका खण्डन करना जल्प है। अपना कोई भी पक्ष स्थापित न करके दूसरेके पक्षका खण्डन करना वितण्डा है। असत् हेतुको हेत्वाभास कहते हैं। वह पाँच प्रकारके हैं (दे० अगला शीर्षक) वक्ताके अभिप्रायको उलटकर प्रगट करना छल है। वह तीन प्रकारका है (दे० शीर्षक नं० ७)। मिथ्या उत्तर देना जाति है। वह २४ प्रकार का है। वादी व प्रतिवादीके पक्षोंका स्पष्ट भाव न होना निग्रह स्थान है। वे भी २४ हैं (दे० वह वह नाम) नैयायिक लोग कार्यसे कारणको सर्वथा भिन्न मानते हैं, इसलिए ये असत् कार्यवादी हैं। जो अन्यथासिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं वह तीन प्रकारका है—समवायी, असमवायी व निमित्त। सम्बन्ध दो प्रकारका है—संयोग व समवाय।

६. नैयायिक दर्शन मान्य पदार्थोंके भेद

१—प्रमाणः—(न्या. सू./१/१/३) (षड् दर्शन समुच्चय)

- प्रमाण
  - प्रत्यक्ष
    - लौकिक
      - इन्द्रिय
        - पाँच ज्ञानेन्द्रिय (दे. आगे प्रमेय)
        - मन
      - [illegible]
        - लौकिक
          - संयोग
          - संयुक्त समवाय
          - संयुक्त समवेत समवाय
          - समवाय
          - समवेत समवाय
          - [illegible]
        - अलौकिक
          - सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति {धूम देखनेसे अग्निका ज्ञान}
          - ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति {चन्दन देखने से गन्धका ज्ञान}
    - योगिज
  - अनुमान
    - पूर्ववत्
    - शेषवत्
    - सामान्यतो दृष्ट
    - (लक्षण दे. अनुमान) (नीचेके दो इसके अवयव हैं)
      - व्याप्ति
      - पक्ष धर्मता
  - उपमान (उपमा)
  - शब्द
    - वाक्य
    - पद
    - लौकिक / वैदिक {दोनोंकी चार बातें आवश्यक हैं}
      - आकांक्षा
      - योग्यता
      - सन्निधि
      - तात्पर्य
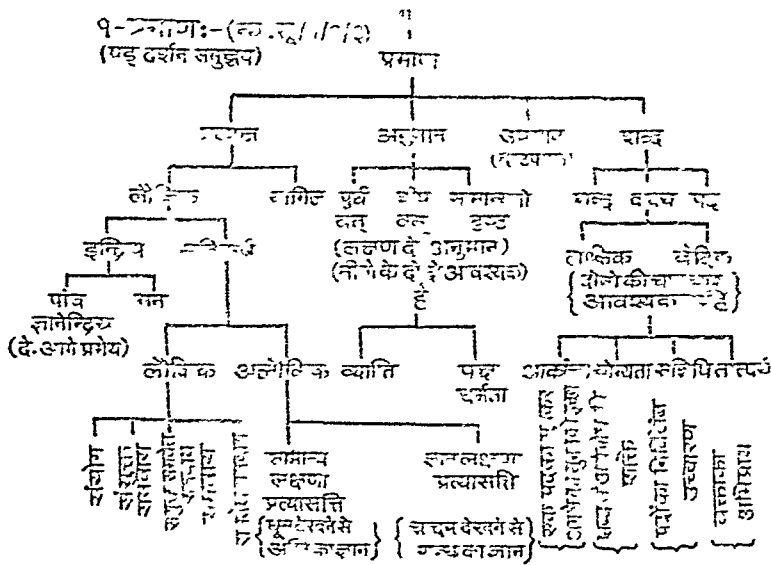
३ प्रमेय—न्या. सू./मू./१/१/९-२२ का सारार्थ—प्रमेय १२ हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग। तहाँ ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदिका आधार आत्मा है। चेष्टा, इन्द्रिय, सुख दुःखके अनुभवका आधार शरीर है। इन्द्रिय दो प्रकारकी है—बाह्य व अभ्यन्तर। अभ्यन्तर इन्द्रिय मन है। बाह्य इन्द्रिय दो प्रकारकी है—कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रिय। वाक्, हस्त, पाद, जननेन्द्रिय और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् व श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। रूप, रस आदि इन पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषय अथवा सुख-दुःखके कारण 'अर्थ' कहलाते हैं। उपलब्धि या ज्ञानका नाम बुद्धि है। अणु, प्रमाण, नित्य, जीवात्माओंको एक दूसरेसे पृथक् करनेवाला, तथा एक कालमें एक ही इन्द्रियके साथ संयुक्त होकर उनके क्रमिक ज्ञानमें कारण बननेवाला मन है। मन, वचन, कायकी क्रियाको प्रवृत्ति कहते हैं। राग, द्वेष व मोह 'दोष' कहलाते हैं। मृत्युके पश्चात् अन्य शरीरमें जीवकी स्थितिका नाम प्रेत्यभाव है। सुख-दुःख हमारी प्रवृत्तिका फल है। अनुकूल फलको सुख और प्रतिकूल फलको दुःख कहते हैं। ध्यान-समाधि आदिके द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जानेपर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश ये पाँच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। आगे चलकर छह इन्द्रियाँ, इनके छह विषय, तथा छह प्रकारका इनका ज्ञान, सुख, दुःख और शरीर इन २१ दोषोंसे आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। वही अपवर्ग या मोक्ष है।

3-६ न्या सू./मू./१/१/२३-३१/२८-३३ का सार—संशय, प्रयोजन व दृष्टान्त एक-एक प्रकार के हैं। सिद्धान्त चार प्रकारका है—सर्व शास्त्रोंमें अविरुद्ध अर्थ सर्वतन्त्र है, एक शास्त्रमें सिद्ध और दूसरेमें असिद्ध अर्थ प्रतितन्त्र है। जिस अर्थकी सिद्धिसे अन्य अर्थ भी स्वतः सिद्ध हो जायें वह अधिकरण सिद्धान्त है। किसी पदार्थको मानकर भी उसकी विशेष परीक्षा करना अभ्युपगम है।

७ अवयव—न्या. सू./मू./१/१/३२-३९/३३-३९ का सार—अनुमानके अवयव पाँच हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। साध्यका निर्देश करना प्रतिज्ञा है। साध्य धर्मका साधन हेतु कहलाता है। उसके तीन आवश्यक हैं—पक्षवृत्ति, सपक्षवृत्ति और विपक्ष व्यावृत्ति। साध्यके तुल्य धर्मवाले दृष्टान्तके वचनको उदाहरण कहते हैं। वह दो प्रकारका है अन्वय व व्यतिरेकी। साध्यके उपसंहारको उपनय और पाँच अवयवों युक्त वाक्यको दुहराना निगमन है।

८-१२. न्या सू./१/१/४०-४१/३९-४१ तथा १/२/१-३/४०-४३का सार—तर्क; निर्णय, वाद, जल्प, व वितण्डा एक एक प्रकारके हैं। १३ हेत्वाभास—न्या. सू./१/२/४-९/४४-४७ का सारार्थ—हेत्वाभास पाँच हैं—सव्यभिचारी, विरुद्ध, प्रकरण-सम, साध्यसम और कालातीत। पक्ष व विपक्ष दोनोंको स्पर्श करनेवाला सव्यभिचार है। वह तीन प्रकार है—साधारण, असाधारण व अनुपसंहारी। स्वपक्ष-विरुद्ध साध्यको सिद्ध करनेवाला विरुद्ध है। पक्ष व विपक्ष दोनों हीके निर्णयसे रहित प्रकरणसम है। केवल शब्द भेद द्वारा साध्यको ही हेतुरूपसे कहना साध्यसम है। देश कालके ध्वससे युक्त कालातीत या कालात्ययापदिष्ट है। १४-१६. न्या. सू./१/२/१०-२०/४८-५४ का सारार्थ—छल तीन प्रकारका है—वाक् छल, सामान्यछल और उपचार छल।

वक्ताके वचनको घुमाकर अन्य अर्थ करना वाक्छल है। सम्भावित अर्थको सभीमे सामान्यरूपसे लागू कर देना सामान्यछल है। उपचारसे कही गयी बातका सत्यार्थरूप अर्थ करना उपचारछल है।

७. नैयायिकमतके प्रवर्तक व साहित्य

नैयायिक लोग यौग व शैव नामसे भी पुकारे जाते है। इस दर्शनके मूल प्रवर्तक अक्षपाद गौतम ऋषि हुए है, जिन्होने इसके मूल ग्रन्थ न्यायसूत्रकी रचना की। इनका समय जैकोबीके अनुसार ई० २००-४५०, यूईके अनुसार ई० १५०-२५० और प्रो० ध्रुवके अनुसार ई० पू० की शताब्दी दो बताया जाता है। न्यायसूत्र पर ई. श. ४ में वात्सायनने भाष्य रचा। इस भाष्यपर उद्योतकरने न्यायवार्तिककी रचना की। तथा उसपर भी ई० ८४०में वाचस्पति मिश्रने तात्पर्य टीका रची। उन्होने ही न्यायसूचिनिबन्ध व न्यायसूत्रोद्धारकी रचना की। जयन्तभट्टने ई० ८८० में न्यायमञ्जरी, न्यायकलिका, उदयनने ई श. १० में वाचस्पतिकृत तात्पर्यटीकापर तात्पर्यटीका-परिशुद्धि तथा उदयनकी रचनाओंपर गंगेश नैयायिकके पुत्र वर्द्धमान आदिने टीकाएँ रची। इसके अतिरिक्त भी अनेक टीकाएँ व स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त है। जैसे—भासर्वज्ञकृत न्यायसार, मुक्तावली, दिनकरी, रामरुद्री नामकी भाषा परिच्छेद युक्त टीकाएँ, तर्कसग्रह, तर्कभाषा, तार्किकरक्षा आदि। न्याय दर्शनमें नव्य न्यायका जन्म ई० १२००मे गगेशने तत्त्वचिन्तामणि नाम ग्रन्थकी रचना द्वारा किया, जिसपर जयदेवने प्रत्यक्षालोक, तथा वासुदेव सार्वभौम (ई० १५००) ने तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या लिखी। वासुदेवके शिष्य रघुनाथने तत्त्वचिन्तामणिपर दीधिति, वैशेषिकमतका खण्डन करनेके लिए पदार्थखण्डन, तथा ईश्वरसिद्धिके लिए ईश्वरानुमान नामक ग्रन्थ लिखे। (स्या म./परि-ग/पृ. ४०८—४१८)।

* **नैयायिक मतके साधु**—दे० वैशेषिक।
* **नैयायिक व वैशेषिक दर्शनमें समानता व असमानता**—दे० वैशेषिक।

८. न्यायमें प्रयुक्त कुछ दोषोंका नाम निर्देश

श्लो. वा ४/१/३३/न्या./श्लो. ४५७-४५६ साकर्यात् प्रत्यवस्थानं यथानेकान्तसाधने। तथा वैयतिकर्येण विरोधेनानवस्थया।४५४। भिन्नाधारतयोभाभ्या दोषाभ्या संशयेन च। अप्रतीत्या तथाभावेनान्यथा वा यथेच्छया।४५८। वस्तुतस्तादृशैर्दोषै साधनाप्रतिघातत। सिद्ध मिथ्योत्तरत्वं नो निरवद्य हि लक्षणम्।४५६। = जैनके अनेकान्त सिद्धान्तपर प्रतिवादी (नैयायिक), संकर, व्यतिकर, विरोध, अनवस्था, वैयधिकरण, उभय, संशय, अप्रतिपत्ति, व अभाव करके प्रसंग या दोष उठाते है अथवा और भी अपनी इच्छाके अनुसार चक्रक, अन्योन्याश्रय, आत्माश्रय, व्याघात, शाल्यत्व, अतिप्रसग आदि करके प्रतिषेध रूप उपालम्भ देते है। परन्तु इन दोषों द्वारा अनेकान्त सिद्धान्तका व्याघात नहीं होता है। अत जैन सिद्धान्त द्वारा स्वीकारा गया 'मिथ्या उत्तरपना' ही जातिका लक्षण सिद्ध हुआ।

और भी—जातिके २४ भेद, निग्रहस्थानके २४ भेद, लक्षणाभासके तीन भेद, हेत्वाभासके अनेको भेद-प्रभेद, सब न्यायके प्रकरण 'दोष' सज्ञा द्वारा कहे जाते हैं। विशेष दे० वह वह नाम।

* **वैदिक दर्शनोंका विकासक्रम**—दे० दर्शन (षट्दर्शन)।

२. वस्तु विचार व जय-पराजय व्यवस्था

१. वस्तुविचारमें परीक्षाका स्थान

ति. प./१/८३ जुत्तीए अत्थपडिगहणं। =(प्रमाण, नय और निक्षेपकी) युक्तिसे अर्थका परिग्रहण करना चाहिए।

दे नय/I/३/७ जो नय प्रमाण और निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नहीं करता है, उसको युक्त पदार्थ अयुक्त और अयुक्त पदार्थ युक्त प्रतीत होता है।

क. पा. १/१-१/§ ३/७/३ जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयमाणस्स पमाणाणुसारित्तविरोहादो। =जो शिष्य युक्तिकी अपेक्षा किये बिना मात्र गुरुवचनके अनुसार प्रवृत्ति करता है उसे प्रमाणानुसारी माननेमें विरोध आता है।

न्या. दी /१/§ ३/४ इह हि प्रमाणनयविवेचनमुद्देशलक्षणनिर्देशपरीक्षाद्वारेण क्रियते। अनुद्दिष्टस्य लक्षननिर्देशानुपपत्ते। अनिर्दिष्टलक्षणस्य परीक्षितुमशक्यत्वात्। अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात्। लोकशास्त्रयोरपि तथैव वस्तुविवेचनप्रसिद्धे। =इस ग्रन्थमें प्रमाण और नयका व्याख्यान उद्देश, लक्षणनिर्देश तथा परीक्षा इन तीन द्वारा किया जाता है। क्योंकि विवेचनीय वस्तुका उद्देश नामोल्लेख किये बिना लक्षणकथन नहीं हो सकता और लक्षणकथन किये बिना परीक्षा नहीं हो सकती, तथा परीक्षा हुए बिना विवेचन अर्थात् निर्णयात्मक वर्णन नही हो सकता। लोक व्यवहार तथा शास्त्रमे भी उक्त प्रकारसे ही वस्तुका निर्णय प्रसिद्ध है।

भद्रबाहु चरित्र (हरिभद्र सूरि कृत) प्रस्तावना पृ ६ पर उद्धृत—पक्षपातो न मे वीरे न दोष कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रह। =न तो मुझे वीर भगवान्‌में कोई पक्षपात है और न कपिल आदि अन्य मत-प्रवर्तकोमे कोई द्वेष है। जिसका वचन युक्तिपूर्ण होता है उसका ग्रहण करना ही मेरे लिए प्रयोजनीय है।

२. न्यायका प्रयोग लोकव्यवहारके अनुसार ही होना चाहिए।

ध. १२/४,२,८,१३/२८६/१० न्यायश्चर्च्यते लोकव्यवहारप्रसिद्धचर्थम्, न तद्बहिर्भूतो न्याय, तस्य न्यायाभासत्वात्। =न्यायकी चर्चा लोकव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए ही की जाती है। लोकव्यवहारके बहिर्गत न्याय नही होता है, किन्तु वह केवल न्याभास ही है।

३. वस्तुकी सिद्धिसे ही जीत है, दोषोद्भावनसे नहीं

न्या वि /मू /२/२१०/२३६ वादी पराजितो युक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थित। तत्र दोष ब्रुवाणो वा विपर्यस्त कथ जयेत्।२१०। वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था हो जानेपर तो वादीका पराजित हो जाना युक्त भी है। परन्तु केवल वादीके कथनमें दोष निकालने मात्रसे प्रतिवादी कैसे जीत सकता है।

सि वि./मू. व मू वृ /५/११/३३७ भूतदोषं समुद्भाव्य जितवान् पुनरन्यथा। परिसमाप्तेस्तावतैवास्य कथ वादी निगृह्यते।११। तत्र समापितम्—'विजिगीषुणोभयं कर्त्तव्य स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणं च' इति। =प्रश्न—वादीके कथनमें सद्भूत दोषोंका उद्भावन करके ही प्रतिवादी जीत सकता है। बिना दोषोद्भावन किये ही वादकी परिसमाप्ति हो जानेपर वादीका निग्रह कैसे हो सकता है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, वादी व प्रतिवादी दोनों ही के दो कर्तव्य हैं—स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण। (सि वि /मू वृ./५/२/३११/१७)।

४. निग्रहस्थानोंका प्रयोग योग्य नहीं

श्लो वा १/१/३३/न्या /श्लो १०१/३४४ असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयो.। न युक्तं निग्रहस्थानं संधहान्यादिवत्तत।१०१। =बौद्धोंके

द्वारा माना गया - असाधनाग वचन और अदोषोद्भावन दोनोका निग्रहस्थान कहना युक्त नहीं है। और इसी प्रकार नैयायिकों द्वारा माने गये प्रतिज्ञाहानि आदिक निग्रहस्थानोका उठाया जाना भी समुचित नहीं है।

न्या. वि /वृ./२/२१२/२४२/६ तत्र च सौगतोक्तं निग्रहस्थानम्। नापि नैयायिकपरिकल्पित प्रतिज्ञाहान्यादिकम्, तस्यासद्दूषणत्वात्। =बौद्धों द्वारा मान्य निग्रहस्थान नहीं है। और न इसी प्रकार नैयायिकोंके द्वारा कल्पित प्रतिज्ञा-हानि आदि कोई निग्रहस्थान है; क्योकि, वे सब असद् दूषण हैं।

५. स्व पक्षकी सिद्धि करनेपर ही स्व-परपक्षके गुण-दोष कहना उचित है

न्या वि./वृ /२/२०९/पृ. २३५ पर उद्धृत—वादिनो गुणदोषाभ्या स्याताँ जयपराजयौ। यदि साध्यप्रसिद्धौ च व्यपार्था साधनादय.। विरुद्धं हेतुमुद्भाव्य वादिन जयतीतर। आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिम-पेक्षते। =गुण और दोषमे वादीकी जय और पराजय होती है। यदि साध्यको सिद्धि न हो तो साधन आदि व्यर्थ है। प्रतिवादी हेतुमें विरुद्धताका उद्भावन करके वादीको जीत लेता है किन्तु अन्य हेत्वाभासोंका उद्भावन करके भी पक्षसिद्धिकी अपेक्षा करता है।

६. स्वपक्ष सिद्धि ही अन्यका निग्रहस्थान है

न्या. वि /वृ./२/१३/२४३ पर उद्धृत—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन.। =एक की स्वपक्षकी सिद्धि ही अन्य वादीका निग्रह-स्थान है।

सि वि /मू./५/२०/३५४ पक्ष साधितवन्त चेद्दोषमुद्भावयन्नपि। वैतण्डिको निगृहीयाद् वादन्यायो महानयम्।२०। =यदि न्यायवादी अपने पक्षको सिद्ध करता है और स्वपक्षकी स्थापना भी न करनेवाला वितण्डावादी दोषोकी उद्भावना करके उसका निग्रह करता है तो यह महान् वादन्याय है अर्थात यह वादन्याय नहीं है वितण्डा है।

* वस्तुकी सिद्धि स्याद्वाद द्वारा ही सम्भव है

—दे० स्याद्वाद

न्यायकर्णिका—श्वेताम्बर उपाध्याय श्री विनयविजय (ई० १६७७) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित एक ग्रन्थ।

न्यायकुमुद चन्द्रिका—श्री अकलंक भट्ट कृत लघीयस्त्रयपर आ प्रभाचन्द्र (ई० ९२५-१०२३) द्वारा रचित टीका।

न्याय चूलिका—श्री अकलंक भट्ट (ई० ६४०-६८०) द्वारा संस्कृत गद्यमे रचा गया एक न्याय विषयक ग्रन्थ।

न्याय दीपिका—आ. धर्मभूषण (ई० श. १४) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ। यह सात अध्यायोंमें निबद्ध ५०० श्लोक प्रमाण है।

न्याय आगमत समुच्चय—चन्द्रप्रभ काव्यके द्वितीय सर्गपर पं० जयचन्द छाबडा (ई० १८०६-१८३६) द्वारा भाषामें रचित एक न्याय विषयक ग्रन्थ।

न्याय विनिश्चय—आ. अकलंक भट्ट (ई० ६४०-६८०) कृत यह न्यायविषयक ग्रन्थ है। आचार्य श्री ने इसे तीन प्रस्तावोंमें ४८० संस्कृत श्लोको द्वारा रचकर स्वयं ही संस्कृतमें इसपर एक वृत्ति भी लिख दी है। इसके तीन प्रस्तावोंमें प्रत्यक्ष, अनुमान व प्रवचन ये तीन विषय निबद्ध हैं। इस ग्रन्थपर आ. वादिराज सूरि (ई० १०००-१०४०) ने संस्कृत भाषामें एक विशद वृत्ति लिखी है। (सि.वि./प्र. ५८/ प० महेन्द्र)

न्यास—दे० निक्षेप।

न्यासापहार—स. सि./७/२६/३६६/१० हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तु-र्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्येयमाददानस्यैवमित्यनुज्ञावचनं न्यासाप-हार.। =धरोहरमे चाँदी आदिको रखनेवाला कोई उसकी संख्या भूलकर यदि उसे कमती देने लगा तो 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करना न्यासापहार है। (रा. वा./७/२६/४/५५३/३३) (इसमें मायाचारी-का दोष भी है) दे० माया/२।

न्यून—१. न्या. सू /मू./५/२/१२/३१५ हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्।१२। =प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवोंमेंसे किसी एक अवयवसे हीन वाक्य कहना न्यून नामक निग्रहस्थान है। (श्लो. वा. ४/१/३३/न्या /२२०/३६६/११ में इसका निराकरण किया गया है) २. गणितकी व्यकलनविधिमें मूलराशिको ऋण राशिकर न्यून कहा जाता है—दे० गणित/II/१/४।

न्योन दशमी व्रत—न्योन दशमि दश दशमि कराय, नये नये दश पात्र जिमाय। (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है।) (व्रत विधान संग्रह/पृ १३१)

इति द्वितीयो खण्ड: